कल्याण



अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य

शौर्य

कर्तव्यपालन

भक्ति

प्रेम

समता

हिन्दू संस्कृति अंक

वर्ष २४] [संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरी-शंकर सीता-राम ॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीता-राम ॥

मुखपृष्ठके चित्रमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

ध्यान धरे प्रणव-स्वरूप ज्योति ब्रह्मका जो 'स्वस्तिक' सुखद शिवरूप वह पाता है ।
उर बीच सत्य आदि षोडश कमल-दल होते हैं प्रबुद्ध, चित्त शुद्ध बन जाता है ॥
'भक्ति', 'प्रेम', 'समता' विराजती तभी हैं वहाँ, 'सर्व-आत्मदर्शन' अनावृत सुहाता है ।
'भगवद्-धाम' में विराम है परम गति हिंदू-संस्कृतिका भव्य रूप यह भाता है ॥

'राम-चक्र'

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य ६॥) विदेशमें ९) (१२½ शिलिङ्ग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

















हिन्दू संस्कृति अंक



श्रीहरिः

कल्याण-प्रेमियों तथा ग्राहकोंसे निवेदन

१—इस 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' में चित्रोंसमेत सब मिलाकर १०४६ पृष्ठ दिये गये हैं। 'उपनिषद्-अङ्क' में सब मिलाकर ८३० पृष्ठ थे, इस अङ्कमें पिछले अङ्कसे २१६ पृष्ठ अधिक हैं। कई बड़े सुन्दर सादे चित्र भी इसमें हैं।

२—जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ गये होंगे, उनके अङ्क जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी. पी. भेजी जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका एक कार्ड तुरंत डाल दें ताकि वी. पी. भेजकर 'कल्याण' को व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े। उनके तीन पैसेके खर्चसे 'कल्याण' के कई आने बच जायँगे। आशा है पुराने सम्बन्धके नाते वे इतना त्याग अवश्य स्वीकार करेंगे।

३—इस विशेषाङ्कका अलग मूल्य ६।।) है। जिन महानुभावोंको वितरणादिके लिये जितने अङ्क अलगसे मँगवाने हों, उनके लिये शीघ्र आर्डर देनेकी कृपा करें।

४—आजकल नये-नये उपद्रव तथा अशान्तिके कारण बन रहे हैं। इसलिये यदि किसी कारणवश आगेके अङ्क पूरे वर्षतक न भेजे जा सकें तो जितने अङ्क पहुँचें, उतनेमें ही मूल्य पूरा समझनेकी कृपा करें।

५—मनीआर्डर-कूपनमें अपना पता और ग्राहक-नंबर जरूर लिखें। ग्राहक-नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

६—ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकों' में दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी. पी. दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी. पी. चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी. पी. लौटायें नहीं, चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें। आप ऐसा करेंगे तो आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण' के प्रचारमें सहायता करके पुण्यके भागी बनें। अगर नया ग्राहक न मिले तो वी. पी. नहीं छुड़ानी चाहिये।

७—'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो महीने लग जाते हैं; क्योंकि पोस्ट-आफिसवाले प्रतिदिन अधिक संख्यामें रजिस्टर्ड पैकेट नहीं ले पाते। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क नंबरवार जायगा। परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

८—जिन कल्याण-प्रेमी महानुभावोंने 'कल्याण' के नये ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस बार कल्याण-प्रेमी सज्जनोंको 'कल्याण' के नये ग्राहक बनानेकी फिर सफल चेष्टा करनी चाहिये। धर्मपर इस समय बड़ी विपत्ति आयी हुई है। ऐसे समयमें शुद्ध धर्म-सेवा समझकर 'कल्याण' का प्रचार बढ़ानेमें सभीको सहायक होना चाहिये।

९—गीताप्रेस पोस्ट-आफिस अब 'डिलेवरी आफिस' हो गया है। अतः 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभाग और 'गीताप्रेस' तथा 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति' के नाम भेजे

जानेवाले सभी पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, बीमा आदिपर केवल 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) इस प्रकार लिखना चाहिये ।

१०–सजिल्द विशेषाङ्क वी. पी. द्वारा नहीं भेजे जायँगे । सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १।) जिल्दचार्जसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें ।

११–आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे खूब सावधानीपूर्वक नोट कर लें । रजिस्ट्री या वी. पी. नंबर भी नोट कर लेना चाहिये ।

१२–डाक-विभागके नियमानुसार रजिस्ट्री तथा मनीआर्डर यथास्थान न पहुँचनेकी शिकायत ६ मासके भीतर ही होनी चाहिये, अन्यथा वे शिकायतपर विचार नहीं करते । अतः रुपया भेजनेके बाद यदि दो मासके भीतर आपको पोस्ट-आफिससे कार्यालयकी हस्ताक्षरयुक्त वापसी रसीद न मिले तो अपने पोस्ट-आफिसमें तुरंत शिकायत कर देनी चाहिये । रुपया भेजनेकी रसीद मिलनेके बाद २ मासके भीतर आपको 'कल्याण'की रजिस्ट्री न मिले तो कार्यालयको सूचना देनी चाहिये ।

१३–विशेषाङ्क तो रजिस्टर्ड होनेसे पहुँच ही जाता है । शेष अङ्क साधारण डाकसे जानेके कारण कभी-कभी रास्तेमें खो जाते हैं । कार्यालयसे अङ्क बहुत सावधानीके साथ भेजे जाते हैं । गड़बड़ी पोस्ट-आफिसमें ही होनेकी सम्भावना है । अतः दो मासके भीतर अगला अङ्क प्राप्त न हो तो पोस्ट-आफिसमें कड़ी शिकायत लिखनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । कुछ लोग चार-चार, पाँच-पाँच अङ्कोंकी शिकायत एक साथ लिखते हैं, पर देरी होनेसे न तो पोस्ट-आफिसपर शिकायतोंका प्रभाव पड़ता है और न खोये हुए अङ्क उनको मिल पाते हैं । अतः इस विषयमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । जिनके अङ्क बराबर गुम होते रहें, वे अपने डिवीजनके 'सुपरिंटेंडेंट ऑफ पोस्ट आफिसेज'को शिकायत लिखनेकी कृपा करें । यदि हर महीने रजिस्ट्रीसे अङ्क मँगाना चाहें तो ।) प्रति अङ्क रजिस्ट्री-खर्च अतिरिक्त भेजना चाहिये ।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

कल्याणके पुराने प्राप्य विशेषाङ्क और साधारण अङ्क

वर्ष १५वाँ–साधारण अङ्क ३, ४ दो अङ्क एक साथ, मूल्य ॥)

वर्ष १८वाँ–साधारण अङ्क ६ ठा, मूल्य ।) प्रति ।

वर्ष १९वाँ–संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रंगीन चित्र २१, लाइन-चित्र २४१, मूल्य ४≡)

वर्ष २०वाँ–साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १२ नौ अङ्क एक साथ, मूल्य २।)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें—

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ, मूल्य १।), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ कुल दस अङ्क एक साथ, मूल्य १॥-), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥।-)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १८ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ३-)

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

हिंदू-संस्कृति-अङ्ककी विषय-सूची

कविता

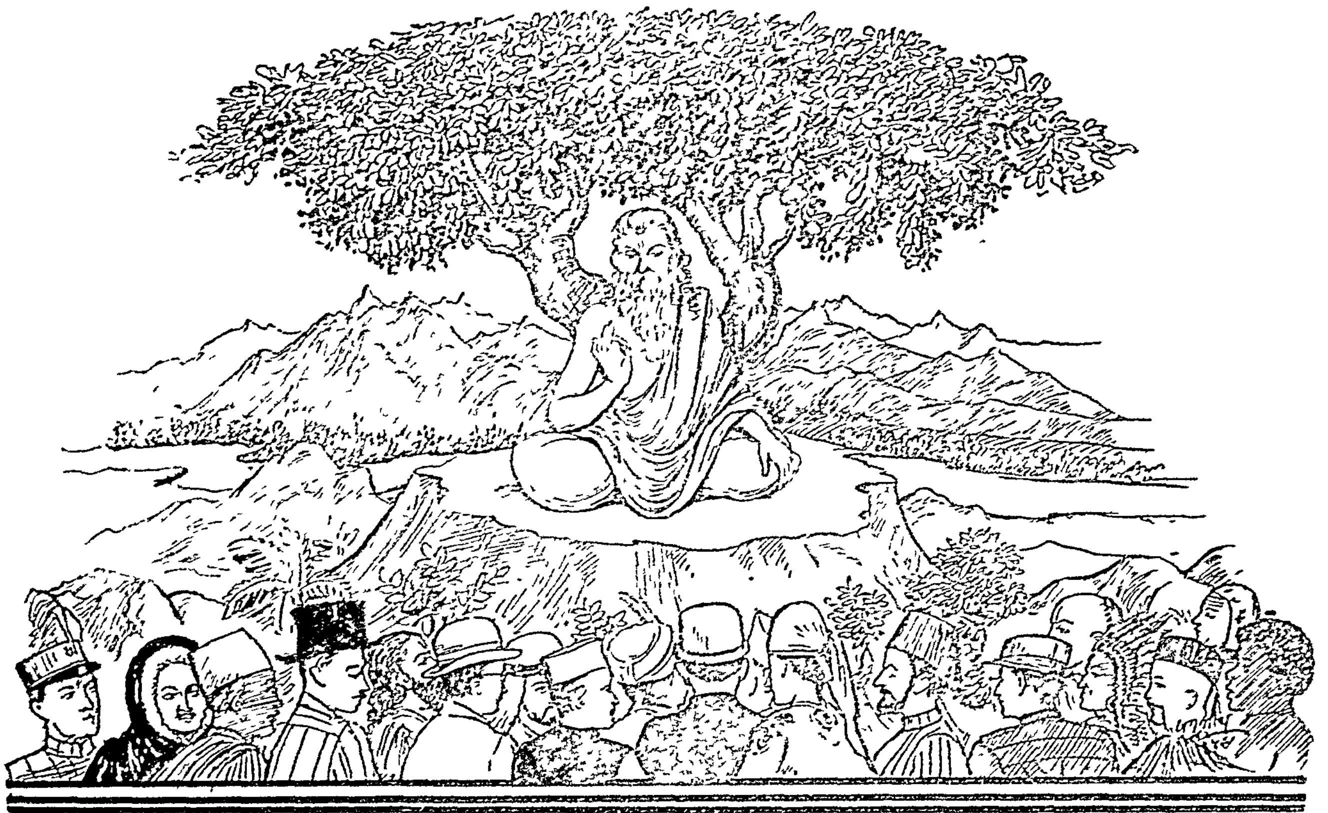
संगृहीत

चित्र-सूची





हिंदू-संस्कृतिमें ऋषि-आश्रम



एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर माघ २००६, जनवरी १९५० { संख्या १ पूर्ण संख्या २७८

प्रार्थना

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । १० । ३८)

भगवन् ! मेरी वाणी आपके गुण-कीर्तनमें लगी रहे । मेरे कान आपकी लीलाकथा सुननेमे संलग्न रहें । मेरे हाथ आपकी सेवाके कार्यमें और मन आपके चरणोंके चिन्तनमें तत्पर रहे । मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्को नमस्कार करनेके लिये झुका रहे और मेरी ऑखे आपके स्वरूपभूत संतजनोंके दर्शनमें निरत रहें ।

वैदिक राष्ट्र-गीत

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥
(यजु० सं० २२ । २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा;
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन् ! देश हमारा ।
हो ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमें ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हो शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी ।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा ॥
सब···· ॥ १ ॥

भारतमें बलवान वृषभ हो, बोझ उठायें भारी;
अश्व आशुगामी हो, दुर्गम पथमें विचरणकारी ।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा ॥
सब··· ॥ २ ॥

महिलाएँ हों सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोंकी करें विजय-अगवानी ।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा ॥
सब···· ॥ ३ ॥

यज्ञ-निरत भारतके सुत हों, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होंगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा ॥
सब···· ॥ ४ ॥

समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधमें लगें प्रचुर फल और स्वयं पक जायें ।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वतः सिद्ध हो सारा ॥
सब···· ॥ ५ ॥



—'राम'

वैदिक सूक्त

(भाषान्तरकर्ता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

नासदीय सूक्त

(ऋग्वेद १० । १२९ । १–७)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

'असत्' नहीं उस प्रलयकालमें, 'सत्' भी नहीं रहा कारण;
हुआ भूमि-पाताल प्रभृति भुवनोंकी सत्ताका वारण ।
अन्तरिक्ष भी नहीं, नहीं वे स्वर्ग आदि रह गये प्रदेश;
क्या आवरण, कहाँ, किसके हित, गहन गभीर नीर था शेष ॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥

मृत्यु नहीं थी, नहीं अमरता, रात-दिवसका ज्ञान नहीं;
था चेतन, बस, एक ब्रह्म ही, हैं जिसके मन-प्रान नहीं ।
था मायाके साथ विराजित ब्रह्ममात्र ही सत्तावान्
विद्यमान थी वस्तु यहाँपर उससे भिन्न न कोई आन ॥२॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे-
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥

आवृत हो अज्ञान-तिमिरसे पहले यह सब था तमरूप,
दुग्धराशिमें मिलित सलिल-सा अखिल विश्व अज्ञात अरूप ।
तुच्छ अविद्यासे छादित जो तमसे एकीभूत हुआ,
वही विश्व विभुके तपकी महिमासे फिर उद्भूत हुआ ॥३॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

हुआ सृष्टि-रचनाके पहले ईश्वरके मनमें संकल्प,
क्योंकि पुरातन कर्मराशि थी बीजरूपमें उदित अनल्प ।
ज्ञानी पुरुषोंने मेधासे निज उरमें जब किया विचार,
'सत्' के साधनभूत कर्मका हुआ 'असत्'में साक्षात्कार ॥४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

तना सृष्टिका सूर्यरश्मि-सा सहसा ही सब ओर वितान,
पहले मध्यलोकमें, ऊपर या नीचे—कुछ हुआ न भान ।
कर्मोंके कर्ता-भोक्ता थे अगणित जीव हुए उत्पन्न,
भोग्य-स्थान महान् भूत भी, भोक्ता उच्च, अधम है अन्न[3] ॥५॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा
को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

किस निमित्त, किस उपादानसे हुई प्रकट नानाविध सृष्टि—
कौन जानता, कौन बतावे, किसकी वहाँ पहुँचती दृष्टि ।
पैदा हुए देवगण भी तो भूत-सर्गके ही पश्चात्;
फिर किससे सब सृष्टि हुई है, यह रहस्य किसको है ज्ञात ॥६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो
अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

जिस विभुसे इस विविध सृष्टिका हुआ प्रकट अतिशय विस्तार,
वही इसे धारण करता है, रखता या कि बिना आधार ।
जो इस जगका परम अधीश्वर रहता परम [4]व्योममय देश,
वही जानता या न जानता; नहीं अन्यका यहाँ प्रवेश ॥७॥

---

१. जगत् । २. अव्याकृत कारण । ३. भोग्यप्रपञ्च । ४. 'परम व्योम' नामसे प्रसिद्ध परम धाम ।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता
भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

जो मध्य भाग, जो नाभिदेश हैं तेरे,
तुझसे प्रकटित जो पोषक तत्त्व घनेरे,
रख वहीं, उन्हींमें मुझे, मोद उर भर दे;
निज पुत्र अपावनको अतिपावन कर दे ।
हम सुत वसुधाके, वह हम सबकी माता;
जीवन-दाता पर्जन्य पिता, हो त्राता ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां
यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्या-
मूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

जिस भूतलपर विद्वान बनाते वेदी,
जिसमें करते मख अखिल-कर्मविधि-वेदी,
आहुतिके पहले जहाँ बनाये जाते
ऊँचे, चमकीले यज्ञ-स्तम्भ सुहाते—
वह भूमि अबसे, वैभवसे बढ़ जाये,
हम सबको भी नित उन्नतिशील बनाये*॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

मा वसुधे ! जो लोग जगत्में रखते हमलोगोंसे द्वेष,
जो चढ़ आते सैन्य साजकर देनेके हित हमको क्लेश,
जो मनसे भी अहित चाहते, वध करनेको हैं तैयार—
रिपु-संहारिणि ! पहले ही तू कर दे उन सबका संहार ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

तुझसे हो उत्पन्न मर्त्यगण तुझपर ही कर रहे विहार;
द्विपद-चतुष्पद सब जीवोंकी केवल तू है पालनहार ।
भूदेवी ! ये मनुज पञ्चविध[1] तेरे ही हैं तनुज-उदार,
जिनके हित रवि उदित रश्मियोंसे करता है अमृत-प्रसार ॥

सा नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

वे दिनमणिकी स्वर्ण-रश्मियाँ दें हमको सुन्दर संतान;
और ज्ञान दें सब वाङ्मयका; मेदिनि तू ! कर मधुका दान ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

जिसे प्राप्तकर जग होता है बहुविध वैभवसे सम्पन्न,
व्रीहि-यवादिक ओषधियोंको जो करती रहती उत्पन्न—
भूदेवी वह अचल, धर्म ही है जिसका दृढ़तर आधार—
उसी शिवा सुखदा भूपर हम करें सदा सब ओर विहार ॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ
महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव ।
संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

तू महती, तू अखिल विश्वका, वसुधे ! महानिवास-स्थान;
वेग-प्रगति, हलचल-कम्पन हैं तेरे अद्भुत और महान ।
मातृभूमि ! तेरी रक्षामें सावधान रहते भगवान,
ऐसी महिमामयी जननि ! तू कर अपनी करुणाका दान ।
हमे बना प्रिय, रुचिर स्वर्ण-सम, सबके नयनोंमें छविमान;
कोई द्वेष न माने हमसे, हमको परम सुहृद निज जान ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो
बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु
गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

भूतलमें सब ओर अनल है, ओषधियोंमें व्यापक अग्नि;
जल धारण करता बडवानल, पत्थरमें भी पावक अग्नि ।
पुरुष-देहके अभ्यन्तर भी जठरानलका नित्य-निवास,
गायों-घोड़ोंके भीतर भी अग्निदेव करते हैं वास ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्ने-
र्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते
हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

* यहाँसे आगे अनुवादका छन्द बदल गया है ।

१. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (अन्त्यज) ये पाँच प्रकारके मानव हैं ।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

पैदा होते जिस वसुधापर धान और जौ आदिक अन्न,
जिस वसुधासे हुए सभी ये पञ्चवर्ण[1] मानव उत्पन्न,
वर्षा ही मेदा है जिसका, जिससे पड़ा मेदिनी नाम—
उस पर्जन्य-पालिता पृथ्वीको है मेरा नित्य प्रणाम ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा-
माशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

जिस पृथ्वीपर देवविनिर्मित शोभित नगर और पुर-ग्राम,
जिसके विपुल क्षेत्रमें क्रमशः होते विकृत देह-धन-धाम,
धारण करती सदा गर्भमें जो वसुधा यह विश्व अशेष—
उसकी दिशा-दिशा शुभ-सुन्दर करे हमारे लिये प्रजेश ॥

निधिं बिभ्रति बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

धरती, जो धरती निज उरमें गूढ़ विविध रत्नोंकी खान,
धन-वैभव, मणि-रत्न, स्वर्ण वह हमको संतत करे प्रदान ।
वसुधा वह धन-रत्न-दायिनी देवी वरदायिनी प्रसन्न
होकर हमें अमित वैभव दे, जिससे हो हम सुख-सम्पन्न ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

नानाविध धर्मोंके पालक, बहुविध भाषाके विद्वान,
जन-साधारणको धारण करती जो देकर वासस्थान,
धरणी वह अति शान्त-अचञ्चल रुचिर धेनु-सी हो साकार
सदा हमारे लिये बरसती धनकी रहे सहस्रों धार ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि
तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

तव ऊपर जो अहि-वृश्चिक,जिनके दंशनसे जगती प्यास,
हिम-पीडित हेमन्त-समय जो गूढ़ गुहामें करते वास,
जो विषधर कृमि पावसमें, भूदेवि ! विचरते तेरी गोद,
निकट न आये; जो शिव हो, कर हमें उन्हींसे सुखी-समोद ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

मा ! जिनपर मानव चलते हैं, वे तेरे जो अध्व अनेक,
रथके और शकटके पथ जो,जिनपर चले बुरे औ नेक,
जीते हम उस पुण्यपंथको, जहाँ शत्रु या चोर नहीं;
मङ्गलमय जो मार्ग, उसीमें सुखी हमें कर, मातृ-मही ! ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्र-
पापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

नीच-ऊँच, लघु-गुरु पदार्थको जो धारण करती धरती,
पुण्यात्मा-पापी जनके भी शवका भार सहन करती,
खोज रहे थे महासिन्धुमें जिसको श्रीभगवान वराह—
मृग-सूकर-तनुधारी हरिको मिली भूमि वह सहित उछाह ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने
हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित
ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

जो तेरे,भूदेवि ! वन्य पशु—हरिण-व्याघ्र,हिंसक मृगराज,
नर-भक्षी बहु जन्तु विपिनमें विचरण करते-फिरते आज,
चीता और भेड़िया, भालू-राक्षस आदि जीव जो क्रूर—
उन सबको पीडा देकर, हे जननि ! भगा दे हमसे दूर ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥५०॥

जो गन्धर्व-अप्सराएँ, जो दान-विघातक दानव क्रूर,
राक्षस-भूत-पिशाच—सभीको, भूमि ! हटा दे हमसे दूर ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि
कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

जिसपर दो पगवाले पंछी—हंस-गरुड़ भर रहे उड़ान,
जिसपर धूल उड़ाती आँधी और गिराती वृक्ष महान—
जब समीपसे वसुधातलपर प्रखर समीरण है चलता,
लपटोंसे अनुसरण उसीका करता हुआ अनल जलता ॥

१. चार वर्ण और निषाद ।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो
दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥५२॥

जिस वसुन्धरापर जब होता परम मनोरम प्रातःकाल,
मिलता श्यामरंग रजनीके संग दिवस दूल्हा-सा लाल—
वर्षाकी शत-शत धारासे आवृत हो वह भूमि महान
हम सबको प्रिय धाम-धाममें भद्र भावनासे दे स्थान ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

स्वर्ग, भूमि औ अन्तरिक्षने दिया हमें विस्तृत मैदान ।
अनल, सूर्य, जल, विश्वेदेवोंने है की सद्बुद्धि प्रदान ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

रिपुका वेग रोकनेवाला मैं भूपर वर वीर उदार ।
संमुख लड़, सबपर विजयी हो दिशि-दिशि करूँ शत्रु-संहार ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना
पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानी-
मकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

देवि ! प्रथम जब फैली थीं तुम देववृन्दका कहना मान,
अद्भुत था वह—लघु कायाको क्षणभरमें कर लिया महान ।
उसी समय सुन्दर भूतोंने अङ्क तुम्हारे किया प्रवेश,
चार दिशाओंके विभागका किया तुम्हींने तब निर्देश ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

भूतलपर जो ग्राम, गहन वन, जनपद-सभा, समाजस्थान,
मेले या संग्राम—वहाँ हम करते तेरे गुणका गान ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

यथा अश्व निज देह हिलाकर धूल झाड़ता, हुआ प्रसन्न,
तथा हटाती तू उनको, जो तुझमें स्थित, तुझसे उत्पन्न ।
तू मन्द्रा, तू अग्रगामिनी, करती सब जगका रक्षण;
ओषधियोंको और वनस्पतियोंको भी तू करती धारण ॥

यद् वदामि मधुमत्तद् वदामि
यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्
हन्मि दोधतः ॥५८॥

मैं जो कहता, उसे बोलता भीतर मधुका घोल मिठास;
मैं देखा करता, जैसे उस दर्शनका सबको अभिलाष ।
तेजस्वी हूँ, शक्तिमान हूँ, मुझपर पर-रक्षणका भार;
मुझे कँपाने जो आता, कर देता मैं उसका संहार ॥

शन्तिवा सुरभिः स्योना
कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे
पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

सीधी, शान्त सुरभि-सी जो है जगको सुखका देती दान,
भरे अन्नसे थन जिसके, जो दुग्धदायिनी धेनु-समान—
वह वसुधा ले साथ अन्नके पुष्टिप्रद रस अन्न अशेष
सुख पहुँचाये हमें और दे सदा मानसिक शुभ उपदेश ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्व-
कर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा
यदाविर्भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः ॥६०॥

हुई विश्वकर्माको हविसे तुझे प्राप्त करनेकी चाह,
रही समायी-सी सिकतामें जब तू सागर बीच अथाह,
अवसर आया मातृमान जीवोंके जभी भोग-अनुरूप—
प्रकट हुआ तब अन्नपात्र-सा छिपा उदधिमें तेरा रूप ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः
कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ
पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

अन्नौषधकी क्षेत्र-भूमि, तू जग-जीवोंकी योनि महान;
तू अखण्ड विस्तृत,तू करती सबको अभिमत काम प्रदान ।
जो तुझमें न्यूनता कहीं हो, जो कुछ तेरा रहा अपूर्ण,
सत्य—विष्णुके ज्येष्ठ तनय वे आदि प्रजापति करते पूर्ण ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

मातृभूमि! उत्संगरूप जो तेरे प्रकटित द्वीप-प्रदेश,
रोगरहित हो हम सबके हित,क्षय-भयका हो वहाँ न लेश।
होवे लंबी आयु हमारी, सावधान हम जगे रहें;
तुझपर सब कुछ बलि देनेके शुभ उद्यममें लगे रहें॥

भूमे मातर्नि धेहि मा
भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे
श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

स्थापित कर, हे मातृभूमि! तू मुझे भद्र भावोंके साथ;
सर्वज्ञे! स्वर्गीय भूतिकी प्राप्ति करा तू करे सनाथ।
पार्थिव सुख-सम्पत्ति-राशिमें,करुणामयि! दे मुझको स्थान;
और साथ ही, जननि! मुझे कर भागवती विभूतिका दान॥

(३)

संज्ञान-सूक्त

(ऋ० १० । १९१)

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने
विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे
स नो वसून्या भर॥ १॥

अग्निदेव, अभिमतफलदाता! तुम ईश्वर, तुम स्वामी;
वैश्वानर, तुम सब भूतोंमें व्यापक अन्तर्यामी।
उत्तर-वेदीपर याज्ञिकजन करते तुम्हें प्रदीपित;
धन दो हमें, ज्ञान दो हमको; है तव शक्ति असीमित॥१॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते॥ २॥

सब मिलकर तुम एक रहो, हे धर्म-निरत विद्वानो!
बात एक तुम बोलो, मनसे अर्थ एक तुम जानो।
एकचित्त हो देव पुरातन ज्यों लेते निज भाग;
वैसे ही तुम भी लो, करके निज विरोधका त्याग॥२॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

मन्त्र एक-सा हो इन सबका, होवे प्राप्ति समान;
अन्तःकरण समान सभीके; सम विचार, सम ज्ञान।
तुम सबके हित मैं अभिमन्त्रित करता मन्त्र समान,
सम हविष्यसे लिये तुम्हारे करता आहुति-दान॥३॥

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति॥ ४॥

तुम सबकी चेष्टा समान हो, निश्चय एक-समान;
हृदय तुम्हारे एक-तुल्य हों, हो न विषमता-भान।
एक-सदृश ही हो तुम सबके अन्तःकरण उदार;
हो सुन्दर सहवास तुम्हारा, ज्यों समता साकार॥४॥

(४)

ऋत-सूक्त

(१० । १९०)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥१-३॥

उग्र तपस्यासे विरञ्चिकी प्रकट हुए ऋत-सत्य प्रथम,
हुए निशा आदिक फिर विधिसे निर्मित कालभेद अनुपम।
यह अनन्त जलराशि-संवलित लहराता जो सिंधु महान्,
उसी विधातासे इसका भी प्रादुर्भाव हुआ लो जान॥
जलसे भरे महासागरका जब हो प्रादुर्भाव गया,
हुआ विधातासे फिर संवत्सरका आविर्भाव नया।
संवत्सर वह, दिवस-रात्रिको जो धारण करनेवाला,
धृत-निमेष चर अचर विश्वको भी वशमें रखनेवाला॥
पूर्वकल्प सम परमेष्ठीने रवि-शशिको सप्राण किया,
सुखमय स्वर्ग और भूतलका, नभका भी निर्माण किया॥

(५)

धनान्नदानसूक्त

(ऋ० १० । ११७)

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्य-
त्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥१॥

भूख नहीं दी, वध जीवोंका देवोंने कर डाला;
दाता वही, अन्न देकर जो बुझा सके यह ज्वाला ।
क्षुधा-क्षीणकी अवहेला कर जो खुद माल उड़ाता,
एक दिवस उसके प्राणोंको भी अन्तक ले जाता ॥
दाताका धन कभी न घटता, देता उसे विधाता;
किन्तु कृपणको कहीं न कोई सुख-दाता मिल पाता ॥ १ ॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्न-
वान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥

दुर्बल और भूखसे पीडित स्वयं द्वारपर आये,
लिये अन्नकी चाह; विकल हो संमुख कर फैलाये—
ऐसे याचकके प्रति भी जो हृदय कठोर बनाता,
अन्नवान है, किंतु नहीं देनेको हाथ बढ़ाता,
यही नहीं; तरसाकर उसको स्वयं सामने खाता—
सुखदाता उस महाक्रूरको कहीं नहीं मिल पाता ॥ २ ॥

स इद् भोजो यो गृहवे
ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता
उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥

कृश-शरीर है माँग रहा घर आकर दाना-पानी,
ऐसे प्रतिग्रही याचकको जो देता, वह दानी ।
यज्ञोंमें पूरा-पूरा फल उसको ही मिल पाता,
शत्रु-मण्डलीमें भी वह है सबको मित्र बनाता ॥ ३ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

संगी, अपना अंग, सखा, जो रखता स्नेह सही है,
उसको भी जो अन्न न देता, वह तो मित्र नहीं है ।
उसे छोड़ हट जाय दूर नर, उसका गेह नहीं वह;
अन्य किसी दाताका आश्रय कर ले ग्रहण कहीं वह ॥ ४ ॥

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव
चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥५॥

धनका दान करे याचकको निश्चय ही धनवान,
दिखलायी देता दाताको शुभका मार्ग महान ।
आवर्तित रथके चक्रों-सा होता विभव-विलास;
कभी एकके पास संपदा, कभी अन्यके पास ॥ ५ ॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥

व्यर्थ अन्न पैदा करता वह, जिसका मन न उदार;
सत्य कहता हूँ, वह संग्रह है उसका ही संहार ।
देव-तृप्तिके काम न आता जो, न मित्रके काम,
जो केवल निज पेट पालता, वह केवल अघधाम ॥ ६ ॥

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति
यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मा वदतो वनीयान्
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥७॥

खेत जोतकर फाल कृषकको अन्न दे रहा उपकारी,
उपकृत करता आचरणोंसे पथको पांथ सदाचारी ।
वक्ता ब्राह्मण सदा अवक्तासे बढ़कर आदर पाता,
दाता पुरुष कृपणसे उत्तम बन्धु-सदृश माना जाता ॥ ७ ॥

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥८॥

एक अंशका धनी द्विगुणके पीछे चलता है चिरकाल;
वह भी तीन अंशवालेका अनुगम करता है सब काल ।
चार अंशवाला चलता है पीछे औरोंको अवलोक,
अतः विभव-अभिमान छोड़ धन-दान करें संतत सब लोक ।८

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः
सं मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती
चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥९॥

दोनो हाथ समान यदपि हैं, करते कार्य न किंतु समान;
दो व्यायी गौएँ भी करतीं एक सदृश क्या दुग्ध प्रदान ?
जुड़वीं संतानोंमें होता सदृश शक्तिका भान नहीं,
पुरुष एक कुलके दो होते दानी एक समान नहीं ॥ ९ ॥

(६)

श्रद्धासूक्त

(ऋ० १० । १५१)

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी होती दीपित आग,
श्रद्धासे ही अर्पित होता उसमे हविका भाग ।
धन-ऐश्वर्योके मस्तकपर श्रद्धा रही विराज,
स्तुति-वाणीसे विज्ञापन यह हम करते है आज ॥१॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥

श्रद्धे ! दाताके हित कर तू अभिमत फलका दान,
देनेकी इच्छावालेको भी प्रिय वस्तु प्रदान ।
भोग-प्राप्तिके अभिलाषी जो याज्ञिक मेरे इष्ट,
इनका भी पूर्वोक्त रूपसे कर दे पूर्ण अभीष्ट ॥२॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥

'हम विजयी होगे' देवोने की श्रद्धा-विश्वास,
अतः उग्र असुरोपर जैसे पाया जय-उल्लास—
वैसे ही श्रद्धालु हमारे जो ये याज्ञिक लोग,
भोगार्थी हैं; इनको भी दो, श्रद्धे ! प्रार्थित भोग ॥३॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

देव और यजमान मनुज सब, जिनके रक्षक वायु,
श्रद्धा देवीकी उपासना करते सारी आयु ।
कर उरकी संकल्प-क्रियासे श्रद्धाका आराधन,
श्रद्धासे सब धन पाते हैं; श्रद्धा धनका साधन ॥४॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

श्रद्धा देवीको पुकारते हम प्रातः-पूर्वाह्न,
श्रद्धाके ही आवाहनमे बिता रहे मध्याह्न;
करते है सूर्यास्त-समय भी श्रद्धाका आह्वान,
श्रद्धे देवि ! करो हम सबमे श्रद्धाका आधान ॥५॥



वैदिक सूक्त

(भाषान्तरकर्ता—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(१)

संज्ञानसूक्त

[अथर्ववेद, पैप्पलादशाखा, ५ । १९]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

आप सबके मध्यमे विद्वेषको हटाकर मै सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ । जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक दूसरेसे प्रेम करे ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संयतः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो । पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भाई-भाई आपसमे द्वेष न करें । बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रक्खे । आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करे ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते है, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमे स्थापित करता हूँ । सब पुरुषोमे परस्पर मेल हो ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात
समग्रास्थ सध्रीचीनान् ॥ ५ ॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ । एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो ।

परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो । एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ ।

साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारो ओर अरे लगे रहते हैं ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः ।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु ॥ ७ ॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें ।

देव जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो ॥ ७ ॥

(२)

एवा मे प्राण मा बिभेः

(प्राणोंकी अभयप्राप्ति)

[अथर्ववेद २ । १५]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ १ ॥

जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी मत डरो, मत क्षीण हो ॥ १ ॥

यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ २ ॥

जिस प्रकार वायु और अन्तरिक्ष न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ३ ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार दिन और रात्रि न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ४ ॥

यथा धेनुश्चानड्वांश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार धेनु और वृषभ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ५ ॥

यथा मित्रश्च वरुणश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार मित्र और वरुण न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ६ ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ७ ॥

यथेन्द्रश्चेन्द्रियं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार इन्द्र और इन्द्रियाँ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ८ ॥

यथा वीरश्च वीर्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार वीर और वीर्य न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ९ ॥

यथा प्राणश्चापानश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्राण और अपान न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ १० ॥

यथा मृत्युश्चामृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार मृत्यु और अमृत न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ११ ॥

येन पूतः स्तनयित्नुरपामुत्सः प्रजापतिः ।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥१९॥

जिससे विद्युत् और जलोंके आश्रय प्रजापालक मेघ पवित्र हुए हैं; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥ १९ ॥

येन पूतमृतं सत्यं तपो दीक्षां पूतयते ।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥२०॥

जिससे ऋृत और सत्य पवित्र हुए हैं; जो तप और दीक्षाको पवित्र करता है; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥ २० ॥

येन पूतमिदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।*
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥२१॥

जिससे जो कुछ भूत और भविष्य है; सभी पवित्र हुआ है; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥२१॥

(५)

दीर्घ आयु

[अथर्ववेद पैप्पलाद शाखा ६ । १८]

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

मरुद्गण, पूषा, बृहस्पति और यह अग्नि मुझे प्रजा और धनसे सींचें, और मेरी आयुकी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वादित्याः सं मा सिञ्चन्त्वग्नयः ।
इन्द्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ २ ॥

आदित्य, अग्नि और इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचें, और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ २ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वरुषः समर्का ऋषयश्च ये ।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ३ ॥

अग्निकी ज्वालाएँ, प्राण, ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचें, और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ३ ॥

सं मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरसः सं मा सिञ्चन्तु देवताः ।
भगः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ४ ॥

गन्धर्व एवं अप्सराएँ, देवता और भग† मुझे प्रजा और धनसे सींचें, और दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ४ ॥

सं मा सिञ्चतु पृथिवी सं मा सिञ्चन्तु या दिवः ।
अन्तरिक्षं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ५ ॥

पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ५ ॥

सं मा सिञ्चन्तु प्रदिशः सं मा सिञ्चन्तु या दिशः ।
आशाः समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ६ ॥

दिशा, प्रदिशाएँ और ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचे तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे ॥ ६ ॥

सं मा सिञ्चन्तु कृषयः सं मा सिञ्चन्त्वोषधीः ।
सोमः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ७ ॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य, ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करे तथा दीर्घ आयु दे ॥ ७ ॥

सं मा सिञ्चन्तु नद्यः सं मा सिञ्चन्तु सिन्धवः ।
समुद्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ८ ॥

नदी, सिंधु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करें । वे मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ८ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कृष्टयः ।
सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ९ ॥

जल और कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे युक्त करें । वे हमें दीर्घ आयु प्रदान करे ॥ ९ ॥



* परिमितं वै भूतमपरिमितं भाव्यम् । (ऐ० ब्रा० ४ । ६ भाष्यम्) † एक देवताका नाम ।

पुरुष (मर्द) ! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना ।

१८. मा नो द्विक्षत कश्चन । (१२ । १ । २४)

हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो ।

१९. सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया । (३ । ३० । ३)

समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणीसे बोलो ।

२०. मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः । (१७ । १ । २९)

मुझे पाप और मौत न व्यापे ।

२१. अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् । (६ । ७८ । २)

मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़े और राज्यसे बढ़े ।

२२. अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः । (५ । ३ । ५)

हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें ।

२३. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् । (५ । ३० । ७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है ।

२४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । (११ । ७ । १९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है ।

२५. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । (७ । ५२ । ८)

मेरे दाहिने हाथमें कर्म—पुरुषार्थ है और सफलता बायें हाथमें रक्खी हुई है ।

२६. मधुमतीं वाचमुदेयम् । (१६ । २ । २)

मैं मीठी वाणी बोलूँ ।

२७. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । (१२ । १ । १२)

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूँ ।

२८. सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम । (६ । ११७ । ३)

हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें ।

२९. वाचा वदामि मधुमद् । (१ । ३४ । ३)

मैं वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ ।

३०. ज्योगेव दृशेम सूर्यम् । (१ । ३१ । ४)

हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें ।

३१. मा पुरा जरसो मृथाः । (५ । ३० । १७)

हे मनुष्य ! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर ।

३२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । (३ । २४ । ५)

सैकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो ।

३३. परैतु मृत्युरमृतं न एतु । (१८ । ३ । ६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो ।

३४. सर्वमेव शमस्तु नः । (१९ । ९ । १४)

हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो ।

३५. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (५ । १ । ७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है ।

३६. शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु । (१९ । ९ । १३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और किसी प्रकारका भय न हो ।

३७. शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् । (६ । ७१ । ३)

मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो ।

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

इस जीवनमें यदि परब्रह्मको जान लिया, तब तो कुशल है; नहीं तो महान् विनाश है । बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणीमें परब्रह्मको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमरत्वको प्राप्त हो जाते हैं ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ० १ । २ । २४)

जिस मनुष्यने बुरे आचरणोंका त्याग नहीं कर दिया है, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है तथा जिसने मन-बुद्धिको वशमें नहीं कर लिया है, उसको प्रज्ञान—सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २। ६। १४)

जब इसके हृदयमें स्थित सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्मका अनुभव करता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २। २। ८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय-सन्देह कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीवाल्मीकीय रामायणकी सूक्तियाँ

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥
(अयोध्या० १०९। १३-१४)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है।

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥
(किष्किन्धा० ६४। ९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये; विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुषका नाश कर डालता है।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥
(लङ्का० २। ६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है।

महाभारतकी सूक्तियाँ

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
तान् सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥
(वन० १। २६)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषोंकी सेवामें रहे। उनके साथ बैठना, उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥
(वन० १२। ८)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं; और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(वन० ३१३। १२८)

धर्म ही आहत (परित्यक्त) होनेपर मनुष्यको मारता है और वही रक्षित (पालित) होनेपर रक्षा करता है; अतः मैं धर्मका त्याग नहीं करता—इस भयसे कि कहीं मारा (त्याग किया) हुआ धर्म हमारा ही वध न कर डाले।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः॥

धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये। सम्पूर्ण लोक धर्मके आधारपर ही टिके हुए हैं; धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके ही आश्रित है।

श्रीमद्भागवतकी सूक्तियाँ

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२। ३। १०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, सबको तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करनी चाहिये।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
(३। २९। २३)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति वैर बाँध रक्खा है, अतएव जो दूसरेके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष रखता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिलती।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(३।२९।३४)

इन सब भूतप्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान्ने ही अपने अंशभूत जीवके रूपमें प्रवेश किया है—यों मानकर सब प्राणियोंको अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
(७।७।३२)

समस्त भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, यों अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

स्तवन

हैम चूड़पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीषपर,
शत सूर्योज्ज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत् किरण मंडित मुख सुंदर!

नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीतिके अतल सरोवर,
अधर प्रवालोंपर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मितिके मुरली स्वर!

सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंस धुरंधर
करुणालंबित बाहु, वरद कर,
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर!

बढ़ते युग-युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समयके पथपर,
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर!

सृजन नृत्य उल्लास निरत नित
चिर त्रिभंगमय, रहस रतीश्वर,
अभय इङ्गितोंसे जीवनकी
शाश्वत शोभा पड़ती झर झर!

जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनोंमें भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्तिका
मंगलमय, निज जनको दो वर!!

—श्रीसुमित्रानन्दन पंत

हिंदू-संस्कृति

(भगवत्पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य प्रभु श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रमका प्रसाद)

धीशं सूर्यमथाम्बिकां हरिहरौ रूपाणि पञ्चावहन्
यो नित्यं सगुणः कृतार्थयति सन्मार्गानुगान् साधकान् ।
यो बुद्धेर्वरतेजसः क्रमगताच्छक्तेश्रितः सत्सतः
साहाय्यादवधार्यते स भगवान् पञ्चात्मको नम्यते ॥

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूप और उसकी विशेषताओं आदि-पर विचार करनेके पूर्व यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि हिंदू कौन है और संस्कृतिका क्या अर्थ होता है । हिंदू कौन है, यह निश्चय करनेके लिये सर्वप्रथम जातिनिर्णयका आधार स्पष्ट हो जाना चाहिये

जातिनिर्णयका आधार

सामान्यतया जातिनिर्णयके दो आधार प्रतीत होते हैं— 'देश' और 'धर्मग्रन्थ' । कुछ जातियोंके नाम देशोंके नामके आधारपर प्रचलित हैं—जैसे जर्मन, फ्रेंच, बंगाली, पंजाबी आदि । और कुछ जातियोंके नाम धर्मग्रन्थोंके आधार-पर हैं, जैसे बाइबिलको माननेवाली ईसाई जाति और कुरानको माननेवाली मुस्लिम जाति आदि ।

विचार करनेपर देशके आधारपर जातिका निर्णय पूर्ण रीतिसे नहीं होता । जैसे बंगालके निवासी मुस्लिम भी बंगाली हैं और हिंदू भी बंगाली हैं; किंतु दोनों बंगाली होते हुए भी वे एक जातिके नहीं माने जाते । उनकी जातिका निर्णय उनके धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही होता है । कुरानको माननेवाले मुस्लिम और वेदादि शास्त्रोंको माननेवाले हिंदू जातिके माने जाते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि स्थान या देशके नामके आधारपर जातिनिर्णयका कोई मूल्य नहीं होता; अन्ततः धर्मग्रन्थोंके (या शास्त्रके) आधारपर ही जातिनिर्णय होता है ।

कोई मनुष्य चाहे कोट-पेट पहनकर मांस-मदिरा सेवन करता हुआ विलायतमें रहे या धोती-कुरता पहनकर शाका-हारी होकर भारतमें रहे; किंतु यदि वह बाइबिलको मानता है तो ईसाई ही कहा जायगा और यदि कुरानको मानता है तो मुस्लिम जातिमें ही उसकी गणना होगी । इससे स्पष्ट है कि जातिनिर्णयमें धर्मग्रन्थोंकी ही प्रधानता मानी जाती है और किसी देशविशेषमें निवास करनेसे अथवा ऊपरी वेष-भूषा, खान-पान आदिसे किसीकी जातिका निर्णय नहीं किया जा सकता । यह अवश्य है कि जिस देशमें जिस जातिका प्रादुर्भाव होता है, उस देशको वह जाति अपना देश मानती है; किंतु स्पष्ट है कि जातियोंकी भिन्नताका कारण देशका भेद न होकर शास्त्रभेद ही है ।

किसी एक जातिके लोगोंके भिन्न-भिन्न देशोंमें बस जानेके कारण जल-वायु आदिकी भिन्नतासे उनके वेष-भूषा, खान-पानादिमें अवश्य अन्तर पड़ जाता है और देशके आधारपर उनका नाम भी भिन्न हो जाता है; किंतु जबतक वे एक ही धर्मशास्त्रको मानते हैं, तबतक एक ही जातिके कहे जाते हैं या एक ही जातिकी विभिन्न उपजातियोंमें उनकी गणना होती है । जैसे देश या प्रान्तके आधारपर ईसाई जातिके लोग ही जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश, अमेरिकन आदि नामोंसे और हिंदू-जातिके लोग ही बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न नामोंसे कहे जाते हैं । इसलिये जातिनिर्णयमें शास्त्रकी ही प्रधानता सिद्ध होती है ।

माना जाता है कि पहले एक ही 'आर्य' जाति थी और वही विभिन्न देशोंमें बसकर विभिन्न जातियोंमें परिणत हो गयी । किंतु यदि विभिन्न देशोंमें बसे हुए आर्यलोग वेदादि-शास्त्रोंको बराबर मानते रहते तो दूर-दूर देशोंमें रहते हुए भी और जल-वायु आदिके कारण वेश-भूषा, खान-पान आदिकी भिन्नता रहते हुए भी वे एक ही 'आर्य' या 'हिंदू' जातिके कहे जाते । वेदादि शास्त्रोंसे भिन्न बाइबिल और कुरानको अपने धर्मग्रन्थ माननेके कारण ही ईसाई और मुस्लिम आदि जातियोंकी हिंदू-जातिसे भिन्न स्थिति है । इसलिये जाति-निर्णयका मुख्य आधार धर्मशास्त्र या धर्मग्रन्थ ही निश्चय होता है ।

हिंदू कौन ?

जातिनिर्णयके उक्त आधारसे स्पष्ट ही है कि वेदादि शास्त्रोंको माननेवाली जाति ही हिंदू-जाति है । इस प्रकार वेदादि हिंदू-शास्त्रोंपर विश्वास करनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है । जो श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास-प्रतिपादित कर्मोंके आधारपर अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिपर विश्वास रखता है वही हिंदू है । अथवा श्रुति-स्मृतिमूलक समाज-व्यवस्था,

अर्थव्यवस्था, शासन-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था आदिके द्वारा अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयपर विश्वास रखनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार मानव-जीवनके समस्त क्षेत्रोंकी विभिन्न व्यवस्थाओंका सक्रिय रूप वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमधर्मानुकूल आचार-विचारके द्वारा जीवन व्यतीत करनेवाला ही हिंदू माना जा सकता है। अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें उत्पन्न होकर वेद-शास्त्रोंको अपना धर्मग्रन्थ माननेवाला ही हिंदू है।

संस्कृति-शब्दार्थ

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण-अर्थमें सुट्का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करनेसे 'संस्कृति' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—भूषणभूत सम्यक् कृति। इसलिये भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणभूत सम्यक् कृतियोंका सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृतिका क्षेत्र है।

पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भोगयोनियोंमें जीवकी चेष्टाएँ स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। उनमें सम्यक्-असम्यक्का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्ययोनिमें ही जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकारकी चेष्टाएँ करनेमें समर्थ होता है। इसलिये सम्यक् चेष्टा या कृति—संस्कृतिका प्रयोग मनुष्यके सम्बन्धमें ही किया जा सकता है। इसलिये मनुष्यकी भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

जिन चेष्टाओंके द्वारा मनुष्य अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा मनुष्यकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। या मनुष्यकी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहङ्कारकी चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। (देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्रमें और मन-बुद्धि-चित्ताहङ्कारकी चेष्टाएँ 'विचार'के क्षेत्रके अन्तर्गत कही जाती हैं; इसलिये) संक्षेपमें कहा जा सकता है कि मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

संस्कृतिका आधार

ऊपर 'संस्कृति' शब्दकी व्याख्या कर दी गयी है। उससे स्पष्ट है कि कोई जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग जिस आधारपर निश्चय करती है, उसीके आधारपर उसकी संस्कृतिका निर्णय हो सकता है।

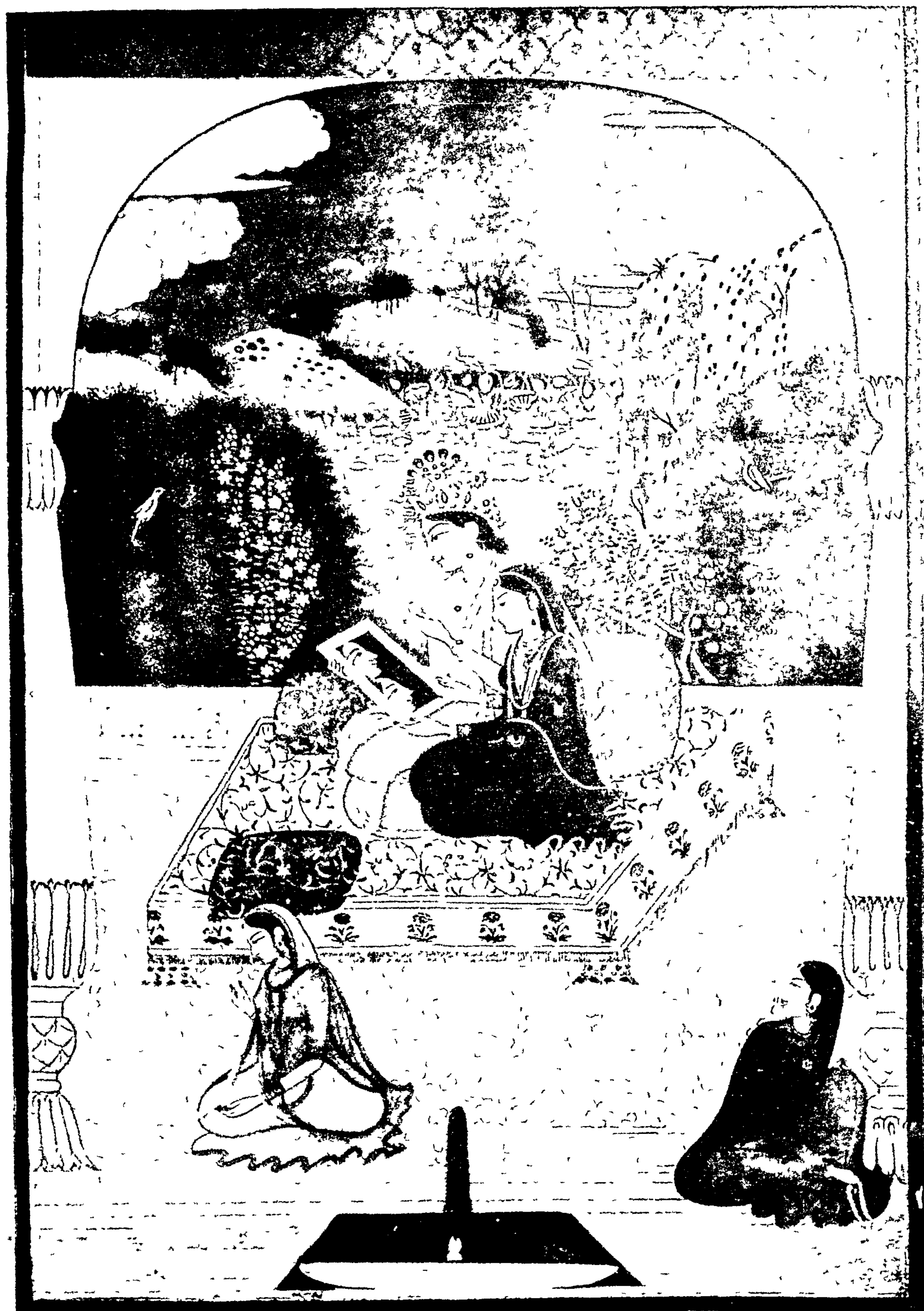
किसी जातिके लिये लौकिक-पारलौकिक विश्वासका आधार उस जातिका दर्शन-शास्त्र होता है। दर्शन-शास्त्र सत्यासत्यविवेचनात्मक, ज्ञानपरक होता है। मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा—इस नाना नाम-रूपमय जगत्का सच्चा स्वरूप क्या है, इसका कर्ता कौन है, यह जड है या चेतन और परम सुख-शान्तिका क्या स्वरूप है—आदिका समाधान दर्शन-शास्त्रसे होता है। कोई जाति अपने दर्शन-शास्त्रके अनुसार इहलोक और परलोकका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसीके अनुरूप लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्गप्रदर्शक उस जातिका आचारशास्त्र होता है। आचार-शास्त्र या धर्म-शास्त्र विधि-निषेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है।

किसी जातिका धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयमें सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारोंका विधान करता है, वे कर्म ही उस जातिके लिये कर्तव्य होते हैं और उन्हींके द्वारा वह जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति मानती है। इससे स्पष्ट है कि किसी जातिके धर्मशास्त्रद्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जातिकी संस्कृतिका स्वरूप होता है। अतएव संस्कृतिका आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ ही है।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

हिंदू कौन है, संस्कृतिका क्या अर्थ होता है और उसका क्या आधार है—यह निश्चय हो जानेके बाद स्पष्ट ही है कि वेदादिशास्त्रसम्मत आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप है। मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन आचार-विचारमय ही होता है। इसलिये संस्कृतिके क्षेत्रमें मानव-जीवनके समस्त क्षेत्र आ जाते हैं। अतएव मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृति है। जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचारकी व्यवस्थाका सक्रिय रूप वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका प्रत्यक्षरूप है। और वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा कलाकौशल

श्रीराधाकृष्ण—दर्पण-दर्शन



पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

श्रीराधाकृष्ण — मुरली-लीला



पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

भाषा, वेषभूषा, उपासना आदि-सम्बन्धी समस्त हलचलें या आचार-विचार वर्णाश्रमधर्मानुकूल हों—यही हिंदू-संस्कृतिका आदर्श है।

हिंदू-संस्कृतिकी विशेषताएँ

ऊपर इस बातपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है कि कोई जाति अपने दर्शनशास्त्रके अनुसार लौकिक, पारलौकिक सत्यासत्य-विवेचनद्वारा परम सुख-शान्ति, मोक्ष, आत्मा, ब्रह्म या स्वर्गका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसकी प्राप्तिमें सहायक, लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयप्रद, धर्मशास्त्र-प्रतिपादित, समस्त सम्यक् भूषणभूत चेष्टाएँ ही उस जातिकी संस्कृति कहलाती हैं। इसलिये किसी जातिकी संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता और उसकी समस्त विशेषताओंका मूल उस जातिका दर्शनशास्त्र होता है।

हिंदूदर्शन या वैदिक दर्शन-शास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताओंके मूलमें स्थित है। नानात्वमय समस्त दृश्य प्रपञ्चके प्रत्यक्ष बहुत्ववादसे अलक्ष्य, अगोचर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षसे परे, निर्गुण-निराकार एक-तत्त्ववाद, अद्वैत-सिद्धान्त-की प्रतिष्ठा ही हिंदू-दर्शनकी मौलिक विशेषता है। साकार-निराकारका पूर्ण समन्वय हिंदू-दर्शनोंमें ही पाया जाता है। यही कारण है कि हिंदू-संस्कृतिमें व्यावहारिक उत्तमता और पारमार्थिक श्रेष्ठता—दोनों पूर्णताकी सीमापर प्रतिष्ठित हैं। जगद्व्यवहारमें प्रतिपल व्यवहार करते हुए भी हिंदू द्वैत-प्रपञ्चसे उठकर अद्वैतस्वरूप-निष्ठा—जीवन्मुक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। मनुष्यको मानव-विकासके उच्चतम शिखरपर पहुँचाकर जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें प्रतिष्ठित करा देना ही हिंदू-संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अद्वैतनिष्ठा या जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको मानव-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था इसलिये माना गया है कि उस स्थितिमें या उसकी प्राप्तिके मार्गमें ही मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें पूर्ण विकासको प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह निर्गुण-निरञ्जन परमतत्त्वसे एकत्व प्राप्त कर लेता है; और आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्षेत्रमें उसके लिये कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता, इच्छामात्रसे वह सब कुछ करनेमें समर्थ हो जाता है—

> यं यं लोकं मनसा संविभाति
> विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
> तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्……
> (मुण्डक० ३।१।१०)

केवल विचारमात्रसे सब कुछ कर सकनेकी सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य और हो ही क्या सकता है। इसलिये स्वरूप-निष्ठा ही मानव-जीवनके विकासकी श्रेष्ठतम अवस्था मानी गयी है और इसीकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है। मनुष्यको पूर्ण स्वातन्त्र्यमय अनन्त ज्ञानके क्षेत्रमें समासीनकर परमानन्दका अनुभव करा देनेकी सामर्थ्य हिंदू-संस्कृतिमें ही है। इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वसामर्थ्यमय सर्वाङ्गीण पूर्ण संस्कृति है।

हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियोंके लिये ही, अपितु समस्त ब्रह्माण्डके लिये विश्वपोषक मङ्गलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हिंदू-संस्कृतिकी इस विश्वपोषकताका रहस्य हृदयङ्गम हो जानेपर उसकी समस्त विशेषताओंको समझनेके लिये एक आधार प्राप्त हो जाता है। इसलिये इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

जिस प्रकार सरोवरके जलमें पत्थर फेंकनेसे या किसी प्रकारकी हलचल करनेसे उसमें उत्पन्न हुई तरङ्गें समस्त सरोवरमें फैलकर सम्पूर्ण जल-राशिको प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्योंकी देहेन्द्रिय आदिकी समस्त हलचलोंसे वायु-मण्डलमें स्पन्दन उत्पन्न होते हैं—जो स्थूल-सूक्ष्मरूपसे समस्त वायुमण्डलमें फैलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण नभोमण्डल, तेजोमण्डल, पृथ्वीमण्डल एवं सम्पूर्ण जलराशिपर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार प्राणीके प्रत्येक कर्मका प्रभाव कर्तातक ही सीमित न रहकर समस्त ब्रह्माण्डपर पड़ता है। किंतु किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके अनुकूल और किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके प्रतिकूल पड़ता है—इसका पूर्णरूपसे निर्णय करना मानवी बुद्धिके परे है। मनुष्य अल्पज्ञ है, वह समस्त सृष्टिसे परिचित नहीं है और अनन्त प्राणियोंकी अनन्त कर्मराशिसे भी परिचित नहीं है; इसलिये किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव प्रकृतिके किस स्तरमें कैसा पड़ता है, यह निर्णय करना मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है। इसका निर्णय वही कर सकता है, जो सर्वज्ञ हो। जिसने सृष्टिकी रचना की है, जिसने समस्त प्राणियोंको बनाया है और जिसने समस्त कर्मराशि एवं कर्मफल-राशिका सृजन किया है, वही सर्वज्ञ परमात्मा कर्मके सूक्ष्म शुभाशुभ प्रभावोंका पूर्णतया प्रकाश कर सकता है। इसलिये परमात्माके अङ्गरूप निःश्वासभूत सनातन वेद जिन कर्मोंको शुभ या उपादेय प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रभाव पूर्णतया सृष्टि-पोषक, मङ्गल-मय एवं सबकल्याणकारी होता है और जिन कर्मोंको वेद अशुभ या हेय निदश करते हैं, उनका प्रभाव सृष्टिके लिये

अवश्य ही अमङ्गलकारी होता है—इसमें सन्देह नहीं । इससे स्पष्ट है कि वेद-शास्त्रसम्मत समस्त शुभकर्म कर्ताके लिये सर्वविध कल्याणप्रद फलोत्पादन करते हुए समस्त ब्रह्माण्डपर दृष्टिपोषक प्रभाव डालते हैं; इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी मानी गयी है ।

हिंदू-संस्कृतिके विभिन्न अङ्गोंपर दृष्टिपात करनेसे पद-पदपर उसकी महती विशेषताएँ प्रत्यक्ष होती हैं । हिंदू-संस्कृतिकी वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाकी उत्कृष्टता, सर्वाङ्गीण पूर्णता एवं उपादेयताके प्रतिपादनमें अनन्त-रहस्यमय कोटिशः विशाल ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं । यह चार वर्णों और चार आश्रमोंकी प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्य-योनिमें जीवकी क्रमोन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन है । इसके अनुसार चलकर हिंदू व्यक्तिगत एवं सामाजिक रूपमें मानव-विकासकी पूर्णताके उत्कृष्ट शिखरपर समासीन होनेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है । मनुष्यको अल्प शक्ति और सीमित सामर्थ्यसे अनन्त शक्ति और अपरिमित सामर्थ्यकी ओर, अथवा जीवभावसे ईशभाव या ब्रह्मभावकी ओर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर करनेवाली इस वर्णाश्रम-व्यवस्था या हिंदू-संस्कृतिकी प्रत्येक बात रहस्यपूर्ण विशेषतामय है ।

ब्रह्मचर्याश्रममें गुरु-शिष्यके व्यवहारकी उत्कृष्टता और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनद्वारा ऊर्ध्वरेतस्त्वकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिकी अपनी विशेषताएँ हैं । गृहस्थाश्रममें पति-पत्नी, पिता पुत्र, लघु-ज्येष्ठ भ्राता आदिके परस्पर आदर्श व्यवहार; पत्नीके लिये पातिव्रत्य धर्म, सतीत्वकी श्रेष्ठता और पतिके लिये पत्नीका साक्षात् गृहलक्ष्मी-स्वरूप तथा पुत्रके लिये 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'का उपदेश आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हिंदू-संस्कृति अन्य संस्कृतियोंके समक्ष सदा ही उज्ज्वल-मुख और उन्नतभाल रही है ॥

गृहस्थाश्रमके पश्चात् तृतीय अवस्थामें अधिकारानुसार वानप्रस्थ आश्रम और चतुर्थ अवस्थामें संन्यास आश्रमकी व्यवस्था है । गृहस्थाश्रममें नाना प्रकारके व्यवहार सम्पादन करनेमें मनुष्यकी बुद्धि प्रायः सांसारिक अधिक हो जाती है; इसलिये जगत्प्रपञ्चसे हटकर त्याग, वैराग्य और तपके सहारे हिंदू अपने बुद्धि-कल्मषको क्रमशः हटाकर अपना मन परमानन्दमय आत्मतत्त्व या ईश्वरतत्त्वमें नियोजित करता है । इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म दोनोंसे पूर्ण है । ब्रह्मचर्याश्रममें परमार्थ और व्यवहारका परिचय कराकर प्रवृत्ति सिखलायी जाती है; गृहस्थाश्रममें प्रवृत्ति करायी जाती है; वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखलायी जाती है और संन्यास-आश्रममें निवृत्ति करायी जाती है । इस प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें जीवनके व्यावहारिक और पारमार्थिक सामञ्जस्यकी पूर्ण शक्ति है, जिसके कारण हिंदू लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख-शान्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ।

हिंदुओंकी उपासना-शैलीकी पूर्णता हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है । अधिकारानुसार मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग एवं भक्तिकी प्रक्रियाएँ मनुष्यको शक्तिपुञ्जका आगार (सिद्धिसम्पन्न) बनाकर उसे अनन्तानन्दके साम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करती हैं । इसके अतिरिक्त निरन्तर जगत्कार्यमें लगे हुए लोगोंके लिये हिंदू-संस्कृति निष्कामकर्मयोगका उपदेश देकर उनके सम्पूर्ण कार्यकलापको ही उपासनाका साधन बना देती है । और उनसे भगवदर्पणबुद्धिपूर्वक कर्म कराते हुए उनके लिये लौकिक, पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग प्रशस्त करती है । इसके अतिरिक्त यज्ञ, महायज्ञों एवं अनुष्ठानोंद्वारा उपासना करके स्थूल जगत्‌के नियामक सूक्ष्म दैवी जगत्‌के पदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करके हिंदू अपने वैयक्तिक, सामाजिक एवं विश्वकल्याणके लिये दैवी बल प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है ।

सामाजिक सर्वोन्नतिके लिये हिंदू-संस्कृतिमें प्राकृतिक गुणानुसारी कर्मोंके आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था है । इसके मूलमें हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता, जन्मान्तरवादकी मान्यता है । इस जन्ममें जीव प्रधानरूपसे जो कार्य करता है, उसके संस्कार जीवके चित्तमें अङ्कित हो जाते हैं । उन्हीं संस्कारोंको लेकर वह अग्रिम जन्ममें उन्हीं संस्कारोंके अनुरूप शरीर धारण करता है और उन संस्कारोंके अनुसार ही उसकी आसक्ति या कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । इसीलिये मीमांसाका सिद्धान्त है—'कर्मबीजं संस्कारः' और 'तन्निमित्ता सृष्टिः ।' अर्थात् संस्कार ही कर्मका बीज है और वही सृष्टिका कारण है । जीव सर्वथा ही संस्कारोंका दास है । हिंदू-संस्कृतिमें जीवके संस्कारोंका निर्णय उसके जन्मके आधारपर किया जाता है । किसी जाति या वर्णमें किसी जीवका जन्म ही इस बातका प्रमाण है कि उसके संस्कार उसी वर्ण या जातिके संस्कारोंके अनुरूप हैं । इसलिये उसके पूर्व-संस्कारोंका निर्णय जन्मके आधारपर करके अधिकारानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंके द्वारा उसके प्राक्तन संस्कारोंका मलापनयन (शोधन) करके, व्रतबन्धादि

संस्कारोंद्वारा उसमें विशिष्ट संस्कारोंका अतिशयाधान करते हुए उसे उसी जातिके कर्मोंमें नियोजितकर हिंदू-संस्कृति क्रमोन्नतिके राजमार्गपर आगे बढ़ाती है। यही जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका रहस्य है।

यदि किसी मनुष्यको उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगाया जाय तो उसे समझने और करनेमें उसको विशेष मानसिक और शारीरिक परिश्रम करना पड़ेगा और इस परिश्रममें उसकी शक्तिका व्यर्थ ह्रास होगा। उसकी मानसिक शक्ति उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न नवीन कार्योंको सीखनेमें लग जानेके कारण उसका आध्यात्मिक पतन भी होता जायगा। इस प्रकार शक्तिके ह्राससे समाजको बचानेके लिये और अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप जगत्कार्यमें लगे रहकर आध्यात्मिक मार्गमें भी सब लोगोंको आगे बढ़नेका अवकाश रहे—यही उद्देश्य वर्णाश्रम-शृङ्खलाके मूलमें निहित है।

जितने प्रकारके कार्य समाजमें होते हैं, वे सब करने ही पड़ेंगे—चाहे जो करे। एक नहीं करेगा तो दूसरेको वही करना होगा। इसलिये यदि सब मनुष्य अपने-अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप कर्म करें तो स्वाभाविकरूपसे सरलतासे ही सब कार्य होते जायँ और मनुष्यके प्राचीन-नवीन संस्कारोंमें संघर्ष बचा रहे और कर्म-साङ्कर्य न फैले। संस्कारोंके संघर्षसे अन्तःकरण दुर्बल होता है, जिसके कारण मनुष्यका आधिदैविक और आध्यात्मिक पतन होता है और कर्म-साङ्कर्यसे कर्मकी शक्ति क्षीण होती है (अर्थात् कर्म बलशाली नहीं होते), जो आधिभौतिक शक्तिके ह्रासका द्योतक है। इस प्रकार समाजके मनुष्योंको उनके प्राक्तन संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगानेके कारण व्यक्ति तथा समाजकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक शक्तियोंका ह्रास होता जाता है। इस प्रकार शक्तिका सतत ह्रास ही ग्रीस, रोमन आदि जातियोंके ऐकान्तिक पतनका कारण हुआ और इस प्रकारके ह्राससे हिंदू-जातिको बचाये रखनेके लिये और उसे सतत शक्तिशाली तथा उन्नतिशील बनाये रखनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिमें जीवके प्राकृतिक संस्कारानुसारी कर्मोंका निश्चय करनेके लिये जन्मना चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी स्थापना है और यही हिंदू-जातिके चिरजीवी रहनेका एक प्रधान कारण है। प्रत्यक्ष भी अनुभव किया जाता है कि क्षत्रियका बालक जन्मसे ही वीर प्रकृतिका, वैश्यका बालक स्वाभाविक ही व्यवसायी दिमागका और शूद्रका बालक अपने गृहके कला-कौशलादिमें स्वभावसे ही रुचि रखनेवाला होता है और उसमें शीघ्र ही दक्ष हो जाता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्थामें सामाजिक कार्योंका स्वाभाविक सन्तुलन बना रहता है और अपने वर्गके कार्यमें प्रत्येक पीढ़ी उन्नति करती जाती है। इस प्रकार समाजके प्रत्येक वर्गके लिये उन्नतिका स्वाभाविक मार्ग जन्मना वर्णव्यवस्थासे प्रशस्त होता है। प्रत्येक वर्ण या जातिके लिये निर्धारित शास्त्रोक्त आचार-विचारोंका विस्तारसे विश्लेषण करके और उनके सूक्ष्म रहस्योंका उद्घाटन करके यह स्पष्ट किया जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था सबके लिये समानरूपसे अभ्युन्नतिकारी है और प्रत्येक वर्गको सम्पूर्ण समाजकी उन्नतिके लिये सन्नद्ध रखती है।

हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि आधिभौतिक क्षेत्रमें (अर्थात् व्यवहारमें) वर्ण एवं आश्रम-धर्मानुसारी कार्योंकी ही मान्यता होते हुए भी किसी भी वर्णका कोई भी मनुष्य भगवान्की प्रगाढ़ रागात्मिका भक्ति करके सर्वत्र अपने इष्टका दर्शन करता हुआ आध्यात्मिक विकासकी उच्चातिउच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। यह अवश्य है कि जबतक इष्टका पूर्ण बोध नहीं हो जाता और जबतक सर्वत्र परमात्मदर्शनके द्वारा वृत्ति भगवत्-तत्त्वमें लीन नहीं हो जाती, तबतक वर्णाश्रम-धर्मका अवलम्बन नहीं छोडना चाहिये। पूर्ण बोध हुए विना अपने वर्णाश्रमानुसारी कर्मोंको छोड़ना अपने उन्नतिके प्रशस्त राजमार्गसे भ्रष्ट होना है। हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह अपने अनुयायियोंको क्रमोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गपर चलाती हुई उनके लिये पूर्णोन्नतिका द्वार सदा खोले रखती है।

वर्ण या जातिके अपरिवर्तनका सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। हिंदू-संस्कृति वर्णसंकरतामें समाज एवं राष्ट्रका विनाश देखती है। हिंदू-संस्कृतिका वैदिक इतिहास बतलाता है कि (४,३२००० वर्षका एक कलियुग होता है, इससे द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण—क्रमशः द्वापर, त्रेता और सत्ययुग होते हैं। चारों युग मिलाकर एक महायुग कहलाता है और ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है; एक मन्वन्तरमें कालप्रमापक मनु और देवराज इन्द्रादि बड़े-बड़े देवपदाधिकारी बदल जाते हैं और उनके स्थानपर नये पदाधिकारी आ जाते हैं; ऐसे १४ मन्वन्तरोंका एक कल्प होता है) वर्तमान कल्पके प्रारम्भमें वैवस्वत मनु नामक मनु और भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषिगण उत्पन्न हुए थे और उनके द्वारा गोत्र तथा प्रवरोंकी सृष्टि हुई थी। उस समयसे लेकर अबतक हिंदू-जातिमें गोत्र और प्रवरोंका यथाक्रम अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है। इस प्रकार गोत्र-प्रवरके सम्बन्धसे हिंदू-संस्कृतिमें जन्मना

जातिके आधारपर विवाहादि सम्बन्धद्वारा रज-वीर्यकी शुद्धि ही हिंदू-जातिके चिरजीवी होनेका प्रधान कारण है।

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। आत्मा अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे आवृत है; इसलिये उसकी अभिव्यक्तिके लिये इन समस्त कोषोंकी पवित्रता सम्पादन करनेके लक्ष्यसे अतिगम्भीर रहस्योंसे परिपूर्ण शुद्धाशुद्ध एवं स्पृश्यास्पृश्य-विवेककी मान्यता है।

जीवके आवागमन-चक्र और जन्मान्तरवादपर विश्वास भी हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसीके आधारपर परलोकगामी जीवका पथ सरल रहे और उसे कष्ट न हो, इसके लिये नित्य-नैमित्तिक श्राद्ध-तर्पणादि कर्मकाण्डकी सुव्यवस्थाके लक्ष्यसे ही हिंदू-संस्कृतिमें दायभागकी विशेष व्यवस्था है और इसी लक्ष्यसे पवित्र धर्मनिष्ठ पुत्रकी प्राप्ति ही हिंदू संस्कृतिमें विवाह-संस्कारका पवित्र उद्देश्य है।

वृद्ध-पूजा हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। यहाँका सिद्धान्त है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

नारी-जातिके महान् गौरवकी मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। नारीको शक्तिका प्रतीक मानकर उसकी पूजा करना हिंदू-जातिने ही स्वीकार किया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यह हिंदू-संस्कृतिका ही सिद्धान्त है।

हिंदू-संस्कृतिमें घृणाके लिये स्थान नहीं है। यहाँ तो—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

—का सिद्धान्त माना जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिका ही उदात्त सिद्धान्त है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की दृष्टि हिंदू-संस्कृतिका उच्च आदर्श है। अतिथिसत्कारद्वारा समागत प्राणीको ईश्वर-तुल्य समझकर उसे यथासाध्य संतुष्ट करना हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। 'मातृवत् परदारेषु' और 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' की दृष्टि रखनेका आदर्श हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—के सिद्धान्तको हिंदू-संस्कृतिने ही आदर्श माना है। संस्कारकी अत्यधिक मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। हिंदू-संस्कृतिमें संस्कारोंका इतना महत्त्व है कि षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कारोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त होनेवाला 'संस्कार' शब्द 'संस्कृति' का प्रायः समानार्थी माना जाता है। जैसे विभिन्न प्रकारकी मिट्टीको विधानानुसार संस्कारोंद्वारा शोधकर उसमें लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त की जाती हैं, उसी प्रकार हिंदू-जाति अपने विशिष्ट संस्कारोंद्वारा मनुष्यका मलापनयन करके उसमें दिव्य ब्राह्म, क्षात्रादि तेजोंका अतिशयाधान करके उन्हें दैवी शक्तियोंके अवतरणानुकूल बनाती है। षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कार हिंदू-संस्कृतिकी महती विशेषताएँ हैं।

हिंदू-संस्कृति सर्वांशमें विशेषतामय है। उसकी अनन्त विशेषताएँ, और उनके गम्भीर रहस्योंका उद्घाटन करनेमें अगणित विशाल ग्रन्थोंकी सामग्री प्रयुक्त होगी। यहाँ उनका केवल सूक्ष्मरूपसे दिग्दर्शन ही किया गया है। यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताएँ और उनके लौकिक-पारलौकिक रहस्य लिखकर पूर्णतया व्यक्त नहीं किये जा सकते; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिके क्षेत्रकी सीमा मानव-विकासकी पूर्णताकी उस सीमासे सम्बद्ध है, जिसे भगवती श्रुति—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—कहकर मन, वाणीकी सीमाके परे निर्देश करती है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि चतुष्पादपूर्ण एवं चतुर्वर्गफलप्रद अपनी महती विशेषताओंके कारण ही हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है, अमर है और विश्वकी इतर संस्कृतियोंकी जननी है।

हिंदू-जातिका कर्तव्य

प्रत्येक जातिका स्वाभाविक कर्तव्य है कि वह अपनी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल न छोड़े। हिंदू-जातिका आधार और उसकी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचार (या हिंदू-संस्कृति) है, इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। हिंदुओंके लिये यह सर्वोन्नतिका राजमार्ग है। अपने जीवनके राजमार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर उन्नति करते जाना ही बुद्धिमत्ता है।

इतर संस्कृतियाँ हमारी चतुष्पादपूर्ण चतुर्वर्गफलप्रद हिंदू-संस्कृतिकी शाखा-संस्कृतियाँ, राजमार्गसे फूटी हुई पगडंडियोंके समान हैं। पगडंडियोंका अवलम्बन करनेवाले कुछ दूर चलकर जहाँ पगडंडी समाप्त होती है, वहीं भटकते

रह जाते हैं; राजमार्गके लिये कभी भटकनेका अवसर नहीं आता। उसका मार्ग प्रशस्त है और निश्चित है कि वह अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करेगा। अपने दीनता-दरिद्रता-अल्पज्ञतामय जीवत्वको मिटाकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अनन्तानन्दमय परमात्माकी प्राप्ति करना ही जीवनका परम लक्ष्य है। जीवनके इस महान् लक्ष्यकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिके प्रशस्त राजमार्ग—वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचार—के द्वारा ही हो सकती है। इसलिये हिंदू-जातिका परम कर्तव्य है कि इतर क्षुद्र संस्कृतियोंके ऊपरी चाकचिक्यसे विमोहित न होकर दृढ़तापूर्वक अपनी संस्कृतिके सहारे अपने महान् लक्ष्यकी प्राप्ति करे। अन्य संस्कृतियोंको हमारे सांस्कृतिक राजमार्गकी पगडंडियाँ इसलिये कहा गया है कि उनका क्षेत्र मनुष्यके एक जन्मतक ही सीमित रहता है। हिंदू संस्कृतिका क्षेत्र मनुष्यके अनन्त पिछले और पूर्णब्रह्मकी प्राप्तितकके अग्रिम अनिश्चितसंख्याक जन्मोंसे सम्बन्ध रखता है।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—यह महान् सिद्धान्त जिस संस्कृतिका हो, उसके अनुयायी यदि उन संस्कृतियोंसे प्रभावित हों, जो अपने अनुयायियोंको मृत्युके बाद 'कब्र'में सुला देती हैं, तो उनका दुर्भाग्य ही है; और क्या कहा जा सकता है।

हिंदुओ! तुम्हारा सांस्कृतिक कोष अक्षय्य है, तुम्हें दूसरोंपूँजियोंका द्वार निहारनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने घरका अटूट खजाना काममें लो। अपने गृहके अनन्त भण्डारकी अवहेलना कर जब तुम दूसरोंका नेत्र निहारते हो, तब तुम्हारे अन्तःकरणकी गरीबी देखकर हमें कष्ट होता है। रईसकी सन्तानको अपना गौरव और मर्यादा नष्ट नहीं करनी चाहिये। तुम्हारी संस्कृति विश्वकी समस्त संस्कृतियोंमें मूर्धन्य है। कोई ऐसी लौकिक-पारलौकिक वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे लिये अप्राप्य हो। किंतु जब तुम बहिर्मुख होकर खोंचेवालोंकी टेरमें मुग्ध हो रहे हो तो अपने गृहके पवित्र भण्डारका रसास्वादन कैसे कर सकते हो। जैसे तुमने वर्णाश्रम-धर्मका यथासाध्य दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए अपनी सर्वोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गको आजतक सुरक्षित रखा है और अनेकों बाह्य संस्कृतियोंके भीषण आक्रमणोंको निष्फल बनाया है; उसी प्रकार दृढ़ता बनाये रखनेका आज भी समय है। अपने वर्ण और आश्रमधर्मोंका पालन करते चलो और उसके विरुद्ध प्रचारोंको अपनी सर्वोन्नतिके राजमार्गमें उड़कर आये हुए कण्टक समझकर उनसे बचते चलो।

वर्तमान समयमें भी हिंदुओंका वही कर्तव्य है, जो सदासे उनका कर्तव्य रहा है। प्रत्येक हिंदू अपने वर्णाश्रमके अनुकूल आचार-विचार, खान-पान, वेष-भूषा आदि रक्खे और अधिकारानुसार ईश्वरोपासनामें अवश्य ही कुछ समय लगाये। वर्णाश्रमधर्मविरोधी, हिंदू-संस्कृतिके घातक, सुधारवाद-नामधारी वर्तमान भ्रष्टाचारसे अपने समाजको बचानेके लिये सुदृढ़ रूपमें सुसंघटित होना और इस प्रकारके असत्प्रचारोंका वेग कम करनेके लिये यथासाध्य उनका खण्डन करना भी वर्तमान समयमें हिंदुओंका कर्तव्य है। शासनसत्ताका प्रभाव जीवनपर पड़ता है; इसलिये अपने देशमें हिंदू-संस्कृतिपोषक, वर्णाश्रमधर्मानुकूल शासन-व्यवस्था बनानेका प्रयत्न करना भी हिंदू-जातिका कर्तव्य है। आज भारतमें जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है; इसलिये हिंदू-समाजको अवसर है और उसका इस समय परम कर्तव्य है कि अपनी संस्कृतिके अनुकूल शासनप्रणाली बनाकर अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग निष्कण्टक बना ले।

स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको चेतावनी

हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका तभी कोई अर्थ हो सकता है, जब यहाँ हिंदू-जीवनके अनुकूल शासन-व्यवस्था हो। स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि विदेशियोंने हिंदूजीवनकी सर्वोन्नतिके मार्ग हिंदू-संस्कृतिको विनष्ट करनेके लिये धर्महीन शिक्षा आदिके प्रसारद्वारा जो गम्भीर राजनैतिक षड्यन्त्र रचे थे, उन्हें निर्मूल कर भारतमें विशुद्ध भारतीय संस्कृतिके अनुकूल शासन-व्यवस्था बनायें। हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है; क्योंकि भारत या हिंदुस्थान, जैसा कि उसके नामसे ही प्रत्यक्ष है, हिंदुओंका ही देश है।

अन्य संस्कृतियोंके अनुयायी, अन्य देशोंमें हिंदुओंकी भाँति; अतिथिरूपमें यहाँ आकर रहें तो कोई हानि नहीं। किंतु स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि वे इस बातपर ध्यान रक्खें कि हिंदुओंकी सर्वोन्नतिका सांस्कृतिक राजमार्ग निष्कण्टक बना रहे; क्योंकि किसी जातिकी लौकिक-पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग उसकी संस्कृति ही होती है—इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिये यदि हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताको सार्थक बनाना है और

हिंदुस्थानकी उन्नति करनी है तो हिंदू जीवनप्रणाली, हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनी अत्यावश्यक है। स्वतन्त्र हिंदुस्थानमें भी यदि हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप शासन-व्यवस्था न हुई तो हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका अर्थ ही क्या और उसका मूल्य ही कितना रह जाता है।

हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनेका यही तात्पर्य है कि राजकीय नियम ऐसे हों कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंमें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें हिंदुओंको स्वधर्मपालन करनेमें कोई कानूनी अड़चन न पड़े।

वर्तमान राजनैतिक नेतृवृन्दको समझना चाहिये कि पृथ्वीके अन्य देशों और अन्य जातियों तथा हमारी इस धर्मभूमि हिंदुस्थान और हिंदू-जातिमें दिन-रात-जैसा प्रबल अन्तर है। जिन-जिन विशेषताओंके कारण हिंदू-जाति करोड़ों वर्षोंसे अबतक जीवित है और उनके मूलमें जो संस्कृति विद्यमान है, उसको भली प्रकार समझकर तदनुकूल शासन-प्रणाली प्रयुक्त करनेसे ही हिंदुस्थान और हिंदू-जातिका उत्कर्ष होगा और सरकार भी दीर्घकालतक स्थायी रहेगी और सारे जगत्में उसका सम्मान होगा।

वर्तमान राजनैतिक नेतागण यदि किसी कारणसे हिंदू-संस्कृतिपोषक शासन-व्यवस्था बनानेमें असमर्थ हों तो उनका कम-से-कम इतना तो अवश्य ही कर्तव्य है कि शासन-प्रणालीको हिंदू-संस्कृतिके प्रतिकूल न होने दे। हिंदू-संस्कृतिघातक नये-नये कानून बनाकर वे स्वयं अपने चरण-पर कुठाराघात कर रहे हैं। उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि हिंदुस्थानमें कथमपि यह सम्भव नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंके भेदको मिटाकर समानताके आधारपर वर्गहीन, जातिहीन समाजका निर्माण किया जा सके। इतिहास साक्षी है कि बड़े-बड़े दूरदर्शी बौद्ध सम्राट् अशोक, कनिष्क आदिके बाद जब अदूरदर्शी परवर्ती बौद्ध राजाओंने समाजमें समानता फैलानेका प्रयत्न किया, तब उसका फल उलटा हुआ। बौद्ध-साम्राज्य नष्ट हो गया और बौद्ध शासक-गण भारतसे भगा दिये गये। अतः स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको भारतीय इतिहाससे शिक्षा लेकर दूरदर्शितासे काम लेना चाहिये।

चतुष्पादपूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके सुदृढ़ आधारपर सुप्रतिष्ठित एवं दैवी सूक्ष्म जगत्से सम्बद्ध हिंदू-संस्कृति अपनी रक्षाके लिये किसी शासन-सत्ताके पोषणकी अपेक्षा नहीं रखती। शत्रुओंसे मोर्चा लेनेके लिये उसका अपना बल इतना है कि अनादि कालसे मनुष्योंकी निम्नगामिनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका सतत संघर्ष और सहस्रों वर्षोंतक विरोधी संस्कृतियोंके भीषण आक्रमण तथा प्रतिकूल शासन-सत्ताओंके आन्तरिक और बाह्य प्रबल षड्यन्त्र भी उसे नष्ट नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वसामर्थ्यवान् होते हुए भी हिंदू-संस्कृति अपने स्वतन्त्र हिंदुस्थानकी शासन-सत्तासे कम-से-कम इतनी आशा तो अवश्य ही रखती है कि वह विदेशियोंकी भाँति उसके स्वरूपपर आक्रमण न करेगी।

स्वतन्त्र भारतके वर्तमान शासनाधिकारी यह निश्चय रक्खें कि वे अपनी अदूरदर्शिताके कारण भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध राजकीय नियम बनाकर वर्णाश्रम-व्यवस्थाको शिथिल करनेका प्रयत्न कर सकते हैं, पर उसकी महती उपादेयता और सर्वकल्याणकारितापर पानी नहीं ढाला जा सकता। आज शासनाधिकारीगण राजकीय कानूनोंके बलपर भगवान् शङ्कर, विष्णु आदि देवताओंके पवित्र मन्दिरोंमें अन्त्यजों और वर्णवालोंका प्रवेश कराकर मन्दिरोंको भ्रष्ट कर सकते हैं; किंतु क्या वे भगवान् शङ्कर और विष्णुके प्रसन्न होनेके दैवी विधानोंमें परिवर्तन करके देवताओंके स्वभावको बदल सकनेकी भी सामर्थ्य रखते हैं। शङ्कर और विष्णुको प्रसन्न करनेका जो उनके स्वभावके अनुकूल सनातन विधान है, उसीके द्वारा वे प्रसन्न हो सकते हैं। भूतलकी समर्थ शासन-सत्ताके कोटिशः कठोर राजकीय नियम भी उन नियमोंको बदल न सकेंगे। क्या गवर्नरके गृहमें प्रवेश कर लेनेमात्रसे ही कोई उनका सम्बन्धी या कृपापात्र माना जा सकता है? अनधिकारीके लिये इस प्रकारकी चेष्टा अज्ञानमूलक या भ्रष्टाचारप्रवर्तक ही मानी जा सकती है।

गवर्नरके गृहमें बलपूर्वक घुस जाना कठिन नहीं है; पर उसके परिणाममें गवर्नरके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए क्षोभके कारण जो राजकीय दण्ड सहन करना पड़ेगा, क्या उससे बचनेका भी कोई उपाय है? जो अपराधी है, उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक है। यदि गवर्नर दयावश उसे दण्ड नहीं देता तो शासनसत्ताकी दृष्टिमें वह स्वयं भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन देनेवाला अपराधी माना जायगा। इसलिये उसे दण्ड देना ही पड़ता है। जिस प्रकार शासनसत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये

उचित रीतिसे राजकीय नियमोंका पालन करते हुए राज्यपदाधिकारियोंको प्रसन्न करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जगत्सञ्चालिका सूक्ष्म दैवी सत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये दैवी राज्यपदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लक्ष्यसे उनके अनुकूल नियमोंका पालन करना आवश्यक होता है। विभिन्न देवी-देवताओंकी आराधनाके विधान शास्त्रोंमे इसीलिये कहे गये हैं कि उनका स्वभाव समझकर उनके अनुकूल उपासना करके मनुष्य उनकी प्रसन्नता प्राप्त करके अपनी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त कर सके और ऐसे कार्य न करे, जिससे उनकी अप्रसन्नता होती है।

वेद-शास्त्रका अनुशासन है कि अन्त्यज आदि जातियोंके प्रवेशसे वैदिक मन्दिर दूषित हो जाते हैं, उनकी देव-प्रतिमाओंमे देव-कलाकी हानि होती है और इन देवत्व-विहीन प्रतिमाओंमे भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियोंका वास हो जाता है और इन भूत-प्रेतनिवासित प्रतिमाओंके पूजनसे आसुरी शक्तियाँ पुष्ट होती हैं और कलह, क्रोध, द्वेष आदि आसुरी भावोंकी वृद्धि होती है तथा बीमारी, अजारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, काल, भूकम्प आदिका प्रकोप होकर राजा-प्रजाका क्षय होता है। क्या किसी शासनसत्ताका बल है कि इस दैवी विधानको बदल सके ?

यह हो सकता है कि हिंदू-संस्कृतिके अभिमानी सत्प्रचारकोंको शासन-सत्ताके बलपर जेलोंमें बंद करके रक्खा जाय और शासनाधिकारी स्वच्छन्द रूपसे हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और भारतकी प्राचीन परम्पराओंके विरुद्ध समानताके नामपर मन्दिर आदि पवित्र स्थानोंमे और सर्वत्र भ्रष्टाचार फैलायें; किंतु क्या इसके परिणाममे हुए दैवी प्रकोपको भी कोई रोक सकेगा ? रावण भारतीय था, ब्राह्मण था, वेद-शास्त्रका ज्ञाता विद्वान् था, बलशाली था और भगवान् शङ्करका कृपापात्र भक्त था; किंतु जब उसने हिंदू-संस्कृतिपर प्रहार किया, गो-ब्राह्मणोंको सताया, उनके धर्ममे हस्तक्षेप किया, महर्षियोंके दैवी यज्ञानुष्ठानोंको भ्रष्ट किया, धार्मिकोंका आचार-विचार नष्ट किया, तब उसके परिणाममे हुए दैवी प्रकोपको क्या वह रोक सका ? रावण स्वयं नष्ट हो गया, पर हिंदू-संस्कृतिको वह विनष्ट नही कर सका। इसलिये स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको हम सचेत कर देना चाहते हैं कि हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-व्यवस्था दैवी जगत्से सम्बद्ध है, इसलिये इसमें छेड़-छाड़ करनेका परिणाम उनके लिये और देशके लिये अच्छा नही होगा। उन्हें निश्चय रखना चाहिये कि इस प्रकारके उनके व्यवहारसे दैवी प्रकोप निश्चित है, चाहे वह जिस रूपमें और जब प्रकट हो।

स्वतन्त्र भारत, भारतीय शासन-सत्ता और भारतीय प्रजाके सर्वविध कल्याणकी दृष्टिसे वर्तमान शासनाधिकारियोंको इस धर्मपीठसे संक्षेपमे हमारा यही सत्परामर्श है कि—

(१) स्वतन्त्र भारतकी शासनप्रणाली हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल रामराज्य-जैसी हो। यदि ऐसा न हो सके तो शासननीति कम-से-कम ऐसी हो, जो हिंदू-संस्कृतिकी घातक न हो।

शासनाधिकारी यदि उपनिषद्को सर्वोच्च दर्शन मानते है और गीतापर गौरव रखते हैं तो उनके सिद्धान्तोंका सक्रिय रूप हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्था भी मान्य होनी चाहिये। अन्यथा गीता और उपनिषद्के गौरवगीत गानेका क्या मूल्य है। और—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

....

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

यह गीताका ही उपदेश है। इसके अतिरिक्त शासनाधिकारियोंको यदि गीता और उपनिषद्के सिद्धान्त मान्य न भी हो, तो भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तकी रक्षाकी दृष्टिसे उन्हें भारतदेशके निवासी बहुसंख्यक हिंदुओंकी सांस्कृतिक वर्णाश्रम धर्मव्यवस्थाका सम्मान ही करना चाहिये। उनके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर आघातके प्रयत्न उनके लिये लज्जाकी बात है।

(२) राजकीय कानूनोंद्वारा अन्त्यज आदिकोंको वैदिक मन्दिरोंमे प्रवेश कराकर देशमें दैवी प्रकोप न बढ़ाया जाय।

(३) राजकीय कानूनद्वारा गोवध यथाशीघ्र बंद कराकर देशमें बढ़ता हुआ दैवी प्रकोप रोका जाय।

(४) छुआछूतका भेद मिटाने और वर्गहीन समाजका निर्माण करनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिके अति महत्त्वपूर्ण अङ्ग

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेकको राजकीय कानूनों-द्वारा नष्टकर हिंदू-जातिको पतनोन्मुख बनानेका प्रयत्न न किया जाय।

(५) सगोत्र-विवाह, असवर्ण-विवाह, तलाकादि पापपूर्ण कुकृत्योंको कानूनी प्रोत्साहन देकर हिंदू-संस्कृतिकी रज-वीर्य-शुद्धिमूलक व्यवस्थाको भ्रष्ट करके देशमें वर्णसंकर-सृष्टिकी वृद्धिद्वारा राष्ट्रके सर्वनाशका बीज न बोया जाय।

(६) देशमें वर्गहीन, जातिहीन समाज-निर्माणके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिको शिथिल करनेके लिये कूटनीतिमय राजकीय षड्यंत्र रचकर अपने चरणोंपर कुठाराघात न किया जाय।

(७) प्रत्यक्ष रूपसे हिंदू-संस्कृति-घातक हिंदूकोड आदि बिलोंको समाप्त कर दिया जाय और भविष्यमें ऐसी कुत्सित योजनाओंको राजकीय प्रोत्साहन न दिया जाय। इसीमें राष्ट्रकी भलाई है।

हिंदू-संस्कृतिके रक्षक भगवान्

हिंदू-संस्कृतिका मूल आधार सनातन अपौरुषेय वेद जिनका अङ्गरूप निःश्वासभूत तत्त्व है, वे ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ सर्वशक्तिमान् भगवान् हिंदू-संस्कृतिके जनक हैं और वे ही सदा इसके रक्षक रहे हैं। जब-जब हिंदू-संस्कृतिके धारक, पोषक एवं संवर्धक सनातन वैदिक धर्मका ह्रास भारतखण्ड या हिंदुस्थानमें हुआ, तब-तब किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होकर उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञाका पालन किया ही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

राम-कृष्ण-नृसिंहादि अवतारोंका इतिहास किसीसे छिपा नहीं है। बौद्धकालमें हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होनेपर शङ्करावतार भाष्यकार भगवान् आदि-शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष ही है। इसलिये हिंदू-संस्कृतिके रक्षक स्वयं भगवान् हैं, यह निर्विवाद सिद्धान्त है। हिंदू-जाति अतीत कालसे इसका अनुभव करती आ रही है। अन्य संस्कृतियोंसे प्रभावित मस्तिष्कोंमें यह बात भले ही संगत प्रतीत न हो; किंतु हिंदुओंके लिये यह अनुभूत सत्य है।

इसलिये धार्मिकोंके प्रति इस धर्मपीठसे हमारा यही कथन है कि वर्तमान समयमें सनातनधर्म-विरुद्ध, हिंदू-संस्कृतिघातक प्रवाहको बहते हुए देखकर निराश नहीं होना चाहिये। इस प्रकारकी आँधियाँ आया ही करती हैं। ऐसे झकोरे सनातनधर्मियोंने बहुत सहे हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि यह प्रवाह जिन लोगों (पाश्चात्यों) के सम्पर्कसे आया है, उनकी आचार-विचारशैलीका प्रभाव देशमें अब क्रमशः शिथिल होता जा रहा है और राजनैतिक नेतृवृन्दको भी किसी अंशमें अपनी प्राचीन संस्कृतिका गौरव स्मरण होने लगा है। कुछ समयमें व्यवस्था सुधरनेकी आशा की जा सकती है; किंतु जब आँधी आये, तब सावधान हो जाना चाहिये। जो सावधान नहीं होता, वह प्रवाहमें उड़ जाता है और कहीं खाई-खंदकमें गिरकर नष्ट हो जाता है। इसलिये सावधान होकर अपने वर्ण और आश्रमका गौरव जाग्रत् रखकर यथासाध्य तदनुकूल व्यवहार सम्पादन करते हुए और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्का भजन, पूजन, चिन्तन करते हुए समयको बिताना चाहिये।

अपना कर्तव्य पालन करते चलो। परिस्थितियोंको देखकर भय खाने और व्यग्र होनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और विश्वम्भर है। वही भारतीय संस्कृतिके प्राण—धर्मका संरक्षक है। उसने सदा इसकी रक्षा की है और आगे भी रक्षा करता हुआ अपने अनुयायियोंका सर्वविध कल्याण करेगा।

भगवान्के भक्तका लक्षण

न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥ (विष्णुपु० ३।७।२०)

यमराज कहते हैं—जो पुरुष अपने वर्णधर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंमें समान भाव रखता है, किसीका धन हरण नहीं करता, न किसी जीवको मारता ही है, उस अत्यन्त रागादिशून्य और निर्मलमन व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो।

हिंदू-भारतकी स्तुति

(१)

ए हो देश भारत ! हमारे तुम प्यारे देव, महिमा अपार, तीन लोकसे उपरि हो;
गोदमें तुम्हारी जन्म चाहते समोद सुर, तुम भवसिन्धुसे उतारनेको तरि हो।
काशीमें वृषध्वज, पुरीमें गरुडध्वज हो; शीश-पदतलमें भी धारे सुरसरि हो;
राका-से सुगौर-धाम, श्याम त्यों अमा-से तुम; जान पड़ता है नहीं, हर हो कि हरि हो ॥

(२)

अमित-महिम हिमगिरिका मुकुट माथ, सागर पखारता चरण लहराता है;
हास काशमीर, हीर-हार नदियोंकी धार, पञ्चनद-रव पाञ्चजन्य-सा सुहाता है।
नव वनमालासे अलंकृत विशाल वक्ष, गौरव गदाका लिये विन्ध्यगिरि भाता है;
चक्र चित्रभानु, शक्र मस्तक झुकाता सदा, भारत अनूप विष्णुरूप छवि पाता है ॥

(३)

शारद प्रदेश मुख, अवध-विहार उर, दायाँ हाथ सिंध, वंग बायाँ हाथ प्यारा है;
गङ्गा-गोमतीने, गंडकीने, गौतमीने जिसे निज जलधार-हार देकर सँवारा है।
मध्यम प्रदेश नाभिदेश है सुहाता, कटि किङ्किणी समान नर्मदाकी अम्बुधारा है;
आन्ध्र औ द्रविड, महाराष्ट्र हैं चरण; विश्व-वन्दित अखण्ड यही भारत हमारा है ॥

(४)

नव घन-मण्डलके भरित कमण्डलमें गङ्गवारि पावस तुम्हें ला नहलाती है;
शरद पिन्हाकर प्रफुल्ल पंकजोंके हार, चन्द्र-रश्मियोंके चारु चन्दन चढ़ाती है।
पूजती हिमानी हिमविन्दु-मौक्तिकोंसे तुम्हें, शिशिर पदोंमें पत्र-पुष्प बरसाती है;
मधु ऋतु आती, मधुरसका लगाती भोग; तप्त ग्रीष्म ऋतु तुम्हें तपसे रिझाती है ॥

(५)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका निधान तू है; चार धाम, सप्त पुरियोंका तू सहारा है;
तू ही मातृभूमि, पितृभूमि और तीर्थभूमि; तूने कितनोंको यहाँ तारा है, उबारा है।
तू है धर्म-क्षेत्र, तू ही कर्मक्षेत्र भी है; तेरे अङ्कमें अजन्मा प्रभुने भी जन्म धारा है;
वन्दनीय देश ! नन्दनन्दनका रूप मान तेरे चरणोंमें अभिवन्दन हमारा है ॥

—'राम'

सनातन संस्कृति-रक्षा

(अनन्तश्रीविभूषित परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य श्रीजगद्गुरु स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश्वर महाराजका उपदेश)

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम् ।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे॥
अनन्तसंसारसमुद्रतारनौकायिताभ्यां स्थिरभक्तिदाभ्याम् ।
वैराग्यसाम्राज्यदपूजनाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

सनातन संस्कृति इतर सभी संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है तथा अनादि और अनन्त भी है । दूसरी संस्कृतियाँ सनातन संस्कृतिका अंश लेकर ही जीवित हैं । संस्कृतिका जन्मस्थान होनेके कारण भारतवर्षका माहात्म्य विश्वमें प्रख्यात है । ऐसी सर्वादरणीय आर्य भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है । विशेषतः आज तो उसकी प्रशंसा करनेकी अपेक्षा रक्षा करनेकी आवश्यकता ही अधिक है । अतः उस सनातन भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनेके लिये तथा आत्मकल्याणके लिये निम्नलिखित सिद्धान्तोंपर ध्यान देना और उनका यथावत् अनुसरण करना प्रत्येक भारतीयके लिये अवश्यकर्तव्य और श्रेयस्कर है—

१. स्वधर्मपर महान् प्रेम रखो और यथाशक्ति धर्मका पालन करो । धर्मका यथावत् पालन करनेसे सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त होते हैं । यह बात निश्चय करके मानो ।

२. तुम्हारे धर्मका नाम 'सनातन धर्म' है । यह धर्म किसी मानवका चलाया हुआ मत अथवा पंथ नहीं । यह तो सनातन प्रभुका सनातन धर्म है ।

३. जगत्कर्ता परमेश्वरने सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, जल, पवन, पृथ्वी, वृक्ष, ओषधि, अन्न, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिको बनाया तथा साथ-साथ इन सबका धर्म भी बनाया । धर्मके बिना किसीका अस्तित्व ही टिक नहीं सकता ।

४. धैर्य, क्षमा, सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वप्रकारसे पवित्रता तथा स्वच्छता, मन तथा इन्द्रियोंका नियन्त्रण, भिन्न-भिन्न विद्याओं और कलाओंका शिक्षण, विवेकपूर्वक कार्यसम्पादन, क्रोध न करना, अस्तेय (चोरी न करना), मादक वस्तुओंका त्याग, ईश्वर-भक्ति, परलोकविषयमें ध्यान, माता-पिता, गुरु तथा वृद्धोंका आज्ञापालन, जन्म-भूमिकी सेवा, परस्त्रीमात्रमें मातृबुद्धि—ये सब सामान्य धर्म हैं । विशेष धर्ममें स्त्रियोंका धर्म, पुरुषोंका धर्म, पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, राजाका धर्म, प्रजाका धर्म, गुरुका धर्म, शिष्यका धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, युगधर्म, देशधर्म तथा अन्य भिन्न-भिन्न आपद्धर्म आदि हैं ।

५. धर्मको जाननेके लिये धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करो अथवा सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणद्वारा धर्म-वार्ता श्रवण करो । चार वेद, दस उपनिषद्, छः दर्शन, अठारह स्मृतियाँ, अठारह पुराण, रामायण तथा महाभारत इत्यादि हमारे प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ हैं ।

६. गणेश, शिव, विष्णु, सूर्य और जगदम्बा—ये पाँच हमारे पूजनीय देवता हैं और परब्रह्म परमात्मा सर्वोपरि इष्ट-देवता हैं । ये सब देवता इन परब्रह्म परमात्माके ही लीलारूप हैं । एवं इन परमात्माके भी अनेक अवतार होते हैं ।

७. जिस कुलमें परम्परासे जिस देवताको इष्टदेवके रूपमें माना जाता है, उस कुलमें उसी देवताकी विशेष आराधना होनी चाहिये; परंतु अन्य किसी भी देवताकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । प्रत्युत दूसरे सम्प्रदायके भक्तोंके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये ।

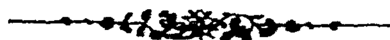
८. संसारके सब कार्य एक ओर रखकर सर्वप्रथम भगवान्का भजन करना आवश्यक है । यदि तुमने विश्वमें समस्त कार्य किये, किंतु भगवान्का भजन नहीं किया, तो मानव-शरीर पाकर क्या लाभ प्राप्त किया ? कुछ भी नहीं ।

९. आलस्य छोड़कर आगे बढ़नेका कार्य करो । अपनी कमाईमेंसे अच्छे पात्रोंको दान करो ।

१०. अपने जीवनको पवित्र एवं सुखी बनानेके लिये मादक वस्तुओं तथा अन्य दुर्व्यसनोंसे बचे रहो । बीड़ी, सिगरेट, भाँग, गाँजा, अफीम, शराब आदि धर्म, धन तथा आरोग्य आदिका नाश करनेवाले हैं; अतः उनका त्याग करनेसे ही तुम भगवान्के भक्त बन सकोगे ।

११. दूसरोंकी हानि न करो; परंतु तुम्हारे देश, धर्म, जाति तथा मानको यदि कोई हानि पहुँचाता हो तो उसको किसी भी धर्मसङ्गत उपायसे सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करो । स्वयं अत्याचार करना जितना पाप है, उतना ही पाप दूसरोंके द्वारा किये गये अत्याचार सहनेमें होता है; अतः धीर होकर पुरुषार्थ करो ।

१२. सदा देव-दर्शन, शास्त्रश्रवण, भगवदुपासना, पितृतर्पण, अतिथि-सत्कार, सत्संग तथा स्ववर्णाश्रमोचित सन्ध्या आदि सत्कर्म किया करो ।



संस्कृति-विमर्श

(अनन्तश्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और उसके प्रचारकी चर्चा चल पड़ी—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। वास्तवमें किसी देश या राष्ट्रका प्राण उसकी संस्कृति ही है; क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसारमें उसका अस्तित्व ही क्या। परंतु संस्कृतिका क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है—यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर'का अनुवाद संस्कृति किया जाता है। परंतु 'संस्कृति' संस्कृतभाषाका शब्द है, अतः संस्कृत-व्याकरणके अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिये। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण अर्थमें 'सुट्'आगम-पूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदयके उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादिकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृतिसे मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं—'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पणपर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन-संस्कार' है। तैल, रंगद्वारा हस्तीके मस्तक या काष्ठकी किसी वस्तुको चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान-संस्कार' है। नैयायिकोंकी दृष्टिसे वेग, भावना और स्थितिस्थापक—ये ही त्रिविध संस्कार हैं। अनुभवजन्य स्मृतिका हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादिमें बार-बार अभ्यास करनेसे उत्पन्न कौशलकी अतिशयता ही भावना मानी गयी है—

तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्थाके समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—

स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

योगियोंकी दृष्टिमें न केवल मानस सङ्कल्प, विचार आदिसे ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदिकी सभी हलचलों, चेष्टाओं, व्यापारोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्मसंस्कार' या 'कर्मवासना' शब्दसे उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टिसे सम्यक्-असम्यक् सभी प्रकारके कर्मोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारोंका प्रभाव

संस्कारोंसे आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिये उत्तम और निकृष्ट संस्कार—इस रूपसे संस्कारोंमें उत्कृष्टता या निकृष्टताका भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारोंद्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरणको संस्कृत करना चाहिये—यह भी शास्त्रका आदेश है—

यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।

यहाँ 'सम्'की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही संस्कृति कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारोंका पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधानमें होता है। कुछ कर्मोंद्वारा पाप, अज्ञानादिका अपनयन और कुछद्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयताका आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकोंके यहाँ यह सब आत्मामें होता है, पर वेदान्तकी दृष्टिसे अन्तःकरणमें। आत्मा तो सर्वथा असङ्ग ही रहता है। मोटे तौरपर कह सकते हैं कि जैसे खानसे निकले हुए हीरक एवं मणि आदिमें संस्कारद्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपञ्चमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्माकी शोभा संस्कारोंद्वारा व्यक्त की जाती है। तथाच आत्माको प्राकृत निम्न स्तरोंसे मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरोंसे सम्बन्धित करने या प्रकृतिके सभी स्तरोंसे मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्दसाम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करनेमें आत्माका संस्कार है। ऐसे संस्कारोंके उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्दसे व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तरकी सीमाओंमें आबद्ध आत्माके उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यतामें कोई भी खास अन्तर नहीं है। सम्यक्कृति ही संस्कृति है और सभामें साधुता ही सभ्यता है। आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल आदिकी सम्यक्ता या साधुताका निर्णय शास्त्रसे ही हो सकता है। वेदादि शास्त्रद्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु चेष्टा ही सभ्यता है और वही संस्कृति भी है।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियोंकी विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियोंमें प्रायः सङ्घर्ष भी चलता है—कहीं तो संस्कृतियोंकी खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृतिका विनाश कर देती है। संस्कृतिका भूमिके साथ सम्बन्ध होनेसे ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देशके जल-वायुका प्रभाव वहाँके निवासियोंके आचार-विचार, वेष-भूषा, भाषा-साहित्य आदिपर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंने तो इसी प्रभावको प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि 'किसी राष्ट्रके किसी असाधारण बड़प्पनके गर्वको ही संस्कृति कहना चाहिये। उदाहरणार्थ—इंग्लैंडके लोगोंको सबसे बड़ा गर्व अपनी 'पार्लमेंट्री शासनप्रणाली'के आविष्कारके लिये है। अमरीकाको गर्व है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताका फहरायी और दो महायुद्धोंमें विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया। हिटलरने जर्मनीमें आर्यत्वके विशुद्ध रुधिरका गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनकी संस्कृतिका आधार है।' किसी अंशमें ये सब भाव ठीक हैं; परंतु संस्कृतिकी ऐसी परिभाषाएँ अन्धोंद्वारा किये गये हाथीके वर्णन-जैसी हैं।

धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृतिमें इतना ही भेद है कि धर्म केवल शास्त्रैकसमधिगम्य है और संस्कृतिमें शास्त्रसे अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है। युद्ध-भोजनादिमें लौकिकता, अलौकिकता—दोनों ही हैं। जितना अंश लोकप्रसिद्ध है, उतना लौकिक है; जितना शास्त्रैकसमधिगम्य है, उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है, धर्माविरुद्ध लौकिक अंश धर्म्य है। संस्कृतिमें दोनोंका अन्तर्भाव है।

संस्कृतिका आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना संस्कृति क्या है—यह समझमें नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृतिका लक्ष्य आत्माका उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृतिका आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियोंके धर्म-ग्रन्थोंद्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओंकी भूषणता-दूषणता, सम्यक्ता या असम्यक्ताका निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकता है। यद्यपि सामान्यरूपसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंके आधारपर विभिन्न संस्कृतियाँ निर्णीत होती हैं, तथापि अनादि, अपौरुषेय ग्रन्थ वेद ही हैं। अतः वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थोंके अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिंदू-संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। सनातन परमात्माने अपने अंशभूत सनातन जीवात्माओंको सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस—परमपद प्राप्त करानेके लिये जिस सनातन मार्गका निर्देश किया है, तदनुकूल संस्कृति ही सनातन वैदिक संस्कृति है और वह वैदिक सनातन हिंदू-संस्कृति ही सम्पूर्ण संस्कृतियोंकी जननी है। डेढ़-दो हजार वर्षोंकी अर्वाचीन विभिन्न संस्कृतियाँ भी इसी सनातन संस्कृतिके कतिपय अंशोंको लेकर उद्भूत हुई हैं। यही कारण है कि विभिन्न देशोंकी विभिन्न संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृतिके विकृत एवं अविकृत अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। उसी सनातन संस्कृतिका पूजक हिंदू है। जैसे इस्लाम-संस्कृति और मुस्लिम-जातिका आधार 'कुरान' है, वैसे ही वैदिक सनातन संस्कृति एवं हिंदू-जातिका आधार वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थ हैं।

भारतीय संस्कृति

इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयोंके आचार-विचार, रहन-सहन आदिपर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृतिका आधार ही बदल गया। भारत हिंदुओंका देश है, अतः उन्हींकी 'संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नतिका वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृतिके सभी अङ्गोंपर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तोंकी ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्धमें एक बात और विचारणीय है। संसारके प्रायः

सभी देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिकी कितनी ही बातें विकृतरूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ—किसी-न-किसी रूपमें वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिकी भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापकरूपमें फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिंदू-संस्कृतिसे है—एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिंदू-संस्कृति है। भारतकी भूमिसे भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पनके गर्वकी बात कही जाती है, उसका भी अनुभव उसी संस्कृतिमें होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यही मानना पड़ता है कि हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवादका अवसर ही नहीं रहता; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिकी सीमा हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूपका सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

हिंदू

परंतु आजकल वास्तविकतासे दूर हटकर अधिकाधिक संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे 'हिंदू' शब्दकी परिभाषा की जाती है। अतएव कई लोग वेद न माननेवालोंको भी 'हिंदू' सिद्ध करनेके लिये—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—ऐसी परिभाषा करते हैं; परंतु इस परिभाषाकी भी अति-व्याप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भावनाकी दृढ़ताका कोई आधार नहीं रहता।

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—यह परिभाषा अभीष्ट समाजोंमें अनुगत हो जाती है। गोमातामें जिसकी भक्ति हो, प्रणव जिसका पूज्य मन्त्र हो, पुनर्जन्ममें जिसका विश्वास हो—वही हिंदू है। यह सिख, जैन, बौद्ध, वैदिक—सबमें घट जाती है। परंतु वेदोंके 'सिन्धवः', 'सप्तसिन्धवः' इत्यादि प्रयोगों और 'सरस्वती', 'हरस्वती' आदि प्रयोगोंकी दृष्टिसे तथा 'कालिकापुराण', 'मेदिनीकोष' आदिके आधारपर वर्तमान 'हिंदू ला' के मूलभूत आधारोंके अनुसार वेद-शास्त्रप्रतिपादित रीतिसे वैदिक धर्ममें विश्वास रखनेवाला हिंदू है। हिंदू-संस्कृतिकी दृष्टिसे अनादि परमेश्वरसे अनेक प्रकारका सङ्कोच और विकास होता रहता है। ईश्वररहित जडविकासवाद, जिसके अनुसार जडप्रकृतिसे ही चैतन्यका विकास होता है और जिस विकासवादकी दृष्टिसे अभीतक सर्वज्ञ ईश्वर और शास्त्र विकसित ही नहीं हुआ, वह सर्वथा अमान्य है। आध्यात्मिकता और धार्मिकतासे विहीन साम्यवाद, समाजवाद आदि भी हिंदू-संस्कृतिमें नहीं खप सकते।

खिचड़ी संस्कृति

आजकलके कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिश्रित रूपको ही भारतीय संस्कृति मानते हैं। इसीको 'हिंदुस्तानी संस्कृति' का नाम भी दिया जाता है। किंतु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। न इसका कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृतिके किसी अङ्गपर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभीमें यह दिखलाया जा सकता है। नेताओंने 'इण्डियन यूनियन' (भारतसङ्घ) को सेक्युलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित करके अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि सबकी संस्कृतिकी रक्षा की जायगी, किसी संस्कृतिपर हस्तक्षेप न किया जायगा। कई नेताओंने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरोंद्वारा जैसे मालाकी शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियोंका यदि एक सूत्रमें सङ्ग्रथन हो तो उससे राष्ट्रकी शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंगके बिगाड़नेकी अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थितिमें संस्कृतिकी खिचड़ी कहाँतक ठीक है? हिंदू-जाति, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मन्दिर और राम-कृष्ण आदि समझमें आ सकते हैं; उसी तरह कुरान, मस्जिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझमें आ सकती है। परंतु इन दोनोंको बिगाड़कर वेद-पुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर-मस्जिद, अल्लाह-राम आदिको मिलाकर हिंदुस्तानी संस्कृति, हिंदुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझमें नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा; परंतु 'रमखुदैया' खतरेसे खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार हिंदू या मुसल्मान—दोनों ही ठीक; बेदीन, बेईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूल धर्मों, संस्कृतियों एवं मूल शास्त्रोंपर विश्वास न रहेगा तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारोंपर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

अपना निर्माण करनेके लिये साधनका भेद और साध्यकी एकता परम अनिवार्य है।

व्यक्ति-निर्माण ही समाज-निर्माण और समाज-निर्माण ही विश्वके हितका मुख्य हेतु है। व्यक्ति-निर्माण संस्कृतियुक्त धर्म अर्थात् हिंदुत्वके बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

हिंदुत्व मानव-जीवनको गुणोंका विकास, सीमित उपभोग, सेवा और त्याग—इन चार भागोंमें विभाजित करनेके लिये प्रेरित करता है। प्रथम भाग और तीसरा भाग उपार्जन-काल है, उपभोग-काल नहीं। दूसरा भाग विषयानन्द और चतुर्थ भाग निजानन्द तथा प्रेमानन्दको प्रदान करता है। प्रथम भागमें मानव दीक्षा तथा शिक्षाद्वारा अपनेको सुन्दर बनाता है अर्थात् ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओंद्वारा सुशोभित करता है, जिससे समाज उसको स्थान देता है। द्वितीय भागमें अर्थ और कामकी वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये धर्मानुकूल उपभोगमें प्रवृत्त होता है—अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थसे रोगी, बालक एवं सेवक तथा विरक्तकी सेवा करता है तथा अपनेसे योग्य सन्तान उत्पन्न कर पितृ-ऋणसे मुक्त होता है। तृतीय भागमें जितेन्द्रियतापूर्वक सेवाद्वारा समाजके ऋणसे मुक्त हो सत्यकी खोज करता है। चतुर्थ भागमें असत्यको त्याग अपनेमें ही अपने प्रीतमका अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

१. तप (धर्मार्थ कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करना)।

२. व्रत (अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये दृढ़ संकल्प करना)।

३. प्रायश्चित्त (की हुई भूल पुनः न करना)।

४. प्रार्थना (अपनी निर्बलताओंको मिटानेके लिये व्यथित हृदयसे प्रेम-पात्रको पुकारना)।

—ये चारों ही हिंदुत्वके मुख्य अङ्ग हैं, जिनके बिना कोई भी प्राणी—चाहे वह किसी भी देश, जाति अथवा वंशका क्यों न हो—विकास नहीं पाता। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव-विकास हिंदुत्वके बिना सम्भव नहीं है।

जिससे किसीको भय न हो अर्थात् जिसके हृदयमें केवल प्रीतिकी गङ्गा लहराती हो तथा जिसका शरीर विश्वके काम आ गया हो एवं जिसका अहं अभिमानशून्य हो और जिसको किसीसे भय न हो—अर्थात् नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार सतत उपलब्ध हो, वही हिंदू है।

प्रत्येक अहिंदू हिंदू हो सकता है। क्योंकि हिंदुत्व प्राप्त करनेके लिये केवल प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करना है, जिसके करनेमें मानव सर्वथा स्वतन्त्र है।

प्राणी परिस्थिति-परिवर्तनमें भले ही परतन्त्र हो, पर उसके सदुपयोगमें लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसी कारण हिंदू-धर्मके अपना लेनेमें किसीको भी कठिनाई नहीं है। जो जिस अवस्थामें है, उसीके अनुरूप साधन निर्माण करके हिंदुत्व प्राप्तकर अभय हो जाओ—यही मानव-समाजके लिये हिंदू-संस्कृतिका जयघोष है।

कर्मकी भिन्नता एवं स्नेहकी एकता ही हिंदुत्वका गौरव है।

सांस्कृतिक परम्परा

(श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामीजी महाराजका उपदेश)

संस्कृति है मानवकी जीवन-शक्ति, प्रगतिशील साधनाओंकी विमल विभूति, राष्ट्रिय आदर्शकी गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रताकी वास्तविक प्रतिष्ठा। इस तथ्यका चिन्तन करते हुए भारतीय परम्पराने सदा संस्कृति-निष्ठाके मङ्गलमय मार्गको अपनाया। फलस्वरूप संस्कृति भारतभूमिके कण-कणमें व्याप्त है, भारतीय साहित्यके पद-पदमें ओत-प्रोत है और भारतीय इतिहासके प्रत्येक पृष्ठपर अङ्कित है। इसके अधिष्ठान एवं अनुष्ठानको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अपेक्षित है सांस्कृतिक आचार्योंके उन आचरणोंका अनुशीलन और अनुसरण, जिनके द्वारा संस्कृतिके तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति होती है। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृतिके निर्वाहक इन आचार्योंने संस्कृतिको अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करनेकी चेष्टा न कर उसके द्वारा अपने-आपको संस्कृत करनेका ही प्रयत्न किया। इसीका सुखद परिणाम यह निकला कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सैद्धान्तिक मतभेदोंके रहनेपर भी सांस्कृतिक परम्पराकी अविच्छिन्न गतिमें किसी प्रकारका अन्तर न पड़ सका। आत्मकल्याणके साधनोंमें विविधता आनेपर भी सर्वभूतहितकी भावनापर किसी प्रकारकी ठेस नहीं लगने पायी। उसी परम्पराके अनुसरण करनेमें सबका हित है।

हिंदू-संस्कृति

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

आर्य-संस्कृति

इधर प्रचलित भाषाओंमें अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके लिये 'संस्कृति' शब्द व्यवहृत होने लगा है। 'पालिसी' शब्दकी तरह 'कल्चर' शब्दका भी अर्थ बहुत व्यापक होनेपर भी उसके लिये 'संस्कृति' शब्द अच्छा गढ़ा गया है। सम्-पूर्वक 'कृ' धातुसे भाव-अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'संस्कृति' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है कि संस्कार-रूपी बीजके ही अनुसार कर्म-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। हमारे जैसे पूर्व-संस्कार होंगे, वैसे ही हमारे कर्म बनेंगे। आर्योंकी प्राचीन रहन-सहन, आचार-व्यवहार, धर्म, कर्म, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था, शास्त्रीय सिद्धान्त, शिक्षा-प्रणाली आदि जिसके प्रधान-प्रधान अवलम्बन हों, वही आर्य-संस्कृति कही जा सकती है।

आर्यजातिके लक्षण

आचारोंसे ही जाति मानी जाती है। शास्त्र कहते हैं 'आचार-मूला जातिः' अर्थात् आचार देखकर जाति बनायी जा सकती है। आर्यजातिकी विशेषता यह है कि वह जीवन-यात्रा-निर्वाहमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्ण-व्यवस्था तथा प्रवृत्तिरोधक और निवृत्तिपोषक आश्रम-व्यवस्था मानती है। इसीसे शास्त्रमें उसका लक्षण कहा गया है 'उभयोपेता आर्यजातिः।' अर्थात् वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके लक्षण जिस जातिमें पाये जायँ, उसे आर्यजाति कहते हैं। आर्यजातिके शारीरिक-व्यापार मूलक आचार पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारी संस्कृतिका विचार करनेवालोंको यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस मनुष्य-जातिमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक जातिभेदका सिद्धान्त, सतीत्वधर्ममूलक स्त्री-जातिकी पवित्रता, प्रवृत्तिमूलक ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम और निवृत्तिमूलक वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम-ऐसे धर्मके लक्षण पाये जाते हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहाती है। ये सब बातें आर्य (हिंदू)-संस्कृतिके मौलिक सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार पुरुष-धर्म और नारी-धर्मके अधिकार आर्य-धर्ममें अलग-अलग माने गये हैं।

पुरुष और स्त्रीके विभिन्न धर्म

मनुष्य-सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—ये दो विभाग हैं और दोनोंके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। कैवल्य-प्राप्तिके लिये पुरुष स्वतन्त्र है; परंतु स्त्री पुरुष होनेकी अपेक्षा रखती है। वह पतिमें तन्मय होकर जब पुरुष होगी, तभी कैवल्य प्राप्त कर सकेगी। पुरुष स्वतन्त्र होनेसे उसका धर्म यज्ञ-प्रधान है, कैवल्य प्रदान करनेवाले ज्ञानका यज्ञके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। यज्ञ-धर्म कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीन काण्डोंमें विभक्त है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

यज्ञप्रधानतामेति नृणां धर्म इति श्रुतिः।

नारी-धर्म एक विशेष धर्म है। आदिसृष्टि जब आदि-पुरुष परमात्मा और प्रकृति महामायाके सम्बन्धसे आरम्भ होती है, तब जीवकी प्रथमोत्पत्तिमें भी वे ही दो सत्ताएँ विद्यमान रहेंगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उद्भिज्जादि जीवोंमें भी पुरुष और नारीकी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ देख पड़ती हैं। मनुष्य-योनिमें पहुँचकर जीव जबतक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक नवीन संस्कार भी संग्रह नहीं कर सकता। सहज कर्म परिवर्तित भी नहीं होते, इस कारण साधारण स्त्री स्त्री होकर और पुरुष पुरुष होकर ही अग्रसर होता है। अद्वैत-भावके बिना कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती। वह स्थिति परम पुरुषके स्व-स्वरूपमें ही विद्यमान है। इस कारण कैवल्याधिगमके लिये पुरुषको आत्म-ज्ञानके अवलम्बन-से स्व-स्वरूपको प्राप्त करना होता है और स्त्रीको पुरुषमें तन्मयता प्राप्त करके पुरुषधारामें पहुँचनेपर आत्म-ज्ञानके अवलम्बनसे अद्वैत भावमय स्व-स्वरूपकी उपलब्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार जब स्त्रीको अपनी धारा बदलनी पड़ती है, तब उसके लिये तपोधर्मका आश्रय लेना अनिवार्य है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

तपःप्रधानतामेति नारीधर्मो यतः सदा।

आदिसृष्टिसे ही स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अनुसार पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों पृथक्-पृथक् प्रवाहित हुआ करती हैं। परमपुरुष स्वाधीन, निःसङ्ग तथा चेतन-स्वरूप है और मूलप्रकृति जडा, सङ्गकी अपेक्षा रखनेवाली और पराधीना है। इसी कारण कार्यरूपी सृष्टिप्रवाहमें वे ही

गुण वर्तमान रहनेसे नारीका पराधीन होना विज्ञानसिद्ध है। यही कारण है कि हिंदू-जातिमें कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक पिता, पति, पुत्र और आत्मीय स्वजनोंके संरक्षणमें नारीके रहनेकी विधि है और यही आर्य-जातिकी प्राचीन संस्कृति है।

वैदिक दर्शनोंने यह भी सिद्ध किया है कि इस संसारके स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चके सब अङ्गोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ देखनेमें आती हैं—एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। स्थूल प्रपञ्चमें परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहोंतकमें आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों शक्तियोंका कार्य स्पष्ट देखनेमें आता है। ग्रह-उपग्रहादिकी सृष्टि-दशामें परमाणु एकत्र होते हैं और प्रलय-दशामें पृथक्-पृथक् होकर ब्रह्माण्डका प्रलय-संसाधन करते हैं। इसी स्थूल उदाहरणके अनुसार सूक्ष्म अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें रागकी वृत्तियाँ आकर्षणजनित और द्वेषकी वृत्तियाँ विकर्षणजनित होती हैं। राग-मूलक आकर्षणशक्ति रजोगुण-समुद्भूत और द्वेषमूलक विकर्षणशक्ति तमोगुण-समुद्भूत है। इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड आच्छन्न हैं। दोनों शक्तियोंका विकास पुरुषशरीर और स्त्रीशरीरमें होता रहता है। पुरुष विकर्षण-शक्तिरूप और स्त्री आकर्षण-शक्तिरूप है। अन्ततः दोनोंके अधिकार और धर्म भी स्वतन्त्र हैं। आकर्षण-शक्तिसे सृष्टिक्रिया होती है और विकर्षणशक्तिसे लय-क्रिया। स्मृतिशास्त्र कहता है—

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह।
तथा विकर्षणं नृणां शरीरं स्यात्स्वरूपतः॥

जिस प्रकार अन्तर्जगत्‌में राग और द्वेष—दोनोंके समन्वयसे मुक्तिका उदय होता है अर्थात् साधक रजोगुणसंभृत राग और तमोगुण-संभृत द्वेषको जीतकर सत्त्वगुणके अवलम्बनसे द्वन्द्वातीत हो जाता है—मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार बहिर्जगत्‌में ऊर्ध्वरेता होकर वह दाम्पत्य-सम्बन्धके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी जय करके द्वन्द्वातीत मुक्तिभूमिमें पहुँच जाता है। इसीसे वानप्रस्थाश्रममें सस्त्रीक रहकर स्त्रीसम्बन्धी कामका जय करके मुक्तिमार्गमें अग्रसर होनेकी विधि शास्त्रोंमें पायी जाती है। पतिभक्ति और सतीत्वकी सहायतासे स्त्री मुक्तिमार्गमें अग्रसर होती है और पुरुष भी स्त्री-दुर्गद्वारा सुरक्षित रहकर मुक्तिमार्गपर विजय-लाभ करनेमें समर्थ होता है। दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है, वही सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है।

सृष्टि-कार्यमें प्रकृतिकी प्रधानता होती है, यह कहा जा चुका है। चाहे कोई दर्शनशास्त्र उसको मूलप्रकृति कहे, कोई महामाया कहे, कोई ब्रह्मशक्ति कहे—सब दर्शनशास्त्र प्रकृतिकी प्रधानता मानते हैं। यही कारण है कि वेद, पुराण और तन्त्र आदि शास्त्र एकवाक्य होकर नारीका सम्मान करने और उसको जगदम्बाका स्वरूप समझकर उसकी पूजा करनेकी आज्ञा देते हैं। आर्य-जातिके सदाचारोंमें और उसके पूजा-प्रकारमें कुमारी-पूजा और सुवासिनी-पूजाकी सर्वमान्य विधि पायी जाती है। पश्चिमकी वर्तमान सभ्य जातियोंमें इन सब दार्शनिक सिद्धान्तोंकी कल्पना भी नहीं पायी जाती। आर्य-जाति स्त्रीजातिको जगदम्बाकी प्रतिकृति समझकर उसकी पूजा करती है; परंतु पश्चिमी सभ्य जातियाँ स्त्रीजातिको केवल भोगविलासकी एक सामग्री समझती हैं और उसकी पवित्रता और अपवित्रताका कुछ भी विचार नहीं रखतीं।

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके पृथक्-पृथक् अधिकारके विचारका स्थान सबसे प्रधान माना गया है। क्या प्राचीन साहित्य और क्या नवीन साहित्य, क्या प्राचीन वैदिक शास्त्र-समूह और क्या नवीन अर्थादि-शास्त्रसमूह और क्या प्राचीन संस्कृतिकी विद्वन्मण्डली और क्या नवीन संस्कृतिके विद्वज्जन—इन सबोंका एकमत इस विषयमें होगा कि स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके अधिकारका प्रश्न सब तरहसे सृष्टि-प्रकरणमें सबसे प्रधान तथा परमावश्यक है; परंतु अज्ञानके कारण ऐसे बड़े आवश्यक विषयपर बहुत कम लोग ध्यान दे रहे हैं। वर्तमान समयकी राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक उथल-पुथल तथा धार्मिक उथल-पुथलकी सन्धिमें सबसे पहले स्त्री और पुरुषके अधिकार-विज्ञानपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर बताते हैं कि सृष्टिकी आदि अवस्थामें सृष्टि-कर्ता भगवान् ब्रह्माजीने जब सृष्टिका प्रारम्भ किया, तब उस समय सबसे पहले सनक, सनन्दन आदि पूर्णावयव मनुष्यरूपी महात्माओंकी सृष्टि हुई। वे पूर्णावयव होनेके कारण उनमें सृष्टिकी वासनातकका सम्बन्ध नहीं पाया गया और न उनसे सृष्टि बढ़ानेका कार्य ही हुआ। उसके बाद भगवान् ब्रह्माजीने दुबारा सृष्टिकी इच्छा की, जिससे प्रजापतिगण पैदा हुए। ये लोग एक प्रकारके देवता थे। उनको आज्ञा देनेपर उनसे मानसिक सृष्टि उत्पन्न हुई—यह सृष्टिकी दूसरी अवस्था है। उसके बाद सृष्टिकी तीसरी अवस्थामें, जब कि सृष्टिके पूर्णावयव जीव उत्पन्न हो गये थे, उस दशामें स्त्री-पुरुषके संयोगसे

वैजी सृष्टिका प्रारम्भ हुआ। यही साधारण मैथुनी (लौकिकी) सृष्टिकी पहली अवस्था है। हिंदू दर्शन-शास्त्र इसके पहलेकी अवस्थाको दैवी सृष्टिकी अवस्था मानते हैं। लौकिकी सृष्टिकी अवस्थामे स्त्री और पुरुष दोनोके अधिकार समान रहनेपर भी नारी-जातिका स्थान प्रधान माना गया है। साधारण तौरपर देखा भी जाता है कि सृष्टि-प्रकरणमे पुरुषों-का कार्य मिनटोंका है, किंतु नारी-जातिका वर्षोका है। क्योंकि उनको गर्भपालन और शिशुपालन आदि कार्य करने पड़ते हैं। आजकल साइंसकी उन्नतिके साथ-ही-साथ विज्ञानके द्वारा इस बातकी भी पुष्टि हो चुकी है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चारो प्रकारकी जीव-योनियोमें स्त्री और पुरुषका होना समान रूपसे पाया जाता है। निम्नश्रेणीके उद्भिज्ज जीवोमें स्त्री-रेणु और पुंरेणु—इन दोनोके संगमसे सृष्टि होनेके प्रत्यक्ष प्रमाण बताये गये हैं। स्वेदज, अण्डज और जरायुज पिण्डोंकी सृष्टि तथा पूर्णावयव मानव-पिण्डोकी सृष्टि—सभीमे इस विज्ञानकी सिद्धि होती है।

पिण्ड तीन प्रकारका होता है—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज; और जरायुज पशुका सहज पिण्ड, मनुष्योंका मानव-पिण्ड और देवताओका देवपिण्ड। दर्शनशास्त्र, पदार्थविद्याका विज्ञानशास्त्र और लौकिक अनुभव—इन सभोसे प्रमाणित होता है कि सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी जिम्मेवारी सबसे अधिक है। स्त्री भूमिरूपा है और पुरुष बीजरूप है। यही कारण है कि वेद और शास्त्रोंने एकवाक्य होकर स्त्रीजातिके लिये यज्ञमूलक आचारोंका उपदेश दिया है। दोनोके लिये पृथक्-पृथक् धर्म और आचारका होना स्वतःसिद्ध है। इस विषयमे हिंदू-शास्त्र तो एकमत है ही, किंतु पृथ्वीके सब चिन्ताशील पण्डितो-को भी एकमत होना ही पड़ेगा; क्योंकि सत्य सत्य ही है।

सृष्टिकार्यको पवित्र रखनेके लिये वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र, हिंदुओंका ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेद आदि सब शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर स्त्री-पुरुषके पृथक् अधिकार-विज्ञानकी पुष्टि करते हैं। इस अलौकिक और परमावश्यक विषयकी ओर आधुनिक शिक्षित समाजकी दृष्टि आकृष्ट नहीं हुई है।

स्त्रीजातिकी पवित्रता-रक्षा और आध्यात्मिक विज्ञानसम्मत विवाह-पद्धति

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षा और धर्मा-नुकूल विवाह-पद्धतिकी प्रथाको स्थायी रखना परमावश्यक है। हिंदू-जातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोमें स्त्री-जातिकी पवित्रताकी रक्षाकी ओर विशेष ध्यान नहीं है। उन जातियोंमे जैसे युवकोंकी स्वतन्त्रता है, वैसे ही युवतियोकी भी स्वतन्त्रता रक्खी गयी है। वयःप्राप्त होनेपर स्त्रियाँ अपनी इच्छासे मनमाने पुरुषोंसे सम्बन्ध कर लेती हैं और पीछेसे उनके अपने-अपने धर्मानुकूल विवाह होता है। विवाह होते ही स्वतन्त्र रीतिसे विवाहित दम्पति आनन्दोत्सव मनानेके लिये बाहर चले जाते हैं और यथेच्छा-विहार करते हैं तथा पतिसे अनबन होनेपर एक दूसरेसे अदालतके द्वारा विवाह-विच्छेद भी करा लेते हैं। स्त्रीके विधवा होनेपर उनके यहाँ विधवाओंका बार-बार पुनर्विवाह होता है। पृथ्वीके अन्यधर्मावलम्बियोंमे जन्मान्तरवादपर विश्वास न रहनेसे विवाहित दम्पतिके लोकान्तर होनेपर पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थायी नहीं मानते। इन सब कारणोसे अन्य जातियोंमे 'स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध परलोकमे भी स्थायी रहता है' ऐसा विश्वास नहीं है; किंतु वर्णाश्रमी हिंदू-जातिमे जन्मान्तर और लोक-लोकान्तर-वादका सम्बन्ध पूर्णरूपसे माना गया है। आर्य स्त्रियोंमें सतीत्व-धर्मका अधिकार सर्वोपरि माने जानेसे उच्च श्रेणीकी आर्य-नारियोंमे विधवा-विवाहकी आज्ञा नहीं है। शरीरकी तो बात ही क्या है, मनसे भी परपुरुषका सम्बन्ध होना आर्य स्त्रियाँ गर्हित समझती हैं। स्वेच्छासे विवाह और विहार न होने देना ही वेद और स्मृतिकी आज्ञा है। हिंदू-जातिका विवाह एक बड़ा भारी धर्मकार्य है। हिंदूका विवाह इन्द्रिय-सुखभोगके लिये नहीं, बल्कि परलोकगत पितरोको चिर-सहायता पहुँचानेके लिये माना गया है। हिंदू-शास्त्रके अनुसार विवाहकी आठ श्रेणियाँ बतायी गयी है—यथा ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इन आठ श्रेणियोके विवाहोंमेसे ब्राह्मणजातिमे प्रथम चार श्रेणियोंके विवाह उपादेय हैं और पीछेकी चार श्रेणियोंके विवाह हेय हैं। क्षत्रियजातिके लिये अन्य विवाहोंके उदाहरण भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं; परंतु उनके द्वारा कन्याका संग्रह होनेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह करनेकी विधि है, जैसे राजाओंके यहाँ गान्धर्व-विवाह हो जानेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह-विधिकी पूर्णता की जाती थी। हिंदू-शास्त्र-समूहका सिद्धान्त यह है कि कन्यामे रजोधर्म हो जानेसे पूर्व कन्याके चित्तको पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित कर देना चाहिये। क्योंकि रजोधर्म पूर्णवयस्काका लक्षण है और पूर्णवयस्का कन्या होनेपर उसमें कामादिकी चेष्टा होना भी स्वाभाविक है, इस कारण आध्यात्मिक-उन्नतिशील हिंदू-जातिमे वाग्दानकी

प्रथा पहलेसे ही प्रचलित है और पूर्णवयस्का होनेसे पहले कन्याका चित्त पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित हो जानेपर उसमें अपवित्रता-अनाचारका बीज पैदा ही नहीं होने पाता और सतीत्वका बीज सुरक्षित रहता है। इस कारण स्वेच्छा-विवाहका अनादर आर्य-संस्कृतिमें चिरकालसे चला आता है। आर्य-संस्कृतिमें दम्पतिके भेदका कुछ दिग्दर्शन तन्त्र और पुराणोंके आधारपर नीचे कराया जाता है। त्रिगुण-सम्बन्धी भेदके अनुसार नर और नारी तीन प्रकारके होते है—सात्त्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नर-नारी काममोहित होते हैं। नर-नारियोंकी मिथुनी-भूतकालमे भी तीन दशाएँ होती हैं—सात्त्विककी प्राकृतदशा, राजसिककी विकृतदशा और तामसिककी उन्माददशा होती है। प्राकृतदशा मुक्तिप्रद है, विकृतदशा स्वर्गप्रद है और उन्माददशा नरकप्रद है—यो समझना चाहिये। सात्त्विक स्वल्प-मैथुनसेवी, राजसिक कामुक किंतु विचारवान् और तामसिक नर-नारी घोर कामासक्त तथा अविचारी होते है। सात्त्विक नर-नारी ज्ञाननिरत तथा परस्परार्थी होते हैं, राजसिक भोगनिरत और स्वार्थी होते हैं तथा तामसिक नर-नारी विचाररहित, प्रमादी, कामभोगपरायण और अनर्थकारी होते है। सात्त्विक नर-नारी पवित्र ज्ञान-कुशल, राजसिक अद्भुत क्रियाशील और तामसिक पशुभावके सदा पक्षपाती होते है। सात्त्विक स्वभावतः धीर, राजसिक चञ्चल और तामसिक उन्मादी होते है। सात्त्विक नित्य प्रेमिक, राजसिक कुटिल और तामसिक निर्लज्ज होते है। सात्त्विक नर-नारीकी सङ्गम-दशामे अध्यात्मकी ओर लक्ष्य और एक-दूसरेके आनन्दमे तत्परता; राजसिकका एकमात्र कामज सुखकी ओर लक्ष्य और भोगमे तत्परता तथा तामसिकका केवल अपना-अपना लक्ष्य और प्रमाद-जनित सुखमें तत्परता रहती है। सात्त्विक नर-नारियोके चित्तमे ही आत्मज्ञान और धर्मका पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो सकता है। स्त्री और पुरुष यदि समान प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्मवाले होकर सात्त्विक लक्षणोंको धारण कर सके तो उनके लिये अभ्युदयकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी अति सुलभ है। यदि दोनो स्त्री-पुरुष ज्ञानी भक्त होकर जन्म ग्रहण करे तो ऐसा लोकातीत मेल हो सकता है। साधारणतः शास्त्रमे पुरुष और स्त्रीकी जो चार श्रेणियाँ बाँधी गयी है, उनमें उनके शरीरके लक्षण और मापका हिसाब भी दिया गया है। जिनका माप कम है, वे उत्तम समझे जाते हैं। यह विचित्रता है, जो ध्यान देने योग्य है। तन्त्र और पुराण आदि शास्त्रोंमे पुरुष और स्त्रीके सोलह-सोलह भेद कहे गये है। शश, मृग, वृष और अश्व—ये पुरुषकी चार श्रेणियाँ होती है। प्रत्येक श्रेणीमे प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे पुरुषकी सोलह श्रेणियाँ होती है। पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी—ये चार श्रेणियाँ स्त्रियोंकी होती है। इन चारोंमे प्रत्येकमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे स्त्रियोंकी भी सोलह श्रेणियाँ हुई। यदि इन सोलह प्रकारके पुरुष और सोलह प्रकारकी स्त्रियोंमे ठीक-ठीक समान श्रेणीमें दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित हो तो वह दोनोंके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण होता है। दोनोंमे स्त्रीकी श्रेणी यदि उच्च हो तो मात श्रेणीतक नारीकी प्रकृति सामञ्जस्यकी रक्षा करती है और अभ्युदयका क्रम बना रहता है। सात श्रेणीके अनन्तर अशान्ति, रोग और दुःख होता है। पुरुषका यथाक्रम सामञ्जस्य बना रहता है। तदनन्तर सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षामें बाधा होती है। स्त्रियाँ और पुरुष यदि अपने-अपने धर्मसे च्युत हो जायँ तो सृष्टिका सामञ्जस्य ठीक-ठीक नहीं रहने पाता। क्योंकि नारीधर्म 'तपःप्रधान' है और पुरुषधर्म 'यज्ञप्रधान' है। नारीके लिये ही श्री, मधुर वचन, त्रिविध पवित्रता, स्वार्थरहितता, पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता और पुरुषोंके उपयोगी भावोंमे भावित होनेसे सदा रुचि—ये आठ ही उत्तम गुण कहे गये हैं। पुरुषोंके लिये अपने वर्णाश्रमाचारका सदा प्रतिपालन ही उत्तम गुण कहा गया है। स्त्री और पुरुषोंकी परीक्षा बहुत ही कठिन है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा-युक्त ज्ञानी भक्त ही यथार्थ रूपसे स्त्री-परीक्षा और पुरुष-परीक्षा करनेमे समर्थ होते है। सामुद्रिकविद्या, स्वरोदयविद्या और ज्यौतिषविद्या आदिके द्वारा भी दोनोंकी परीक्षा की जाती है।

दाम्पत्य-सम्बन्ध करनेके लिये जिन पच्चीस बातोंपर ध्यान देना अभ्युदय और कैवल्यकी इच्छा रखनेवालोंको आवश्यक है, वे ये हैं—यथा कुल, शरीर, गण, योनि, ग्रह, राशि, दिन, माहेन्द्र, स्त्री-दीर्घ, राशिका अधिपति, रज्जु, वश्य, वेध, वर्णकूट, नाडीभूतलिङ्गाख्यकूट, योगिनी, गोत्र, जाति, पक्षिकूटक, तारा, भकूट, प्रवृत्ति, इन्द्रियदार्ढ्य, बुद्धि और पचीसवॉ—भाव। यदि समानाधिकारमे कल्याणकारी दाम्पत्य-सम्बन्ध हो तो अभ्युदयकी तो बात ही क्या, निःश्रेयस भी सुलभ है। ऐसा दाम्पत्य-सम्बन्ध होनेपर देवता, ऋषि और पितरोकी प्रसन्नता होती है, कुल पवित्र होता है तथा दम्पति स्वयं ज्ञानवान् होकर एवं पूर्ण-ज्ञान-सम्पन्न सन्तान प्राप्तकर जगत्को धन्य करते हुए स्वयं भी धन्य होते है।

जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्य-जातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है; उसकी कल्पनातक पृथ्वीकी अन्य जातियोंमे नहीं है और न उनके आचार-विचारमें हो सकती है। इस कारण पृथ्वीकी इस वर्तमान उथल-पुथलके दिनोंमें केवल इन्द्रिय-सुखको लक्ष्य करके हिंदुस्थानके नेतृवृन्दोंको बिना पूर्वापर-विचार किये विपथगामी नहीं होना चाहिये। उनको यह विचार लेना चाहिये कि आर्य-जातिका आध्यात्मिक लक्ष्य कहाँसे कहाँतक है और आर्योंके नारीधर्म और पुरुषधर्मके अधिकार निर्णय करनेमें हमारे पूर्वजोंने कितना सूक्ष्म विचार और दूरदर्शिताका काम किया है।

हिंदुस्थानके हिंदूलोग स्त्री-पुरुषोंके अधिकारविज्ञान और विवाह-पद्धतिके सिद्धान्तको परम आवश्यक धार्मिक सिद्धान्त समझते हैं; क्योंकि ये सब मौलिक विचार स्त्री-पुरुषोंके भविष्यत्को सम्हालनेवाले हैं, वंशकी संस्कृति स्थिर रखनेवाले हैं और जातिको पवित्र रखनेवाले हैं। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा आर्यजातिमें नहीं है; क्योंकि काम पशुभावका स्वाभाविक प्रेरक है। युवती कन्या और युवक—इन दोनोंमे संसारका अनुभव नहीं होता। इस कारण उनसे बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। पिता-माता और पारिवारिक गुरुजनोंमें अनुभव अधिक होता है। अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना कम होती है। इस कारण विवाहप्रथामें युवक और युवतियोंको स्वाधीनता न देकर उनको नियन्त्रित किया जाय, यही आर्य-संस्कृति है। कन्या-अवस्थामें बालिकाओंको देवीरूप समझना, उनके सामने कभी काम-चेष्टाकी बातें करना भी पापजनक समझना, बाल्यावस्थासे ही उन्हें धार्मिक शिक्षा देना और धार्मिक व्रतादि कराना, तुलसी-अन्नपूर्णा आदिकी पूजा कराना, कन्याके रजस्वला होनेसे पहले ही उसका विवाहसंस्कार कर देना, प्रथम रजोदर्शनमे गर्भाधान-संस्कार कराके देवता, ऋषि और पितरोंका संवर्धन कराते हुए गर्भाधान-संस्कारकी विधि सम्पन्न करना—ये सब बातें आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हैं। पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें इस प्रकारकी पवित्रताके साधक संस्कारोंका नामतक नहीं है। वहाँ विवाह पशुधर्मका एक सहायक मात्र है।

संस्कार

अब गर्भाधानसे लेकर शरीरान्तपर्यन्त आर्य-जातिके आचारोंके विशेषत्व और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रकाश डाला जाता है। साथ-ही-साथ लोककल्याण-बुद्धिसे तुलनात्मक गवेषणा की जायगी। आर्य-जातिमे विवाह-संस्कार सबसे बड़ा शास्त्रीय संस्कार है—जिसका सम्बन्ध केवल इसी लोकतक नहीं, किंतु लोक-लोकान्तरतक माना गया है। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियों और विभिन्नधर्मावलम्बियोंमे विवाह स्थायी संस्कार नहीं है और न उसका सम्बन्ध शरीरान्तके उपरान्त माना ही गया है। उनमें इन्द्रिय-सुखकी चरितार्थता और इस जन्ममें सामयिक सुख-प्राप्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं माना गया है। उनके यहाँ विवाह-विच्छेद साधारण-सी बात है; किंतु आर्य-संस्कृतिमे विवाह-विच्छेद हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आर्य-जातिने विधवाका विवाह होना अशास्त्रीय माना है। छोटी जातियोंमे विधवाविवाह प्रचलित है; परंतु वह 'विवाह' नहीं, 'नाता' कहाता है। द्विजोंमे तो विधवाविवाह अधर्म समझा जाता है; क्योंकि विधवाविवाह प्रचलित होनेपर त्रिलोक-पवित्र-कारी सती-धर्मपर आघात पहुँचता है। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कारका सबसे बड़ा उद्देश्य यह रक्खा गया है कि विवाह परलोकगामी पितरोंके आवागमन-चक्रमे श्राद्धादिसे सन्तति सहायता करे और यही कारण है कि इसी सिद्धान्तके अनुसार दायभागकी व्यवस्था बाँधी गयी है। इन सब सूक्ष्म विषयोंपर आजकलके नवशिक्षित सज्जन कभी ध्यान ही नहीं देते और मनमाने विधानोंको बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। वे यह भी नहीं सोच सकते कि कानूनद्वारा सत्यकी जड़ काटना असम्भव है। सत्य सूर्यके समान सत्य ही है। सूर्य कभी-कभी बादलोंसे ढक जाता है; परंतु वह ढँकना सामयिक होता है।

पृथ्वीकी अन्य जातियोमे विवाहका काल निश्चित नहीं किया गया है और न स्त्रीसंभोगके लिये कोई आध्यात्मिक लक्ष्य ही रक्खा गया है। हनीमून-जैसे वैषयिक आनन्दप्रद आचार उनमे किस प्रकार प्रचलित हैं, सभी जानते हैं। आर्य-संस्कृतिमे रजोदर्शनसे पूर्व विवाहसंस्कार करनेकी दृढ़ आज्ञा है। यदि ऐसा हो जाय कि विवाहसे पहले ही कन्यामे रजोदर्शन होने लगे तो प्रत्येक रजोदर्शनमे पिताको प्रायश्चित्त करके शुद्ध होनेकी आज्ञा है। प्रथम रजोदर्शन होनेके अनन्तर पशु-धर्मके अनुसार स्त्री-सम्बन्ध न करके ऋषि-देवता और नित्य-नैमित्तिक पितरोंका संवर्धन करते हुए एक संस्कार करनेकी आज्ञा है, जिसे 'गर्भाधान-संस्कार' कहते हैं।

तदनन्तर काम-वृत्तिसे नहीं, धर्म-वृत्तिसे स्त्रीसम्बन्ध करनेकी आज्ञा आर्य-शास्त्र देते हैं। तदनन्तर पूर्णिमा, अमावास्या आदि पुण्य तिथियो तथा अशास्त्रीय वार, कुयोग, पर्वदिन, आशौच-के दिन आदि दिनोको छोड़कर धर्म-बुद्धिसे युक्त होकर स्त्री-संसर्ग करनेकी आर्य-शास्त्र आज्ञा देते हैं। इसके विरुद्ध चलनेका धर्मशास्त्र निषेध करते हैं। अपनी उम्रसे अधिक उम्र-की कन्यासे विवाह करना आर्य-शास्त्रमे निषिद्ध है। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध इस कल्पके प्रारम्भसे ही माना गया है और अपने गोत्र तथा प्रवरसे सम्बद्ध कन्यासे विवाह करना मातासे विवाह करनेके समान समझा गया है। जन्मसे जाति मानना, अपनी जातिकी कन्यासे विवाह करना और रजोदर्शनसे पहले विवाहसम्बन्ध करना, आर्यविवाहके लक्षण हैं। कामज विवाह अन्य जातिकी स्त्रियोके साथ दूसरे युगोंमें हो सकता था; किंतु वह भी अनुलोम विवाह हो सकता था, प्रतिलोम नहीं। अपनेसे निम्न जातिकी स्त्रीसे विवाह करना अनुलोम और उच्च जातिकी स्त्रीसे विवाह करना प्रतिलोम कहाता है। प्रतिलोम नरकका कारण होता है और उसकी सन्तति पतित समझी जाती है। अनुलोम सन्तति माताकी जातिक होती है। ब्राह्मण यदि शूद्रासे विवाह करे, जैसा दक्षिणमें होता है, तो उसकी सन्तति शूद्र ही मानी जायगी। ऐसी जाति दक्षिण भारतमे विद्यमान भी है। पृथ्वीकी किसी अन्य सभ्य जातिमें विवाहके ऐसे दूरदर्शितापूर्ण नियम नही पाये जाते और स्मृति-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र एकमत होकर यह सिद्ध करते हैं कि इन्हीं सब मौलिक कारणोंसे आर्य-जाति सृष्टिके आरम्भ-कालसे अबतक अपने स्वरूपमे जीवित है। पृथ्वीकी अन्य मनुष्यजातियाँ, जिनमे रजोवीर्य-शुद्धि और वर्ण-धर्मकी शृङ्खला नहीं है, पतित हो गयीं और कालके कवलमे पहुँच गयीं। प्राचीन इतिहास और आधुनिक इतिहास हाथ उठाकर इसकी साक्षी दे रहे हैं।

आर्य-संस्कृतिके अनुसार वेद, स्मृति और तन्त्रमें सब मिलाकर ४२ संस्कार पाये जाते हैं। उनमेसे १६ मुख्य है, जिनकी मीमांसा वेदके 'कर्ममीमासा' दर्शनमे की गयी है। संस्कार-को भी मीमांसा-शास्त्रमें कर्मका बीज कहा है। जैसे बीजसे वृक्ष-की उत्पत्ति होती है, वैसे ही संस्कारसे कर्म प्रकट होता है। सुकौशल-पूर्ण उपायद्वारा ये १६ संस्कार ऐसे बाँधे गये हैं कि विधिपूर्वक उनका अनुष्ठान हो तो ये ही १६ संस्कार, जिनमें अन्य सब संस्कारोका अन्तर्भाव है, मनुष्यको प्रथम ८ संस्कारोंद्वारा प्रवृत्तिमार्गमे पूर्णोन्नति देते है और शेष ८ संस्कारोंद्वारा मुक्तिभूमिमें पहुँचा देते हैं। इन सोलह संस्कारोंमें प्रथम संस्कार गर्भाधान-संस्कार है और अन्तिम संस्कार संन्यास-संस्कार है। आर्य-शास्त्रोंने यह भलीभाँति सिद्ध किया है कि यदि माता और पिता दोनों सात्त्विक बुद्धिसे तथा अन्तःकरणसे इच्छा करें और विधिपूर्वक सावधान होकर संस्कार करें तो जैसी चाहें, वैसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। दम्पतिका साक्षात् सम्बन्ध दैवी जगत्‌से बाँधनेके लिये गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। तदनन्तर कोई भी दैवी कार्य बिना स्त्री और पुरुष दोनोंके एकत्र हुए सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे गठबन्धन-की प्रणाली हिंदू-जातिमें सर्वत्र प्रचलित है। इस प्रकार दोनों एकत्र होकर दैवी कार्य करें तो वहाँ एक दैवी पीठ बन जाता है। ये सिद्धान्त आर्य-संस्कृतिके मूलभूत हैं। पृथ्वीकी जो अन्य अवैदिक जातियाँ हैं, उनमें इन पवित्र सिद्धान्तोंकी गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसे गूढ़ रहस्य-पूर्ण शास्त्रीय विषयोंका विचार न करके आजकलके नेतृवृन्द जो पश्चिमी जातियोंका अनुकरणकर हिंदू-जाति, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-आचार-विचारोंमें विप्लव मचाना चाहते हैं—यह कितनी हानि और अदूरदर्शिता-का कार्य है, इसे विचारशील पुरुष सुगमताके साथ समझ सकते हैं।

हिंदू-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष होता है। अवश्य ही वृक्षोत्पत्तिमें और भी कई वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—जैसे देश, काल, जल, भूमि आदि; किंतु सबसे अधिक महत्त्व बीजका है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त और तान्त्रिक संस्कारोंका तात्पर्य यही है कि द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और मन्त्र-शुद्धिसे सुकौशलपूर्ण रीतिपर इन वैदिक संस्कारोंके द्वारा अन्तर्जगत्‌में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाती है कि वही शक्ति समयान्तरमें वैसे ही वृक्ष और फलकी उत्पत्ति करती है, जैसी इच्छा बीज-रोपणके समयमें सङ्कल्पद्वारा की गयी थी। दार्शनिक विषयोंको समझनेके लिये दर्शनोंके अनुशीलनकी आवश्यकता है। इसीमे संस्कारशुद्धिके बलसे भारतवर्षमें (पृथ्वीमें) हिंदुस्थान (भारत-द्वीप) एक अनोखी भूमि है, जहाँ 'अर्थ' और 'काम'की अपेक्षा 'धर्म' और 'मोक्ष'को प्रधान माना जाता है और मनुष्य-जीवनमें आध्यात्मिक उन्नतिको ही श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसी अनादिसिद्ध संस्कार-शुद्धिके बलसे भारतखण्ड (हिंदुस्थान)-मे अनेक प्रान्त और भाषाएँ होनेपर भी सम्पूर्ण

भारत एक राष्ट्र माना गया है, जिस राष्ट्रमे निवृत्ति-परायण धन-ऐश्वर्यकी उपेक्षा करनेवाली, तपःस्वाध्याय-निरत ब्राह्मणजाति स्वाभाविक नेता समझी जाती है, जिसके शिष्ट लोगोंकी राष्ट्रभाषा संस्कृत है और जिसके सब ग्रन्थ अनादिकालसे संस्कृतमे ही बने हैं, जिसके सब शास्त्रीय संस्कार संस्कृतमें ही होते हैं। कोई कुछ भी कहे, किंतु ऐसी स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती।

सृष्टि होनेके सूत्रपातकी दशामें स्त्रीरूपी पीठमें दैवी जगत्से गर्भाधानके द्वारा सम्बन्ध बाँधा जाता है। तदनन्तर शुद्धाचारके द्वारा दैवी जगत्को सामने रखकर सृष्टि उत्पन्न की जाती है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार दैवी जगत्से सम्बन्ध-स्थापनके लिये ही किये जाते हैं। यथासमय 'चूडाकर्म' तो हिंदू-जातिके सब वर्णोंमें होता है। इसका कारण यह है कि बालककी शिखा रखाकर उसका दैवी जगत्से सम्बन्ध कराया जाता है और उसका उत्तमाङ्ग (सिर) देव-मन्दिरके रूपमें परिणत किया जाता है। द्विज-बालकोंका यथासमय 'यज्ञोपवीतसंस्कार' कराके उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिके लिये तीन लड़ोका जनेऊ पहनाया जाता है और आजीवन व्रत धारण कराके उसको आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। इसके अनन्तर बालककी पाठ्यावस्था आरम्भ होती है, जिसमें गुरुका प्राधान्य रक्खा गया है और गुरुका अधिकार सर्वोपरि माना गया है। तदनन्तर 'विवाहसंस्कार' होता है, जो स्त्री-पुरुष दोनोके लिये प्रवृत्तिमार्गका सबसे बड़ा संस्कार है। इस संस्कारमें स्त्री और पुरुषका पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व बताया जाता है और वह उत्तरदायित्व इसी जन्मतक सीमित न रहकर जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है। विवाहित दम्पति हिंदू-संस्कृतिके अनुसार केवल अपने ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी नहीं, किंतु समस्त ब्रह्माण्डकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी होते हैं। यह महत्ता संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती। हिंदू-जातिका पञ्चमहायज्ञ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह स्थूल संसार दैवी जगत्की सहायतासे सुरक्षित रहता और परिचालित होता है। दैवी जगत्के सञ्चालकोमे ज्ञान-के प्रवर्तक होनेसे भृगु, वशिष्ठ और अङ्गिरा आदि महर्षियो-का स्थान सबसे ऊँचा है। उनके संवर्धनके लिये नित्य यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है। यह 'ऋषियज्ञ' है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, देवराज इन्द्र, धर्मराज, यम आदिके संवर्धनके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे 'देवयज्ञ' करनेकी आज्ञा है; क्योंकि कर्मके दाता उक्त-पदधारी देवता ही समझे जाते हैं। तीसरे महायज्ञका नाम है 'पितृयज्ञ'। पितृगण एक प्रकारके देवता हैं, जो नित्यपितृ कहलाते हैं। उनकी कृपासे कुल—वंश और मनुष्य-समाजकी सुरक्षा होती है और स्त्रीकी गर्भावस्थामे उन्हींकी कृपासे गर्भ-के अन्तर्गत पूर्वकर्मानुसार देह बनता है। नैमित्तिक पितृ वे कहाते हैं, जो हमारे पितर शरीरान्तके पश्चात् पितृलोकमें पहुँचते हैं और आवागमनके नियमानुसार फिर लौटकर इसी लोकमें आ जाते हैं। इनके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' कहाता है और यह श्राद्ध-तर्पणके द्वारा भी होता है। तर्पणकी यहाँतक महिमा है कि तर्पणके द्वारा साधक मिनटोमे पञ्चमहायज्ञका यजन कर सकता है। चतुर्थ महायज्ञका नाम है 'भूतयज्ञ'। मनुष्यके अतिरिक्त संसारकी अन्य जो जीव-सृष्टि है, वह चार श्रेणियोमे विभक्त है और वे चारो श्रेणियाँ स्वतन्त्ररूपसे देवताओंद्वारा परिचालित और संवर्द्धित होती हैं। जैसे वृक्षादिकी उद्भिज्ज सृष्टि, जो रोग उत्पन्न करती और नीरोगता भी उत्पन्न करती है; उसके बादकी स्वेदज-सृष्टि—जैसे जूँ, खटमल इत्यादि; अण्डेमें उत्पन्न होनेवाली अण्डज सृष्टि—पक्षी, मछली, सर्प आदिकी सृष्टि और चौथी सृष्टिका नाम है जरायुज सृष्टि—जैसे मृग, गाय, घोड़ा और हाथी आदि। मनुष्यकी सृष्टि यद्यपि जरायुज ही है, फिर भी वह उक्त स्वाभाविक जीव-सृष्टिसे भिन्न है; क्योंकि उसको धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त हो जाता है। हिंदू-धर्मके महत्त्व, उदारता और आचारकी व्यापकताका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वह कृतज्ञताके वश होकर चतुर्विध भूतसंघके कल्याणके लिये प्रतिदिन भूतयज्ञका आदेश देता है। हिंदू-जातिका पञ्चम महायज्ञ 'नृयज्ञ' कहाता है। अपने भोजनसे पहले किसी वर्ण, किसी आश्रमका मनुष्य हो, आर्य-अनार्य, किसी जाति या देशका हो, उसे देवता समझते हुए पहले भोजन कराकर पीछे गृहस्थको स्वयं भोजन करनेकी विधि है। अतिथि-सेवा भी इसी महायज्ञका अङ्ग माना जाता है। जो अदूरदर्शी सज्जन हिंदुओके ऊँच-नीचके अधिकारभेद और मनुष्योमे स्पर्शास्पर्शविवेक और जातिभेद आदि माननेका कलङ्क लगाते हैं, वे यदि समाहित-अन्तःकरण होकर शान्तिसे विचार करेंगे तो देखेंगे कि भगवान्की सर्वव्यापी शक्ति तथा अनन्त प्राणियोंकी

इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। इसी निरन्तर घूर्णायमान चक्रमे आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना प्रकारकी श्राद्धविधि, तर्पणविधि और दाय-भागविधि स्मृतिकारोंने बाँधी है और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमे वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते है, वैसी दायभागकी विधि साधारण विधानसिद्ध नहीं है। वह बड़ी सदुव्यवस्थासे बाँधी गयी है। (१५) निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधियाँ जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अङ्ग है और (१६) जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अङ्ग है। हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले ऊपर लिखी इन सब बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति और सूर्य

(लेखक—पू० योगिराज स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

किसी भी राष्ट्रका अस्तित्व उसकी संस्कृतिके कारण बना रह सकता है। संस्कृतिके उदयास्तसे ही राष्ट्रका उदयास्त होता है। भारतीय राष्ट्रके उत्थानका कारण भारतीय संस्कृतिका सर्वात्मना पालन ही हो सकता है और स्वकीय संस्कृतिका त्याग ही अवनतिका मूल है। इस सत्य और तथ्यको समझे विना जो लोग भारतके उत्थानकार्यमे लगे हैं, चाहे वे बड़े-से-बड़े नेता ही क्यों न हो, वे सफल नही हो सकते। हो सकता है कि उन नेताओकी मानसिक भावनाएँ भारतके कल्याणकी कामनासे प्रेरित हो और उसके लिये उन्होंने अतीतमें अनेक कष्ट भी सहन किये हो; किन्तु जिस पाश्चात्त्य मार्गसे वे अपने तथा-कथित पौरस्त्य ध्येयकी ओर जाना चाहते हैं, वह मार्ग उन्हे भारतीय संस्कृतिके निकट नहीं ले जाता, वरं उससे दूर कर रहा है—भले ही इस विपरीत-दिशा-गमनको उनका बुद्धि-चक्षु, जिसपर विलायती चश्मा चढ़ा है, न देखता हो। अतः अपने मनमे भारतको भव्य बनानेकी स्तुत्य भावना रखते हुए भी 'बलादिव नियोजितः' की भाँति वे दिग्भ्रान्त होकर उस तरफ खिंचे जा रहे हैं, जिधर जानेमे भारतकी भारतीयताको खतरा है। भारत-भूमिकी ऋषिप्रणीत संस्कृति अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल किये जा रहे कार्योंके फलस्वरूप जिस परिवर्तनको वे यहाँ लाना चाहते है, वह विकास नही, विनाशका कारण होगा और 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' की उक्तिको चरितार्थ करेगा। खेद है कि हमारे राजनैतिक नेताओंने अंग्रेजोंसे और कई बाते सीखकर भी उनके स्व-सभ्यता-प्रचार-के आग्रहको नही सीखा।

विश्वमे आदान और विसर्ग, व्यष्टि और समष्टि, आध्यात्मिकता और भौतिकताके जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमे भारतने विसर्ग, समष्टि और आध्यात्मिकताको ही क्यों अपनाया? वह आदान, व्यष्टि और भौतिकताके मनोरम मार्गसे क्यों न गया? यह एक प्रश्न है, जो आजके अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय युवकोंके हृदयमें उठता है। इसके उत्तरमें यहाँ संक्षेपमें इसपर प्रसंगोपात्त प्रकाश डाला जा रहा है। प्रतिदिन किये जानेवाले सन्ध्योपासनमें सूर्योपस्थानके चार मन्त्रोंमेंसे एक मन्त्र इस प्रकार है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥'

इस मन्त्रने सूर्यको जगत्की आत्मा बताकर उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें दिया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माका चैतन्यमय प्रकाश प्रत्येक अङ्गको भिन्न-भिन्न अर्थोंमें संजीवित, प्रकाशित तथा प्रेरित किये हुए है, वैसे ही सूर्यनारायण अपनी सहस्र किरणोंद्वारा हर देशकी प्रकृति और प्रवृत्तिको भिन्न-भिन्नरूपसे प्रकाशित, प्रभावित तथा प्रेरित करते हैं। पिण्ड-स्थित आत्मा जैसे हाथोंको कार्य करनेकी, पैरोंको चलनेकी, नाकको सूँघनेकी, आँखोंको देखनेकी और कानोंको सुननेकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तिमय शक्तियाँ प्रदान करता है, ठीक उसी तरह ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यकी भिन्न-भिन्न प्रभाववाली किरणें पृथक्-पृथक् देशोंको भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियाँ प्रदान करती हैं। हमारे शरीरका कार्य करनेवाली इन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी जो प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति मिलती है, उसका प्रकट कारण देह-स्थित आत्मा होते हुए भी मूलस्रोत अथवा उद्गम-स्थान सूर्यमण्डल ही है। वहींसे आत्माके द्वारा शरीरकी सब इन्द्रियोंको अपने-अपने कार्यकी प्रवृत्ति मिलती है। तभी तो उपर्युक्त 'चित्रं देवानाम्' इस सूर्योपस्थान-मन्त्रके आगेवाले मन्त्रमे प्रत्येक स्वधर्मरत हिंदू प्रातःकालकी पुनीत वेलामें ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यदेवसे 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः' कहकर अपनी इन्द्रियोंको सत्प्रेरणा देनेकी प्रार्थना करता है।

सहस्रांशुकी सहस्र किरणोंके पृथक्-पृथक् प्रभाव हैं। सूर्यकी पहली किरण जहाँ आसुरी-सम्पत्तिमूलक भौतिक उन्नतिकी विधायक है, वहाँ उसकी सातवीं किरण दैवी-सम्पत्तिमूलक आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रेरणा देनेवाली है। भौगोलिक स्थितिके कारण सूर्यकी सातवीं किरण भारतवर्षमे गङ्गा-यमुनाके मध्य अधिक समयतक पड़ती है। इसलिये यहाँ भारतवर्षमे अवतारादि और आध्यात्मिकताका प्रसार करनेवाले ऋषि-महर्षि तथा संत पैदा होकर समष्टिके हितमें विसर्गका अर्थात् त्यागका उपदेश देते आये हैं और देते रहेगे। यूरोपमें सूर्यकी पहली किरण अधिक समयतक पड़ती है। अतः वहाँके लोग स्वभावतः ही भौतिक उन्नतिकी ओर प्रवृत्तिशील, व्यक्तिवादी और आदानप्रिय होते हैं। उनमे आध्यात्मिकतामूलक त्यागकी भावना प्रायः उत्पन्न ही नही होती। उपर्युक्त तरीकेसे सूर्यकी किरणोंके पृथक्-पृथकरूपमे पडनेकी सम्भावना सूर्य और पृथ्वीके परस्पर गतियुक्त सम्बन्धके कारण होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतकी भारतीय अथवा हिंदू-संस्कृतिसे सूर्य-किरणोका कितना और कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। सूर्यकी इतर किरणोके भी पृथक-पृथक् स्वभाव अथवा प्रभाव हैं, जिनका विशद विवेचन यहाँ शक्य नहीं।

जिस प्रकार सूर्यनारायण विसर्गमूलक देवता होनेसे विसर्ग अर्थात् त्यागकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे अपने प्रकाशसे विना किसी भेदके स्थावर-जङ्गम सृष्टिको प्रकाशित भी करते हैं। कविवर कालिदासने सूर्यदेवके त्यागका वर्णन रघुवंशमें रघुवंशी राजाओंके त्यागकी महिमा गाते हुए यों किया है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

श्लोकका तात्पर्य इतना ही है कि सूर्यदेव ग्रीष्मकालमें पृथ्वीके जिस रसको खींचते हैं या ग्रहण करते हैं, उसे चतुर्मासमे हजारगुना करके दे देते हैं। भारतने उनके इस विसर्गसे परहितके लिये त्याग करनेकी शिक्षा ली थी। अतएव भारतीय संस्कृति सूर्यवत् विसर्गमूलक बनी। वास्तवमे विसर्ग ही सब विपत्तियोंके निराकरणका एकमात्र उपाय है। इसका यह अर्थ नहीं कि आदान सर्वथा हेय है। सीमित आदान और असीमित विसर्ग (त्याग) भारतकी विशेषता है। सूर्य-प्रकाशके औदार्य गुणको भी हिंदू-धर्मने अच्छी प्रकार ग्रहण किया है। भारतीय संस्कृतिमे व्यक्तिवादको विशेष स्थान नहीं दिया गया, किंतु व्यक्तिगत आत्मोन्नतिका पूरा-पूरा अवसर दिया गया। बुद्धके अनीश्वरवादको भारतने नहीं माना, किंतु स्वयं बुद्धको दशम अवतारके रूपमें स्थान दिया।

आधुनिक भारतमें पश्चिमकी देखा-देखी आदानका जो प्राधान्य होता जा रहा है, वह उस पाश्चिमात्य शिक्षाकी देन है, जिसे अंग्रेजोने स्व-सभ्यता-विस्तारकी छिपी इच्छासे यहाँ विस्तारित किया। आज कहनेको तो देशमें भारतीयोंका राज्य है, किंतु भारतीय संस्कृतिके विकासके लिये कोई सुदृढ़ प्रयास होता दिखायी नहीं देता। देशमे जबतक भारतीय संस्कृतिके अनुरूप प्राचीन कालकी भारतीय शिक्षा-पद्धतिका अथवा ऋषिप्रणीत मार्गका अनुसरण और अवलम्बन न किया जायगा, तबतक यह देश नामसे 'भारत' (अब तो नाम भी 'भारत' नहीं रहा) होते हुए भी अभारतीय भावोका शिकार बना रहेगा। अतः भारतीय संस्कृतिके प्रेमी भारतीयोको इस दिशामे कोई बड़ा प्रयत्न करना चाहिये। उन्हे निराश नहीं होना चाहिये। हजार प्रयत्न करनेपर भी इस देशकी अध्यात्मप्रधान प्रकृतिको बदला नहीं जा सकता; क्योंकि उसका आधारभूत कारण सूर्यकी सातवीं किरण है। अतः वह भारतको आध्यात्मिकताकी ओर खींचे विना नही रह सकती। इस समय भारतकी आध्यात्मिकताका जो विकास रुका हुआ-सा दीखता है, इसका कारण यह है कि भारतको भारतकी प्रकृतिरूप सातवीं किरण तो आध्यात्मिकताकी ओर खींचती है और भारतीयोको दी जानेवाली पाश्चात्त्य शिक्षा उन्हें पश्चिमकी ओर खींचना चाहती है। अतः भारतीय बीचमे अवरुद्ध होकर 'लटकन्तनाथ' बने हुए हैं अर्थात् संशयमें पड़े है; किंतु यह अवस्था अधिक समयतक नहीं रह सकती। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' के अनुसार भारतकी सूर्य-किरणप्रधान प्रकृति भारतीयोको रास्तेपर लाकर रहेगी। वे यदि स्वयं प्रयत्न करते हैं तो वह सुअवसर शीघ्र आ जायगा। यदि वे स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करते तो थोड़ा समय अधिक लग सकता है। जैसे बकरीको गलेमे रस्सी डालकर ले जानेवाले आदमीके साथ-साथ बकरी अपने पैर जल्दी-जल्दी उठाकर चलती है तो समय थोड़ा लगता है और बकरी पग रोप-रोपकर चलती है तो ले जानेवालेको थोड़ी कठिनाई भी होती है और समय भी अधिक खर्च होता है। इसी प्रकार भारतकी सूर्यकी सातवीं किरणरूपी प्रकृति जिस आध्यात्मिकताकी ओर खींचना चाहती है। यदि हम भी उधर ही बल लगाये तो समय थोड़ा लगेगा; और हम भौतिकतापर पग रोपकर अड़ जायँगे तो समय अधिक लगेगा। अन्तमे हम भारतीयोको जाना तो है उसी आध्यात्मिक मार्गकी ओर; क्योंकि हमारी प्रकृतिके अनुकूल, अनुरूप वही राजमार्ग है।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

होनेमें धर्मकी असमर्थताका सारा मूल कारण इसी बातमें निहित है। उदाहरणतः, मन्दिरों, गिरजों और मत-सम्प्रदायोंने दर्शन तथा विज्ञानके मार्गमें जबरदस्त रुकावट डाली, एक गिओर्डानो ब्रूनो (Giordano Bruno) को जला दिया तथा एक गेलिलियो (Galileo) को बन्दी बनाया और इस मामलेमें इन्होंने इतने सामान्य रूपमें दुर्व्यवहार किया कि दर्शन और विज्ञानको अपने उचित विकासका खुला क्षेत्र प्राप्त करनेके लिये आत्मरक्षाके भावसे धर्मपर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना पड़ा; और यह सब इसलिये कि मनुष्योंने यह निश्चित धारणा बना ली थी कि धर्म ईश्वर तथा संसारके सम्बन्धमें कुछ ऐसे स्थिर बौद्धिक विचारोंसे बँधा हुआ है, जो कसौटीपर पूरे नहीं उतर सकते। अतएव उस कसौटीको आग तथा तलवारसे दबा देना आवश्यक था। धार्मिक भ्रान्तिके जीवित बने रहनेके लिये वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यका निषेध करना आवश्यक था। हम यह भी देखते हैं कि अतिसंकीर्ण धार्मिक भावना असहिष्णु वैराग्य-वश जीवनके आनन्द एवं सौन्दर्यको कुचलकर उसे ऊसर बनाती रही है। प्यूरिटन सम्प्रदायके लोगोंने धर्मका सच्चा स्वरूप न जानते हुए जीवनके सौन्दर्य एवं आनन्दको कुचलनेकी चेष्टा की। वे नहीं देख सके कि धार्मिक तप धर्मका मुख्य अङ्ग भले ही हो; पर यह उसका सार-सर्वस्व नहीं—ईश्वरप्राप्तिका नीति-धर्ममय मार्ग एकमात्र यही नहीं; क्योंकि प्रेम, त्याग, सज्जनता, सहिष्णुता, दयालुता भी ईश्वरीय गुण हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ये अधिक दिव्य वस्तुएँ हैं और वे भूल गये या वे कभी जानते ही न थे कि पवित्रताके समान प्रेम और सौन्दर्य भी ईश्वरका स्वरूप हैं। राजनीतिमें धर्मने प्रायः ही राजसत्ताका पक्षपोषण किया है और अधिक महान् राजनीतिक आदर्शोंके आविर्भावमें बाधा डाली है। क्योंकि स्वयं इसका स्वरूप राजसत्तासे पोषित धर्म-संस्थाका ही था और यह सम्प्रदाय और धर्मके अन्तरको हृदयङ्गम नहीं कर पाता था अथवा, क्योंकि यह झूठे दैवी राज्यका प्रतिनिधि बना हुआ था, यह भूलकर कि सच्चा दैवी राज्य ईश्वरका राज्य होता है, न कि पोप तथा पुरोहित-पुजारियोंका राज्य। इसी प्रकार इसने प्रायः कठोर तथा घिसी-पिटी समाज-व्यवस्थाका समर्थन किया है; क्योंकि इसने समझा कि इसका अपना जीवन उन सामाजिक रूपोंसे बँधा हुआ है, जिनके साथ यह अपने इतिहासके दीर्घ भागमें सम्बद्ध रहा था और इसने गलतीसे यह परिणाम निकाल लिया कि समाज-व्यवस्थामें किया गया आवश्यक परिवर्तन भी धर्मका उल्लङ्घन होगा और इसके अस्तित्वके लिये संकट—मानो मनुष्यकी धार्मिक भावना-जैसी शक्तिशाली और आभ्यन्तरिक वस्तु सामाजिक रूपके परिवर्तन-सरीखी तुच्छ वस्तु या सामाजिक पुनर्व्यवस्था-जैसी बाहरी वस्तुसे मिटायी जा सकती हो! यह भ्रान्ति अपने नाना रूपोंमें अतीतके क्रियात्मक धर्मकी महान् दुर्बलता रही है और साथ ही इससे बुद्धि, सौन्दर्यभावना, सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श—यहाँतक कि मानवकी नैतिक भावनाको ऐसा अवसर और बहाना मिला है कि वे उस वस्तुके विरुद्ध विद्रोह करें, जो उनकी अपनी सर्वोच्च प्रवृत्ति और नियम-नीति होनी चाहिये थी

प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंका समन्वय

इस तथ्यमें प्राचीन तथा अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंकी विषमताका एक रहस्य निहित है और इसीमें उनके समन्वयका एक सूत्र भी। दोनों एक प्रबल न्यायसंगत आधारपर प्रतिष्ठित हैं और दोनोंके झगड़ेका कारण है मिथ्या भ्रान्ति। यह ठीक है कि धर्म जीवनमें प्रभावपूर्ण तत्त्व होना चाहिये। इसे जीवनका प्रकाश और विधि-विधान होना चाहिये; परंतु यहाँ धर्मसे हमारा मतलब धर्मके उस स्वरूपसे है जो कि उसका होना चाहिये और जो उसका अन्तरीय स्वरूप है। उसके अस्तित्वका मूल नियम है अर्थात् ईश्वरकी खोज एवं आध्यात्मिकताका सिद्धान्त। दूसरी ओर यह भी सच है कि धर्म जब अपने-आपको किसी मत, सम्प्रदाय या मठ-मन्दिरसे या रूढ विधि-विधानोंकी पद्धतिमात्रसे एकाकार कर लेता है, तब वह सहज ही बाधक शक्तिका रूप धारण कर सकता है और मानव आत्माके लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंपरसे इसका प्रभुत्व दूर करे।

परंतु यहाँ एक जटिलता आ उपस्थित होती है, जो विषमताका अधिक गम्भीर कारण प्रस्तुत करती है! क्योंकि धर्म आध्यात्मिकताको प्रायः ऐसी चीज समझता प्रतीत होता है, जो पार्थिव जीवनसे दूरस्थ, इससे भिन्न तथा इसकी विरोधी हो। यह ऐसी घोषणा करता प्रतीत होता है कि पार्थिव जीवनका अनुसरण तथा मनुष्यकी ऐहिक आशाएँ आध्यात्मिक जीवन या मनुष्यकी पारलौकिक आशासे असंगत हैं। तब तो आत्मा एक ऐसी अलग-अलग-सी वस्तु हो जाती है, जिसे मनुष्य अपने निम्नतर अङ्गोंके जीवनका बहिष्कार कर देनेपर ही प्राप्त कर सकता है और सो इस प्रकार कि या तो इस जीवनको एक विशेष अवस्थाके बाद, जब कि इसका प्रयोजन पूरा हो ले, त्याग दिया जाय, अथवा इसे निरन्तर अनुत्साहित

एवं पीड़ित करके नष्ट कर दिया जाय। यदि धर्मका सच्चा अर्थ यही हो तो यह स्पष्ट ही है कि न तो इसके पास सामाजिक प्रयत्न, आशा और अभीप्साके यथार्थ क्षेत्रमें मानव-समाजके लिये कोई निश्चित सन्देश है और न हमारी सत्ताके किसी भी निम्नतर अङ्गके लिये ही। क्योंकि हमारे जीवन-का प्रत्येक तत्त्व स्वभावतः ही अपने क्षेत्रमें अपनी पूर्णता चाहता है और यदि इसे उच्चतर शक्तिका अनुसरण करना ही हो तो वह इसलिये करेगा कि वह शक्ति इसे इसके अपने क्षेत्रमें भी महत्तर पूर्णता एवं समृद्धतर तृप्ति प्रदान करती है। परंतु यदि आध्यात्मिक प्रेरणा इसकी पूर्णता-प्राप्तिकी सम्भावनासे ही इन्कार करे और अतः इसकी पूर्णताकी अभीप्साको ही निकाल फेंके, तब या तो यह आत्मविश्वास खो बैठेगा और साथ ही अपनी सामर्थ्यों एवं प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक विस्तारके सम्पादनकी क्षमता भी, अथवा इसे अपने शील-स्वभाव तथा स्वधर्मका अनुसरण करनेके लिये आत्माकी पुकारका परित्याग करना होगा। पृथिवी और स्वर्गका, आत्मा और उसके करणोंका यह कलह हमें और भी अधिक निःसत्त्व एवं पङ्गु बना देनेवाला हो जाता है। यदि आध्यात्मिकता दुःख-कष्ट, कठोर यातना और संसारकी निःसारताके धर्मका रूप धारण कर ले, तो यह दुःखवाद अपने बढ़े-चढ़े रूपमें आत्माके ऐसे घोर विषाद और निराशाके दुःस्वप्नोंको जन्म देता है, जैसे मध्ययुगमें उसकी हीनतम अवस्थामें छाये हुए थे—जब कि संसारका सन्निकट और प्रत्याशित अन्त या अवश्यम्भावी एवं अभीष्ट प्रलय ही मानवजातिका एकमात्र आश्वासन दीख पड़ता था। परंतु जगद्विषयक यह निराशा-वादी भावना अपने कम प्रकट और कम असहिष्णु रूपोंमें भी जीवनको निरुत्साहित करनेवाले बलका काम करती है, अतएव यह जीवनका सच्चा नियम एवं पथप्रदर्शक नहीं हो सकती। समस्त दुःखवाद इतने अंशमें आत्मसत्ता तथा इसके बल-वैभव एवं ऋद्धि-सिद्धिको अङ्गीकार न करनेवाला, संसारमें ईश्वरकी कार्यप्रणालियोंको सहन न करनेवाला और जगत्‌की उत्पादक तथा सञ्चालक दिव्यप्रज्ञा एवं शक्तिमें अपूर्ण विश्वास करनेवाला है। यह उस प्रज्ञा एवं शक्तिके सम्बन्धमें एक अशुद्ध विचारको अपनाता है और इसलिये यह स्वयं आत्माकी वह परम प्रज्ञा एवं शक्ति नहीं हो सकता, जिससे संसार ऐसी आशा लगा सके कि वह इसके सम्पूर्ण जीवनको पथपर चलाकर भगवान्‌की ओर ऊँचा उठा देगी।

पश्चिमकी धर्म-विमुखता एक दूसरी अति है, लटकनकी ठीक उलटी गति है। इसके अनुसार यूरोपने धर्मके दावे और आग्रहको न्यूनातिन्यून कर मध्ययुगीन धार्मिक भावनासे हटकर पुनरुज्जीवन (Renascence) और धार्मिक सुधार (Reformation)-मेंसे गुजरते हुए आधुनिक बुद्धिवादी भावनाका विकास किया, जो भावना साधारण पार्थिव जीवन-को ही अपना एकमात्र मुख्य धंधा समझती तथा निम्नतर अङ्गोंके अध्यात्मजिज्ञासाशून्य धर्मसे अपनेको चरितार्थ करना चाहती है। यह एक भूल है; क्योंकि पूर्णता ऐसी सीमा एवं संकीर्णताके भीतर प्राप्त नहीं की जा सकती, जो मानव-जीवनके पूर्ण विधान, गभीरतम प्रेरणा तथा गुह्यतम आवेगसे इन्कार करे। उच्चतमकी ज्योति और शक्तिसे ही निम्नतरको परिचालित, उदात्त और चरितार्थ किया जा सकता है। मनुष्यका निम्नतर जीवन अपने बाह्य रूपमें अदिव्य है, यद्यपि इसके भीतर दिव्यताका रहस्य निहित है और उच्चतर विधान तथा आध्यात्मिक प्रकाश अधिगत करके ही इसे दिव्य बनाया जा सकता है। दूसरी ओर जब मनुष्य वर्तमान जीवनकी अदिव्यता तथा आध्यात्मिक जीवनसे इसकी असंगतिके कारण व्याकुल होकर इससे भागता या इसके विकासको निरुत्साहित करता है तो उसकी यह व्याकुलता एवं वैराग्य भी एक गलती है। साधु या कोरा तपस्वी इससे अपना वैयक्तिक निजी मोक्ष अवश्य प्राप्त कर सकता है—जिस प्रकार जडवादी भी अपनी शक्ति और एकाग्र गवेषणाके उचित फल अधिगत कर सकता है; परंतु वह वैरागी साधु मनुष्यजातिका सच्चा मार्गदर्शक और उसका नियमोपदेष्टा शास्त्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि इस सारे मनोभावमें जीवन और उसकी अभीप्साओंसे भय, घृणा तथा उनपर अविश्वास अन्तर्निहित है और जिस चीजसे मनुष्यको जरा भी सहानुभूति नहीं, जिसे वह न्यूनातिन्यून तथा निरुत्साहित करना चाहता है, उसका वह भला कैसे कुशलतासे सञ्चालन कर सकता है। शुद्ध वैराग्य-भावना जीवन और मानव-समाजका परिचालन करती हुई इन्हें केवल इस योग्य बना सकती है कि ये अपने-आपको ही अस्वीकृत करने तथा अपनेसे दूर भागनेके साधन बन जायँ; यह निम्नतर प्रवृत्तियोंको सहन तो कर सकती है, पर केवल ऐसी प्रेरणा देनेके लिये ही कि वे अपने-आपको यथासम्भव कम करके अन्ततोगत्वा अपनी क्रिया बंद कर दें। जो आध्यात्मिक पुरुष मानव-जीवनको इसकी पूर्णताकी ओर ले चल सकता है, उसका आदर्शरूप 'ऋषि' के प्राचीन भारतीय विचारमें निदर्शित है। जिस ऋषिने मनुष्यका-सा जीवन बिताते हुए अतिबौद्धिक, अतिमानसिक, आध्यात्मिक सत्यका दिव्य शब्द श्रवण किया होता है, वह इन शरीर-प्राण-मनकी निम्नतर सीमाओंसे ऊपर उठ चुका होता है और सभी वस्तुएँ ऊर्ध्वस्तरसे देख सकता है; पर साथ ही उसे उनके प्रयत्नके प्रति सहानुभूति होती है और वह उनके भीतर बैठकर उन्हें भीतरसे भी देख सकता है। वह पूर्ण ज्ञान एवं उच्चतर ज्ञानसे

युक्त होता है। अतः वह मानव-जगत्का उसी तरह पथ-प्रदर्शन कर सकता है, जिस तरह ईश्वर दिव्यरीतिसे इसका पथ-प्रदर्शन करते हैं; क्योंकि भगवान्के समान वह भी जगत्के जीवनमें रहता हुआ भी उससे ऊपर होता है।

धर्म और आध्यात्मिकता

अतः आध्यात्मिकताके इस अभिप्रायको हृदयङ्गमकर हमें मार्गदर्शक ज्योति और समन्वयकारी विधानकी खोज ऐसी आध्यात्मिकतामें ही करनी होगी और धर्ममें इसी हदतक, जहाँतक वह अपनेको इस आध्यात्मिकतामें तदाकार करता है। जबतक वह इससे दूर रहता है, तबतक वह अन्यान्य मानवी प्रवृत्तियों तथा शक्तियोंकी श्रेणीके ही अन्तर्गत होता है—भले ही वह उन सबसे अधिक मुख्य तथा अधिक प्रभावशाली ही क्यों न हो; और वह दूसरोंको पूरी तरह मार्ग नहीं दिखा सकता। यदि वह उन्हें सदा ही किसी सिद्धान्त, अपरिवर्तनीय धर्मशास्त्र तथा विशेष पद्धतिकी सीमाओंमें बाँधनेकी चेष्टा करता है तो इसे उन्हें इसके प्रभुत्वके विरुद्ध विद्रोह करते देखनेको तैयार रहना होगा। क्योंकि चाहे वे कुछ समयके लिये इसका प्रभाव अङ्गीकार-कर इससे महान् लाभ उठा सकती हैं, तो भी अन्तमें उन्हें अपनी सत्ताके नियम (स्वभाव) के अनुसार अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र और कर्मकी ओर बढ़ना होगा। आध्यात्मिकता मानव-आत्माकी स्वतन्त्रताका सम्मान करती है; क्योंकि उस स्वतन्त्रतासे वह स्वयं चरितार्थता लाभ करती है। अपनी निजी प्रकृतिके नियम (स्वधर्म) के अनुसार पूर्णताकी ओर विस्तार एवं विकास-लाभ करनेकी क्षमता ही स्वतन्त्रताका अत्यन्त गम्भीर आशय है। ऐसी स्वाधीनता वह हमारी सत्ताके सभी मूल अङ्गोंको प्रदान करेगी। वह दर्शन तथा विज्ञानको वह स्वाधीनता देगी; जो प्राचीन भारतीय धर्मने दी थी;—यहाँतक कि उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता भी देगी कि यदि वे चाहें तो आत्मा-से इन्कार भी कर सकते हैं;—जिस स्वाधीनताके परिणाम-स्वरूप प्राचीन भारतमें दर्शन और विज्ञानने धर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की, बल्कि वे इसकी ज्योतिकी छत्रच्छायामें विकसित होकर इसीमें परिणत हो गये। यह मनुष्यकी राजनीतिक एवं सामाजिक पूर्णताकी खोजको तथा उसकी अन्य सभी शक्तियों एवं अभीप्साओंको भी वही स्वाधीनता प्रदान करेगी। हाँ, यह उन्हें आलोकित अवश्य करना चाहेगी; ताकि वे आत्माके प्रकाश एवं विधानमें विकसित हो जायँ—दबाव या बन्धनके कारण नहीं; वरं अपनी महत्तम, उच्चतम, गभीरतम सम्भाव्य शक्तियोंके विस्तार तथा बहुमुखी उपलब्धिके द्वारा। क्योंकि ये सभी आत्माकी ही सम्भाव्य शक्तियाँ हैं।

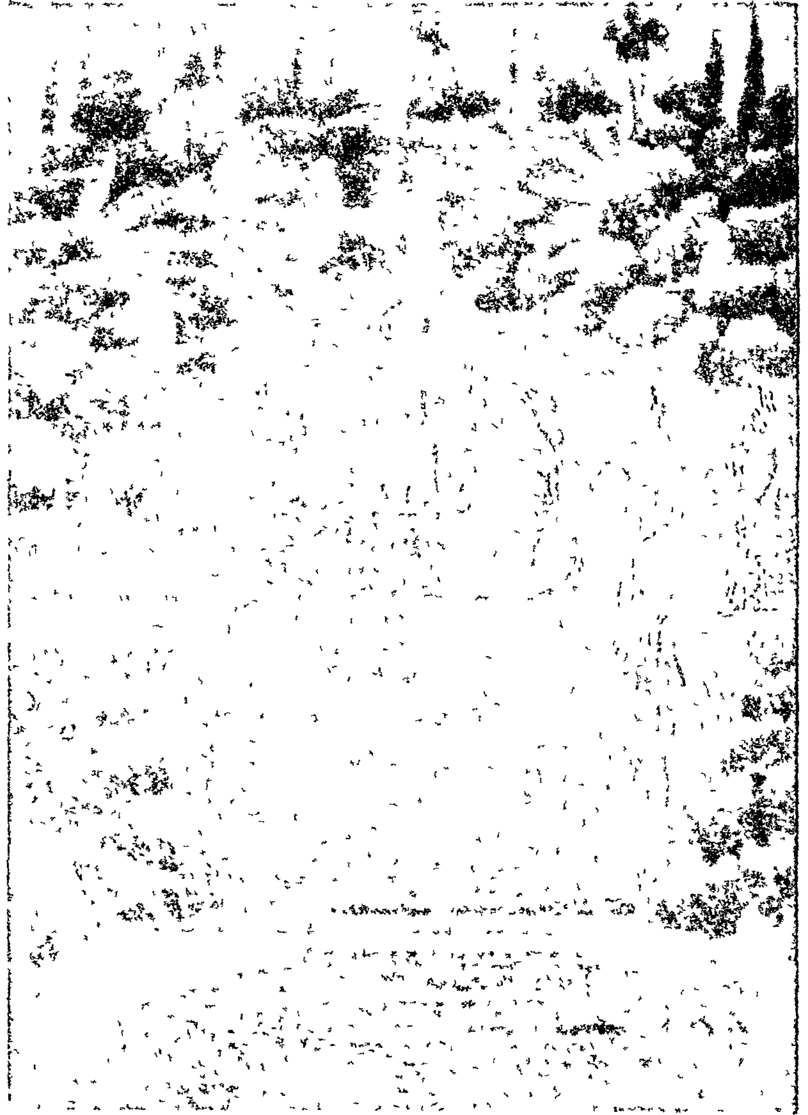
श्रद्धा

(लेखिका—श्रीअरविन्द-आश्रमकी अध्यक्षा श्रीमाताजी)

बाह्य चेतना-जन्य बोध आन्तरात्मिक बोधको अस्वीकार कर सकता है। तथापि, अन्तरात्मामें सच्चा ज्ञान एवं सहज स्फुरित ज्ञान निहित है। अन्तरात्मा कहती है, 'मैं जानती हूँ; मैं युक्तियाँ नहीं दे सकती, पर मैं जानती हूँ।' क्योंकि इसका ज्ञान मानसिक अनुभवपर आश्रित या प्रमाणोंसे सत्य सिद्ध किया हुआ नहीं होता। यह प्रमाण दिये जानेके बाद ही विश्वास करती हो ऐसी बात नहीं; अन्तरात्माका ज्ञान सहज-स्फुरित एवं प्रत्यक्ष होता है और ऐसी अन्तरात्माकी क्रियाको ही श्रद्धा कहते हैं। चाहे सारा संसार इन्कार करे और विरोधमें सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करे, तो भी उसका ज्ञान एक ऐसा अन्तर्ज्ञान एवं साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, जो उन सबका निराकरण कर सकता है। वह होता है तादात्म्यलब्ध ज्ञान। अन्तरात्माका ज्ञान एक मूर्त एवं गोचर वस्तु तथा ठोस पिण्ड होता है। तुम इसे अपने मन, अपने प्राण तथा अपने शरीरमें भी ला सकते हो और तब तुममें पूर्ण श्रद्धा उदित होगी—ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ उठा सकती है। परंतु हमारी सत्ताके किसी भागको अविश्वासीके रूपमें प्रकट होकर यों नहीं कहना चाहिये: 'यह बात ऐसी नहीं है' और न उसे प्रमाणकी माँग ही करनी चाहिये। जरा भी अधूरे विश्वाससे तुम सब मामला बिगाड़ देते हो। यदि श्रद्धा पूर्ण एवं अटल न हो तो परम देव भला कैसे प्रकट हो सकते हैं। श्रद्धा अपने-आपमें सदा अविचल होती है—यह इसका निज स्वभाव ही है; क्योंकि अन्यथा इसे श्रद्धा कह ही नहीं सकते। परंतु, सम्भव है कि मन या प्राण या शरीर अन्तरात्माकी गतिका अनुसरण न करे। यह हो सकता है कि किसी मनुष्यमें एक योगीके पास जाकर सहसा ऐसी श्रद्धा पैदा हो कि यह व्यक्ति मुझे मेरे लक्ष्यपर पहुँचा देगा। उसे मालूम नहीं कि इस व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त है या नहीं। उसे आन्तरात्मिक आवेगका अनुभव होता है और ऐसा जान पड़ता है कि उसे गुरु मिल गये हैं। वह बहुत देर मनमें सोच-विचारकर या अनेक चमत्कार देख लेनेपर ही विश्वास नहीं करता और केवल इसी कोटिकी श्रद्धा ही उपयोगी होती है। यदि तुम तर्क-वितर्क शुरू कर दो



व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण



शरत् पूर्णिमा

तो सदैव अपनी भवितव्यतासे हाथ धो बैठोगे। कुछ लोग यह सोचने बैठ जाते हैं कि आन्तरात्मिक आवेग युक्ति-सङ्गत है या नहीं।

लोगोंके पथभ्रष्ट होनेका कारण वास्तवमें तथाकथित अन्धविश्वास नहीं होता। वे प्रायः कहते हैं, 'अहो, मैंने अमुक-अमुक व्यक्तिमें विश्वास किया और उसने मुझे धोखा दिया है।' परंतु सच पूछिये तो दोष उस व्यक्तिका नहीं, बल्कि विश्वास करनेवालेका होता है। उसके अपने अंदर ही कोई कमजोरी होती है। यदि वह अपना विश्वास अटूट बनाये रखता तो वह उस व्यक्तिको बदल देता। क्योंकि वह उसी श्रद्धामय चेतनामें स्थिर नहीं रहा, अतएव उसने अपनेको प्रवञ्चित अनुभव किया और उस व्यक्तिको वह जिस रूपमें देखना चाहता था, उस रूपमें नहीं देख पाया। यदि उसमें पूर्ण श्रद्धा होती तो वह उस व्यक्तिको बदलनेके लिये बाध्य कर देता। श्रद्धासे ही सदा चमत्कारोंकी सृष्टि होती है। एक व्यक्ति किसी दूसरेके पास जाता है और वहाँ भागवत-उपस्थितिका सम्पर्क प्राप्त करता है; यदि वह इस सम्पर्कको शुद्ध और सुरक्षित रख सके तो इससे भागवत चेतना अत्यन्त जड भागतकमें प्रकट होनेको बाध्य होगी। परंतु सब कुछ तुम्हारी अपनी आदर्श-मर्यादा एवं तुम्हारी अपनी सत्यतापर निर्भर है; जितना ही अधिक तुम आन्तरात्मिक तौरपर तैयार होगे, उतना ही अधिक ठीक मार्ग तथा ठीक गुरुकी प्राप्तिकी दिशामें प्रेरित होगे। अन्तरात्मा और उसकी श्रद्धा सदा सच्ची होती है; पर यदि तुम्हारी बाह्य सत्तामें छल-कपट है और यदि तुम आध्यात्मिक जीवनके बदले वैयक्तिक सिद्धियोंकी प्राप्तिका यत्न कर रहे हो तो यह चीज तुम्हें पथभ्रष्ट कर सकती है। तुम्हें भटकानेवाली चीज यही है, न कि तुम्हारी श्रद्धा। यह संभव है कि श्रद्धा, अपने आपमें शुद्ध होनेपर भी, हमारी सत्तामें निम्न चेष्टाओंके योगसे मिलावटी बन जाय; और जब ऐसा होता है, तभी तुम गलत रास्तेपर जा पड़ते हो।



हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीमाधवराव सदाशिव गोळवलकर [पू० गुरुजी] सरसंघसंचालक, रा० स्व० संघ)

मनुष्यमात्रको परम सुखकी प्राप्ति करवा देनेका ध्येय सामने रखकर चलनेका दावा करनेवाले बहुत-से धर्म-पंथ तथा जीवन-रचनाएँ आज संसारमें विद्यमान हैं। उनके स्थूल-रूपसे दो भेद किये जा सकते हैं—(१) ईश्वरका अस्तित्व मानकर उसकी उपासनाद्वारा मनुष्यको सुख प्राप्त हो सकता है, यों कहनेवाली और (२) प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस भौतिक जगत्के अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं और इस जड जगत्में पाये जानेवाले साधनोंको सुलभतासे प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त करवा देकर उसकी स्वाभाविक आवश्यकताएँ या आकाङ्क्षाएँ पूरी करनेमें ही सब सुख है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली। शारीरिक क्षुधाओंकी पूर्तिमें सुख तथा उस पूर्तिके लिये आवश्यक वस्तुओंकी अप्राप्तिमें दुःख जीवमात्रको होता है। अतः भौतिक कामनाओंकी पूर्तिमें ही सुख है, यह बात आपाततः ठीक जँचती है। इसी बातको लेकर अनेक आधुनिक विचार-प्रणालियाँ उत्पन्न हुई हैं। मानवोंकी आर्थिक अधिष्ठानपर रचना करना, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक सुख-साधनोंको प्राप्त करे, और उस आर्थिक अधिष्ठानके अनुकूल ही मनुष्यका समाज-जीवन और राजनैतिक रचना आदिका निर्माण करना—यह बात उन विचारप्रणालियोंमें एकमात्र उद्दिष्ट है। परंतु कुछ कालके लिये होनेवाली वासनापूर्ति, जीवसाधारण-विषयप्राप्ति सुखकारक होनेपर वह आगे चलकर मनुष्यको अशान्त करती हुई दिखायी देती है। इसके दो कारण हैं। एक तो विषय-वासनाओंकी पूर्ति सर्वथा असम्भव है। उनको तुष्ट करनेकी जितनी ही चेष्टा की जाती है, उतनी ही वे बढ़ती हैं। इस प्रकार व्यक्ति या समाजके लिये वासनाओंका उत्तरोत्तर बढ़ते जाना और उसपर सदा असंतोषका बना ही रहना, यही जगत्में बार-बार होनेवाले भयङ्कर युद्धोंका प्रमुख कारण है। जगत्में अशान्ति तथा असुख बनाये रखनेमें यही प्रबल कारण है। इस प्रकार वासनापूर्ति असम्भव होनेके कारण मानव-जीवन दुखी होता हुआ दीखता है। दूसरे, मनुष्य केवल निर्बुद्ध प्राणी तो है नहीं। उसमें बुद्धि है, वह सोच सकता है और जीवसाधारण विकारोंके कारण तथा जगत्का ही प्रथम अनुभव और उससे कुछ भौतिक सुख-लाभकी सम्भावना देखनेके कारण वह उसमें कुछ काल रमण करता है परंतु आगे चलकर वह समझ जाता है कि इन आपाततः सुख देनेवाली वस्तुओंमें वास्तविक सुख देनेकी कोई शक्ति नहीं है। सुख तो अपने ही अंदर समय-समयपर उठनेवाली वासना-तरङ्गोंकी शान्तिसे होता है। यानी सुख बाह्य वस्तुमें नहीं, वासनापूर्तिमें भी नहीं; किंतु वासनाके शान्त होनेमें है।

इस विचारके उत्पन्न होते ही मनुष्य भौतिक जीवनसे मुँह मोड़कर जगत्की चित्र-विचित्र रचना करनेवाली ईश्वर नामकी कोई सर्वगुणसम्पन्न सर्वसुखमयी शक्ति होनी ही चाहिये, ऐसा अनुमान करके भौतिक जीवनको केवल दुःखमय मान लेता है और उस शक्तिकी उपासना करनेसे सुख-प्राप्ति हो सकेगी, ऐसी भावना करता है। ऐसी भावना और अनुमान ही धर्म-पंथोंके जन्ममें कारण होते हैं (यहाँ निसर्गपूजा, प्रेतपूजा आदि अत्यन्त प्राथमिक स्वरूपोंकी उपासनाओंका विचार नहीं किया है)। भौतिक सुखमें सुख है ही नहीं, जीवन केवल दुःखमय है, इस जीवनके पश्चात् उस शक्तिकी उपासनासे चिरन्तन सुख प्राप्त हो सकेगा—इस भावको लेकर केवल श्रद्धाके ऊपर आधारित ये पंथ बन जाते हैं।

परंतु मनुष्य केवल श्रद्धाके भरोसे, मृत्युके पश्चात् आनेवाले ऐसे जीवनपर निर्भर रहकर, जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता नहीं, आजके प्रत्यक्ष जीवनके सुख-दुःखादिको भूल नहीं सकता। इन उपासनाओंमें प्रत्यक्ष मानव-जीवनकी रचना और उससे निर्मित सुखका कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता। अतः जब प्रत्यक्ष जीवनको दुःखसे मुक्त करनेके प्रयत्नोंमें इस प्रकारकी केवल श्रद्धामूलक उपासनाएँ उसे अपर्याप्त दीखती हैं, तब उसे भयानक असमाधानका अनुभव होता है और श्रद्धाशून्य जड़वादकी ओर वह झुक जाता है।

परंतु मनुष्यमें बुद्धि भी है। वह स्वयं जीवके, और सामने दीखनेवाले और दिन-प्रतिदिन अनुभवमें आनेवाले सुख-दुःखमिश्रित जगत्के विषयमें सोचता है। इस सारे दृश्य प्रपञ्चके किसी मूलभूत सत्तत्त्व (Reality) की खोज करता है। उस सत्तत्त्वके विचारसे प्राप्त निर्णयोंका जीवनमें उपयोग करके देखता है; किंतु सुखका मध्यबिन्दु प्राप्त नहीं होता। यह स्वाभाविक भी है। किसी वर्तुलके मध्यबिन्दुको खोजनेके लिये उसकी परिधिके दो ही बिन्दु लेनेसे काम नहीं चलता। एक तीसरा बिन्दु भी लेना पड़ता है, तभी वर्तुलका मध्य पाया जा सकता है। अन्यथा सभी सत्तत्त्व-जिज्ञासा असफल रह जाती है।

भारतीयेतर समाजोंमें, विशेषकर आजके भौतिक दृष्टिसे प्रगत पाश्चात्त्य समाजोंमें, उपर्युक्त तीनों प्रकार पाये जाते हैं। उन सबमें मनुष्यके जीवनको समाजरूपसे सुव्यवस्थितकर ऐहिक जीवनके सुखकी ओर ध्यान देनेमें समर्थ केवल प्रथमोक्त जड़वादी विचार ही है। उर्वरित दोनोंका प्रत्यक्ष जीवनसे साक्षात् सम्बन्ध वे नहीं ला सके और इसीलिये उनके प्रति उनकी अधिकाधिक अश्रद्धा ही निर्माण होती जा रही है। प्रथम जड़वाद ही मनुष्यमात्रके अन्तःकरणपर प्रभाव रखता हुआ दिखायी देता है। वह भी सुखका वास्तविक स्वरूप न जाननेके कारण जीवनमें एक तीव्र असमाधान और अशान्ति फैलाता हुआ प्रतीत होता है।

भारतमें इस विषयपर सब पहलुओंसे विचार किया गया है। इस शरीरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतएव—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस प्रकारके पूर्णतया जड़वादी विचारसे लेकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस पूर्णतया तत्त्व-ज्ञानात्मक सिद्धान्ततक सभी विचार अपने हिंदू-समाजके पूर्व ऋषि-मुनियोंने किये हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि 'सुखकी प्राप्ति किसी परलोकमें इस जीवनके अन्तके पश्चात् होगी, अभी कुछ भी नहीं मिलेगा।' इससे किसीका समाधान हो नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'ऐहिक जीवनके सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होनेपर भी वे चिरकाल सुख देनेमें समर्थ नहीं हैं। सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। कामपूर्तिके समस्त साधन समीप होनेपर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है और ऐहिक सुख-लाभके किसी साधनके बिना ही मनुष्य चिरन्तन शान्तिका अनुभव कर सकता है।' उन्होंने यह भी देखा कि 'कामपूर्तिके साधनोंकी विपुलता कामको पूर्णकर सुख देनेके स्थानमें कामकी वृद्धि ही करके असमाधान और तज्जन्य दुःखको जन्म देती है।' तथापि इस जीवनमें भी सुख मिले और इस शरीरके अन्तके पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुखसम्पन्न हो, यही मनुष्य चाहता है। यही सोचकर हिंदू-तत्त्वज्ञोंने 'धर्म' की व्याख्या 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' इस प्रकार करके धर्मको अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख, सिद्ध करनेके लिये समाजकी धारणा करनेवाला बतलाया।

मनुष्यमात्रको सुव्यवस्थित समाजरूपसे धारणकर प्रत्येक व्यक्तिके ऐहिक सुखलाभके साथ पारमार्थिक उन्नति करनेकी दृष्टिसे हिंदुओंकी तत्त्व-विचारणा हुई। सर्वप्रथम विचार अर्थात् सुखका वास्तविक स्वरूप निर्धारित करना रहा। अनुभवसे वह आत्मनिष्ठ है यानी जीव ही सुखमय है; अतः समस्त सृष्टि सुखमय, आनन्दमय चिरन्तन सत्यका

ही व्यक्त रूप है। इस विचारको पाकर उन्होंने जीव और जगत्—इन दो विन्दुओंके साथ सत्-चित्-आनन्दमय ईश्वररूप तीसरे विंदुकी खोज की, और इन तीन विन्दुओं-को परस्पर जोड़कर इस अखण्ड-मण्डलाकार विश्वका मध्य एक अद्वितीय अनिर्वचनीय जो मध्यके नाते सबको व्याप्त करता हुआ भी उससे परे और सर्वथा स्वतन्त्र है, उस महान् तत्त्वका आविष्कार किया और उसे उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द दिया। इस ब्रह्मका साक्षात्कार ही सुख—अखण्ड सुख दे सकता है। मनुष्य यानी जीव एक ओर जगत् और दूसरी ओर ईश्वरसे सम्बन्धित होता हुआ इस ब्रह्मको कैसे साक्षात् करे और सुखी हो, यह प्रश्न उन्होंने इसके साथ सामने रक्खा और उसके मार्ग प्रस्थापित किये—कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान। इन मार्गोंको इसके साक्षात्कारके हेतु प्रकट करके उन्होंने यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया कि 'ब्रह्मका ज्ञान हुए विना अन्तिम और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो नहीं सकती।' किसी भी वस्तु-का पूर्ण ज्ञान उससे ऐकात्म्य होनेपर ही मिलता है। इस नियम-के अनुसार यह स्पष्ट है कि जीव भी ब्रह्म होकर ही उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर सुखी हो सकता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करता हुआ ब्रह्म ही जीवका भी स्वरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीव मर्यादित (सीमित) है और ब्रह्म अमर्याद (असीम)। अतः जीव यदि अपनी मर्यादाओंको नष्ट कर दे तो वह ब्रह्म ही है और सुख भी।

इसपरसे यह स्पष्ट होता है कि जीव—मनुष्य अपने व्यक्तित्वको यानी मर्यादित्वको—अल्पत्वको दूरकर जितनी विशालताका अनुभव करेगा, उतना ही उसे सुख मिलेगा। यही विचार 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इस श्रुतिवाक्यमें प्रकट किया गया है। मनुष्यका अल्पत्व इसी कारण है कि वह अपनेको एक शरीरधारीमात्र समझता है, अपने शरीरको ही सर्वस्व समझकर उसके सुखके निमित्त बाह्य साधन—परिवार, शरीर, भरण-पोषणके साधन इत्यादिमें ही मग्न रहकर 'मैं' और 'मेरा' इस भावनाकी अपने चारों ओर संकुचित मर्यादाएँ डाल लेता है। अतः विशालताका अनुभव कर सुखी होनेके लिये सर्वप्रथम इन मर्यादाओंको तोड़ना आवश्यक हैं। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़ना जीवनको स्वार्थसे हटाकर, कामनाओंकी गुलामीको दूरकर उनपर विजय प्राप्त करना—त्यागी बनना है। हिंदू-तत्त्वज्ञ इस त्यागको सर्वप्रथम और श्रेष्ठ गुण इसीलिये बतलाते हैं कि उस गुणके बिना संकुचित मर्यादाओंको तोड़कर सुखकी प्राप्ति करना असम्भव है। त्यागकी प्रखर अग्निमें स्वार्थ, कामना और ऐहिक सुख-लोलुपता-का होम करना ही सच्चा जीवन है। यही 'यज्ञ' है और यज्ञ ही नारायण—सर्वसुखमय ब्रह्मका साक्षात् स्वरूप है।

त्यागसे 'मैं' की संकुचित भावनाके भंग कर देनेपर सर्व-प्रथम जो सामने आता है, वह है अपना समाज—राष्ट्र। 'मैं' कहनेवाले जीवमें जो ब्रह्म है, वही इसमें अधिक विशाल रूपमें व्यक्त है—यह भाव उत्पन्न होता है। उपर्युक्त तीन विन्दुओंका इस दृष्टिसे व्यष्टि, समष्टि और परमेष्टि—व्यक्ति, समाज और विश्वात्मा—इन नामोंसे विचार करके व्यक्ति विशाल हो जाता है और समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर अन्तमें संपूर्ण विश्व और ब्रह्मका साक्षात् कर चिरन्तन सुख-लाभ करता है, यह समझना सुलभ है। इस विशालताका अनुभव इसी जीवनमें करना जगत्में सुखप्राप्तिका साधन है।

वैयक्तिक जीवनकी संकुचिततासे ऊपर उठकर समष्टिके साथ व्यक्तिके तादात्म्यका अनुभव होना समाजके व्यावहारिक जीवनमें वास्तविक सुख और शान्तिका निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियोंसे बना है, उन सबमें एकात्मभावसे उत्पन्न निरतिशय प्रेमके बिना यह तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः जब व्यक्ति संकुचितताको छोड़कर, वैयक्तिक वासनाओंपर विजय पाकर, त्यागी जीवनको अपनाकर इस बातको पहचान लेता है कि सारा समाज अपने-जैसे ही व्यक्तियोंका है, एक ही सत्तत्त्वसे प्रकट हुआ है, अपनेमें और अन्य व्यक्तियों-में अभेदरूपसे वह सत्तत्त्व भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करनेमें समर्थ होकर समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सकता है, और इस तादात्म्यसे विशाल होकर सुखी होता है। समाजके साथ अभेददृष्टि रखनेसे प्रेमका प्रादुर्भाव होते ही प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःखकी अनुभूति और प्रत्येक व्यक्ति-के दुःखको हटाकर उसे सुखी करनेके लिये उसकी सेवा करना तथा प्रत्येक व्यक्ति उस चिरन्तन सत्तत्त्व ईश्वरका ही रूप है—इस सद्भावसे उसकी सेवा करना स्वाभाविक होता है। इस धारणाको आत्मसात् कर समाजसेवा करनेवाले, समाजको मार्गदर्शन करनेवाले त्यागी ज्ञानी जितनी मात्रामें जिस समाजमें होंगे, वह समाज उतना ही सुखी, प्रगतिमान् तथा श्रेष्ठ होगा।

हिंदू-संस्कृतिने समाजरचनामें इस प्रकारके ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानी, समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सब व्यक्तियोंकी 'नारायण'-भावसे सेवा करनेवाले वासनाजयी,

त्यागी व्यक्तियोंकी आवश्यकता समझी । प्रयत्नपूर्वक सब व्यक्तियोंका इस प्रकार बनना उसने वाञ्छनीय समझा और यह अवस्था महान् परिश्रमपूर्वक सत्संस्कार-निर्माणके प्रयत्नोंसे ही प्राप्त हो सकती है । इस भावको प्रकट करनेके लिये जिस कालखण्डमें समाजकी ऐसी अवस्था होगी, उसे 'कृत' युग कहा । सम्पूर्ण समाज ही इस श्रेष्ठ चारित्र्यसे पूर्ण होनेके कारण समाजकी सुव्यवस्थित धारणाकर प्रत्येक व्यक्तिको अभ्युदय तथा निःश्रेयससिद्ध करवा देनेवाला धर्म पूर्णरूपसे वर्तमान रहता है और सब व्यक्तियोंमें परस्पर स्वार्थशून्य स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखता है । अतः व्यक्तियोंमें अनाचारका नियमन कर समाजको स्वास्थ्य देनेवाली राजसत्ता, दण्डनियम आदि इस अवस्थामें अनावश्यक होते हैं । यही बात—

न राज्यं न च राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

—इस श्लोकमें निःसन्दिग्ध रूपसे कही गयी है । आज भी लोग Anarchism—withering away of the State आदिका स्वप्न देख रहे हैं; किंतु उनके द्वारा इसके अधिष्ठानका—धर्मका विचार नहीं किया गया होनेके कारण वह अवस्था कैसी होगी और किस प्रकार व्यक्ति समाजरूपमें रहेंगे—इसका उन लोगोंसे समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं मिलता । उस अवस्थाका यथार्थ वर्णन और उसकी प्राप्तिका साधन केवल हिंदू-संस्कृतिने ही पूर्ण समाधानकारक रीतिसे बतलाया है ।

परंतु जबतक यह वाञ्छनीय अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक समाजधारणा कैसे हो ? तबतक तो राजसत्ताके बिना काम नहीं चलेगा । यह बात हिंदू-संस्कृतिने मान ली । राजसत्ताकी आवश्यकता होनेके बाद उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनियन्त्रित सत्ता समाजको स्वातन्त्र्य-सुख देनेके स्थानपर दासता और दुःख ही देगी । अतः उन्होंने सत्ताके ऊपर उपरिनिर्दिष्ट श्रेष्ठ पुरुषोंका नियन्त्रण डाला । राजसत्ताके द्वारा हो सकनेवाले अन्यायको अन्याय ही कहते हुए उसे बदल देनेका भी अधिकार उन्हें दिया; परंतु स्वयं स्वार्थनिरपेक्ष रहकर राजसत्ताके उपभोगसे उन्हें सर्वथा दूर रक्खा । धर्म और न्यायदाता तथा राजसत्ताको विभक्त रखकर अनिर्बन्ध हो सकनेवाली और इसी कारण अत्याचारी एवं दुःखदायक हो सकनेवाली सत्ताको नियन्त्रित रखनेका सुप्रबन्ध किया ।

इस विभक्तीकरणके अनुसार राजसत्ता और द्रव्योत्पादन—इन दोनों बातोंको भी विलग रखनेकी दक्षता हिंदू-संस्कृतिमें दीख पड़ती है । धन एक शक्ति है । राजसत्ता भी शक्ति है । दोनोंके द्वारा मद उत्पन्न होकर अन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है । राजसत्ता और द्रव्योत्पादनके साधनोंपर अधिकार—दोनों एकत्रित होनेपर कितनी उन्मत्तता उत्पन्न हो सकती है—यह कोई भी समझ सकता है । एक ही व्यक्तिमें या व्यक्तिसमूहमें दोनों शक्तियोंके केन्द्रित हो जानेसे शेष समस्त समाजका सर्वथा दीन—गुलाम-सा होकर पतित होना या अत्याचारके नीचे पिसे जानेके कारण चिढ़कर विद्रोही बन जाना और इस प्रकार समाजकी शान्ति तथा सुखका नाश हो जाना स्वाभाविक ही है । इस विकृतावस्थासे समाजको बचाकर चिरशान्ति देनेके हेतु राजसत्ताको धनहीन और धनयुक्त व्यक्तिको सत्ताहीन रखकर दोनोंको परस्परावलम्बी, अन्योन्याश्रित करके दोनोंके ऊपर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष व्यक्तियोंका न्यायपूर्ण नियन्त्रण प्रस्थापित कर सत्ताधारी या धनवान्—कोई भी वर्गोंके समाजसे अन्यायपूर्ण व्यवहारकर उसे दुखी न कर सके; अपनी समाजरचनामें हिंदू-संस्कृतिने इसके लिये सुव्यवस्था करनेकी चेष्टा की । इस प्रकार समाजमें परस्परावलम्बित्व, परस्परसहकार्य तथा परस्पर सद्भावपूर्ण स्नेह ही समाजको सुव्यवस्थित रखकर सब व्यक्तियोंको सुखका जीवन प्राप्त करा सकता है—हिंदू-संस्कृति इस सिद्धान्तको अपने सामने रखकर ही समाज-रचनाका प्रयास करती है ।

व्यावहारिक जीवनमें समाजकी यह व्यवस्था करते हुए सब व्यक्तियोंको यही भावना धारण करनी चाहिये कि यह समाज अमूर्त परमात्माका ही व्यक्त रूप है । परमात्मा इस जगत्का स्वामी है—इसी दृष्टिसे यह समाजरूपी, राष्ट्ररूपी परमात्मा भी इस राष्ट्रकी सारी सम्पत्तिका स्वामी है । इस राष्ट्रका ज्ञान, सत्ता, धन, कला—सब उसीका है । व्यक्ति तो उसके पास जो शरीर, शक्ति, गुण और सम्पत्ति आदि है, उनके द्वारा स्वार्थनिरपेक्ष होकर इस परमात्माकी सेवा करनेका अधिकारी है । राजसत्ताधीश राज्यका उपभोगशून्य अधिपति, धन प्राप्त करनेवाला धनका उपभोगशून्य रक्षक एवं संवर्धक—इस प्रकार स्वार्थरहित होकर प्रत्येकके लिये अपने-अपने स्थानसे, गुणादिकोंके द्वारा इस समाजस्वरूपकी एकात्मता, परमात्माकी सेवा करना ही परमश्रेष्ठ कर्तव्य है । व्यक्तिके लिये विशाल होकर सुखमय परमात्मस्वरूप बननेके लिये इस व्यक्त परमात्माकी एकात्मभावसे, त्यागसे, निःस्वार्थतासे, शरीर-मन-वाणीसे—तन-मन-धनका अर्पण करके सेवा करना ही परम कर्तव्य है । इस कर्तव्यको सर्वभावसे निभानेसे ही जीवनमें सफलता प्राप्त होती है, सुख मिलता है ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

हिंदू-संस्कृतिद्वारा निर्धारित समाज-रचनाके स्वरूपका अंशमात्र विचार यहाँ किया गया है । यह विषय इतना विशाल है कि इस छोटे-से प्रबन्धमे उसके सब पहलुओंका उल्लेख भी करना असम्भव है । अतः हिंदू-संस्कृतिके श्रेष्ठ पुरुषोंने ऐहिक सुखको भी दृष्टिमें रखते हुए किस प्रकारसे धर्मकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया एवं उसके आधारपर समाजकी सर्वाङ्गपूर्ण रचना करनेके उनके प्रयत्न प्रत्येक व्यक्तिको ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करवा देकर उसके जीवनका भौतिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठानेके हेतु कैसे रहे, इस ओर अङ्गुलिनिर्देशमात्र करनेके लिये ही यह लिखा गया है । आजकी अनेक समस्याएँ तथा अनेक विचारप्रवाहोंका भी अपनी सांस्कृतिक दृष्टिसे कुछ विचार स्वभावतः ही इसमे हुआ है । यदि कोई विद्वान् हिंदू-संस्कृतिका साङ्गोपाङ्ग अभ्यास कर उसकी सुखमयी विचारधारा तथा व्यवहारको प्रकट करे तथा आजकी अवस्थामें जगत्‌को भिन्न-भिन्न विचारोंसे 'यही विश्वशान्ति प्रदान करनेमे समर्थ है'— यह बात सबको सुगमतासे समझा दे तो उत्तम होगा और आज अपनी ही संस्कृतिको भूलनेवाले हिंदू-समाजका योग्य मार्ग-दर्शन होगा । मैं तो इस लेखमे कुछ अंशमे ही विचार कर सका हूँ । मेरे विचारकी जिस दिशाका निर्देश इसमें है, वह यदि किसीके लिये उपयुक्त हुआ और उससे अपनी सर्वश्रेष्ठ संस्कृतिके अध्ययन, मनन तथा आचरणकी प्रेरणा हुई तो मैं इस त्रुटियुक्त प्रयत्नको सफल ही मानूँगा ।

अन्तमे हिंदू-संस्कृतिके विश्वशान्ति-महामन्त्र—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

—का स्मरण कर इस अल्प लेखको अपने हिंदुराष्ट्ररूपी परमात्माके चरणोमे समर्पित करता हूँ ।

क्या हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है ?

(लेखक—पू० महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी महाराज)

आजके भारतके अधिकांश नागरिक और संसारके प्रमुख व्यक्ति, जो हिंदुत्वसे अनभिज्ञ हैं, प्रायः हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता और हिंदूका अर्थ साम्प्रदायिक समझते है । यह आजका एक प्रचलित नारा हो गया है और यह भी दावेके साथ कहा जा सकता है कि इसके सदृश भ्रमपूर्ण और अनर्गल नारा दूसरा हो भी नही सकता । यदि आजके अनभिज्ञ भारतीय और विशेषतः हिंदू यह समझ सकें कि हिंदुत्व और साम्प्रदायिकतामे उतना ही अन्तर है, जितना आकाश और पातालमे, तो इसमे सन्देह नहीं कि वे अपनी मानसिक दासताकी एक श्रृङ्खला और सबसे मजबूत श्रृङ्खलाको अवश्य तोड़नेमे समर्थ हो जायँगे । इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व कि वास्तवमे हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है या नही, यह उचित होगा कि हम इन दोनों महत्त्वपूर्ण शब्दों—'हिंदुत्व' और 'साम्प्रदायिकता' पर अलग-अलग विचार करें ।

हिंदूकी परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है; पर सबसे विशद, प्रामाणिक और सरल परिभाषा अखिल-भारतवर्षीय हिंदू-महासभाकी ओरसे निम्नलिखित प्रकारसे हुई है—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका ।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिंदुरिति स्मृतः ॥

अर्थात् जो इस सिन्धु नदसे लेकर सागर (कन्याकुमारी)-पर्यन्त विस्तृत इस भारत-भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है, उसे ही हिंदू कहा जा सकता है (वह हिंदू है) ।

कितनी असाम्प्रदायिक परिभाषा है यह ! साम्प्रदायिकताकी तो इसमे बूतक नही है । यह किसी भी सम्प्रदायविशेष या धर्मविशेषकी ओर इंगित करती प्रतीत नही होती; न तो इसके अनुसार केवल शिवलिङ्गकी पूजा करनेवाला हिंदू है और न गायत्रीमन्त्र जपनेवाला ही । पर हिंदू वह है, जो इस समग्र भारतभूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है । कितनी राष्ट्रियता है इसमें; और है कितनी देशभक्ति ! जो मनुष्य इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानेगा, वह कभी इसको धोखा नहीं दे सकता । हिंदू हिंदुस्थानके लिये जी सकता है, मर सकता है और कर सकता है अपना सर्वस्व-समर्पण ! पर एक हिंदूके लिये इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि मानना ही पर्याप्त नहीं है, उसको इसे अपनी पुण्य-भूमि भी मानना ही पड़ेगा और तभी वह हिंदू कहला सकता है ।

पुण्य-भूमिका अर्थ—उसके तीर्थ और महापुरुष इस भारत-भूमिमे ही उत्पन्न हुए हो । उसके हृदयमे भाव हो—

'फिर जन्में हम इसी भूमिमें; यही भाव उर धरे मरें' न कि 'मेरे मौला ! मदीने बुला ले मुझे'। एक हिंदूके तीर्थ काशी और मथुरा होंगे, न कि मक्का और फिलस्तीन। हिंदू वास्तवमें शुद्ध राष्ट्रिय होगा। पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि माननेके पश्चात् फिर वह अपने देशके साथ किसी भी प्रकारका विश्वासघात नहीं कर सकता। एक मुसल्मान या अंग्रेज यह मानता है कि भारत-भूमि उसकी पितृ-भूमि है, पर वह हिंदू तबतक नहीं कहला सकता, जबतक वह उसे पुण्य-भूमि भी न माने अर्थात् वहाँके तीर्थोंको अपना तीर्थ न माने, वहाँके महापुरुषोंको अपना महापुरुष न माने। उसे फिलस्तीन और मक्काकी याद छोड़नी ही पड़ेगी और शुद्ध भारतीय बनना ही पड़ेगा। अतएव केवल पितृ-भूमि मानकर ही कोई राष्ट्रिय नहीं हो सकता, पुण्य-भूमि भी उसके लिये स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रत्येक मस्तिष्कमे दो प्रकारकी मनोवृत्तियाँ सुरक्षित रहती हैं—एक, जो पुण्य-भूमिकी ओर मनुष्यको आकर्षित करती है और दूसरी, जो पितृ-भूमिकी ओर। अब कल्पना कीजिये कि मक्कासे और भारतसे युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। जिनकी पुण्य-भूमिकी ओर आकर्षित करनेवाली मनोवृत्ति अधिक बलवती रही, वे निश्चय ही मक्काका पक्ष ले लेंगे। पर एक मनुष्य जो भारतका शुद्ध राष्ट्रिय व्यक्ति सिद्ध होना चाहता है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इसे अपनी पितृ-भूमि भी माने और पुण्य-भूमि भी। और चूँकि भारतका एकमात्र राष्ट्रिय हिंदू है, अतः उसके लिये भी इन दो बातोंका होना आवश्यक है। यह तो हुई हिंदूकी परिभाषा। अब लीजिये सम्प्रदायकी परिभाषाको। और इस परिभाषाकी कसौटीपर हिंदूको कसकर देखना है कि क्या वह वास्तवमें साम्प्रदायिक है।

एक शब्दमें, चिरकालसे चली आनेवाली अविच्छिन्न परम्पराको सम्प्रदाय कहते हैं। अर्थात् सनातनधर्म एक सम्प्रदाय हो सकता है या बौद्धधर्मको हम एक सम्प्रदाय कह सकते हैं। क्योंकि चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है। बौद्धधर्म या सनातनधर्म जिस प्रकार आज माना जाता है अर्थात् इनके पालन करनेके जो नियम आज हैं, आजके सहस्रों वर्ष पूर्व जब इन सम्प्रदायोंका प्रारम्भ हुआ था, तब भी इनके पालन करनेके नियम वे ही थे। दूसरे शब्दोंमें चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है। परंतु हिंदू चिरकालसे चले आनेपर भी एक ही परम्परा, एक ही रुढ़ि, एक ही नियममें आबद्ध नहीं। वेदविरोधी चार्वाक भी हिंदू थे, भगवान् व्यास भी हिंदू थे, जिन्होंने वेदकी सत्ताको सर्वोपरि माना। शाक्त भी हिंदू हैं, जो हिंसामें दोष नहीं मानते एवं बौद्ध और जैन भी हिंदू हैं, जो 'अहिंसा परमो धर्मः' के उपासक हैं।

ये सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं, पर एक व्यापक रूपमें ये सभी केवल हिंदू हैं। एकत्रित होनेपर इनकी सत्ता एक राष्ट्रियताको जन्म देती है—जिसे हिंदुत्व कहते हैं। न तो ब्राह्मण अधिक हिंदू है और न शूद्र कम, दोनों हिंदू हैं; और उपर्युक्त सम्प्रदायकी परिभाषापर 'हिंदू' शब्दको कसनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो हिंदू साम्प्रदायिक है और न हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता है। हिंदुत्व एक सागर है, जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायरूपी नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं और विलीन होनेपर वे सागरमय हो जाती हैं। वे विभिन्न तरंगोंके रूपमें लहराती हुई एकमात्र समुद्रकी ही शोभा बढ़ाती और उसकी महत्ताकी घोषणा करती हैं। ये सब मिलकर सागरका ही प्रतिनिधित्व करने लगती हैं। अतएव हिंदू एक महान् राष्ट्रका नाम है, न कि किसी फिरकेका।

तब हिंदुत्व है क्या ? हिंदुत्व एक आदर्श भारतीय-राष्ट्रिय समाजवाद (An ideal Indian national Socialism) है, जिसने समस्त भारतीय समाजको एक सूत्रमें आबद्ध कर लिया है। बौद्धधर्मके नामपर केवल बौद्ध धर्मानुयायी आगे बढ़ेंगे, सनातनधर्मके नामपर केवल सनातनी आगे आयेंगे। पर हिंदुत्वके नामपर सब एक साथ आयँगे और सम्मिलित रूपसे आयँगेः और उनमें सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, बौद्ध, जैनी—सभी रहेंगे।

अतएव हिंदुत्व साम्प्रदायिकता नहीं राष्ट्रियता है—ऐसी राष्ट्रियता, जिसका भारतके अतिरिक्त कोई अस्तित्व ही नहीं। स्मरण रखिये—कितने सम्प्रदाय नष्ट हो चुके हैं, नष्ट होंगे और हो रहे हैं; पर हिंदुत्व इन सबके ऊपर है और अमर है। वह न कभी नष्ट हुआ है, न होनेवाला है और न हो ही रहा है। यदि किसी दिन भारतकी इस राष्ट्रियता (हिंदुत्व) के समाप्त होनेकी बात सोची जा सकती है तो उसीके साथ यह भी सोच लेना चाहिये कि उस दिन भारत ही समाप्त हो जायगा।

हिन्दू कौन ?

[illegible]

[illegible]

[illegible]

हिन्दू-संस्कृति ही विश्व-संस्कृति है

[illegible]

हिन्दू-संस्कृति भारतीय संस्कृति है और भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण मानवकी संस्कृति है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

मेरा ख्याल है कि किन्हींके द्वारा स्वार्थवश मिलाया हुआ है; तथापि इस पुण्यमय साहित्याकाशमें गीता निरभ्र शारदीय आकाशके पूर्ण-चन्द्रके समान प्रकाशमान है। गीता इष्टपद-की सिद्धिके लिये ध्यान-धारणा, पूजा-अर्चा अथवा कैवल्यमें लीन होनेकी शिक्षा नहीं देती; प्रत्युत सतत कर्म और समाज-कल्याणार्थ सत्प्रयत्न करनेको ही सर्वोत्तम मार्ग बतलाती है। यह शिक्षा मन, वचन, कर्ममें अहिंसापर ही प्रतिष्ठित है। गीता दलगत निष्ठा नहीं सिखाती, न एक दलको दूसरे दलके विरुद्ध या अल्पसंख्यकोंको बहुसंख्यकोंके विरुद्ध उभाड़ती है। इसकी शिक्षा प्रत्येक व्यक्तिको उसीकी नैतिक उन्नतिके लिये है। इस शिक्षाकी खूबी यह है कि इसमें समाजका कल्याण और व्यक्तिका कल्याण दोनों अविभाज्य-रूपसे एक हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि समाजका कल्याण स्वयं ही व्यक्तिके नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान-का साधन बन जाता है। मैं समझता हूँ, इस विषयमें गीता-की शिक्षा बिल्कुल बेजोड़ है। अन्य धर्मोपदेशकोंने दीन-दुखियों, पतितों और बीमारोंकी सेवा करनेको बहुत आग्रह-पूर्वक कहा है और इसे आत्मिक उद्धारका साधन बताया है। गीताने समाजके कल्याणके लिये समाजकी सेवाको उच्चतम स्तरपर रक्खा है। अर्थोत्पादनके लिये प्रयत्न करनेका आदेश गीता देती है। संसारसे विरक्त होकर ध्यान-धारणामें जीवन बितानेको गीता अच्छा नहीं बतलाती। उसने अखिल मानव-समाजके कर्म, योग्यता और सहज प्रवृत्तिके भेदसे चार बड़े विभाग माने हैं। कुछ लोगोंमें विद्याकी विशेष अभिरुचि होती है, उनके द्वारा अध्यापन और नवीन पीढ़ीको तैयार करनेका काम अच्छी तरहसे हो सकता है। कुछ लोग अपने शारीरिक बल और क्षात्रतेजके कारण पर-चक्रनिवारण और देशमें शान्ति-स्थापन करनेका काम अच्छा कर सकते हैं। कुछ अपनी सहज रुचि और बुद्धिसे राष्ट्रके साम्पत्तिक उत्पादनके काममें विशेष योग दे सकते हैं। अन्तमें वह वर्ग है, जिसे श्रमजीवी या मजदूरवर्ग कहते हैं। समाजकी उन्नतिके साधनमें ये चारों वर्ग जुटकर एक ही अविभक्त समाज बन जाते है। गीताकी यह शिक्षा है कि संसारसे विरक्त होकर अलग हो जानेका कुछ भी फल न होगा। सबका दुःख-मोचन करने और जीवनका मान ऊँचा करनेके लिये अर्थोत्पादन आवश्यक है। आध्यात्मिक और भौतिक भावनाओंका ऐसा पूर्ण सामञ्जस्य अन्य किसी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थमें न मिलेगा। गीताके प्रतिपादनका सार है वर्गहीन समाज। वर्गहीन समाजमें किसी मनुष्यकी प्रतिष्ठा उसके कर्मकी अच्छाईसे की जाती है। कर्मकी अच्छाई भी उसके अपने वैयक्तिक लाभसे नहीं, बल्कि समस्त समाजको उससे क्या लाभ हुआ—इस दृष्टिसे नापी जाती है। यह सब होना चाहिये अत्यन्त नम्रता और शुचिताके साथ—नम्रता और शुचिता ही इसका आधार है। 'अपने पड़ोसीको वैसे ही प्यार करो, जैसे अपने आपको करते हो।' दया, क्षमा, सहानुभूति इस प्राचीन मन्त्रके मुख्य स्वर हैं।

और विशेष बात यह कि यह शिक्षा किसी सम्प्रदायके साथ बँधी नहीं है। आप चाहे ईश्वरको मानें या न मानें। आप चाहे सगुण-साकार ईश्वरको मानें या अचिन्त्य, निर्गुण-निराकारको। असल चीज यह है कि 'कर्म ही भर करनेका तुम्हारा अधिकार है;' फल जो कुछ हो, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, मुझे अर्पण करो। श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धा-भक्ति न हो तो उनके स्थानमें आप समाजको रक्खें। इससे भी पहुँचेंगे उसी जगह। कारण, श्रद्धावान्‌की दृष्टिमें समाज स्वयं श्री-कृष्णकी ही सबसे महान् विभूति है। आप चाहे जिस दृष्टिसे देखें, फल वही होगा।

कोई-कोई यह कहते हैं कि पूँजीपतियोंकी सत्ता उठा दी जायगी और उद्योग-धंधे राष्ट्रकी सम्पत्ति बना लिये जायँगे तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारी वर्गका सारा कौशल और सञ्चित अनुभव हमलोग खो बैठेंगे, कोई रास्ता दिखानेवाला या जानकारीके साथ मदद करनेवाला न रहेगा, समाज बड़े सङ्कटमें पड़ जायगा। मैं समझता हूँ, ऐसा न होगा। पर यदि ऐसा हुआ तो यह बहुत शोचनीय और भयानक बात होगी। मेरे विचारमें पूँजीपतियों और उद्योग-पतियोंकी असहयोगकी इस धमकीसे बढ़कर पूँजीपति-सत्ताका नाश करनेवाली और कोई चीज नहीं हो सकती। समाजके उन्नति-साधनमें यह काम अत्यन्त मूर्खतापूर्ण, नीति-विरुद्ध और देशहितविरोधी होगा। गीताके प्रकाशमें देखें तो यह काम सदाचार और धर्मके अत्यन्त विरुद्ध है। किसी व्यक्ति-को जो बौद्धिक आदि गुण प्राप्त होते हैं, वे केवल अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं, बल्कि समाजकी सेवाके लिये होते हैं। यदि भगवत्सत्तापर उसका विश्वास है तो उसका यह परम धर्म है कि वह अपने तन-मनके सब गुणों और शक्तियों-का उपयोग अपने भगवान्‌की सेवामें करे। जन-सेवा ही जनार्दनकी सेवा है। अतः उपस्थित प्रसङ्गमें सहयोगसे हाथ खींच लेना एक महान् नैतिक विधानका उल्लङ्घन करना है। जो लोग किसी प्रकारकी भगवत्सत्ता मानते हैं, उनके लिये

यह भगवदाज्ञाका ही उल्लङ्घन है। ऐसी अनीति सर्वथा त्याज्य है।

यह जो कुछ लिखा, कोई धर्मोपदेश या किसी धर्ममत-का प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा है। जो उद्देश्य इस समय हमलोगोंके सामने है अर्थात् एक ऐसी राष्ट्रिय अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना, जिसमें सब मनुष्य सर्वथा समान हों और कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिका शोषण न कर सके—उसीका यह अत्यन्त व्यावहारिक, साधनेतरोंसे अधिक अच्छा, अधिक सुविधाजनक और अधिक शीघ्र फलदायी उपाय है। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों और आचार्योंके सामने यह उद्देश्य सतत विद्यमान था और उन्हींकी शिक्षा भगवद्गीताकी विलक्षण शब्द-रचना-के अंदर संक्षिप्तरूपसे सदाके लिये भर दी गयी है। गीता केवल हिंदुओंका ग्रन्थ नहीं है। कारण, हिंदू-धर्म व्यतिरेकी धर्म नहीं है। अभीके कुछ रस्म-रिवाज हिंदू-धर्मके अङ्ग नहीं हैं। हिंदू-धर्मकी अत्युच्च भावनामें अखिल मानव-जाति समा जाती है। अतः गीतामें फलासक्तिरहित कर्म करनेका जो उपदेश है, उसे सभी स्त्री-पुरुष अपना सकते हैं—चाहे वे कहीं रहते हों, किसी धर्म-सम्प्रदायके माननेवाले हों। यह चीज ही ऐसी है कि इसका सार्वत्रिक उपयोग किया जा सकता है। यही हमारी भारतीय संस्कृति है। मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि कम्यूनिस्टवादका यही पूर्ण उत्तर है; क्योंकि यह उससे हर बातमें श्रेष्ठ है। कम्यूनिस्टवादमें जो द्वेष और हिंसा और वर्ग-वर्गके बीच सतत सङ्घर्षका विलक्षण आग्रह है, वह उसमेंसे निकल जाय तो गीताका ही गीत एक दूसरे रूपमें उसमें सुनायी देगा।

हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता

(लेखक—बिहारप्रान्तके गवर्नर माननीय श्रीयुत माधव श्रीहरि अणे महोदय)

हिंदू-संस्कृतिके अनुरागी सभी भारतवासी 'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' का हृदयसे स्वागत करेंगे। हिंदू-संस्कृतिका मूल वेदोंमें ही नहीं है अपितु वेदोंसे भी प्राचीन संस्कृतिमें निहित है, और इसलिये यह संस्कृति वर्तमान प्राचीनतम संस्कृतियोंमेंसे एक है। हजारों वर्षोंसे जो इसकी धारा अविच्छिन्नरूपसे चली आयी है, यही इसके सफल तथा मानव-जातिके लिये उपयोगी होनेका प्रमाण है। जनताके लिये यह आवश्यक है कि वह इसके मूल-सिद्धान्तोंको समझे। इन सिद्धान्तोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेपर इस संस्कृतिका अनुगमन करनेवाले नर-नारी, चाहे जिस परिस्थितिमें रहें, उसके अनुकूल अपनेको बना सकते हैं। कालके प्रभावसे किसी भी मानव-समाजकी भौतिक अवस्थामें परिवर्तन हो सकता है; परंतु जो राष्ट्र सुसंगठित एवं बलवान् है, संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य होता है उसके मानसिक गठनको अविकलरूपमें बनाये रखना। कालकृत विपरीत परिणामोंसे बचनेके लिये वह स्वयं ही स्वतन्त्र साधनाकी सृष्टि कर लेती है। अतः मेरी धारणामें अपनेको हिंदू-संस्कृतिका अनुयायी कहनेवाले प्रत्येक भारतवासीको यह जानना चाहिये कि इस संस्कृतिके आधारभूत एवं मुख्य सिद्धान्त क्या हैं। उसके लिये यह उचित है कि वह मुख्य एवं गौणके भेदको भलीभाँति समझे और तब वह अपने देशकी उन्नतिमें तथा मानव-जातिको उच्चतर ध्येयकी ओर अग्रसर करनेमें समुचित भाग ले सकेगा। मैं इस अङ्ककी महती सफलता चाहता हूँ।

सन्देश

(माननीय डा० श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी महोदय, उद्योगमन्त्री, केन्द्रिय-सरकार)

लगभग पचीस वर्षोंसे 'कल्याण' भारतीय संस्कृतिके संदेशको जनतामें पहुँचानेका कार्य कर रहा है और हमारे धर्म, राजनीति, समाज-संगठन, दर्शन, कला एवं साहित्यके तत्त्वोंको समझानेका एक महत्त्व-पूर्ण साधन बना हुआ है। अतः मुझे यह जानकर विशेष हर्ष हुआ कि वह अपनी आयुके चौबीसवें वर्षमें प्रवेश करनेके उपलक्षमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के नामसे एक विशेषाङ्क निकालने जा रहा है। इसमें दार्शनिक तथा सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओंसे सम्बन्धित विविध विषयोंपर लेख रहेंगे, जो अपने-अपने क्षेत्रके नामाङ्कित विद्वानोंकी लेखनीसे प्रसूत होनेके कारण उच्च कोटिके होंगे। प्रस्तुत विशेषाङ्क सभी लोगोंके लिये विशेष आदरकी वस्तु होगा।

वह दैन्य नहीं है, कोई महाकवि आज भक्तिकाल-जैसी रचना करके लोकप्रिय नहीं बन सकता। आज ऐसे भगवान्‌की खोज है, जो निर्बलोंका नहीं, वरं सबलोंका बल हो। लोकानुभूतिका प्रभाव योगियोतकपर पड़े बिना नहीं रहता; एक ओर नानक-कबीर तथा दूसरी ओर गोरक्षकी वाणियोंको मिला लीजिये। जो याचनाभाव नानक-कबीरमें है, गोरक्ष उससे अपरिचित थे।

लोकानुभूतिका दार्शनिक विचारोंके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अच्छा-से-अच्छा, गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक विचार हो; परंतु जनता उसे व्यापकरूपसे विशेष अवस्थाओंमें ही अङ्गीकार करती है। व्यक्तिवाद, समाजवाद, अध्यात्मवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, प्रधानवाद, शून्यवाद—बुद्धि-विलासके लिये सभी वाद अच्छे हो सकते हैं; परंतु कोई ऐसी परिस्थिति होती है, जिसमें किसी समाजविशेषको कोई वाद-विशेष रुचिकर प्रतीत होता है। कालान्तरमें वह विचारधारा उस स्थानको खो बैठती है। वादोंके संघर्षका इतिहास बड़ा रोचक है। उसमें मनुष्यके सांस्कृतिक विकासका इतिहास निहित है।

संस्कृति उस दृष्टिकोणको कहते हैं, जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवनकी समस्याओंपर दृष्टिनिक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातोंपर निर्भर रहता है। थोड़ेमें यह कह सकते हैं कि समुदायकी वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियोंके संस्कारोंके अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है। जो आजकी अनुभूति है, वह कल संस्कारके रूपमें अवशिष्ट रह जायगी और कलकी अनुभूति सम्भवतः दूसरे ढंगकी होगी। इसलिये दृष्टिकोण भी बदल जायगा। दूसरे शब्दोंमें यह समझ लेना चाहिये कि लकड़ी-पत्थरकी भाँति संस्कृति निश्चल, एकरस पदार्थ नहीं होती। वह बदलती रहती है। जब हम किसी देश या राष्ट्रकी संस्कृतिकी चर्चा करें तो उस कालविशेषका भी उल्लेख कर देना चाहिये, जो हमारे ध्यानमें है। अन्यथा हमारा कथन निरर्थक होगा। यूरोप तो वही है, परंतु आजसे ६०० वर्ष पहलेकी संस्कृति और आजकी संस्कृति एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। १९१७ के पूर्व और उसके बादके रूसकी सांस्कृतिक अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर है। ऐसी दशामें यूरोपियन या रूसी संस्कृति कहनेसे किसी निश्चित भावका बोध नहीं हो सकता। ऐसे प्रयोग सुननेमें सरल लगते हैं, परंतु भ्रामक होते हैं।

परंतु इस कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति जल्दीसे बदली जा सकती है। जो बातें संस्कृतिको सँवारती हैं, उनमें इतना स्थायित्व होता है कि संस्कृति भी बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। देशका जल-वायु बदलता ही नहीं, न उसके भौगोलिक या दूसरे प्राकृतिक दृग्विषयोंमें परिवर्तन होता है। देशके राजनीतिक इतिहास और आर्थिक संघटनके बनानेमें बहुत कुछ हाथ उसकी भौगोलिक स्थितिका होता है। इसलिये घटनाओंमें उलट-फेर होते हुए भी राजनीतिक और आर्थिक जीवनकी रूप-रेखा भी बहुत कुछ एक-सी होगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रिय स्मृति, पुरानी सामूहिक अनुभूतियोंके संस्कार भी संस्कृतिको जल्दी बदलनेसे रोकेंगे। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भले ही हो जाय और एक बार वर्तमान और अतीतके सम्बन्धको विच्छिन्न भी कर दे; परंतु कुछ कालमें जब क्रान्तिके चण्डांशुका तेज कुछ धीमा पड़ता है, तब पुरानी स्मृतियाँ फिर जागने लगती हैं और संस्कृतिकी धाराको फिर पुराने मार्गकी ओर ले जानेका यत्न करती हैं। क्रान्तिका संस्कार मिटाया नहीं जा सकता, परंतु नयेके नयेपनमें पुरानेकी झलक आ जाती है।

इस भूमिकामें ही हम भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें विचार कर सकते हैं। भारतीय जनतामें हिंदुओंकी संख्या सर्वाधिक है। भारतका वह भाग, जिसके हम आज नागरिक हैं, सर्वतः हिंदूप्रधान है। वैदिक और पौराणिक कालके ही नहीं, प्रत्युत वर्तमान कालतककी प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ इसी भूभागमें घटीं और प्रायः सभी आदरणीय व्यक्तियोंका यही कार्यक्षेत्र था और है। यहाँ रहनेवालोंको बहुत कुछ समान अनुभवोंका सामना करना पड़ा है। इन अनुभवोंसे जो संस्कार बने हैं, लोगोंके विचार जैसे साँचोंमें ढले हैं, उनका द्योतन संस्कृतमें होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकारके भावोंसे स्फूर्ति पा रही हैं—इसका प्रमाण इस बातसे मिलता है कि तुलसी और सूर, मीरा और कबीर, नरसी, रामदास और तुकाराम, प्रेमचन्द और रविठाकुरको सारा देश अपना मानता है। इस वेदनासाम्यके सबसे बड़े प्रतीक इस युगमें महात्मा गान्धी हुए हैं। उनकी वाणीमें भारतीय हृदय अपने स्पन्दनकी प्रतिध्वनि सुनता था।

इस हमारे देशमें हिंदुओंके अतिरिक्त ईसाई और मुसल्मान भी रहते हैं। ये लोग यहींके निवासी हैं; परंतु इनके धार्मिक विचार फिलिस्तीन और अरबसे आये हैं। मुसल्मानोंका ईरान, ईराक और अरबसे दीर्घकालतक जो सम्बन्ध रहा, उसके कारण उनके विचारोंपर उन देशोंकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। हिंदुओंके वंशज हैं, हिंदुओंके बीचमें रहते हैं—इसलिये बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनमें हिंदुओंसे उनकी समता है। साथ ही उनका

प्रभाव उनके पड़ोसी हिंदुओंपर भी पड़ा है। इस प्रकार सैकड़ों वर्षोंमें एक मिली-जुली संस्कृति बन गयी है। इसकी प्रधान धारा तो वही है, जो आर्यजीवनके आदिपुरुषों, वेदके शब्दोंमें 'नः पूर्वे पितरः', प्राचीन ऋषियों और मनुओंके समयसे चली आती है। बीच-बीचमें यह सूखने लगी; परंतु बुद्ध और महावीर, शङ्कराचार्य और चैतन्य, नानक और कबीर, तुलसी और सूर, दयानन्द और रामकृष्णने इसके पथको फिर प्रशस्त किया। इसमें कई सहायक छोटी धाराएँ मिली हैं। इसके जलमें वे बूँदें हैं, जिनके स्रोत शकद्वीप, ईरान, ईराक, अरबमें हैं। आर्य, द्रविड़, शक, पठान और मुगलने मिलकर इस प्रासादका निर्माण किया है। आज इसमें प्रबल वेगसे यूरोप और अमेरिकासे बहती हुई कई नदियाँ मिल गयी हैं।

इस मिली-जुली संस्कृतिको भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा; परंतु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है, जिसे आर्य या हिंदू नामसे उपलक्षित किया जा सकता है। बानेके सूत इधर-उधरसे आये हैं, पर वे सब तानेपर आश्रित हैं। गङ्गामें बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ मिली हैं; परंतु मिलनेपर जो पयस्विनी बनती है, वह गङ्गा ही कही जाती है। इस न्यायसे भारतीय संस्कृतिको हिंदू-संस्कृति भी कह सकते हैं। भारतके बाहर जब लोग 'भारतीय संस्कृति' का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका सङ्केत इस संस्कृतिकी मुख्य धाराकी ओर ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि 'भारतीय दर्शन'की चर्चा करनेवालेके सामने सांख्य, योग, वेदान्तादि आर्यदर्शन होते हैं।

इस हिंदू या भारतीय संस्कृतिने अपनेको धर्म, वाङ्मय, चित्रकला, मूर्तिकलाके रूपमें व्यक्त किया है। समय-समयपर इसके स्वरूपमें हेर-फेर होता रहा है। अशोककालीन संस्कृति गुप्तकालीन संस्कृतिसे भिन्न थी, पठान और मुग़लकालमें संस्कृतिने कुछ और ही रंग पकड़ा था और उसी समयमें उत्तर तथा दक्षिण भारतमें अन्तर था। फिर भी, इन सब देश-कालानुगत भेदोंके रहते हुए भी, इसमें कुछ तो विशेषता है, कुछ अपना पृथक् व्यक्तित्व है, जो भेदमें भी अभेदको बनाये हुए है। यदि ऐसा न होता तो एक नामसे पुकारना किसी भी अंशमें सार्थक न होता। यह विशेषता इसकी प्रधान धारा, आर्य या वैदिक धारासे आयी है। यही वह गुण है, जो इसको अन्य संस्कृतियोंसे भिन्नता प्रदान करता है, जो भारतका मानवके लिये सन्देश है। विश्वसंस्कृतिकी रचनामें भारतकी यही देन होगी।

यदि इसे एक शब्दमें व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द 'आध्यात्मिकता' होगा। इस बातको बहुत दिन हुए स्वामी विवेकानन्दने यों समझाया था; यदि पश्चिमके लोगोंके सामने कोई नयी योजना रक्खी जाती है तो उनका पहला प्रश्न यह होता है 'क्या इससे मेरी आयमें वृद्धि होगी?' भारतीय ऐसे अवसरपर यह पूछता है 'क्या इससे मोक्ष मिलेगा?' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ सब लोग विरक्त, तपस्वी, मुमुक्षु हैं। भाव केवल इतना ही है कि हमारी सामूहिक आत्माका झुकाव आध्यात्मिकताकी ओर है। हम प्रश्नोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखते हैं। जो बात आध्यात्मिक स्तरपर रक्खी जाती है, वह हमको अधिक रुचती है। व्यक्ति-व्यक्तिकी मनोवृत्तिमें बड़ा अन्तर है; पर सब मनोवृत्तियोंका समन्वय करके उनके महत्तम समापवर्त्यके रूपमें जो समष्टि मनोवृत्ति, सामुदायिक प्रवृत्ति बनती है, उसका ऐसा ही रूप है।

इस आध्यात्मिक भावका विश्लेषण करनेसे इसमें दो-तीन मुख्य विश्वासोंका सम्मिश्रण मिलता है। सबसे पहली धारणा तो अद्वैतधारणा है। द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए हैं; परंतु द्वैतवाद विद्वद्गोष्ठियोंतक ही रह गया। मध्वादि सम्प्रदायोंके भक्तोंने लोकभाषामें भले ही द्वैतवादका प्रतिपादन किया हो, परंतु श्रोताओंने उनके शब्दोंमेंसे भी खींच-खाँचकर अद्वैतभावकी ही पुष्टि की। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और अद्वैतवादोंमें जो सूक्ष्म भेद हैं, उनकी ओर सामान्य जनताकी सरल बुद्धिने ध्यान नहीं दिया; उसने उन सबमेंसे सीधा-सादा 'अद्वैत' भाव—जीवात्मा और परमात्माका तात्त्विक अभेदमात्र पकड़ लिया।

अद्वैतभावनाका परिणाम कट्टरपनका अभाव है, जो इस संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। हिंदूके नस-नसमें यह बात भर गयी है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

उसके लिये दूसरेके धर्मको सर्वथा मिथ्या मानना, दूसरेकी उपासनाशैलीको सर्वथा नरक ले जानेवाली समझना, असम्भव नहीं तो बहुत कठिन होता है। क्रोधकी तो दूसरी बात है, परंतु यों उसका हाथ दूसरेके देवालयको ढहानेके लिये उठता नहीं। इसीलिये वह सुगमतासे अपने उपास्योंकी सूचीमें वृद्धि कर लेता है और अपने देव-देवियोंके नामपर

उस कट्टरपनसे नहीं लड पाता, जो और लोग दिखला सकते हैं। परधर्मावलम्बियोंके साथ जैसा उदार व्यवहार हिंदुओंने किया है, वह वस्तुतः अप्रतिम है।

अद्वैतभावनाका दूसरा परिणाम अहिंसाभाव और दया है। हिंदू क्रोध भी करता है; क्रूरता भी दिखलाता है, मत्सर, द्वेष, निर्दयतामें नीचातिनीच गहराईतक भी पहुँच जाता है। फिर भी उसकी बुद्धि अहिंसानिम्न ही होती है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं, तब कौन किससे द्वेष करे, कौन किसका अहित करे। राग-द्वेषजनित स्वार्थके वशीभूत होकर हिंदू भी बुरे-से-बुरे काम कर बैठता है; परंतु सामान्यतः उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है, आक्रमणात्मक नहीं। बल होते हुए भी वह अकारण, केवल अपने लिये, दूसरोंसे कम ही छेड़-छाड़ करता है। अज्ञानवश या मोहवश निर्दयता भी करता है, परंतु प्रत्यक्ष जीवदया, तिर्यक् प्राणियोंके प्रति समवेदना उसको अधिक रुचती है।

माया ऐसा शब्द है, जिसकी व्याख्या करनेमें बड़े-बड़े विद्वान् भी सङ्कोच कर सकते हैं; परंतु भ्रम, मिथ्या, धोखा—यह सब उसके पर्याय बन गये हैं। दार्शनिक सूक्ष्मताओंसे अनभिज्ञ अपढ़ ग्रामीण भी ऐसा मानता है कि यह जगत् माया है। माया बुरी चीज है, इसको तोड़ना चाहिये। इन्द्रिय विषयोंके पीछे दौड़नेसे मायाका बन्धन और दृढ़ होता है। अतः हमको इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास करना चाहिये। प्रत्येक हिंदू यति नहीं होता; परंतु हिंदूके चित्तमें विषय-वासना-विरतिकी प्रतिष्ठा बैठी हुई है। वह त्यागीको भोगीसे ऊँचा मानता है, चाहे स्वयं त्यागी न हो सके। हिंदूजीवनमें इसी कारण तपस्याका थोड़ा-बहुत वातावरण रहता है। व्रत, उपवास, जागरण हिंदू घरोंमें होते ही रहते हैं। अमुक दिन मांस नहीं खाना, अमुक दिन अन्न नहीं खाना, शाकजातीय होते हुए भी अमुक वस्तुओंको त्याज्य मानना—इनसे हिंदू बचपनसे ही परिचित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर अटल विश्वास हिंदू-संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। ईश्वर या अन्य उपास्यकी पूजा करते हुए और योग-क्षेमके लिये सैकड़ों देव-देवियोंकी डेवढ़ियोंपर माथा टेकते हुए भी हिंदू अन्ततोगत्वा अपनेको ही अपने सुख-दुःखका दायी मानता है। इस विश्वाससे उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियोंसे कातर हो जाय, फिर भी दुःख उसको दूसरोंकी भाँति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसके लिये उतनी महत्त्वकी चीज नहीं है। वह ऐसा मानता है कि यह अनुभव उसे लाखों बार हो चुका है और अभी न जाने कितनी बार होना है। इसीलिये तो वह अपने महापुरुषोंकी देहावसानतिथि नहीं मनाता। जिसको बराबर यह उपदेश मिलता रहता है कि स्वर्ग और नरक भी अनित्य हैं, उसमें कष्ट सहनेकी अद्भुत क्षमता आ जाती है।

योगपर विश्वास भी इस संस्कृतिका एक गुण है। योगकी दार्शनिक परिभाषाएँ कुछ हों; परंतु साधारणतः यों कह सकते हैं कि आत्मसाक्षात्कारकी साधनाका नाम योग है। उसके भजन, ध्यान आदि कई पर्याय प्रचलित हैं; परंतु यों कह सकते हैं कि हिंदूकी ऐसी धारणा-सी है कि किन्हीं उपायोंसे इसी जीवनमें ईश्वरसाक्षात्कार हो सकता है और मनुष्य अपनेको देवोपम बना सकता है।

इतना दिग्दर्शन पर्याप्त होना चाहिये। इससे हिंदूकी मानसिक बनावटका—और यह मानसिक बनावट ही संस्कृतिका मूल है—परिचय हो जाता है। थोड़ेमें कह सकते हैं कि इस लोकमें रहते हुए भी, हिंदूकी दृष्टि 'परलोक' को ढूँढ़ती रहती है। उसके सामने राम, कृष्ण, जनकके चरित्र रहते हैं—जिन्होंने राजपाटके साथ ज्ञान-वैराग्यको सफलतासे मिला दिया था।

आज कुछ परिवर्तन हो रहा है। पश्चिमके भौतिकता-प्रधान प्रभावने चकाचौंध पैदा कर दी है। जिस रूपमें हमारा धर्म सामने आता है, जिस प्रकारकी रूढ़ियोंको वह पुष्ट करता प्रतीत होता है, उनसे आजकी समस्याएँ सुलझती नहीं प्रतीत होतीं। हमारे विद्वान् विज्ञानसे अनभिज्ञ हैं और व्यावहारिक जगत्से दूर हैं। वे विज्ञान और मार्क्सवाद-जैसी विचारधाराओंका तर्कपूर्ण उत्तर नहीं दे सकते। फलतः पुराने विचारों और संस्कारोंकी ओरसे वैरस्य होता जाता है। पुरानी स्मृतियाँ नष्ट नहीं हुई हैं; परंतु व्यङ्ग और तर्कसे उनको भुलानेका यत्न किया जाता है। हमारी आँखोंके सामने संस्कृति कलेवर बदल रही है।

रूढ़िवादिता अच्छी नहीं होती। जहाँतक कि नये सम्पर्क, नये और पुराने विचारोंके सङ्घर्ष हमारी बुद्धिको उदार बनाते हैं—हमको उनका आदर करना चाहिये। हमारी संस्कृति नवयुगकी प्रतीक नयी विचारधारारूपी सहायक सरिताके मिलनेसे परिपुष्ट होगी। नवीन प्राचीनमें मिलकर उसकी शोभाको बढ़ायेगा। अतीत ज्यों-का-त्यों लौटाया नहीं

जा सकता; संस्कृति वर्तमानके अनुरूप होनी ही चाहिये। परंतु यह भी न होना चाहिये कि नवीनकी खोजमें प्राचीन खो जाय। हमारी विशेषताएँ मनुष्यमात्रके लिये उपादेय हैं। अद्वैतभावना, अद्वेष, अहिंसा, दया, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह और कर्मसिद्धान्तपर आस्थाकी आवश्यकता सबको है। इनके अभावमें संस्कृति स्वार्थमूलक पशुताका परिवर्द्धित और विकृत संस्करण होकर रह जाती है। हमारा यह सन्देश, हिंदू-संस्कृतिका यह सार, दिग्दिगन्तमें फैले; इससे जगत्का कल्याण होगा। यदि मानवसमाजका पुनर्निर्माण इन आधारोंके साथ आधुनिक विज्ञानके सिद्ध तत्त्वोंको मिलाकर किया जा सके तो सचमुच मनुष्यजातिका भविष्य उसके अतीत और वर्तमान दोनोंसे उज्ज्वल और श्रेयस्कर होगा।

हिंदू कौन ?

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

यह बात अब निर्विवाद हो चुकी है कि भारतीय संस्कृतिके समस्त उपासकोंको एक सूत्रमें बाँधनेके लिये 'हिंदू' शब्दके जोड़का आर्य-वाङ्मयमें अन्य शब्द नहीं है। लगभग पौन शतीसे 'हिंदू' शब्दके विरुद्ध प्रयत्न होते आये हैं। इसे विदेशियोंकी देन, 'गुलाम' शब्दका पर्याय, असंस्कृत शब्द, अत्यन्त अर्वाचीन शब्द एवं आर्य-गौरवका अपमानसूचक शब्द सिद्ध करनेकी चेष्टाएँ की गयीं और जनगणनाके समय भी कुछ सज्जनोंने भावावेशमें हिंदूकी जगह अन्यान्य लिखवाकर हिंदुओंकी संख्याका ह्रास किया। परंतु आज अब प्रायः सभी इस बातको समझ रहे हैं—'हिंदू' नामके महत्त्वका अनुभव करने लगे हैं।

यदि सचमुच 'हिंदू' शब्द विजेता यवनोंकी ओरसे प्रदत्त गुलामीकी लानतका संसूचक होता तो महाराणा प्रताप-जैसे हिंदुत्वके प्रबल प्रतीक अपने आपको 'हिंदू-पति' उपाधिसे गौरवान्वित न समझते। छत्रपति महाराज शिवाजीके दरबारी कविभूषण भूषण उनको—'राखी हिंदुवानी' 'हिंदुवानको तिलक राख्यो—हिंदुनकी चोटी' 'राखी' शब्दोंमें स्मरण न करते; गुरु गोविन्दसिंह स्वयं अपनी कवितामें—'जगै धर्म हिंदू, सभी भण्ड भाजै' कहकर 'हिंदू' शब्दको सम्मान न देते!

'मेरुतन्त्र' 'कालिकापुराण' आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त पारसियोंकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शातीर' में भी 'हिंदू' शब्दका सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है। 'बृहस्पति-आगम' में तो हिंदुस्थानकी सीमा निर्धारित करते हुए इसे भौगोलिक प्रत्याहारज शब्द स्वीकार किया गया है। यथा—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं 'हिन्दुस्थानं' प्रचक्षते॥

अर्थात् हिमालय पर्वतके 'हि'-शब्दोपलक्षित पहले किनारेसे आरम्भ करके इन्दु-सरोवर=कुमारी अन्तरीपके 'न्दु'-शब्दोपलक्षित अन्तिम प्रदेशकी समाप्तिपर्यन्त देवनिर्मित विस्तृत स्थलका नाम 'हि+न्दु=स्थान' है।

वेदमें निरुक्तके नियमानुसार सकार हकाररूपमें भी उच्चरित होता है—जैसे 'सरित्', 'सरस्वती', 'सिन्धु' आदि शब्द 'हरित्,' 'हरस्वती' 'हिन्धु' भी उच्चरित होते हैं। 'केसरी' का 'केहरी,' तथा भारतीय 'श्री' शब्दका आङ्गल 'सर' और जर्मनी 'हर' भी इसी कोटिके शब्द हैं।

अन्ताराष्ट्रिय हिंदू

कभी-कभी ऐसा विचार सामने आता है कि पाकिस्तानके साथ अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, फारस, सुदूर टर्कीतक मुसलमानोंका जाल बिछा है। पूर्वमें भी चीन और उसके निकट-वर्ती प्रदेशोंमें मुसलमान रहते हैं। सब मिलाकर अन्यून पैंतालीस करोड़ मुसलमान समय पड़नेपर एक झंडेके नीचे संगठित हो सकते हैं। 'पाकेशिया' और 'पान इस्लाम'का नारा इसी आधारपर बुलंद किया जा रहा है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र सत्तर करोड़ ईसाई बसते हैं। परंतु हिंदू सब मिलाकर पैंतीस करोड़के लगभग हैं। अतः संख्याबलकी दृष्टिसे यह स्थिति चिन्ताजनक है! परंतु ऐसी आशङ्का करनेवाले सज्जन यह भूल जाते हैं कि यदि मुसलमानोंके बहत्तर फिरके और ईसाइयो-के रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टैंट आदि अनेक फिरके संगठित हो सकते हैं तो फिर सनातनी, समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—हिंदुओंके ये प्रधान पाँच सम्प्रदाय संगठित क्यों नहीं हो सकते? उक्त पाँचों भाइयोंके संगठित हो जानेपर हिंदुओं-की भी सम्मिलित संख्या एक अरबसे अधिक हो जाती है, जो अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे समस्त विश्वकी जनसंख्याके आधे भागसे अधिक बन जाती है। इस प्रकार अकेला हिंदू संसारके अन्यान्य समस्त फिरकोंके सम्मिलित योगसे अधिक सिद्ध होता है। उक्त पाँचों सम्प्रदायोंको संगठित करनेवाले आधार प्राकृतिक एवं

अक्षुण्ण है, जो इनको अहिंदुओंसे पृथक् करके एक सूत्रमें आबद्ध करते हैं। यथा—

ओंकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः ।
गोभक्तो भारतगुरुर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः ॥
(माधवदिग्विजय)

अर्थात् (१) ओंकारको मूलमन्त्र माननेवाला, (२) पुनर्जन्मविश्वासी, (३) गोभक्त, (४) जिसका प्रवर्तक भारतीय हो और (५) हिंसाको निन्द्य माननेवाला 'हिंदू' कहा जाता है।

कहना न होगा कि उक्त पाँचों लक्षण सनातनी, आर्य-समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—इन पाँचों सम्प्रदायोंमें समान रीतिसे घटित होते हैं। इसलिये हिंदूका यह अव्याप्ति, अति-व्याप्ति और असम्भव रूप दोषत्रयशून्य सुनिश्चित लक्षण है।

(१) सनातनी प्रत्येक मन्त्रके साथ ओंकारका योग आवश्यक मानते हैं। अतः उनका यह परम पवित्र सर्ववेद-बीजभूत प्रधान मन्त्र है। आर्य-समाजी तो 'ओं'के सर्वाधिक उपासक हैं, स्वामी श्रीदयानन्दजीने सत्यार्थप्रकाशमें इसे परमात्माका निज नाम माना है। उनका ध्वज भी 'ओं'से चिह्नित होता है। सिक्खोंके धर्म-ग्रन्थमें सर्वप्रथम—'एक ओंकार सद्गुरुप्रसाद' यही मङ्गलाचरण मिलता है। जैनियों-का गुरुमन्त्र 'ओं नमो अरिहंताणम्' इत्यादि है, बौद्धोंका भी प्रधान मन्त्र 'ओं मणिपद्मे हुम्' है, इस प्रकार सभी 'ओं'को मूलमन्त्र मानते हैं।

(२) पुनर्जन्ममें सबका समान विश्वास है, कर्म-विपाक-के तारतम्यसे ही सब—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' को मानते हैं।

(३) सनातनी गौके लिये अब भी प्राणोंकी बाजी लगानेको तत्पर रहते हैं। स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके नेतृत्वमें पाँच हजार चोटीके महात्मा, विद्वान्, राजा, सेठ और सभी वर्गके लोग विगत वर्ष जेल-यातना सहन कर चुके हैं। तीन धर्मवीर प्राण भी प्रदान कर चुके हैं। आर्यसमाजमें भी गो-माताके लिये यही बात है, स्वामी दयानन्दजीने 'गोकरुणा-निधि' नामक स्वतन्त्र पुस्तक लिखकर गायका महत्त्व प्रकट किया है। सिक्खसम्प्रदायके सभी गुरुओंने—खासकर दशम गुरु श्रीगोविन्दसिंहजीने—अपने 'दशम ग्रन्थ' 'विचित्र नाटक' नामक पुस्तकमें लिखा है—

यही देहु आज्ञा तुरक को मिटाऊँ। गऊ घातका पाप जग से हटाऊँ॥

प्रत्यक्षमें भी उनका समस्त जीवन ही गोरक्षामें ही व्यय हुआ है; पंजाबका सुप्रसिद्ध 'कूकाविद्रोह' गोरक्षापर ही आधारित था, जिसमें सहस्रों नामधारी सिक्खोंको अंग्रेजोंने तोपसे उड़ा दिया था। जैनी तो मुखकी साँससे भी सूक्ष्म कीटाणुओंकी हत्यासे बचते हैं। अतः गायके सम्बन्धमें उनकी विचारधाराका उल्लेख करना मानो उनका अपमान करना है। जैनकवि नरहरिके उद्योगसे ही अकबरने अपने राज्यमें गोवध-बंदीका फर्मान निकाला था। बुद्ध भगवान्‌ने 'धम्मपद'में लिखा है—

गावो नो परमा मित्ता गावो नो परमं धनम्।

इस प्रकार ये पाँचों सम्प्रदाय परम गोभक्त हैं (आजके बौद्धोंका सर्वभक्षित्व तो अहिंदुओंके सम्पर्कका कलङ्क है। अतः वह उपेक्षणीय है। हम यहाँ केवल सिद्धान्त-सीमापर्यन्त चर्चा कर रहे हैं)।

(४) उक्त पाँचों सम्प्रदायोंके धर्माचार्य, धर्मगुरु, अवतार, तीर्थङ्कर और मूलप्रवर्तक भारतके ही सपूत हुए हैं।

(५) ये पाँचों ही मनसा, कर्मणा, वाचा हिंसासे घृणा करनेवाले हैं। इसलिये अन्यून सबा अस्त्र हिंदुओंका यह सर्वसम्मत लक्षण है।

वर्णाश्रमी हिंदू

आदिकालमें सभी हिंदू थे; परंतु मनूक्तिके अनुसार 'ब्राह्मणानामदर्शनात्' अनेक क्षत्रिय-जातियाँ 'वृषल' हो गयीं। इसी प्रकार अहिंदुओंके कुसङ्गसे उक्त पाँचों सम्प्रदायों-में—खासकर बौद्धशाखामें—वर्णाश्रमसम्बन्धी खान-पानका अन्तर पड़ गया है। अतः अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे ये सब समान हिंदू होते हुए भी वर्णाश्रमकी दृष्टिसे इनके अन्तर्गत खासकर सनातनी शाखामें विशुद्ध हिंदुत्वका अब भी दर्शन किया जा सकता है, जिसको सामने रखकर लोकमान्य तिलककृत हिंदू-लक्षण ठीक उतरता है। यथा—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
उपास्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् 'वेदोंमें प्रामाण्यबुद्धि रखनेवाला, नानाविध नियमोंका पालक, अनेक प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करनेवाला हिंदू कहाता है।' इसीसे मिलता-जुलता लक्षण वीर सावरकरने किया है, यथा—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अर्थात् सिन्धु नदसे लेकर समुद्रपर्यन्तकी भारतभूमि

जिसकी पैतृक सम्पत्ति और पवित्रभूमि हो, वही हिंदू है।' प्रभाकर श्रीधर रोड़ेने 'वृद्धस्मृति'के नामसे हिंदूका एक सुन्दर लक्षण उद्धृत किया है। यथा—

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः।
वेदगोप्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक्॥

अर्थात् 'हिंसासे दुःखित होनेवाला एवं ब्राह्मण-सदाचरणमें तत्पर; क्षत्रिय—सदा-च-रण-तत्पर=सदैव रणके लिये उद्यत; वैश्य—सदा-चरण तत्पर=सदैव गमन—यात्रामें संलग्न; शूद्र—सदा-चरण-तत्पर=सदैव द्विजातिकी चरणसेवामें रत। वेद-गो-प्रतिमासेवी=ब्राह्मण—वेदवाणीके मूर्तिमान् शास्त्रोंका अनन्य सेवक; क्षत्रिय—वेदो, भूमि और देवप्रतिमाओंका विश्वासी; वैश्य—वेद, गो-जाति और देवसत्ताका सेवक; शूद्र—वेद और गौ जिस विराट् पुरुषकी प्रतिमा हैं, तदङ्गभूत वर्णत्रयका सेवक अर्थात्—वर्णाश्रम-मर्यादानुकूल आचरण करनेवाला पुरुष 'हिंदू' है।

इस प्रकार 'अन्ताराष्ट्रिय हिंदू' और 'वर्णाश्रमी हिंदू' कौन हैं? इस प्रश्नका विशद उत्तर उपर्युक्त पङ्क्तियोंमें संक्षेपतः आ जाता है।



भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवशरणजी)

आधुनिक लोगोंकी भाषामें 'संस्कृति', 'सभ्यता' आदि शब्दोंका बहुत प्रयोग होता है। वास्तवमें उन शब्दोंका यह नवीन प्रयोग 'धर्म', 'ज्ञान' आदि प्राचीन शब्दोंके स्थानपर होता है; परंतु यह उचित नहीं है। यदि नवशिक्षित लोग शब्दोंका ठीक अर्थ जानते होते तो इन शब्दोंका ऐसा दुरुपयोग नहीं करते।

वर्तमान पश्चिमियोंसे या उनके अनुयायियोंसे यदि पूछा जाता है कि 'संस्कृति क्या वस्तु है?' तो वे प्रश्नके अर्थपर विचार न करके तुरंत पश्चिमी सभ्यताकी प्रशंसा करने लगते हैं; परंतु यदि पुराने ढंगके पण्डितोंके सामने यही प्रश्न रखा जाय तो वे निःसंदेह 'संस्कृति' शब्दका अर्थ बतलाने लगेंगे, संस्कृतिका हर एक अवयव अलग करते हुए 'संस्कृति वास्तवमें क्या वस्तु है', इसपर विचार करनेका प्रयत्न करेंगे—जिससे विदित होगा कि संस्कृतिके कई अङ्ग हैं। कुछ अङ्ग सब संस्कृतियोंमें सामान्यरूपसे मिलते हैं और कुछ अङ्ग भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंमें अलग-अलग मिलते हैं।

इस एक प्रश्नके उत्तरसे स्पष्ट होगा कि पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानोंकी दृष्टिमें कितना अन्तर है। तात्त्विक दर्शन भारतीय संस्कृतिके अनुपम मणि हैं। वर्तमान पाश्चात्त्य-दर्शन न्याय एवं वैशेषिकका अंश माना जा सकता है; परंतु उन दर्शनोंका पूर्ण ध्यान रखते हुए भी भारतीय दार्शनिक अपने योग, वेदान्त, सांख्य आदिके साधनोंसे उनकी त्रुटियोंको पूरा कर सकते हैं।

हर-एक युगमें हर-एक देशमें मनुष्य किसी भी रूपमें विद्याकी खोजमें लगा रहता है। कभी एक देशमें विद्या या समाजका स्वरूप बड़ी उन्नतितक पहुँचता है। परंतु उन्नत अवस्थापर ठहरनेके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृतिके अन्य अंश भी उन्नत अवस्था प्राप्त करें। यदि कोई एक अंश उन्नत है और दूसरे अविकसित हैं, तो संस्कृतिका नाश अनिवार्य है। इसीलिये यह दिखायी पड़ता है कि अनेक देशोंमें कितनी ही सभ्यताएँ फूलीं-फलीं और नष्ट हो गयीं। भारतीय सभ्यता एक ही है, जो अनादि समयसे चली आ रही है और निःसंदेह आगे भी चलती रहेगी।

भारतीय दर्शनके अनुसार संस्कृतिके पाँच अवयव हैं; वे हैं—धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण तथा रीति-रिवाज। 'संस्कृति' शब्दका यह अर्थ लगाते हुए यदि वर्तमान पश्चिमी संस्कृतिका परीक्षण किया जाय तो विदित होगा कि उसमें इतनी त्रुटियाँ हैं कि उसे संस्कृति कहनेमें भी संदेह होगा।

'संस्कृति' शब्दका लक्ष्यार्थ धर्म, विद्या आदिकी उन्नति है; परंतु वाच्यार्थ संस्कृत—शुद्ध करनेकी क्रिया है। प्राकृत वस्तु जिस रूपमें साधारणतासे प्राप्य है, उसे संस्कृत नहीं कहा जा सकता। किसी स्थूल धातुसे सूक्ष्म शुद्ध तत्त्व निकालनेकी क्रियाका नाम संस्कृति है। एक हरी मिट्टीको संस्कृत करनेसे भास्वत् ताम्र मिल जाता है। वैसे ही मनुष्य-जातिके स्थूल धातुसे संस्कृतिद्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं।

संस्कृतिकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ मतभेद है। इस बातपर इतिहासकारोंको वाद-प्रतिवाद करनेका अच्छा अवसर मिलता है। फिर भी संस्कृतिका रूप और मूल्य इसकी उत्पत्तिके प्रश्नसे अलग बात है। कुछ लोगोंका कहना है कि ताम्र आरम्भमें शुद्ध रूपमें उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे अशुद्ध होकर हरी मिट्टी बना, जिसे फिर संस्कृत करनेपर ताम्र पुनः

अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो गया। दूसरे लोग कहते हैं कि संसारमें शुद्ध ताम्र कहीं नहीं दिखायी पड़ता, उसका प्राकृत रूप हरी मिट्टी ही है। उस मिट्टीको संस्कृत करके प्रकृतिकी ओटमें छिपा हुआ शुद्ध ताम्र-तत्त्व निकाला जा सकता है। प्रायः दोनों दृष्टियाँ अपने प्रमाणके उपायकी सीमाओंमें सत्य कही जा सकती हैं। इसी तरह कहा जा सकता है कि पुरुष आरम्भमें देवताके समान था। फिर भी जहाँतक हमलोगोंका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, हम देखते हैं कि मनुष्य-जातिके मूढ़ स्थूल समूहसे भी संस्कृतिद्वारा शुद्ध संस्कृत भाषा एवं विद्वान् संस्कृत पुरुष बनते हैं।

मनुष्य-जातिका इतिहास समझनेके लिये भारतवर्ष एक ही देश है; क्योंकि भारतीय संस्कृतिको छोड़कर कोई भी ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं है, जो मनुष्यकी उत्पत्तिके समयसे आजतक अखण्ड धारासे चलती आयी हो। सब धर्मोंका आधार सनातन-धर्म—भारतीय-धर्म ही है। धर्मानुसार समाजके स्वरूपकी रक्षा केवल भारतमें हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृतिमें ऐसे गुण होना अनिवार्य है, जिनसे संस्कृतिकी रक्षा होती है।

आधुनिक पश्चिमी देशोंमें लोगोंको एक विचित्र अभिमान हो गया। वे कहने लगे कि 'हमलोगोंने वैज्ञानिक आविष्कारोंसे एक नया युग पैदा कर दिया है।' परंतु इन नये आविष्कारोंका फल थोड़ा-सा भी अन्वेषण करनेसे स्पष्ट होता है कि मनुष्य इस नये विज्ञानसे अद्भुत यन्त्रोंके मालिक न रहकर निर्दयी निर्विचार भयङ्कर यन्त्ररूप राक्षसके गुलाम बन गये हैं! किसीको पता नहीं कि वह राक्षस मनुष्य-जातिको कहाँ ले जा रहा है। बड़े-से-बड़े यन्त्रोंके चलानेके लिये अनेक देशोंके शासकोंको सारी प्रजासे काम लेना पड़ता है। इस कारणसे किसीके लिये स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। लोगोंको इस अप्रिय काममें लगाये रखनेके लिये उनकी विचारशक्तिका नाश करना पड़ता है। आजकल कई देशोंमें एक नयी चिकित्साका प्रयोग चला है, जिसके द्वारा मनुष्यके मस्तिष्कका एक छोटा अंश निकालकर असाधारण विचार करनेकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है। यदि किसी व्यक्तिको ऐसा विचार होने लगता है, जिसमें दूसरे खतरा देखते हैं, तब छोटी-सी शल्य-क्रियासे उसको अनुकूल बना लेते हैं। ऐसी सम्भावना अवश्य ही स्वतन्त्रता एवं उन्नतिकी द्योतक नहीं है। इस नये यन्त्रराज्यसे स्वतन्त्रता, धर्म, विद्या आदिका सत्यानाश अनिवार्य है।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'भारत वर्तमान उन्नतिसे वञ्चित रहा। अंग्रेजी जातियोंकी तरह भारतीयोंने वर्तमान उन्नतिके मार्गपर चलना नहीं सीखा। इसलिये भारतीयोंको चाहिये कि अपने पुराने विचार एवं रहन-सहनके ढंग आदिको छोड़कर नवीन युगकी रीतिसे रहने लगें।' परंतु ऐसा कहनेवाले लोग प्राचीन संस्कृतिसे अपरिचित हैं। यदि वे लोग प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों संस्कृतियोंके गुणोंकी तुलना कर सकते तो कभी ऐसा विचार नहीं करते। यह प्रश्न अनुचित न होगा कि 'यदि प्राचीन संस्कृति वस्तुतः निर्मूल है तो अपने-आप मर ही जायगी। फिर उसका मूल्य गिराने, उसका प्रचार रोकनेके लिये क्यों इतना प्रयत्न हो रहा है?' इसका उत्तर यह है कि यदि किसीको भारतीय सनातन हिंदू धर्मके छोटे-से-छोटे अंगका लेशमात्र भी दर्शन करनेका सौभाग्य मिला तो वह कभी भी दूसरी विद्या, दूसरी संस्कृतिको नहीं मानता।

संसारमें कोई ऐसी विद्या नहीं है, जिसकी प्राचीन हिंदुओंके विचारोंसे तुलना की जा सके। हिंदू न्याय, सांख्य, वेदान्त, व्याकरण, योग, नीति आदिके सामने समस्त वर्तमान पश्चिमी दर्शन लड़कोंके निरर्थक जल्पसे दिखायी पड़ते हैं। हिंदू-दर्शनसे परिचित किसी भी विद्वानको वर्तमान पश्चिमी दर्शनके गुणगान करनेका साहस नहीं हो सकता।

संस्कृत-व्याकरणकी पूर्णताके सामने अन्य भाषाओंकी रचनाविधि अनुपयुक्त एवं असमान दिखायी पड़ती है। और अन्य समाजोंका रूप हिंदू-समाजके सामने पशुओंके समाज-जैसा विदित होता है।

हर-एक पुरुषार्थ, हर-एक उन्नतिका साधन अन्य देशोंसे अत्यन्त उत्तम रूपमें भारतकी पवित्र भूमिपर प्राप्य है। मानसिक प्रवृत्तिके साधनोंसे जीवन एक सुन्दर एवं मनोरञ्जक यात्रा बनता है— न कि रेल, वायुयान, रेडियो, कार आदि साधनोंसे। जीवनको सफल एवं शोभायमान करनेवाले उपायोंका खजाना भारतवर्ष ही है। इस पुण्य-देशकी विद्या-मणियोंको कौन गिन सकता है। मुझसे पूछा जाय कि 'यदि यह सच है कि इतनी अनुपम वस्तुएँ भारतमें मिलती हैं तो नमूनेके लिये कम-से-कम एक ऐसी वस्तुका नाम बताओ, जो यहाँ मिलती है और अन्य देशोंमें नहीं।' तब मैं एक बात बतलाऊँगा, एक ऐसे गुणसे पूर्ण वस्तुका नाम लूँगा, अन्य सभी गुण जिसके अन्तर्गत हैं। भारत ही एक ऐसा शुभ देश है, जहाँ सत्संगका अनुपम लाभ मिल सकता है, यह एक ही धन्य देश है, जहाँ साधुलोग रहते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हिंदू-संस्कृति और रामायण

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपको बतलानेके लिये रामायण एक महान् आदर्श ग्रन्थ है। उसमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप कूट-कूटकर भरा है। हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'इन्धु' लेकर 'हिन्धू' शब्द बना है। उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे समुद्रतकके स्थानका नाम है हिंदुस्थान और उसमें बसनेवाली जातिका नाम हिंदू है। हिंदूजातिका ही दूसरा नाम है आर्यजाति—श्रेष्ठजाति। इस जातिका चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि जो स्वाभाविक कल्याणमय आचरण है, उसका नाम है 'हिंदू-संस्कृति'। आर्यपुरुषोंकी उक्त संस्कृतिको सदाचार कहा जाता है। उनका चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि प्रत्येक आचरण श्रुति-स्मृति-विहित, अतएव आत्माका कल्याण करनेवाला होता है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेके कारण इस सदाचारको ही हिंदू 'धर्म' कहते हैं।* यह अनादि कालसे चला आ रहा है, इसलिये इसीको 'सनातन-धर्म' कहते हैं। मनुजीका वचन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके कारण आत्मामें सहज प्रसन्नता प्रकट हो, वह आत्मप्रिय (परोपकार आदि) कार्य—इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यह सनातनधर्म ईश्वरका कानून है और सदा ईश्वरमें निवास करता है। यह सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे ही प्रकट होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
(४। १)

'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।'

तथा यह प्रलयके समय ईश्वरमें ही समा जाता है। इसलिये ईश्वर ही इसकी प्रतिष्ठा हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

अतः इस शाश्वत धर्मको ईश्वरका स्वरूप ही कहा जाता है। यह सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये इसका नाम 'सनातन-धर्म' है।

यह कभी प्रकटरूपसे रहता है, कभी अप्रकटरूपसे; किंतु इसका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वरके अवतारकी भाँति इसका केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणके समस्त श्लोक तथा तुलसीकृत रामचरितमानसके सारे दोहे, चौपाई, छन्द आदि सभी इसी शाश्वत धर्मरूप हिंदू-संस्कृतिका दिग्दर्शन करा रहे हैं। उनमें भी श्रीराम और सीताके आदर्श चरित्र एवं सभी भाइयोंका परस्पर भ्रातृप्रेम हिंदू-संस्कृतिके प्रधान निदर्शक हैं।

रामायणमें श्रीरामका आदर्श चरित्र

श्रीरामचन्द्रजीकी सारी ही चेष्टाएँ धर्म, ज्ञान, नीति, शिक्षा, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यसे भरी हुई थीं। उनका व्यवहार देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभीके साथ बहुत ही प्रशंसनीय, अलौकिक और अतुलनीय था। देवता, ऋषि, मुनि और मनुष्योंकी तो बात ही क्या—जाम्बवान्, सुग्रीव, हनुमान् आदि रीछ-वानर, जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण आदि राक्षसोंके साथ भी उनका ऐसा दयापूर्ण, प्रेमयुक्त और त्यागमय व्यवहार था कि जिसे स्मरण करनेसे ही रोमाञ्च हो आता है। भगवान् श्रीरामकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं, जो कल्याणकारिणी न हो।

वे साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा होते हुए भी मित्रोंके साथ मित्रका-सा, माता-पिताके साथ पुत्रका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, भाइयोंके साथ भाईका-सा, सेवकोंके साथ स्वामीका-सा, मुनि और ब्राह्मणोंके साथ शिष्यका-सा—इसी प्रकार सबके साथ यथायोग्य त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे। अतः उनके प्रत्येक व्यवहारसे हमलोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका तो कहना ही क्या है, उसकी तो संसारमें एक कहावत हो गयी है। जहाँ कहीं सबसे बढ़कर सुन्दर शासन होता है, वहाँ 'रामराज्य'की उपमा दी जाती

---

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिकदर्शन १। २)

है। श्रीरामके राज्यमें प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले, तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे। प्रायः सभी उदार-चित्त और परोपकारी थे। वहाँके प्रायः सभी पुरुष एक-नारीव्रती और प्रायः सभी स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं। भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमें मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे। उनके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे। यह हमारे आर्यपुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था। इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं। हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमें रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये।

रामायणमें सीताका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्र-से ले सकती हैं। जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमें श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है। इसे किसी भी रामायणमें देख सकते हैं। श्रीसीता-जीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं। अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमें जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवन-में उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें रामायणमें श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है। उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है। श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतको राज्य दिलानेमें है और भरतकी श्रीरामको राज्य दिलानेमें। पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है। ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसलमान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं। जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं।

हमारे श्रुति, स्मृति, दर्शन, इतिहास,

---

१. श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजुर्वेद ४०।१)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

२. मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥

(मनु० १२।१२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये। यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १।२)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योग० १।२४)

'क्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १।२५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वर-में सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १।२६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता।'

४. महाभारतमें आया है—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥

(अनुशासन० १४९।१३८)

है। श्रीरामके राज्यमे प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले, तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे। प्रायः सभी उदार-चित्त और परोपकारी थे। वहाँके प्रायः सभी पुरुष एक-नारीव्रती और प्रायः सभी स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं। भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमे मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे। उनके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे। यह हमारे आर्यपुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था। इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं। हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमे रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये।

रामायणमें सीताका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्र-से ले सकती हैं। जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमे श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है। इसे किसी भी रामायणमे देख सकते हैं। श्रीसीता-जीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं। अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमे जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवन-मे उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमे रामायणमे श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है। उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है। श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतको राज्य दिलानेमे है और भरतकी श्रीरामको राज्य दिलानेमे। पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमे ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है। ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसल्मान आदि सभी मानते हैं। जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसल्मान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं। जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं।

हमारे श्रुति, स्मृति, दर्शन, इतिहास,

१. श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(यजुर्वेद ४०।१)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

२. मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
(मनु० १२।१२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमे भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये। यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १।२)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(योग० १।२४)

'क्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १।२५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वर-में सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १।२६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता।'

४. महाभारतमें आया है—

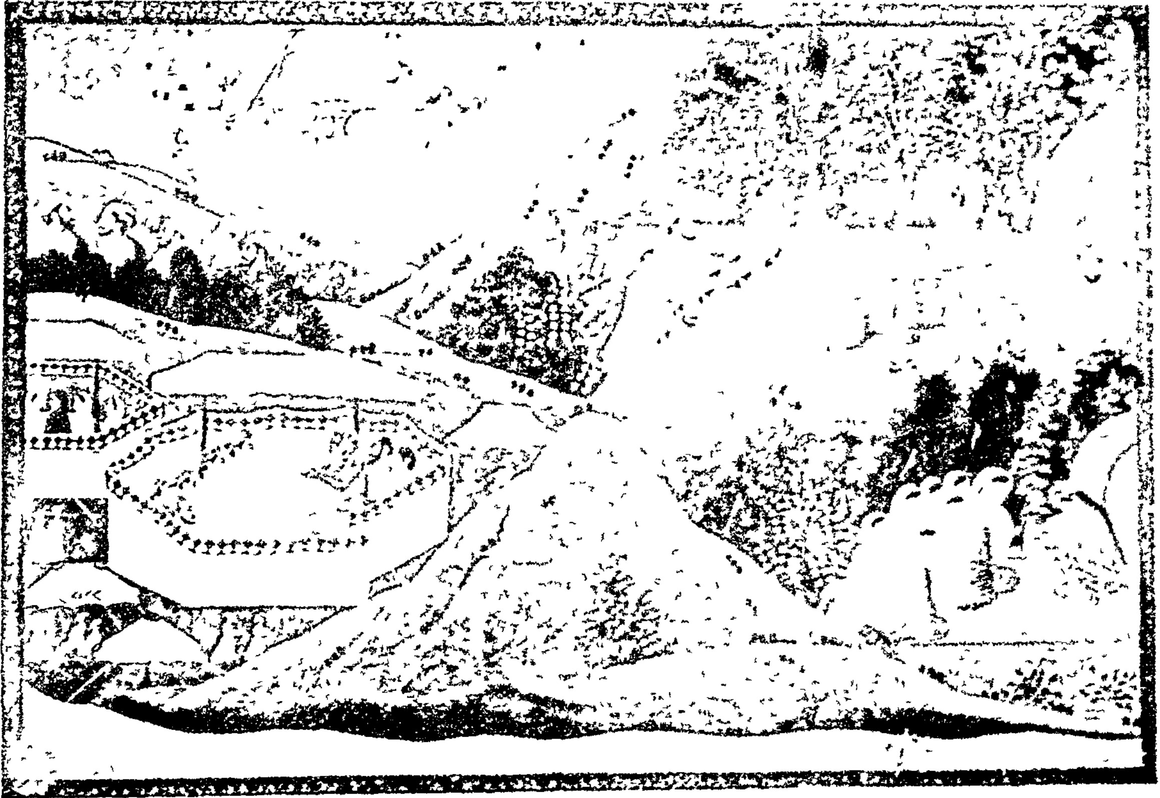
ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥
(अनुशासन० १४९।१३८)



श्रीरामकी कांस्यमूर्ति



श्रीराम-लक्ष्मण-सीतासे भरत एवं माताओंका मिलन



पहाड़ी (जम्मू) शैली १८ वीं शतीका मध्यभाग] (पृष्ठ ७११)

वाल्मीकि-आश्रममें नारद



पहाड़ी शैली १८ वीं शती] (पृष्ठ ७११)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

यन्त्र भी उसीके अंदर होते हैं। उनसे भी सूक्ष्म जीव होते हैं, जो देखनेमें भी नही आते। अब विचारिये, उसका निर्माता कितना बुद्धिकुशल होना चाहिये। यह काम जड प्रकृति (नेचर) से सम्भव नही।

मनुष्योंकी प्रकृति, बुद्धि, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे उनके आचरण भी भिन्न-भिन्न होते है। ऐसे उन विभिन्न मनुष्योंके पाप-पुण्यरूप आचरणोंके अनुसार यथायोग्य सुख-दुःखादिका भुगताना भी जड प्रकृतिका काम नही हो सकता। अतः उसका फलदाता भी कोई बुद्धिका महान् सागर चेतन ही होना चाहिये और वह है एकमात्र परमात्मा।

देखिये, संसारमे ऐसा कोई भी यन्त्र देखनेमे नहीं आता, जिसका काम बिना सँभालके चल सके। उदाहरणार्थ कपड़ेकी या गंजीकी कल है; यदि उसका संचालक कोई चेतन पुरुष नही होगा तो न कपड़ा ही तैयार होगा और न गंजी ही; क्योंकि तार टूटनेपर संचालकके बिना उसे कौन जोड़ेगा। बल्कि यन्त्र ही नष्ट हो जायगा। बड़े-से-बड़ा यन्त्र रेलगाड़ी है। उसके इंजन, पटरी आदिकी सार-सँभाल आदि नही होगी तो उसका चलना सम्भव नही। किसी बुद्धिशाली चेतन संचालक, संयोजकके बिना एक दिन भी काम नही चलेगा और सब नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यह सारा जगच्चक्र चल रहा है। यदि इसका निर्माता, संयोजक, संचालक तथा सँभाल-मरम्मत करनेवाला कोई बुद्धिशाली चेतन न हो तो इसकी भी वही दशा होगी।

हम, आप, कोई प्राणी अपनी सत्तामे सन्देह नही करते। हम है, साथ ही हम चेतन है; किंतु ज्ञानके लिये इच्छुक भी है। हमको और अधिक ज्ञान मिले, इस प्रयत्नमे रहते हैं। सभी ज्ञानके साथ सुख चाहते है और किसी-न-किसीको अपनेसे अधिक सुखी मानते है। इस प्रकार सत्ता, ज्ञान और सुख—सत्, चित्, आनन्दको हम मानते तो है और यह भी देखते है कि जगत्मे ज्ञान और आनन्द कही पूर्ण नहीं, सब उसको पानेके ही प्रयत्नमे है। जिसे सभी विद्वान् पाना चाहते है, वह हो ही नही—यह कैसे होगा। अतः जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनो पूर्णरूपसे है, वही तो सच्चिदानन्द ईश्वर है। जगत्मे तो अकेली सत्ता ही है। जड पदार्थके परमाणुतकको तोड़ डाला गया, पर वहाँ तो ज्ञान-चेतना और सुख है नहीं; और सबसे छोटे प्राणी जो दूरबीनसे भी कठिनतासे दीखते हैं, उनमे भी सत्ताके साथ ज्ञान रहता है। वे अपने आहारको पहचानते हैं, वे भी सुख चाहते हैं; क्योंकि शत्रुसे डरकर भागते उन्हे भी देखा गया है। यह चेतना, ज्ञान और सुखकी इच्छा जब जडमे नहीं है, तब कहीं माननी पड़ेगी। जहाँ वह है, वही परमात्मा है। वह चेतन ही इस जडका संचालक है। वही सर्वेश्वर है।

इससे यही निर्णय हुआ कि इसका उत्पादक, निर्माता, संचालक, संयोजक, रक्षक—जो कोई है, वही चेतन परमात्मा है। यह हिंदुओंकी अनुभवयुक्त मान्यता सदासे चली आ रही है—इसीको हिंदू-संस्कृति कहते हैं।

अवतारवाद

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा है, यह विश्वास हिंदू-जातिमे प्रायः सदासे ही चला आ रहा है। यह युक्तियुक्त और उचित ही है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमे प्रकट होते हैं, जैसे आकाशमे परमाणुरूपसे स्थित जल ही बादलके रूपमे आकर फिर जल और बर्फके रूपमे प्रकट होकर बरसने लगता है। सर्गके आदिमे सारे पदार्थ भी निराकारसे साकार बनते है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

(गीता ८। १८)

उस निराकाररूप ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे ही सारी स्थूल व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही निराकाररूपसे साकार रूपको धारण करता है। इसीका नाम अवतार लेना है।

तुलसीकृत रामायणमे अवतारवाद स्थान-स्थानपर भरा हुआ है। यहाँ संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

बालकाण्डमे श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि त्रिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

वाल्मीकीय रामायणमे लिखा है कि जब देवता और ऋषियोंने रावणके उपद्रवोंसे दुःखित हो ब्रह्माजीसे प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी उन्हे सान्त्वना देने लगे। उसी समय भगवान् श्रीविष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥

(वा० रा० बाल० १५। १६, १७)

'उसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु, मेघपर चढ़े हुए सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो, वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं भुजाओंमें चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे। सभी देवताओंने उनको प्रणाम किया।'

भगवान्ने देवताओंकी प्रार्थनापर दशरथजीके घरमें मनुष्यरूपसे अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे रूपे पालयन्पृथिवीमिमाम्॥
(वा० रा० बाल० १५। २९, ३०)

'देवता और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें कथा आती है—जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ ले जानेके लिये आये, उस समय दशरथजीके द्वारा सलाहके रूपमें पूछे जानेपर वसिष्ठजीने कहा—

शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥
(अध्यात्म० बाल० ४। १२, १३)

'राजन्! यह देवताओंकी गुह्य लीला सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् सनातन परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं। हे अनघ! पूर्वकालमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की थी, उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है।'

चित्रकूटमें माता कैकेयीने श्रीरामसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा है—

त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ५७)

'आप साक्षात् विष्णुभगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने लीलामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं।'

रावणवधके अनन्तर ब्रह्मादि देवताओंसे बात-चीत करते हुए श्रीरामने कहा कि मैं तो अपनेको दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। वास्तवमें मैं जो हूँ, जैसा हूँ, आप ही बतलाइये। इसपर ब्रह्माजी श्रीरामका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
....
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।
....
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥
(वा० रा० युद्ध० ११९। १३, २७, २८)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु, कृष्ण एवं प्रजापति हैं। आपने रावणवधके लिये ही मानव-शरीर धारण किया है।'

भगवान्के परमधाम पधारनेके प्रकरणमें यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। उस समय ब्रह्माजीके कथनानुसार भगवान्ने अपने भाइयोंके साथ इस मानवविग्रहसे ही उस वैष्णव तेजमें प्रवेश किया—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।
(वा० रा० उत्तर० ११०। १२)

इसी प्रकार गीता, भागवत आदि ग्रन्थोंमें भी अवतारवादका उल्लेख स्थान-स्थानपर मिलता है। इसके

१. गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

२. भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीसे कहते हैं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥

संस्कार प्रायः हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही अङ्कित हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

परलोकवाद

बहुत-से आदमी यह शङ्का करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं; किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं; मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्यमेव मिलता है। वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है। मृत व्यक्तिके प्रति जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है। किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्ताके कोषमें जमा होता है।

(क) कठोपनिषद्में यमराजके प्रति नचिकेताने भी यही प्रश्न किया था कि मरनेपर आत्मा रहता है या नहीं। यमराजने यही उत्तर दिया कि अवश्य रहता है*। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इसके आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है। इसके लिये वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, १२१ वाँ सर्ग देखिये।

अन्यान्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-जातिके हृदयमें यह संस्कार स्वाभाविक ही अङ्कित है। यह युक्तिसंगत भी है। जब मनुष्य जन्मता है, तब उसके जाति, आयु, भोग और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। तथा मनुष्यका जन्मते ही रोना, हँसना, कम्पित होना, सोना, माताके स्तनोंसे स्वयं ही दूधको आकर्षित करना आदि उसके पूर्वजन्मके अभ्यासके द्योतक होनेसे पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं। इसलिये आत्मा नित्य है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।†

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥
(१०।३।४१–४३)

"इसमें शील, उदारता आदि सद्गुणोंमें अपने सदृश दूसरेको न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनोंका पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ था। उसके बाद जब आप दोनों कश्यप और अदितिके रूपमें प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात हुआ; उस समय मेरा शरीर छोटा होनेके कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। इस तीसरे कल्पमें अब मैं ही उसी शरीरसे आप दोनोंके यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। हे सति! मैंने यह आपसे सत्य कहा है।"

* न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

'जो धनके मोहमें मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है, परलोक नहीं है—इस प्रकार माननेवाला वह मूढ पुरुष मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १।२।१८)

'नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है। अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

† गीतामें भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा न तो किसी कालमें जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) श्रीरामचरितमानसमें दशरथजीने कहा है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥

तथा वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥
शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते।
(युद्ध० १११। २५, २६)

'स्वामिन्! इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य मिलता है। शुभ कर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल दुःख भोगना पड़ता है।'

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है—यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें भलीभाँति बतलायी गयी है।* यह युक्तियुक्त भी है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं। फिर उनके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति बनती है। वृत्तिके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही भावी जन्म होता है। इस कर्मोंके भेदके कारण ही मनुष्यके जाति, आयु, भोग और स्वभावकी भिन्नता होती है। अर्थात् सब प्राणियोंमें जो बुद्धि, स्वभाव और भोगकी भिन्नता देखी जाती है, इसका मूल कारण कर्म ही है। अतः कर्मफल प्राप्त होनेकी बात बिल्कुल युक्तिसंगत है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है।

(ग) श्राद्ध-तर्पणका उल्लेख रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है। श्रीरामचरितमानसमें महाराज दशरथकी मृत्यु होनेपर भरतके द्वारा उनकी यथोचित ऊर्ध्वक्रिया करनेका उल्लेख मिलता है। यथा—

नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनीके तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे।
पिण्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः॥
इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान्।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९। १७–१९)

"फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए। वहाँ सबने जलकाङ्क्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये। 'जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है' यों कह उन्होंने इंगुदी फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया।"

रामायणके सिवा श्राद्धका प्रकरण गीता¹, मनुस्मृति² आदि सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

---

* गीता कहती है—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥
(१४। १६)

'श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है।'

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥
(१८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है; किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

१. गीतामें कहा है—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
(१। ४२)

'वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

२. मनुजी कहते हैं—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वित.।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥
(मनु० ३। २७५)

यह बात युक्तिसंगत भी है। जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा कराता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं। उन रुपयोंके बदलेमें उसे आवश्यकता होती है, वही चीज उतनी कीमतकी मिल जाती है। इसी प्रकार पितरोंके नामसे किया हुआ पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है, वहीं आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यदि वह प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि जीवित व्यक्तिके लिये भी अगर कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है, तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा? न्यायतः वह यजमानको ही मिलेगा, कर्म करनेवाले ब्राह्मणको नहीं।

यदि वह प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

ये सब संस्कार हिंदुओंके रग-रगमें भरे हुए हैं। इन्हींको लेकर प्रायः सभी हिंदू सदासे श्राद्ध-तर्पण आदि करते आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरोपासन

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरोपासना सदासे ही प्रधानरूपमें चली आ रही है। हिंदुओंकी तो बात ही क्या, इसको ईसाई और मुसल्मान भी मानते हैं। कोई ईश्वरके साकार रूपकी, कोई निराकारकी और कोई दोनोंकी उपासना करते हैं। यह भेद उचित ही है। हिंदुओंके हृदयमें तो ईश्वरोपासनाके भाव सदासे ही अङ्कित हैं। थोड़ी-सी विपत्ति पड़नेपर भी वे संकटनिवारणार्थ ईश्वरको ही पुकारते हैं और उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं।

'मनुष्य श्रद्धावान् होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधिपूर्वक पितरोंको देता है, वह-वह परलोकमें पितरोंको अनन्त और अक्षय रूपमें प्राप्त होता है।

ईश्वरकी उपासनाका विषय श्रुति-स्मृतियोंमें तो आया

१. श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० २। १६-१७)

'यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है; इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
(श्वेताश्वतर० १। १०-११)

'प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जड-तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है। इस प्रकार जानकर उस परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें साधक उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस परम देव परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे उस प्रकाशमय परमात्माको जान लेनेपर समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।'

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
(मुण्डक० ३। २। १)

'वह निष्कामभाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वरको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परमपुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

२. मनुजी कहते हैं—

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः।
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(मनु० २। ८४, ८५, ८६)

ही है, और भी सभी शास्त्रोंमें[3] इसका उल्लेख अनेक जगह मिलता है। पूर्वकालमें जितने ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा और उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं, उन्होंने हमारे सामने ईश्वरभक्तिका अत्युत्तम उदाहरण और आदर्श रक्खा है, जो कि हमारे लिये अनुकरणीय है।

इतिहास, पुराणोंमें तो यह विषय कूट-कूटकर भरा है। महर्षि वेदव्यासजीने स्त्री और शूद्रोंका वेदोंमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये ही इतिहास-पुराणोंकी रचना की। अतः अठारह पुराणोंमें ऐसा कोई भी पुराण नहीं, जिसमें ईश्वरोपासनाका विषय न हो।

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत[1] तो भक्तिप्रधान ग्रन्थ है ही, किन्तु गीतामें[2] भी उपासनाका विषय विशदरूपमें कहा गया

'अविनाशी तो उस अक्षर—ओंकारको जानना चाहिये, जो परब्रह्म तथा प्रजापतिका स्वरूप है। तथा (दर्शपौर्णमासादि) विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशुजप (जिसे दूसरे न सुन सकें, ऐसा होठोंसे किया जानेवाला जप) सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप तो हजारगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास)-सहित जो चार पाकयज्ञ (बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कला-के भी समान नहीं हैं।'

१. महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (योग० १ । २३)

'ईश्वरकी भक्तिसे भी मन समाधिस्थ हो जाता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

२. महाभारतमें बतलाया है—

तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
(अनुशासन० १४९ । ५,६)

'जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुषकी सदा भक्तिपूर्वक पूजा और ध्यान करता है तथा उसीका स्तवन और उसीको नमस्कार करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोकमहेश्वर, अखिलाधिपति परमात्माकी नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है।' एवं—

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥
(अनुशासन० १४९ । १४२)

'जो जगत्की उत्पत्ति और विनाश करनेवाले और समस्त संसारके एकमात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेवका निरन्तर भजन करते हैं, वे पराभवको नहीं प्राप्त होते।'

३. विष्णुपुराणमें ऋषि पुलस्त्यने कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथापरम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥
(१ । ११ । ४६)

'जो पर—निर्गुण ब्रह्म और अपर—सगुण ब्रह्म है, वही परमधाम है; ऐसे उस हरिकी आराधना करके मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।'

तथा महात्मा और्वने भी बतलाया है—

भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गिवन्द्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥
(३ । ८ । ६)

'भगवान् विष्णुकी आराधना करनेपर मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाण-पद भी प्राप्त कर लेता है।'

१—भागवतकार कहते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२ । ३ । १०)

'किसी भी उदारबुद्धिवाले मनुष्यको—चाहे वह किसी भी प्रकारकी कामनावाला हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्षकी कामनावाला हो—तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।' तथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥
(३ । ३२ । २३)

'भगवान् वासुदेवमें भक्ति करके किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्य और उस ज्ञानको उत्पन्न कर देता है जो कि परब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।' एवं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६ । २ । १८)

'उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेवके नामका कीर्तन—चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया गया हो और चाहे अनजानमें ही किया गया हो—मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे कि अग्नि ईंधनको।

२—गीता कहती है—

है, यहाँतक कि प्रायः सभी अध्यायोंमें इसका उल्लेख मिलता है*। एवं रामायणोंमें अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस तो उपासनाप्रधान ग्रन्थ है ही; वाल्मीकीय रामायणमें भी उपासनाका अनेक स्थलोंपर वर्णन है। श्रीतुलसीदासजीने तो भक्तिका ऐसा प्रवाह बहा दिया कि उसे पढ़नेपर मनुष्यका हृदय भक्ति-भावोंसे सराबोर हो जाता है।

नाम-वन्दना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तथा और भी अनेक स्थलोंपर उपासनाका महत्त्व और प्रभाव वर्णित है। यथा—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥*

अध्यात्मरामायणमें सुतीक्ष्ण ऋषिसे भगवान् कहते हैं—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।
(अरण्य० २। ३६-३७)

'इस लोकमें जो मेरे मन्त्रके उपासक हैं, जो मेरे शरणागत हैं, जो किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवा कोई अन्य गति नहीं, ऐसे भक्तोंको मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'

पञ्चवटीमें लक्ष्मणके पूछनेपर भगवान्‌ने अति गोपनीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्॥
(अरण्य० ४। ५१)

'इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिससे वह मुक्तिको पा लेता है।'

भगवान्‌ने शबरीके प्रति कहा है—

भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥
(अरण्य० १०। २९)

'भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही तत्काल मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है, उसकी उसी जन्ममें निःसन्देह मुक्ति हो जाती है।'

श्रीहनुमान्‌जीने रावणके प्रति कहा है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२। ३-४)

'तथा जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भलीप्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

* देखिये गीता अ० २। ६१; ३। ३०; ४। ११; ५। २९; ६। ४७; ७। १४; ८। ८; ९। ३४; १०। १०; ११। ५४; १२। ८; १३। १०; १४। २६; १५। १९; १६। १; १७। २३; १८। ६६ इत्यादि।

* काकभुशुण्डिजी गरुडजीसे कहते हैं—'मैं आपसे भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं—कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको सहज ही पार कर जाते हैं।'

उसका रहस्य यह है कि वह और उसका कानून एक ही है ।'

—(हरिजनसेवक १४ अप्रैल १९४६)

'भगवान् अपने ढंगसे हमारी प्रार्थना सुनता है । इन्सानोंके ढंगसे भगवान्का ढंग अलग होता है । इसलिये कोई उसे समझ नहीं सकता । प्रार्थनाके लिये श्रद्धाका होना जरूरी है । कोई प्रार्थना बेकार नहीं जाती । प्रार्थना भी दूसरे कामोंकी तरह एक काम ही है । हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है और नामधारी कर्मके फलके बनिस्बत दिलसे की जानेवाली प्रार्थनाका फल बहुत ज्यादा शक्ति रखता है ।'

—(हरिजनसेवक २९ जून १९४७)

महात्माजी प्रातः-सायं नित्य नियमित ईश्वरकी प्रार्थना करते थे; इससे सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके भक्त और आस्तिक थे । दुःखकी बात है कि आज हमलोग उनके कथनपर ख्याल नहीं कर रहे हैं । हमें चाहिये कि हम उनके कथनानुसार ईश्वरपर विश्वास करके ईश्वर-प्रार्थना और रामनामके जपमें प्रवृत्त हो जायँ ।

इस प्रकार उपासनाकी परम्परा अनन्त कालसे चली आ रही है । अब भी हिंदुओंके हृदयोंमें यह भाव स्वाभाविक-रूपसे अङ्कित है । यह शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है ।

मनुष्यकी जैसी श्रद्धा यानी जैसा भाव होता है, वही उसका स्वरूप है । उसीके अनुसार उसकी चेष्टा होती है । चेष्टाके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं तथा संस्कारोंके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति और स्वभाव बनता है, अन्तःकरणके स्वभावके अनुसार ही उसकी श्रद्धा तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसकी स्थिति और स्वरूप होता है । एवं उसके अनुसार ही पुनः उसके आचरण होने लगते हैं । ये आचरण ही संस्कृति हैं । हिंदुओंमें अनन्त जन्मोंके प्रवाहसे जो संस्कृति चली आ रही है, उसके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये शास्त्रके उपदेश और महात्माओंके चरित्र ही प्रधानतया आदरणीय और अनुकरणीय हैं । गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह अनुभव होता है कि मनुष्य जैसे-जैसे आचरण करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं और तदनुसार ही उसके अन्तःकरणका स्वभाव बन जाता है । जैसे एक आदमी कसाई-का काम करता है तो उसके हृदयमें मारकाटके संस्कार इतने अधिक बद्धमूल हो जाते हैं कि उसे स्वप्नमें भी वैसे ही दृश्य दिखायी देने लगते हैं और उसका हृदय कठोर हो जाता है । दूसरी ओर, एक परोपकारी पुरुष हर समय जीवोंके हितके लिये ही चेष्टा करता रहता है, जिससे उसका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु हो जाता है । उससे स्वप्नमें भी जीवोंका अहित नहीं होता । उस दयालुसे कसाईका काम और कसाईमें दयालुका काम होना असम्भव-सा है । यह बात युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही ईश्वरमें आस्तिक भाव—श्रद्धा-प्रेम है । यह हिंदुओंकी संस्कृति है । इस ईश्वरोपासनाके प्रचारमें ही सब सफलताएँ और सबका परम हित सन्निहित है । इसलिये इसका हमें खूब प्रचार करना चाहिये ।

बड़ोंका आदर-सत्कार

प्राचीन धर्मग्रन्थोंको देखनेपर मालूम होता है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंका आज्ञापालन, वन्दन और सेवा-पूजा करना—यह भी हिंदू-संस्कृतिका एक प्रधान अङ्ग है । इसका प्रसङ्ग श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, इतिहास, पुराण

१. श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । (तैत्तिरीय १ । ११ । २)

'माताको देव (ईश्वर) माननेवाला हो । पिताको ईश्वर माननेवाला हो । आचार्यको ईश्वर माननेवाला हो । अतिथिको ईश्वर माननेवाला हो ।'

२. मनुजी कहते हैं—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥

(मनु० २ । २३१)

'पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि—ऐसा कहा है । और वह अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥

(मनु० २ । २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं ।'

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥

(मनु० २ । २३४)

'जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका आदर नहीं किया, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० २ । २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य कर्म पूर्ण होता है । यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' (गौण धर्म) कहे जाते हैं ।'

३. गीता कहती है—

आदि ग्रन्थोंमें कूट-कूटकर भरा है। उन स्थलोंको पढ़नेसे रोमाञ्च होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न आदि तो इसके विशेष आदर्श माने गये हैं। इस विषयमें उनके भाव बहुत ही विलक्षण, उच्चकोटिके और स्फूर्तिदायक हैं।

अध्यात्मरामायणमें वन जाते समय श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम् ॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम् ।

(अयोध्या० ३ । ५९, ६०)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयङ्कर विष पी सकता हूँ तथा सीता, कौसल्या और राज्यको भी छोड़ सकता हूँ।'

इसी प्रकार भरतका भी सेवा-पूजाका भाव बहुत विलक्षण है। वाल्मीकीय रामायणमें आता है, श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूट जाते हुए भरत तथा उनके साथियोंका बहुत सत्कार-सम्मान किया। उन्होंने उन सबको सुख पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिसे दिव्य विविध सामग्रियाँ और महल, राज्यासन आदि रच डाले; किंतु भरत उनमें आसक्त नहीं हुए। वे तो मनसे राज्यासनपर भगवान्‌को ही स्थापित समझकर उनकी पूजा और नमस्कार करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥

(अयोध्या० ९१ । ३८, ३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर वे अपने हाथमें चँवर ले मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

बादमें भी जब भरतजीको श्रीहनुमान्‌जीद्वारा भगवान्‌के अयोध्या लौटनेका शुभ संवाद प्राप्त हुआ, तब वे अत्यन्त हर्षके साथ भगवान्‌की चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर भगवान्‌के दर्शनार्थ चल पड़े। वहाँका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी लिखते हैं—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः ।
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम् ॥
प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत् ॥
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा ।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम् ॥

(युद्ध० १२९ । १७, १८, ३५, ३७)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रखकर अपने साथ श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए सफेद चँवर भी ले लिये। फिर प्रसन्नवदन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उन्होंने दूरसे ही बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अर्घ्य, पाद्य आदिसे उनकी पूजा की और विनीतभावसे प्रणाम किया। (इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह विमान पृथ्वीपर उतर आया। भगवान्‌ने भरतको उसपर चढ़ा लिया।) भरत मेरुपर्वतपर स्थित-से दिखायी पड़नेवाले सूर्यकी तरह उस विमानमें स्थित भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए गिर गये।'

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—जब भरतजी तथा माताएँ आदि सब चित्रकूट पहुँचे हैं, उस समय श्रीरामचन्द्रजी सब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं।

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः ।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्यातीव दुःखिता ॥
इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः ।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम् ॥
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः ।

(अयोध्या० ९ । ९, १०, ११)

'श्रीरामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरणवन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया। फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको आते देख उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर वारंवार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।'

जब भरतजीकी प्रार्थनापर भगवान् उन्हें चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये चरणपादुका देते हैं, तब वे उन्हें लेकर

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

(१७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

कोई रुकावट भी नहीं है। यह बड़े दुःखकी बात है। इससे बढ़कर धर्मपर और कुठाराघात क्या हो सकता है। सचमुच हिंदू-धर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही हिंदूकोडकी सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक भंगी, चमार, विधर्मी या मांसाहारी भी उच्चजातिके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि निरामिषभोजीके साथ सम्बन्ध कर सकता है—इसमें भी कोई रुकावट नहीं।

इस कोडमें लड़कीको १६ वर्षकी होनेपर बिना अभिभावककी आज्ञाके स्वतन्त्रतासे विवाह करनेकी छूट दी गयी है। इसके अनुसार पिताकी इच्छा न होनेपर भी लड़की चाहे जिससे विवाह कर सकती है और इस प्रकार यदि पिताके घरमें चार लड़कियाँ हों तो उनके यहाँ एक निरामिषभोजी और एक मांसाहारी तथा एक अछूत और एक ब्राह्मण दामादके रूपमें आ सकते हैं और हिंदूकोडके कानूनके अनुसार उन्हें कोई हटा नहीं सकता। इससे घरवालोंको इतना क्लेश और दुःख हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं। इसके अतिरिक्त इस 'कोड' में अदालतमें रजिस्ट्रीद्वारा विवाहको वैध मान लिया गया है, यह बड़ा ही अनर्थका मूल है।

४—इसी प्रकार दत्तक पुत्र भी चाहे जिस जातिका लाया जा सकता है। एक हिंदू निरामिषभोजी ब्राह्मणके परिवारमें चार भाई हों, उनमें तीनके सन्तान हो और एकके न हो तो वह निःसन्तान भाई स्वेच्छानुसार अछूत-जातिके या मांसाहारी बालकको भी दत्तक पुत्र बना सकता है। अथवा जो पहले ईसाई या मुसलमान रहा है किंतु अब जिसने हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया है, उसे भी ला सकता है; इसके लिये भी कोई रुकावट नहीं है। देखिये, जिसे अपने भाइयोंको दुःख पहुँचाना हो, कोई वैर-बदला लेना हो तो उसके लिये उनको तंग करनेका यह बड़ा भयङ्कर उपाय निकल आता है। उस दत्तक पुत्रका कोई भी कानूनन विरोध नहीं कर सकता।

सम्पत्तिके अधिकारके विषयमें भी बड़ी गड़बड़ी होगी। यदि कोई पिता सम्पत्ति हटा दे तो नाबालिग बच्चे दावा करके भी उससे क्या पा सकेंगे। इसका फल क्या होगा? वे बच्चे असहाय और अनाथ होकर भटक सकते हैं।

अतः यह हिंदूकोड हिंदू-संस्कृतिके सर्वथा विरुद्ध और घातक है।

भारतके लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुषोंने—जिनमें सम्मान्य आचार्य, विद्वान्, वकील, बैरिस्टर, सुविख्यात नेता और विदुषी महिलाएँ भी शामिल हैं, इस बिलका घोर विरोध किया है। फिर भी डाक्टर अम्बेडकरने बिलको कानूनरूपमें लानेके लिये धारासभामें उपस्थित कर दिया है; किंतु वास्तवमें धर्मके विषयमें कानून बनानेका इस धारासभाको कोई अधिकार नहीं है। इस विधानसभामें ही मूलभूत सिद्धान्तके रूपमें यह स्वीकृत हो चुका है कि किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा तथा इसे 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित किया गया है। ऐसी अवस्थामें किसी एक धर्मके विषयमें कानून बनाने जाना महान् अन्याय है। हिंदुओंके विवाह-संस्कार आदि कार्य पवित्रतम धार्मिक अनुष्ठान हैं—इसे कोई भी समझदार व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता।

यद्यपि डाक्टर अम्बेडकरने यह स्वीकार कर लिया है कि बहुमत इस बिलके विरोधमें है, फिर भी वे बलात्कारसे इसे हिंदुओंपर लादने जा रहे हैं। यह लोकतन्त्रात्मक सरकारके लिये बड़े ही अन्याय एवं लज्जाकी बात है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह हिंदूकोड बिल्कुल अशास्त्रीय और हिंदुओंकी समाज-व्यवस्थाको तोड़ देनेवाला है। यदि इसे कानूनका रूप दे दिया गया तो इसमें अनादिकालसे चली आती हुई हिंदुओंकी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर लोग दुःखोंके गर्तमें गिर जा सकते हैं।

अतः सभी भाई-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे इसका यथासाध्य खूब जोरोंसे विरोध करें; क्योंकि कानूनरूपमें आ जानेपर फिर इससे बचनेका कोई उपाय नहीं रह जायगा! फिर तो सभीको कष्टोंका सामना करना पड़ सकता है। सरकारसे भी हमारी प्रार्थना है कि वह हिंदू-लोकमतके विरुद्ध कानून बनानेका विचार छोड़ दे और बिलको वापस ले ले।

विचारनेका विषय है कि कांग्रेस-सरकार किसीके धर्मको शिक्षा-विभाग और कानून-विभागमें लानेका अधिकार नहीं रखती, किंतु वह हिंदू-धर्मको कानूनमें गाँठनेका विचार करती है—यह कौन-सा न्याय है? यदि कानून भी बने तो केवल हिंदुओंके लिये ही क्यों; ईसाई, मुसलमान—सभीके लिये एक कानून बनना चाहिये। जैसे ईसाई और मुसलमानोंके धर्मके विषयमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करती और उनको स्वतन्त्रता दे रक्खी है, उसी प्रकार हिंदुओंके धर्मके विषयको हिंदुओंपर छोड़ देना चाहिये। हिंदुओंके धर्मको कानूनका रूप देकर हिंदुओंके चित्तको आघात पहुँचाना—यह कांग्रेस-जैसी सरकारके लिये बहुत ही अनुचित है।

अतः सभी भाइयोंसे निवेदन है कि वे गाँव-गाँवमें सभाएँ करके इस हिंदूकोडके विरोधमें प्रधानमन्त्री श्रीनेहरूजी-के तथा भारतीय-पार्लामेंटके स्पीकर श्रीमावलङ्करके नाम तार और विरोधपत्र भेजें और तबतक भेजते रहें, जबतक हिंदू-कोड वापस न ले लिया जाय।

भविष्यमें हिंदुओंको सतर्क रहना चाहिये। असेम्बली आदिका चुनाव हो, तब उन्हीं सज्जनोंको वोट देना चाहिये

जो कि हिंदू-धर्मके अनुयायी हों। यदि अनुयायी न हों तो कम-से-कम विरोधी तो न हों। जो हिंदू-धर्मको कानूनमें लाना चाहते हैं, उन्हें तो कभी वोट नहीं देना चाहिये।

इसी प्रकार गायोंकी रक्षा करना हिंदुओंका परमधर्म है। यह भारत अब अंग्रेजोंके हाथसे मुक्त हो गया, मुसल्मानोंने अपना पाकिस्तान अलग बना ही लिया; अब तो इसमें गायका वध किया जाना कतई बंद हो जाना चाहिये। यदि गो-वध सर्वथा बंद नहीं होगा और बूढ़ी तथा बेकार गायोंको मारनेकी छूट रहेगी तो जैसे वर्तमानमें छोटी बछिया और जवान दूधवाली गायें मारी जा रही हैं, वही सिलसिला जारी रह सकता है। क्योंकि घूस देकर कसाई उपयोगीको भी अनुपयोगी पास करा ले सकते हैं और इसपर कोई विरोध करेगा तो उसे सफलता मिलनी कठिन है। इससे केवल दुनिया-की आँखमें धूल झोंकना यानी धोखा देना होगा कि हमने उपयोगी गायोंका वध बंद कर दिया। अतः इसके लिये भी हिंदूमात्रको सरकारसे प्रार्थना करनी चाहिये कि गो-वध सर्वथा बंद कर दें। तथा अगले चुनावमें उन्हींको वोट देना चाहिये, जो सर्वथा गो-वध बंद करनेके समर्थक हों; जो गो-वधके लिये छूट देनेवाले हैं, उन्हें कभी वोट न दें। सरकारसे हमारी भी प्रार्थना है कि सरकार गम्भीरतासे सोचकर समस्त भारतमें गो-वधको सर्वथा बंद कर देनेका कानून बनानेकी कृपा करे। यदि स्वराज्य होनेपर कांग्रेस-सरकारसे भी हम ऐसी आशा न करें तो फिर किससे करें? स्वराज्य मिलनेके पूर्व नेताओंने यह विश्वास भी दिलाया था कि स्वराज्य होनेके बाद गो-वध कतई बंद किया जाना सहज हो जायगा; अब इस बातको काममें लाना कांग्रेस-सरकारका कर्तव्य है।

रामराज्यका स्वरूप

(लेखक—श्रीरामकृष्णजी पोद्दार)

रामराज्य

राम राज राजत सकल धरम निरत नर-नारि।
राग न रोष न दोष दुख सुलभ पदारथ चारि॥
राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास।
तरु सुरतरु सुरधेनु महि अभिमत भोग बिलास॥
खेती बनि बिद्या बनिज सेवा सिलिप सुकाज।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम कें राज॥
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥
कोपें सोच न पोच कर करिअ निहोर न काज।
तुलसी परमिति प्रीतिकी रीति राम कें राज॥
(दोहावली)

भारतवर्षमें अनेकानेक राज्य प्रतिष्ठापित हुए, जिनपर अनेकों प्रतापशाली तथा धर्मसम्पन्न राजाओंने शासन किया। नहुष, ययाति, शिबि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र-जैसे प्रतापी सम्राट् भारतमें हुए। महाराज दशरथ-जैसे सच्चे भगवत्-प्रेमी तथा सत्यप्रिय सम्राट् भी भारतमें हुए—जिन्होंने शरीरका त्याग कर दिया, किंतु सत्यको नहीं छोड़ा। इन सबका हम श्रद्धा-सम्मानके साथ स्मरण करते हैं। परंतु हम इनके राज्योंको नहुषराज्य, शिबिराज्य, हरिश्चन्द्रराज्य अथवा दशरथराज्य कहकर स्मरण नहीं करते; पर हम 'रामका राज्य' अथवा 'रामराज्य' कहकर स्मरण करते हैं, राम और उनके राज्य—दोनोंके प्रति सप्रेम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। इसका मुख्य कारण क्या है?

श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम क्यों?

वास्तवमें परब्रह्म परमात्माके रामस्वरूपको 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' क्यों कहते हैं, इसे कम लोग जानते हैं। श्रीरामने सब प्रकारकी सर्वोत्तम मर्यादाएँ प्रतिष्ठित की थीं। आपने सम्राट होनेके पूर्व अपने निर्मल पूत चरित्रोंद्वारा व्यष्टिकी सर्वोत्तम मर्यादाओंको स्वयं पालन करके दिखलाया। एक व्यक्ति समाज, परिवार आदिके साथ कैसा व्यवहार करे, एक व्यक्तिको जीवनयात्रा चलानेके लिये तथा जीवनके महान् उद्देश्य परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारके गुणोंकी, किस प्रकारके त्याग-तपकी आवश्यकता होती है—इसका दिग्दर्शन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी लीलाओंद्वारा मर्यादाएँ प्रतिष्ठापित करके प्रत्यक्ष करा दिया।

राज्यारोहणके पश्चात् उन्होंने जो सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था, अर्थनीति, धर्मनीति, समाजनीति तथा राजनीतिकी मर्यादाएँ स्थापित कीं, उन सबके समूहका नाम ही 'रामराज्य' है। उन्होंने व्यष्टि तथा समष्टि—दोनोंके लिये ही रची हुई मर्यादाओंका अपने जीवनमें तथा राज्यके द्वारा भलीभाँति परिपालन किया।

रामराज्य क्या और कैसा?

अब प्रश्न उठता है 'रामराज्य क्या और कैसा था?' तो इसका उत्तर यह है—रामराज्यमें सभी वर्गोंके समस्त नर-नारी सच्चरित्र, वर्णाश्रम-धर्म-परिपालक तथा स्व-कर्तव्य-

निष्ठ थे। कर्तव्यका मानदण्ड अपनी इच्छामात्र नहीं था; गोस्वामीजीके शब्दोंमें 'करहु जाइ जा कहुँ जो भावा' नहीं था। वे वेदमार्गको—शास्त्रवचनोंको मानदण्ड मानकर जीवनशकटको अग्रगामिन करते थे। इसके फलस्वरूप रोग, शोक तथा भयकी प्राप्ति उनको नहीं होती थी। सभी स्वधर्मपरायण तथा काम-क्रोध-लोभ-मदादिकोंसे सर्वथा रहित थे। कोई किसीसे वैर नहीं करता था। वैरके अभावमें प्रेम स्वाभाविक ही है। सभी गुणज्ञ, गुणसम्पन्न, पुण्यात्मा, ज्ञानी और चतुर थे; पर उनकी चतुरता भजनमें, ज्ञानमें थी—परदारा, परधनापहरणमें नहीं।

मानवद्वारा आचरित इस धर्मका—कर्तव्य-पालनका प्रभाव प्रकृति तथा पशु-पक्षियोंपर भी पड़े बिना नहीं रहा। गोस्वामीजी पशु-पक्षियोंके लिये लिखते हैं—'रहहिं एक सँग गज पंचानन।'

खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

स्वार्थत्याग तथा धर्मपालनका प्रकृतिपर कैसा प्रभाव पडा, इसको श्रीगोस्वामीजी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

त्रिविध तापका अभाव

तीन प्रकारके ताप होते हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक। ये तीनों ही रामराज्यमें बिल्कुल नहीं रह गये थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

धर्म तथा तदन्तर्गत स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करनेवालोंको भय, शोक, रोग आदि दैहिक तापोंकी पीड़ा कैसे हो सकती थी। भौतिक ताप प्रकृतिके उपर्युक्त प्रकारसे प्रभावित हो जानेके पश्चात् कैसे हो सकते थे। दैविक ताप तो स्वकर्तव्यविमुख तथा अधार्मिक व्यक्तियोंको दण्डस्वरूप मिला करते हैं, उनकी रामराज्यमें स्थिति ही कहाँ थी?

त्रिविध विषमताका अभाव

रामराज्यमें (१) आत्मिक (आन्तरिक), (२) बाह्य और (३) आर्थिक विषमताएँ बिल्कुल नहीं थीं। १—सद्भाव, सद्विचार, सद्भावना और परमार्थ ही परम लक्ष्य होनेके कारण साधनाके द्वारा सभीके अन्तःकरण शुद्ध हो गये थे और सभी लोग भगवान्की प्रेमभक्तिमें निमग्न होकर परमपदके अधिकारी हो गये थे। इससे उनमें 'आत्मिक वैषम्य' नहीं था। वे सबमें अपने भगवान्को देखते थे—'निज प्रभुमय देखहिं जगत।'

२—आत्मिक विषमताके दूर हो जानेके कारण 'बाह्य विषमता' भी सर्वथा नष्ट हो गयी थी। किसीको किसी बातका गर्व करने अथवा छोटे-बड़ेका प्रश्न उठानेके लिये अवसर ही न था। शुद्ध अन्तःकरणवालोंको किसीसे राग-द्वेष अथवा छोटे-बड़ेका गर्व हो ही कैसे सकता था।

३—पर्वतोंके द्वारा मनोवाञ्छित मणिमाणिक्य दिये जानेसे, समुद्रद्वारा रत्नोंके बाहर फेंक देनेसे, विलासिता एवं आराम-तलबीके न रहनेसे, स्वकर्तव्यपालनकी निष्ठासे तथा मुद्राके सर्वथा न रहनेसे रामराज्यमें 'आर्थिक विषमता' भी नहीं थी। इसका अर्थ यह नहीं कि रामराज्यमें विशाल व्यापार ही नहीं था। वैश्यवर्ग अपना कर्तव्य समझकर बड़े-बड़े व्यापार करते थे। परंतु रामराज्यमें सभी वस्तुएँ बिना मूल्य बिकती थीं; जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वह उसी वस्तुको बाजारसे जितनी चाहे, उतने परिमाणमें प्राप्त कर सकता था। इसलिये कोई विशेष संग्रह भी नहीं करता था।

राजा और प्रजाका सम्बन्ध

जिस राज्यमें पाप अथवा अपराधकी कभी स्थिति ही न हो, जिस राज्यके लिये श्रीगोस्वामीजीके अनुसार—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

—ऐसी स्थिति हो, उस राज्यमें, तथा जिसमें सम्राट् भगवान् रामचन्द्र प्रजासे कुछ आध्यात्मिक ज्ञानपर कहना चाहते हैं तो हाथ जोड़कर कहते हैं कि 'यदि आपलोगोंका आदेश हो तो मैं कुछ कहूँ। आपको अच्छा लगे तो सुनिये, अच्छा न लगे अथवा मैं कोई अनीतिपूर्ण बात कहूँ तो मुझे रोक दीजिये।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

—वहाँ, उस राज्यमें राजा-प्रजाके कैसे क्या सम्बन्ध हो सकते हैं—सो स्पष्ट है।

रामराज्यमें सभी व्यक्तियोंने इहलोक और परलोक दोनोंको सफल किया था। उस समयके-जैसा सर्वतोभावेन मर्यादा-मण्डित राज्य कभी स्थापित नहीं हो सका। इसीलिये आज भी, युगोंके पश्चात् भी भारतकी जनता पवित्र रामराज्यका स्मरण करती है!



हिंदू संस्कृतिके संक्षिप्त सूत्र

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

१. हिंदूकी दृष्टिमें धर्म, संस्कृति, जीवन—तीनों क्षेत्रोंका विस्तार समान है। एकको हटाकर एक नहीं रहता।

२. हिंदू संस्कृतिका दृष्टिकोण समन्वयप्रधान है। समन्वय हिंदुत्वकी सबसे बड़ी विशेषता है। विश्वके साथ अविरोध-भाव प्राप्त करनेकी पद्धति समन्वय है।

३. 'बहुधा' भावकी स्वीकृतिसे सहिष्णुताका जन्म होता है। हिंदू धर्म सहिष्णुताकी प्राणवायुसे जीवित है।

४. बहुधामें एकत्वकी पहचान हिंदू संस्कृतिका प्रयत्न रहा है। एकत्वका आग्रह बहुत्वका नाश करके हिंदू संस्कृतिको इष्ट नहीं है। बहुधासे ही एकको महिमा प्राप्त होती है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह हिंदू विचारोंका अन्तर्यामी सूत्र है।

५. अनेक संघर्षोंके बीचसे समन्वयकी प्राप्ति हिंदू संस्कृतिके इतिहासका राजमार्ग रहा है।

६. धार्मिक स्वातन्त्र्य, सामाजिक स्वातन्त्र्य, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य हिंदू संस्कृतिको इष्ट हैं; किंतु इनका उपभोग सत्यदर्शनके लिये होना चाहिये।

७. जड और चेतनका आपेक्षिक मूल्याङ्कन हिंदू संस्कृतिकी विशेषता है।

८. चैतन्य ही महान्, नित्य, रसपरिपूर्ण और प्राप्त करनेयोग्य तत्त्व है। इस प्रकारका सचेष्ट प्रयत्न और तीव्र विश्वास हिंदू संस्कृतिके प्रत्येक युगमें प्रकट होता रहा है।

९. संसार और उसके उपभोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं—यह दृढ प्रतीति हिंदू मनमें सदा ऊँची प्रतिष्ठाकी पात्र बनी रही।

१०. सांसारिक जीवनका उचित मूल्य तो आँक लिया गया, किंतु उसकी उपेक्षा या अवहेलना करना हिंदू संस्कृतिको इष्ट नहीं। जो जडकी उलझनको नहीं समझ सका, वह चैतन्यको कैसे समझ सकता है? निःश्रेयसके साथ अभ्युदयकी प्राप्तिपर भी हिंदू दृष्टिकोणने बहुत बल दिया है। लोक और परलोकका समन्वय, जड और चेतनका समन्वय प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति हिंदू धर्मको मान्य है।

११. इसी दृष्टिकोणसे हिंदू संस्कृतिमें साहित्य, कला, सौन्दर्य और सँवारे हुए जीवनके अनेक वरदानोंको प्रतिष्ठित स्थान दिया गया।

१२. धर्म और जीवनका मेल हिंदू संस्कृतिके आग्रहका विषय है। धर्म धारणात्मक नियमोंकी समुदित संज्ञा थी।

'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' (व्यास)

सम्प्रदाय या मत-मतान्तरके लिये भी 'धर्म' शब्दका प्रयोग हुआ; परंतु नित्य धर्म-तत्त्व इन सबके ऊपर और बड़ा है। धर्म और सर्वोपरि चैतन्यका धरातल एक है।

१३. ऋत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चैतन्य अभिन्न और सर्वोपरि हैं। इनकी अखण्ड निष्ठा हिंदू संस्कृतिका महान् युग-युगव्यापी श्रद्धाका विषय रहा है।

१४. हिंदू संस्कृति चैतन्यपर आश्रित होनेके कारण व्यक्तिको बाँधकर नहीं रखना चाहती। हिंदू समाजके बन्धन स्थितिके पोषक हैं, अर्थात् अपने केन्द्रसे दाहिने-बायें, आगे-पीछे भटकनेको व्यक्तिके लिये अनावश्यक विघ्न माना गया है। किंतु ऊर्ध्वगति या अपने केन्द्रसे मानस जगत्में ऊँचे उठना प्रत्येकके लिये प्रत्येक स्थितिमें बहुत आवश्यक माना गया है।

१५. ऊर्ध्वगति ही अध्यात्मका कल्याण है। अध्यात्मकी साधना हिंदू संस्कृतिके आग्रहका विषय है।

१६. कर्मपर हिंदू संस्कृतिमें पूरा जोर दिया गया है; किंतु कर्म बिना धर्मके अधूरा है। जिस कर्ममें ज्ञानका भाव नहीं, वह कर्म स्वार्थमें सना हुआ होनेसे व्यक्ति और समाजके जीवनको और भी उलझनमें डाल देता है।

१७. हिंदू धर्मकी दृष्टिमें कर्म जीवनका आवश्यक लक्षण है। कर्मके बिना जीवनकी स्थिति असम्भव है। ठीक विधिसे किये जानेवाले कर्मको योगकी पदवी दी गयी है।

१८. हिंदू संस्कृति लौकिक विजयसे उतनी तृप्त नहीं होती, जितनी आध्यात्मिक विजयसे। आज भी हिंदूका मन अध्यात्मसे प्रफुल्लित, रसतृप्त और आकर्षित होता है। लौकिक विजयके भीतर लोभ, स्वार्थ, हिंसा छिपी रह सकती हैं; किंतु अध्यात्मकी जय केवल धर्मपर टिकी रहती है और चार खूँट जागीरी या सार्वजनिक स्वागत प्राप्त करती है।

१९. हिंदुओंने राजनीति और दण्डनीतिका आविष्कार तो किया किंतु सर्वापहारी राजसत्ता उनको कभी नहीं रुची। जीवनका अधिक-से-अधिक क्षेत्र राजसत्तासे किस प्रकार बचा रह सकता है, इसका उपाय हिंदू सामाजिक जीवन और पारिवारिक जीवनकी पद्धतिमें पाया जाता है। जीवनके अनेक समझौतों-के बीचमें राज्य भी एक समझौता है, उसे सबका स्थान छीनकर जीवनपर छा जानेका अधिकार हिंदू संस्कृतिमें नहीं पाया जाता। हिंदू जीवनका अधिकतम क्षेत्र बाह्य नियन्त्रणसे जान-बूझकर अछूता रक्खा गया है। हिंदुओंके संस्कार जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीवनका नियमन करनेके लिये पर्याप्त हैं, वे मनुष्यके आपसी प्रबन्धके बलसे प्रचलित और विकसित होते रहे हैं। बहुविधता उनकी विशेषता है, जो देशकालकृत भेदोंको स्वीकार करती है।

२०. हिंदूका मन हिंदू संस्कृतिका ही एक टुकड़ा है। वह मन उदार, सहिष्णु, नूतन भावोंका जागरूकतासे स्वागत करनेवाला है। अनुशासन या अङ्कुशकी अपेक्षा वह उच्च आदर्श, त्यागकी भावना, स्वगत कर्म-प्रेरणासे अधिक द्रवित होता है। उस मनको दृढ़तासे लोकहितमें बाँधनेके लिये, उसमें उदात्त भावोंको भरनेके लिये त्याग, तप या यज्ञका धरातल ही एकमात्र उपाय है। त्यागकी भावनाको सामाजिक स्तरपर जो उतार सकता है, वही हिंदू संस्कृतिकी छिपी हुई मानस निधितक पहुँच पाता है। अन्यथा भारतीय मन समाजकी ओरसे अपने तन्तु समेटे हुए पड़ा रहता है।

ब्रह्म कौन है ?

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म। (तैत्तिरीय उ०)

ये सब भूतप्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसकी सत्तासे जीवित रहते हैं और विनाशके समय जिसमें प्रवेश कर जाते है वह ब्रह्म है।

हिंदूका सामाजिक और राष्ट्रिय आदर्श

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्०ए०)

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने प्रकारके संघर्ष और संग्राम होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति होती है उनके देह, इन्द्रिय और मनके अभाव, प्रयोजन एवं आकाङ्क्षाके क्षेत्रमें तथा बाह्य सुख-सम्पत् और प्रभुत्वके क्षेत्रमें । प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र और घर आदिकी आवश्यकता तथा सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकाङ्क्षा होती है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थका प्रतिद्वन्द्वी बनता है। यदि अन्न, वस्त्र, गृह, वित्तादि और पार्थिव सुख-सम्पत् एवं प्रभुत्व ही मानव-समाजमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ माने जायँगे, तो इस जगत्‌में व्यक्तिगत विरोध, श्रेणिगत संघर्ष और जातिगत संग्राम निरन्तर चलते रहेंगे। किसी प्रकारकी भी राष्ट्रनीति अथवा समाजनीति मानव-समाजकी इस अशान्तिके दावानलसे रक्षा करनेमें समर्थ न होगी। आग बुझानेकी प्रत्येक चेष्टा नयी-नयी आग सुलगाती रहेगी।

भोगको ही आदर्श माननेवाली जडवादी जाति और समाजके जीवनमें बाह्य आपातरमणीय उन्नतिके साथ-साथ अशान्तिका दुर्भोग बढ़ना अनिवार्य है। पाश्चात्त्य जातियोंकी उन्नतिके इतिहास इस विषयमें सुस्पष्ट प्रमाण देते हैं। बाह्य सम्पत्‌के आदर्शको केन्द्र बनाकर यदि मनुष्य अपने ज्ञान और शक्तिका विकास करता है तथा समाज और राष्ट्रका निर्माण करता है, तो उससे स्थूल दृष्टिमें कुछ समयके लिये जातिविशेष और सम्प्रदायविशेषकी आर्थिक उन्नति, विषयसुखोंकी प्रचुरता तथा राष्ट्रिय प्रभावकी वृद्धि भले ही देखनेमें आवे; परंतु उसके साथ ही उन जातियोंके भीतर एक वर्गके साथ दूसरे वर्गका, एक सम्प्रदायके साथ दूसरे सम्प्रदायका तथा एक प्रान्तके साथ दूसरे प्रान्तका संग्राम अनिवार्यरूपमें तथा स्वाभाविक नियमानुसार उत्पन्न हो जाता है। भोगके आदर्शको केन्द्र बनाकर जो उन्नति होती है, वह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्षके अन्तरालमें ही होती है, और इस प्रकारके संग्रामके भीतर जो उन्नति प्राप्त होती है वह कभी सर्वसाधारणकी इच्छित उन्नति नहीं होती। समस्त व्यक्तियों तथा सारे दलोंके सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी कामनाकी पूर्ति किसी भी नीति अथवा कौशलके द्वारा सम्भव नहीं है। जो संग्राममें सुदक्ष, निर्माण और संगठन-शक्तिमें श्रेष्ठ एवं कूटनीतिका जाल फैलानेमें सुचतुर होते हैं, धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है, पार्थिव भाग्यलक्ष्मी उन्हींकी अङ्कशायिनी होती है—अवश्य ही कुछ समयके लिये ही। संग्राममें जो पटु नहीं होते, जिनमें प्रबल शक्ति नहीं होती, बुद्धिमें जो सीधे-सादे होते हैं, प्रतियोगितामें जो पराजित हो जाते हैं, वे भीतर द्वेष, हिंसा और घृणाका पोषण करते हुए भी उन लोगोंके चरणोंमें आत्म-विक्रय करनेके लिये बाध्य होते हैं, तथा उनके आज्ञानुसार चलते और उनके जूँठे टुकड़े खाते हुए जीवन-यापन करते-करते मनमें छिपी हुई प्रतिहिंसाको चरितार्थ करनेका सुयोग ढूँढ़ते रहते हैं। शक्तिशाली सम्पत्‌शाली प्रभुओंके भाग्यमें भी निर्बाध शान्ति-सुखका सम्भोग सम्भव नहीं होता। वे एक ओर तो अपने प्रतिद्वन्द्वी अन्यान्य शक्तिशाली और सम्पत्‌शाली धनलोलुप और राज्य-लोलुपोंके भयसे अस्तव्यस्त रहते हैं और दूसरी ओर जिनको शोषित और वञ्चित करके उन्होंने अपने श्रेष्ठत्वको स्थापित किया है, उनके विद्रोहकी आशङ्कासे भी सर्वदा आतङ्कित रहते हैं। उनको सर्वदा ही संग्रामके लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है। वस्तुतः बाह्य सम्पत्‌में जिसकी निष्ठा है, उस जाति और समाजकी सभ्यता और संस्कृति संग्रामात्मिका हो जाती है। संग्राममें पटुता ही उसकी सभ्यताका लक्षण समझा जाता है। अतएव एक संग्रामके बाद दूसरा संग्राम और एक क्रान्तिके बाद दूसरी क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। परिणाम यह होता है कि ऐश्वर्य और प्रभुत्व निरन्तर हस्तान्तरित होते रहते हैं और जगत्‌में शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

इस उत्कट समस्याके स्थायी समाधानका एकमात्र मार्ग है समाज-विधान, राष्ट्र-विधान और अर्थ-नीतिको आध्यात्मिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित करना, मनुष्यके व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनके सारे विभागको धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित करनेकी व्यवस्था करना और सभी श्रेणियोंके मनुष्योंको उनके समस्त कार्योंद्वारा आध्यात्मिक कल्याणनिष्ठ बना डालनेकी प्रबल चेष्टा करना। धर्मतत्त्वके सम्बन्धमें जिनकी तनिक भी यथार्थ अनुभूति है, वे जानते हैं कि धर्म कोई साम्प्रदायिक विशेष मतवाद नहीं है, कतिपय विशेष प्रकारके पारलौकिक कर्मकाण्ड भी नहीं हैं, कोई विशेष प्रकारकी उपासना-प्रणाली या आचार-व्यवहार भी नहीं है, एवं वास्तविक जीवनको

कर्म योगमें परिणत होगा और जीवन कल्याणमय हो जायगा। हिंदूके समाज-विधान, राष्ट्र-विधान तथा प्रत्येक कर्मक्षेत्रमें इसी यज्ञनीतिकी शिक्षा दी जाती है।

कोई मनुष्य समाजके चाहे किसी स्तरमें उत्पन्न क्यों न हुआ हो, चाहे किसी प्रकारकी शक्ति और सम्पत्का अधिकारी क्यों न हो, चाहे किसी प्रकारके सुख-दुःखका उपभोग क्यों न कर रहा हो—इन सबके द्वारा उसके जीवनका मूल्य निर्धारित नहीं होता, उसकी मानवोचित मर्यादाका निरूपण नहीं हो सकता। वह किस प्रकारके आदर्शकी सेवामें अपनी शक्ति और सम्पत्को लगाता है, किस प्रकारकी दृष्टिसे समाजमें औरोंके साथ व्यवहार करता है, किस तरह सुख-दुःखादिको वरण करता है तथा किस दृष्टिसे अपने कर्मोंको देखता है—इन्हीं बातोंपर उसके जीवनका मूल्य और मर्यादा निर्भर करती हैं। बहुत ही अल्प शक्ति, अल्प ज्ञान और अल्प धन-सम्पत्का अधिकारी होते हुए भी यदि कोई अपने जीवनको यज्ञमय कर डालता है और अपने समस्त कर्मोंको सेवा-बुद्धिसे सम्पादन कर सकता है तो उसका जीवन सार्थक है तथा उसके जीवनका अधिक-से-अधिक मूल्य है।

हिंदू समाजके शीर्षस्थानीय ब्राह्मण और संन्यासीगण जातिकी दृष्टिमें सत्य, प्रेम, पवित्रता, संयम, त्याग और निःस्वार्थ सेवाके जीवन्त विग्रहरूपमें सर्वत्र विचरण करते हैं। वे 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' सब प्रकारके लौकिक स्वार्थोंको त्यागकर आध्यात्मिक स्वार्थसिद्धिके आदर्शको समुज्ज्वलरूपसे सामने रखते हैं तथा जाति और समाजके सब स्तरोंके नर-नारियोंके विचारों और कर्मोंपर उनकी योग्यताके अनुरूप प्रभाव डालते हैं। जब समाजमें आध्यात्मिक स्वार्थ लौकिक स्वार्थकी अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता है, मनुष्यका जीवन जब कर्मक्षेत्रमें ही क्षणभङ्गुर बाह्य स्वार्थको कर्मयज्ञमें आहुति देकर अनन्त कालतक रहनेवाले विराट् स्वार्थके प्रति अनुरक्त होता है, तभी स्वार्थ और परार्थका द्वन्द्व, व्यष्टि-स्वार्थ और समष्टि-स्वार्थका संघर्ष, विभिन्न श्रेणियोंके स्वार्थोंकी प्रतियोगिता अधिकांशमें तिरोहित हो जाती है तथा सर्वत्र प्रेम, शान्ति और ऐक्यका राज्य स्थापित हो जाता है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदुओंके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानमें जिस ब्राह्मण और संन्यासीको आदर्श स्थान प्राप्त है, उसके लिये राष्ट्रिय अधिकार अपने हाथमें लेनेकी आज्ञा नहीं है, वेतनभोगी होकर उच्च राज-कर्मचारीका पद लेनेकी मनाही है, व्यवसाय-वाणिज्य, शिल्प, कृषि आदि अर्थकरी वृत्तिमें अपनेको नियोजित करना मना है, लौकिक धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर अधिकार करनेकी चेष्टा निषिद्ध है तथा राजा या धनीके अधीन किसी प्रकारकी नौकरी स्वीकार करना वर्जित है। कोई ब्राह्मण या संन्यासी यदि राजा या शासनकर्ता, सेनापति या जमींदार होकर राष्ट्रिय सामर्थ्यके बलपर समाजके ऊपर अपना आधिपत्य जमाता है, अथवा किसी बड़ी फैक्टरी, किसी बड़े वाणिज्य-व्यवसाय अथवा कृषि-क्षेत्रका मालिक बनकर अर्थके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें लगता है, अथवा नौकरी करके अपने स्वातन्त्र्यको खोकर जीविका अर्जन करता है तो वह पतित हो जाता है, ब्राह्मणोचित और संन्यासोचित अधिकारसे च्युत हो जाता है, जाति और समाजको आदर्शके पथपर परिचालित करनेमें अयोग्य हो जाता है। ब्राह्मण और संन्यासी स्वेच्छासे दारिद्र्य वरण करके सब प्रकारकी लौकिक पद-मर्यादा, शक्ति-मर्यादा और अर्थ-मर्यादाका लोभ त्याग करके सब प्रकारकी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रसे ऊपर उठकर ज्ञान-तपस्या और त्याग-व्रत तथा प्रेम-साधनाके द्वारा राष्ट्र और समाजके आध्यात्मिक आदर्शको जीवन्त रखते हैं तथा सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको मानव-जीवनके इस आदर्शके सम्बन्धमें सर्वदा जाग्रत् रखते हैं; यही उनके लिये विहित है। जिससे उनकी आन्तरिक स्वाधीनता किसी प्रकार क्षुण्ण होनेकी सम्भावना हो, ऐसे किसी कार्यमें उन्हें लिप्त होना ठीक नहीं तथा ऐसी किसी वृत्तिका अवलम्बन करना भी उचित नहीं है। समाज और राष्ट्र उनके जीविका-संस्थान और स्वास्थ्य-विधानकी सुव्यवस्था करे; श्रद्धा, सत्कार और कृतज्ञताके कारण नत-मस्तक होकर सब श्रेणियोंके लोग उनकी सेवा करें तथा उनके प्रदर्शित मार्गमें अपने जीवनको नियन्त्रित करें। यही हिंदूकी समाज-विधि और राष्ट्र-विधिकी एक प्रधान बात है।

जिनकी आध्यात्मिकतामें निष्ठा हो, ऐसे आदर्श समाज-नेता तथा राष्ट्रनेताओंके निर्माणके लिये ही ब्राह्मणकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था है तथा संन्यास-जीवन ही ब्राह्मण-जीवनका आदर्श है। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगतो हिताय च' जीवनको सर्वतोभावेन ज्ञानसे समुज्ज्वल, प्रेमसे समुदार, कर्मोंमें सुदक्ष और त्यागमें सुमहान् बना देनेके उद्देश्यसे ही ब्राह्मणको बाल्यकालसे सुशिक्षा प्रदान करनेका विशेष प्रयत्न किया जाता है। जाति और समाजमें आदर्श नेताओं अथवा आचार्योंका निर्माण

होते रहनेसे ही सब श्रेणियोंके नर-नारी आदर्शके पथपर चलनेके अभ्यासी होते हैं। ऐसा होनेपर बीच-बीचमें प्रकृतिवश व्यभिचार उत्पन्न होनेपर भी जाति और समाज आदर्शसे च्युत नहीं होता। जो भविष्यमें समाजके आचार्य या जातिके नेता होंगे, उनको जीवनके प्रभातकालसे ही आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर, जिसमें वे ज्ञान, शक्ति और प्रेमका आहरण करना सीखें तथा त्याग, संयम, पवित्रता और चारित्रिक बलका अनुशीलन करनेके अभ्यासी बनें, इसी उद्देश्यसे उनके लिये सबसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमका विधान किया गया है। ब्रह्मचर्यकी शिक्षाको कर्म-जीवनमें, जाति और समाजमें कार्यान्वित करनेके लिये ही गार्हस्थ्याश्रम है। वयो-वृद्धिके साथ-साथ क्रमशः जीवनको पारिवारिक बन्धनसे मुक्त करके, उन्नत आध्यात्मिक स्वार्थबोधको पारिवारिक स्वार्थके घेरेसे क्रमशः मुक्त करके, लौकिक स्वार्थ और परार्थके द्वन्द्व और संघर्षको चित्तसे निकालकर आत्मबोधको समाजात्मबोधके द्वारा क्रमशः विश्वात्मबोधमें परिणत करना होगा। इसीसे वानप्रस्थ-आश्रमके अंदरसे होते हुए अन्तमें सम्यक् संन्यासमें जीवनकी परिसमाप्ति होती है। इस प्रकार संन्यासादर्शसे अनुप्राणित, सम्पूर्ण समाजको आत्मस्वरूप अनुभव करनेवाले, ज्ञानतापस वेदवेदान्तविद् ब्राह्मण लोग ही हिंदूके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानके प्रणेता हैं। वे लोग राष्ट्रके सञ्चालकोंके भी गुरु हैं, अर्थोपार्जन करनेवालोंके भी गुरु हैं तथा धनी और श्रमिक—सभीके गुरुस्थानीय हैं। सभी विषयोंमें वे नियम-संयमके उपदेष्टा हैं, शान्ति और प्रेमके आदर्शका प्रचार करनेवाले हैं; परंतु वे स्वयं राष्ट्रशक्ति और अर्थके प्रलोभनसे ऊँचे उठे हुए हैं।

जो लोग जातिमें सङ्घबद्धरूपमें शान्ति-व्यवस्था और साम्यको सुप्रतिष्ठित रखनेका उत्तरदायित्व अपने सिर लेते हैं, देशकी बाह्य आक्रमण और अन्तर्विप्लवसे रक्षा कर जन-साधारणको साधु-ब्राह्मणके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें परिचालित करनेके लिये राष्ट्रिय सामर्थ्यका प्रयोग करते हैं तथा जिन्हें समष्टि-स्वार्थ और व्यष्टि-स्वार्थमें तथा विभिन्न प्रकारकी रुचि, बुद्धि, प्रवृत्ति एवं शक्तिवाले नर-नारियोंके विभिन्न प्रयोजनोंमें समन्वय स्थापित करनेके उद्देश्यसे न्याय और धर्मके अनुसार दण्डनीतिके प्रयोगका अधिकार दिया गया है, वे हिंदू समाजमें 'क्षत्रिय' नामसे कहे गये हैं। उस राष्ट्र-सेवक क्षत्रियवर्गकी मर्यादा ब्राह्मणके बाद ही पड़ती है। उनके लिये बाल्यकालसे ही देशात्मबोध और समाजात्मबोधकी शिक्षा आवश्यक होती है। वे समस्त देश, जाति और समाजके कल्याणको अपने कल्याणके रूपमें अनुभव करनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। जाति और समाजकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वे शौर्य-वीर्यका अनुशीलन कर युद्ध-विद्यामें निपुणता प्राप्त करते हैं, निर्माण और सङ्गठन शक्तिको विकसित करते हैं, सब प्रकारकी प्रतिकूल अवस्थाओंमें आदर्शको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये चरित्रबल अर्जन करते हैं तथा सब प्रकारके प्रलोभनों और दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये न्यायदण्ड सञ्चालन करनेकी शक्ति प्राप्त करते हैं। इसीका नाम क्षात्रधर्म है। वे ब्राह्मण और संन्यासीको पथ-प्रदर्शक उपदेष्टाके रूपमें मानकर चलते हैं, परंतु ब्राह्मणत्वके लिये लालायित नहीं रहते और न सामाजिक और राष्ट्रिय उत्तरदायित्व छोड़कर संन्यासका अवलम्बन करनेके लिये ही उत्सुक होते हैं। समाज और राष्ट्र उनसे जिस प्रकारकी सेवाकी आशा करता है, जिस प्रकारकी सेवाका भार उनके सिरपर दिया गया है, उसीके गौरव-बोधसे अनुप्राणित होकर वे अपनी सारी ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्तिको अकुण्ठित हृदयसे उसी प्रकारकी सेवामें ही लगा देते हैं और उसीके द्वारा अपने जीवनको सार्थक करते हैं। इस सेवाके द्वारा ही व्यष्टि-आत्माका समष्टि-आत्मासे योग होता है, उनके प्राण प्रेमपूर्वक विश्वप्राणके साथ मिल जाते हैं। हिंदू धर्म क्षात्रभावापन्न लोगोंको इस समुज्ज्वल आध्यात्मिक कर्म-योगसे दीक्षित करता है।

हिंदू संस्कृतिके अनुसार राष्ट्रिय शक्तिका परिचालन करने-वालोंके लिये कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि अर्थकरी वृत्तिमें लगना—अर्थके उत्पादन और वितरणमें स्वार्थ-विशिष्ट होना मना है। राष्ट्र-सेवकगण अर्थके लिये अर्थसेवकोंके ऊपर निर्भर रहते हैं; और अर्थसेवक लोग अपनेको निरापद रखनेके लिये तथा अर्थके सुनियत उत्पादन और वितरणके सुयोगके लिये राष्ट्र-सेवकोंके ऊपर निर्भर करते हैं। दारिद्र्य-व्रती, स्वार्थबुद्धिरहित, ज्ञानदृष्टिसम्पन्न, आध्यात्मिक आदर्शमें निष्ठा रखनेवाले मनीषी ब्राह्मण और संन्यासियोंके द्वारा निर्धारित विधानका अनुगमन करते हुए राष्ट्र-सेवक क्षत्रियों तथा अर्थ-सेवक वैश्योंके प्रेमपूर्ण सहयोगसे सारी जाति और समाजमें साम्य, शृङ्खला, शान्ति, समृद्धि, न्याय और धर्मका राज्य प्रतिष्ठित होता है तथा विभिन्न श्रेणियोंमें प्रति-योगिताका कटु सम्बन्ध न होकर सहयोग और पारस्परिक निर्भरताका मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार प्रत्येक

व्यक्ति अपने-अपने धर्मके आदर्शसे अनुप्राणित होनेके कारण दूसरोके धनका लोभ नहीं करता तथा दूसरेकी मर्यादा (गौरव)-को देखकर ईर्ष्यान्वित भी नहीं होता।

अर्थके सुनियन्त्रित उत्पादन और वितरणके द्वारा समस्त जाति और समाजके कल्याणके विधानमे जो लगे हुए है, उनको हिंदूकी भाषामे 'वैश्य' कहते है। उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता तीव्र न हो, उनमेसे प्रत्येक अपने अपने अधिकारमे अनुरक्त रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक जातिकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ा सके और समाजको श्रीसमन्वित कर सके, इसकी सुव्यवस्था हिंदू संस्कृतिने की है। अर्थकी सेवा अर्थके लिये नही है और न भोगके लिये ही हैं। 'धर्म' ही अर्थका सेव्य है। धर्मके लिये ही मनुष्यको जीवन धारण कर रखनेकी आवश्यकता है, धर्मके लिये ही मनुष्यको अन्न-वस्त्रादि बाह्य उपकरणोकी आवश्यकता है, एवं धर्मसे मानव-समाजको समुज्ज्वल और शक्तिशाली बनाये रखनेके लिये ही राष्ट्र-व्यवस्थाकी आवश्यकता है। धर्म ही मनुष्यके व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनकी सभी अवस्थाओंमें केन्द्रस्थानका अधिकार करके स्थित है—यही हिंदूका जीवनादर्श है। मनुष्यके साथ मनुष्यका सप्रेम मिलन ही धर्मका प्रधान लक्षण है और मानव-समाजमे विरोध, संघर्ष, हिंसा, विद्वेष, घृणा और भय ही अधर्मका लक्षण है। मानव-समाजमे अर्थकी वृद्धि, ज्ञान-विज्ञानका प्रसार, राष्ट्रिय शक्तिका प्राबल्य—इनसे यदि मनुष्यके साथ मनुष्यका सौहार्दपूर्ण मिलन नही होता तथा वैरभाव और संघर्ष बढ़ जाता है तो वह अर्थ, वह ज्ञान-विज्ञान, वह राष्ट्रशक्ति मनुष्यकी उन्नतिकी परिचायिका नही बन सकती। मनुष्यके ज्ञान, वीर्य, अर्थ और कर्म बढ़कर यदि उसे सुसभ्य न बनाये, प्रत्युत क्रमशः असभ्यताके मार्गमे ले जायँ तो उसकी अपेक्षा इन सबका विकास न होना ही अधिक वाञ्छनीय है। अतः सारा मानव-समाज तथा उसके अन्तर्गत प्रत्येक जाति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्तिका—जिसके द्वारा वह ज्ञान, वीर्य और अर्थसे समृद्ध होकर मनुष्योचित परम कल्याणके मार्गमे अग्रसर हो सके, उसी उद्देश्यको सामने रखकर राष्ट्रशक्ति, अर्थशक्ति और ब्राह्मण्य-शक्तिके द्वारा—धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित होना आवश्यक है।

हिंदू संस्कृतिकी आध्यात्मिक नीतिके अनुसार, जो देशकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ावेंगे, राष्ट्रिय शक्तिका सञ्चालन उनके हाथोमे न होगा (वे शासक नहीं हो सकेंगे) तथा जो राष्ट्रिय शक्तिके सञ्चालनका भार ग्रहण करेंगे, शासक होंगे, वे अर्थ-सेवासे पृथक् रहेंगे। जाति और समाजके सर्वाङ्गीण कल्याणके लिये क्षात्रशक्ति और वैश्यशक्ति दोनोकी अत्यन्त आवश्यकता है। परंतु किसी एक श्रेणीके लिये दूसरी श्रेणीके गौरव, मर्यादा एवं सुयोग-सुविधाके प्रति लोलुप दृष्टि रखना ठीक नहीं। इसीसे संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रत्येक श्रेणी स्वधर्मके गौरव-बोधसे अनुप्राणित होकर अपने कर्मक्षेत्रमें ही उत्कर्ष प्राप्त करे तथा उसके द्वारा देशके कल्याण तथा अपने आन्तर एवं बाह्य जीवनकी सार्थकता सम्पादन करे। इसे धर्मका निर्देश मानकर सब श्रेणियोके लोग श्रद्धा और आनन्दके साथ स्वीकार करे। हिंदूके सामाजिक और राष्ट्रिय विधानमे श्रेणीके साथ श्रेणीकी एवं सम्प्रदायके साथ सम्प्रदाय-की प्रतियोगिता और सघर्षका कम-से-कम अवसर मिले, इसकी व्यवस्था करनेकी चेष्टा की गयी है।

समाजके जिस स्तरके नर-नारी स्वाधीनतापूर्वक विचार-शक्ति और कर्म-शक्तिके अनुशीलनके द्वारा देशके ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति करने, शिक्षा-दीक्षाकी उन्नति करने, दक्षता-के साथ राष्ट्रका सञ्चालन करने, बाह्य सम्पत्तिके उत्पादन तथा जन-साधारणके सुख-स्वास्थ्यके विधानमे अपनेको लगानेमें असमर्थ है, जो अपने धर्मानुकूल कर्तव्योके निरूपण और उनके भलीभाँति सम्पादन करनेके लिये परमुखापेक्षी है, अपने जीवनके सम्यक् विकासके लिये जिनको श्रेष्ठतर लोगोके आदेश और उपदेशके अनुसार चलना पड़ता है, वे ही हिंदू समाजमे 'शूद्र' नामसे कहे जाते है। वे ही देशके जन-साधारण है, सभी देशोमे इन्हीकी संख्या अधिक होती है। स्वाधीन विचार-शक्तिसे युक्त और सङ्गठनमे निपुण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगण उनको विचार-शक्ति प्रदान करते है, उनके कर्मका नियमन करते है, उनके स्वार्थकी रक्षा करते है तथा उनकी उन्नतिमे सहायक होते है और वे ही उनके अभिभावक भी है। उनका महान् उत्तरदायित्व समाजके नीतिप्रवर्तक, शिक्षा-विधायक, राष्ट्र-सञ्चालक और धनोत्पादक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योके ऊपर होता है। समस्त जातिके कल्याणकी दृष्टिसे यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन (शूद्रो) की सुशिक्षा, उनके सन्तोष, उनके चित्तमे धार्मिक भावोके उद्दीपन, उनके अन्न-वस्त्र और गृहादिकी सुव्यवस्था, उनके भीतर देशात्मबोध और समाजात्मबोधके जागरण तथा उनमे समाजके उच्चतर श्रेणीके लोगोके प्रति आत्मीयताबोधके अनुकूल आचार-विचारके प्रचारका प्रबन्ध किया जाय।

हिंदू धर्मके अपौरुषेय शास्त्र 'वेद' स्मरणातीत कालसे घोषणा करते हैं कि समस्त मानव-समाज एक अखण्ड सत्तासे सत्तावान् है, एक अनन्त प्राण-शक्तिके द्वारा सञ्जीवित है, एक परम पुरुषका विराट् देह है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस विराट् देहके चार अवयव हैं। एक जीवित देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी भाँति किसी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायको दूसरी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायसे विच्छिन्न करके उसका कल्याण-साधन करना सम्भव नहीं है। इसका कोई भी अङ्ग स्वार्थ-निष्ठ होते ही व्याधिग्रस्त हो जाता है और समस्त देहको कलुषित करनेमें प्रवृत्त होता है। यदि कोई अङ्ग अपनेको श्रेष्ठ समझकर दूसरे अङ्गोंको नीच माने तो वह अपनेको ध्वंसके मार्गमें ले जायगा और साथ ही दूसरोंको भी ध्वंसके पथमें गिरा देगा। समाजरूपी शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें विभिन्नता जिस प्रकार स्वाभाविक है, भगवान्‌की विश्वलीलामें यह विभिन्नता जिस प्रकार अवश्यम्भावी होती है, उसी प्रकार सारी विभिन्नताओंमें एक जीवन्त एकत्व ही इसका यथार्थ परिचय है। प्रत्येक अङ्ग अपने-अपने धर्ममें निष्ठायुक्त रहकर उस अखण्ड एककी सेवामें लग जाय, तभी प्रत्येककी सत्ता सार्थक होती है। विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रतियोगिता, प्रति-द्वन्द्विता, संघर्ष और संग्राम ही इस विराट् देहके व्याधि-स्वरूप हैं। सबकी एकप्राणतामें ही इस देहका सौन्दर्य, माधुर्य, वैभव और आनन्द प्रकाशित होता है। यह मानव-समाज भगवान्‌का विराट् विश्वमय शरीर है। इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गको उन्होंने स्वतन्त्रता प्रदान की है, वैशिष्ट्य प्रदान किया है तथा पृथक्-पृथक् कर्माधिकार और शक्ति-सामर्थ्य दिया है; परंतु सबके बीचमें एकत्वको ही उन्होंने सर्वविजयी बनाकर रखा है। यदि कोई अङ्ग एकत्वका विरोधी होगा, वैषम्यका उपासक होगा, तो वह नाना प्रकारके तापोंसे सन्तप्त होता हुआ समाजका अकल्याण करेगा। अपनी-अपनी शक्तिको विकसित करते हुए सारे समाजकी सेवा और उसके द्वारा सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की सेवा करना प्रत्येक श्रेणीके लिये कर्तव्य है। यही हिंदू संस्कृतिका अन्तर्निहित आदर्श है।

अब मैं अथर्ववेदके ऋषिकी एक आशीर्वाणीको स्मरणकर इस प्रबन्धका उपसंहार करता हूँ। इसमें हिंदू संस्कृतिका आदर्श, राम-राज्यका आदर्श तथा साम्यवादियोंके साम्यका आदर्श कैसी सुन्दरताके साथ चित्रित किया गया है, यह देखने ही योग्य है।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणो-
म्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥
(अथर्व० ३। ३०)

मानव-समाजकी सारी जातियोंके समस्त वर्गोंके नर-नारियोंको लक्ष्य करके ऋषि कहते हैं कि मैं इस प्रकार परम अग्नि (विश्वदेवता) की सेवा करता हूँ, जिससे तुम सबके हृदयोंमें सम्यक् मिलन हो, मनोंमें सम्यक् मिलन हो और द्वेषभाव दूर हो जाय। गाय जिस प्रकार अपने नवजात बछड़ेके प्रति आकृष्ट होती है, तुम भी उसी प्रकार एक-दूसरेके प्रति आनन्दपूर्वक आकृष्ट होओ ॥ १ ॥ पुत्र पिताके कल्याण-व्रतका अनुसरण करे, माताके साथ एकमना हो जाय, स्त्री मधुमती वाक्‌के द्वारा स्वामीके चित्तको शान्तिमय करे ॥ २ ॥ भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनसे द्वेष न करे। सब-के-सब एक लक्ष्य-साधनमें, एक व्रत पालनमें सम्मिलित होकर सुभद्र वाक्यसे परस्पर सम्भाषण करें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार 'ब्रह्म' या ईश्वरभावनाके बलसे देवगण परस्पर विच्छिन्न नहीं होते, कोई किसीसे विद्वेष नहीं करते, सारे मनुष्योंके लिये उसी प्रकार एक मतिका सम्पादन करनेवाले सम्यक् ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली ब्रह्मभावनाकी विधि प्रणयन करके मैं तुम्हारे घर-घरमें प्रतिष्ठित करता हूँ ॥ ४ ॥ एकमना होकर ज्येष्ठ-कनिष्ठ नियमके अनुसार, एक लक्ष्य-साधनके उद्देश्यसे-

प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यभारको वहन करे। परस्पर विच्छिन्न न होओ, परस्पर प्रिय सम्भाषण करते-करते अग्रसर होओ। मैं तुमलोगोंको एक लक्ष्यमे निबद्धदृष्टि तथा एकमना होनेके लिये आह्वान करता हूँ॥ ५॥ एक ही पौसलेमें तुम सब जल पियो, एक ही अन्नसत्रमे भाग करके अन्न भोग करो। मैं तुम सबको एक ही स्नेह-रज्जुमे एकत्र सम्बन्धित करता हूँ। एक ही लक्ष्यसे आबद्ध होकर तुम सब अग्निदेवकी परिचर्या करो। रथचक्रके अरे जिस प्रकार एक ही धुरीको केन्द्रित करके अपना-अपना कार्य करते हैं, तुम सब भी उसी प्रकारसे एक ही सुमहान् आदर्शसे अनुप्राणित होकर, एक ही परम देवताको जीवनके केन्द्रमें सुप्रतिष्ठित रखकर, अपने-अपने व्रतोंका सम्पादन करते हुए उनकी सेवा करो॥ ६॥ एक ही संवनन अर्थात् साम्यसाधक स्तोत्रके द्वारा मैं तुम सबको एक लक्ष्यके साधनमें एकमना करता हूँ। सब एकान्न-भोजी बनो। स्वर्गके अमृतकी रक्षामें जिस प्रकार सारे देवता एकमना होते हैं, उसी प्रकार अखण्ड मानवताके आदर्शकी रक्षामें तुम सबमें रात-दिन निरन्तर ऐकमत्य प्रतिष्ठित रहे॥ ७॥

भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

संस्कृति किसी देश या जातिकी आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारोंका बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवनके आदर्शोंका निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानवसमूहके उन उदात्त गुणोंको सूचित करती है, जो मानव-जातिमें सर्वत्र पाये जानेपर भी उस समूहकी विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिनपर उनके जीवनमें अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तनद्वारा भारतके आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्षपर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत्में दो प्रकारके तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तनके मूलमें है, अव्यक्त है पर उसीके कारण और उसीको लेकर जगत्की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थोंका अस्तित्व है। जगत्के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करनेसे यह ऊपरसे असहाय, दुर्बल, अशक्त दीखनेवाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभवसे पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्तिका जो अमित कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धिसे ही मानव-जीवनका आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवनकी विविध श्रेणियाँ अपनी शक्ति और मर्यादाके अनुसार इसी दिशामें, इसी गन्तव्य स्थलकी ओर परिचालित की गयी थीं।

दृष्टिदोषके कारण अथवा इस संस्कृतिके मूल अनुबन्धको न समझ सकनेके कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओंकी अस्थिर भूमिपर खड़ी है और जगत्की ठोस भूमिसे उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इसी भूमिपर है, परंतु उसका सिर आकाशकी ओर उठा है। मानव चलता जमीनपर है, पर देखता सामने या ऊपर है—उसका सिर ऊपरकी ओर उठा है। भारतीय संस्कृति भी जीवनके अन्तरिक्षको भेदकर उसके अनन्त रहस्योंको जाननेके लिये विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने अध्यात्मविद्यामें जो उन्नति की थी, उसमें पदार्थविद्याकी उपेक्षा न थी; बल्कि उसकी मूलप्रकृतिको जाननेके लिये यह आवश्यक था। उसने पदार्थविद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जनन विज्ञान आदि भौतिक विद्याओंके क्षेत्रमें कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायु-विज्ञानकी सहायतासे समय और दूरीके व्यवधानपर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्य-विज्ञानके द्वारा वस्तुओंके रूपको तुरंत बदल देने, एक जातिके पदार्थको दूसरी जातिमें बदल देने, लोहेको सोना करने और मृत्युपर भी, एक सीमातक, विजय प्राप्त करनेमें समर्थ हुई थी; उसकी समाज व्यवस्थामें व्यक्तिके विकासकी सम्पूर्ण सुविधाओंके होते हुए भी समाज या समूहके अन्तिम हितकी भावना प्रधान थी; उसकी अर्थविद्या समाजके शोषणका कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्द्धनका साधन बन सकी थी; धनने जीवन-

पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियोंने शरीरकी अनेक ऐसी शक्तियों एवं शक्ति-संस्थानोंका पता लगाया था, जिनका ज्ञान आधुनिक शरीरशास्त्रियोंको अबतक नहीं लग सका है अथवा किसी अंशमें लगनेपर भी वे उनका उपयोग नहीं जान पाये हैं। जीवनका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जो उसने अछूता छोड़ा हो। हाँ, एक बात अवश्य थी। इन सब शास्त्रों अथवा विज्ञानोंके मूलमें उसी परम पुरुषार्थ या आदर्शकी प्रेरणा थी। सब विद्याएँ उसी ओर प्रवाहित थीं। सबका आधार वही था। जीवनका यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृतिकी विशेषता थी।

मानवसमाजमें दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। एकको हम केन्द्रोन्मुखी ('सेन्ट्रीपेटल') प्रवृत्ति कहते हैं और दूसरीको वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि या वृत्तसे केन्द्र-बिन्दुकी ओर जाती है; वह कहीं रहे, केन्द्रके साथ वह बँधी है, केन्द्रमें ध्यानस्थ है। दूसरी वह, जो केन्द्रसे परिधिकी ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूलरूपमें केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत्‌में रहकर भी आदर्शोन्मुख है; वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ, आत्मस्थ है। इसके विरुद्ध पाश्चात्त्य संस्कृति बाह्यप्रसारी है; वह बाहरकी ओर जाती है; केन्द्रसे दूर फैलनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियोंसे दो सभ्यताओंका जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलतः भिन्न थीं तो उनकी साधनाके रूपोंमें भी भिन्नता आयी। भारतीय संस्कृति आचरणप्रधान हुई; उसमें अन्तर्वृत्तियोंके उत्कर्षपर जोर दिया गया; उसमें समाजकी प्रत्येक इकाई या घटकमें आत्मशुद्धिकी आशा पहले की गयी; उसमें व्यक्तिके जीवनको त्यागकी ओर बढ़ाया गया। क्योंकि त्याग और आत्मनियन्त्रण एवं आत्मशुद्धिके बिना समाजके घटकोंमें सच्चे सामाजिक कल्याणकी भावना तथा तदनुकूल आचरणका होना कठिन है।

इसके विरुद्ध ग्रीक या पाश्चात्त्य संस्कृति मनुष्यके सामूहिक सुधारपर अधिक जोर देती है। समाज-सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है; पर आत्मशुद्धिके मुख्य दृष्टिबिन्दुपर जोर न देनेके कारण वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण या नीतिमें बहुत बड़ा अन्तर आ गया और धीरे-धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गयी। जब व्यक्ति अपने सुधार, अपने दोष-निवारणकी ओरसे आँखें मूँद लेता है, अथवा अपनी चरित्रगत दुर्बलताओंकी ओरसे उदासीन हो समाजके उद्धारका प्रयत्न करता है, तब सभ्यताका भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध जब समाजका प्रत्येक घटक आत्मशुद्धिपर ध्यान देता है; स्वार्थवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है, तब सम्पूर्ण समाज अपने-आप निर्मल हो जाता है। लड़कपनमें मैंने बीरबलकी बुद्धिके चमत्कारके सम्बन्धमें अनेक कहानियाँ सुनी थीं। इन्हींमेंसे एक कथामें कहा गया था कि एक बार बीरबलकी सलाहसे अकबरने नगरके किनारेपर तालाब खुदवाया और प्रत्येकको आज्ञा दी गयी कि रातको एक-एक घड़ा दूध उसमें छोड़ दे। योजना यह थी कि एक दूधका तालाब दूसरे दिन तैयार हो जायगा। पर दूसरे दिन सुबह जब अकबर बीरबलके साथ वहाँ पहुँचे तो देखा कि तालाब जलसे पूर्ण है और दूधका नाम नहीं। बात यह थी कि प्रत्येकने सोचा कि सब तो दूध डालेंगे ही, यदि मैं एक घड़ा पानी डाल दूँगा तो उतने दूधमें क्या पता चलेगा। जहाँ व्यक्ति अपनी ओर नहीं देखता, आत्मशुद्धिसे प्रेरित नहीं होता, वहाँ यही स्थिति होती है।

हमारी समाज-व्यवस्थामें श्रमिकसे लेकर ज्ञानदातातक (शास्त्रकी शब्दावलीमें शूद्रसे ब्राह्मणतक) सबकी उपयोगिता थी; सबको उचित स्थान मिला था। पर क्षत्रिय और वैश्यवर्ग (अर्थात् शासन और धनसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाताको उसके सर्वोच्च स्थानसे नीचे न गिरा सके थे। जिस वर्गमें त्यागकी जितनी ही क्षमता थी, उसे समाजमें उतना ही ऊँचा स्थान मिला था; उसके शब्द, उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाजनीतिका नियन्त्रण राजाके हाथमें न था, बल्कि उन महात्माओंके हाथमें था, जो अपने सुखोपभोगकी समस्त बाह्य सामग्रियों एवं सुविधाओंका त्याग करके केवल आत्म-चिन्तन तथा अपने अनुभव एवं ज्ञानसे समाजके कल्याणके लिये जीते थे; जो समाजसे कम-से-कम लेते थे और अधिक-से-अधिक देते थे; जिनको स्वयं किसी बाह्य सुविधा या अधिकारकी आवश्यकता न थी; शासन-शक्तिके लिये भी उनके पथ-प्रदर्शनकी अवहेलना सम्भव न थी। यही आत्म-बलकी प्रतिष्ठा, संसारकी सम्पूर्ण शक्तियों या शक्ति-केन्द्रोंके ऊपर साधुत्व, त्याग, तपकी प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृतिकी मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवनके आदर्शों और उच्च प्रेरणाओंके लिये ऋषियों और तपस्वियोंकी ओर देखता था। त्याग, न कि भोग, जीवनका आदर्श या प्राप्य था।

तब क्या हमारी संस्कृति व्यष्टिधर्मी थी? क्या उसने

समाज धर्मके प्रति उदासीनताका भाव था ? नहीं । इस विषयमें भी वह मानव-प्रकृतिमें निहित सत्योंके मूलमें प्रविष्ट हुई थी । समाजका मूल मनुष्यका 'स्व' है । यह अहंताका भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओंका आधार है । मनुष्य जो कुछ करता है, अपने इसी 'स्व'को लेकर करता है । जगत्के सारे सम्बन्ध आत्मरूपको लेकर हैं । 'स्व'में मनुष्यका जो प्रेम है, उसीसे वह टिका हुआ है । इसलिये 'स्व'का विरोध नहीं, बल्कि उसका अनुभव एवं संस्कार ही समाजके हितकी दृष्टिसे वाञ्छनीय है । सामाजिक कल्याण या परम पुरुषार्थके लिये इस 'स्व'का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओंपर स्थापित करनेकी आवश्यकता पड़ती है । इसके लिये क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व'को एकत्र करना पड़ता है । क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व'का विरोधी नहीं, बीजरूप है । जैसे जरासे बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ है, वैसे ही क्षुद्र (यानी व्यक्तिके) 'स्व'में महत् 'स्व' घनीभूत एवं अन्तर्निहित है । ज्यों-ज्यों क्षुद्र 'स्व'का शोधन एवं संस्कार होता है, उसमें महत् 'स्व'की अनुभूति बढ़ती जाती है, आदमी स्वार्थसे ऊँचा उठता है और अन्तमें यही क्षुद्र 'स्व' विराट् 'स्व'में बदल जाता है । तब प्राणिमात्रसे अभिन्नता एवं परम ऐक्यकी अनुभूति होती है । इस प्रकार विश्वप्रेमकी सिद्धि होती है । इस आध्यात्मिक भावनाद्वारा समाजकी विभिन्न श्रेणियोंमें सामञ्जस्य स्थापित किया गया था और व्यक्ति तथा समाजकी तात्त्विक अभिन्नताका अनुभव किया गया था ।

विद्या, धन और शक्तिकी अवज्ञा हमारे यहाँ नहीं की गयी । इनकी आवश्यकता औसत दर्जेके व्यक्ति, वर्ग या समाजको है; पर इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है; इसे देखकर ही उसकी संस्कृतिका अनुमान लगाया जाता है । रावण ब्राह्मण था, परम विद्वान् था, शक्तिमान् भी था । उसने विद्या और शक्तिका दुरुपयोग किया, इसलिये राक्षस कहलाया । जब मनुष्य धनसे पर-पीड़न करता है तो कोई भी उसे उच्च संस्कृतिका नहीं कहता । आज संसारमें विद्याकी कमी नहीं; शक्तिकी कमी नहीं; धनकी कमी नहीं; तब भी इनके द्वारा मानव-जाति और मानव-शक्तियोंका भयङ्कर विनाश हो रहा है । पश्चिमके बड़े-बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त भयङ्कर आविष्कारोंके द्वारा मानव-जातिके भविष्यको खतरेमें डाल रहे हैं । यह विद्याका व्यभिचार है । इसे संस्कृति नहीं कह सकते । भारतवर्षमें इन साधनोंपर साधुत्वका, आत्मबलका नियन्त्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी, बल्कि व्यावहारिक दृष्टिसे भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रतीकोंको जन्म दिया था । विद्या, धन और शक्तिके उचित उपयोगके लिये ही हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित किया गया था ।

यह इसी आध्यात्मिक अधिष्ठानका परिणाम है कि मैक्समूलरके शब्दोंमें 'प्राचीन वंश विनष्ट हुए, परिवारोंका ह्रास हुआ, नये साम्राज्योंकी नींव पड़ी; किंतु इन आक्रमणों और हलचलोंसे हिंदुओंके आन्तरिक जीवनमें परिवर्तन नहीं हुआ ।' युग बीतते गये हैं, क्रान्तियाँ और खण्ड-क्रान्तियाँ हुई हैं, अनेक जातियाँ बाहरसे आयी हैं; किंतु भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा आजतक वही है—आत्मशुद्धि, त्याग और तपके जीवनद्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यताकी सिद्धि ।

हमारे धर्ममें, हमारी समाज-व्यवस्थामें, हमारे शिक्षा-क्रममें, हमारे चिकित्साशास्त्रमें, हमारे साहित्य और हमारी कलामें जीवनकी इसी उदात्त कल्पना और संस्कृतिकी धारा है—अन्धकारसे उठकर प्रकाश, असत्यसे सत्य और मृत्युसे अमरत्वके स्रोतकी ओर यात्रा करनेकी वृत्ति । जीवनकी सार्थकता त्यागमें, आत्मार्पणमें, अपनेको देनेमें है—यही सन्देश हमारी संस्कृतिका सन्देश है ।

क्या इसका अर्थ निष्क्रियता है ? क्या इसका अर्थ जीवनकी प्रेरणाओंकी उपेक्षा है ? क्या इसका अर्थ अकर्मण्यता है ? हमारे जीवनमें आज निष्क्रियता और अकर्मण्यता आ गयी है । हम जीवनकी महती प्रेरणाओंसे दूर हो गये हैं । पर इसका कारण यह है कि हम आत्म-विस्मृत, बेसुध, अपनी संस्कृतिके आदर्शोंकी ओरसे आँखें मूँदे बैठे हैं । अन्यथा उत्तरोत्तर जीवनके शोधमें आत्मार्पण, जीवनपर परम नियन्त्रणकी स्थापना, मृत्युपर विजय, स्वार्थपर लोक-कल्याणके आदर्शकी प्रतिष्ठा—यही तो हमारी संस्कृति है । पहले अपनेको निर्मल करो, फिर निर्मल अन्तःकरणको जगत्के हितमें लगाओ—आत्मानुभव एवं आत्म-दर्शनमें लगाओ, यही हमारी संस्कृतिकी अमर वाणी है । वही वाणी, जो शताब्दियोंसे मानवताके हृदयको पुकार रही है—'सब सुखी हों, सब निरामय हों; सब श्रेयको देखें ।'

हिंदू संस्कृति

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

हिंदू संस्कृतिके गुण

हिंदू संस्कृतिके प्रवर्तक वे महापुरुष हैं, जिन्होंने ईश्वर और प्रकृतिके रहस्यको आदिसे अन्ततक अनुभव कर लिया था, जो जीवत्वसे ब्रह्मत्वको प्राप्त कर चुके थे। इसलिये इस संस्कृतिमें जीवको परमानन्दमें लय करनेके गुण हैं।

कामना ही भले या बुरे कार्यमें ले जानेवाली है

ईश्वर महान् और आनन्दमय है। कामना ईश्वरकी ही ज्योति है, अतः कामनाका 'बड़ाई' तथा 'स्वाद' में रहना स्वाभाविक है। लेकिन जब कामना मिथ्या भोगोंमें फँसकर उन्हींमें 'स्वाद' या 'बड़ाई' का रसास्वादन करती है तो वह अपने गुणोंको मिथ्या (संसार) में समझकर, उन मिथ्या भोगोंका अधिकाधिक निर्माण करती है और फलतः दुःख भोगती है। हिंदू संस्कृति कामनाको इस भ्रान्तिसे बचाकर वास्तविक मार्गपर चलनेका अभ्यास कराती है। तब इसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है।

सत् और असत् पथोंकी व्याख्या

हिंदूधर्ममें पुण्य और पापके ये मार्ग कहे गये हैं।

पुण्यमार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको प्राकृत ढंगसे भीतर-बाहरसे पवित्र रखते हुए अपने वशमें करके युक्तिपूर्वक सत्कार्योंमें लगाना।

(२) नित्य परोपकार करना।

(३) जीवोंपर दया करना और यथाशक्ति सत्पात्रको दान देना आदि·····।

पापके मार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको मलिन करना और अपने वशसे बाहर होने देना तथा असन्तोषको बढ़ाना।

(२) झूठ, चोरी और लूट आदि करना।

(३) हिंसा करना।

तात्पर्य यह कि जिस विचार या कार्यसे परिणाममें अपने और दूसरे प्राणियोंमें सुख-शान्तिकी वृद्धि हो, वह पुण्यमार्ग है और जिस विचार या कार्यसे अपने अथवा दूसरे प्राणियोंके दुःख एवं द्वन्द्व बढ़ें, वह पाप-मार्ग है।

सद्ग्रन्थोंमें पुण्य-पापकी विस्तारसे व्याख्या की गयी है। ऐसे बहुत अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इतनेपर भी जैसे वैद्यके बिना औषधका ठीक उपयोग नहीं होता, वैसे ही मर्मी व्याख्याताके बिना ग्रन्थोंकी दशा होती है। हिंदूधर्मके जिन आदेशों (आर्डिनेन्सों) में अपराधियोंके लिये इस लोक और परलोकमें भय बताया गया है, उन आदेशोंका आजकलके लोग उपहास करते हैं और कहते हैं—'इनसे वहम (भ्रम) होता है और वास्तविकता दब जाती है।' उनको यह पता नहीं कि भ्रम होता ही अपराधीको है और ये आदेश ग्रन्थ (शास्त्र) अपराध करनेसे मनुष्यको रोकते हैं। इनसे वास्तविकता दबती नहीं, उल्टे अधिक अच्छी तरह प्रकाशमें आती है। वास्तविकता मायाके आवरणमें ही पक्क होती है। पक्क होनेपर वह स्वतः आवरणको दूर फेंक देती है। जैसे शिशु गर्भाशयमें पकता है, पक्षी अण्डेमें पकता है, अन्न फलियोंमें पकता है, इसी प्रकार ज्ञान समाधिमें पक्क होता है। वास्तविकता निरपराध स्थितिमें परिपक्क होती है और निरपराध स्थिति इन पापसे डरनेवाले (शास्त्रीय) ग्रन्थोंसे दृढ़ होती है। निरपराध अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। निर्मल हृदयमें भक्तिका प्रवाह उमड़ता है और फलतः भक्त साकार ईश्वरको प्राप्त कर लेता है। इस दुनियाके विषयी 'अहरन चोर' (छली) प्राणी भक्त नहीं हो सकते। उनकी कूपमण्डूककी बुद्धि अपने अहङ्कारमें घिरी हुई इस संसाररूपी कुएँमें ही चक्कर लगाती रहती है।

अनुशासन

हिंदू संस्कृतिका अनुशासन फौजी या पुलिसका अनुशासन नहीं, वह प्रेमका अनुशासन है। प्रेममें स्वार्थ-कामना नहीं होती। प्रेममें आत्मसमर्पण किया जाता है। त्याग और उपकारकी बड़ी महिमा है इस संस्कृतिमें। त्याग—हठपूर्वक धर्म या कर्तव्यका त्याग त्याग नहीं है। त्यागका अर्थ है—मायामें फँसा जीव आसक्तिके बन्धनोंको युक्तिपूर्वक शिथिल करता हुआ कामनाओंको छोड़ दे और जिस कर्तव्यका सङ्कल्प किया हो, उसे पूर्ण करके या उसका उचित समाधान करके नवीन सङ्कल्पोंको प्रारम्भ न करे। जिनकी आशा अपनेसे बँधी है, उन्हें यथासम्भव निराश न करे।' इस त्यागसे भी दयाका महत्त्व अधिक है। संतवाणी है—'दया बिनु संत कसाई।'

किसीकी अनुचित कामनाकी सामग्रीको बढ़ा देना दया नहीं है। ऐसी दयाका अर्थ तो है कि किसी विवश जीवके बन्धन-यन्त्रके कल-पुर्जे और बिगाड़कर उसके छूटनेमें रुकावट कर दी गयी। दया है जीवको बन्धनोंसे छूटनेकी ओर प्रेरित करनेमें।

यह अनुशासन, जो प्रेम, त्याग और दयापर स्थित है, 'हिंदूकोड' या ऐसे किसी 'बिल'की अपेक्षा नहीं करता। विदेशी सभ्यतामें रँगे लोगोंको चाहिये कि वे कामनाको बढ़ाकर इस ऋषिभूमिके निर्मल प्रेमको दूषित न करें। प्रेमके अमृत-स्वादके सम्मुख कामना-वेश्याके विषय तुच्छ हैं। भारत उस निर्मल प्रेमका आराधक है, जहाँ दो भाइयोंके प्रेममें अयोध्याका राज्य चौदह वर्षतक गेंदके समान लुढ़कता रहा। इस प्रेममें राज्य या वैभवके लोभका लेश नहीं, अपने 'स्वत्व'का प्रश्न नहीं। यह वह आदर्श है, जिसमें पतिके वियोगमें दमयन्ती अपने पिताके राजभवनमें भी जंगली फल-फूलपर निर्वाह करती है। इस प्रेमका दिव्य अनुशासन है—

'बेटा-बेटी माँ-बापके, छोटा भाई बड़े भाईका, बहू सास-श्वसुरकी, देवरानी जेठानीकी, पत्नी पतिकी, देवर तथा छोटी ननद भाभीके—इस प्रकार सब छोटे अपने गुरुजनोंके आज्ञाकारी सेवक हैं।'

कन्या माता-पिताके घरमें देवी है, पतिके घरमें लक्ष्मी है, पुत्रोंके समीप जगदम्बा है। इस संस्कृतिमें स्त्री प्रत्येक स्थानपर आदरणीया है। इस संस्कृतिमें कामनाका मुख बँधा हुआ है। पुरुषके लिये अपनी पत्नीके अतिरिक्त शेष सभी स्त्रियोंको माँ, बहिन या बेटी समझनेकी शिक्षा दी गयी है। विवाहके समय इसीलिये गोत्र, शासन आदि बड़ी सावधानीसे देखे जाते हैं कि लड़की कहीं किसी दूर सम्पर्कमें भी बहिन तो नहीं होती!

व्यवहारमें जाति-पाँतिका विचार चलनेपर भी सब गाँव-भरमें चाचा, ताऊ, बुआ, बहिन कहकर पुकारते हैं। इसमें जातिका कोई भेद नहीं है। प्रत्येक जातिका वृद्ध आदरणीय होता है। सेवक अपने स्वामीको पिताके समान और स्वामी सेवकको पुत्रके समान समझता है। यही पिता-पुत्र-सम्बन्ध गुरु तथा शिष्यका चलता है। जब हिंदू संस्कृतिका बोलबाला था, प्रेमके इस अनुशासनमें न तो 'हड़तालें' होती थीं और न 'कान्फ्रेन्स' की नौबत आती थी। श्रीरामने पिताकी आज्ञासे राज्य छोड़ दिया और प्रजाके प्रेमवश पत्नीको वनवास दे दिया। हरिश्चन्द्रने अपने सेवक-धर्मके कारण अपने ही मृत पुत्रका कफन उतरवा लिया। जिस संस्कृतिके पाये इतने दृढ़ एवं कामनारहित हों, उसे विदेशी आक्रमण कैसे मिटा सकते थे।

सब जातियाँ कर्तव्य तो अपनी जातिका पालन करती थीं, परंतु एक जातिसे दूसरी जातिका सम्बन्ध भाई-भाई-जैसा था। प्रेमके कारण छोटे-बड़ेका भाव नहीं था। न तो परस्पर द्वेष था और न एक दूसरेकी निन्दा करता था। हिंदुत्वके अनुशासनमें कुम्भ-जैसे मेलोंपर सब एकत्र स्नान करते थे। पूँजीपति अपना सर्वस्व दीनोंको लुटाकर कंगाल बन जानेमें गौरव मानते थे। दीपावलीपर एक समान सारे घरोंपर दीपक जगमग करते थे। करवा चौथको भारतकी समस्त स्त्रियाँ चन्द्रमाको अर्घ्य देकर एक साथ एक समय अपने-अपने घरोंमें मुखमें ग्रास उठाती थीं। कितनी बड़ी जन-संख्या प्रेमके कारण एकभावमें गुँथी थी। जहाँ भावोंमें विरोध न हो, वहाँ 'टंटा' (झगड़ा) क्या। प्रेमने सबको एक सामञ्जस्यके साथ अपने-अपने कर्तव्योंमें बाँध रक्खा था। वहाँ द्वेषके लिये अवकाश नहीं था।

तात्पर्य

यह सम्पूर्ण संसार सनातन देवता अर्थात् 'राम' की प्रकृति है, यही रामका राज्य है। इसकी गद्दीपर बैठकर ठीक-ठीक राज्य वही कर सकता है, जो रामसे अभिन्न हो चुका हो। जो ज्ञानी—आत्मानुभवी हो। उसके अधिकारी—कर्मचारियोंमें ये गुण होने चाहिये—

१. किसीसे वैर-भाव न हो।
२. अपने पदका अभिमान न हो।
३. न्याय करनेमें भयभीत न होता हो।
४. प्राणिमात्रपर दयाभाव रखता हो।
५. हिंसा करनेवाला न हो।
६. सत्य सहज प्रिय हो।
७. क्रोध करनेवाला न हो।
८. त्यागी हो।
९. किसी प्रकारकी लालसा न रखता हो।
१०. ईश्वरविश्वासी और निर्मल अन्तःकरणका हो।

भारत अब स्वतन्त्र हुआ है; परंतु इसे अभी विदेशी संस्कृतियोंके प्रभावोंसे स्वतन्त्र होना है। कामनाके पीछे दौड़नेवाले देशोंकी झूठी चमकमें भारतको नहीं फँसना चाहिये। जैसे इन्धनसे अग्निकी ज्वाला शान्त नहीं होती, ऐसे ही नये-नये आविष्कारों और भोगोंसे इन्द्रियोंकी तृप्ति

नहीं होगी। जो परमाणु बमसे रक्षाकी बात सोचते हैं, उन्हें ज्ञात नहीं कि बाहरी किलेबंदी कुछ नहीं कर सकती, जब कि कामनाका सर्प आस्तीनमें छिपा है। युक्त आहार-विहारकी चेष्टा ही शान्तिप्रद है। भारत सदासे शौच, स्नान, जप, तप, व्रत आदि प्राकृतिक नियमोंसे पञ्चतत्त्वोंका शोधन करता आया है। यही सुख-शान्ति पानेका सच्चा आविष्कार है। इसी संयमके कारण यहाँ ग्रामके शाकपातको स्वीकार करके, गायोंको चराता अखिलेश गोपाल बना पोले बाँसके छिद्रोंमें स्वतः अपना रहस्य गाया करता था—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(गीता १४। ३)

विदेशी संस्कृतिके अनुयायी अरब-खरबपति सिनेमाकी बन्द खिड़कियोंमें, मखमलकी गद्दियोंपर बैठकर इस महान् तत्त्वज्ञानका स्वप्न भी नहीं देख सकते। यह तो आज भारतके लिये सोचनेकी बात है कि सुसंस्कृत कौन है, सुसभ्य कौन है। इधर-उधर भटकनेवाली अन्य संस्कृतियोंके पीछे भटककर सम्पूर्णाङ्ग समुज्ज्वल हिंदू संस्कृतिकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

संस्कृतिकी समस्या

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

प्रत्येक देशकी प्राचीन संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, धार्मिक कृत्य, कला, साहित्य आदिमें कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं, जो भारतीय-सी जान पड़ती हैं। प्रायः सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें यत्रतत्र प्राचीन भारतीय सिद्धान्त बिखरे हुए मिलते हैं। इनके एक नहीं, अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी अङ्कके कई लेखोंमें यही दिखलाया गया है। देखना यह है कि यह समता आयी कैसे? इस सम्बन्धमें तीन ही बातें सम्भव हैं। एक तो यह कि विभिन्न देशोंमें स्वतन्त्र रीतिसे लोगोंके मस्तिष्कमें वैसी ही बातें आयीं। दूसरे यह कि वे किसी तरह भारतसे उन देशोंमें गयीं। इसीमें या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर यहाँकी कुछ बातें अपने साथ ले गये। तीसरे यह कि विभिन्न देशोंसे वे बातें भारतने ही लीं। पाश्चात्त्य विद्वान् प्रायः तीसरी ही बात मानते हैं। बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर उन्होंने सिद्ध किया है कि प्राचीन मिस्र, चीन, यूनान आदिसे भारतने क्या-क्या सीखा। ईसाई तथा इस्लामधर्मका वह कितना ऋणी है। एकसे उसने भक्ति, तो दूसरेसे उसने अद्वैतकी शिक्षा प्राप्त की। पर यदि यह दिखाया जा सके कि भारतीय संस्कृति ही सबसे प्राचीन है और उसीके आधार-पर अन्य देशोंकी संस्कृति विकसित हुई, तो इस मतका स्वतः खण्डन हो जाता है। उसके साथ ही प्रथम मत भी नहीं ठहरता, क्योंकि सबसे प्राचीन एक संस्कृति हो जानेपर अन्य संस्कृतियोंके साथ किसी-न-किसी रूपमें उसका सम्पर्क सिद्ध हो ही जाता है। संस्कृतिके इतिहासकारोंमें एक मत ऐसा अवश्य है कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतिका विकास स्वतन्त्र रूपसे हुआ। पर उसके माननेवाले इने-गिने विद्वान् हैं। अधिकांश विद्वानोंका यही मत है कि विभिन्न संस्कृतियोंका कुछ-न-कुछ परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। अन्ततः केवल दूसरा ही मत रह जाता है और उसके विवेचनमें देखना होगा कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिका समावेश कैसे हुआ।

इसपर विचार करनेके लिये हमें अपने प्राचीन इतिहासको ही आधार मानना पड़ेगा। पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा लिखे इतिहासके आधारपर हम नहीं चल सकते, क्योंकि उनका मत तथा उनकी शैली भिन्न है। प्रस्तुत विषयपर विचार करनेमें सबसे प्रथम यही प्रश्न उठता है कि क्या मानव-सृष्टि किसी एक ही स्थानपर हुई और धीरे-धीरे मनुष्य सभी भू-भागोंपर फैल गये या विभिन्न भूखण्डोंमें समय-समयपर स्वतन्त्र रीतिसे मानव-सृष्टि हुई? हमारे यहाँके इतिहासको पहला ही मत मान्य है। पुराणोंमें जो सृष्टिक्रम दिया गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि प्रथम मानव-सृष्टि भारतमें हुई और उसका विस्तार समस्त संसारमें हुआ। पुराणोंके अनुसार पहले महाशक्तिमान् नारद, मरीचि, वशिष्ठ आदि ब्रह्माके दस मानस पुत्र हुए, पर वे सृष्टिका विस्तार नहीं कर सके। ब्रह्माजी तब इस सोचमें पड़ गये कि सृष्टिका सन्तोषजनक विस्तार किस प्रकार हो। इसी समय उनका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया और उनसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। उसमें पुरुष स्वायम्भुव मनु और स्त्री उनकी रानी शतरूपा हुई। तबसे मैथुन-धर्मद्वारा प्रजा बढ़ने लगी।

स्वायम्भुवने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद नामके दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति—तीन कन्याएँ हुईं। उनमेंसे मनुने आकूतिका मरीचि प्रजापति, देवहूतिका कर्दम प्रजापति और प्रसूतिका दक्ष प्रजापतिके साथ विवाह कर दिया। उन्हींकी उत्पन्न सन्तानोंसे समस्त संसार भरा हुआ है। भागवतके तीसरे स्कन्धमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। पाँचवें स्कन्धमें बतलाया गया है कि पृथ्वीपर राजा प्रियव्रतके रथके पहियेकी लीकसे किस तरह सात समुद्र और सात द्वीपोंकी रचना हुई। चतुर्थ स्कन्धमें बतलाया गया है कि राजा पृथुके पहले इस भूमण्डल-पर कहीं भी पुर, ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। पिताके समान प्रजाओंको जीविका देनेवाले महाराज पृथुने सब पृथिवीपर जहाँ-तहाँ ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग, वीरोंके रहने योग्य स्थान, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पर्वतोंकी तलहटीमें बस्तियाँ बसाकर सबको यथायोग्य निवासस्थान प्रदान किया—

> अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
> निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥
> ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
> घोषान् व्रजान् सशिबिरानाकरान् खेटखर्वटान्॥
> (श्रीमद्भा० ४। १८। ३०-३१)

इस तरह भारतसे ही मानव-सृष्टिका विस्तार अन्य भागोंमें हुआ। भारतवर्षमें भी मानव-सृष्टिका आरम्भ ब्रह्मावर्तमें माना गया है। यह प्रदेश देवताओंसे निर्मित और आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् राम, श्रीकृष्ण आदिके अवतार इसी प्रदेशमें हुए। हिंदू धर्म तथा संस्कृतिके आधार वेद हैं, जो अपौरुषेय तथा नित्य माने जाते हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् भी उन्हें सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। जिन-जिन भूमियोंपर प्राचीन हिंदू आबाद होते गये, वहाँ उनके साथ वैदिक संस्कृति भी पहुँची। पर संसारका केन्द्र या हृदय भारत ही रहा। अपने शास्त्रोंमें उसे कर्मभूमि कहा गया है। अन्य देश तो केवल भोगभूमि हैं। कालान्तरमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंके जल-वायुकी भिन्नताके कारण वहाँ जाकर बसनेवाले भारतीयोंके वर्ण और आकृतियोंमें भी भिन्नता आ गयी। जल-वायुका आचार-विचारपर भी प्रभाव पड़ा। आने-जानेकी असुविधाओं-के कारण कई देशोंका भारतसे सम्पर्क छूट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध आचार-विचारोंका पोषण बंद हो गया और रूप-रंग तथा रहन-सहनमें इतना परिवर्तन हुआ कि वहाँके प्रवासी भारतीय भारतमें विदेशी तथा भिन्न जातिके प्रतीत होने लगे। जब शरीरके किसी अङ्गको हृदयसे शुद्ध रक्त नहीं मिलता, तब उसकी क्या दशा होती है? कुरुक्षेत्रके आसपासवाले देशके सम्बन्धमें मनुका कहना है कि इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणद्वारा संसारके सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र-को सीखें—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

पर कई दृष्ट तथा अदृष्ट कारणोंसे यह न हो सका। जब शुद्ध भारतीय विचारधाराका उन देशोंमें जाना रुक गया, तब वहाँके प्रवासी भारतीयोंका पतन होने लगा। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह चल पड़े और कितनी ही संकर जातियाँ उत्पन्न हो गयीं। मनुके दसवें अध्यायमें ऐसी कई जातियोंका वर्णन है। वहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि क्षत्रिय जातिमें उपनयन आदि क्रियाओंके लोप होनेसे, याजन, अध्ययन, प्रायश्चित्त आदिके लिये ब्राह्मणोंके दर्शनका अभाव होनेसे वे शनैः-शनैः संसारमें शूद्रताको प्राप्त हुए। पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश—इन देशोंमें उत्पन्न होनेवाले क्षत्रिय क्रिया लोप होनेसे शूद्र हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इनकी क्रिया लोप होनेसे जो बाह्य जातियाँ हुईं, वे सब म्लेच्छ-भाषासे अथवा आर्यभाषासे युक्त दस्युसंज्ञक कहाती हैं—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
> पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
> पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
> मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
> म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

इस तरह आर्य कौन थे और भारतमें कब तथा कहाँसे आये, ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते। विदेशी इतिहासकारोंने वृथा ही ऐसे पचड़े उठा रक्खे हैं और भारतीय विद्वान् भी उन्हींका अन्धानुकरण करते जा रहे हैं! पहले स्वयं मैक्समूलर भी कोई आर्य-जाति नहीं मानते थे। विभिन्न भाषाओंमें उन्होंने ऐसे शब्द देखे, जो संस्कृत रूपमें ही या संस्कृत धातुओंसे बने हुए जान पड़े। इसपर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि कोई भाषा ऐसी अवश्य रही होगी, जिसके शब्दकोषसे संसारकी विभिन्न भाषाओंने कुछ-न-कुछ उधार लिया; पर उनका दिमाग इस सीधी-सी बातकी कल्पना न कर सका कि

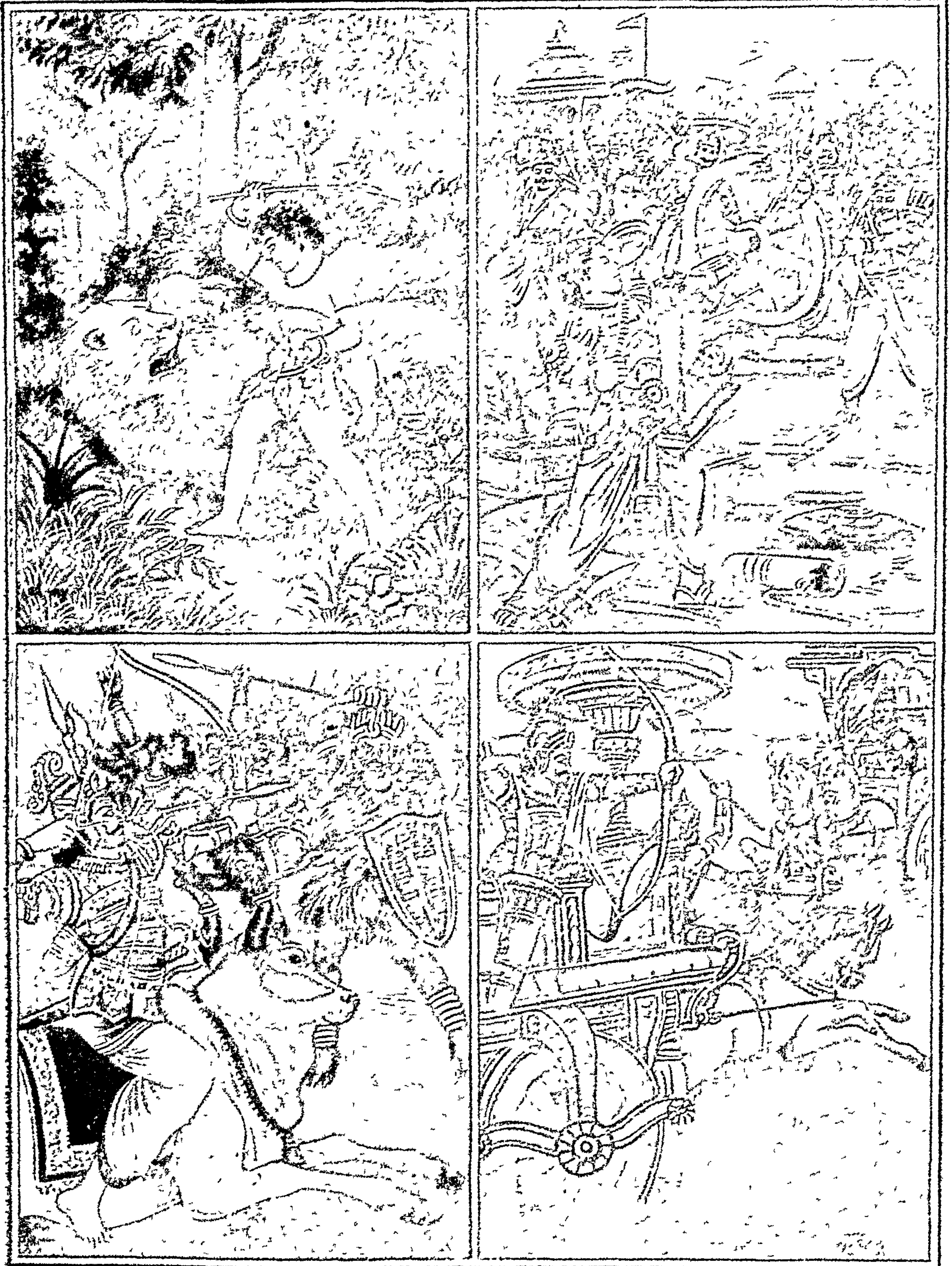
ऐसी भाषा संस्कृत है। जो बात एक साधारण व्यक्तिको सूझ जाती है, वह बड़े-बड़े विद्वानोंको नहीं सूझती; क्योंकि उनका दिमाग अपनी बुद्धिमत्ताके गर्वमें इधर-उधर चक्कर काटकर कोई नयी बात, जिसे आजकल 'मौलिक' भी कहा जाने लगा है, ढूँढ़ निकालनेकी धुनमें रहता है। इसीका नाम तो 'अनुसन्धान' है, जिससे आजकल जगत्‌में ख्याति प्राप्त होती है। विद्वान् मैक्समूलरके दिमागने यह बात खोज निकाली कि कोई एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी, जिससे संसारकी अन्य प्रधान भाषाएँ निकलीं। इसका कोई अन्य नाम समझमें न आनेपर उन्होंने 'आर्यभाषा' की कल्पना कर ली। जब ऐसी भाषा हुई, तो उसे बोलनेवाली कोई जाति भी चाहिये। उसके लिये 'आर्यजाति' गढ़ ली गयी। फिर क्या था, कल्पनाओंका प्रासाद खड़ा होने लगा। आर्योंका मूल स्थान कहीं उत्तरी ध्रुव, तो कहीं जर्मनीके आसपास ढूँढ़ा जाने लगा। उसकी शाखाएँ यूरोप तथा एशियाके विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगीं। उनकी भाषाओं, उनकी संस्कृतिमें समता स्वाभाविक हो गयी। इस तरह इतिहास-कारोंने सोचा कि इतिहासकी एक बड़ी पहेली हल हो गयी।

परंतु यह तथाकथित ऐतिहासिक खोज भी भारतके लिये राजनीतिक उद्देश्यसे खाली न थी। हम यह पहले लिख चुके हैं कि कई दृष्ट तथा अदृष्ट कारणोंसे भारतका अपने दूरस्थ उपनिवेशोंसे सम्पर्क टूट गया। इस बीच इन उप-निवेशोंमें कितने ही उथल-पुथल हो गये। वैदिक संस्कार विकृत रूपमें रह गये। भाषा भी अशुद्ध होकर म्लेच्छ-भाषामें परिवर्तित हो गयी। नये अवैदिक सम्प्रदाय भी चल पड़े। पर इन सबमें छुपी-छिपी मूल वस्तु कहीं अपने शुद्धरूपमें, तो कहीं अपने विकृत रूपमें बनी रह गयी। भारतका अपने इन भूले हुए उपनिवेशोंसे फिर सम्पर्क स्थापित हुआ बौद्धकालमें। अशोकके समयसे बौद्ध प्रचारक विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगे। विदेशोंके साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। यूनान, चीन आदिसे विद्वान् भी भारत आने लगे। कुछ दिन बाद कई एशियाई देशोंमें हिंदू राज्य भी पुनः स्थापित हुआ। इतिहासकारोंने इन्हींके आधारपर यह मत स्थिर कर लिया कि इसी कालमें भारतका विदेशोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ। परंतु अपनी प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात बहुत पीछेकी है। वास्तवमें बौद्ध प्रचारकोंने विदेशोंमें जाकर वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके सम्बन्धमें बहुत कुछ भ्रम फैलाया। वहाँ प्रचलित विकृत वैदिक संस्कृतिमें उन्होंने अपनी विकृत विचारधाराका समावेश कर दिया। प्रशान्त महासागरके देशोंमें बौद्धोंके पहुँचनेके बहुत पहलेसे ही वहाँ विकृतरूपमें हिंदू संस्कृति चल रही थी।* इसी प्रसङ्गमें पूर्वलिखित भारतीय संस्कृति-प्रचारके तीन मतोंमेंसे दूसरे मतपर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। इसमें कहा गया है कि 'या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर कुछ बातें अपने साथ ले गये।' किसी अंशमें ये दोनों बातें अवश्य हैं, पर वस्तुस्थिति इन दोनोंसे भिन्न है। अन्य संस्कृतियोंमें जिस गहराईके साथ प्राचीन भारतीय बातें घुली हुई हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस थोड़े-से ऊपरी सम्पर्कद्वारा ऐसा हुआ। पूर्वमें बर्मासे लेकर अमेरिकातक प्रत्येक देशकी संस्कृतिपर प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी छाप मिलती है। मिस्टर क्यूनिनका कहना है कि "प्रायः इन देशोंकी सभी भाषाओंमें 'ईश्वर'के लिये जो शब्द आया है, वह संस्कृत 'देव'से बना हुआ जान पड़ता है।"

इसी तरह 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स' भाग ७ जिल्द २ में मिस्टर किंगका कहना है कि 'प्राचीन पोलिनेशियन गाथाओंमें वैदिक भावोंका आभास मिलता है। स्वर्ग-नरक, पृथ्वी-आकाश, लोक-परलोकके सम्बन्धमें इन लोगोंके विचार पढ़नेसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो वहाँके द्वीप-द्वीपसे प्रशान्त महासागरके जलमें वैदिक मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहे हैं।' डाक्टर रैंडीने अपने 'पोलिनेशियन रिलिजन' नामक ग्रन्थमें इन देशोंकी कितनी गाथाओंका अनुवाद करके दिखलाया है कि 'उनमें वैदिक भावोंसे कितनी समता है।' दीवान चमनलालने अपनी 'हिंदू अमेरिका' नामक पुस्तकमें दिखलाया है कि दोनों अमेरिकाओंमें हिंदू संस्कृतिका कितना प्रचार था। इधर पश्चिममें अफगानिस्तानसे लेकर मिस्रतक प्रायः सभी देशोंमें हिंदू संस्कृतिके बिखरे हुए चिह्न मिलते हैं। यूरोपीय दर्शन तथा विज्ञानका आदिगुरु यूनान माना जाता है। उसकी विचारधारा प्राचीन भारतीय सिद्धान्तोंसे रँगी हुई जान पड़ती है। स्कैंडिनेविया, जर्मनी, आयरलैंड आदि देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भी भारतीय संस्कृतिसे बहुत कुछ समता पायी जाती है। यह सब कुछ केवल थोड़े कालके व्यापारिक सम्पर्क या दो-चार विद्वानोंके आवागमनसे नहीं हो सकता।

* 'सिद्धान्त' वर्ष ४ में प्रकाशित 'प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू संस्कृति'।

आदर्श वीर-चतुष्टय



भरत छीन शिशु सिंह-वधूका, मार रहा उसको अति क्रुद्ध ,
करता है अभिमन्यु अकेला सप्त महारथियोंसे युद्ध ।
एकाकी ककुत्स्थने रणमें रिपुदलका कर दिया सँहार ,
वीर भीष्मसे समराङ्गणमें मानी परशुरामने हार ॥

आदर्श भक्त-चतुष्टय



नारद, ध्रुव, प्रहलाद वर, विदुर महामतिमान ।
ये चारों हरिभक्तिके हैं आदर्श महान ॥

फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वाँ लेवीकी पूर्वी देशोंके सम्बन्धमें राय है कि 'सम्भवतः भारतमें आर्योंकी विजय होनेपर वहाँके आदिवासियोंने भागकर इन देशोंमें शरण ली।' यह कितना थोथा तर्क है! पहले तो भारतपर आर्योंकी विजय ही कपोल-कल्पित है, जैसा हम दिखला चुके हैं। दूसरे, शरणार्थियोंकी संस्कृतिका प्रभाव उन देशोंकी संस्कृतिपर पड़े, क्या यह सम्भव है? किसी देशमें जानेवाले मुट्ठीभर शरणार्थी तो अपनी संस्कृतिका प्रभाव डालनेकी अपेक्षा उसी देशकी संस्कृतिमें रँग जायँगे। एक मत यह भी है कि 'पहले इनमेंसे कुछ देशोंका भारतसे व्यापारिक सम्बन्ध था। वहाँ जाकर हिंदू अपने धर्मका प्रचार करने लगे और वहाँके राजाओंने हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया।' यह मत भी तर्ककी कसौटीपर ठीक नहीं उतरता। कुछ आगन्तुक हिंदुओंके प्रचारसे प्रभावित होकर उन देशोंके राजा अपना परम्पराप्राप्त धर्म छोड़ बैठें, यह बात नहीं जँचती। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'इन देशोंपर विजय प्राप्त करके हिंदुओंने अपने राज्य स्थापित किये और वैदिक संस्कृतिका प्रचार किया।' पर इस तर्कमें भी दोष है। मनु आदिने लिखा है कि 'किसी देशके विजय करनेपर वहाँके प्रचलित रीति-रिवाजोंमें विजेताको कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' हिंदू नरेशोंने इस राजधर्मका बराबर ध्यान रक्खा। उन्होंने दूसरोंपर अपने धर्म या संस्कृतिके लादनेका कभी प्रयत्न नहीं किया। दूसरोंको हिंदूधर्म ग्रहण करनेकी मनाही ऐसे तर्कोंकी असत्यता सिद्ध करती है।

भारतके प्राचीन इतिहासमें म्लेच्छ, यवन आदिका जो वर्णन आता है, वे आचारभ्रष्ट हिंदू ही थे। जब भारतमें ही जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य सम्प्रदाय चल पड़े, तब उन देशोंका कहना ही क्या, जिनका सम्पर्क भारतसे टूट चुका था। वहाँ यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि सम्प्रदाय चल पड़े, जो बौद्ध सम्प्रदायसे भी अधिक वेदबाह्य हैं, पर जिनमें प्राचीन संस्कारोंके कारण इधर-उधर कुछ विकृतरूपमें वैदिक धर्मके सिद्धान्तोंकी झलक देख पड़ती है। पाश्चात्त्य देशोंमें रोमके साथ भारतका व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे था। धीरे-धीरे वह व्यापार बहुत कुछ मुसल्मानोंके हाथ आ गया। सोलहवीं शताब्दीमें भारतका पाश्चात्त्योंसे फिर प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच आदि कई जातियोंके पाश्चात्त्य व्यापार करने भारत आये। मुस्लिम शासनकालमें भारतकी प्रगति बहुत कुछ रुक गयी। प्राचीन विज्ञान और दर्शनका अध्ययन शिथिल पड़ गया, कलाओंपर मुसल्मानी छाप आने लगी। हिंदुओंका अन्य देशोंमें आना-जाना बंद हो गया। पाश्चात्त्योंने आधुनिक विज्ञानके अध्ययनसे युद्ध तथा अन्य क्षेत्रोंके कई नये साधन ढूँढ़ निकाले। साथ ही उन्होंने अपनी कूटनीतिको भी परिपक्व किया। भारत-जैसा समृद्धिशाली देश उन्हें अपने नये साधनोंके उपयोगका अच्छा क्षेत्र मिल गया। पाश्चात्त्य कूटनीतिज्ञोंने देखा कि मुसल्मानोंका पतन हो रहा है, पर हिंदू फिर जोर मार रहे हैं। यदि उनके हृदयोंसे अपने धर्म, अपने देश, अपनी जातिका अभिमान हटाया जा सके और उसके स्थानपर पाश्चात्त्य सभ्यताकी श्रेष्ठता स्थापित की जा सके, तो राजनीतिक प्रभुत्व जमानेमें बड़ी सहायता मिलेगी। इसी दृष्टिसे नवीन इतिहासकी रचना और आधुनिक शिक्षाका आरम्भ हुआ। इतिहासद्वारा भारतके आदिवासी असभ्य सिद्ध किये गये और यह दिखलाया गया कि बाहरसे आर्योंने आकर सभ्यताका प्रचार किया। इसीके आधारपर इतिहास गढ़ डाले गये और हिंदू धर्म, वर्णव्यवस्था आदिके उलटे-सीधे अर्थ कर दिये गये। बड़े-बड़े पाश्चात्त्य विद्वान् दो-चार भारतीय बातोंकी प्रशंसा करके अपनी निष्पक्षता दिखलाते हुए छिपे-छिपे अपनी रचनाओंमें विष घोलते रहे। मैक्समूलर-जैसा प्रसिद्ध विद्वान् भी इससे मुक्त न रह सका। भारतीय विचारोंकी यत्र-तत्र उसे प्रशंसा करते देखकर भारतीय विद्वान् उसपर लट्टू हो गये, पर वेदोंका अनुवाद उसने इसीलिये आरम्भ किया कि जिसमें हिंदू धर्मकी पोल खुल जाय, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।*

पाश्चात्त्योंके लिखे नहीं, अपने यहाँका इतिहास, जो पुराणोंमें उपलब्ध है, उसकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो कितनी ही ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। एक प्रश्न प्रायः उठता है कि संसारमें आज भी कितनी ही असभ्य तथा जंगली 'जातियाँ' मिलती हैं। यदि सबकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीयोंसे ही, जिनकी सभ्यता बड़ी उच्च कोटिकी थी, मान ली जाय, तो उनकी सन्तानें इतनी जंगली तथा असभ्य कैसे बन गयीं? इस तरहके सन्देह उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आजकल विद्वानोंका ऐतिहासिक काल पीछे दस हजार वर्षसे अधिक नहीं जाता। इतने ही कालमें वे सब ऐतिहासिक घटनाएँ ठूँस लेते हैं। पहले तो समझा

* देखिये—'सिद्धान्त' वर्ष २, अङ्क १, मैक्समूलर और ईसाई-धर्मप्रचार।

जाता था कि जो कुछ हुआ, वह ईसवी सन्‌के भीतर ही; पर अब धीरे-धीरे बढ़कर यह दस हजार वर्षतक पहुँच गया है । परंतु भारतीयोंकी कालकी कल्पना बड़ी व्यापक है । ४ लाख ३२ हजार वर्षका एक युग माना जाता है । ऐसे १० युगोंका एक चतुर्युग या महायुग और १ हजार महायुगोंका अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका एक कल्प होता है । इसके आगे फिर देवोंके अहोरात्रकी गणना है । एक कल्पका एक ब्राह्म दिन और ७२० कल्पोंका एक ब्राह्म वर्ष, फिर १०० ब्राह्मवर्ष अर्थात् ३१ नील, १० खरब, ४० अरब मानववर्ष ब्रह्माकी आयु मानी जाती है । ऐसी १ हजार ब्रह्मायु विष्णुकी एक घड़ी और १२ लाख विष्णु-आयु रुद्रकी केवल आधी कला होती है । ये संख्याएँ देखकर बुद्धि चकराने लगती है । युगोंका चक्र बराबर चलता रहता है । उनकी अवधिके प्रचलित मानकी दृष्टिसे अन्तिम सत्ययुगके आरम्भ-कालको ३८ लाख ९३ हजार वर्ष हुए । इस तरह वर्तमान सृष्टिके आदिकालका अनुमान लगाया जा सकता है । फिर ऐसी सृष्टियाँ कितनी होती रहीं, इसका तो कुछ पता ही नहीं । इस कालका ध्यान रखते हुए ही भारतका इतिहास समझना है ।

इतने वर्षोंमें मनुष्यके जीवनमें कितनी उथल-पुथल हो सकती है । इतने दिनोंमें कितनी ही बार मनुष्य सभ्यसे जंगली और जंगलीसे सभ्य बना । यह तो इतने वर्षोंकी बात है, इतिहासमें थोड़े ही कालकी ऐसी घटनाएँ देखनेमें आती हैं । दक्षिणी अमेरिकाकी मय, ऐस्टिक, इंका आदि जातियाँ किसी समय सभ्यताके शिखरपर पहुँची थीं । मय जातिकी सभ्यता १० हजार वर्ष प्राचीन बतलायी जाती है । सन् ६३० तक दक्षिणी अमेरिकामें उसका विशाल साम्राज्य था । ऐस्टिक लोगोंके सम्बन्धमें लेखिका कोरावाकरका कहना है कि 'जब यूरोप जंगली बना हुआ था, ये लोग संगमरमरके महलोंमें रहते थे । विशाल मन्दिरोंके पास सुन्दर सरोवर थे । जब यहूदी असभ्य दशामें इधर-उधर भटकते फिरते थे, इन लोगोंमें खेती तथा व्यापारकी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी ।' मिस्टर ड्रेकरके शब्दोंमें 'प्राचीन मेक्सिकोकी सभ्यताने यूरोपको शिक्षा दी होगी' (हिंदू अमेरिका) । परंतु जब स्पेनवालोंका वहाँ आधिपत्य हुआ, उन्होंने उन जातियोंको नष्ट करनेमें कोई बात उठा न रक्खी । उन्हीं बचे-खुचे लोगोंकी सन्तान 'रेड इंडियन्स' (लाल भारतीय) कहलाते हैं, जो आजकल जंगली समझे जाते हैं । अफ्रीका, ईराक आदि देशोंमें भी यही हुआ । अब धीरे-धीरे वहाँकी प्राचीन सभ्यताका पता लग रहा है । जिन्हें आजकल असभ्य कहा जाता है, जब उनके जीवनका अध्ययन किया जाता है, उनमें कितनी ही ऐसी उच्च बातें मिलती हैं, जिनका ज्ञान सभ्यताका दम भरनेवालोंतकको नहीं । ऐसे संस्कार उनमें कहाँसे आये ? भेड़ियोंकी माँदमें पले हुए मनुष्योंके बच्चे अपनी मनुष्यता भूलकर उन्हींकी तरह आचरण करने लगते हैं । तब फिर यदि इतने कालमें सभ्यताके सम्पर्कसे रहित होकर कुछ जातियाँ जंगली बन जायँ तो इसमें आश्चर्य क्या !

कहा जा सकता है कि 'पुराणोंकी कपोलकल्पनाओंके आधारपर सच्चा इतिहास नहीं लिखा जा सकता ।' पर आधुनिकोंद्वारा जो इतिहास लिखा गया, वह सच्चा है—इसीका क्या प्रमाण ? आँखोंदेखी घटनातक ठीक नहीं बतलायी जा सकती । दो व्यक्ति उसे भिन्न रूपमें ही देखते हैं; जो कुछ दिखायी देता है, उसमें भी प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ कल्पना रहती है । आज-ही-कल कितनी बार छनकर समाचारपत्रोंद्वारा किसी घटनाका वर्णन सामने आता है, फिर प्राचीन इतिहासका कहना ही क्या ? प्राचीन लेखों, खंडहरों, मुद्रा आदिके आधारपर आजकल प्राचीन कालका इतिहास लिखा जाता है; पर इनमें क्या एक भी विश्वसनीय है ? उनके द्वारा इतिहास पढ़नेमें भी बहुत कुछ लेखकका अनुमान चलता है । फिर आजकल तो जान-बूझकर इतिहास विकृत किया गया है, जैसा कि आर्योंके बाहरसे भारतमें आनेके मतके सम्बन्धमें हम दिखला चुके हैं । मिस्टर केल्टेनने अपनी 'प्रास्पेक्टस आफ हिस्ट्री' नामक पुस्तकमें ठीक ही लिखा है कि 'यदि शैतान झूठका पिता है तो स्वदेशभक्ति माता है ।' स्वदेशभक्तिके आवेशमें इतिहासको कितना तोड़ा-मरोड़ा गया है । कितने ही दिनोंसे जर्मन विद्वान् इतिहासोंमें यह दिखलानेका प्रयत्न करते रहे कि जर्मन लोग ही शुद्ध 'आर्य' हैं और उन्होंने ही सर्वत्र सभ्यता, संस्कृतिका सन्देश पहुँचाया । इस तरह 'बृहत्तर जर्मनी'की नींव सुदृढ़ करनेका प्रयत्न किया गया । तुर्कीके इतिहासकारोंका यही तुर्कोंके सम्बन्धमें कहना है । जिन लोगोंको अपने धर्मका प्रचार करना है, वे इतिहासद्वारा यह दिखलाना चाहते हैं कि उन्हींका धर्म सबसे प्राचीन है और किसी समय वही सबका धर्म था । इस तरह कभी राजनीतिक और कभी धार्मिक दृष्टिसे इतिहास दूषित किया गया है ।

ऐसी दशामें आधुनिकोंद्वारा लिखे इतिहासपर ही कैसे विश्वास किया जा सकता है।

हमारे यहाँके प्राचीन इतिहासकारोंने इतिहास लिखनेमें इन दूषित साधनोंसे काम नहीं लिया। उन्होंने ईंट-पत्थरोंमें माथा नहीं फोड़ा। व्यास, वाल्मीकि आदिने जो 'दिव्य-दृष्टि' से देखा, वही लिखा। योगसे ऐसा होना असम्भव नहीं; इसलिये उन्होंने जो लिखा, उसे झूठ नहीं कहा जा सकता। पुराणोंकी बहुत-सी बातें जँचतीं नहीं, क्योंकि वे प्रायः असाधारण प्रतीत होती हैं। पर यह दोष है सङ्कुचित दृष्टि-का। जो वस्तु हम प्रतिदिन देखते हैं, उसे साधारण मानते हैं। अपने यहाँ लिखे विमानोंकी बात कुछ दिन पहले कोरी कल्पना ही प्रतीत होती थी, पर आज प्रतिदिन अपने सिर-पर उड़ते हुए हवाई जहाज देखकर ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि इतनेपर भी कुछ लोग केवल द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर प्राचीन हिंदुओंको इतिहासमें सर्वप्रथम विमान बनानेका श्रेय देनेके लिये तैयार नहीं। प्राचीन ऋषियोंने झूठा इतिहास लिखा हो, इसका कोई कारण भी नहीं जान पड़ता। व्यास, मनु, शुक्र, कौटिल्य आदिने बराबर यही राय दी है कि राजाको विजित राष्ट्रोंके गले अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी शासनपद्धति कभी ठूँसनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक देशको अपना धर्म पालन करने और अपनी संस्कृति-परम्परापर चलनेकी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। रामायण, महाभारत तथा अन्य इतिहासोंसे पता लगता है कि अपने यहाँ बराबर इसी नीतिका अनुसरण होता रहा। राजसूय यज्ञ होते हैं, चक्रवर्ती बननेकी राजाओंको अभिलाषा होती है; पर अभिप्राय इतना ही रहता है कि उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाय। विजित देशोंको अपने राज्यमें मिलाना, उनमें अपना गवर्नर नियुक्त कर देना और जैसे-तैसे अपनी शासनव्यवस्था वहाँ घुसेड़ देना हमारे प्राचीन सम्राटोंको कभी अपेक्षित नहीं रहा। इसीलिये प्राचीन भारतमें छोटे-बड़े कितने राज्य मिलते हैं। सम्राट् हुए, बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए; पर इसी नीतिके कारण वे 'साम्राज्यवाद'के दुर्गुणोंसे बचते रहे। धार्मिक दृष्टिसे तो प्राचीन हिंदुओंने दूसरोंको अपने धर्ममें लानेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' उनका सिद्धान्त रहा। ऐसी दशामें रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें वर्णित इतिहासपर विश्वास क्यों न किया जाय?

जैसा कि हम आरम्भमें ही कह आये हैं, विषय बड़ा जटिल है। इस लेखमें तो बहुत ही संक्षिप्त रूपमें उसका विचार किया गया है। यदि और गहराईमें घुसा जाय, तो कितनी ही ऐसी बातें मिलेंगी, जिनमें असङ्गति और परस्पर विरोध दिखायी देगा। पर उतनेहीसे यह अनुमान कर लेना कि सिद्धान्त ही गलत हैं, ठीक न होगा। ऐसा होनेपर और भी गहराईमें घुसना चाहिये, तब विरोधाभास आप ही दूर होने लगेगा। कहनेका तात्पर्य यह कि पाश्चात्त्य पद्धतियों-ने जो इतिहासका मार्ग दिखला दिया है, उसका अन्धानुकरण छोड़कर हमें अपने दृष्टिकोणसे अनुसन्धान करना चाहिये। यदि ऐसा हो तो इतिहासकी सबसे बड़ी पहेली सुलझ जायगी और उसकी कितनी ही बातें समझमें आ जायँगी। खेदकी बात है कि अबतक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसमें कितनी ही कठिनाइयाँ हैं, इसे हम मानते हैं। जिन्हें पौराणिक रहस्योंका ज्ञान है, उन्हे आधुनिक अनुसन्धान और लेखनशैलीका ज्ञान नहीं और जिन्हे इनका ज्ञान है, उनका शास्त्र-रहस्योंमें प्रवेश नहीं। आजकल जबतक आधुनिक ढंगसे बात न समझायी जाय, लोगोंकी समझमें नहीं आती। बुद्धि ही विगड़ रही है, उसका विकास नहीं, एक प्रकारसे ह्रास हो रहा है। वह केवल स्थूल दृष्टिसे देखने योग्य रह गयी है। क्या ही अच्छा होता यदि प्राचीन शैलीके विद्वानों और आधुनिक विद्वानोंको यह काम सौंपा जाता, जिसमें दोनों एक दूसरेकी बात समझकर इस ढंगसे वस्तु-स्थिति सामने लाते, जिसे माननेको सब लोगोंको बाध्य होना पड़ता। पर इधर न तो विद्वानोंका ध्यान है और न धनिकोंका ही, फलतः झूठे इतिहास पढ़-पढ़कर हमारी बुद्धि और भी बिगड़ती जा रही है!



हिंदू-संस्कृतिके मूर्तिमान् स्वरूप

धर्म-विग्रह भगवान् श्रीरामचन्द्र

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

आर्य-जातिके इतिहासमें अनेक धर्मप्राण ऋषि-महर्षि और राजर्षि हो गये हैं। उन सबमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका स्थान सर्वोपरि है। वेदों और धर्मशास्त्रोंमें हमें धर्मका स्वरूप और उपदेश तो प्राप्त होता है; किंतु उस धर्मका प्रयोग कैसे होना चाहिये,' इसका उदाहरण भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्यामें मिलेगा। तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है, जब धर्म या कर्मके स्वरूपमें सन्देह हो तो धर्मज्ञ पुरुषोंके बर्तावको देखकर उसके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये—'यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।' इसके अनुसार यदि हम सम्पूर्ण धर्मों और धर्मपूर्ण बर्तावोंका आदर्श किन्हीं एक महापुरुषमें देखना चाहें तो सर्वप्रथम भगवान् श्रीरामके जीवनपर ही दृष्टिपात करना होगा। श्रीरामने जिसे धारण किया, वही आदर्श धर्म है; जिसे संस्कार प्रदान किया, वही आर्य-संस्कृति है और जिसको वे आचरणमें ले आये, वही आर्योंका आदर्श सदाचार एवं शिष्टाचार है। इसीलिये कहा गया है, 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—श्रीरामचन्द्रजी धर्मके साक्षात् विग्रह हैं।

श्रीरामके गुण अनन्त हैं। वे ईश्वर हैं, फिर भी उन्हें इसका अभिमान नहीं है। वे एक साधारण मनुष्यके समान अधर्मसे बचते हुए धर्मकी मर्यादामें स्थित रहते हैं; इसीलिये सबकी दृष्टिमें वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' हैं। शतकोटि रामायणों-ने उनकी महिमाका वर्णन किया, फिर भी किसीने पार नहीं पाया। तथापि अपनी लेखनी और वाणी पवित्र करनेके लिये ही यहाँ श्रीरामके धर्ममय जीवनकी यत्किञ्चित् झाँकी करायी जाती है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि अपने आदिकाव्यके लिये एक ऐसे नायकका अनुसन्धान कर रहे थे, जिसमें सभी सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा हो, जिसका जीवन ही धर्म और सदाचारकी कसौटी हो तथा जो सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र प्रियतम हो। महर्षिने ऐसे लोकोत्तर गुणोंकी एक सूची बनायी और अपने आश्रमपर कृपापूर्वक पधारे हुए देवर्षि नारदसे पूछा—'मुने! आपकी दृष्टिमें कोई ऐसे महापुरुष हैं, जिनमें ये सभी सद्गुण मौजूद हों?' नारदजीने इसके उत्तरमें भगवान् श्रीरामका परिचय दिया और उनके अलौकिक गुणोंका भी बखान किया। वाल्मीकि और नारदका यह संवाद ही समस्त रामायणका बीज है। आदिकविका सम्पूर्ण 'रामायण' काव्य श्रीरामके उन लोकोत्तर गुणों तथा धर्ममय आचारोंकी ही व्याख्या है।

वाल्मीकिका प्रश्न इस प्रकार है—

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥
(वा० रा० बाल० १। २—४)

'इस समग्र संसारमें गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ (उपकार माननेवाला), सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है? सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंके हितका साधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है? मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतने-वाला, कान्तिमान् और किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं?'

प्रश्न सुनकर नारदजीने यों उत्तर दिया—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
(वा० रा० बाल० १। ८-९)

'राजा इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें राम नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं। बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुओंके संहारक हैं।'

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥
(वा० रा० बाल० १ । ९—११)

'उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, ग्रीवा शङ्खके समान और ठोढ़ी मांसल है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई है। वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लटकी हैं। मस्तक सुन्दर है। ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर अधिक ऊँचा या नाटा न होकर मध्यम और सुडौल है। देहका रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। वे लक्ष्मीवान् और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं।' आकृति-विज्ञानके सर्वश्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त शरीरका वर्णन है इन शब्दोंमें। फिर वे—

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
(वा० रा० बाल० १ । १२—१९)

'धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधनमें लगे रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं। प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, शत्रुनाशक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनोंके पालक हैं। वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं। वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरण-शक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं। जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार साधु पुरुष सदा श्रीरामसे मिलते रहते हैं। वे आर्य (श्रेष्ठ) हैं और सबके प्रति समान भाव रखनेवाले हैं। उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौसल्याके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं। गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं। वे विष्णुभगवान्‌के समान बलवान् हैं, उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोधमें कालाग्निके और क्षमामें पृथ्वीके सदृश हैं। त्यागमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान हैं।'

उपर्युक्त गुणावलीमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्माश्रित सभी प्रकारके गुणोंका वर्णन आ गया है। ये सभी भगवान् श्रीराममें एकत्र समवेत हैं। उनके जीवनमें कहाँ कब किस गुणका विशेष विकास दृष्टिगोचर हुआ है, इसकी समीक्षा करनेपर बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस लेखमें विस्तारके लिये स्थान नहीं है; अतः कुछ थोड़ेसे प्रसङ्गोंद्वारा ही श्रीरामके धर्ममय जीवनपर संक्षेपसे प्रकाश डाला जायगा। आदिकविने सर्वप्रथम अपने प्रश्नमें 'गुणवान्'की चर्चा की है। श्रीरामके गुण अनन्त हैं।

वाल्मीकीय रामायणमें अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही श्रीरामचन्द्रजीके शील, स्वभाव तथा सद्व्यवहार आदि गुणोंका जो मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह मानव-मात्रके लिये पठनीय, मननीय तथा अनुकरणीय है। महर्षि लिखते हैं—'श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे सदा शान्तचित्त रहते और मीठे वचन बोलते थे। यदि कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे। चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बड़े सत्पुरुषोंसे सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे। सर्वदा मधुर और प्रिय बोलते थे। झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे वृद्ध पुरुषोंका सदा सम्मान किया करते थे। प्रजाका रामके प्रति तथा रामका प्रजाके प्रति अनुराग था। वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। दीनोंपर कृपालु, धर्मका रहस्य जाननेवाले और इन्द्रिय-विजयी थे। श्रीरामचन्द्रजी बाहर और भीतरसे सदा ही शुद्ध रहते थे। शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे। उनका शरीर

नीरोग था और अवस्था तरुण। वे असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सार-तत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है। श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमार राम अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाको बाह्य प्राणोंके समान प्रिय थे। वे सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात और साङ्ग वेदके ज्ञाता थे। बाण-विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़कर थे। कल्याणकी तो मानो जन्मभूमि ही थे। साधु, दीनतारहित, सत्यवादी और सरल थे। धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी। धर्म, काम तथा अर्थके तत्त्वका उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। उनको सामयिक लोकाचारोंका विशेष ज्ञान था। वे बड़े गम्भीर, अपने आकार-को छिपानेवाले और मन्त्रको गुप्त रखनेवाले थे। उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह, दीनोंपर अनुग्रह तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। उन्होंने सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों तथा संस्कृत-प्राकृत आदि नाना प्रकारकी भाषाओंके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी।'''''''क्रोधमें भरकर आये हुए देवता और असुर भी उनको संग्राममें परास्त नहीं कर सकते थे। दोष-दृष्टिका तो उनमें लेशमात्र भी नहीं था। क्रोधको वे जीत चुके थे। घमंड और द्वेष उनके पास भी नहीं फटकने पाते थे। किसी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था। वे कालके वशमें होकर उसके पीछे चलनेवाले नहीं थे; काल ही उनके पीछे चलता था।'

(वा० रा० अयोध्या० १। १—३१)

रामको वनमें भेजनेवाली विमाता कैकेयीपर भी उनके सद्गुणों तथा न्यायोचित व्यवहारोंका इतना प्रभाव था कि वे कुब्जाके बहकानेपर भी रामकी प्रशंसा करती नहीं अघातीं। वे कहती हैं—'कुब्जे! तू रामके राज्याभिषेकका शुभ संवाद सुनकर जलती क्यों है? मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही, बल्कि उनसे भी बढ़कर श्रीराम आदरणीय हैं। वे अपनी सगी माता कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं; यदि रामको राज्य मिल रहा है, तो उसे भरतका भी समझ ले'।* इसी प्रकार सुन्दरकाण्डमें, जब हनुमान्जी सीताके सम्मुख गये हैं, उन्होंने श्रीरामके अलौकिक गुण और स्वभावका बड़े विस्तारके साथ वर्णन करके अपने प्रति माता सीताका विश्वास प्राप्त किया है।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारदने संसारको यह बता दिया कि तीनों लोकोंमें सबसे बढ़कर गुणवान् श्रीराम ही हैं। गुण हों और वीर्य—पराक्रम न हो तो वे गुण किस कामके! लोकमें उसीका समादर होता है, जो गुणवान् होनेके साथ ही वीर्यवान्—पराक्रमी भी हो। इस दृष्टिसे देखनेपर भी श्रीराम ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। जनकपुरके उस दिव्य धनुषको, जो देवता, मानव और असुर—किसीके हाथसे भी हिलाया तक न जा सका, श्रीरघुनाथजीने अनायास ही तोड़ डाला। परशुराम-जैसे दुर्धर्ष वीरको, जिन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको वीर क्षत्रियोंसे सूना कर दिया था, अपने पराक्रमसे सन्तुष्ट करना रघुवीरका ही काम था। पञ्चवटीमें चौदह हजार राक्षसों तथा खर, दूषण और त्रिशिराको अकेले ही बिना किसीकी सहायता लिये थोड़ी ही देरमें संहार कर डालनेवाले श्रीरघुनाथजीके पराक्रमकी किससे तुलना हो सकती है? वालिवध, समुद्र-निग्रह तथा रावण-कुम्भकर्णादिका संहार भी केवल उन्हींके पराक्रमसे सम्भव हुआ। हनुमान्जीने तो रावणके दरबारमें पहले ही घोषित कर दिया था—

ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥

(वा० रा० सुन्दर० ५१। ४४)

'औरोंकी तो बात ही क्या, चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, त्रिपुरसंहारक त्रिनेत्रधारी रुद्र तथा देवराज इन्द्र भी रघुनाथजीके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकते।'

गुणवान् और वीर्यवान् होनेके साथ ही धर्मज्ञ होना भी आवश्यक है, अन्यथा वह पराक्रम अधर्ममें लगानेवाला हो सकता है। भगवान् श्रीरामके लिये 'धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके ज्ञाता और स्वामी) यह विशेषण आया है। वे धर्म और अर्थके तत्त्वको जानते थे। इसका सुन्दर उदाहरण वालि-वधका प्रसङ्ग है। वालीने जब श्रीरघुनाथजीके कार्यको अन्याय बताते हुए धर्मकी दुहाई देनी आरम्भ की, उस समय उन्होंने उसकी प्रत्येक बातका खण्डन करते हुए बड़ी सुन्दर युक्तियोंद्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि 'वाली! तुम्हें यह तुम्हारे पापका ही दण्ड मिला है। तुमने अपने छोटे भाईकी स्त्रीको, जो तुम्हारी पुत्रवधूके

* संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च स तु शुश्रूषते हि माम्॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
(अयोध्या० ८। १५, १८, १९)

समान है, बलपूर्वक रख लिया है और उसपर बलात्कार किया है। मैंने तुम्हें दण्ड देकर राजधर्म, मित्रधर्म एवं अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया है।' उन्होंने अपनी बातकी पुष्टिमें पूर्वजोंके द्वारा अपनायी हुई नीति तथा मनुस्मृतिके मतका भी उल्लेख किया है—'श्रूयेते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।' यह प्रसंग वा० रा० किष्किन्धाकाण्डके १८वें सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। वहीं देखना चाहिये।

श्रीरामकी धर्मज्ञताका दूसरा उदाहरण है विभीषण-शरणागतिका प्रसङ्ग। शरणमें आये हुए भयभीत पुरुषकी रक्षा करना प्रत्येक शक्तिशाली वीर पुरुषका धर्म है। भगवान् श्रीरामकी तो यहाँतक प्रतिज्ञा है कि 'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर यह कह दे कि 'प्रभो! मैं आपका हूँ' उस शरणागत जनको मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'* जब विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ आकर यह पुकार लगाता है कि 'मैं श्रीरघुनाथजीकी शरणमें आया हूँ,' उस समय वानर-सेनापतियोंमें हलचल-सी मच जाती है। सब-के-सब चौकन्ने हो उठते हैं। किसीको यह विश्वास नहीं होता कि विभीषण सद्भावसे आया है। सब यही समझते हैं, विभीषणके इस तरह आनेमें मायावी राक्षसोंकी कोई गहरी चाल है। रघुनाथजीके सामने यह बात पहुँचायी जाती है। सेनापतियोंकी गुप्त मन्त्रणा होती है। भगवान् सबकी सलाह लेते हैं। वानरराज सुग्रीव तो उसे मार डालनेका ही निर्णय देते हैं। अन्यान्य सेनापति भी सन्देहकी ही दृष्टिसे देखते हैं। केवल हनुमान्जी ही विभीषणको विश्वासके योग्य मानते और इसीके अनुसार अपना निर्णय देते हैं। सुग्रीवको यह बात नहीं रुचती। वे बार-बार प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—'जो अपने सगे भाईको छोड़कर आ सकता है, वह किसको धोखा नहीं देगा?' श्रीराम सुग्रीवकी इस आशङ्काको यथार्थ बताते हुए उनकी बुद्धिकी सराहना करते हैं; फिर भी अपना प्रण—'शरणागतरक्षणरूपी धर्म' त्यागना नहीं चाहते। वे कहते हैं—'मन्त्रियो! यदि शत्रु भी शरणमें आये और दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करे तो उसपर चोट नहीं करनी चाहिये। शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो धर्मात्मा पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।* अतः—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३४)

'कपिवर सुग्रीव! वह विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न आया हो, मैंने उसे अभयदान दे दिया। अब तुम उसे मेरे पास ले आओ।'

यह है मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी धर्मज्ञता, धर्मपरायणता तथा शरणागतवत्सलता! कौन है त्रिलोकीमें, जो उनकी समानता कर सके। धर्मज्ञ होनेके साथ ही वे कृतज्ञ भी अनुपम हैं। उनके कृतज्ञ स्वभावका महर्षिने इस प्रकार वर्णन किया है—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

'मनपर नियन्त्रण रखनेके कारण वे दूसरोंद्वारा किये हुए सौ-सौ अपराधोंको भी भुला देते हैं, कभी एकको भी याद नहीं रखते। परंतु यदि कोई किसी प्रकार एक बार भी उपकार कर दे तो उसीसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं, सर्वदा उस एक ही उपकारको याद रखते हैं।'

उदाहरणके लिये जब हनुमान्जी लङ्कासे सीताजीका पता लगाकर लौटते हैं, उस समय उनसे मिलकर भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं और उनके कार्योंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह डालते हैं—'आज हनुमान्जीने सीताका पता लगाकर धर्मानुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी तथा लक्ष्मणकी भी रक्षा कर ली है। मैं दीन हूँ, असमर्थ हूँ, मेरे मनमें तो यही बात कसक रही है कि जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसका मैं कोई वैसा ही प्रिय कार्य नहीं कर सका।' यों कहकर रघुनाथजीने हनुमान्जीको हृदयसे लगा लिया। केवल उसी समय ऐसा भाव, ऐसी कृतज्ञता प्रकट की गयी हो—यह बात नहीं है। राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीको विदा करते हैं, उस समय भी उनके उपकारोंका

* सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

* बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
(वा० रा० युद्ध० २७-२८)

कारण करके वे आनन्द-गद्गद हो उठते हैं और भावावेशमें ये उद्गार प्रकट करने लगते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे ।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥

(उत्तर० ४० । २३-२४)

'कपिश्रेष्ठ ! मुझपर तुम्हारे ऐसे महान् उपकार हैं कि उनमेंसे एक-एकके बदले अपने प्राणतक दे सकता हूँ । फिर भी शेष उपकारोंके लिये मुझे सदा तुम्हारा ऋणी बनकर ही रहना होगा । कपिवर ! तुमने जो भी उपकार किये हैं, वे सब मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—मुझे उनका बदला चुकानेका कभी अवसर न मिले । अर्थात् तुमपर कभी कोई विपत्ति आये ही नहीं । क्योंकि मनुष्य विपत्तियोंमें पड़नेपर ही प्रत्युपकारका पात्र बनता है ।'

गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और कृतज्ञ श्रीराम सत्यवादी भी हैं । वे स्वयं कहते हैं—'अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन'—'मैंने पहले कभी न तो झूठ बात कही है और न आगे कभी कहूँगा ।' 'रामो द्विर्नाभिभाषते'—राम दो तरहकी बात नहीं बोलता । चौदह वर्षोंका वनवास स्वीकार कर लेनेपर उन्होंने कष्ट सहकर भी उसे निबाहा । अनेक प्रलोभन आये, माताने रोका, लक्ष्मणने ओज और उत्साहभरी बातोंसे राज्यपर बलपूर्वक अधिकार कर लेनेको उत्तेजित किया । फिर स्वयं भरत उन्हें मनाने गये । अयोध्या लौट चलनेके लिये बहुत आग्रह किया गया; किंतु श्रीरामचन्द्रजी विचलित नहीं हुए । उन्होंने वनमें रहकर पिताके तथा अपने सत्यकी पूर्णरूपसे रक्षा की । ये ही बातें उनके दृढ़व्रत होनेका भी परिचय देती हैं । वे स्वयं सीताजीसे कहते हैं—

'अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य…………………… ।'

'जनकनन्दिनी ! मैं अपने प्राण त्याग सकता हूँ, तुमको और लक्ष्मणको भी छोड़ सकता हूँ; परंतु प्रतिज्ञा करके उसे टाल नहीं सकता ।'

इस प्रकार महर्षिके द्वारा जिज्ञासित प्रारम्भिक छहों गुण श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतया उपलब्ध होते हैं । ये सभी गुण हों और चरित्र-बल न हो तो इनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता; अतः महर्षि पूछते हैं—'चारित्रेण च को युक्तः' ('सदाचारसे युक्त कौन है ?)।' इस चारित्र्य-गुणमें भी श्रीरघुनाथजी ही अद्वितीय हैं । उनका एकपत्नीव्रत सर्वत्र प्रसिद्ध है । जनककी पुष्पवाटिकामें सीताजीकी अलौकिक शोभा देखकर उनका मन जब किशोरीजीकी ओर आकृष्ट हुआ तो वे चकित हो उठे । यह जीवनमें प्रथम घटना थी । उन्होंने अपने मनको टटोला और वहाँ कलुषित वासनाकी गन्ध भी न पाकर लक्ष्मणसे कहने लगे— भाई !

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी ॥

वही मेरा सहज पुनीत मन आज क्षुब्ध क्यों हुआ ।' इसका कारण विधाता ही जानते हैं । (जान पड़ता है, सीता अनादि कालसे मेरी हैं और मेरी ही रहेंगी—मानो यही सूचित करनेके लिये) मेरे दायें अङ्ग फड़क रहे हैं । मैं तो उस रघुकुलका हूँ, जहाँ—

'मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ॥'
'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥'

यह है श्रीरामका आत्मविश्वास ! न केवल श्रीरामका, अपितु प्रत्येक रघुवंशीका ही यह स्वभाव है कि उनके मनको परायी स्त्री न लुभा सके, उनकी दृष्टि पर-स्त्रीकी ओर कभी आकृष्ट न हो ।

'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥' का आदर्श देखना हो तो शूर्पणखा-प्रसङ्गपर दृष्टिपात कीजिये । शूर्पणखा मायासे मनोहर रूप धारण करके आती है और मुसकाती हुई कहती है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ॥

सर्वान्तर्यामी प्रभु उस मायाविनीके कपटपूर्ण वचनको तुरंत ही ताड़ जाते हैं । कौतुकी तो वे हैं ही; सोचते हैं, यह विवाहिता होकर भी अपनेको कुमारी बताती है । यदि विवाहितको भी कुमार कहा जा सकता है, तब तो हमारा लक्ष्मण भी कुआँरा ही है । अतः कहते हैं 'जैसी तू कुआँरी है, उसी तरह हमारा छोटा भाई भी कुमार है ।' यह तो उस मायाविनीकी बातका उत्तर था, जो देना ही आवश्यक था । परंतु प्रभुने एक बार भी उसके उस सुन्दर रूपकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं । उन्होंने सीताजीकी ओर देखते हुए वार्तालाप किया—'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।' शूर्पणखाको न तो उनका मन प्राप्त हो सका और न उनकी दृष्टि ही ।

'सर्वभूतेषु को हितः ?' समस्त प्राणियोंका हितकारी कौन है ? यह महर्षिका नवाँ प्रश्न है । उत्तर एक ही है—श्रीराम । सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर श्रीरामके सिवा दूसरा कौन सबका हित-साधन कर सकता है ? उनका अवतार, उनका हँसना, बोलना, चलना, उनकी बातचीत, उनका अनुपम रूप—यह सब कुछ सबको सुख देनेके लिये ही तो था । अवतार धारण करके अपनी बाल-लीलाओंसे पहले अयोध्या-वासियोंको सुख दिया—

एहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा । सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥

फिर जनकपुरवासियोंको परमानन्दमें निमग्न किया—

हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद ।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद ॥

वनवासके समय भी वे गाँव-गाँव आनन्द बाँटते फिरते थे—

गावँ गावँ अस होइ अनंदू । देखि भानुकुल कैरव चंदू ॥
एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत ।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत ॥

वनमें जाकर मुनियोंका हित किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

विद्वान्, समर्थ और प्रियदर्शन कौन है ?—इन प्रश्नोंके द्वारा आदिकविने लोकोत्तर विद्वत्ता, लोकोत्तर सामर्थ्य और लोकोत्तर सौन्दर्यकी जिज्ञासा की है । ये सभी बातें श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतः प्रकट हैं । रामगीताके उपदेशक श्रीरामकी विद्वत्ता सबके समक्ष है । सामर्थ्यका परिचय 'वीर्यवान्' पदकी व्याख्यामें दिया जा चुका है । एकमात्र प्रियदर्शन तो वे थे ही । मनुष्योंकी तो बात ही क्या है—

खग मृग मगन देखि छबि होहीं ।

आत्मवान् (मनपर अधिकार रखनेवाले) तो वे ऐसे थे कि चौदह वर्षोंतक वनमें ही रहकर सब प्रकारके सुख-दुःख झेलते रहे; पर मित्रोंके आग्रहपर भी कभी एक दिनके लिये भी ग्राम या नगरमें नहीं गये । अवसर आनेपर उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

'पिता बचन मैं नगर न आवउँ ।'

आत्मवान् होनेके कारण ही वे हर्ष-शोकसे ऊपर उठ चुके थे । राज्य पाकर वे प्रसन्न नहीं हुए और वनवास मिलनेसे उन्हें दुःख नहीं हुआ—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।

जो आत्मवान् है, वह क्रोधपर विजय पा ही लेता है । भगवान् श्रीरामने अपना अपराध करनेवालेपर भी कभी क्रोध नहीं किया । मन्थरा-जैसी दासी भी, जिसके अपराधकी कहीं तुलना नहीं थी, कभी श्रीरामके क्रोधका भाजन न बन सकी । उन्होंने कभी मन्थराके अपराधकी चर्चातक नहीं की । एक दिन वनमें लक्ष्मणने जब कैकेयीपर आक्षेप किया तो श्रीरामने तुरंत उन्हें रोक दिया और कहा—

'न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।'

'भैया लक्ष्मण ! तुम मझली माताकी कभी निन्दा मत किया करो ।' साथ ही भगवान् शरणागतवत्सल हैं । अतः जो लोग भक्तजनोंका या भगवदाश्रित जनोंका अपराध करते हैं, उन्हें श्रीरामचन्द्रजी अवश्य दण्ड देते हैं । जयन्त और रावण आदिको भी इसीलिये दण्ड मिला था । 'द्युतिमान्' कहते हैं कान्तिमान्को । त्रिलोकीमें कौन ऐसा देहधारी है, जो श्रीरामकी मनमोहिनी छविपर मुग्ध नहीं होता—

कहहु सखी अस को तनुधारी । जो न मोह यह रूप निहारी ॥
बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुख धाम ।
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम ॥

जो गुणोंमें भी दोष देखे, वह असूयक है । श्रीराम अनसूयक हैं । वे कभी किसीके दोष नहीं देखते । देखना तो दूर रहा, सुनते भी नहीं । इसीलिये तो कैकेयीकी निन्दा करते समय तुरंत ही लक्ष्मणको रोक दिया । अन्तिम प्रश्नमें महर्षिने प्रभावकी जिज्ञासा की है । संग्राममें क्रोधपूर्वक खड़े होनेपर किसके सामने जानेमें देवता भी थर्रा उठते हैं । देवता तो रावण और मेघनादसे ही डर जाते हैं । वे रावण आदि राक्षस भी जिनसे अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सके, उन भगवान् श्रीरामके अलौकिक प्रभावका पार कौन पा सकता है ?

महर्षिकी जिज्ञासाके उत्तरमें देवर्षिने श्रीरामके जो अलौकिक गुण बताये हैं, वे सब इन्हीं सद्गुणोंके विस्तार हैं ।

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ।

—इत्यादि श्लोकोंमें भगवान्के शारीरिक शुभ लक्षणोंका वर्णन किया गया है, जो सामुद्रिक शास्त्रकी दृष्टिसे उनके महान् ऐश्वर्य, प्रभाव, सुख और सामर्थ्यके सूचक हैं ।*

* जैसे कंधोंका उन्नत होना सुखदायक माना गया है—
कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणस्कन्धौ ललाटिका ।
सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्ते सुखप्रदाः ॥ इत्यादि ।

इनके सिवा भगवान् श्रीरामने माता-पिताकी अनुपम भक्तिका आदर्श उपस्थित किया है। माताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले तो बहुत हो सकते हैं; परंतु विमाताकी भी कठोरतम आज्ञाको शिरोधार्य करनेवाले केवल श्रीराम हैं। जब कैकेयीने वरदानकी आड़ लेकर श्रीरामको वनमें जानेका आदेश दिया, उस समय श्रीराम उलाहना देते हुए कहते हैं—'मा ! यह काम तो मैं तुम्हारे ही कहनेसे कर सकता था, तुमने पिताको क्यों कष्ट दिया ? मालूम होता है, अब तुम मुझमें इस तरहका कोई गुण नहीं देखतीं ! मुझपर तुम्हारा पूरा अधिकार है। फिर भी इस बातको सीधे मुझसे न कहकर तुमने पिताजीसे कहलाया है।'* पिताकी आज्ञाके पालनमें उनका कितना उत्साह था—यह निम्नाङ्कित वचनोंसे स्पष्ट है—'मैं पिताजीके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ।'† कौसल्याने जब वन जानेसे रोका तो श्रीरामने विवश होकर कहा—'मा ! मुझमें पिताजीकी आज्ञाको टाल देनेकी शक्ति नहीं है; मैं वनमें जानेकी ही इच्छा रखता हूँ। तुम बाधा न डालो; तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ।'‡

उनका भ्रातृप्रेम भी संसारके लिये सदा अनुकरणीय बना रहेगा। उन्होंने सदा अपने भाइयोंके प्रति स्नेहका भाव रक्खा, उनके सुख और सुविधाका ख्याल किया। इतना ही नहीं, खेलमें हारी हुई बाजी भी उन्हें जिताते रहे—जिससे उनका मन न टूटे, उत्साह न भंग हो। चित्रकूटपर भरतके आगमनकी सूचना मिलनेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे जो उद्गार प्रकट किया है, वह उनके अगाध भ्रातृ-स्नेहका प्रबल परिचायक है। वे कहते हैं—'लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम तथा सम्पूर्ण पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और उनके सुखके लिये ही राज्य भी चाहता हूँ। भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसमें आग लग जाय। वह जलकर भस्म हो जाय।'§

प्रजाजनोंपर उनका इतना अटूट प्रेम था कि उनके वनगमनके समय सारी अयोध्या उनके साथ जानेको उद्यत हो गयी थी। तथा प्रजाको प्रसन्न रखनेके लिये ही वे अपनी प्राणोंसे प्यारी पत्नी सीताको भी वनमें भेज देनेके लिये विवश हुए थे। वे आदर्श राजा थे। उनके राज्यमें प्रजाको सब प्रकारका सुख था। सभी सब प्रकारकी चिन्ता और भयसे मुक्त थे। यह पृथ्वी धन-धान्यसे सम्पन्न थी। किसीकी अकाल मृत्यु नहीं होती थी। सब लोग स्वभावतः धर्मात्मा और सदाचारपरायण रहते थे। वे आदर्श पुत्र थे। बड़े-से-बड़े कष्टोंको सहकर भी गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेको उद्यत रहते थे। पिता उनके-जैसे पुत्रको पाकर अपनेको परम सौभाग्यशाली मानते थे। श्रीराम आदर्श पति थे, उनका एकपत्नीव्रत संसारको आज भी सदाचार और संयमका पाठ पढ़ा रहा है। वे आदर्श स्वामी थे; उनके सेवक उन्हें अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे। उनका सेवकोंपर पुत्रवत् स्नेह था। इसी प्रकार वे आदर्श मित्र और आदर्श शरणागतपालक थे। श्रीरामका सारा जीवन ही धर्ममय था। वे आदर्श राजा थे, इसीलिये उन्होंने प्रजारञ्जनके उद्देश्यसे सीता-सरीखी सतीको भी वनवास दे दिया। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। आर्य-संस्कृतिका मूर्तिमान् स्वरूप कहीं देखना हो तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें देखना चाहिये।



* न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणान्। यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती॥ (वा० रा० अ० १९। २४)

† अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥ (वा० रा० अ० १८। २८-२९)

‡ नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम। प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥ (वा० रा० अ० २१। ३०)

§ धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण। राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद। भवेन्मम सुखं किञ्चित् भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
(२। ९७। ५, ६, ८)

भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—स्व० साहित्याचार्य पं० श्रीशालग्रामजी शास्त्री)

अवतारोंमें श्रीराम और श्रीकृष्णका नाम सबसे अधिक श्रद्धा, भक्ति तथा आदरके साथ लिया जाता है। इनमेंसे एक 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहे जाते हैं और दूसरे 'लीला-पुरुषोत्तम'। यद्यपि ये दोनों ही भगवान्के अवतार माने जाते हैं, परंतु स्वभाव आदिमें एक दूसरेसे नितान्त भिन्न दीखते हैं। श्रीरामको हम आदिसे अन्ततक एक समान गम्भीर मुद्रा और स्थिरभावमें देखते हैं तो श्रीकृष्णको चञ्चलता और हँसोड़पनकी प्रतिमूर्ति पाते हैं। यदि यह कहा जाय कि श्रीरामको किसीने कभी हँसते नहीं देखा और श्रीकृष्णको कभी रोते नहीं देखा तो अत्युक्ति न होगी। एकमें प्रसाद-की कमी है तो दूसरेमें विषादका अत्यन्त अभाव है। एकने आजन्म एक रूप धारण किया तो दूसरेने क्षण-क्षणमें भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ धारण की और नयी-नयी लीलाएँ दिखायी। एकने मर्यादा बाँधनेके लिये स्वयं अपनेको मर्यादाओंके बन्धनमें बेतरह जकड़ लिया तो दूसरेने त्रिलोकीका सूत्रधार बनकर प्रकृति-नटीको नचानेमें कमाल कर दिखाया। एकको अपनी लीलामें अपने वास्तविक स्वरूपका स्मरण बहुत कम हुआ तो दूसरेको उसका विस्मरण कभी हुआ ही नहीं। श्रीरामको कई बार देवताओंके याद दिलानेपर भी अपने स्वरूपका ज्ञान कठिनतासे हुआ तो श्रीकृष्णको अपने विराट्-रूप और त्रिलोकनायकत्वका भान सदा अपनी आँखोंके आगे नाचता ही दीखता—

> यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
> न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
>
> (गीता १० । ३९, ४१-४२)

'अर्जुन! समस्त सृष्टिका आदि कारण मैं ही हूँ। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझसे रहित हो। जगत्में जहाँ-जहाँ वैभव, तेज और लक्ष्मी दीखती है, वह सब मेरी ही विभूतिका अंश समझो। अथवा बहुत-सी बातोंसे क्या मतलब; तुम संक्षेपमें यह समझो कि इस समस्त ब्रह्माण्डको मेरे एक अंशने घेर रक्खा है।' 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।' वेदने कहा है कि भगवान्का केवल एक चतुर्थांश इस भूत-भौतिकमयी समस्त सृष्टिको व्याप्त किये हुए है और तीन अंश इससे बाहर है।

अर्जुनका सन्देह दूर करनेके लिये विराट्-स्वरूपका दर्शन कराते समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
> मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥
>
> (गीता ११ । ७)

'अर्जुन! चर और अचर सम्पूर्ण जगत्को तुम मेरे इस (विराट्) शरीरमें देखो और इसके अतिरिक्त जो कुछ और देखना चाहते हो, वह भी देखो।'

कोई पूछे कि निखिल ब्रह्माण्ड (सचराचर जगत्) देखनेके बाद और बचा ही क्या, जिसे अर्जुन देखना चाहेंगे? भगवान् यह क्या कह रहे हैं? चर और अचर अर्थात् चेतन और जड अथवा प्रकृति और पुरुषके सिवा क्या कुछ और भी संसारमें है, जिसे देखनेकी आज्ञा भगवान् दे रहे हैं? जी हाँ, है। वह है अनागत वस्तु। उसीकी ओर भगवान् संकेत कर रहे हैं। उस समय संसारमें जो-जो वस्तु अपने जिस-जिस रूपमें विद्यमान थी, वह सब अर्जुनको भगवान्के विराट्रूपमें दीख सकती थी और आगे चलकर उसकी जो दशा होनेवाली है—जो उस समय-तक नहीं हुई थी, संसारमें जो रूप उसका उस समयतक नहीं हुआ था, भावी या अनागत था, वह भी यदि अर्जुन चाहें तो भगवान्की देहमें देख सकते हैं। यही उक्त पद 'यच्चान्यद्' का तात्पर्य है। आगे चलकर हुआ भी वैसा ही। अर्जुनने भगवान्के अनेक विकराल मुखोंकी भयानक दाढ़ोंके बीच भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुःशासन आदिको पिसते हुए देखा था। यह बात उस समयतक संसारमें विद्यमान नहीं थी। अनागतके गर्तमें प्रच्छन्न थी। वह भी अर्जुनको प्रत्यक्ष दीख पड़ी। इसीलिये तो अर्जुनको समझाते हुए भगवान्ने कहा था कि 'इन सबको तो मैंने ही मार रक्खा है, अर्जुन! तुम निमित्तमात्र होकर यशके भागी बनो।'

भगवान् श्रीरामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ हो, यह बात नहीं है। ये तो जन्मसे ही 'हजरत' थे। यहाँ अर्जुनको

विराट्रूप दिखाकर कर्तव्यका ज्ञान कराया, उधर कौरवोंकी सभामें सन्धिका प्रस्ताव करते समय जब कर्ण, दुःशासन और दुर्योधन आदिने इन्हें (भगवान् श्रीकृष्णको) अकेला समझकर बाँध लेनेकी गुप्त मन्त्रणा की तो आपने यह कहते हुए कि 'बच्चा ! मुझे अकेला न समझो, मेरे साथ यहाँ भी बहुत कुछ है'—एक विकट अट्टहास करके अपने शरीरमें वह विश्वरूप दिखलाया कि विरोधियोंकी फूँक निकल गयी। शैशवकालमें जब माता यशोदाने इन्हें मिट्टी खाते देखकर डाँटा और मुँह खोलनेको कहा तो आपने मुँह खोलकर समस्त ब्रह्माण्डको अपने पेटमें दिखला दिया। वह बेचारी सीधी-सादी ग्वालिन हक्की-बक्की-सी होकर चौंधिया गयी और सोचने लगी कि 'समस्त पृथ्वी जिसके पेटमें समायी हुई है, वह यदि जरा-सी मिट्टी खा ही लेगा तो क्या विकार हो सकता है।' बात-की-बातमें आपने अपनी माया समेट ली। यशोदा सब बातें भूल गयीं और बालकृष्णको कोरा शिशु समझकर वात्सल्य-रससे परिपूर्ण हो गयीं। तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्णको कठिन तपस्या, योगाभ्यास या वनवास आदिके द्वारा कोई सिद्धि प्राप्त हुई हो, यह बात नहीं है। विश्वामित्र या अगस्त्य आदि महर्षियोंके समान इन्हें किसीने दिव्य वस्त्र या 'बला' 'अतिबला' आदि विद्याएँ देनेकी कृपा नहीं की। इन्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। ये तो 'लीलापुरुषोत्तम' थे। इन्होंने जन्मसे ही अलौकिक लीलाएँ आरम्भ कर दी थीं। बिना सीखे-पढ़े ही शकटासुर और पूतना आदिका शिकार करना शुरू कर दिया था। जिस अवस्थामें बच्चोंको लँगोटी बाँधनेकी भी सुध-बुध नहीं हुआ करती, और शायद ये भी वैसे ही घूमा करते हों, तभीसे आपने अनेक असुरोंकी मरम्मत करना आरम्भ कर दिया था। इनका तो बिना सीखे-पढ़े ही यह हाल था। फिर यह सीखते भी कब और कैसे। इनके जन्मसे भी बहुत पहलेसे कंसकी विकराल दृष्टि इनकी खोजमें लगी थी। क्षण-क्षणमें उसकी भीषण भ्रुकुटी देवकी और वसुदेवका कलेजा कँपाया करती थी। यदि यह बात न होती तो आप माता-पिताको छोड़कर 'गोकुल गाँवके ग्वालन'से दोस्ती गाँठने कैसे पहुँचते ! ग्यारह वर्ष तो गौएँ चराने, ग्वालबालोंमें हुरदंग मचाने और गोपकन्याओंके साथ धमाचौकड़ी मचानेमें ही बीत गये। इसी बीचमें अनेक असुरोंकी भी चटनी घोंटी गयी। अन्तमें कंसका कचूमर निकालनेकी नौबत आयी। जब उग्रसेन (कंसके पिता) राजा हुए और वसुदेव-देवकी जेलखानेसे मुक्त हुए, तब लोगोंने समझा कि अब श्रीकृष्ण-बलदेवकी जानका खतरा दूर हुआ। इसके बाद इनके क्षत्रियोचित संस्कार हुए और उज्जयिनीमें सान्दीपनि मुनिके यहाँ आप विद्याभ्यासकी रस्म अदा करने पहुँचे। वहाँ कितने दिन रहे और क्या-क्या सीखा-पढ़ा, जरा इसका हाल भी सुन लीजिये। चौसठ दिनमें चारों वेद और उनके छहों अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द एवं आलेख्य, गणित, गानविद्या और वैद्यक—यह सब सीख लिया। बारह दिनमें हाथी-घोड़े आदिकी शिक्षा प्राप्त की और पचास दिनमें दसों अङ्गोंसहित धनुर्वेदकी शिक्षा समाप्त कर दी। महाभारतमें लिखा है—

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या साङ्गान् वेदानवापतुः ।
लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ ॥
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः ।
हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चाप्नुताम् ॥
पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ।
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः ॥

इसके अनन्तर गुरुदक्षिणा देनेकी बारी आयी। अगस्त्यकी भाँति अनेक विद्याओंके समुद्रको एक ही साँसमें सोख लेनेकी अद्भुत शक्ति देखकर गुरुजी भी इन्हें ताड़ गये थे। उन्होंने कसके गुरुदक्षिणा माँगी। बहुत दिन पहले उनके पुत्रको समुद्रमें एक मगर निगल गया था। उन्होंने उसीको ला देनेकी बात कही।

भगवान्ने गुरुको आर्त्त देखकर उनका पुत्र ला देनेकी प्रतिज्ञा की। महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि जो काम प्राणिमात्रमें कोई नहीं कर सकता था, वह उस समय भगवान् श्रीकृष्णने कर दिखाया। सान्दीपनि मुनिका पुत्र आ गया, जिसे देखकर सभीको विस्मय हुआ। कहनेका मतलब यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी सभी बातें अलौकिक हैं। उनकी लीलाएँ जन्मसे ही आरम्भ हो जाती हैं। उनकी दिव्य शक्तियाँ तभीसे अप्रतिहतरूपसे अपना प्रसार दिखाती हैं। अघासुर, बकासुर आदि असुरों तथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि सुरोंके साथ उन्होंने बचपनसे ही मोर्चा लिया था। उन्हें पढ़ने-लिखने या सीखनेकी परतन्त्रता नहीं थी। यदि होती तो सान्दीपनि मुनिका पुत्र कैसे आता ? यह विद्या उन्होंने किससे सीखी थी ? यदि सान्दीपनिजीको यह विद्या आती होती तो वे स्वयं ही अबतक अपने पुत्रको क्यों न ले आये होते ? इसीसे तो लोग श्रीकृष्णको पूर्णावतार बताते हैं।

इस साधारण—अत्यन्त साधारण शिक्षाके साथ अब

इनके ज्ञानका अनुमान कीजिये। 'ताण्डव' और 'लास्य' ये दो प्रकारके प्राचीन नृत्य प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्णने एक तीसरी नृत्यकलाकी सृष्टि की, जो शिव-नृत्य (ताण्डव) और पार्वती-नृत्य (लास्य)—इन दोनोंसे विलक्षण तथा चमत्कारी थी। जो व्यक्ति क्रोधोन्मत्त भीषण भुजङ्गमके फणोंपर नाच सकता हो, उसकी शरीर-साधना, चरणलाघव और लोकोत्तर कलामें किसे सन्देह हो सकता है? संगीतमें आज चार मत प्रसिद्ध हैं—१. नारदमत-सङ्गीत, २. भरतमत-सङ्गीत, ३. हनुमन्मत-संगीत और ४. श्रीकृष्णमत-सङ्गीत—इनमें अन्तिम सबसे कठिन और सबसे अधिक चमत्कारक बताया जाता है।

और देखिये, युद्धकी शिक्षा तो आपने सान्दीपनि मुनिके अखाड़ेमें पायी थी, परंतु हजारों हाथियोंका बल रखनेवाले कंस और चाणूरका चूरन बनानेकी विद्या किससे सीखी थी? इन प्रबल और कुशल पहलवानोंको पछाड़नेके दाव-पेंच किसने सिखाये थे? कुवलयापीड़का पुलाव पकानेकी तरकीब किसने बतायी थी? ग्वालोंने या गोपियोंने? ये बेचारे तो इन सबके नामसे ही थर-थर काँपते थे।

सङ्गीत तो सीखा उज्जैनके आचार्यकुलमें जाकर, परंतु कालियमथनका नृत्य किसने सिखाया? गोप और गोपियोंका हृदयाकर्षक सङ्गीत कहाँसे आया? त्रिभुवनमोहिनी मुरलीकी शिक्षा किसने दी? गोकुलभरमें किसी दूसरे मुरलीधरकी तो चर्चा ही नहीं मिलती। घोड़े हाँकनेमें मातलि (इन्द्रके सारथि) को भी मात करनेकी करामात इन्हें किसने दी थी? जिस समय आदित्यब्रह्मचारी भीष्मने युद्धमें प्रलय—दावानलके समान विकराल रूप धारण करके पाण्डवोंकी सेनाका विध्वंस आरम्भ किया था, तब उनके सामनेसे इन्होंने अपने अश्वचालन-कौशलके बलपर अर्जुनको सही-सलामत बचाया था, जिसे देखकर मातलि भी दंग रह गया था। सभी महारथियोंने और खासकर भीष्मपितामहने भी—दाँतोंतले अँगुली दबाकर उस सारथित्वको दाद दी थी। भला, बताइये तो सही कि इस प्रकारकी कुशलता प्राप्त करनेके लिये श्रीकृष्णने कौन-सी सड़कोंपर घोड़े दौड़ानेका अभ्यास किया था।

अच्छा, इन सब बातोंको छोड़िये। जरा 'भगवद्गीता' की ओर तो दृष्टि उठाकर देखिये। केवल चौंसठ दिनकी पढ़ाई-लिखाईके ज्ञानका यह परिणाम कि आज संसारमें उसके जोड़की दूसरी पुस्तक ही नहीं! पाँच हजार वर्ष बीत जानेपर भी—अनेक कवि, महर्षि, आचार्य और ग्रन्थकारोंका आविर्भाव हो जानेपर भी अबतक गीताके जोड़की दूसरी पुस्तक न बन सकी। इस गीता-निर्माणके पूर्व भी कोई ऐसी पुस्तक थी, इसका भी तो प्रमाण नहीं मिलता। इसके जोड़की पुस्तक बनानेकी तो बात ही छोड़िये। जिन भगवान् शङ्कराचार्यको आज भी बड़े-बड़े ज्ञानी (देशी तथा विदेशी भी) संसारका अद्वितीय दार्शनिक मानते हैं, उन्होंने भी भगवद्गीताके चरणोंमें मस्तक रगड़नेमें ही अपना अहोभाग्य समझा है। जब भगवान् शङ्कर-जैसे दिगन्त-विश्रान्त-कीर्ति आचार्यका यह हाल है तो दूसरोंकी तो बात ही क्या! 'किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः।' औरोंने भी इन्हींका अनुकरण किया है और अपने मतको गीताके अनुकूल बतानेमें ही अपनेको कृतकृत्य समझा है। गीता वह अगाध सरोवर है कि जिसने इसमें जितनी ही गहरी डुबकी लगायी, उसको उतनी ही अधिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त हुआ। यह वह कामधेनु है, जिसने सभी सेवकोंको सन्तोष प्रदान किया है। यह वह कल्पवृक्ष है कि जो जैसी भावना लेकर इसके आश्रित हुआ, उसे वैसा ही फल मिला।

श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रकारसे भगवान्का प्रतिरूपक है। भगवान्ने कहा है कि 'मुझे जो जिस भावनासे भजता है, उसे मैं उसी रूपमें दीख पड़ता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

श्रीभगवद्गीताके सम्बन्धमें भी यही बात प्रत्यक्षर सत्य प्रतीत होती है। इसे जिसने जिस भावसे देखा, उसे यह वैसी ही दीख पड़ी। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाले निःस्पृह संन्यासीकी बगलमें भी गीताकी पुस्तक मिली है और बम या पिस्तौलसे अंग्रेजोंको उड़ा देनेकी हिंसावृत्ति रखनेवाले नवयुवकोंकी झोलीमें भी यह पायी गयी है। कुछ दिन पहले तो यहाँकी पुलिस राजद्रोहात्मक साहित्यके साथ गीताकी पुस्तकको भी पकड़ा करती थी। इसके भाष्य भी सैकड़ों हैं। सभीको अपने-अपने मतोंका मूल इसमें दीख पड़ा है। सांख्य, योग, वेदान्त—सभी कुछ इसमें मिलता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, उपासनायोग, ध्यानयोग, कर्मसंन्यास, सर्वधर्म-संन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि मतोंके माननेवाले अनेक आचार्योंने गीतापर भाष्य लिखे हैं और सभीने इसे अपने मतका पोषक बताया है। लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर तिलक महाराजने 'गीतारहस्य'की भूमिकामें गीतापर 'पिशाचभाष्य' होनेकी बात लिखी है। हमने एक

वाममार्गी सज्जनको यहाँतक कहते सुना है कि गीतामें मांस-शरावका सेवन करके भगवान्की उपासना करनेका विधान है। हमारे पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'मद्य' और 'अज' (बकरा) खानेके बाद भगवान्को नमस्कार करना या उनकी उपासना करनी चाहिये। इसके प्रमाणमें उन्होंने गीताका यह पद्यांश उद्धृत किया—'मद्याजी मा नमस्कुरु'। इसका अर्थ करते समय उन्होंने 'मद्य' और 'अज' शब्दके समस्त रूपके आगे मत्वर्थीय तद्धित 'इनि' प्रत्यय बताया। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' भी ऐसा ही वाक्य है।* मतलब यह कि गीतापर समस्त संसार मोहित है। सभी इसे अपनानेमें अपना गौरव समझते हैं। जिसे पूरा प्रकरण नहीं मिलता, वह दो एक शब्दोंसे ही अपना काम निकाल लेना चाहता है। गीतामें वह आकर्षण है कि सभी भले-बुरे इसकी ओर आकृष्ट होते हैं और इसमे वह लोकोत्तर वैचित्र्य है कि सब प्रकारकी भावना रखनेवालोंको इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ता है।

अब सोचना यह चाहिये कि गीताका वस्तविक स्वरूप क्या है। उसका अपना कोई असली स्वरूप भी है या कि वह एक गोरख-धंधा है, जिसमें जाकर सभी उलझ जाते हैं? उसका कुछ वास्तविक तत्त्व भी है, या वह एक 'मोमकी नाक' है, जिसे जिसका जिधर जी चाहे उधर ही मोड़ ले?

हमें इसपर हिंदीके एक प्राचीन दोहेकी याद आती है। किसी ग्राममें एक नव-वधू आयी। उसके सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा थी। सबने सुन रक्खा था कि वैसी सुन्दरी हजारों-लाखोंमें नहीं मिल सकती। गाँवकी स्त्रियोंमें उसे देखनेका बड़ा कौतूहल मचा। एक-एक करके सभी उसे देखने पहुँचीं, परंतु उसके रूपका मर्म किसीकी समझमें नहीं आया। जिसने देखा, उसने उसे अपनी ही सूरत-शकलका पाया। बालिका, बूढ़ी और जवान—सबने उसे अपने ही समान देखा। क्यों? इसलिये कि ये सब गँवार थीं। उसके रूपका मर्म न समझ सकीं। उसके कपोल दर्पणके समान दमकते थे और उनमें सामने बैठे मनुष्यका प्रतिविम्ब भी पड़ता था। उनमें ये सब गँवार स्त्रियाँ अपना ही मुँह देखकर लौट आयीं। नववधूके वास्तविक स्वरूपका किसीको पता ही न चला। जरा देखिये तो कि इस जरासे दोहेमें ये सब विलक्षण भाव कितनी सुन्दरतासे सन्निविष्ट हैं—

मरम न जान्यो रूपको मुकुर कपोलन पेखि।
सबै गवाँरि गाँवकी गयीं आपु सम लेखि॥

*यद्यपि ऐसा अर्थ करना गीताका सर्वथा दुरुपयोग है।

भगवद्गीताके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात घटित होती है। जिसने इसे देखा, उसे इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ा। दर्पणका स्वरूप समझनेके पहले आपको अपने मुँहके प्रतिविम्बसे दृष्टि हटानी पड़ेगी और गीताका तत्त्व समझनेके पहले आपको अपना मत भुला देना पड़ेगा। यदि पहलेसे अपना कोई मत स्थिर करके आपने गीताको देखा तो फिर आपको वही दीख पड़ेगा। जलका स्वरूप जाननेके लिये आपको क्यारियोंकी शकल भुलानी पड़ेगी, अन्यथा तीन कोनेकी क्यारीमें आपको जल भी तीन कोनेका दीखेगा और गोल क्यारीमें गोल। नववधूके मुखका वास्तविक मर्म समझनेके लिये आपको अपना मुख भुला देना पड़ेगा और गीताका रहस्य जाननेके लिये आपको अपने पिछले मत और अपना काल्पनिक स्वरूप भी भुला देना होगा। अस्तु!

भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक लीलाओं और अद्भुत शक्तियोंका आविर्भाव जन्मसे ही आरम्भ हो गया था। पढ़ने-लिखने या सीखनेका इनसे विशेष सम्बन्ध नहीं था। इनमेंसे 'भगवद्गीता' आज भी हमारे सामने है, जो अपने अलौकिक गुणोंसे समस्त संसारको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। यह ठीक है कि आज जो 'भगवद्गीता' हमारे सामने है, वह इस रूपमें महर्षि वेदव्यासकी बनायी है। श्रीकृष्णने जो कुछ अर्जुनको समझाया था, उसीको महर्षिने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखकर तद्रूप ही इन पद्योंमें निबद्ध किया है। महर्षि व्यास दूसरोंको भी दिव्यदृष्टि देनेकी सामर्थ्य रखते थे। धृतराष्ट्रसे उन्होंने कहा था कि 'यदि महाभारतका युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। इससे तुम घर बैठे ही युद्धकी समस्त घटनाएँ अपनी आँखों देख सकोगे।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं अपने सम्बन्धियोंको मरते-कटते देखना नहीं चाहता। केवल हाल सुनना चाहता हूँ।' इसपर महर्षिने वह दृष्टि सञ्जयको थोड़े समयके लिये दी, जिससे उन्होंने महाभारतका सब हाल देखकर धृतराष्ट्रको सुनाया।

महर्षि वेदव्यास आजकलके वैसे लेखकोंकी तरह तो थे नहीं, जो इधर-उधरके सामानको लेकर धोखेसे कीर्ति कमाया करते हैं। इसीसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको उन्हींके नामसे और उसी रूपमें प्रकाशित किया।

अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न और त्यागी महर्षिने किसी ऐहिक लोभसे ऐसा किया होगा, इसकी तो आशंका करना ही मूर्खता है। हाँ, यह कोई कह सकता है कि उन्होंने श्रीकृष्णकी

भक्तिके कारण उनकी वार्तोको बड़ी श्रद्धा-आदरके साथ स्थान दिया है; परंतु जिन श्रीकृष्णमें भगवान् व्यास-जैसे महर्षि भी भक्ति रखते हों, उनकी महिमाका अनुमान करना कठिन नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनके सम-सामयिक बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी, धर्मात्मा, तपस्वी, महर्षि, शूर, प्रतापी और पराक्रमी योद्धा भी उन्हें बड़ी भक्ति-श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे एवं उनके लोकातिशायी ऐश्वर्यके कायल थे। व्यास-जैसे महर्षि, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, विदुर-जैसे नीतिज्ञ, धृतराष्ट्र-जैसे स्वार्थी, अर्जुन और भीम-जैसे योद्धा, सहदेव-जैसे ज्ञानी, द्रौपदी और कुन्ती-जैसी ज्ञान-वयोवृद्धा स्त्रियाँ और भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्म-क्षत्रबल-सम्पन्न महात्मा ईश्वरबुद्धिसे इनके चरणोंमें नत-मस्तक होकर सुखी होते थे। यह एक बात ही इनके पूर्णावतार होनेका काफीसे भी अधिक प्रमाण है।

भीष्मपितामहके पराक्रमसे कौन परिचित नहीं। ये 'इच्छा-मृत्यु' थे। इक्कीस बार समस्त पृथ्वीके क्षत्रियोंका अकेले ही वध करनेवाले श्रीपरशुरामजी इनके शस्त्र-शिक्षक थे। सभी अलौकिक अस्त्रोंके ये ज्ञाता और प्रयोक्ता थे। एक बार परशुरामजीसे भी इनकी मुठभेड़ हो चुकी थी। बराबर तेईस दिनतक घोर संग्राम हो चुकनेके बाद जब ये हताश होने लगे तो स्वप्नमें इन्हें अपनी माता मन्दाकिनी (भागीरथी गङ्गा) और अष्ट वसुओंके दर्शन हुए। उन्होंने इन्हें प्रस्वापन अस्त्र दिया। युद्धमें स्मरण करते ही वह अस्त्र इनके सामने आकर उपस्थित हुआ। तब देवतालोग भी घबरा उठे और इन दोनोंका युद्ध बंद करा दिया। परशुरामने भीष्मकी विजय मान ली। इन्होंने उन्हें विजयी पुत्रके समान प्रणाम किया और उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद दिया। इसके अनन्तर वे तपस्या करने चले गये। तबसे भीष्मके पराक्रमकी धाक समस्त संसारमें जम गयी।

इन्हीं भीष्मने महाभारत-युद्धमें जब घोर कदन आरम्भ किया तो पाण्डवोंकी सेना आँधीमें पड़े तिनकोंके ढेरके समान उड़ने और बिखरने लगी। अर्जुनका पराक्रम एक बच्चेके समान दीखने लगा। बड़े-बड़े महारथी उसी तरह उड़ने लगे जैसे धुनकीके आघातसे रूईके फाहे। सब लोगोंको यह निश्चय हो गया कि अब पाण्डवोंकी खैर नहीं है। सबने यह प्रत्यक्ष देखा कि भीष्मके उस विकराल स्वरूपके आगे कालका भी ठहरना कठिन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी चिन्तित हुए। इन्होंने यह समझा कि अब युधिष्ठिरकी सेनाका अन्तकाल उपस्थित है। यह भयानक भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंतकका बीज नाश कर सकता है। इसके आगे पाण्डवोंका यह तुच्छ बल किस खेतकी मूली है। जिसके सारथि बनकर आये हैं, उसे अपने सामने विनष्ट होता देखना पड़ेगा। जिस पक्षकी रक्षाका भार ग्रहण किया है, उसका अपनी आँखोंके सामने विध्वंस होते देखना पड़ेगा। इसपर भगवान्‌ने स्वयं पृथ्वीका भार उतारनेकी इच्छा की और सात्यकिको अपना निश्चय सुनाकर सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही वह आपके हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े, घोड़े छोड़ दिये और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। इनके भीषण पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँपने लगीं।

भीष्मने जब देखा कि भगवान् चक्र घुमाते हुए हमारे ऊपर बढ़े ही चले आ रहे हैं, तब उन्होंने बिना किसी घबराहटके अपने धनुषको और कसके पकड़ा एवं उसे घोर घोषके साथ रणमें आन्दोलित करते हुए अनन्त-पौरुष भगवान्‌से बोले—'आइये, भगवन् ! आइये, देवताओंके नाथ और जगत्‌के अन्तर्यामी भगवन् ! आइये, हे चक्रपाणे ! हे माधव ! आपको प्रणाम है। हे त्रिलोकीनाथ ! आज बलपूर्वक आप मुझे इस रथसे मार गिराइये, हे सर्वशरण्य ! (सबको शरण देनेवाले) स्वामिन् ! आज इस रणमें मेरा काम तमाम कीजिये। हे कृष्ण ! आपके द्वारा मारे जानेपर मेरा दोनो लोकों (पृथ्वी तथा स्वर्ग) में कल्याण होगा। हे यदुनाथ ! आज आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी है। सब लोग यही कहेंगे कि भीष्म धन्य हैं, जिनके लिये स्वयं भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा (महाभारत-युद्धमें शस्त्र-ग्रहण न करनेकी) भुलाकर आगे आना पड़ा।'

कहना न होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके रहस्यको जितना भीष्म समझते थे, उतना दूसरा नहीं समझता था। अब आप। पहले तो भीष्मपितामह-जैसे आदित्यब्रह्मचारीके अलौकिक बल और ज्ञानका अंदाज लगाइये। उसके बाद उनके प्रकृत वचनोंको देखकर श्रीकृष्णके ऊपर उनकी भक्ति-श्रद्धाका पता चलाइये। इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियोंका अनुमान लगाइये। जो भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंका मूलोच्छेद कर सकते हैं और जो 'इच्छा-मृत्यु' हैं, वही यह समझ रहे हैं कि क्रुद्ध भगवान्‌के सामनेसे

जीते-जी वचना असम्भव है और साथ ही वह इस मृत्युको अपना अहोभाग्य भी मान रहे हैं। इन सब बातोंका मनन करते हुए आप भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको पहचाननेका प्रयत्न कीजिये।

श्रीभीष्मपितामहने इस प्रकरणमें भगवान्‌को 'सर्वशरण्य' सम्बोधन देकर बड़ी मीठी चुटकी ली है। वे कहते हैं कि आप तो 'सर्वशरण्य' (सबको शरण देनेवाले) हैं। आपकी दृष्टिमें तो मैं और अर्जुन बराबर होने चाहिये। क्या मेरी भक्ति अर्जुनसे कुछ कम है! फिर मेरे ऊपर यह विकराल रूप क्यों? क्या इसीका नाम सर्वशरण्यत्व है? साथ ही भीष्म वीर क्षत्रिय हैं। वे अपने क्षात्रधर्मके अनुसार रणमें वीरगतिको प्राप्त होना चाहते हैं। इसीसे भगवान्‌के ऊपर अनन्य श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भी—उन्हें प्रणाम करते हुए भी, अपनी मृत्युको निश्चित समझते हुए भी, उसी वीरभावसे धनुष खींचे हुए युद्धके लिये सन्नद्ध खड़े हैं। यदि भगवान्‌ने लड़नेका ही निश्चय किया तो कसके दो-दो हाथ होंगे। भीष्म पहले भगवान्‌के चरणोंमें और फिर उनके वक्षःस्थलमें अपने पैने बाणोंकी वीरमाला पहनाकर ही रणमें वीरगति प्राप्त करेंगे। इसीलिये प्रकृत प्रकरणमें भीष्मने अपने धनुषको आस्फालित करते हुए ही प्रणाम आदिकी सब बातें कही हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण भी तो क्षत्रिय थे। यदि भीष्म शस्त्र छोड़कर एक ओर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते तो वह उनके ऊपर आक्रमण ही कैसे कर सकते थे! न्यस्तशस्त्रके ऊपर आक्रमण करना तो क्षत्रिय-धर्म नहीं है।

युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सबसे प्रथम किसका पूजन किया जाय और युधिष्ठिरने ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और पराक्रमवृद्ध समझकर भीष्मपितामहसे इसका निर्णय करनेकी बात कही, तब वे थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर सोचकर बोले कि 'यह जो सब राजाओंके तेज, बल और पराक्रमका अभिभव करते हुए नक्षत्रोंमें सूर्यके समान विराजमान हैं, वही भगवान् सबसे प्रथम पूजनीय हैं। जिस प्रकार सूर्य और वायुके कारण संसार प्रकाशित तथा आनन्दित रहता है, उसी प्रकार यह सभा भगवान् श्रीकृष्णके कारण भासित और ह्लादित है। इनके बिना इस सभाकी वही दशा हो जायगी, जो सूर्य और वायुसे हीन जगत्‌की हो सकती है।'

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

(सभापर्व ३६। २८-२९)

इसपर शिशुपाल बिगड़ उठे, उन्होंने श्रीकृष्ण तथा भीष्मको बुरी तरह फटकारा। तब भीष्मने कहा कि 'मैंने श्रीकृष्णके बालचरितकी जो बहुत-सी अलौकिक कथाएँ लोगोंसे सुनी हैं, उन्हें देखते हुए भी आज संसारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो वेद-वेदाङ्गोंके विज्ञानमें और क्षात्रबलमें श्रीकृष्णसे बढ़कर हो। समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके आधार श्रीकृष्ण ही हैं। समस्त जगत्‌के आधार यही हैं, प्रकृति और पुरुष यही हैं, सब भूतोंसे परे इन्हींकी स्थिति है। अतः यही सबमें पूज्यतम हैं। व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित है। सूर्य-चन्द्रमा तथा दिशा-विदिशा आदि सब इन्हींमें आश्रित हैं। यह शिशुपाल तो अब भी कोरा बच्चा है, इसीसे कुछ नहीं समझता और श्रीकृष्णकी सदा निन्दा किया करता है। आज महानुभाव राजाओंमें बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूजनीय न मानता हो। अथवा यदि शिशुपाल हमारी इस श्रीकृष्ण-पूजाको अनुचित ही समझता हो तो जो उचित समझे, वह कर देखे। जिसे अपने प्राण भारू हों, वह रणमें श्रीकृष्णके सामने आकर अपने अनौचित्यका फल भोगनेको तैयार हो जाय।'

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
कृष्ण एव हि भूतानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते॥
सबालवृद्धेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत्॥
अथवा दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
दुष्कृतायां यथा न्याय्यं तथायं कर्तुमर्हति॥

(सभापर्व ३८। १३, १४, १९, २३, २४, २६, ३०, ३२, ३३)



बाल-कृष्ण



वीर-कृष्ण

कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्ण

सहदेव आदि अन्य भद्र पुरुषोंने भी भीष्मका समर्थन किया, परंतु शिशुपाल न माने। कुछ और राजा भी उनके साथ हो लिये। रण छिड़ गया। और राजा तो बात समझकर पीछे हट गये; परंतु शिशुपाल बहुत कुछ उछल-कूद दिखानेके बाद सुदर्शनचक्रके घाट उतर गये।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे, तब दुर्योधनने कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदिकी सलाहसे सब बात उलट दी। वह इस प्रस्तावका अनादर करता हुआ सभासे उद्दण्डतापूर्वक उठकर चला गया और एकान्तमें जाकर श्रीकृष्णको कैद कर रखनेकी सलाह करने लगा। यह बात वृद्ध कौरवोंके कानोंतक पहुँची। धृतराष्ट्रने दुर्योधनको बुलवाया और भरी सभामें उसकी भर्त्सना करते हुए बोले कि 'तू इन अप्रधृष्य दुरासद पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) को अपने पापात्मा सहायकोंके साथ मिलकर पकड़ना चाहता है? जिन्हें इन्द्रसहित समस्त देवता भी नहीं रोक सकते, उन्हें तू रोकना चाहता है? तेरी वही दशा है, जो हाथसे चन्द्रमाको पकड़नेकी इच्छा रखनेवाले दुधमुँहे बच्चेकी होती है। समस्त देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और उरग मिलकर भी जिनके सामने रणमें नहीं ठहर सकते, उन केशवके रूपको तू पहचानता ही नहीं। अरे मूर्ख! जिस प्रकार वायु मुट्ठीमें बंद नहीं की जा सकती, चन्द्रमा हाथसे पकड़ा नहीं जा सकता और पृथ्वी उठाकर सिरपर नहीं रक्खी जा सकती, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बलपूर्वक नहीं रोके जा सकते।'

इसके अनन्तर विदुरने भी दुर्योधनको समझाते हुए तथा श्रीकृष्णके अनन्त अतीत चरितोंका स्मरण दिलाते हुए कहा कि 'भगवान् श्रीकृष्ण जगत्के कारण हैं। इनका कर्ता कोई नहीं। यह जो चाहें सो कर सकते हैं। तुम इनके घोर पराक्रमको नहीं जानते। हे दुर्योधन! तुम इनकी धर्षणा करनेसे अमात्योंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें पड़कर पतङ्ग।'

इसके पश्चात् भगवान्ने विराट् रूप प्रकट किया, जिसे देखकर कर्ण-दुर्योधनादि मूर्च्छित हो गये और फिर आप सभासे उठकर चल दिये। इनके पीछे-पीछे भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, युयुत्सु, विकर्ण आदि महारथी लोग विनीत शिष्यकी भाँति इन्हें पहुँचाने प्रधान द्वारतक आये।

पूर्वोक्त कतिपय प्रकरणोंके उद्धृत करनेसे हमारा यह तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णको उनके समकालीन बड़े-से-बड़े लोग-ईश्वर समझते थे और उनकी अलौकिक शक्तियोंके कायल थे। साथ ही वे स्वयं भी जन्मसे ही अपनी दिव्य शक्तियोंके ज्ञाता और प्रयोक्ता बराबर रहे। हम यह तो नहीं कहते कि उस समय श्रीकृष्णका कोई विरोधी था ही नहीं। यदि ऐसा होता तो उनके अवतारका कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता। केवल मक्खन खाने और गौएँ चरानेके लिये तो वे अवतीर्ण हुए ही नहीं थे। हमारे कहनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि महर्षि व्यास, आदित्यब्रह्मचारी भीष्मपितामह, ब्रह्मविद्या और क्षत्रविद्याकी प्रत्यक्ष मूर्ति आचार्य द्रोण आदि महानुभावोंके आगे कंस, चाणूर और शिशुपाल आदि स्वार्थप्रधान तामस व्यक्ति किस गिनतीमें थे?

हमने यहाँ सब-के-सब उदाहरण जान-बूझकर महाभारतसे ही चुने हैं। इसके कई कारण हैं। पहले तो श्रीकृष्ण-चरितका पता देनेवाली पुस्तकोंमें 'महाभारत' ही सबसे प्राचीन है; फिर इसके लेखक महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी कही बातोंमें जितनी अक्षुण्ण प्रामाणिकता मानी जा सकती है, उतनी किसी अन्य लेखककी बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। काम और लोभसे रहित दिव्य-दृष्टिसम्पन्न महर्षिकी कही अलौकिक बातोंके आगे सिर झुकाना ही पड़ता है। सबसे बड़ी बात समसामयिकताकी है। चरित्रनायकका समकालीन निःस्पृह लेखक जितना सच्चा ऐतिहासिक विवरण दे सकेगा, उतना दूसरोंके लिये असम्भव है। फिर महर्षि व्यासमें तो प्रच्छन्न और प्रकट सभी बातें जाननेके लिये त्रिकालदर्शिनी दिव्यदृष्टि भी थी।

साराश यह कि श्रीकृष्णको 'भगवान्' माननेवालोंकी संख्या उनके समयमें ही बहुत ऊँचे दर्जेतक पहुँच गयी थी। यह बात इतिहाससे सिद्ध है कि उनके समकालीन बड़े-बड़े महर्षि भी उनकी अद्भुत शक्तियोंको प्रत्यक्ष देखकर उन्हें ईश्वर या भगवान् मानने लगे थे। आगे यह कृष्णभक्त-परम्परा बहुत ही अधिक बढ़ी। यहाँतक कि इतनी अधिक संख्या शायद ही किसी अवतारके भक्तोंकी रही हो। इसका प्रभाव बौद्धकालके बादतक रहा। प्रसिद्ध पुस्तक 'अमरकोष'के कर्ता अमरसिंहको महाराज विक्रमकी सभाका अन्यतम रत्न बताया जाता है। इससे इनका समय आजसे लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ठहरता है। ये बौद्ध थे। अमरकोषमें इन्होंने स्वर्ग और स्वर्गवासी देव-सामान्यका नाम निर्देश करनेके बाद सबसे पहले बुद्ध भगवान्की ही नामावली गिनायी है। रामका तो इन्होंने कहीं अन्ततक नाम ही नहीं लिया है। परंतु ये श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यही बात न कर सके। श्रीकृष्णके

नामके आगे इनका मस्तक अनिच्छापूर्वक ही जबरदस्ती झुक गया। चाहे प्रच्छन्न श्रीकृष्ण-भक्तिके कारण हो, चाहे श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियोंके ज्ञानके कारण हो और चाहे उस समय विश्वव्यापिनी श्रीकृष्णभक्तिके प्रबल प्रवाहके कारण हो—कारण चाहे जो कुछ हो; परंतु यह प्रत्यक्ष है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशका वर्णन करते हुए अमरसिंहको श्रीकृष्णका नाम झख मारकर लेना पड़ा है। केवल नाम ही नहीं, उन्होंने तो विष्णुके स्थानमें इन्हींका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः'से आरम्भ करके उन्होंने उपेन्द्र (इन्द्रके छोटे भाई), कैटभजित् (मधु-कैटभके मारनेवाले), श्रीपति, स्वयम्भू, यज्ञपुरुष, विश्वरूप, जलशायीके साथ-साथ दामोदर, माधव, देवकीनन्दन और वसुदेवका पुत्र भी कहा है। क्षीरशायी विष्णु तो देवकीनन्दन या वसुदेवसूनु हो नहीं सकते; अतः यह स्पष्ट है कि अमरसिंहने विष्णुको श्रीकृष्णके रूपमें नहीं बल्कि श्रीकृष्णको ही विष्णुके रूपमें अङ्कित किया है। इसीके आगे बलरामजी भी आ गये हैं। प्रद्युम्नको (कृष्णपुत्रको) कामदेवके नामोंमें स्थान मिला है, यद्यपि कामके पर्यायवाचकोंके स्थानपर 'प्रद्युम्नका' प्रयोग संस्कृत-साहित्यमें कहीं नहीं होता। साराश यह कि श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियाँ और लोकातिशायी प्रभावकी छाप उनके जन्मकालसे लेकर हजारों वर्ष बादतक—बौद्धधर्मके बादतक—विधर्मियोंतकपर भी अटूट बनी रही, इनके भक्तोंकी संख्या अपरिमेय रही और बराबर बढ़ती ही गयी।

× × ×

ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारतका श्रीकृष्णचरित ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है और उससे श्रीकृष्णका भगवान् होना और अवतार होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

जहाँ श्रीकृष्ण इतने बड़े कुटुम्बी थे, वहाँ उन्होंने अपने ही कुटुम्बियोंको अन्यायी और अत्याचारी होते देखकर उनका जान-बूझकर अपनी आँखोंके सामने ही समूल संहार भी करा दिया था। इन्हीं सब बातोंको देखते हुए तो हम उन्हें प्रकृतिका वशवर्ती जीव नहीं बल्कि उसका अधिष्ठाता 'भगवान्' मानते हैं। इसीलिये तो महर्षि व्यासने उन्हें अनेक स्थानोंपर 'प्रकृति-नटीका नचानेवाला सूत्रधार' कहा है और इसी कारण उन्हें उनके समकालीन बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी और पराक्रमी पुरुष 'भगवान्' कहा करते थे।

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद

(लेखक—श्रीबांकेबिहारीदासजी बी०एस्-सी०, बी०ए०, एल्-एल्०बी०)

एक अंग्रेज संतकी बात याद आ गयी—'A man cannot pay a more sincere compliment to Truth than to spend his life seeking It.'

'सत्यके अन्वेषणमें ही जीवन-यापन करनेसे बढ़कर सत्य-चिन्तन अथवा सत्यके पूजनकी कोई अन्य पद्धति है ही नहीं।'

प्यारेकी खोजमें चल पड़ा हूँ। जीवनकी उलझी पहेली सुलझानेको मन आतुर हो उठा है। मेरा ज्ञान केवल इतना ही है कि 'प्यारा है', और वह असंख्य कल्याण-गुणोंका सागर है। उसकी करुणाके स्वभावमें पूर्ण विश्वास रख उसके साक्षात्कारको जीवनका लक्ष्य बनाया है। वर्षों बाद मेरे भाग्य जागे हैं। यह शरीर जिसका परिणाम भस्म, कृमि या विष्ठा है, उसे श्यामसुन्दरके पथकी रेणु बना पाया हूँ। श्यामसुन्दर कभी प्रियाजीके साथ नग्नचरण वृन्दावनके केलि-कुञ्जोंमें विचरते इधर आये तो उनके चरणारविन्दोंमें ऐसा चिपट जाऊँगा कि फिर छूटूँगा ही नहीं।

हमारा ईश्वरवाद तर्ककी कसौटीसे परेकी वस्तु है। अनुभूतिका विषय है। जो उसमें शङ्का करता है, उससे मैं दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ—यदि सच्ची जिज्ञासा तुममें जाग गयी है तो साधनके क्षेत्रमें कूद पड़ो। मैं विश्वास दिलाता हूँ—उस ईश्वरको त्रिभङ्ग-ललित भङ्गिमासे कदम्बका सहारा लेकर स्थित, मुरली-रवसे जड़को चेतन और चेतनको अचेतन करते आज भी साक्षात् देख सकोगे।

हमारा ईश्वर कल्पित नहीं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। राधाका प्रियतम, नन्दका लाला, यशोदाका कन्हैया रसमय वपु धारणकर नित्य वृन्दावनमें विराजता है। उसके लीला, रूप, गुण, नाम—किसीका आश्रय लो। द्रौपदीके समान, गजेन्द्रके समान आर्त होकर आश्रय लो! वह आयेगा—अपने पीताम्बरके छोरसे जन्मोंसे ढुलकते तुम्हारे अश्रु पोंछता आयेगा। अनित्य संसारमें यही चार वस्तुएँ नित्य हैं, जिनको ग्रहणकर प्यारेके चरणारविन्द प्राप्तकर मुक्त हो सकते हो।

अनेक देशोंके महापुरुषोंने अब इस 'सार'को समझा है।

ईरानके सूफी संतने जब श्यामा-श्यामका आलिङ्गन प्राप्त किया, उनकी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त हुई—

मियाने इस्स व मुसम्मा चू फर्क नेस्त वनीं
तो दर तजल्ली इस्मा जमाले खुदा बूद।
विसाले हक तल्बी हमनशीं नामश बाश
बूवद विसाले खुदा दर विसाले नामें खुदा॥

—मुईम

'देही तथा उसके आवरण देहमें कोई भी अन्तर मत देख। तेरे देहाभिमानके द्वारपर ईश्वरीय प्रकाश प्रत्यक्ष हो गया है। ईश्वरीय मिलनके लिये निरन्तर भगवन्नामके साथ रह। भगवन्नामकी प्राप्तिसे ही भगवत्प्राप्ति होती है।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिकेजक (Recejac) ने 'दास्यभाव'में आरूढ़ होकर अपना अनुभव इस प्रकार गाया है—

'I live, yet not I, but God in me.'

'मैं जीवित हूँ—पर मुझमें मेरा अहं नहीं। मुझमें मेरा ईश्वर ही ओतप्रोत है।'

हमारे ईश्वरवादकी अनुभूति असाधारण है। पश्चिम देश-वालोंने उसकी गाथा यों गायी है—

Mere perceiving of Reality will not do, but participating in it, possessing and being possessed by It.

'सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं, सत्यमय हो जाना—भीतर-बाहर उसीसे ओतप्रोत रहना परम श्रेयस्कर है।' हम अपनी भाव-भाषामें एक शब्दमें कहेंगे—'गोपीवत्'। गोपियोंने प्रभासक्षेत्रमें अपने प्रियतमसे माँगा है—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८२। ४९)

'हे पद्मनाभ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंके हृदयोंमें चिन्तनीय बताये गये हैं। गृहोंमें आसक्त संसार-रूपी कूपमें गिरी हम सबके उद्धारके अवलम्बरूप वे श्रीचरण सदा हमारे मनोंमें प्रत्यक्ष रहें। असुरोंके पीछे दौड़नेसे श्रान्त तथा व्रज-वनकी कण्टक-कंकड़ियोंसे व्यथित उन चरणोंको अपने हृदयमें लालनद्वारा हम पोषित करें।'

हमारे 'ईश्वर' का जिज्ञासु अपनी यात्रा जबतक समाप्त नहीं कर लेता, जबतक प्यारेको पा नहीं लेता, प्रियतमकी प्राप्तिमें साधनाके अन्तकी प्राप्ति (Journey's end with lover's meeting) से पूर्व सन्तुष्ट नहीं होता। भक्तका स्वरूप कितना महामहिम है। श्यामसुन्दरने भक्तकी प्रशंसाका वर्णन करते हुए कहा है—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।'

'मैं नित्य मेरे उस अनन्य प्रेमी भक्तके पीछे-पीछे इस लिये चलता हूँ कि उसकी पवित्र चरण-रजसे अपनेको पवित्र बना लूँ।' यह उच्च स्वरूप कितना महान् त्याग नहीं माँगता, कितनी महती गुरुकृपाकी आवश्यकता नहीं रखता। रहस्यको जाननेवालोंने कबसे इस तत्त्वको कह रक्खा है—

The Supreme Experience demands the whole man. No man can serve two masters.

(*Theologia Germanica*)

'अनन्य भावसे परमात्माका ही हो जाना पड़ेगा। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं।'

इसी अनुभूतिका वर्णन रसिकवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरनको अब पेखिए का।
सुख छाँडिकै संगमको तुम्हरे इन तुच्छनको अब लेखिए का॥
'हरिचंद' जू हीरन को बेवहार कै काँचन को लै परेखिए का।
जिन आँखिनमें तुव रूप बस्यो, उन आँखिन सों अब देखिए का॥

हमारे ईश्वरको देखनेके लिये प्रेमका चश्मा लगाना पड़ेगा। भक्तोंकी पदधूलिमें लोटना पड़ेगा। इन नेत्रोंसे गङ्गा-यमुना बहा उस त्रिवेणीमें अपने आत्माको स्नान कराना होगा। प्यारेके लिये करुण पुकार करनी होगी—वैसी ही पुकार, जैसी कि स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने अपने सर्वज्ञ गुरुदेव-जीके सम्मुख रुद्ध कण्ठसे की थी। 'रुरुदुः सुस्वरं'' 'कृष्ण-दर्शनलालसाः' जैसी गोपियोंकी पुकारके समान ही थी वह पुकार। वह उनकी रससे ओतप्रोत भाषा—

(राग जैजैवन्ती)

कत दिने हबे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बलबो हरिनाम, नयने बहिबे प्रेम-अश्रुधार॥
कबे हबे आमार शुद्ध प्राण मन, कबे जाब आमि प्रेमेर वृन्दावन।
संसार बंधन हइबे मोचन, ज्ञानाञ्जने जाबे लोचन-आँधार॥
कबे परशमणि करि परशन, लोहमय देह हइबे काञ्चन।
हरिमय विश्व करिब दर्शन, लुटाइब भक्तिपथे अनिवार॥

(हाय) कबे जाबे आमार धर्म-कर्म, कबे जाबे जाति-कुलेर मर्म।
कबे जाबे भय-भावना-भ्रम, परिहरि अभिमान लोकाचार॥
माखि सर्व अंगे भक्त-पद-धूलि, काँधे लये चिर वैराग्येर झूलि।
पिब प्रेमवारि दुइ हात तुलि अञ्जलि अञ्जलि प्रेम-यमुनार॥
प्रेम-पागल हये हाँसिब-काँदिब, सच्चिदानन्द-सागरे भासिब।
आपनि मातिब, सकले मातात्र, हरिपदे नित्य करिब विहार॥

—श्रीरामकृष्णपरमहंसकथामृत (बँगला), पहला भाग

समर्थ गुरुदेवने 'तथास्तु' कहा। एक आलिङ्गनद्वारा आत्मदर्शन करा दिया। वे बोले—'नरेन्द्र! आज मैं अपनी सम्पत्ति तुम्हें देकर भिखारी हो गया।' प्रेम मूर्छाद्वारा शिष्यको ईश्वरानुभूति हो गयी। वह कृतकृत्य हो गया। स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने गुरुसे प्राप्त वह महान् सम्पत्ति देशान्तरोंमें वितरित की और कितने ही शुष्क जीवनोंको रसमय और सुरभित बनाया।

ईश्वरवाद ही एकमात्र सत्य है। उस सत्यका प्रकाश चाहे जब भी हो सकता है और चाहे जिस उद्दीपन-विभावसे हो सकता है। उसके लिये समय नहीं निर्धारित किया जा सकता—

"None can say when and how it shall come. It is not for me and you to fix the moment. After making some effort, Jacob Boehme gazed fixedly upon a 'burnished pewter' and fell into an ecstasy: St. Ignatius Loyola on seeing the running water."

(In Re. Fifth Veda—Harvard University)

'कोई कह नहीं सकता कि कबतक और किस प्रकार यह प्रकाश आयेगा। नगण्य प्रयत्नके फलस्वरूप हमारे और तुम्हारे लिये उस (लक्ष्यप्राप्तिके) क्षणको निर्धारित करना सम्भव नहीं। संत इग्नाशियस लोयला बहता पानी दीखनेपर (निर्झरकी अनवरत अनन्तकालीन साधनाका संकेत समझकर) तथा जैकब चमकीली गिल्टके बर्तनको थोड़ी देरतक देखते रहनेके पश्चात् समाधिस्थ हो गया।'

किंतु वह अनुभूत होता है, हुआ है और होगा; क्योंकि एकमात्र वही सत्य है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'जो असत् है, उसकी भावरूपसे विद्यमानता नहीं है और सत्का कभी अभाव नहीं होता। तत्त्वदर्शियोंने इन दोनों—असत् और सत्का अन्त देख लिया है।' जो इस पथके पथिक हैं, उन सबका यही अनुभव है—

'There is a great experiment possible in this life and there is a great crown of the experiment; but in the nature of things it is not to be bought cheaply, for it demands the whole man. It has been said that the life of the mystic is one of awareness of God and as to this we must remember that we are dealing with a question of life and of a life problem .. ..(*Lamps of Western Mysticism* by A. E. Waite, p. 242)

'जीवनमें बड़ी-से-बड़ी अनुभूतिके लिये अवसर है और उसका बड़े-से-बड़ा फल भी है; परंतु है यह सौदा बड़ा महँगा। इसके लिये सर्वतोभावसे समर्पणकी आवश्यकता होती है। इस सम्बन्धमें इस बातका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यह जीवनका तथा जीवन भर हल करते रहने योग्य प्रश्न है।'

(वेट लिखित 'लैम्प आफ वेस्टर्न मिस्टिसिज्म')

हमारे देशके संतोंने कहा—इस अनुभूतिके लिये परम शुद्ध जीवन बिताना होगा। (Ethical life is a prelude to life spiritual.) सदाचार आध्यात्मिक जीवनकी भूमिका है। वह जीवन श्रद्धासे युक्त होगा। श्रद्धा क्या?—निरंकुश आस्तिकता। भगवान्के चाहे जिस स्वरूपका साक्षात्कार करना हो, उनके व्यापक स्वरूपकी अनुभूतिके पश्चात् ही उस परम तत्त्व (सगुण स्वरूप) का साक्षात्कार होगा। 'ब्रह्मभूत' होनेके पश्चात् भगवत्कृपाद्वारा पराभक्ति पाकर जीव प्रभुको जानकर कृतकृत्य होता है। (गीता १८। ५५-५६)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(श्रीतुलसीदासजी)

हमारे 'ईश्वरवाद'की सत्यताका अनुभव कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenhaur) पुकार उठा—

'In the whole world there is no study so beneficial and elevating as that of the Upanisads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.'

'उपनिषदोंके उच्चातिउच्च कल्याणमय ज्ञानसे बढ़कर मेरे संसारमें अध्ययनके लिये और कुछ है ही नहीं। मेरे जीवन एवं मृत्यु दोनोंका यही अवलम्बन है।'

जब अमेरिकन कविश्रेष्ठ इमर्सन (Emerson) संत थोरो (Thoreau) के पास वाल्डेनमें दर्शन करने गये तो देखा संत एक वृक्षतले एक टूटी खाटपर विराजमान हैं और नीचे सर्प निर्भय विचर रहे हैं। आपने प्रश्न किया—'महाराज! आपको इनसे डर नहीं लगता?' उत्तरमें श्रीगीताजीको सिरहानेसे निकाल अश्रुजलसे प्रभुकी उस शब्दमयी मूर्तिका अभिषेक करते हुए संत बोले—'Where is fear when Mother Gita is there to protect'

'मातेश्वरी गीताजीकी गोदमें उनके अबोध बालकको भयकी सम्भावना कहाँ?'

हिंदुओंके ईश्वरवादकी यदि कोई प्रत्यक्ष मूर्ति देखना चाहता है तो उसे श्रीमद्भगवद्गीता देखना चाहिये। उस गीता-पथप्रदर्शकके ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सब कहीं मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उससे तिरोहित नहीं होता और वह मुझसे तिरोहित नहीं होता।' यदि यह वाक्य हृदयमें बैठ गया तो अवश्य जीव एक दिन श्यामसुन्दरके चरणारविन्दको प्राप्त कर लेगा। यह सब श्रद्धापर निर्भर है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'संयतेन्द्रिय होकर ज्ञान-प्राप्तिमें लगा हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करके अविलम्ब परम शान्ति पाता है।' यह श्रद्धा दैन्यसे उत्पन्न होती है। दैन्य कैसा?—

जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(श्रीरामचरितमानस)

इस 'नमः' कारसे मन सदाके लिये नम्र हो जाता है। यह मन ही बन्धन तथा मोक्षका हेतु है। यह परम दुर्लभ दैन्य-सम्पत्ति, जिसके द्वारा श्यामसुन्दर वशीभूत होते हैं, जीव उन्हींकी बतलायी इस युक्तिमें प्राप्त करता है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९। १४)

'मेरे भक्त निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ नियमपूर्वक संयम करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए तथा नित्य मुझमें लगे हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।'

इस प्रकारका कीर्तन कैसे हो? यह श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अपनेको छोटा मानकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु रहते हुए, स्वयं सम्मानसे दूर तथा दूसरोंका सम्मान करते हुए सदा श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये।' उन प्रभुकी अनन्त नामावलीमेंसे जो नाम अपनेको प्रिय लगे, उसीका कीर्तन करना चाहिये।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

'श्रीहरिका नाम, हरिका नाम, एकमात्र श्रीहरिका नाम ही—इसके अतिरिक्त कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' प्यारे (प्रभु) ने स्वयं कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पञ्चरात्र)

'नारदजी! मैं वैकुण्ठमें निवास नहीं करता और न योगियोंके हृदयमें ही। मेरे भक्त जहाँ गायन (कीर्तन) करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।' कीर्तनमें सात्त्विक विकारोंका प्रकाश (प्रादुर्भाव) होनेसे उन प्रभुके आगमनका अनुभव होता है।

प्रह्लादके लिये प्रेमवश पाषाण-स्तम्भसे प्रकट होनेवाले, सदा हमारे हृदयमें विराजनेवाले, श्यामसुन्दर अपने उस कमलासनको छोड़ अपनी रूप-माधुरीमें नेत्रोंको मुग्ध करते हुए अपनी ईश्वरताका अनुभव हमें क्यों नहीं करायेंगे।

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्यमूलासती
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हन्त दासैव माम्॥

(श्रीचैतन्य महाप्रभु)

'मुझमें न प्रेमा भक्ति है, न श्रवणादि गौणी भक्ति है, न

वैष्णव योग है, न ज्ञान प्राप्त है, न मैंने कोई भी शुभ कर्म किये हैं, मेरी जाति भी अच्छी नहीं है; इस प्रकार अत्यन्त हीन मुझ साधकको यह अच्छेद्य जड़वाली होनेके कारण माया, हे गोपीजनवल्लभ ! तुम्हारे रहते ही हाय, हाय, निरन्तर कष्ट देती है ।'

इस भावमें आरूढ़ हो पुकारते चलना है—

श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुकुन्द गोविन्द हे नन्दकिशोर कृष्ण ।
हा श्रीयशोदातनय प्रसीद श्रीवल्लवीजीवन राधिकेश ॥
(बृहद्भागवतामृत)

बड़ी माधुरी इस साधनमें है । यहाँ साध्य-साधन अभेदको प्राप्त हो जाते हैं । अहो, प्यारेके नामकी माधुरी कोई श्रीराधिकाजीसे पूछे—

तुण्डे ताण्डविनीरतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥
(विदग्धमाधव)

'मुखमें पहुँचकर अनेक मुखोंकी प्राप्तिके लिये (जिससे बहुत मुखोंसे एक साथ ले सके) प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् करते हैं; कर्णकुहरोंमें पहुँचकर अरबों कानोंकी प्राप्तिकी स्पृहा उत्पन्न करते हैं (जिससे सबसे सुने जा सके); चित्तमें पहुँचकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी कृति एकत्र कर लेते हैं (इन्द्रिय-निरोध हो जाता है) ! पता नहीं 'कृष्ण' ये दो अक्षर कितने अमृतोंसे उत्पन्न हुए हैं ।'

उस 'कृष्ण' नामके आस्वादनकी युक्ति श्रीरासेश्वरीसे सीखनी चाहिये—

श्याम श्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्ती
स्थित्वा स्थित्वा मधुरमधुरोत्तारमुच्चारयन्ती ।
मुक्तास्थूलान्नयनगलितानश्रुबिन्दून् वहन्ती
हृष्यद्रोमा प्रतिपलचमत्कुर्वती पातु राधा ॥
(श्रीराधासुधानिधि)

'श्याम-श्याम' इस प्रकार अनुपम रससिन्धु इन वर्णोंका जप करती हुई, रुक-रुककर अत्यन्त मधुर तारस्वरमें इन्हींका उच्चारण करती, मोतियोंके समान अश्रुबिन्दुओंको नेत्रोंसे टपकाती, हर्षसे रोमाञ्चित होती तथा पल-पलपर चौंकती हुई श्रीराधा हमारी रक्षा करें ।'

जब सभी सम्बन्ध प्यारेसे सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसे किस वाणीसे पुकारा जा रहा है—इसकी वह चिन्ता नहीं करता । वह भावका रसिक है । मौलाना रूमीने अपनी 'मसनवी'में यह रहस्य इस प्रकार प्रकट किया है—

''मूसा पैगम्बरने एकान्त वनमें एक सरलहृदय भक्त गड़रियेको रुद्ध कण्ठसे विलाप करते सुना—

'हे स्वामी ! तू कहाँ है जो मैं तेरी चाकरी करूँ ? तेरा जूता सीऊँ । तुझे कँघी करूँ । हे नाथ ! तू कहाँ है कि मैं तेरी सेवा करूँ, तेरे वस्त्र धोऊँ, उनकी जूँवें मारूँ ? जब तू बीमार पड़े तो तेरे पास बैठकर तुझे आश्वासन दूँ । तेरे चरण चापूँ । तेरा बिस्तर लगाऊँ । यदि मैं तेरा घर देख पाऊँ तो तुझे रोज सबेरे और सन्ध्यासमय मालपूए और दूध खिलाऊँ । इन वस्तुओंको लाना मेरा काम रहा और खाना तेरा काम ।'

पैगम्बर मूसाने उसे धमकाकर कहा—'ओ दरिद्र ! कुफ्र मत बक ! अपना मुँह बंद कर ! अपने कुफ्रसे तू सारे संसारको गंदा कर रहा है । धर्मके रेशमी कपड़ोंमें चिथड़े सी रहा है ।'

वह बेचारा सहम गया । लेकिन करुणासागर भगवान्‌से यह सहा न गया । आकाशवाणी हुई—

नही आमद सूए मूसा अज खुदा ।
बंदा मारा अज मा करदी जुदा ॥
तू बराए वस्ल करदन आमदी ।
या बराए फस्ल करदन आमदी ॥
मा बरूँ रा न निगरेम व कालरा ।
मा दरूँ रा बनिगरेम व हालरा ॥
नाज़िर कल्बेम अगर ख़ाशा बुवद ।
गर चे गुफ्ते लफ्ज़े नाख़ासा बुवद ॥
चंद अज़ीं अल्फाज़ो अज़्मारा मजाज़ ।
सोज़ ख़ाहम सोज़ बआँ सोज़ साज़ ॥
आतिशे अज इश्क दरजा बर फरोज़ ।
सर बसर फिक्रो इबादत रॉ बसोज़ ॥
मूसया आदाबे दाना दीगरंद ।
सोख़्ता जाना रवाना दीगरंद ॥
मिल्लते इश्क अज हमा दीनहा जुदास्त ।
आशिकां रा मिल्लता मज़हब ख़ुदास्त ॥

'मूसा ! तूने मेरे प्यारेको मुझसे जुदा कर दिया । तू बिछुड़े हुओंको मुझसे मिलाने आया है या मिले हुओंको जुदा करने ! मैं बाहरी दशा और शब्द नहीं देखता । मैं तो अन्तःकरण

परखता हूँ। मैं निष्कपट द्रवीभूत हृदयसे आकर्षित होता हूँ। मैं तड़पन चाहता हूँ—तू तड़पन उत्पन्न कर। प्रेमकी सच्ची अग्नि पैदा कर। ज्ञानियों एवं पण्डितोंके ढंगसे प्रेमियोंके ढंग न्यारे होते हैं। इनमें तू पाण्डित्य मत ढूँढ़। इनको वस्त्र सम्हालनेको कहता है, फटेको सीनेको कहता है? इनको होश कहाँ कि इन्होंने कपड़े पहने भी हैं। प्रेमका धर्म तथा कर्म एकमात्र मैं हूँ। यह पन्थ ही निराला है।'

हिंदू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्रमें सब देशोंकी संस्कृतियोंकी जननी है। पश्चिम देशके प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर मेक्समूलर (Maxmuller) ने इसे मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है—

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow, I should point to India.

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point to India.

'And, if I were asked myself from what literature we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of the Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal life, again I should point to India.'

(In a letter to Queen Victoria in the year 1858)

'सम्पूर्ण विश्वमें समस्त प्राकृतिक साधनोंसे सम्पन्न, सौन्दर्य, शक्ति और सम्पत्तिसे समलङ्कृत देश मेरे विचारसे भारतवर्ष ही है।

'यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देशमें मानव-मस्तिष्कने अपनी मुख्यतम शक्तियोंको विकसित किया, जीवनके बड़े-से-बड़े प्रश्नोंपर विचार किया और ऐसे समाधान ढूँढ़ निकाले, जिनकी ओर प्लेटो और काण्टके दर्शनका अध्ययन करनेवालोंका ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये, तो मैं भारतवर्षकी ही ओर सङ्केत करूँगा।

'यदि मैं अपने आपसे पूछूँ—किस साहित्यका आश्रय लेकर सेमेटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारामें बहते हुए यूरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवनको अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेंगे—जो जीवन इहलोकसे ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्षकी ही ओर सङ्केत करूँगा।'

(सन् १८५८ में महारानी विक्टोरियाको भेजे गये एक पत्रसे)

यह स्वाभाविक है; क्योंकि स्वयं श्यामसुन्दरका कथन है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

(गीता ९। १६)

'मैं ही इस जगत्का माता-पिता, रक्षक तथा पितामह भी हूँ।'

हमारे ईश्वरवादमें सभी मत-मतान्तरोंको स्थान है। यदि हम दूसरेकी वाणीका मर्म समझ लें तो विश्व-प्रेमकी अग्नि हममें धधक उठे। अपने ईश्वरवादको न समझकर ही हम खण्डन-मण्डनमें उलझते हैं। हमें प्रभुका यह वाक्य स्मरण रखना चाहिये—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १०, १३)

'धनंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति यह सब मेरेद्वारा व्याप्त है। इन तीन (सत्त्व, रज, तम) गुणोंके भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण विश्व इस जगत्से परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।'

'वाणी'—शास्त्र न समझनेसे भ्रम होता है। अत्याचारकी सम्भावना होती है। हमारा ईश्वरवाद हमें हमारे ईश्वरको सबमें दिखाता है, विशेषकर द्वेषीमें। उसे देखकर रोम-रोम पुकार उठता है—

हजारों जाँ भी हों तो कर दूँ रकीब पर कुरबान।
मेरा उदू ही सही, पर है आशनाँ तेरा॥

मैं तो अपने ईश्वरवादका अर्थ इतना ही जान उसको अनुभव करनेकी चेष्टा करता हूँ—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ७। ६। २७)

'यह अत्यन्त दुष्प्राप्य निर्मल ज्ञान, जो नरके सखा भगवान् नारायणने देवर्षि नारदजीको बतलाया था, भगवान्के अकिंचन अनन्य भक्तोंके चरण-कमलोंकी धूलि सर्वाङ्गमें लगानेवालोंको ही प्राप्त होता है।'

भक्तजन यदि अपनी चरण-रज देंगे तो मैं उस पहेलीको हल करके सफलमनोरथ होऊँगा। मेरे मनोरथका स्वरूप सूफी जलालुद्दीन रूमीने बताया है—

Thy love has pierced me through and through;
Its thrill with bone and nerve entwine.
I rest a flute laid on Thy lips,
A lute on Thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh,
Yet strike my strings and tears shall be mine.

(Hastie's translation of *Masnavi*)

'मेरे रोम-रोममें पैठा, प्रियतम ! प्रेम तुम्हारा।
तनके तार-तारमें धावित उसकी विद्युत्-धारा॥
मैं हूँ मुरली एक अधरपर, मोहन ! धरी तुम्हारे।
मैं हूँ एक तुम्हारे उरपर पड़ी विपञ्ची, प्यारे॥
ऐसा स्वर मुरलीमें फूँको, आह उठे अन्तरसे।
ऐसा तारोंको झनकारो, नयन हमारे बरसें॥'

उसीको एक ईसाई संतने इस प्रकार व्यक्त किया है—

Oh to be nothing, nothing!
Only to lie at His feet.
A broken and empty vessel
For the master's use made meet.
Empty that He may fill me
As forth to His service I go;
Broken that so more freely
His life through mine may flow.

'ओह, और कुछ भी बननेकी इच्छा नहीं। कुछ भी नहीं।
बस, उनके चरणोंपर पड़ा रहूँ।
एक भग्न और रिक्त पात्र बनकर,
जो वास्तवमें मालिककी सेवाके ही लिये गढ़ा गया है।
यह रिक्त इसलिये कि वे ही इसे भरें;
जब मैं उनकी सेवाके लिये उपस्थित होऊँ।
और भग्न इसलिये कि अबाधरूपसे उनकी जीवनधारा मुझमें प्रवाहित हो सके।

हिंदू संस्कृति और स्वाधीनता

(लेखक—पं० श्रीजीवजो न्यायतीर्थ, एम्०ए०)

हिंदू संस्कृतिका प्रथम प्रभात किस पुण्यदिवसको दिखलायी दिया था, यह आज भी गवेषणाका ही विषय है। एक समय सिन्धुनदीके तट-प्रदेशमें फैली हुई एक विशिष्ट सभ्यताकी धारा प्रवाहित हुई थी तथा वही सभ्यता क्रमशः समस्त भारतमें फैल गयी, यह अनेकों वेद-मन्त्रों तथा मनु प्रभृति धर्मशास्त्रोंसे ज्ञात होता है।* सिन्धु, सरस्वती, दृषद्वती प्रभृति कुछ नद-नदियोंके सन्निहित बहनेवाली धाराओंसे प्लावित उत्तरभारतके भूखण्डमें आर्य-सभ्यता या हिंदू-संस्कृतिकी आदि जन्मभूमि है, यह बहुतोंका मत है।†

परवर्ती कालमें बाहरसे विदेशी जातियोंने भारतमें प्रवेश किया तथा सिन्धुनदके किनारेके प्रदेशोंपर आक्रमण करनेमें उनका जिस जातिके साथ संघर्ष हुआ, देशके नामके अनुसार

---

* दृष्टान्तरूपमें ऋग्वेद १० मण्डल ७५ सूक्त देखिये। इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हैं। मनुके द्वितीय अध्याय १७, १८, १९, २०, २१, २२ श्लोकमें ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेन, मध्यदेश तथा आर्यावर्तपर्यन्त क्रमिक सभ्यताका विस्तार दिखलाते हुए नामोल्लेख किया गया है। 'संस्कृति' शब्दका आधुनिक अर्थ प्राचीन कालमें आचार-सदाचार, चरित्र प्रभृति शब्दोंके द्वारा प्रकट किया जाता था। वर्तमानमें प्रचलित सभ्यता, कृष्टि, भावधारा—ये सारे शब्द भी आजकलके कल्पित culture शब्दके अनुवादमात्र हैं।

† मैक्समूलर साहब अपनी 'Vedic Index' नामक पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं—Here the home of the Indo-Aryans of the earliest period—that of the Ṛgveda is the territory drained by the Indus river system, × × × corresponding roughly to the North-west Frontier Province of the Punjab of the present day. × × × But the home of the fully developed culture of the Brahmanas lay in the territory extending in a south-easterly direction × × between the confluence of Saraswati and Dṛṣadvati in the west and that of the Sadānira and Ganges on the east etc. (Vide page XIV)

उसी जातिको उन्होने 'सिन्धु' कहकर पुकारा। सम्भवतः आक्रमणकारी लोग सेमेटिक जातिके थे, इसी कारण उनके उच्चारण-वैकल्यके कारण 'सिन्धु' 'हिंदु' रूपमे परिणत हो गया। मेरुतन्त्रमे 'हिंदू' शब्दकी व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार दी गयी है, तथापि अन्य किसी शास्त्र-ग्रन्थमे 'हिंदू' शब्दका उल्लेख न होने तथा मेरुतन्त्रमें लण्डन नगरका 'लण्ड्र' प्रभृति शब्दोके द्वारा उल्लेख होनेके कारण इसकी प्रामाणिकताके विषयमे सन्देहको पर्याप्त अवकाश है; परंतु 'हिंदू' शब्दका व्यवहार इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना काम नही चल सकता। इन बातोकी आलोचनाका प्रयोजन यही है कि किसीको यह भ्रम न हो जाय कि 'हिंदू' शब्दकी उत्पत्तिके साथ हिंदू-संस्कृति समकालीन है; बल्कि इस शब्दके उत्पन्न होनेके बहुत पहले ही हिंदू-संस्कृतिका पूर्ण विकास हो गया था, यह कहनेकी आवश्यकता नही है।

निश्चय ही हिंदू-संस्कृतिका काल-निर्णय करनेके लिये बहुतेरे मनस्वी पुरुषोने बहुत परिश्रम किया है। मनस्वी बालगङ्गाधर तिलक, हार्मेन जेकोबि, मैक्समूलर, मैक्डॉनेल, विल्सन, वेबर प्रभृति प्राच्य विद्याविशारदोका नाम इस विषयमे विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। परंतु खेदका विषय यह है कि इनमेसे किसी भी मतका दूसरेके साथ ऐक्य नही है। सभी विशेषज्ञ है, सभी तर्क और युक्ति उपस्थित करते है; परंतु इनके मतोमे इतनी विभिन्नता है कि किसीके मतको स्वीकार करनेकी इच्छा नही होती। पचीस हजार, आठ हजार, छः हजार, चार हजार और अन्ततः तीन हजार वर्ष पूर्व हिंदू-संस्कृतिका आविर्भाव-काल विभिन्न विद्वानोके मतसे है। कुछ वर्ष पूर्व सिन्धुनदके तट-भूमिस्थ प्रदेशमे 'मोहन-जो-दड़ो' तथा 'हरप्पा'के खण्डहरोका अन्वेषण हुआ है। इस अन्वेषणके बाद भारतीय इतिहासमे बहुत बड़े परिवर्तनकी सम्भावना दीख पड़ती है। यह ध्वंसावशेष छः हजारसे भी अधिक पूर्वकी किसी सभ्यताका निदर्शन करता है। इसे प्रायः सभी मतके लोग स्वीकार करते हैं। आर्य-सभ्यता अथवा हिंदू-संस्कृतिके आविर्भावके विषयमे पाश्चात्त्य पण्डितोमे अधिकांशका मत चार हजार वर्षसे अधिक पहले नहीं जाता। इस ध्वंसावशेषके समान जीवन्त प्रमाण प्राप्त हो जानेपर उनके मतका खण्डन सम्भव हो गया है। अन्तमे इस स्थानकी अनुसन्धान-समितिके परिचालकके रूपमे सर जॉन मार्शलकी नियुक्ति हुई। उन्होने अपने लिखित विवरणमे यह मत प्रकट किया कि 'यद्यपि वर्तमान हिंदू-सभ्यताके साथ उपर्युक्त ध्वंसावशेषका निदर्शन अनेकांशमें मिलता-जुलता है, जिसका कारण यह है कि वर्तमान हिंदू-संस्कृति अनार्य-सभ्यताके साथ मिश्रित हो गयी है, तथापि यह ध्वंसावशेष प्राग्वैदिक युगकी अनार्य सभ्यताका निदर्शन है।' यो युक्ति देकर उन्होने पूर्वप्रकाशित भारतीय इतिहासकी मर्यादाकी रक्षा करनेकी चेष्टा की है।

वस्तुतः 'मोहन-जो-दड़ो' और 'हरप्पा'के ध्वंसावशेषोके सम्बन्धमें अबतक गम्भीर विवेचना सम्भव नही हुई है। अतएव मार्शल साहबकी उक्तिका मूल्य कितना है, इसका निर्धारण नही हो सकता।

इस प्रसङ्गमे यह उल्लेख किया जा सकता है कि कलकत्ता विश्वविद्यालयके अध्यापक डा० बेनीमाधव बरुआ एम्० ए० ने इस विषयमे मनोयोगपूर्वक गवेषणा करके एक नवीन तथ्यका पता लगाया है; परंतु दुःखकी बात है कि इस कार्यके समाप्त करनेके पहले ही उनका देहावसान हो गया। वह तथ्य यह है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेषके चित्र-संग्रहमे एक ऐसा चित्र मिला है, जिसमे एक वृक्षकी शाखापर दो पक्षी बैठे है। एकके मुखके पास कुछ फल है और दूसरेके मुखके निकट कोई फल नही है। इस चित्रकी ओर उन्होने विद्वानोकी दृष्टि आकर्षित की है और अनुरोध किया है कि इसका मिलान ऋग्वेदके इस मन्त्रके अर्थके साथ करे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ० म० १ सू० १६४)

'सख्य और सायुज्ययुक्त दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं; उनमे एक तो स्वादु अश्वत्थ-फलको भक्षण करता है और दूसरा बिना कुछ खाये साक्षिरूपसे अवस्थित है।' इस मन्त्रमे जीव और ईश्वर दो पक्षियोके रूपमे वर्णित हैं। यह रूपक-चित्र मोहन-जो-दड़ोमे मिट्टीके सॉचेमे गढ़ा हुआ निकला है, उसीका आलोक-चित्र मोहन-जो-दड़ोके विवरणमे है।

इसके सिवा श्मशानका आलोक-चित्र भी ध्यान देने योग्य है। वर्तमान हिंदू-संस्कृतिके मतसे अन्त्येष्टि-क्रिया जिस प्रकार अनुष्ठित होती है, मोहन-जो-दड़ोके ध्वंसावशेषमे भी उसी प्रकारके चित्र पाये गये हैं। एक घड़ा, अधजली लकड़ी, चिता-भस्म आदि चित्रमे दिखलाये गये हैं। शवका अग्नि-संस्कार करना एक वैदिक आचार है। ऋग्वेदके दशम मण्डल १५। १६ सूक्तोंमे, अग्नि ही मृत पुरुषको पितृलोकमे ले जाती है, यह वर्णित है। परंतु असुर (अनार्य लोगो) की संस्कृतिमें मृत देह वसन-आभूषणसे सजायी जाती है तथा

वहीं उसका शव-संस्कार होता है, यह छान्दोग्योपनिषद् ८ प्रपाठक, ८ खण्डमें स्पष्ट उल्लिखित है। रामायणमें विराध राक्षस (अनार्य) के अनुरोधसे ही उसकी मृत्युके बाद उसके मृतदेहको गर्तमें डाल दिया गया था और यही है मृत राक्षस-जातिका चिरन्तन धर्म। (अरण्यकाण्ड, चतुर्थ सर्ग)

अन्ततः इन दो चित्रोंके दृष्टान्तसे मोहन-जो-दड़ो और हरप्पामें वैदिक संस्कृतिका प्रभाव विद्यमान होनेकी सूचना मिलती है। अतएव यह प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेष प्राग्-वैदिक युगका निदर्शन नहीं है।

हिंदू-संस्कृतिके प्राथमिक काल-निरूपणके सम्बन्धमें चाहे कितना ही सन्देह और वैमत्य क्यों न हो, यह तो निर्विवाद है कि वेदोंसे ही हिंदू-संस्कृतिका प्राकट्य और प्रसार हुआ है। पाश्चात्त्य जगत्के किसी-किसी विद्वान्ने ऋग्वेदको सर्वापेक्षा प्राचीन धर्मग्रन्थ माना है,* परंतु उन्होंने भी काल-निर्णयके लिये कोई प्रयास नहीं किया।

वैदिक भावराशि हिंदू-संस्कृतिका मूल है। धर्मसूत्र, स्मृति, पुराण, तन्त्र—सभी वेदकी छायाको लेकर धन्य-धन्य हो रहे हैं तथा ये समस्त ग्रन्थ हिंदू-संस्कृतिके काण्ड, पत्र और फल-फूल हैं।

आज स्वाधीनताके नव-प्रभातमें प्राची दिशा उद्भासित हो उठी है। पराधीनताकी अन्धकारमयी रजनीके अवसानसे स्वाधीनताकी उषःप्रभा क्या विश्वकल्याणके सुप्रभातकी सूचना देगी ?

यही बात हृदयमें उठती है कि भारतकी स्वाधीनताके द्वारा जगत्का क्या कोई कल्याण हो सकता है ? अन्ततोगत्वा आज पराधीन भारत स्वातन्त्र्य प्राप्तकर विश्वके प्राङ्गणमें मर्यादावृद्धिके सिवा दूसरा कौन-सा अभ्युदय अर्जन करेगा ?

आज विश्वमें विज्ञानका एकछत्र साम्राज्य है। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार विश्वके निवासियोंके मनको विस्मित कर रहे हैं। कहाँ तो बड़ी-बड़ी तोपें, सबमैरिन, वायुयान, जन-पद-ध्वंसकारी एटम बम—और कहाँ हिंदू-संस्कृतिकी नीरव साधना, निष्पन्द गति और शान्तिमय प्रकृति ! यदि आज भारतको बाध्य होकर विज्ञानके पीछे ही दौड़ना पड़े, यन्त्र-शिल्पादिके लिये पाश्चात्त्योंका ही अनुकरण करना पड़े, परानुग्रहके द्वारा प्राप्त चावल, गेहूँ, औषधादिके द्वारा ही जीवन धारण करना पड़े, पाश्चात्त्य सभ्यताके अनुसरणमें अपनी संस्कृतिको तिलाञ्जलि देकर हिंदू-कोड बिलका आश्रय लेना पड़े, तो इस स्वातन्त्र्यकी सार्थकता कहाँतक रक्षित होगी —यह विचारणीय है।

हिंदू-संस्कृतिके भीतर छिपा हुआ स्वाधीनताका आदर्श क्या है, यही आज विचारणीय है। पराधीन भारतमें भी किसी रूपमें हिंदू-संस्कृति अवशिष्ट रह गयी थी, इसका कारण यह है कि उसकी आन्तरिक स्वाधीनताके बीजको कोई भी नष्ट नहीं कर सका था। यह स्वाधीनताका स्वरूप पृथ्वीके अन्य किसी देशमें है या नहीं, मैं नहीं जानता; परंतु भारतकी मिट्टीमें इसकी अभिव्यक्ति दूसरे ही रूपसे हुई है। प्रथमतः स्वाधीनता दो प्रकारकी होती है—एक भौमिक (राष्ट्रिय), और दूसरी आत्मिक। यह दोनों प्रकारकी स्वाधीनता ही पूर्ण स्वाधीनता कहलाती है।

राष्ट्र अथवा भूमिकी स्वाधीनता कालवश कभी-कभी विपर्ययको प्राप्त होती है। चिरकालतक समानरूपसे राष्ट्रकी स्वाधीनता अक्षुण्ण रहेगी, इस प्रकारका निश्चय प्रदान करनेकी क्षमता किसीमें नहीं। परंतु भूमिके पराधीन होनेपर भी आत्मिक स्वाधीनतामें विपर्यय नहीं होता, यदि उस भूमिके निवासी स्वेच्छापूर्वक अपने स्वरूपको परकीय भावोंके अधीन न बनायें। जबतक आत्मिक स्वाधीनताका ज्ञान बना रहता है, तबतक किसी भी देशके निवासी अपने आहार-विहार, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा आदि समस्त विषयोंमें सचेत रहते हैं, अर्थात् इन विषयोंपर अपने देशकी संस्कृतिके अनुसार ही विचार करते हैं।

भौमिक (राष्ट्रिय) स्वाधीनताका कुछ कालतक व्याघात भी हो तो आत्मिक स्वतन्त्रताके द्वारा उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है; परंतु आत्मिक स्वाधीनताका त्याग करनेपर राष्ट्रिय स्वाधीनता भी चली जाती है। फारस देशके प्राचीन अधिवासी किसी समय अग्निपूजक थे, और उनका धर्मग्रन्थ था 'जेन्दावस्ता'। जब अरबके मुसलमानोंने इस देशको जीत लिया तो सहस्रों पारसी भारतमें आत्मरक्षाके लिये भाग आये। परंतु अवशिष्ट पारसीलोग अपनी आत्मिक स्वाधीनताको खोकर चिरकालके लिये विजेताके साथ मिल-जुल गये। आज भी भारतमें उसी प्राचीन पारसी जातिके अनेकों लोग आत्म-संस्कृतिकी रक्षा करके विपुल धन और सम्मानके अधिकारी हो रहे हैं।

अनेकों जातियोंने भारतपर आक्रमण किया है, भारतके भूखण्डपर अधिकार किया है तथा उन विजेताओंने अपनी-

* The Ṛgvedas are the Hindu sacred writings which are probably the oldest literary compositions in the world. (Wall's 'Sex and Sex-worship', page 8)

अपनी संस्कृतिके प्रसारके लिये अदम्य चेष्टा भी की है; परंतु हिंदू-संस्कृतिको आंशिकरूपसे विकृत करनेके सिवा वे इसको विलुप्त नहीं कर सके । संस्कृतिकी महिमासे, आत्मिक स्वाधीनताके बलसे भारतकी हिंदू-जाति अजेय बनी रही । अतएव इस स्वाधीनताका उपालोक देखनेका आज सौभाग्य प्राप्त हुआ । भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

'जो कुछ पराधीन है, दुःखप्रद है और जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है । यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है, ऐसा जानना चाहिये ।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भौमिक और आत्मिक अर्थात् बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकारकी स्वाधीनताकी रक्षा होनी चाहिये ।

दिल्लीके सिंहासनपर जब सम्राट् अकबर आरूढ़ था, तब उसने दीने-इलाहीका प्रचारकर मुस्लिम-धर्म-संस्कृतिके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा की थी । वह था नीतिज्ञ; मुसल्मानोंकी पुरातन रीति—एक हाथमें तलवार और दूसरेमें कुरान लेकर धर्मप्रसारका वह पक्षपाती न था । वह कौशलपूर्वक मधुरताके द्वारा जनचित्तको आकर्षित करनेकी चेष्टामें लगा रहा । उसका फल यह हुआ कि सर्व-साधारणके मुखसे 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' इस प्रकारके प्रशंसासूचक शब्द निकलने लगे; परंतु उसका वह कौशल भी हिंदू-संस्कृतिके सामने न चल सका । बल्कि किसी-किसी विषयमें स्वयं सम्राट् अकबर हिंदू-संस्कृतिका अनुकरण कर कूड़ापंथी मुसल्मानोंके कोपका भाजन बना । हिंदू-संस्कृति मुसल्मानी भावोंसे दूर रहकर आत्मरक्षाके लिये भारतवासियोंको सचेत करती रही, बल्कि मुसलमान भी हिंदू-संस्कृतिकी आबोहवामें पड़कर बहुत कुछ हिंदू-भावापन्न हो बैठे । * घर-घरमें सत्यपीर और सत्यनारायणकी उपासना, गाँव-गाँवमें मानिक पीरके स्थानमें दूध चढ़ाना, पीरकी दरगाहमें हिंदू-मुसल्मानोंका धरना और मनौती, औलाबीबी तथा शीतलाकी पूजा, दोनों सम्प्रदायोंके घर-घरमें इस मूर्तिकी परिक्रमा इत्यादि चल पड़े । निराकारवादी मुसलमान भी साकार उपासनामें धीरे-धीरे अग्रसर होने लगे, मानिक पीरके स्थान मिट्टीके घोड़ोंसे भर गये, औलाबीबीकी मूर्ति देखी गयी, स्थान-स्थानमें काली और दुर्गाकी पूजामें मुसल्मान अपनी स्थितिके अनुसार आर्थिक सहायता प्रदान करने लगे । यदि कुछ दिन और इसी प्रकार चलता तो हिंदू-संस्कृति मुसल्मानोंको अपनी सीमाके अंदर और भी खींच लाती । यह कृपाणके बलसे नहीं होता, धर्मान्तरकरणसे नहीं होता, यह होता आत्मिक संयोग-स्थापनके द्वारा सांस्कृतिक मिलनके पथसे । परंतु आज तो स्थिति ऐसी प्रतिक्रियात्मक हो गयी है कि हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा भी कठिन हो चली है ।

भारतमें शासनाधिकार प्राप्त करनेके बाद अंग्रेजोंको भी पहले मार्गमें बाधाओंका सामना करना पड़ा था—सिपाहियोंमें १८५७ ई०में जातीयता-बोध न होनेपर भी भारतीय संस्कृतिकी प्रेरणाने ही वैदेशिक शासनके प्रति विद्रोहकी भावना पैदा की थी । उस समय मुसल्मानोंके अत्याचारसे जर्जरित हिंदूलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे; यही कारण था कि कुछ लोगोंने अंग्रेजोंका पक्ष ग्रहण किया और इसीसे अंग्रेज विजयी हुए । *

इस विद्रोहके बाद ही १८५८ ई० में पहली नवम्बरको महारानी विक्टोरियाने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया, उसमें बाध्य होकर यह वचन देना पड़ा कि हिंदू-संस्कृतिके विषयमें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा । इस घोषणाके द्वारा हिंदू-जनसाधारणके चित्तमें सान्त्वना प्रदान करनेपर भी बुद्धिमान् अंग्रेज समझते थे कि हिंदू-संस्कृति हमको भारतमें बाहर-ही-बाहर रक्खेगी । दरबानके समान हम बाहरी शत्रुके आक्रमणसे भारतकी रक्षा करेंगे, परंतु भीतर हमारा प्रवेश न हो सकेगा । भीतर प्रवेश न करनेपर भारतका शासन और शोषण पूर्णरूपसे न हो सकेगा, अतएव अब एकमात्र उपाय रह गया है हिंदू-संस्कृतिमें परिवर्तन करना ।

सिपाही-विद्रोहका धक्का खाकर अंग्रेज शासकवर्ग कुछ वर्षोंतक हिंदू-संस्कृतिको बड़े भयकी दृष्टिसे देखते रहे । मिशनरी लोगोंके ईसाई मतके प्रचारका भी समर्थन पहले उनसे नहीं हुआ; परंतु अन्तमें यही स्थिर हुआ कि यदि भारतको अधीन रखना है तो भारतको ईसाई बनानेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है । यह सुयोग प्राप्तकर मिशनरियों-ने हिंदू-संस्कृतिके विरुद्ध विराट् प्रचार प्रारम्भ कर दिया । हिंदू-संस्कृतिके विषयमें कितनी ही कविताएँ रची गयीं

---

* The Mohamedans have themselves become Hinduized and have been brought into the meshes of Caste. (Rev. Sherring in "Castes and Tribes of India")

* We were only able to vanquish a sepoy army by the aid of gallant native troops, who remained faithful to the salt. (The Duke of Argyll)

तथा हिंदू-संस्कृतिका विकृत चित्र बनाकर देश-विदेशमें प्रचारित किया गया।

ब्रिटिश राजत्वके समय १८३५ ई० मे कलकत्ताके बन्दरगाहमें एक जहाज विलायती माल लेकर आया। वह जहाज नाना प्रकारकी लोभनीय वस्तुओंसे पूर्ण था। औषधसे लेकर सूईतक बहुतेरी व्यवहारयोग्य वस्तुएँ बिक्रीके लिये भारतमे भेजी गयी थीं; परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि एक पैसेकी भी कोई वस्तु यहाँ नहीं बिक सकी। उस समयकी हिंदू जनता समझती थी कि म्लेच्छदेशकी तैयार की हुई वस्तुएँ हिंदुओंके लिये अस्पृश्य हैं, अव्यवहार्य हैं। यह संस्कार इतना दृढ़ और प्रबल था कि बहुत प्रयत्न करनेपर भी विलायती माल भारतमे न चल सका, और उस जहाजको जैसे आया था वैसे वापस लौट जाना पड़ा। उस समयके सेक्रेटरी आफ् स्टेट (भारतमन्त्री) लार्ड मैकालेने इस बातको देखकर प्रतिज्ञा की थी कि भारतमें हम अब एक ऐसी जाति पैदा करेंगे, जिसका रंग और रक्त भारतीय रहेगा, परंतु शिक्षा, दीक्षा और रुचिमे वह अंग्रेज हो जायगी।

इसी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये लार्ड मैकालेने भारतमे अंग्रेजी शिक्षाकी नींव डाली, और उनके सङ्कल्पित कार्यने पूर्ण सफलता प्राप्त की। चाय, चुरुट, बिस्कुट, जमा हुआ दूध, औषध आदिसे लेकर विलासकी भाँति-भाँतिकी सामग्रियाँ आज विदेशोंसे आती हैं और करोड़ों-करोड़ों रुपये विदेश चले जाते हैं।

हिंदू-संस्कृतिने एक दिन शिक्षा दी थी कि भारतकी मिट्टीमें उत्पन्न वस्तु ही पवित्र और उपकारी है। भारतके फल-फूल, भारतकी ओषधि-लता, भारतके अन्न-वस्त्र—सभी पवित्र और सुन्दर है, अतएव व्यवहारयोग्य हैं। प्राचीनकालमे चीन देशसे भारतमे वस्त्र आता था; परन्तु इस प्रकारकी उस समय व्यवस्था थी, जिससे उसका भी भारतमें प्रसार न हो सका।

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥

'सिले हुए, जले हुए, खास करके विदेशोंमे बने हुए वस्त्रके द्वारा, चूहेके कुतरे हुए अथवा पुराने वस्त्रके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष वैध कर्मोंको न करे।'

महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाके मृतदेहके दाह करनेके समय, लिखा है कि, उनका शरीर शुक्ल देशी वस्त्रद्वारा आच्छादित किया गया था। हिंदू-संस्कृतिके प्रति लक्ष्य रखनेपर ही समस्त विदेशी द्रव्य अमेध्य, अशुचि मानकर हिंदूके लिये अपने-आप ही वर्जनीय हो जाता है। यह दूसरोंके प्रति विद्वेषमूलक 'बायकाट' नहीं है, बल्कि स्वदेश-प्रेमका एक निदर्शन मात्र है। साथ ही, देशका धन देशमें ही रखकर अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करनेका एक उपाय है।

हिंदू-संस्कृति भारतको यही शिक्षा देती है कि पर-मुखापेक्षी न होकर पूर्णतः अपने भावसे अपने पैरोंके बल भारतवर्ष जिससे संसारमें खड़ा रह सके, वही सर्वापेक्षा बड़ी स्वाधीनता है। हिमालयरूपी प्राचीर तथा समुद्ररूपी परिखाके द्वारा वेष्टित हो यह भारत जिस प्रकार भौगोलिक सत्तामें सब देशोंसे विच्छिन्न होकर एक वैशिष्ट्य धारण कर रहा है, उसी प्रकार इस भारतमें उत्पन्न शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति पृथ्वीके दूसरे भागोंकी अपेक्षा एक असाधारणता रखती हैं। वह असाधारणत्व कुछ अंशोंमें विस्मृतिके आवरणसे छिप जानेपर भी अभी सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ है। इसीलिये श्री-उडरफ साहबने कहा था कि 'भारत वैसी कोई भौगोलिक सत्ता नहीं है, और न उस प्रकारकी कोई जन-समष्टि है, जो अचानक पृथ्वीके किसी अंशमें आकर पड़ गयी हो अथवा पृथ्वीके किसी प्रान्तमें पड़ी रह सकती हो। भारत ज्ञानका प्रतीक है।'

मैजिनीने कहा था कि "स्वाधीनता-शब्दके वास्तविक अर्थका विचार न करके केवल 'स्वाधीनता' शब्दकी रट लगाना केवल पीड़ित क्रीत दासकी मनोवृत्तिका परिचायक होनेके सिवा और कुछ नहीं।"*

अत्यन्त दुःखके साथ प्लेटोने कहा था कि 'जो मनुष्य अपने देशकी संस्कृतिके प्रति घृणा उत्पन्न करता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं; ऐसे मनुष्यका मर जाना ही श्रेयस्कर है।'†

एडमण्ड बर्क महोदयने कहा था कि 'स्वाधीनता एक भाव है, और दूसरे भावोंके समान यह भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है। स्वाधीनताका ज्ञान बहुत कुछ अनुभवसिद्ध विषयोंके साथ जुड़ा रहता है, तथा प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय वस्तुओंकी धारणाको लेकर स्वाधीनताके रूपको गठित करती है, जिसकी पूर्णताके ऊपर सुखके मानदण्डकी कल्पना की जाती है।'‡

* Merely to spout liberty without reflecting what it is intended the word should imply, is the instinct of the oppressed slave and no more.

† A man who brings into contempt the creed of his country is the deepest of the criminals; he deserves death and nothing else.

‡ Abstract liberty, like other abstractions, is

सचमुच ही स्वाधीनताका कोई निर्दिष्ट स्वरूप नहीं है। इंग्लैंडकी स्वाधीनतासे जिस प्रकार 'अपने ऊपर टैक्स लगानेका अधिकार' (Self-taxation) प्रधानतः समझा जाता है, उसी प्रकार भारतमें स्वाधीनता कहनेसे मुख्यतः 'हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा' ही समझी जाती है। सच पूछिये तो, राष्ट्र बड़ा है या संस्कृति, पार्थिव राज्य बड़ा है या मनोमय राज्य, भोग्य वस्तु बड़ी है या भोक्ता—यही संघर्ष आज संसारमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। भारतकी प्राचीन विचार-धारामें संस्कृति बड़ी मानी जाती थी, मनोराज्यकी प्रधानता थी तथा भोक्ताका प्रभुत्व था। आधुनिक विचारमें राष्ट्र ही बड़ा हो गया है। इन दोनों धाराओंकी तुलना करनेपर ज्ञात हो जायगा कि भारतमें संस्कृतिकी प्रधानता होनेके ही कारण राष्ट्रके पराधीन होनेपर भी उसकी स्वाधीन होनेकी अभिलाषा नष्ट नहीं हो सकी; परंतु यदि राष्ट्र प्रधान होता तथा अधिकांश जनता संस्कृतिकी उपेक्षा करती, तो राष्ट्र-विपर्ययके साथ-साथ संस्कृतिका भी नाश अवश्यम्भावी हो उठता। तब भारतका जो कुछ अतीत गौरव तथा पूर्वपुरुषोंकी कीर्ति थी, सब विस्मृतिके अतल-तलमें डूब जाते। आज मुसल्मान अपने हृदयसे यह बात समझने लगे हैं कि राष्ट्रके साथ संस्कृतिको एक सूत्रमें बाँधकर मुस्लिम-संस्कृतिको प्रधान स्थान देना पड़ेगा। इसी कारण उनके राष्ट्रका नाम 'पाकिस्तान' हुआ है, उनके राष्ट्रका शासन कुरानशरीफके आधारपर हो रहा है, तथा उनके लिये स्वाधीनताका अर्थ हो गया है—'मुस्लिम-संस्कृतिकी अबाध गति'।

आश्चर्यकी बात यह है कि मुस्लिम-संस्कृतिमें जगत्को प्रदान करने योग्य बहुत ही कम सम्पत्ति है; परंतु जो कुछ है, उसीका जय-डंका बजानेके लिये वे कटिबद्ध हैं और इधर हिंदू-संस्कृतिमें जो असीम रत्नभण्डार, समस्त जगत्के लिये लोभनीय सम्पद् विद्यमान है, उसकी आज उपेक्षा हो रही है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, तन्त्र, राजनीति, साहित्य, भागवत, रामायण, महाभारत आदि अमूल्य ग्रन्थराशिमें कितने भाव, कितने ज्ञान-विज्ञान तथा कितने उपदेश निहित हैं, उनका वर्णन करना कठिन है; परंतु आज स्वाधीन भारतमें उनकी आलोचनाके लिये कोई सुयोग ही नहीं है!

यथार्थ तो यह है कि हिंदू-संस्कृति ही हिंदूके लिये परम प्रिय वस्तु है। इस संस्कृतिके ऊपर चाहे जितने आघात, चाहे जितने आक्रमण क्यों न हों, आज भी अधिकांश जनता इस संस्कृतिके प्रति अनुरक्त है। यह मनु-याज्ञवल्क्यसे लेकर धर्मव्याधपर्यन्त सबकी कीर्तिसे समृद्ध है। इस संस्कृतिकी आदिजननी अपौरुषेय वेदवाणी है। इस संस्कृतिके साथ स्वाधीनताका सम्बन्ध अच्छेद्य है, यह कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। इसी संस्कृतिकी महिमामें स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्रमें प्रतिष्ठित थी।

वर्णाश्रम-धर्मका स्थान इस संस्कृतिमें केन्द्रीभूत हुआ था, और वह आज भी पूर्णतः उच्छिन्न नहीं हुआ है। आश्रम-धर्ममें वैयक्तिक स्वाधीनता, वर्णधर्ममें सामाजिक स्वाधीनता तथा वर्णाश्रमधर्मके यथायथ पालनमें राष्ट्रिय स्वाधीनताकी रक्षा होती थी।

आश्रमधर्ममें चरम और परम स्वाधीनता चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यासमें विकसित होती है। संसारकी और कोई भी जाति इस स्वाधीनताके स्वरूपका चिन्तन नहीं कर सकी है। जो स्वाधीन होगा, उसके लिये कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। जो स्त्री-पुत्रके अधीन है, विषयके अधीन हैं, समाजके अधीन हैं, मन-इन्द्रियोंके अधीन हैं, शुभाशुभ कर्मके अधीन हैं—वे स्वाधीन कैसे कहला सकते हैं? जो काम-क्रोधादि शत्रुओंके अधीन हैं, अन्न-वस्त्रके अधीन हैं, विलास-वासनाके अधीन हैं, वे स्वाधीन कैसे हो सकते हैं? वास्तविक संन्यासीके लिये वेष-भूषाकी आवश्यकता नहीं, भोजनके लिये बाध्यता नहीं, कामना-वासनाका बन्धन नहीं—इसकी अपेक्षा स्वाधीनताका श्रेष्ठ आदर्श और क्या हो सकता है? जो सब प्रकारके बन्धन-से मुक्त है, वस्तुतः वे ही स्वतन्त्र हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रममें देह और मनका गठन, गृहस्थ-धर्ममें कतिपय कर्तव्योंका पालन और परम्परा या धाराकी रक्षा करना—ये सारी बातें नियम-तन्त्रके अधीन होनेके कारण इनके द्वारा मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास होता है। व्यक्ति-समूहसे ही समाज बनता है। व्यक्ति-समूह यदि नियमानुसार बर्तने लगे तो समाज स्वस्थ और सबल हो उठे। हिंदू-संस्कृति कभी यह शिक्षा नहीं देती कि स्वाधीनताका अर्थ अनधीनता है अर्थात् स्वेच्छाचारिता या क़ामाचार है। स्वेच्छाचारिताके द्वारा कभी कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। संन्यासी सर्वबन्धनमुक्त होनेपर भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते; उनके भी नियम है, संयम है। परंतु गृहस्थके समान वे नियमोंके अधीन नहीं हैं। नियम स्वभावतः उनका आश्रय लेते हैं।

---

not to be found. Liberty inheres in some sensible object and every nation has formed to itself some favourite point, which by way of eminence becomes the criterion of their happiness.

(*Conciliation with America*)

गृहस्थाश्रममें रहकर भगवत्-आराधना और पितृ-श्राद्धादि वैध कर्मोंके करते-करते चित्तमें जो अनासक्तिका भाव आता है, उसीसे वैयक्तिक स्वाधीनताका विकास संभव होता है। अतएव गृहस्थ-धर्मके लिये उपदेश देते हुए मनु कहते हैं—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥
(मनु० ४। १५९)

यद् यत् कर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद् यत्नतो वर्जयेत्। यद् यत् स्वाधीनदेहव्यापारसाध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद् यत्नतोऽनुतिष्ठेत्॥ (कुल्लूकभट्टकी टीका)

'जो-जो कर्म पराधीन अर्थात् दूसरोंकी प्रार्थनादिसे सिद्ध होते हैं, उन-उन कर्मोंको यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये, और जो कार्य स्वाधीन हैं, दैहिक व्यापारद्वारा सिद्ध हो सकते हैं, उन परमात्मज्ञान प्रभृति कार्योंका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्य-शिक्षाके द्वारा गृहस्थकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठाके लिये पद-पदपर उपदेश दिये गये हैं। क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ, सबके लिये कहा है कि 'जो सब भूतोंमें आत्माको देखते हैं तथा जिन्हें आत्मामें सब भूत उपलब्ध दीखते हैं, वही समदर्शी आत्मयाजी पुरुष स्वाराज्य-को प्राप्त होता है।' स्वाराज्यप्राप्तिका अर्थ यह है कि वह परमात्मा-के समान स्वतन्त्र और स्वाधीन भावको प्राप्त होता है।*

वर्णधर्ममें सामाजिक स्वातन्त्र्यके विकासके लिये सुविधा प्रदान की गयी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—प्रथमतः मनुष्य-जातिके इन चार प्राकृतिक विभागोंके द्वारा चार प्रधान एकाइयाँ (Units) की सृष्टि की गयी थी। जो कुछ ज्ञानसम्बन्धी कार्य था, वह सब ब्राह्मणोंके उत्तरदायित्व-पर निर्भर था। राष्ट्रकी रक्षा, पालनादिका समस्त उत्तरदायित्व क्षत्रियके ऊपर था। धनका आगम और वृद्धि तथा वाणिज्यादि कर्म वैश्यके हाथमें थे। शिल्प और सेवाका उत्तरदायित्व शूद्र जातिके ऊपर था। इनके बीचमें भी कितनी ही अवान्तर उपजातियोंका निर्माण कर श्रम-विभाग (Division of labour) के द्वारा विभिन्न जातियोंमें पारस्परिक प्रतियोगिता (Competition) का द्वार बंद कर दिया गया था। बल्कि समाजके विविध प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा प्रत्येक उपजाति (Unit) का जीविकोपार्जन एक ही समय एक ही कर्मके द्वारा सम्पन्न हो जाता था। कोई तेली, जुलाहा या सूत्रधार अपने निजी व्यवसायका स्वयं स्वामी था। उसकी स्वतन्त्रतामें कोई बाधा डालनेवाला न था। स्वयं मनुष्य जितना अधिक परिश्रम और योग्य कार्य करता, उतना ही वह अपना तथा समाजका उपकार करता।*

हिंदू-संस्कृतिमें प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक सम्प्रदायने इस प्रकार स्वाधीनताका उपभोग किया है, तथा आज भी किसी अंशमें कर रहा है। उसके साथ तुलना करनेपर वर्तमान रूसका नव-कल्पित सम्प्रदायवाद (Communism) म्लान हो जाता है। रूसके सम्प्रदायवादमें व्यक्तिगत स्वाधीनताके लिये स्थान नहीं है, तथा मुट्ठीभर व्यक्तियोंके द्वारा परिचालित स्टेटके अधीन शेष समस्त जनता दासके समान कार्य करनेके लिये बाध्य है। उनका व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। जबतक स्टेटके किसी प्रधान पदपर बैठनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, तबतक व्यक्तिका मूल्य चने-चबैनेके समान ही रहेगा। सम्प्रदायवादका मूल-मन्त्र है—समभावमें धन-विभाग, धनी और दरिद्रके वैषम्यको दूर करना।

हिंदू-संस्कृतिमें वर्णाश्रमधर्मके द्वारा धनी-दरिद्रके वैषम्य-को दूर करनेकी व्यवस्था भी पायी जाती है। समान वर्ण और समान कर्म करनेवालोंके बीच आदान-प्रदान, विवाहादि सम्बन्ध नियन्त्रित होनेके कारण एक ओर समस्त धनी और दूसरी ओर समस्त दरिद्रोंके दल नहीं हो सकते। एक ही सजातीय समाजमें धनी और दरिद्रका मिलना-जुलना होता है। धनियोंको माता-पिताके निधन, विवाह अथवा अन्यान्य संकट-कालमें दरिद्रोंकी सहायता प्राप्त करनी पड़ती है; अतएव उनका गर्व खर्व हो ही जाता है। धनीलोग कहीं विलासी-व्यसनी न हो जायँ, इसके लिये पूजा-पार्वण, श्राद्ध और विवाहमें

---

* सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
(मनु० १२। ९१)

× × × स्वे राज्ये भवं स्वाराज्यम् परमात्मवत् स्वतन्त्रः सम्पद्यते। (मेधातिथि-टीका)

यहाँ 'स्वाराज्य' स्वर्गराज्य-बोधक नहीं है, परंतु अविनश्वर स्वराज्यका बोधक है।

* मनुसंहितामें यन्त्रशिल्पको निन्दित कहा गया है और गृहशिल्पकी प्रशंसा की गयी है। पापोंकी सूचीमें 'महायन्त्र-प्रवर्तनम्' ('बड़ी-बड़ी मशीनोंका चलाना') भी एक पाप माना गया है। (अ० ११)

धनीका धन समाजके प्रत्येक स्तरमें वितरित हो जाय, इसकी सुव्यवस्था भी देखी जाती है। एक दिन युधिष्ठिरने नारदजीसे पूछा कि गृहस्थके धर्म क्या हैं? नारदजीने उत्तर दिया—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

'जितनेसे उदर-पूर्ति होती है, उतनेमें ही प्रत्येकका स्वत्व है। जो इससे अधिक सञ्चय करता जाता है, वह चोर और दण्डनीय है।' सम्प्रदायवाद (Communism) का चरम सिद्धान्त इसी एक श्लोकमें प्रकट कर दिया गया है।

हिंदू-संस्कृतिमें राष्ट्रके कल्याणकी आकाङ्क्षा कम नहीं थी। यजुर्वेदके अ० २२ मन्त्र २२ में एक प्रार्थना है—'हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्रमें यश और अध्ययनशील ब्राह्मण उत्पन्न हों; शूर, शरक्षेपपटु, शत्रुभेदकारी, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें दुग्धप्रदा धेनु, वहनशील वृषभ, तथा शीघ्रगति अश्व उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें पुरन्ध्री (जिसके पति-पुत्रादि जीवित हों) नारी तथा जयशील रथी उत्पन्न हों। इस यजमानके सभा-शोभाकारी, वीर, सामर्थ्यवान् पुत्र हों; हमारे इस राष्ट्रमें पर्जन्य हमारे इच्छानुसार वृष्टि प्रदान करें, ओषधियाँ (अन्न) फलवती होकर परिपक्व हों तथा राष्ट्रके योग-क्षेमका वहन करें।'

अश्वमेध, राजसूय प्रभृति यज्ञ जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, उनसे समस्त राष्ट्रके अभ्युदयकी सूचना मिलती है।

बहुतोंकी धारणा यह है कि 'स्वाधीनताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देश-प्रेम (Patriotism) को जानना और समझना आवश्यक है। पर प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें देश-प्रेमकी बात कहाँ सुनी जाती है?' कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'स्वाधीनता पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसका पता प्राचीन ऋषियोंको न था। वे लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको ही लेकर सन्तुष्ट थे।'

वस्तुतः भारत जबतक आर्यप्रज्ञामें प्रतिष्ठित था, तबतक किसी प्रकारकी पराधीनताका प्रश्न ही नहीं उठा। तथापि भारत-भूमिके सम्बन्धमें जो उनकी श्रद्धा थी, वह अत्यन्त उन्नत 'देश-प्रेम'का स्वरूप था। विष्णुपुराणमें कहा है कि 'जो लोग भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं। देवतालोग भी उनका कीर्तिगान करते हैं; क्योंकि भारत कर्मभूमि है—यहाँ जन्म ग्रहण करके ही स्वर्ग या अपवर्ग प्राप्त किया जाता है। देवताओंको भी अपवर्गकी प्राप्तिके लिये इस भारतमें ही आना पड़ेगा, अतएव भारतवासी स्वर्गके देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक भाग्यशाली हैं।'

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'यह भारत वैकुण्ठका प्राङ्गण है; यहाँ जो मानव जन्म ग्रहण करता है, वह कितना सौभाग्यशाली है! क्योंकि इससे उसे मुकुन्द-सेवा करनेका सुयोग प्राप्त होता है।'*

रामायणका यह प्रसिद्ध श्लोक है—

नेयं स्वर्णपुरी लङ्का रोचते मम लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

श्रीरामचन्द्र लङ्कामें रावण-वधके बाद अयोध्यामें लौटनेके लिये व्याकुल हैं, अतएव आग्रहपूर्वक कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण! यह स्वर्णपुरी लङ्का मुझे अच्छी नहीं लग रही है, क्योंकि जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी बढ़कर है।'

इसीका अनुवाद-सा करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानसमें लङ्का-विजय करके पुष्पक-विमानके द्वारा श्रीअयोध्या लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अयोध्याको देखकर सुग्रीव, विभीषण और अङ्गदादिसे कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

इसके अतिरिक्त यह भारत-भूमि देवताके रूपमें वेदमें भी पूजित हुई है। 'वही स्नेहमयी माता है। सबको अपनी गोदमें स्थान देती है'—यह अनेकों मन्त्रोंमें आया है। यही मन्त्रार्थ गीता और सप्तशतीमें प्रकाशित हुआ है।

जिनकी देशमातृकाने हृदयपर इस प्रकार अधिकार किया था, वे स्वाधीनताके मूल्यको नहीं समझते थे—यह कहनेसे वक्ताकी मूर्खता ही प्रकट होती है। स्वाधीनताके

---

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण २। ३। २४)

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

द्वारा मनुष्य सुखी होगा, केवल इसीलिये स्वाधीनताकी कामना होती है; अन्यथा स्वाधीनता प्राप्त करके भी यदि देशवासी निरन्तर दुःख-कष्ट ही भोग करें तो उससे आन्तरिक असन्तोष और क्रमशः अशान्ति ही उत्पन्न होती है। मनुने सुख-दुःखके लक्षणमें बतलाया है कि 'जो कुछ पराधीन है, वही दुःखप्रद है तथा जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है।' इसका तात्पर्य यही है कि स्वाधीनताके नामपर यदि परमुखापेक्षिता और परकीय संस्कृतिका अनुकरण अथवा अपनी संस्कृतिका विसर्जन हो तो विदेशी शासनके स्थानमें केवल देशी शासनका प्रतिष्ठित होना स्वाधीनताका आभासमात्र है, यथार्थ स्वाधीनता नहीं है; और ऐसी स्वाधीनतासे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

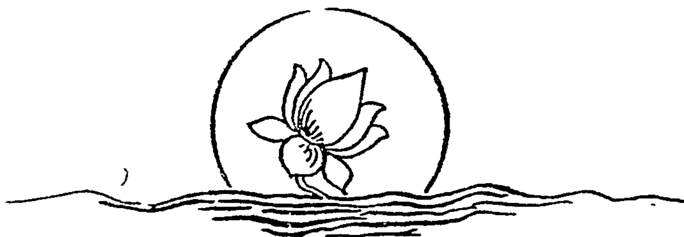
आज भारतकी भूमिसे दूर खड़े होकर बृटिशलोग इस हिंदू-संस्कृतिके विनाशकी बाट देख रहे हैं। बृटिशलोग स्वयं जिस कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हुए, आज भारतवासियोंके द्वारा वे उसी संस्कृति-विनाशके लिये चेष्टा कर रहे हैं।

एक ईसाई मिशनरीने प्रायः २५ वर्ष भारतमें वास करनेके पश्चात् सन् १९१७ ई० में एक पुस्तक लिखी थी। वह उस पुस्तकमें लिखते हैं कि 'बहुत दिनोंके बाद इंग्लैंडमें आकर पाश्चात्त्य धर्मनीतिके जाननेकी चेष्टा करके मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जर्मनी, अमेरिका, यहाँतक कि इंग्लैंडके भी धर्म-जगत्में हिंदूधर्म और दर्शनशास्त्रका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसका विनाशक प्रभाव इतनी दूर पहुँच गया है कि उसको समझानेके लिये मेरी अपेक्षा कई गुना अधिक बुद्धिमान् और विचक्षण लेखककी आवश्यकता है। इसका वर्तमान कालमें प्रभाव न होनेपर भी भविष्यमें जान पड़ता है कि यह ईसाई-मतका मूलोच्छेद कर डालेगा। अतएव इसका प्रतिरोध करना बहुत ही आवश्यक है।'*

महात्मा गांधीकी अहिंसानीतिको कार्यान्वित करनेके लिये जो चेष्टाएँ हो रही हैं, उनमें यथार्थ साधना—आत्मोन्नति या हिंदू-संस्कृतिविषयक शिक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती। हिंदू-संस्कृतिको विज्ञानके चरणतले लुण्ठित करनेकी मनोवृत्ति क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसका फल यही होगा कि भारतकी स्वाधीनता बाह्यरूपसे कुछ कालतक रहते हुए भी अन्तरकी पराधीनता क्रमशः जड़ पकड़ती जायगी और अन्तमें स्वाधीनताके नामपर स्वेच्छाचारिताका राज्य हो जायगा। प्रत्येक प्रान्त-उपप्रान्तमें लोभ और असंयम बढ़ेगा, और उसके साथ चित्तकी मलिनताके कारण प्रान्तीयता उत्पन्न होगी, और क्रमशः अन्तर्विप्लव अनिवार्य हो जायगा और अपनी स्वाधीनता विपद्में पड़ जायगी।

आज आवश्यकता यह है कि विज्ञानके ऊपर मानवताको प्रतिष्ठित करना, विज्ञानके ऊपर धर्मका स्थान निश्चित करना, विज्ञानको नियन्त्रित करनेके लिये लोगोंको परमार्थके अनुसन्धानमें लगाना। आज भारतका यही कर्तव्य है।

इस युगमें विज्ञान सर्वथा हेय नहीं माना जा सकता, यह सत्य है। पारस्परिक संघर्षसे बचनेके उद्देश्य भारतमें विज्ञानकौशल प्राप्त करनेके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है, इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। परंतु इसीके साथ-साथ मध्यमार्गको ढूँढ़ना होगा। एक ऐसी योजना बनानी होगी, जिसके द्वारा विज्ञानकी अनिष्टकारिता और इष्टकारिताकी तुलनात्मक समालोचना निष्पक्षभावसे की जाय तथा विज्ञानके विनाशात्मक प्रभावको नष्ट करनेके लिये शान्ति और सन्तोषके आदर्शको विश्वके सामने उपस्थित किया जाय। इस प्रकारके आदर्शका प्रचार और प्रसार होनेसे हिंदू-संस्कृतिका अत्युच्च आसन विश्वके दरबारमें प्रतिष्ठित होगा और परस्पर विवादमें लीन पाश्चात्त्य जातियाँ आत्म-विनाशरूप रोगकी ओषधिके रूपमें इस आदर्शको ग्रहण करनेके लिये बाध्य होंगी। यदि किसी दिन इस प्रकारका विश्व-कल्याण प्रतिष्ठित हो सका, तभी भारतकी स्वाधीनता सार्थक होगी।



* उड्फ-प्रणीत 'क्या भारत सभ्य है?' ग्रन्थसे उद्धृत।

हिंदू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या बी०ए०)

'संस्कृति' शब्दका उद्गम 'संस्कार' शब्दसे है। 'संस्कार'का अर्थ वह क्रिया है, जिससे वस्तुके मल (दोष) दूर होकर वह शुद्ध—सिद्धिसाधक बनती है।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।'

द्विजका अर्थ है दुबारा जन्म लिया हुआ—रूपान्तरित हुआ। बाइबलमे भी ईसामसीहका वाक्य आया है कि 'मै निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि जबतक मनुष्यका दुबारा जन्म न हो, वह परमात्माके राज्यका दर्शन नहीं कर सकता' (जॉन ३। ३)। यहाँ भी दुबारा जन्मसे तात्पर्य मृत्युके बादके पुनर्जन्मसे नही, किंतु इसी जन्ममे आत्माकी अवस्थाको सुधार देनेसे है; और 'परमात्माके राज्य'से तात्पर्य 'सत्य और पवित्रता'के उन दिव्य तथ्योसे है, जिनका आलोक अपनी निजकी अन्तरात्मासे ही प्रकट होता है। क्योकि ईसामसीहके अनुसार परमात्माका राज्य स्वयं तुम्हारे ही अंदर है (सेंट-ल्यूक १७। २१)। अतः संस्कृतिका अर्थ वह शिक्षा-दीक्षा है, जिससे मनुष्यका जीवन सुधरे। पुरातन अभ्यासों और आदतोको भी संस्कार कहते है—यथा जन्म-जन्मान्तरके संस्कार। अतः किसी देश या जातिकी संस्कृतिका अर्थ उस देश या जातिकी वे पुरानी आदते, प्रथाएँ, रहन-सहन आदि हैं, जो उस देश या जातिके मनुष्योका चरित्र-निर्माण करती हैं या उस निर्माणमे प्रभावशाली होती हैं।

सभी संस्कृतियोका लक्ष्य मानवात्माको उन्नत करनेका होता है। क्योकि सभी मानव मूलतः एव प्रकृतिसे सदृश है, अतः सभी देशो और जातियोकी संस्कृतियाँ कई अंशोमे सदृश पायी जाती है। लेकिन फिर भी देश, काल और पात्रकी परिस्थितियो एवं संस्कृतियोके प्रेरकों—निर्माताओं—के आदर्शकी विभिन्न अपेक्षाओके प्रति मुख्यता और गौणताके दृष्टि-भेदोके कारण विभिन्न देशो तथा जातियोकी संस्कृतियोमे कुछ विभिन्नताओ (विशेषताओ) का पाया जाना भी आश्चर्यजनक नही है।

हिंदू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार है—

(१) समस्त प्राणियोंके प्रति समानता और प्रेमका भाव—समस्त जीवोको अपने समान समझना तथा उनके प्रति प्रेम-भाव रखना और तदनुसार आचरण करना, यह हिंदू-संस्कृतिको छोड़कर और किसी संस्कृतिमे इतने पूर्ण और सच्चे रूपमे नही पाया जाता। यह हिंदू-संस्कृतिका प्राण है—यह सब हिंदुओकी नस-नसको, उनके दैनिक जीवनके पल-पलको प्रभावित करता रहता है। हम निस्संकोच यह कह सकते है कि इस विशेषतामे हिंदू-संस्कृतिकी अन्य सब विशेषताएँ गर्भित है—एकमात्र इसीको बतानेसे हिंदू-संस्कृतिका सारा और पूरा वर्णन हो जाता है।

(२) पुनर्जन्म तथा आशावाद—प्रत्येक आत्मा सभी जीवधारियोके स्वरूपोमे जन्म ले सकती है, यह विश्वास। यह ऊपर वर्णित भावनाका कि 'मेरी-जैसी ही आत्मा सबकी है और सबकी-जैसी ही मेरी आत्मा है' का कारण भी है तथा परिणाम भी। इससे यह भी फलित होता है कि 'मेरी आत्माकी अवस्था भूतकालमे अन्य जीवो-जैसी हुई है और भविष्यमे भी हो सकती है', और यह कि 'सभी जीव किसी-न-किसी समय मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी रहे हैं और रह सकते हैं।' इन सब बातोसे सब प्राणियोके प्रति समानता एवं प्रेम-भाव दृढ़ होता है। इनसे यह भी सूचित होता है कि जीवकी कोई अवस्था (योनि) शाश्वत नही है। हिंदू-धर्मके अनुसार परलोकमे अनन्तकालीन स्वर्ग या अनन्तकालीन नरक नहीं है—जीवके किसी जन्म या किन्ही जन्मोके पुण्य या पापमे ऐसी शक्ति नही है कि सदाके लिये उस जीवका भाग्य निश्चित कर दे। पुरुषार्थसे सुपथगामी होकर आत्मा उन्नत अवस्थाको प्राप्त कर सकती है तथा पतित होकर—कुपथगामी होकर अधःस्वरूपको भी धारण कर सकती है। इस तरह सर्वदा पुरुषार्थ, सत्प्रयत्न और आशाको प्रेरणा मिलती रहती है।

(३) ब्रह्मचर्य तथा काम-तत्त्व—ब्रह्मचर्यपर जितना जोर हिंदू-संस्कृतिने दिया है, उतना अन्य किसी संस्कृतिने नहीं। इसका कारण भी वही सब आत्माओकी समानतावाला सिद्धान्त है, अर्थात् यह विश्वास कि वस्तुतः आत्मा लिङ्गादिके भेदोके परे है, लिङ्गादि तो उसकी सांसारिक अवस्थाएँ है जो कि परिवर्तनशील हैं। लेकिन साथ ही साधारण मनुष्योकी योग्यताका खयाल रखते हुए काम-तत्त्वकी भी अवहेलना नही की गयी है, उसे परिमार्जित कर, धर्मके साथ संयुक्तकर, लौकिक तथा पारमार्थिक प्रयोजन—संयम एवं ब्रह्मचर्यके आदर्श—का साधन बना दिया गया है। इसीलिये गीतामे कामको, 'धर्मसे अविरुद्ध' कामको भगवान्-

का स्वरूप बताया गया है (१० । २८; ७ । ११)। विवाह-प्रथाका यह उद्देश्य है कि पति-पत्नी अपनी काम-वासनाको एक दूसरेमे सीमित करके सुसंयतरूपसे उसका उपयोग सुसन्तानोत्पत्तिके लिये पर्वदिनो आदिको छोड़कर ऋतुकाल-मे ही करे; क्योंकि धार्मिक समाजकी (अर्थात् धर्मकी) परम्परा सुसन्तानोके होनेसे ही चल सकती है। परंतु पति-पत्नीका सम्बन्ध केवल काम-वासनाके लिये नहीं है। वे धर्म और अर्थ दोनोमें परस्पर सहायक और सखा हैं; काम-सेवन तो इन दोनों सखाओका एक धर्म-कार्यके लिये विहित कालमे पवित्र भावनासे सम्मिलन है। और फिर एक पुत्रकी उत्पत्तिके बाद तो सन्तानोत्पत्तिका भी उतना प्रयोजन नही रहता; क्योंकि धर्मके लिये तो एक ही पुत्र पर्याप्त है (मनु० ९ । १०६-७) और उसके बाद 'आत्मा वै पुत्रनामासि'के अनुसार स्व-स्त्रीके प्रति भी पवित्र जायाभाव रखनेका संकेत है (मनु० ९ । ८)। काम-वासनाको भी इतना पवित्र तथा संयममय स्वरूप दे देना अन्य संस्कृतियोमें नहीं है।

(४) संयुक्त पारिवारिक जीवन—इसका भी उद्देश्य कुटुम्बके सब मनुष्योंको उनके धर्म, अर्थ और कामके साधनमे समुचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका अवसर देना और साथ ही पारस्परिक सहयोग देना है; क्योकि प्रधान उद्देश्य यही है कि प्रत्येककी आत्माको उसकी योग्यताके अनुसार पूर्ण विकासकी ओर अग्रसर करना। पारस्परिक सहयोगके लिये परस्परके प्रति आदरका भाव रक्खा गया है। यदि पुत्रके लिये 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' है, तो पिताके लिये भी 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' और 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्' है। यदि पत्नीके लिये उपदेश है कि वह पतिको देवता समझे, तो पतिके लिये भी यह है कि वह स्त्रीको देवीस्वरूपा तथा सखाके समान माने—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु० ३ । ५६)

'जहॉ नारियोकी पूजा की जाती है—उनका सम्मान किया जाता है,वहॉ देवताओंकी प्रीति होती है। जहॉ स्त्रियो-की पूजा नही की जाती, वहॉ सब काम निष्फल होते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
(मनु० ३ । ५७)

'जहॉ स्त्रियॉ दुःखित होती हैं—सतायी जाती है, वे कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जहॉ स्त्रियॉ दुःखमें नहीं होतीं, वहॉ सदा ऋद्धिकी वृद्धि होती रहती है।'

और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
(मनु० ३ । ६०)

'जिस कुलमें पत्नीसे पति प्रसन्न है और पतिसे पत्नी प्रसन्न है—दम्पति एक दूसरेको सन्तुष्ट रखते हैं—निश्चय जानो कि उस कुलमें कल्याणका सर्वदा निवास रहता है।'

इसी प्रकार भाई-बहिन और अन्य सगे-सम्बन्धियोंके भी प्रति बर्ताव किया जाता है।

(५) आश्रम-व्यवस्था—हिंदूकी दृष्टिमें जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, संग्रह नहीं, किंतु त्याग और परोपकार है। उसका जीवन धर्म-प्रधान है। अतः उसका प्रारम्भ धार्मिक शिक्षा और पवित्र रहन-सहन—ब्रह्मचर्याश्रमसे होता है। गृहस्थाश्रममें भी, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, वह 'त्यागमय भोग' का जीवन बिताता है तथा अन्तमे वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमोंमे पूर्णतः उच्चतर धर्मकी ओर लगता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमकी भित्ति ब्रह्मचर्याश्रम है तो उसका लक्ष्य वानप्रस्थाश्रम और संन्यास है। पुत्रकी इच्छा हिंदू इसीलिये करता है कि उसे गृहस्थाश्रमका भार सौंपकर स्वयं पूर्णतः उच्च धर्मकी ओर लग सके।

(६) वर्ण-भेद—Struggle for existence (जीवनके लिये संग्राम) नहीं, किंतु प्रतिस्पर्द्धाका अभाव हिंदू-संस्कृतिका ध्येय है; और इसीके एक उपाय-स्वरूप वर्ण-प्रथाका विधान है, जिसका मतलब है—सांसारिक सम्पत्तिके लिये अपने वर्ण और जातिकी यानी पैतृक आजीविकाको अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना और उसके द्वारा जो सम्पत्ति प्राप्त हो, उसे समाजमे वितरण करना। प्रायः मनुष्योंके लिये पैतृक व्यवसाय कितना उपयुक्त है और उसे अपनानेसे कितनी कठिनाइयों और अशान्तिसे त्राण हो जाता है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो वह क्या करे? इसका उत्तर यह है कि अर्थ-साधनके लिये वर्ण-प्रथाका नियम है, अहिंसा आदि धर्मोंके साधनके लिये नहीं। एक व्याध तथा एक जुलाहा भी तत्त्ववेत्ता और धर्मपरायण हो सकता है; परंतु आजीविका-के लिये वह अपने वर्णका उत्तम काम ही करे।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

अर्थात् 'स्त्री, भोजन और धनमें—अर्थ और काममें—सन्तोष करे; परंतु ज्ञान-साधनमें, उपासनामें और दान करनेमें सन्तोष-वृत्ति न रक्खे।' यहाँ भी प्रश्न किया जा सकता है कि धनमें सन्तोष रखनेसे अर्थात् अल्प-धन या धनाभावमें भी संतुष्ट रहनेसे धनके विना दान किस तरह किया जा सकेगा। इसका उत्तर है कि अभय-दान एवं ज्ञान-दान तथा अपनी आत्माको पापोंसे बचाकर उसकी दुर्गतिसे रक्षा करना—ये दान सबसे बढ़कर हैं और इनमें पैसेकी आवश्यकता नहीं है। धनका दान तो धनोपार्जनमें जो पाप होता है, उसके किञ्चित् प्रायश्चित्तस्वरूप है। इसके अतिरिक्त अपनी धनोपार्जनकी तृष्णाको कम करनेसे औरोंको धनोपार्जनका अधिकतर अवसर मिलता है—आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा कम होती है, यह भी दान ही है। इस प्रकार यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो सामाजिक कल्याण तथा आत्मकल्याण विशेषरूपसे करे; किंतु आजीविकाके लिये अपने वर्णानुसार कार्यसे ही सन्तुष्ट रहे। हिंदू-संस्कृति जहाँ एक ओर लौकिक आकाङ्क्षाएँ घटाकर पूर्ण अपरिग्रहकी ओर ले जाती है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्तिका शाश्वत भोक्ता—साक्षात् परमात्मा—बननेकी ओर प्रेरणा करती है।

(७) सादगी और शान्ति—ये हिंदू-संस्कृतिकी महान् विभूतियाँ हैं। इसके अनुसार जीवन (Standard of life) को उन्नत करनेका अर्थ आवश्यकताओंको—सांसारिक पदार्थोंके संग्रहको—बढ़ाना नहीं है; किंतु अपने नैतिक स्तरको ऊँचा करना है, अपने सुख और शान्तिको सांसारिक पदार्थोंसे स्वाधीन बनाना है। इसलिये वर्ण-प्रथामें अपरिग्रही एवं त्यागमय जीवनको—ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद दिया गया है।

आजीविकाके अनुसार वर्ण विभिन्न होनेपर भी वे सभी समाजके अङ्ग हैं और उनमें पारस्परिक प्रेम एवं बन्धुत्वका अभाव नहीं समझना चाहिये। यदि उपमाके तौरपर शूद्रवर्णकी उत्पत्ति परमात्माके चरणोंसे और ब्राह्मणवर्णकी मुखसे बतायी गयी है तो इससे यही सूचित होता है कि ब्राह्मणकी तरह शूद्र भी उसी देहका एक आवश्यक अङ्ग है। चैतन्यकी दृष्टिसे मुखमें और पैरमें क्या अन्तर है? और फिर उसी चरणसे गङ्गाजीकी भी तो उत्पत्ति है, उसी चरणको भक्तजन सबसे अधिक चाहते हैं, उसीसे तीर्थयात्रा होती है, जब कि मुखसे तो उच्छिष्टता भी आ जाती है। प्रजापति और मित्रावरुण तो पैरसे भी निकृष्टतर अङ्ग बताये गये हैं (भागवत २। १। ३२), तो क्या वे निकृष्ट हो गये? स्वयं विष्णु भी पादेन्द्रियके अभिमानी देवता हैं (भागवत ३। २६। ५८), तब पैरको अधम कैसे कह सकते हैं? अतः शूद्रोंकी श्रीचरणोंसे उत्पत्ति बताना उनकी अधमताका चिह्न नहीं है।

(८) सामाजिक जीवन—जितने त्यौहार हिंदू-संस्कृतिमें हैं, उतने अन्य किसी संस्कृतिमें नहीं हैं और उन सबका धर्मसे सम्बन्ध है। जहाँ हिंदूके लिये आत्मध्यानके लिये वनमें एकान्त-साधना है, वहाँ उसके त्यौहार और सामाजिक जीवन—

'सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै' तथा 'व्यशेम देवहितं यदायुः'

—के मूर्तिमान् उदाहरण हैं।

(९) मूर्ति-उपासना—अर्थात् अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अवाङ्मनसगोचर बताये गये निराकार ब्रह्मकी साकाररूपमें अवतारणा और धारणा करना—उसे भक्ति तथा साधन-सुलभ बनाना। तथाकथित एकेश्वरवादियोंकी ओरसे प्रायः यह निन्दा अथवा परिहासके ढंगसे कहा जाता है कि हिंदू तैंतीस करोड़ देवताओंको मानता है। लेकिन, क्योंकि परमात्मस्वरूप आत्मा सभीमें है, अतः सर्वमें परमात्मरूपकी भावना करनेवाले हिंदूके लिये देवताओंकी तैंतीस करोड़ संख्या भी बहुत कम है। वह तो जहाँ भी सौन्दर्य, पवित्रता, महानता देखेगा, वहीं परमात्माका दर्शन करना चाहेगा।

(१०) शौच—शरीरको अपवित्र मानते हुए भी उसके अशुचित्वको साक्षात् करनेके लिये तथा 'शुचित्व' के प्रति प्रेमको जगाकर परम शुचि आत्माका प्रेमी बनानेके लिये बाह्य शौचाचारका भी हिंदू-संस्कृतिमें विशेष विधान है।

संक्षेपमें हिंदू-संस्कृतिका मुख्य गुण विषमता, प्रतिस्पर्द्धा और अशान्तिको दूर कर समता, समानता और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना है और यही उसका गौरव और उसकी उपयोगिता है; और इसी महिमासे मण्डित होकर, आजकलके जगत्में और जबतक संसारमें दुःख है, अशान्ति है, भय है, तबतक एक माताके तौरपर, एक त्राताके तौरपर, हिंदू-संस्कृति अन्य सब संस्कृतियोंकी ओर निहार सकती है और निहारती रहेगी। माताके इसी गौरवकी रक्षा करना, अपने आपको इसका सुपात्र बनाना, यह प्रत्येक हिंदूका धर्म है।

हिंदू-धर्मके भेद

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

हमारे धर्मग्रन्थोंमें धर्मका विचार कई दृष्टियोंसे किया गया है। इन विविध विचारोंको एकत्रकर उनका समन्वय किया जा सकता है। धर्मका समग्र और अखण्ड रूप देखनेके लिये ऐसा करना आवश्यक है। हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें धर्मकी अनेकानेक परिभाषाएँ मिलती हैं; उनमेंसे चुनी हुई कुछ खास परिभाषाएँ यहाँ दी जाती हैं—

चोदनालक्षणार्थो धर्मः।

'भगवदाज्ञा धर्मका लक्षण है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय और आगे परम कल्याणकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका हनन करनेसे धर्म मारता है और धर्मकी रक्षा करनेसे वह रक्षा करता है।'

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।'

'धर्मस्तमनुगच्छति।'

'धर्म ही साथी है, जो मरनेपर भी पीछे-पीछे चलता है।'

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः॥

'धारण करनेवालेको धर्म कहते हैं, धर्म प्रजाको धारण करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंमेंसे अर्थ और कामकी लालसा, विशेषतः इस युगमें, इतनी प्रबल है कि लोग इस बातको भूल ही जाते हैं कि इस अर्थ और कामका मूल धर्म है। केवल अर्थ अथवा केवल कामोपभोग जीवनका कोई उदात्त उद्देश्य नहीं है। इनका त्याग न करे; पर इनका ग्रहण भी वहीं उचित है, जहाँ ये धर्मके विरुद्ध न हों—बल्कि धर्मसे ही प्राप्त हों। धर्मके विपरीत जहाँ अर्थ और कामको स्वार्थमय आसुरी उपायोंसे प्राप्त करनेमें जीवन लगाता है, वहाँ घृणा और द्वेष ही फैलते हैं।

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(वा० रा० अयो० २१। ५६-५७)

'धर्मसे प्राप्त होनेवाले सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म-अर्थ-कामरूप उपाय माने गये हैं, वे एक धर्ममें ही स्थित हैं, जैसे पतिके अधीन रहनेवाली स्त्री ही प्रियाचरण करनेवाली और सुपुत्रवती होती है। इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है। जिस कर्ममें तीनों पुरुषार्थ सन्निविष्ट न हों (पर एक धर्म हो) तो जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। (धर्मको छोड़) अर्थपरायण रहनेवाला पुरुष इस लोकमें द्वेष्य होता है। ऐसे ही कामपरायणकी कामात्मता भी निन्दनीय है।'

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

(गीता ७। ११)

भगवान् कहते हैं, 'मैं वही काम हूँ, जो धर्मके अनुकूल है।'

धर्मरहित काम, जो रावणरूपमें मूर्तिमान् है, कितना अनर्थकारी है—इसकी शिक्षा रामायणने, और धर्मरहित अर्थ, जो दुर्योधनरूपमें मूर्तिमान् है, कितना नाशकारी है—इसकी शिक्षा महाभारतने दी है। भागवतने यह बतलाया है कि अर्थ और काम पशु-जीवन हैं, मनुष्यको सदाचारके द्वारा इन दोनोंका नियन्त्रण कर पशुकोटिसे ऊपर उठना चाहिये। इससे भी ऊपर देवकोटिमें मनुष्य तब पहुँच सकता है, जब जीवका परम लक्ष्य—अर्थात् मोक्ष, ईश्वर-भक्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सतत उसके सामने रहे। इस लक्ष्यके सम्मुख होनेसे धर्म, अर्थ, कामका परस्पर-सम्बन्ध और फिर मोक्षके साथ उनका सम्बन्ध जान पड़ता है।

तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। ४५)

'तब—राजाके न रहनेपर—मनुष्योंका वर्णाश्रमाचारयुक्त वैदिक आर्यधर्म लुप्त हो जाता है; अर्थ-लोभ और कामवासनाके

विवश होकर लोग कुत्तों और बन्दरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं।'

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

(श्रीमद्भा० १। २। ९-१०)

'धर्मका फल है—संसारके बन्धनोंसे मुक्ति। उससे यदि कुछ सांसारिक सम्पत्ति उपार्जन कर ली तो यह कोई उसकी सफलता नहीं है। धनका फल है एकमात्र धर्मका अनुष्ठान; वह न करके यदि उससे कामोपभोगकी कुछ सामग्री इकट्ठी कर ली तो वह कोई लाभकी बात नहीं है। भोगकी सामग्रियोंका भी यह लाभ नहीं है कि इन्द्रियोंको तृप्त किया जाय; जितनेसे जीवन-निर्वाह हो, उतना ही भोग पर्याप्त है। जीवन-निर्वाहका भी यह फल नहीं है कि अनेक प्रकारके कर्मोंके पचड़ेमें पड़ा रहे। उसका लाभ तो यही है कि तत्त्व-जिज्ञासा हो और सत्यानुसन्धान करे।'

धर्मसे ही चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धिके विना भगवान्‌की ओर ले चलनेवाले कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्ति-योग और ज्ञानयोगके मार्गपर कोई चल नहीं सकता।

धर्मके कुछ अङ्गोंका निरूपण वर्णाश्रम-धर्मसे होता है। चातुर्वर्ण्यके मूलमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ होनेकी कोई भावना नहीं है, बल्कि श्रमविभाग तथा परस्पर आश्रयकी नींवपर यह एक बुद्धिसंगत स्थायी सामाजिक व्यवस्था है। १९२० में महात्मा गान्धीने अपने 'यंगइंडिया' पत्रमें लिखा था, 'चातुर्वर्ण्यके पीछे किसीके उद्दाम श्रेष्ठ होनेकी भावना नहीं है, बल्कि यह आत्मसंस्कृतिकी विभिन्न पद्धतियोंके आधारपर किया हुआ वर्गीकरण है। सामाजिक स्थैर्य और उत्कर्षकी यही सबसे अच्छी व्यवस्था बन सकती थी।······प्रत्येक वर्ण पवित्र जीवनके विशिष्ट मार्गपर चलनेवाले सब कुनबोंका एक समूह होता है।······आनुवंशिक परम्पराके सिद्धान्तमें इसकी निष्ठा होती है।······वर्णभेद उच्चता या नीचताका कोई संकेत नहीं करता। विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवालेके विभिन्न जीवन-मार्गोंका होना इसमें मान्य है।' अंग्रेजीका 'कास्ट' शब्द पुर्त्तगालसे आया हुआ है। उसके अर्थमें उच्च-नीचका भाव है। वर्णमें यह भाव नहीं है। प्रत्येक वर्णका अपना सहज धर्म होता है, उसको वर्णधर्म कहते हैं। आश्रमधर्म चार आश्रमोंसे सम्बन्ध रखता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये चार आश्रम हैं। आत्मज्ञानके मार्गमें ये चार पड़ाव हैं, इनमेंसे होते हुए मनुष्य सुगमताके साथ क्रमशः त्यागके द्वारा आत्मज्ञानके अधिकाधिक व्यापक क्षेत्रोंमें पहुँचता है।

धर्मका एक और वर्गीकरण है। इसमें नित्य और नैमित्तिक कर्म आते हैं। नित्यकर्म ये हैं—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने॥

'स्नान, सन्ध्योपासन तथा जप, होम, देवतार्चन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव—ये प्रतिदिन करनेके षट्कर्म हैं।'

नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो विशेष अवसरोंपर, जैसे अमावस्या एवं पूर्णिमाके दिन दर्शपूर्णमास आदि किये जाते हैं। काम्य कर्म वे हैं, जो विशेष-विशेष कामनाओंकी पूर्तिके लिये किये जाते हैं।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

(मनु० १। ११०)

'इस प्रकार मुनियोंने आचारसे धर्मकी प्राप्ति देखकर सब तपोंका परम मूल आचारको ही माना है।'

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥

(मनु० ४। १४६)

'नित्य शुभ आचरण करने और मनको वशमें रखनेवालोंका, जप और होम करनेवालोंका कभी पतन नहीं होता।'

धर्मका एक वर्गीकरण है, सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म, जो सबके लिये समान हैं, ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना—यह चारों वर्णोंके लिये समान धर्म मनुने बताये हैं।'

गौतमने अपने धर्मसूत्रोंमें सामान्य धर्मको इस प्रकार कहा है—

अथाष्टावात्मगुणाः। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति॥

(७। २०, २२)

'सब प्राणियोंपर दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता, अतिश्रमवर्जन, शुभमें प्रवृत्ति, दानशीलता और निर्लोभता—ये आठ आत्मगुण हैं।'

विशेष धर्म वे हैं, जो स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम आदिके भेदसे उत्पन्न होते हैं—जैसे स्त्रियोंका स्त्री-धर्म, पुरुषोंका पुरुष-धर्म। वर्णोंमें ब्राह्मण-धर्म आदि। आश्रमोंमें ब्रह्मचारि-धर्म, गृहस्थ-धर्म आदि।

गौतमादि स्मृतिकारोंने आत्मगुणोंके अतिरिक्त जीवनकी विशेष-विशेष अवस्थाओंमें करनेके विशेष-विशेष संस्कारोंका भी निर्देश किया है (गौतमधर्मसूत्र अ० ८)। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक ऐसे ४० संस्कार हैं। संस्कार उसे कहते हैं, जिससे दोष हटते हैं और गुणोंका उत्कर्ष होता है।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

(मनु० २ । २७-२८)

'गर्भको पवित्र करनेवाले होमसे, जातकर्म, चूड़ाकर्म, मौञ्जीबन्धन (उपनयन) आदि संस्कारोंसे द्विजोंके बैजिक (बीजसे आये हुए) और गार्भिक (गर्भजनित) दोष नष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम, वेदत्रयीका अध्ययन और तदनुकूल कर्म, देव-ऋषि-पितृ-तर्पण, प्रजोत्पादन, पञ्च महायज्ञ तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके द्वारा मानव-शरीर ब्राह्म अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका योग्य साधन बनता है।'

श्रीमत् शङ्कराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें कहते हैं—

संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा।

(१ । १ । ४)

अर्थात् 'जिसका संस्कार किया जाता है, उसमें गुणोंका आधान अथवा उसके दोषोंको दूर करनेके लिये जो कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते हैं।'

चालीस संस्कारोंमेंसे गृहस्थके २६ संस्कार हैं—पाँच महायज्ञ (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ), सात पाकयज्ञ (स्मार्त्त), सात हविर्यज्ञ (श्रौत) और सात सोमयज्ञ। इन यज्ञोंमेंसे बहुत थोड़े यज्ञ पीछे व्यवहारमें रह गये।

गौतम कहते हैं

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति। यस्मिंस्तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति।

अर्थात् 'जिसके ये चालीसों संस्कार हो चुके हों, पर जिसमें आठ आत्मगुण न हों, वह ब्रह्मका सायुज्य और सालोक्य नहीं पा सकता। परंतु जिसमें आठों आत्मगुण हों और संस्कारोंमेंसे जिसके केवल कुछ ही संस्कार हुए हों, वह ब्रह्मके साथ सायुज्य और सालोक्य प्राप्त कर सकता है।'

भगवान् मनु कहते हैं—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नास्ति संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

मानव-धर्मशास्त्रमें इस प्रकार सब प्राणियोंके प्रति प्रेम और जप, इन्हीं दोनों सिद्धि बतलायी है; चाहे और कुछ कोई करे या न करे। कुल्लूक भट्टने इस श्लोककी टीका करते हुए कहा है—

ब्राह्मणो जप्येनैव निस्सन्देहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति। अन्यद्वैदिकं करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणः ब्रह्मणः सम्बन्धी ब्रह्मणि लीयते इत्यागमेनोच्यते। मित्रमेव मैत्रः। स्वार्थेऽण्। यागादिषु पशुबीजादिवधात् सर्वप्राणिप्रियता संभवति तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा न तु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥

'ब्राह्मण जपसे ही निस्सन्देह सिद्धिलाभ करता है, मोक्ष-प्राप्तिके योग्य होता है। वह और कुछ वैदिक कर्म करे या न करे। कारण, मैत्र ब्राह्मण, ब्रह्मसम्बन्धी, ब्रह्ममें लीन होता है—यह आगमोंमें कहा है। यज्ञादिमें पशुबीजादिवध होनेके कारण उनकी सर्वप्राणिप्रियता सम्भावित नहीं है। अतः यागादिके बिना भी प्रणवादि जपमें निष्ठावाला पुरुष तर जाता है। यह जपकी प्रशंसा है—यागादिकोंका निषेध नहीं; क्योंकि यागादिक भी शास्त्रीय हैं।'

धर्मका और एक विभाग छान्दोग्य उपनिषद्में और भगवद्गीताके १८ वें अध्यायमें वर्णित है—यज्ञ, दान और तप। इन्हींमें ईश्वरके प्रति, मनुष्योंके प्रति और अपने प्रति सब कर्तव्य आ जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये पावन करनेवाले हैं। किसी भी अवस्थामें इनका त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि अहंतायुक्त फलासक्तिका त्याग कर इन्हें अवश्य करना चाहिये (गीता १८ । ५)। गीताके तृतीय अध्यायमें यह वर्णन आता है कि "यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्नकर प्रजापतिने उनसे कहा, इस यज्ञके द्वारा तुमलोग फूलो-फलो, यह तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला होगा। इससे देवताओंको प्रसन्न करो, देवता तुम्हें प्रसन्न करें; इस प्रकार परस्पर प्रीति लाभकर परमश्रेयको प्राप्त करो। यज्ञसे प्रसन्न होकर देवता इष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनके दिये हुए भोग उनका यजन किये बिना जो

स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञ करके जो शेष भाग ग्रहण करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होते हैं; जो अपने ही लिये पाक करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं।' (गीता ३। १०—१३)।

भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, उनकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार आपत्कालके आपद्धर्म हैं। उनके सम्बन्धमें यहाँ विस्तारसे लिखना सम्भव नहीं है। सामान्यतः ब्राह्मणके लिये षट्कर्मसे जीवन-निर्वाह करनेको कहा गया है। षट्कर्म हैं—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। गीतामें अन्य वर्णोंके लिये तो वृत्तियोंका वर्णन है, पर ब्राह्मणोंके लिये कुछ नहीं कहा गया है। समयके साथ वृत्तियोंके प्रकार बहुत बढ़ गये हैं और उनमें बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरणार्थ, पराशरस्मृतिमें कहा है कि 'षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्' (षट्कर्मके साथ ब्राह्मण कृषिकर्म भी करा सकता है)। (२।२)

स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः।
निर्वपेत् पञ्चयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत्॥

(पाराशर० २।६)

'स्वयं जोती हुई भूमिसे जो धान्य स्वयं अर्जित किया हुआ हो, उससे पञ्चयज्ञ करे और क्रतुदीक्षा भी कराये।'

गीताने वैश्योंके लिये केवल 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्' कहा, पर पाराशरस्मृतिने उसमें 'लाभकर्म' और 'रत्नकर्म' और जोड़ा है। शूद्रोंके लिये गीतामें केवल 'परिचर्यात्मक-कर्म' है, पर पाराशरस्मृतिमें—

लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः।
न दुष्येच्छूद्रजातीनां कुर्यात् सर्वेषु विक्रयम्॥

'लवण, मधु, तेल, दही, घी, दूध आदि बेचनेमें शूद्रोंके लिये कोई दोष नहीं माना है।' पीछे कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें शूद्रोंका वार्त्ता (कृषि, उद्योग और व्यापार) तथा कारुकुशीलवकर्म (कारीगरी और गाने बजानेके काम) में अधिकार माना है।

यह कहा जाता है कि कृतयुगमें मनुस्मृतिका तथा अन्य तीन युगोंमें यथाक्रम गौतम, शंख-लिखित और पाराशरस्मृतियोंका प्रामाण्य है। सामान्यतः मनुस्मृतिकी मान्यता ही सबसे अधिक है।

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥

× × × ×

मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

'मनुके अभिप्रायके विरुद्ध जो स्मृति होगी, वह न मानी जायगी।'

यद्वै किंचिन्मनुरवदत्तद्भेषजम्। (श्रुति)

'मनुने जो कुछ भी कहा है, वह औषध है।'

पाराशरस्मृतिका व्यवहार-प्रकरण लुप्त हो गया है, केवल आचार और प्रायश्चित्त-प्रकरण शेष हैं। ये सभी पुरातन स्मृतिग्रन्थ हैं और भारतवर्षमें सर्वत्र माने जाते हैं।

धर्मके मूल स्रोत वेद, वेदविदोंकी स्मृति और शील, सत्पुरुषोंके आचार और आत्मतुष्टि हैं; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २।६)

कुल्लूक भट्ट इस श्लोककी टीका करते हुए 'आत्मनस्तुष्टि' का अर्थ करते हैं—

साधूनां धार्मिकाणाम् आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थ-विषया धर्मे प्रमाणम्।

अर्थात् 'जिस विषयमें विकल्प हो, उस विषयमें सत्पुरुषोंकी आत्मतुष्टि धर्म-निर्णयमें प्रमाण है।'

विभिन्न धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और निबन्धग्रन्थोंका स्वरूप और कालक्रम-वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक एक ग्रन्थमें किया है। इन धर्मसूत्रादि ग्रन्थोंमें आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त-विषय वर्णित है। व्यवहार-प्रकरण अब बहुत कुछ कानूनों और न्यायालयोंके निर्णयोंद्वारा बदल गया है। प्रायश्चित्त-प्रकरण भी प्रार्थना, पूजा और भक्तिके प्रभावसे बहुत क्षीण हो गया है।

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां श्रीकृष्णानुस्मरणं परम्॥

'जो-जो तपःकर्मात्मक अशेष प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें सर्वोपरि प्रायश्चित्त श्रीकृष्णानुस्मरण है।'

वृत्तियोंके विषयमें तो बहुत परिवर्तन हो गया है। अस्पृश्यता प्रायः उठ ही गयी है। पर बहुत-से संस्कार, विशेषतः षट्कर्म, उपनयन, विवाह, तर्पण, श्राद्ध और संन्यास अभीतक जीवित हैं। विज्ञान और राष्ट्रवाद, समाजवाद और साम्यवादके इस युगमें आत्मगुणोंका, विशेषतः सत्य और अहिंसाका आग्रह महात्मा गांधीके द्वारा इतना बढ़ा—यह बात कभी भुलायी नहीं जा सकती। धर्म और मोक्षकी भावना भारतीयोंके हृदयमें इतनी बद्धमूल है कि वह न्यूनाधिकरूपमें सदा बनी रहेगी।

भारतीय धर्म-सम्प्रदायके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

भारतने धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रका गठन किया है । इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतवासियोंको धर्मविहीन होना चाहिये । इसका अर्थ है कि भारतकी राष्ट्र-शक्ति भारतके सर्व-सम्प्रदायोंके धर्मको निरपेक्ष दृष्टिसे देखेगी । किसी धर्मके प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि उसकी न होगी ।

जब भारतवर्ष विभिन्न धर्मोंका आश्रय स्थल है तो राष्ट्र-शक्तिकी इस प्रकारकी दृष्टि प्रशंसनीय ही है । भारतराष्ट्र जिस प्रकार हिंदुओंके मन्दिर तथा तीर्थ-महिमाकी रक्षा करेगा, उसी प्रकार मुसल्मानोंकी मस्जिदोंके प्रति भी श्रद्धावान् रहेगा । ईसाइयोंके गिरजो, बौद्धोंके विहार तथा सिक्खोंके गुरुद्वारोंकी वह समानभावसे रक्षा करेगा । इस प्रकारकी उदार और महान् हृदयशीलता भारतवासीके लिये ही सम्भव है ।

हम हिंदू हैं, अतः हिंदू-धर्मकी विशेषता और स्वतन्त्रताकी हम निश्चय ही रक्षा करेंगे । हमारी जातीय शिक्षाका आधार होगी भारतकी सनातन संस्कृति और ऐतिह्य । इस स्वधर्मकी रक्षामें अग्रसर होनेपर विभिन्न सम्प्रदायोंकी सृष्टि अनिवार्य है । इस क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताका नाम सुनते ही यदि राष्ट्र-शक्ति क्षुण्ण होती है, तो हमें कहना पड़ेगा कि इस प्रकारका राष्ट्रचक्र सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है । क्योंकि सम्प्रदायोंके न होनेपर भारत-की वैचित्र्यपूर्ण धर्म-भित्तिकी रक्षा कौन करेगा ? बङ्गालमें दुर्गोत्सव कौन करेगा ? कौन पिचकारी हाथमें लेकर होली खेलनेके लिये अग्रसर होगा ? शिवरात्रिको उपवास करके कौन सारी रात घंटा-घड़ियाल बजाता हुआ शिवपूजामें रत रहेगा ? सम्प्रदाय न रहनेपर ईद कौन मनावेगा ? बकरीदमें किसका चित्त उन्मत्त हो उठेगा ? मुहर्रममें झंडा उठाकर कौन जुलूसमें निकलेगा ? ईसाई सम्प्रदायके विना गुडफ्राइडे कौन मनावेगा ? क्रिसमस डे मनानेका अधिकार किसको होगा ? अतएव यह निश्चित है कि जबतक धर्म-वैचित्र्य रहेगा, तबतक सम्प्रदाय अवश्य रहेंगे । हम तो यह भी कहते हैं कि सम्प्रदाय अनादिकालसे चले आ रहे हैं, और अनन्त कालतक रहेंगे । अतएव साम्प्रदायिकताका नाम लेकर यदि राष्ट्र-शक्ति किसीको जिम्मेवार ठहराती है तो उसकी भ्रान्तिको दूर करनेके लिये सारे सम्प्रदायोंको सिर उठाना चाहिये और उसका प्रतिवाद करना चाहिये । हम इस शास्त्र-वाणीको सनातन-वाणीके रूपमें स्वीकार करते हैं कि—

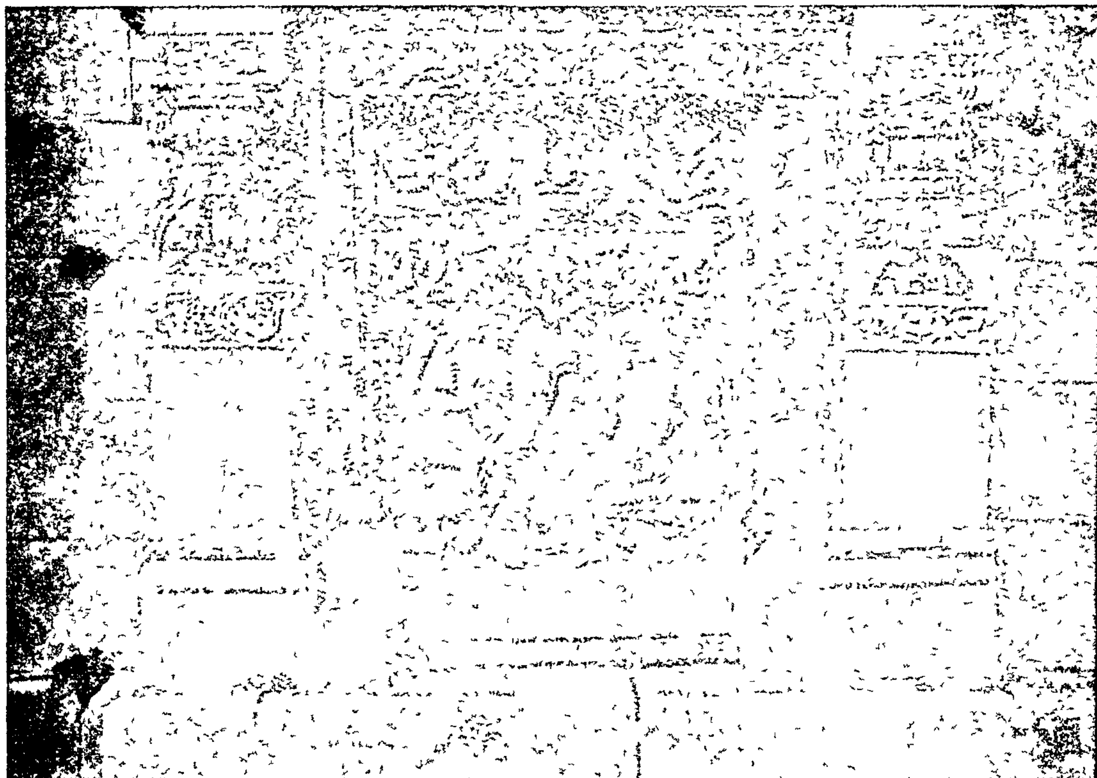
सम्प्रदायविहीना ये धर्मास्ते निष्फला मताः ।

'जो धर्म सम्प्रदायविहीन हैं, वे निष्फल मत हैं ।' राष्ट्र-शक्ति असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति रखते हुए भी भारतके इन समस्त (ईश्वरकी ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्गरूप) सम्प्रदायोंके महत्त्वकी रक्षा कर सकती है । यह बात अत्यन्त युक्तिपूर्ण है ।

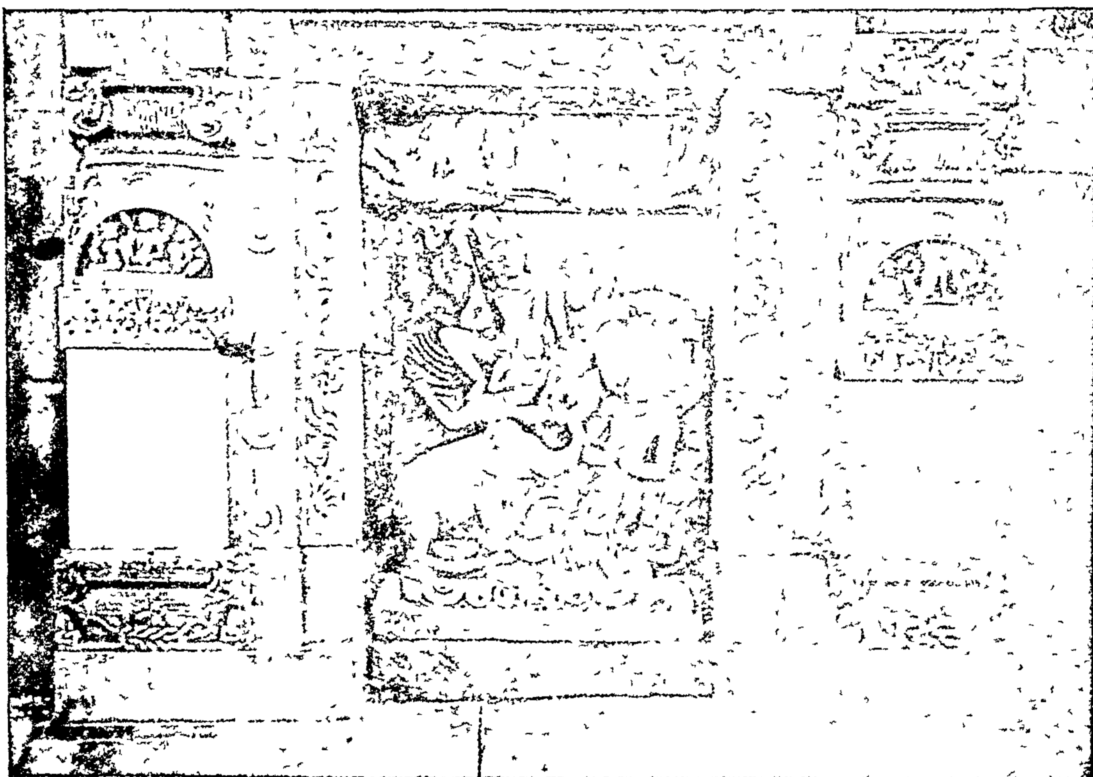
धर्मका लक्ष्य है—आत्माका अनुसंधान और मुक्ति । क्या विश्वमें इस प्रकारका मनुष्य आप खोज सकते हैं, जो आत्मचेतनाको अनुभव नहीं करना चाहता, प्राकृत द्वन्द्वोंको दूर कर मुक्ति प्राप्त करना नहीं चाहता ? और यदि सभी धर्मोंका उद्देश्य और लक्ष्य एक है तो धर्मको हम अभिन्न अद्वयवस्तुके रूपमें ही ग्रहण करेंगे । परंतु यह धर्मलाभ प्रकृतिभेदसे विभिन्न आचारका आश्रय लेकर होता है । और ये विभिन्न आचार ही सम्प्रदाय-भेद लाते हैं । जिसका लक्ष्य धर्म है, वह हिंदू हो तो भी मस्जिदको दूसरे सम्प्रदायकी धर्मसाधना-का क्षेत्र समझकर मर्यादा प्रदान करनेमें कुण्ठित न होगा । इसी प्रकार यदि कोई मुसल्मान या ईसाई पूर्णतः धर्मप्राण है तो वह भी हिंदूके मन्दिर और तीर्थको छोटी नजरसे नहीं देखेगा । खेद है कि आज मुसल्मान-ईसाई ही क्यों, हिंदू भी इतने संकीर्ण-हृदय हो गये हैं कि सम्प्रदाय-भेदसे परस्पर द्वेषभाव उत्पन्नकर मानवताका अपमान कर रहे हैं ! भारतकी राष्ट्रशक्ति यदि इस प्रकारकी विकृत साम्प्रदायिकताका प्रतिवाद करती है तो हमारे लिये आपत्तिका कोई कारण नहीं रह जाता ।

धर्म, कर्म और ज्ञान सापेक्ष हैं । कर्महीन धर्म अथवा ज्ञानविहीन धर्म जिस क्षेत्रमें आश्रय लेते हैं, उसी क्षेत्रमें उत्कट साम्प्रदायिक विद्वेषका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी होता है । इस्लामके अनुयायी यदि हिंदूको प्रतिमापूजक कहकर गाली देते हैं, और हिंदू यदि प्रतिमाशून्य मस्जिदमें मुसल्मानको पश्चिमाभिमुख खड़े होकर उपासनामें रत देखकर हँसते हैं, तो उन दोनोंको ही धर्मकी महिमाका पता नहीं है—यह मानना होगा । आज कर्म हो गया है स्वार्थसिद्धिका सेतु और ज्ञान हो गया है केवल पुस्तकीय विद्या । ईश्वरीय कर्म और ईश्वरीय ज्ञानसे वञ्चित होकर आज भूतलमें अधिकांश लोगोंने सच्चे धर्मको खोकर सम्प्रदायकी रचना की है । इस

नर-नारायण—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर

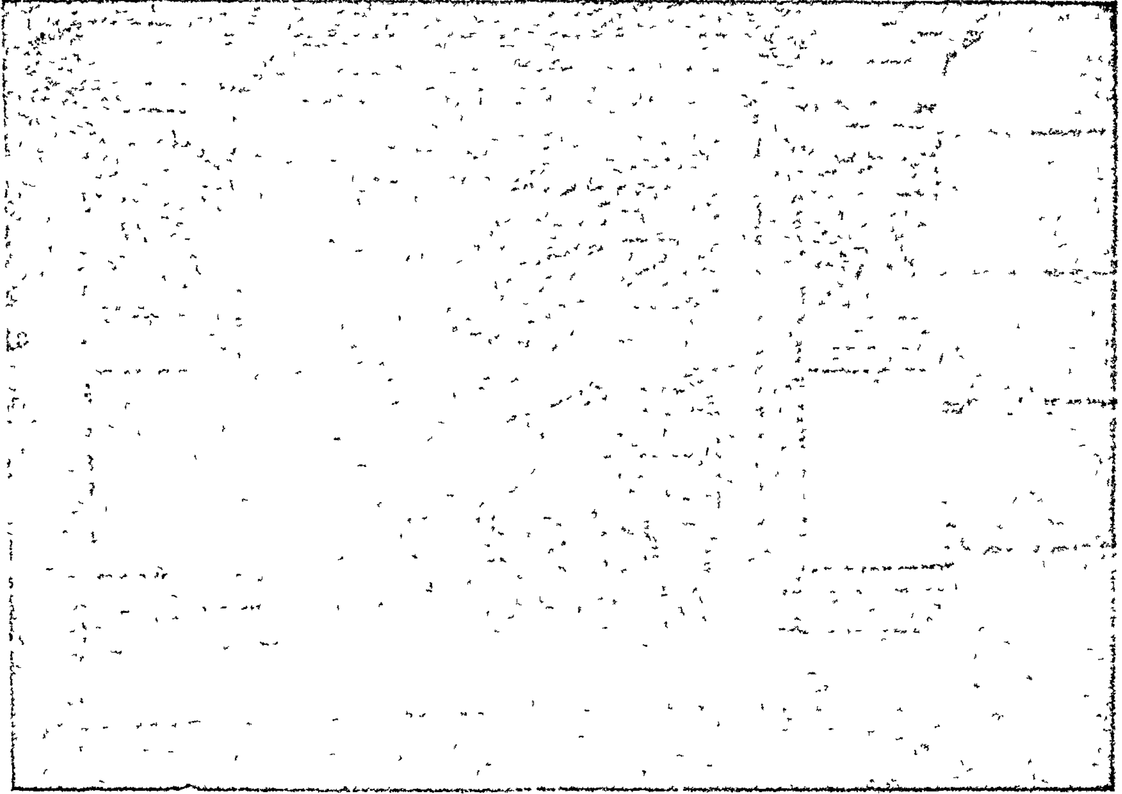


गजोद्धारका दृश्य—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर



[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

शेषशायी विष्णु—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर



अहल्योद्धार—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर



गुप्तकाल, लगभग ५ वीं शती] [भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

प्रकारके सम्प्रदायोको हेय समझकर अपनी जातिमे शुद्ध धार्मिक सम्प्रदायोंकी सृष्टि करनी होगी। भारतकी मुक्ति और अभ्युत्थान इसीके लिये हुआ है । राष्ट्र-शक्तिके धर्मनिरपेक्ष न होनेपर भारतके सब धर्मोको मर्यादा प्रदान करनेमें बाधा आती है । परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस देशमे सम्प्रदायका नाम-गन्ध नहीं रहेगा । भगवान् न करें कि कभी हमारी इस प्रकारकी दुर्बुद्धि हो !

हिंदू-जाति इन सारी बातोको अपने हृदयमे अनुभव करती है । इसी कारण उसने अपौरुषेय वेदका आश्रय लेकर स्मृति और न्यायके विधानको नतमस्तक होकर स्वीकार किया है । हिंदू धर्मको जानना चाहता है, पर अपनी कपोल-कल्पित बुद्धिके द्वारा नहीं । जो धर्म श्रुतिविरुद्ध है, जो धर्म युक्तिमूलक नहीं है, जो धर्म अनुभूतिके द्वारा ग्राह्य नहीं है, हिंदू उसे स्वीकार नहीं करता । हिंदू धर्मके लिये ही खोजता है ब्रह्मनिष्ठ गुरुको; मन्त्रका आश्रय लेकर वह भावको मूर्त बनाता है प्रतिमामें । यह तत्त्व पल्लवग्राही बुद्धिसे अवधारण नहीं किया जा सकता; इसी कारण अतीत कालमे एक श्रेणीके लोगोने परधर्मके प्रभावसे भारतीय धर्मके इस साधन-पर्यायको अस्वीकार करना चाहा था; किंतु भारतमे सनातनधर्मका अनुसरण करते हुए ही विष्णुयशकी जाति सब धर्मोंके माहात्म्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होगी। वेद-प्रसिद्ध वैध और निषिद्ध आचारका अतिक्रमण करके भी अनन्य चित्तसे ईश्वर-स्मरण सम्भव है, इसे हिंदू-जातिने स्वीकार किया है ।

भारतमे प्रचलित विधि-निषेधके मार्गके बाहर खड़ा होकर भी यदि कोई मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, तो वह भी भगवान्‌का मनुष्य है । जो मेरा आचार है, वह तुम्हारा नहीं भी हो सकता है । यहाँतक कि 'जो अत्यन्त दुराचारी है, वह भी ईश्वरपरायण हो सकता है'—यह भी घोषणा कर रहा है गीताका मन्त्र (९ । ३०) । 'केवल असाम्प्रदायिक बनो, साम्प्रदायिकता मत रक्खो,' यह कहनेसे ही मौलिक सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती । गीताके धर्मको हृदयके द्वारा ही ग्रहण और पालन करना होगा ।

हम भारतकी हिंदू-जाति हैं । हमे प्राप्त हुआ है सनातन-धर्म—सार्वजनीन धर्म । हमारा धर्ममत शाश्वत है, उदार और विराट् है, इसमे सारे धर्मो और सम्प्रदायोको स्थान है । ऐसा कोई खास आचार नहीं है, जिसका आश्रय न लेनेसे ईश्वरपरायण होनेमे बाधा पड़ती है । आचार-भेद है, इसी कारण सम्प्रदाय-भेद भी अनिवार्य है । इस बातको सबसे पहले भारतकी हिंदू-जातिने ही समझा था । केवल शास्त्र ही इसकी साक्षी नहीं देते। साधक रामप्रसादके गानमे भी हम देखते हैं—

'ओ रे मन, बलि भज काली, इच्छा हय तोर जे आचारे ।'

अर्थात् 'हे मन ! मै कहता हूँ—तुम कालीको भजो; फिर चाहे तुम्हारी जिस किसी भी आचारमे रहनेकी इच्छा हो ।'

आचारकी भिन्नतासे सम्प्रदायकी भिन्नता होगी ही; परतु जिस आचारमे मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, उसी आचारको भारतने स्वीकार कर लिया है । इसी स्वीकृतिके ऊपर असाम्प्रदायिक भारत राष्ट्रकी सुप्रतिष्ठा हो, यह मेरी कामना है ।

अपनी संस्कृति*

अपनी संस्कृतिका अभिमान,
करो सदा हिंदू-सन्तान ।
सब आदर्शोंकी वह खान,
नररत्नत्व करेगी दान ॥
अपनी चिरसंस्कृतिकी मूर्ति,
है मनुष्यताकी परिपूर्ति ।
प्राणरूप उसका पुरुषार्थ,
साधन करता है परमार्थ ॥
युग युगके सञ्चित संस्कार,
ऋषि-मुनियोंके उच्च विचार ।
धीरों, वीरोंके व्यवहार,
हैं निज-संस्कृतिके श्रृंगार ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

* 'हिंदू' नामक काव्यसे ।

हिंदू-संस्कृति और राष्ट्रियता

(लेखक—प० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

संस्कृतिका स्वरूप—बहुसंख्यक जनता या जाति एक ही प्रकारके संस्कारोंसे परिप्लुत होती है। ये संस्कार ही उस समूहको एक 'जाति' का नाम और रूप देते हैं। वस्तुतः एक-जैसे संस्कारोंके मूर्तरूपको ही संस्कृति कहते हैं, जिसकी व्यञ्जना वेष, भाषा, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदिसे होती है। चूँकि ये संस्कार परम्परारूपसे आते हैं, इसलिये एक संस्कृति माननेवालोंके पुरखे कभी भिन्न हो ही नहीं सकते। भारतमें रहनेवाले लोग चाहे जिस मत-मजहबको मानते हों, संस्कृति सबकी एक है। बौद्ध हों या वैदिक, जैन हों चाहे वैष्णव, सिक्ख हों चाहे ब्रह्मसमाजी, श्रीराम और श्रीकृष्णको अपना पूर्वज सब मानते हैं; भले ही वे अपने उन पूर्वजोंके जीवन-वृत्तोंको अपने मत-मजहबका रंग दें। इसलिये सब एक जातिके हैं, एक संस्कृतिके हैं। संस्कृति ही किसी जातिको दूसरी जातिसे पृथक करती है और संस्कृति ही राष्ट्र बनाती है। सुसंस्कृत और सुशासित देशको राष्ट्र कहते हैं। एक देश या एक राष्ट्रकी जनता एक 'जाति' है। उस जातिका जो स्वरूप है—जातीयता, उसीको 'राष्ट्रियता' कहते हैं। राष्ट्रियता ही किसी राष्ट्रका जीवन है, जो संस्कृतिका नामान्तरभर है। जिस देशसे उसकी अपनी संस्कृति, जातीयता या राष्ट्रियता नष्ट कर दी ज़ाय, वह (राष्ट्र) नष्ट हो जाता है। नष्ट होनेका मतलब यह कि उसकी आत्मा मर जाती है। 'राष्ट्र' के खोलमें दूसरे राष्ट्रकी आत्मा समा जाती है, उसका अपनापन नष्ट हो जाता है। वह निर्जीव हो जाता है। इसीलिये जब कोई धूर्त और प्रबल राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्रपर राजनैतिक विजय प्राप्त करता है, तो उस (विजय) को स्थायित्व देनेके लिये उस (विजित) राष्ट्रकी राष्ट्रियताको, उसकी संस्कृति या जातीयताको नष्ट करनेका उद्योग करता है। वह विदेशी शासक विजित राष्ट्रकी भावनाको बदलना चाहता है। उसके चिर-प्ररूढ संस्कारोंको वह कुचलता है। संस्कृतिका उपहास करता है। किसी भी देशकी जन-भाषा पूर्णतः बदली नहीं जा सकती; भाषाकी आत्मा 'क्रिया-पद' कभी भी कोई बलात् बदल नहीं सकता। इन (क्रिया-पदों) का तो पूर्ववर्ती भाषाओंसे विकास होता है। सो, विजेता जाति यहाँ परवश होती है। 'करता है,' 'पीता है' आदि क्रियाओंकी जगह फारसी या अरबी-अंग्रेजीकी क्रियाएँ नहीं चलायी जा सकतीं। सर्वनाम भी नहीं बदलते। यहाँ विवशता है। परंतु विजित राष्ट्रकी भाषामें विजेता विदेशी अपने देशके शब्द भरता है। अपनी लिपि भी वह विजित राष्ट्रपर थोपता है। वह विजित राष्ट्रकी भाषाको विकृत करके अपनी भाषाके शब्दोंसे भरकर अपनी ही लिपिमें लिखता है। राज्य-शक्तिके द्वारा इस तरह विजित राष्ट्रकी आत्माका हनन किया जाता है। इसी उद्योगका फल 'उर्दू ज़बान' है। अंग्रेजोंने भी 'रोमन' लिपिमें इस देशकी भाषा लिखनेकी प्रवृत्ति जाग्रत् की थी और फौजमें उसे 'रोमन हिंदुस्तानी' कहकर प्रचलित किया था। यह 'दूसरी उर्दू' समझिये, जो लश्कर (फौज) में दूसरे विजेताके द्वारा चलायी गयी। संस्कृतिका मूल आधार भाषा है। सो, जन-भाषाको विकृत करके, उसमें विदेशी शब्दोंद्वारा विदेशी तत्त्व भरकर विजित राष्ट्रकी संस्कृतिका समूलोच्छेद करना विजेताका मुख्य काम है।

हमारे देशने विजेताओंके ये प्रहार दृढ़ताके साथ सहे हैं, परंतु अपनी संस्कृतिको छोड़ा नहीं। यही कारण है कि वह सदा इससे अनुप्राणित रहा, उसे बल मिलता रहा और उसका अपनापन नष्ट नहीं हुआ। राजनैतिक स्वातन्त्र्य लाभ करनेमें सांस्कृतिक चेतना मूल कारण है। सन् १८५७का प्रथम स्वातन्त्र्य-समर मूलतः संस्कृतिसे जाग्रत् हुआ था। भारतने गौको माताके रूपमें देखा और माना है। यह राष्ट्रकी नींव है। हमारे ऋषियोंने बताया है कि यदि जीवन चाहते हो, तो गौमाताकी सेवा करो। इस (कृषक) देशका 'शिव' (कल्याण) एकमात्र वृषभपर है। यह भावना बद्धमूल होकर संस्काररूपसे हममें विद्यमान है। हम गौके लिये जान दे देते हैं—यह जानकर कि इसकी रक्षामें ही हमारी जातिकी रक्षा है। हम जिस रूपमें गौका सम्मान करते हैं, उसे देखकर मूर्खलोग हँसते हैं। परंतु वे नहीं समझते कि भावना भी कोई चीज होती है। तीन रंगोंके तीन कपड़ोंको जोड़कर बनाया गया तिरंगा झंडा क्या है? साधारण कपड़ा है। परंतु उसे हमने राष्ट्रियताका प्रतीक मान लिया है। इसकी प्रतिष्ठा राष्ट्रकी प्रतिष्ठा और इसका अपमान राष्ट्रका अपमान समझा जाता है। इसीलिये, इस

तिरंगे झंडेकी शान बनाये रखनेके लिये, आजतक लाखों भारतीय अपने प्राण दे चुके हैं। इसी बलिदानका फल है कि आज यह हमारी राष्ट्रियताका प्रतीक अपने सर्वोच्च स्थानपर गर्वके साथ फहरा रहा है।

इसी तरह इस राष्ट्रने गौको अपनी संस्कृतिका प्रतीक माना है। उसकी हत्याको हम राष्ट्रकी हत्या समझते हैं। जैन, वैष्णव, आर्यसमाजी आदि किसी भी मत-मजहबका भारतीय इस प्रतीकका समान सम्मान करता है। इसकी रक्षाके लिये ही सन् १८५७का वह तूफान उठा था। पर हम हार गये। जीतकर भी हार गये और फिर विदेशी शासनने हमें जबड़ोंमें कसकर दबा लिया।

फिर हमारे राष्ट्र-पितामह (लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर तिलक) ने जब राजनैतिक संघर्ष शुरू किया, तब उन्होंने भी उसे संस्कृति-मूलक ही रक्खा। जीवन ही संस्कृतिसे मिलता है। तिलकने महाराष्ट्रमें 'गणेश-उत्सव' तथा 'शिवाजी-उत्सव' प्रवर्तित किये, जिससे जनतामें पुनः अपनी संस्कृतिके प्रति ममता जागे और उसके लिये एक प्रबल संघर्ष हो, जिसका फल राजनैतिक स्वातन्त्र्य है। राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त होनेपर तो संस्कृतिकी रक्षा हो ही जाती है। तुर्किस्तानको जब अरब विजेताओंने दबाया, तो वहाँकी भाषा (तुर्की) में अरबी भाषाके अनन्त शब्द भर गये, भर दिये गये। अरबवालोंने अपनी लिपि भी वहाँ जारी कर दी। सदियोंकी पराधीनतामें तुर्कलोग अपनी लिपि भूल गये; क्योंकि वहाँ ऐसा कोई राष्ट्रवादी दल था नहीं, जो सब कुछ सहकर भी अपनी लिपि आदिकी रक्षा करता। परंतु भाषाको कौन बदले ? उसकी आत्मा (क्रिया, सर्वनाम आदि) कोई कैसे बदल सकता था ? जब तुर्किस्तान स्वतन्त्र हुआ और मजहबके भूत (खिलाफत) से उसकी जान छूटी, तो उसके तेजस्वी उद्धारक श्रीकमालपाशाने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया; क्योंकि वही राष्ट्रकी आत्मा है। अपना पुराना आचार-व्यवहार चालू किया। अरब देशके जो रीति-रिवाज आ गये थे, सब हटाये। तुर्की भाषासे अरबी शब्द छाँट-छाँटकर अलग किये गये। कमाल-पाशाने अपने नामका एक अंश भी बदल लिया था। 'पाशा' अरबी भाषाका शब्द है; इसलिये उस महान् तुर्क-नेताने अपना नाम 'कमाल अतातुर्क' कर लिया था। अरबी भाषामें नमाज पढ़ना तथा 'अजान' देना गैरकानूनी कर दिया गया। कुरान भी तुर्की भाषामें पढ़नेकी आज्ञा हुई। यह सब इसलिये किया गया कि तुर्किस्तानकी मूढ़ जनता 'अहले अरब' के प्रति कहीं मानसिक निष्ठा (वफादारी) न ग्रहण कर ले। यदि तुर्कोंमें अरबी भाषा तथा रीति-रिवाज आदिके प्रति सम्मानकी वैसी ही भावना बनी रहती, तो निःसन्देह उस देश (अरब) के प्रति उनका आकर्षण भी रहता और यह आकर्षण राष्ट्रियताका विघात करता। इसीलिये दूरदर्शी नेताने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया। आज तुर्किस्तानकी गिनती संसारके प्रबल राष्ट्रोंमें है। हाँ, तुर्कलोगोंने अरबी लिपि भी त्याग दी। अपनी लिपि वे भूल ही चुके थे। फलतः रोमन लिपि स्वीकार की। परंतु अरबी लिपि न रक्खी; क्योंकि वह विजेता राष्ट्रद्वारा जबर्दस्ती लादी चीज थी, गुलामीका प्रतीक थी।

तिलकके बाद महात्मा गांधीने राष्ट्रके सूत्रधारका पद लिया, जो अन्ततः 'राष्ट्रपिता' के पदसे सम्मानित हुए। महात्माजीने भी राजनीतिको संस्कृतिसे प्रभावित किया, संस्कृतिके बलसे उसे बढ़ाया। वे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिको 'रामराज्य' शब्दसे प्रकट करते थे। 'रामराज्य' ऐसा शब्द है, जो संस्कृतिकी व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करता। इस शब्दने सन् १९२१-२४ के उस आन्दोलनमें जादूका काम किया, जिसने इस देशकी राजनीतिमें कांग्रेसकी जड़ें एक बार पातालतक पहुँचा दीं।

कहनेका तात्पर्य यह कि अपनी संस्कृतिसे राजनीतिको बल मिलता है और संस्कृतिको विकृत करनेसे या नष्ट करनेसे राष्ट्र मृत हो जाता है। चीनमें बौद्ध, शिन्तो तथा मुसल्मान—ये तीन प्रधान मजहब हैं। परंतु वे तीनों मजहब एक चीनी जातिके हैं। जाति सबकी एक, संस्कृति या राष्ट्रियता सबकी एक। वहाँका बौद्ध भी 'चाङ् पूङ् नुन' और शिन्तो भी 'पाङ् काङ् चाङ्' तथा मुसलमान भी 'चाङ् चू तैह !' वहाँ न तो बौद्ध 'शीलभद्र' है और न मुसल्मान ही 'अल्लाबख्श' है। इसीलिये अखण्ड एकता है। वहाँ 'मजहब नहीं सिखाता आपसमें वैर रखना !' परंतु हमारे यहाँ जहाँ हिंदू और बौद्ध ज्ञानचन्द और ज्ञानभिक्षु हैं, एक बहुत बड़ा समुदाय कुछ और है। वह अरब तथा ईरानकी संस्कृति मानता है, भारतकी नहीं। वस्तुतः वह सात सौ वर्षसे यहाँ रहता हुआ भी 'हिंद-प्रवासी' अरबी या ईरानी आदि है। वह अपना नाम अरबी ढंगका रक्खेगा—अल्ला-बख्श !' यदि उससे कहो कि भारतीय भाषामें अपना नाम 'ईश्वरदत्त' क्यों नहीं रखते तो वह बिगड़ खड़ा होगा और

कहेगा कि हम अपना मजहब छोड़ दें ? उसे कौन समझाये कि 'ईश्वरदत्त' नाम रखनेसे मजहब न बिगड़ेगा ? चीनी मुसल्मानका मजहब क्यों नहीं बिगड़ जाता ?

सो, एक देशमें दो संस्कृतियाँ नहीं रह सकतीं। मजहबके नामपर भारतमें अरब तथा ईरानकी संस्कृति पाली-पोसी गयी और उसीने देशके टुकड़े कराये, लाखों जन कटवाये तथा स्त्री-बच्चोंकी वह दुर्दशा करायी। यदि संस्कृति-भेद न होता तो वह सब न होता। मजहब तो हिंदूजातिमें सैकड़ों-हजारों हैं; पर संस्कृति सबकी एक है। एक वैदिक ईश्वरवादीका मत मुसल्मानसे अधिक मिलता है, जैन मतकी अपेक्षा। परंतु वैदिक हिंदू जैनसे बन्धुत्व रखता है और मुसल्मानको 'पर' समझता है। क्यों ? इसीलिये कि उसकी संस्कृति (भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि) भारतीय नहीं, विदेशी है; अरब या ईरान आदिका सब कुछ है। मानो भारतीय कलेवरोंमें अरब-ईरानकी आत्माएँ घूम रही हैं ! तब हम उन्हें 'अपना' या 'भारतीय' कैसे समझें ? यदि वे सचमुच भारतीय बन जायँ, तो हमारे भाई हैं, भारतीय हैं। मत-मजहबके बारेमें हिंदूजाति बड़ी उदार है। चाहे जो मजहब मानो, चाहे न मानो। परंतु संस्कृति तो एक ही चाहिये न ?

हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति—अब प्रश्न यहाँ यह उठाया जायगा कि एक देशकी एक ही संस्कृति चाहिये, सो ठीक; पर वह कौन-सी संस्कृति हो ? इस देशमें तो वैदिक या ब्राह्मण-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, सिक्ख-संस्कृति, न जाने कितनी संस्कृतियाँ हैं। इनमेंसे कौन-सी रक्खी जाय? किसे किस तरह मिटाया जाय ? इसलिये, सबको मिलाकर एक नयी संस्कृति बनाओ, जिसे लोग 'इंडियन कलचर' कहने लगे हैं ! इसी 'इंडियन कलचर'को देशी नाममें 'सर्वोदय समाज' भी कहा जाता है। इसपर हमें विचार करना है।

वस्तुतः ये सब वितण्डावाद हैं। किसी देशकी संस्कृति बनायी नहीं जाती, स्वतः बनती है। इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसे समस्त संसार जानता है। समय-समयपर विजेता लोग अपने साथ विदेशी संस्कृतियोंकी लहरें लाये; जो भारतीय संस्कृतिके महासागरमें लीन हो गयीं। एक ही जाति विजेताके रूपमें ऐसी आयी, जिसने अपनी संस्कृति छोड़ी नहीं और उसके फलस्वरूप एकके दो देश हुए। वहाँ उस वर्गको अपनी संस्कृतिके साथ रहनेकी स्वतन्त्रता है। शेष भारतमें तो अब एक ही संस्कृति रहेगी, जो इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसका नाम 'हिंदू-संस्कृति' है। हिंदू-राष्ट्रका आधार हिंदू-संस्कृति ही है। यदि यहाँ अब भी कोई दूसरी संस्कृति है, तो उसे इसीमें विलीन हो जाना होगा। यह (भारतीय संस्कृति) भारतमें ही किसी दूसरी संस्कृतिमें न मिलेगी। नदीमें नाले मिलते हैं, नालोंमें नदी मिलने नहीं जाती। वे नाले नदीके रूप-रंगको प्रभावित कर सकते हैं, पर इसके नाम-रूपको बदल नहीं सकते।

अब हम हिंदू-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृतिके नाम-भेदपर विचार करेंगे। संस्कृति देश या जातिकी होती है, मत-मजहबकी नहीं—यह पीछे कहा गया। इस देशमें हिंदू-संस्कृति तथा मुस्लिम-संस्कृतिकी बात बहुत दिनोंसे चल रही है, जो वस्तुतः 'भारतीय संस्कृति' तथा विदेशी (अरब या ईरान आदिकी) संस्कृति समझिये। यदि ऐसा नहीं है, तो जहाँ-जहाँ इस्लाम है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र एक ही संस्कृति होनी चाहिये। पर ऐसा है नहीं। चीनके मुसल्मानकी चीनी संस्कृति है और अफगानिस्तानके मुसल्मानकी अफगान-संस्कृति। कबायली पठान भी अपनी अलग संस्कृतिका गर्व रखता है। हाँ, परतन्त्र भारतमें मुसल्मानोंने अरब तथा ईरानकी संस्कृति अपना ली थी। सो, भारतकी एक ही संस्कृति है, जो 'भारतीय संस्कृति' कहलाती है। भारतका नाम मुसल्मानोंने 'हिंदुस्तान' रक्खा, यहाँकी जनताको 'हिंदू' कहा। तब यहाँकी संस्कृति भी 'हिंदू-संस्कृति' कहलाने लगी। यानी 'भारतीय संस्कृति'का ही दूसरा नाम 'हिंदू-संस्कृति' है।

'बौद्ध-संस्कृति' का भी ढिंढोरा पीटा जाता है। पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने 'बौद्ध-संस्कृति'का राग अलापना शुरू किया। वस्तुतः 'बौद्ध दर्शन' है, 'बौद्ध मत' है; पर बौद्ध-संस्कृति-जैसी कोई चीज नहीं है। चीन, जापान, स्याम तथा लंका आदि देशोंकी जनता प्रायः बौद्ध है। इस दृष्टिसे इन सभी देशोंकी संस्कृति एक होनी चाहिये; परंतु ऐसा नहीं है। उन सभी बौद्ध देशोंकी संस्कृति पृथक्-पृथक् है। पृथक् जाति, पृथक् संस्कृति, जो पृथक् देश बनाती है। इसी तरह 'सिक्ख-संस्कृति'की बात है। सिक्खोंका रहन-सहन, नाम-संस्कार, रीति-रिवाज आदि सब हिंदू-जातिके हैं। मजहब अलग होनेसे संस्कृति अलग कैसे हो सकती है ? कोई भी सिक्ख अपने लड़केका नाम 'रामसिंह', 'गंगासिंह' आदि न रखकर 'हुसेन-बख्श' या 'खुदा शेर' आदि न रक्खेगा। सिक्ख भारतीय जातिके अङ्ग हैं। उनकी संस्कृति पृथक् कैसे होगी ?

वस्तुतः एक देश (भारत) में इस तरह अनेक संस्कृतियोंकी कल्पना अंग्रेजोंने खड़ी की फूट डालनेके लिये। उन्हींसे 'मुस्लिम-संस्कृति'के नामपर देशद्रोहियोंको मदद मिली। दो संस्कृतियोंसे दो राष्ट्र! विभाजन हुआ! बिल्ली-बॉटमें बन्दर मजे करता है।

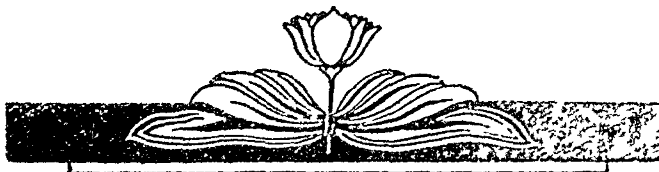
संस्कृति और राजनीतिका अच्छेद्य सम्बन्ध है, यह हम कह चुके हैं। संस्कृतिसे राजनीति प्रभावित होती है। संस्कृतिके बलपर राजनीति चलती है। किसी भी देशकी राजनीतिमें शक्ति उन्हींके पास रहेगी, जो संस्कृतिको बल देंगे। जो लोग अपनी संस्कृति छोड़कर राजनीतिका महल खड़ा करेंगे, उनका वह महल नींवरहित होनेसे ढह जायगा। इसीलिये सदा विजेतालोग विजित राष्ट्रकी संस्कृतिको विकृत या नष्ट करनेका उद्योग करते हैं, जिससे वे चिरकालतक राज-सुख भोग सकें।

अरब तथा ईरान आदिकी संस्कृति यहाँ फैलानेका यही उद्देश्य था। उस अन्धकारके युगमें गोस्वामी तुलसीदास-जैसे संतोंकी वाणीने जातिको बड़ा बल दिया। जाति रामको अपनी संस्कृतिका आदर्श मानकर दृढ़ हुई। आदर्श सदा सामने रहे, इसलिये अभिवादनमें 'जय राम' चलाया गया। इसके उत्तरमें विदेशी शासकोंने उस समयके 'शिक्षित' जनोंमें अपने हाकिमोंद्वारा 'बंदगी' चलायी। अब भी गाँवोंमें 'मुंशीजी! बंदगी' आप सुन सकते हैं। परंतु मुंशीजीको 'बंदगी' करके भी आपसमें 'जय रामजीकी' ही रही। राजा मानसिंह आदि 'बंदगी' पक्षके थे और महाराणा प्रताप-जैसे लोग 'जय रामजी' वाले। फिर तो महाराष्ट्रमें 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ'का नाद करनेवाले समर्थ गुरु रामदासने जादू भर दिया। रामकी जय हुई और बंदगीकी गंदगी उड़ गयी। 'जय रामजीकी' कहनेमें अपनी संस्कृतिकी मूर्ति सामने आ जाती है। इसे 'बंदगी' उड़ाने आयी थी। 'बंदगी' लेनेवाले विदेशी संस्कृतिमें डूबे हुए थे।

अंग्रेजी राज्यने अंग्रेजी भाषा तथा ईसाइयोंने प्रचारद्वारा हमारी संस्कृतिको उड़ाना चाहा। बहुत जोर लगाया गया; परंतु लोक-जागरणने उस बलको परास्त कर दिया।

फिर भी विदेशी चक्र घूमता रहा, अबतक घूम रहा है, यद्यपि वेग मन्दा पड़ता जा रहा है। दण्ड-भङ्ग हो गया है। फिर भी, उधरके लोग हताश नहीं हुए हैं। नेताजीने सेनामें बिजली भरनेके लिये 'जय हिन्द' फौजी अभिवादन चालू किया था। उनकी फौजमें मुसलमान, ईसाई आदि सभी थे। उस सैनिक अभिवादनको उन लोगोंने नागरिक (सिविल) अभिवादनका रूप दे दिया, जिन्होंने नेताजीकी नीति कभी नहीं अपनायी और जिनका उनसे सदा 'मौलिक मतभेद' रहा। 'जय हिन्द' जारी होनेपर भी 'जय रामजी'की सर्वोपरि है। 'जय राम'में 'जय हिन्द' भी समाया हुआ है; पर 'जय हिन्द'में वह पितृ-भक्ति, वह भ्रातृ-वात्सल्य आदि कहाँ है? इसका मतलब यही कि देश अपनी चीज समझता है।

संस्कृति और राज्य—किसी राज्यका सम्बन्ध मत-मजहबसे न हो, इसीको धर्म-निरपेक्ष राज्य कहते हैं। परंतु कोई भी राज्य संस्कृति-शून्य होकर नहीं रह सकता। सांस्कृतिक आधारपर स्थित राज्य ही सुदृढ़, अजेय तथा सुख-समृद्धिसे पूर्ण हो सकता है। जिस देशका राजशासन अपने सांस्कृतिक महत्त्वकी उपेक्षा करेगा, अपनी संस्कृतिको सर्वोपरि महत्त्व न देगा, उसकी नींव बालूपर ही समझनी चाहिये। कारण, संसारकी और सब चीजें बदलती रहती हैं, पर किसी जातिके संस्कार या भावनाएँ कोई कैसे बदल सकता है? चतुर राजनीतिज्ञ इस बातको अच्छी तरह समझते हैं। यही कारण है कि मि० मुहम्मद अली जिन्नाने मुसलमानोंकी पृथक् संस्कृतिपर उतना जोर दिया था और उसीपर वे बराबर पचीस-तीस वर्षतक जोर देते रहे। यही (सांस्कृतिक पृथक्त्व) उनकी सफलताका और हमारी दुर्दशाका रहस्य है। दुःख तो इस बातका है कि यह बात हम अभीतक अच्छी तरह समझे नहीं हैं!



धर्म और संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

धर्म और संस्कृति वास्तवमें एक ही वस्तुके दो नाम हैं। आजकल बहुधा कई चोटीके नेता एकाधिक बार यह कहते सुने गये हैं कि भारतमें धर्म अनेक रह सकते हैं पर संस्कृति एक ही रहेगी। और वह भारतीय संस्कृति होगी। हम नहीं समझते वे संस्कृतिका क्या अर्थ करते हैं; न कभी उन्होंने अबतक संस्कृतिकी कभी कोई अपनी खास व्याख्या ही जनताके सामने की है। उनके मनमें उसका क्या स्वरूप है, इसे वे ही जानते हैं। जनता अबतक उनके 'संस्कृति' शब्दके तात्पर्यावगाहनमें असमर्थ ही रही है और है।

वास्तवमें 'संस्कृति' शब्द ही आधुनिक विद्वानोंके माथेकी उपज है, सो शायद अंग्रेजीके 'कल्चर' (culture) शब्दका प्रतिनिधि है। भारतीय प्राचीन विद्वानोंने 'संस्कार' शब्दका प्रयोग अवश्य किया है जो कि संस्कृत-व्याकरणके अनुसार 'संस्कृति' शब्दका समानार्थक है। यदि इसी अर्थमें वे 'संस्कृति' शब्दको ग्रहण करते हों तो फिर किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

तब हमें भारतीय प्राचीन महर्षियोंकी एतद्विषयक विचारधारा समझनी होगी। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌ने सृष्टि रचनेके पहले सृष्टिके प्राणियोंकी ऐहिक और आमुष्मिक उन्नतिका मूल तथा मोक्षप्राप्तिका साधनभूत त्रिकालाबाधित ज्ञानराशि वेद, जो भगवान्‌का श्वास-प्रश्वास है और जो नित्य है, प्रकट किया और उसके आधारपर जगत्‌की रचना पूर्वकल्पानुसार की।

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

'भगवान्‌ने वेदशब्दोंके आधारपर जगत्‌की रचना की और उसके अन्तर्भूत विविध प्राणियोंका (देव, तिर्यक्, मनुष्य, पशु, पक्षी, अश्व, गौ, वृषभ आदि) नाम तथा पृथक्-पृथक् वर्णोंके कर्म एवं संस्था (लौकिकी व्यवस्था) निर्धारित की।' तात्पर्य यह कि भारतकी संस्कृति वेदमूलक है। वेदबाह्य जो संस्कृति (संस्कार) है, वह अभारतीय है। वेद धर्मका मूल है। वेदमूलक स्मृति, सदाचार ही धर्ममें प्रमाण हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

'सम्पूर्ण धर्मका मूल वेद है। वेद जाननेवालोंकी स्मृति तथा शील (ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्ति, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयुता, मृदुता, अपारुष्य, मित्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशान्ति—यह तेरह प्रकारका शील) तथा वेदज्ञोंका आचार तथा वेदके वैकल्पिक विषयोंमें साधुओंकी आत्मतुष्टि ही धर्म है।' अर्थात् वेदमूलक स्मृति, पुराण, इतिहास आदि द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है; तद्विपरीत आधुनिक जितनी भी वेदबाह्य स्मृतियाँ तथा कल्पनाएँ हैं, वे निष्फल, मिथ्या तथा तमोमय एवं अकल्याणकारक हैं—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
(मनु०)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥
(मनु०)

अर्वाचीन होनेके कारण वेदसे विपरीत जो शास्त्र हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वे सब निष्फल हैं और मिथ्या हैं। इसलिये वेदको छोड़कर सन्मार्गदर्शक संसारमें अन्य कोई शास्त्र हो ही नहीं सकता। ये भारतीयोंके प्राचीन संस्कार हैं। वेदके अनुसार चार वर्ण, तीनों लोक, चार आश्रम—विशेष क्या, जो भी भूत, भविष्य, वर्तमान है, सब वेदसे ही सिद्ध होते हैं—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

यह सही है जब कोई कारीगर किसी मकानको बनाना चाहता है तो पहले उसके नामकी, पीछे स्थान तथा उसके उपयोगकी अपने मनमें कल्पना करता है। फिर उसको प्रत्यक्ष रूप देता है। यही नियम सृष्टिकर्ताके लिये भी लागू है। उसने अपनी सृष्टिके निर्माणकी इच्छा की (स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय)। फिर सबके नाम-रूप, जो त्रिकाल-नित्य वेदमें निहित थे, पूर्वकल्पके अनुसार प्रकट किये और सब प्रकारके प्राणियोंके हिंस्र, अहिंस्र, मृदु, क्रूर कर्म नियत

किये । प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, जिसके जीवनका अन्तिम लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है, उत्पन्न किया—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

मानवको अपने पूर्वकर्मानुसार चार वर्णोंमे विभक्त किया । सबके लिये मोक्षप्राप्तिके साधन अपने पृथक्-पृथक् कर्मका निर्देश किया, जिसको करते हुए—लोक-दृष्टिमें नीच-से-नीच कर्म करते हुए भी मनुष्य एक त्यागी, तपस्वी, संन्यासी, परमहंस महात्माकी तरह समान रूपसे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं । यह है हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति ! भारतीय संस्कृति वेदमूलक धर्मके अनुसार आचरणके आधार-पर बनी हुई है । इसमें स्त्री-पुरुष, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, राजा-प्रजा और स्वामी-सेवक आदि विविध अधिकारियोंके विविध कर्म नियत हैं, जिनको परमात्माकी आज्ञा मानकर करता हुआ, परमात्माका स्मरण करता हुआ प्रत्येक अधिकारी निर्विशेषरूपसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है (मामनुस्मर युध्य च) ।

इन्हीं कर्तव्योंके आधारपर बनी हुई भारतकी समस्त संस्कृति है । उसीके अनुसार मनुष्योंने जिस साहित्य, सङ्गीत, दर्शन, कला, मनोरञ्जन, रहन-सहन और वेष-भूषाकी सृष्टि की है—जिसको आजकल विद्वान् 'संस्कृति' कहते हैं—वही भारतीय संस्कृति है । लोग जो यह कहते हैं 'भारतमें एक ही संस्कृति रहेगी और रहनी चाहिये' सो उनकी यह बात तो समझमें आती है; परंतु साथ ही वे जो यह कहते हैं कि 'धर्म भले ही भिन्न-भिन्न हो'—यह समझमें नहीं आता; क्योंकि धर्म और संस्कृतिमें कोई मौलिक भेद देखनेमें नहीं आता । भारतमें जो विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित हैं—यहाँतक कि बौद्ध, जैन आदि वेद-विरोधी कहे जानेवाले धर्म या संस्कृतियाँ भी मूलतः वेदमूलक ही हैं । यह इनके आदि आचार्योंके चरित्रोंसे स्पष्ट हो जाता है । इसीलिये श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें उनको भगवान्‌का अवतार माना है । भला, कहीं वेदविरोधी कोई भगवान् कभी हो सकता है ? भगवान् बुद्धके लिये शास्त्र कहता है—'सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।' भक्त जयदेव कहते हैं,—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शितपशुघातम् ।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे ।

राक्षसी प्रवृत्तिके पुरुषोंकी यज्ञमें अश्रद्धा करानेके लिये भगवान् बुद्धको प्रयोजनवश वेदकी भी निन्दा करनी पड़ी । जैनियोंके आदिगुरु भगवान् ऋषभदेवके बारेमें श्रीमद्भागवतमें व्यासजी कहते हैं—

'इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणम् । परममहामंगलायनमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेवे एकान्ततो भक्तिरनयोः समनुवर्तते ।'

जिनके चरित्रको सुनने, एवं वर्णन करनेसे भगवान् वासुदेवमें वक्ता-श्रोताकी अविचल भक्ति होती है—जिन्हें ब्राह्मण, गौ और लोकका परम गुरु कहा गया है, जिनका चरित्रश्रवण समस्त पापोंका नाश करनेवाला माना गया है, वे क्या वेदविरोधी हो सकते हैं ?

महाभारतमें कर्ण और शल्यका आपसमें कटाक्षपूर्ण सवाद पढ़नेसे यह ज्ञात होता है कि मद्र, गन्धार, वाह्लीक आदि देश जो सिन्धकी सीमासे सटे हुए हैं, वहाँके मनुष्योंमें आजसे पाँच हजार वर्ष पहले ही वर्ण-व्यवस्था ढीली पड़ चुकी थी ।

महाराज मनु कहते हैं, 'धीरे-धीरे ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये क्षत्रिय जातियाँ वृषल, धर्महीन या दस्यु हो गयीं ।'

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदा पह्लवाश्चीना किराता दरदाः खशाः ॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥
(मनु०)

'धीरे-धीरे क्रियाका लोप होनेसे, ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये सब क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गयीं । जैसे पौण्ड्र, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, दरद, खश आदि चार वर्णोंसे रहित जो जाति हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषा-भाषी हों, चाहे आर्य भाषा-भाषी, सब दस्यु हैं ।'

समस्त भूमण्डलमें यह आर्य व्यवस्था फैली हुई थी,

रहे। औरंगजेबने तो इस नियमका उल्लङ्घन करके मुस्लिम-राज्यका उन्मूलन ही कर दिया। अंग्रेजोंके डेढ़ सौ वर्षके राज्यकालमें ऊपरसे इस नियमका पालन किया गया; परंतु उन्होंने अपनी शिक्षामें वह विष भर दिया, जिससे भारतीयोंका मस्तिष्क ही अपनी सभ्यता, संस्कृति, आचार, कुलमर्यादासे विमुख हो गया। यद्यपि उनकी संख्या अब भी अंगुलियोंपर गिनने लायक है, फिर भी वे अंग्रेजीदा हैं। अंग्रेजोंने उनके हाथोंमें शासनसत्ता सौंपी है। भारतका आज विदेशोंसे भी बहुत अधिक घनिष्ठ सम्पर्क हो गया है। अतः विदेशी-भाषाविद् नीतिशास्त्रोंके इन विद्वानोंकी एक विधानसभा निर्माण की गयी है, जो भारतका धर्मनिरपेक्ष अर्थनीतिमूलक विधान बनानेके लिये ही निर्माण की गयी थी। वह अब अपने अधिकार-क्षेत्रको छोड़कर धर्म-संस्कृतिमें भी मनमाना परिवर्तन करना चाहती है। यह नीति अत्यन्त भयावह है। इससे सुधारके बदले संहारका ही दृश्य उपस्थित होगा। हम इस बातको स्वीकार करते हैं कि हजारों वर्षोंकी पराधीनताके कारण सामाजिक व्यवस्थामें बहुत-सी कुरीतियोंने अपना घर कर लिया है। उनका सुधार अवश्य होना चाहिये; परंतु वह इसी विषयके विशेषज्ञ विद्वानोंद्वारा शास्त्रसम्मत तर्कोंके आधारपर ही हो, तभी समाजमें सुख-शान्ति-वैभवका प्रसार होगा। यही भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारका सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जितने मार्ग हैं, वे कुपथ हैं, कुचिकित्सा हैं। संस्कृत भाषाका आबालवृद्ध सबमें प्रचार हो, भगवान्‌में अविचल भक्ति हो, लक्ष्मी और सरस्वती प्रत्येक भारतीयके घरमें विराजमान रहें; यही भारतकी उन्नति है, यही सच्ची भारतीयता है—यही सच्ची भारतीय संस्कृति है।

आबालाद्वदनाम्बुजे तनुभृतां सारस्वतं जृम्भतां
देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु
वाग्देव्या सह मुक्तवैशसरसा देवी च दीव्यादियं
शेषस्येव फणाञ्चलेषु सततं लक्ष्मीः सतां सद्मसु ॥

हिंदू-संस्कृति और धर्म

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

हिंदू सदासे धर्मप्राण समाज है। हिंदू-समाजका संगठन उस प्रकार अर्थको आधार मानकर नहीं हुआ है; जैसे पाश्चात्त्य समाजका। जैसे पाश्चात्त्य समाज अर्थपर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्यमें अर्थको प्रमुखता देता है, वैसे ही हिंदू-समाज धर्मपर अवलम्बित है। जीवनके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य यहाँ धर्मके आधारपर व्यवस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः।' जो समाजका, व्यक्तिका धारण करे, वह धर्म है।* यह धर्मकी पहली परिभाषा है। जैसे अग्निका धर्म उष्णत्व है—उष्णता न हो तो अग्निकी सत्ता ही नहीं रह जायगी—ऐसे ही धर्म न हो तो हिंदूसमाजकी सत्ता ही नहीं रहेगी। धर्मपर ही यह संस्कृति अवलम्बित है। पाश्चात्त्य आलोचक जब अपनी ही भाँति हमारे समाजको भी अर्थपर अवलम्बित मान लेते हैं, तो उनके विश्लेषण भ्रमपूर्ण होने ही हैं। पाश्चात्त्य प्रणालीको आदर्श मानकर किया गया विश्लेषण अनर्गल कल्पनाओंमें मनुष्यको डालेगा ही।

धर्म ही मनुष्यको धारण करता है, यह बात आजके सुपठित भले न समझ सकें; परंतु यह तो प्रत्यक्ष है कि धर्मकी उपेक्षासे ही वर्तमान मनुष्य-समाजका पतन हुआ है। घूसखोरी, अनाचार, धूर्तता, चोरी, ठगी, हत्याएँ, विश्वासघात—ये सब कुकृत्य धर्मकी उपेक्षासे ही मनुष्यमें आये हैं और आते जा रहे हैं। विश्वमें विनाशकी ओर जानेकी प्रवृत्ति धर्मत्यागसे ही आयी है।

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

'धर्मका जो नाश करेगा, धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।' यह प्राचीनतम सिद्धान्त जीवनमें प्रत्यक्ष है। आज बड़े गर्वसे कहा जाता है कि 'प्रगतिवाद मनुष्यको जिस प्रकार पूँजीपतियोंकी आर्थिक दासतासे मुक्त करना चाहता है, वैसे ही आसमानी शासक ईश्वरकी दासता और धर्मके बन्धनोंसे भी!' बड़ा अच्छा है—मनुष्यको दासताओंसे मुक्त होना ही चाहिये, पर फिर मनुष्य समाजकी ही दासता क्यों करे? समष्टिके स्वामी सर्वेश्वरकी दासतासे मुक्त होकर वह देश, जाति, राष्ट्रकी कल्पित दासतामें क्यों लगे? फिर वह परोपकार, संयम, त्याग, श्रम—यह सब करे ही क्यों?

आज 'दासतासे मुक्ति' यह शब्द बड़ा लुभावना लगता है; पर इसका अर्थ कितने लोग जानते हैं, यह कहना कठिन

---

* 'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।'
(महाभारत)

है। ईश्वर या धर्मने कभी आपसे कहा कि आप उनकी दासता करें ? कभी उन्होंने आपको रोका कि आप अमुक कार्य न करें ? उन्हे स्वीकार करके उनका अनुगमन करनेके लिये क्या आप सदासे स्वतन्त्र नहीं हैं ? प्रश्न तो यह है कि 'मुक्ति' चाहिये किसलिये ? बच्चेको माताकी गोदसे मुक्ति चाहिये लाल-लाल दीखते अङ्गारोंसे खेलनेके लिये, पागलको मुक्ति चाहिये शस्त्रसे आघात करनेके लिये और मनको संयमसे मुक्ति चाहिये क्रूरता, लोलुपता, कामुकताको प्रश्रय देनेके लिये। ऐसी ही मुक्ति अभीष्ट है ?

प्राचीन समाजने कहा—'धर्मके अनुसार चलो। परमेश्वरके सम्मुख नम्र रहो, यह दासता कल्याणमय है। मनकी दासतासे मुक्ति पाओ। यही सच्ची मुक्ति है।' आधुनिक समाज कहता है—'धर्म और ईश्वरकी दासतासे मुक्ति पाओ। यह दुर्बलता है! नियमबन्धन व्यर्थ हैं। मनकी दासता स्वीकार करो। मन जैसा कहे, करो।' दासता, तो एककी स्वीकार करनी ही है। धर्मके बन्धन सुख, शान्ति, सन्तोष देंगे; क्योंकि चञ्चलता, लोलुपता, संघर्षको वहाँ स्थान नहीं। मन-इन्द्रियोंकी दासता देगी शोक, चिन्ता, अशान्ति और संघर्ष; क्योंकि मन कभी तृप्त होता नहीं। विश्वमें सब मनमानी कर नहीं सकते। मनकी सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और जब सबको मनचाही करनी है तो सबल दुर्बलोंका उत्पीड़न करेंगे ही। मनुष्यको यही विचार करना है कि वह कौन-सी दासता स्वीकार करेगा, धर्मकी मङ्गलमय अधीनता या मनकी पैशाचिक दासता ?

'धर्मकी उपेक्षासे विनाश होता है' यह बात पारलौकिक दृष्टिसे आप मानें या न मानें, लौकिक दृष्टिसे ही यह प्रत्यक्ष है। रोगी, दुर्बल, दुखी और अशान्त मानव क्या मृतप्राय नहीं है ? क्या रोग, दुर्बलता, दुःख, अशान्ति—ये असंयमके ही परिणाम नहीं हैं ? जहाँ भी, जितने अंशमें कोई व्यक्ति या समाज धर्मके किसी नियमकी उपेक्षा करता है, उतने अंशमें उसकी हानि होती है। उदाहरणके लिये एक व्यक्तिने चोरी या बलात् धन प्राप्त किया। देखनेमें वह धनी और सुखी हो गया, परंतु उसकी मानसिक शान्ति भङ्ग हो गयी। वह मनकी दासतामें बद्ध हो गया। अब वह असंयमके मार्गपर जायगा और रोग, शोक आदि उसे सतायेंगे। जो जातियाँ या समूह अपने यहाँ हिंसादि तत्त्वोंको उत्तेजित करके, दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके पुष्ट होती है, वे हिंसक तत्त्व स्वयं उनके विनाशक बन जाते हैं।

धर्मकी उपेक्षासे विनाशको समझ लेनेपर धर्मकी रक्षासे अपनी रक्षा होती है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता। अपनी रक्षाका क्या अर्थ ? मनुष्यका शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही। संसारके पदार्थ भी नष्ट होंगे। अपनी रक्षाका सच्चा अर्थ तो है मानसिक शान्ति, पवित्रता और दृढ़ताकी रक्षा। वैसे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि धर्मकी रक्षासे, संयमसे स्वास्थ्य, बल आदिकी रक्षा होती है; किंतु ये गौण बातें हैं। इनमें अपवाद भी हो सकते हैं। दुष्ट व्यक्ति धार्मिककी सम्पत्तिको अपहरण कर सकते हैं और उसे आघात पहुँचा सकते हैं। इतनेपर भी जिसका मानसिक बल स्थिर है, वही रक्षित है। क्योंकि विनाशके जो कारण हैं—लोभ-कामादि, उनसे वह सुरक्षित है। जगमें सुरक्षाका यह अर्थ नहीं कि आप घरसे बाहर न निकलें; सुरक्षा ठीक तब जब भीगनेपर भी रुग्ण न हों। इसी प्रकार जो मानसिक दृढ़ता प्राप्त कर चुका है, वही सुरक्षित है। उसकी सुख-शान्ति अभङ्ग है। यह सुरक्षा धर्मकी रक्षासे ही प्राप्त होती है।

आज विश्वमें राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्म आदि विभिन्न धर्मोंका उद्घोष किया जाता है; परंतु धर्म दस बीस या सौ दो सौ नहीं हो सकते। अग्निका धर्म एक है—उष्णता, जलका धर्म है—रस; ऐसे ही मनुष्यका भी एक ही धर्म है। यह दूसरी बात है कि अग्निकी उष्णता जैसे गति, शक्ति और प्रकाशके रूपमें प्रकट होती है तथा उसकी आकृति तथा प्रभावमें देश, काल, पात्रके अनुसार विभिन्नता होती है, वैसे ही देश, काल, पात्रके अनुसार धर्मके भी स्वरूपमें भेद होता है। धर्मका मुख्य रूप क्या है ? यह प्रश्न तब सहज ही उठता है। शास्त्रोंका कहना है कि प्राणिमात्रका प्रयत्न दुःखहीन शाश्वत सुख पानेके लिये है; अतएव दुःखहीन शाश्वत सुख पानेका भ्रान्तिहीन प्रयत्न ही वास्तविक धर्म है। वह है अन्तर्मुखता। जो प्रयत्न अन्तर्मुखताकी प्रेरणा दे, वह धर्म और जो बहिर्मुख करे, वह अधर्म—यह सार्वभौम सार्वकालिक धर्मकी परिभाषा है।

बहिर्मुखता मनुष्य और समाजको असंयमकी ओर, विनाशकी ओर ले जाती है और अन्तर्मुखता संयम तथा शान्तिकी ओर। मन भी एक भौतिक तत्त्व है, यह सभी जानते हैं। जलको आप जितना छानेंगे, शुद्ध करने और ढक रखनेका प्रयत्न करेंगे, उतना ही वह स्वच्छ रहेगा। उसे खुला छोड़ देंगे तो विकृत हो जायगा और फिर हानिकारक होगा। समस्त पदार्थोंका यही नियम है। मन भी

पदार्थ ही तो है। उसे खुला छोड़ेंगे तो विकृत होगा, हानि करेगा। ढककर रखेंगे, संयमित रखेंगे तो सुख-शान्ति देगा।

यदि अन्तर्मुखताका प्रयत्न ही धर्म है तो उससे व्यक्ति और समाजका धारण कैसे होगा? हिंदू-समाजके इतने कर्म-विस्तारका भी क्या अर्थ? अन्तर्मुखताका प्रयत्न और धारणा-शक्ति—ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। शरीर जड है। व्यक्तिमें जो चेतनता है, वह अन्तस्तलसे आती है। यह सभी जानते हैं कि जिस काममें जितनी एकाग्रता होती है, वह कार्य उतना ही भली प्रकार सम्पन्न होता है। शक्तिका स्रोत भीतर है। जो जितना ही अन्तर्मुख होगा, जितना ही एकाग्र हो सकेगा, वह उतनी ही शक्ति प्राप्त करेगा। इसी शक्तिपर उसका तथा समाजका जीवन निर्भर है। जिस समाजमें जितने अधिक अन्तर्मुख वृत्तिके पुरुष होंगे, वह समाज उनकी एकाग्रतामें प्राप्त सत्यसे उतना ही लाभान्वित होगा। उसे उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। वह उतना ही अधिक टिकाऊ बनेगा।

जीवनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसारमें भिन्न-भिन्न देशोंकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं। मनुष्योंके पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। एक ही मनुष्यको जन्मसे मृत्युतक अनेक अवस्थाओंको पार करना पड़ता है। देश, काल, अवस्था, पात्र आदिके भेदसे आचार-शास्त्रका निर्माण होता है। जीवनके क्षेत्रमें एक ही प्रकारसे अन्तर्मुखताका प्रयत्न और मानसिक शक्तिकी सुरक्षा शक्य नहीं। पूजाके आसनपर जिस प्रकारका प्रयत्न शक्य है, वैसा ही प्रयत्न भोजनके आसनपर शक्य नहीं। कार्यक्षेत्रमें प्रयत्नोंके अनेक रूप हो जाते हैं। हिंदू-शास्त्रका समस्त आचार-विस्तार इसी भेदसे युक्त है। प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें अन्तर्मुखताका प्रयत्न बना रहे, मानसिक पवित्रता सुरक्षित रहे—इसके लिये इतने कर्मविस्तार हैं।

मनुष्य एक प्राणी है, अतः उसके धर्म अनेक नहीं हो सकते। विश्वमें दो या दस-पाँच धर्म हैं, यह एक भ्रान्ति ही है। विश्वके किसी धर्ममें ऐसा कोई मौलिक अन्तर नहीं, जिसके कारण उसे पृथक् धर्म कहा जा सके। अनादि सनातन धर्म ही मानव-धर्म है, यह बात अनादि कालसे इतिहासके छः या सात सहस्र वर्ष पूर्वतक विश्वमान्य थी। विश्वके शेष धर्म इन छः सात सहस्र वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं हैं। देश, काल, पात्रके अनुसार महापुरुषोंने धर्मके किसी विशेष अङ्गको कहीं प्रचलित किया और वही धर्म कहा जाने लगा। मानव-प्रकृति विश्वके पदार्थोंके समान ही विकारी है। मनुष्य बराबर आदर्शसे च्युत होता है और फिर आदर्शोंके नामपर अपने दम्भका प्रसार करता है। जब दम्भके द्वारा आदर्श आच्छन्न हो जाते हैं तो महापुरुष समाजको धर्मपर ले जानेके लिये दम्भका संशोधन करते हैं। ये संशोधन ही नूतन धर्म या सम्प्रदाय बन जाते हैं।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम धर्म हैं। किसी आचार्यने किसीपर बल दिया और किसीने किसी दूसरेपर। समाजकी तात्कालिक विकृतिको दूर करनेके लिये जिस साधनपर बल देना आवश्यक था, उन्होंने उसीको प्रमुखता दी। किसीने यह नहीं कहा कि वह नूतन धर्म चला रहे हैं। शाश्वत धर्मका उद्घाटन—पुनः-स्थापनकी घोषणा ही सब करते हैं। नवीन धर्म हो भी कैसे सकता है, जब कि मनुष्य प्राचीन प्राणी है। अग्निमें क्या कोई नवीन धर्म उत्पन्न कर सकता है? जो मनुष्यका स्रष्टा है, उसने उसे आदि कालमें ही उसका धर्म दिया है। जलका धर्म स्वादुपन जब विकृत हो जाता है; तब जलको शुद्ध करना पड़ता है। महापुरुषोंने मानवकी विकृतिको दूर करनेके प्रयत्न बार-बार किये हैं। इन सब प्रयत्नोंके परिणाम जिस स्वरूपको प्रकट करते हैं, वही वास्तविक धर्म है। इसीसे उसे सनातन धर्म कहते हैं। समस्त धर्म उसके किसी-न-किसी अंशमें ही पुष्ट होते हैं। उससे भिन्न कोई धर्म नहीं और न होना सम्भव है।

शास्त्रविहित कर्म ही धर्म

धर्मका स्वरूप व्यक्तिकी पात्रता, समय, स्थान, कार्यके अनुसार निश्चित होता है। जो कार्य एकके लिये विहित धर्म है, वही दूसरेके लिये अधर्म हो सकता है। जैसे शूद्रके लिये वेद-पाठ अधर्म है और ब्राह्मणके लिये वेद-त्याग। लौकिक दृष्टिसे जैसे एक ओषधि रोगीके लिये उपयोगी है और स्वस्थके लिये हानिकर। जल्लादके लिये निश्चित अपराधीको फाँसी देना उचित कर्म है और दूसरा यही कर्म करे तो प्राणदण्डका भागी होगा। एक व्यक्तिने अपराध किया, नियमतः उसे बेतोंका दण्ड मिलना है; पर यदि आप बेत मारेंगे तो अपराधी होंगे। बेत मारना जिसका काम है, वही मारेगा और दण्डका निर्णय न्यायालय करेगा। इस प्रकार धर्ममें स्वधर्म और परधर्मका भेद होता है।

कौन-सा कर्म कब किसके लिये धर्म है, यह जाननेका साधन शास्त्र है। अतएव धर्मकी दूसरी परिभाषा है 'चोदनालक्षणो धर्मः।' शास्त्रप्रेरित कर्म ही धर्म है। प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक पदार्थ अपने नियमोंपर चलकर ही

होता है। यदि शरीरको पृथक् करके देखें तो किसीको कोई आवश्यकता नहीं। सुषुप्तिमें भिक्षुक और सम्राट् एक-सी स्थितिमें रहते हैं। अतः शरीरसे छुटकारा मिल जाय तो आवश्यकता न होगी; परंतु स्वप्न-जैसा छुटकारा नहीं। स्वप्नमें भी सुख-दुःख होते हैं। यह इसलिये कि स्वप्नमें देहकी आवश्यकताकी प्रतीति रहती है। देहकी आवश्यकताकी प्रतीति भी न रहे, तब निःश्रेयस-सिद्धि हो। इसीको मोक्ष कहते हैं।

देहकी प्राप्ति क्यों होती है? इच्छाओंसे, कर्मसे। इन इच्छाओंका उपशम, कर्मका असंसर्ग ही देहकी प्राप्तिसे बचा सकता है। धर्मकी गति अन्तर्मुख है। बाह्य प्रवृत्तिके निरोध, इच्छाओंकी समाप्तिके लिये ही धर्म-विधान है। अतः निःश्रेयसकी सिद्धि धर्मके द्वारा होती है। धर्मके आचरणसे भोगवृत्तिका नाश होता है, हृदयकी शुद्धि होती है। इस क्रमसे कर्मोंमें असंगताकी प्राप्ति होती है। जहाँ कर्मोंमें असंगताकी सिद्धि हुई, मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

कर्मोंमें असङ्गताका अर्थ कर्म-त्याग समझना एक भ्रम है। धर्म ऐसे कर्मोंका विधान करता है, जिनका त्याग पाप माना गया है। अतएव कर्तव्यकर्मका त्याग तो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं होना चाहिये। कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक किसी इच्छासे किये जाते हैं और दूसरे स्वतः होते हैं या कर्तव्यबुद्धिसे किये जाते हैं। श्वास, रक्तकी गति आदि कर्म स्वतः होते हैं। भोजन और मलोत्सर्ग ऐसे कर्म हैं, जो शरीर रहनेतक करने ही होंगे। इसी प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, जाति, कुल, अवस्थादिके अनुसार जो कर्म हमारे लिये नियत हैं, वे कर्तव्य हैं। उन्हें त्यागना नहीं चाहिये।

किसी उद्देश्यसे कर्म करना बन्धनका कारण नहीं है। उद्देश्यके बिना तो जो कर्म होगा, वह अव्यवस्थित होगा; परंतु उद्देश्यमें आसक्ति, वह पूर्ण ही हो—यह आग्रह, उसकी पूर्णतामें अपने कर्तृत्वका अहंकार—ये बाधक हैं। उद्देश्य कोई वासना—अधर्मप्रवृत्ति सकामवृत्ति नहीं होना चाहिये। उसे कर्तव्य मानकर करना और परिणामके सम्बन्धमें तटस्थ रहना, यही निष्कामता है।

धर्म हमें कर्तव्यकी प्रेरणा देता है, साथ ही फलकी ओरसे तटस्थ रहनेका आदेश भी। फलोंके विस्तृत वर्णन तो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिये शास्त्रोंमें हैं। शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि फलविस्तारका तात्पर्य धर्ममें प्रवृत्ति कराना है। धर्मका लक्ष्य तो अन्तर्मुखता है, त्याग है और इस प्रकार नैष्कर्म्यके द्वारा मोक्ष उसका प्राप्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि जिस कर्म या नियमका लक्ष्य अन्तर्मुखता न होकर बहिर्मुखता है, वह विषय-प्रवृत्तिको बढ़ाकर संघर्ष, अशान्ति और असन्तोषके द्वारा विनाशका पथ प्रशस्त करेगा। वह धर्म नहीं, उसमें धारण-शक्ति नहीं। वह अधर्म है। वह नष्ट करनेवाला है।

धर्मत्याग

आज बड़े गर्वसे धर्मसे मानव-जातिको मुक्त करनेकी बात कही जाती है। आजके महापण्डित यह कहकर उल्लसित होते हैं—'मैं इस रोगसे छूट चुका हूँ!' परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, वे कभी सोचते ही नहीं। अग्नि अपने धर्मका त्याग करके भस्म बन जाती है। मनुष्य अपना धर्म त्याग देगा तो पशु हो जायगा। पशु होकर भी उसका निस्तार नहीं। पशु तो अपने धर्मका पालन करते ही हैं। मनुष्यने धर्मत्याग जहाँ भी किया है, वहाँ वह पिशाचसे भी घृणित हो गया है। धर्मसे दूर होकर मानव-जाति विनाशकी ओर जा रही है।

धर्मत्यागका अर्थ है—उच्छृङ्खलताकी स्वीकृति और वह विनाशक ही होती है। शास्त्रीय कृत्योंका मर्म हमारी तुच्छ बुद्धिमें नहीं आता, इसीलिये हम उन्हें व्यर्थ या दम्भ कहकर छोड़ दें—यह वैसी ही बात है, जैसे कोई बालक दियासलाईके मसालेकी दाहकता न समझे और दियासलाई दाहक है—इस बातको दम्भ कहे। अवश्य ही दियासलाईका मसाला बिना घिसे उसका हाथ जलानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार शास्त्रीय आदेश अपने परिणामको तभी प्रकट कर सकते हैं, जब उनको निर्दिष्ट विधिसे सम्यक् पूर्ण किया जाय। केवल तर्क करना अज्ञानका ही परिचायक है। जो लोग कुछ प्रयत्न करते भी हैं, वे प्रयत्नकी साङ्गतापर ध्यान नहीं देते। दियासलाई यदि नम होगी, कम वेगसे घिसी जायगी, तो अग्नि नहीं प्रकट होगी—यह वे भूल जाते हैं। शास्त्रपर आक्षेप करके वे अपनी ही हानि करते हैं।

धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तनका प्रश्न धर्मत्यागसे भिन्न है। प्रत्येक धर्म यदि वह सचमुच धर्म है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है तो वह स्वतः पूर्ण है। क्योंकि पूर्णता व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या नियममें नहीं। वह तो अन्तस्तलमें है और जो भी वहाँ पहुँचेगा, उससे एक हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति

दो दृश्य (१)

स्वाध्याय



अखबार





कथा-कीर्तन



साक्षी-निर्माण

पहले था स्वाध्याय शास्त्रका, पढ़े जा रहे अब अखबार ।
१३ तब थी कीर्तन-कथा, मुकदमे अब झूठे कर रहे तयार ॥

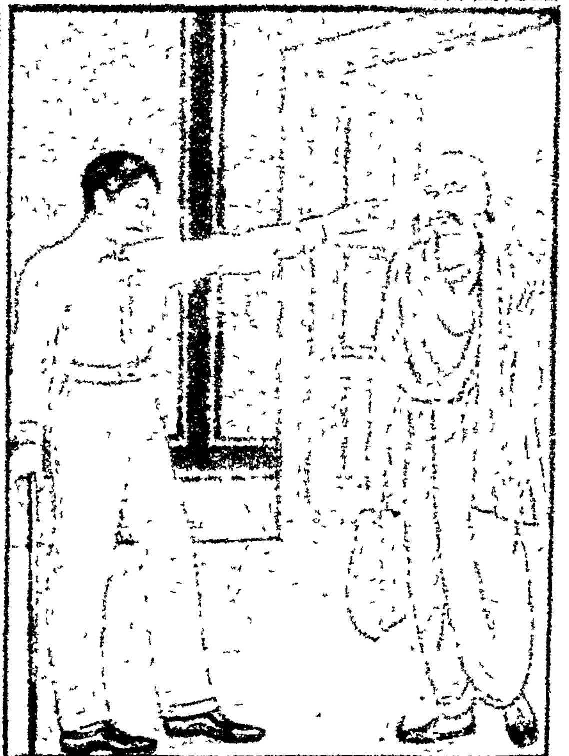
दो दृश्य (२)

चरणामृतपान | सुरापान









अतिथि-सत्कार | अतिथि-तिरस्कार

पहले चरणामृत पीते थे अब हो चला सुरासे प्यार ।
तब होता सत्कार अतिथिका अब तो मिलती है फटकार ॥

अपने आचार, रुचिके अनुसार वहाँ जानेका अधिकार रखता है। धर्म-परिवर्तनका प्रश्न जहाँ धर्मके लिये—आध्यात्मिकताके लिये उठता है, वहाँ निष्ठा एवं विचारके अभावके अतिरिक्त अन्य कोई कारण सम्भव ही नहीं है। किसी भी धर्मके आदिप्रवर्तकने दूसरे धर्मको हीन या अपूर्ण नहीं बतलाया है। कोई भी धर्म जो प्रवर्तित हुआ है, वस्तुतः सम्प्रदाय ही है और जहाँ उसका प्रवर्तन हुआ है, उस देश, काल तथा आचारके अनुकूल वह श्रेयस्कर है। सार्वभौम अनादि धर्म, जो ज्ञान और वाणीके साथ ही मनुष्यको प्राप्त हुआ, प्रवर्तित धर्म नहीं हो सकता। वह तो मनुष्यको सृष्टिके साथ ही मिला। वह ईश्वरीय धर्म ही सनातन धर्म है। देश-कालादिके अनुसार उसके किसी अंगको प्रमुखता देकर महापुरुषोंने दूसरे धर्मका प्रवर्तन किया। ऐसे प्रवर्तित धर्मोंको दूसरे देशों एवं अन्यधर्मावलम्बियोंपर बलात् लादना अहंकारकी प्रेरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आज धर्म भी राजनीतिका एक साधन हो गया है। धर्मके नामपर जितनी सभाएँ, संगठन या आन्दोलन होते हैं, वे अपना राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र ही विस्तृत करना चाहते हैं। धर्म भी दूसरे साधनोंके समान अर्थका साधन हो गया है। धर्म-परिवर्तन अपनी जन-संख्याकी वृद्धि और उससे आर्थिक लाभके लिये किया या कराया जाता है। इस प्रकारके प्रयत्न अवश्य ही जब एक पक्षसे आघातरूप होते हैं तो दूसरा पक्ष आत्मरक्षाके लिये उनका आश्रय लेता है; कुछ भी हो, ये सघर्ष वस्तुतः धर्मके क्षेत्रसे बाहर हैं। धर्म—जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है, उसीको बाह्य भोगोंका साधन बनाना; अहंकारका विनाश जहाँ अभीष्ट है, वहाँ ऐसा अहंकार कि अपने अतिरिक्त शेष धर्मानुयायियोंको पशु कहना—इससे बड़ा दम्भ और छल क्या होगा? यह वञ्चना अपना और समाजका भी विनाश कर रही है। धर्मका नाम लिया जाता है, उसकी दुहाई दी जाती है—उसका गला घोटकर, उसके शवपर पैर रखकर; और तब भी मनुष्यकी मान्यता है कि वह धार्मिक है! उसका उत्थान होगा!!

सनातनधर्ममें धर्म-परिवर्तनके लिये कोई स्थान नहीं—कोई नियम नहीं, यह स्वीकार करना होगा! जो सार्वभौम धर्म है, जहाँ दूसरे धर्म उसके एक अंशसे ही उत्पन्न हुए हैं, जिस अनादि धर्मका प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, उसमें धर्म-परिवर्तन कैसा? कोई दूसरा धर्म हो तो परिवर्तन किया जाय। शास्त्रोंमें शुद्धि ढूँढ़नेवाले यह भूल जाते हैं कि चार सहस्र वर्ष पूर्व दूसरा कोई धर्म ही नहीं था। अपने समाज और आचारसे प्रमादवश च्युत हुए लोगोंकी शुद्धिका ही वहाँ विधान है। यह धर्म-परिवर्तन—शुद्धिका प्रश्न उठा ही उनके सम्मुख, जिन्हें नवीन धर्म चलाना था। आजके संघर्ष सनातनधर्मके लिये आपत्तिरूप हैं और आपद्धर्मका शास्त्रोंमें विस्तारसे निर्देश है। आपद्धर्मके नियमानुसार शास्त्रोंसे उनका अनुगमन करते हुए आत्मरक्षणका प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिये, और उसको किये बिना इस समय समाजकी रक्षा कठिन ही है। परंतु शास्त्रोंका ही विपरीत अर्थ करना—यह 'कल्याणप्रद' नहीं है। धर्मको दूसरोंकी देखा-देखी अर्थका साधन हिंदू भी बना दे, यह तो हानिप्रद ही होगा।

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

सभा-संगठन-प्रचार

'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' आज जिस प्रकार हिंदू-धर्मपर चारों ओरसे आघात हो रहे हैं, उनको देखते हुए यह स्पष्ट है कि संगठनके अतिरिक्त आत्मरक्षणका दूसरा प्रधान साधन नहीं है। समस्त मतभेदोंको भूलकर, संगठित होकर ही इस समय अपने आचार, समाजकी रक्षा की जा सकती है। इसके लिये भरपूर प्रयत्न करना हिंदू-समाजके प्रत्येक सदस्यका कर्तव्य होना चाहिये।

हमें इस समय समस्त मतभेदोंको भूलकर सगठित होना चाहिये; परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह संगठन आपत्तिकालिक है, आपद्धर्म है। जबतक ऐसी बात ठीक नहीं समझ ली जाती, तबतक संगठन पूर्ण नहीं होंगे। लोग अपने-अपने संगठनोंको स्थायित्व और महत्त्व देने लगते हैं। इससे अहंकार पोषित होता है। शक्ति संगठित होनेके स्थानमें छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस समय तो हमें शक्तिको एकत्र करना है।

हिंदू-धर्म सभा, संगठन, मञ्चोंपर दिये गये विशाल भाषण तथा दूसरे प्रचार-साधनोंका धर्म नहीं है। संस्थाएँ स्थापित करना और प्रचारके लिये संगठन बनाकर क्षेत्र प्राप्त करना—ये पाश्चात्त्य सभ्यताके शस्त्र हैं। 'कण्टकेनेव कण्टकम्' के न्यायसे हम इस आपत्तिके समय इनका आपद्धर्मके रूपमें उपयोग तो कर सकते हैं और करना ही चाहिये; परंतु यदि हमें अपने धर्मको अविकृत रखना है तो इनके स्थायित्वका मोह छोड़ना होगा। ये हिंदू-धर्मकी मूलप्रवृत्तिके विपरीत हैं।

हिंदू-धर्म वैयक्तिक धर्म है। अन्तर्मुखताका साधन समूहमें नहीं हो सकता। जहाँ बाहरसे अपनेको भीतर करना है, वहाँ बाहरकी प्रवृत्तिको बढ़ाना कोई [illegible] नहीं रखता। सैनिकोंमें, पाठशालाओंमें सामूहिक प्रार्थना समझमें आनेकी बात है। जहाँ समूह है, वहाँ समूहके साथ एकाग्रताका प्रयत्न भी चल सकता है; परंतु प्रयत्नका आदर्श तो समूह और शरीरको भूल ही जाना वहाँ भी है। जहाँ समूह नहीं है, वहाँ समूह बनाकर प्रार्थना की जाय—इसका अर्थ केवल यही है कि या तो मन इतनी निम्न स्थितिमें है कि वह बाह्य प्रेरणाके बिना एकाग्र नहीं होगा, या फिर प्रार्थना ही प्रार्थनाके लिये नहीं है, वह भी एक राजनैतिक साधन है—प्रचार करने, संगठन करनेका। समस्त पाश्चात्त्य समाज अर्थको ही मुख्य मानता है, अतएव उसके प्रार्थनादि भी संगठनके ही साधन हैं। वहाँ प्रत्येक कार्यमें सैनिक वृत्ति, आर्थिक लाभकी मुख्यता रहती है; पर हिंदू-संस्कृति ठीक इसके विपरीत बाह्य भोगोंसे निवृत्तिकी प्रेरणा देनेवाली है। वहाँ प्रार्थना भी सामूहिक हो, यह एक उपहासास्पद बात है।

प्राचीन समयमें सर्वज्ञ महर्षि ही समाजके सञ्चालक थे। शास्त्र ही नियम थे। प्रत्येक कार्य शास्त्रपर अवलम्बित थे। जनमतके बदले शास्त्रमत, आप्तमत मान्य था। अतएव किसी कार्यके लिये सभा-निर्माणकी आवश्यकता नहीं थी। उपदेश अधिकारियोंको दिये जाते थे; अनधिकारी उनका दुरुपयोग करेंगे—यह बात सर्वमान्य थी। ऐसी दशामें मञ्चोंसे प्रचारका प्रश्न ही नहीं उठता था। सत्सङ्ग, कथा, सत्र—ये होते थे; किंतु उनकी न तो आजके समान संस्थाएँ चलती थीं और न उनका विज्ञापन होता था। किसी संतके पास जाकर उनके उपदेश जो वे कृपापूर्वक श्रोताके अधिकारके अनुरूप दे देते, वही सत्सङ्ग थे। संतोंके, महर्षियोंके समीप उपदेश ग्रहणार्थ दूर-दूरसे [illegible] सत्र-सत्रतक जाते और वहाँ [illegible]। प्राचीन कथाओंका एक रूप भागवतसप्ताह अब भी देशमें देखनेको मिल जाता है। [illegible] दीर्घकालतक चलते तो [illegible]।

[illegible] एक ही दशा है। त्यागी, परोपकारी, [illegible] हैं। आरम्भमें [illegible] होता है [illegible] जनतामें सम्मान प्राप्त हो [illegible] हैं। धीरे-धीरे संस्थापर उन्हींका अधिकार हो जाता है, वे प्रमुख हो जाते हैं। जो सचमुच निःस्वार्थ, परोपकारवृत्तिसे लगे उद्योगी उसमें होते हैं, वे या तो कुछ कर नहीं पाते या पृथक् होनेको बाध्य होते हैं।

लेख लिखना, भाषण देना और अभिनय करना—ये कलाएँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक या वक्ता जिन गम्भीर तथ्योंको प्रकट कर रहा है, उनका अनुभव भी करता हो—जो उपदेश दे रहा है, उसका आचरण भी करता हो। सभाओंमें जब कोई बोलने लगता है तो थोड़े ही वक्ता होते हैं, जो यह नहीं चाहते कि जनता उनकी बातको ध्यानसे सुने। जनता ध्यानसे सुने, इसके लिये जनताकी रुचिकी बात कहनी चाहिये। इस प्रकार वास्तविकताकी अपेक्षा कला एवं विद्वत्ताको अधिक महत्त्व मिलता है। यह भी व्यवसाय बन जाता है और जो इस प्रकारका व्यवसाय ही करते हैं, उनका जीवन अन्तर्मुख कैसे हो सकता है। यही दशा लेखककी भी है, यदि वह अपने लेखोंको व्यापक बनानेके ध्यानसे लिखता है।

धर्म भी प्रचारकी वस्तु है, यह हिंदू-समाजने स्वीकार ही नहीं किया। धर्म तो अधिकारके अनुसार प्राप्त करके आचरण करनेकी वस्तु है। अनधिकारीको उसका उपदेश ही वर्जित है। समाजका प्रत्येक क्षेत्र जहाँ धर्मपर अवलम्बित है, धर्मसे ओतप्रोत है, वहाँ किसी क्षेत्रमें प्रचारके लिये स्थान नहीं बचता। वस्तुतः प्रचार है क्या वस्तु? हम अपने विचारोंसे दूसरोंको प्रभावित करना चाहते हैं। क्यों? इसलिये कि हम अपने विचारोंको श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरोंका उसका आचरण करके कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। अथवा हमें दूसरोंको अनुगामी बनाना है। अपनी यश इच्छा या किसी दूसरी इच्छाको सार्थक करना है।

ज्ञानका मार्ग है जिज्ञासा। जबतक स्वयं जिज्ञासा न हो, किसीको उपदेश लाभ नहीं करता। उपदेशमें जहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वहाँ यह भी भय रहता है कि स्वाभाविक रुचि दबती है और मानसिक धारा अस्त-व्यस्त हो सकती है। हिंदू-संस्कृतिके अनुसार जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही उपदेश देना चाहिये। हम अपने ही विचारों, विश्वासोंका प्रचार करें—यह सच है हम कर सकते हैं; परंतु इसका अर्थ यह तो है ही कि हमारा अहंकार बढ़ रहा है, हमने दूसरोंको अज्ञ मान लिया है। अपनेको हम निर्भ्रान्त मानें, यहाँतक तो ठीक। परंतु दूसरोंके विचार

उनके लिये ठीक नहीं, यह अहङ्कारकी ही प्रवृत्ति है।

हम जिन धारणाओंको भ्रान्तिहीन मानते हैं, उनका आचरण करके हमने क्या पूर्णता प्राप्त कर ली है? पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व हम प्रचारमें लगते हैं—इसका अर्थ है कि या तो हम अपनेमें उन धारणाओंपर चलनेकी योग्यता नहीं पाते, या हमारे प्रयासमें पूरी शक्ति नहीं, या वे धारणाएँ वस्तुतः आचरणयोग्य हैं—इसमें हमारा विश्वास नहीं। किसी भी दशामें हम क्या प्रचारके योग्य रहते हैं? विश्वका अवतकका अनुभव यही है कि पूर्णताको प्राप्त 'पुरुष समाज या संगठन नहीं बनाते। जो अन्तर्मुख हो चुका, वह बाह्य प्रवृत्तिमें एक सीमातक ही लगा रह सकता है। अधिकारी, जिज्ञासुको वे प्रेरणा, उपदेश तो देते हैं; किंतु जगत्‌के व्यवस्थित करनेके सम्बन्धमें उनकी प्रवृत्ति सभा-सोसायटी आदिकी ओर कदाचित् ही होती है।

हिंदू धर्मके इस आपत्तिकालमें हम भगवान्‌को पुकारनेके साथ-ही-साथ आपद्धर्मके रूपमें संगठन और प्रचार स्वीकार करें, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं; परंतु धर्मका लक्ष्य अहङ्कारका शैथिल्य है, उसे बढ़ाना नहीं—यह स्मरण रहनेपर ही ये संगठन सफल होंगे। हिंदू-समाज धर्मपर संगठित समाज है। उसमें बाह्य प्रवृत्तिका निरोध ही श्रेयस्कर माना जाता है। जिज्ञासु ही वहाँ उपदेशका पात्र है। पाश्चात्त्य प्रभावके प्रबल प्रवाहमें इस समय इन मूल तथ्योंका विस्मरण धर्मके प्रतिकूल ही होगा। हिंदू-धर्मकी अन्तर्मुख प्रवृत्तिकी रक्षा सबसे प्रथम दृष्टिमें रखकर ही शेष प्रस्तार उचित हैं।

हिंदू-संस्कृति और पाश्चात्यवाद

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

१—पाश्चात्त्य राष्ट्रोंमें अनेक वादोंका प्राबल्य हो रहा है और उनकी प्रतिक्रियाएँ सर्वत्र दिखलायी पड़ रही हैं। अनेक आघात-प्रत्याघात चल रहे हैं; उन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, आवर्तो-प्रत्यावर्तोंका कुछ-कुछ प्रभाव भारतवर्षपर भी पड़ रहा है। ब्रिटिश सरकार अपने शासनकालमें उस प्रभावको रोकनेका भरसक प्रयत्न करती रही थी। उसको मुख्य भय रूसके वर्गवाद अथवा साम्यवादसे ही रहा। कार्ल मार्क्सका समाजवाद भी भयका हेतु रहा।

२—भारतवर्षको पाश्चात्त्य रंग-ढंगके किसी वाद अथवा किन्हीं वादोंसे शङ्कित अथवा भयभीत रहनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष तो अनादिकालसे—जबसे मनुष्यनामक प्राणी संसारमें उत्पन्न हुआ, तभीसे तत्त्वज्ञानकी जन्मभूमि तथा क्रीड़ाभूमि रह चुका है। उसके सामने कोई वाद आवे, वह अपने ढंगकी निरीक्षण-परीक्षण-पद्धति-द्वारा उसका मर्म जानकर यह निश्चय कर सकेगा कि वह वाद उसके लिये उपादेय है कि हेय। भारतवर्षके तत्त्वज्ञानकी परम्परा इतनी क्रमबद्ध, इतनी सुसंगत है कि उसको किसी भी वादमें किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं हो सकती।

३—जब ये वाद अपना हठ छोड़कर हमारी संस्कृतिके मुख्य आदि मूलस्रोत अध्यात्मवादके साथ बहेंगे, तभी संसारको लाभ पहुँचा सकेंगे। अन्यथा ये अध्यात्मशून्य वाद संसारके लिये उपसर्ग अथवा उपद्रवके हेतु ही बने रहेंगे।

४—रूसको वर्गवाद खा रहा है। उसको केवल किसान और मजदूरोंकी ही चिन्ता है। कार्ल मार्क्सका समाजवाद केवल मिलके अथवा शहरी मजदूरोंकी चिन्ता करता है, वह गाँवके किसानोंके विषयमें उदासीन ही रहा है।

५—स्वाभाविक, ईश्वरनिर्मित पद्धति यह है कि मनुष्य समाज गुण-कर्म-स्वभावानुसार (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय (३) वैश्य, (४) शूद्र—इन चार वर्णोंमें विभक्त हो—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। (यजुः—३१)
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(गीता ४। १३)

—और वे अपने स्वाभाविक कर्मोंमें संलग्न रहें। इसके विपरीत रूसमें एक ही वर्ग है। किसान-मजदूर एक ही माने जा रहे हैं। वहाँके राज्यचक्र-संचालनमें केवल किसान तथा मजदूर—इन्हीं दो वर्गोंका हाथ है। ब्राह्मण-वृत्तिवाला अथवा क्षात्रवृत्तिवाला एवं वैश्य-समाज इन्हीं दो वर्गोंके अधीन रहता है। अर्थात् सिर, भुजाएँ और पेट पैरोंके ही अधीन रहते हैं। यह अस्वाभाविक पद्धति चल नहीं सकती। शरीरमें पैरोंका भी स्थान है और अपने स्थानमें उसका महत्त्व भी है। पर सिर, भुजाएँ तथा पेटका भी अपना-अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व है। जब पैर इनकी प्रेरणासे चलते हैं, तभी यथारीति मार्गका अनुगमन कर सकते हैं, अन्यथा न जाने उच्छृङ्खलवृत्तिसे सिर, भुजाएँ तथा पेटको कहाँ जाकर

नष्ट करे और साथ स्वयं भी नष्ट हो। फिर भी यह एक विचित्रता है कि साम्यवादके नामपर सबको एक-जैसा करनेका अस्वाभाविक प्रयत्न किया जा रहा है। शरीरमें सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक ही प्रकारके, एक-ही-जैसे हों तो शरीरकी क्या दुर्गति होगी अथवा उस प्रकारका शरीर यथार्थरूपमें शरीर भी कहलाया जा सकेगा कि नहीं—विचार कीजिये।

६—भारतीय संस्कृतिके मुख्य अङ्ग ये हैं—

१—ईश्वरीय सत्ता,

२—ईश्वरीय न्याय,

३—कर्मफलानुसार दण्ड,

४—गुण-कर्म-स्वभावानुसार समाज-व्यवस्था।

इन चारोंमें अध्यात्मवाद ओतप्रोत रहता है। इसीलिये अध्यात्म-दृष्टिसे सब प्राणियोंमें एक आत्मतत्त्व विद्यमान है, ऐसा मानकर हिंदू-संस्कृति चलती है और इसीलिये हमारा भारतीय समाजवाद आत्मतत्त्वकी समताके आधारपर चलता है और समाज सुखी रहे, इसलिये वर्णाश्रम-धर्मके अनुरूप प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक धर्मपर आरूढ़ रहता है।

अन्यदेशवासी ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय न्याय, कर्मफलकी अपरिहार्यता और आत्मतत्त्वकी समताको मानकर नहीं चलते। इसीलिये ये लोग अध्यात्मज्ञानविहीन, केवल भौतिक सत्ताके आधारपर अपने समाजको सुखी बनाना अथवा देखना चाहते है। यही उनकी मुख्य त्रुटि है।

७—हमारी संस्कृति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशोपनिषद् १)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषद् २)

मनुष्यकी रचना त्रिगुणात्मक तत्त्व—सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर की गयी है। मनुष्यके कर्मफल उसकी अनन्त वासनाओंके कारण अनन्त हैं। कर्मानुरूप ही सुख-दुःख आते हैं। ऐसी दशामें अपने अज्ञानके कारण यह समझ बैठना कि हम सबको एक-जैसा धनी, एक-जैसा ऐश्वर्यवाला, एक-जैसा साधनसामग्रीवाला, एक-जैसा सुखी बनायेंगे, हास्यास्पद ही है, व्यर्थ जलताड़न-क्रियाके सदृश ही है, असम्भव ही है।

८—यूरोपीय प्रथम महाभारतके समयमें रूसमें क्रान्ति हुई थी। तबके लेनिनके रूसमें और अबके स्टालिनके रूसमें बड़ा अन्तर हो गया है। प्राचीन समयमें राजा-राजा आपसमें लड़ते रहते थे। अब प्रजातन्त्रके नामपर युद्ध जुट जाते हैं। रूसकी जारशाही गयी तो उसके स्थानमें रूसका वर्गवाद आया। जर्मनीकी कैसरशाही गयी तो उसके स्थानमें राष्ट्रिय समाजवाद आ गया, जो नाजीवाद कहलाया। अब तो वह भी नष्ट होकर जर्मनीके चार टुकड़े हो रहे हैं। जर्मनीमें प्रजा-तन्त्र रहा, पर हिटलरके समयमें वह पूर्ण एकतन्त्र हो गया। रूसमें वर्गवाद रहनेपर भी स्टैलिनके समयमें सर्वथा 'एकतन्त्र' चल रहा है। इस प्रकार प्रजातन्त्रका नाम लेकर एकतन्त्र ही चलाया जा रहा है। इंग्लैंडमें प्रजातन्त्र है, पर वहाँ वह वैश्यप्रधान पूँजीवादके अधीन रहा है और अब तो समाजवाद प्रबल हो रहा है। अमेरिकाकी यही दशा है, पर वह साम्यवाद तथा समाजवादसे सतर्क रहता है। और किसी-न-किसी रूपमें वहाँ भी एकतन्त्र चलता ही है। जिस प्रकारका वर्गवाद अथवा साम्यवाद रूसमें प्रचलित है, वह दोषयुक्त है, अधूरा है; वहाँ शूद्रवर्गने अन्य वर्गको दबा रक्खा है। जर्मनीके समाजवादमें क्षात्रशक्तिको इतनी अधिक प्रधानता दी गयी थी कि अन्य वर्ग दबे रहे, उभर न सके। इंग्लैंडमें वैश्यसमाज इतना प्रबल रहा कि अन्य वर्ग पनप न सके। इस प्रकार पाश्चात्त्य समाजमें न चारों वर्ण यथार्थरूपमें हैं, न यथार्थ रीतिपर काम कर रहे हैं। इसलिये अध्यात्मशून्य पाश्चात्त्य भौतिकवादी समाज सब प्रकारकी साधनसामग्री, ऐश्वर्य होनेपर भी सच्चे अर्थमें सुखी नहीं है। पाश्चात्त्य जगत् समस्त सुखोंके केन्द्र ईश्वरको भूल गया है, वह कर्मफलकी मीमांसामें विश्वास नहीं रखता, उसने ईश्वरीय न्यायदण्डको अपने हाथोंमें ले लिया है, उसको अध्यात्मतत्त्व नहीं सुहाता और वह विज्ञानपर अधिक भरोसा किये हुए है; तब उसको सच्चा सुख कैसे मिल सकता है। उसका समस्त भरोसा बिजली और भापपर है—इसीलिये यूरोप नष्ट हो रहा है। इसीलिये अमेरिका सुखी नहीं है। इसीलिये रूस हाथ-पैर पटक रहा है और इसीलिये फ्रांस नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। इनको कोई उपाय सूझ नहीं रहा है। अब ये भारतकी ओर निहार रहे हैं।

९—यदि संसार सुख चाहता है तो उसको भारतीय संस्कृतिकी ओर आना पड़ेगा; भारतीय समाजकी रचना जिन तत्त्वोंपर हुई, उन्हीं तत्त्वोंपर समाजकी रचना करनी

पड़ेगी। ऐसे समाजकी रचना करनी पड़ेगी, जिसमें सब वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंको करते हुए परस्पर आश्रित रहेंगे। ऐसे समाजकी रचना करेंगे, जिसमें सबको उठनेका अवसर रहे और जो एक दूसरेको बाधा न पहुँचाते हुए उन्नतिशील बने रहें; परस्पर सुख-दुःखके भागी बनें। भारतीयोंका वर्णाश्रम-धर्म वह सुन्दर मार्ग बतलाता है; क्योंकि उसकी आधारशिला सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर रक्खी तथा मानी गयी है। उसमें अध्यात्मतत्त्व ओतप्रोत है। वह उपनिषद्-वर्णित भूमा, सब सुखोंके केन्द्र, महती सत्ता—ईश्वरको मानता है।

यो वै भूमा तत्सुखम्। (छान्दोग्य०)

जो सबमें बड़ा है, बृहत् है, वही सब सुखोंका केन्द्र है।

नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दोग्य०)

इन अल्पभूतोंमें सुख कहाँ। इसलिये—

भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य०)

इसलिये भूमा-शक्तिको जानो और उसको जान-मानकर संसारमें विचरो, तभी सच्चा सुख पाओगे।

अतएव रूसके वर्गवाद 'Workers of the world unite'(संसारके मजदूरो! मिलकर उठो)—इसमें अन्य वर्ग मारे जाते हैं। इटलीके फासिस्टवाद 'Everything for the State' (सब कुछ अपने राज्यतन्त्रके लिये)—इसमें प्रजा दब जाती है और राज्यतन्त्रके नामपर अत्याचार चलता है। राज्यतन्त्र ही एकतन्त्र हो जाता है। जर्मनीके 'Everything for the Nation' (सब कुछ अपने राष्ट्रके लिये)—इस सिद्धान्तमें सकुचित राष्ट्रवाद चलकर सत्ता फिर एकतन्त्रके रूपमें परिणत होकर एक वर्गके हाथमें ही आती है। इसी प्रकार इंग्लैंडमें प्रजातन्त्रके नामपर धनीवर्ग अन्य वर्गोंको दबाये रखता है। यही अस्वाभाविक है। अमेरिकाकी दशा 'जलबिच मीन पियासी' की-सी हो रही है। इस प्रकारका पङ्गु, तिरछा समाजवाद कभी भी सुख नहीं दे सकता। भौतिकवाद इन्हें नष्ट कर चुका और अब भी न सँभले तो और भी नष्ट कर देगा।

१०—भारतीय समाजवाद आध्यात्मिकतासे सम्बन्ध रखता है, रखता रहा है,—इसलिये दासता, पराधीनता, परचक्र, अनर्थ-परम्पराओंमें भी वह जैसे-तैसे बचा रहा। अब तो अंगरेजी शासनचक्रका दबाव जाता रहा, इसलिये स्वतन्त्र रहकर अपनी संस्कृतिको सँभालेगा तो फिर जगद्गुरु होकर संसारका मार्गदर्शक बन सकेगा। इसके धर्म, इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति, इसके अध्यात्मवादमें अब भी वह अद्भुत शक्ति है।

श्रीडॉक्टर भगवानदासजीने अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ सेल्फ' (आत्मविज्ञान) में ठीक ही लिखा है—

It is the ancient socialism which some are convinced, is truly scientific, because based on the science of Psychology the most important of all sciences as is being widely recognized in the west now; while modern socialism (or Communism) which calls itself scientific fails to be so, because it ignores and even goes positively against some fundamental facts and laws of human nature, and therefore will fail to realize its objective, and fail exactly in the degree in and to the extent which it violates those facts and laws

All this world of objects, which is named by the word *"this"* is made of and by ideation and hence none who knows not the science of the self can carry action to fruitful issues

He who knows the inner purpose of the laws of process and its orders ideated by the self-existent, he alone can rightly ascertain and enjoin the rights and duties of the different classes of human beings, of their social Occupations (Varnas) and Vocations and of their Āśramas, "stages in life"

न ह्यध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमपाश्नुते। (मनु०

इसका भावार्थ यह है कि अनेकोंका यह विश्वास है कि प्राचीन समाजवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद है; क्योंकि वह वैज्ञानिक अध्यात्मवादपर निर्भर है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद सब विज्ञानोंका विज्ञान है। पाश्चात्यदेशवासी भी अब इस बातको मानने लगे हैं।

वर्तमान समाजवाद और साम्यवाद, जो वैज्ञानिक ही समझे जा रहे हैं, असफल हो रहे हैं; क्योंकि वे आधारभूत मौलिक प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध हैं, मनुष्य-समाजके स्वभावके विरुद्ध हैं और उतने अंशोंमें अपूर्ण तथा असफल

रहेंगे, जितना कि वे स्वभावशास्त्रसे विरुद्ध जायँगे अथवा प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध चलेंगे।

यह भौतिक संसार जिसको कि हम 'इदम्' (यह) इस नामसे पुकारते हैं, किसी विशिष्ट कल्पना अथवा व्यवस्थाके आधारपर स्थित है। इसलिये उसके भीतरके अध्यात्मतत्त्वको जो जानते हैं, वे ही भिन्न वर्गों अथवा वर्णोंके कर्तव्योंको भलीभाँति जान सकते हैं, उस वैज्ञानिक वर्णाश्रमधर्मको समझ सकते हैं। मनुमहाराजने ठीक ही कहा है कि जो पुरुष अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता, वह क्रिया-फलको नहीं प्राप्त कर सकता; वर्तमान जितने भी वाद हैं, उनकी आधार-शिला वैज्ञानिक अध्यात्मवाद नहीं है; यही सब दुःखोंका मूल है।

११—जो व्यक्ति अध्यात्मवादको जानेगा, वह ऐसे कार्य क्यों करेगा, जिससे दूसरोंको कष्ट हो। जिस समाजमें अध्यात्मवाद प्रचलित होगा, वह दूसरे समाजको, दूसरे राष्ट्र, देश, जातिको क्यों कष्ट पहुँचायेगा? हमारे प्राचीनतम पूर्वजोंने इस ऋत तथा सत्य Ethic of right good action को समझा था और वे इसी ऋत तथा सत्यका उपदेश देते रहे।

यद्यपि आर्यधर्मका पोषक, पालक आर्यराज्य सिरपर नहीं रहा, तथापि अध्यात्मवादके आधारपर भारत किसी प्रकार जीवित रहा ही। ये जो वर्णाश्रमधर्मके भव्य भग्नावशेष शेष रहे हैं, वे पुरातन समाजके भव्य भवनोंके स्मृतिचिह्न ही तो हैं। जरा सोचिये, सहस्रों वर्षोंके प्रहारोंके पश्चात् भी उनका यह वैभव है।

भारतका सब कुछ गया सो गया, पर अध्यात्म बना रहा; इसीलिये भारत बचा रहा। कर्मफल तथा ईश्वरीय न्यायसे युक्त अध्यात्मवादपर दृढ़ विश्वास रहनेके कारण भारतीय आर्यधर्म तथा आर्य-संस्कृतिके उपासकोंपर ऐसा विपरीत प्रभाव न पड़ सका, जिससे भारत सर्वथा नष्ट हो जाता। विदेशी संस्कृतियोंका आक्रमण होते रहनेपर भी बाहर-बाहर तो वह अध्यात्मवाद दबा-सा दिखलायी पड़ा, पर भीतर वे ही आध्यात्मिक संस्कार प्रसुप्त दशामें पड़े रहे और समय-समयपर होनेवाले महापुरुष उनको प्रबुद्ध करते रहे—इसीसे संस्कृति बच गयी। अब जाग्रत् होकर फिर उभरनेको है। संसारका सब वैभव एक ओर, तथा हमारी आध्यात्मिक दैवी संपत्ति एक ओर। पाश्चात्त्योंकी आसुरी संपद् भारतीय दैवी संपद्को थोड़ी देरके लिये दबा भले ही सकती थी, पर सर्वथा नष्ट नहीं कर सकती थी। अब पूर्वजोंके पुण्य-प्रतापसे भारत स्वतन्त्र हो गया है। इसकी संस्कृतिका साम्राज्य सर्वत्र होगा। 'साम्राज्य' शब्द पाश्चात्त्य अर्थोंमें नहीं, अपितु—'सर्वभूतहिते रताः' सर्वभूतहितकी दृष्टिसे साम्राज्य होगा। जब संसारमें ऐसा साम्राज्य होगा, तभी संसारके भाग्योदयका दिन समझिये।

देश-कालानुरूप प्रत्येक देशकी अपनी संस्कृति तथा सभ्यता रहती है, पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता एवं धर्म देश-कालसे बँधे हुए नहीं हैं। वे तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की नीतिपर बने हुए हैं। वे संसारभरके हितकी दृष्टिसे हैं। आर्यजातिमें निम्नलिखित विशिष्ट गुणोंका जो सामुदायिक विकास हुआ, वह अबतक चला आया। इसीसे स्पष्ट है कि वह संस्कृति कितनी अपूर्व, कितनी व्यापक है, जिसमें संकुचित राष्ट्रियताका नाम नहीं, जिसमें प्रत्येक बात मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे है, विश्वबन्धुत्वकी दृष्टिसे है, विश्वप्रेमकी दृष्टिसे है। इसी कारण आर्यजातिमें निम्न आठ गुणोंका विकास हुआ है, और ऐसा विकास हुआ कि चरम सीमाको पहुँच गया—

(१) शान्तः (२) तितिक्षुः (३) दान्तश्च
(४) सत्यवादी (५) जितेन्द्रियः।
(६) दाता (७) दयालुः (८) नम्रश्च
आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः॥

(महाभारतमें विदुर)

संसारकी किसी जातिमें समष्टिरूपसे इतने गुण नहीं मिलेंगे।



हिंदुओंकी निष्कपटता

हिंदुओंके चरित्रकी निष्कपटता तथा ईमानदारी उनकी मुख्य पहचान है। वे कभी अनीतियुक्त वचन नहीं बोलते। —श्रीक्रेडिल



मानव-संस्कृति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

संस्कृतिके सम्बन्धमे विचार करते समय एक शब्द हमारे सामने और आ जाता है, वह है सभ्यता। हमे यह विचार करना चाहिये कि क्या सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु हैं; यदि नही तो इनमेसे प्रत्येकका अर्थ क्या है, और इन दोनोमे क्या सम्बन्ध है। पर इसका ठीक-ठीक विचार करना कुछ आसान नही है; कारण, कुछ लेखकोने जो अर्थ सभ्यताका लिया है, दूसरोने वही अर्थ संस्कृतिका समझा है। कितने ही विद्वानोने दोनो शब्दोका एक ही अर्थमे भी प्रयोग किया है। कई कोष-निर्माताओने एकको दूसरेका पर्याय या समानार्थवाची लिखा है।

सभ्यताका अर्थ

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है; और सभ्यका एक अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा, समूह या समाजकी होती है। इस प्रकार सभ्यता एक सामाजिक गुण है। आदमीके समाजमे रहनेके कारण ही सभ्यताका प्रादुर्भाव होता है। साधारणतया हम किसी आदमीकी सभ्यताका अंदाज इसी बातसे लगाते है कि सभा या समाजमे उसका उठना-बैठना, वेष-भूषा, बात-व्यवहार आदि कैसा है। जो आदमी कपड़े पहने हुए हो, जिसके कपड़े साफ-सुथरे हो, जिसका शरीर, हाथ-मुँह आदि धुले हुए हो, जिसके बाल तरतीबसे हो, जिसके बैठने-उठने तथा बातचीतमे शिष्टाचारकी झलक हो, उसे हम सभ्य कहा करते है। इसमे हम उसकी बाहरी बातोकी ही ओर ध्यान देते है, आन्तरिक गुणोकी ओर नही।

आधुनिक 'सभ्य' जेंटलमैन

जिस आदमीको हम सभ्य समझते है, उसमे आन्तरिक गुण हो सकते है, और बहुधा होते है। पर यह अनिवार्य नही है। सम्भव है, वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो; अथवा उसकी शिक्षा ऐसी ही हो, जो केवल ज्ञानवृद्धिमे सहायक हुई हो, उससे उस आदमीकी सूक्ष्म या उच्च भावनाओका विकास न हुआ हो। कितने ही युवक 'बूटेड, सूटेड जेंटलमैन' होते है। इनके हाथमे छड़ी, मुँहमे पान तथा बीड़ी या सिग्रेट और जेबमे या कलाईपर घड़ी होती है। इनके बाल फैशन-कट और मूँछे सफा-चट, सिरमे तेल-फुलेल होता है। ये नंगे सिर रहते है या 'हैट' लगाते हैं; अथवा अगर टोपी ही ओढ़ते है तो बड़े बाँके ढंगसे। इनके चाल-ढालमे अजीब अदा होती है। इन्हे अंग्रेजी भाषाका ज्ञान चाहे अधूरा ही हो, ये अपनी भाषा जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर बोलते है तथा उसमे स्थान-स्थानपर अपने विदेशी शब्द-ज्ञानकी विज्ञप्ति देकर साधारण जनतापर अपना रोब जमाया करते है। मामूली आदमी इन्हे 'सभ्य' कहते या समझते है। ये भी अपने, खासकर ग्रामीण भाइयोको 'असभ्य' माना करते है।

'सभ्य' आदमीका व्यवहार, भौतिक उन्नति

'सभ्य' व्यक्ति प्रायः अपनी (भौतिक) उन्नतिमे लगा रहता है। वह अपने स्वार्थ-साधनकी बात सोचता है। उसे इस बातसे विशेष प्रयोजन नही होता कि दूसरोकी दशा कैसी है, उनका कष्ट किस प्रकार निवारण किया जाय। इस प्रकार सभ्य व्यक्तियोमे रिश्वतखोरी, छीन-झपट, छल-कपट, चालबाजी, धूर्तता, दूसरोका पीड़न या शोषण बहुत अधिक हो सकता है। हाँ, ये लोग अपने इन कृत्योको इस प्रकार करते है कि इनके दोष साधारण आदमीकी समझमे नहीं आते। पर इससे वस्तुस्थितिमे अन्तर नही आता। अक्सर देखनेमे आता है कि रेलकी यात्रामे 'सभ्य' कहे जानेवाला व्यक्ति अपना बिस्तर लगाकर इतनी जगह घेर लेता है कि दूसरोको बैठनेको भी स्थान नही मिलता; परंतु जब यह गाड़ीमे सवार होता है तो इसे किसी रोगी आदमीका लेटा रहना सहन नही होता। 'सभ्य' आदमीकी बात-व्यवहार-का अनुभव खासकर पुलिस, रेल और अदालतोमे काम करनेवालोके प्रतिदिनके जीवनसे अच्छी तरह हो जाता है। अनेक बार ऐसे ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदाधिकारी भी भ्रष्टाचारमें लिप्त पाये जाते है, जिनकी 'सभ्यता' सर्वमान्य होती है।

यूरोपियनोंका दृष्टिकोण

इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने आपको एशिया-अफ्रीकावालोसे अधिक सभ्य समझते है और दूसरोको असभ्य या अर्धसभ्य कहते हैं तो उनके सामने त्याग, दया, परोपकार आदि कोमल भावनाओकी तुलनाका प्रश्न नही होता। मुख्य विचार यही होता है कि सासारिक सुख-साधन किसके पास अधिक है, भौतिक या शारीरिक शक्तिमे, सेना और युद्ध-सामग्री आदिकी दृष्टिसे कौन अधिक बलवान् है? कौन

विजेता या स्वामी है और कौन पराजित या अधीन ? इससे यही प्रतीत होता है कि यूरोप-अमरीकावाले प्रायः सभ्यताका अर्थ बाहरी वैभव, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, धन-प्रभुता आदि लेते हैं। समाजमें कोई व्यक्ति या समूह आदि इन बातोंमें जितना बढ़ा-चढ़ा होता है, उतना ही वह अधिक सभ्य माना जाता है।

संस्कृति और संस्कार

संस्कृतिका अर्थ जाननेके लिये 'संस्कार' शब्द विचारणीय है। संस्कारका अर्थ शुद्ध करना, साफ करना, चमकाना, भीतरी रूपको प्रकाशित करना है। यद्यपि संस्कारोंका परिचय कुछ बाहरी बातोंसे होता है, और हिंदू-धर्मके अनुसार मनुष्यके जो संस्कार होते हैं, उनमें कुछ क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं, फिर भी संस्कारोंका उद्देश्य विशेषतया मानसिक और आध्यात्मिक होता है। उनमें रूढ़ियाँ या बाहरी बातें गौण होती हैं; मुख्य लक्ष्य यह होता है कि जिस व्यक्तिका संस्कार किया जाय, उसके मन और आत्मापर अच्छा प्रभाव पड़े। जब हम किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है, या उसके संस्कार अच्छे हैं, तब हमारा आशय उस व्यक्तिकी बाहरी बातों या व्यवहारसे इतना नहीं होता, जितना उसकी सद्भावना, सच्चरित्रता तथा मन और आत्माके विकाससे होता है, जिसकी प्रेरणासे वह व्यक्ति अपने विविध सत्कार्य करता है या अपने सद्गुणोंका परिचय देता है।

संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणोंका समूह है, वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारोंको निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषाको बनाती है, हमारी संस्थाओंको जन्म देती है। संस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्त-वृत्तियोंका कितना विकास कर पाये हैं। पशु-जीवनसे हम कितना ऊँचा उठ सके हैं। ममता प्राणिमात्रका स्वाभाविक गुण है; पर एक आदमीकी ममता उसके अपने परिवारतक ही सीमित रहती है, दूसरेकी अपने परिवारसे बाहरके भी दुखी बालक या व्यक्तितक पहुँचती है और तीसरेकी अपने शत्रुसे भी सद्व्यवहार करनेकी प्रेरणा करती है। इससे अवश्य ही एकसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा व्यक्ति अधिक संस्कृत कहा जायगा।

संस्कृत व्यक्तिका भोजन-वस्त्र

संस्कृतिमें भौतिक आवश्यकताओंकी अवहेलना तो नहीं की जाती, पर उन्हें गौण स्थान दिया जाता है। सुसंस्कृत व्यक्ति भोजन करता है, पर केवल इसलिये कि यह कार्य शरीरयात्राके लिये, जीवित रहनेके लिये आवश्यक है। इसलिये नहीं कि खानेमें जीभका स्वाद है। इस प्रकार उसका भोजन साधारण होना स्वाभाविक है, वह अपने भोजनके प्रकार या विधिको अपने वैभव या ऐश्वर्यकी विज्ञप्तिका साधन नहीं बनायेगा। संस्कृत व्यक्ति कपड़ा तो पहनेगा; पर इसमें उसका उद्देश्य केवल लज्जा-निवारण या शरीरकी सर्दी-गर्मीसे रक्षा करना होगा, समाजमें अपनी अमीरीकी घोषणा करना या आदर-प्रतिष्ठा पाना नहीं। इसलिये वह अपने पास कई-कई जोड़ी कपड़े रखनेकी और एक बारमें अपने शरीरपर बहुत-से कपड़े लादनेकी ज़रूरत नहीं समझेगा। महात्मा गांधी-जैसा सुसंस्कृत व्यक्ति वायसराय या सम्राट्से मिलते समय 'अर्ध-नग्न' या 'अर्ध-सभ्य' रूपमें जा सकता है, और इंग्लैंड-जैसे ठंडे प्रदेशमें दो कम्बलोंमें गुजर कर लेता है।

परोपकाराय सतां विभूतयः

संस्कृत व्यक्ति शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल आदिकी उपेक्षा नहीं करता; परंतु वह इन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छाओंकी पूर्ति या ख्यातिके साधनके रूपमें नहीं देखता। उसके लिये तो ये चीजें, उसके धन आदिकी तरह, समाजके हित या सुखके साधनमात्र हैं। साधारण रहन-सहनवाला आदमी सभ्यताके इन चिह्नोंसे दूर रहते हुए भी संस्कृत हो सकता है, यदि उसमें सहानुभूति, उदारता, प्रेम, परोपकार आदिकी भावनाओंका विकास हो गया हो, यदि वह दूसरोंका कष्ट निवारण करनेके लिये स्वयं दुःख झेलनेको तैयार हो, उसका हृदय मानव-सेवाके लिये बेचैन हो, वह सब प्राणियोंमें अपनी ही आत्माका अनुभव करता हो।

क्या संस्कृतिके भेद हो सकते हैं ?

हम बहुधा 'संस्कृति'के साथ विविध विशेषणोंका प्रयोग होते देखते हैं। कहीं हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृतिकी बात होती है, कहीं पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतिकी। भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, ईरानी संस्कृति या सोवियट संस्कृति-सम्बन्धी लेख या पुस्तकें हमारी दृष्टिमें आती हैं। तो क्या संस्कृतिके अलग-अलग भेद हो सकते हैं ? क्या देश या धर्म (सम्प्रदाय) के आधारपर संस्कृतियोंका वर्गीकरण ठीक है ?

वास्तवमें जब हम किसी समूहकी संस्कृतिकी बात कहते हैं तो हमारा आशय उस समूहके रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार आदिसे होता है। पर ये बातें तो,

जैसा हमने पहले कहा है, सभ्यताके अन्तर्गत आती हैं। इन्हें संस्कृतिका अङ्ग माननेसे, संस्कृतियोंकी संख्या असंख्य कर देनेसे तो संस्कृतिका उपहास ही होता है।

विविध जातियोंको अपनी-अपनी संस्कृतिका अहङ्कार

बहुत-से आदमियोंकी यह इच्छा रहती है कि अपनी जाति या धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये वे उसकी संस्कृतिको ऊँची और दूसरी संस्कृतियोंसे भिन्न कहें। प्राचीन कालमें समय-समयपर विविध जातियोंके कुछ लोग यह दावा करते रहे हैं कि उनकी ही जाति वैसी ऊँची संस्कृति रख सकती है, अन्य जातिवालोंकी संस्कृति वैसी ऊँची हो ही नहीं सकती। आधुनिक कालमें यूरोपकी गौरवर्ण जातियोंको अपनी संस्कृतिका विशेष गर्व है। वे रंगदार (काली-पीली) जातियोंको सभ्य और सुसंस्कृत बनानेका भार अपने ऊपर उठाये हुए हैं। गत वर्षोंमें जर्मनोंने 'जर्मन कल्चर (संस्कृति)' को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया था।

संस्कृतिके स्तर हो सकते हैं, भेद नहीं

हम भूल जाते हैं कि मनुष्य सब जगह मनुष्य है। उसकी जाति, रंग-रूप आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उसकी प्रकृति संसारभरमें एक-सी है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिकी प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत सभीमें पायी जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह कुछ कम-ज्यादा सभीमें हैं। हर्ष और शोकसे सभी न्यूनाधिक प्रभावित होते हैं। अपने शरीरकी रक्षा करना, अपने वंशकी वृद्धि और विस्तार करना सभी चाहते हैं। सुखकी खोज सभीको होती है। इसी प्रकार संस्कृत होनेकी क्षमता सभीमें है। यह किसी जातिविशेषमें परिमित नहीं। किसी जातिके मनुष्य ऊँची संस्कृतिके एकाधिकारी नहीं हो सकते एक जाति, रंग या देशके मनुष्य जितने संस्कृत हुए हैं, दूसरी जाति, रंग या देशके मनुष्योंमें उतने ही संस्कृत होनेकी क्षमता है। हाँ, इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिये; इसके अभावमें वे कुछ समयतक निचले स्तरपर रह सकते हैं। परंतु इस दशामें यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञानमूलक है कि एक जाति स्वभावतः ऊँची संस्कृतिवाली है और दूसरी नीची संस्कृतिवाली। सुविधाएँ मिलनेपर प्रत्येक जाति संस्कृतिमें दूसरी जातिसे प्रतियोगिता या तुलना कर सकती है। इस प्रकार संस्कृतिके ऊँचे-नीचे स्तर तो हो सकते हैं और होते ही हैं; परंतु जाति, धर्म या देशके आधारपर संस्कृतिके भेद नहीं हो सकते। निदान, हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति आदि भेद करना या भारतीय संस्कृति और चीनी संस्कृति आदिकी बात उठाना ठीक नहीं है। हाँ, इसके बजाय यदि यह कहा जाय कि मानव-संस्कृतिके विकासमें अमुक जाति या धर्मके अनुयायियोंने इतना भाग लिया, उन्होंने मानवताको ऊँचा उठानेमें इन-इन सिद्धान्तों या आदर्शोंकी खोज की, और उनके अनुसार यहाँतक व्यवहार किया तो बात कुछ सार्थक भी हो सकती है।

विविध जातियोंके सांस्कृतिक स्तर समान होनेकी प्रवृत्ति

प्राचीन कालमें आमद-रफ्त या यातायातके साधन कम थे। एक जातिका दूसरी जातिसे सम्पर्क कम होता था। प्रत्येक जाति बहुत कुछ एकान्तका-सा जीवन व्यतीत करती थी। उसे इस बातका ज्ञान या अनुभव नहीं होता था कि दूसरी जातिमें कैसी विचारधारा चल रही है, कैसे सिद्धान्तोंका मनन और आदर्शोंकी प्रतिका प्रयत्न हो रहा है। इस प्रकार प्रायः हर एक जातिका सांस्कृतिक विकास अलग-अलग हुआ। एक जाति कुछ बातोंमें आगे बढ़ी, दूसरीने कुछ अन्य बातोंमें प्रगति की। कई जातियोंमें कुछ सिद्धान्त या आदर्शोंमें समानता भी रही। इस प्रकार हर एक जातिके सांस्कृतिक विकासका स्तर अलग-अलग रहा। पीछे ज्यों-ज्यों आमद-रफ्तके साधनोंकी वृद्धि हुई, भिन्न-भिन्न जातियों या देशोंके आदमियोंमें सम्पर्क बढ़ा, उनमें विचारोंके आदान प्रदानकी वृद्धि हुई। अब भिन्न-भिन्न जातियोंके सांस्कृतिक स्तरमें उतना अन्तर रहनेकी सम्भावना नहीं है।

'असभ्य' जातियोंका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो सकता है

इस प्रसङ्गमें दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिये। पहली बात यह है कि यह आवश्यक नहीं कि जो जातियाँ असभ्य समझी जाती हैं, उनकी संस्कृतिका स्तर नीचा हो। प्रायः सभ्यताका दम भरनेवालोंने ऐसा प्रचार कर रक्खा है कि असभ्य जातियोंकी संस्कृति निम्न श्रेणीकी है; उनमें सदाचार, नीति-नियमोंका पालन आदि बहुत कम होता है। यह बहुत कुछ अंशमें उन्होंने अपने अहंकारवश किया है। हाँ, यह भी ठीक है कि उन्हें असभ्य जातियोंके विषयमें यथेष्ट ज्ञान नहीं था। क्रमशः अन्वेषकों और यात्रियोंने इस विषयमें

अनुसन्धान किया तो पता लगा कि असभ्य मानी जानेवाली जातियाँ अपनी संस्कृतिमें सभ्यलोगोंके समान तथा उनसे भी बढ़कर हो सकती हैं। संस्कृति ऊँची होनेके लिये किसी जातिका सभ्यतामें अग्रसर होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरणके लिये निग्रो अर्थात् अमरीकाके हबशियोंको संसारने प्रायः बहुत निम्न संस्कृतिका कहा जाता है; सभ्यलोगोंने प्रचार ही ऐसा कर रक्खा है। परंतु सभ्यताका दम भरनेवाले अमरीकन बहुधा उनसे कैसा अमानुषिक व्यवहार करते हैं, यह अध्ययनशील पाठकोंसे छिपा नहीं। जबतक अमरीकामें 'लिंचिंग' आदिकी कुप्रथाएँ मौजूद हैं, कौन सत्यताप्रेमी निग्रो लोगोंके सांस्कृतिक स्तरको अमरीकाके गोरे लोगोंके सांस्कृतिक स्तरकी अपेक्षा नीचे दर्जेका कहनेका दुस्साहस करेगा।

महापुरुष सब जातियोंके लिये होते हैं

अब हम दूसरी बात लें। एक जाति या देशके कुछ व्यक्तिविशेष नये सिद्धान्तों और आदर्शोंको जनताके सामने रखते हैं। आरम्भमें उसी जातिमें उनका चलन विशेषरूपसे होता है। परंतु इससे वे सिद्धान्त या आदर्श उसी जातिके नहीं हो जाते। उनमें एक सचाई होती है; वह सचाई जैसी उस जातिके मनुष्योंके लिये होती है, वैसी ही अन्य जातियोंके मनुष्योंके वास्ते होती है। सभी जातियाँ उससे लाभ उठा सकती हैं। महापुरुष चाहे जिस जातिमें जन्म लें; पर वे उस जातिविशेषके लिये ही नहीं होते, वे तो सबके लिये समान रूपसे होते हैं। कोई जाति यह गर्व भले ही करे कि उसमें पैदा हुए महापुरुषने संसारके लिये सिद्धान्तों या आदर्शों आदिके रूपमें बहुमूल्य भेंट दी; पर उसका यह दावा करना भूल है कि उस महापुरुषद्वारा निर्धारित सिद्धान्त आदिपर उसी (जाति) का अधिकार है। क्या श्रीकृष्णका निष्काम कर्म केवल हिंदुओंके ही लिये है? क्या गौतम बुद्धकी अहिंसापर केवल भारतवर्षका या बौद्ध-धर्मानुयायियोंका ही स्वत्व है? क्या न्यूटनका गुरुत्व-आकर्षण सिद्धान्त केवल अंग्रेजोंकी मिलकियत मानी जा सकती है? लोकमान्य तिलकके इस वाक्यमें कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' प्रत्येक देशके मनुष्योंकी राजनैतिक माँग उपस्थित है। महात्मा गांधीके सत्याग्रह और असहयोगका संदेश दूर-दूरके देशोंकी पीड़ित और दलित जनताने अपनाया है और अपनायेगी। और कौन जाने कोई देश ऐसी प्रगति कर जाय कि वहाँका औसत नागरिक महात्मा गांधीके प्रति भारतके औसत नागरिककी अपेक्षा अधिक श्रद्धालु हो जाय। अस्तु, विचारधाराएँ किसी सीमाके अंदर कैद नहीं रह सकतीं। अवश्य ही उपज तो ये किसी खास जाति या देशकी ही होंगी, परंतु मिलकियत उसीकी न रहकर समस्त मानवजाति या विश्वभरकी हो जायँगी।

संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है; हम उसका विकास करें

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि किसी खास जाति या देशको ही महापुरुष पैदा करनेका ठेका नहीं मिला है। महापुरुष कहीं भी पैदा हो सकते हैं। उनके लिये काले, गोरे या पीले—सभी रंगोंके वंश समान हैं। वे हरी-भरी भूमिको ही नहीं, रेगिस्तान और पहाड़ी या जंगली भूमिको भी समानरूपसे कृतार्थ कर सकते हैं। उनके द्वारा आविष्कृत या निर्धारित सिद्धान्त मानव-संस्कृतिके अङ्ग हैं। अतः संस्कृतिपर हिंदू, मुस्लिम या ईसाईकी अथवा भारतीय, अंग्रेज, जर्मनकी या पूर्व, पश्चिम आदिकी छाप लगाना ठीक नहीं। सचाई सबके लिये सचाई है। उसके हिंदू सचाई, मुस्लिम सचाई आदि भेद करना गलत है। गणित या विज्ञान आदिका प्रत्येक नियम सबके लिये समान है, उसका जाति या धर्म आदिके आधारपर विभाजन नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार संस्कृतिके भी, जाति या धर्म अथवा देश आदिके आधारपर अलग-अलग भेद नहीं किये जा सकते; वह एक अविभाज्य वस्तु है। वह मानव-संस्कृति है। हमें चाहिये कि उसके विकास और प्रचारमें, मानवताको ऊँचा उठानेमें, अधिक-से-अधिक भाग लेकर अपना जीवन सफल करें।

भारतीयोंकी अकृत्रिमता

भारतीयोंकी मुखाकृतिमें जीवनके प्रकृत रूपका दर्शन होता है। हम तो कृत्रिमताका आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुखमण्डलकी सुकुमार रूप-रेखाओंमें ही कलाके कराङ्गुष्ठकी छाप दिखायी पड़ती है।

—जर्ज बर्नर्डशा

हिंदू-संस्कृति (?)

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

'हिंदू-संस्कृति' शब्द मुझे बेमानी लगता है। 'हिंदू' शब्दका इतिहास हमें गौरवान्वित नहीं कर सकता। भले ही आज यह शब्द हमें कितना ही प्रिय हो गया हो और हमें उसपर कितना ही अभिमान भी होता हो। हाँ, 'आर्य-संस्कृति' शब्द अपने मानी रखता है और वह आसानीसे समझमें भी आ जाता है। यद्यपि 'आर्य' शब्द आगे चलकर जातिवाचक बन गया, तथापि मूलमें वह गुणवाचक था। उसी अर्थमें 'आर्य' शब्दका असली महत्त्व एवं गौरव है। आर्यका साधारण अर्थ है श्रेष्ठ, भला। संसारमें हम मनुष्य जातिके दो ही स्वाभाविक विभाग कर सकते हैं—या तो स्त्री और पुरुष, या सज्जन और दुर्जन। स्त्री-पुरुषोंमें भी सज्जन-दुर्जन दोनों मिलते हैं, अतः असली भेद सज्जन-दुर्जनका ही रह जाता है। पूर्वी-पश्चिमी, काले-गोरे, हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि भेद सज्जन-दुर्जन-भेदकी अपेक्षा अधिक परिस्थिति-जन्य हैं। सज्जन-दुर्जन-भेद चारित्रिक गुणोंसे सम्बन्ध रखता है, अतः अधिक गहरा एवं मौलिक है। अतः संस्कृतिको भी हम दो ही भागोंमें बाँट सकते हैं—सज्जन-संस्कृति, दुर्जन-संस्कृति। पुरानी भाषाका आश्रय लें तो आर्य-संस्कृति और अनार्य-संस्कृति।

अब रहा यह प्रश्न कि सज्जन कौन और दुर्जन कौन। तो इसका उत्तर गीताने और दुनियाके कई आचार्योंने एवं संतोंने बहुत संतोषजनक दे दिया है। गीताने जिसे दैवी-सम्पत्ति एवं आसुरी-सम्पत्ति कहा है, वही सज्जन-संस्कृति या दुर्जन-संस्कृति है। तुलसीदास, एकनाथ, रामदास—सभी संत-महात्माओंने संत-असंतकी या सज्जन-दुर्जनकी विशद व्याख्याएँ की हैं। सज्जनका प्रधान लक्षण है दूसरोंके सुख-दुःखका पहले खयाल करना; दुर्जनका प्रधान लक्षण है अपनी स्वार्थ-सिद्धि सबसे पहले करना—दूसरोंको दुखी, अपमानित, शोषित करके भी, खदेड़के भी!

अतः मेरी समझमें तो हम जो 'कल्याण'के उपासक हैं, सज्जन-संस्कृतिको अपनानेकी और दुर्जन-संस्कृतिसे दूर रहनेकी सतत चेष्टा करते रहें। यदि दूसरोंको दुर्जन कहते रहनेकी अपेक्षा हम स्वयं अधिक सज्जन बननेका प्रयास करते रहें तो जिसे हम आज 'हिंदू-संस्कृति' कहते हैं, 'हिंदू-समाज' कहते हैं, उसका गौरव अदम्य गतिसे बढ़ता रहे।

आजकी दुनियामें हमारे अकेले या एकाकी सज्जन बननेसे काम नहीं चलेगा; हमें अपने आस-पास भी सज्जन-समाज बनाना और बढ़ाना है। किंतु जो स्वयं सज्जन-संस्कृतिके, या सुसंस्कृत होंगे, वही तो दूसरोंको सुसंस्कृत बना सकेंगे!

हिंदू-संस्कृति या आर्य-संस्कृतिकी यदि कोई विशेषता कही जा सकती है तो वह यही कि उसने स्वार्थ-सिद्धिकी अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा; स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थपर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्तिको समाजमें, समष्टिमें, भगवान्‌में लीन होनेका उपदेश दिया है और मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि, जो क्रिया, हमें भगवान्‌की तरफ ले जाती है, वह हिंदू-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, सज्जन-संस्कृति, सुसंस्कृति है; जो हमें उससे विमुख बनाती है, वह अहिंदू, अनार्य, दुर्जन-संस्कृति और कुसंस्कृति है।

सज्जन-दुर्जन

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्ये चान्यद्दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः। अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

दुर्जनोंके मनमें कुछ और, वाणीमें कुछ और एवं क्रियामें कुछ और होता है; परंतु सज्जनोंके वही मनमें होता है, वही वाणीमें और वही कर्ममें।

सज्जन नारियलकी भाँति अंदरसे कोमल और सुन्दर होनेपर भी ऊपरसे कठोर तथा जटिल दीखते हैं और दुर्जन बेरकी तरह अंदरसे कठोर और असुन्दर होकर ऊपरसे कोमल और मनोहर लगते हैं।

हिंदू-संस्कृतिके मौलिक लक्षण

आजकल हिंदू-संस्कृतिकी बहुत दुहाई दी जाती है; परंतु वास्तवमें हिंदू-संस्कृति क्या है, इसका शास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ कुछ दिग्दर्शन किया जाता है। शास्त्रोंमें लिखा है—

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः॥
क्रियामूलं साधकश्च क्रियापि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं चैव सुखमानन्दमूलकम्॥
आनन्दो ज्ञानमूलं च ज्ञानं चै ज्ञेयमूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं तु ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशानभावातीतं सुनिश्चितम्॥
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशो भावमात्रकम्॥

अर्थात् 'जातिका मूल आचार है, आचारका मूल शास्त्र है, शास्त्रोंका मूल वेद है, वेदोंका मूल साधक है, साधकोंका मूल क्रिया है, क्रियाओंका मूल फल है, फलका मूल सुख (विषयसुख) है, सुखोंका मूल आनन्द (ब्रह्मानन्द) है, आनन्दका कारण ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, ज्ञेय वस्तुका मूल तत्त्वानुभव है, समस्त तत्त्वोंका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्यभाव है और इस तरहका ऐक्य (अद्वैत) ही सब तरहकी साधनाओंका मूल है। वह ऐक्यभाव भावातीत होकर निखिल चराचर विश्वका भावप्रकाशक होता है।'

वेद और शास्त्रोंमें आर्य-संस्कृतिका विज्ञान क्या है, यह उक्त शास्त्र-वचनोंकी गवेषणासे जाना जा सकता है। आर्य-संस्कृतिका मूल आचार है। आर्यजाति जो धर्मप्राण है, उसके प्राणस्वरूप हिंदू-धर्मके सोलह अङ्ग प्रधान हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने सनातनधर्मको सोलह प्रधान अङ्गोंमें विभक्त किया है। और इस धर्मको पूर्णचन्द्रकी तरह सोलह कलाओंसे पूर्ण बताया है। हिंदू-धर्मके ये ही सोलह अङ्ग हिंदू-संस्कृतिके मूलाधार हैं।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापाररूपी सदाचारसमूह इसका प्रथम अङ्ग है। आत्माकी ओर ले जानेवाले यावत् विचार सद्विचार कहाते हैं। यह इसका दूसरा अङ्ग है। इस दूसरे अङ्गकी पूर्तिके लिये आर्यजाति शिखा-सूत्र धारण करती है। शिखाके द्वारा यह शरीर देव-मन्दिर समझा जाता है। शिखा-बन्धनके समय ब्रह्मा, विष्णु, महेशका ध्यान किया जाता है। सूत्रमें जो तीन लड़ें होती हैं, वे अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिकी द्योतक हैं। वर्णधर्म सनातनधर्मका तीसरा अङ्ग है; क्योंकि रजोवीर्यशुद्धिसे ही जातिकी शुद्धि बनी रहती है। और जातिकी आधिभौतिक शुद्धि पिताके वीर्य और माताके रजकी शुद्धिपर निर्भर रहती है। जातिकी इस शुद्धिका मूल माताओंके सतीत्व-धर्मके पालनपर ही सम्पूर्णरूपसे निर्भर है। इस कारण आर्य नारियोंमें सतीत्वका प्राधान्य रहता है। और यह इसका चौथा अङ्ग है। हिंदू-जातिके धर्मका पाँचवाँ अङ्ग आश्रम-धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य-जातिका जीवन व्यवस्थित रहता है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति कैसे की जाती है, इसके विषयमें सब तरहकी शिक्षा दी जाती है। गृहस्थाश्रममें धर्मानुकूल प्रवृत्ति करायी जाती है। यहाँ जीवनकी समाप्ति नहीं होती। तीसरे वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती और चौथे संन्यासाश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इन्हींके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सार्थकता होती है। दैव-जगत्‌पर विश्वास हिंदू-धर्मका छठा अङ्ग है। यह स्थूल जगत् सूक्ष्म दैवी जगत्‌के अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डके सृष्टि-कार्यमें भगवान् ब्रह्मा, रक्षा-कार्यमें भगवान् विष्णु और प्रलय-कार्यमें भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक प्रधान देवता अपने-अपने पदपर नियुक्त हैं। दूसरी ओर नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यका संचालन करते हैं। सब देवता कर्म-राज्यका संचालन करते हैं। और अर्यमा आदि नित्य पितृगण स्थूल राज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मके अनुसार सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर, अन्धता, बधिरता आदि नित्य पितृगण ही माताके गर्भमें सृजन करते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध भूतसंघकी व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं। किसी मनुष्यको मारना या बचाना, यह सब देवताओं और असुर आदिकी प्रेरणासे ही मनुष्य किया करता है। राजा या विचारपति जब विचार करने बैठता है, तब यदि वह आस्तिक हो तो उसके हृदयमें देवता प्रेरणा किया करते हैं। यही सब दैवी राज्यकी अलौकिक क्रियाएँ हैं। भगवान्‌की दैवी शक्तिपर स्थिर विश्वास रखकर उनके तथा देवताओं एवं असुरोंके अवतारोंपर विश्वास करना हिंदू-धर्मका सातवाँ अङ्ग है।

योगमूलक और भक्तिमूलक हिंदू-धर्मकी जो उपासना-पद्धति है, वह इसका आठवाँ अङ्ग है। स्थूलध्यानमूलक मन्त्रयोग, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग, बिन्दुध्यानमूलक लययोग और निर्गुणध्यानमूलक राजयोग—ये ही योगमार्गके चार भेद हैं। इसीसे हिंदुओंकी उपासना-प्रणाली बहुत विस्तृत है। मूर्ति आदि सोलह प्रकारके दिव्य देशोंमें पीठ स्थापन करके सर्वव्यापक भगवत्सत्ताकी उपासना करना हिंदू-धर्मका नवाँ अङ्ग है। शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक इसका दसवाँ अङ्ग है। यह अङ्ग बहुत गम्भीर विज्ञानसे पूर्ण है। जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोशोंसे आच्छादित रहता है। शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विचारके द्वारा उन कोशोंकी पवित्रता सम्पादन करता हुआ अन्तमें उन्नत साधक मुक्त हो जाता है। इन पाँचों कोशोंके पाँच स्वतन्त्र अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। अन्नमय कोशके दोषको मल कहते हैं। इस मलका लक्षण तो स्पष्ट ही है। प्राणमय कोशके दोषको विकार कहते हैं। शवादिके स्पर्श करनेसे यह विकार-शक्ति बढ़ती है, क्योंकि प्राणमय कोश अन्य कोशोंको लेकर लोकान्तरमें चला जाता है, तब भी मृत देहमें अन्यकी प्राणशक्तिको खींचनेकी शक्ति बनी रहती है। इसी कारण अवगाहन, स्नान, सुवर्णस्पर्श, अग्नि-स्पर्श आदिकी विधि श्मशान-यात्राके बाद करनेकी शास्त्राज्ञा है। मनोमय कोशकी बाधक शक्तिको विक्षेप कहते हैं। ये दोष अशौच, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके समय आ जाते हैं। इनके निवारणके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। विज्ञानमय कोशके दोषको आवरण कहते हैं। और आनन्दमय कोशके दोषको अस्मिता कहते हैं। कर्ममीमांसा-शास्त्रमें इन दोषोंसे बचनेके लिये ही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेककी विधि बतायी गयी है।

यज्ञों, महायज्ञोंपर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका ग्यारहवाँ अङ्ग है। यज्ञ-महायज्ञके हिंदूशास्त्रोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। जो धर्मकार्य एक आधारमें श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करके साथ-ही-साथ दैवी राज्यके संवर्धनका कारण होता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो साधन करता है—जैसे कि पुत्रेष्टियाग, अग्निहोत्रादि—उसे यज्ञ कहते हैं। और जो जगत्‌के मङ्गलके लिये किया जाता है—जैसे पञ्च महायज्ञ, उसको महायज्ञ कहते हैं। ऋषियोंकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं और देवताओंके संवर्द्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे देवयज्ञ कहते हैं। अर्यमा आदि नित्य पितृगण और अपने मृत पूर्वजोंकी तृप्तिके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ है और उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इस चतुर्विध भूतसंघके मङ्गलके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य मनुष्य-जातिका अङ्ग है। इस कारण कर्तव्य-बुद्धिसे भोजनसे पहले जो कोई आ जाय, उसे अन्नादिसे तृप्त करना नृयज्ञ है। ये पञ्च महायज्ञ आर्यजातिके नित्य कर्म हैं, परंतु इस समय इसको लोग बिल्कुल भूल गये हैं। वेदों और वेदसम्मत स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रोंमें स्थिर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका बारहवाँ अङ्ग है। कर्म तथा कर्मका बीज-संस्कार और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियापर दृढ विश्वास रखना हिंदू-धर्मका तेरहवाँ अङ्ग है। जन्मान्तरवादपर विश्वास हिंदू-धर्मका चौदहवाँ अङ्ग है। मनुष्य मृत्युलोकमें आता है और जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार—इन सातोंके अनुसार भोगता है। और भोग लेनेपर प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोक, असुरलोक, स्वर्ग आदि लोकोंमें जाता है और घूम-फिरकर पुनः इस मृत्युलोकमें आ जाता है। इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना श्राद्ध-विधि, तर्पण-विधि और दायभाग-विधियाँ स्मृतिकारोंने बाँधी हैं और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञान-सिद्धि नहीं है। वह बड़ी सद्व्यवस्थासे बाँधी गयी है। निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधि जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी है, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अङ्ग है। और जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अङ्ग है।

हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले इन बातों-की ओर ध्यान देना आवश्यक है। 'सूर्योदय'



जो भौतिक जीवनको संपूर्ण जीवन मानकर उसीके तदाकार हो जाता है, शरीरको ही अपना आत्मा समझ लेता और अपने आन्तर, नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वको, अपने उस सदात्माको भुला देता है जो इस भौतिक ढाँचेका नियन्ता है, जो एक तरहसे जब चाहे इस शरीरको धारण कर लेता और जब चाहे छोड़ देता है।

४. आन्तर ऐक्यका दर्शन और उसका महत्त्व

परंतु जो मनुष्य इस भौतिक ढाँचेका, इसकी आवश्यकताओं और भोगोंका मोह पार कर चुका है, जिसने अपने सच्चे, आध्यात्मिक और नैतिक स्वरूपको प्राप्त कर लिया है, उसके लिये यह मूल आध्यात्मिक विधान बहुत ही रमणीय है। उसके साथ उसका एकीभाव हो जाता है। उसका अन्तःस्वरूप अन्तर्जगत्का ही अंश है। अतः उसे इस अन्तर्जगत्के आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्रोंके नियम विजातीय नहीं मालूम होते। इन नियमोंके साथ उसका तादात्म्य होता है। वह इन असंख्य विविध रूपोंमें सर्वत्र एकत्व और सामञ्जस्य देख पाता है। इस परिदर्शनसे सब झगड़े मिट जाते हैं। कारण, जितने भी परस्पर विरोध, झगड़े या संघर्ष हैं, सब इस परम सत्यकी अप्रतीतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

५. एकत्वके परिदर्शनका महत्त्व

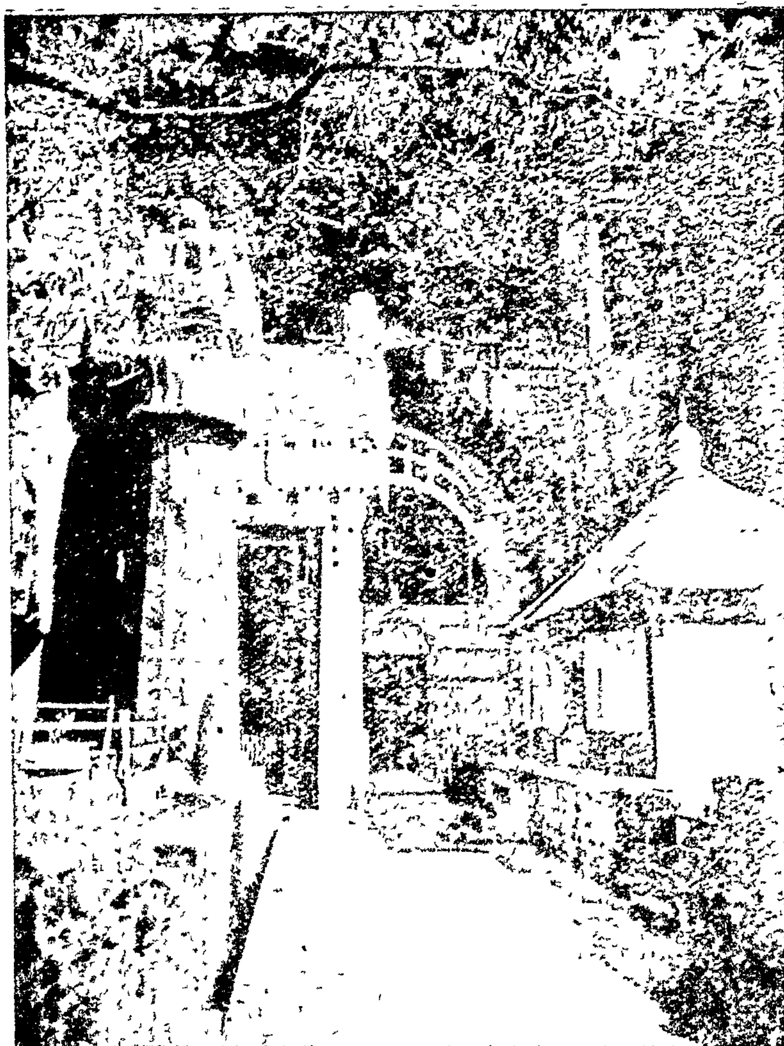
हमारा सच्चा, स्वरूपगत समत्व या भ्रातृभाव इसीमें है। जो संघटन, संस्थाएँ, परम्पराएँ और रीति रिवाज इस परिदर्शनसे उत्पन्न होते हैं, उन्हींसे मानव-जगत्का सच्चा कल्याण हो सकता है। इन सबके अंदर आत्मसत्ताकी प्रतीति ही असली चीज है, अन्यथा वे शवोंके ढेर हैं—मानवजातिके सिरपर व्यर्थके महाभयानक बोझ हैं! जीवनके विविध रूपोंमें यही सत्य असली तत्त्व है। रूपका भी अपना एक मूल्य और महत्त्व है और वह यही है कि अन्तःस्थ आत्मा परिस्थितिकी आवश्यकताके अनुरूप वेष धारण कर लेता है। पर अन्तःस्थ आत्मासे वियुक्त होनेपर उस रूपका किसी शवके समान कोई मूल्य और आकर्षण नहीं रह जाता। कुटुम्ब, समाज, राज्य, कोई व्यापारिक संघ या विद्याप्रचारक सभा आदि अनेकविध संघटन मनुष्योंके परस्पर स्नेह और उन्नति-साधनके लिये आवश्यक होते ही हैं। पर जब इनमें एकत्वका भाव नहीं होता, तब परस्पर सहयोग हवा हो जाता है! जिस उद्देश्यसे ये संस्थाएँ बनती हैं, वह उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इसी परम सत्यकी उपेक्षाके कारण ही आधुनिक प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, समाजतन्त्र, साम्यतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि संघटन परस्परविरोध, शोषण, परापहरण और युद्धकी ही अवस्था उत्पन्न करनेके कारण बनते हैं। जबतक राज्य अथवा अन्य किसी प्रकारके संघटनको सार्वत्रिक नीति और अध्यात्मसे दूर रखनेकी बुद्धिका ही हठ चलता रहेगा, तबतक हमारे दुःखोंकी वृद्धिका भी कोई अन्त न देख पड़ेगा। सब समयों और देशोंके साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंने एकत्वके परिदर्शनकी साक्ष्य भरी है।

६. देशके साधनोंका समान उपयोग

देश या राज्यके सब साधन इस परम सत्यके आधारपर एक कार्यपद्धतिके अंदर लाये जा सकते हैं। विज्ञान, अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञानमें, उसी प्रकार राज्य, नैतिकता या पार्थिव, आर्थिक उन्नतिमें कोई परस्पर विरोध नहीं है। सबका अपना-अपना क्षेत्र और अपना-अपना काम है। इनमेंसे किसीको अलग कर देने या किसीपर अत्यधिक बल देनेसे मानव-जातिकी प्रगति रुकेगी। आवश्यकता है केवल इन सबका सावधानीके साथ समान उपयोग करनेकी।

७. भारतकी राजनीतिक स्वाधीनता और पश्चिमका अन्ध-अनुकरण

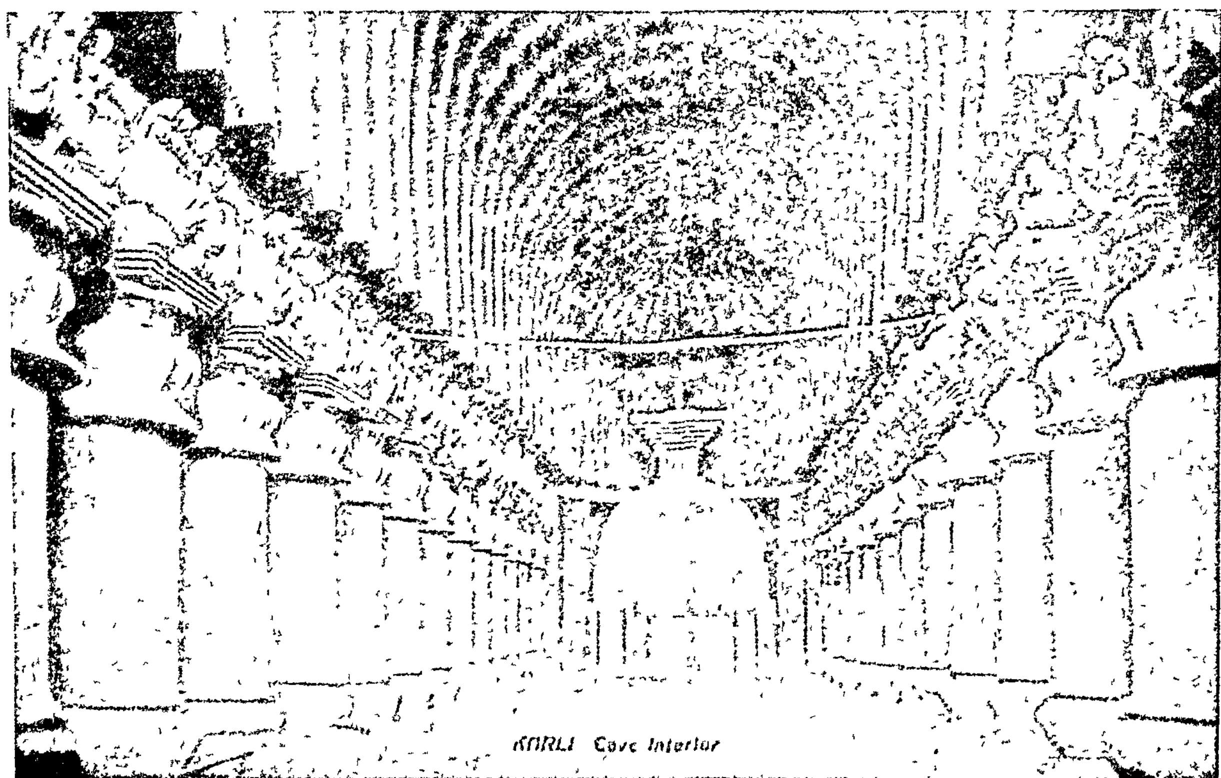
भगवत्कृपासे हमें अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। सहस्रों वर्षकी गुलामीके पश्चात् हम स्वाधीन हुए हैं। हमारा स्वाधीन होना मानवजातिके भावी कल्याणकी दृष्टिसे बहुत शुभ है। कारण, भारतवर्ष अध्यात्मविद्याका मूल उद्गमस्थान है। अध्यात्मविद्या इस धरतीकी सहज उपज है और अन्य देशों और सभ्यताओंकी तुलनामें यही हमारी विशेषता है। अब भी इस देशके लोगोंके मनोपरमें इसका प्रभाव सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है। परंतु तत्त्वज्ञान, धर्म और अध्यात्मके इस क्षेत्रमें केवल सर्वसाधारण लोगोंका नहीं, बल्कि सबसे बड़े नेताओंका भी दृष्टिकोण अज्ञातरूपसे पाश्चात्त्य ढंगका अर्थात् जड पार्थिव हो गया है। राजनीतिक क्षेत्रमें हमलोग निस्सन्देह स्वतन्त्र हो गये; पर मानसिक दासत्व, जो सबसे अधम दासत्व है, अभीतक यहाँ दलबलके साथ मौजूद है। राजनीतिक परिवर्तनसे राष्ट्रके सब साधनों और क्षमताओंको खुलकर खेलनेका पूरा अवसर मिला है। इससे हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। तथापि हम जिस अत्यन्त संकटमय स्थितिमें आज हैं, उसे हम अच्छी तरहसे समझ नहीं रहे हैं।



कार्ली गुफाका वहिर्द्वार



भाजा गुफामें इन्द्र-मूर्ति



कार्लीके गुहा-मन्दिरका भीतरी दृश्य



भाजाकी चैत्यगुफा



भाजाकी सूर्य-मूर्ति

[पृ० ४८१

३१

ीवित रहते हुए हमलोग जिन नामोसे पुकारे जाते है, हमारे ो नाम रक्खे जाते हैं, वे क्या हैं—कृष्ण, राम, मोहन, ोविन्द, राधा, सीता, सावित्री आदि । ये सब नाम इसीलिये ैं कि वे हमारी धरतीके स्वभावका हमे सदा स्मरण करायें और सांसारिक विषयोके मिथ्या मोहमे पड़कर पाशविक आचरणपर उता‥ होनेसे बचाये । इसपर भी कोई यह कह सकता है कि यह सब व्यर्थ है; क्योकि ईश्वर और धर्मके नामपर अभी हालमे ही कितने अमानुष और भयंकर अत्याचार हुए है । परंतु इसमे हमारा आदर्श, हमारी शुभेच्छा, भगवन्नाम लेनेकी पद्धति कारण नही है । बहुत-से अन्य अन्तर्बाह्य कारण हैं, जो इस पवित्रतम वस्तुको भ्रष्ट करनेमे दीर्घकालसे लगे थे । जो वस्तु इतनी पवित्र है, इतने महत्त्वकी है और जिसके अंदर शुभकी इतनी बड़ी क्षमता है, यह यदि विपरीत रूपमे ग्रहण की जायगी तो स्वभावतः ही उसका परिणाम भी उतना ही भयंकर होगा । पर क्या इससे इस वस्तुको ही हटा देना या घटा देना उचित होगा ? संसारमे कौन संस्था ऐसी है, जिसमे भ्रष्टाचार प्रवेश नही करता, जिसका दुरुपयोग नही होता?

यह सचमुच ही बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस देशमे भगवान्के नामपर मनुष्योके नाम रक्खे जाते है, उस देशका राज्य धर्मनिरपेक्ष, सांसारिक, ईश्वरविमुख हो । हमारे लोग व्यक्तिशः देखते है पूर्वकी ओर, जिधरसे प्रकाश, दिव्यता, शान्ति, शक्ति और समृद्धि प्राप्त होती है । पर हमारा राज्य देखता है पश्चिमकी ओर, जहाँसे अन्धकार, अशान्ति, संघर्ष और दरिद्रताका आगमन होता है । क्या हमारा अपने देशके राज्यको धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना भारतवर्षकी आध्यात्मिक परम्पराकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध नही है ?

११. धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका कारण

(१) भारतवर्ष बहुत कालतक अंग्रेजोंके राजनीतिक दासत्वमे रहा और अंग्रेजोंकी शिक्षापद्धतिने इसे पाश्चात्त्य आदर्श और विचार-प्रणालीकी ही दीक्षा देकर अपनी सभ्यताके विमुख कर दिया । विदेशी राज्यको स्थिर करनेके लिये इसकी आवश्यकता थी । हमलोगोने इस तरह जीवनका पाश्चात्त्य आदर्श अपनाकर उसीका ढंग सीख लिया । भारतीय राज्यकी धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका एक मुख्य कारण तो यही है । पाश्चात्त्य देशोमे धर्म और अध्यात्मको राज्यसे विच्छिन्न रखनेमे दो कारण हुए । एक, धर्मके नामपर भ्रष्टाचार और दूसरा, ईसाई-धर्मकी कुछ बातोके साथ विज्ञानका विरोध । धर्माचार्योद्वारा वैज्ञानिक सत्योका दमन भी किया गया । परंतु वस्तुतः (१) राज्य और (२) अध्यात्म, नैतिक आचरण और धर्ममे परस्पर कोई मौलिक विरोध नहीं है । धर्मका अपना क्षेत्र और कार्य क्या है, इस विषयका अज्ञान और पादरियोके अहंगत स्वार्थ—इन दो कारणोसे पाश्चात्त्य देशोमे उनके बीच संघर्ष रहा । इस संघर्षको मिटानेके लिये जो उपाय किया गया कि ये दोनो एक दूसरेसे अलग किये गये, यह न तो एकमात्र समाधान था, न यह समुचित और उपकारक ही था । अतः इससे मानव-जीवनकी समस्या हल न हुई । पाश्चात्त्य जगत्मे राजनीतिक अधःपतन और भ्रष्टाचारका यही कारण हुआ । पाश्चात्त्योके राजनीतिक प्रभुत्वसे प्रभावित और पाश्चात्त्य शिक्षासे शिक्षित भारतीय भी इन दोषोको समझनेमे असमर्थ ही रहे ।

(२) पाश्चात्त्य देशोके ही समान भारतवर्षमे भी आध्यात्मिक विषयोकी ओरसे उदासीनता बढ़ती जा रही है । इससे धार्मिक या आध्यात्मिक विषयोसे राज्यकी निरपेक्षता हमे नही खटकती । जीवनका यह भौतिक दृष्टिकोण है । रोटीका प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्न इसमे सर्वप्रधान होकर रहते है ।

(३) धर्मकी भित्तिपर, विभिन्न सम्प्रदायो और समाजोके बीच होनेवाले संघर्षोका समाधान भी हमलोग पाश्चात्त्य ढंगसे ही करना चाहते है । यह बहुत शोचनीय बात है कि हमे दूसरोकी सभ्यताका सच्चा ज्ञान प्रायः नही होता । इतिहास, जो साधारणतया पढ़ाया जाता है, या तो इस विषयमे चुप रहता है अथवा वैयक्तिक स्वार्थो और समयके चलते भावो और विचारोके वश प्रायः कुछ-का-कुछ समझा देता है । कोई ग्रन्थ यदि भारत आदि देशोकी संस्कृतिके उदात्त भावो और विचारोको प्रकट भी करते है तो उन्हे काल्पनिक कहकर उड़ा दिया जाता है । अपनी संस्कृति और सभ्यताको भी हमलोग पाश्चात्त्योकी ऑखोसे देखने लगे है !

यूरोपके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक इतिहासमे शासितोपर शासकोके अत्याचार, दुर्बलो और गरीबोपर बलवानो और अमीरोके अत्याचार और विभिन्न स्वार्थो और संस्थाओंके परस्पर संघर्ष ही सर्वत्र वर्णित है । परस्पर स्नेह और सहानुभूतिके सम्बन्धोकी कोई चर्चा उसमे नही मिलती । मनुष्योकी पाशविक वृत्तियोका ही उसमे प्राधान्य है । चोरी, खून, डाका, कर्तव्यकी अवहेलना, विश्वासघात आदि आसुरी वृत्तियोकी कहानियॉ ही मानव-इतिहासकी विश्वसनीय घटनाऍ मानी जाती हैं । त्याग, भक्ति, अनुराग, परस्पर स्नेह

आदि गुणोंके दृष्टान्त अव्यावहारिक कहकर त्याग दिये जाते हैं। अतः धार्मिक भित्तिपर होनेवाले अपने यहाँके सघर्षोंको मिटानेका यह पाश्चात्त्य उपाय कि धर्म या अध्यात्मसे राज्यका कोई सम्बन्ध ही न रक्खा जाय, कोई वास्तविक उपाय नहीं है; बल्कि इसके जो बुरे परिणाम पाश्चात्त्य देशोंमें हुए, वे ही यहाँ भी होंगे—यह स्पष्ट है। पाश्चात्त्योंकी नकल करनेसे काम नहीं बनेगा।

१२. (१) राज्य और (२) नैतिक आचरण, अध्यात्मज्ञान और धर्मका मूल सम्बन्ध

(१) मानव-प्रकृतिके नैतिक और आध्यात्मिक अङ्ग सबसे प्रधान और मूलभूत अङ्ग हैं। मनुष्यकी ये ही विशेषताएँ हैं। कोई व्यक्ति, कोई समाज, किसी प्रकारका कोई संघटन या संस्थान, जो नैतिक और आध्यात्मिक सत्यपर प्रतिष्ठित नहीं है, कोई सफलता या उन्नति-लाभ नहीं कर सकता।

(२) किसी संघटनका मूल उद्देश्य ही इन उच्चतर नियमोंका निरूपण और धारण कर उनका पालन कराना ही होता है। जंगलीपन या पशुता पशुओंके लिये ही योग्य है। मनुष्योंमें भी यह चीज है, पर वह पशुकोटिकी है। अतः राज्य अथवा अन्य किसी संस्थाका निर्माण नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासनका ही फल है।

(३) किसी राज्य अथवा संस्थाकी उन्नति, अमोघ सहज संघर्षरहित कार्यकारिता मूलतः इसीपर निर्भर है कि लोग स्वेच्छासे इन आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका पालन करना सीख लें।

(४) मनुष्यके जीवनकी आवश्यकताओंमें नैतिक आवश्यकताओंका अन्न-वस्त्रादिकी भौतिक आवश्यकताओंकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि मानव-जीवनकी ये ही मुख्य चीजें हैं। (आजके इस अन्न-वस्त्रके अभावमें भी यदि गहराईसे देखा जाय तो अन्न-वस्त्रका वास्तविक अभाव प्रधान कारण नहीं है, बल्कि नैतिकता और धार्मिकताका अभाव ही प्रधान कारण है।) भौतिक अभावोंकी पूर्ति भी नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें उन्नति करनेके लिये ही साधनरूपसे आवश्यक है। अतः राज्यका मुख्य कर्म ही यह हो जाता है कि वह जनताकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके उपायोंकी योजना करे। अतः उसका धर्मनिरपेक्ष अथवा अध्यात्मनिरपेक्ष होना कितना अस्वाभाविक, बुद्धिविसंगत और हानिकारक है।

१३. पाश्चात्त्योंकी तर्कप्रणालीमें हेत्वाभास

पाश्चात्त्य समाधान कोई समाधान नहीं है। उससे राज्यकी सत्ता ही डिग जाती है। वैसा राज्य केवल नाम और रूपका राज्य है, वास्तविक नहीं। नैतिक और आध्यात्मिक नियम ही राज्यका एकमात्र आधार हैं। इसे न समझना पशुताके नियमोंका प्रवर्तन है। इससे राज्य राज्यहीन हो जाता है। उच्चतर नियमानुवर्तनके विकासके साथ राज्यका विकास होता है और उच्चतर नियमोंके उल्लङ्घनसे राज्य नष्ट होता है। आधुनिक जगत्‌की दृष्टिमें पवित्रता नामकी कोई चीज ही नहीं है। अतः यह संसार अराज्यरूप हो गया है। क्या भारतवर्ष अपनी अत्युज्ज्वल आध्यात्मिक परम्पराके रहते हुए इससे शिक्षा ग्रहणकर पश्चिमका अन्धानुकरण करना छोड़ न देगा? इस अन्धानुकरणसे उसका सर्वनाश हो जायगा और उसके साथ जगत्‌का भी।

१४. राजनीतिक कठिनाइयोंका समाधान

हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, सामाजिक—सभी कठिनाइयोंको हल करनेका एक ही बुद्धिसंगत मार्ग है। वह यही है कि इन सबका सङ्घटन सर्वमान्य व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक सत्यके सुदृढ़ आधारपर होना चाहिये। राष्ट्रोंके पारस्परिक युद्ध और राजनीतिक दलबंदियोंके परस्पर संघर्ष भौतिक दृष्टिकोणसे ही उद्भूत होते हैं। इस भौतिकताके कारण ही आज नैतिक और आध्यात्मिक सत्यकी ओर सब लोग पीठ फेरे हुए हैं। हमारे साध्य और साधन दोनों ही दूषित हो गये हैं। भौतिक भोग-विलास जीवनके अनन्य ध्येय बन गये हैं। सिनेमा-नर्तकियाँ देवियाँ बन गयी हैं। आजकी जनता उन्हींकी पूजा-भक्ति करना सीख रही है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंके प्रधान मन्त्री जितना धन अपने जीवन भरमें नहीं कमा सकते, उतना ये नर्तकियाँ माल, दो मालमें कमा लेती हैं। विवाहकी हाटमें इन्हींको सबसे अधिक मूल्य मिलता है। लोग सर्वस्व देकर इन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। नैतिक और आध्यात्मिक पतनका यह एक उपलक्षण है। आधुनिक मानव-सभ्यतामें सर्वत्र सब क्षेत्रोंमें इसके विभिन्न प्रकार हैं। बार-बार होनेवाले ये जागतिक युद्ध इसी भौतिकताके परिणाम हैं, यह समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस सार्वत्रिक पतनसे मानव-जातिके उद्धारका एकमात्र उपाय है—उसका नैतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान। प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद अथवा सर्वराष्ट्रिय जीवनवाद—कोई भी वाद अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ-जैसे कोई भी सर्वराष्ट्रिय संघटन इन दुःखों और संघर्षोंसे हमें बचा नहीं सकते। ये केवल बाह्यरूप हैं। इनके अंदर जबतक

न्याय, प्रेम, सहानुभूति आदि दिव्य भाव संचार नहीं करेंगे, तबतक इनसे क्या होनेवाला है ? कोई कानून, कोई संघ अवशारत, हिंसोद्यत, स्वार्थपरायण, प्रतारक बहुजन-समुदायको ठीक रास्तेपर नहीं ला सकता। केवल नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंका जनताद्वारा पालन होनेकी स्थिति ही कुछ काम कर सकती है। हमारी सभी राजनीतिक कठिनाइयाँ आध्यात्मिक और नैतिक पुनरुत्थानसे ही हल हो सकती हैं। हमारी साम्प्रदायिक कठिनाइयाँ भी इसीसे हल हो सकती हैं। कारण, सभी सम्प्रदायोंकी यही समान आधारभूमि है। जो राज्य सर्वसामान्य धर्मतत्त्वोंके प्रचारको प्रोत्साहन करता है, उससे कोई सम्प्रदाय असंतुष्ट नहीं हो सकता। इसीसे सभी सम्प्रदायोंको पुष्टि मिलती है और परस्पर विरोधकी कल्पनाएँ नष्ट होती हैं। अतः राज्यके द्वारा इन व्यापक धर्म-सिद्धान्तों, आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका प्रचार हो—यही हमारी सभी राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और आर्थिक कठिनाइयोंको दूर करनेका एकमात्र उपाय है।

१५. महात्मा गांधीका रामराज्य

पूर्ण विश्वासके साथ यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रकी स्वाधीनताके जन्मदाता महात्मा गांधीका 'रामराज्य' आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित था। भारतीय संस्कृतिके वे प्रतीक थे। भारतके ऋषि-महर्षियों और साधु-संतोंने भारतको जो शिक्षा दी, महात्मा गांधीने उसी परम्पराकी शिक्षा दी। सभी देशों और समयोंके संत-महात्माओंके उपदेश इसीका समर्थन करते हैं। महात्मा गांधीकी विशेष बात यह रही कि वे भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताके लिये लड़े। उनकी लोकप्रियता और दिग्दिगन्तमें उनकी कीर्तिका यही कारण है। पर उन्होंने अपने आत्मचरितके उपसंहारमें यह बताया है कि सत्य और अहिंसा ही वह मान है, जिससे मैं अपनी सफलताको मापा करता हूँ। सत्यका जो निरूपण उन्होंने किया, वह निश्चय ही भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृतिके अनुरूप था। पर उनका सत्य निरा ऐहिक हितवादमूलक नहीं था। उसका मूल था आध्यात्मिक परम सत्य। उनका सत्य था राम और राम था उनका सत्य। रामराज्यमें जो न्याय, समत्व आदि दैवी गुण जनतामें प्रतिष्ठित थे, उन्हींसे मुग्ध होकर महात्मा गांधी अपनी भावनाके आदर्श राज्यको रामराज्य कहा करते थे। आधुनिक राजनीतिके कायल लोग भी न्याय, समता आदि गुणोंकी प्रशंसा किया करते हैं। पर उनका दृष्टिकोण 'अध्यात्मरहित, धर्मनिरपेक्ष' हुआ करता है। महात्मा गांधीका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। जो कुछ वे करते थे, सब परम सत्य श्रीरामको अर्पण करते थे। रामके लिये वे जीते थे और उनके अन्तिम शब्द भी 'हे राम! हे राम!' थे। उनका समाजवाद आध्यात्मिक था। समाजवाद और निष्क्रिय प्रतिरोध जगत्में उनसे पहले किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान थे। पर उनपर महात्मा गांधीने आध्यात्मिकताकी छाप लगा दी, उन्हें भारतीय बना लिया।

१६. भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक हृदय

आध्यात्मिकता भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका सारतत्त्व है। इसने भारतको अमर बना दिया है। भारतीय जनताके अन्तर्बाह्य सभी कर्मों और उद्योगोंका यही मार्गदर्शक सिद्धान्त रहा है। आहार, विहार, वस्त्र-परिधान, स्नान और निद्रा आदि सामान्य कर्मोंमें भी भारतीय संस्कृतिने आध्यात्मिकता भर दी है। गीताके १७ वें और १८ वें अध्यायमें तप, आहार, यज्ञ, दान, त्याग, कर्म आदिके त्रिविध भेद बतलाकर यह समझाया गया है कि किस प्रकार ये सब कर्म भी मानव-जीवनके परम लक्ष्यके साधक बनते हैं। झाड़ू देने या बर्त्तन माँजनेसे लेकर राजपद सँभालनेतक सब कर्मोंमें आध्यात्मिक भाव भर जानेसे उनके भौतिक भेद कोई भेद नहीं मालूम होते और सभी कर्म परम पदका मार्ग सबके लिये खोल देते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो इस सारे जगत्में व्याप्त है, स्वकर्मके द्वारा जो मनुष्य उसकी पूजा करता है, वह अपने जीवनकी सिद्धि लाभ करता है। स्वकर्मका साधन, चाहे उसमें कोई विशेष बात न हो, दूसरेके उत्तम प्रकारसे किये गये कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वधर्मका पालन करते हुए मर जानेमें भी परम कल्याण है, दूसरेका धर्म ग्रहण करनेमें भय-ही-भय है।'

इस प्रकार आध्यात्मिक समता सुप्रतिष्ठित थी। ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल—सबमें यही आध्यात्मिक समत्वदर्शन करनेकी शिक्षा गीता देती है। ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि जीवनके सब व्यवहारोंमें परिव्याप्त होनेसे एक लँगोटी लगाये हुए साधुके सामने बड़े-बड़े राजा भी मस्तक नवाते थे। केवल भारतीय राजा ही नहीं, विदेशी राजा सिकंदरशाहने

भी उन्हें अपना मस्तक नवाया है। साधु-संन्यासी या ऋषि-मुनिके आध्यात्मिक राजपदका वागी भला कौन हो सकता है, कौन उसकी अवज्ञा कर सकता है? आजके भारतवर्षमें भी यह प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा और उसका गौरव किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान है। प्राचीन भारतमें यह आध्यात्मिक संस्कृति सर्वथा जीती-जागती थी। तभी तो राजा अश्वपति अपने राज्यके सम्बन्धमें यह दावा कर सकते थे कि 'मेरे राज्यमें कोई चोर-डाकू नहीं है, कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री कहाँसे होगी?' लोगोंका धर्ममें, नैतिक आचरणमें और अध्यात्मज्ञानमें पूर्ण विश्वास था। राजा-रंक सभीका कल्याण इनसे होता था। इस सम्बन्धमें रामायण और महाभारत शान्तिपर्वसे कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

(१) रामको चौदह वर्ष वनवास होनेके प्रसंगमें जाबालिने उनसे कहा कि आप यह वनवास स्वीकार मत कीजिये। तब राम उत्तर देते हैं—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥

'हिंसारहित सत्य ही राजाका सनातनधर्म है। राज्य सत्यात्मक है, सत्यमें ही जगत् प्रतिष्ठित है।'

(२) तब राजगुरु महर्षि वशिष्ठने प्रतिज्ञा की कि राम जबतक घर नहीं लौट आयेंगे और राजसिंहासनपर न बैठेंगे, तबतक यहीं इसी कुशासनपर मैं बैठा रहूँगा। इसपर राम यह उत्तर देते हैं—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

'लक्ष्मी चाहे चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाका भले ही उल्लङ्घन करे, पर मैं अपने पिताकी प्रतिज्ञा भङ्ग न होने दूँगा।'

(३) राजा-प्रजाके बीच कैसा सम्बन्ध होता है, इस विषयमें शान्तिपर्व (महाभारत) में पितामह भीष्म युधिष्ठिरसे कहते हैं—

कर्तव्यं हि कुलश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिनः।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥

'धर्मानुवर्ती राजाका यह कर्तव्य है कि अपना प्रिय परित्यागकर वही करे, जिससे लोकहित हो।'

(४)—

अयुद्धेनैव विजयं वर्द्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥

'राजा बिना युद्धके विजय प्राप्त करे। युद्धसे विजय प्राप्त करना कोई अच्छी चीज नहीं।'

(५)—

धर्मः सनातनस्सत्यं सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः॥
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥

'सत्य सनातन धर्म है, सत्य सनातन ब्रह्म है। वेदोंका रहस्य सत्य है, सत्यका रहस्य इन्द्रियों और मनका दमन है, दमनका रहस्य मोक्ष है। यही सबके लिये अनुशासन है।'

(६) राम अपना राज्य भरतको सौंपकर जब वनको चले हैं, तब उन्होंने भरतको राजनीतिका सिद्धान्त इस प्रकार बतलाया है—

'धर्म, अर्थ, काम—त्रिविध पुरुषार्थ हैं; इन्हें प्राप्त करना ही चाहिये। पर तीनों एक साथ जब न मिलें, तब अर्थ और कामको त्यागकर धर्मको ही ग्रहण करना चाहिये।'

प्राचीन भारतकी राजनीतिक तत्त्वनिष्ठाकी यह झलक है। ऐसे ही अन्य सहस्रों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। इससे मध्याह्नके सूर्यके समान यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक तत्त्वज्ञान अध्यात्मज्ञान और सदाचरणपर प्रतिष्ठित है। महात्मा गांधीकी राजनीति भी अध्यात्म और सदाचारपर प्रतिष्ठित थी। यही कारण है कि वे जनताके हृदयोंको अपने वशमें कर सके। माताके दूधके साथ ही जनताने इसकी शिक्षा पायी है। भारतीय जनताके ये ही पूर्वपरम्परासे प्राप्त संस्कार हैं।

भारतकी यह राजनीतिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनताके बिना अधूरी है। शरीर स्वाधीन हुआ, पर आत्मा कैद है। पश्चिममें राजनीतिक स्वाधीनताके पीछे-पीछे आर्थिक स्वाधीनताकी पुकार मचती है। कारण, यह भौतिक शरीर ही उनके लिये सब कुछ है। भौतिक शरीरकी उपेक्षा हम भी नहीं चाहते; कारण, यही 'आद्यं धर्मसाधनम्' है। पर यह साधन है, साध्य नहीं। साध्य है आध्यात्मिक स्वाधीनता। भारतकी उन्नति आध्यात्मिकताके नापसे ही नापी जायगी। आध्यात्मिकताकी ओर हम आगे बढ़ें तो आर्थिक उन्नति आदि स्वभावतः ही पीछे-पीछे चलेंगी। पाश्चात्त्य जगत् अपने अनन्य भौतिक भावोंकी आगमें जल रहा है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक तत्त्वज्ञानी और राजनीतिक सभी भौतिकताके अनन्य भक्त हैं। डारविनने परस्पर संघर्षको जीवनका विधान कहकर बड़े सम्मानका स्थान दिलाया है। फ्रायडने धार्मिक श्रद्धा-भक्ति, परमार्थवाद, राष्ट्राभिमान आदि चीजोंको स्त्री-पुरुष-

सम्बन्धी कामके ही विकारमात्र कहकर कामको प्रोत्साहित किया है। इस तरह युद्ध, परापहार, नानाविध अत्याचार और कामके विपरीत कुत्सित प्रयोग इत्यादि बुराइयोंका मण्डन किया गया है। इन सब बुराइयोंने जगत्को प्रत्यक्ष नरक बना दिया है। अब यह भारतके तत्त्वज्ञानी, वैज्ञानिक और राजनीतिकोंका काम है कि वे इन बुराइयोंको दूर करे। भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताकी चरितार्थता इसी बातमें है। भारतका यह आध्यात्मिक सन्देश सारे जगत्के लिये है। यह कार्य करनेके योग्य भारतसे बढ़कर और कोई देश नहीं है।

राजनीतिक पराधीनताने भारतवर्षकी आध्यात्मिक महाप्राणशक्तिको अबतक दबा रक्खा था। स्वाधीन भारत अब अपनी आध्यात्मिक निधिके आधारपर सब प्रकारसे उन्नत होकर जगत्को वास्तविक उन्नतिका मार्ग दिखा सकता है।

१७. भारतीय राज्यका मुख्य कर्तव्य

भारतीय राजनीतिक नेताओंको यह घोषित कर देना चाहिये कि हमारे राज्यका मुख्य आधार सार्वत्रिक सदाचार और अध्यात्म है। भारतीय विधानके मूल उद्देश्यमें स्वाधीनता, समता, न्याय और भ्रातृभावका आश्वासन दिया गया है। उसमें सदाचार और अध्यात्मकी भावना भी जोड़ देनी चाहिये। भारतीय राज्यका नाम भी 'रामराज्य' अथवा इतना ही अर्थपूर्ण कोई दूसरा नाम होना चाहिये। शिक्षा, समाचारपत्र, रेडियो, वैज्ञानिक और दार्शनिक अनुसन्धान—इन सब साधनोंके सामने आध्यात्मिक उत्थानका लक्ष्य रक्खा जाना चाहिये। स्कूल-कालेजोंमें पढाये जानेवाले ग्रन्थोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सुधार लेना होगा। इतिहास, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन और समाजशास्त्रके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी शिक्षा दी जानी चाहिये। जीव, ईश्वर, पुनर्जन्म अथवा पारलौकिक जीवन इत्यादि आध्यात्मिक सत्योंके संस्कार जो पहलेसे जनतामें हैं, उन्हें जीवित ढंगसे जमाना और पुष्ट करना होगा।

यह काम दार्शनिकों, साधु-संतों, वैज्ञानिकों और राजनीतिकोंके परस्पर पूर्ण सहयोगसे साधित होगा और उससे हम अपने देशको भौतिकताका ग्रास बननेसे बचा सकेंगे और जगत्की भी रक्षा कर सकेंगे। हमें यह आशा है कि विभिन्न कार्यक्षेत्रोंके नेता इस सकटमय घड़ीका ध्यान करेंगे और अपनी जिम्मेदारी समझकर देशके आध्यात्मिक उत्थानके महत्कार्यमें अग्रसर होंगे।

आध्यात्मिक समाजवाद

(लेखक—योगी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

सातका अङ्क शुभ है। वेदोंने चिच्छक्तिके सात लोक गिनाये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इन्हीं सात लोकोंके प्रतीकस्वरूप सात नदियाँ और सप्त सिन्धु हैं। सिन्धु शब्द ही प्रचारमें आकर 'हिंदू' बना है। 'हिंदू' शब्दका अर्थ है वह देव-मनुष्य, जो चिच्छक्तिके सातों लोकोंको प्राप्त हुआ हो। हिंदुस्थान ऐसे सत्यदर्शी देवमनुष्योंकी पुण्यभूमि है। इसे पुण्यभूमि भारतवर्ष भी कहते हैं; कारण, यह धर्मशक्तिकी निधि है। धर्मकी शक्ति ही दुःख और दैन्यकी छाया-मायासे मनुष्योंको बचाती है। यही इस पृथ्वीपर स्वर्ग है, सुख-समृद्धि और सौन्दर्यका धाम है। जो इस देशमें उत्पन्न हुए और जो इस पुण्यभूमिके भक्त हैं, इसे ही अपना घर मानते हैं, वे भारतीय हैं। उत्तरापथके हों या दक्षिणापथके, आर्य हों या द्रविड़, ब्राह्मण हों या हरिजन, सभी भारतीय हैं—चाहे उनका वर्ण या धर्मसम्प्रदाय कुछ भी हो—यदि वे भारतमें भारतके लिये रहते और अपनी श्रद्धा-भक्ति और जीवन भारतकी सेवा और उन्नतिमें लगाते हैं। चिच्छक्तिकी इस एकतामें हमारे देशका भावी गौरव छिपा हुआ है। इस आधारभूत एकताके अभावमें हमारे देशको बार-बार गुलामीके बन्धनोंमें जकड़ जाना पड़ा है।

भारतवर्षको देव-मनुष्योंका आशीर्वाद प्राप्त है। आध्यात्मिक ज्ञानकी अथाह सम्पत्ति उसके पास है। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, भागवत, महाभारत, भारत-शक्ति, योगसिद्धि और संतोंके भजन—सभी सत्यानुभूति और अन्तर्ज्ञानकी दुर्लभ निधि हैं—जो आज मानवजातिको प्राप्त है। वैज्ञानिक संस्कृतिमें भी भारतवर्ष अकिंचन नहीं है। पूर्वकालमें उसका विज्ञान उसके लिये पर्याप्त था। आज चाहे वह बात न हो। सङ्गीत, चित्रकला, मूर्ति-निर्माणकला, वास्तु-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, अस्त्र-विद्या, फलित ज्योतिष आदिमें और कोई देश भारतके आगे नहीं बढ़ा है। योगशास्त्रमें भारतवर्ष आज भी जगद्गुरु है। जगत्के सभी देशोंसे लोग भगवान्के इस मन्दिरकी यात्रा करने आते हैं।

इन सब गौरवमयी बातोंके होते हुए भी, भारतवर्षको

पिछले पाँच सौ वर्ष विदेशियोंके दासत्वमें रहना पड़ा। उसकी शक्ति क्षीण हुई, उसकी सन्तानोंको विवश होकर विदेशी मत ग्रहण करने पड़े और अपने ही देशमें विदेशी बनकर रहना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ? कुरुक्षेत्रके युद्धके साथ भारतवर्षको एक नयी दुनियाका सामना करना पड़ा और नये अनुभवोंमेंसे होकर जाना पड़ा। भारतवर्षका ऋषिधर्म संन्यासके एक गलत रूपके सामने दबता गया, उसकी समरशक्ति क्षीण होती गयी। इससे समाज दुर्बल हुआ, समाजके चार वर्ण सहस्रों साम्प्रदायिक टुकड़ोंमें विच्छिन्न हो गये और परस्परका अन्तर दिन-दिन अधिकाधिक चौड़ा ही होता गया। विदेशी आक्रमणोंके सामने समाजका पुराना ढाँचा ढह गया। सिकंदर अपनी यूनानी फौजके साथ इस देशमें घुस आया। स्वदेशद्रोहियोंने उसे रास्ता दिखाया। नामधारी राजा भी इतने कोमलाङ्ग थे कि उसका प्रतिरोध न कर सके। एक पुरु (या पुरुषोत्तम) उससे लड़नेके लिये सिंहकी तरह आगे बढ़ा, पर उसे हार खानी पड़ी। वह आक्रमणकारीके हाथ कैद हुआ, पीछे छोड़ दिया गया। नन्दराजवंश उस समय राज्य करता था। उसमें इतना बल नहीं था कि विदेशियोंके इस आक्रमणका सामना कर सकता। एक चतुर राजनीतिज्ञने यह सब देखा और समझा। एक नवीन शक्तिशाली हिंदू-राज्य स्थापित करनेका वह स्वप्न देख रहा था। इसका नाम था चाणक्य, जिसका 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसने चन्द्रगुप्त मौर्यको अपने हाथका यन्त्र बनाया, उसमें अपनी शक्ति भर दी। चन्द्रगुप्तने निकम्मे नन्दको हराकर यूनानी सेनाके सेनापति सेलुकसके भी दाँत खट्टे किये और अपनी माता मुराके नामपर मौर्यराजवंशकी स्थापना की। भारतवर्षने राष्ट्रोंकी पंक्तिमें अपना गौरवमय स्थान प्राप्त किया। यह गौरव प्रियदर्शी राजा अशोकके समयमें अपने शिखरतक पहुँचा। अशोक बौद्ध थे, उन्होंने बौद्धधर्ममें कर्मकी प्रचण्ड शक्ति भर दी। बौद्ध भिक्षु भारतवर्षसे दूर-दूर देशोंमें जाकर भगवान् बुद्धके नैतिक उपदेशोंका प्रचार करने लगे। स्तूप और विहार निर्मित हुए। लंकासे गयातक समस्त देशमें बुद्ध, उनके धर्म और संघके पावन नाम गूँजने लगे। महाराज हर्षतक यह क्रम चला। अशोकके पश्चात् फिर विदेशी सेनाएँ भारतवर्षपर चढ़ आयीं और उन्होंने यहाँके राजनीतिक और सामाजिक संघटनको विघटितकर छिन्न-भिन्न कर डाला। बहुत-से नये-नये राजवंश बरसाती मेढकोंकी तरह निकलकर और क्षणभर जीकर विलीन हो गये। देश छोटे-छोटे राज्योंसे टुकड़े-टुकड़े हो गया और सब एक दूसरेके उत्कर्षमें बाधक बनकर एक दूसरेके नाशका उपाय सोचने लगे।

दक्षिण भारतमें चेर, चोल, पाण्ड्य, पल्लव, राष्ट्रकूट आदिकोंमें राजनीतिक होड़ चली। पर दक्षिण-भारतको विदेशी उतना उजाड़ नहीं सके, जितना कि उत्तर-भारतको। उत्तरमें जो आध्यात्मिक अग्नि बुझ रही थी, वह दक्षिणमें स्थिर रूपसे प्रज्वलित थी। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि समय रहते आ गये और उन्होंने आत्मज्ञान तथा भक्तिप्रदीपसे देशमें उजाला कर दिया। उनमें व्यक्तिशः कुछ सिद्धान्तोंका भेद था, पर इस विषयमें सबका एकमत था कि मनुष्यका परम लक्ष्य उस परमेश्वरको प्राप्त करना है, जो एकमेवाद्वितीयम् है। उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि सब प्राणियोंके अंदर जो विशुद्ध आत्मा है, वही प्राणिमात्रका सत्तत्त्व है, वह दिव्य है और सर्वव्यापक है। पीछेके आचार्योंने इसी सत्यको दुहराया। बहुत-से लोग अवश्य ही शाब्दिक वितण्डावादमें पड़ गये और केवल निष्प्राण रूढ़ियोंके दास बने रहे। सृष्टि-सामर्थ्य रखनेवाला अन्तर्ज्ञान सुषुप्त होकर रहा। वह कड़ी, जो आत्माके साथ जागतिक जीवनकर्मको जोड़ती है, खो गयी। हमारी प्राचीन संस्कृतिमें जो कुछ सामर्थ्यवती वस्तु थी, वह उन पुरुषार्थहीन, निष्प्राण, यान्त्रिक रीतियोंके नीचे दबी रह गयी, जो किसी राष्ट्रके उन्नतिसाधनमें बिल्कुल बेकार हैं। हमारे अंदर जो विश्वासघाती देशद्रोही लोग थे, वे अपने ही भाइयोंसे लड़नेके लिये विदेशियोंको बुला लाये!

इस प्रकार स्वाधीन भारतके अन्तिम नृप पृथ्वीराजके शत्रुने मुसल्मान-सेनाओंके आनेके लिये रास्ता साफ किया। शस्त्रवेशी कुरानने तीन शताब्दियोंतक अपने जोर-जुलमका राज इस देशमें कायम रक्खा और लाखों हिंदुओंको धर्मभ्रष्ट किया। उस राजने अपने रक्तचिह्न आज पाकिस्तानमें रख छोड़े है! भारतवर्षने अपना स्वराज्य खोया; कारण, अपना स्वधर्म खो दिया। राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह अपने राष्ट्रको फिरसे स्वाधीन करनेके लिये अद्भुत वीरताके साथ उठे; पर स्वधर्म फिर भी दूर ही रहा।

अब एक अनात्म कर्मवादकी लहर देशपर दौड़ गयी। इस समय वैज्ञानिक संस्कृतिने श्वेत जातियोंको संसारकी विजेतृ-शक्ति बना दिया था। इसके राजनीतिक और व्यापारिक संघटनसे टकराकर भारत अपनी आध्यात्मिक परम्पराकी सम्पत्ति खो चुका था। राष्ट्रमें कोई ऐसी जीवित शक्ति नहीं

थी, जो अंग्रेजों और फ्रेंचोंकी कूटनीतिक चालोंका सामना कर सकती। कभी कोई नाना या टीपू अथवा बाजीराव इस विदेशी परापहरणके जालको छिन्न करनेके लिये निकल पड़ते; पर उनके त्याग और वीरत्वपर विश्वासघाती लोग आकर पानी फेरनेके लिये तैयार हो जाते। भारतवर्षमें इतनी फूट थी कि सारा राष्ट्र राजनीतिक शत्रुओंका सामना करनेके लिये एक होकर कोई प्रयत्न न कर पाता था। इस तरह दो सौ वर्षांतक हमारा देश गुलामीकी यन्त्रणाएँ भोगता रहा।

पर भारतका आत्मा सो नहीं सकता। उसकी ज्वालाओं-ने उसमें युग-तेज उत्पन्न किया और अकस्मात् राष्ट्रके पुनरुज्जीवनका उदय हुआ। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामलिंगम् आदि अनेक महान् संतोंने जन्म लेकर नये युगका मंगलगान गाया। उनकी वाणीने राष्ट्रको जगाया और जगत्को उस आध्यात्मिक सत्ताका संदेश सुनाया, जिसका ज्ञान उसे भारतवर्ष ही दे सकता है। तिलक, श्रीअरविन्द और महात्मा गान्धीने राष्ट्रकी राजनीतिक चेतनाको जगाया और उसे स्वभाग्यनिर्णय-तक पहुँचाया। महात्मा गांधी स्वयं एक युग थे। भारतवर्ष-की गौरव-गरिमाके शिखर, उसकी स्वाधीनताके जन्मदाता और ऐसे एकमात्र राष्ट्रविधाता थे, जिनके सामने सारा जगत् नतमस्तक हुआ। सेवा और त्यागसे परिपूर्ण अपने अद्भुत जीवनके द्वारा भारतवर्षकी प्रतिष्ठा उन्होंने फिरसे स्थापित की और स्वयं बुद्ध, ईसा और महावीर-जैसे जग-उद्धारक महापुरुषोंकी पंक्तिमें बैठनेके अधिकारी हुए।

भारत अब एक स्वाधीन देश है, पर दुःख है कि वह अब विभक्त है; उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये हैं! स्वाधीनताकी बलिवेदीपर सहस्रों-लाखों हिंदू काटे गये। भारतवर्षकी शान्तिको राजनीतिक चरमपन्थियोंने महीनों यहाँ-वहाँ बुरी तरहसे आन्दोलित कर रक्खा था। गाधीजीके बलिदानके पश्चात् भी अभीतक संकट टला नहीं है। राष्ट्रने अभी एकत्वका पाठ नहीं पढ़ा।

राष्ट्रके सामने इस समय कितने ही विकट प्रश्न हैं। आर्थिक प्रश्न तो सर्वोपरि है। फिर मजदूरोंका प्रश्न है। गङ्गा और कावेरी जिस देशमें बहती हैं, उसे विदेशोंसे अन्न मँगाना पड़े, यह कितनी शोचनीय अवस्था है। लाखों-करोड़ों मनुष्यों-को अन्न-वस्त्र और घर बनानेके सामान देनेके लिये बड़े-बड़े कारखाने खोलकर यान्त्रिक शक्तिसे उत्पादन बढ़ानेका बहुत बड़ा काम है। स्थलसेना, जलसेना और वायुसेनाको इतना सुसज्जित और शक्तिशाली बनाना है कि वह उस जागतिक परिस्थितिका सामना कर सके, जो दिन-दिन अधिकाधिक भयानक होती जा रही है। किसानोंको सँभालना है। सामाजिक सुव्यवस्था बाँधनी है। इन सब बातोंमें भारतीय यूनियनके मन्त्रियोंका ध्यान बँटा हुआ है।

इन सब चीजोंके परे एक बहुत बड़ा काम यह है कि जिन विभिन्न घटकोंसे यह महान् विशाल राष्ट्र बना है, उनमें एकता और अखण्डता स्थापित हो। विभक्त भारतमें अब हमारा एक भारतीय यूनियन या संघ है; परंतु भारतका यह संघ पूरा नहीं बना है। हमारे राष्ट्रिय मेल और ऐक्यके विरुद्ध कई विच्छेदक और विभेदक शक्तियाँ गुप्तरूपसे अपना काम कर रही हैं। ये ही विच्छेद और विभेदकी आसुरी शक्तियाँ संसारमें सर्वत्र ही क्रियाशील हैं। विश्वव्यापी तृतीय महायुद्धके सामान इनके द्वारा जुटाये जा रहे हैं। गौरैयाएँ एक साथ रहती, एक साथ उड़ती और सुखी रहती हैं। मधुमक्खियाँ एक साथ शहदके छत्तेपर चिमटती और सामाजिक मिलनका रहस्य गुनगुनाकर मनुष्यको सुनाती हैं। तारका-पुञ्ज शान्तिके साथ व्यूह बाँधे नित्य-नवीन उषःकालकी ओर चलते हैं। पर मनुष्यने अभी अपने भाईके साथ सुख और मेलसे रहना नहीं सीखा। इसका कारण क्या है? कारण राजनीतिक उतना नहीं, जितना कि मानसिक है।

अन्तःस्थ चेतन एकतामें मनुष्यका मन ही नहीं है। वह 'मैं' और 'मेरे' के चक्करमें ही रहता है। उसे उस मूलभूत अन्तःस्थ एकताका अभी पता ही नहीं है, जो सब जीवोंको एक साथ धारण किये हुए है—जैसे मणिमालाका सूत्र मणियोंको। हृत्पुरुषकी चेतना प्राणियोंकी अनेकतामें सदा उस एकको देखती है। मनुष्य इसे भूला रहता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह भी मानव-समष्टिका वैसा ही एक अङ्गमात्र है, जैसे एक अँगुली शरीरका अङ्ग है। मनुष्य अहंभावयुक्त विभक्त मनमें रहता है और यह मन अपने एक पृथक् व्यक्ति होनेका संकुचित रूप धारण करता है। यह व्यक्तिगत अहं कभी-कभी अपनेको ईश्वरसे भी बड़ा मान लेता है। मनुष्योंके शून्यवाद, अज्ञेयवाद और नास्तिवादका यही कारण है।

जरा सोचो, यह पृथ्वी क्या है? ऊपर आकाशके इस विशाल वितानको देखो। असंख्य नक्षत्र और ग्रह यहाँ निरन्तर घूम रहे हैं। आकाशमें परिभ्रमण करनेवाले इन असंख्य ज्योतिर्मण्डलोंमें हमारी यह पृथ्वी एक बहुत ही

छोटे-से अणुके बराबर है। कोई विलक्षण गुप्त शक्ति है, जो इन्हें चलाती है। उस शक्तिको हम 'ईश्वर' कहते हैं। वह सर्वत्र व्यापक है और वही एक जड धूलिकणसे लेकर प्रज्ञावान् मनुष्यतक सब प्राणियोंका, प्रकृतिके द्वारा, विकास-साधन कराता है। तरु-लता-वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी, पशु और मनुष्य—सब मिलकर प्राणियोंका एक ही परिवार हैं। सब एक ही वायुसे श्वास लेते, एक ही धरतीपर चलते और विश्वके वितान एक ही द्युलोकसे प्राप्त वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। ईश्वरने मनुष्यको एक ही आकाश, एक ही पृथ्वी, एक ही आत्मा और सबके एक होनेकी ही भावना दी। ईश्वरने मनुष्यको एक हृदय दिया, जिसमें वह दूसरोंके साथ मेलसे रहे, दूसरोंको अपने ही दूसरे रूप, दूसरे अहं समझे। पर अहंग्रस्त मनुष्य अपने हृदयमें छिपी हुई इन स्वाभाविक सद्वृत्तियोंका पोषण नहीं करता और 'मैं' और 'मेरे'के सिवा और कोई माप-जोख नहीं जानता। यही उस विभेदका मूल है, जिसका फल है द्वेष। द्वेषमें ही अशान्ति पैदा होती है। मनुष्य मनुष्यके लिये खतरनाक हो गया है; क्योंकि वह अपने आपको नहीं जानता, अपने ही परिवर्तित अन्य रूपको नहीं जानता। मनुष्यको अपना पृथक्कृत व्यक्तित्व विश्वचैतन्यमें मिला देना होगा। यह जगत्की एकताके लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि राष्ट्रकी एकताके लिये राज्योंका केन्द्रीय सरकारके शासनमें मिलाया जाना।

जगदुद्धारक महापुरुष आये और चले गये; समाज-सुधारक और क्रियाहीन तत्त्वज्ञानी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख गये। राजनीतिके राजतन्त्रसे लेकर अराजकतन्त्रतक और सैनिक अधिनायकवादसे लेकर जनतन्त्रात्मक समाजवादतक बड़े-बड़े प्रयोग किये जा चुके। पर संसारका रवैया जो कल था, सो आज है और यही बना रहेगा, जबतक मनुष्य यह नहीं जानेगा कि वह स्वयं क्या है और उसे क्या होना चाहिये। ऋषिका वचन है, 'आत्माको नीचे मत गिरने दो, अपने आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ऊपर उठाओ; आत्मा आनन्दामृतसे सिक्त है, उसे जानो और वही बनो।' पर स्वार्थ-सुखकी स्वार्थी भूख और प्याससे ही मनुष्यका मन जब आकुल है, तब आत्माकी इस गभीर वाणीको कौन सुनता है?

यह असंख्यशीर्ष स्वार्थपरता और स्वार्थानुसन्धान जीवनके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, नागरिक, प्रान्तिक, राष्ट्रिक, सर्वराष्ट्रिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक—सभी क्षेत्रोंमें संचार कर रहे हैं। वर्णगत, सम्प्रदायगत और जातिगत कुसंस्कार, मनुष्यकी इसी प्रचण्ड स्वार्थपरताकी सन्तान हैं। एक धर्मसम्प्रदाय दूसरे धर्मसम्प्रदायसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि प्रत्येक धर्म यह समझता है कि ईश्वर, स्वर्ग और सद्गुणोंपर उसीका ठेका है। एक प्रान्त दूसरे प्रान्तसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि कोई प्रान्त अन्य प्रान्तके सांस्कृतिक सौन्दर्यको देखना नहीं चाहता, केवल उसके साधनोंका शोषण कर लेना चाहता है। एक भाषा दूसरी भाषाका तिरस्कार करती है; क्योंकि उसके गुणोंको स्वीकार करनेमें वह अपनी हेठी समझती है।

यदि हम इन बातोंको भारतवर्षपर घटाकर देखें तो अच्छी तरह हमारी समझमें आ जायगा कि हम क्या हैं, क्यों हैं और हमें क्या होना चाहिये। गांधीजीके नैतिक बलने भारतकी जनताको जगाया और स्वाधीनतासे देशको विभूषित किया। पर यह स्वाधीनता, जो इतनी कठिनाईसे प्राप्त हुई, विरोधी शक्तियोंके द्वारा भीतरसे और बाहरसे भी झटका दे-देकर कमजोर की जा रही है। विधानपरिषद्ने विविधतासे परिपूर्ण इस विशाल राष्ट्रके केवल सांसारिक सुखके साधक प्रस्ताव पास किये हैं। रूसके 'सोशल कंट्राक्ट', फ्रेंच राज्यक्रान्ति और अमेरिकाकी स्वाधीनताके मूल अधिकारपत्रोंका ही इसने बहुत कुछ अनुसरण किया है। भारतवर्षके आध्यात्मिक सत्त्वको इस नवीन विधानमें कोई स्थान नहीं मिला। इसीलिये वर्तमान सरकारसे यह आशा नहीं है कि देशके आध्यात्मिक उत्थानके लिये वह कोई विशेष यत्न कर सकेगी। पर सामाजिक जीवनके लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रकी सरल उन्नतिमें सभी दलोंके दलगत कुसंस्कार बाधक होते हैं। आध्यात्मिक चेतनासे ही इन कुसंस्कारोंको हटाया जा सकता है। सामाजिक जीवनमें एकता और सुसंगति तभी होती है, जब हृदय मिलकर एक हों। यह हृत्तत्त्वके उद्घाटन और आत्मचैतन्यकी अनुभूतिसे ही हो सकता है। राष्ट्रके जीवनका मानव-समष्टिमें निवास करनेवाले भगवान्के साथ योग होना चाहिये। मनुष्य मनुष्यके अंदर जो भगवत्-तत्त्व है, उसे पहचाने। हर किसीका जीवन सबके लिये हो और सबका हर किसीके लिये। इसीका नामान्तर है 'आध्यात्मिक समाजवाद अर्थात् आत्मचैतन्यके अंदर मानवजातिका समष्टि-जीवन'। यही परम कल्याणमय जीवन है।

जन्म, कुल, स्थान और भाषागत भेदोंके रहते हुए भी सब मनुष्य एक परिवारकी तरह रह सकते हैं—यदि प्रत्येक

दो दृश्य (३)

धनपर धूल | धनके लिये नकली रजिस्टर









साहूकारी—ईमानदारी | चोरबाजारी—रिश्वतखोरी

मिली स्वणमुद्राओंपर भी राँका धूल रहा है डाल
किन्तु आजके व्यवसायी लिख झूठ वहीमें रचते जाल ।
विश्वासी काशी नगरीका ठीक तौलता सु-तुलाधार
आज ब्लैक मार्कैट चल रहा साहबको दे घूस हज़ार ॥

पुण्यदानसे नरकके प्राणियोंकी मुक्ति



पुण्यात्माने पापी जनको करके अपना पुण्य प्रदान।
भेज दिया उत्तम लोकोंमें किया नरक भी स्वर्ग-समान॥

व्यक्ति अन्तःस्थ आत्माको ध्यानमें रखकर सोचे और कर्म करे। एकीभाव उत्पन्न करनेवाली इस चेतनाके पोषणके लिये साधना आवश्यक है। यह साधना ऐसी हो कि उससे हमारे जीवनके भौतिक और हार्दिक अङ्ग परिपुष्ट हों। इसके कुछ साधन नीचे दिये जाते हैं—

१. सूर्योदय और सूर्यास्तके पूर्व समूचे राष्ट्रको व्यक्तिशः अथवा सङ्घशः सर्वथा मौन होकर ईश्वरका ध्यान करना चाहिये और मन-ही-मन ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये—

'सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाले हे परमात्मा! हमें वह परस्पर-स्नेह, वह सदिच्छा और वे साधन दो, जिनसे हम सब वैसे ही एक हों, जैसे सूर्यकिरणें एक होती हैं और सबका समान हितसाधन करें—जैसे वायु और मेघ करते हैं।'

२. हमारे साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंके जो ईश्वर-प्रेरित सद्ग्रन्थ हैं, उनसे संग्रह करके सबके लिये समान उपयोगी एक निबन्ध-ग्रन्थ निर्माण किया जाय। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, महाभारत, रामायण आदि सद्ग्रन्थ हमारी अमूल्य निधियाँ हैं।

३. भारतवर्षके प्रत्येक गली-कूचेमें भजन और प्रार्थनाका एक स्थान नियत होना चाहिये। भजन सबके लिये समान अनुशासनका अङ्ग होना चाहिये—प्रत्येक भारतवासी अवश्य कर्तव्य जानकर भजन करे। बहुत लोगोंके मिलकर भजन-प्रार्थना आदि करनेका प्रभाव समाजपर अच्छा पड़ता है। प्रार्थनामें ऐसी शक्ति है, जो सबके हृदयोंको मिला देती है। महात्माजी ऐसी प्रार्थनाएँ कराते थे। यह क्रम आगे प्रत्येक नगर और गाँवमें चलना चाहिये। सब धर्माचार्योंको एक सम्मेलनमें एकत्र होकर धर्मकी पुनः स्थापनाका सबके लिये कोई एक मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिये। सभी धर्मोंका एक ऐसा धर्मपीठ बनाना चाहिये, जो सबके लिये समान हो, जहाँ सब धर्माचार्य और दार्शनिक एकत्र हो सकें और अपनी-अपनी बात कह सकें। उन्हें एक ऐसा सर्वसामान्य धार्मिक और नैतिक अनुशासन स्थिर करना चाहिये, जिसे सब लोग मानें। ऐसे साधुओं और सन्यासियोंको तैयार करें, जो स्थान-स्थानमें घर-घर घूमकर सबके समान धर्मग्रन्थ और नैतिक-धार्मिक आचारका प्रचार करें। धनका उपयोग निम्नलिखित कार्योंमें किया जाना चाहिये—

सद्ग्रन्थोंका मुद्रण, प्रकाशन और प्रचार।

धर्मके प्रचारकोंको तैयार करना और प्रचारके लिये जगत्के सब देशोंमें भेजना।

गीताकी सहस्रों प्रतियाँ छपवाकर अत्यल्प मूल्यपर उनका वितरण करना।

प्रतिवर्ष किसी मुख्य स्थानमें सर्वधर्मसम्मेलन किया जाना चाहिये। इससे सब सम्प्रदायों, विचारों और संस्थाओंके लोग एक जगह आ जायँगे और उनमें मेल और ऐक्य बढ़ेगा।

मन्दिरों और मठोंमें धार्मिक शिक्षाके उच्च विद्यालय स्थापित करने चाहिये।

इस प्रकार भारत अपने आध्यात्मिक साम्राज्यको पुनः प्राप्त होगा। उसीसे वास्तविक एकता स्थापित होगी। एकता आरम्भ होती है अंदरसे, विशुद्ध अन्तरात्मासे।

हिंदुओंकी वर्तमान दशा

भूलि गये ज्ञान ध्यान वेद विज्ञता महान भूलि गये पूजा औ क्रियाएँ सब जापकी[1]।
बल्लम और भाला देखे धड़का बढ़ावै चित्त धीरता भगावै धुनि घोड़नके टापकी[2]॥
क्षमता औ दृढ़ता निज शब्दहूकी भूलिगे ऊपर ते सींचि रहे देखो बेलि पापकी[3]।
गौरव औ मान बल वीरता बड़ाई प्रेम भूलि गये आन-बान आपुने प्रतापकी॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य।

हिंदू-संस्कृति, उसकी अजेयता और आधारशिला

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी० ए०, बी० एल्०, काव्यतीर्थ)

"यदि मनुष्यके पास संसारकी प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यात्मिकता नहीं है तो क्या लाभ ? ×××× वे (हिंदूलोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टिके मूलमें वह सत्य और दिव्य आत्मतत्त्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुराचार भ्रष्ट नहीं कर सकता और कोई दुर्वासना गंदा नहीं कर सकती; जिसे अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता; जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। उनकी दृष्टिमें मनुष्यकी वह परा प्रकृति—आत्मा उतना ही सत्य है जितना कि एक पाश्चात्त्य व्यक्तिकी इन्द्रियोंके लिये कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारामें वह शक्ति निहित है, जिसने उनको शताब्दियोंके उत्पीड़न और वैदेशिक आक्रमण या अत्याचारके बीच अजेय रक्खा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्रमें भयङ्कर-से-भयङ्कर विपत्तिके दिनोंमें भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होनेसे नहीं चूके हैं। सैकड़ों वर्षोंतक लहरों-पर-लहरें प्रत्येक वस्तुको तोड़ती-फोड़ती हुई देशको आप्लावित करती रही हैं; तलवार चली है और 'अल्लाहो अकबर' के गगनभेदी नारे लगे हैं; किंतु वे बाढ़ें चली गयीं और राष्ट्रिय आदर्शोंमें परिवर्तन न कर सकीं। हजार वर्षोंके असंख्य कष्ट और सङ्घर्षोंमें यह हिंदूजाति मर क्यों न गयी? यदि हमारे आचार-विचार इतने अधिक खराब हैं तो क्योंकर हमलोग अबतक पृथ्वीपरसे मिट न गये? क्या भिन्न-भिन्न वैदेशिक विजेताओंने हमें कुचल डालनेमें किसी बातकी कमी रक्खी? तब क्यों न हिंदू बहुत-से अन्य देशोंकी भाँति समूल नष्ट हो गये? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और उस वक्ततक अमर रहेगा जबतक कि यह विचारधारा पृष्ठ-भूमिके रूपमें रहेगी, जबतक कि उसके लोग आध्यात्मिकताको नहीं छोड़ेंगे।"*—स्वामी विवेकानन्द

'संस्कृति' शब्द संस्कृतभाषामें 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर निष्पन्न होता है। इसका अक्षरार्थ है संस्कार—निखरना या निखारना। राष्ट्रोंकी संस्कृतियोंका अध्ययन करनेसे उनमें दो धाराएँ मिलती हैं—एक विचारधारा (Theory) और दूसरी आचारधारा (Practice)। पहली धाराको हम संस्कृतिका आधार, सिद्धान्तवाद या आन्तरिक रूप कहते हैं और दूसरीको उसका विस्तार, कार्यवाद या बाह्य रूप। एकके विना दूसरी अधूरी और दोषपूर्ण रहती है। आचारधाराके विना कोरी विचारधारा दुरूह कल्पनामात्र—अस्पष्ट स्वप्नरूप है, जिसके सत्यासत्यके विषयमें भी वाद-विवाद हो जाया करता है। विना विचारधाराके निरी आचारसृष्टि निर्जीव रूढिवाद है, जो किसी राष्ट्रके जीवनमें घुल-मिलकर समा जानेकी शक्ति नहीं रखता। उन्नत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके जीवनमें संस्कृति-की उक्त दोनों धाराएँ ओतप्रोत रहती हैं। उनका समन्वय ही सौन्दर्यजनक और जीवनदायक है। उनका वियोग राष्ट्रके ह्रासका द्योतक है और जातियोंके पारस्परिक सङ्घर्षमें हत्याका कारण बनता है। इनमें भी आद्य धारा प्राणरूप और द्वितीया देहरूप है। जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाएँ आन्तरिक मनोवृत्तियोंकी परिचायिका होती हैं, उसी भाँति काव्य, नाट्य, गान, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि राष्ट्रिय संस्कृतिके नमूने तत्कालीन राष्ट्रकी विचारधाराके स्थूल प्रतीक होते हैं। राष्ट्रको निखारनेवाला—मानवसे महामानव या देव बनानेवाला—उसका सिद्धान्तवाद होता है। काव्य, गीति आदि ललित कलाएँ उस संस्कृत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके कार्यवादके अङ्ग हैं। यद्यपि हम दोनोंको ही संस्कृतिके नामसे कहते हैं, तथापि उनमें प्राणस्थानीय मूलभूत विचारधारा ही मुख्य है। दूसरी धारा उसकी छाया है। जिस प्रकार हमलोग ईश्वरकी सृष्टिके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उस सृष्टिकर्ताको और उसकी सौन्दर्यमयी प्रतिमाको भूल बैठते हैं, ठीक उसी तरह हम ललित कलाओंके लालित्यपर दिङ्मूढ हो उनके उद्गम स्रोत और उसके असीम वैभवको भुला देते हैं। प्रत्येक संस्कृतिकी आन्तरिक विचारधारा ही उसकी आधारशिला है। उसीपर उसकी चिरस्थायिता और क्षणभङ्गुरता निर्भर करती है। नीचेकी पङ्क्तियोंमें हम भी जरा अपनी सनातन हिंदू-संस्कृति-की आधारशिला—उसकी प्राणदायिनी विचारधारा—पर, जिसने अनादिकालसे इस राष्ट्रको जीवित और सुदृढ़ रक्खा है, थोड़ा-सा विचार कर लें।

* देखिये—*Complete Works, Vol IV, pp. 154-56; Vol V., p. 347.*

यदि संसारमें ऐसा कोई देश है, जिसमें सभ्यताके सूर्यका सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसमें ज्ञानमहोदधिकी उत्ताल तरङ्गे अनादिकालसे सुदूर कोनोंको भी आप्लावित करती रही हैं; जहाँ सदासे धर्म, त्याग और वैराग्यकी अविरल-वाहिनी धाराओंने लोगोंको मनसा, वचसा, कायेन पावन किया है; जहाँ कर्म, ज्ञान और भक्तिकी परम पवित्र त्रिवेणी पूर्वैतिहासिक कालसे दुःखदावानलदग्ध प्राणियोंके सन्तप्त हृदयोंको शान्ति-सुधा पिलाती रही है, जिसको युग-युगमें संख्यातीत संत, महापुरुष और अवतारोंको प्रकट करनेका गौरव प्राप्त है, जहाँ आध्यात्मिकता-लता खूब घनी फूली-फली है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्ष है। यदि समस्त विश्वमें कहीं ऐसी कोई जाति है, जिसने भूभागपर सर्वप्रथम मानव-सभ्यता और संस्कृतिको जन्म दिया, जिसने जीवनकी अत्यन्त उलझी हुई तमोमय ग्रन्थियोंको त्याग-स्नेहपूर्ण आलोकशाली ज्ञानप्रदीपके सहारे सुस्पष्ट रीतिसे सुलझाकर मनुष्य-जातिका परम कल्याण किया, जिसने गम्भीर विचारपूर्ण 'दर्शनों' की प्रौढ रचनाके द्वारा ज्ञानसागरको गागरमें भर दिया, जिसने विश्वको अठारह विद्या और चौसठ कलाओंके आलोकसे चकाचौंध कर दिया; जिसको जीव, ईश्वर और जगत्-सम्बन्धी अशेष वादोंके प्रवर्तक होनेका अनन्यसाधारण सौभाग्य प्राप्त है; जिसको दुःख सहना सिखाया गया है, दुःख देना नहीं; जिसने सदासे अन्यधर्मावलम्बियोंके प्रति सहिष्णुताकी भावना रक्खी है और उनकी पीड़ित, असहाय अवस्थामें उन्हें शरण दी है; जिसमें ईश्वर-दर्शनकारी संतोंका सदा तॉंता बना रहा है, जिसकी सभ्यता प्रारम्भसे आजतक चली आयी है और विधर्मी वैदेशिक शासकोंके क्रूर और कपटमय मूलोच्छेदी प्रहारोंको एक हजार वर्षतक ढकेलती हुई जीवित रही है, जो आत्माकी अमरताके गीत गाती हुई तन्मय होकर अपने लक्ष्य—आत्मा—के समान अमर हो गयी है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्षकी आर्य हिंदू जाति है।

हिंदूराष्ट्र और संस्कृतिने एक हजार वर्षकी अग्नि-परीक्षाद्वारा अपनी योग्यता और अजेयताको सिद्ध कर दिया है। मुसलमानोंके अमानुषिक अत्याचारोंको सदियोंतक सहकर, क्रूर शासकोंद्वारा दिये गये भय, वैभव और जीवनसत्ताकी अवहेलना कर हिंदू-जातिने अपनी संस्कृतिकी रक्षा की; क्योंकि वह उन्हें अपने प्राणोंसे भी प्रियतर थी। उसके नामपर मरकर उसने अपने आपको अमर माना। स्वधर्म और संस्कृतिका हिंदुओंको गौरव था और वह भी इतना अधिक कि उसके समक्ष सम्पूर्ण ऐहिक सुख-सम्पत्ति तिनकेके समान थी। मुसलमानलोग शक, हूण, यवन आदि अन्य आक्रमणकर्ताओंकी भाँति केवल लूट-खसोट और राज्य करने नहीं आये थे। उनके पास अपना निजी धर्म और संस्कृति थी, जिनका प्रचार करना उनके जीवनका चरम लक्ष्य था। हिंदू-संस्कृतिपर उनके अभूतपूर्व क्रूर और घातक प्रहार हुए, पर उसकी परम दृढ़ जड़को काटते-काटते मुसलमानोंकी तलवार भोंटी होकर जीर्ण-शीर्ण और छिन्न-भिन्न हो गयी। संस्कृतिकी इस घायल दशामें ही देशपर एक दूसरा विदेशी शासन—अंग्रेजी राज्य—आ लदा। वह और भी विचित्र था। उसके पीछे शक्ति, वैभव, सभ्यता, शिष्टाचार, कूटनीति और आधिभौतिक विज्ञानका सामर्थ्य था। अंग्रेजोंने भलीभाँति देशकी परिस्थितिका अध्ययन कर लिया था। वे हिंदू-संस्कृतिसे सशङ्क थे; क्योंकि वह पहले कई दूसरी संस्कृतियोंको अपनेमें विलीन कर चुकी थी और उसे कोई न मिटा सका था। देशीय दृष्टिसे हिंदू हार चुका था। पर सांस्कृतिक विचारकोणसे वह अपने-आपको उन गौराङ्ग महाप्रभुओंसे उत्कृष्ट मानता था। यह बात शासकोंको बहुत अखरती थी, पर वे मुसलमानोंकी गलतीको नहीं दोहराना चाहते थे। उन्होंने अपने चालाक दिमागसे ऐसा मायामय षड्यन्त्र रचा कि जिससे हिंदू-संस्कृतिपर उसीके अंदरसे आक्रमण होने लगे, हिंदू ही उसके प्रति घृणा और विरोधकी भावना रखने लगे। उन्होंने देशभरमें अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धतिका जाल फैलाया और उसमें फँसनेवालोंको बड़े-बड़े प्रलोभन मिले, जिन्हें देखकर लोगोंका प्रवाह उस ओर चल पड़ा। शिक्षा क्या थी, सनातन भारतीय संस्कृतिके शरीरमें शिथिल-सञ्चारी विषका इंजेक्शन था। उस मोहमयी मदिराको पीकर युवकोंके दिमाग़ बदल गये—उन्मत्त हो गये। उस वक्तकी स्थितिका दिग्दर्शन मैं स्वामी श्रीविवेकानन्दजीके प्रभावशाली शब्दोंमें ही नीचे करा देना उचित समझता हूँ—

"वर्तमान (उन्नीसवीं) शताब्दीके प्रारम्भमें जब कि पाश्चात्त्य प्रभाव भारतमें आने लग पड़ा था, जब कि पाश्चात्त्य विजेतालोग हाथमें तलवार ले ऋषियोंकी सन्तानोंको यह प्रत्यक्ष दिखलाने आये थे कि वे (ऋषिसन्तान) असभ्य हैं, थोथे स्वप्न देखनेवाले लोगोंकी एक जाति हैं, उनका धर्म कोरी दन्तकथा है; आत्मा, परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिये वे प्रयास करते रहे हैं, निरे निरर्थक शब्द हैं; साधना और

अनन्त त्यागके हजारों वर्ष व्यर्थ रहे हैं, तब विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेवाले नवयुवकोंके बीच यह प्रश्न उठने लगा—'क्या इस समस्तका राष्ट्रिय जीवन असफल रहा है; क्या उनको पाश्चात्त्यप्रणालीके आधारपर पुनः श्रीगणेश करना होगा, अपनी प्राचीन पुस्तकोंको फाड़ डालना होगा, दर्शनशास्त्रोंको जला देना होगा, धर्मोपदेशकोंको भगा देना पड़ेगा और मन्दिरोंको तोड़ डालना होगा ?' क्या पाश्चात्त्य विजेता, जिसने अपने धर्मका तलवार और बन्दूकके द्वारा प्रदर्शन किया था, नहीं कहने लगा था—'तमाम पुरानी बातें निरा रूढ़िवाद और मूर्तिपूजा है।' पाश्चात्त्य पद्धतिके अनुसार परिचालित नये स्कूलोंमें शिक्षा-दीक्षा पाये हुए बालकोंमें ये विचार बचपनसे समाने लगे। फिर सन्देहोंके उत्पन्न होनेमें आश्चर्य ही क्या था; परंतु रूढिवादको दूर डाल सत्यकी खोज करनेके स्थानमें सत्यकी कसौटी यह हो गयी—'(इस विषयमें) पश्चिम क्या कहता है ?' ब्राह्मण विदा हो, वेद जला दिये जायँ; क्योंकि पश्चिमने ऐसा ही कहा है।''* ओह ! कितना घोर विषाक्त प्रचार और प्राणघाती प्रहार था! अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्त्य संस्कृतिने ऐसे हिंदुओंको तैयार किया, जिनको संसारमें हिंदुत्व और भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त सब बातें पसंद आयीं। हिंदूधर्म, धर्मग्रन्थ और आचार-विचारको तिलाञ्जलि दे उनको विदेशी शासकोंके नक्काल बननेमें गौरवका अनुभव होने लगा। उनकी मौलिकता समाप्त हुई !

दासको अपनी दासतामें परमानन्दका अनुभव होने लगा। बस, विजेताकी विजय पूरी हुई। पतनकी पराकाष्ठा हो गयी। और तो क्या, अंग्रेजी प्रणालीके अनुसार पढ़नेवाले संस्कृतके विद्वानोंने भी आजतक भारतीय रीति-नीतिके अनुरूप संस्कृत-साहित्य और हिंदू-संस्कृतिके ग्रन्थ नहीं लिखे। जो भी लिखे, उनमें अंग्रेजी, अंग्रेज और अंग्रेजी-संस्कृतिका प्रभाव ओतप्रोत है। पश्चिमसे हमें बहुत-सी बातें सीखनी हैं; पर जिन बातोंको हम उन्हें सिखा सकते हैं, उनमें भी उनकी दासता और शिष्यता अङ्गीकारके गौरवका अनुभव करना अंग्रेजी-शासनकी देन है। वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंके बारेमें पाश्चात्त्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीयोंने ऐसे-ऐसे काल्पनिक, परस्पर-विरोधी मतोंको उपस्थित किया कि जिन्हें पढ़कर नवयुवकोंके मस्तिष्क फिर गये और धर्मग्रन्थोंके प्रति श्रद्धाके स्थानमें सन्देह और अनास्थाकी सृष्टि हो गयी। स्कूलोंमें यह बात पढ़ायी जाने लगी कि आर्य भारतमें बाहरसे आये थे; ताकि छात्रोंको भविष्यमें यह अभिमान न हो सके कि पुण्यभूमि आर्यावर्त केवल उन्हींका 'आदि देश' है। नवशिक्षितोंका यह प्रवाद हो गया कि भारतवर्ष किसीका देश नहीं है, उसमें सब जातियाँ बाहरसे आयीं। इसी भाँति 'भारतीयोंके कोई इतिहास नहीं है', 'धर्म लड़ाईकी जड़ है', 'ईश्वर कोई वस्तु नहीं है', 'पाप-पुण्य कोरी कल्पनाप्रसूति है' इत्यादि असद्वाद भारतीयोंको रात-दिन सिखाये-पढ़ाये गये। फल यह हुआ कि ऐसे हिंदुओंको अपने देशीय तथा जातीय वेष, भाषा और भावके प्रति अनास्था और विदेशी वस्तुओंके प्रति श्रद्धा हो गयी।

अंग्रेजोंने हिंदुओंके देशको ही नहीं छीना, किंतु कूट उपायोंद्वारा हिंदू-जातिको सांस्कृतिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालनेका भगीरथ प्रयत्न किया। आज वह अंग्रेजी राज्य ही, जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, भारतभूमिसे मिट गया है; पर हिंदू-संस्कृति उसके भयङ्कर प्रहारोंको सहकर भी अपनी अमर आधारशिलापर स्थित है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है ? इतिहासज्ञो! आप समस्त विश्वकी सम्पूर्ण जातियोंके इतिहासोंको सृष्टिकी आदिसे पढ जाइये और फिर बतलाइये कि भारतकी हिंदू-जातिको छोड़ क्या अन्य कोई दूसरी जाति भी है, जिसने हजार वर्षोंतक विधर्मी-विदेशी शासकोंके नृशंस और मायामय हमलोंको सहन कर अपने और अपनी संस्कृतिके जीवनकी रक्षा की है ? फिर भी यदि कोई हिंदू-संस्कृतिको सदोष और निकम्मी बताकर बदनाम करे तो 'उन्मत्त प्रलाप' नहीं तो क्या है ?

हिंदू-संस्कृति अमर है, वह मिट नहीं सकती। क्यों ? उसका मूल अमर है, उसकी आधारशिला अमर है। हिंदू देहात्मवादी नहीं है, वह अध्यात्मवादी है। उसकी दृष्टिमें देहाध्यास अज्ञानमूलक होता है। जन्म, शिक्षा-दीक्षा, संग, संस्कार, वातावरण आदि नाना कारणोंसे हिंदू हार्दिक विश्वास रखता है—'इस दृश्यमान स्थूल जगत्के मूलमें—इसके अणु-अणुमें एक, अद्वितीय, पूर्ण, अपरिच्छिन्न—अनादि और अनन्त—नित्य, अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ—

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'

(यजुर्वेद ४० । १६)

वह (हिंदू) मानता ही नहीं कि मैं शरीर हूँ। उसका शाश्वत दृढ़ विश्वास है—'मैं आत्मा हूँ। शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, जल मुझे गला नहीं

* विवेकानन्द—My Master, pp. 9-10

कर सकता, वायु मुझे सुखा नहीं सकता, मृत्यु मुझे मार नहीं सकती। मैं अनित्य साङ्घातिक शरीर नहीं हूँ, बल्कि उसका अधिपति नित्य-अद्वैत शरीरी हूँ; क्षणभङ्गुर देह नहीं हूँ, बल्कि उसका अविनाशी अधिष्ठाता देही हूँ। मेरा जन्म नहीं है, मेरा मरण नहीं है, मैं एक देहरूपी चोला छोड़ता हूँ और दूसरा धारण कर लेता हूँ। देहके विकार मुझमें नहीं हैं। मैं उसका द्रष्टामात्र हूँ, उससे सर्वथा भिन्न हूँ; वह क्षेत्र है, मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। देहका ही आगम और अपाय होता है। मैं सदा निर्विकार, एकरस हूँ, सनातन हूँ, आत्मा हूँ और केवल वही हूँ। 'सृष्टिमें भेद नहीं है।' 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है', 'यह आत्मा ब्रह्म है।' 'मैं वही ब्रह्म हूँ।' 'सब मुझमें है' और 'मैं सबमें हूँ'—

'नेह नानास्ति किञ्चन' (कठ० २ । १ । ११)
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३ । १४ । १)
'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य० २)
'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक० १ । ४ । १०)
'मया ततमिदं सर्वं'.........'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (गीता ९ । ४)

हिंदू सदा आशापूर्ण आस्तिक होता है, शून्यवादी नास्तिक नहीं। 'अस्ति, अस्ति'—'है, है' ही उसका श्वास है; न कि 'नास्ति, नास्ति'—'नहीं है, नहीं है'। ये केवल पुस्तकीय वाक्य नहीं है, न कुछ इने-गिने दार्शनिकोंके रहस्यमय बुद्धिवाद, न कोरी कल्पनाके ऊँचे उड़ान, न अव्यवहार्य विचार या विश्वासमात्र। ये है वे वास्तविक जीवन-तत्त्व, जिनका हिंदू महर्षियोंने संख्यातीत वर्षोंकी त्यागपूर्ण साधनाके द्वारा आविष्कार किया था और जिनका अनादिकालसे हिंदू-जाति अपने व्यावहारिक जीवनमें निरन्तर बड़े चावसे प्रयोग करती रही है। हिंदुओंको 'कोरी कल्पनाएँ करनेवाली और निरे स्वप्न देखनेवाली जाति' कहकर जो उनके विरुद्ध अव्यावहारिकता और अकर्मण्यताका दोषारोप किया गया है, वह अज्ञानमूलक और द्वेषपूर्ण है। वास्तवमें हिंदुओंके समान व्यावहारिक जाति धरातलपर है ही नहीं। उन्होंने जितने भी सूक्ष्म विचार खोज निकाले हैं, उन सबको अपने निजी जीवनमें व्यावहारिक रूप दिया है। दूसरे देशोंके दार्शनिकोंको यह गौरव प्राप्त नहीं है। वे निरे स्वप्नद्रष्टा हैं। उन्होंने ही विचार और व्यवहारमें भेद किया है, हिंदू दार्शनिकोंने नहीं। 'एक आत्मा ही सत्य है, सब जगत् मिथ्या है'—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'—इस विश्वासको सत्य सिद्ध करनेके लिये असंख्य हिंदुओंने भरे घरोंको छोड़ा है, समृद्ध राज्योंको ठुकराया है। उन्होंने अपने पास सामान्य व्यक्तिके लिये अनिवार्य भोजन, वस्त्र आदि सामग्रीको भी नहीं रक्खा! वृक्षोंके पत्ते खाकर और नदियोंका जल पीकर उसी तत्त्वकी उपलब्धिके लिये आँसुओंके झरने बहाये है और साधनपथमें ही अपनी हड्डियाँ दे डाली हैं। आज भी ऐसे व्यक्तियोंका ताँता टूटा नहीं है। 'आत्मज्ञान' से हिंदूका अभिप्राय आत्मसम्बन्धी कोरी कल्पना, निरे विचार, बौद्धिक ग्रहण या शास्त्रीय ज्ञानसे नहीं है, बल्कि स्वात्मानुभवसे है, आत्मसाक्षात्कारसे है। आत्मदर्शनसे कम किसी वस्तुसे वह सन्तुष्ट होनेवाला नहीं। कई एक महापुरुष इसी जीवनमें उस अनुपम स्थितिको प्राप्तकर 'जीवन्मुक्त' हो जाते हैं। उनके हृदयकी सब गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं, सब संशय क्षीण हो जाते हैं, सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, प्रारब्धभिन्न सब कर्म भस्म हो जाते हैं। धर्म, ईश्वर, जीव, जगत्-सम्बन्धी बातें उनके लिये समस्याएँ न रहकर हस्तामलककी भाँति प्रत्यक्ष हो जाती हैं। आत्मदर्शी महात्माका हिंदू-समाजमें साक्षात् ईश्वरके समान सम्मान होता है। वह जो कुछ कह देता है, वही कल्याणमार्ग है। जिस पथसे वह निकल पड़ता है, उसीकी धूलि पावन और शिरोधार्य हो जाती है। ऐसे महापुरुष अपने उदयद्वारा अधर्म और अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानालोकसे संसारका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। धर्माधर्मके निर्णयमें हिंदूलोग पाश्चात्त्य देशोंकी भाँति 'बहुमत' को कोई महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सत्य या धर्मको 'संख्या' का पक्षपात नहीं है। एक आदमी सत्यकी राहपर हो सकता है और तमाम दुनिया अनीतिकी राहपर। उनका निश्चित मत है कि आत्मवेत्ता एक ही धर्म-निर्णयके लिये पर्याप्त है, अनात्मज्ञ हजारोंकी संख्यामें भी नहीं—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ९)

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥
(मनुस्मृति १२ । ११४)

'वैदिकधर्मके ज्ञाता चार आदमी और तीन विद्याओंके जाननेवाले बहुत-से मिलकर 'धर्मसभा' कहलाते हैं। वह (सभा) जो कहे सो धर्म है। अध्यात्मज्ञाता एक भी जो कहे, वह धर्म है।' 'व्रत और मन्त्रसे रहित केवल जाति-नाम-

धारी हजारों ब्राह्मण मिलकर भी 'धर्मसभा' नहीं हो सकते ।' आत्माकी अद्वितीयता, अमरता, व्यापकता आदि सिद्धान्त हिंदूराष्ट्रके गिने-चुने व्यक्तियोंकी ठेकेदारीके सामान नहीं रहे हैं, बल्कि राजासे रङ्कतक और ब्राह्मणसे चाण्डालतक फैले हुए हैं। 'आत्मा सो परमात्मा', 'वही सबमें रम रहा है', 'उसका देहान्त हो गया', 'उसका चोला छूट गया'—आदि सर्वसाधारणद्वारा प्रयोग किये जानेवाले वाक्य उसके परिचायक हैं । अपनी पञ्जाबयात्रामें एक ग्रामीण बालकके गीतका वह अंश, जिसका अर्थ था—"मेरे चर्खेका पहिया भी 'सोऽहं' 'सोऽहं' गाता है" सुनकर स्वामी श्रीविवेकानन्दजी आनन्दविभोर और आश्चर्य-चकित हो गये थे । आत्मा ही परमात्मा है। उसके सगुण रूपको देखनेवाले भक्तों—ईश्वरदर्शनकारी संतोंका—प्रवाह भी बड़ा प्रबल है । उनका व्यवहारदर्शन बड़ा विचित्र और रोचक है । उनकी सम्पूर्ण साधनाएँ ईश्वरदर्शनके लिये, ठीक उसी तरह उसे देखनेके लिये जिस प्रकार हम एक दूसरेको देखते हैं, बल्कि उससे भी और अधिक घनिष्ठ रूपमें अनुभव करनेके लिये, उससे बातचीत करनेके लिये, आदेश पानेके लिये—नहीं, नहीं, सुख-दुःखमें साथी बनने, घरेलू धंधोंमें भी मदद करनेके लिये उस सर्वलोकमहेश्वरका आह्वान करनेके लिये होती हैं। वहाँ कोई 'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी', 'जित देखौ तित स्याममयी है' आदि दर्शन-लालसाभरे गीत गाता है तो कोई पुत्र, मित्र, माता या पिताके भावमें उससे मिलकर परमाह्लादका अनुभव कर रहा है; एक अपनी बेटीके 'भात'के वक्त उसके देरीसे पहुँचनेपर उससे रूठ रहा है तो दूसरा उसे उसकी गल्तीके कारण पीट रहा है; एकसे वह तिलक करवा रहा है तो दूसरेकी रूखी रोटीको कुत्तेके रूपमें लेकर दौड़ रहा है; एक माता उसे दधि-माखनका प्रलोभन दे आँगनमें नचा रही है तो दूसरीके छोटे बालकको वह जंगलमें साथी बन पाठशाला ले जाता है आदि-आदि । उन भक्तोंकी जीवनगाथाओंको पढ़-सुनकर अँखियाँ नदियाँ बन जाती हैं । वे महापुरुष वेदोंके 'नेति-नेति' रूपसे गाये हुए परम पुरुषको अपने प्रेमपाशसे बाँध दैनिक जीवनके स्थूलरूपमें ले आये । अबतक जो जीवन वैराग्यका विषय था, आनन्दभूमि बन गया ।

अब जरा बतलाइये, हिंदू सपने देखनेवाला कल्पना-परायण प्राणी है या प्रयोगकुशल वैज्ञानिक ? क्या उसने आत्मा और परमात्मासम्बन्धी अतिसूक्ष्म तत्त्वोंको अत्यन्त व्यावहारिकतामें लानेके लिये कुछ उठा रक्खा ? जहाँ अन्य लोगोंको 'अस्ति, नास्ति'—'है या नहीं है' का सन्देह हो रहा है, वहाँ हिंदूने स्वयं तद्रूप होकर या उसका होकर परम तत्त्वके दर्शन कर लिये । फिर भी पाश्चात्त्य जातियों और उनकी शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित भारतीय लोग हिंदुओंको कल्पनापरायण क्यों कहते हैं ? वे लोग अनित्य सांसारिक भोगोंके चिपटे हुए हैं और उन्हें ही परमार्थ मानते हैं। उनकी दृष्टिमें उनसे ऊँची कोई वस्तु है ही नहीं । आत्मा, परमात्मा और धर्म आदि शब्दोंके लिये उनके शब्दकोषमें कोई स्थान नहीं है । उनके अनुसार वे निरर्थक काल्पनिक पद हैं और उनकी खोजमें लगे रहनेवाले लोग कल्पनाके विमानपर उड़ रहे हैं। लोक-परलोक, पाप-पुण्य व्यर्थका जाल है; क्योंकि उनको वे समझते नहीं और उनके माननेसे उनका जीवन निःसार सिद्ध होता है । नित्य आत्मतत्त्वके ज्ञानी और जिज्ञासु अनित्य वस्तुओंमें आस्था रखनेवाले लोगोंको 'बालक' कहते हैं, जिनको अपने खिलौनोंके सिवा दुनियामें कोई तात्त्विक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी दशाका वर्णन कठोपनिषद्की श्रुति इस प्रकार करती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
(कठ० १ । २ । ५)

'अविद्याके बीच फँसे हुए, अपने आपको विद्वान् और बुद्धिमान् माननेवाले मूढलोग अंधेके पीछे चलनेवाले अंधोंकी भाँति बुरी तरह भटकते रहते हैं ।' यह प्राच्य और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणका मौलिक भेद है, जिसका समन्वय हो नहीं सकता । इसीको लेकर कवि किपलिङ्गके शब्द याद आ जाते हैं—

'The East is East and the West is West;
And never the twain shall meet.'

'पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम । दोनोंका कभी मेल हो नहीं सकता ।'

पाश्चात्त्य संस्कृतिके अनुसार सर्वोच्च व्यक्ति वह है, जिसके पास दुनियाकी सबसे अधिक चीजें हैं। हिंदू दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है । उनकी दृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ वह है, जिसने नित्यतत्त्वकी उपलब्धिके लिये सब अनित्य वस्तुओंको मनसा त्याग दिया—

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥
(मनुस्मृति २ । ९५)

'सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति और परित्याग दोनोंमे त्याग ही श्रेष्ठ है ।' जहाँ पाश्चात्त्य विचारधाराकी 'इतिश्री' हो जाती है, वहाँ प्राच्य दर्शनका प्रारम्भ होता है । वहाँ भोगी-को श्रेष्ठ माना है, यहाँ त्यागीको । पाश्चात्त्यो और उनके अनुयायियोंकी दृष्टिमे हिंदू कल्पनाप्रिय प्राणी है; क्योंकि वह उनके दिमागके परेकी बातोंको सोचता और करता रहता है। हिंदुओंके मतानुसार वे लोग 'बालक' है, जो अपनी नासमझीके कारण नित्य आत्माको छोड़ अनित्य भोगोंको परमार्थ मानकर अपनाते हैं और उन्हींमे अपने जीवनको होम देते है । दोनो दृष्टिकोणोके लिये कारण स्पष्ट है ।

आत्मोपलब्धि और ईश्वरसाक्षात्कारके लिये जो साधन या कर्तव्यकर्म है, वे व्यक्ति और समष्टिकी स्थितिको धारण करनेके कारण 'धर्म' कहलाते है । हिंदू महर्पियोने खाने-पीने, सोने-उठनेसे लेकर वर्णाश्रमव्यवस्थातक सम्पूर्ण धर्माधर्म या कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन 'आत्मानुभूति' या 'ईश्वरदर्शन' की दृष्टिसे किया है । पाश्चात्त्योंकी तरह 'अधिकार'का हो-हल्ला वहाँ नहीं है । वहाँ तो केवल 'धर्म' का बोलबाला है। हिंदूका विश्वास है कि जो धर्मपर स्थित है, उसके अधिकार-की रक्षा स्वयं 'धर्म' करता है, धर्माधिपति 'ईश्वर' करता है । उसका लेखा दुनियामे है और दुनियासे परे भी है । साध्य और साधनका अभेद मानकर वह धर्मके प्रति अटूट श्रद्धा और निष्ठा रखता है । पाश्चात्त्योंकी भाँति वह उसे 'नीतिके नियम' नहीं मानता, जिन्हें वे मोमके नाककी तरह सुविधाके अनुसार इधर-उधर कर बैठते हैं । उसका तो विश्वास है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

(मनुस्मृति ८ । १५)

'धर्मकी हत्या करनेपर वह उस हत्या करनेवालेका विनाश कर डालता है, धर्मकी रक्षा होनेपर वह रक्षककी भी रक्षा करता है; इसलिये हमे धर्मका नाश नहीं करना चाहिये । नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे ।' सनातन प्रभुका धर्म भी सनातन है । उसका नाश कभी हो नहीं सकता । जब-जब उसके ह्रास या ग्लानिका और अधर्मकी वृद्धि या अभ्युत्थानका अवसर आता है, तब-तब स्वयं मायाधिपति ईश्वर उसकी रक्षा और संस्थापनाके लिये अवतार लेता है । उसकी रक्षाका भार किसी लौकिक जीवपर नहीं है, स्वयं अविनाशी ईश्वरपर है, जो उसका प्रभु है—'धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।'

धर्म और ईश्वरकी श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावनाको ही 'आध्यात्मिकता' कहते हैं । वही हिंदूका जीवन है, वही हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला है । उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं । 'हिंदू कहता है कि जीवनकी समस्याका एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर । यदि ये (धर्म और ईश्वर) सत्य है तो जीवन सार्थक है, सह्य है, सुखद है; अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है। यह है हमारा (हिंदुओं-का) विचार' (स्वामी विवेकानन्द) । समाजके प्रत्येक वर्गका आदमी—चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, योद्धा हो या व्यापारी, कृषक हो या कारीगर, कवि हो या दार्शनिक—इस अमर भावनाको किसी-न-किसी रूप या अंशमे अपने साथ लिये रहता है । इस विचारधाराको प्रारम्भमे वैदिक साहित्यने जन्म दिया; बादमे आर्ष धर्मग्रन्थोने उसे पल्लवित किया । फिर युगपरिवर्तनके साथ पौराणिक साहित्य और महाभारत आदि ग्रन्थोंने तदनुरूप कथा-रचना और दार्शनिक वादके मिश्रित आधारपर उसे सुरक्षित रक्खा । मध्ययुगमे भगवद्भक्तोकी अनन्त परम्पराने उसे रूपान्तर दे सर्वसाधारणतक पहुँचाया । हमारे जमानेके राजनीतिक आन्दोलनके पीछे भी पिछले दिनो उसी आध्यात्मिकताकी दबी आवाज़ थी । हिंदू-संस्कृति अमर आधारशिला—आध्यात्मिकता—पर स्थित रही है, इसीलिये सब सङ्कटोके रहते भी सदा रही है और यदि भविष्यमे आधारशिला वही रहेगी तो सदाके लिये वह अमर रहेगी । पूर्वजोकी अमूल्य निधि आध्यात्मिकताका उपार्जन और संरक्षण प्रत्येक हिंदूका पवित्र कर्तव्य है । उसीसे आत्मकल्याण और विश्वशान्ति होगी और उसीसे भारतभूमिका गौरव फिर पूर्ववत् होगा । ॐ शान्तिः ।

हिंदूके गुण

हिंदूलोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु-भक्तिसे युक्त होते हैं ।

—कवि सैमुएल जॉन्सन

आर्य हिंदू-धर्म

(लेखक—बाबू श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला)

भारतीय आर्य हिंदू-संस्कृतिका रक्षक 'धर्म' ही हो सकता है। सनातनधर्म ही उसका प्राण है। धर्मके बिना संस्कृति-का कोई अर्थ नहीं, कोई गौरव तथा मूल्य भी नहीं। वर्तमान समयमें अज्ञानवश बहुत-से भाई धर्मका नाम लेनेमें भी कुछ संकोच या लज्जाका अनुभव करते हैं (वास्तवमें यह बड़ी लज्जाकी बात है)। इसीलिये वे धर्मको भी संस्कृति, सभ्यता या कल्चरके नामसे ही सम्बोधन करते हैं। वे भाई सनातन आर्यधर्म या उससे प्रकट हुई शाखाओंके माननेवाले बौद्ध, सिख, सनातनी आदि अपने धर्मबन्धुओंसे भी परस्परके वार्तालापमें संस्कृतिको ही आगे कर कहते हैं कि 'आपकी-हमारी संस्कृति मिली हुई है।' किंतु केवल संस्कृति-शब्द भाषा, वेष और सामाजिक आचार-व्यवहारका सूचक है, जो भारतके हिंदुओंमें ही भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं तथा समय-समयपर बदलते रहते हैं। प्रान्तीय भाषाओंका मूल संस्कृत है, परंतु तब भी बोल-चालकी भाषामें कई स्थानोंमें विशेष अन्तर पड़ गया है। पोशाक भी धोती या साड़ीके उपरान्त उत्तर, दक्षिण या पूर्वी भारतकी, देश-कालकी परिस्थितिके कारण समान नहीं रह गयी है; फिर भी धार्मिकता-की एक भावनाके कारण हम काश्मीरी, नैपाली तथा सिन्धी, बंगाली या मदरासी हिंदूको अपना भाई समझते हैं। यदि भाषा तथा पोशाक आदिसे ही एक संस्कृति या सभ्यता समझी जाती, तो हमारे पड़ोसी बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त, काबुल आदिसे भी वही नाता होता। उनके साथ भी एक हजार वर्ष पहले वैसी ही बात थी, क्योंकि वे भी हिंदू थे; किंतु आज तो वे अपनी संस्कृति हमसे भिन्न समझते हैं। दूसरी ओर चीन, जापान, बर्मा, श्याम आदिके बौद्ध भाई दूर रहनेपर भी अपनी संस्कृति भारतसे मिली-जुली समझते हैं।

इसके मूलमें धर्म-ही कारण है। यों तो वेष, भाषा तथा गृहनिर्माण, शिल्प आदिका भी बहुत महत्त्व है; क्योंकि पोशाकमें अमुक मनुष्य हिंदू या मुसलमान वा अमुक देशका जान लिया जाता है। उनमें भी पोशाकसे पण्डित, पादरी, मौलवी, साधु या सैनिक आदिको पहचाना जा सकता है। इसी भाँति विशेष प्रकारकी बनावट होनेसे मन्दिर, मस्जिद, चर्चको भी दूरसे ही जान लिया जाता है। स्वस्तिक आदिके चिह्नमें तथा मन्दिर आदि धार्मिक स्थानोंके शिल्पमें भारतसे बर्मा, श्याम, चीन, जापानतक बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है। इन सभी देशोंमें आर्यधर्मी साधु-संन्यासियोंकी पीले रंगकी पोशाक भी प्रायः एक समान पायी जाती है; किंतु शिक्षित कहे जानेवाले लोगोंमेंसे अब वर्तमान समयमें यूरोपियन पोशाकका प्रचार भी सभी देशोंमें बढ़ रहा है। यूरोपियन पोशाक महँगी पड़ती है और विशेष खर्चीली होने-से सादे जीवनके अनुकूल भी नहीं है। तब भी उनमें कुछ दो-तीन वस्तुएँ धूप तथा सर्दीसे रक्षा देनेवाली दिखायी दें तो उनको धारण किया जा सकता है; परंतु व्यर्थकी वस्तुको नकल करके धारण करना तो हानिकर ही है। अस्तु, केवल समान भाषा या लिपि या पोशाक धर्मके आधारके बिना एक संस्कृति नहीं बना सकती।

ईरानी (आर्यन्) जिनकी पारसी भाषा संस्कृत शब्दोंसे भरपूर है, अपनेको आर्य भी मानते हैं। यूरोप, अमेरिकाके लोग भी अपनेको आर्यन् मानते हैं। उनकी मूल लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओंका निकास संस्कृत भाषासे ही माना गया है। यूरोपकी तो लिपि भी अन्य आर्य लिपियोंकी भाँति मूल-में स्वस्तिकसे ही निकली मानी जाती है; परंतु धार्मिक भिन्नताके कारण यूरोप तथा ईरान, काबुल आदि देशवाले सभी अपनेको अलग मानते हैं। अतएव संस्कृतिकी एकता-के लिये मूलमें धर्म ही प्रधान है।

धर्मकी रक्षासे ही संस्कृति भी टिक सकती है, देशका श्रेय हो सकता है तथा व्यक्तियोंकी आत्मिक उन्नति हो सकती है। खेद है कि इस समय धार्मिक शिक्षणके अभावमें यहाँ शिक्षित कहे जानेवाले अधिकांश लोगोंने धर्मके अर्थको ही कुछ विचित्र मान लिया है। वे देशोद्धार या सुधारके नामपर उलटे मार्गमें जा रहे हैं। कुछ वर्ष पहलेतक सनातनधर्म वा आर्यसमाज तथा अन्य जातीय संस्थाएँ धार्मिक उन्नतिके लिये कुछ सामाजिक रूढ़ियोंमें सुधार आदिकी चर्चा करती रहती थीं; परंतु आज समान अधिकारके नामपर राग-द्वेष बढ़ाने-वाला, धर्मविरोधी उद्दण्डताके कार्य करनेवाली अनेकों संस्थाएँ दिखायी पड़ती हैं। आश्चर्य और खेद तो यह है कि महात्मा गांधीके सत्य, अहिंसा, त्याग और ईश्वरभक्तिके उपदेशोंको भी राष्ट्रोन्नतिके नामपर बहुत-से लोगोंने ताकपर रख दिया है, जिससे उनके आचरण 'नास्तिकता' और 'अनैतिकता'की ओर जनताको घसीट रहे हैं!

सीता, सावित्री, पद्मिनी-जैसी सतियोंके स्थानपर आज

कई कुलटा और पतित स्त्रियाँ समाजसुधारके नामपर सार्वजनिक सभाओंका नेतृत्व करती दिखायी पड़ती हैं। इसी प्रकार प्राचीन महापुरुष, महात्मा तथा वीर पुरुषोंके स्थानपर चरित्रहीन और नास्तिक लोगोंका समाजमें प्रभाव बढ़ रहा है। विद्यापीठोंमें युवक और युवतियोंको एक साथ शिक्षा दी जाने लगी है, जिसका कुपरिणाम दृष्टिगोचर होने लगा है। उचित तथा धार्मिक और नैतिक शिक्षाके अभावमें विद्यार्थी शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारसे अनेक रोगोंमें फँस जाते हैं। सामाजिक एकताके स्थानपर अनेकता बढ़ रही है। समानाधिकारके नामपर अशान्ति और विरोधकी आग यहाँतक फैल रही है कि अनेक वर्गवादोंके उपरान्त स्त्री और पुरुष-वर्गके नामपर भी विरोध चल पड़ा है। यदि स्थितिको नहीं सम्हाला गया तो भारतीय समाज तथा संस्कृतिके सर्वथा नष्ट होनेका डर है। इससे बचनेके लिये धार्मिक शिक्षा अर्थात् गीता आदि सद्ग्रन्थोंकी पढ़ाईकी अति आवश्यकता है। इसके लिये विद्यालयोंमें हिंदू बालकोंके लिये अनिवार्य नियम बनाया जाना आवश्यक है। श्रीगीताके उपदेश प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारी हैं, वे देश-कालकी सीमासे बाधित नहीं हैं तथा वे साम्प्रदायिकतासे दूर हैं—इस प्रकारकी मान्यता हमारी वर्तमान गवर्नमेंटके प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजी और गवर्नर-जनरल श्रीराजाजीकी भी है। कई बार अपने भाषणोंमें वे यह बात कह चुके हैं। तब क्या कारण है कि विद्यालयोंमें ये ग्रन्थ न पढ़ाये जायँ। इसी गीताको पढ़कर लोकमान्य तिलक कर्मयोगी बने तथा इसी गीतासे श्रीअरविन्द राजयोगी बन गये। श्रीगांधीजी भी गीताके प्रतापसे ही महात्मा बन गये। श्रीनेहरूजीने भी अपने भाषणमें कहा था कि 'उनके जीवनपर गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है।' वर्तमान समयमें हमारे बड़े-बड़े सभी नेता प्रायः गीतासे प्रभावित हैं; किंतु इतना होनेपर भी यह दुर्भाग्यकी बात है कि अभीतक इस सम्बन्धमें कार्यारम्भ नहीं किया गया है। मैं एक बार फिरसे प्रार्थना करूँगा कि मनुष्यता तथा भारतीय संस्कृति या भारतीयताकी रक्षाके लिये श्रीगीताके प्रचारकी बहुत ही आवश्यकता है।

हिंदू-संस्कृति क्या है ?

(लेखक—कुँवर श्रीचाँदकरणजी शारदा)

ढाई वर्षके इस संघर्ष और उलट-पुलटके समयमें अब प्रत्येक भाई यह कहता है कि हम अपने देशकी संस्कृतिकी रक्षा करेंगे; परंतु उनमेंसे बहुत-से भाई यह नहीं समझते कि संस्कृति कहते किसे हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि संस्कृतिकी रक्षाके अर्थ क्या यह हैं कि हम उस संस्कृतिकी रक्षा करें, जो छोटे-छोटे बच्चोंको मारना और स्त्रियोंको भगाकर ले जाना अपना धर्म समझते हैं? या वह संस्कृति उत्तम है कि जिस संस्कृतिके अनुसार काले-गोरोंका भेद रखकर अफ्रीकाके निवासियों तथा हिंदुस्थानियोंको मारा जाता है? अथवा संस्कृतिकी रक्षासे क्या उस पश्चिमी संस्कृतिकी रक्षा करना मानते हैं, जिसने जापानके लाखोंकी आबादीके हिरोशिमा नगरपर एटम बम गिराकर लाखों बूढ़ों, बच्चों एवं स्त्रियोंका नाश कर दिया? अथवा संस्कृतिके नामपर क्या इन अमेरिकावालोंको अच्छा मानते हैं, जो निग्रोलोगोंको खाल खींचकर मार डालते हैं? उत्तर मिलेगा—हम ऐसी संस्कृतिको कदापि नहीं चाहते। तो फिर कैसी संस्कृति चाहते हैं? उत्तर मिलता है—हम ऐसी संस्कृति चाहते हैं, जिसमें सब ईश्वरविश्वासी हों, भाई-भाईके समान एक दूसरेको समझनेवाले हों, पीले-गोरे-कालेका भेद-भाव जहाँ न हो, अपितु प्रेम, समझ, सरलता और सुख-शान्तिका राम-राज्य हो। 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्' के भाव सबके हृदयोंमें तरङ्गित हों। ऐसी संस्कृति हिंदू-संस्कृति ही है। राम और भरतकी सभ्यता और संस्कृति ही विश्वमें शान्ति फैला सकती है। पिताकी आज्ञासे राम राज्यको छोड़कर वन जाते हैं, किंतु भरत उसे लात मारते हैं। राज्यको 'फुटबाल' की भाँति एक भाई इधरसे किक मारता है, दूसरा भाई उधरसे। अन्तमें भरतने चौदह वर्षोंतक महलों और राजप्रासादोंमें शानसे न रहकर जमीनमें गुफा बनाकर रामके प्रतिनिधिरूपमें राज्य-संचालन किया। एक उस संस्कृतिको देखिये कि जिसमें औरंगजेबने राजपदके लिये दगा करके भाइयोंको मरवा डाला, बापको कैदमें डाला! हम ऐसी संस्कृतिको नहीं चाहते, जिसके मूलमें यह शिक्षा दी गयी है कि अन्य धर्मावलम्बीका वध करना ही धर्म है; उनके धर्मस्थानोंको तोड़ना, पुस्तकोंको जलाना और उनके स्त्री-पुरुषोंको दास-दासी बनाकर अनाचार करनेके आदेश हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति हमें वीर बनने एवं धर्मके मार्गपर

दृढ़ रहनेकी शिक्षा देती है। धर्म और संस्कृतिकी रक्षाके निमित्त चित्तौड़के किलेमें विधर्मियोंसे बचनेके लिये चौदह हजार वीराङ्गनाओंने जौहरकी ज्वालामें भस्मीभूत होकर आर्य-संस्कृतिको अमर बनाया। वीर आर्यबालक हकीकतने तलवारको हँसते-हँसते चूमकर, गुरु गोविन्दसिंहने अपने पुत्रोंकी बलि देकर, महाराणा प्रतापसिंह, दुर्गादास राठौर, छत्रपति शिवाजीने वर्षों जंगलोंमें भटककर अपनी प्यारी हिंदू-संस्कृतिके गीत गाये, किंतु त्याज्य एवं परिहार्य संस्कृतियोंके आगे नतमस्तक नहीं हुए। हमारी संस्कृति अर्जुनके समान धर्मवीर उत्पन्न करनेका उपदेश देती है, जिसने उर्वशीके रूप-लावण्यपर अपनेको मोहित नहीं होने दिया अपितु उसे अपनी माता कहकर पुकारा और ब्रह्मचर्यकी रक्षा की। हमें वह गुंडागिरी नहीं चाहिये, जो अपने ही पड़ोसकी, मोहल्ले और ग्रामकी बहिन-बेटियोंको कुदृष्टिसे देखना सिखाती है। हमें तो वह शूरता और सौम्यता चाहिये, जिसमें पलकर हमारे नवयुवक न तो स्वयं गुंडे बनें न किसी दूसरेको ही गुंडावृत्ति करने दें।

हिंदुस्थान और पाकिस्तानका बँटवारा संस्कृति और धर्मके नामपर हो गया। पाकिस्तानमें उपर्युक्त मुस्लिम संस्कृतिके आधारपर देशका निर्माण होगा। उस संस्कृतिसे निर्मित देशमें हमारे धर्म, मान-प्रतिष्ठा और बहिन-बेटियोंकी क्या दशा हो सकती है—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। भारत-विभाजन होनेपर नोआखालीमें पहले मुसल्मानोंने ही स्त्री-अपहरणका नारकीय काण्ड आरम्भ किया, स्त्री और बच्चे कत्ल किये। एक उदाहरण हमारे सामने महाराणा प्रताप और राठौर दुर्गादासका है कि मुगल बादशाहोंकी बेगमोंके पकड़े जानेपर उन्हें आदरपूर्वक उनके पतियों एवं अभिभावकोंके पास भेज दिया था। यह हमारी हिंदू-संस्कृति ही है कि पाकिस्तान बन जानेके बाद भी भारतवर्षमें मुसल्मान उतने ही सुरक्षित रह सकते हैं, जितने हिंदू तथा अन्यान्य-मतावलम्बी। आज भी वैदिक सभ्यताके माननेवाले भारतीय आर्य (हिंदू) सबके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्तिको सत्य अर्थोंमें चरितार्थ करके उत्तम व्यवहार कर रहे हैं। यही अन्तर है हमारी और उनकी संस्कृतिमें। देखिये, हमारी हिंदू-संस्कृति मनुष्यको क्या उपदेश देती है—

(१) हिंदू-संस्कृति मनुष्यको आत्मसंयम तथा आवश्यकताओंकी कमीका पाठ पढ़ाती है।

(२) हिंदू-संस्कृति मनुष्यका अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति बतलाती है।

(३) हिंदू-संस्कृतिका मुख्य तत्त्व परार्थ-भाव है। यह परोपकार, दान, अतिथि-सेवा तथा दूसरोंके हितके लिये अपने स्वार्थोंका त्याग सिखलाती है। वह सबके स्वार्थको ही अपना स्वार्थ माननेका पाठ पढ़ाती है।

(४) हिंदू-संस्कृति निष्कामभावसे शुभ-कार्य करना सिखाती है।

(५) हिंदू-सभ्यता स्वार्थरहित, जान-बूझकर गरीब जीवन व्यतीत करनेवाले सौम्य तपस्वी ब्राह्मणोंका आदर करना सिखलाती है।

(६) हिंदू-संस्कृति प्राकृतिक उन्नतिकी—लौकिक अभ्युदयकी, जिसको जीवनका एकमात्र ध्येय मानकर उसीके पीछे दौड़नेवाला यूरोपीय समाज विनाशकी ओर जा रहा है, सर्वथा उपेक्षा करना नहीं सिखाती; परंतु वह उसको धर्मसे संयमित और सञ्चालित करना सिखाती है और साथ ही आध्यात्मिक उन्नतिपर भी पूरा बल देती है। ऐसा करनेसे ही मनुष्य-समाज विनाश तथा पतनसे बच सकता है।

(७) हिंदू-संस्कृति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, तप, ब्रह्मचर्य इत्यादि नैतिक गुणोंकी शक्तियोंमें बड़ा विश्वास रखती है।

भारतवर्षमें अनार्य, शक, हूण आदि अनेकों जातियाँ आयीं, किंतु हिंदू-संस्कृतिमें घुल-मिल गयीं और उनकी पृथक् कोई सत्ता इस देशमें नहीं रही। मुस्लिम-संस्कृतिके बाद यूरोपियन संस्कृति, जिसे पाश्चात्त्य सभ्यता एवं संस्कृतिके नामसे पुकारते हैं, भारतमें आयी। भगवत्कृपा और देशभक्तोंके प्रबल प्रयत्नसे वे पाश्चात्त्य शासक तो इस देशसे चले गये, किंतु उनकी संस्कृतिके कुछ अवशेष अभी दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु निश्चय है कि हिंदू-संस्कृतिके सामने वे टिक नहीं सकेंगे और अंग्रेजी शासकोंकी भाँति अंग्रेजी संस्कृति, जो कि पतनकी ओर ले जानेवाली है, स्वयं पतित हो जायगी।

वैसे भारतमें अधिक टक्कर मुस्लिम-संस्कृतिवालोंसे ही रही है। पर उसके मुकाबिलेमें भी हिंदू-संस्कृति ही विजयिनी हुई। मुस्लिम सभ्यताका बोलबाला ११ सौ वर्षोंतक रहा और इस कालमें उनकी सभ्यता-संस्कृति, शिक्षा भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक व्याप्त रही, और उनकी संस्कृतिका प्रभाव अमीर-गरीब सभीपर पड़ा। मुसल्मान हिंदूकुशके पश्चिमसे लेकर एशिया और अफ्रीका तथा दक्षिणी यूरोप, स्पेन और फ्रांसको भी धूलि-धूसरित कर चुके थे। कुस्तुन्तुनियाँका प्रताप लूटकर वे मदोन्मत्त हाथीकी तरह इठला रहे थे। उस समय भारतीय संस्कृतिमें पले हुए राजाओंकी सैनिक शक्तिके आगे

वे इधर घुसनेका साहस नहीं करते थे। किंतु पारस्परिक कलहने हिंदू-संस्कृतिका ह्रास आरम्भ कर दिया। मुहम्मदगोरी-का प्रभुत्व सफल न होता, यदि हिंदुओंकी यौद्धिक शक्तिका सर्वथा क्षय न हो गया होता। यवन-साम्राज्यकी नींव अकबर-के कालमें इसलिये प्रौढ़ हुई कि उसने हिंदू-संस्कृति और हिंदू-नरेश दोनोंका ही पूरा-पूरा सहयोग लिया। उसने हिंदू सरदारों और हिंदू-नीतिपर राज्य-विस्तार किया। जबतक वह जीवित रहा, हिंदुओंके सहयोगसे उसकी नैया चलती रही; किंतु उसकी मृत्युके दो सौ वर्ष बाद ही प्रतापी मुग़ल-साम्राज्य हवा हो गया! मुग़ल-साम्राज्य ताशके महलकी भाँति ढह गया और उसके उत्तराधिकारी मराठोंकी कैदमें पड़े। दक्षिणमें तालिकोटके मैदानमें हिंदू-शक्तिके पुनः कुछ क्षीण होनेपर सौ वर्षके बाद फिर हिंदू-संस्कृतिके रूपमें पेशवाजी पैदा हुए और उन्होंने बड़े बाँकेपनसे पानीपतके मैदानमें ढाई लाख मराठे एकत्रित कर दिये। अकबर-से प्रतापीके सामने वीर प्रतापने पचीस वर्ष तलवार चलायी और औरंगजेबने राठौर वीर दुर्गादास एवं शिवाजीके भयसे अपने पचास वर्ष चिंता और तलवारकी धारपर काटे। यह इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि भारतमें कभी भी हिंदू-संस्कृतिका मस्तक नीचा नहीं हुआ। पृथ्वीभरके इतिहासमें ग्यारह सौ वर्षोंतक अराजकतामें रहकर, अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण, कत्ल और लूट सहकर तथा नौ सौ वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृतिके मुस्लिम और अंग्रेज शासकोंके शासनमें रहकर भी किसी जातिका जीवन, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही है तो वह हिंदू-संस्कृतिके मुकाबिलेमें और कौन-सी संस्कृति है?



विश्व-कल्याणका मार्ग—भारतीय नैतिक संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

आज हम देखते हैं कि समाजकी दशा उत्तरोत्तर विकृत होती जा रही है। जनता अनन्त दुःखों, क्लेशों और विघ्नोंका शिकार हो रही है। परस्परविरोधी स्वार्थोंसे प्रत्येक जाति तंग आ रही है। मन, वचन और क्रियामें समन्वय दिखायी नहीं देता। सन्मनोवृत्ति, सद्वचन और सत्कर्म दुर्लभ हो गये हैं। व्यष्टि-समष्टिका स्वस्थ ऐक्य भ्रष्टाचारोंसे क्षत-विक्षत हो रहा है। सर्वत्र हिंसा और उच्छृङ्खलताका बोलबाला है। युद्धविभीषिका प्रतिक्षण सामने दिखायी देती है। प्रीति, करुणा, सहानुभूति और न्याय-तत्परता अन्तिम साँस ले रही हैं। पोषक और रक्षक तत्त्व कलहके प्राङ्गण बने हुए हैं। घातक तत्त्व मुँह बाये संसारका ग्रास करनेको खड़े हुए हैं। सत्यकी कोई परवा नहीं करता। धर्म मुर्दा-सा होकर पड़ा है। मनुष्योंके क्रिया-कलाप अत्यधिक भयावह होते जा रहे हैं। विशेषतः ज्ञान, अधिकार, धन और श्रम कलहके क्षेत्र बने हुए हैं। ऐसी दशामें आर्योचित नैतिक आचरणसे ही संसारको सुखी और शान्त बनाया जा सकता है। इसीसे समाजके क्रियाकलाप सर्वतोभद्र किये जा सकते हैं। आजके दुखी और मरणोन्मुख संसारकी यही एक सदोषधि है। इसलिये कि भारतीय नैतिक आचरणोंके कुछ ऐसे नियन्त्रण और संरक्षण हैं कि जिनसे वे कभी भी दूषित नहीं हो सकते, अनैतिक नहीं बन सकते। उनमें मुख्यतम ये हैं—

(क) निवृत्ति-योग
(ख) अनासक्ति-योग
(ग) निष्काम-योग

तात्पर्य यह है कि हिंदू-संस्कृति निवृत्तिप्रधान है। इसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिमय है। यह प्रवृत्तिमें निवृत्तिकी साधना है। इसकी मुक्ति इसके निवृत्ति-पथकी ही अभिव्यञ्जक है। यही कारण है कि इसके नागरिकोंके स्वार्थ आपसमें नहीं टकराते। वे वित्तैषणा, सन्तानैषणा और लोकैषणामें प्रवृत्तिके घातक दोषोंसे सदैव असंस्पृष्ट रहते हैं। यही निवृत्ति-योगका अभिप्राय है।

अनासक्ति-योग निवृत्ति-योगका भी प्राण है। यह सम्पूर्ण आसक्तिमूलक पापोंके नाशकी निर्दोष साधना है। निवृत्ति-योगकी कोर-कसरसे बचे-बचाये दोषोंका इससे पूर्णतः उन्मूलन हो जाता है। जैसे तृणहीन स्थानमें पड़ी अग्नि स्वयमेव बेकार हो जाती है, वैसे ही इसमें प्रवृत्तिके पापोंको मुँह दिखाने और पनपनेका अवसर ही नहीं मिलता। इसमें कर्ता, कार्य, कारण और साधक, साध्य, साधनतक प्रवृत्तिके दोषोंसे स्वभावतः विमुक्त रहते हैं।

निष्काम-योग तो साधकके अन्तःकरणको ही सर्वथा निर्दोष बना देता है, फलासक्तिजन्य सभी पापोंको नाम-शेष कर देता है। प्रत्युत उनके आघातों और प्रत्याघातोंका

बाण-प्रहार भी प्रभावहीन हो जाता है । निष्कामयोगी संसारमें रहता हुआ और सब कुछ करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है। उसे प्रवृत्तिका कोई भी दोष दूषित नहीं कर सकता।

इस तरह इस योगत्रयके प्रतापसे नैतिक आचरणोंको स्वप्नमे भी अनैतिकताकी स्पर्शजन्य बुराइयोंके ग्रास होनेका भय नहीं रहता। वे बुराइयोंके काल, स्थान और कारणजनित प्रसंगोंसे भी मुक्त रहते हैं। ऐसी दशामे राजस-तामस तत्त्वोंकी लीला-भूमि ही समाप्त हो जाती है, साधकका अन्तःकरण सात्त्विक तत्त्वोंकी विहारस्थली बन जाता है और नैतिक आचरणोंको अच्छी तरह पनपने और फूलने-फलनेका अवसर मिलता है । फिर सार्वभौम और सार्वजनीन अशान्ति तो उन्मूलित होकर ही रहती है। ऐसी दशाके सुफल होते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्० १० । १९१ । २, ४)

किंतु इसपर भी निवृत्ति-प्राण तत्त्वोंका वातावरण व्यष्टिसमष्टि-गत नैतिक आचरणको और भी हृष्ट-पुष्ट और दृढ़ बना देता है। वे तत्त्व हैं—

अ. तप (Self-denial)

आ. न्यास (Self-renunciation)

इनसे नैतिक कार्योंमें विलक्षण स्वर्गीय भावना, चिन्ता और इच्छा उत्पन्न हो जाती है। नैतिक सम्बन्धोंमे अनुभूति, जिज्ञासा और कर्मठताका वातावरण बन जाता है। ऐसी दशामे नैतिक आचरणोंमे विश्वब्रह्माण्डोंके वायुमण्डलको नीतिमय बनानेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस स्तरतक पहुँचकर नैतिक आचरण अति दिव्य हो जाते हैं और उनके संग-प्रसंगमे पनपनेवाले व्यक्तित्व भी ऋषिकल्प बन जाते है।

किंतु इतने ऊँचे स्तरपर पहुँचकर भी भारतीय हिंदू-नैतिकताने विश्राम नहीं लिया; अपितु कुछ ऐसी साधनाओंसे भी इसे अधिकाधिक दृढ़ और विकसित होनेका अवसर मिला, जो इसके लिये ईश्वरीय आशीर्वाद ही सिद्ध हुई। वे हैं—

(क) वर्ण-व्यवस्था ।

(ख) आश्रम-व्यवस्था ।

वर्ण-व्यवस्थाने नैतिक आचरणोंको सर्वथा संयत कर दिया। उसके गुण-कर्मने इसे स्वाभाविक बना दिया। उसके वर्णगत स्वभावने इन्हे दैवी रूप दे दिया। वर्णसम्मत व्यष्टि-समष्टिके समन्वयने विरोधी तत्त्वोंको सदाके लिये अर्द्धचन्द्र दे दिया। विशेषतः श्रम-विभागने इन्हें सर्वाधिक सत्य, शिव और सुन्दर बना दिया, जिसका समर्थन प्रकारान्तरसे हर्बर्ट स्पेन्सरने भी इस प्रकार किया है—

'यह एक सचाई है कि वैयक्तिक और सामाजिक शरीरोंमें जब उनके व्यापारोंका विशेषीकरण हो जाता है अर्थात् उन्हें करनेवाले पृथक्-पृथक् होते हैं तो उनकी कार्य-शक्ति बढ़ जाती है। भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और व्यक्ति-समुदायोंको सौंप दिये जानेसे प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्ति-समुदाय अपने-अपने कार्य नियमित हो जानेसे पहलेकी अपेक्षा उन्हें उत्तमतासे करते हैं। इससे पारस्परिक सहायताकी क्षमता बढ़ जाती है। इस तरह सम्पूर्ण वैयक्तिक और राष्ट्रिय क्रियाकलाप श्रम-विभागोचित नैतिकताके वातावरणमें अत्यधिक फूलते-फलते हैं।'

आश्रम-व्यवस्थाने तो सम्पूर्ण जीवनके विधि-विधानको ही निवृत्तिप्रधान बनाकर नैतिक आचरणोंको सर्वथा निर्दोष, स्वाभाविक, विकासोन्मुख और समधिक सुन्दर बना दिया था। परंतु फिर भी हिंदू-संस्कृतिके नैतिक क्रिया-कलापको जिस वस्तुसे लोकोत्तर लाभ पहुँचा वह है—

भारतीय राजयोग[1]

राजयोगके आत्म-सम्पृक्त और पर-सम्पृक्त यम-नियमने सम्पूर्ण व्यष्टि-समष्टिको ही नैतिकताका रूप दे दिया। प्राणायामने शारीरिक और मानसिक अनैतिक तत्त्वोंको नीति-तत्त्वोंमे परिणत कर दिया; धारणा, ध्यान और समाधिने वर्णाश्रमियोंके मनको तत्त्व-साधना, आत्म-साधना और परमात्म-आराधनाप्रधान बनाकर देशके समस्त वातावरणको ही अनीति-मुक्त और नीति-भुक्त बना दिया, चरित्र-चारित्र्यमय सिद्ध कर दिया। यह वह समय था, जिसके लिये भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥[2]

इसीका परिणाम छान्दोग्यके अश्वपतिके मुखसे सुनिये—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥[3]

१. भारतीय राजयोग हिंदू-राजयोगका ही पर्याय है।

२. पृथिवीके सब मनुष्य भारतीय ब्राह्मणोंसे ही अपना-अपना चरित्र सीखें।

३. मेरे समस्त जनपद—राष्ट्रमे एक भी चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी नहीं है; फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है।

वाल्मीकि मुनिकी निम्नलिखित उक्ति भी इसी नैतिक महत्त्वकी परिचायक है—

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥

किंतु यहाँ यह प्रश्न होता है कि आखिर भारतीय नीति और भारतीय नैतिक-परम्परा किस दीक्षा और दक्षिणासे इतने ऊँचे विश्व-दुर्लभ स्तरको पहुँच सकी? इसका सदुत्तर आर्य-धर्माभ्यासके प्रवचन इस प्रकार देते हैं—

(अ) १. **स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः।** (छा० ३।१७।१)

२. **अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति।** (छा० ३।१७।२)

अर्थात् ब्रह्मचारी जो कुछ करता है, यदि उसमें उसकी आसक्ति न हो तो वही उसकी दीक्षा है। अन्यथा वह दीक्षासे पतित होकर असत् हो जाता है।

(आ) **अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।** (छा० ३।१७।४)

अर्थात् जो ब्रह्मचारी तप, तितिक्षा, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य-भाषण-तत्पर रहता है, उसकी यही दक्षिणा है।

परंतु हम देखते हैं कि आज तो नैतिकताका भवन धराशायी होनेको है। उसमें पहलेकी-सी भारतीय नैतिकता तो शायद ही कहीं कभी दिखायी दे जाती हो। सार्वभौम और सर्वजनीन नैतिकताका तो अत्यन्ताभाव-सा ही है। आज तो बात-बातमें कपट और छल-छिद्रका बोलबाला है। म० हैवल और श्रीमती कौरेलीके शब्दोंमें तो यह भी कहा जा सकता है कि—

'जो पुरुष अज्ञानी है, वही भारतीयोंको पाश्चात्त्य व्यवसाय-वादका अनुकरण करनेके लिये कह सकता है; क्योंकि भारतमें घोर दुर्भिक्षके समय भी उतनी नैतिकताका अधःपात नहीं पाया जाता, जितना यूरोपके प्रधान नगरोंमें व्यवसाय-वादके कारण नित्य दिखायी देता है।'

'यूरोपके तो सभी व्यक्तियोंपर नास्तिकता, अविश्वास-वृत्ति, कठोर-हृदयता, नीतिभीरुता, स्वार्थपरायणता, अभिमान, साहसहीनता और आदर्श-उदासीनताका कलंक लगाया जा सकता है।'

यह है भारतेतर देशोंके लोगोंकी अपने लोगोंपर सम्मति। चाहे इसमें अतिशयोक्ति भी हो, परंतु फिर भी सत्य अवश्य है। यद्यपि भारतकी भी दशा आज पूर्णतः इससे भिन्न नहीं है, फिर भी भाग्यवश उसके पास अपना प्राचीन सार्वभौम आदर्श मौजूद है। वह चाहे तो उससे संसारका भला कर सकता है, परंतु उसी दशामें जब कि वह पहले स्वयं अपने पूर्वजोंकी परम्पराके योग्य सिद्ध हो सके। अन्यथा वह उनके इस उपदेशको सगर्व कैसे दोहरा सकता है—

एतद्देश ....पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अन्तमें यहाँ यह कहना भी अनिवार्य प्रतीत होता है कि भारतीय नीति-विज्ञान और नीति-कला निःसन्देह पूर्ण हैं, साथ ही आत्म-तत्त्वकी तरह अच्छेद्य, अभेद्य, अशोष्य, अक्लेद्य और अदाह्य भी। परंतु इसका लाभ तो इसके ज्ञान और मुख्यतः आचरणसे ही हो सकता है, अन्यथा उसके गीत गाना तुस कूटना-सा ही है; किंतु फिर भी यह बात सत्य है और बिना हिचकिचाहट कही भी जा सकती है कि भारतका वातावरण इस समय भी अपेक्षाकृत समधिक नैतिक है। इस क्षण भी यहाँ संख्यातीत ब्राह्मण अकारण ही षडङ्गसहित वेदाभ्यास-तत्पर हैं। ज्ञान-विज्ञानके धनी हैं। त्यागी, तपस्वी, वीतराग और कर्मठ हैं। साथ ही उनके अनुयायी भी न्यूनाधिक ऐसे ही हैं। हमारा तो विश्वास है कि यदि कभी विश्व-वातावरण वास्तविक नैतिक बन सका तो उसमें हिंदू-नीति-विज्ञान और हिंदू-सपूतोंका ही प्रमुख हाथ होगा। देखिये, बाहरके गण्यमान्य विद्वान् भी इस विषयमें कितने आशावादी और अनुकूल मालूम होते हैं—

(क्ष) भारतीय ब्राह्मण इतने ईमानदार और सच्चे हैं कि वे किसी भी बातके लिये झूठ बोल ही नहीं सकते।—मार्को पोलो

(त्र) न केवल सत्य अपितु इनकी उदारता, सहिष्णुता, मुक्तकण्ठता, बुद्धिमत्ता, सुशीलता, नम्रता, वफादारी, सज्जनता, सुरा-विरक्ति, सम्मान-श्रद्धा, श्रमशीलता और विज्ञान-प्रेम इस समय भी उल्लेखनीय हैं।　—मैक्समूलर

(ज्ञ) भारतकी आदर्श किंतु अमर संस्कृति, जिसने साम्राज्योंका उत्थान-पतन देखा है, मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी है। यही कारण है कि आजका यूरोप अपनी घातक सभ्यतासे दुखी होकर भारतकी ओर देख रहा है—डा० जेम्स कजिन्स

१. चारों वर्ण एकतायुक्त होकर अपने-अपने व्रतों और अधिकारोंका पालन करते थे।

२. ऐसी दशामें यह कहना कि हिंदू-विचार-पद्धतिमें आचार-शुद्धिका महत्त्व नहीं है, कहाँतक ठीक है?

हमारा आजका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रसेनजी)

'संस्कृति' आधुनिक युगका सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। हमारे क्रियात्मक व्यवहार व्यक्तिगत और राष्ट्रिय-अन्तर्राष्ट्रिय चाहे कैसे भी तात्कालिक फलोंसे चालित हो, विचारकी दृष्टिसे उन्हे हम उनके सांस्कृतिक अर्थ और मूल्यसे ही सिद्ध-असिद्ध करनेका यत्न करते हैं अथवा उनका वास्तविक मूल्य उनके सांस्कृतिक अर्थमें ही स्वीकार करते हैं। यह शब्द और इसका भाव प्रत्यक्ष ही आज अत्यन्त प्रभावशाली हो रहे हैं।

परंतु जितना यह शब्द प्रभावशाली और प्रचलित है, उतना ही शायद इसका अर्थ अनिश्चित है। इस विषयमें पाश्चात्त्य विचारकोंके मत अत्यन्त रोचक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इस विषयके एक विशेषज्ञ हैं और उनका ग्रन्थ 'पश्चिमका अधोगमन' जगद्विख्यात है। उनके विचारमे यूरोप अपनी Kultur (संस्कृति)-स्थितिका जीवन-काल यूनानी संस्कृतिके साथ समाप्त कर चुका था और अब वह Zivilisation (सभ्यता)-की अवस्थामे आ पड़ा है। जहाँ पहले आन्तरिक प्राण और सजीवता थी, वहाँ अब बाह्य शिल्प और यन्त्र-आयोजन है। यही सांस्कृतिक अधोगमनका प्रारम्भ है। हरमान काईजरलिंग, एक और प्रसिद्ध विचारक, सभ्यताको संस्कृतिके पतनकी स्थिति नहीं मानते। वे इसे बर्बरताके बादकी अवस्था कहते हैं, जब कि बाह्य जीवन और व्यवहारमे कुछ संगठन और नियम आ जाते हैं। परंतु प्रत्यक्ष ही दोनोके लिये संस्कृति आन्तरिकताकी भावना रखती है और सभ्यता बाह्य परिस्थिति और व्यवहारकी। एल्बर्ट स्वाईटजर इसी विषयके एक और विशेषज्ञ प्रसिद्ध हैं। वे संस्कृतिको आन्तरिक अनुशीलन मानते हुए विशेष बल नैतिक भावनाके विकासपर देते हैं। कोई मनुष्य कितना भी पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह कलाओंका कितना भी भावुक मर्मज्ञ क्यो न हो, उसकी चित्त-शक्ति भी कितनी ही विकसित क्यों न हो, फिर भी उसका व्यक्तित्व यदि मूलरूपमे नैतिक भाव और भावनासे प्रेरित नहीं है तो वह वास्तविक अर्थमे संस्कृत नहीं। नैतिक भाव और भावनापर आग्रह सामान्य प्राकृतिक सूचनार्थक ज्ञानके विरोधमें पैदा हुआ है। लगभग चार सौ वर्षोंसे यूरोपके प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकृतिके नियमोंको जानने तथा उनसे व्यावहारिक लाभ उठानेका यत्न करते रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार हुए हैं और एक शक्ति-सम्पन्न और आडम्बरशील सभ्यताकी रचना हुई है; परंतु इस वैज्ञानिक सभ्यताकी अपरिमेय शक्तिको योग्य रीतिसे संचालित करनेके लिये आवश्यक हितभाव अथवा समाजके प्रति कर्तव्यभाव विकसित नहीं हुआ। फलतः उन शक्तियोंका विनाशकारी और अहितकर प्रयोग अधिक हो रहा है। इस संकटावस्थाको तीव्ररूपमे अनुभव करते हुए स्वाईटजर महोदय कहते हैं कि संस्कृतिमें नैतिक भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जातिको संस्कृत नहीं कहा जा सकता।

'संस्कृति' सम्बन्धी ये सभी पाश्चात्त्य भावनाएँ एक दूसरीसे भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं। वह आधार है मानवी व्यक्तित्वके मन, प्राण और शरीरका संगठन। संस्कृतिका मानो ध्येय ही है मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोको विकसित करना, उनकी विभिन्नताओमेसे अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करना और उनके प्रयोगसे फिर परिस्थिति और समाजको संगठित और अधिकृत करना। शिल्पकला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदिकी रचना इस विकासका साधन भी है और ध्येय भी। वास्तवमे ये सब सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ ध्येयरूप अधिक हैं, मानवको अपने आन्तरिक भावमें उन्नत करनेकी साधना कम। इसीलये आजका सांस्कृतिक विकास मानवचेतनाके लिये आडम्बर और भार बना हुआ है। मानवचेतना मानो उनसे परिचालित होती है, वे मानवचेतनासे अधिकृत नहीं।

'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति'-सम्बन्धी भारतीय विचार मौलिकरूपमे पाश्चात्त्य विचारसे भिन्न हैं। वहाँ इस विचारमे 'अनुशीलन'का भाव प्रधान है और यहाँ 'शोधन'का। वहाँ यत्न है अनुशीलन अथवा अभ्यासद्वारा मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोको अपनी-अपनी विशिष्ट पराकाष्ठातक विकसित करना। यहाँ पुरुषार्थ है मन, प्राण और शरीरके साथ आत्म-भावके सम्मिश्रणको दूर करना और वास्तविक आत्म-भावको उपलब्ध करना और फिर उस भावसे सांस्कृतिक प्रवृत्तियोको यथार्थ आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मचरितार्थता बनाना। भारतकी सब कलाओं और

विज्ञानों तथा दर्शन और धर्मशास्त्रकी प्रधान धारा निश्चित-रूपमें यही है। श्रीअरविन्द-जैसे भारतीय संस्कृतिके मर्मज्ञ तथा अन्य संस्कृतियोंके ज्ञाता बलपूर्वक कहते हैं— 'आध्यात्मिकता ही भारतीय मनकी मुख्य कुंजी है; अनन्तताकी भावना उसकी सहजात भावना है। भारतने आदिकालमें ही यह देख लिया और अपने तर्क-बुद्धिके युगमें तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञानके युगमें भी उसने वह अन्तर्दृष्टि कभी नहीं खोयी कि जीवनको केवल उसकी बाह्य परिस्थितिके प्रकाशमें ही ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता और न वह केवल उन्हींकी शक्तिसे पूरी तरह बिताया जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियोंकी महत्ताके प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानोंके महत्त्वका सूक्ष्म बोध था; वह साधारण जीवनकी कलाओंको संगठित करना जानता था। परंतु उसने यह देखा कि भौतिकताको अपनी पूरी सार्थकता तबतक नहीं प्राप्त होती, जबतक वह अतिभौतिकसे ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेती; उसने देखा कि संसारकी जटिलताकी व्याख्या मनुष्यकी वर्तमान परिभाषाओंसे नहीं की जा सकती और न मनुष्यकी स्थूल दृष्टिसे समझी जा सकती है, और यह कि विश्वके मूलमें कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं तथा स्वयं मनुष्यके भीतर भी कुछ अन्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।' (The Renascence in India, pp. 9-10)

परंतु आध्यात्मिकता कोई विभिन्नता और विविधता-शून्य एकरसता नहीं। यह अत्यन्त समृद्ध तथा मूर्त्त जीवनका एक स्तर है, मानसिक तथा बौद्धिकसे अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण। आध्यात्मिक जीवनकी समताका अर्थ विभिन्नता और मौलिकतारहित समानता नहीं। इसका अर्थ है, वास्तवमें रजोगुणी आवेगोंके उतार-चढ़ावसे मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलनोंसे स्वतन्त्र शान्त अन्तरमें गम्भीर तथा मौलिक आत्म-प्रेरणाद्वारा जीवनकी स्थिति और गतिका निर्धारण। प्रत्यक्ष ही, साधक और सिद्ध निजी अभीप्सा तथा विकासकी विशेषतासे भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक भावोंको अभिव्यक्त और द्योतित करेंगे। इन भावोंमें जहाँ शान्ति और समता एक न्यूनतम सामान्य अंश होगा, वहाँ उनमें समृद्धतामें कम या अधिक अथवा स्तरमें ऊँच या नीचके भेद होंगे। अथवा इनमें एक क्रमविकास दिखायी देगा और अनन्त भावी विकासकी सम्भावना तो सदा ही उपस्थित रहेगी।

इस दृष्टिसे यदि हम भारतीय जीवनके ऐतिहासिक विकासको विचारें तो हमें कई अपूर्व तथ्य दिखायी देंगे, जो हमें आजकी अपनी जातीय स्थितिको अधिगत करनेमें विशेष सहायक हो सकते हैं। इतना हमें यहाँ स्मरण कर लेना होगा कि हमारा प्रयोजन ऐतिहासिक छोटी या बड़ी घटनाओंसे नहीं है। हम देखना चाहते हैं उस जातीय चेतनाको, जो सब प्रकारके सुखद-दुःखद अनुभवोंसे विकसित होती आयी है। इस चेतनाकी धारा, हमारे वर्तमान ज्ञानके अनुसार, वेदकालसे शुरू होकर अबतक अनवरतरूपमें ही बहती रही है। ऐसा लंबा जीवन संसारमें हिंदूजातिकी अद्वितीय विशेषता है और यह अपने-आपमें एक गम्भीर सांस्कृतिक तथ्य है।

स्वाधीनता उपलब्ध करनेके बाद हमारी जातीय चेतनाने अपने प्रश्नोंके लिये स्वयं हल ढूँढ़ने शुरू किये। आज संसारभरकी स्थिति विषम है, उसमें अनेक विकट प्रश्नोंका बुरा उलझाव पड़ा हुआ है। भारतमें भी सामान्यतया वही स्थिति है; परंतु हम पुरानी अनुभवी जाति होते हुए भी आज इस स्थितिके लिये नये हैं। हम उत्साहपूर्वक अपने प्रश्नोंका हल कर रहे हैं, बहुतेरोंका कर भी चुके हैं; फिर भी बहुत-से अत्यन्त आवश्यक विषयोंका हल करना है और हम एक गम्भीर छटपटाहटमें हैं। स्वीकार करना होगा कि हम काफी व्यग्र और चिन्तित हैं। हम अपने-आपको अपनी स्थितिके लिये अपर्याप्त अनुभव कर रहे हैं अथवा स्थिति हमें भारी प्रतीत हो रही है और हम अपनी चेतनाकी त्रुटिको महसूस करते हैं और उसमें एक नयी सबलताकी गम्भीर माँग कर रहे हैं। अपनी वर्तमान स्थितिके प्रश्नों तथा उनके समाधानोंके बारेमें हम अनेक मत और विचार सुनते हैं। ये सब प्रायः बाह्य संगठन और नियम-कानूनद्वारा स्थितिको सुधारनेके उपाय बताते हैं। इन सबमें कुछ-न-कुछ सार्थकता है। परंतु ये उपाय मूल कारणको स्पर्श नहीं करते; ये उस चेतनासे सीधा सम्पर्क नहीं रखते, जो स्थितिके साथ संघर्ष कर रही और अपने-आपको अपूर्ण अनुभव कर रही है। इस चेतनाकी इस अपूर्णताका यथार्थ निरूपण और निदान उपायके लिये सबसे पहली आवश्यकता है। और हमारी जिज्ञासा यहाँ विशेषरूपसे यही है।

अपनी वर्तमान वास्तविक चेतना-स्थितिको जाननेके लिये एक ऐतिहासिक पुनरावलोकन अत्यन्त सहायक होगा। वैदिक कालकी जातीय चेतनाका चिन्तन करते हुए हम

अपने-आपको स्वाभाविकतया एक दूसरे जगत्में अनुभव करने लगते हैं। वैदिक युगका नेता 'ऋषि' था और वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, शरीर और चेतनामें स्वस्थ तथा अन्तर्दृष्टियुक्त और आनन्दमय प्राणी अनुभव होता है। वह प्रकृतिके सौन्दर्यको अनुभव करनेवाला, उसका भक्त है। नारी, सन्तान, धन-धान्य आदिके लिये मुक्त कण्ठसे प्रार्थनाएँ करता है और उन्हें वह यथार्थ स्वीकारात्मक भावमें ग्रहण करता है। पर फिर भी वह स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं, वह तो गम्भीर अध्यात्मवादी है। वह अन्तर्दृष्टिसे वस्तुओंके निहित चेतन तत्त्वको जानता है और इन्हें उसकी ही अभिव्यक्ति अनुभव करता है। वेदमन्त्रोंके वातावरणमें निवास करना मानो आत्मा, परमात्मा और प्रकृतिके वास्तविक आनन्दका उपभोग करना है। वैदिक ऋषि गाता है—

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

'देखो इस प्रभुके सुन्दर जगत्को, जो न नष्ट होता है, न पुराना पड़ता है।' वह प्रार्थना करता है 'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ सालतक जीयें। आँख, नाक, कान आदिके सबल रहते सौ सालतक जीयें। वह कहता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः········· ··· ·· ········· ···
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।'

'मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, वह मुझे अपनी विविध सम्पत्ति तथा गुप्त धन प्रदान करे।' साथ ही वह आध्यात्मिक चेतनाकी किन उड़ानोंका आनन्दपूर्ण वर्णन करता है। वह आध्यात्मिक जगत्का अथक अन्वेषक है। वह 'सत्यं ऋतं बृहत्' सत्य, यथार्थ और बृहत्का उपासक है। वह अभीप्सा करता है—

'ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने'

हे अग्नि! तू ऊपर उठ, सब आवरणोंको भेद डाल और हमारे अंदर देवत्वको प्रकट कर।

तथा आस-पासके देशोंमें अपने जीवनके दृष्टान्तसे उसी उपदेशको सुनाते हैं।

शताब्दियोंतक 'संसार तुच्छ है तथा त्याज्य है' यह भाव जनताके अन्तःकरणमें रमता चला जाता है। फिर एक और महापुरुष प्रकट होकर जातीय चेतनाको नये रूपमें उद्वेलित कर देता है। शङ्कराचार्य नास्तिक बौद्धधर्मके स्थानपर आस्तिक हिंदू-धर्मको प्रतिष्ठित करते हैं। जनतामें एक व्यापक चेतन-तत्त्वके लिये, ब्रह्मके लिये भावना पैदा हो जाती है। परंतु संसार पहलेके समान ही तुच्छ और त्याज्य रहता है, बल्कि माया बन जाता है। कर्ममात्र बन्धन हो जाता है तथा जीवनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाना पूर्णता है।

फिर अनेक बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त स्मरण आते हैं। कैसी है उनकी भक्ति, कैसी तल्लीनता। परंतु संसार उनके लिये भी हेय है, कनक और कामिनी पापका मूल है।

अपने इतिहासके निकटभूतमें हम एक नयी भावनाका उदय देखते हैं। कई महान् मूर्तियाँ प्रकट होकर जातिके नकारात्मक भावके स्थानपर स्वीकारात्मक वृत्ति पैदा करनेका यत्न करती हैं। अपना ऐहिक जीवन सुधारनेको कहती हैं, पिछड़े हुए भाइयोंको अङ्गीकार करनेका आदेश करती हैं, स्त्रियोंके प्रति स्वस्थ भाव बनानेकी प्रेरणा देती हैं, वैदिक आदर्शोंका स्मरण कराती हैं, राजसत्ता अधिगत करनेके लिये संघर्षका भाव उत्तेजित करती हैं।

भारतीय चेतनाके लंबे विकासकी ये प्रधान स्थितियाँ और गतियाँ कही जा सकती हैं। ये सब आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं और इनमेंसे हर एककी भारतीय चेतनाके विकासमें कुछ देन है।

इनमेंसे हर एकमें अपने-अपने ढंगका आत्मा और प्रकृतिका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सांस्कृतिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। वैदिक चेतना आध्यात्मिक चेतना होनेसे प्रकृतिसे अपने आपको अलिप्त और स्वतन्त्र अनुभव करती है, पर फिर भी या इसी कारण प्रकृतिपर पूरा अधिकार अनुभव करती है और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करती है। बुद्धकालकी चेतना संसारके प्रति प्रत्यक्ष ही भयभीत भाव रखती है। संसार दुःखमय है और इसका त्याग ही एकमात्र उपाय है। उस समय मानो हमारी चेतना एक ऐकान्तिक, जगत्से अलग, आध्यात्मिक सौम्यताके अनुभवके लिये लालायित हो उठी थी। यह गति वास्तवमें थी एक प्रतिक्रिया—बाह्य जीवन धार्मिक कर्मकाण्डके प्रति, जो उस समयकी सामान्य अवस्था बनी हुई थी।



श्रीश्रीमहालक्ष्मी



श्रीश्रीसरस्वतीदेवी

इस प्रतिक्रियात्मक गतिको शंकराचार्यने बहुत सुधारा। आत्माके अस्तित्वको प्रतिष्ठित किया। परंतु यह धारा अपने आपमें बौद्ध-विचारकी प्रतिक्रिया भी थी। बुद्धने आत्मा और परमात्माके विषयमें मौन धारण किया था, मानो उनका अस्तित्व है ही नहीं; शंकरने कहा 'केवल ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। संसार दुःखमय है, माया है, सर्वथा त्याज्य है अथवा मजबूरीका बन्धन है।' यह भाव और भावनाएँ हमारी जातीय चेतनामें लगभग ढाई हजार वर्षसे रम रही हैं। परिणामस्वरूप जहाँ हमने आध्यात्मिक अनुभवमें कुछ नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वहाँ संसार और जगत्के जीवनमें अनेक कष्ट भी झेले हैं, राज-पाट खोया और शक्ति तथा प्रभावसे वञ्चित रहे। हम कह सकते हैं—हमने एक विशेष आध्यात्मिक अनुभवकी सबलता तथा सीमा दोनोंको जान लिया। इससे हम वैदिक और औपनिषदिक आदर्शकी विशेषताको अनुभव करनेके लिये विशेष रूपसे तैयार हो गये हैं और निश्चय ही अब जो नयी चेतना विकसित होगी, वह संभवतः पूर्णतर होगी। यदि हम अपनी ऐतिहासिक उपलब्धियोंका लाभ उठाते हुए आगे चलना चाहें तो वह कम-से-कम पूर्णतर हो सकती है।

हमारे निकटभूतके महापुरुषोंका वास्तवमें संसार और जगत्के प्रति एक नया स्वीकारात्मक भाव पैदा करनेका आग्रह भी रहा। इस प्रकार एकके बाद एक चेतनाके अंदर नया विश्वास, नयी शक्ति तथा संघर्षके भाव भरते रहे हैं।

परंतु सत्ता अधिगत करनेके बाद, अधिकार और राज-शक्तिके प्रति जो हमारा मनोभाव एकदम ही विकसित हुआ, उसने हमें कुछ चौंका दिया। इस नयी स्थितिमें हमने यथोचितरूपमें स्वस्थ और तटस्थ अनुभव नहीं किया। हम सत्ता-लोलुप हो गये। स्वाभाविकतया चिन्ता होती है और हम अनुभव किये बिना रह नहीं सकते कि हमारी मध्ययुगीन चेतनाके पुराने संस्कार इतनी जल्दी दूर नहीं हो सकते। जो चेतना संसारसे भय मानती थी, वह अब भी या तो उस भय और अविश्वासको व्यक्त कर रही है या प्रतिक्रियारूपमें लोलुपता। इन संस्कारोंका शोधन और जगत्सम्बन्धी स्वस्थ स्वीकारात्मक भाव बनाना ही, हमारे विचारमें आजकी भारतीय चेतनाका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न है। आजके हमारे प्रश्न प्रथमतः इस विकासकी माँग करते हैं और यदि हम अपने प्रश्नोंके इस मौलिक रूपको देख सकें तथा इसका ऐतिहासिक कारण पहचान सकें तो आधा हल तो हमें स्वतः प्राप्त हो जायगा।

आज संसार 'संस्कृति' की पाश्चात्त्य भावनाके अनुसार मन, प्राण और शरीरके 'अनुशीलन'में लगा हुआ है और प्रकृतिमें लिप्त भावके कारण आत्मभाव और आत्मगौरवको खो बैठा है, प्रकृतिमें लिप्त भाव होनेके कारण ही आजकी पाश्चात्त्य चेतनाके लिये यह विपुल वैज्ञानिक विकास संकट बन गया है। संस्कृतिसम्बन्धी भारतीय विचार ही इसका यथार्थ समाधान है। 'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति' का अनिवार्य लक्षण है—आन्तरिक शुद्ध भाव अर्थात् आत्माका मन, प्राण और शरीरकी प्राकृतिक चेष्टाओंसे स्वतन्त्र तथा तटस्थ भाव। इसीसे मानव प्रकृतिमें स्वामी-भावसे विचर सकता है और उसका यथोचित उपयोग और उपभोग कर सकता है।

भारतकी सामान्य मानव-संस्कृतिके लिये यह भाव अमूल्य देन हो सकती है। वास्तवमें भारत अपनी यथार्थ सांस्कृतिक वृत्तिको अभिव्यक्त करके इस समय संसारको संकटसे निकाल लेनेकी भी सामर्थ्य रखता है; परंतु उसे अपने मध्ययुगीन अनुभवोंका उचित शोधन करना होगा। जगत्-त्यागात्मक भावनाको एक उच्चतर स्वीकारात्मक अध्यात्मवादमें सगठित करना होगा। जगत् अपने आपमें, आत्माका विरोधी ध्रुव होते हुए तुच्छ भी है और त्याज्य भी। परंतु वास्तवमें तो वह ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, एक प्रयोजनीय चरितार्थता है। तब वह त्याज्य कैसे हो सकता है? निश्चय ही हम ब्रह्मको उसके सर्वाङ्गीण रूपमें अङ्गीकार करना चाहेंगे तथा उसके साथ पूर्ण तादात्म्यके लिये अभीप्सा करते हुए उसके सगुण और निर्गुण रूपमें, उसकी स्थिति और गतिमें, उसे प्राप्त करना तथा अभिव्यक्त करना चाहेंगे।

श्रीअरविन्द-दर्शन भारतीय संस्कृतिकी वर्तमान अभीप्सा-का पूर्ण प्रतीक प्रतीत होता है। यह जगत्को भागवत अभिव्यक्तिके रूपमें केवल अंगीकार ही नहीं करता बल्कि इस मानवके सर्वाङ्गीण आध्यात्मिक विकासका उपयुक्त आधार और क्षेत्र बतलाता है। श्रीअरविन्द-दर्शनके अनुसार जगत् अनिवार्यरूपमें वैश्व-विकासके क्रमसे जड प्राण और मनके क्रमिक स्तरोंद्वारा व्यापक अध्यात्माभिव्यक्तिके लिये तैयार हो रहा है और भावी विकासमें समय आयगा जब कि ये आजके अज्ञानाच्छादित स्तर सजग और सचेतन हो उठेंगे। अतः मानवको, जो कि प्रजापतिकी सर्वश्रेष्ठ सन्तान है, इहैव—यहाँ जगत्के क्रियाकलापमें भागवत इच्छाको चरितार्थ और अभिव्यक्त करना है। इसीसे मानव अपने सर्वाङ्गीण विकासको प्राप्त करेगा।

आर्यसंस्कृतिकी तुलनात्मक गवेषणा

आर्यजातिकी संस्कृतिमें एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्माको माना गया है। वे ही परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण आदि नामसे अभिहित होते हैं। जैसे हमारा यह ब्रह्माण्ड है, वैसे ही अनन्ताकाशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं। परमात्माके ईक्षणमात्रसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य नाना देहधारियोंके द्वारा व्यवस्थितरूपसे हुआ करता है। वे परमात्मा निर्गुण-निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुणरूप धारण कर लेते हैं। पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंमें एक ईश्वरवादका विचार तो प्रचलित देखनेमें आता है; परंतु उनमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी महान् धारणाका विकास नहीं है और न वे ऐसी विचारशैलीकी ओर ध्यान देते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्डका कार्य कैसे चलता है। जैसे एक राज्य चलानेके लिये अनेक श्रेणियोंके राजपद-धारियोंकी आवश्यकता होती है, वैसे ही हमारे ब्रह्माण्डके सब कार्योंके संचालनके लिये अनेक देवता, ऋषि, पितृ आदि देवपदधारी सदा अपने-अपने कामपर नियुक्त रहते हैं—ऐसी विचारशैली उनमें नहीं है और जब भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, तो भक्तके कल्याणार्थ वे सगुणरूप भी धारण कर सकते हैं—ऐसी धारणा भी सबमें नहीं है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें जैसे ब्रह्माण्डोंकी संख्या अनन्त मानी गयी है, उसी प्रकार नाना जीवोंके पिण्ड भी अनेक माने गये हैं। उद्भिज्ज पिण्ड, स्वेदज पिण्ड, अण्डज पिण्ड और जरायुज पिण्ड—ये सब सहज पिण्ड कहाते हैं। मनुष्यके स्थूल शरीरको मानव पिण्ड कहते हैं और देवता, ऋषि, पितर, यक्ष, गन्धर्व, असुर, प्रेत आदिके पिण्ड देवपिण्ड कहाते हैं। जीव उद्भिज्ज योनिसे स्वेदजयोनिमें, स्वेदजयोनिसे अण्डजयोनिमें, अण्डजयोनिसे जरायुजयोनिमें क्रमशः पहुँचता है। मनुष्ययोनि अन्य उच्च-योनियोंका माध्यम है। मनुष्ययोनिसे जीव उन्नति करता हुआ नाना योनियोंमें जा सकता है। नाना देवपदधारी देवयोनियाँ इस मृत्युलोककी सहायक हैं; देवयोनियोंका इतना विस्तार है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चार श्रेणीके जीव असम्पूर्ण शरीरधारी होनेके कारण इनमेंसे हर एक श्रेणीके जीवोंका एक-एक रक्षक और चालक अलग-अलग एक-एक देवता हैं। प्रसिद्ध पर्वत, नदी आदिके भी अलग-अलग अधिदेव हैं और ये सब दैवी राज्य-शृङ्खलाके अधीन रहकर सुव्यवस्थित होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियोंमें इस प्रकारकी संस्कृतिका प्रचार नहीं है। वे सामान्यरूपसे दैवी राज्यको मानते हैं।

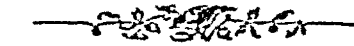
असुरको शैतान और देवताओंको फिरिश्ता, एंजिल आदिसे अभिहित करते हैं; परंतु उनकी संस्कृतिमें दैवीराज्यके महान् विस्तारपर और दैवीपदधारियों तथा दैवी शृङ्खलापर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें पुरुष और स्त्रीका भेद बहुत कुछ माना गया है। जैसे दिन और रातमें भेद है, जैसे बीज और बोनेकी भूमिमें भेद है और जैसे विकर्षण-शक्ति और आकर्षण-शक्तिमें भेद है, उसी प्रकार बड़ा भारी भेद समझकर आर्य-संस्कृतिमें स्त्रीजातिके मौलिक धर्म और आचारोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ विशेषता मानी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिके अनुसार पुरुष जातिकी अपेक्षा स्त्रीजातिमें आचार-विचार, रहन-सहन और शिक्षा, धर्म आदिके विषयमें सब प्रकारसे पृथक्ता रक्खी गयी है। आर्यजाति यह समझती है कि श्रीभगवान्‌ने पुरुष जातिको और स्त्रीजातिको विशेष-विशेष शक्ति देकर सृष्टि-क्रियामें प्रवृत्त किया है। थोड़ी-सी बुद्धि जिसमें है, वह यह समझ सकता है कि जगत्‌की सृष्टिक्रियामें पुरुषकी पाँच-दस मिनटकी जिम्मेवारी है और स्त्रीकी कम-से-कम नौ महीनेकी जिम्मेवारी है। पुरुष यदि वेश्यागामी हो जाय, तो उसके कुल और जाति आदिको विशेष क्षति नहीं पहुँचती है; परंतु स्त्री यदि अपने जीवनमें पाँच-दस मिनटकी भूल कर बैठे तो उस भूलके द्वारा उसका सतीत्व ही नष्ट नहीं होगा, बल्कि उसका वंश, उसकी कुल-परम्परा, उसकी जाति और उसका समाज—सब अपवित्र हो जायगा। इन थोड़े-से उदाहरणोंद्वारा ही विचारशील सज्जन समझ सकते हैं कि आर्यजातिकी पवित्रताकी रक्षाके लिये और सृष्टिकी पवित्रताकी रक्षाके लिये स्त्री-जातिकी जिम्मेवारी कितनी अधिक है। इस कारण आर्यजाति अपनी माता और कन्याओंको नाना उपायद्वारा पवित्र रखनेका प्रयत्न करती है। परंतु आज पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियाँ स्त्री और पुरुषोंको एक प्रकारकी शिक्षा देकर और एक ही रास्तेपर चलाकर मनुष्य-जातिके अकल्याणका कारण हो रही हैं! पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी दृष्टियोंमें आर्यजातिका वर्णाश्रमधर्ममूलक समाज-विज्ञान (सोशियालाजी) बड़ा विचित्र और कठिन प्रतीत होती है। उसकी सामाजिक अवस्थाको चारों ओरसे चार सुदृढ़ दुर्गोंके द्वारा सुरक्षित किया

गया है। प्रथम दुर्ग यह है कि आर्य नारियोंमें सतीत्व-धर्मकी, पवित्रताकी रक्षा अति दृढ़तासे की गयी है। वैसी व्यवस्था पृथ्वीके अन्य किन्हीं जातियोंमें नहीं पायी गयी है। आर्यजातिकी सामाजिक पवित्रताकी रक्षाके लिये रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्णधर्मकी व्यवस्था और जन्मसे जाति माननेका नियम आदि द्वितीय दुर्ग है।

पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंमें मनुष्यजीवनकी आयुके भेदोंके अनुसार कोई विशेष व्यवस्था नहीं बाँधी गयी है; परंतु आर्यसंस्कृतिमें अति सुन्दर उपायोंके द्वारा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी व्यवस्था अतिसुन्दर रूपसे बाँधी गयी है। यह आश्रमधर्म तृतीय दुर्ग है। इस समय सब अस्त-व्यस्त हो जानेपर भी सबको यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यजीवनको प्रथमसे लेकर अन्तपर्यन्त एक ढंगसे न चलाकर ब्रह्मचर्य आश्रममें कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये, सो विद्याभ्यासद्वारा सिखानेकी रीति है। गृहस्थाश्रमधर्ममें प्रवृत्तिधर्मका धर्मानुकूल पालन कराया जाता है। तीसरे वानप्रस्थधर्ममें तपस्या आदिद्वारा निवृत्तिधर्मकी शिक्षा दी जाती है और चौथे संन्यास-आश्रममें निवृत्तिधर्मकी चरितार्थता करायी जाती है। एक जीवनमें मनुष्य धर्मानुकूल प्रवृत्ति करता हुआ अन्तमें निवृत्तिके राज्यमें पहुँचकर श्रीभगवान्के निकट पहुँच सके—इसकी व्यवस्था बाँधी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें सामाजिक व्यवस्थाकी सुरक्षाके लिये सब समय आचार और विचारके प्रति तीव्र दृष्टि रखना चौथा दुर्ग है। इस प्रकार चार दुर्गोंके सुरक्षित धर्मोंद्वारा मनुष्यसमाजको चिरजीवी बनाने और सुरक्षित रखनेका नियम पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं पाया जाता।

हिंदू-जातिमें आचार और विचारके विस्तार और दृढ़ताकी अधिकतासे कोई-कोई अन्यधर्मावलम्बी संदेह करते हैं और कहते हैं कि जिस जातिमें इतना कठिन जाति-भेदका सिद्धान्त प्रचलित है और जो जाति शुद्धाशुद्धविवेकको इतना मानती है, उस जातिमें मनुष्य-प्रेमका सिद्धान्त कैसे चल सकता है। हिंदुओंके प्रतिदिनके करनेयोग्य 'नृयज्ञ'पर मनन करनेसे ही ऐसी निर्मूल शंकाओंका समाधान हो जाता है। नृयज्ञ-साधन सनातनी हिंदुओंका नित्यकर्म है। विधिपूर्वक अतिथि-सेवाको नृयज्ञ कहते हैं। हिंदुओंके समाजविज्ञान (सोशियालाजी) में शुद्धाशुद्ध-विचार और जातिभेद-सम्बन्धी विस्तृत आज्ञाएँ रजोवीर्यकी शुद्धिके निमित्त शास्त्रोंमें पायी जाती हैं। साथ-ही-साथ धर्मशास्त्रोंमें प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेकी आज्ञा भी है। नृयज्ञ उनमेंसे एक यज्ञ है। नृयज्ञका सिद्धान्त यह है कि घरमें आये हुए अतिथिको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करनी चाहिये। घरमें आया हुआ अतिथि चाहे हिंदू हो, चाहे मुसल्मान, चाहे ईसाई हो, चाहे और किसी धर्मका हो; चाहे ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र हो और चाहे अछूत जातिका हो, चाहे असभ्य जातिका मनुष्य हो—उसको आसन, भोजन, जल और आदरके वचनोंद्वारा तृप्त करना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें दृढ़ आज्ञा है कि घरमें आये हुए अतिथिको भगवान् समझकर आदर जो नहीं करता, उसका सब पिछला पुण्य नष्ट हो जाता है। मनुष्यमात्रको भाई-भाई समझनेके लिये और उस पवित्र विचारको आचारमें परिणत करनेके लिये हिंदू-जातिमें प्रचलित नृयज्ञसे अधिक क्या प्रमाण हो सकता है? आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवाली जिस मनुष्यजातिमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, शुद्धाशुद्ध-विचार-धर्म और नारियोंमें सतीत्वधर्मका इतना विचार किया जाता है, उस हिंदू जातिमें एक अद्वितीय परमात्माको पितारूप मानते हुए और उसकी सब श्रेणीकी सन्तानोंमें प्रेम करते हुए उनमें भ्रातृभावका संस्कार बनाये रखनेके लिये ही नृयज्ञका ऐसा दृढ़ नियम भी प्रचलित है। अतः यह मानना पड़ेगा कि मनुष्यमात्रसे प्रेम करना उनका मौलिक उद्देश्य है, इसमें संदेह नहीं। यद्यपि पृथ्वीके सब धर्ममतोंमें तथा सभी मनुष्य-समाजोंमें किसी-न-किसी प्रकारसे मनुष्यमात्रमें भ्रातृप्रेम बनाये रखने और अतिथि-सेवा करनेके सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें पाये जाते हैं, तथापि वर्णाश्रम-धर्मरूप धार्मिक समाज-विज्ञानको माननेवाली हिंदूजातिके धर्मशास्त्रमें नृयज्ञरूपी धार्मिक अतिथि-सेवा करनेकी जैसी दृढ़ आज्ञा पायी जाती है, वैसी शास्त्रीय आज्ञा अन्य किसी धर्ममें नहीं है। हिंदू गृहस्थोंके नित्य करनेयोग्य जितने धर्मसाधन बताये गये हैं, उनमेंसे नृयज्ञ एक प्रधान साधन है। इस प्रकार अलौकिक आर्यसंस्कृति तथा पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी संस्कृति—दोनोंकी तुलनात्मक गवेषणा करनेपर परस्पर दिन और रातका पार्थक्य दिखायी देगा। आर्यसंस्कृतिमें स्त्रीजातिको जगज्जननी महामायाकी प्रतिकृति मानकर कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक आर्य-महिलाओंकी सम्मान-रक्षा और पवित्रता-रक्षाका पूरा नियम बाँधा गया है। किंतु अन्य सभ्य जातियोंमें इस सिद्धान्तके विपरीत देखनेमें आता है। आर्य-संस्कृतिमें स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका बहुत कठिन नियम रक्खा गया है। भारत-

खण्डके आजकल अत्यन्त दरिद्र हो जानेपर भी आर्य-महिलाओंके शरीरको ढँके रखनेके लिये वस्त्र आदिका पहिनावा कितना उत्तम है सो सब जानते ही हैं। दूसरी ओर यूरोप और अमेरिकाके शिक्षित अधिवासियोंमें किस प्रकार निर्लज्जताकी रीति प्रचलित है, उसे देखनेसे भी हिंदू-जातिको लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणकी रीतिपर दिखाया जाता है कि इन सभी जातियोंका सामाजिक उत्सव किसी भी प्रकारका हो, उसमें स्त्रियोंके पुरुषोंके साथ निर्लज्जभावसे नाचनेकी प्रथा और उस समय भोजनके साथ मद्यपान-प्रथा नियमपूर्वक प्रचलित है। ऐसे उत्सवोंके समय स्त्रियाँ लज्जारहित जैसा वस्त्र धारण करती हैं, वह कितना लज्जाजनक है—इसको जिन्होंने देखा है, वे स्वयं जानते हैं। विशेषता यह है कि कोई विवाहिता स्त्री अपने पतिके साथ नहीं नाच सकती; यह नियमविरुद्ध है। उसको परपुरुषके साथ ही नाचना होगा। ऐसे उत्सवोंमें एकान्त स्थान भी बने रहते हैं। नृत्यकारी युगल स्त्री-पुरुष रातभर नाचनेमें, स्वेच्छापूर्वक घूमने आदिमें स्वतन्त्र और निर्भय रहते हैं। यह उस देशकी साधारण प्रथा है। यदि कोई स्त्री किसी पुरुष-बन्धुसे एकान्तमें बातचीत करती है, तो उस समय उसका पति बिना उसकी आज्ञाके वहाँ जा नहीं सकता। यह उस देशका नियम है। दूसरी ओर आर्यजातिकी संस्कृतिमें इसके बिल्कुल विपरीत नियम प्रचलित है, जो धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पालित किया जाता है। स्त्रियोंके लिये रहनेके स्थानका नाम अन्तःपुर है; वहाँ परपुरुषकी तो बात ही क्या है, अपने घरके पुरुष भी सब समय नहीं जा सकते। आर्य-संस्कृतिमें परपुरुषके साथ नाचनेकी तो बात ही नहीं, प्रत्युत परपुरुषका स्पर्श भी हिंदूशास्त्रमें निषिद्ध है। नाचनेकी प्रथा हिंदूजातिमें अवश्य है; क्योंकि संगीतशास्त्रके तीन भेद हैं—नर्तन, गायन और वादन। परंतु जिन जातियोंमें नाचनेकी प्रथा है, उनकी स्त्रियाँ अन्तःपुरमें स्त्री-मण्डलीमें ही नाचती हैं। परपुरुषोंके साथकी तो बात ही क्या है, परपुरुषके सामने भी कुलीन स्त्रियोंका नाचना आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। धार्मिक उत्सव और तीर्थ आदिमें आर्यस्त्रियाँ अपने पति आदि अभिभावकोंके साथ जाती हैं। एकाकिनी जाना या परपुरुषके साथ जाना, यह आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। आजकलके राजनैतिक और सामाजिक नेतृवृन्दोंको इस तुलनात्मक गवेषणाको अपने बुद्धितत्त्वके सामने रखकर समाजसंस्कारकी बात सोचनी चाहिये। यूरोपीय सभ्यताकी बहुत-सी बातें आपातरमणीय होती हैं; किंतु वे परिणाममें विषवत् भयङ्कर सिद्ध होती हैं, इसका भी विचार रखना चाहिये। 'सूर्योदय'



हिंदू और हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

आजकल हिंदू और हिंदू-संस्कृति शब्द सुननेमें तो बहुत आते हैं, परन्तु उसकी परिभाषा कोई नहीं करता। बहुत-से लोगोंको तो 'हिंदू' शब्दका अर्थ अपमानसूचक होनेका भी भ्रम है तथा इस शब्दकी प्राचीनतामें भी सन्देह है। अतः अतिसंक्षेपमें ही इसपर कुछ निवेदन करनेकी चेष्टा की जाती है।

'हिंदू' शब्दकी व्याख्यामें विद्वानोंने कहा है—

श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रेषु प्रामाण्यबुद्धिमवलम्ब्य श्रुत्यादिप्रोक्ते धर्मे विश्वासं निष्ठां च यः करोति स एव वास्तवहिंदूपदवाच्यः।

अर्थात् श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें प्रामाण्यबुद्धिका अवलम्बन करके उनमें कहे हुए धर्ममें जो विश्वास और निष्ठा करता है, वही वास्तवमें 'हिंदू'-पद-वाच्य है। इसी प्रकार 'श्रुत्यादिप्रोक्तानि सर्वाणि दूषणानि हिनस्तीति हिंदुः' भी कहा जाता है। अर्थात् श्रुत्यादिप्रोक्त सर्व दूषणोंका जो हनन करे, वह हिंदू है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें भी 'हिंदू' शब्द आया है। कुछ प्रमाण देखिये। मेरुतन्त्रमें—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये॥
(प्रकाश २३)

'कितने ही चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका लोप करनेवाले होंगे। प्रिये! जो हीन वृत्ति और हीन आचारको दूषित करे—निन्द्य समझकर उसका त्याग करे, वह 'हिंदू' कहलाता है।

शार्ङ्गधरपद्धतिमें—

यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्।
बलिना वेदमार्गोऽयं कलिना कवलीकृतः॥

'यवनोंने इस पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और पीड़ित हिंदू विन्ध्यगिरिकी गुफाओंमें प्रवेश कर गये। अहो! बलवान् कलिकालने इस वैदिक-मार्गको अपना ग्रास बना लिया।'

इसीका रूपान्तर कालिकापुराणमें है—

बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ ।
यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन् ॥

'कलिमें बलवान् कलियुगद्वारा जब धर्मका स्वरूप आच्छादित एवं विलुप्त हो गया, तब यवनोंने इस भूमिपर अधिकार कर लिया और हिंदू विन्ध्य-प्रदेशमें चले गये ।'

'शब्दकल्पद्रुम कोष' में 'हीनं दूषयति इति हिंदुः' 'पृषोदरादित्वात् साधुजातिविशेषः'—जो हीनको दूषित करे, वह हिंदू है । 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार यह 'हिंदु' शब्द सिद्ध हुआ है । 'हिंदू' एक जाति-विशेषका नाम है । यह हिंदू शब्दकी व्याख्या की गयी है । अद्भुतकोषमें भी ऐसा आया है कि हिंदुर्हिंदूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विघर्षणे । रूपशालिनि दैत्यारौ' 'हिंदु' और 'हिंदू' शब्द दुष्टोंको हीन—तिरस्कृत करनेवालेके अर्थमें प्रसिद्ध है। सुन्दर रूपसे सुशोभित तथा दैत्योंके शत्रु—इन दोनो अर्थोंमें भी इनका प्रयोग होता है ।' पारिजातहरण नाटकमें—

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान् ।
हेतिभिः शत्रुवर्गं च स हिंदुरभिधीयते ॥

'जो अपनी तपस्यासे दैहिक पापों तथा चित्तको दूषित करनेवाले दोषोंका नाश करता है तथा जो शस्त्रोंसे अपने शत्रु-समुदायका भी संहार करता है, वह हिंदू कहलाता है ।'

इस प्रकार अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका प्रयोग हुआ है । यहाँपर विस्तारके भयसे थोड़े-से उद्धरण दिये गये हैं। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द न तो नवीन है और न इसका अर्थ ही अपमान-सूचक है ।

अब 'संस्कृति' को लीजिये । संस्कार और संस्कृति एक ही धातुसे निकले हैं। दोनोंमें 'सम्' उपसर्ग है तथा संस्कारोंकी घनीभूतरूपसे केन्द्रीभूत समष्टि—समूह ही संस्कृति है। जिस प्रकार संस्कारोंके अनुसार ही चेष्टा, व्यवहार और कर्म आदि होते हैं, उसी प्रकार संस्कृतिके अनुसार ही राष्ट्रका भी उत्थान-पतन होता है । राष्ट्ररूपी शरीरमें संस्कृति प्राणस्वरूप है। जिस प्रकार पाञ्चभौतिक मानसपिण्डमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध शरीर होते हैं और उसमें स्थूल शरीरको तो देखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म और कारण शरीरको साधारणतया चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, परन्तु सभी बातोंमें प्रधान वही होता है, संस्कारोंका आधारभूत अन्तःकरण ही सारे कर्म करनेमें कारण होता है, उसी प्रकार संस्कृति भी इन आँखोंसे तो देखी नहीं जा सकती, परन्तु देश-जातिके कल्याण अथवा उन्नति-अवनति आदि सभी बातोंमें एकमेव प्रधान कारण वह संस्कृति ही है।

अब 'हिंदू-संस्कृति' की ओर ध्यान दीजिये कि वह है क्या वस्तु तथा उसका आधार क्या है । वास्तवमें किसी संस्कृतिका परिचय उसके इतिहास और साहित्यसे चलता है। अतः यहाँपर भी यह बात स्पष्ट है कि जब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें विश्वास एवं निष्ठा करनेवाला 'हिंदू' पद-वाच्य है, तब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्र, रामायण-महाभारतादि इतिहास ही उसकी आधारशिला हैं, और उसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि त्रिविध भावोंसे पूर्ण (त्रिविध शरीरके समान) कर्म, उपासना, ज्ञान, अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि प्रदान करनेवाली वर्णाश्रमधर्मादिकी जो शिक्षा-व्यवस्था है, उसके द्वारा जो इन्द्रियोंकी हलचल होती है, उसीका समष्टि सूक्ष्म घनीभूत व्यापक संस्कार ही 'हिंदू-संस्कृति' है। उसका ज्ञान जिस व्यक्तिको होगा, उसके संस्कार भी तदनुसार बनेंगे और संस्कारोंके कारण पुनः जो कर्म होगा अथवा जो व्यवहार और चेष्टा होगी, वह उस संस्कृतिका स्थूल रूप होगा । (यद्यपि कर्मसे संस्कार तथा संस्कारसे कर्म—ये दोनो बीज-वृक्ष-न्यायसे चलते हैं, तथापि जिस प्रकार सूक्ष्म कारण बीज ही होता है, उसी भाँति संस्कार एवं संस्कृति भी मूल कारण होते हैं ।) अतः इसका भी स्पष्टीकरण हो गया कि हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला वेदादि शास्त्र तथा श्रुति-स्मृत्यादि ही हैं । हमारे पुराण-इतिहासमें उनका स्थूल रूप वर्णित है । उसमें अपने पूर्वजोंकी अनेक गौरवपूर्ण कथाएँ, आदर्श जीवन और ज्वलन्त उदाहरण भरे पड़े हैं ।

हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवक्ता, धर्मराज युधिष्ठिर-जैसे धर्मनिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि तथा वेदव्यास-सदृश दर्शनशास्त्रनिर्माता, मनु-जैसे राजर्षि, कर्ण-दधीचि-से दानी, विक्रमादित्य-मान्धाताके समान महीपति, शिविके समान शरणागत-रक्षक, भीष्म-जैसे आजन्म ब्रह्मचारी धर्मज्ञाता, भीम-जैसे बली, अर्जुन-जैसे वीर, अष्टावक्र-शुकदेव-सदृश ज्ञानी, सुतीक्ष्ण-अम्बरीष-जैसे भक्त, जनकके समान कर्मयोगी, याज्ञवल्क्य-अरविन्द-जैसे योगी, भगवान् शङ्कराचार्य-जैसे दार्शनिक महात्मा, तुलाधार-समाधिके समान वैश्य, नराकार रूपमें अवतरित श्रीभगवान् रामचन्द्रजी-से राजा, जिनके नामपर रामराज्यका आदर्श आज भी सहसा सभी लोगोंके मुखसे निकल ही पड़ता है, उनके समान नीति, प्रीति, परमार्थ, स्वार्थका यथार्थ ज्ञाता; अनसूया-सीता-सावित्री-सी पतिपरायणा नारी, गार्गी-सी ज्ञानमूर्ति और मदालसा-सी माताओंके आदर्श चरित्र हमारे इतिहासमें भरे पड़े हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँके वेद अपौरुषेय हैं तथा शास्त्र भ्रमादि-दोषोंसे रहित ज्ञानके भंडार हैं और पुराण-इतिहास उसके गौरवपूर्ण आदर्श हैं, उसी प्रकार उनकी नींवपर स्थापित हमारी हिंदू-संस्कृति भी संशय तथा भ्रमसे रहित है और उसकी नींव भी बड़ी गहरी है। यही कारण है कि उसका अस्तित्व किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। (यद्यपि आजकल अज्ञानवशात् उसके छिन्न-भिन्न करनेका प्रयास अवश्य किया जा रहा है!)

वास्तवमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, लौकिक, पारलौकिक आदि सभी प्रकारकी उन्नति अपनी हिंदू-संस्कृतिके ही अपनानेसे हो सकती है और उसके लिये शास्त्रों तथा इतिहासका ही सहारा लेना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई साधन ही नहीं है। वेदादि शास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिके परिचायक हैं और उसके अनुयायी हमारे पूर्वज ही उसके आदर्श नायक हैं। इतिहास इसमें साक्षी और प्रमाण है।

जो लोग विद्या, बुद्धि अथवा समय आदिके अभावसे अथवा किन्हीं अन्य कारणोंसे सभी शास्त्रोंको नहीं देख सकते, उनके लिये सर्वशास्त्रमयी निखिलज्ञानराशि एकमात्र श्रीमद्भगवद्गीता अपनी संस्कृतिके परिचायकरूपमें तथा श्रीरामचरितमानस आदर्श ज्वलन्त उदाहरणके रूपमें संस्कृतिनिष्ठ एवं कल्याणपात्र बनानेमें पर्याप्त है। यही 'हिंदू और हिंदू-संस्कृति' का सूक्ष्म और संक्षिप्त परिचय है और इसीके अपनानेसे तथा इसीके अनुसार चलनेसे हमारा और देशका कल्याण हो सकता है।

अन्त्यजोंके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध क्यों ?

(श्रीवर्णाश्रमस्वराज्यसंघद्वारा प्रेषित)

सबसे पहले हम यह सोचें कि हिंदू ही मूर्तिपूजा क्यों करते हैं, जब कि अन्य धर्मवाले मूर्तिपूजक नहीं हैं। हिंदुओंके मूर्तिपूजा करनेका कारण यही है कि शास्त्रोंने यह बतलाया है कि मूर्तिपूजासे वे भगवत्कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। मुसल्मान मूर्तिपूजा नहीं करते; क्योंकि कुरानने बतलाया है कि ऐसा करनेसे पाप लगेगा। हमें अपने शास्त्रोंपर विश्वास है, कुरानपर नहीं; इसलिये हमलोग मूर्तिपूजा करते हैं।

यदि शास्त्रोंपर विश्वास न हो तो मूर्तिपूजाका कुछ अर्थ ही नहीं है। शास्त्रोंके कोई वचन हमें यदि गलत मालूम होते हैं तो हमें यह मान लेना चाहिये कि हमने उन वचनोंका वास्तविक अभिप्राय समझा ही नहीं। पर यदि हम यह समझ बैठें कि शास्त्रोंके वे वचन ही गलत हैं और हम सही हैं तो यह कहना चाहिये कि शास्त्रोंपर हमें सच्चा विश्वास ही नहीं है।

जो शास्त्र मूर्तिकी पूजा करनेको कहते हैं, वे यह भी बतलाते हैं कि यह पूजा कैसे करनी चाहिये। पूजाके जो नियम हैं, उनमें एक नियम यह भी है कि किस प्रकारके लोगोंको मन्दिरोंमें प्रवेश न करने देना चाहिये। यदि हम यह सोचें कि कुछ जातियोंके साथ द्वेष होनेसे उनके लिये ऐसे नियम बने हैं, तब तो शास्त्रकारोंके सम्बन्धमें हमारी कल्पना बहुत ही थोथी है और फिर मूर्तिपूजा भी हमारे लिये निरर्थक है।

वेद बतलाते हैं कि हमारा जन्म पूर्वजन्मोंके कर्मोंसे निश्चित होता है। जो अच्छे कर्म करते हैं, वे ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णोंमें उत्पन्न होते हैं और जो बुरे कर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं।* कोई मनुष्य जब पाप करता है, तब उससे उसका शरीर अशुचि हो जाता है और यह अशुचिता दूसरे जन्ममें भी उसके साथ चलती है। इसलिये ऐसे पुरुषका मन्दिरमें प्रवेश निषिद्ध है।

मन्दिर-प्रवेश ही ईश्वरकी उपासनाका एकमात्र साधन नहीं है। हमें ईश्वरकी उपासना अपने मनमाने ढंगसे नहीं, बल्कि शास्त्रोपदिष्ट मार्गसे ही करनी चाहिये। मन्दिरोंमें जिनका प्रवेश शास्त्रोंने निषिद्ध बतलाया, उनके लिये मन्दिरके शिखरदर्शनकी विधि शास्त्र बतलाते हैं और इससे उन्हें वही फल प्राप्त होता है, जो अंदर मूर्तिकी पूजा-अर्चा करनेवालोंको मिलता है।

ईश्वर तो सर्वत्र है। पर उसकी अभिव्यक्ति कहीं कम, कहीं अधिक है। उदाहरणार्थ—गङ्गाजलमें उसकी जितनी अभिव्यक्ति है, उतनी किसी नालेके पानीमें नहीं। शास्त्रविधिके अनुसार जिन मूर्तियोंकी पूजा होती है, उनमें उसका आविर्भाव सबसे अधिक होता है। यदि विग्रहकी पूजाके इन

* रमणीयचरणाः रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५।१०।७)

नियमोंका (जिनमें यह नियम भी है कि मन्दिरमें कौन प्रवेश करे और कौन नहीं) उल्लङ्घन किया जाता है तो विग्रहमेंसे देवत्व भी चला जाता है। एक नित्य परिचित वस्तु-का ही उदाहरण लीजिये। विद्युत् तो सर्वत्र ही है। पर उसे व्यवहारमें लाना तभी बन सकता है, जब कोई विद्युत्-उत्पादक यन्त्र हो, विद्युत्वाहक तार हो और प्रकाशक बल्ब हो। यदि विज्ञानकी रीतिसे यह सारी व्यवस्था की जाय तो हमें उससे प्रकाश, गतिशक्ति और संदेश मिल सकते हैं। पर यदि इस यान्त्रिक व्यवस्थाके नियम तोड़ डाले जायँ तो फिर ये चीजें उससे नहीं मिल सकतीं। इसी प्रकार मूर्तिपूजा-के सम्बन्धमें शास्त्रकी जो विधि है, उसका उल्लङ्घन करनेसे देवत्व उससे प्रकट न होगा।

मन्दिरोंमें प्रवेश करनेसे अन्त्यजोंको कोई लाभ नहीं होता। उलटे शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे पाप लगता है। शास्त्रोंमें जो विधि है, उसे करना ही पुण्य है; जिसका निषेध है, उसे करना ही पाप है। यदि वे यह समझें कि उनके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध उनके पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण है और उन पापोंपर उन्हें पश्चात्ताप हो तो इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और वे पारमार्थिक उन्नतिके अधिकारी होंगे। मन्दिर-प्रवेशका निषेध इस तरह उनके लिये भी कल्याणप्रद ही होता है। किसी विषयपर भिन्न-भिन्न लोगोंमें परस्पर मतभेदका होना अनिवार्य है। पर जब एक मतके लोग अन्य मतके लोगोंपर जबर्दस्ती अपना मत लादनेका प्रयत्न करते हैं, तब शान्ति भग होती है। सनातनियोंका सदासे एक निश्चित मार्ग है, एक विशिष्ट ढंगसे वे ईश्वरोपासना करते चले आये हैं। उनके विचारमें शास्त्र प्रमादरहित है। भगवान् श्रीकृष्णने भी **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ'** (गीता १६।२४) 'कार्य-अकार्यके निर्णयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है' यह कहकर उन्हींके पक्षका मण्डन किया है। 'शास्त्र' हैं—वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, मनुसंहिता, याज्ञवल्क्य-संहिता आदि। गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्य दोनोंने ही 'शास्त्र' शब्दका यही अर्थ बताया है।

कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें हम सदा अपनी बुद्धिका ही भरोसा नहीं कर सकते। मनुष्य प्रमादशील है, उससे भूलें हो ही जाती हैं। महात्मा गांधी-जैसे मनुष्योंसे भी भूलें होती हैं। पर शास्त्रोंमें भूल नहीं हो सकती। कारण, शास्त्र हैं स्वयं वेद और वे धर्मग्रन्थ, जो वेदार्थ बतलानेके लिये ऋषियों-ने बनाये। वेद किसी मनुष्यके लिखे नहीं हैं, अपौरुषेय हैं। इस कथनकी पुष्टिमें श्रीमत् शङ्कराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद्से यह वचन दिया है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महत् भूत (परमपुरुष) के निःश्वास हैं।'

महाभारत महर्षि वेदव्यासने रचा, जिसमें स्त्रियाँ, शूद्र और ऐसे ब्राह्मण जिन्होंने वेदोंका अध्ययन नहीं किया, वे वेदार्थको जानें। मनुसंहितामें वैदिक विधि-निषेधोंका संग्रह है, मनुके अपनी बुद्धिके निर्णय नहीं। मनुसंहितामें कहा है कि मनुष्यका परम ध्येय उस आत्मस्वरूपकी उपलब्धि है, जो सब प्राणियोंके अंदर है और जिसके अंदर सब प्राणी हैं* (मनु० १२। ९१)। ऐसे पुरुषकी दृष्टि संकुचित हो, यह सम्भव नहीं है। यदि उनके कुछ वचन कठोर और पक्षपात-युक्त मालूम होते हैं तो इसका कारण यह है कि हम उनका वास्तविक अभिप्राय समझ नहीं सके हैं। महाभारतने मनु-संहिताके कई वचन उद्धृत किये हैं और मनुसंहिताको प्रमाद-रहित कहा है। मनुसंहिताकी रचना भगवद्गीतासे बहुत पहले हुई है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता और गीता (१६। २४) में जहाँ 'शास्त्र'की बात आयी है, वहाँ शास्त्रसे 'मनुस्मृति' भी अभिप्रेत है।

अस्पृश्यताके नियम द्वेषमूलक नहीं हैं। मनुस्मृतिमें जहाँ यह कहा है कि चाण्डालका स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये, वहीं उसीके साथ ही यह भी कहा है कि ऋतुवती या प्रसूता स्त्रीका (वह अपनी मा, बहिन, पत्नी—कोई भी हो सकती है) स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये।† (मनु० ५। ८४)। शरीरको शुद्ध रखनेके लिये यह विधि है।

मनुके सब वचनोंपर वेदोंकी मुहर लगी है और उनकी भगवान्की तरह ही स्तुति की गयी है। श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्योंमें मनुस्मृति-की श्रेष्ठता बतलाते हुए यह वेदवचन उद्धृत किया है—**'यद्वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्'** अर्थात् 'मनुने जो कुछ कहा है, वह औषध है।'

---

* सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

† दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन

शास्त्रोंने उत्तमसे अधमतक सब वर्णोंकी वृत्तियाँ निश्चित कर दी हैं। किसी वर्णको यह अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे वर्णकी वृत्ति छीन ले। यदि उच्च वर्णोंने अन्त्यजोंको सताया होता तो अमेरिकाके रेड इंडियनों और आस्ट्रेलियाके हाटेनटाटोंकी तरह अन्त्यजोंका कुलक्षय हुआ होता। भारतवर्षमें आज जो करोड़ों अन्त्यज हैं, वे न होते यदि सहस्रों वर्षोंसे वे 'दलित' या 'पीड़ित' किये गये होते।

महाभारतमें धर्मव्याधकी जो कथा है, उससे पता चलता है कि प्राचीन समयमें हरिजन स्वकर्मका पालन और शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर किस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्रमें परम उन्नत हो सकते थे। धर्मव्याध इतने ज्ञानसम्पन्न थे कि किसी ब्राह्मणको भी धर्मतत्त्व जाननेके लिये उनके पास जानेमें संकोच नहीं होता था। किसी हरिजनने शास्त्रमर्यादाका उल्लङ्घनकर मन्दिर-प्रवेश करके वैसी उन्नति लाभ की हो, इसका तो कोई दृष्टान्त अभीतक नहीं मिला है।

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीवेदव्यास, श्रीवाल्मीकि, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य, श्रीतुलसीदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि सभीने धार्मिक विषयोंमें सर्वोपरि शास्त्रको ही प्रमाण माना है। शास्त्र न माननेवालोंको हिंदू नहीं कहा जा सकता। बाइबलको न माननेवाले ईसाई कहलानेके अधिकारी नहीं। कुरानको न माननेवाले मुसलमान नहीं। उसी प्रकार जो शास्त्रोंको नहीं मानते, वे हिंदू नहीं कहला सकते। इस प्रकार जो हिंदू नहीं हैं, उन्हें हिंदुओंकी पूजा-पद्धतिमें दखल देनेका क्या अधिकार है?

अस्पृश्यताके विषयमें मनुसंहिताके एक वचनका हम उल्लेख कर आये हैं। मन्दिर-प्रवेशके सम्बन्धमें भृगुसंहितामें यह निर्देश है कि 'चाण्डाल मूर्तिको स्पर्श नहीं कर सकता, न मन्दिरमें प्रवेश कर सकता है, न पूजा होती हो ऐसी अवस्थामें मूर्तिके दर्शन ही कर सकता है।'

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंका निर्देश स्पष्ट है। सन्देहके लिये कोई अवकाश नहीं है। वर्णाश्रमस्वराज्यसंघकी ओरसे इस विषयकी मीमांसाके लिये सार्वजनिक सभाएँ की गयीं, जिनमें सब मतोंके पण्डितोंको बुलाया गया था। अब भी शास्त्रार्थके लिये हाईकोर्टके न्यायाधीशोंकी अध्यक्षतामें ऐसी सभाएँ की जा सकती हैं।

व्यवस्थापिका सभाओंके सदस्योंमें बहुत ही कम ऐसे लोग होंगे, जिन्होंने सद्गुरुके समीप बैठकर विधिपूर्वक वेदों और अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। जिन्होंने इस प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया, उन्हें क्या अधिकार है कि हिंदुओंकी उपासना-पद्धति कैसी हो और कैसी नहीं—इस विषयमें अपना वोट दें? यह काम तो उन विद्वानोंका है, जिन्होंने विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया है। हिंदुओंमें आज भी सदाचारसम्पन्न विद्वान्, कांचीकामकोटिपीठ, शृंगेरी, पुरी, द्वारिका एवं ज्योतिर्मठके शङ्कराचार्य, काशीके स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सत्पुरुष विद्यमान हैं। उनका मत इस विषयमें क्यों नहीं लिया जाता?

ब्रिटिश पार्लमेंटमें धर्मविषयक कोई बिल नहीं पेश किया जा सकता, जबतक कि पादरियोंकी कमेटी उसे जाँच न ले और यह न कह दे कि ईसाई-धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका इससे कोई विरोध नहीं है। ऐसी ही एक कमेटी भारतवर्षके पण्डितोंकी हो, यह और भी अधिक आवश्यक है। कारण—

(१) ब्रिटिश पार्लमेंटमें गैर-ईसाई सदस्य बहुत ही कम हैं। पर भारतकी व्यवस्थापिका सभाओंमें अहिंदुओंकी सैकड़ावारी उससे बहुत अधिक है।

(२) हिंदुओंके उपनिषद्, धर्मशास्त्रादि शास्त्रसाहित्य ईसाइयोंके धार्मिक साहित्यकी अपेक्षा बहुत अधिक विशाल और गूढ़ हैं।

(३) आधुनिक हिंदुओंको विदेशी शिक्षा मिली है, जिससे वे अपनी धार्मिक परम्परासे विच्छिन्न हो गये हैं। शास्त्रोंके वास्तविक अभिप्रायको समझनेमें उनको भ्रम हो, यही अधिक सम्भव है।

यदि ऐसे आधुनिक सुधारक यह समझें कि सनातनियोंका पक्ष गलत है और ये सब सदाचारसम्पन्न विद्वान्, आचार्य और सत्पुरुष गलती करते हैं तो उचित यही है कि वे जिस ढंगकी मूर्ति-पूजा ठीक समझते हों, वही ढंग अपने लिये स्वीकार करें। वे चाहें तो अपने अलग मन्दिर बना सकते हैं और अन्त्यजोंके साथ बैठकर पूजा कर सकते हैं। यदि अन्त्यज अपने लिये अलग मन्दिर चाहते हों तो सनातनी अलग मन्दिर बनवानेमें उनकी सहायता कर सकते हैं। ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें कि अन्त्यजोंने शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर परम आध्यात्मिक उन्नति की है। महाभारतके धर्मव्याधकी बात हम पहले कह आये हैं। चिदम्बरम्के नन्द, महाराष्ट्रके चोखामेला, बङ्गालके हरिदास, कर्णाटकके हरिदास, युक्तप्रदेशके रैदास आदि

अनेक संत भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें अंत्यज जातियोंमेंसे निकले हैं। मन्दिर-प्रवेशके निषेधने उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कोई बाधा नहीं डाली।

सनातनियोंकी जो पूजा-पद्धति है, उसमें हमारे सुधारकोंको कोई हस्तक्षेप न करना चाहिये। ऐसी कोई नयी बात न चलानी चाहिये, जो सनातनियोंकी दृष्टिमें मन्दिरोंको भ्रष्ट करनेवाली है। यह कहना बिल्कुल बेकार है कि 'सनातनी अंत्यजोंके प्रवेशसे मन्दिर भ्रष्ट होते हैं, यह विचार छोड़ दें।' बात यह है कि वे ऐसा समझते हैं। बहुसंख्यकोंके वोटसे कुछ नहीं होता। फिर बहुसंख्यकोंको यह अधिकार नहीं है कि शास्त्रीय पद्धतिसे पूजा करनेवाले अल्पसंख्यकोंका परम्परागत अधिकार वे छीन लें।

अंग्रेजी कानूनके इतिहासमें यह बात मिलती है कि एक नगर था, जिसमें रोमन कैथलिक संप्रदायके लोग बसते थे। वहाँ एक गिरजाघर बना। रोमन कैथलिक ढंगसे वहाँ उपासना चलती थी। पीछे उस नगरके अधिवासियोंमेंसे बहुतोंने प्रोटेस्टैंट संप्रदाय स्वीकार कर लिया। इन लोगोंने यह आन्दोलन उठाया कि गिरजाघरमें अब प्रोटेस्टैंट संप्रदायके अनुसार उपासना होनी चाहिये; क्योंकि प्रोटेस्टैंटोंका बहुमत है। मामला कोर्टके सामने आया। कोर्टने फैसला दिया कि जबतक एक भी रोमन कैथलिक ऐसा रहेगा, जो कहे कि रोमन कैथलिक ढंगसे ही उपासना होनी चाहिये, तबतक गिरजाघरकी उपासना-पद्धतिमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अबतक जो परिपाटी चली आती है, उससे यही निश्चित होता है कि इन प्राचीन मन्दिरोंके संस्थापकों और धन देकर उनकी सहायता करनेवालोंका यही उद्देश्य था कि इन मन्दिरोंमें शास्त्रकी रीतिसे ही पूजा-अर्चा हो और जिन लोगोंका प्रवेश निषिद्ध हो, उन्हें इनमें प्रवेश न करने दिया जाय। मन्दिरोंके प्रतिष्ठापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करनेका ट्रस्टियोंको कोई अधिकार नहीं है। संस्थापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध ट्रस्टियों या जनताके बहुसंख्यकोंकी इच्छा चलने नहीं दी जा सकती।

अंत्यजोंमेंसे अधिकांश लोग मन्दिर-प्रवेश नहीं चाहते। बहुतोंने वैसा स्पष्ट कहा भी है। वे चाहते हैं, राजनीतिक अधिकार और आर्थिक सम्पन्नता। सनातनियोंको इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

मन्दिर-प्रवेशसे मन्दिरोंकी क्या गति होगी, यह भी हमें समझना चाहिये। जब मन्दिरोंमें अंत्यज घुसते हैं, तब उन मन्दिरोंको सनातनी, सुधारक और अंत्यज—तीनों ही छोड़ देते हैं। सनातनी इसलिये छोड़ते हैं कि मन्दिर भ्रष्ट हो गये। सुधारकों और अंत्यजोंको मन्दिरोंसे कुछ मतलब ही नहीं है, वे क्यों जाने लगे?



हिंदुओंका भाग्य

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश')

गौतम, जाबालि, व्यास, वामदेव, वाल्मीकि,
कपिल, कणाद-से महान ब्रह्मज्ञानी थे।
अर्जुन-से वीर, अम्बरीषके समान भक्त,
हरिश्चन्द्र, कर्णके समान यहाँ दानी थे॥
नारद-से संत, सती सीता-अनुसूया-सम,
सत्य-सदाचार-पूर्ण एक-एक प्रानी थे।
ऐसा था हिंदुओंके भाग्यका अतीत काल,
सुयश यहाँके देवलोककी कहानी थे॥

स्पर्शास्पर्श-विवेक

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक जो आर्य-धर्मका प्रधान अङ्ग है, उसके विषयमें वर्तमान राजनैतिक जगत्में शास्त्रीय ज्ञान न होनेके कारण अनेक शङ्काओं और उपद्रवोंका सामना धार्मिक जगत्को करना पड़ रहा है। दर्शन-शास्त्रके न जाननेसे ही लोगोंको ऐसी बातोंपर सन्देह हो सकता है। वस्तुतः आर्य जातिका शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित है। शरीरमें पाँच कोश हैं, जिनसे आत्मा ढका रहता है। वे अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष कहलाते हैं। इन पाँचोंको साधारण रीतिसे समझनेके लिये यह इङ्गित किया जाता है कि अन्नके सहारे जो घटता-बढ़ता है, उसे अन्नमय कोष कहते हैं। अन्नमय कोषका जो संचालन करता है, उसे प्राणमय कोष कहते हैं; प्राणमय कोषको जो चलाता है और जो मनके द्वारा व्यवस्थित रहता है, उसे मनोमय कोष कहते हैं। मन उसका केन्द्र है। मनको जो सदसद्विचारके द्वारा पथप्रदर्शन करके चलाता है, वह विज्ञानमय कोष कहलाता है। बुद्धितत्त्वके परे आत्माकी स्थिति शास्त्रने मानी है—जैसे **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** (गीता ३।४२) और परमात्मासे जीवात्माको अलग करनेवाला द्वैतभावोत्पादक पञ्चम आनन्दमय कोष कहलाता है। इन पाँचो कोषोंको मलिन करनेके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाँच कारण हैं। जिन अपवित्र स्थूल पदार्थोंके द्वारा अन्नमय कोष अपवित्र होता है, उनको मल कहते हैं। प्राणमय कोषको मलिन करनेवाला विकार कहलाता है। मनोमय कोषमे जो विषमता उत्पन्न करता है, उसे विक्षेप कहते हैं। विज्ञानमय कोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे आवरण कहते हैं। आनन्दमय कोषमे जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे अस्मिता कहते हैं। अस्मिता आत्मस्वरूपको ढकती है तथा जितनी ही अस्मिताकी अभिवृद्धि होती है, उतना ही अज्ञान बढ़ता जाता है। इन पाँचो प्रकारके कोषोंमे (शरीरोंमे) पाँच प्रकारकी मलिनता न बढ़ने पाये, इसीका नाम शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक है। इस बातको मीमांसाशास्त्रने अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस दार्शनिक रहस्यको विशेष स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

धोनेसे तथा सचैल (वस्त्रसहित) स्नानादि करनेसे अन्नमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। यह स्पष्ट ही है कि शव आदिके स्पर्शसे वह मलिन होता है। जब मृत देहसे प्राणमय कोष अन्य कोषोंके साथ लोकान्तरमें चला जाता है, तब स्वतः उसमें प्राणमय कोषका अभाव होनेसे शवस्पर्शकारीके प्राण खिंच जाते हैं। इसीलिये शवस्पर्शकि लिये स्नान, अग्नि-सुवर्ण आदिका स्पर्श करके अपने प्राणमय कोषको पवित्र करनेकी विधि शास्त्रोंमे वर्णित है। देवमन्दिरस्थ मूर्ति आदिमे जो पीठ बनता है, वह प्राणमय कोषकी क्रियाका ही परिणाम है। आर्यजाति उसी पीठमें व्यापक दैवी शक्तिकी पूजा किया करती है। जहाँ चेतन शक्तिका विकास होता है, उसीको पीठ कहते हैं। जिस पीठमें जैसी संस्कारपरम्परा रहती है, विरुद्ध स्पर्श-द्वारा उसको नष्ट करनेसे पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होता है। मनोमय कोषके मलिन होनेका उदाहरण सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, अशौचादि समझना उचित है। सूर्य और चन्द्रकी शक्तिका प्रभाव जो मनोमय कोषपर रहता है, उसमें ग्रहणसे बाधा होती है; इसलिये उसमें सामयिक मलिनता आती है। स्नान, दान, जपादिद्वारा उस मलिनताको दूर किया जाता है। अशौचादिके द्वारा मनोमय कोषमें जो अपवित्रता होती है, वह श्राद्ध आदि-द्वारा दूर होती है। विज्ञानमय कोषकी अपवित्रता कुसंगादि-से होती है। इसको दूर करनेसे तथा सत्संगति करनेसे विज्ञानमय कोष पवित्र होता है। इसी कारण शास्त्रोंमें साधुसंगकी बड़ी महिमा है और अस्मिता जो जीवभावका मूल कारण है, उसकी वृद्धि होनेसे आनन्दमय कोषमें अपवित्रता बढ़ती है। निष्काम कर्म, ईश्वर तथा गुरुमें अहैतुकी भक्ति और ज्ञानके द्वारा आनन्दमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। ऐसे शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेककी महिमा न समझकर अज्ञलोग स्वयं विपथगामी होते हैं तथा समाजको भी विपद्ग्रस्त करते हैं। आशा है, इन थोड़े उदाहरणोंसे विज्ञलोग सचेत होकर समाजके अमङ्गलका कारण न बनेंगे, और दैवी जगत्को अप्रसन्न करके अपना अमङ्गल नहीं करेंगे। मनमाने निरंकुश होकर काम करनेसे विपत्ति अवश्य भोगनी पड़ती है और सोच-समझकर काम करनेसे सब ओर मङ्गल होता है। 'सूर्योदय'



वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

इतिहासके अनुसार मेगास्थिनिस् पश्चिम एशियाके ग्रीक-सम्राट् सेल्यूकसके राजदूत थे। वे ईसाके पूर्व चतुर्थ शताब्दीके शेष भागमे (आनुमानिक ३०२) मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तकी राजसभामें आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारतका एक सुन्दर और विशद विवरण लिखा था; परंतु दुःखका विषय है कि कालक्रमसे उसका अधिकांश लुप्त हो गया है। स्ट्रैबो, डियोडोरस (Strabo, Diodorus) इत्यादि विभिन्न लेखकोंके ग्रन्थोंमें उद्धृत उसके अंशमात्र ही आधुनिक कालमें उपलब्ध हैं।

जहाँ-जहाँ मेगास्थिनिस् सुनी हुई बातोंपर निर्भर रहे, वहाँ-वहाँ कुछ त्रुटियाँ रहनेपर भी समष्टिरूपसे उनका वर्णन विश्वसनीय है। उदाहरणस्वरूप खेदामें हाथी पकड़नेके विषयपर उनका वर्णन अत्यन्त रोचक है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे उनके विवरणका मूल्य अपरिमेय है। उसका कारण यह है कि भारतवर्षके सम्बन्धमे उनके पूर्व किसी भी विदेशीका विश्वासयोग्य लेख कम मिलता है।

मेगास्थिनिसके लेखमें है कि भारतमें सात जातियाँ थीं—दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य और परिदर्शक। इस वर्णनमें अवश्य ही भूल है। कहना नहीं होगा कि चन्द्रगुप्तके समयमें भारतवासी (कुछ बौद्धोंको छोड़कर) सनातन वैदिक-धर्मावलम्बी थे।

इतिहासके वर्तमान पाठ्य-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त सात जातियोंका तो उल्लेख किया जाता है; किंतु आश्चर्यका विषय है कि इसके बाद मेगास्थिनिसने जो कुछ लिखा, उसपर तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य विद्वान् एवं उनके अनुयायी यह बताना चाहते हैं कि भारतमें प्राचीन कालमें जन्मगत वर्ण अथवा जातिभेद नहीं था; यदि जातिभेद था तो कर्मद्वारा। और विभिन्न जातियोंके बीच विवाहमें कोई बाधा नहीं थी! इस प्रकारके भ्रान्त विचार कई इतिहासों तथा अन्य ग्रन्थोंमें प्रकट किये गये हैं।

परंतु मेगास्थिनिसका कहना है कि 'किसीको न तो अपनी जातिके बाहर विवाह करनेकी और न अपनी वृत्तिको छोड़कर अन्य वृत्ति ग्रहण करनेकी अनुमति है। उदाहरणार्थ—योद्धा कृषक नहीं बन सकता और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।'

वे अन्यत्र लिखते हैं कि 'अपनी जातिके बाहर किसीके भी विवाहका अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसीको भी अपनी वृत्ति किंवा व्यवसायका परिवर्तन नहीं करने दिया जाता। अथवा कोई एकाधिक वृत्तिको नहीं ले सकता। केवल दार्शनिकोंके लिये ही इसका व्यतिक्रम होता है। दार्शनिक धार्मिक हैं, इसलिये वे वैशिष्ट्य भोग करते हैं।'

'इस देशकी रीतिके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। उदाहरणार्थ—कृषक शिल्पी जातिकी किसी स्त्रीसे विवाह नहीं कर सकता। प्रथानुसार किसी मनुष्यको दो प्रकारकी वृत्तियाँ करना मना है। कोई एक जातिसे दूसरी जातिमें प्रवेश नहीं कर सकता। यथा—यदि कोई पशुपालक है तो कृषक नहीं बन सकता। सभी जातियोंके लोग त्यागी बन सकते हैं। कारण, त्यागीका जीवन सहज नहीं वरं सर्वापेक्षा कठोर ही है।'*

उपर्युक्त लेखसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आजसे २२००-२३०० वर्ष पूर्व भारतमे वर्ण अथवा जाति जन्मगत थी और कर्म भी जन्मानुसार ही था। यह निर्विवाद है कि

---

* "No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher, who for his virtue is allowed this privilege." (McCrindle: *Megasthenes*, pp. 85-86)

"No one is allowed to marry out of his own caste or to exercise any calling or art except his own: for instance, a soldier cannot become a husbandman, or an artisan a philosopher." (P. 41)

"The custom of the country prohibits intermarriage between the castes: for instance, the husbandman cannot take a wife from the artisan caste, nor the artisan from the husbandman caste. Custom also prohibits anyone from exercising two trades, or from changing from one caste to another. One cannot, for instance, become a husbandman if he is a herdsman, or become a herdsman if he is an artisan. It is permitted that the Sophist only be from any caste: for the life of the Sophist is not an easy one, but the hardest of all." (P. 218)

उस कालमें समाज मनुके विधानसे शासित होता था। यह एक भव्य वैदेशिकका लिखा हुआ निरपेक्ष प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण है। इसको किसी भी प्रकारसे उड़ा देना संभव नहीं है।

हमलोगोंमेंसे अधिकांशका ज्ञान नाटक अथवा उपन्यासोंमें सीमाबद्ध है। जिन लोगोंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक या छायाचित्र देखे होंगे, वे कहेंगे कि 'क्यों, चन्द्रगुप्त मौर्यके साथ तो यवनराज सेल्यूकसकी कन्या हेलेनका विवाह हुआ था?' किंतु 'हेलेन' सम्पूर्ण कविकल्पना है। इतिहासमें सेल्यूकसकी किसी भी कन्याका विवरण नहीं है, जिससे चन्द्रगुप्तका विवाह हो सकता था। वैदिक समाजकी कठोर नीति प्राचीन युगमें उल्लङ्घन नहीं की जा सकती थी।*

मेगास्थिनिस्ने तत्कालीन वर्णाश्रमधर्मके जो चित्र अङ्कित किये हैं, वे चित्ताकर्षक हैं। स्थानाभावसे संक्षिप्तरूपसे ही उनकी आलोचना की जाती है।

ब्राह्मण और श्रमण

मेगास्थिनिस्ने दार्शनिकोंके ब्राह्मण और श्रमण—ये दो भाग किये हैं।

(१) ब्राह्मण—गर्भसे ही ब्राह्मणोंके मन्त्र-संस्कार इत्यादि होते हैं। जन्मके बाद क्रमानुसार एक गुरुके बाद दूसरे और भी गुणवान् गुरुके समीप शिक्षा होती रहती है। आचार्यगण नगरोंके बाहर तपोवनमें बहुत सरल जीवन यापन करते हैं। वे कुश अथवा अजिनपर शयन करते हैं; मत्स्य, मांस या आमिष-आहार वर्जित है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, गम्भीर तत्त्वोंपर उपदेश सुनते और शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ३७ वर्ष व्यतीत करनेके उपरान्त ब्राह्मण गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं; तबसे वे सूक्ष्म वस्त्र परिधान करते तथा सामान्य स्वर्णालंकार धारण करते हैं। उष्णवीर्य अथवा मसाला दिया हुआ खाद्य निषिद्ध है। एकाधिक स्त्रीसे विवाह चलता है। भारतमें दास-प्रथा नहीं है, इसलिये अधिक परिजनका प्रयोजन है।

ब्राह्मणोंकी पद-मर्यादा सर्वोच्च है, किंतु जातिके हिसाबसे उनकी जनसंख्या सबमें अल्प है; जो यज्ञ अथवा अन्य धर्म-कर्म करना चाहता है, वह उनको नियुक्त करता है।

वर्षके प्रारम्भमें तोरणद्वारके सामने राजा एक महती सभामें ब्राह्मणोंको सम्मिलित करते हैं। इस वर्ष यदि किसी पण्डितके द्वारा कामके तत्त्वपर कुछ लिखा होता है अथवा खाद्य, खेती अथवा पालतू पशुओंकी उन्नतिके विषयपर किसी नये उपायका अनुसन्धान किया गया होता है या जनसाधारणके उपकारकी किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त हुआ होता है तो जनसाधारणके सामने सभामें उसकी घोषणा की जाती है।

ब्राह्मणगण मृत्युके विषयपर आलोचना करते हैं। मृत्यु भी एक दूसरे जन्म-सरीखी वस्तु समझी जाती है। वे जगत्को माया समझते हैं। मेगास्थिनिस्ने जन्म, आत्माकी अमरता, पाप-पुण्यके फल प्रभृति तत्त्वोंका विशदरूपसे वर्णन किया है।

ब्राह्मणगण तपस्या करते और ब्रह्मज्योतिके दर्शन करते हैं।

वे समय-समयपर चितारोहणसे प्राणत्याग कर देते थे। स्फाइनेस (Sphines) नामक एक ब्राह्मण तक्षशिलासे माकिदनीय वाहिनीके साथ गया था। ग्रीक लोगोंने उसका नाम कलनस् (Kalanos) रक्खा। (मालूम होता है कि वह 'कल्याण' कहकर आशीर्वाद देता होगा।) वह जितेन्द्रिय नहीं था एवं ग्रीकोंके साथ भोजनादि करता था। इसलिये उसके देशवासियोंने उसको धिक्कार दिया। वह फारस देशमें बीमार पड़ा और उसने ग्रीकसेनाके सामने जलती हुई चितापर चढ़कर प्राणत्याग कर दिया, किंतु जलते समय उसके किसी भी यन्त्रणाका चिह्न नहीं दिखायी दिया। मालूम होता है कि वह चितापर आसन और समाधि लगाकर बैठा था।*

उपर्युक्त घटनासे यह स्पष्ट होता है कि आहार-विहारका नियम भारतमें उस समय भी बड़ा कठोर था। आजकल यह कहा जाता है कि 'इस समय हमारा धर्म केवल चौके-चूल्हेमें

* "There seems however to be no room in his (Seleucos') family circle, as we otherwise know it, for any relationship of this kind. × × What is implied is a *convention*, a *jus connubii* between the two royal families. In the land of caste, a *jus connubii* between the two peoples is unthinkable." (Cambridge History, p. 431).

* "Suddenly in Persia he (Kalanos) announced his resolution to live no longer. × × × In sight of all the army he ascended the pyre and adopted the due posture. × × × As the flames mounted and wrapped the figure of the sage, the onlookers saw it still motionless. Thus was the way in which Kalanos chose to take leave of the Yavanas."

(Cambridge History, p. 381) (Arrian VII. 3, Strabo XV. C. 717)

ही आ घुसा है। कभी ऐसा नहीं था, सबके साथ खानपान प्रचलित था। आजकल इस जातिभेद और छूआछूतके कारण ही हमारा पतन हुआ है।' किंतु मेगास्थिनिसके वर्णनसे यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी हर किसीके साथ खान-पान वर्जित था और भोजनमें पवित्रताकी रक्षाकी समुचित व्यवस्था थी।

मेगास्थिनिसका कहना है 'और जो सब कार्य किये जाते हैं, उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—वे (भारतीयगण) सदा ही अकेले आहार करते हैं। सहभोजके लिये कोई निर्दिष्ट समय नहीं है।'

'भारतीय जब भोजन करने बैठते हैं, तब प्रत्येकके सामने एक तिपायी चौकी रक्खी जाती है। उसपर एक स्वर्णपात्र रक्खा जाता है, जिसमें पहले सिद्ध चावल परोसे जाते हैं (चावलोंको जौकी भाँति पकाया जाता है)। तदनन्तर भारतीय प्रथासे बनायी हुई अन्यान्य खाद्य वस्तुएँ परोसी जाती हैं। *

स्वर्णपात्रके उल्लेखसे प्रतीत होता है कि यह वर्णन राजा अथवा सम्पन्न लोगोंके सम्बन्धमें है; किंतु तिपायी चौकी अलग-अलग रक्खी जाती थी, इस बातपर लक्ष्य करना चाहिये। सब अकेले भोजन करते थे। एक ही आसनपर एक साथ बैठकर किया गया भोजन उच्छिष्ट माना जाता था। यूनान देशमें सहभोजकी प्रथा थी।

आजकल भी महाराष्ट्रादि प्रान्तोंमें आसनके सामने पाटेपर पात्र रखकर भोजन करनेका नियम है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥' महाभारतमें भी जगह-जगह आहारके सम्बन्धमें कठोर नियमोंका उल्लेख है—

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान्।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम्॥
तथोच्छिष्टमथान्योन्यं संप्राशेन्नात्र संशयः।
(महा० अनु० १३६। २३-२६)

शूद्रके शूद्रके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसका कुलक्षय, वैश्यके वैश्यके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसके पशु और बान्धवका, क्षत्रियके क्षत्रियके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे श्री-का नाश एवं ब्राह्मणके ब्राह्मणके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उनके तेजका नाश होता है। अतएव एक दूसरेका जूठा खाना यानी कई लोगोंका एक पात्रमें भोजन करना अत्यन्त अवाञ्छनीय है।' आजकल तो एक-दूसरेका जूठा खानेमें लोग गौरव समझते हैं!

९०० वर्षके बाद आनेवाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांगने लिखा है कि 'आहारके पूर्व सब लोग स्नान करते हैं। पूर्वके भोजनावशिष्ट जूठे पदार्थोंका कभी भी व्यवहार नहीं होता। एकके पात्र दूसरेको भोजनके समय नहीं दिये जाते।'

(२) श्रमण—('श्रमण' का अर्थ यहाँ बौद्ध भिक्षु नहीं, संन्यासी है) श्रमणोंमें हैलोबिये (Hylobioi) श्रेष्ठ हैं। वे वनमें निवास करते हैं, कन्द मूल-फल खाते हैं। वल्कल पहनते और अञ्जलिसे जलपान करते हैं। वे ब्रह्मचारी हैं, मद्यपान नहीं करते। राजालोग दूतोंके द्वारा इनसे वार्तालाप एवं परामर्श करते हैं। वे इनकी सहायतासे भगवान्‌की आराधना करते और कृपाभिक्षा माँगते हैं।

सिकन्दरने पंजाबमें बहुत-से योगी पुरुषोंको देखा था। मन्दनीस (Mandanes) नामक एक योगी बड़े जितेन्द्रिय थे। एक बार सिकन्दरने उनको अपने पास बुलाया, पर उन्होंने उसके आवाहनको अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि जीवन, मृत्यु या दण्ड—किसीमें भी उनका अनुराग या विराग नहीं है और न उन्हें सिकन्दरसे कोई भय ही है। सिकन्दरने उनकी बड़ी प्रशंसा की। ओनसीक्रिटसने भी तक्षशिलाके निकट योगियोंके दर्शन किये थे। *

चिकित्सकोंका स्थान इनके बाद ही है। वे अति सरल रूपसे जीवन यापन करते हैं। उनका आहार चावल और जौ है। बिना माँगे वह अपरिचितरूपसे उनको मिल जाता है।

* "But other things they do, which one cannot approve: for instance, that they eat always alone, and that they have no fixed hours when meals are to be taken by all in common. × × ×" (pp 68-69)

"When the Indians are at supper, a table is placed before each person, this being like a tripod. There is placed upon it a golden bowl, into which they first put rice, boiled as they would boil barley, and then they add many dainties prapared according to Indian recipes." (McCrindle: *Ancient India, Megasthenes*, p. 72)

* "Onesicritus found fifteen ascetics some ten miles from the city (Texila) sitting naked and motionless in the sun so burning that one could not walk over the stones with bare feet."
(Cambridge History of India, p. 358)

वे ओषधिके प्रभावसे वन्ध्यत्व-निवारण और इच्छानुरूप पुत्र या कन्याका निर्माण गर्भमें करा सकते हैं; किंतु वे ओषधिकी अपेक्षा आहारके संयम और पथ्यसे ही अधिक रोगोंका मोचन करते हैं। मलहम और प्रलेपकी बहुत ही उत्कृष्ट ओषधियाँ उनके पास हैं।

भारतवासी सर्पदंशन आरोग्य कर सकते हैं। सिकन्दरके शिविरमें साँपके कई ओझोंको एकत्र किया गया था।

स्त्रियाँ भी शास्त्रचर्चा करती हैं और ब्रह्मचारिणी होकर तपोवनोंमें निवास करती हैं।

क्षत्रिय और राजागण

क्षत्रिय एवं राजाओंके विषयमें मेगास्थिनिस्ने लिखा है कि 'राजाके लिये दिवानिद्राका नियम* नहीं है।' (पृ. ७०)

राजा दिनभर न्यायसभामें रहते हैं। वहाँका कार्यक्रम कभी भी बंद नहीं रहता। यहाँतक कि जब काठके दंड (सिलिन्डर) से राजाका गात्र-मर्दन किया जाता है, उस समय भी राजकार्य बंद नहीं रहता। इधर चार सेवक मर्दनका कार्य करते रहते हैं और राजा अभियोग सुनते रहते हैं।

यज्ञ (इससे अनुमान होता है कि संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय थे; कई ऐतिहासिकोंका यही मत है) अथवा पूजा करनेके लिये वे महलके बाहर जाया करते हैं और इसके अतिरिक्त केवल मृगयाके लिये ही बाहर जाते हैं।

इस विवरणके साथ १८०० वर्षोंके बाद विजयनगरके प्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेव रायकी दिनचर्या तुलनीय है।

मेगास्थिनिस्का कहना है कि 'भारतीयगण इसके अतिरिक्त और कई नियमोंका अनुसरण करते हैं। इसलिये वहाँ दुर्भिक्षका निवारण होता है। अन्य देशोंके लोग युद्ध-के समय साधारणतया भूमि और खेतोंको उजाड़ देते हैं, जमीनको खेतीके योग्य नहीं रहने देते। परंतु यहाँ किसान भूमिका कर्षण करता है। इस कारण यहाँके निवासी उनपर कोई उपद्रव करना अनुचित समझते हैं। पड़ोसमें युद्ध चलता रहता है, परंतु किसान बिना किसी बाधा-विपत्तिके अपना काम करते रहते है। दोनो पक्षोंके सैनिक परस्पर रक्तपात करते हुए भी खेतीमें लगे हुए लोगोंको किसी प्रकार भी सताना नहीं चाहते; इसके अतिरिक्त वे 'शत्रुओंके देशमें कभी आग नहीं लगाते और न वृक्षोंको ही काटते हैं।'

* दिवानिद्रा सभीके लिये मना थी।

कृषकवर्ग

कृषक द्वितीय जाति है। समाजमें इन्हींकी जन-संख्या अधिक है। इनका स्वभाव अति शान्त और भद्र है। इनको युद्धवृत्तिसे छुटकारा दिया जाता है और ये निर्भय होकर अपनी जमीनमें खेती करते हैं। वे कभी नगरमें नहीं जाते। इस कारण कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही समय एक ही स्थानमें सेना तो युद्धसज्जासे सज्जित होकर प्राणपणसे युद्ध कर रही है और उसीके निकट अन्य लोग पूर्ण निर्भय होकर अपनी रक्षाका भार सेनाके ऊपर छोड़कर खेती, खुदाई आदि कार्य कर रहे हैं।' (पृ० ८३ से ८४)

उस समय खेतीका अधिकांश कार्य शूद्रोंके हाथमें ही था। यह लक्ष्यका विषय है कि उनको युद्ध नहीं करना पड़ता था। इधर तो यह हाल था और उधर ग्रीक जाति युद्धमें किसी देशपर विजय प्राप्त करनेपर उस देशकी कैसी दुर्दशा करती थी, इसका वर्णन प्रसिद्ध अमेरिकन अध्यापक विल डुरेन्टकी भाषामें पढ़िये—'(ग्रीस देशमें) विजय किये हुए नगरोंको लूटना, घायलोंकी हत्या करना, जो लोग शुल्क नहीं दे सकते, ऐसे बन्दियोंको (चाहे वे योद्धा हों या असामरिक हों) गुलामोंमें परिणत करना, सारे घरों, फलोंके वृक्षों और तमाम खेतीको जला डालना, समस्त पालतू पशुओंका वध और अगली खेतीके बीजतकका विध्वंस कर देना ग्रीस देशके अन्तर्वर्ती युद्धोंमें भी एक नियमित व्यापार था।'*

यह कहना युक्तियुक्त है कि कूटनीतिज्ञ और अधर्मयुद्ध-में प्रवृत्त विदेशियोंके साथ धर्मयुद्ध करनेसे ही वैदिक जाति बार-बार पराजित हुई है। शत्रुओंकी घुड़सवार सेनाने पीछेसे या बगलसे पैदल सेनापर भीषण आक्रमण करके उसके व्यूहको तोड़ दिया; किंतु पिछले दिनों पहलेतक भी भारतीय हिंदुओंने सम्मुख युद्धका त्याग नहीं किया। आज भी कूटनीतिकी चालबाजीमें हमलोग भूल ही करते जा रहे हैं!

* 'It is a regular matter, even in civil wars, to sack the conquered city, to finish off the wounded, to slaughter or enslave all unransomed persons and all captured non-combatants, to burn down the houses, the fruit trees, and the crops, to exterminate the live stock, and to destroy the seed for future sowings.' (Will Durant, *Life of Greece*, p. 226)

मेगास्थिनिसके वर्णनसे ज्ञात होता है कि साढ़े बाईस सौ वर्ष पूर्व भारतमें वर्णाश्रम-व्यवस्था दृढ़रूपसे प्रतिष्ठित थी। वर्ण एवं जातिभेद जन्मगत था, कर्मगत नहीं; इतना ही नहीं, कोई भी मनुष्य अपने वर्णगत कर्मका त्याग नहीं कर सकता था। दूसरी जातिमे विवाह निषिद्ध था। परंतु अनुलोम-विवाहमें बाधा नहीं थी। ब्राह्मणगण ब्रह्मचर्य-समावर्तनके बाद गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमका पालन करते थे। तपोवन और गुरुगृह कविके द्वारा अङ्कित काल्पनिक चित्र नहीं हैं। सत्य ही तपोवन और गुरुगृह भारतमें उस समय थे। वर्णसंकरता एवं कर्मसंकरताने उस समय प्रबल रूप धारण नहीं किया था। सप्तम शताब्दीमें चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगने भारतके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसमें भी यह बात मिलती है। स्मरण रखना चाहिये कि मेगास्थिनिस् विदेशी था और संभवतः भारतकी भाषासे अनभिज्ञ था। यहाँ एक आगन्तुकके नातेसे उसने कुछ दिनोंतक निवास किया था। और उसके लेख भी पूर्ण रूपमें नहीं मिलते। परंतु ह्वेनसांगने तो कई वर्षोंतक भारतमें निवास किया था और उसने यहाँकी भाषा एवं शास्त्रोंका भी अध्ययन किया था। उसने भारतके बहुत-से स्थानोंमें भ्रमण भी किया था। इस कारण उसके लेखोंका मूल्य सामान्य नहीं है। वह बौद्ध था। इसलिये यह भी निश्चित है कि उसने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको पक्षपातकी दृष्टिसे नहीं देखा होगा।

ह्वेनसांगका कहना है कि 'विभिन्न जातियोंमें विवाह नहीं होता। प्रथम जाति ब्राह्मण धार्मिक पुरुष हैं; वे धर्मरक्षा करते हैं। पवित्र जीवन यापन करते हैं एवं अत्यन्त कठोर नियमोंका पालन करते हैं। द्वितीय क्षत्रिय राजाओंकी जाति है। वे युग-युगसे शासन करते आ रहे हैं। कर्तव्यपरायण एवं दानशील हैं। तृतीय वैश्य वणिक् जाति है। वे वाणिज्य-मे क्रय-विक्रय करते हैं एवं देश-विदेशोंमे लाभजनक व्यवसाय करते हैं। चतुर्थ शूद्र कृषिजीवी हैं। वे खेती और खेतके कामोंमें परिश्रम करते हैं। इन चारों वर्णोंमे जातिकी शुद्धता अथवा अशुद्धतासे अपना-अपना स्थान निश्चित होता है। निकट आत्मीयोंमे विवाह निषिद्ध है। कोई स्त्री एक विवाह-के बाद पुनः दूसरा स्वामी ग्रहण नहीं कर सकती।*

'ब्राह्मणगण चारों वेद पढ़ते हैं। आचार्योंको निपुण रूपसे वेदोंके गम्भीर और गोपन तत्त्वोंको सीखना पड़ता है और उसके सूक्ष्मतम अर्थकी उपलब्धि करनी पड़ती है।

'जब शिक्षा शेष हो जाती है और तीस वर्षकी अवस्था हो जाती है, उस समय उनके चरित्रका गठन हो जाता है एवं वे ज्ञानपक्व हो जाते हैं। किसी वृत्तिके प्राप्त करनेपर पहले वे अपने गुरुको उनके परिश्रमके लिये धन्यवाद देते हैं। कोई-कोई प्राचीन शास्त्रोंमें गम्भीर ज्ञान लाभकर उच्चस्तरकी शास्त्रालोचनाके द्वारा संसारसे पृथक् होकर जीवन व्यतीत करते हैं और चरित्रके सरल भावको अक्षुण्ण रखते हैं। वे पार्थिव व्यापारसे ऊँचे स्तरपर उठ जाते हैं और जगत्की प्रशंसा अथवा निन्दासे परे पहुँच जाते हैं। उनके नाम विख्यात होते हैं। राजालोग उनका समादर करते हैं, परंतु वे उन्हें राजसभामें ले जानेमें असमर्थ होते हैं। इस देशके सम्राट् उनकी प्रतिभाके लिये उनका सम्मान किया करते हैं। जनसाधारण भी उनके यशका प्रचार करते हैं। सभी लोग उनकी भक्ति करते हैं। इसलिये वे उत्साह और निष्ठाके सहित किसी भी श्रमकी परवा न करके ज्ञानालोचना-में अभिनिवेश कर सकते हैं।'*

* "The first is called the Brahmans, men of pure conduct. They guard themselves in religion, live purely and observe the most correct principles. The second is called the Kshatrias, the royal caste. For ages, they have been the governing class. They apply themselves to virtue (humanity) and kindness. The third is called Vaisyas, the merchant class: they engage in commercial exchange, and they follow profit at home and abroad. The fourth is called Sudras, the agricultural class: they labour in ploughing and tillage. In the four classes, purity or impurity of caste assigns every one to his place. × × × They do not allow promiscuous marriages between relatives. A woman once married can never take another husband." (Beal: *Hiuentsang*, pp. 79-80)

* "The Brahmans study the four Vedashastras. The teachers must themselves have closely studied the deep and secret principles they contain, and penetrated to their remotest meaning."

"When they have finished their education, and have attained to 30 years of age, then their character is formed, and their knowledge ripe. When they have secured an occupation, they first of all thank their master for his attention. There are some, deeply versed in antiquity, who devote themselves to elegant studies, and live apart from the world, and retain the simplicity of their character. These rise above mundane pursuits, and are as insensible to renown as to the contempt of the world. Their name having spread afar, the Rulers appreciate them highly, but are unable to draw them to court. The Chief of the country honours them on account of their (mental) gifts, and the people exalt their fame and render them universal homage. This is the reason of their devoting themselves to the studies with ardour and resolution, without any sense of fatigue."

(Ibid., p. 83)

ह्वेनसांगने इस देशके कई प्रान्तोंमें भ्रमण किया था; परंतु उन्होंने घुणाक्षर-न्यायसे भी कहीं यह संकेत नहीं किया कि भारतमें वर्णभेद पूर्वकालमें कभी भी जन्मगत नहीं था, परंतु कर्मगत था।

वेद एवं आर्ष शास्त्रोंमें जन्मगत जाति-भेदके ही उल्लेख मिलते हैं। वर्णाश्रम भी भारतीय वैदिक (आर्य) सभ्यता और संस्कृतिकी विशेषता है। जो लोग जाति-भेदको एक निरर्थक व्यापार एवं समाजके लिये अहितकर समझते हैं, जिनके मतमें इसका कभी भी रहना उचित नहीं था और आज भी नहीं है, उनकी बात अलग है।

किंतु ऐसे भी कई लोग हैं, जो अपनेको शास्त्र माननेवाले बताते हैं, परंतु कहते हैं कि 'आहार-विहार इच्छानुरूप चलना चाहिये, उसमें किसी भेदकी आवश्यकता नहीं; जातिभेद रह सकता है, पर वह जन्मगत न होकर कर्मगत होना चाहिये।'

आज भारतमें जातिभेद है, यह प्रत्यक्ष सत्य है और यह जन्मगत है, इसमें भी कोई संदेह नहीं। प्राचीनतम ऐतिहासिक (विदेशियोंद्वारा सन्-तारीखसहित) साक्ष्यसे यह निःसंदिग्ध और सुस्पष्ट प्रमाणित है कि तेईस शताब्दी पूर्व भी जाति और वर्ण-भेद भारतमें था और यह जन्मगत था। ऐसा कोई सामान्य प्रमाण भी नहीं मिलता, जिसके आधार-पर यह कहा जाय कि किसी भी कालमें भारतमें जन्मगत जाति और वर्णभेद नहीं था। ऐतिहासिक कालके पहले अर्थात् प्रागैतिहासिक कालमें भी जातिभेद था ही।

वैदिक कालमें वर्णभेद था

जन्मगत वर्णभेद वैदिक युगमें भी था। वेद अनादि हैं। वेद-मन्त्र इतिहास नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वद्वर्गने अपौरुषेय वेदोंसे गवेषणाके द्वारा इतिहासके प्रमाण निकालनेका प्रयास किया है। उन्होंने वेदोपलब्धिके कालको 'वैदिक युग' की आख्या दी है। और ऋग्वेदको भारत तथा जगत्‌की प्राचीनतम ज्ञानसमष्टिके रूपमें स्वीकार किया है। ऋग्वेदको हम प्रागैतिहासिक समझते हैं।

वैदिक युगमें वर्णभेदके विषयपर प्रसिद्ध धुरन्धर वेदा-लोचक डाक्टर कीथ (Dr. Keith) ने भारतके केम्ब्रिज-इतिहासमें जो कुछ लिखा है, उसका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"विज्ञजनों (म्यूर, जिम्नर और वेवर आदि) के मतानुसार ऋग्वेदीय युगमें किसी प्रकारका भी जातिभेद नहीं था; किंतु आधुनिक कालमें क्रमशः बड़े जोरोंसे (जेल्मर, न्यूबर्गके मतानुसार) यह कहा जा रहा है कि वह (जाति-भेद) था। एक दृष्टिसे देखनेपर सत्य ही ऋग्वेदमें जाति-भेदका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।*

"इस मतमें (वेदोंमें जातिभेद नहीं है) कुछ सत्यता रहनेपर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'ऋग्वेद जातिसे मुक्त है' यह तत्त्व इसमें बहुत कुछ बढ़ाकर कहा गया है। प्रत्युत ऋग्वेदमें कोई भी वास्तविक प्रमाण नहीं है कि उस कालमें पुरोहित (ब्राह्मण) एक निरुद्ध और निषिद्ध-प्रवेश वंशगत जाति नहीं था। ब्राह्मण (ब्रह्माके पुत्र) शब्दसे ही वरं दिखता है कि पौरोहित्य साधारणतः पुरुषानुक्रमिक था। ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसीने पुरोहितका काम किया हो, इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।'†

'ऋग्वेदमें एक शासक क्षत्रियजातिकी कथा है, यह निःसंदेह है। एवं वैदिककालमें राजपद वंशगत था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं विश्—इन तीन श्रेणियोंमें समाज विभक्त था, इसका उल्लेख मिलता है।'‡

'इसपर विश्वास करनेके यथेष्ट कारण हैं कि ऋग्वेदीय

---

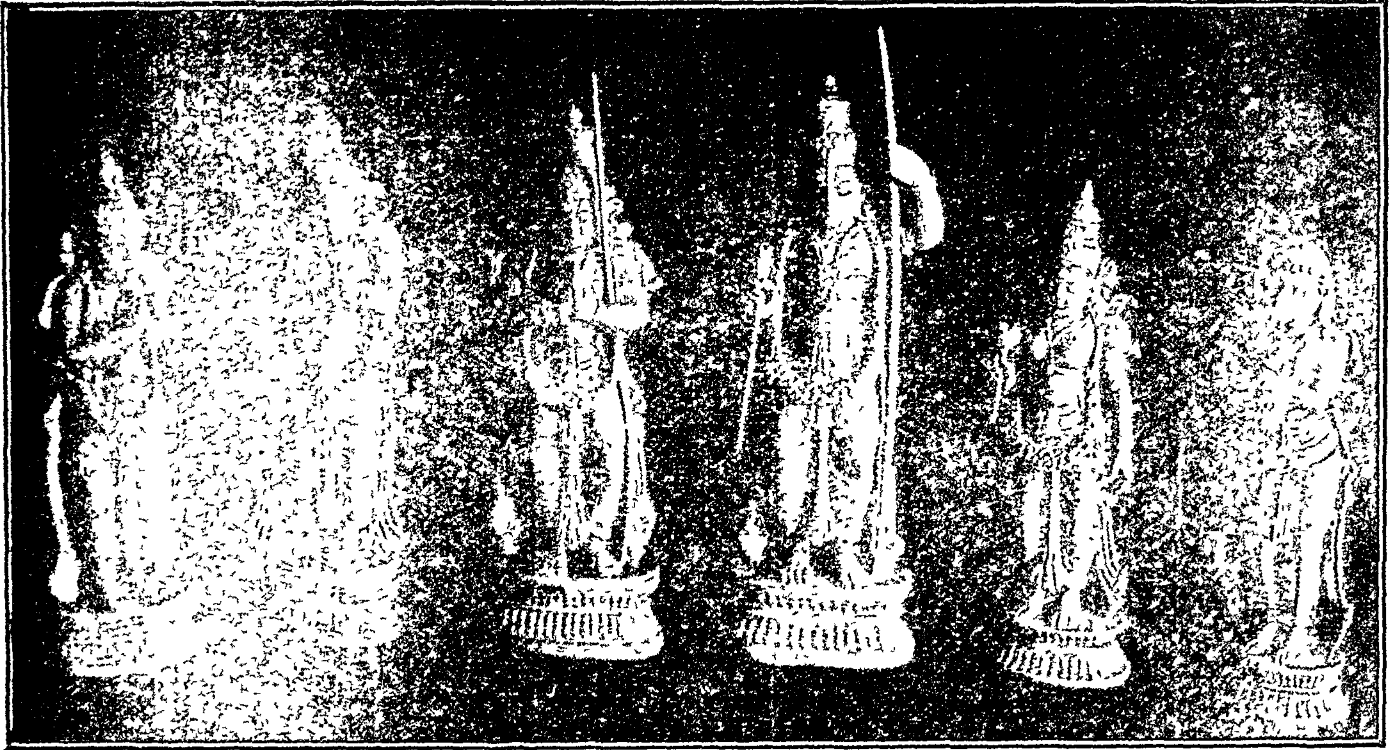
* "The existence of the Caste system in any form in the age of the Rigveda has been denied by high authority (Muir, Zimner, Weber), though it has been asserted of late with increasing insistence (Gelmer, Niubarg). In one sense, indeed, its presence in the Rigveda cannot be disputed."

(Keith: *Cambridge History*, p. 92).

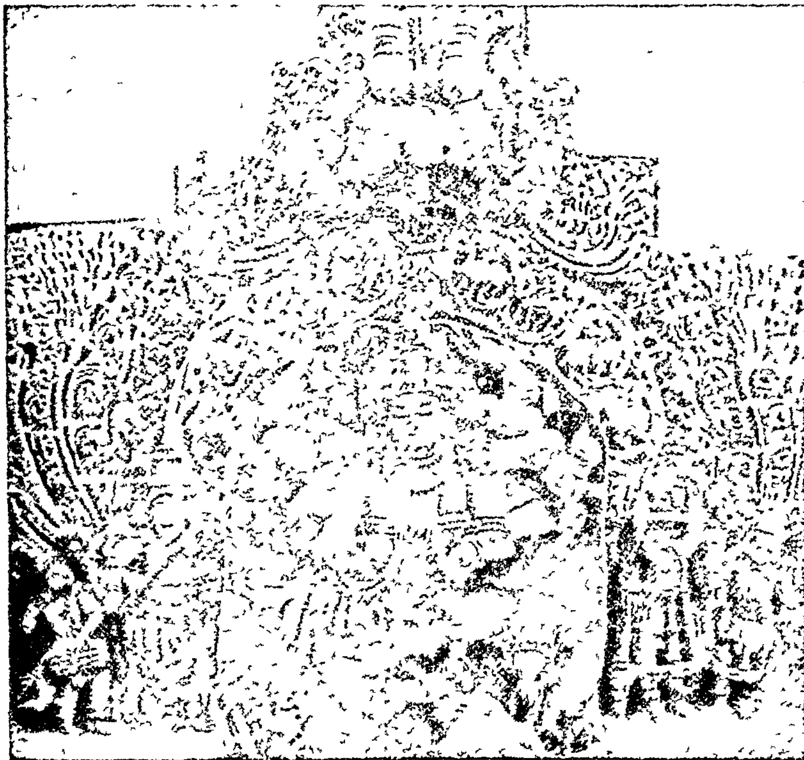
† "While there is much truth in the view, it must be admitted that it exaggerates the freedom of the Rigveda from caste × × × × Moreover, there is no actual proof in the Rigveda that the Priesthood was not then a closed hereditary class. The term 'Brahmana' (son of a Brahma) seems, on the contrary, to show that the priesthood was normally hereditary, and there is no instance which can be quoted of any person who is said to be other than a priest appearing to exercise priestly practices." (Ibid., p. 98)

‡ "× × The Rigveda certainly knows of a ruling class, the Kshattria, and the Vedic kingship was normally hereditary. × × There are traces, moreover, of the division of the tribe into the holy poor (Brahman), the kingly poor (Kshattria) and the commonalty (*Vis*)." (*Ibid.*, pp. 93-94).

रामपञ्चायत (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)



शत्रुघ्न भरत लक्ष्मण राम सीता हनुमान्



 गजासुर-संहार (प्रस्तरमूर्ति-अमृतपुर, मैसूर)



प्रसन्न गणपति (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौज



१७ अर्द्धनारीश्वर (प्रस्तरमूर्ति, मदुरा)



उमा-महेश्वर (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्, कलाविद्यालय)



अन्नपूर्णा देवी (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)

[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

युगमे पौरोहित्य (ब्राह्मण) एवं आभिजात्य (क्षत्रिय) वंशानुक्रमिक था'……'सगोत्र और निकट-सम्बन्धी (पितृ-मातृ-वंशके) लोगोंमे विवाह नही होता था । प्रथानुसार पुरुषको निज जातिमे ही विवाह करना पड़ता था । और जातिके बाहर विवाह तो निम्नतर जातिमे ही हो सकता था ।'*

'जातिका परिवर्तन करना सम्भव था कि नही, यह कठिन प्रश्न है । परिवर्तनके बहुत ही कम प्रमाण मिलते हैं । वैदिक शास्त्रमे ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी वैश्यने उन्नति करके ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व प्राप्त किया हो ।'†

'यजुर्वेदके कालमे जातिभेद दृढ़रूपसे ही वर्तमान था।'‡

'सम्भवतः शूद्रोंमे भी अपनी जातिमे ही विवाह-प्रथा प्रचलित थी ।'

'वैदिक आर्य एवं अनार्य दोनो ही अपनी-अपनी जातियोंमे विवाह करते थे ।'§

वेदोंमें मूर्ति-पूजा

वैदिक कालमे मूर्ति-पूजा नही थी, यह आधुनिक मत है; परंतु यह मत भी भ्रान्त है । वैदिक कालमे भी भगवान्‌की विभिन्न मूर्तियोंकी पूजा प्रचलित थी—यह एक स्थानमे इन्द्रकी मूर्तिकी उपासनाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है ।×

*'There is good reason to believe that in the period of the Rigveda the Priesthood and the Nobility were hereditary.' × × 'There shall be no marriage with agnates or cognates and they require that a man must either marry in his own caste, or if he marries out of the caste, it must be into a lower caste.' (Keith, in *Cambridge History*, p. 126)

†"The question of how far change of caste was possible raises difficult problems The evidence of any change is scanty in the extreme. × × There is no instance recorded in the Vedic texts of a Vaisya rising to the rank of a priest or prince.' (*Ibid*, p. 127)

‡"Caste system existed substantially in the time of Yajurveda." (*Cambridge History*, p. 55)

§"It is probable enough that among the Sudras themselves there were rules of endogamy. × × The Vedic Aryans and the aborigines alike married within the tribe". (P. 129)

×'On the other hand, fetishism is seen in the allusion already quoted to the use of an image of Indra against one's enemies." (*Cambridge History*, p. 106)

"The Rigveda records that in the opinion of the poet not ten coins was adequate price for an image of Indra to be used doubtless as a fetish." (*Ibid*., p. 97)

आधुनिक पाश्चात्य लेखकोंने पुरीधामस्थ श्रीजगन्नाथदेवकी काष्ठ-मूर्तिको बौद्ध-मूर्ति प्रमाणित करनेका प्रयास किया है । यह भी युक्ति बतायी जाती है कि जगन्नाथदेवकी रथयात्रा (विजय) बौद्ध मूर्तिके रथपर परिभ्रमणसे ली गयी है । परंतु ये सब मत भ्रान्त हैं । ऋग्वेदमे दारु-ब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम-मूर्तिका स्पष्ट उल्लेख है—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥
(ऋग्वेद १० । १५५ । ३)

अदः (दूरमे), यत् (जो), अपूरुषम् (जो पुरुष-द्वारा निर्मित नही है), दारु (काष्ठमय पुरुषोत्तमाख्य देव-शरीर), सिन्धोः (समुद्रके), पारे (तटपर), प्लवते (जलके ऊपर है), हे दुर्हण (स्तोता), तत् (वह), आरभस्व (अवलम्बन करो), तेन (उसके द्वारा), गच्छ परस्तरम् (उत्कृष्ट स्थान वैकुण्ठ) को प्राप्त हो ।

'हे उपासक ! दूर देशमे समुद्रके तटपर जलके ऊपर जो दारुब्रह्मकी मूर्ति है, जो किसी मनुष्यसे निर्मित नहीं है, उसकी आराधना करके उनकी कृपासे वैकुण्ठको प्राप्त हो ।'

उड़ीसाप्रान्तमे भुवनेश्वरके निकट उदयगिरिकी हाथी-गुफामे कलिङ्गराज खरवेलकी जो लिपि है, उसमे भी नीमके काष्ठसे निर्मित मूर्तिका उल्लेख मिलता है । खरवेल चन्द्रगुप्तके १५० वर्ष बाद हुए है ।

सनातनधर्मके समग्र शास्त्र वेदमूलक हैं । वेद, स्मृति, पुराण प्रभृतिमे कहीं भी पार्थक्यका अवकाश इस कारण नहीं रह सकता । वर्णाश्रम, जातिभेद (जन्मगत) प्रभृति भी वैदिक धर्ममे और वैदिक जातिमे प्रथमसे ही है—इस विषयमे जरा भी सन्देह नही है ।

गीतामें वर्णाश्रमके प्रमाण

आजकल कई सुविधावादी लोग शास्त्र-पुराणोंसे—कहींसे एक-आध श्लोक उद्धृत कर उसकी मनमानी व्याख्या करके अथवा अर्थका अनर्थ करके अपने आधुनिक मत अथवा युक्तिकी स्थापना करनेका प्रयत्न करते हैं ।

पढ़े-लिखे लोग गीताको किसी रूपमे मानते हैं । गीताके—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।'

—इस आधे श्लोकको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाती है कि पूर्वकालमे गुण और कर्मभेदसे ही

वर्णभेद था, जन्मगत भेद नहीं था। यहाँतक कि गीताके कुछ आधुनिक टीकाकारोंने भी इस प्रकारका अर्थ करके अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे मोहग्रस्त हुए हमलोगोंके चित्तमें और भी अधिक सन्देहके बीज बो दिये हैं।

गीता महाभारतका एक अंश है। गीताके साथ महाभारतके सम्बन्धकी सम्पूर्ण अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या महाभारतमें कहीं भी यह है कि उस समय वर्णभेद जन्मगत नहीं था, गुण और कर्मानुसार वर्ण स्थिर होता था? क्या भगवान् श्रीकृष्णने किसी भी धार्मिक शूद्रको (धर्मके अवतार विदुर) अथवा क्षत्रिय (युधिष्ठिर एवं भीष्म) को ब्राह्मणवर्णमें अथवा किसी युद्धकुशल ब्राह्मण (द्रोण, कृप अथवा अश्वत्थामा) को क्षत्रिय वर्णमें परिणत किया था?

भारतके समग्र शास्त्र एवं इतिहास आदिका अवलोकन करनेपर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ किसी एक ही व्यक्तिका पुत्र अथवा कन्या इसी जन्मके देहके गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय हुआ हो। गुण और कर्मकी परीक्षाके ऊपर जाति स्थिर करेंगे कौन? सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हुए बिना ऐसा करना असम्भव है। शिशु जब भूमिष्ठ होता है, उस समयकी तो बात ही क्या, उसके अनन्तर कम-से-कम बीस वर्षतक उसके गुण और कर्मका साधारण विकास भी नहीं होता। स्त्रियोंके लिये गृहकर्म-सन्तानपालन आदि सभी जातियोंमें साधारण कर्म हैं। उनका जाति-विभाग कैसे किया जायेगा? किस उम्रमें जातिनिर्णय होगा और उसे कौन निर्धारित करेगा? फलतः जाति-वर्णभेद जन्मसे ही हो सकता है। गुण-कर्मानुसार करना असम्भव है।

गीतामें भी जाति और वर्णके जो उल्लेख हैं, उनमें जन्मानुसार एवं वंशानुक्रमिक वर्णभेद एवं जातिभेद ही देखा जाता है। गुण एवं कर्मानुसार जाति-वर्णभेदका और कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। संकर एवं अस्पृश्य जातिका भी उल्लेख है ही।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

इस श्लोकमें समाजके उच्च स्तरमें स्थित ब्राह्मण एवं निम्नस्तरके चाण्डाल और विभिन्न जातिके पशु—सबके प्रति ही ब्रह्मविद् समदृष्टि होते हैं, यह कहा गया है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा॥
(९। ३२-३३)

यहाँपर श्रीभगवान्ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पापयोनि (अन्त्यज)—सभीका उल्लेख किया है। पापयोनि-शब्दसे जन्मगत अस्पृश्यता ज्ञात होती है, इसपर लक्ष्य करना चाहिये।

'चातुर्वर्ण्यम्' के अर्थ चार वर्ण नहीं, चार वर्णोंसे विशिष्ट वर्णाश्रमी समाज है। इस श्लोकके बाद ही—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
(१८। ४१)

एवं उसके बादके सात श्लोकोंको पढ़ जानेपर तो इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रहना चाहिये। चारों वर्णोंमें प्रत्येक वर्णके (लक्ष्य करना चाहिये कि किसी एक व्यक्ति-विशेषकी बात नहीं हो रही है) स्वभाव (पूर्वजन्म-संस्कार)—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
× × ×
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः॥
(६। ४३-४४)

—जात गुणके अनुसार एक-एक कर्म निर्दिष्ट है।

श्रीभगवान्के गीताप्रवचनका उद्देश्य ही था—उनके प्रतिरूप (नर-अवतार) नरोत्तम अर्जुनको ब्राह्मणके कर्म भैक्ष्य (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके) ग्रहण करनेकी इच्छासे निवृत्तकर क्षत्रियके कर्म धर्मयुद्धमें प्रवृत्त कराना एवं इस उपदेशच्छलसे जगत्को निष्काम कर्मयोगकी महान् शिक्षा देना।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(१८। ४७-४८)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३। ३५)

क्षत्रिय-कुलतिलक अर्जुनका स्वधर्म क्या था? युद्ध।

'न योत्स्य इति मन्यसे', 'स्वभावजेन (स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्ततस्मात् जातेन) निबद्धः स्वेन कर्मणा ।'

मोह नष्ट होनेपर अर्जुन बोले—

'स्थितः अस्मि (युद्धाय उत्थितः अस्मि) । करिष्ये वचनं तव ।

'सहज' (सह—जन्+ड) शब्दको भी लक्ष्य करना चाहिये ।

भगवान्‌ने गीतामें सांकर्यकी निन्दा की है—

संकरस्य (वर्ण एवं कर्मसंकरका) च कर्ता स्याम् उपहन्यामिमाः प्रजाः । (३ । २४)

अर्जुनने पूर्वमें कहा था—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥*
(१ । ४२-४३)

यदि वर्ण और जातिभेद जन्मगत एवं वंशानुक्रमिक नहीं था तो कुलके धर्म अथवा जातिधर्मकी बात कहाँसे आती है ? एक ही पिताके विभिन्न वर्णके पुत्र-कन्या होनेपर कौन उसे पिण्ड आदि देगा ? फिर तो समाज, जाति, वंश, संस्कार, विवाह, अशौच, श्राद्ध आदि सभी असम्भव हो जायँगे ।

उपसंहार

संक्षिप्त आलोचनासे यह निःसंदेह प्रमाणित किया गया कि भारतमें सदासे ही वर्ण और जाति जन्मगत थी, कभी भी कर्मगत नहीं थी । असवर्ण विवाह (विशेषतः प्रतिलोम) निन्दित था—इसका ऐतिहासिक प्रमाण है । प्रागैतिहासिक एवं प्राचीनतम कालसे ही जन्मगत वर्णभेदप्रथा चली आ रही है । वेदोंमें भी जातिभेदके बहुत प्रमाण मिलते हैं । गुण-कर्म-भेदसे जाति एवं इच्छानुसार वर्ण-परिवर्तनके उदाहरण नहीं हैं, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा ।

इतनेपर जो लोग यह कहना चाहते हैं कि वेद-रचनाके पहले अतिप्राचीन समयमें वर्ण-व्यवस्था नहीं थी एवं दूसरे देशोंके अनुसार स्वच्छन्द कर्म अथवा विवाह आदि भारतमें भी होते थे, वे अपने विचारानुसार सब कुछ कह सकते हैं; परंतु यह निश्चित है कि वैदिक समयके पूर्व वर्णाश्रमी वैदिक जाति अथवा सनातन धर्मका अस्तित्व भी नहीं रहा होगा—फिर तर्कका अवसर कहाँ है ?

जन्मना जाति

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

कुछ आधुनिक हिंदुओंका यह कहना है कि "वर्णव्यवस्था तो हम मानते हैं; क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है । पर चातुर्वर्ण्यसे भगवान्‌का अभिप्राय 'जन्मना जाति' माननेवाली वर्तमान व्यवस्था नहीं, किंतु वह व्यवस्था है जिसमें मनुष्यके गुण-कर्मानुसार उसका वर्ण निश्चित होता है । भगवान्‌ने स्पष्ट ही 'गुणकर्मविभागशः' कहा है ।" अतः इन लोगोंका यह मत है कि "जन्मना जाति माननेवाली वर्तमान पद्धतिको उठा देना चाहिये और कोई नयी व्यवस्था तो क्या, वही प्राचीन व्यवस्था जिसका निर्देश भगवान्‌ने किया है अर्थात् मनुष्यके गुण और कर्म देखकर तदनुसार उसका वर्ण निश्चित करनेवाली व्यवस्था फिरसे स्थापित की जानी चाहिये । तभी हमारे समाजके अंदर सच्चे और अच्छे लोग ब्राह्मण कहलायेंगे और ऐसी वर्णव्यवस्थासे समाजका कल्याण होगा । वर्तमान व्यवस्थामें केवल ब्राह्मणकुलमें जन्म हो जानेसे ही ऐसे-ऐसे लोग ब्राह्मण कहलाते हैं, जिनमें जरा भी कोई योग्यता नहीं है । इससे बहुत बड़ी हानि हुई है । हमलोगोंका राजनीतिक दासत्व इसीका परिणाम है और इसीसे वे सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनसे आज हिंदू-समाज त्रस्त है ।" किंचित् विचार करनेसे यह समझमें आ जायगा कि भगवान् श्रीकृष्ण या श्रीमद्भगवद्गीताका यह अभिप्राय नहीं है कि किसी मनुष्यके गुण और कर्म देखकर उसका वर्ण निश्चित किया जाय; बल्कि उन्हें यही बतलाना है कि किसीकी भी जाति उसके जन्मसे ही जाननी चाहिये । हम आगे यह भी दिखायेंगे कि जन्मना जातिकी व्यवस्थापर जो अन्य आक्षेप किये जाते हैं, वे भी किस प्रकार निराधार हैं ।

यदि किसी मनुष्यकी जाति उसकी वृत्ति या कर्मपर निर्भर होती तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते, क्योंकि उनका

* लक्ष्य करना चाहिये, यहाँ 'शाश्वत' (चिरकालीन) शब्द जाति एवं कुलधर्मके लिये कहा गया है ।

व्यवसाय युद्ध करना था। पर जन्मके कारण ही वे ब्राह्मण थे। इसी प्रकार उनके स्यालक कृपाचार्य योद्धा होनेपर भी ब्राह्मण थे, क्योंकि ब्राह्मणकुलमें उनका जन्म हुआ था। अश्वत्थामामें ब्राह्मणके न कोई गुण थे न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रियका। गुणमें तो वे इतने क्रूर थे कि रातको पाण्डवोंके शिविरमें घुसकर सोये हुए द्रौपदीके बच्चोंको उन्होंने कत्ल कर डाला। उत्तराके गर्भस्थ अर्भकपर भी उन्होंने अति भयंकर बाण चलाया। फिर भी जब वे पकड़े गये, तब यही निश्चय किया गया कि अश्वत्थामाका वध नहीं किया जा सकता; क्योंकि अश्वत्थामा ब्राह्मण है। उनका सिर मूँड़ा गया और वे निष्कासित किये गये।

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च।

(महाभारत, सौप्तिकपर्व १६। ३२)

युधिष्ठिरका स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करनेको तैयार; और भीमको देखिये तो जरा-सी बातपर लड़नेको तैयार! यदि गुणोंको जातिका निर्णायक माना जाता तो दोनोंकी जाति अलग-अलग हो जाती। पर दोनों ही थे क्षत्रिय, क्योंकि जन्मसे ही क्षत्रिय थे।

गुण-कर्मके अनुसार किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करनेमें और एक बहुत बड़ी बाधा है। प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि किसी मनुष्यके गुण तो उसे एक वर्णका बतलाते हैं, पर उसका कर्म किसी दूसरे ही वर्णका होता है। ऐसी अवस्थामें उसका वर्ण कैसे निश्चित किया जायगा? फिर किसी मनुष्यके असली गुणोंकी पहचान करनेका काम भी तो बहुत कठिन है। बाह्यरूपसे ठीक पता नहीं चलता—प्रायः धोखा हो जाता है। हो सकता है बाहरसे देखनेमें कोई मनुष्य बहुत उग्र या रूखा हो, पर हृदय उसका अत्यन्त कोमल हो। यह भी असम्भव नहीं है कि किसीकी वाणी बहुत मधुर हो, पर हृदय उतना ही कठोर। किस मनुष्यमें कौनसे गुण हैं, इस विषयमें लोगोंमें मतभेद भी हो सकता है। मित्रलोग कहेंगे, अमुक मनुष्य सज्जन है; शत्रु कहेंगे, महादुर्जन है। यह मान भी लिया जाय कि हर किसीके गुणोंका पता लगानेसे लग सकता है; पर इस बातका क्या भरोसा जो उसके गुण वैसे ही बने रहेंगे और बदलेंगे नहीं? वाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवनमें दस्यु थे, पर पीछे महर्षि हो गये। असाधु पुरुष साधु हो सकते हैं, वैसे ही साधु भी असाधु हो सकते हैं। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि गुण-कर्मानुसार जाति निश्चित करनेकी व्यवस्था अव्यवहार्य है।

कुरुक्षेत्रके महायुद्ध आरम्भ होनेसे पहले अर्जुनने कहा था 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, भिक्षा माँगकर खाऊँगा।' गुण और कर्मसे ही जाति निश्चित करनी होती तो उनको इस बातका खण्डन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अर्जुनमें ब्राह्मणोचित वे सब गुण थे, जिनका गीतामें उल्लेख हुआ है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४२)

'शम, दम, तप, शुचिता, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणोंके स्वभावज गुण हैं।'

भिक्षावृत्ति ब्राह्मणकी है; यदि अर्जुन उसे ग्रहण करता है तो गुण-कर्मके अनुसार ही जब वर्ण निश्चित करना है, तब उसे अवश्य ब्राह्मण कहना चाहिये। क्षात्रधर्म छोड़कर यदि इस तरह वह ब्राह्मणधर्म ग्रहण करता है तो इससे उसे कोई पाप न लगना चाहिये। पर श्रीकृष्ण तो उसे उलटा यह समझा रहे हैं कि 'यदि तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३३)

'यदि तुम यह धर्मयुक्त संग्राम न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिसे हाथ धोकर पापके भागी बनोगे।'

यह कहना तो तभी युक्तियुक्त हो सकता है, जब जन्मना जाति माननेकी ही व्यवस्था हो। अर्जुन जन्मसे क्षत्रिय है। क्षत्रियका स्वधर्म है युद्ध करना। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता है तो वह अपने धर्मकी अवहेलना करता है और पापका भागी होता है। यदि जन्मजात वर्णसे धर्म निश्चित होता है तो कोई मनुष्य चाहे जो कर्म नहीं कर सकता। पर यदि कर्मसे वर्ण निश्चित हो तो वह अपना कर्म अपनी इच्छासे चाहे जो निश्चित कर सकता है।

गीताके १८वें अध्यायमें भगवान्‌ने चारों वर्णोंके कर्म बतलाये हैं और फिर कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपने वर्णका धर्म पालन करता है तो उसीसे वह परम उत्कर्षको प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८। ४५)

'अपने-अपने कर्ममें अभिरत होनेसे मनुष्य संसिद्धि लाभ करता है।'

यह वचन जन्मना जातिकी ही व्यवस्था देता है। यदि किसीका कर्म देखकर उसकी जाति निश्चित करनी हो तो कर्मके पीछे-पीछे जाति चलेगी और सबके कर्म स्वजातिके ही कर्म होनेसे सभी, गीताके उक्त वचनके अनुसार, मोक्षके अधिकारी होंगे। परंतु यह तो एक ऐसी बात है, जिसका कुछ अर्थ नहीं।

गीतामें श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
(गीता १६। २४)

शास्त्रोंमें सबसे पहले हैं वेद। ये ही सब शास्त्रोंके आधार हैं। ऋग्वेद-संहिताके १०। ९० (पुरुषसूक्त) में तथा तैत्तिरीय-संहिताके ७। १। १ में बतलाया है कि चार वर्ण प्रजापति ब्रह्माके चार अङ्गोंसे उत्पन्न हुए। छान्दोग्योपनिषद्के ५। १०। ७ मे यह वर्णन है कि जो लोग पुण्य-कर्म करते हैं, वे दूसरे जन्ममें ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्यके कुलमें जन्म लेते हैं और जो पापकर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं—

रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

उपनिषद् वेदोंके ही भाग हैं। अतः वेदोंके समान ही उनका प्रामाण्य है। मनुस्मृति सुविख्यात धर्मशास्त्र है। महाभारतकालसे बहुत पहले इसकी रचना हुई थी। अतः गीतामें जहाँ शास्त्रकी बात आयी है (१६। २४), वहाँ वेदोपनिषदोंके साथ मनुस्मृति भी अभिप्रेत होगी। मनु कहते हैं, एक ही जातिके माता-पितासे उत्पन्न सन्तान भी उसी जातिकी होगी—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव हि॥
(मनु० १०। ५)

'सब वर्णोंकी अक्षत-योनि तुल्य पत्नियोंमें गर्भाधान करनेसे जो सन्तान हो, उन्हें अनुलोमक्रमसे उन्हीं वर्णोंकी जानना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान क्षत्रिय, वैश्य पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान वैश्य—इस प्रकार जानना चाहिये।'

हारीतसंहितामें है—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः।
(१। १५)

'ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न-सन्तान ब्राह्मण ही कहा गया है।'

अत्रिसंहितामें कहा है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
(१। ४०)

'जन्मसे ब्राह्मण जाना जाता है, संस्कार होनेपर उसकी द्विज-संज्ञा होती है।'

श्रीकृष्ण ही जब अध्याय १६ श्लोक २४ में शास्त्रको ही प्रमाण माननेको कहते हैं, तब यह हो नहीं सकता कि अध्याय ४ श्लोक १३ में वे जाति-निर्णयकी कोई ऐसी व्यवस्था देते हों जो वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्रग्रन्थोंके वचनोंके विरुद्ध हो।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि श्रीकृष्णका अभिप्राय यही है कि जन्मसे ही वर्ण निश्चित है तो उन्होंने अध्याय ४ श्लोक १३ में 'गुणकर्मविभागशः' क्यों कहा है। यहाँ कर्मका अभिप्राय वृत्तिसे नहीं है। कर्मका यहाँ अर्थ है कर्तव्य। कर्म-विभागका अर्थ विभिन्न वर्णोंके वे कर्तव्य हैं, जिनका उल्लेख गीता अध्याय १८ श्लोक ४२—४४ में हुआ है। गुणका अभिप्राय है त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे। गुण-विभागका अर्थ है, जन्मके साथ ही लगे हुए इन गुणोंके अनुसार मनुष्योंका वर्गीकरण। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१में भगवान् स्वयं यह गुण-कर्म-विभाग क्या है, स्पष्ट करके बतलाते हैं—

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

'स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार कर्मोंका विभाग हुआ है।'

'स्वभाव-प्रभव' शब्दोंसे ही यह प्रकट है कि जन्मजात गुणोंके द्वारा ही वर्ण निश्चित होता है। छान्दोग्योपनिषद्का जो वचन (५। १०। ७) हम पहले उद्धृत कर आये हैं, उसके साथ भी इसकी ठीक संगति बैठती है। जो लोग पुण्यकर्म करते हैं, उनमें मृत्युके पश्चात् सत्त्वगुणका प्रभूत संचय होता है। अतः वे ब्राह्मण होकर जन्म लेते हैं। गीता अध्याय १८ श्लोक ४८ में जो 'सहजं कर्म' शब्द आये हैं, उनसे भी जन्मना जाति सूचित होती है। जन्मसे जाति और जातिसे धर्म निश्चित होता है। अर्थात् जन्मके साथ ही धर्म लगा हुआ है। यही 'सहजं कर्म' है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जन्मसे वर्ण

निश्चित होता है तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे हुए। इसका उत्तर यह है कि तपका अलौकिक प्रभाव होता है, उससे शरीरके परमाणुतक बदल सकते हैं और वर्णका सम्बन्ध है जन्मजात शरीरसे ही। यह प्रसिद्ध है कि विश्वामित्रने महान् तप किया था। उनके तपःप्रभावसे उनका वर्ण बदला या नहीं, यह निश्चय करना भी वसिष्ठ-जैसे महर्षिका ही काम था। तपःप्रभावसे वर्ण बदल जानेके और भी कुछ उदाहरण हैं।

अब महाभारतके कुछ ऐसे वचनोंपर हम विचार करना चाहते हैं, जो गुण देखकर वर्ण निश्चय करनेकी बातका समर्थन करते-से मालूम होते हैं। वनपर्वके १७९ वें अध्यायमें सर्पने प्रश्न किया है—'ब्राह्मण कौन है?' युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—'ब्राह्मण वह है, जिसमें सत्य, दानशीलता, क्षमा, सदाचार, मृदुता और तप—ये गुण हों।' युधिष्ठिर आगे यह भी कहते हैं कि 'ये गुण यदि किसी शूद्रमें हों तो उसे ब्राह्मण कहना चाहिये और यदि ये गुण किसी ब्राह्मणमें न हों तो वह ब्राह्मण नहीं है।' 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग स्पष्ट ही यहाँ दो विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। यदि ऐसा न मानें तो यह कहना कि "जिस ब्राह्मणमें ये गुण नहीं हैं, वह 'ब्राह्मण' नहीं है" 'वदतो व्याघात' होगा। उक्त वचनमें 'ब्राह्मण' शब्दका प्रथम प्रयोग जन्मना ब्राह्मणके अर्थमें है। 'ब्राह्मण' शब्दका दूसरा प्रयोग इस अर्थमें है कि जो गुण ब्राह्मणमें होने चाहिये, वे उसमें नहीं हैं। यह वचन सत्य, क्षमा आदि गुणोंकी प्रशंसा कर ब्राह्मणको मिथ्या जात्यभिमानसे बचानेके लिये आया है। इस वचनका अभिप्राय गुणोंको देखकर वर्ण कल्पित करना नहीं है। इसके विरुद्ध कई कारण हैं—(१) 'वदतो व्याघात' होगा, जैसा कि हम पहले कह आये हैं। (२) वेद, उपनिषद्, मनुसंहिता, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंके जो वचन हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, जिनमें जन्मना जातिकी ही व्यवस्था है, उनके साथ इसका विरोध होगा। किसी वचनका ठीक अर्थ लगाते हुए हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अन्य वचनोंके साथ उसका कोई विरोध न हो। उपर्युक्त श्रुत्यादिके वचनोंका इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं है कि वर्ण या जाति जन्मपर ही निर्भर है। वनपर्वके उपर्युक्त वचनका सुसंगत अर्थ यही होता है कि सत्य, दान आदि गुण वरेण्य हैं। (३) किसी मनुष्यके असली गुणोंको जान लेना बहुत ही कठिन है। (४) बहुत-से लोगोंमें सत्य, दान आदि गुण अत्यधिक परिमाणमें होते ही हैं। यह तो इस वचनमें नहीं बतलाया गया है कि किस दर्जेतक कौन-सा गुण होनेसे कोई मनुष्य ब्राह्मण वर्णका हो सकता है। (५) इस वचनमें फिर दो ही वर्णोंके नाम आये हैं—ब्राह्मण और शूद्र। क्षत्रिय और वैश्यका कोई नाम नहीं है। फिर जिनमें ये गुण हैं, वे यदि ब्राह्मण हैं और जिनमें ये गुण नहीं, वे शूद्र, तो अखिल मानव-जातिके ब्राह्मण और शूद्र—ये ही दो वर्ण-विभाग हुए, चातुर्वर्ण्य नहीं रहा। अतः इन सब बातोंसे यही स्पष्ट होता है कि उक्त वचनका हेतु वर्ण-विभागका सिद्धान्त बतलाना नहीं, बल्कि सत्य, सदाचारादि गुणोंकी श्रेष्ठता बतलाना है। वर्ण-विभागका सिद्धान्त अन्य शास्त्र-वचनोंमें निर्दिष्ट हो ही चुका है। ये शास्त्रवचन जन्मना जातिका ही निर्देश करते हैं। अतः जो वचन ऐसे हैं, जिनसे गुणों और कर्मोंके अनुसार जाति होनेकी बात सूचित होती है, उनका वास्तविक अभिप्राय कुछ और ही है। गुण या कर्मके अनुसार सब मनुष्योंकी जाति निर्धारित करना व्यवहारतः संभव भी नहीं है।

यह जो कहा जाता है कि जन्म नामकी आकस्मिक घटनापर किसीकी जाति या वर्ण निश्चित करना ठीक नहीं, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण, जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि हमारे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका फल है। कुछ लोग स्वस्थ और हट्टे-कट्टे पैदा होते हैं और कुछ अंधे और रुग्ण, इसका यही तो कारण है।

यह कहना भी निराधार है कि हिंदुओंका चातुर्वर्ण्य ही हिंदू-समाजमें पैदा हुई सब बुराइयोंका कारण है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं 'चातुर्वर्ण्य मैंने उत्पन्न किया है' (४। १३)। जो व्यवस्था भगवान्ने बना दी, वह किसी समाजके लिये कभी हानिकर नहीं हो सकती। हमारे राजनीतिक दासत्वमें हमारे ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, भोग-विलास आदि अन्य कारण हो सकते हैं। यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि कोई भी राष्ट्र सदाके लिये अपनी स्वाधीनता बनाये नहीं रह सका है। ब्रिटेनपर रोमन और सैक्सन दखल जमाये बैठे थे। सैक्सनोंको नार्मन लोगोंने जीता था। ग्रीस, रोम, कार्थेज—पुरानी दुनियाके सभी देशोंको कभी-न-कभी पराजित और पराधीन होकर रहना पड़ा था। फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी और जापानका पराधीन होना अभी हालकी ही बात है। हिंदू सहस्रों वर्ष स्वाधीन रहनेके बाद कुछ काल मुसल्मानों और ईसाइयोंके अधीन भी होकर

रहे। अब फिर वे स्वाधीन हैं। प्राचीनोंमें एक हिंदू ही हैं, जो अपनी संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा किये हुए हैं, जब कि अन्य प्राचीन सभ्यताएँ सब नष्ट हो गयीं। यह ईश्वरकृत वर्ण-व्यवस्थाका ही सुपरिणाम है। इसीसे हिंदुओंके धर्म, शौर्य, धन और श्रमशक्तिकी रक्षा हुई है। यदि हम इस वर्ण-व्यवस्थाको उठा देंगे तो महान् अनर्थ होगा—वर्णसंकर होगा। भगवान् कहते हैं—'संकरसे प्रजाओंका सब प्रकारसे नाश होता है।' (गीता ३। २४)

हमारी मृत्युञ्जय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

हमारी संस्कृतिकी यह एक बड़ी भारी विशेषता है कि हमारे जितने श्रद्धाके केन्द्र हैं, मान-बिंदु हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई श्रेष्ठ तत्त्व है, और अवश्य है। आज हमारे दुर्भाग्यसे वे तत्त्व सुप्तावस्थामें हैं, वे सिद्धान्त अमूर्त रूपमें हैं और इसी कारण हमारा यह ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। आज आवश्यकता है उन तत्त्वोंको जाग्रदवस्थामें लानेकी। आज आवश्यकता है उन सिद्धान्तोंको मूर्तस्वरूपमें लानेकी, उनको अपने आचरणमें प्रत्यक्षरूपसे कार्यान्वित करनेकी। इसका केवल एक ही उपाय है और वह है इन तत्त्वोंको—उन सिद्धान्तोंको बोधगम्य बनाना—ऐसे रूपमें सामने रखना कि साधारण जनता उन्हें ठीक प्रकारसे समझ ले और हृदयङ्गम कर ले।

सांस्कृतिक रथके दो चक्र

गैरिक ध्वज पुरातन कालसे चली आयी हुई हमारी इस पुण्य-संस्कृतिकी सनातन धाराका मूर्तिमान् प्रतीक है। इस ध्वजका भगवा रंग 'ब्राह्मतेज' और 'क्षात्रबल' का परिचायक है। इन्हीं दो विशेषताओंपर हमारी संस्कृति अडिग खड़ी है। यही वह नींव है, जिसके कारण शत-शत आघात सहते हुए भी हमारी यह संस्कृतिकी इमारत अचल रूपसे स्थिर है। आपसे अपना इतिहास अविदित नहीं है। हमारे यहाँ प्रजाका पालक राजा सर्वदासे क्षत्रिय ही होता आया है। परंतु वह अकेला ही इस सारे भारको सँभालता नहीं आया है। वह सदा ब्राह्मतेजकी सहायतासे ही व्यवस्था करता आया है। राजा क्षत्रिय होता था अवश्य; परंतु उसके गुरु, उसके सलाहकार, उसको मन्त्रणा देनेवाले, उसके मन्त्री सर्वदा ब्राह्मण ही होते थे। श्रीरामचन्द्रजी, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक भगवान् मानते हैं, क्षत्रिय थे; परंतु उन्हें मार्ग दिखलानेवाले उनके गुरु वसिष्ठ कौन थे? ब्राह्मण ही न? यह तो हुई हमारे उस परमपवित्र गौरवशाली पुरातन स्वर्ण-युगकी बात। आजके युगको भी देख लीजिये, यही बात मिलेगी। छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु 'समर्थ रामदास स्वामी' कौन थे? परम शक्तिशाली पेशवाओंको तो आप जानते ही हैं, वे कौन थे? ब्राह्मतेजके बिना अकेला क्षात्रबल क्या कर सकता है? जिस प्रकार दो चक्रोंके बिना रथ नहीं खींचा जा सकता, उसी प्रकार इन दो शक्तियोंके बिना यह हमारे 'हिंदू-राष्ट्र' का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। हमारी इस पवित्र संस्कृतिका रथ सर्वदा इन्हीं दो चक्रोंके आधारपर चलता आया है।

ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके आधारपर सुचारुरूपसे चलनेवाला यह हमारा सांस्कृतिक रथ दुनियामें, सारे विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण संसारके ही नहीं अपितु अखिल विश्वके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंके संयोगसे हुआ है। वे तत्त्व तकारसे ही प्रारम्भ होते हैं—तपस्या, त्याग तथा तपोबल। तपस्या—युग-युगकी तपस्या, ऋषि-महर्षियोंकी तपस्या, विष्णुके अंश राजाओंकी तपस्या, प्रजाकी तपस्या, सारे हिंदू-समाजकी अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होनेकी तीव्र लगन—हमारे इतिहासमें प्रखररूपसे प्रकाशित हो रही है। त्यागके लिये तो कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। यह तो हमारी समाज-व्यवस्थाका एक मुख्य अङ्ग है। इसके बिना हमारी संस्कृतिका अमर होना अत्यन्त असम्भव था। तपस्या और त्यागसे कमायी हुई प्रचण्ड शक्तिका ही नाम तपोबल है। इसी बलके आधारपर हमारी संस्कृतिने सम्पूर्ण विश्वके हृदयपर विजय प्राप्त की। यह ऐतिहासिक सत्य है। इसमें शङ्काके लिये स्थान नहीं। इसी बलके कारण समस्त विश्वने भारतको अपना गुरु, अपना पथप्रदर्शक माना।

हमारी मृत्युञ्जयता

तपस्या, त्याग तथा तपोबलके कारण स्वयं प्रकाशित ऐसी जो यह हमारी संस्कृति है, इसमें दो विशेषताएँ हैं—एक है प्राचीनता, सनातनता; दूसरी है मृत्युञ्जयता, अमरता। हमारी यह आर्य-संस्कृति, यह वैदिक संस्कृति, यह ब्राह्मतेज और क्षात्रबलके कारण अजेय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है।

पहले लोग इसे नहीं मानते थे; क्योंकि कोई भौतिक प्रमाण उनके सामने नहीं था। परंतु आज उन्हें यह वाध्य होकर स्वीकार करना पड़ रहा है। भूगर्भसे निकला हुआ मोहन-जो-दड़ो नगरका अवशेष हमारी इस प्राचीन संस्कृतिकी जय मना रहा है। इस खँडहर हुए नगरकी विशेषता देखिये। बड़ी-बड़ी चौड़ी गलियाँ, बड़े-बड़े प्रासाद, प्रत्येक घरमें स्नान-गृह, कूप इत्यादि व्यवस्थाएँ क्या हमारी समृद्धिकी, हमारे ऐश्वर्यकी परिचायक नहीं हैं? यह नगर (हम नहीं कहते) इन्हीं पाश्चात्त्योंके मतके अनुसार विक्रमसे, उस महान् तथा प्रातःस्मरणीय शकारि विक्रमादित्यके समयसे, तीन हजार वर्ष अर्थात् आजसे लगभग पाँच हजार वर्षके भी पूर्वका है। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व हम इतने वैभवशाली थे! मैं पूछता हूँ, क्या यह हमारी संस्कृतिकी प्राचीनताका पर्याप्त प्रमाण नहीं? मैं पूछता हूँ—क्या आज ऐसी कोई भी संस्कृति जीवित है, जो इतनी प्राचीन होनेका दम भर सकती है? मैं दावेके साथ कहता हूँ कि आज हमारी संस्कृतिकी प्राचीनतासे टक्कर लेनेवाली कोई भी संस्कृति जीवित नहीं है। केवल एक हमारी ही यह संस्कृति है, जो विद्यमान है। इसका क्या कारण है? क्या यही बात हमारी मृत्युञ्जयताको प्रमाणित नहीं करती? इतिहासके पृष्ठ उलटिये तो आपको एक प्राचीन संस्कृतिका परिचय मिलेगा—मिस्रकी संस्कृति। मिस्र देशकी वह सामर्थ्यशालिनी संस्कृति प्राचीन संस्कृतियोंमेंसे मानी जाती है। कहाँ है वह संस्कृति? क्या इस बड़े भारी भूपृष्ठपर एक भी व्यक्ति उस संस्कृतिकी परम्पराको लेकर जीवित है? क्या एक भी व्यक्ति ऐसा है, जो प्राचीन मिस्र देशमें व्यवहारमें लायी जानेवाली भाषाको अपनी भाषा कहनेका, बोलनेका, व्यवहारमें लानेका प्रमाण दे सकता है? वह मिट गयी, नष्ट हो गयी; आज उस संस्कृतिका एक भी वंशज इतने विशाल पृथ्वीतलपर जीवित नहीं है। इसके विपरीत है हमारी स्थिति। सबसे प्राचीन होते हुए भी हमारी संस्कृतिकी परम्परा अखण्डरूपसे चल रही है। अत्यन्त प्राचीन कालमें जो भाषा हमारे आदिपुरुषकी वाणीके रूपमें प्रवाहित हुई, उस देववाणी 'संस्कृत' का व्यवहार हमारे प्रतिदिनके व्यवहारमें होता है। हम उसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन करते हैं। हमारे नित्यके व्यवहारमें, विवाहोपनयनादि संस्कारोंकी वही कर्मकाण्ड-पद्धति जीवित है, जिसे हमारे वेदकालीन पूर्वज उपयोगमें लाते थे। मैं पूछता हूँ, है कोई जो मिस्रकी प्राचीन भाषाको अपने जीवनमें प्रधान स्थान देकर उस संस्कृतिके परम्परा-दीपको प्रज्वलित रखनेका अभिमान करता हो?

तीन महान् आघात

हमारी संस्कृतिने सचमुच ही मृत्युपर विजय पायी है। न जाने इसपर कितने आघात हुए; परंतु यह अडिग रही, अचल रही, अटल रही। इन आघातोंमें सबसे बड़े ऐसे तीन आघात हुए। पहला हुआ सिकंदर (अलीकचन्द्र) के द्वारा। उसका षड्यन्त्र कितना विकट था, यह इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपा नहीं है। उसने हमारी संस्कृतिका आमूल नाश करनेका तथा यवन-संस्कृतिको विश्वकी संस्कृति बनानेका प्रण किया था। परंतु एक ब्राह्मणने उससे टक्कर ली। उस महापुरुषका नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मणने चन्द्रगुप्तके समान तेजस्वी शासकका निर्माण किया और गरीब बिचारा अलीकचन्द्र (अलेक्जेण्डर) अपना बोरिया-बँधना लेकर सिंधुके उस तीरपर आँसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्यके समयमें। महाप्रतापी रणशूर खूब लंबे-चौड़े डील-डौलवाले बलशाली शकोंने आर्यावर्तको आत्मसात् करनेकी ठानकर हमारी इस पवित्र मातृभूमिकी स्वतन्त्रतापर आक्रमण कर दिया। परंतु उस समय भी एक ब्राह्मणने जनताकी नस-नसमें आग फूँककर वीर विक्रमके नाममें कलङ्क नहीं लगने दिया। उसका नाम था—कालिदास। कविकुलसूर्य कालिदासका रघुवंश उठाकर देखिये, वह क्या था? ब्राह्मतेज और क्षात्रबलने फिर एक बार वर्बरताको करारी हार दी। उसी प्रतापीके नामसे आज यह संवत् चला आ रहा है। आज भी हम प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें उस वीर विक्रमका नाम सादर लेते हैं, ताकि हम भी उसी प्रकार अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेमें समर्थ हों। तीसरा आघात हुआ मुसल्मानोंके द्वारा। उस समय भी एक संन्यासीने इस भारत-भूमिकी रक्षा की। उस प्रातर्वन्दनीय समर्थ रामदास-को कौन नहीं जानता? उस महान् आत्माने एक महापुरुषका निर्माण किया—जिनका नाम है छत्रपति शिवाजी महाराज। क्षत्रियकुलावतंस छत्रपतिने फिर एक बार उस हत्यारी शक्तिको नाको चने चबवाये।

सर्वाधिक कुटिल आघात

कौन-सी ऐसी संस्कृति है, जो ऐसे भीषण आघातोंके सम्मुख अपनी प्राचीनताको अमर रखनेका दावा कर सकती है? इतना ही नहीं, एक और भी प्रयत्न हमारे देशमें हुआ,

जो यदि सफल हो जाता तो आज हमारी इस पवित्र भूमिका अभिमान रखनेवाला एक भी न दिखायी देता। वह प्रयत्न हुआ अंग्रेजोंके द्वारा। आपने विषकन्याका वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। जिस प्रकार अफीमची लोग थोड़ी-थोड़ी मात्रासे प्रारम्भकर बहुत अधिक मात्रामें अफीम खानेका अभ्यास करते हैं, उसी प्रकार—उसी प्रणालीसे विषकन्या तैयार की जाती थी। बालपनसे उसे थोड़े-थोड़े परिमाणमें विष खिलाया जाता था और धीरे-धीरे उसका प्रमाण बढ़ाया जाता था। पर्याप्त समयके बाद उस कन्याके सारे शरीरमें इस प्रकार विष व्याप्त हो जाता था कि यदि मनुष्य या पशुके शरीरपर उसके नखसे खरोंच लगकर उस मनुष्यके रक्तका उसके नखसे सम्पर्क हो जाता था तो वह मनुष्य या पशु तत्काल विषबाधासे मर जाता था। अंग्रेजोंने भी अंग्रेजी शिक्षाका प्रचारकर सारे समाजकी नस-नसमें यह विष फैला दिया। धीरे-धीरे समाजकी रग-रगमें यह विष व्याप्त हो गया और आज हम ही अपने धर्मकी—अपनी संस्कृतिकी जड़ काटनेवाली कुल्हाड़ीका बेंट बन गये। हमने उन्हींके वचनोंको दोहराना प्रारम्भ कर दिया। देखिये न? उन्होंने कहा और हमने मान लिया कि हम 'यहाँके नहीं हैं, हम बाहरसे आये हुए हैं।' चलिये, झगड़ा ही मिट गया। जब हम भी बाहरसे आये हैं तो फिर क्यों हम इस भूमिके लिये दूसरेसे झगड़ा मोल लें? परंतु हमने कभी यह विचार नहीं किया कि यदि हम बाहरसे आये हुए होते तो हमारे ही नहीं, प्रत्युत संसारके प्राचीनतम ग्रन्थ हमारे वेदोंमें इसका कहीं तो उल्लेख मिलता। यही वह सप्तनद प्रदेश है, जिसमें सरस्वतीका पुण्य-प्रवाह नृत्य करता है और जहाँसे आर्योंने समस्त संसारमें फैलकर उपनिवेश स्थापित किये और बर्बरोंमें सभ्यताका बीज बो दिया, ताकि वे मनुष्यताका सम्मान करें। आज वे ही, जिन्होंने हमसे ऋणरूपमें बुद्धिका बीज लिया, हमसे कहते हैं—'तुम यहाँके आदिनिवासी नहीं हो।' और हम तत्काल इसे सत्य मानकर अपनी इस मातृभूमिका अभिमान छोड़कर विचार करने लगते हैं कि यथार्थमें हमें केवल अपनेको ही यहाँका राष्ट्रिय नहीं कहना चाहिये। इतना ही नहीं, इस विषका हमारे ऊपर इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारे इस युगके तथाकथित नेता लोगोंको ही देखिये। उनमें बहुत-से अपनेको हिंदू कहलानेमें भी लज्जाका अनुभव करते हैं। न जाने वह सुदिन कब आयेगा, जब हम अपने अंदर हिंदुत्वका अभिमान भरकर भारतके राजकरणमें भाग लेंगे।

कहनेका तात्पर्य यह कि हमारी संस्कृति इतने प्रबल आक्रमणोंके विरुद्ध संघर्षमय जीवन बिताकर अबतक जीवित है, इसका एकमात्र कारण इसकी मृत्युञ्जयता है। इस मृत्युञ्जयताकी प्राप्ति हमें केवल हमारे ही ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके द्वारा हुई है। इसी ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके कारण हमारी इस संस्कृतिको, राष्ट्रको, भूमिको यह गौरव नसीब हुआ। हमारी समृद्धि देखकर देवता भी यहाँ जन्म लेनेके लिये तरसते थे। देवलोकसे देवताओंके मर्त्यलोकमें आनेकी कल्पना लोगोंको जरा विचित्र मालूम होती है; परंतु इसमें कुछ असत्य नहीं। क्योंकि देवलोक तो भोगभूमि है। वहाँ किये हुए पुण्यका कोई फल नहीं। इसीलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले देवताओंके इस मर्त्यलोकमें, इस कर्मभूमिपर अवतार लेनेकी बात विचारसंगत तथा तर्कसंगत है। यहाँ जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। परंतु इतना बड़ा यह विश्व है, फिर भी देवताओंकी इच्छा यहाँ भारतमें जन्म लेनेकी क्यों होती थी? वह केवल यहाँकी आध्यात्मिक सुख-समृद्धि देखकर ही।

तेजःपुञ्जका प्रतीक ध्वज

इतना समृद्धिशाली हमारा देश था; परंतु आज···? आज हमारी स्थिति अत्यन्त हीन है। इस हीन स्थितिसे निकलनेका केवल एक ही मार्ग है। वह है—अपनी संस्कृतिको पुनः गौरवशाली बनानेका दृढ़ निश्चय लेकर समस्त हिंदू-समाजको सुसंघटित करना। यह तभी हो सकता है, जब हमारी संस्कृति, हमारी परम्पराका हमें हर समय ध्यान रहे। इसीके लिये हमने अपना यह पुरातन 'भगवा ध्वज' अपनाया है। इसे देखते ही हमें अपने पूर्व गौरवका ध्यान हो आता है। अपनी परम्पराका आँखोंके सम्मुख चित्र उपस्थित हो जाता है। इसी झंडेके नीचे हुए असंख्य बलिदानोंका स्मरण हो आता है, जिनके कारण आज हम अपनेको हिंदूके रूपमें जीवित देखते हैं। यह ध्वज हमारे हिंदू-राष्ट्रकी आशाओं—आकांक्षाओं, इतना ही नहीं, वरं समस्त हिंदू-राष्ट्रका तेजःपुञ्ज प्रतीक है। यह हमारा है, हम इसके हैं। इसीके कारण हम हम हैं। अतः इसका सम्मान-रक्षण हमारे जीवनका आद्य कर्तव्य है—यह बात प्रत्येक हिंदूके मनमें जागरित हो तथा इस ध्वजके पीछे जो हमारी संस्कृतिका अमूर्त गौरव छिपा है, उसे मूर्त स्वरूप देनेमें वह कार्यशील हो। यही जगदीशसे प्रार्थना है।

सभ्यता और संस्कृति—एक गृध्र-दृष्टि

(लेखक—स्वामीजी श्रीसत्यदेवजी परिव्राजक)

सन् १९३९ ई० के मई मासकी बात है। मैं जर्मनीके प्रसिद्ध नगर म्यूनिचके एक होटलमें ठहरा हुआ था। हिटलर महान्‌का आज रातके आठ बजे सबेरे रेडियोपर भाषण होनेवाला था। होटलके सभी अतिथि बड़ी उत्सुकतासे उन भाषणको सुननेके लिये, होटलके बड़े हालमें, एकत्रित हो रहे थे। मैं भी अपने मित्र डाक्टर हानके साथ उस कमरेमें जाकर कुर्सीपर बैठ गया। ठीक आठ बजे रेडियो महाशयने व्याख्यान की सूचना दी और जर्मनीके शेरने दहाड़ना शुरू किया—

'हमारे शत्रु हमपर दूसरे युद्धकी विभीषिका ला रहे हैं। जर्मन जाति युद्ध नहीं चाहती, लेकिन दुश्मन हमें जबरदस्ती लड़ाईमें घसीट रहे हैं। आठ करोड़ जर्मन प्रजा संगठित अवस्थामें है। वह युद्धसे बिल्कुल नहीं डरती; किंतु यदि हमारे शत्रुओंने हमपर युद्ध थोप दिया तो यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति विनाशके गड्ढेमें चली जायगी। हम जर्मनलोग सुसभ्य और सुसंस्कृत हैं। इस भयङ्कर युद्धमें हमारी सबसे अधिक हानि होगी। क्योंकि जर्मन जाति ही यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिको उत्कर्षकी ओर ले जा सकती है; इसलिये यह युद्ध यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिके विनाशका कारण होगा, और पूर्वके जंगली कम्युनिष्ट स्लाव लोग सुशिक्षित यूरोपको दबा लेंगे।'

'सभ्यता और संस्कृति' इन शब्दोंने मुझे पकड़ लिया और मेरा मस्तिष्क इन शब्दोंकी महत्तापर विचार करने लगा। प्रायः हमारे पढ़े-लिखे लोग इन दो शब्दोंको पर्यायवाची समझकर इनका व्यवहार बोलचाल तथा व्याख्यानोंमें कर लेते हैं, परंतु इन दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस लेखमें मैं इन्हीं दो शब्दोंपर गृध्र-दृष्टि डालनेका प्रयत्न करूँगा।

जब हम यह कहते हैं कि जर्मन जाति सभ्य है, तो इसका अर्थ यह है कि वह जाति अपने दैनिक जीवनमें सुधरे हुए साधनोंका व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बातके लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीरको अधिक-से-अधिक सुख और मजा मिले। अमरीकन लोग बड़े सभ्य हैं; क्योंकि वे बिजलीसे खाना बनाते हैं और ट्रैक्टरोंद्वारा खेती करते हैं। उनके यहाँ इक्के-ताँगे-जैसी कोई सवारी नहीं, और उनकी आबादीके प्रत्येक चौथे व्यक्तिके पास अपनी मोटरकार है। जो जातियाँ आज वैज्ञानिक साधनोंका उपयोग करती हुई अपने जीवन-स्तरको ऊँचा उठाती चली जाती हैं, वे जातियाँ सभ्य कहलाती हैं। अंग्रेजी भाषामें सभ्यताके लिये 'Civilization' शब्दका व्यवहार किया जाता है। इन जातियोंकी जीवन-आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और बढ़ती रहेंगी; क्योंकि इनका ध्येय सभ्यताकी ओर है। ये प्राकृतिक पदार्थों तथा लोगोंके अंदर ही सुख-शान्तिकी तलाश करती हैं, जिनका कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातियोंके पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'कलचर' भी है, किंतु वह सभ्यताके पीछे-पीछे उसकी चेरी बनकर चलती है। वे सुन्दर चित्र बनवायेंगे, कलाकारोंको उत्साहित करेंगे, कवियोंको पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उसमें निवास करेंगे; अपनी बोलचालमें होटलों तथा दूकानोंमें उनकी भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। लेकिन उस सबका मुख्य लक्ष्य होगा सभ्यताके खुदा 'धन' को प्रसन्न करना और दूसरोंकी जेबोंमेंसे पैसा निकालना। दूसरे शब्दोंमें वे सुसंस्कृत अवश्य हैं, किंतु अपनी सभ्यताको आगे बढ़ानेके लिये—प्राकृतिक सुखोंका मजा लूटनेके लिये—उनका सारा प्रयत्न रहता है। उनकी वृत्ति बहिर्मुखी होनेके कारण वे सभी जातियोंको अपनी उस लपेटमें ले लेते हैं और कच्चे मालकी खोजमें पृथ्वीको रौंद डालते हैं। पक्का माल बेचनेके लिये सब प्रकारके दाँव-पेंच, छल-प्रपञ्च काममें लाते हैं। यहाँतक कि युद्धके रौरव नरकसे भी नहीं डरते!

अब आइये संस्कृतिकी ओर, जिसपर मानवकी मानवता पूर्णरूपसे निर्भर है। संस्कृति है आत्माकी वस्तु, आत्मिक उत्थानका चिह्न, आत्मिक उत्कर्षकी सीढ़ी और आत्मदर्शन-का मार्ग। सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है परा विद्या। यदि हमें इन दो शब्दोंका लक्षण अंग्रेजी भाषामें दो टूक करना पड़े तो हम उसे इस प्रकार करेंगे—

Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul.

अर्थात् सभ्यता शरीरके मनोविकारोंकी द्योतक है, जब कि संस्कृति आत्माके अभ्युत्थानकी प्रदर्शिका है। सभ्यताका

उत्थान मानवको प्रकृतिवादकी ओर ले जाता है, जब कि संस्कृति मानवको अन्तर्मुखी करके उसके सात्त्विक गुणोंको प्रकट करती है । पाश्चात्त्य जातियोंने संस्कृतिको सभ्यताकी दासी बना दिया है; इसी कारण उनके यहाँ रोटीकी छीना-झपटी, सामाजिक विषमता और राष्ट्रिय अशान्तिका बाजार गरम है। चारों ओर हड़तालोंका जोर है । अमरीका-जैसे समृद्धिशाली देशमें बेकारी मुँह बाये खड़ी है । इसका कारण यह है कि अमेरिकन राष्ट्रके लोगोंने अपनी संस्कृतिको सभ्यता-की चेरी बना डाला है । यदि वहाँके लोग सभ्यताको संस्कृति-की सेविका बनाते तो उनकी सामाजिक विषमता दूर हो जाती। उन्हें आवश्यकताओंकी वृद्धि न सताती और न धनी लोग ही धनसंग्रहकी बीमारीसे ग्रसित होते। यह जो व्यापारयुगका बुखार संसारको सता रहा है, वह केवल इसलिये कि सभ्य जातियोंने अपनी आत्माको पहचाननेके बजाय इन्द्रियसुखोंको प्रधानता देकर अपनी आवश्यकताओंको इतना अधिक बढ़ा लिया है कि मानव-जीवनकी स्वाभाविकता ही नष्ट हो गयी है । इसी कारण पाश्चात्त्य जातियोंमें जीवनकी होडने भयंकर रूप धारण कर लिया है ।

हम आये हैं इस संसारमें सत्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये, इस ब्रह्माण्डके रहस्योंको समझनेके लिये, अपने आपको पहचाननेके लिये, मृत्युकी घुंडी समझनेके लिये, आकाशके करोड़ों नक्षत्रोंकी जीवनचर्याका ज्ञान करनेके लिये और समुद्रकी तहमें छिपे हुए खजानेके अन्वेषणके लिये । हमारा ज्ञान इतना कम है, हमारी आँखें इतना कम देखती हैं, प्रकृतिके साधन इतना कम हमारी सहायता कर सकते हैं—कि यह सब सोचकर हम अपनी अज्ञानतापर आँसू बहाने लगते हैं। लाखों वर्षोंसे मानवने अबतक यह बात नहीं जानी कि मरनेके बाद मनुष्य कहाँ जाता है, किस तरह जाता है, और किस रास्तेसे जाता है। अपनी आँखोंके सामने प्रतिदिन हम मृत्युका भीषण दृश्य देखते हैं, किंतु फिर भी धनसंग्रह-की बीमारीसे हमारा पिण्ड नहीं छूटता । लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जो पेटकी ज्वाला बुझानेके लिये अस्वाभाविक ढंगसे जीवन व्यतीत करते हैं । यदि हम व्यापार-युगके स्थानपर ज्ञान-युगके प्रवर्तक बने होते तो संसारका प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने विकासके अनुसार विद्या प्राप्तकर सत्य ज्ञानकी खोज करता और आज सारा मानवसमाज रोटीकी छीना-झपटीमे छूटकर विश्वके ज्ञानभंडारमें अपना अंश देता। पर शोक ! आवश्यकताओंकी निरन्तर वृद्धिने मानवको दानव बना दिया है और उसे चौबीसों घंटे पेट भरनेकी ही चिन्ता लगी रहती है। आज हम सुशिक्षित पशु बन गये हैं, जो अपनी शिक्षाद्वारा अधिक-से-अधिक मक्कारी, अधिक-से-अधिक बनावटीपन और धोखा देनेकी कलामें निपुण होकर पैसा बटोरनेमें लगे हुए हैं। यह सब इसीलिये है कि हमने अपनी संस्कृतिको तुच्छ स्वार्थ-सिद्धिका साधन बना लिया है !

हमें यह बात भली प्रकार जान लेनी चाहिये कि सभ्यताका शारीरिक आवश्यकताओंके साथ सम्बन्ध है और संस्कृतिका आत्माके सात्त्विक गुणोंके साथ। जितना ही हमारी सभ्यता हमें सात्त्विक बनानेमें सहायक बनेगी, उतने ही हम संस्कृतिके क्षेत्रमें आगे पग बढ़ायेंगे । हमें जाना है आत्मिक उत्कर्षकी ओर, जिसमें भौतिक आवश्यकताओंकी कमीका होना प्रधान साधन है। आवश्यकताओंकी कमी ही समाजकी विषमताको दूर कर सकती है और यही मानव-समाजमें शान्तिकी स्थापना कर सकती है। सादा जीवन और उच्च विचार हमारा लक्ष्य होना चाहिये, तभी प्राकृतिक भोगोंका न्यायपूर्वक बटवारा मानव-समाजमें किया जा सकता है । जितना ही अधिक हम सभ्यताकी ओर जायँगे, उतना ही हममें अशान्ति घर कर लेगी और हम सदा बेचैन रहकर जीवन व्यतीत करेंगे। यूरोपके दो महासमर केवल इसीलिये लड़े गये कि यूरोपकी उन्नत जातियाँ अपना पक्का माल एशियामें खपाना चाहती थीं। उनका आपसका व्यापारिक ईर्ष्या-द्वेष भीषण युद्धका कारण बन गया। जब कारखानोंमें जरूरतसे ज्यादा माल तैयार हो जाता है और कारखाने बंद होने लगते हैं, तब उन कारखानोंके स्वामी अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये राष्ट्रोंको आपसमें लड़वानेका षड्यन्त्र रचते हैं, ताकि मजदूर लोग बेकार न हों और उनका धन तथा कारखाने बराबर उत्पादक बने रहे । यह सब अत्याचार और भीषणता सभ्यताकी वृद्धि करनेसे ही उत्पन्न होती है। विज्ञान-जैसा ईश्वरदत्त वरदान मानवसमाजके लिये भीषण अभिशापका रूप धारण कर लेता है और इसके आचार्य संसारपर स्वर्गकी रचना करनेके बजाय नरकके दृश्य उपस्थित कर देते हैं !

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंने मनुष्यको शरीरके मोहसे छूटनेकी शिक्षा दी और उसे यह सिखलाया—'तू शरीर नहीं है, आत्मा है ।' हमारे यहाँकी शिक्षाका यहींसे प्रारम्भ होता है । क्योंकि लाखों वर्षोंकी शरीरकी ममता और प्राकृतिक सुखोपभोगकी इच्छा

मानवकी अस्थियोंके अणु-अणुमें रमी हुई है। पशु-योनियोंमें उसमें बुद्धि या तर्कका अभाव था, इस कारण वह सीमामें रहकर शारीरिक सुख भोग लेता था। अब मानव-देह पाकर यदि उसका वही दृष्टिकोण रहे तो अपनी बुद्धि-विद्याके बलसे वह कैसा अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है, इसका भयंकर चित्र—जीते-जागते उदाहरण—हम उन नरपिशाचोंमें देख सकते हैं, जिन्होंने पंजाब-हत्याकाण्डके समय निरपराध आबादीपर असंख्य जुल्म ढाये थे! हमारे पूर्वज यह जानते थे कि शिक्षाका महान् उद्देश्य पशुयोनियोंके बीभत्स संस्कारोंको मिटाकर इस नर-पशुको सच्चा मानव बनाना है और मानवताकी ओर बढ़ना ही संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य है। वह मानवता अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं बल्कि विश्वमैत्रीका सन्देश देनेवाली होनी चाहिये। यह तभी हो सकेगा, जब हमारा दृष्टिकोण शारीरिक न होकर आत्मिक हो जायगा। इसीलिये हमारी प्राचीन कालकी शिक्षा संस्कृतिको मुख्य रखकर दी जाती थी। पैरोंमें जूता नहीं, सिरपर टोपी नहीं, केवल एकवस्त्रधारी आदर्श विद्वान् पुरुष चारों ओर घूमकर अध्यात्मवादका सन्देश सुनाते थे। ऐसे सात्त्विक पुरुष अमृतकी वर्षा करते हुए मनोविकारोंसे सन्तप्त जनताको शान्ति प्रदान करते थे और देशके बच्चे उन्हें अपना आदर्श मानकर उनके पद-चिह्नोंपर चलनेका प्रयत्न करते थे। संस्कृत साहित्य समाजकी इसी विषमताको दूर करनेके लिये स्थितप्रज्ञ बननेका उपदेश बार-बार देता है और यह कहता है—'दुईको निकाल दे, तू दुईको निकाल दे।' यही ध्वनि उन स्थितप्रज्ञोंके साहित्यमें ओतप्रोत हो रही है। यही उनके संगीतमें गायी जाती है और यही उनकी कलामें प्रदर्शित होती है। जबतक आर्य ज्ञानमार्गी बने रहे, तबतक उनकी चतुर्मुखी उन्नति होती रही और वे प्रत्येक विभागमें अमर साहित्यकी रचना कर गये; किंतु जबसे हमने वह मार्ग छोड़ दिया, हमारी दृष्टि व्यापारिक हो गयी; तबसे हमारे धार्मिक क्षेत्रमें भी पशुताने घर कर लिया और हम सात्त्विक गुणोंको बिक्रीके पदार्थ बनाकर उनके द्वारा धन-सञ्चय करने लगे। यहींसे हमारे पतनका प्रारम्भिक इतिहास चलता है।

संक्षेपमें सभ्यता और संस्कृति दोनोंका आपसमें प्रेम-सम्बन्ध है। शरीरके बिना आत्मा अपनी शक्तियोंका प्रदर्शन नहीं कर सकता। उत्कृष्ट संस्कृतिके लोग अपनी सभ्यताके द्वारा अपने सात्त्विक गुणोंका परिचय देते हैं। वे अपने घरोंमें ताले नहीं लगाते; चोरी नामकी किसी बुराईको वे जानते नहीं; व्यभिचार और बलात्कारका कोई चिह्न उनके यहाँ दिखायी नहीं देता। उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और उनका पारस्परिक व्यवहार सत्यतासे परिपूर्ण रहता है। चीनी और यूनानी यात्रियोंने अपनी यात्रा-कथाओंमें ऐसे ही कलापूर्ण और सुसंस्कृत भारतीय समाजका वर्णन किया है, जहाँ महँगी और भुखमरीका नामोनिशानतक नहीं था। हमारी सभ्यता संस्कृतिकी सहायक होनी चाहिये, तभी हम प्राकृतिक सुखोंका न्यायपूर्वक उपभोग करते हुए इस संसारको स्वर्ग बना सकते हैं।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

प्रदीप यह बुझे नहीं।
घोर अन्धकारमें,
वेगमय बयारमें;
यामिनी-विभीषिका,
प्रलय-काण्ड-भूमिका;
अग्नि-गीत गा रही,
वज्र हैं ढहा रहीं;
परन्तु मुक्ति-द्वारका, अमन्द ज्योति-धारका;

प्रदीप यह बुझे नहीं।
ज्योतिमय प्रदीपके,
शक्ति-मय प्रदीपके;
अखण्ड ज्ञान-दीप्तिसे,
अमर्त्य-वर्ति-नीतिसे;
हो विभा-मनोहरा
कान्ति-स्निग्ध हो धरा;
असत्-प्रमाद नाशका, विमुक्त-सत्-प्रकाशका;
प्रदीप यह बुझे नहीं।

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

हिंदू-संस्कृति और सभ्यता

(लेखक—प्रो० श्रीदशरथजी श्रोत्रिय, एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण)

१—परम प्रभुद्वारा प्रकाशित स्थावर एवं जङ्गम सृष्टिमें प्राणधारियोंका उच्च स्थान है। प्राणधारियोंमें मानवता श्रेष्ठ निर्धारित की गयी है, वेदमें मानवमात्रको 'अमृतस्य पुत्राः'[1] कहकर मानव श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। मानवकी यह श्रेष्ठता उसकी श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराके हेतु प्रभु-प्रदत्त सामर्थ्यपर आधारित है। मानव ही इस विशाल विश्वमें श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ आचार और विचार धारण करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है। यही मानवोपार्जित श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्परा सभ्यता और संस्कृतिकी उपादान हो जाती है। श्रेष्ठ आचार-परम्परासे संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परासे सभ्यताका सृजन होता है।

२—आचार और विचारका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इनकी परम्पराके रूपमें उपलब्ध संस्कृति और सभ्यताका भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द परस्पर इतने सम्बद्ध और संसृष्ट हैं कि इन दोनोंका प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहार होने लगा है। परंतु फिर भी इनमें अन्तर है, यद्यपि वह परम्पराभूत होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म है। संस्कृति (सम्+कृति) शब्दमें 'कृति' शब्द इस अन्तरको स्पष्ट बता रहा है। कृति शब्दका सहारा लेकर हम 'संस्कृति' को निर्भीक होकर 'सदाचार' कह सकते हैं। जहाँ संस्कृति-शब्दकी व्याख्या 'आचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी ठीक है[2], वहाँ सभ्यता-शब्दकी व्याख्या 'विचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी चाहिये[3]। क्योंकि सभ्यता-शब्दमें 'तल्' प्रत्यय भाव (विचार) वाचक है। समान विचारसे अनुप्राणित मानवसमूहको 'सभा' कहते हैं। सभामें दक्ष (साधु) पुरुषको 'सभ्य' कहा जाता है। सभ्यका भाव ही 'सभ्यता' कहलाता है। यद्यपि सभ्यता-शब्दकी व्याख्या कर्म (आचार)-परक भी की जा सकती है[1], तथापि कर्मपरक व्याख्या भी विचार (भाव) का सर्वथा बहिष्कार नहीं कर देती। वास्तवमें सभ्यता-शब्दकी विचार-परक व्याख्या ही अत्यन्त समीचीन है।

३—हाँ तो, श्रेष्ठ आचार-परम्परामें संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परामें सभ्यताका सृजन होता है। इस श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराको पाश्चात्त्य विद्वान् प्राकृतिक नियमोंके अनुसार सतत विकासमान मानकर प्राचीन परम्पराओंको हेय कोटिमें फेंक देते हैं। परंतु आर्य हिंदू अखिल-धर्ममूलक[2] अपौरुषेय वेदको इस श्रेष्ठ परम्पराका आदिस्रोत मानता एवं जानता है। इसीलिये वह प्राचीनतम परम्पराओंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखता है। यही कारण है कि आज भी प्राचीनतम वैदिक परम्पराओंमें उसकी ममता अक्षुण्ण है; आज भी वह सम्पूर्ण मानवजातिके मध्य ऐतिहासिक दृष्टिसे अपनेको अत्यन्त गौरव और महत्त्वका पात्र समझता है, और उन्हीं परम्पराओंको मूलरूपमें अपनी सभ्यता और संस्कृति समझता है। उसका आज भी दृढ़ विश्वास है कि मानवजातिका चरम अभ्युदय उन्हीं वेदविहित आचार-विचार-परम्पराओंको अपनानेसे हो सकेगा। आज भी वह समझता है कि मानवकी सारी जटिल समस्याओंके हल वेदमें प्राप्त हो सकते हैं। तभी तो वह कहता है—

'सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।'

अर्थात् 'सभी वेदसे सिद्ध होता है।' आज भी वह मनुस्मृतिका यह श्लोक स्मरण करते हुए आत्मगौरव अनुभव करता है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् सर्वे पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् 'इस भारतदेशमें उत्पन्न हुए वेदवित् ब्राह्मणसे सभी देशोंके सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

४—इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद-विहित आचार-विचार-परम्परा ही 'हिंदू-संस्कृति और सभ्यता' कही और मानी जाती है। इसीसे 'आस्तिक्य' हिंदू-सभ्यता और

१. यजुर्वेद ११। ५ मन्त्रांश—
'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
२. संस्क्रियते मानवः अनया इति संस्कृतिः अर्थात् सदाचारः।
'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'
'आचारः प्रथमो धर्मः॥'
३. सह भाति सा सभा। सभायां साधुः (निपुणः)
सभ्यः। सभ्यस्य भावः सभ्यता।

१. सभ्यस्य कर्म वा सभ्यता।
२. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनु० २। ६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(यजु० ४० । ६)

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[1] ॥
(यजु० ४० । ७)

× × × ×

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः[2] ॥
(गीता ६ । ३२)

× × × ×

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥
(ऋ० १० । १९१ । २)

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
(ऋ० १० । १९१ । ३)

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति[3] ॥
(ऋ० १० । १९१ । ४)

है; इससे अन्य कोई नहीं, जिससे ऐ मानव ! तू कर्मके बन्धनमें नहीं बँधेगा ।

× × ×

१. जो सब भूतोंको आत्मा (अपने) में और अपनेको सब भूतोंमें देखता है—समझता है, फिर वह किसीसे घृणा नहीं करता अर्थात् सभीसे प्रेम करता है । जहाँ एकत्व (आत्मोपमासे समता) को देखने-समझनेवाले विद्वान्के लिये सब प्राणी आत्मा ही हो गये, वहाँ शोक और मोह कैसा ?

× × ×

२. जो सबमें मुझे और मुझ (ईश्वर) को सबमें देखता है, मेरे लिये वह और उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता । आत्मोपमासे सबके दुःख और सुखको जिसने समान समझ लिया, वही योगी मुझे विशेष प्यारा है अथवा मेरे मतमें श्रेष्ठ है ।

× × ×

३. ऐ मनुष्यो ! मिल-जुलकर प्रगति करो; मिल-जुलकर बातचीत करो, मिल-जुलकर विचार करो । तुम्हारे पूर्वज विद्वान् मिल-जुलकर विचार करते हुए ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार सदा आचरण करते आये हैं । तुम सबके विचार, सघटन, मन और चित्त समान हों । मै (ईश्वर) तुम सबको यही समान उपदेश देता हूँ और समान भोगाधिकारसे युक्त करता हूँ । तुम्हारा सबका अभिप्राय समान हो, हृदय समान हो, मन समान हो, जिससे तुम सब अच्छी प्रकार साथ-साथ रह सको ।

८. ऊपरके उद्धरणोंसे यह समझना सरल होगा कि आस्तिक्य और आत्मवादके ऊपर टिकी हुई हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिके अन्तर्गत जिस 'आस्तिक सर्वतः साम्य' का उपदेश हुआ है, उसके सामने आधुनिक 'साम्यवाद'* एवं 'समाजवाद'† तथा 'लोकवाद'‡के अन्तर्गत तथाकथित विविध प्रकारका केवल 'आर्थिक साम्य'§ कितना थोथा और अपूर्ण प्रतीत होता है। इस आधुनिक आर्थिक साम्यमें मनुष्य और यन्त्र-मनुष्यमें अन्तर ही क्या रह जायगा—यह विचारणीय है । फिर शान्ति और सुखका उद्देश्य ही क्या होगा ? आज आधुनिक साम्यवाद, समाजवाद और लोकवादके नामपर जिस 'साम्य' का राग अलापा जा रहा है, उसमें 'आस्तिक्य'का स्पर्श भी नहीं । इस नास्तिक साम्यसे चिर विश्व-शान्ति किंवा विश्वप्रेमका कभी आविर्भाव होगा—हमें तो इसमें सन्देह ही है । यों तो 'हरड़ेके दस हाथ होते हैं'—ऐसा कहनेवालेके मुखको भी कोई रोक नहीं सकता ।×

९. हिंदू आचार-परम्पराने 'लोक'को और हिंदू-विचार-परम्पराने 'लोकेश्वर'को सदा सर्वोच्च स्थान दिया है । इन्हीं दोनो परम्पराओंके अनुसार हिंदू-संस्कृति और सभ्यता अबसे बहुत पहले ही दृढ 'आस्तिक लोकतन्त्र'+ का निर्माण कर चुकी थी । यही कारण है कि हिंदू-संस्कृति और सभ्यतामें

* कम्युनिज्म (Communism)

† सोशलिज्म (Socialism)

‡ डेमाक्रेसी (Democracy)

§ आर्थिक समवितरण (Equitable Distribution of wealth)

× मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी—यह एक संस्कृतकी कहावत है ।

\+ आस्तिक लोकतन्त्र—वह राज्य-व्यवस्था, जिसमें शास्त्र-विधिके अनुसार अभिषिक्त राजाको प्रजा देवता समझती थी । तथा राजा प्रजा-पालनको अपना प्रधान कर्तव्य समझता था, इसी कारण उसे 'नृप' भी कहा जाता था । तुलना कीजिये—

हम पद-पदपर संस्कारों और यज्ञोंका बोल-बाला, धर्ममें अभ्युदय और निःश्रेयसका समावेश, शास्त्रमें कर्म और ज्ञानका समन्वय और विधानमें क्षत्र और ब्रह्मका अटूट संयोग पाते हैं।

संस्कृति और वेद

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और इसमें इस देशके निवासियोंका नाम 'भारत' है। यथा—

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥
(ऋ० ३। ५३। १२)

इसका साधारण अर्थ—"आकाश, पृथ्वी दोनोंके मध्य अन्तरिक्षमें स्थित इन्द्रकी मैंने स्तुति की है। विश्वामित्रका किया हुआ स्तोत्र 'भारत जन'की रक्षा करे या करता है।" गीतामें भी देश-सम्बन्धसे अर्जुनको सम्बोधित करते हुए अनेक बार 'भारत या भरतर्षभ' कहा है। यथा—

'व्यक्तमध्यानि भारत', 'पश्याश्चर्याणि भारत', 'जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ', 'ज्ञानी च भरतर्षभ', 'सत्त्वं भवति भारत', 'तन्निबध्नाति भारत', 'रजः कर्मणि भारत।'

यह महिमायुक्त नाम उसी देशको दिया गया था, जो सबका 'भरण' करता था। मानसकार महात्माजी भी कहते हैं—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

अनन्तर 'आर्यावर्त' नाम हुआ। यहाँके निवासियोंने कृषिके काममें श्रेष्ठता प्राप्त की। 'ऋ' का अर्थ गति है और जो गतिशील, परमार्थकी ओर अग्रसर होता है, वह ऋषि है। ऋषिका अर्थ निर्मल-बुद्धिसम्पन्न जीवनोपयोगी मन्त्ररहस्य-द्रष्टा पुरुष है। यहाँ अनेक ऋषि हुए, इसलिये यह देश आर्यभूमि या आर्यावर्त कहलाया। बार-बार किसी काम या बातके होनेमें मनपर प्रभाव पड़ जाता है। यही प्रभाव संस्कार है, जो अमिट बन जाता है। इतना परिवर्तन होनेपर भी यहाँवालोंको 'भारत' या 'आर्य' कहलानेमें गौरव प्रतीत होता है। जब देशकी सीमा छोटी हुई; तब एक नदीको 'सिंधु' कहा। 'सीमाको धोये' वह सिन्धु है (सीमां धौति या सा) इस कारण लाक्षणिक ढंगसे सिन्धुको समुद्र भी कहना आरम्भ हुआ। जो कुछ हो—इस नदीके सम्बन्धसे अपर जनोंने यहाँके निवासियोंको सिंधु अर्थात् 'हिंदू' कहना आरम्भ किया। ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है। इसे अपनी कसौटीसे देखनेपर अभिप्राय 'हीनताको दूर करनेवाले' होता है (हीनतां दुनोति दूरीकरोति यः सः)। हमको अन्य जनोंकी दृष्टिसे या अर्थ (अन्य-भाषा-भाषियोंके कोषमें दिये हुए) से क्या प्रयोजन ! अस्तु।

यदि प्राचीन ऋषिप्रणीत संस्कारोंको देखा जाय तो वे जीवनमें आनेवाली हीनताको दूर करनेके अमोघ उपाय हैं। इस देशमें चलाये हुए व्रत, उत्सव, नित्य-नैमित्तिक कार्य, मेले, लोकव्यवहार आदि सबका अन्तर ध्येय जीवनकी हीनताको हटाकर मनुष्योंको आनन्दमय बनाना है। संस्कारोंका ध्येय आत्मसूचना देकर जीवनको सुचारु ढाँचेमें ढालनेका है। व्रतोंका लक्ष्य ऋतु-अनुसार आहार-विहार करते हुए दुःखनाशक योगको प्राप्त करना है। ऋषियोंने

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो 'नृप' अवसि नरक अधिकारी॥

इसीको 'रामराज्य' भी कहा गया है। यथा—

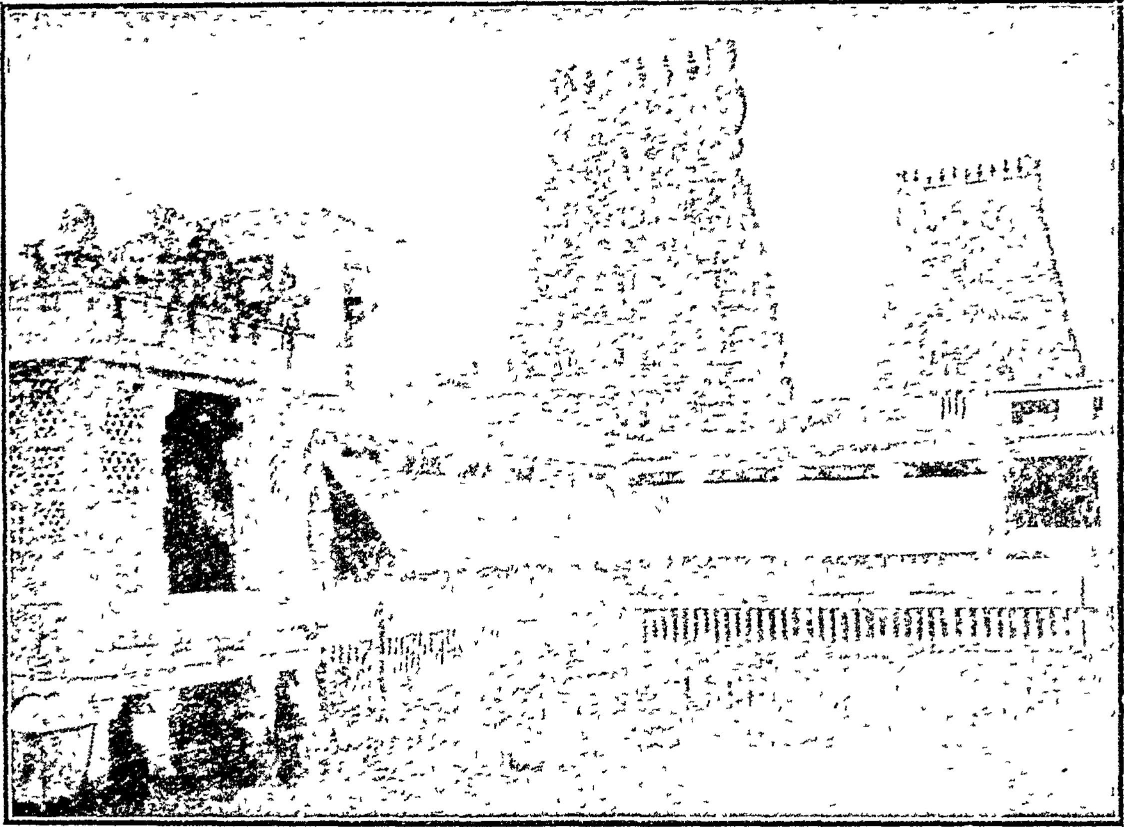
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

१. सोलह संस्कार प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं चौवालीस संस्कार भी बताये गये हैं तथा उनमें यज्ञोंकी भी गणना की गयी है (देखिये—नारदपरिव्राजकोपनिषद्)। यज्ञोंके असंख्य प्रकार हैं। हिंदुओंमें यज्ञोंकी सदा प्रधानता रही है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' (यजु० ३१। १६)

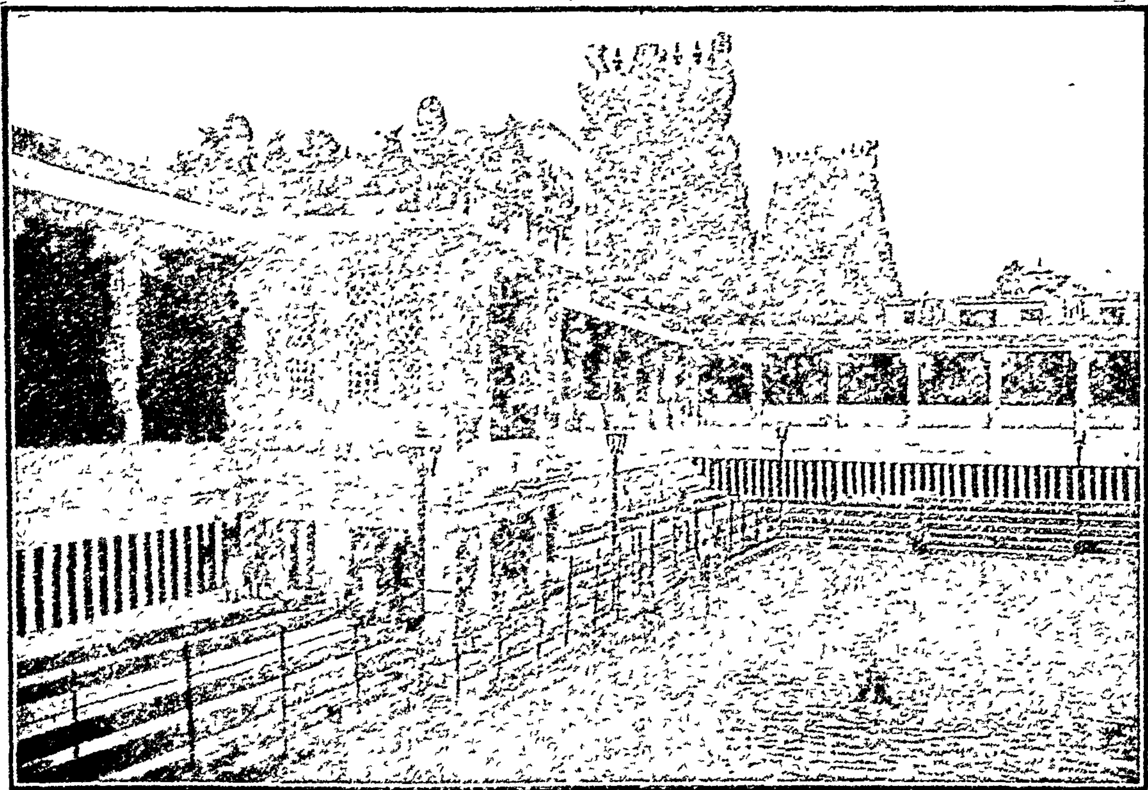
२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ (वैशेषिकदर्शन १। १)

३. साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। (गीता ५। ४)

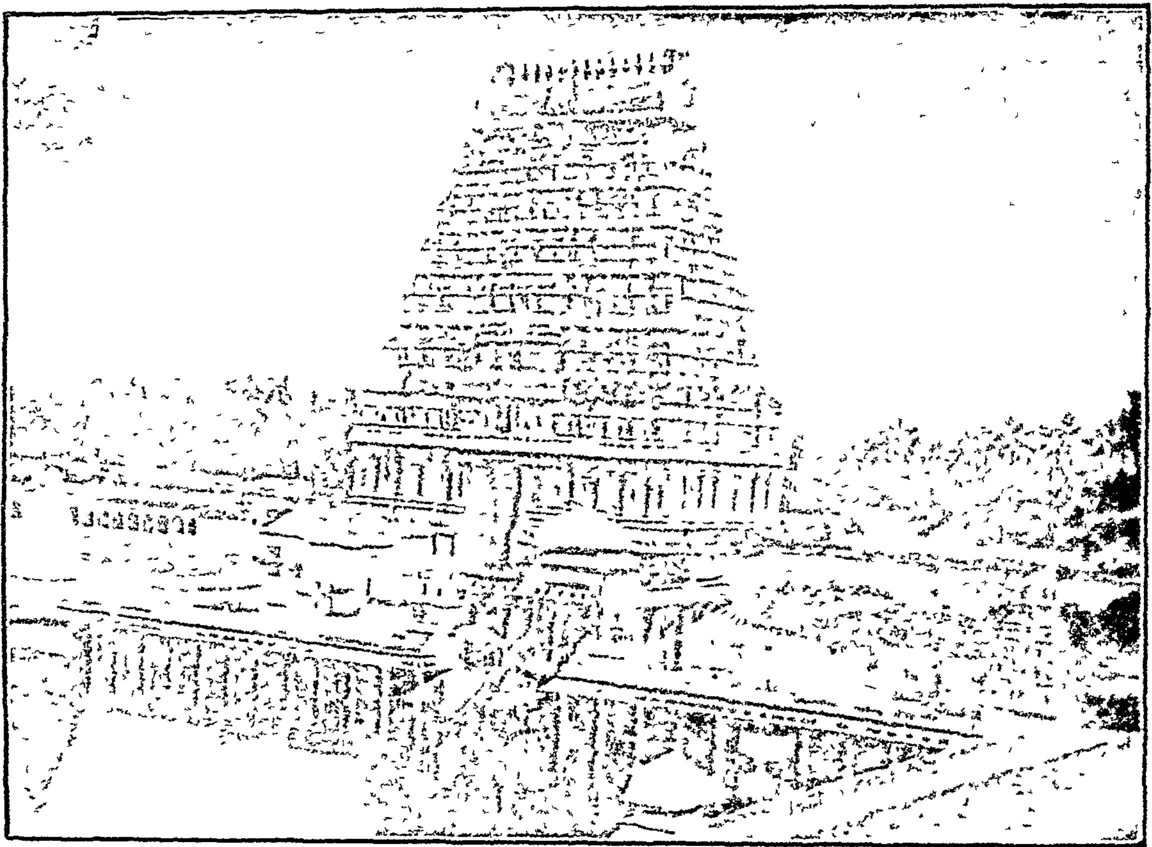
४ इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्॥ (यजु० ३२। १६)



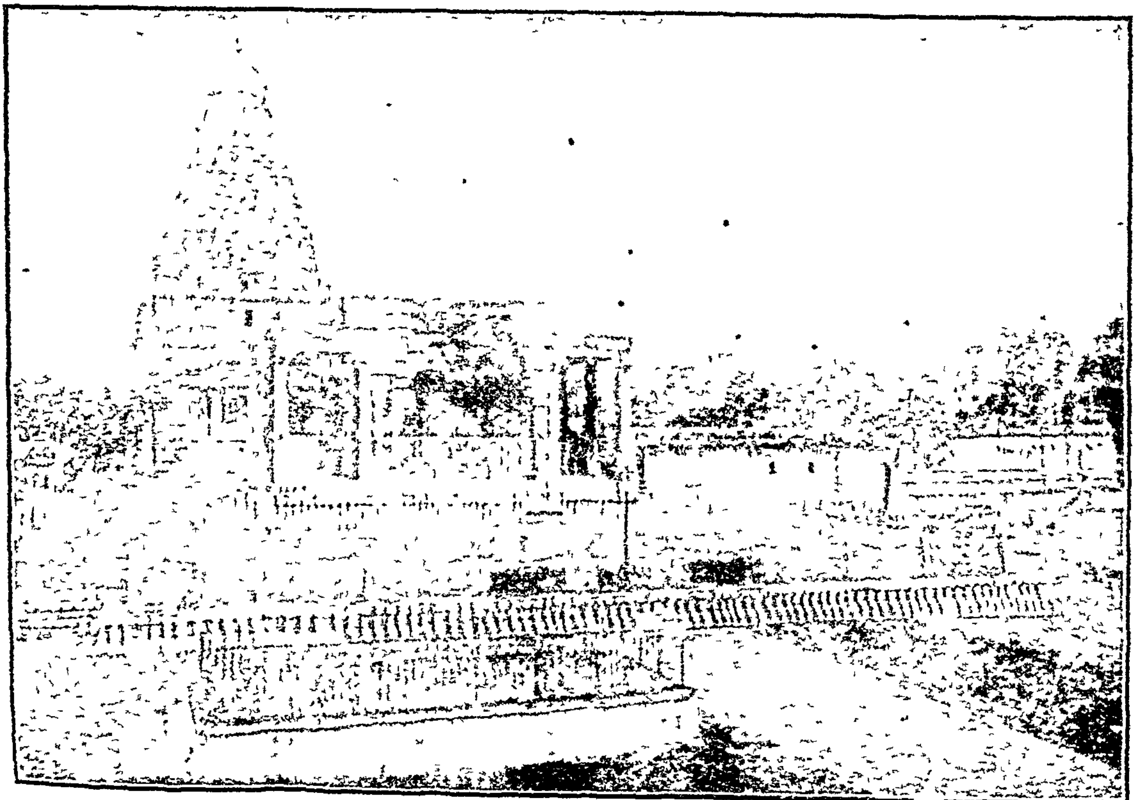
श्रीमीनाक्षी और श्रीसुन्दरेश्वरके मन्दिर—मदुरा



 श्रीमीनाक्षी-स्वर्णकमल-सरोवर



श्रीचिदम्बरमके मन्दिरका गोपुर



बृहदीश्वर-मन्दिर—तञ्जौर

वेदोंकी संस्कृतिकी रक्षाके हेतु अष्टाध्यायी 'रुद्र'का संकलन किया। वे समझने लग गये कि इतने विशाल वेदका अध्ययन-अध्यापन कठिन हो जायगा तथा लोक-व्यवहार विकृतिको पहुँच जायगा। 'रुद्र'का हेतु यह था कि लोकव्यवहारार्थ कम-से-कम इतने वेद-ज्ञानका सिंचन लोगोंके हृदयोंमें होता रहे। संस्कृतिके रक्षार्थ नित्य कर्मके नियम बनाये गये। सन्ध्या-तर्पण, वैश्वदेव, संस्कार, व्रत आदिकी योजनाएँ की गयीं। लोगोंको एकत्रितकर अपनी संस्कृतिको स्थिर रखनेके लिये मेले तथा बृहत् सम्मेलन (यथा कुम्भ आदिपर प्रयाग, नासिक, उज्जैनके मेले) किये गये। तीर्थोंका मुख्य ध्येय संस्कृतिका प्रचार करना था। लोग आकर पवित्राचारके कार्योंको देखकर अपने जीवन-सुधारकी शिक्षा ग्रहण करें। आजकल ये स्थान प्रायः भ्रष्टाचार एवं भिक्षाचारके केन्द्र बन गये हैं। प्राचीन ऋषियोंके आश्रम रहते थे, जहाँ सब उत्पादक परिश्रम करके जीवन व्यतीत करते थे। आ+श्रम= पूर्ण श्रम, जिससे उन्नति और कल्याण हो। इस तरह वे स्वावलम्बी जीवनकी शिक्षाके केन्द्र थे।

ऋषियोंकी दूर दृष्टिके प्रमाणमें चारों वेद-संहिताओंके 'अथ और इति'की ऋचाओंका कुछ विचार जनताके मननार्थ दिया जाता है—

ऋग्वेद—ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (१। १। १)

'अग्नि' ध्वनिसे अनेक अर्थोंकी सम्भावना होती है। इनमें कुछको लेकर विचार व्यक्त किया जाता है।

(१) भौतिक रूपमें अनेक कामोंमें लायी जाती है। इसके तीन स्थान मुख्य होनेसे गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणात्य—तीन रूप माने जाते हैं। गार्हपत्य जो घरमें, आहवनीय जो यज्ञों या कला-कौशलके कार्योंमें, दाक्षिणात्य जो विश्लेषण या श्मशानमें काम आती है। ऋषि भावना करता है कि मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ, जो आवश्यक कार्यके सत्यफलको उत्पन्न करनेवाला, उत्तम कार्योंको संपादन करनेवाला तथा मूल्यवान् वस्तुओंको धारण करनेमें समर्थ है।

(२) दैविकरूपमें सूर्य और विद्युत् या स्वयं घर्षणसे होनेवाली है, यथा समुद्रमें वडवानल और पृथ्वीके गर्भमें ज्वलनशील स्फोटक पदार्थ हैं। यह भी पूर्वसे ही रक्खी है और सामने प्रत्यक्ष भी है। ज्ञान बढ़ानेमें सहायता करती है और रमणीय पदार्थोंको उत्पन्न करती है।

(३) आध्यात्मिकरूपमें परमात्मा है, जो सब यज्ञोंका कर्ता-धर्ता है और रत्नरूप मोक्षको देनेवाला है।

(४) लौकिकरूपमें पुत्र या मित्र है, जो जीवनके कार्योंको सँभालनेवाला और सम्पत्तिको धारण करनेवाला है तथा यशको फैलानेवाला है।

(५) सामाजिकरूपमें अग्रणी—नेता है, जो संस्था या समाजके कार्योंके करनेमें प्रधान पुरुष है और उत्तम ज्ञानको धारण कर समयपर तदनुकूल काम करनेवाला है।

(६) शारीरिक रूपमें वीर्य तथा जठराग्नि है, जो भोजनका सार निकालकर उत्तम गुणों या बलोंको धारण करता और शरीर-यात्रामें सहायता करता है।

(७) मानसिक (मनोविज्ञान) रूपमें विवेक है, जो जीवनके सारासारको निकालकर सदाचरण धारण करने या व्यवहारमें लानेके लिये सहायक होता है।

(८) जीवशास्त्रमें प्राण है, जो शरीरमें जीवन रखता और सबसे उत्कृष्ट वस्तु श्वास आदिको धारणकर चैतन्यको प्रकट किया करता है।

(९) अर्थशास्त्रमें सम्पत्ति, भूमि और परिश्रम हैं, जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको उत्पन्नकर उत्तम साम्यको धारणकर शान्ति स्थापित करते हैं।

(१०) कामशास्त्रमें स्त्री या वधू है, जो कौटुम्बिक जीवनमें मुख्य कार्यभाग सम्पादनकर पुत्र या पुत्री-रत्नोंको धारणकर समाजकी वृद्धिमें मुख्य घटक है।

(११) धर्मशास्त्रमें सदाचार है, जो जीवनका ध्येय रख उत्तम भावोंको धारणकर समाजमें शान्ति लाता है।

(१२) वैद्यशास्त्रमें ओषधि है जो शरीरमें सत्त्व, बल देकर उत्तम धातुकी रक्षा करता और जीवननिर्वाहमें सहायक होता है।

अब 'इति' को देखिये—

(१) सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ० १। १९१। २)

जिसे देव—सुनागरिक पहले ही अच्छी तरह स्व-मर्यादा तथा तदनुकूल कर्तव्योंको जानकर उपासना करते हैं, समीप रहकर काम करते हैं, वैसे ही तुम सब समीप रहकर समान

गति करो, समान बोलो अर्थात् उन्नतिके लिये प्रयत्न करो और मन्तव्य प्रकट करो, भेदभाव मत रक्खो कि कोई कुछ कहे और कोई कुछ। इसलिये परस्पर समान ढंगसे सब मनोगत भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। व्यक्तिगत विचारको सर्वोपरि बतलाकर लोगोंकी दुर्गति मत करो। सब काम अनुशासनमें रहकर करो।

(२) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। (ऋ० १। १९१। ३)

किसी भी काममें प्रवृत्त होनेका एक-सा मान (Standard) रहे। इसी तरह मन्त्रणा करनेका, निर्णय करनेका एक-सा ढंग रहे। सबका चित्त एक ही ओर झुका रहे। प्रत्येक व्यक्ति यही विचार रक्खे कि मैं निर्णीत मन्त्रका अनुसरण करूँ और समाजके कार्यमें समान रीतिसे भाग लूँ। यज्ञमें सबके साथ हवि डालूँ—समाजके काममें यथाशक्ति सुअवसरपर स्वार्थत्याग करूँ या आवश्यक कार्य-भाग लूँ। वेदका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि चाहे जिसके साथ उठो या बैठो और भक्ष्याभक्ष्य-का विचार न करके खाओ-पीओ, और मर्यादाभ्रष्ट होकर कुछ भेद मत रक्खो। अपनी सीमामें रहकर एक-सा मान रखते हुए काम करो। विवेकसे काम लो। विवेकभ्रष्ट मत होओ।

(३) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ० १०। १९१। ४)

किसी बातको कूँतनेका (कीमत स्थिर करनेका) ढंग एक-सा रहे। इसी तरह सबके हृदयोंमें एक-सी विचारधारा प्रवाहित हो। (यथा—गो-वध-निवारणके सम्बन्धमें सबके हृदयोंमें एक-से विचार रहे।) सबके मन एक ही बातपर जमे, और सबका साहित्य भी एक ही मानका हो। अर्थात् आचार, विचार, पठन-पाठन, वेषभूषा आदि जीवनके कार्योंका मान (Standard) एक-सा रहे। इस तरह साम्यभावसे ईर्ष्याका प्रसार नहीं होता। देशमें सबका जीवन सुखी होता है।

ऋषियोंने इस वेदमें महावाक्य (Life-motto) यह रक्खा है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', निश्चयपूर्वक यह सब ब्रह्म है। सबको समान जानकर सबके साथ मर्यादापूर्वक समान व्यवहार करना ही सर्वोपरि ज्ञान है या संस्कृतिका उत्तम रूप है। इसकी रक्षाके लिये इतने संस्कारादि रक्खे गये हैं। यही साम्यवाद-का सत्य स्वरूप है।

यजुर्वेद—ॐ इषे त्वोर्जे त्वा, वायव स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्, अघ्न्या इन्द्राय भागं, प्रजावतीः अनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माऽघशंसः ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात, बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु० १। १)

(१) हे परमेश्वर! मैं तुम्हारी ब्रह्म-तत्त्व और विवेकके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(२) मैं यथेष्ट वर्षा और अन्नके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(३) सुप्रजा और अभ्युदयके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(४) स्वत्वाधिकार और उत्कृष्ट सदाचारके लिये प्रार्थना करता हूँ। क्योंकि तुम सर्वत्र गमनशील हो, सबकी चिन्ता करते हो। सबको उत्पन्न करनेवाले देव श्रेष्ठ कर्मोंके लिये प्राप्त हों और प्रेरित करें। इन्द्रके हेतु यह भाग—इन्द्रियाँ, कृषिहेतु—गौएँ और सुखहेतु—ज्ञानमयी बातें हनन करनेयोग्य नहीं हैं। ईश्वरकृपासे गायें, स्त्रियाँ, बुद्धियाँ प्रजावती, रोगरहित और क्षयरोगसे रहित होवें; इनपर चोर और दुष्टजन अधिकार न करें। हे परमेश्वर! तुम्हारे पतित्व—स्वामित्वमें प्रजा, गायें, बुद्धि—सब कुछ अचल रहें और यजमान—कर्तव्यशील मनुष्यकी इन्द्रियाँ, गायें और अन्य पशुओंकी रक्षा करो और संख्या बढ़ाओ। यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय उपनिषद्की गणनामें आ गया है। अतएव इसके पहलेके (३९वें) अध्यायके अन्तमें इस प्रकार है—

तपसे स्वाहा, तप्यते स्वाहा, तप्यमानाय स्वाहा, तप्ताय स्वाहा, घर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा, प्रायश्चित्यै स्वाहा, भेषजाय स्वाहा॥ यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, ब्रह्महत्यायै स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥
(यजु० ३९। १२-१३)

तप तपनेवाले, तपे हुए, तप करते हुए, पसीना टपकाते हुए अर्थात् उचित और उत्पादक परिश्रम करनेवाले मनुष्य धन्य हैं। उनकी सारी आवश्यकताओंकी प्रभु-कृपासे पूर्ति होती रहे। उचित पुरस्कार देनेवाले, प्रायश्चित्त करने-वाली ओषधियाँ भी धन्य हैं। इनका उचित उपयोग—सत्कार किया जाय। नियन्त्रण कर अनुशासन रखनेवाले, झगड़ोंका अन्त करनेवाले मृत्यु! तू भी धन्य है। ब्रह्म—सारे समाजके लिये उचित त्याग किया जाय और समाजके घातकको उचित

दण्ड दिया जाय। सब देवोंकी तृप्ति की जाय और पृथ्वी और अन्तरिक्ष सुखदायक हो।

अथवा ४० वेके अन्तमें इस प्रकार है—

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०। १६-१७)

हे अग्नि! जानते हुए सुपथमें हमको ले चलो। देवको प्रिय सब प्रकारके धन-ऐश्वर्य हों (प्राप्त हों)। हम तुमको नमस्कार करते हैं, तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम (कृपाकर) कुटिल पापको दूर हटाओ। सत्यका मुँह चमकीले पात्रसे ढका है। सत्यकी खोज करते समय आरम्भमें चमकीली बातें भ्रममें डाल देती हैं (संसारकी चमक-दमकके लोभमें पड़कर या नाम-रूपकी उपाधिमें अटककर वस्तु-तत्त्वको जानना कठिन हो जाता है)। आदित्यमें जो पुरुष है, वही मैं हूँ। मैं अखण्ड पुरुष हूँ। इसलिये इसका महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। वही (अखण्ड-पुरुषका बिम्ब) तू है। समाज तू ही है (समाजका प्रतीक तू ही है) और तू ही समाज है। तू ही समाज (ब्रह्म) को झलकाता है। तुझपरसे ब्रह्मके भास (समाजकी संस्कृति) का अनुमान हो जाता है। इससे समाजवादका उत्तम स्वरूप ध्यानमें आता है। समाजमें प्रत्येक व्यक्ति समाजकी स्थिर संस्कृतिका आदर करनेवाला हो। वह अपनेको समाज-संस्कृतिका रक्षक माने।

सामवेद—**अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥** (साम० १। १। १-२)

हे अग्नि! स्तुति करनेवाले और उचित हवि (आवश्यक सामग्री) देनेवालेके घर आकर कुशासन (उचित स्थान) पर मुख्य आराध्याराधक होकर बैठिये। तुम मेरे यज्ञोंके सम्पादन करनेवाले हो। मनुष्य-समाजमें उत्तम गुणोंद्वारा सबका हित करते हो।

अन्तमें इस प्रकार है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (साम० २१। १। ९)

विशाल कीर्तिवाले इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें, विश्व-ज्ञानी सबके पोषण करनेवाले सूर्यदेव हमारा कल्याण करें। अकुण्ठित आयुधवाले विष्णु (विश्वकर्मा) हमारा कल्याण करें, वाणीके पति या देवोंके गुरु हमारा कल्याण करें।

इसका महावाक्य है—'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा, चैतन्य व्यक्ति ही ब्रह्म है। यही ब्रह्मका (सभी समाजका) भास दे रहा है। यह भी समाजमें साम्यवाद रखनेका उत्तम ढंग है।

अथर्ववेद—**ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥** (अथर्व० १। १। १)

वाचस्पति (देवोंके गुरु) मेरे शरीरमें अब उनके बल रक्खें, जो सब तीन और सात या इक्कीस होकर (तीन गुण और सात धातु—व्याहृतियाँ या पाँच भूत, पाँच तन्मात्रा और दस अधिष्ठान इन्द्रियाँ और जीव सब रूपोंको भरते हुए चारों ओर घेरकर स्थित हैं। सब रूप इन्हींमें हैं और ये सब रूपोंमें न्यूनाधिक प्रमाणसे हैं।

अन्तमें इस प्रकार है—

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नोऽभवत्वन्तरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः। सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै॥ (अथर्व० ९। १४३। ८-९)

ओषधियाँ, द्यौ (आकाश), पानी (मेघ), अन्तरिक्ष (वातावरण), क्षेत्रपति क्रुद्ध न होते हुए हमारे लिये मधु-समान हों, हम उनका अनुसरण करते रहें। अश्विनीकुमारोंके द्वारा यह पृथ्वी, वातावरण और आकाशका मण्डल ही भंडार बनाया गया है अर्थात् थलचर, व्योमचर जीवोंके हेतु यह सुखदायक स्थान बनाया गया है। इस गोठानमें सहस्रों यहाँ आकर पानी पीयें और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें। सब इकट्ठे होकर उपभोग लें।

इसका महावाक्य—'सोऽहम्' है। मैं ही वह (ब्रह्मका बिम्ब) हूँ, मुझमें ब्रह्म (समाज) की युग-युगान्तरसे आयी हुई कृतियोंका समावेश है। मैं उन सबको प्रसंगानुसार उद्धृत किया करता हूँ।

हिंदू-संस्कृतिका आधार

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषाका है। संस्कृत-व्याकरणानुसार 'सम्' (उत्तम) उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय होनेपर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। उसका सरल अर्थ है 'उत्तम कृति' अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिकी उत्तम (सम्यक्) चेष्टाएँ या हलचलें। इनमें लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सभी प्रकारके अभ्युदय—उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ आ जाती हैं। वैसे तो देहादिकी अच्छी-बुरी सभी चेष्टाएँ 'कृति' हैं; किंतु उनमें अच्छी, सम्यक्, उत्तम चेष्टाएँ ही 'संस्कृति' (सम्+कृति) कही जाती हैं। हिंदुओंकी कृतियोंकी सभ्यता श्रुति-स्मृति-पुराण इतिहासादि ग्रन्थों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत सदाचारपर आधारित है। अर्थात् श्रुति-स्मृति-सदाचारादिसे अनुमोदित, उनपर आधारित कृति ही 'हिंदू-संस्कृति' है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि वेदादि-शास्त्रप्रतिपादित उन वर्ण-आश्रमादिके यथाधिकार धर्म ही 'संस्कृति' हैं। साराश यह कि वेदादि शास्त्रों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत आचार-विचारवाले समाजमें उत्पन्न, तादृश वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य माननेवाला, उनपर विश्वास रखकर तदनुकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही 'हिंदू' है और उसके उक्त आचार-विचार ही 'हिंदू-संस्कृति' हैं।

संक्षेपतः मैं यहाँ इस 'हिंदू-संस्कृति'के आधारभूत शास्त्रोंका पाठकोंकी जानकारीके लिये वर्णन उपस्थित कर रहा हूँ। शास्त्रका ही एक दूसरा नाम 'विद्या' है। साधारणतया परा और अपरा भेदसे विद्या दो प्रकारकी कही गयी है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका साक्षात्कार सम्पादन करानेवाली विद्याको 'परा' और लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल विधि-विधानका उपदेश करनेवाली विद्याको 'अपरा' कहा गया है। श्रीशुक्राचार्यने 'नीतिसार'के चतुर्थ अध्यायके तीसरे प्रकरणमें बतलाया है कि वैसे तो विद्याके अनन्त भेद हैं, उनके नामतक नहीं गिनाये जा सकते; परंतु उनमें ३२ विद्याएँ मुख्य हैं। शुक्राचार्यका कहना है कि सम्पूर्ण रूपसे जिसमें वाणीका उपयोग किया जाता हो, वह 'विद्या' है—

'यद् यत् स्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।'

पाठकगण यहाँ 'सम्यक् कर्म' इन पदोंपर ध्यान दें। 'सम्यक्'में 'सम्' छिपा हुआ है और 'कर्म'में 'कृति'। वही तो 'संस्कृति' है। इस प्रकार देखनेपर हमें ज्ञात होता है कि विद्या-पदवाच्य शास्त्र भी 'संस्कृति'के बोधक होनेके कारण 'सम्यक् वाचिक कर्म' अर्थात् 'संस्कृति' कहे गये हैं। वाचिक कर्मके मूलमें मानसिक होना ही चाहिये। और वाचिकका उपयोग कायिक कर्मोंमें है; अतः वेदादि शास्त्रोचित मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनों प्रकारके सत्कर्म ही 'संस्कृति' कहे जा सकते हैं।

'हिंदू-संस्कृति'के आधारभूत उक्त बत्तीस विद्याओंमें ४ वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व), ४ उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और तन्त्र), ६ वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष), ६ दर्शन (मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त और योग), इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकमत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनमत और देशादि-धर्म हैं।

वेद

संक्षेपमें इन सबके लक्षण तथा परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—संहिता और ब्राह्मणभाग वेद कहा जाता है। संहिताभागमें मन्त्रोंका संग्रह है। जिनका उच्चारण करके किये हुए जप, होम, पूजन आदि देवताओंकी प्रीति-सम्पादनके कारण होते हैं; वे 'मन्त्र' हैं। मन्त्रोंका उपयोग कहाँ और कैसे किया जाता है, यह बतलानेवाला वेदभाग 'ब्राह्मण' कहा जाता है। जिस वेदमें गायत्री आदि छन्दोंके रूपमें मन्त्र अधिक संख्यामें होते हैं और जिन मन्त्रोंसे यज्ञोंमें हौत्र नामक कर्म सम्पादित होता है, वह 'ऋग्वेद' है। जिसमें अनेक मन्त्र एक साथ मिलाकर पढ़े जाते हैं और जो प्रायः किसी छन्दविशेषके रूपमें नहीं होते एवं जिनसे अध्वर्यु (यज्ञका एक ऋत्विक्) को कर्म करनेकी आज्ञा है, वह 'यजुर्वेद' है। जिसमें भिन्न-भिन्न ऋचाओंपर विशिष्ट पद्धतिसे गीतियुक्त मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' है। उसके मन्त्रोंका उपयोग यज्ञोंमें उद्गाता आदि याज्ञिक-गणके द्वारा विशिष्ट रीतिसे उच्चारणमें होता है। जिस वेदभागमें उपास्य देवताओंकी उपासनाके अनेक मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहा जाता है। उसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' भी है। हिंदू-शास्त्र वेदोंको अनादि, अपौरुषेय एवं स्वतः-प्रमाण मानते हैं। चारों वेदोंकी ११३१ शाखाएँ हैं, जिनमें ऋग्वेदकी

२१, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इनमेंसे अधिकतर लुप्त हो चुकी हैं। कुछ अभी उपलब्ध हैं, जिनकी अध्ययनाध्यापन-परम्परा प्रचलित है। यद्यपि कालकी महिमासे वेदोंके पढ़नेवाले कम होते जा रहे हैं; तथापि काशी, नासिक आदि कतिपय स्थानोंमें ब्राह्मणोंने इस परम्पराको अभीतक उज्जीवित रक्खा है। हजारोंकी संख्यामें वेदोंके मन्त्र इनको कण्ठस्थ हैं। पाठमें एक स्वर या मात्रा भी इधर-उधर होने नहीं पाती। उनके यहाँ यह परम्परा कबसे चली आ रही है, यह कहना कठिन है। इन वेद-पाठकोंकी स्मरणशक्ति देखकर आश्चर्य होता है।

उपवेद

इन चारों वेदोंमें प्रत्येकका एक-एक उपवेद है। 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है। इसमें रोगोंकी पहचान, उनकी उत्पत्तिका कारण, चिकित्सा आदिका वर्णन है। इसको जानकर तदनुकूल आचरण करनेसे मनुष्यका स्वास्थ्य उत्तम रहता है और आयु बढ़ती है। इसीलिये यह आयुर्वेद कहा जाता है। [इसमें आकृति अर्थात् शरीर-रचना ('अनाटमी' तथा 'फिजियालजी') और औषध एवं चिकित्सा ('थेराप्यूटिक्स' तथा 'मेडिसिन') दोनों आ जाते हैं।] धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद है। इसमें युद्धसम्बन्धी सभी बातोंका वर्णन है। अनेक शस्त्र-अस्त्रोंके निर्माणकी विधि, उनके चलानेके उपाय, अनेक प्रकारकी व्यूह-रचनाएँ आदि विषय इसमें विस्तारके साथ बतलाये गये हैं। प्राचीन कालमें शस्त्रास्त्रोंमें धनुष मुख्य था, इसीलिये उसके नामपर इस उपवेदका नाम 'धनुर्वेद' है। गान्धर्ववेद' सामवेदका उपवेद है। इसमें उदात्त, अनुदात्त आदि भेदसे और वीणा तथा कण्ठसे निकलनेवाले षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरोंसे तालके साथ गानेकी विधि बतलायी गयी है। (इस तरह इसमें 'वोकल'—कण्ठ-सम्बन्धी और इंस्ट्रूमेण्टल'—तन्त्री-सम्बन्धी दोनों गान आ जाते हैं)। 'तन्त्र' अथर्ववेदका उपवेद है। इसमें अनेक उपास्य मन्त्रोंकी उपासनाकी विधियाँ, प्रयोग और उपसंहार (लौटाने) के साथ मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मोंके प्रकारका, उनके नियम आदि विशिष्ट प्रयोगोंके साथ विशद वर्णन है। (आजकलके लोग इन्हें टोना-टामन भले ही कहें, पर इनकी उपयोगिताको स्वर्गीय श्रीवुडरफ-सरीखे पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।)

वेदाङ्ग

उदात्त आदि स्वरभेदसे, ह्रस्व, दीर्घ आदि कालभेदसे, कण्ठ, तालु आदि स्थानभेदसे एवं बाह्य, आभ्यन्तर प्रयत्नोंके साथ वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी विधि 'शिक्षा' कही जाती है। वैसी 'शिक्षा' की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको भी शिक्षा ही कहते हैं। शिक्षाएँ प्रत्येक वेदकी पृथक्-पृथक् एवं अनेक हैं। इसे वेदकी 'घ्राणेन्द्रिय' कहा गया है। शिक्षाके बाद 'कल्प' है। इसके दो भेद हैं—एक श्रौत, दूसरा स्मार्त। 'श्रौतकल्प'में ब्राह्मण नामक वेदभागमें कहे गये कर्मोंके प्रयोगकी विधियाँ बतलायी गयी हैं। 'स्मार्तकल्प'में उपनयनादि संस्कार एवं अन्यान्य स्मार्त कर्मोंकी विधियाँ कही गयी हैं। ये कल्प (सूत्र) प्रत्येक शाखाके जुदे-जुदे हैं। ये वेदोंके 'हाथ' माने गये हैं। 'व्याकरण'में धातु, प्रत्यय, सन्धि, समास, लिङ्ग आदि भेदोंसे शब्दोंका साधन किया गया है। इसको जाननेसे शब्दोंकी शुद्धि-अशुद्धिका ज्ञान होता है। बोलनेमें शब्दोंकी शुद्धता एवं अशुद्धताका ज्ञान होना परमावश्यक है। व्याकरण वेदका 'मुख' है। पता चलता है कि प्राचीन समयमें ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न आदि कई व्याकरण प्रचलित थे; किंतु आज वे प्रायः नामशेष रह गये हैं, केवल पाणिनिका संस्कृत-व्याकरण ही विशेष प्रचलित है। 'निरुक्त'में शब्दोंका निर्वचन (निष्कर्षसे कथन) किया गया है और वाक्योंके अर्थोंका एकार्थरूपमें संग्रह किया गया है। यह वेदोंके शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ बतलाता है, इसलिये इसे वेदोंके 'कान' कहते हैं। पहले कई निरुक्त थे, ऐसा समझा जाता है; परंतु आजकल यास्काचार्यरचित निरुक्त ही उपलब्ध है। 'छन्द'में मगण आदि गणोंके भेदोंसे पद्य-रचनाकी शैलीका वर्णन है। गायत्री आदि वैदिक एवं आर्या आदि लौकिक छन्द हैं। 'छन्द' वेदका पाँचवाँ अङ्ग है। यह वेदका 'चरण' कहा जाता है। छन्दके ग्रन्थोंमें पिङ्गलकृत सूत्र प्रधान है। 'ज्यौतिष'में नक्षत्र-ग्रहोंकी गतियोंसे संहिता-होरा एवं गणित आदिद्वारा पृथक्-पृथक् कालका निर्देश किया गया है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों तथा अश्विनी आदि ज्योति (नक्षत्रों) द्वारा कालका बोध करानेके कारण इसको 'ज्यौतिष' कहते हैं। कालका ज्ञान यज्ञादि कर्मोंके लिये उपयुक्त है। यह शास्त्र वेदका 'नेत्र' माना जाता है। लगधाचार्यकृत वेदाङ्गज्यौतिष ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ज्यौतिषका विषय बड़ा गम्भीर और साथ ही अति मनोरञ्जक है। इसकी सहायतासे प्राणीके भूत, वर्तमान, भविष्यके सुख-दुःखादि भोगोंका पता लग सकता है। भारतमें किसी समय यह शास्त्र बड़ी उन्नतिपर था। इसके फलिताशपर यूरोपके विद्वान् अभी कम विश्वास करते हैं। परन्तु कहा

जाता है कि हिटलरको इस शास्त्रपर अधिक विश्वास था और वे ज्योतिषियोंसे समझकर अपना कार्यक्रम निश्चित किया करते थे।

दर्शन

यहाँतक अङ्गोंका दिग्दर्शन कराया गया। आगे छः दर्शनोंका संक्षेपसे विवरण किया जाता है। 'मीमांसा'में अपूर्व, नियम, परिसंख्या आदि विधिभेद तथा अर्थवादादिभेदसे वेदवाक्योंके अर्थ लगानेकी पद्धति कही गयी है। इसको पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। बिना इसकी सहायताके वेदवाक्योंका समन्वय नहीं किया जा सकता। इसके प्रधान आचार्य जैमिनि हुए हैं। ये वेदव्यास बादरायणके शिष्य थे। इन्होंने मीमांसाशास्त्रके 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि सूत्रोंका निर्माण किया है। इन सूत्रोंका शबरस्वामीने भाष्य किया है। कुमारिल भट्ट आदि और भी कई इस शास्त्रके आचार्य हुए हैं।

'न्याय' में भाव (द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थ) तथा अभावोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे युक्तिपूर्वक विचार किया है। इसमें दो भेद हैं—एक न्याय और दूसरा वैशेषिक। इन दोनोंके मतोंमें कुछ अधिक अन्तर न होनेसे शुक्राचार्यने शुक्रनीतिसारमें इन दोनोंको 'न्याय' ही कहा है। न्यायके प्रधान आचार्य गौतम हुए हैं और वैशेषिकके कणाद। न्यायमतके अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। कणाद द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति मानते हैं। गौतमके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण हैं; किंतु कणाद प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानकर अन्यका उन्हींमें अन्तर्भाव करते हैं। गौतमके मतमें प्रमेयादि पचीस तत्त्व इस प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह प्रमेय हैं), संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त (यह चार प्रकारका है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम), अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन), तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास (इसके पाँच भेद हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत), छल (यह वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल—इस तरह तीन प्रकारका है), जाति और निग्रहस्थान।

कणादके मतानुसार भावरूप पदार्थ छः हैं—१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य (जाति), ५ विशेष और ६ समवाय। इनके अतिरिक्त अभावरूप एक सातवाँ पदार्थ भी माना जाता है। उक्त पदार्थोंमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ 'द्रव्य' हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये चौबीस 'गुण' माने जाते हैं। उत्क्षेपण (उछालना), अवक्षेपण (फेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना), गमन (चलना)—ये पाँच 'कर्म' हैं। पर और अपर—यह दो प्रकारका 'सामान्य' है। 'विशेष' अनन्त हैं। 'समवाय' एक है। अभाव चार प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

'सांख्य' का विषय पचीस तत्त्व हैं। तत्त्वोंकी निश्चित संख्याकी विशेषता इसमें होनेसे इसका नाम 'सांख्य' है। इसके मुख्य आचार्य कपिल हुए हैं। इन्होंने सांख्यसूत्रोंद्वारा अपने सिद्धान्तको व्यक्त किया है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तापोंकी अत्यन्त निवृत्तिको ये पुरुषार्थ मानते हैं। पचीस तत्त्वोंमें १ पुरुष है, जो कूटस्थ होनेसे न किसीका कारण है न विकार। २ मूल प्रकृति, ३ महत्तत्त्व, ४ अहङ्कार, ५—९ पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्रा), १०—१४ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चीकृत पाँच महाभूत, १५—१९ हस्त, पाद, वाणी, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, २०—२४ कान, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और २५वाँ मन,—इस तरह सांख्यमतानुसार ये पचीस तत्त्व हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण उन्हें सम्मत हैं।

'वेदान्त'में सजातीय-विजातीय-स्वगत-सर्वविध भेदरहित, अद्वितीय, नित्य, निरतिशय, बृहत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही एक सद्वस्तु प्रतिपाद्य है। ब्रह्मातिरिक्त सर्वप्रपञ्च रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान मिथ्या (असत्य) है। वस्तुतः न होते हुए भी सर्वजगत्‌की प्रतीति अज्ञानरूप मायासे होती है।

ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किञ्चन।
मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदान्तिनां मतम्॥
(शुक्रनीतिसार)

इसके मुख्य आचार्य भगवान् श्रीनारायण हैं। महर्षि बादरायण व्यासके वेदान्तसूत्र सुप्रसिद्ध हैं।

'योग' में चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका उपाय वर्णित है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध होता है। समाधि दो प्रकारकी है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। योगमतानुसार समाधिद्वारा प्रकृति और पुरुषका पृथक् विवेचन हो जानेसे प्रकृतिका व्यापार बंद हो जाता है और इसीसे मुक्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक 'आसन' हैं। पूरक, रेचक, कुम्भकके मात्राभेदसे 'प्राणायाम' भी अनेक हैं। योगकी साधनासे अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे चमत्कार दिखाये जा सकते हैं। मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म आदि इसी योगकी निम्न-कोटिकी सिद्धियाँ हैं, जिनके द्वारा आजकल बहुत-से लोग तमाशा दिखलाकर पैसा पैदा करते हैं; किंतु विवेकी पुरुष सिद्धियोंके चक्करमें न फँसकर परम सिद्धि—मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं। सिद्धियाँ परम सिद्धिके मार्गमें बाधक हैं। बिना अच्छे जानकार गुरुकी सहायताके केवल पुस्तकोंके सहारे योगका अभ्यास करना हानिकर है।

यहाँतक वेद, उपवेद, वेदाङ्ग तथा दर्शनोंके लक्षण संक्षेपतः बतलाये गये।

इतिहासमें किसी एक राजाके चरित्र-वर्णनके व्याजसे प्राचीन घटनाओंका वर्णन रहता है। जैसे महाभारत, रामाश्वमेध आदि।

सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (महान् पुरुषोंके कुल), मन्वन्तर (किस-किस मनुका कितने समयतक अधिकार होता है, यह) और वंशानुचरित (महान् पुरुषोंके कुल-चरित्र) का वर्णन जिसमें मुख्य रूपसे किया गया हो, वह 'पुराण' कहा जाता है। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड—ये अठारह पुराण हैं। पुराणोंके रचयिता बादरायण महर्षि व्यास हैं। श्रीमद्भागवतके स्थानमें कोई-कोई देवी-भागवतको पुराण मानते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणके मतानुसार क्रमशः पुराणोंकी श्लोक-संख्या (१ श्लोक=३२ अक्षर) इस प्रकार है—१००००, ५९०००, २३०००, २४०००, १८०००, २५०००, ९०००, १५४००, १४५००, १८०००, ११०००, २४०००, ८१०००, १००००, १७०००, १८०००, १९०००, १२०००। इस तरह सबकी सम्मिलित संख्या ४,३२,९०० होती है। कई दृष्टियोंसे पुराणोंका बड़ा महत्त्व है। अठारह पुराणोंके समान अन्यान्य महर्षियोंसे रचित कई उपपुराण भी हैं। अनेकोंका विश्वास है कि उपपुराण वैसे प्राचीन नहीं हैं; किंतु आधुनिक उपलब्ध उपपुराणोंमें कुछ प्रक्षिप्त वचन हों, तो भी मूल उपपुराण अति प्राचीन कालसे हैं—इसमें सन्देह नहीं। ईसवी ११ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें षड्गुरु-शिष्यने अपनी 'वेदार्थदीपिका' में नृसिंह-उपपुराणसे श्लोक उद्धृत किये हैं। उसके पहले मुसल्मान विद्वान् अल्बेरूनीने अपनी 'भारत-यात्रा' के वर्णनमें नन्द, आदित्य, सोम, साम्ब और नरसिंह आदि उपपुराणोंका उल्लेख किया है। उपपुराणोंके नाम ये हैं—सनत्कुमार, नरसिंह, बृहन्नारदीय, शिव या शिवधर्म, दुर्वासस, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, भागवत, वासिष्ठ, कौर्म, भार्गव, आदि, मुद्गल, कल्कि, देवी, महाभागवत, बृहद्धर्म, परानन्द और पशुपति। पुराणोंकी ओर आधुनिक विद्वानोंका ध्यान नहीं गया है। ऊटपटाँग दन्तकथाएँ समझकर ही उनको छोड़ दिया गया है; परंतु उनमें समाजशास्त्र, इतिहास, संस्कृति-सम्बन्धी कितनी ही सामग्री भरी पड़ी है। अंग्रेज विद्वान् पार्जिटरने इस ओर कुछ ध्यान दिया था, परंतु संस्कार भिन्न होनेके कारण उनका प्रयत्न असफल ही रहा।

पुराणोंके बाद 'स्मृति' आती है। स्मृतिमें वेदके अविरुद्ध—वेदानुकूल—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णोंके एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमोंके तथा वर्णेतरोंके धर्मोंका स्मरण तथा अर्थशास्त्रका वर्णन है। धर्मका निर्णय करनेमें वेदोंके बाद स्मृतियोंका ही स्थान है। स्मृतियाँ अनेक हैं। इनमें मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठकी—ये बीस मुख्य हैं। इनके अध्ययनसे पता लगता है कि अपने यहाँ कानूनका प्राचीन भाव कितना व्यापक था। पाश्चात्त्य विद्वानोंमें रोमके कानून-सम्बन्धी ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा है। परंतु उनके उत्थानके सहस्रों वर्ष पूर्व अपने यहाँ कानूनकी जटिल समस्याओंपर कहीं विशद विवेचन मिलता है।

स्मृतिके आगे 'नास्तिक' मतका उल्लेख किया गया है।

नास्तिक-मतमें युक्तिकी ही प्रधानता है। वह अन्य आस्तिक सिद्धान्तोंकी तरह—जैसे वे मानते हैं—जगत्के कर्ता ईश्वर और वेदको नहीं मानता। उसके मतमें सब वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं—अकस्मात् अपने-आप उत्पन्न हुई हैं। मनु वेदकी निन्दा करनेवालेको ही नास्तिक बतलाते हैं—'नास्तिको वेदनिन्दकः'। उनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदिका बोध वेदसे ही होता है। सिवा वेद या वेदानुसारी स्मृति आदिके, दूसरे प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंसे ईश्वर आदिका अस्तित्व ही नहीं जाना जा सकता। इसलिये वेदकी निन्दा जिसने की, उसने मानो ईश्वर, परलोक आदिका खण्डन पहले ही किया। इसके 'चार्वाक-दर्शन', 'लोकायतिक' आदि नाम भी हैं। इसके मुख्य आचार्य बृहस्पति हैं। नास्तिक-मतमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये ही चार पदार्थ हैं। महुआ आदि पदार्थोंमें अन्यान्य वस्तुके सम्बन्धसे कालान्तरमें जैसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही पृथ्वी आदिके संयोगसे देह बनकर उसमें चैतन्य-शक्ति आ जाती है। चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है, देहसे अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मृत्यु होना ही मुक्ति है। अच्छा खाना, पीना और खूब मौज करना—बस, यही पुरुषार्थ है। आधुनिक पाश्चात्त्य सभ्यता इसी आदर्शका मूर्तिमान् उदाहरण है। उस समयकी शिक्षामें इस नास्तिक-मतका अध्ययन भी आवश्यक समझा जाता था।

'अर्थशास्त्र' में वेद और स्मृतियोंका विरोध न होते हुए राजाको अपना और राज्यका शासन किस तरह चलाना चाहिये इसका और धनोपार्जन करनेके कुशल उपायोंका वर्णन होता है। इस तरह इसमें 'पालिटिक्स' (राजनीति) और 'एकनामिक्स' (अर्थशास्त्र) दोनों आ जाते हैं। जो लोग ऐसा समझते है कि धर्मका राजनीति, अर्थशास्त्र आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, धर्म तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों-के आचरणकी वस्तु है, सर्वसाधारणको धर्मके पचड़ेमें पड़नेका प्रयोजन नहीं है, उन्हें शुक्राचार्यके इस लक्षण और भारतीय राजनीति, अर्थनीतिके ग्रन्थोंका कुछ मनन करना चाहिये।

'कामशास्त्र' में शशक, मृग, अश्व एवं हस्तिभेदसे पुरुषों; अनुकूल, धृष्ट, शठ आदि भेदसे नायकों; पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी, हस्तिनी आदि भेदसे स्त्रियों और स्वकीया, परकीया, साधारणी आदि भेदसे नायिकाओंका वर्णन किया गया है। उनके परस्पर अनुरागादिका लक्षण भी कामशास्त्रमें वर्णित है। इससे स्त्री-पुरुषोंके मानसिक भावोंको भी समझने-में बड़ी सहायता मिलती है। इसकी शिक्षाकी उपयोगिताको अब पाश्चात्त्य विद्वान् भी स्वीकार करने लगे हैं। कामशास्त्रके श्रीहैवलाक एलिस, वेस्टर मार्क—ऐसे पाश्चात्त्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन भारतीय कामशास्त्र कई दृष्टियोंसे बहुत उच्चकोटिका है।

'शिल्प-शास्त्र' में महल, किले, मकान, बागीचे, बावी, कूप, तालाब आदिके निर्माण और मरम्मतके प्रकारका वर्णन है। इसमें पूरी 'सिविल इञ्जीनियरिङ्ग' आ जाती है, 'मूर्तिकला' का भी इसीमें समावेश है; इस तरह इस शास्त्रमें 'आर्किटेक्चर' और 'स्कल्पचर' दोनों आ जाते हैं। एक बड़ी विशेषता यह है कि किस प्रकार, किस अनुपातके मकानों-को बनानेसे क्या प्रभाव पड़ता है—इसका भी इसमें वर्णन मिलता है। इसको आजकलके लोग भले ही न मानें, पर वह होता अवश्य है। शिल्प-शास्त्रके आधारपर बने हुए मन्दिरोंको देखकर उनकी सुन्दरतापर विदेशी भी मुग्ध होते हैं। इस शास्त्रके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं; पर बड़े खेदका विषय है कि उसके जानकारोंका प्रायः अभाव-सा हो रहा है।

इसके बाद 'अलङ्कृति' है। इसमें सम, न्यून, अधिक-रूपमें सादृश्यादि-भेदमें परस्परके गुणोंके भूषा-वैचित्र्यका वर्णन होता है। अलङ्कृतिका एक नाम अलङ्कार है—

समन्यूनाधिकत्वेन सारूप्यादिप्रभेदतः।
अन्योन्यगुणभूषा च वर्ण्यतेऽलङ्कृतिश्च सा॥

(शुक्रनीतिसार)

जिसमें शृङ्गार आदि रससे युक्त, अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कारोंसे सुशोभित एवं दुःश्रव आदि दोषोंसे रहित शब्द और अर्थोंका समुदाय हो, उसे 'काव्य' कहते हैं। उसके गद्य और पद्य—ये दो भेद हैं। काव्यके सुननेवालेको एक विलक्षण अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। काव्यकी रचना करनेवाला 'कवि' कहा जाता है। काव्य-निर्माणका उद्देश्य केवल तात्कालिक मनोरञ्जनमात्र या उसके द्वारा यशोलाभ ही नहीं था, अपितु—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—भी था। भारतमें संस्कृत और भाषाके प्राचीन कवियों-

की सुन्दर कृतियोंका इतना विशाल, अप्रतिम संग्रह है कि जो प्राचीन कालसे रसज्ञोंके लिये रस-वर्षण करता हुआ भी अवतक वैसा ही सरस बना हुआ है; न जाने इनमें कितना रस होगा !'

भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके निवासी लोगोंके द्वारा सङ्केत की हुई, पदार्थोंका बिना प्रयाससे ज्ञान करानेवाली वाणीको 'दैशिकी' या देशभाषा कहते हैं।

कोश या अन्यान्य शास्त्रीय परिभाषारूप सङ्केतके बिना, अवसर देखकर उसके अनुसार, अपने अभिप्रायको जिस वाणीसे व्यक्त किया जा सकता है, वह 'अवसरोक्ति' कही जाती है। इसीको 'हाजिर-जवाबी' कहते हैं, शिक्षामें इसकी बड़ी आवश्यकता है। सारे ग्रन्थोंको चाटकर भी बहुतोंको समयपर ठीक उत्तर देनेका अभ्यास नहीं होता।

इसके बाद 'यावन' मतका उल्लेख इस तरहसे किया गया है —

ईश्वरः कारणं यत्रादृश्योऽस्ति जगतः सदा।
श्रुतिस्मृती विना धर्माधर्मौ स्तस्तच्च यावनम्॥
श्रुत्यादिभिन्नधर्मोऽस्ति यत्र तद्यावनं मतम्।

अर्थात् जिसमें जगत्को चार्वाककी तरह आकस्मिक न बतलाकर उसका कारण अदृश्य—जिसका दर्शन कभी न हो सके, ऐसा ईश्वर माना जाता हो और जिसमें पाप-पुण्य भी माने जाते हों, किंतु उनके ज्ञान और उनके साधनोंके ज्ञानका वेद-स्मृतिके बिना ही होना माना जाता हो एवं जिसमें वेदविरुद्ध धर्मोंका उपदेश किया गया हो, उसे यावन—यवनोंका मत कहते हैं। यह बड़े मार्केकी बात है, जिससे उस समयके शिक्षाक्रमकी उदारताका परिचय मिलता है। दूसरोंके मतको जानना बड़ा आवश्यक है, क्योंकि उससे अपने मतमें दृढ़ निष्ठा होगी। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस जैमिनिसूत्रमें 'धर्मजिज्ञासा' और 'अधर्मजिज्ञासा' इस तरह दो प्रकारसे पदच्छेद करके धर्म तथा अधर्मकी जिज्ञासा उपक्रान्त की गयी है। वहाँ आचरणके लिये जैसे धर्मकी जिज्ञासा और परिवर्जनके लिये अधर्मकी जिज्ञासा अपेक्षित है, वैसे ही यहाँ भी आस्तिक विद्याओंका ज्ञान उनसे उपदिष्ट कर्तव्य-पथका अवलम्बन करनेके लिये और चार्वाक, यावन आदि नास्तिक विद्याओंका ज्ञान उनमें उपदिष्ट कर्मादिसे बचनेके लिये अपेक्षित है। 'यवन' शब्द प्रायः विदेशियोंके लिये ही प्रयुक्त होता था। कुछ लोगोंका मत है कि 'यवन' शब्द 'आयोनियन' का ही रूपान्तर है, जिससे अभिप्राय 'यूनानियों' अर्थात् प्राचीन ग्रीकलोगों (ग्रीसनिवासियों)-से है। यह चाहे न भी हो; परंतु इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उस समय भी भारतीयोंका विदेशियोंसे सम्पर्क था और उनके मतको जाननेकी उनमें उत्सुकता थी।

इस तरह इकतीस विद्याओंके लक्षणोंको बतलाकर शुक्राचार्य-ने अन्तमें 'देशादिधर्म'को बत्तीसवीं विद्या कहा है। उसका लक्षण वे ऐसा लिखते हैं—

कल्पितः श्रुतिमूलो वामूलो लोकैर्धृतः सदा।
देशादिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न देश, कुल या जातियोंमें जो धर्म सदासे प्रचलित देखा जाता हो—चाहे उसके आधारभूत प्रमाण वेद, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें मिलते हों या न भी मिलते हों, किंतु जो लोगोंके आचरणोंमें देखा जाता हो—उसे 'देशादि धर्म' जानना चाहिये। यहाँ 'आदि' पदसे कुल, जातिको समझना चाहिये। इन धर्मोंके आचरणपर बड़ा जोर दिया गया है और इनके त्यागकी बड़ी निन्दा की गयी है। युद्धके परिणामके विषयमें अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णसे चिन्तित होकर यह शङ्का की थी—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

मनु, याज्ञवल्क्य आदिने राजाको इस बातकी कड़ी हिदायत की है कि राजा यदि किसी अन्य देशपर अपना अधिकार करे, तो—

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥

—के अनुसार उस विजित देशमें जो-जो देश, जाति, कुलके धर्म उस समय प्रचलित हों, उनके अनुसार ही वहाँके शासनकी व्यवस्था करे। शासनका यह कितना उदार भाव है! इस तरह संक्षेपमें यहाँ हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूत बत्तीस विद्याओंका विवरण किया गया।



आर्य-वाङ्मय

(लेखक—पं० श्रीभगवद्दत्तजी)

चौदह विद्याएँ—अति विस्तृत भारतीय वाङ्मयका मूल चौदह विद्याएँ हैं। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृति १। ३ में इन चौदह विद्याओंका परिगणन निम्नलिखित प्रकारसे किया है—चार वेद, छः अङ्ग, एक मीमांसा, एक न्याय, एक पुराण और एक धर्मशास्त्र।

सारा भारतीय वाङ्मय इन चौदह विद्याओंके अन्तर्गत है।

अठारह विद्याएँ—विष्णुपुराण और कई अन्य ग्रन्थोंमें सारी १८ विद्याएँ गिनायी गयी हैं। इनमेंसे चौदह विद्याएँ याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित हैं; तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अथवा अर्थशास्त्र—ये चार अधिक हैं। चौदह विद्याएँ माननेवाले इन चारको चारों वेदोंके अन्तर्गत मानते हैं।

सात सिद्धान्त—इन चौदह विद्याओंके अतिरिक्त सात सिद्धान्त हैं। उनका वर्णन योगि-याज्ञवल्क्य नामक पुरातन ग्रन्थमें मिलता है। योगि-याज्ञवल्क्यके प्रमाण वाचस्पति-मिश्र (संवत् ८९८) के ग्रन्थोंमें मिलते हैं। सात सिद्धान्त ये हैं—

पाञ्चरात्र सिद्धान्त, कापिल सिद्धान्त, अपान्तरतम-सिद्धान्त, ब्रह्मिष्ठ-सिद्धान्त, पाशुपत सिद्धान्त, हैरण्यगर्भ सिद्धान्त और शैव सिद्धान्त।

तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र—विद्याओंके अवान्तर ग्रन्थोंका उल्लेख महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १२२ के निम्नलिखित श्लोकोंमें पाया जाता है—

> एतासामेव विद्यानां व्यासमाह महेश्वरः ॥३३॥
> शतानि त्रीणि शास्त्राणां महातन्त्राणि सप्ततिः।
> व्यास एव तु विद्यानां महादेवेन कीर्तितः ॥३४॥
> तन्त्रं पाशुपतं नाम पाञ्चरात्रं च विश्रुतम्।
> योगशास्त्रं च सांख्यं च तन्त्रं लोकायतं तथा ॥३५॥
> तन्त्रं ब्रह्मतुला नाम तर्कविद्या दिवौकसाम्।
> सुखदुःखार्थजिज्ञासा कारणं चेति विश्रुतम् ॥३६॥

ये श्लोक महाभारतके सब संस्करणोंमें नहीं मिलते, पर आर्यवाङ्मयका विस्तार जाननेमें बहुत सहायक हैं।

तन्त्र और शास्त्रका भेद—महाभारतान्तर्गत पूर्वोक्त श्लोकोंमें तन्त्र और शास्त्रका भेद माना गया है। वह भेद अभी पूर्णतया हमारी समझमें नहीं आया; पर इतना प्रतीत होता है कि तन्त्र बृहदाकार और विस्तृत हैं तथा शास्त्र किञ्चित् संक्षिप्त हैं। मूल महातन्त्र सत्तर थे और शास्त्र तीन सौ। यह विद्या-विस्तार शिवने कहा है। यहूदी-ईसाई-प्रभावके नीचे दबे अनेक वर्तमान ऐतिहासिक शिवकी ऐतिहासिकताको अभी समझ नहीं पाये।

शिव अथवा विशालाक्षने श्रीब्रह्माजीके त्रिवर्ग-शास्त्रसे अर्थभागका पृथक्करण किया। उस महान् अर्थवेदमें अनेक विषय थे। कालान्तरमें इनपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे गये। उनमेंसे जिन ग्रन्थोंका वर्णन हमें संस्कृत अथवा प्राकृत आदि ग्रन्थोंमें मिला है, वे आगे लिखे जाते हैं—

१. **लोकायत-शास्त्र**—(क) लोकतन्त्रका उल्लेख महाभारत, आरण्यकपर्व १५१। १ में तथा 'लोकतन्त्र-विचक्षण.' पद शान्तिपर्व १७८। ४ में मिलता है।

(ख) कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें लोकायत एक शास्त्र माना गया है।

(ग) पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य ७। ३। ४५ में भागुरीकृत लोकायत-शास्त्रकी व्याख्याका उल्लेख है। पं० श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकके मतानुसार संभावना है कि प्रसिद्ध वैयाकरण भागुरिकी बहिन भागुरी थी[1]।

(घ) तत्पश्चात् जैन अनुयोगद्वारसूत्रमें लोकायत वर्णित है।

(ङ) वात्स्यायनकृत कामसूत्र १। २। २८ में लोकायतों-का मत उद्धृत है।

(च) इनका उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्य कमलशील अपने गुरु शान्तरक्षितके रचे तत्त्वसंग्रहके श्लोक २९४५ की टीकामें लिखता है—

मिथ्यार्थशास्त्रश्रवणाद् व्यामूढो लोकायतः

(छ) लगभग उन्हीं दिनोंका जैन विद्वान् हरिभद्रसूरि अपने षड्दर्शनसमुच्चयके अन्तमें लोकायत-शास्त्रका संक्षेप देता है।

(ज) चीनी यात्री ह्वेन सांगको एक वृद्ध लोकायत ब्राह्मण मिला था[2]।

---

१. संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास, पृ० ७०।

२. Life of Hiuentsang, Introduction, p. XVIII

(झ) जैन विद्वान् सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलक-चम्पूमें बृहस्पति लोकायतका उल्लेख है।

(ञ) तत्पश्चात् अमरके नामलिङ्गानुशासनका प्रसिद्ध टीका-कार काश्मीरक क्षीरस्वामी लिखता है—

चार्वाकलोकायतिकौ। (२।७।६)

अर्थात् चार्वाक और लोकायत दो भिन्न मत थे।

लोकायतशास्त्रके रचयिता—त्रिवन्द्रम्, रियासत ट्रावन्कोर-के स्वर्गगत पण्डित गणपति शास्त्रीने पुरानी टीकाओंके आधारपर अर्थशास्त्रकी जो सुन्दर टीका रची है, उसमें वे लिखते हैं—

ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्।

अर्थात् लोकायतशास्त्र ब्रह्मा और गार्ग्य आदिके द्वारा रचित था। प्रतीत होता है लोकायत-शास्त्र शुद्ध राजनीति-विषयक शास्त्र था। उत्तर-कालमें यह नास्तिक शास्त्र कहा जाने लगा।

२. धनुर्वेदसूत्र—धनुर्वेद-सूत्रोंका उल्लेख महाभारत, सभापर्व ५। ११० में मिलता है।

१. औशनस धनुर्वेद—काव्य-उपनामधारी उशना (शुक्राचार्य) का एक अतिपुरातन धनुर्वेद था। इसके अनेक उद्धरण वीरमित्रोदयमें मिलते हैं।

२. भारद्वाजधनुर्वेद—भरद्वाजका धनुर्वेद-विशेषज्ञ होना महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २१२ में लिखा है—

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।३३।

ऐतरेय आरण्यक १।२।२ के अनुसार भरद्वाज ऋषियोंमें अनूचानतम थे। उन्होंने अवश्यमेव कोई धनुर्वेद लिखा था। धनुर्वेदके प्रसिद्ध आचार्य द्रोण इन्हींके पुत्र थे।

३. जमदग्निकृत धनुर्वेद—आयुर्वेदकी सुश्रुत-संहिताका टीकाकार उल्हण चिकित्सा-स्थान अध्याय १२ की टीकामें लिखता है—

रथचर्यां पदातिचर्यां च जमदग्निराह—

सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु।
शस्त्रास्त्रैर्यस्तु संयोगः सा चर्येति प्रकीर्त्यते। इति ॥११॥

३. व्यूहशास्त्र—महाभारत, भीष्मपर्व ८३। २० में व्यूहशास्त्रविशारदोंका उल्लेख है।

४. रथसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५। ११० में इन सूत्रोंका नाम-स्मरण किया गया है।

५. अश्वसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५। १०९ में ये सूत्र स्मृत हैं। नकुलका अश्वशास्त्र इस समय उपलब्ध है। मत्स्यपुराण २१७। २०–२२ में यह ग्रन्थ उल्लिखित है।

अश्वलक्षणोंके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४। २। ६० में है।

६. हस्तिसूत्र—सभापर्वके पूर्वोक्त स्थानमें इस सूत्रका भी नाम मिलता है।

कर्ता—(क) लोमपाद—अङ्गदेशके राजा लोमपाद इस सूत्रके रचयिता थे। वायुपुराण अध्याय ६९ में लिखा है—

.... त्रिदशा ददुः।
अङ्गाय लोमपादाय सूत्रकाराय वै द्विपान् ॥२३२॥

(ख) बुध—लोमपादसे बहुत पहले सोम देवताके पुत्र बुधने हस्तिशास्त्र रचा था। मत्स्यपुराण २४। २ में इनके विषयमें लिखा है—

सर्वार्थशास्त्रविद्धीमान् हस्तिशास्त्रप्रवर्तकः।

७. हस्त्यायुर्वेद—इस विषयका पाल्काप्य मुनिका ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है। उसके प्रथम अध्यायमें लिखा है—

दिग्गजानां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः।
न विषादे मनः कार्यं व्याधीन्प्रति मतंगजाः ॥९६॥
उत्पत्स्यत्यचिरेणाथ गजबन्धुर्महामुनिः।
आयुर्वेदस्य वेत्ता वै मत्कृतस्य भविष्यति ॥९७॥

अर्थात् श्रीब्रह्माजीद्वारा रचित आयुर्वेदके महान् शास्त्रमेंसे पाल्काप्य मुनि हस्त्यायुर्वेदका भाग पृथक् करेंगे।

मत्स्यपुराण २१७। २५ में गजवैद्य स्मृत हैं। आयुर्वेदीय चरकसंहिता, सूत्र-स्थान, अध्याय ६ की टीकामें चक्रपाणि टीकाकार 'उक्तं च हस्तिवैद्यके' लिखकर कई श्लोक उद्धृत करते हैं।

८. शालिहोत्र (घोड़ोंकी चिकित्साका) ग्रन्थ—अमरकोष पर सर्वानन्दके टीका-सर्वस्व, भाग १, पृ० ३३, ४१ पर यह ग्रन्थ स्मृत है। नेपालके राजगुरु पण्डित हेमराज शर्माजीने जो आयुर्वेदकी काश्यपसंहिता प्रकाशित की है, उसके उपोद्घात पृ० ६९, ७०, ७१ में शालिहोत्र ग्रन्थके प्रमाण उद्धृत हैं।

९. यन्त्रसूत्र—मनुष्यमात्रके परमबन्धु भगवान् स्वायंभुव मनुने यद्यपि 'महायन्त्रप्रवर्तनम्'को एक उपपातक माना है, तथापि साधारण यन्त्र भारतमें प्रचलित रहे, और उनपर अनेक शास्त्र रचे गये।

महाभारत, सभापर्व ५। ११० में राजवर्गके लिये यन्त्र-

सूत्रोंका अध्ययन आवश्यक समझा गया है। शान्तिपर्व ५८। ६५ में लिखा है—

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषाम् ......।

(क) विश्वकर्म-प्रोक्त यन्त्रमात्रिका—वात्स्यायनमुनिकृत कामसूत्र १। ३ की जयमङ्गला टीकामें लिखा है—

सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसंग्रामार्थं घटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्।

वर्तमान समयमें समराङ्गणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु आदिमें यन्त्रोंका कुछ वर्णन मिलता है।

१०. वाणिज्यशास्त्र—अमरकोश २। ९। ७९ पर टीकासर्वस्वमें लिखा है—

विदेहेन च वाणिज्यशास्त्रं प्रणीतम्।

विदेहराजकृत वाणिज्यशास्त्रका उल्लेख कौटिल्यरचित अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, भाग १, पृष्ठ ३२ पर पाया जाता है।

११. गन्धशास्त्र—वङ्गीय वैद्य निश्चल अपने ग्रन्थमें लिखते हैं—

वैद्यश्रीगयदासेन गन्धशास्त्रानुसारतः।
मित्रमध्यारिभेदोऽयं यथाङ्केन निदर्श्यते॥

(इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग २३, संख्या २, जून १९४७, पृष्ठ १५४)

विक्रम-संवत् ८८७ में लिखे गये हरमेखला-प्रयोगमाला नामक प्राकृत ग्रन्थमें माहुकने भी गन्धशास्त्रका उल्लेख किया है।

१२. कृषिशास्त्र— अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, प्रथम भागके पृष्ठ ३२ और २८३ में पराशर और वृद्धपद्वारा प्रोक्त इस शास्त्रका उल्लेख मिलता है।

सस्यवेद—कृषिशास्त्रका ही दूसरा नाम सस्यवेद प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीकाके पृ० ३९७ पर उद्धृत नन्दिपुराणके वचनमें यह नाम प्रयुक्त है।

१३. पाशुपाल्यशास्त्र—गौतममुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ. ३२ पर स्मृत है।

१४. गोवैद्य—हस्त्यायुर्वेदके समान गो-आयुर्वेद भी था। गोवैद्यका वर्णन मत्स्यपुराण २१७। २५ में मिलता है।

गोलक्षण नामक ग्रन्थके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४। २। ६० में है।

१५. वृक्ष-आयुर्वेद—आग्निवेश्यमुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ० २८३ पर उद्धृत है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' शब्द अर्थशास्त्रके मूलपाठमें उपलब्ध है।

१६. तक्षशास्त्र—गार्ग्य और अगस्त्य मुनिरचित इस ग्रन्थमें आपस्तम्बीय शुल्वसूत्रकी करविन्दस्वामिकृत टीका, पृष्ठ ९६ पर इसका उल्लेख है।

शुक्रनीतिसार २। ३९९-४०० में तक्षण (खरादना) शब्द प्रयुक्त है। इसका पञ्जाबी अपभ्रंश तरखान है।

१७. मल्लशास्त्र—किसी पुरातन ऋषिका रचा हुआ यह ग्रन्थ महाभारत, विराट्पर्वकी नीलकण्ठ-टीकामें उद्धृत है।

१८. वास्तुशास्त्र—यह एक महान् शास्त्र था। इसके अठारह उपदेष्टा मत्स्यपुराण अध्याय २५२में उल्लिखित हैं। यथा—

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥ २॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ ३॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः॥ ४॥

अर्थात् भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति—ये अठारह वास्तुशास्त्रके उपदेष्टा प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे विश्वकर्माका टूटा-फूटा वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ अब भी प्रसिद्ध है। मयका मयमत मुद्रित हो चुका है। उसपर अभीतक किसीने पूरी खोज नहीं की।

नग्नजित्—गन्धारराज नग्नजित् धृतराष्ट्रके श्वशुर महाराज सुबलके पिता थे।

नग्नजित्ने आयुर्वेदविषयक भी एक महान् ग्रन्थ रचा था। नग्नजित्के कारण गन्धारकी प्रस्तरमूर्तिकला बहुत प्रसिद्ध हुई। आचार्य वराहमिहिर बृहत्संहिता ५७। ४ में प्रतिमा-लक्षण करते हुए कहते हैं—

नग्नजिता तु चतुर्दशदैर्घ्येण द्राविडं कथितम्।

तत्पश्चात् नग्नजित्का श्लोक उद्धृत है।

द्राविड लोग शुद्ध आर्य और तुर्वसुकी संतानमें हैं।

वे पहले गन्धार आदि देशोंमे रहते थे । उनका गन्धार देशमें प्रचुर मान था । उत्तर-कालमें वे भारतके दक्षिणमें आकर बसे ।

नग्नजित्का एक नाम दारुवाह् था । इसका अपभ्रंश डेरिअस (Darius) है । गन्धारके अनेक राजाओंने उत्तरकालमें इस अपभ्रंशरूप (Darius) में अपना नाम प्रसिद्ध किया । वे सब नग्नजित्की सन्तानमें थे ।

विशालाक्ष—विशालाक्ष अर्थात् शिवने अर्थ-शास्त्रके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र भी रचा । हिंदू-विश्वविद्यालयके अध्यापक सदाशिव अल्तेकरजीने लिखा है कि ईसासे लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व किसीने अर्थशास्त्रका ग्रन्थ लिखकर विशालाक्षके नामसे जोड़ दिया । अध्यापकजीका ऐसा कथन यहूदी-ईसाई प्रभावके कारण है ।

पुरन्दर=इन्द्र—विष्णुके ज्येष्ठ भ्राता, देवासुरयुद्धोंके विजेता दीर्घजीवी इन्द्र भारतीय इतिहासमें सुप्रसिद्ध हैं । इन्द्रने—

१. व्याकरणशास्त्र,

२. अर्थशास्त्र,

३. आयुर्वेदशास्त्र और

४. वास्तुशास्त्र

—रचे । छान्दोग्योपनिषद् ८ । ७-११में लिखा है कि इन्द्रने अध्यात्मज्ञानके लिये १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-पालन किया । परम सत्यवक्ता उपनिषत्कारने यह ऐतिहासिक तथ्य लिखा है ।

ब्रह्मा—ये महान् जलप्लावनके पश्चात् योगजशरीर-धारी आदिदेव (Adam) हैं । इनसे सब विद्याएँ संसारमें फैली है । इनका सत्य इतिहास वर्तमान-युगीन निःसार विकासवादकी असत्यता पदे-पदे प्रकट कर रहा है ।

कुमार—कुमार शंकरजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजी है । इन्होंने कष्टमें पड़े देवोंको उनका सैनिक नेतृत्व करके तारा था ।

नन्दीश—विशालाक्ष शिव अथवा महादेवजीके अनुचर नन्दी हैं । इन्होंने—

१. कामसूत्र और

२. वास्तुशास्त्र रचे ।

अपने स्वामी विशालाक्षके वास्तुशास्त्रका इन्होंने पूरा मन्थन किया ।

वासुदेव—भगवान् श्रीकृष्णने अनेक शास्त्र कहे थे । वास्तुशास्त्र उनमेंसे एक था ।

अनिरुद्ध—श्रीकृष्णके पौत्र भी इस शास्त्रके कर्ता थे । शुक्र और बृहस्पति अतिप्रसिद्ध हैं ।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीका पृ०७२ पर देवल-धर्मसूत्रका एक पाठ उद्धृत है । यह धर्मसूत्र भारत-युद्धसे बहुत पहले विद्यमान था । अध्यापक पाण्डुरङ्ग वामन काणेने इसके काल-निर्धारणमें महती भूल की है ।

देवलके धर्मसूत्रमें वास्तुविद्या उल्लिखित है । पाणिनीय गणपाठ ४ । ३ । ७३ में वास्तुविद्याके व्याख्यानग्रन्थोंका पता दिया है ।

१९. वाकोवाक्य—शतपथ ब्राह्मण ११ । ५ । ६ । ८ में इस विद्याका उल्लेख है । गोपथब्राह्मणमें लिखा है—

सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विपयी स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्य इति ब्राह्मणम् । १ । १ । ३ ॥

भट्टकुमारिलने इस वाकोवाक्यविद्याके आधारपर आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और प्रयोजन आदिका वर्णन किया है ।

२०. चित्रसूत्र—प्रजापतिका 'चित्रकर्मा' ग्रन्थ तथा आदित्य अथवा विवस्वान्का आदित्यमत यशस्तिलक-चम्पूमें वर्णित हैं । विष्णुधर्मोत्तरमें चित्रशास्त्रके विषयमें लेख मिलता है । चित्र-विद्याके विषयमें देवल-धर्मसूत्रमें एक सुन्दर बात कही है—

चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

(अपरार्कटीका, पृ० २५ पर उद्धृत)

यहाँ उन्मीलन-प्रयोग चित्रशास्त्रकी परिभाषामें बरता गया है । चित्रशास्त्रविषयक पुराने संस्कृत-ग्रन्थोंके वर्णनके लिये देखिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ९, पृ० ९०५, ९०६ ।

२१. लिपिशास्त्र—मानव-धर्मशास्त्रकी भृगु-प्रोक्त संहिता-में लिपि जाननेवालोंका उल्लेख है । बृहस्पति और नारदके धर्मशास्त्रोंमें भी लिपि जाननेवाले वर्णित हैं । महाभारत, सभापर्व ५ । ६२ में गणक और लेखक वर्णित हैं । मत्स्य पुराण २१५ । २५ में—**सर्वदेशाक्षराभिज्ञः** पाठ है । अर्थात् राजाके पास सब देशके अक्षर जाननेवाले लेखक होने चाहिये ।

अनेक देशोंके अक्षरोंको बतानेवाले लिपिशास्त्र हमारे देशमें थे ।

लिपिशास्त्रमें अनेक गोपनीय लिपियोंके संकेत भी थे । देखो गूढ लेख्योंका वर्णन, कामसूत्रकी जयमङ्गला टीका १ । ३ में ।

२२. मानशास्त्र—सुश्रुत-संहिताकी उल्हण-टीका, पृ० ४५० पर 'मानविदो विदुः' पाठ है । इस शास्त्रमें भिन्न-भिन्न देशोंके मान (तौल या बाट) उल्लिखित थे ।

२३. धातुशास्त्र—अमरकोष २ । ९ । १०० पर क्षीरस्वामीकी टीकामें लिखा है—इति धातुविदः ।

२४. संख्याशास्त्र—महाभारत, शान्तिपर्व २३८ । ४७ में लिखा है—संख्याविदः ।

२५. हीरकसूत्र—इस शास्त्रका एक ग्रन्थ लाहौरमें हमने देखा था ।

२६. अदृष्टशास्त्र—महाभारत, सभापर्व ५ । ९३ में इस शास्त्रका नाम है ।

२७. तान्त्रिक श्रुति—वैदिक श्रुतिके अतिरिक्त एक तान्त्रिक श्रुति थी । कुल्लूकभट्टने मनुस्मृतिके भाष्यमें हारीत-धर्मसूत्रका एक वचन दिया है । उसमें श्रुतियोंका यह पार्थक्य बताया है ।

२८. शिल्पशास्त्र—महाभारत, सभापर्व १ । ८ में लिखा है—

नैपुणं दिवि शिल्पस्य संचिन्त्य मयमब्रवीत् ।

इस वचनका साक्ष्य मत्स्यपुराण १३१ । १ में मिलता है—

निर्मिते त्रिपुरे दुर्गे मयेनासुरशिल्पिना ।

कर्ता—(क) भृगु । महाभारत, शान्तिपर्व २१२ । ३४ में लिखा है—

शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः ।

(ख) मय । इसका उल्लेख हो चुका ।

(ग) विश्वकर्मा । वायुपुराण ८४ । १६ में लिखा है—

विश्वकर्मा सुतस्तस्य जातः शिल्पिप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वास्तुकृत् ॥

विश्वकर्माके शिल्पोंकी खोज बहुत फलदायक हो सकती है ।

शिल्पिभाण्ड—मत्स्यपुराण २१७ । ३४ में यह शब्द प्रयुक्त है । शिल्पशास्त्रका यह पारिभाषिक शब्द है ।

२९. माया-योग वेद—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३३ पर मायायोगविद् प्रयोग मिलता है ।

३०. माणव-विद्या (हार बनानेकी विद्या)—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३९ पर इस विद्याका नाम है ।

३१. सूद (पाक)शास्त्र—इस विद्यापर नलका कोई ग्रन्थ था । सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ४६ । ४४८—५६ पर उल्हण-टीकामें लिखा है—

विशेषतः सूदेभ्यो ज्ञेयाः । सट्टकस्तु—
लवङ्गव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम् ।
दाडिमीबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम् ॥
सट्टकं तु प्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् ।

मत्स्यपुराणने २१५ । २२ में इसे सूपशास्त्र कहा है ।

३२. द्रव्यशास्त्र—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान २ । २१ पर उल्हण-टीकामें 'द्रव्यज्ञैः' पाठ मिलता है ।

३३. मत्स्यशास्त्र—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ४६ । ११३ की उल्हण-टीकामें लिखा है—

कथितो मत्स्यवेदिभिः ।

३४. वायसविद्या—पातञ्जल महाभाष्य ४ । २ । ६० में इस विद्याका उल्लेख है ।

३५. सर्प-विद्या—पातञ्जल महाभाष्यके पूर्वोक्त स्थानमें यह विद्या भी निर्दिष्ट है ।

३६. भाष्यग्रन्थ—महाभारत, सभापर्व ११ । २६ में 'भाष्याणि' पदसे भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना है । याज्ञवल्क्य-स्मृति ३ । १२९ में भी भाष्य विद्यमान माने गये हैं ।

इनके उत्तरवर्ती शौनक, कौषीतकि और आश्वलायनके गृह्यसूत्रोंके ऋषितर्पण-प्रकरणोंमें भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना गया है । इनके समीपवर्ती पाणिनिकी अष्टाध्यायीके सूत्र ४ । ३ । ७३ के गणमें निम्नलिखित १९ ग्रन्थोंके व्याख्यानों अथवा भाष्यों आदिका संकेत है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तु विद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा ।

वायुपुराणमें लिखा है—

कल्पानां भाष्यविद्यानां नानाशास्त्रकृतः क्षये । (६१ । १०३)

ये च भाष्यविदो मुख्याः । (८२ । ५२)

मत्स्यपुराण १४४ । १३ में लिखा है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च ।

३७. चौरशास्त्र—आचार्य खर्पटका चौरशास्त्र प्रसिद्ध था।

३८. मातृतन्त्र-मातृवेद—अपरार्क-टीका, पृ० १६ पर देवीपुराणसे उद्धृत श्लोकोंमें यह नाम पाया जाता है।

यहाँपर हमने उन कतिपय शास्त्रोंका अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है, जो अधिक प्रसिद्ध न थे। प्रसिद्ध वैदिक शास्त्रोंके इतिहास तो प्रकाशित हो ही चुके हैं।*

जिस जातिका वाङ्मय इतना विस्तृत, प्रशस्त और सारगर्भित था, उसकी सभ्यता कितनी ऊँची थी—पाठक इसका अनुमान स्वयं कर सकते हैं। भारतीय काव्य, नाटक, ज्यौतिष, इतिहास, पुराण, कोश आदिका जो इतिहास योरप और अमेरिकाके यहूदी और ईसाई लेखकोंने तथा यहूदी-ईसाई-गुरूपदिष्ट एतद्देशीय लेखकोंने लिखा है, वह प्रायः अशुद्ध है।

भारतीय संस्कृतिका प्राणधन—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

किसी जड या चेतन वस्तुके सुधार या उत्कर्ष-साधनको संस्कार कहते हैं। पत्थरकट्टेकी छेनीके आघातोंसे तथा वैदिक मन्त्रोंद्वारा प्राणप्रतिष्ठासे जड पत्थरमें देवत्वका आधान किया जाता है। मानव-जीवनके जितने अङ्ग हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, जीवभाव—इन सबके ही आत्यन्तिक उत्कर्षतक अनेक संस्कार होते हैं। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक षोडश संस्कार प्रसिद्ध हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम आदि अडतालीस संस्कार भी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा, संग, देश-कालकी विशेष माँग, अभ्यास आदिसे भी शरीर, मन, बुद्धि आदिपर विशेष संस्कार घटित होते हैं। कुछ पूर्वजन्मके भी संस्कार होते हैं, कुछ आनुवंशिक संस्कार भी। (कुछ संस्कार ऐसे भी होते हैं, जो उत्कर्षके बदले अपकर्ष करते हैं। उन्हें कुसंस्कार कहा जाता है।) ऐसे सब संस्कारोंके संघातको संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिमें सामान्य रूपसे जो मूलभूत मुख्य संस्कार हैं, उन्हींका हम यहाँ किंचित् निर्देश करेंगे। विविध भारतीय जीवनमें इनका अति मनोहर अनन्त विस्तार है।

भारतीय संस्कृतिमें मनुष्यका परम ध्येय आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति है। मानव-जीवनके उत्कर्षकी यही पराकाष्ठा है। भारतीय जीवनकी चरितार्थतामें चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य अपने प्राकृतरूपमें पशुके समान ही होता है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

खाना, पीना, सोना, भय और मैथुन—ये चीजें मनुष्यों और पशुओंमें समान ही होती हैं। 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः'—मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह इन तथा अन्य सब व्यवहारोंमें धर्मसे परिचालित होता है। प्राकृत मनुष्य अथवा पशु अपनी सहज वासना-कामनासे परिचालित होते हैं। मनुष्यका धर्मसे परिचालित होनेकी स्थितिमें आना एक संस्कार है। यह संस्कार उसमें माता-पिताके आचरण, उपदेश, गुरुद्वारा प्राप्त शिक्षा, सत्सङ्ग आदिसे घटित होता है। इससे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि विकसित होती है।

सांसारिक जीवन काममय है। उसके लिये अर्थका प्रयोजन होता है। अतः अर्थ और काम भी भारतीय संस्कृतिमें पुरुषार्थ माने जाते हैं। पर पहला पुरुषार्थ धर्म है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष अथवा आत्मसाक्षात्कार। अतः अर्थ और काम धर्म और मोक्षसे बँधे रहते हैं। धर्मसे ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।

धर्मसे अर्थ और काम दोनों सिद्ध होते हैं, तब ऐसे धर्मका सेवन क्यों नहीं करते? पर धर्मसे चोरी, चोरबाजारी नहीं की जा सकती, रिश्वत नहीं ली जा सकती, अन्यायसे किसीका धन नहीं छीना जा सकता, किसीका हक नहीं मारा जा सकता, किसीको भूखों मारकर अपने आमोद-प्रमोदका साधन नहीं किया जा सकता। धर्मसे विषयभोगकी एक मर्यादा

* हमारा वैदिक वाङ्मयका इतिहास—तीन भागोंमें, भारतवर्षके इतिहासका सत्ताईसवाँ अध्याय, पं० युधिष्ठिरजीकृत संस्कृत-व्याकरणका इतिहास तथा पं० उदयवीरजी-कृत सांख्यशास्त्रका इतिहास देखिये।

बँध जाती है। आहार-विहारपर एक नियन्त्रण हो जाता है। अर्थ और कामके स्वैराचारोंका नियन्त्रण करनेवाला धर्म ही है। धर्मके द्वारा नियन्त्रित अर्थ और काम भी पवित्र हैं।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

धर्मसे अविरुद्ध जो काम है, वह ईश्वरकी विभूति है। महर्षि वाल्मीकिने धर्मसे अर्थ और कामकी सिद्धिमें पतिव्रता स्त्रीका दृष्टान्त दिया है, 'भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा'— पतिकी अनुगामिनी स्त्री स्वयं धर्मस्वरूपा है, उसके द्वारा प्रजननेच्छा पूर्ण होती है और सुपुत्ररूप अर्थ भी प्राप्त होते हैं, जो पिता या पितृपरम्पराका व्रत आगे चलाते हैं। व्यापक परिणामकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सर्वत्र धर्मसे ही अर्थ और काम सिद्ध होते देख पड़ेंगे—अधर्मसे प्राप्त अर्थ और काम अत्यन्त अल्पायु होते हैं।

आधुनिक समाजव्यवस्थाओं और आर्थिक योजनाओंका यही लक्ष्य है कि सम्पूर्ण मानवजाति समानरूपसे सुखी और समृद्ध हो। फिर भी ये व्यवस्थाएँ और योजनाएँ अपने लक्ष्यके समीप पहुँचना छोड़ उससे दूर ही क्यों सरकती जा रही हैं? समानरूपसे मानवजातिको आज जो कुछ मिला है, वह अन्न-वस्त्रकी कमी, आरोग्यका नाश, अकाल और सर्व-संहारी महासमरका भय है। यदि इन राष्ट्रोंमें अर्थ और कामके साथ उन्हें नियन्त्रित करनेवाला धर्म होता तो मानव-जाति आज बहुत सुखी और समृद्ध हुई होती। हमारे आदर्श-राज्यके प्रवर्तक महाराजा रामचन्द्र वनगमनके प्रसङ्गमें कहते हैं कि 'धर्म, अर्थ और काम एक साथ ही रहते हैं—इस विषयमें मुझे कोई संशय नहीं है। पर यदि धर्म किसी रास्तेसे जा रहा हो और अर्थ एवं काम किसी दूसरे रास्तेसे तो अर्थ और कामका साथ छोड़कर धर्मका ही साथ देना चाहिये। कारण, धर्म ही अर्थ और कामका नियामक है; अर्थ और काम धर्मके नियामक नहीं।'

भारतीय संस्कृतिमें ये ही दो चीजें सर्वोपरि मुख्य हैं— धर्म और ईश्वर। ईश्वर ध्येय है और धर्म उसका साधन। यह साधन तभी बनता है, जब धर्मके लिये ही धर्मका पालन किया जाता है, अर्थ और कामके लिये नहीं। अर्थ और काम समीप या दूरसे उसके पीछे-पीछे आप ही चलते हैं। पर धर्मका उत्तम पालन वही है, जो धर्मके लिये ही हो। उदाहरणार्थ, पिताकी सेवा करनेका जो धर्म है, उसके पालनसे मिलनेवाला संतोष-सुख क्या किसी अर्थ या विषयभोगसे प्राप्त हो सकता है? इसी प्रकार जगत्‌में जिसके साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धसे निर्धारित होनेवाले धर्मका पालन स्वतः एक अलौकिक सुख है, जो किसी अर्थ और कामसे नहीं प्राप्त हो सकता।

हमारे यहाँकी सम्पूर्ण समाजव्यवस्था इसी साध्य और साधनकी नींवपर खड़ी है। यह भगवान्‌का एक अतिदिव्य भव्य मनोहर मन्दिर है। इसमें ऋषि-मुनि, साधु-संत और ब्राह्मण भगवान्‌का आराधन करते हुए उनकी इच्छा-योजना, संकेत-संकल्प जाननेका यत्न करते और उनमें मिलनेवाला प्रसाद सबको बाँटते हैं; क्षत्रिय मन्दिरकी रक्षा करनेका कार्य करते हैं; वैश्य पूजाकी सब सामग्री जुटाते हैं, शूद्र इस कार्यमें तीनोंकी सेवा करते हैं, अतिशूद्र मन्दिरके सब मार्ग स्वच्छ और पवित्र रखते हैं। सब अपने-अपने कर्मोंका सम्पादन कर एक ही भगवदाराधन करते हैं—एक ही प्रसाद, एक ही फल पाते हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

विभिन्न कर्मोंके होते हुए भी चित्त एक होनेसे परस्पर संघर्षके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। चातुर्वर्ण्यात्मक इस समाजसंस्थाके विभिन्न समुदायोंमें जैसा गभीर परस्पर-स्नेह होता है, वैसा अन्य किसी भी समाजव्यवस्थामें नहीं होता।

मनुष्यका यह बाह्य भौतिक शरीर ही मानव-उत्कर्षका एकमात्र क्षेत्र नहीं है, न विषयभोग या भोग-समृद्धि ही मानव-जीवनकी चरितार्थता है। इससे अधिक व्यापक उसके प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार हैं, जिनके संस्कारके बिना बाह्य संस्कार अधूरे ही रहते हैं। उन्नत मन-बुद्धिके भौतिक विकास भी सामान्य भौतिक विकाससे कहीं अधिक आकर्षक, उद्‌बोधक और उपकारक होते हैं। भारतीय संस्कृतिमें मानव-जातिके उत्कर्षकी भावना बहुत ऊँची है। मनुष्यका आध्यात्मिक विकास और तदनुरूप भौतिक उत्कर्षका प्रयास तथा इन दोनोंका योग भारतीय संस्कृतिमें ही देखनेको मिलता है। भारतवर्ष जबतक राजनीतिक दासत्वकी शृङ्खलामें नहीं बँधा था, तबतक उस उत्कर्षके दृश्य इस देशमें देखनेको मिलते थे। उनके वर्णन रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थोंमें ही नहीं, 'ऐतिहासिक' कालके इतिहासग्रन्थोंमें भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्तके समयकी स्थितिका वर्णन मेगास्थनीजने किया है। वीरत्वादि गुणोंके साथ ऐसी सदाचार-सम्पन्नता अन्य किसी भी देशके इतिहासमें इतनी उज्ज्वलताके

साथ नहीं दिखायी देती। राजनीतिक दासत्वके बन्धनने भारतवर्षका उत्कर्ष-मार्ग कुण्ठित कर दिया। इससे केवल भारतवर्षकी नहीं, सारे जगत्की बहुत बड़ी आध्यात्मिक और नैतिक हानि हुई।

विदेशी मुसल्मान इस देशमें संस्कृतिकी शिक्षा ग्रहण करने नहीं आये थे। उनका काम था लूट-मार करना, जबर्दस्ती लोगोंको मुसल्मान बनाना और अपना साम्राज्य स्थापित करना। वे भारतीय संस्कृतिका मर्म नहीं समझ सकते थे। उनमें ईश्वराभिमुख धर्मयुक्त कोई संस्कृति नहीं थी। उनके शासनकालमें हिंदुओंने अपनी संस्कृतिकी रक्षा कर ली, यही बहुत है। अंग्रेजी शासनकालमें हमारी बहुत बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई। अंग्रेजी स्कूल-कालेजोंमें अर्थकरी विद्या पढ़नेके लिये जो लड़के भेजे गये, वे अपनी संस्कृतिके विरोधी संस्कार लेकर वहाँसे निकले। उनमें राष्ट्रवाद आया, राजनीतिक स्वाधीनताकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई; त्याग, धैर्य, आत्मबलिदान आदि गुण उनमें विकसित हुए; पर भारतीय संस्कृतिका जो लक्ष्य है—ईश्वर और उसका साधन धर्म, उससे वे विमुख हो गये। उनके अंदर राष्ट्रवाद और पीछे 'अन्तर्राष्ट्रियवाद' आया, संघर्ष और क्रान्तिका जोश आया। पर अपनी परम्परागत संस्कृतिके बोधके विषयमें वे कोरे ही रह गये। यदि महात्मा गांधी न आते तो भारतीय राजनीतिमें ईश्वरका कोई नाम भी न लेता। महात्मा गांधीके बाद अब क्या होगा, अभी कहना कुछ कठिन है। तात्पर्य, राजनीतिक पराधीनताका ही यह फल है कि भारतीय संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थाका मर्म आज हमारे ही उन लोगोंकी समझमें नहीं आ रहा है, जिनके हाथोंमें ईश्वरने इस देशका भाग्यविधान सौंपा है। यदि यह मर्म उनके ध्यानमें आता और जनताकी संस्कृतिके साथ समरस होकर वे आगे बढ़ते तो भ्रष्टाचार इस देशसे अबतक जड़-मूलसमेत उखड़ गया होता।

हमलोगोंकी दृष्टि दुनियामें फैल गयी, पर अपने देशकी गहराईमें नहीं पहुँची। हमारे अंदर वह धृति और गम्भीरता नहीं आयी, वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न हुआ, जिससे राष्ट्रके बल, तेज, गाम्भीर्य, धैर्य, औदार्य, परस्पर-स्नेह आदि गुणोंकी एक साथ वृद्धि होती। ऐटली, ट्रूमन और स्टालिन जितने हमें याद आते हैं, उतने अपने राम, कृष्ण और युधिष्ठिर नहीं आते। हम चाहते हैं सामाजिक क्रान्ति, क्योंकि क्रान्तियाँ करके अन्य देशोंने अपने मस्तक ऊँचे किये। हमें अपने ही देशके उन लोगोंके भावोंका ध्यान नहीं है, जिनके सन्तोषसे ही राष्ट्र बलवान् और सब प्रकारसे समर्थ हो सकता है। हमारे संस्कार बहुत बदल गये। विदेशी सभ्यताके अंदर जो जंगलीपन है, वह हमें नहीं देख पड़ता। हम उनकी नकल उतारना चाहते हैं। समाजके विभिन्न अङ्ग आज जिन नाते-रिश्तोंसे एक दूसरेके साथ जुड़े हैं, उन सब नाते-रिश्तोंको हम तोड डालना चाहते है। इसका परिणाम क्या होगा? लोग वृत्तियों और काम-धन्धोंके लिये भटकते फिरेंगे, बेकारीकी समस्या बढ़ेगी; जनताको आज जो सुविधा है, उसका अन्त होगा। परस्पर प्रेमका स्थान परस्पर संघर्ष ग्रहण कर लेगा। समाजवाद और साम्यवाद दोनों ही संघर्षके रथपर सवार हैं। पर क्या इस संघर्षकी कोई आवश्यकता है? जहाँ अर्थ और कामपर धर्मका नियन्त्रण नहीं रहेगा, वहाँ संघर्ष तो चलता ही रहेगा। उसकी परम्पराका कोई अन्त नहीं है।

भारतीय संस्कृतिके साध्य-साधनकी बात हम ऊपर कह चुके हैं। पर इस साध्य-साधनका नाम लेना भी संयुक्त राष्ट्र-संघसे लेकर भारतीय विधान-परिषद्तक सर्वत्र ही जड-बुद्धिका लक्षण समझा जाने लगा है। पर सङ्कटकालमें बड़े-बड़े राष्ट्रोंके भी जब छक्के छूटने लगते हैं, तब उन्हें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी विजयके लिये सब लोग ईश्वरसे प्रार्थना करें। और तो और, रूसको भी जर्मन सेनाकी अकुण्ठ गति देखकर ईश्वर और धर्मसम्बन्धी अपने नियमोंमें परिवर्तन करना पड़ा। जर्मन सेनाएँ जब मास्को और स्टालिनग्राडतक पहुँच गयीं, तब रूसके अधिनायक शासक-दलको यह सोचना पड़ा कि रूसी जर्मनोंको पीछे हटानेमें समर्थ क्यों नहीं हो रहे हैं। महायुद्ध छिड़नेसे कुछ ही पहले रूसमें धर्मविरुद्ध कम्यूनिस्ट-प्रचारकी सफलता जाँचनेके लिये धर्मके सम्बन्धमें एक जनमत-गणना हुई थी। उससे यह मालूम हो चुका था कि रूसी जनतापर धर्मविरुद्ध प्रचारका कुछ भी असर नहीं पड़ा है; उसके अंदर धर्मविश्वास इतना बद्धमूल है कि उसे उखाड़नेका प्रयत्न एक तरहसे अबतक विफल ही रहा। जनतामें इस बातका असन्तोष भी था कि कम्यूनिस्ट-शासनमें उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता छिन गयी। इस कारण जर्मन सेनाओंसे जूझनेका कोई हौसला उनमें नहीं रह गया। 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' वाली मनोवृत्ति-सी उनकी हो गयी। पर सङ्कटकी इस घड़ीमें दो बातें ऐसी हुईं, जिनसे रूस पूरी ताकतके साथ खड़ा हो सका। एक यह कि आक्रमणकारी जर्मन सेनाओंने आक्रान्त देशकी रूसी जनतापर इतने भयङ्कर अत्याचार किये कि उससे रूसी जनताका अन्तः-

करे। जिस कुलमें हमारा जन्म हुआ, उसका परम्परागत विहित कर्म ही हमारा कर्म होता है। कारण, वर्तमान मानव-जाति ही नहीं, त्रिकालमे व्याप्त सम्पूर्ण मानव-जाति एक है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमे जीवनका विचार केवल वर्तमान जीवन देखकर ही नहीं किया जाता, वल्कि पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और पुनर्जन्म अर्थात् त्रिकालव्यापी अखण्ड मानव-जीवनको देखकर किया जाता है। आज भी प्रत्येक भारत-सन्तानके अन्तःकरणमे यह संस्कार बद्धमूल है कि हमने पूर्वजन्ममे जैसा कर्म किया था, उसीके अनुसार हमारा वर्तमान जन्म हुआ और इस जन्ममें जैसा कर्म हम करेंगे, वैसा ही हमारा अगला जन्म होगा। मृत्यु भारतीय सन्तानके संस्कारमे जीवनका अन्त नहीं, नये जीवनका आरम्भमात्र है। भारत-सन्तान कभी मरता नहीं, मरकर भी पुनर्जीवित होता है। जो लोग जीवनरेखाके जन्म और मृत्यु—इन दो चरमविन्दुओका विचार नहीं करते, वे जाने-बे-जाने—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस चार्वाकपन्थके अनुयायी बन जाते हैं। उनकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित और वृत्ति कर्तव्यविमुख, विषयभोगरत होती है। एक बार ट्रोजकीने जगत्के कुछ प्रसिद्ध राष्ट्रोंकी दूरदृष्टिका अंदाजा लगाकर कहा था कि 'अंग्रेज तीस-चालीस वर्ष आगेतकका जमाना देख लेते हैं, रूस ६०-७० वर्ष-तककी वातोंको सोच लेता है। समाजवादके प्रवर्तक कार्लमार्क्सने आगे आनेवाले सौ वर्षोंतकका जमाना देखा था। पर भारतीय त्रिकालदर्शित्वके सिद्धान्तके सामने यह देखना कुछ न देखनेके बराबर है। दूरदर्शिता हमें अपने त्रिकालदर्शी पूर्वजोसे ही सीखनी चाहिये। पूर्वजन्म और अगले जन्मका विचार करके मनुष्यमात्रका कर्तव्य उसके जन्मसे ही निर्धारित किया जाता है। इसीलिये जिस मनुष्यका जिस कुलमें जन्म होता है, उस कुलका धर्म ही उस मनुष्यका स्वधर्म हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कुलका घटक है, प्रत्येक कुल अपने समाजका घटक है और प्रत्येक समाज अखिल मानव-जातिका घटक है। मानव-जाति अखिल जड-चेतन जगत्का घटक है। अखिल जगत् सप्तलोक और चतुर्दश भुवनोका घटक है। इसलिये सारा जीवन एक है और वह तीनों कालमे व्याप्त है। जीवनकी यह व्यापकता भारतीय आचार-विचारोमे सर्वत्र अनुस्यूत है। कुलधर्मसे इस व्यापक जीवनकी शिक्षा आरम्भ होती है।

कुल-धर्मकी इतनी महिमा जिस भारतीय समाजव्यवस्था-मे है, उसमे छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। बड़ा वही है, जो अपने नियत धर्मका पालन करता है। जो नहीं करता, वह अपने आपको छोटा बनाता है। धर्मसे स्नेह उपजता है और जहाँ स्नेह होता है, वहाँ छोटे-बड़ेके भेदका जो व्यवहार होता है, वह भी स्नेहयुक्त ही होता है। उदाहरणार्थ पुत्र पिताके या छोटा भाई बड़े भाईके चरण छूता और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा होता है तो इसे छोटे-बड़ेका भेद नहीं कहा जाता। यों भड़कानेवाले लोग तो पतिके विरुद्ध पत्नीको भी भड़काते हैं और उसका क्या परिणाम होता है, यह 'हा राम!' कहकर प्राण त्यागनेवाले महाराज दशरथसे पूछिये। अंग्रेजी शासनने हममे फूट डालनेके लिये दो शब्द गढ़े— Depressed (दलित) और Untouchable (अस्पृश्य); और हम भड़क गये, इन्हीं शब्दोंका अनुवाद करने लग गये। यथार्थमे हमारे शास्त्रोने किसी जातिको 'दलित' नहीं किया है; और 'अस्पृश्य' नामकी कोई जाति शास्त्रोंमे है ही नहीं।' शास्त्रोंने जन्मसे सबका कर्म माना है और कुल-परम्परा चलानेका आदेश दिया है—

येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥
(मनुस्मृति ४। १७८)

'पिता जिस मार्गपर चले, जिसपर पितामह चले, उसी सन्मार्गपर हर किसीको चलना चाहिये। उसीसे वह सब दुःखो और अभावोको पार कर जायगा।' पतित वही है, जो अपने कुलको त्यागने और कुल-परम्पराको मिटानेकी इच्छा करता है। जो पुत्र केवल पैतृक सम्पत्ति पानेके लिये अपनी पूर्वपरम्परा मान लेता पर उस कुलके व्रतको त्याग देता है, उसे पतित नहीं तो और क्या कहें? भारतीय संस्कृतिमे जन्म-से धर्म निश्चित होता है और धर्मसे ही सम्पत्ति आदिका अधिकार।

अस्पृश्यता कहकर जिस चीजकी निन्दा की जाती है, वह असलमे शौचाचार है और शौचाचार कोई निन्दनीय वस्तु नहीं। शुचि रहना, अन्तर्बाह्य स्वच्छता और पवित्रता रखना एक महान् गुण है और अन्य सब गुणोका आश्रय-स्थान है। शुचितामे ही दैवी गुणोंका आधान होता है। जहाँ शुचिता नहीं, वहाँ कोई दैवी गुण नहीं ठहर सकते। रजस्वला स्त्रीको कोई स्पर्श नहीं करता—चाहे वह मा, बहन, बेटी, कोई हो। स्नान किया हुआ मनुष्य अस्नातको स्पर्श नहीं करता।

घर-घरमे जो देवगृह होता है, उसमे घरके लोग अत्यन्त शुचि होकर, शुचि वस्त्र पहनकर ही प्रवेश करते हैं। भारतीय संस्कृतिमें द्विजत्व एक महान् संस्कार है, जिसके अन्तर्गत उपनयनादि अनेक संस्कार है। इससे न केवल अन्तःकरण प्रत्युत बाह्य शरीर भी ब्रह्मप्राप्तिके योग्य साधा जाता है—'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' । इस महत् कार्यकी पवित्रताके लिये चाहे जिसका स्पर्श इष्ट नहीं है। संक्रामक रोगोंके समान अपवित्र विचार या पाशविक भाव भी संक्रामक होते हैं। उनसे बचना चाहिये। जो चीज जैसी है, उसे उसी रूपमें पेश करना चाहिये। लोगोंको कुछका कुछ और ही बतलाकर भड़काना उनका और सबका अपकार करना है, नेह-नाता तोड़कर द्वेष फैलाना है।

जन्ममूलक चातुर्वर्ण्यात्मक समाज-संस्थासे परस्पर सामाजिक संघर्षका कोई कारण नहीं रहता, सब वर्ण एक दूसरेकी जीवन-समृद्धिके पूरक होते हैं, एक दूसरेपर आश्रित रहते हैं, व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता भी यथासम्भव कम होती है, बेकारीकी समस्या उठने ही नहीं पाती, कोई बेकार नहीं रहता। समाजकी सब सुविधाएँ स्वाभाविक हो जाती हैं। उनके लिये नये-नये महकमे कायम करके विफल होनेके अवसर नहीं देखने पड़ते। युद्धकी सम्भावना भी कम होती है और आनुवंशिक संस्कारोंसे नैपुण्यकी निरन्तर वृद्धि होती है। इस संस्थाको उठा देनेकी धुनके पीछे कोई परिणामदर्शी विवेक नहीं है।

हमने बार-बार 'हिंदू-संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग न कर 'भारतीय संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग किया है। 'भारतीय' शब्दके व्यवहारमे अहिंदुओंका भी समावेश हो जाता है। पर यह समझना गलत है कि भारतीय संस्कृति और हिंदू-संस्कृति दो भिन्न संस्कृतियाँ है। यह समझना भी गलत है कि भारतीय संस्कृति हिंदू-मुस्लिम खिचडी संस्कृति है। मुसलमान यदि भारतीय है तो हिंदुओंकी संस्कृतिसे भिन्न उनकी अन्य कोई संस्कृति नहीं हो सकती। यदि उनकी संस्कृति भिन्न है (जैसा कि अधिकांश मुसलमान कहते है, और इसी आधारपर झगड़कर उन्होंने भारतवर्षमे ही अपना पृथक् इस्लामी राज्य कायम कर लिया) तो वह भिन्न ही है। भारतीय संस्कृतिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। पर सच्ची बात यह है कि ये उनके विदेशी संस्कार हैं, जो उन्हे यह सिखाते है कि तुम्हारी संस्कृति हिंदू-संस्कृतिसे भिन्न है। विदेशी मुसलमान तो इस देशमे वे ही थे, जिन्होंने इस देशपर बाहरसे आकर आक्रमण किया था। पीछे यहाँके हिंदुओंको उन्होंने लोभ, भय और द्वेषसे मुसलमान बना लिया। हिंदू-संस्कृति जन्मसे ही जाति निश्चित करती है। यदि मुसलमानोंके विदेशी संस्कार नष्ट हो जायँ तो वे हिंदू ही हैं। उनके हृदयके अन्तस्तलमें आज भी हिंदू-संस्कार दबे हुए छिपे पड़े हैं। इन विदेशी संस्कारोंको सच पूछिये तो ईश्वर ही हटा सकता है अथवा ईश्वरके अनन्य भक्त; जैसे कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु तथा अन्य अनेक संत-महात्माओंके जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होने कितने ही मुसलमानोंके अंदर छिपे हुए कृष्णभक्तिके भाव जगा दिये। कितने ही मुसलमान परम वैष्णव कवि हो गये। जन्म-जन्मान्तरके कुसंस्कारोंको धो डालनेकी सामर्थ्य भगवत्कृपामें ही है।

भारतीय संस्कृतिमे गौ और ब्राह्मण अत्यन्त पूज्य हैं। नवजात शिशुको गोदुग्ध पान करानेसे लेकर मरणकालीन गोदानतक सर्वत्र गौकी आवश्यकता होती है। गौसे हमारा कृषिकर्म और गौसे ही हमारा यज्ञकर्म होता है। गोहत्यासे बढ़कर कोई पातक नहीं है। पिछले महायुद्धमें गोवंशका भयानक संहार हुआ। इसीसे धान्यकी उपज कम हो गयी और घी-दूधके लाले पड़ गये। हमारी नवीन कृषि-सुधार-योजनाओंमें ट्रैक्टरों और कृत्रिम रासायनिक खादोंकी विशेषरूपसे चर्चा है। पर इन नवीन प्रयोगोंके भरोसे गोवंशकी उपेक्षा करना बुद्धिमानीका काम न होगा। गोवंशकी जितनी समृद्धि होगी, यहाँकी कृषिभूमि उतनी ही धान्यादिकोंसे समृद्ध होगी और राष्ट्रके नवयुवक स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होंगे। गो-वंशकी रक्षा और समृद्धिके आधारपर कृषिसुधारकी जो योजना बनेगी, उसकी सफलतामे कोई सन्देह नहीं रहेगा। ब्राह्मणोंको हमलोग किसी जात्यभिमान या सम्प्रदायाभिमानसे नहीं पूजते, प्रत्युत इसलिये पूजते हैं कि ऋषि-परम्परासे अपरिग्रहपूर्वक वे ही इस व्रतके व्रती है कि आब्रह्म अखिल जड-चेतन जगत्का शास्त्रोक्तरीत्या मङ्गल-विधान करे। ब्राह्मण सब वर्णोंके आप्त (अपने) है।

भारतीय संस्कृतिमे यह विशेषता है कि वैयक्तिक जीवनकी चरितार्थताका विश्वके समष्टि-जीवनकी चरितार्थताके साथ कोई विरोध नहीं है। जो चतुर्विध पुरुषार्थ व्यक्तिके है, वे ही चतुर्विध पुरुषार्थ अखिल मानवजातिके हैं। इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके साधनकी जो सांस्कृतिक प्रणाली है, उसका अनुसरण करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति और कुछ न करके भी अखिल-विश्वहितका साधक बनता है। धर्म और मोक्षसे बँधा हुआ

प्रत्येक जीवन सबके लिये अनुकरणीय होता है। संसारमें जितने ही अधिक व्यक्ति ऐसे जीवनसे समृद्ध होंगे, संसारमें सदाचार, सुख और शान्तिकी उतनी ही समृद्धि होगी। जनताको सदाचारसम्पन्न बनाना राज्यव्यवस्थाका मुख्य कर्तव्य है। अतः राजनीतिमें भारतीय संस्कृतिका आश्रय ही परम आश्रय है। भारतीय राजनीतिक संस्कार, जो हम रामायण और महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थोंमें देखते हैं, भारतकी काया-पलट कर जगत्‌को शान्तिका अमोघ सन्देश दे सकते हैं।

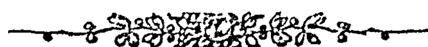
हमारी संस्कृतिमें कोई राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवाद नहीं है। हमारे यहाँ धर्म और तत्त्वज्ञानके अनेक सम्प्रदाय हैं। पर सबका लक्ष्य परम तत्त्वका अनुसन्धान, परमेश्वरकी प्राप्ति और धर्मका साधन है। इसीलिये इनमें परस्पर कोई संघर्ष नहीं है। संघर्ष वहीं होता है, जहाँ लक्ष्य अर्थ और काम होते हैं और साधनमें धर्माधर्मका विचार नहीं होता। जहाँ लक्ष्य ईश्वर है, साधन धर्म है और अर्थ और काम उस धर्मके द्वारा नियन्त्रित होते हैं, वहाँ संघर्षका कोई कारण नहीं रहता। जगत्‌का परम हित ऐसे ही परम लक्ष्य और परम साधनके द्वारा होता है। जगत्‌का हित किसी राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवादसे नहीं हो सकता। कारण, इनका लक्ष्य अन्य राष्ट्रों तथा धार्मिक अथवा राजनीतिक सम्प्रदायोंको दबाकर या नष्ट करके अपने ही राष्ट्रिय अथवा साम्प्रदायिक अहङ्कारका प्रभुत्व स्थापित करना होता है। ऐसी स्थितिमें परस्पर संघर्ष अनिवार्य है। पर जिनका लक्ष्य किसी एक राष्ट्र, समाज या सम्प्रदायका प्रभुत्व नहीं, बल्कि सारे विश्वका हित और विश्वात्माका आराधन होता है, वे अहङ्कारका प्रभुत्व नहीं चाहते; वे चाहते हैं इस जगत्‌के व्यवहारमें जगदात्माका प्रभुत्व स्थापित हो और जगत्‌के उसी हितका साधन हो, जो धर्मसे प्राप्त है, जो विश्वात्माकी सकल-लोक-कल्याण-कामनाके अविरुद्ध है। विश्वका हित और विश्वात्माकी तुष्टि परस्पर अविरोधी तत्त्व हैं। जहाँ विश्वात्माकी प्राप्ति ध्येय है, वहीं विश्वहित भी अनुस्यूत है। और विश्वको धारण करनेवाला धर्म ही है। वहीं धर्ममें अर्थ और काम भी स्थित हैं। इसी परम सिद्धान्तमें सब वादोंका समन्वय होता है। अधर्मसे प्राप्त होनेवाले राज्य और विषय-वैभव-भोग न केवल क्षणिक होते हैं बल्कि अपने साथ अधर्म करनेवालेको भी जड़-मूलसे उखाड़ फेंकते हैं। अतः हमारी संस्कृतिके जो दो मुख्य अङ्ग हैं—ईश्वर और धर्म, इनके आश्रयमें रहकर ही हमारा देश और राष्ट्र परम उन्नत होगा, अन्य राष्ट्रोंको दबाकर नहीं बल्कि अपने साथ लेकर। कारण, ईश्वर और धर्मकी दृष्टिमें हमारा हित और अन्य राष्ट्रोंका हित अलग-अलग नहीं है। जिन राष्ट्रोंने जगत्-हितके विरुद्ध अपने उत्कर्षका प्रयास किया, उनमेंसे कोई भी राष्ट्र नहीं टिका और आगे भी नहीं टिक सकेगा। कारण, जगत् एक है, मानव-जाति एक है, तीनों लोक एक हैं, तीनों काल एक हैं, एक ही परमात्माके अंदर ये सब एक हैं। इस एकत्वसे अलग होकर कोई भी ठहर नहीं सकता। इस एकत्वमें सब अपने-अपने विशेष-विशेष गुणोंका उत्कर्ष कर सकते हैं। ऐसे सब उत्कर्ष सबके परस्पर सहायक होते हैं। इस एकत्वका दर्शन हमारी संस्कृतिके आचार्योंने किया था और सबको उनके विशेष-विशेष गुणोंके उत्कर्ष-साधनकी शिक्षा दी थी इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २। २०)

पृथ्वीके सात्त्विक जनसमूह आज भी भारतवर्षकी ओर इस आशासे ताक रहे हैं कि उन्हें उनके परम हितका मार्ग भारतवर्ष दिखायेगा। भारतीय संस्कृतिके आश्रयमें ही यह मार्ग-प्रदर्शन हो सकता है।

श्रुति-स्मृति-पुराणजनित भारतीय संस्कृतिके दो परमाराध्य नाम हैं—श्रीराम और श्रीकृष्ण। राम धर्मके परम आदर्श हैं। श्रीकृष्ण धर्मसे प्राप्त प्रेमके स्वरूप हैं। प्रेम ही भारतीय संस्कृतिका प्राणधन है। पर यह प्रेम धर्मसे ही प्राप्त होता है। प्रेम ही वह मूल उद्गमस्थान है, जहाँसे धर्मकी सरिता प्रवाहित होती और प्रेमसिन्धुमें जाकर मिलती है। प्रेम ही जगत्-व्यवहारमें धर्मका रूप धारण करता है। इस तरह प्रेम और धर्म एक ही हैं। उन्हीं प्रेमधर्म भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें यह लेख समर्पित है। कारण, भगवान् ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, सम्पूर्ण शाश्वत धर्म और अनन्त परमानन्दके धाम हैं।



हिंदू-संस्कृतिके आन्तरिक पक्ष

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्०ए०, डी०लिट्०)

हिंदू-संस्कृति एवं सभ्यताका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं है, जितना आन्तरिक पक्ष । क्योंकि भारतीय सभ्यताका मूलाधार आध्यात्मिकता है । संसारकी अन्य संस्कृतियाँ बाह्य प्रदर्शन, टीपटाप, भौतिकवाद, राजनैतिक बुद्धिमत्ता और कूटनीतिज्ञतामें विश्वास करती हैं; किंतु हिंदू-संस्कृति बाह्य रूपमें सरलता, निःस्पृहता और अहिंसामें विश्वास करती है । हिंदू-संस्कृतिकी नींव आध्यात्मिकता, त्याग, तपस्या, सत्य और विश्वप्रेमपर रक्खी गयी है ।

हम देखते हैं—पाश्चात्य संस्कृतियाँ जीवनकी विलासमय आवश्यकताएँ बढ़ाकर बाह्यरूपसे मानव-जीवनको अवश्य परिष्कृत कर रही हैं, आराम और भौतिक सुखोंमें वृद्धि हुई है; किंतु उनसे मानवताका कल्याण नहीं हुआ है । उन्होंने निरन्तर एकके पश्चात् दूसरे युद्ध, विप्लव और संघर्षके बीज बोये हैं । एक युद्ध निपटने नहीं पाता, दूसरेके प्रारम्भ होनेके लक्षण प्रकट हो जाते हैं; भयंकर तनातनी, गुप्त मन्त्रणाएँ, गर्हित गुटबन्दियाँ, राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्ष चलते रहते हैं । आज यूरोपमें जो दूषित वातावरण फैला हुआ है, वह यूरोपीय सांस्कृतिक आदर्शोंके फलस्वरूप ही है । उसमें सभ्यताका बाह्य पक्ष निखरा हुआ दीखता है, मानव अपना जीवन सुखसे व्यतीत करते हुए प्रतीत होते हैं; किंतु वास्तवमें उनके हृदयमें तनिक भी शान्ति, सन्तोष, विश्राम नहीं है ।

संस्कृतियोंका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं होता, जितना आन्तरिक पक्ष । जबतक आन्तरिक पक्ष सजीव है, तबतक जातिमें बल, वीर्य, तेज, उत्साह बना रहता है । यदि शरीरका आन्तरिक पक्ष—हृदय, मस्तिष्क इत्यादि बलवान् हैं, रक्त स्वच्छ होनेका कार्य ठीक चलता है, तो शरीर भी दृढ़ होगा । इसी प्रकार यदि संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष सुरक्षित है, तो बाह्य पक्ष सबल बना रहता है । वस्तुतः आन्तरिक पक्षकी विशेष महत्ता है ।

एक विद्वान्के अनुसार, 'जबतक किसी संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष रहता है, तबतक उसका बोलबाला रहता है । इसलिये आन्तरिक पक्षकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न चलने चाहिये । यदि शरीर हृष्ट-पुष्ट है तो उसमें अधिक कालतक आत्माकी स्थितिकी सम्भावना है ।'

हिंदू-संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष दृढ़ आधार-शिलाओंपर रक्खा गया है । हिंदूका लक्ष्य मानव-समाजकी सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए चरम आध्यात्मिक सुख—प्रभुसे तादात्म्य प्राप्त करना, उसीमें अपने आपको विलीन कर देना है । एक सच्चा हिंदू जीवनके प्रथम भागमें पूर्ण नैतिक जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचर्य धर्मका पालन करता है । उसे सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, शौच, तप इत्यादि सब प्रकारकी विभूतियाँ प्राप्त की जाती हैं, जिनसे वह जीवनयात्रा मजेमें पूर्ण कर सकता है । शिक्षा तथा दृढ़ जीवनके लिये ब्रह्मचर्य-आश्रमकी योजना प्रशस्त है । जीवनके द्वितीय भागमें वह गृहस्थ-धर्मका पालन करता है । आत्मोन्नतिके लिये गृहस्थ-धर्म एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक एवं सर्व-सुलभ योग है । परिवारमें वृद्धि होनेसे हिंदू युवकके आत्मभावकी सीमा बढ़ती है—एकसे दो, दोसे तीन और चार आत्माओंमें आत्मीयता बढ़ती है । क्रमशः मर्यादा बढ़नेसे मनुष्यके स्वार्थपर अङ्कुश लगता है, वह आत्मसंयम सीखता है और स्त्री-पुत्र सम्बन्धी-परिजनोंमें आत्मीयता बढ़ाता रहता है । वह क्रमशः आत्मोन्नतिकी ओर बढ़ता चला जाता है । गृहस्थ-धर्म एक छोटी-सी पाठशाला है, जिसमें नागरिककी आत्मा विकसित होकर पूर्णताकी ओर पहुँचती है । तृतीय अवस्थामें यह आत्मभाव पूर्ण विकसित हो जाता है । चौथी अवस्थामें वह लौकिक सेवा त्यागकर भगवत्-तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है; संयम, त्याग, ब्रह्मविद्याद्वारा वह पूर्ण नैतिक जीवन बनाकर विश्रान्ति प्राप्त करता है । इस प्रकार हिंदू-संस्कृति पूर्ण नैतिक जीवनका निर्माण करती है ।

हिंदू-संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष मूलरूपमें निम्न तत्त्वोंपर आधारित है—

(१) शरीरकी अपेक्षा आत्माका अधिक महत्त्व है । हमें चाहिये कि हम अपने आपको शरीर नहीं, आत्मा माना करें और वैसा ही उच्च आचरण करें ।

(२) 'अहं' भावका त्याग करें, अर्थात् अपने-आपको स्वार्थके क्षुद्र दायरेमें न बाँधे रहें वरं कर्तव्यनिष्ठाके साथ-साथ समाज-सेवा और हितके लिये प्रयत्न करें । हमारे सब कार्य निष्काम, निःस्वार्थ भावनासे हों और वे परमेश्वरको अर्पण किये जायँ ।

(३) प्रत्येक हिंदू अपने दैनिक जीवन और सामाजिक व्यवहारमें सदाचारसे कार्य ले, सद्गुणोंका प्रकाश करे, अपने चरित्रके उच्च उदाहरणद्वारा दूसरोंको वैसा ही उच्च जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्साहित करे।

(४) अर्थ, काम और मोक्ष—इन सभीका समन्वय उचित रीतिसे किया जाय, जिससे मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नति हो सके।

(५) आत्मा अमर है, केवल शरीरका परिवर्तन चला करता है। यह अमरत्वकी भावना हमें उत्साहित करे।

(६) मनुष्यसे परे एक परम सत्ता—ईश्वरत्वमें अखण्ड विश्वास।

(७) हिंदू-संस्कृतिका अन्तिम आधार है प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क। प्रारम्भिक तथा अन्तिम जीवनमें हिंदू प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क रखनेमें विश्वास करते हैं। प्रकृतिके साहचर्यसे उनका अन्तःकरण पवित्र रहता है; परोपकार, वैराग्य और सदाचारकी ओर प्रवृत्ति रहती है।

'प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क'—इसका आशय विस्तृत है। खान-पान, विहार इत्यादिमें सदा-सर्वदा प्रकृतिके निकट रहना, भौतिकवादसे मुक्त रहना, उच्च आध्यात्मिक विचारों तथा शुद्ध चिन्तनमें तन्मय रहना—यह हमारी संस्कृतिका एक अंश है। हिंदू-संस्कृतिमें वृक्ष लगानेका भी बड़ा महत्त्व है। वृक्ष जगत्‌का कितना कल्याण करता है, यह देखकर भारतीय सस्कृतिमें वृक्षारोपण एक पुण्य-कर्म माना गया है। तुलसी, अशोक, शमी, पीपल, नीम, गूलर, ऑवला आदिके वृक्ष बड़ी श्रद्धासे पूजे जाते है। गो-सेवा और पूजा भी इसीमें सम्मिलित है। कुछ महानदियाँ—जैसे गङ्गा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी इत्यादिका बड़ा महत्त्व है। हिंदू-संस्कृतिमें श्रीगङ्गाजीका विशेष महत्त्व है। विष्णुपदी, जाह्नवी, भागीरथी, त्रिपथगा, स्वर्गापगा आदि विभिन्न नाम दे-देकर गङ्गाकी महिमाका वर्णन किया गया है। गङ्गाका उद्गमस्थान मानसरोवर माना गया है। हमारी सब यात्राओंका महत्त्व यही है कि वे हमें प्रकृतिका साहचर्य बनाये रखनेमें सहायता करती हैं। धार्मिक यात्राओंमें पैदल पर्वतोंमें घूमते, सरिताओंमें स्नान करते, वन-जंगलोंकी प्राकृतिक शोभाका रसास्वादन करते हुए जब हिंदू यात्री आगे बढ़ते हैं, तब उन्हें दीर्घजीवनके साथ-साथ आन्तरिक पवित्रता भी मिलती है। वे ठंडे जलमें स्नान करते है; इससे शरीरमें स्फूर्ति रहती है, क्षुधा खुलकर लगती है, चर्मरोग दूर हो जाते हैं और शरीर नीरोग हो जाता है।

यूरोप तथा अमेरिकाकी सभ्यता एवं संस्कृति बड़े-बड़े शहरों, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, आमोद-प्रमोद-विलासकी सामग्रियोंमें प्रकट होती है; किंतु हिंदू-संस्कृति भौतिक आवश्यकताओंकी तृप्तिके साधनमात्रको कोई महत्त्व नहीं देती। हिंदू-संस्कृति तो तपोवनमें, प्रकृतिके अञ्चलमें है। हम त्यागको महत्त्व देते है, आन्तरिक सम्पदाओंके संग्रहमें विश्वास करते है। हिंदू मानता है कि उसका मानसिक पक्ष जितना शुद्ध एवं विकसित, परिपक्व रहेगा, उसके उतने ही अच्छे कर्म होंगे, और उसका उतना ही उच्च जीवन भी होगा। त्याग, संयम, ईश्वरमें विश्वास उनकी रग-रगमें समाया हुआ है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिका जन्म तथा विकास नगरोंसे दूर ऋषियों तथा मुनियोंके आश्रमों, तपोवनों, पुण्यारण्योंमें हुआ है। यही कारण है कि उसमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता है। आत्मदर्शन हमारा चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू-संस्कृति मनुष्यका विकास अचेतन मनसे प्रारम्भ करती है। जब हमारी चेतनाका विकास नैतिक वातावरणमें होता है, तब हमारी विवेकबुद्धि सत्‌-तत्त्वकी ओर अधिक झुकी रहती है। विवेक-बुद्धिके सम्यक् विकाससे ही एक सच्चे हिंदूमें आत्मदर्शनकी शक्तिका अभ्युदय होता है। अपने आन्तरिक पक्षकी दृढ़ताके ही कारण हिंदू-संस्कृति अन्य समस्त संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है।

हिंदुओंकी बुद्धि और विचारशीलता

'बुद्धि और विचारशीलतामें हिंदू सभी देशोंसे ऊँचे है। गणित तथा फलित ज्योतिषमें उनका ज्ञान किसी भी अन्य जातिसे अधिक यथार्थ है। चिकित्सा-विषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटिकी होती है।'

—याकूबी (नवम शताब्दी)

हिंदू-संस्कृति और वेद

ज्ञानका ह्रास, विकास नहीं

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें अपने मूल धर्मग्रन्थके प्रति अपौरुषेयताकी धारणा है। धर्मप्रवर्तक मूल-पुरुषको ईश्वरीय ज्ञानका साक्षात् हुआ, ऐसा सभी धार्मिक विश्वास करते हैं। यहूदी, ईसाई, मुसलमान इस्लामको इस धारणापर पूर्ण विश्वास करते हैं। यह धारणा एक सीमातक सत्य है, पर हमें यहाँ इसकी आलोचना नहीं करनी है। हमें तो देखना है कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यको ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ और वह ज्ञान कौन-सा था। वेद, जो उपलब्ध विश्वसाहित्यमें निर्विवाद प्राचीनतम है, आदिज्ञानके रूपमें है या नहीं और यदि आदिज्ञान है तो पुरुषकृत हैं या अपौरुषेय?

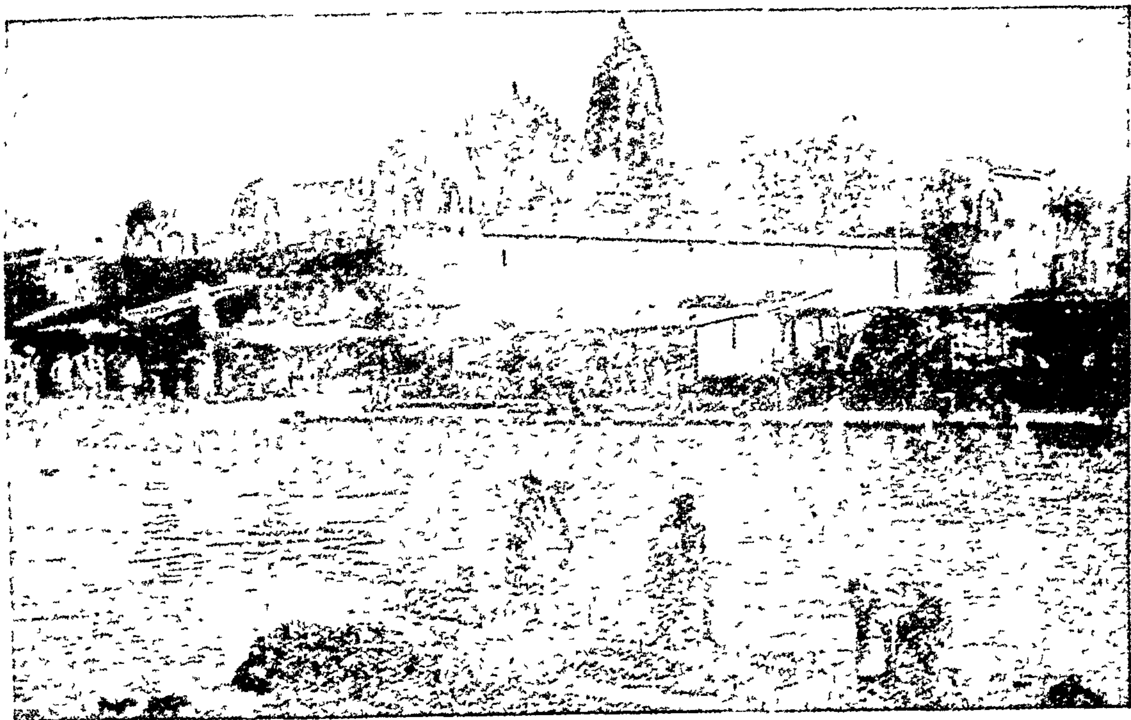
एक बात हम स्पष्ट देखते हैं कि मनुष्य बिना सिखाये कुछ सीख नहीं पाता। यदि आपने पेड़पर चढ़ना नहीं सीखा है तो जंगलमें शेर आपको खा जायगा, परंतु उस प्राणसंकटमें भी आप पेड़पर नहीं चढ़ सकेंगे। तैरना न जाननेवालेके जलमें डूबनेकी घटनाएँ बराबर होती रहती हैं। मनुष्यका बच्चा भूखों मर जायगा, यदि माता-का स्तन उसके मुखमें नहीं दिया जायगा। वह स्वयं अपनी बंद मुट्ठियाँ खोलकर उन्हें ढूँढ़नेका यत्नतक नहीं करेगा।

हिंदू-शास्त्र कहते हैं कि सृष्टिके मनुष्येतर समस्त प्राणी भोगयोनिके जीव हैं। वे अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन योनियोंमें आये हैं। फलतः अपने भोगके उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव एवं शक्ति उन्हें जन्मसे ही प्राप्त हुए हैं। मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। उसे संसारमें नूतन कर्म करने हैं। वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र बनाकर संसारमें भेजा गया है। अतएव उसे शक्ति दी गयी है कि वह समस्त ज्ञानको ग्रहण कर सके। जन्मसे कोई ज्ञान, कोई स्वभाव उसे ऐसा नहीं मिला है कि वह उसके अनुसार चलनेको विवश रहे।

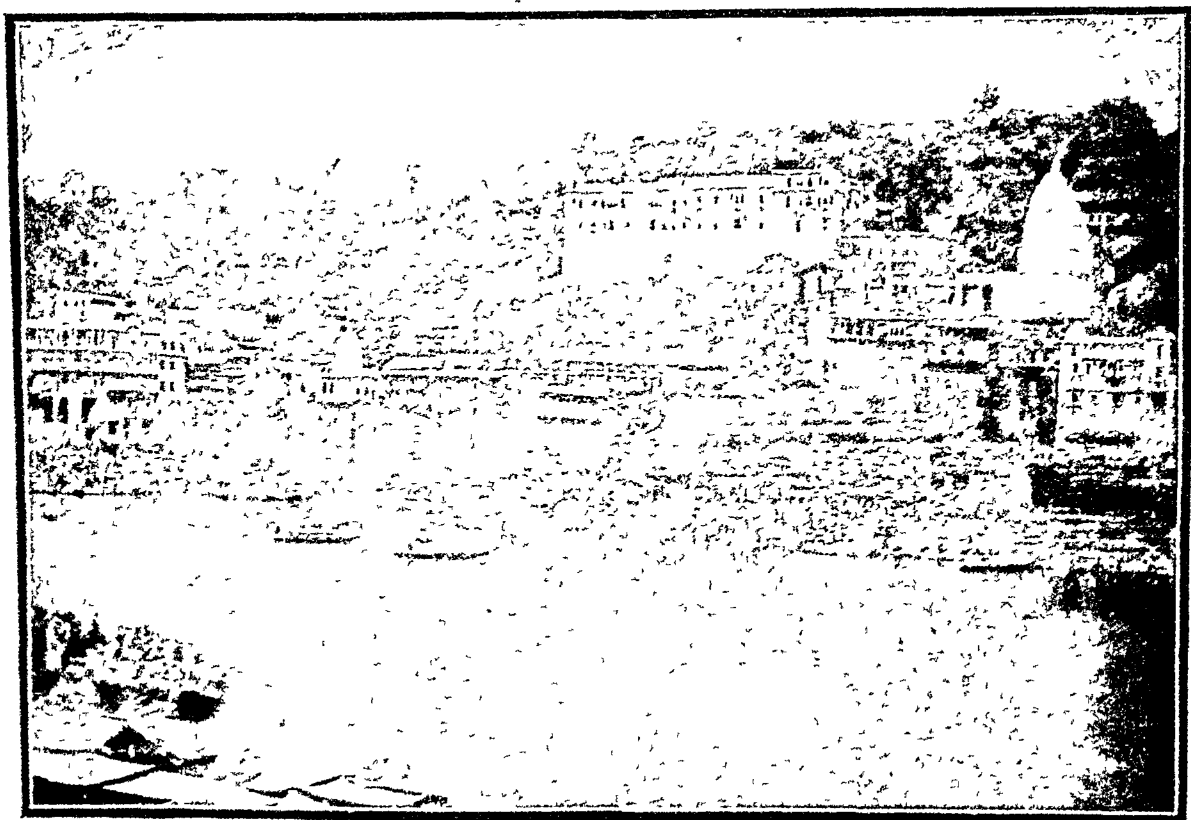
अबतक मनुष्यके पास जो ज्ञानराशि रक्षित है, वह धीरे-धीरे विकसित हुई है या मूलमें ही पूर्ण प्राप्त हुई थी? यह प्रश्न बड़ी सुगमतासे सुलझाया जा सकता है। मनुष्य स्वतः कुछ सीख नहीं पाता, उसे सिखलाया जाता है। मानवीय ज्ञान तो मनुष्य ही सिखलायेगा। हम यह भी देखते हैं कि विद्यार्थीने अध्यापकसे जितना पढ़ा है, जितना समझा है, उतना सब-का-सब वह सिखला नहीं पाता। वह जितना बतलाता है, सीखनेवाला उतना ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञानका उत्तरोत्तर ह्रास होता है। जो यह मानते हैं कि ज्ञानका धीरे-धीरे विकास हुआ है, वे यह भूल जाते हैं कि पतंगा बराबर दीपकके पास आता है और कुछ गर्मी पाकर लौट जाता है। दो-चार बार थोड़ा-बहुत जलकर भी वह कुछ नहीं सीख पाता और अन्तमें जल जाता है। मानवीय ज्ञान तो, सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि, भूलता ही है। यदि आप निरन्तर उसे स्मरण रखनेका प्रयत्न करते रहते हैं, तब तो सम्भव है कि आपका ज्ञान जाग्रत् रहे; अन्यथा वह विस्मृत हो जायगा। चीनमें, मिस्रमें, अफ्रिकाके जंगलोंमें, अमेरिकामें बड़े सुन्दर कलापूर्ण मन्दिर मिले हैं। यह सिद्ध करता है कि वहाँके लोग किसी समय वैसे भवन बनाना जानते थे; सुसभ्य थे। परंतु मिस्रके लोग पिरामिड बनाना भूल गये। अफ्रिकाके जंगली लोग तथा अमेरिकाके मूल-निवासी अपना ज्ञान भूलकर असभ्य हो गये। ये सब बातें बतलाती हैं कि ज्ञानका विकास नहीं होता, अन्यथा सुसभ्य जातियाँ कालान्तरमें असभ्य हुई नहीं पायी जातीं। ज्ञानका ह्रास ही होता है।

ज्ञान अपौरुषेय

जोन्स बोथनने अपने अन्वेषणके पश्चात् स्वीकार किया है कि—'ज्ञानका विकास नहीं होता, प्रत्युत ह्रास ही होता है।'—जब ज्ञानका ह्रास ही होता है, तब आदिज्ञान सम्पूर्ण होना चाहिये। उसे मनुष्यने किससे सीखा? क्योंकि मनुष्य तो सिखाये बिना कुछ सीख नहीं सकता। यहाँ हमें देखना है कि ज्ञान मनुष्य सीखता कैसे है। महात्मा सुकरातका कहना है—'कोई किसीको नया ज्ञान नहीं सिखलाता, केवल भूले ज्ञानकी स्मृति कराता है।' बात ठीक है। जिसमें ज्ञान था नहीं, उसे ज्ञान दिया कैसे जा सकता है। ज्ञान आनन्दकी ही भाँति अन्तरात्मामें निहित है। वह चैतन्यका स्वरूप है। आज भी सोचनेके लिये, भूली बातको स्मरण करनेके लिये एकाग्रता आवश्यक होती है। महात्मा कबीर, संत तुकाराम आदि पढ़े-लिखे नहीं थे। इतनेपर भी उनकी वाणियोंमें गम्भीर तत्त्वज्ञान है। यह ज्ञान उन्हें किसने सिखलाया? उसीने, जिसके द्वारा महान् आविष्कारकोंके ज्ञानका उद्भव होता है। सब जानते हैं कि वैज्ञानिककी तन्मयता एवं शरीरविस्मृति-से ही उसका ज्ञान प्रकट होता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यके लिये ज्ञानके दो मार्ग हैं। सामान्य मार्ग है, दूसरोंद्वारा



गोदावरी-तट, नासिक



नर्मदा-तट, ओंकारेश्वर, शिवपुरी



गोमती-द्वारिका



पुष्कर तीर्थ

सीखना और विशेष मार्ग है, मनको एकाग्र करके अन्तःकरण-से उसे प्राप्त करना। हम दूसरोंसे जो सीखते हैं, वह भी हमारे अन्तःकरणका ज्ञान ही है। दूसरे उसे जाग्रत् करनेमें निमित्तमात्र होते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही उपदेशको अनेक श्रोता अनेक अर्थोंमें लेते हैं। वक्ताका भाव उपदेशके शब्दोंमें क्या था, यह वक्ता ही जानता है। श्रोताओंके हृदयमें तो उपदेशके शब्द हृदयके अनुरूप ज्ञान जाग्रत् करते हैं। हृदयों-की स्थिति विभिन्न होनेसे उपदेशके अर्थ भी भिन्न हो जाते हैं। कवि, लेखक, चित्रकारादि भी अपनी मौलिकता एकाग्रता-द्वारा हृदयसे ही प्राप्त करते हैं।

आनन्दका अक्षय निवास हृदयमें है और वहीं अनन्त ज्ञान-भंडार भी है। हृदयकी एकाग्रतामें ही दोनोंको उपलब्ध किया जा सकता है। हिंदू-शास्त्र यही सदासे कहते आ रहे हैं कि 'सच्चिदानन्दघन तो एकमात्र परमात्म-सत्ता है और वह प्राणिमात्रके हृदयमें निवास कर रही है। अपनेको अन्तर्मुख बनाओ और उसे प्राप्त करो! विश्वके समस्त सुख तथा समस्त ज्ञान उसी आनन्दघन एवं चिद्घनकी एक रश्मि हैं। वे भी हृदयसे ही आते हैं। जैसे रंगीन शीशेमें सूर्यका प्रकाश रंगीन जान पड़ता है, वैसे ही हृदयके विकारोंसे वह आनन्द एवं ज्ञान विकृत होकर वैषयिक सुख तथा भ्रान्त धारणाका रूप ले लेता है।'

ज्ञानमात्र अपौरुषेय है, यह अब समझानेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि निर्मल हृदयमें ही ज्ञानका पूर्ण वास्तविक रूप प्रकट होता है। हृदयमें मल होंगे तो ज्ञानकी ज्योतिसे वे भी प्रकाशित हो जायँगे और भ्रम होगा कि वे ही ज्ञानके रूप हैं—जैसे रंगीन शीशेके रंगको प्रकाश प्रकाशित कर देता है और इससे प्रकाशमें ही रंगका भ्रम होता है। क्योंकि ज्ञानमात्र अपने शुद्ध रूपमें अपौरुषेय है, अतएव शुद्ध ज्ञान-भंडारको ही 'वेद' कहा जाता है। 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान ही होता है।

जब विशुद्ध ज्ञानमात्र वेद है, तब शुद्धान्तःकरण महात्माओंके समस्त उपदेश वेद क्यों नहीं माने जाते? सभी आदि धर्मोपदेशकोंकी वाणियाँ क्यों वेद न स्वीकार की जायँ? इस सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि महापुरुषोंका ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी इसलिये वेद नहीं कहा जाता कि वह वस्तुतः मूलज्ञान नहीं है। वह ज्ञानकी पुनरुक्तिमात्र है। आदिसृष्टिमें जो ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यको प्राप्त हुआ, उस ज्ञानमें कुछ बढ़ा नहीं—बढ़ सकता भी नहीं; क्योंकि वह सर्वथा पूर्ण ज्ञान है। उसी ज्ञानको 'वेद' कहा जाता है। महापुरुषोंने चाहे उसे दूसरोंसे प्राप्त किया हो या अपने हृदयकी एकाग्रतामें स्वयं अनुभव किया हो, वह है उसी ज्ञानकी पुनरावृत्ति। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—'आदिसृष्टिसे लेकर आजतक कोई भी बिल्कुल नया धर्म नहीं हुआ।' मैडम ब्लैवेट्स्कीने इसीको स्पष्ट किया है—'ये धर्मप्रवर्तक भी केवल धर्मके पुनरुद्धारक थे, मूलशिक्षक नहीं।' यह बात अन्वेषकोंसे छिपी नहीं है कि किस प्रकार वैदिक धर्मसे पारसी धर्म पृथक् हुआ और पारसी धर्मकी परम्परा ही यहूदी, ईसाई, इस्लामतक आयी।

महात्माओंद्वारा उपदिष्ट ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी पुनरुक्त होता है और साथ ही वह ज्ञानका एकांश ही होता है। मनुष्यकी शक्ति सीमित है। कोई कितना भी प्रयत्न करे, कितना भी शुद्ध-चित्त हो, उसकी शक्तिकी एक सीमा है। अतएव मनुष्य चाहे जितना विशुद्ध-हृदय हो, उसके हृदयकी एकाग्रतामें उदित ज्ञान शुद्ध होनेपर भी ज्ञानका एकांश ही होगा। पात्रमें भरा गङ्गाजल यद्यपि विशुद्ध गङ्गाजल है, फिर भी वह गङ्गाजी नहीं है। सृष्टिके आदिमें मानव जो अनन्त ज्ञानराशि पाता है, वह मनुष्यके हृदयकी एकाग्रताका प्रयत्न नहीं है। वह ईश्वरकी ओरसे आया ज्ञान है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ ही पूर्ण ज्ञानस्वरूप है और उसीकी ओरसे पूर्ण ज्ञान आ सकता है। अतएव वेद केवल पूर्ण अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञानको ही कहते हैं।

भाषा अपौरुषेय

वेद ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुए, इसका प्रमाण भाषा है। यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रतिभासम्पन्न कलाकार मौलिक कल्पना करते हैं, वैज्ञानिक नवीन आविष्कार करते हैं, अपठित संतोंने गूढ़ तत्त्व अपनी वाणियोंमें व्यक्त किये हैं, किन्तु भाषा किसीने नवीन नहीं बनायी है। अन्तरकी एकाग्रतामें ज्ञानोपलब्धि तो मनुष्य कर लेता है और संतों तथा धर्मप्रवर्तकोंने विशुद्ध ज्ञान इसी मार्गसे पाया है; परंतु मनुष्य अपने ज्ञानको प्रचलित भाषामें, जो भाषा वह जानता है, उसीमें व्यक्त करता है। अपठित संतोंकी वाणियोंका अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास पर्याप्त शब्द न होनेसे उन्हें अपने भाव अनेक रूपकोंमें, अस्पष्ट रीतिसे व्यक्त करनेको बाध्य होना पड़ा है। अन्तरकी एकाग्रतामें वे शब्द नहीं पा सके हैं। यदि वे पठित होते तो उन्हें इतने गूढ़ दृष्टान्तोंका आश्रय न लेना पड़ता। मनुष्यकी एकाग्रता उसे ज्ञानानुभूति ही देती है। भाषा तो मनुष्यको सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई थी।

भाषा-शास्त्री कहते हैं कि 'मनुष्य पहले बहुत दिनोंतक गूँगा था और संकेतोंसे अपने काम चलाता था। पीछे प्राकृतिक शब्दोंसे उसने अपनी भाषाका विकास किया।' मैक्समूलरने पूछा है कि 'मनुष्य क्या व्यर्थ ही संकेत करता था? उसने संकेतोंका अर्थ कैसे समझा?' आज गूँगे इसलिये संकेत कर पाते हैं, क्योंकि उन्हें संकेत करना सिखाया जाता है। यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश गूँगे इसलिये गूँगे हैं कि वे बधिर हैं। वे कोई शब्द सुन नहीं सकते, अतः बोल भी नहीं सकते। अब ऐसा यन्त्र बन गया है और प्रचलित हो गया है, जिससे बहरे सुन लेते हैं। इस यन्त्रके फलस्वरूप गूँगे बोलने लगे हैं। उन्हें शिक्षा दी जाती है। यदि मनुष्य भाषा बनानेमें समर्थ होता तो सृष्टिके आरम्भसे अबतक गूँगोंने कोई भाषा बना ली होती। उनके मुखके बोलनेके यन्त्र तो ठीक हैं ही। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयं कोई भाषा नहीं बना सकता।

भाषा और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। आप एक अर्थके एक शब्दका पर्यायवाची शब्द तो गढ़ सकते हैं, परन्तु नये अर्थमें नया शब्द नहीं बना सकते। क्योंकि जो शब्द आप बोलेंगे, उसका अर्थ यदि सुननेवाला पहलेसे न जानता हो तो आपका बोलना व्यर्थ होगा। उसे समझानेके लिये आपको अपने शब्दका पर्याय दूसरा शब्द बोलना पड़ेगा। इसका अर्थ है कि आपका शब्द नया नहीं रहा। वह केवल पुराने अर्थका ही सूचक है।

आप देखते हैं कि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है और बिना शब्दके आप अपना ज्ञान दूसरेतक पहुँचा नहीं सकते। अतएव मानना पड़ेगा कि ज्ञान मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे मिला और मिला भाषाके साथ।

जडवादी वैज्ञानिकोंके इस तर्कमें भी कोई तथ्य नहीं है कि मनुष्यने भाषा हर्ष-शोकादिके स्वाभाविक उद्गारोंसे बनायी। गूँगेको किसीने 'हाय हाय!' या 'आह! ओह!' करते नहीं सुना। ये उद्गार तो वही प्रकट करते हैं, जिनके पास शब्द हैं। दूसरे, शब्दका अर्थ कल्पित करके बिल्कुल नवीन शब्द बनाना शक्य नहीं—यह सिद्ध हो चुका। वाणी—भाषा मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुई और वह पूर्ण थी। भाषा और ज्ञानका नित्य सम्बन्ध है। अतएव भाषाके साथ ही पूर्ण ज्ञान भी मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुआ। हृदयकी एकाग्रतामें मानव ज्ञान तो पाता है, पर भाषा नहीं पाता। अतः मानना होगा कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यने जो पूर्णज्ञान पूर्णभाषाके साथ पाया, वह मानव-एकाग्रताका परिणाम नहीं था। वह ईश्वरकी ओरसे उसे प्राप्त हुआ था। अतएव वही पूर्णज्ञानमयी ईश्वरीय वाणी 'वेद' नामसे कही जा सकती है।

सृष्टिके प्रारम्भमें मनुष्यने सम्यक् पूर्ण भाषा और परिपूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? भाषाके इतने धातु उनके अर्थके साथ वह सहसा कैसे जान गया? इन्हीं प्रश्नोंका समाधान न पानेके कारण भाषा-शास्त्री भाषाके सम्बन्धमें भी डार्विनका विकासवाद स्वीकार कर लेते हैं और फिर काल्पनिक विवेचनमें लग जाते हैं। ईश्वरीय सत्तापर अविश्वासके कारण वे कहीं कोई व्यवस्थित कारण दे नहीं पाते। हम देखते हैं कि मेस्मेरिज्म करनेवाला एक लड़केको मूर्छित कर देता है। चाहे लड़का उसकी भाषा न जानता हो, किंतु मूर्छित दशामें वह मेस्मेरिज्म करनेवालेकी भाषा समझता और बोलता है। यह काम संकल्प-शक्तिके द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसी प्रकार सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरीय संकल्पसे मनुष्यको सम्पूर्ण भाषा और ज्ञान प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है।

आदिभाषा

आदिज्ञान एवं आदिभाषा ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुई और वही वेद है; क्योंकि वही पूर्ण है। वह आदिज्ञान और भाषा कौन-सी है? वह अभीतक अविकृत है या उसमें परिवर्तन और विकार हुए? अपौरुषेय वैदिक ज्ञानका निर्णय इन्हीं प्रश्नोंपर निर्भर है।

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं—'निःसन्देह मनुष्यकी मूलभाषा एक ही थी।' जब भाषा मनुष्यको ईश्वरने दी, तब उसमें भेद कैसे हो सकता है। मनुष्यको अनेक भाषाएँ ईश्वर क्यों प्रदान करने लगा।

मूल-भाषा संस्कृतसे ही समस्त भाषाएँ निकली हैं और मनुष्य भारतसे ही विश्वमें चारों ओर जाकर बसे हैं, एक ही मानव-परिवारकी भाषाका मूल एक ही होना चाहिये—ये बातें दूसरे निबन्धोंमें स्पष्ट करनेकी हैं। यहाँ इतना ही जान लेना चाहिये कि ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, जेंद, अरबी, चीनकी एक भाषा सामोपेडिक—इन सबमें संस्कृतकी भाँति स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्गके भेद हैं। इनमें वचन भी तीन हैं और स्त्रीलिङ्ग-शब्दोंसे कइयोंने पुँल्लिङ्ग या पुँल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग भी उसी नियमसे बनते हैं, जैसे

संस्कृतमें । कइयोंमें संस्कृतकी भाँति आठ विभक्तियाँ भी हैं।

मूल-भाषा एक होनेपर भी अनेक भाषाएँ विकृत होकर बनी हैं। ये विकार कई प्रकारसे होते हैं। एक तो अपठितोंके उच्चारण-दोषके कारण, दूसरे अक्षरोंकी कमीके कारण—जैसे अंग्रेज 'त' को 'ट' बोलते हैं। व्यापारके लिये, राजनैतिक कार्योंसे साङ्केतिक भाषा भी बना ली जाती है। साङ्केतिक भाषा किसी परम्परामें नहीं होती। आज 'कोडवर्ड' बहुत चलते हैं। महाभारतमें भी ऐसी साङ्केतिक भाषाकी चर्चा है। शब्दोंके अज्ञानके कारण पदार्थों या क्रियाओंके लाक्षणिक नाम भी रख लिये जाते हैं; जैसे लेडीफिंगर (स्त्रीकी अँगुलियाँ)—यह भिण्डीका नाम है। गन्नेको शुगरकेन (चीनीकी छड़ी) कहते हैं। ऐसे साङ्केतिक एवं लाक्षणिक शब्दोंको किसी परम्परामें नहीं पाया जा सकता। इन शब्दोंको छोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल-भाषाएँ किसी एक ही परिवारकी थीं।

मुख्य मूल-भाषाओंमेंसे आदिभाषा कौन-सी है? इसके निर्णयके लिये विद्वानोंमें बहुत विवाद नहीं है। भाषा-शास्त्री बिना मतभेदके प्रायः मानते हैं कि संस्कृत (वैदिक संस्कृत) से ही सभी मूल-भाषाएँ निकली हैं। इसे प्रमाणोंसे सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है। मूल-भाषामें दूसरी भाषाओंके विकृत शब्द नहीं होने चाहिये। दूसरी भाषाओंमें उसके शब्द ज्यों-के-त्यों और विकृतरूपमें भी होने चाहिये। दूसरी सभी भाषाओंके लाक्षणिक एवं साकेतिक शब्दोंको छोड़कर शेष सभी शब्दोंके मूलरूप उसमें मिलने चाहिये। वर्तमान सभी भाषाओंकी विकृतियोंका उसमें मूलाधार होना चाहिये। वह सबसे जटिल होनी चाहिये। सबसे अधिक उसमें अक्षर होने चाहिये।

लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि मूल-भाषा कही जानेवाली भाषाओंमें संस्कृतके शब्द भरे हैं। संस्कृत शब्दोंसे विकृत होकर ही उनके शेष शब्द भी बने हैं। संस्कृतमें ४७, रूसी भाषामें ३५, फारसीमें ३१, तुर्की और अरबीमें २८, स्पैनिशमें २७, अंग्रेजीमें २६, फ्रेंचमें २५, लैटिन और हिब्रूमें २० और बाल्टिकमें १७ अक्षर हैं। चीनी भाषामें अक्षरोंके बदले शब्द हैं, अतः उनकी गणना यहाँ करना ठीक न होगा। ऊपरकी भाषाओंमें कई अक्षर ऐसे हैं, जिनका उच्चारण एक ही है। अंग्रेजीके समान कुछ भाषाएँ कई भाषाओंसे बनी हैं। उनमें अनेक भाषा होनेसे अक्षर तो बढ़ गये, परन्तु उच्चारण नहीं बढ़े। उच्चारणकी दृष्टिसे संस्कृतका एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल-भाषा संस्कृत ही है।

वैदिकभाषा अविकृत

वेद विश्वके प्राप्त साहित्यमें प्राचीनतम हैं और उन्हींकी भाषासे समस्त विश्वभाषाएँ निकली हैं, इतना तो सभी भाषाशास्त्री एवं अन्वेषक स्वीकार करते हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि वेद उसी रूपमें हैं, जिसमें ईश्वरीय ज्ञान मानवको मिला था—यह कैसे प्रमाणित हुआ। वेदमें विकृति नहीं आयी, यह कैसे जाना जाय?

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अनादिकालसे ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि वेद-मन्त्र स्वरसे, वर्णसे हीन या भ्रान्तरीतिसे प्रयुक्त होनेपर यथार्थ अर्थका बोध नहीं कराता। अशुद्ध उच्चारणसे यजमानका नाश होता है।

जटा माला शिखा लेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥
(विकृतवल्ली १।५)

जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन—ये मन्त्र-विकृतिके आठ भेद हैं। वेदपाठकी ये आठ रीतियाँ हैं। इनमेंसे एक-एक रीति अपनी विशेषता रखती है। कौन-सा अक्षर किसके साथ है, कौन-सा किससे पृथक् है, कौन-सी मात्रा कहाँ है, कौन-सा स्वर ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत है—इन पाठ-भेदोंसे यह स्पष्ट हो जाता है। किसी भी भाषामें विकार उच्चारण-भेदके कारण आता है। वेदोंके उच्चारणको ये पाठपद्धतियाँ नित्य परिष्कृत रखती हैं। उसमें विकारको अवकाश ही नहीं है।

'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'—अशुद्ध मन्त्रोच्चारण वज्रकी भाँति यजमानका नाश कर देता है—यह कोरी व्यवस्था नहीं है, यह सत्य है। वृत्रका नाश स्वरदोषसे हो गया, यह मन्त्रमें उदाहरण है। ऋषियोंका इसपर पूर्ण विश्वास था। अतएव शुद्ध मन्त्रपाठकी पूरी व्यवस्था की गयी थी। यदि मनुष्यकी मानसिक परिस्थिति चञ्चल हो जाय तो शुद्ध पाठ नहीं हो सकेगा। वेदपाठके अनध्यायकी व्यवस्था देख जाइये। आकाशमें बादल हों, आँधी आ जाय, कोई पशु या मनुष्य सहसा समीप आ जाय, कोई अतिथि आ जाय, कोई हर्ष या शोकका संवाद मिले—इन सब अवस्थाओंमें वेदपाठ बंद।

पाश्चात्त्य विद्वानोने वेदोंका समय पहले ईसासे दो हजार वर्ष पूर्व बताया। इनके ईसाईधर्ममे क्योकि पृथ्वीकी आयु ही लगभग सात सहस्र वर्ष है, अतः वे सब बातें खींच-खाँच कर इसी अवधिमे चरितार्थ करना चाहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने 'ओरायन' ग्रन्थमे पाश्चात्त्य मतका प्रमाणपूर्ण खण्डन किया है। किंतु श्वान नक्षत्रको लेकर कालनिर्णय करनेके कारण लोकमान्यको भी भ्रम हुआ है। उन्होंने श्वानको एक नक्षत्र माना है, परंतु श्वान तो दो नक्षत्र हैं। ज्यौतिषशास्त्रमे भी उन्हे सदा दो बताया गया है।

एषा ह सांवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी ॥

(शतपथ ६। २। २। १८)

इसमे फाल्गुन पौर्णमासीसे संवत्सरका प्रारम्भ माना गया है। लोकमान्यने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वैदिक संवत्सर वसन्त-सम्पातसे प्रारम्भ होते हैं। गणित करनेसे फाल्गुन-पूर्णिमाको वसन्त-सम्पात लगभग २२००० वर्ष पूर्व आता है; क्योंकि क्रान्तिवृत्तकी एक प्रदक्षिणामे २६००० वर्ष लगते हैं। भूगर्भशास्त्रके अनुसार उत्तरी ध्रुव-देशमें प्रत्येक दस सहस्र वर्षोंपर पृथ्वीकी केन्द्रच्युति होनेसे हिमपात होता है। प्रथम हिमपात वहाँ लाखों वर्ष पूर्व हुआ होगा। वेदोमे प्रथम हिमपातका वर्णन है। लोकमान्यने स्वीकार किया है कि ऋग्वेदके देवता, ऋषि, सूक्त—सब कम-से-कम प्रथम हिमपातसे पूर्वके हैं, हिमोत्तर कालके नही। बाबू श्रीअविनाशचन्द्रदास एम्० ए० ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया', बाबू श्रीउमेशचन्द्र विद्यारत्नने 'मानवेर आदि जन्म-भूमि' और नारायण भवानराव पावगीने 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्म-भूमि' पुस्तकें बड़ी खोज करके लिखी हैं। सोमलता, हिंदू-संस्कृतिकी केन्द्रभूमि सरस्वती नदी आदिसे उन्होंने बताया है कि वेदोमे लाखो वर्ष पुरानी बाते हैं।

वेदोंके समयके सम्बन्धमे खोज करनेवाले विद्वानोका ध्यान अबतक मन्त्रोंके उस अंशपर नहीं गया है, जिसमे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेदोमे इस सौर जगत्के समान अनेको ब्रह्माण्डोंकी चर्चा है, उनका सङ्केत है। ब्रह्मकी एकपाद विभूतिमे यह निखिल ब्रह्माण्ड आर त्रिपाद्विभूतिमे शाश्वत दिव्यलोकोका वर्णन पुरुषसूक्तमे है। ज्योतिर्विज्ञानके विशेषज्ञ जानते हैं कि आकाशगङ्गाके किसी-किसी तारेके प्रकाशको पृथ्वीतक आनेमे अरबों प्रकाश-वर्ष लगते हैं। इस आकाशगङ्गासे पीछे भी नीहारिकामण्डल हैं—एकके पीछे एक; अभी पता नहीं कि कहाँतक उनका क्रम है। उनका प्रकाश यन्त्रोमें कितने अरब-खरब प्रकाश-वर्षोंमे पहुँचा है, यह संख्या न तो लिखी जा सकती और न सोची। और वेदोमें इस समस्त सृष्टिके आदिका वर्णन है, इस समस्त सृष्टिके प्रलयका वर्णन है। अतएव वेदोंके कालकी चर्चा करना बालबुद्धिका प्रयत्न है। वेद अनादि और नित्य हैं—कालकी परिधिसे परे।

वेदोंका स्वरूप

शाश्वत परमात्माका ज्ञान एवं उनकी वाणी नित्य है, इसमें तो कोई सन्देह करने-जैसी बात नहीं है; परंतु १—वह मनुष्यपर कैसे प्रकट हुई? उसका मूलरूप क्या वर्तमान चारों वेद ही हैं? २—वेद तो त्रयी कहे जाते हैं; फिर वे चार कैसे? ३—वेदोंकी तो बहुत-सी शाखाएँ कही जाती हैं, उनमेंसे अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। अतएव वेद पूर्ण ईश्वरीय ज्ञानके रूपमे विद्यमान हैं, यह किस प्रकार? इन प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः देना ठीक होगा।

वेदोंको वेद इसलिये कहा जाता है कि 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान है और वेद ईश्वरीय पूर्णज्ञान हैं। वेद-मन्त्रोंका दूसरा नाम श्रुति है। श्रुतिका अर्थ है सुना हुआ। जो नित्य ज्ञान है, वह अनादि-परम्परासे श्रवणके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वेद भगवान्के निःश्वास हैं। सृष्टिके आदिमें स्रष्टाने उन जगत्कर्ताके निःश्वासोंको सुना। स्रष्टासे आदि प्रजापतियोने सुना और इसी क्रमसे वह ज्ञान चलता रहा। इस श्रवण-परम्पराके कारण वह 'श्रुति' कहा जाता है। आज भी शब्दमार्गी योगी कानोंको बंद करके अनाहतनाद सुनते हैं। यह अनाहतनाद ही अव्यक्त प्रणवध्वनि है। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि प्रणवसे ही गायत्री तथा गायत्रीसे समस्त वेद अभिव्यक्त हुए हैं—इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रणवनाद (अनहद ध्वनि)-मे प्रकाण्ड संयम, दीर्घकालीन संयमसे श्रुतिका अन्तरमे श्रवण शक्य है, यद्यपि इतना विशाल संयम एवं तप मनुष्यके लिये अशक्य ही है। ऋषियोंने भी इसे स्रष्टासे ही सुना; क्योंकि ब्रह्माको सहस्रों वर्षके तपके पश्चात् हृदयमे श्रुतिका श्रवण प्राप्त हुआ था।

वेद—ईश्वरीय ज्ञान एक ही है। उसमे कोई भेद नहीं है। वेदत्रयीका अर्थ है कि उस एक ही वेदमें तीन बातें हैं—ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस उपयोगकी दृष्टिसे ही वेदको त्रयी कहते हैं। चारो वेद यज्ञमे

वेदके चतुर्धा उपयोगसे कहे गये हैं। त्रेतायुगमें जब मनुष्य-का साधन तप एवं ध्यान न होकर यज्ञ हुआ, तब यज्ञकार्यकी सुविधाके लिये एक ही वेदको चार भागोंमें बाँट दिया गया। इन्हीं भागोंको ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व कहते हैं। ये चारों भाग अनादि हैं और एकमें ही पहले थे।

ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः
सामवेदेनोद्गाता अथर्वैर्वा ब्रह्मा।

यज्ञमें होता ऋग्वेदसे, अध्वर्यु यजुर्वेदसे, उद्गाता सामवेदसे और ब्रह्मा अथर्ववेदसे अपने अंशका कर्म पूर्ण करता है। जो लोग त्रयी नाम सुनकर अथर्ववेदको पीछेका मानते हैं, उन्हें 'त्रयी'का ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है। अथर्ववेदके तीन नाम हैं—अथर्व, आङ्गिरस, छान्दस। और ये नाम चारों वेदोंमें आते हैं। महाभारतमें चारों वेदोंमें त्रयीविद्याका स्पष्ट वर्णन है—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा॥
(शान्तिपर्व २३५)

यहाँ चारों वेदोंका नाम लेकर उसमें त्रयीविद्या है, यह कहा गया। वेदत्रयी कहे जानेका एक कारण और है; मन्त्र तीन ही प्रकारके हैं—(१) विनियोगके, (२) गानेके, (३) गद्य। इन तीन प्रकारके मन्त्रोंके कारण तथा उपासनात्रयके प्रतिपादनके कारण चारों वेदोंको त्रयीविद्या कहते हैं। जो लोग प्राचीन साहित्यमें चारों वेदोंका नाम ही देखना चाहते हैं, उनके लिये बृहदारण्यकोपनिषद्का यह मन्त्र पर्याप्त होना चाहिये—

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

वेदोंके मन्त्रभागको 'संहिता' कहते हैं। संहिताका अर्थ है—अत्यन्त समीपता। 'परः सन्निकर्षः संहिता' अष्टाध्यायीकी इस परिभाषाके अनुसार पहले संहिताओंमें मन्त्राक्षर पृथक्-पृथक् नहीं थे। वे सब एकमें ही थे। सब सन्धियुक्त थे। सन्धियुक्त मन्त्रोंमें शब्दको पृथक् करनेमें जब कठिनाई होने लगी, जब एक अक्षर या एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ पढ़े या समझे जानेका भ्रम होने लगा, तब मन्त्रोंके पदच्छेद किये गये। इस प्रकार सन्धिसहित और पदच्छेदयुक्त—इस प्रकार एक संहिताकी दो शाखाएँ हो गयीं।

जैसे-जैसे मनुष्यकी ज्ञानशक्ति दुर्बल होती गयी, ऋषियोंने मन्त्रोंके क्रमको सुगम किया। एक ऋषिने अपने शिष्योंको मूलसंहिता पढ़ायी। उसमेंसे किसीने एक देवताके सब मन्त्र एकत्र कर लिये। इस प्रकार देवताक्रमसे मन्त्रोंका क्रम रक्खा। किसीने ऋषिक्रमसे मन्त्र सजाये; एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिके सब मन्त्र एकत्र करके याद किये—किसीने विषय-क्रमसे और किसीने छन्दःक्रमसे। इस प्रकार चारों वेदोंको तो पृथक्-पृथक् रक्खा गया, पर एक-एकमें अनेक क्रम बन गये। इनके अनन्तर पाठ-क्रमसे शाखाएँ बनीं। घन, जटा आदि वेद-पाठकी आठ पद्धतियाँ पहले बता आये हैं। एक-एक शाखा इनके कारण आठ-आठ भागोंमें बँट गयी। ये शाखा-क्रम बढ़ते गये। पुराणोंमें इसका विशद वर्णन है कि किस ऋषिके शिष्योंने किस वेदकी कितनी शाखाएँ बनायीं। इसीलिये विभिन्न ग्रन्थोंमें वैदिक शाखाओंकी संख्या एक-सी नहीं है। कूर्मपुराणके अनुसार ऋग्वेदकी २१; यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ—इस प्रकार वेदोंकी कुल ११३० शाखाएँ हैं।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदोंकी शाखाएँ वेदोंका कोई भाग या खण्ड नहीं हैं। प्रत्येक शाखामें पूरा वेद है। शाखाओंका भेद केवल मन्त्रोंके सम्पादन-क्रमके भेदके कारण है। अतएव शाखाओंके न मिलनेसे कोई वेदांश अप्राप्य नहीं हुआ है। केवल कुछ सम्पादन-क्रम अप्राप्य हो गये हैं। यदि चारों वेदोंकी एक-एक शाखा भी निर्विवादरूपमें शुद्ध प्राप्त हो तो चारों वेद मूल ईश्वरीय वाणीके रूपमें ही प्राप्त हैं—यह न माननेका कोई कारण नहीं रह जायगा। आज भी ऋग्वेदकी शाकल एवं बाष्कल शाखा, यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखा, सामवेदकी कौथुमी शाखा और अथर्ववेदकी शौनक शाखाके मूल एवं शुद्ध रूपमें प्राप्त होनेके विषयमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः इन शाखाओंके रूपमें चारों वेद ईश्वरीय वाणीके वास्तविक रूपमें ही आज भी उपलब्ध हैं।

वेदोंके शब्द, मन्त्र नित्य हैं, उनके अक्षर नित्य हैं; किन्तु मन्त्रोंका क्रम मनुष्यकृत है। मण्डल, अष्टक, काण्ड, अध्याय—इन क्रमोंमें सुविधानुसार ऋषियोंने फेर-फार किया है। इस सम्पादनक्रमसे ही शाखाएँ बनीं। ऐसा करनेमें भी न तो एक मात्रा घटायी गयी और न बढ़ी। वेदभाष्यकार महीधर भी यही कहते हैं कि वेदोंके छन्द और अर्थ नित्य हैं; किन्तु उनमें जो मन्त्रोंकी आनुपूर्वी है, वह शाखाभेदके कारण है।

वेदमन्त्रोंके ऋषि

प्रत्येक वेदमन्त्रके साथ उसके ऋषिका नाम होता है। **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'**—ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। **'मननात् मन्त्रः'**—जिसका अर्थ मननसे स्पष्ट हो, वह मन्त्र कहलाता है। जिस ऋषिने हृदयकी गम्भीर एकाग्रतामें जिस मन्त्रके अर्थका साक्षात् किया, वह उस मन्त्रका द्रष्टा कहा गया। मन्त्र तो श्रुति हैं। वे परम्परासे सुने गये हैं। उन सुने हुए मन्त्रोंका अर्थ व्याकरण या निरुक्तसे नहीं होता। यदि व्याकरण या निरुक्तसे वेदार्थ हो सकता तो एक-एक मन्त्रके साथ उसके मन्त्रद्रष्टा ऋषिका नाम न लगा होता। मन्त्रद्रष्टा होना इतने गौरवकी बात न होती और न उसे ऋषि-मुनिगण मन्त्रके साथ स्मरण रखनेका विधान बनाते। **'परोक्षवादो वेदोऽयम्'**—वेद परोक्षवाणी है। वेदान्तके विद्वान् जानते हैं कि उच्चतम अधिकारीके लिये **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका गुरुद्वारा श्रवण ही पर्याप्त होता है। मननके द्वारा वह स्वतः उसका तात्पर्य निकाल लेता है। भगवान्ने मनुष्यको बुद्धि दी है। अतएव उसे मनन करना चाहिये। ब्रह्माजी—आदिस्रष्टाने सहस्रों वर्ष तप करके वेदार्थका साक्षात् किया। उसीके ज्ञानसे उन्होंने सृष्टिरचना की। ऋषियोंने भी अन्तःकरणमें एकाग्र होकर मन्त्रार्थका दर्शन किया है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।

प्रत्येक प्राणीको उसकी वाणी ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई है। अतएव जिस प्रकारके अन्तःसंयमसे वेदवाणीका अर्थ साक्षात् होता है, उसी प्रकारके संयमसे प्रत्येक प्राणीकी भाषाका ज्ञान हो सकता है। उपर्युक्त योग-सूत्रमें महर्षि पतञ्जलिने यही बताया है कि शब्द, अर्थ और उनके ज्ञानके पृथक्-पृथक् स्वरूपमें मनःसंयम करनेसे समस्त प्राणियोंकी भाषाओंका ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकारका संयम समस्त प्राणियोंकी भाषाका ज्ञान करा देता है, उसी प्रकारका संयम वेदमन्त्रके अर्थोंका भी दर्शन कराता है। इस प्रकारका संयम जो भी करेगा, वही मन्त्रार्थका दर्शन कर सकेगा।

इतना सब ठीक होनेपर भी मन्त्रद्रष्टाका नाम रटते रहनेसे क्या लाभ? बात यह है कि वेदार्थ तो हो सकता नहीं। वेदभाष्यकी प्रथा तो रावणसे चली और फिर खण्डन-मण्डनको लेकर उसे चलाते रहना पड़ा। इसीलिये वेदोंको देखकर जो लोग उनका अर्थ करने बैठते हैं, वे निराश होते हैं और समझ नहीं पाते कि दर्शनशास्त्रोंके निर्माता प्रकाण्ड तत्त्वज्ञ ऋषियोंने भी क्यों बार-बार वेदोंकी दुहाई दी और उनको इतना महत्त्व दिया। वेदकी जिस ऋचाके जो ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, उस ऋषिके निर्मित शास्त्रोंने उस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट हुआ है। मन्त्रके साथ ऋषिके स्मरण रखनेका उद्देश्य यह है कि इस मन्त्रके लिये इस ऋषिके शास्त्र देखने चाहिये।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'इतिहास तथा पुराणके द्वारा वेदमन्त्रोंका उपबृंहण—अर्थविस्तार करना चाहिये। अल्पश्रुतसे वेद डरते हैं कि यह हमें नष्ट करेगा।' वेदार्थके सम्बन्धमें यह आदेश है। ऋषियोंके निर्मित ग्रन्थोंको 'स्मृति' कहते हैं। 'स्मृति'का अर्थ है—जो स्मरण करके लिखी गयी हो। ऋषियोंने एकाग्र अन्तःकरणमें वेदमन्त्रके जिस अर्थका दर्शन किया, एकाग्रतासे उत्थित होनेपर उसका स्मरण करके उपदेश किया। वही उपदेश 'स्मृति' कहलाया। भगवान् व्यासने महाभारत एवं पुराणोंमें ऋषियोंके उन्हीं उपदेशोंको संकलित कर दिया। इनमें पुराने उपदेश एवं चरित संकलित होनेसे ही ये ग्रन्थ 'पुराण' कहलाये। अतएव वेदोंका अर्थ या तो मन्त्रमें मनःसंयम करके जाना जा सकता है, अथवा स्मृति, महाभारत तथा पुराणोंमें उसे देखा जा सकता है। ये वेदके वास्तविक भाष्य हैं। मन्त्रोंका किसी भी प्रकार अर्थ करनेके प्रयत्नमें भ्रान्त होनेका ही भय है।

मन्त्रोंके देवता

'या तेनोच्यते सा देवता।'

'सर्वानुक्रमणी'में देवताका यह अर्थ बताया गया है कि जिस मन्त्रके द्वारा जिसका वर्णन हुआ है, वह उस मन्त्रका देवता है। अर्थात् जिस मन्त्रका जो देवता है, उस मन्त्रमें उसका स्वरूप, आराधना, प्रभाव एवं स्थूल जगत्में उसका कार्य वर्णित है। निरुक्तने इस बातको और स्पष्ट किया है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

ऋषिलोग जिस देवताकी जिस मन्त्रसे उस मन्त्रार्थके दर्शनकी इच्छासे स्तुति करते हैं, वही उस मन्त्रका देवता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रार्थके दर्शनके लिये मन्त्र-देवताके ध्यानमें मनको एकाग्र किया। उस देवताके प्रसादसे मन्त्र-दर्शन हुआ। पहले कह आये हैं कि सभी पशु-पक्षियोंकी

बोलीका ज्ञान शब्द, अर्थ एवं ज्ञानके स्वरूपादिमें मन एकाग्र करनेसे होता है। जिस पशुकी वाणीमें आप मन एकाग्र करेंगे, उस पशुकी भावना साथ रहेगी। यदि यह भाव न हो कि यह अमुक पशुकी वाणी है, तो ज्ञानका व्यवस्थित उदय न होगा। इसी प्रकार मन्त्रमें मन एकाग्र करते समय उसके देवताकी भावना आवश्यक है। क्योंकि मन्त्रमें देवता-का ही वर्णन है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

योगदर्शनने बतलाया कि प्रत्येक मन्त्रका एक अधिष्ठाता देवता होता है। मन्त्रके गम्भीर स्वाध्यायसे उसके इष्ट-देवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। अतः मन्त्रस्वाध्यायके समय किस मन्त्रसे किस दैवत-शक्तिका साक्षात् होगा, यह सूचित करनेके लिये मन्त्रोंके देवता निश्चित किये गये हैं।

बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जिनके ऋषि और देवता एक ही हैं। यह दो कारणोंसे हुआ है। कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रके आराध्य देवतासे एकात्मता प्राप्त कर ली—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अतएव उनका स्वतन्त्र नाम लोकमें प्रचलित नहीं हुआ। दूसरे, अनेक बार मन्त्रको आधार न बनाकर श्रद्धालु-जनोंने ज्ञान-प्राप्तिके लिये देवाराधन किया। प्रसन्न होकर देवताने उन्हें किसी मन्त्रका रहस्य उपदेश किया। अतएव वे मन्त्रके देवता ही अपने मन्त्रके द्रष्टा भी हुए।

मन्त्रोंके छन्द

ऋषि एवं देवताके समान हम वेदोंके छन्दोंको भी स्मरण रखते हैं। वेदोंके छन्द बड़े विचित्र हैं। यदि मन्त्रों-को छन्दके स्वरमें पद-पाठसहित पढ़ा जाय तो उनके सब चरण समान जान पड़ते हैं। यदि ऐसा न करके उनको सन्धिसहित पढ़ा जाय तो चरण घट-बढ़ जाते हैं। वेदपाठमें स्वरभङ्ग भी एक बड़ा दोष है। छन्दोंके द्वारा स्वरका निश्चय हो जाता है। शाखा-भेदसे मन्त्रोंका सम्पादन-क्रम होनेके कारण कई मन्त्र एकमें मिल गये हैं। ऐसे मन्त्रोंके दो, तीन छन्द कहे जाते हैं। इसका यही अर्थ है कि विषयकी दृष्टिसे मन्त्र एकत्र कर दिये गये, परंतु उनका मूल-स्वर बना रहना चाहिये। उसका जितना भाग जिस छन्दका है, उतना उसी छन्दमें पढ़ा जाना चाहिये।

मन्त्रके स्वरात्मक रूपकी रक्षा तो छन्दसे होती ही है, छन्द मन्त्र-दर्शनके लिये भी सहायक होते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि यजुर्वेदका बहुत बड़ा भाग गद्यमें है, किंतु छन्द उन मन्त्रोंके भी निश्चित हैं। बात यह है कि छन्दका अर्थ है विशेष प्रकारका स्वर। स्वर एक कम्पन-स्तर उत्पन्न करता है। यह स्वरजन्य कम्पन मनको उस भाव-स्तरमें पहुँचाता है, जो मन्त्र-देवताका भाव-स्तर है। वहीं मन्त्रार्थका दर्शन होता है। जैसे प्रणवके ध्यानके लिये—

'दीर्घघण्टानिनादवत्'

—ध्वनिमें मन एकाग्र करनेका आदेश है। कम्पन, भाव-स्तर तथा देवताका परस्पर सम्बन्ध देवतावादके प्रसङ्गमें विस्तृत किया जा सकता है। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ या ध्वनिका व्यक्तरूप कम्पनका परिणाम है और प्रत्येक कम्पन एक शक्तिस्रोत रखता है तथा अव्यक्तमें एक साकार आकृति बनाता है। यही साकार आकृतिका शक्तिस्रोत उसका अधिष्ठाता देवता है।

छन्दोंके सम्बन्धमें इतनी बात और जान लेनी चाहिये कि एक ही छन्दमें बहुत-से मन्त्र तनिक हेर-फेरसे या उसी रूपमें चारों वेदोंमें आये हैं। जहाँ कुछ परिवर्तन है, वहाँ तो वह मन्त्र कुछ विशेषता लेकर आया है—यह स्पष्ट है; किंतु जहाँ ज्यों-का-त्यों आया है, वहाँ या तो दूसरे अर्थमें आया है या उसी अर्थने वहाँ उसे आना आवश्यक था। एक ही वाक्य या शब्द अनेक अर्थोंमें लौकिक साहित्यमें भी बार-बार आता है। गम्भीर ग्रन्थोंमें एक ही परिभाषा अनेक बार विषयको स्पष्ट करनेके लिये दुहरानी पड़ती है। ऐसे स्थलोंको पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता और न ऐसे मन्त्रोंको वहाँसे हटानेका प्रयत्न करना चाहिये।

वेदोंमें इतिहास-भूगोलादि

वेद अनादि एवं नित्य हैं, वे ईश्वरीय वाणी हैं; ऐसी दशामें उनमें ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तियों, भूगोलसम्बन्धी घटनाओं तथा ज्यौतिषादिका वर्णन नहीं होना चाहिये—ऐसी मान्यता लेकर कुछ लोग वेदोंमें आये इतिहास-भूगोलादिपरक शब्दोंका दूसरा अर्थ करते हैं। कुछ लोग वेदोंके इतिहास, भूगोल तथा ज्यौतिषको ठीक मानकर वेदोंको मानवकृत मान लेते हैं और उनका निर्माण कब हुआ—यह निर्धारण करनेमें लग जाते हैं। ये दोनों ही बातें इसलिये होती हैं कि वेदोंको अर्थ करनेका विषय मान लिया जाता है। मन्त्रदर्शनकी शक्ति तो रही नहीं, व्याकरणकी टाँग वहाँ अड़ायी जाती है। लेकिन यदि हम वेदार्थ न करें

और मन्त्रोंको केवल यज्ञ, उपासनाके समय पाठका विषय—मन एकाग्र करके ज्ञानप्राप्तिके कारण-सूत्र मानें तो मानना पड़ेगा कि पुराणादि वेदभाष्य हैं। पुराणोंमें भी इतिहास-भूगोल हैं, यह भूला नहीं जा सकता।

पुराणोका स्वरूप तथा उनके वर्ण्य विषयकी सत्यताका विवेचन तो स्वतन्त्र निबन्धका विषय है; किंतु हम पहले महात्मा सुकरातका यह वाक्य उद्धृत कर आये हैं कि 'कोई किसीको नवीन ज्ञान नहीं देता। ज्ञानदाता केवल विस्मृत ज्ञानकी स्मृति कराता है।' नवीन ज्ञान देना सम्भव नहीं है। तब आजके ये आविष्कार, ये भौतिक ज्ञानके अनेको अनुसन्धान—यह सब क्या नवीन ज्ञान है! यह विस्मृत ज्ञानकी पुनः स्मृति ही है। अवश्य ही इन अनुसन्धानों और सिद्धान्तोका भ्रमपूर्ण भाग नवीन एवं मानवके अन्तःकरणका दोष है। इनका सत्य तो पुरातन है, क्योंकि सत्य कभी नवीन नहीं होता। ज्ञानके विस्मरण एवं स्मरणका चक्र संसारमें चलता ही रहता है।

जैसे ज्ञान नवीन नहीं होता, वैसे ही विचार भी नवीन नहीं होते। विचारसे ही ज्ञान होता है। मनुष्य नित्य नवीन विचार नहीं कर सकता। विचारके कुछ निश्चित स्तर हैं। मानव-मन उनमेसे जिस स्तरमे होता है, उसी स्तरकी विचार-धारा मनमे आ जाती है। पदार्थ एवं घटनाएँ विचारके परिणाम हैं, यह आप जानते हैं। मनमे आये विना न कोई श्रम होगा और न किसी पदार्थ या घटनाका निर्माण। अब इससे आगे बढ़ जाइये। इस निबन्धके प्रारम्भमे यह विस्तार-से बताया गया है कि सृष्टि स्वतः नहीं हो गयी। कोई चेतन सृष्टिकर्ता है। उसके समीप मन है। उसके मनकी गतिका तारतम्य ही सृष्टिमें लक्षित होता है। सृष्टिकर्ताका विचार ही सृष्टिके रूपमे परिणत होता है। सृष्टिकर्ता भी नये विचार नहीं करता। क्योंकि नया ज्ञान, नया विचार हो नहीं सकता। उसका मन भी मानस-स्तरोंसे ही विचार ग्रहण करता है। उन्हीं स्तरोंमे उसका मन घूमता रहता है। फलतः सृष्टि उन स्तरोंकी व्यक्त अभिव्यक्तिमात्र है।

'यथापूर्वमकल्पयत्'

स्रष्टाने सृष्टि पूर्वकी भाँति ही बनायी। श्रुतिने यह स्पष्ट कर दिया। पूर्वकी भाँतिका अर्थ क्या? समस्त पृथ्वी, उसके सब परिवर्तन, सृष्टिकी समस्त आकृतियाँ और सब घटनाएँ केवल पुनरावृत्ति करती हैं। एक तृण नवीन नहीं। एक पत्ता नवीन ढंगसे नहीं हिलता। क्योकि नवीन विचार आ नहीं सकते—न व्यक्तिके मनमे और न समष्टि-कर्ताके मनमे।

जो अविश्वासी है, मैं उनकी बात नहीं करता। जो श्रद्धालु हैं, वे जानते हैं कि ज्योतिषी ग्रहोंकी स्थितिकी गणित करके सन्तानके विना देखे उसका रूप, रंग, उसका स्वभाव, जीवन-काल तथा जीवनकी उन्नति-अवनति सब बता देते हैं और वह सत्य होता है। फलित ज्योतिष सत्य सिद्धान्त है। यदि कुछ नवीन हो सकता तो उसे पहलेसे न बताया जा पाता। यदि सब पहलेसे निश्चित न होता तो कोई सर्वज्ञ न कहलाता। क्योंकि जो अनिश्चित है, उसका ज्ञान पहलेसे नहीं हो सकता। ईश्वर तो कम-से-कम सर्वज्ञ है ही। ज्यौतिपके ग्रह-नक्षत्र संख्या रखते हैं। अतः उनकी स्थितियोंकी संख्या है। वे एक निश्चित कालके पश्चात् पुनः उसी स्थितिकी आवृत्ति करते हैं, चाहे वह काल कितना भी लंबा हो। ज्यौतिपके अनुसार जब ग्रह-नक्षत्र एक पूरा चक्कर करके पुनः पहली स्थितिकी ठीक-ठीक आवृत्ति करने लगते हैं, विश्वकी आकृतियाँ एवं घटनाएँ भी आवृत्ति करने लगती हैं। ऐसा न हो तो फलित ज्यौतिष कभी सत्य न प्रकट कर सके।

जब इतिहास नित्य है, तब नित्य-ज्ञानस्वरूप वेदोंमे उसको होना ही चाहिये। वेदोमे वे नित्य इतिहास एवं भूगोलादि हैं, जो परिवर्तित नहीं होते। अर्थात् इतिहासकी रूपरेखा वहाँ है। यह उसी प्रकार है, जैसे मनुष्योंकी आकृतिकी समानता या चित्रकारके चित्रकी बाह्य रेखा। वेदोमे नित्य इतिहास-भूगोलादि न केवल आगेके हैं, भविष्यके भी है। अतः वहाँ इतिहास नहीं है, यह प्रयत्न या उसके अनुसार उनका कालनिर्णय—दोनो बालचेष्टा है। पुराण भी उन्हीं नित्य इतिहासादिको स्पष्ट करते हैं। सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र वेदोमे निहित हैं। वेद ईश्वरीय मूल-ज्ञानके रूप हैं और उनके अक्षर एवं शब्द नित्य हैं। उनसे अतिरिक्त ज्ञान और है ही नहीं। इसीसे हिंदूधर्म वेदोंको परम प्रमाण मानता है।

भारतकी आध्यात्मिक सम्पत्ति

'संसारके देशोंमे भारतवर्षके प्रति लोगोंका प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिके कारण है।' —प्रो० लूई रिनाउ (पेरिस विश्वविद्यालय)

हिंदू-संस्कृति और दर्शनशास्त्र

विश्वमे भारत अपने दर्शनशास्त्रोके लिये अभी भी श्रद्धा एवं आदरका भाजन है। भारत विश्वगुरु था और अब भी है, तपःपूत ऋषियोंके सूक्ष्म ज्ञानकी सम्पत्तिको पाकर ही। पशुओसे मनुष्यकी विशेषता है विचारपूर्वक प्राप्त ज्ञान। अतः मनुष्यका आदर्श स्थिर करते समय ज्ञान ही एकमात्र हमारा आधार हो सकता है। आज विश्वमें 'वाणी तथा लेखनकी स्वतन्त्रता—विचार-स्वातन्त्र्य'का आन्दोलन किया जाता है, यह केवल इसलिये कि जातियो एवं राष्ट्रोंके कृत्रिम आदर्शोंसे मनुष्यको बंदी न बनाया जाय। मनुष्यत्व विचारकी पूर्णतामे है, अतः उसे व्यक्त करनेके लिये कोई सीमाबन्धन नही होना चाहिये। भारत ही एक ऐसा देश है, जहॉं अति-प्राचीन कालसे विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्यको प्राप्त था। इस देशमे विचारोपर कभी बन्धन नहीं लगा था और अब लगा है तो वह पाश्चात्त्य प्रभावसे। यहॉं विचारोके सम्बन्धमे मानव कभी असहिष्णु नहीं बना। सामाजिक नियमो—जीवनके प्रत्येक कार्यमे धर्मका कठोर नियन्त्रण होनेपर भी विचारस्वातन्त्र्यके कारण भारतमें इतने दर्शनशास्त्र और मत-मतान्तर विस्तृत हो सके।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धिके अनुसार ही विचार कर सकता है। बच्चेकी बुद्धि तथा विद्वान्की बुद्धि समान नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक न्यायाधीश और एक कसाईके विचार अपराधके सम्बन्धमे एक-जैसे नहीं हो सकते। इसके लिये आवश्यक होता है कि अपरिपक्व एवं भ्रान्त विचारोको कार्यरूपमें परिणत न होने दिया जाय। कोई शिशु अपनी समझसे अनुचित कार्य नहीं करता, किंतु आप उसे फाड़ने तथा फोड़नेके लिये पुस्तकें और शीशेके बर्तन नहीं दे सकते। विचारका क्षेत्र बौद्धिक क्षेत्र है। वहॉं तो हमे स्वतन्त्रता होनी चाहिये; किंतु हमारे विचारको तबतक आचरणमें नही आना चाहिये, जबतक वह सत्यका साक्षात् न कर ले। आज विचार-स्वातन्त्र्यकी मॉंग करनेवाले भी स्वीकार करते हैं कि विचार-स्वातन्त्र्य वहींतक हो, जहॉंतक वह कार्यमे आकर कोई अव्यवस्था उत्पन्न न करे। हिंदू-समाजने आचारको सदा कठोर रक्खा। आचारमे तनिक भी त्रुटि या प्रमाद करनेवाला क्षमा नहीं किया गया। साथ ही किसीके विचारोंके सम्बन्धमे उसके प्रति असहिष्णुता नहीं प्रकट की गयी। हमारी समझमे नही आता, हमे व्यर्थ या हानिकर भी लगता है; तब भी हमें आचारके क्षेत्रमें किसी आचारको नष्ट करनेका अधिकार नहीं। वहॉं हमें सैनिककी भॉंति अनुशासनका पालन करना है। प्रत्येक सैनिक यदि अपने विचारसे व्यवहार करने लगे तो सेनाका क्या हाल हो! यही दशा समाजकी है। हमारे लिये यह जानना पर्याप्त होना चाहिये कि नियमोंके निर्णेता हमसे विशुद्ध एवं पूर्णबुद्धि, निःस्वार्थ हैं और भारतीय ऋषियोके त्याग, ज्ञान, सर्वज्ञतामें सन्देहको स्थान ही नहीं है।

आचरणके सम्बन्धमें शास्त्र प्रमाण हैं। शास्त्रोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति चाहे जितना उच्च एवं तपस्वी हो, उसकी आज्ञा पालनीय नहीं होनी चाहिये। इसके साथ ही व्यक्तिके त्याग, तप आदिका निरादर भी नहीं होना चाहिये। हिंदू-समाजकी यह मान्यता इतनी परिमार्जित है कि उसमें विकृतिके लिये अवकाश ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार प्रसिद्ध हो जाता है, वह उन सभी विषयोंपर अपनी सम्मतियॉं देने लगता है, जिनके सम्बन्धमें वह सामान्य ज्ञान भी नहीं रखता। समाज प्रसिद्धि या त्यागसे प्रभावित होकर उसकी भ्रान्त धारणाओको अपनाने लगता है और वह भी इसीका प्रयत्न करता है। हिंदू-समाजका आदर्श इससे सर्वथा भिन्न है। अवतार होनेपर भी भगवान् बुद्धके आदेश इसलिये मान्य नहीं हुए कि वे शास्त्रविरुद्ध थे। आदेश न मानकर भी भगवान् बुद्धकी हम जयन्ती मनाते हैं, उनकी पूजा करते हैं। जो व्यक्ति त्याग-तितिक्षादिसे उच्च है, उसका आदर होना चाहिये; किंतु उसके आदेश शास्त्रके विपरीत हों तो वे पालन करने योग्य नहीं है। यह हमारी संस्कृतिका आदर्श है।

आचारके सम्बन्धमें जहॉं हिंदू-समाज शास्त्रके विपरीत भगवान्के आदेश भी सुननेको प्रस्तुत नहीं, वहीं विचारके सम्बन्धमे यहॉं पूर्ण स्वतन्त्रता है। विचार करनेकी हमे स्वतन्त्रता होनी चाहिये और दूसरेको भी। हममे इतनी सहिष्णुता होनी चाहिये कि हम दूसरेके विरोधी विचारोको सह सके। मनुष्यका अहङ्कार उसे उभाड़ता है कि वह सर्वश्रेष्ठ है, उसकी जाति, धर्म, राष्ट्र, विचार सर्वश्रेष्ठ हैं। उससे भिन्न लोग निम्नकोटिके हैं, अज्ञानी हैं। यह अहङ्कार मनुष्यके विचारको कुण्ठित कर देता है और विचार कुण्ठित होनेपर मनुष्य पशु हो जाता है। उन्मुक्त विचार ही मनुष्यता है।

हम इतिहासके पृष्ठोमे देखते हैं कि ईसामसीहको सूली

दे दी गयी। सुकरातको विष पिला दिया गया। मंसूरकी हत्या की गयी। ये सब महापुरुष तथा ऐसे ही दूसरे उच्च कवि, वैज्ञानिक यूरोपमें मार डाले गये। यह सब इसलिये कि वहाँका समाज उनके विचारोंको सह नहीं सका और पशु बन गया। अभी पिछले वर्षोंमें जापानियोंने मान लिया था कि केवल वे ही मनुष्य हैं और शेष सभी मनुष्य पशु हैं। भारतमें भी एक वर्गने पिछले उपद्रवोंमें जापानियोंकी इस धारणाको अपना लिया। अपनेको ही मनुष्य कहनेवाले ये अहङ्कारसे मोहित वर्ग पशुसे भी हीन हो जाते हैं जब वे शेष मनुष्योंकी हत्या, उन्हें लूटना, उनपर अत्याचार करना अपना कर्तव्य मान लेते हैं और इस कर्तव्यका विभिन्न तर्कोंसे समर्थन करने लगते हैं। वे जब किसीकी हत्या या उसे लूटनेको उसपर दया करना बताने लगते हैं, तब कदाचित् पिशाच भी उनसे घृणा करता होगा। इस प्रकार मनुष्यका अहङ्कार उसे मनुष्यत्वसे गिरा देता है!

हिंदू-धर्मको छोड़कर विश्वमें जितने भी धर्म, समाज, वर्ग हैं—सबकी एक ही मान्यता है कि उनका मत, उनकी पद्धति ही भ्रान्तिहीन है; केवल उसीसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। साम्यवादी अर्थ-पद्धतिसे लेकर अहिंसा-प्रधान धर्मोंकी भी यही दशा है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शेष मानव-जातिके प्रति दयालु होकर उसे अपने मतमें लानेका प्रयत्न करते हैं। यह दया उपदेशतक ही रहे तो कोई बात नहीं; परंतु दयाकी प्रेरणा इतनी तीव्र होती है कि छल-कपट, प्रलोभन, बलप्रयोग तथा हिंसासे भी वे हिचकते नहीं—मनुष्य-जातिका कल्याण जो करना है! यदि अबोध मानव अज्ञानवश दुराग्रह करे तो उसके हितके लिये कठोरता भी उचित ही है। इस प्रकार सभी अपनी दृष्टिसे मनुष्य-जातिके हित-साधनमें लगे हैं। मनुष्य-जाति इन हित-साधकोंके संघर्षमें पड़ी है और प्रत्येक उसे क्रूर पशु प्रतीत होता है!

हिंदू-धर्मका हित-साधन-प्रकार ही विश्वके समस्त धर्मों एवं वर्गोंसे भिन्न है। यहाँ किसीको हिंदू तो बनाना है ही नहीं, विचारोंका प्रसार करना है। और सीधी बात है कि जो जहाँ है, वहींसे अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करे। साधन सब ठीक हैं, यदि वे स्वार्थसे कलुषित न हों। स्वार्थसे ऊपर उठकर साधनकी पूर्णता करनेमें सबका कल्याण है। हिंदू किसीको हिंदू तो नहीं बनाना चाहते, किंतु मनुष्य अवश्य बनाना चाहते हैं। अपने अहंकारकी परिधिमें संकुचित होकर दूसरोंको हीन मानना ही पशुत्व है। यदि मनुष्यको सचमुच मनुष्य बनना है तो उसे हिंदुत्व नहीं, हिंदुत्वकी धारणा स्वीकार करनी होगी। उसे दूसरोंके प्रति सहिष्णु बनना होगा और दूसरोंके विचारों, साधनोंकी महत्ताको स्वीकृति देनी होगी।

यह बात विश्वमें अत्यन्त स्पष्ट है कि दूसरोंपर आक्षेप, संघर्ष या दूसरोंके प्रति असहिष्णुता वही लोग प्रकट करते हैं, जो अपने सिद्धान्त तथा आचारपर भी चलते नहीं। स्वार्थ ही जिनका आचार है, उनकी बात तो छोड़ देना चाहिये; पर स्वार्थसे ऊपर उठकर जो अपने आचारका पालन जितनी दृढ़तासे करेगा, वह दूसरेके आचार एवं विचारके प्रति उतना ही सहिष्णु होगा। असहिष्णुता उन्हीं लोगोंद्वारा प्रकट होती है, जो अपने आचार एवं सिद्धान्तकी श्रेष्ठता बड़े उच्च स्वरमें घोषित करते रहते हैं, किंतु उसपर चलते नहीं। आचार उनका स्वार्थ-प्रेरित होता है। जिस समाजमें धर्मके नियम जितने दृढ़ हैं, आचारकी च्युतिका वहाँ उतना ही कम अवकाश है। हिंदू-धर्मने पूरे जीवनको नियमोंमें सीमित कर दिया, अतः वहाँ आचारकी च्युतिका अवकाश रहा ही नहीं। फलतः विचारोंकी असहिष्णुता वहाँ उत्पन्न नहीं हुई। विचारोंकी असहिष्णुता उन्हीं देशों और जातियोंमें हुई, जहाँ जीवनको अनियन्त्रित होनेका अवकाश था।

आज कहा जाता है कि 'जाति', 'सम्प्रदाय' आदि भेद ही झगड़ोंकी जड़ हैं। सभी जातियों, वर्णों तथा धर्मोंको भी एक हो जाना चाहिये। इससे विवाद एवं संघर्ष मिट जायगा। बात देखनेमें प्रलोभनकारी होनेपर भी भ्रमपूर्ण है। संघर्षका कारण जाति या धर्म न होकर स्वार्थ है। वस्तुतः, धर्म तथा उनके आचारोंकी उपेक्षासे ही संघर्ष बढ़ा है। ये संघर्ष प्राचीन कालसे उन्हीं जातियोंमें अधिक हुए, जहाँ जाति आदि भेद नहीं थे। जहाँ आचारपर बल नहीं दिया गया, वहीं विचारोंकी असहिष्णुता उत्पन्न हुई। आचारके बन्धन नष्ट करनेसे स्वार्थ बढ़ेगा। एक प्रकारके वर्ग मिटेंगे तो दूसरे प्रकारके बनेंगे। संघर्ष तो बढ़ेगा ही। संघर्ष मिटानेके लिये तो विचारोंकी सहिष्णुता आवश्यक है और हिंदू-धर्मकी युग-युगकी सहिष्णुता इसका प्रमाण है कि वह आचारनिष्ठासे प्राप्त होती है।

हिंदू-समाजके आधारभूत शास्त्रोंको देख डालिये। वहाँ आचारकी एक-सी व्यवस्था है। आचारका मुख्य आधार स्मृति-ग्रन्थ हैं। स्मृतियोंमें युगानुरूप आचारकी व्यवस्था है। वहाँ आचारके सम्बन्धमें कहीं कोई मतभेद नहीं। साधन, उपासना एवं निष्ठाके भेदको पृथक् कर देनेपर पूरे हिंदू-

समाजका आचार एक है। आचारकी मान्यताएँ एक हैं। साथ ही विचारोंका बहुत बड़ा भेद है। कोई साधन, कोई आचार, कोई कला ऐसी नहीं, जो अपना स्वतन्त्र दर्शनशास्त्र न रखती हो। व्याकरणका दर्शनशास्त्र पृथक् और ज्यौतिषका पृथक्। उपासनाका एक और योगका दूसरा। आयुर्वेद, संगीत, चित्रकला—सबके दर्शनशास्त्र हैं। कहीं ऐसा नहीं कि कल्पना विचारसे पृथक् हो गयी हो। मनुष्यकी विशेषता विचार है—वह विचारहीन होकर कार्य करे तो पशु हो जायगा। मनुष्यकी यह मनुष्यता हिंदूसमाजके प्रत्येक भागमे सतत जागरूक मिलेगी। उपासना, ज्ञान तथा योगकी बात छोड़ दीजिये; वे तो दर्शनके आधारसे ही प्रवृत्त होते हैं। परंतु भाषा, वाद्य, नृत्य, चित्र, संकेत—यहाँतक कि गृह बनाना, उठना-बैठना, विवाह आदि सब अपना दर्शन रखते हैं। बिना दर्शनशास्त्रके कहीं गति नहीं।

पाश्चात्य जगत्का दार्शनिक ज्ञान ही अभी अधूरा है और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्हें भारतसे बहुत कुछ इस विषयमें सीखना है।

पाश्चात्य देशोंमें धर्म, राजनीति, जीवन, दर्शनशास्त्र—ये सब परस्पर भिन्न हैं। वे केवल यही समझ सकते हैं कि भौतिक विज्ञान इन सबमें व्यापक है। वैसे ही भारतमें धर्मसे भिन्न जीवन या राजनीतिकी सत्ता नहीं। दर्शनशास्त्र सर्वत्र व्यापक है। वह स्वतन्त्र विद्या न होकर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रका आधार है—आश्रय है।

आदिज्ञान पूर्ण था। उसीके अंशोंको लेकर आवश्यकता, काल तथा प्रमादके कारण अनेक विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ। उपनिषदोंसे लेकर पुराणोंतकमें वह एक ही आदिज्ञान एक रूपसे विद्यमान है। पुराण तो वेदोंके भाष्य ही हैं। अतः उपनिषदोंका ज्ञान पुराणोंमें स्पष्ट हो गया है। उसीको विभिन्न दृष्टिकोणसे ग्रहण करनेके कारण अनेक दर्शनशास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है—यह स्पष्ट है। बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें शास्त्रोंके उस अनादि ज्ञानको इस रूपमें कहा जा सकता है—

'एक अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत सत्ता है। उसके दो रूप हैं—एक निर्गुण, निर्विकार निराकार स्वरूप और दूसरा निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य, आनन्द, अचिन्त्यानन्त सद्गुणगणोंका धाम स्वरूप। एकके ही ये सगुण स्वरूप अनेक हैं। उनके नित्य चिन्मय धाम हैं। उन धामोंमें वही व्यापक निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर नाना रूपोंमें नित्य क्रीडा किया करता है। जैसे निर्गुण स्वरूप विभु है, वैसे ही सगुण स्वरूप भी सर्वगत है। सभी सगुण रूप, सभी लीलाएँ सदा, सर्वत्र व्याप्त हैं। देश-कालकी कल्पना वहाँ नहीं जाती।

वह शाश्वत सत्य शक्ति एवं शक्तिमान्—उभयरूप है। शक्ति एवं शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होकर भी भिन्न और भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। वस्तुतः वे अभिन्न ही हैं। क्रीडाके लिये ही उनका भेद है। इसी भेदसे व्यापक निर्गुण तत्त्वमें सत्, चित्, आनन्दका भाव है और सगुणके साथ यही शक्ति सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तिके त्रिविध रूपमें उपस्थित होती है। सगुण रूपकी ही भाँति ये शक्तियाँ भी नित्य, परस्पर अभिन्न तथा शक्तिमान्से अभिन्न हैं।

मायाशक्ति व्यापकतत्त्वके एक पादमें है और उसीमें समस्त ब्रह्माण्ड हैं। शेष तीन पादोंमें योगमायाका विस्तार है। वहाँ नित्य धाम हैं, जहाँ वही निर्गुण व्यापकतत्त्व अपनी ह्लादिनी शक्तिके साथ सगुण, साकार होकर क्रीडा करता है। ह्लादिनी शक्तिके ही सीता, राधा, लक्ष्मी, त्रिपुरा आदि रूप हैं।

व्यापकतत्त्वके सत्, चित्, आनन्द मायामें प्रतिच्छायाकी भाँति गृहीत होते हैं और वे क्रमशः तम, रज एवं सत्त्वका नाम पाते हैं। प्रकृति नित्य इन तीनों गुणोंसे युक्त रहती है। सत्त्वगुण निर्मल होनेसे उसीमें पहले दिव्य जगत्की अभिव्यक्ति होती है। दिव्य (सत्त्वात्मक) जगत् ही मूल सृष्टि है। जैसे सूर्यसे किरणें, किरणोंसे प्रतिबिम्ब, वैसे ही नित्य धामसे भावस्तर और उनसे दिव्य जगत्। यहाँ दिव्य जगत् मूर्त जगत्के रूपमें व्यक्त होता है।

मूर्त जगत्—यह हमारा जगत् भावरूप है, जैसे जलगत सूर्यके प्रतिबिम्बकी छाया दर्पणमें पड़ी हो। दर्पणमें सूर्यका प्रकाश, उष्णताका अंश भले हो; पर वहाँ दर्पण और जल दोनोंके दोष आये हैं। प्रभाव विकृत और अल्प हो गया है। वहाँ सूर्यकी सत्ता कल्पित है। इसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्पित है, भावरूप है। दिव्य जगत्की यह भावात्मक अभिव्यक्ति है। स्वरूपतः यहाँके देश, काल, नाम, रूप—सब मिथ्या हैं। जब हम स्थूल जगत्की ओरसे विचार करेंगे तो यह मिथ्या ही सिद्ध होगा। नित्य जगत्—भगवान्की ओर दृष्टि करनेपर सब उस नित्य सत्ताका लीलाविलास है।

जगत् मिथ्या है—रस्सीमें सर्पकी भाँति, सीपमें चाँदीकी भाँति, मरुस्थलमें जलकी भ्रान्तिकी भाँति। यहाँके सब दृश्य एवं पदार्थ स्वप्नकी भाँति मानसिक हैं, कल्पित हैं। जैसे स्वप्नके सारे दृश्योंमें भाव व्यापक है—भाव ही वहाँ मूर्तिमान् हो गया है, वैसे ही दृश्य-जगत्में दिव्य जगत् (भाव-जगत्) व्यापक है। वही यहाँ मूर्तिमान् हो गया है। वह दिव्य या भाव-जगत् भी सत्य नहीं है। ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थ कल्पित हैं, स्वप्नकी भाँति ही हैं। वे भी प्रतीति हैं।

अज्ञान अनेकताका कारण नहीं होता। अज्ञानका धर्म भेद नहीं है। घटाभाव और पटाभावमें कोई अन्तर नहीं। अन्धकार समस्त दृश्यको एकाकार कर देता है। अतः दृश्य-जगत्का यह सब भेद केवल अज्ञानमूलक नहीं हो सकता। रस्सीमें सर्पका भ्रम तभी होता है, जब रस्सी और सर्प दोनो पदार्थोंकी सत्ता हो, दोनोंका हमे ज्ञान हो, दोनोंमें कुछ सादृश्य हो। दृश्यके नाना रूपोंका जहाँ भान होता है, वह मायाशक्ति है। नित्यलोकोंकी विभिन्न लीलाओंकी ही यहाँ भूतरूपोंमें प्रतीति है और भावरूप कुछ सादृश्य भी है। भावस्तर—दिव्य जगत्की भावरूप किरणें, यही दिव्य जगत्मे मूर्त होकर देवता होती हैं। देवताओंकी हमारे मनमे अभिव्यक्ति—विचार है और बाहर वे ही भाव स्थूलरूपमे प्रकट होकर पदार्थ बन जाते हैं। पदार्थकी मूर्त सत्ता मानसिक भावका ही परिणाम है।

सत्, चित्, आनन्द—तीनों उसी व्यापकतत्त्वके अभिन्न स्वरूप हैं। उसके सगुण एवं निर्गुण रूपमे कोई भेद नहीं। जागतिक क्रियाएँ उसीके लीलाविलासकी प्रतिच्छाया हैं; अतः उस नित्य रूपकी उपलब्धिके लिये यहाँकी कोई भी क्रिया या भाव साधन हो सकता है, यदि उसे नैष्ठिक रूपसे अपनाया जाय—मन उसीमे पूर्णतः स्थित हो सके। योगके द्वारा क्रियाके स्रोतको पकड़कर, क्रियाकी शान्तिसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है और ज्ञानके द्वारा पदार्थ-जगत्के विवेचनसे प्रतिबिम्बोंसे बिम्बकी प्राप्ति होती है। योग तथा ज्ञान दोनोंमें मायाका विश्लेषण है, उनके द्वारा व्यापक-तत्त्वसे एकात्मता उपलब्ध होती है; क्योंकि मायाके त्रिगुण तो व्यापक तत्त्वके सच्चिदानन्दकी छाया हैं। ज्ञानके द्वारा प्रतीतिका निराकरण होकर वस्तुकी प्राप्ति होती है। दृश्यकी सत्ता तो है नहीं, अतः दृश्यका विवेचन उसका निरास कर देता है। इन दोनों साधनोंमें दृश्यके कारणका विवेचन है। फलतः माया जिस नित्य ज्ञानघन सत्तासे अभिन्न है, उसकी प्राप्ति होती है। संक्षेपमे योग और ज्ञान इतना ही है।

तीसरा मार्ग उपासनाका है। भाव ही जब यहाँ मूर्त हुआ है, तब भावके सहारे अपने उस नित्य स्वरूपके दिव्य-धाममें प्राप्त करना, जिसका यह वर्तमान स्वरूप प्रतिबिम्ब है—दूसरे शब्दोंमें भावके आधारपर सगुण-साकार रूपमें शाश्वतधामकी उपलब्धि उपासनाका लक्ष्य है। भाव उतने हैं, जितने भावस्तर हैं। भावसे भिन्न न पदार्थ हो सकता है, न विचार और न देवता; क्योंकि भाव जो नित्य जगत्की किरणें हैं, वही तो मूर्त हुए हैं। अतः प्रत्येक भाव सत्य है, नित्य है, दिव्यधामसे सम्बद्ध है। प्रत्येक भावसे उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति एवं शक्तिमान्के भेदसे उपासनाके दो भेद हुए—एक तो शक्तिको आराध्य मानकर चलनेवाला और दूसरा शक्तिमान्को प्रधान मानकर। स्वरूपभेदसे इनके भी अनेक भेद हैं। ये भेद साधनके लिये अधिकारके अनुसार हैं। सबका प्राप्तव्य एक ही है। शक्ति-शक्तिमान्के अभेदके साथ सभी स्वरूपोंका भी अभेद है। वैसे स्वरूपकी दृष्टिसे प्रत्येक स्वरूप नित्य है। उसे पानेवाला उसे शाश्वतरूपमें ही उपलब्ध करता है; किंतु जैसे रुचिके कारण कोई चीनीका हाथी पसंद करता है और कोई घोड़ा; दोनों प्रभाव, गुण—सबमें एक ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सत्ता समग्ररूपसे एक ही है।

नित्य अभेद और नित्य भेद तथा अभेदमे भेद और भेदमें अभेदका यह शास्त्रीय ज्ञान ईश्वरीय वरदान है। अपौरुषेयरूपमे ही वह मनुष्यको प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान, चाहे वह कितना भी उच्च क्यों न हो, इसीके किसी-न-किसी अंशकी अस्पष्ट या स्पष्ट व्याख्यामात्र है। हिंदूसमाजका मूल दर्शनशास्त्र, जो वेदो, उपनिषदों, पुराणोंमे वर्णित हुआ है, संक्षेपमे यही है। इसके भेद उनके वर्णनोंमे आगे स्पष्ट होंगे।

नास्तिक-दर्शन

उपनिषदोंमे ही इन्द्र एवं विरोचनकी कथा है। देवराज तथा दैत्यराज दोनो लोकपितामह ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त करने गये। ब्रह्माजीने मननका अवसर देनेके लिये बतलाया कि 'जो जलोंमें, दर्पणोंमे, नेत्रोंमे दिखायी देता है, वही आत्मा है।' बड़ी सीधी बात थी कि शरीरका जैसे जल-दर्पणादिमे प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, वैसे ही शरीर भी प्रतिबिम्ब है। इस शरीरका जो मूल बिम्ब नित्यधाममे है, वही आत्मा है। असुरराज विरोचनकी बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं थी। उन्होंने अनेक स्थानोपर अपने शरीरके प्रतिबिम्बोंको देखकर निश्चय कर लिया कि शरीर ही आत्मा है। वे सन्तुष्ट होकर

लौट आये। इन्द्र बराबर विचार करते रहे। उन्होंने कई बार शङ्काएँ कीं और अन्तमें पितामहसे उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया।

विरोचनने अपने तत्त्वज्ञानका असुरोंमें प्रचार किया। असुर देहात्मवादी हो गये। यद्यपि प्रह्लादादिने वस्तुतः तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, तथापि असुरोंने उसे देवताओंका सङ्गदोष ही माना। अधिकतर वे शरीरको मुख्यता देते रहे। कामोपभोग ही उनका लक्ष्य रहा। यही आसुरी सभ्यता पाश्चात्त्य देशोंमें विस्तृत हुई। शरीरको मरनेपर भी सुरक्षित रखनेकी प्रेरणा देहात्मवादसे ही मिली। भारतमें देहात्मवादकी एक शाखा चली और पाश्चात्त्य देशोंमें दूसरी।

सत्य सदा भ्रान्तिहीन है। विचार कभी किसीको भ्रममें नहीं डालते, यदि उन्हें कुण्ठित न कर दिया जाय। पाश्चात्त्य देशोंमें देहात्मवाद गया तो सही; किंतु उसपर बराबर विचार होता रहा। छान-बीन होती रही। यद्यपि रूसी साम्यवाद अब भी उसी 'कामोपभोगपरमाः' की मूल आसुर भूमिपर ही है और मनुष्यका जैसे-जैसे बौद्धिक ह्रास होता जा रहा है, वैसे-वैसे वह दर्शनके उच्च विचार ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेके कारण तथा आचारहीन होनेसे, स्थूल एवं भोगको प्रधानता देनेवाले आसुर विचारोंको अपनाता जा रहा है और इसीसे यह जडवाद संसारमें व्यापक होता जा रहा है; परंतु यूरोपमें जो सचाईसे अन्वेषण करते रहे हैं; उन्हें आस्तिकता स्वीकार करनी पड़ी है।

सुकरात, कांट, शेली, शोपनहॉरकी चर्चा मैं नहीं करूँगा। ये तो दार्शनिक थे और उनपर भारतीय विचारोंकी स्पष्ट ही छाया है; परंतु जडवादी डार्विन, हैकलेकी वैज्ञानिक परम्परा अब अपने अन्वेषणसे सर ऑलिवर लॉज और आइन्स्टीनतक पहुँच गयी है। आइन्स्टीनका सापेक्षवाद जडवादके अन्वेषणकी सीमा है। जड-तत्त्वके अन्वेषणद्वारा विज्ञान चेतनके सम्बन्धमें इससे अधिक सङ्केत नहीं दे सकेगा। आइन्स्टीन स्वयं कहता है—'क्या है' यह जाननेका कोई मार्ग नहीं। जो कुछ दिखलायी पडता है या किसी प्रकार जाना जा सकता है, वह सब अपेक्षाकृत है। देश, काल, पदार्थ—सब एक-दूसरेकी अपेक्षासे इस रूपमें प्रतीत हो रहे हैं।

क्या है ? यह तो अनुभूतिका विषय है। जडके अन्वेषणमें तो 'न इति, न इति'—इस प्रकार सबका निषेध ही होगा। सब कल्पित—सब सापेक्ष, जडके सम्बन्धमें शास्त्र भी यही कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्त्य जडवाद अपने चरम अन्वेषणमें सापेक्षवादतक पहुँच गया है।

लोकायत-दर्शन (चार्वाक-सिद्धान्त)

पाश्चात्त्य देशोंमें मार्क्सके जिस तत्त्वज्ञानको आज बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है, भारतमें उस देहात्मवादकी आसुर-परम्परा भी आदि कालसे है। चार्वाक-दर्शनके नामसे कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परंतु देहात्मवादके ये सिद्धान्त लोकमें व्यापक होनेसे इस दर्शनका नाम 'लोकायत' पड़ गया। इसके एक आचार्य बृहस्पति कहे जाते हैं। ये देवगुरु बृहस्पतिसे भिन्न हैं। चार्वाकका ही दूसरा नाम बृहस्पति है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है।

चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। इस दर्शनका कहना है कि 'जैसे गन्धकादि कुछ पदार्थोंके मेलसे गर्मी या अग्नि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुके मेलसे चेतना उत्पन्न होती है।' यह दर्शन आकाशको तत्त्व नहीं मानता। हमें स्मरण रहना चाहिये कि पाश्चात्त्य दार्शनिक भी पहले चार ही तत्त्व मानते थे। वे इसी परम्परामें आते हैं।

चेतना शरीरसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं। वह शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती है। पुरुषार्थ इतना ही है कि चाहे जैसे बने—उचित या अनुचितका विचार छोड़कर शारीरिक सुख प्राप्त किया जाय। परलोक—स्वर्ग या नरक, सब मूर्खोंकी कल्पना है। ईश्वर कोई सत्ता नहीं। धर्म, कर्म, सदाचार—ये सब अज्ञानियोंको भुलावेमें रखनेके उपाय हैं। पूजा, पाठ, श्राद्धादि मूर्खताके सूचक हैं। शास्त्रोंका निर्माण पाखण्डियों, धूर्तोंने अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये किया है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'—चाहे जैसे हो, सुख भोगो! संसारमें अर्थ और काम ही मुख्य हैं। आजका प्रगतिवाद क्या इससे भिन्न कोई तर्क रखता है ? आजके जडवादको मार्क्सके बदले चार्वाकका आभारी होना चाहिये। वही उनके तत्त्वदर्शकोंके आदि आचार्य हैं। आजका समाज इसी तत्त्वबोधकी ओर लुब्ध है !!

बौद्ध-दर्शन

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्॥
केशव धृतबुद्धशरीर······॥ (गीतगोविन्द)

भगवान् बुद्धके जीवनपर विचार करनेसे पता लगता है कि पिताके राजसदनमें उनके लिये सब प्रकारके सुखोपभोगकी व्यवस्था की गयी थी, किंतु निवृत्तिमूलक विचारोंसे उन्हें सर्वथा दूर रक्खा गया था। रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्युके प्रभावोंको

देखकर वे स्वयं जीवन-तत्त्वके चिन्तनमें प्रवृत्त हुए। उनका तपपर विश्वास था और वे तपमें ही पहले प्रवृत्त भी हुए। कठोर तपके अनन्तर उन्होंने 'युक्ताहारविहार' का मध्यम मार्ग अपनाया और उसीको सर्वश्रेष्ठ बतलाया।

भगवान् बुद्धको अपने गृहत्यागके अनन्तर जिन विद्वानोंका संसर्ग मिला, वे निरे तार्किक थे। अनुभव-जन्य आत्मबोध उनमें नहीं था। एक सच्चे आत्मबोधककी तृप्ति वहाँ नहीं हो सकती थी। इस प्रकार शास्त्रोंके प्रति आस्थाका अवकाश ही नहीं मिला। पूरे जीवनको पढ़नेसे पता लगता है कि भगवान्‌को बराबर हिंसाका विरोध करना पड़ा। उस समय राजस-तामस यज्ञोंका बोलबाला था। उनका विरोध आवश्यक था। स्वयं भगवान्‌को तप एवं चिन्तनके मार्गसे ही चलना पड़ा था; अतः उन्होंने इन्हींको प्रधान माना। शास्त्रके नामपर जो राजस-तामस कृत्य—पूजनादि प्रचलित थे, उनको शास्त्र प्रेरणा नहीं देता—यह जाननेका प्रयत्न करके उस शास्त्रीय तथ्यको प्रसारित करनेके बदले अपने अनुभूत सत्यको अपने ंगसे प्रसारित करना सरल था। सभी इतिहासज्ञोंकी मान्यता है कि बुद्ध सदा यह मानते रहे कि वे शुद्ध सनातन धर्मका ही प्रचार कर रहे हैं।

भगवान् बुद्धने चार आर्य सत्योंको स्थिर किया था। पीछे उनके शिष्योंने उनके मतका भाष्य किया। फल यह हुआ कि बौद्ध-धर्म तीन प्रधान भागोंमें विभक्त हो गया—हीनयान, महायान और वज्रयान। हीनयान मत श्रीगौतम बुद्धको एक महापुरुष मानता था, जिन्होंने साधनद्वारा निर्वाण प्राप्त किया। यह निवृत्तिप्रधान मत था। इसका लक्ष्य एवं आराध्य 'अर्हत्' था। महायान भक्ति-प्रधान मार्ग हुआ। हीनयान मतके भावुक भक्तोंने इसका प्रसार किया। हीनयान मतके ग्रन्थ पाली भाषामें थे। महायानका संस्कृतमें विस्तृत साहित्य बना। इस मतके आराध्य 'बोधिसत्त्व' हैं। भगवान् बुद्ध सामान्य महापुरुष न होकर अवतार माने गये। बौद्ध-धर्ममें आगे तान्त्रिक साधनाएँ प्रचलित हुईं। उनको प्रधानता देनेवाली शाखा वज्रयानके नामसे प्रसिद्ध हुई।

बौद्ध-धर्मके प्रकाण्ड विद्वानोंने उसका दर्शनशास्त्र प्रस्तुत किया। भगवान् बुद्धने ही प्रत्यक्षसे आगे अनुमानको भी प्रमाण मान लिया था। बौद्धदर्शनमें यही दो प्रमाण माने गये। दर्शनोंकी दृष्टिसे बौद्ध-धर्मके चार विभाग हैं। मध्यम दर्शन, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये चार बौद्धदर्शन हैं।

मध्यम दर्शन—विश्वके सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसीका कोई रूप स्थिर नहीं। परमाणुओंकी अविरल प्रवाहधारा ही आकृतियाँ बनाती हैं। परमाणु भी क्षणिक हैं। क्रियाका स्वभाव ही सत्ता है। क्रियाके साथ सत्ताकी समाप्ति हो जाती है। क्षणिक होनेके साथ सब दुःखरूप हैं। यह दृश्य-जगत् कैसा है—यह बताना शक्य नहीं; यह स्वलक्षण है—जैसा है, वैसा ही है। इससे भिन्न समान सत्ता न होनेसे इसका दूसरा लक्षण शक्य नहीं। सब शून्य है, क्योंकि किसी पदार्थको सत्-असत् आदि कुछ भी कहना शक्य नहीं। इस मतके अनुसार बौद्धिक ज्ञान सत्य है। बाह्य जगत् शून्य है। अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये शङ्का करना—'पर्यनुयोग' ही योग माना गया है। गुरुका उपदेश स्वीकार करना आचार है। शून्यत्व, क्षणिक, दुःख-रूपतादिकी भावना करके शून्यमें विलीन हो जाना ही मुक्ति—निर्वाण माना गया है। यही परम प्राप्य है। शिष्यके लिये 'योग' और 'आचार' दोनों अनुष्ठेय हैं।

योगाचार—भगवान्‌के जिन शिष्योंका सन्तोष केवल आचारसे न हुआ, उन्होंने योगकी साधनाएँ कीं। उन्होंने दर्शनशास्त्रको अपना रूप दिया। यह दर्शन मानता है—'बुद्धिका ग्राह्य कोई पदार्थ नहीं। बाह्य रूपोंमें स्वयं बुद्धि ही मूर्त हुई है। वस्तुतः ग्रहण करनेवाला, ग्रहणकी क्रिया और ग्रहण होनेवाले पदार्थ(जगत्)—ये परस्पर अभिन्न हैं। सब ज्ञान-ही-ज्ञान है। बुद्धि (ज्ञान) स्वयं अनुभूत है। नानात्वकी प्रतीति भेदकी वासनाके कारण है और यह वासनाप्रवाह अविच्छिन्न है। देखा यह जाता है कि हमारा सन्तोष, हमारी तृप्ति सदा साकार पदार्थोंसे ही होती है। पदार्थके निराकार भाव (ध्यान) से तृप्ति नहीं होती। बाहरके पदार्थ शून्य हैं, ज्ञान-ही-ज्ञान है, इसका साक्षात्कार—बाह्य जगत्‌से निवृत्त होकर अन्तःकरणमें उसकी उपलब्धि मुक्ति है। ज्ञानकी सत्ता माननेसे इस दर्शनको 'विज्ञानवादी' कहा जाता है।

सौत्रान्तिक—मध्यम दर्शनने भावस्तरसे जगत्‌की अभिव्यक्तिको व्यक्त किया था। योगाचारने भावस्तरोंके साथ भाव-जगत्‌का भी साक्षात्कार किया। तर्कके तथा योगके द्वारा इससे ऊपर जानेकी सम्भावना नहीं है। सौत्रान्तिक दर्शनकी प्रवृत्ति ही भिन्न हो गयी। उसमें शाक्त-दर्शनका प्रभाव आया। वह भुक्ति-मुक्ति दोनोंका साधक बनने लगा। वज्रयानका तान्त्रिक मार्ग इसी दर्शनको मानता है। इस दर्शनकी मान्यता है कि भाव-जगत्—पदार्थोंका बुद्धिस्थित रूप और बाहर स्थित दृश्यरूप दोनो सत्य हैं।

ज्ञानका शुद्ध रूप 'अहं' है। बाह्य पदार्थोंमें 'अहं'-बोध न होनेसे उन्हें ज्ञानरूप अर्थात् अन्तरका ज्ञान ही बाहर मूर्त हुआ है, यह नहीं कह सकते। 'इदम्'का ज्ञान केवल जाग्रत् एवं स्वप्न-दशामें ही रहता है। सुषुप्तिमें उसका लोप हो जाता है। अतएव वह 'अहं'के समान निर्बाध ज्ञान नहीं है। अतएव 'अहं' और 'इदम्'—ये दोनो ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। यदि बाह्यपदार्थकी सत्ता न हो तो 'इदम्' ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञाता ही ज्ञेय नहीं बनता। 'इदम्' यह ज्ञान शून्य नहीं है। इसी प्रकार 'इदम्' से प्रतीयमान बाह्य जगत् भी शून्य नहीं है। 'इदम्' ज्ञानसे ही बाह्य पदार्थकी सत्ताका अनुमान होता है। आलय-विज्ञान (अहं) के रहते हुए प्रवृत्ति-ज्ञान (इदम्) रहता है। अतः वह उससे भिन्न है; क्योंकि एक सत्ता दो रूपोंमें एक ही समय नहीं रह सकती। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—ये ज्ञानके पाँच स्कन्ध (अङ्ग) हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय रूप हैं। अहं-बोध तथा इदं-बोध विज्ञान हैं। इन ज्ञानोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादि वेदना हैं। इस वेदनासे उत्पन्न राग-द्वेषादि संस्कार हैं। विश्वमें जो नाम-भेद है, यह संज्ञा है। इन पाँचों रूपोंमें विस्तृत ज्ञानवृक्ष ही आत्मा है। इस वृक्षके ये पाँच स्कन्ध दुःखरूप हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय, मन और बुद्धि—ये दुःखके द्वादश आयतन (दुःखके स्थान) हैं। राग-द्वेषादि संस्कार-समुदाय दुःखके साधन हैं। सब क्षणिक है, यह भावना ही इस दुःखसे परित्राणका मार्ग है।

वैभाषिक—बाह्य पदार्थ और आन्तर पदार्थ दोनोंकी सत्ता माननेके कारण इस दर्शनको 'सर्वास्तिवाद' कहा गया है। यह दर्शन जडवादकी ओर लौट आया। शास्त्रको छोड़कर केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर आधारित होनेसे मानवकी विकारी प्रकृति तर्कके सहारे उसे भोगोंको ही सत्य माननेके लिये प्रेरित करे, यह स्वाभाविक है। भुक्ति-मुक्ति दोनोंकी साधनामें लगनेपर सौत्रान्तिकोंका वज्रयान अन्तमें अनाचार बन गया, यह इतिहाससिद्ध बात है। चार्वाकके जडवादको ही उन्नत बौद्धिक रूपमें यह दर्शन स्वीकार करता है। इसकी मान्यता है—द्वादश आयतन (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और मन; उनके पाँच विषय तथा बाह्येन्द्रियोंसे अग्राह्य विषय) से भिन्न सत्ता मान्य नहीं है। आत्मा इनमेंसे कोई नहीं, अतः उसकी सत्ता मान्य नहीं। जगत्की स्वतन्त्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। जगत् दो प्रकारका है—भूर्त (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर)। दोनोंकी सत्ता स्वतन्त्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष है।

आर्हत (जैन)-दर्शन

यदि सब क्षणिक हो तो कर्मोंका कर्ता भी क्षणिक होगा। एक कर्मका जो कर्ता था, दूसरे क्षण वह नहीं रहा; अतः पूर्वकर्मका फल किसे मिलेगा? अतः कर्ता क्षणिक नहीं है। फलका भोक्ता स्मरण करता है कि वह अपने पूर्वकृत कर्मका फल भोग रहा है; अतः वह स्थिर है, वह सिद्ध होता है। स्मृति, अनुभव एकाधारमें होते हैं। आत्मा स्थिर है। यह जगत् अनादि है। सत् क्षणिक नहीं है। वह उत्पत्ति-विनाशसे रहित है।

जगत्में चित् तथा अचित्—दो तत्त्व हैं। दोनोंका ठीक-ठीक विचार ही विवेक है। अन्य वस्तुओंको अपने काममें लाना—यह चेतनका लक्षण है और इससे भिन्न अचित्—जड है। विश्वमें पाँच अस्तिकाय (सत्ता रखनेवाले तत्त्व) हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। जीवोंकी दो कोटियाँ हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवोंमें भी कुछ मनरहित (त्रस और स्थावर) तथा कुछ मनवाले प्राणी हैं। अवकाश देनेवाला तत्त्व आकाश है। मुक्तिका साधन धर्मतत्त्व है। धर्माचरणसे जीव आलोकाकाशमें जानेपर मुक्त हो जाता है। मुक्तिका प्रतिबन्धक तत्त्व अधर्म है।

स्पर्श, रस और वर्णवाला तत्त्व पुद्गल है। यह अणु और स्कन्धभेदसे द्विविध है। इसका अणुरूप भोगके लिये अशक्य है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज—ये चार पुद्गल हैं। दूसरे जैनी सात तत्त्व मानते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष। इनमें जीव और अजीव (आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल) का वर्णन तो ऊपर हो चुका। जो बन्धका हेतु है, वह आस्रव है। काय, वाणी और मनमें आस्रव स्फुरित होता है। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायके कारण जीवमें आस्रवके द्वारा उसका पुद्गलसे योग होता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रवरूप संसार-प्रवाहको ढकनेवाला संवर है। यही संवर मोक्षका कारण है। संवरका स्वरूप है गुप्ति (अशुभसे शरीर, मन, वाणीको रोकना), समिति (अहिंसा), निर्जरण (तपसे सञ्चित कर्मोंका नाश)। सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, सम्यक् ज्ञान—ये तीन मोक्षके मार्ग हैं।

जैन-धर्मका साहित्य एवं दर्शन अत्यन्त विस्तृत है। इतिहासज्ञ इस धर्मको बौद्ध-धर्मसे प्राचीन मानते हैं और शास्त्रके अनुसार भी इसकी परम्परा भगवान् ऋषभसे है। बौद्धधर्मके आदि दर्शन मध्यमाचारका लक्ष्य जो अर्हत्-तत्त्व

है, वह जैनधर्मके नित्य आत्मा अर्हत्से भिन्न होकर भी साम्य रखता है। अहिंसाका जैनधर्मवाला तत्त्व ही बौद्धधर्ममें आया। जैन-धर्ममें तपस्यापर बड़ा जोर दिया जाता है। आदिमें भगवान् बुद्धने भी उग्र तप किया था।

जैनधर्म बौद्धसे प्राचीन है, इसीसे हम उसमें शास्त्रोंके अधिकांश अंश ज्यों-के-त्यों पाते हैं। आलोकाकाश, दिव्य जगत् आदिके सम्बन्धमें बौद्ध दर्शनोंकी अपेक्षा यहाँ कुछ विस्तार है। वैसे बौद्धधर्म एवं जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें क्षणिकवादका मौलिक भेद है। जैनधर्म सनातनधर्ममें इतना कम अन्तर रखता है कि वैवाहिक सम्बन्धादि भी परस्पर होते हैं। बौद्ध-धर्म उससे कुछ और दूर हुआ। अनुमानादिका विषय न होनेसे निर्गुण तत्त्व तथा दिव्य धामादि तो श्रुति-शास्त्रद्वारा ही जाननेयोग्य हैं।

आस्तिक दर्शन

'जो वेदोंको प्रमाण न माने, वह नास्तिक है।' शास्त्रकारोंने नास्तिककी यही परिभाषा की है। इस परिभाषामें ईश्वरको या परलोकको मानने-न-माननेका प्रश्न ही नहीं आता। यह परिभाषा 'नास्तिक' शब्दके वर्तमान भावसे भिन्न है। आज नास्तिक केवल उसे कहते हैं, जो शरीरसे भिन्न जीवको स्वीकार न करे। मरणोत्तर जीवनमें जिसका विश्वास न हो, वह आज नास्तिक माना जाता है। यहाँ 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दोंका पुराना भाव ही लिया गया है।

आस्तिक दर्शनोंको हम शास्त्र कहते आये हैं। षट्-शास्त्रसे अभिप्राय छः दर्शनोंसे ही सदा रहा है। ये दर्शन-शास्त्र अधिकारिभेदसे तत्त्व-प्रतिपादनकी शैली निर्धारित करते हैं। सर्वज्ञ महर्षियोंके तत्त्वज्ञानमें न तो कोई अन्तर है और न भेद। श्रुति-पुराणोंके समग्र दर्शनको उन्होंने नहीं समझा हो, ऐसी भी बात नहीं; किंतु सब एक-से अधिकारी नहीं होते। सबकी बुद्धि समान सूक्ष्मग्राहिणी नहीं होती। निम्नकोटिके अधिकारीको स्थूल तर्कोंसे समझाना पड़ता है—जैसे-जैसे वह उन्नत होता है, तर्क सूक्ष्म होते जाते हैं—जैसे प्रथम कक्षासे उन्नत कक्षाओंकी पाठ्य पुस्तकोंके विषय।

दर्शनशास्त्रका उद्देश्य है जगत् एवं जीवके तत्त्वको समझा देना। यह जगत् क्या है? किसने इसे बनाया और क्यों बनाया? इसके नियम क्या हैं? हम किसलिये जगत्में आये? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है और न स्वाभाविक हो तो होनी चाहिये। हम जहाँ काम करने चले हैं, उस क्षेत्रका स्वरूप और कामका उद्देश्य तो हमें जानना ही चाहिये। अब जो जैसा अधिकारी होगा, उसे उसकी बुद्धिके अनुरूप ही समझाना पड़ेगा। ऋषियोंने इस दृष्टिसे दर्शनशास्त्रोंका निर्माण किया। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये दर्शन-शिक्षाकी उत्तरोत्तर उच्च कक्षाएँ हैं। इनमें जो भेद प्रतीत होता है, वह तात्त्विक नहीं है। अतएव दूसरे दर्शनोंके भेदोंकी भाँति इनमें ह्रास-विकासकी भावना असंगत है।

दर्शनशास्त्र श्रेणी-क्रमसे अधिकारीको श्रुतियोंके समग्र दर्शनतक ले जाते हैं। अतएव उनका विवरण उनकी कक्षाके क्रमसे ही देना उचित होगा। इनमें स्थूल बुद्धिके सामान्य अधिकारीके लिये महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनकी योजना की है।

वैशेषिक-दर्शन

'ईश्वर और जीव—ये नित्य तत्त्व हैं। जीवका जगत्में कर्तव्य है कि वह धर्मका पालन करे। धर्म वही है, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि करे। धर्माचारका विधान वेदोंमें है। वेद ईश्वरीय वाणी है। वेद धर्मोका वर्णन उद्देश्य (नाम-निर्देश), विभाग तथा लक्षण (वस्तु-धर्म-निरूपण) से करते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ हैं। पञ्चमहाभूत, काल, दिक, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं। ये द्रव्य ही क्रिया, गुणके आश्रय तथा समवायी कारण हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सुख, दुःख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—ये चौबीस गुण हैं। इनमें रूप (रंग) सात प्रकारका, रस छः प्रकारका, गन्ध दो प्रकारका (सुगन्ध-दुर्गन्ध) तथा बुद्धि दो प्रकारकी—संशयात्मिका तथा निश्चयात्मिकारूप होती है। निश्चयात्मिका बुद्धि प्रमा (विद्या) है। अनिश्चयात्मिका बुद्धि अप्रमा (अविद्या) के तीन रूप हैं—संशय, विपर्यय (उलटा ज्ञान) और स्वप्न। प्रमा-बुद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर रहती है। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। कर्म पाँच प्रकारका होता है—उत्सर्पण, अपसर्पण, आकुञ्चन, प्रसारण और गति। सब पदार्थोंमें जो एकता है, वह सामान्य-तत्त्व है। परमाणुओंमें स्थित अतीन्द्रिय तत्त्व, जो उनकी पृथक्ताका कारण है, विशेष है। पदार्थोंका नित्य सम्बन्ध समवाय है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव—ये चार प्रकारके अभाव हैं।

न्यायदर्शन

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलहकी यथार्थ प्रमा (ज्ञान) ही मुक्तिका हेतु है। ज्ञानके चार साधन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, आयतन (देह), इन्द्रिय, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग—इनका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान—ये आत्मा (जीव) के चिह्न हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न—ये आत्मा तथा ईश्वरके गुण हैं। शरीर चेष्टा, इन्द्रियों तथा विषयोंका आश्रय है। अर्थ सब परमाणुरूप हैं। पूर्वकृत कर्मसे शरीर बना है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्चभूतोंके सूक्ष्मांशसे बनी हैं। मन अणुरूप अन्तरिन्द्रिय है। बुद्धि केवल ज्ञानोपलब्धिमात्र है, वह अनित्य है।

महर्षि गौतमने जल्प-वितण्डा आदिको यथार्थतः समझकर उनसे सावधान रहने योग्य बननेकी प्रेरणा दी है। पदार्थोंके स्थूलरूप और गुणोंसे उठकर उनके परमाणुरूपका विस्तार किया है।

सांख्य

महर्षि कपिलने परमाणुवादसे ऊपर उठकर प्रकृतिका प्रतिपादन किया। साख्यमें जाकर जगत्की विवेचना अपनी सीमापर पहुँच गयी। आजकल सांख्यदर्शनके जो सूत्र मिलते हैं, उनको विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। सांख्यदर्शनपर ईश्वरकृष्णकी कारिका ही प्रामाणिक मानी जाती है।

मूलतः दो अनादि तत्त्व हैं—प्रकृति तथा पुरुष। जगत्में प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति तथा उभय-भिन्न—चार प्रकारके पदार्थ हैं। प्रकृति किसीका कार्य नहीं है, अतः वह केवल प्रकृति है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, उससे अहंकार और अहंकारसे पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। तन्मात्राओंसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार और तन्मात्राएँ प्रकृति-विकृतिस्वरूप हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पञ्चमहाभूत और मन—ये केवल विकृति हैं। जीव उभयभिन्न है। वह निर्लिप्त है। पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। पुरुषके सामीप्यसे प्रकृतिमे चेतनाकी प्रतीति होती है। प्रकृति-पुरुषके विवेकसे अपने निर्लिप्त स्वरूपका ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।

सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोकी साम्यावस्था प्रकृति है। सत्त्वगुणका धर्म सुख, रजोगुणका दुःख और तमोगुणका मोह है। यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिसे होनेके कारण त्रिगुणात्मक है। अहंकार त्रिविध होता है। उसके सात्त्विक अंशसे मनके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा तामस अंशसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। राजस अंश दोनों अंशोंका प्रेरक है। एक प्रकृति; महत्, अहं और पाँच तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति; और पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह विकृति—इस प्रकार सब चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है।

पुरुष अनन्त हैं। वे परस्पर भिन्न हैं। पुरुष चेतन है, भोक्ता है। वह प्रकृतिके कर्तृत्वको अपनेमें मानता है। जब पुण्योदयसे पुरुष त्रिविध दुःखोंके नाशकी इच्छा करता है, तब प्रकृति उसकी इच्छा सफल करती है। पुरुषकी भोगेच्छा न होनेपर प्रकृति स्वतः शान्त हो जाती है। क्योंकि प्रकृतिकी चेष्टा पुरुषके उपभोगके लिये ही है, अपने लिये नहीं; अतः वासना-नाश होनेपर प्रकृति बन्धन उपस्थित नहीं कर सकती।

बौद्ध-दर्शन असत्से सत्की उत्पत्ति मानता है। न्याय सत्से असत्की उत्पत्ति बतलाता है। सांख्यने सत्से सत्की ही उत्पत्तिका प्रतिपादन किया। सांख्यका मूल तर्क है कि किसी पदार्थसे विरोधी पदार्थकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो पदार्थ जिस पदार्थसे अन्वित (व्याप्त) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है। पदार्थका नाश नहीं होता। उसका केवल तिरोभाव होता है।

योगदर्शन

महर्षि पतञ्जलिका योगदर्शन सेश्वर सांख्यदर्शन ही है। योगदर्शन सांख्यसे विचारमें कोई भेद नहीं रखता। सांख्यके पच्चीस तत्त्व योगको भी मान्य हैं। इनके अतिरिक्त पुरुषविशेष ईश्वरको छब्बीसवाँ तत्त्व माना गया है। योगदर्शन क्लेश-नाशका एक व्यावहारिक साधनमार्ग देनेके लिये प्रवृत्त हुआ है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये जीवके पाँच क्लेश हैं। इनसे नित्यमुक्त, कर्मविपाक तथा आशय-सम्पर्कसे शून्य, अद्वितीय, ज्ञानरूप ईश्वर है। यह संसार दुःखमय एवं हेय है। चित्तकी वृत्तियोंके कारण ही संसारमें कर्मबन्धन है। चित्तवृत्तियोंके निरोधसे क्लेशोंका नाश होकर जीवात्मा-परमात्माका योग होता है। यम,

नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगके आठ अङ्ग हैं।

पूर्वमीमांसा-दर्शन

सांख्यदर्शनका तत्त्वज्ञान तो उत्तरमीमांसा-दर्शनमें आगे बढ़ा; किंतु सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा—तीनों ही दर्शन तत्त्वज्ञानके लिये पुण्यकर्मोंका उदय आवश्यक मानते हैं। अतः कर्मोंका विचार करनेके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शनकी महर्षि जैमिनिने रचना की।* योगशास्त्रने कर्मके एक रूपका विकास किया। उत्तम कर्माधिकारीके लिये योग है। कामना-हीन मुमुक्षु पुरुष वैराग्य तथा साधनके अभ्याससे समाधिलाभ करके मुक्त होगा; किंतु जो विरक्त नहीं है, उसकी उधर रुचि न होगी। उसको तो उपभोग चाहिये। उसके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शन कर्म-सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस पूर्वमीमांसा-दर्शनको ही लोकमें मीमांसादर्शन कहा जाता है और उत्तरमीमांसा-दर्शन वेदान्तदर्शनके नामसे प्रख्यात है।

वेद नित्य हैं। उनके मन्त्र ही देवता हैं। वेदोंके विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति और नामधेय—ये पाँच अङ्ग हैं। शब्द नित्य है। शब्दोंमें इन पाँच ही अङ्गोंकी अभिव्यक्ति होती है। वेदादि किसी ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिये ग्रन्थका उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन सात बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्मका बोधक होता है और उसका कुछ फल होता है। कर्म स्वयं फलोत्पादनमें समर्थ हैं।

कर्मफलका विधान, कर्मभेद आदिका वर्णन 'धर्म' के विवेचनके साथ किया गया है। पूर्वमीमांसा-दर्शनका उद्देश्य शास्त्रोंपर प्रबल निष्ठा उत्पन्न करके अधर्मकी निवृत्ति तथा धर्मकी प्रवृत्ति करना है।

उत्तरमीमांसा-दर्शन

भगवान् व्यासके इस दर्शनको वेदान्तदर्शन कहते हैं। ब्रह्मकी जिज्ञासाके लिये इसकी प्रवृत्ति है और ब्रह्मका लक्षण है '**जन्माद्यस्य यतः**'—जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं। पूरा दर्शन इसी लक्षणकी व्याख्या है। पुराणोंमें श्रुतिसे जो दर्शन-शास्त्र आया है, पुराणकारने उसीको इन सूत्रोंमें व्यवस्थित कर दिया है। भगवान् व्यासके इस उत्तरमीमांसा-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को लेकर आचार्योंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका भाष्य किया है। सम्प्रदायोंकी प्रतिष्ठा उन भाष्योंके आधारपर ही है। ब्रह्मसूत्र (न्याय-प्रस्थान), एकादश उपनिषद् (श्रुतिप्रस्थान) तथा गीता (स्मृति-प्रस्थान)—ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके नामसे विख्यात हैं। इन सबपर भाष्य करके ही सम्प्रदाय पहले चले हैं। वर्तमान समयकी भाँति कल्पित सम्प्रदाय भारतमें पहले चल नहीं सकते थे।

अद्वैतवाद

दृश्य-जगत् केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रतीति अज्ञानके कारण है। एक ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार चेतन सत्ता है। दृश्य-जगत् उससे भिन्न नहीं है। वह उसी ब्रह्मसत्तामें अध्यस्त है। समस्त दृश्य परिणामी और अनित्य हैं। सबका द्रष्टा एक है। ज्ञेय भी ज्ञाताका सोपाधिक रूप है। नाम तथा रूप—ये मनकी वृत्तियाँ हैं। जगत् नाम-रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं। नाम एवं रूपकी प्रतीति मायासे है। माया अनिर्वचनीय है; परंतु अनादि होते हुए भी ज्ञानके द्वारा उसका अन्त होनेसे उसकी सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसमें सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत—किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है।

भगवान् शङ्कराचार्यने जगत्की प्रतीति रस्सीमें सर्पके भ्रमके समान विवर्तसे बतलायी। अद्वैतवादमें दृष्टि-सृष्टि-वाद और अजातवाद-जैसे कई प्रक्रियाभेद हैं। जगत्की प्रतीतिको लेकर ही ये सिद्धान्त बने हैं। इनमें बौद्धदर्शनके तर्कोंका अनेक बार प्रकारान्तरसे उपयोग हुआ है। ब्रह्मकी अद्वैत सत्ता और जगत्के मिथ्यात्वको सभी मानते हैं। अतः प्रक्रिया भिन्न होनेसे कोई मौलिक भेद उनमें नहीं होता।

जगत् प्रतीति है, मिथ्या है, अध्यास या विवर्त है—यहाँतक तो शास्त्रका पूर्वोक्त समग्र दर्शन ही है। भगवान् शङ्कराचार्यने व्यावहारिक एवं पारमार्थिक—दो प्रकारके सत्यका प्रतिपादन किया है। उन्होंने '**ईश्वरानुग्रहादेव पुमान द्वैतवासनः**' कहकर ईश्वरीय कृपा अपेक्षित मानी है एवं उपासना, भक्ति तथा आचारको महत्त्व दिया है। संसार प्रतीति है; वह कल्पना है; पर है समष्टिके संचालककी कल्पना। जीवकी कल्पना उसमें 'अहं' और 'मम' रूप ही है। अतः 'अहं' और 'मम' को छोड़ना तो हमारे

---

* महर्षि जैमिनिकृत इस पूर्वमीमांसा-दर्शनके अतिरिक्त भारतधर्म-महामण्डलके द्वारा एक श्रीभरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शन और प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी है। इसके मान लेनेपर वैदिक दर्शनोंकी संख्या सात हो जाती है।

वशमें है और समष्टिका लय समष्टिकर्ताके वशमें। जब पारमार्थिक सत्य किसीकी प्रतीतिको आत्मसात् कर लेता है, तब व्यावहारिक सत्यके बन्धन उसके लिये नहीं रह जाते—जैसे जो रुपयेके मोहसे ऊपर उठ गया, उसके लिये नोट कागजके टुकड़े हैं।

बौद्धधर्म अपने वज्रयानके स्तरपर उतर आया था। वामतन्त्रकी साधनाएँ भी अनाचारमें बदल गयी थीं। तर्कने दर्शनको जडवादी बना दिया था। इसी वातावरणमें भगवान् शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ। वैभाषिक बौद्धदर्शनका आधार जडको सत्य मानना था, भगवान् शंकराचार्यने प्रतिक्रिया उत्थित की। जड दृश्य जगत् केवल प्रतीति है। बौद्धदर्शनके ही मध्यमाचारसे यह मत मिलता है। बौद्ध-दर्शनसे शाङ्करदर्शनका भेद यह है कि उसमें श्रुति, शास्त्र एवं आस्तिकताकी प्रतिष्ठाके साथ ज्ञानको आचारकी अपेक्षा महत्ता दी गयी। उस समय जो वामाचार, कापालिक आचार आदि उच्छृङ्खलताएँ आचारके नामपर प्रश्रय पा गयी थीं, उनका निषेध आवश्यक ही था। मानवको उस समय रुककर शुद्ध विचार करना परमावश्यक था।

विशिष्टाद्वैतवाद

अद्वैतवाद साधन-चतुष्टय, श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे अपरोक्षानुभूतिका प्रतिपादन लेकर प्रवृत्त हुआ; किंतु मानव-प्रकृति तो अधोगामिनी है। आचारसे ज्ञानकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनने केवल बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व दे दिया। आचार छूट गया। इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन तो व्यवहार माना जाने लगा और बुद्धिको महत्ता मिल गयी। अद्वैतबोध भी अनुभूतिसे उठकर दूसरी विद्याओंकी भाँति एक बौद्धिक ज्ञान हो गया। जीव नित्यमुक्त शुद्ध ब्रह्म है, उसे कोई आचार बाधित नहीं करता। विषयोपभोगादि तो व्यवहार है, कल्पना है, अज्ञानकी प्रतीति है। सदाचार, उपासनादि सब अज्ञान हो गये। देहात्मवादी नास्तिक तथा बौद्धिक वेदान्तीमें केवल यह अन्तर रहा कि एक मूलतत्त्वको जड कहता है, दूसरा चेतन। शेष मान्यताएँ दोनोंकी एक हो गयीं। **'कलौ वेदान्तिनः सर्वे'**—शास्त्र ऐसे ही वेदान्तको कलिका धर्म बतलाता है। आज वह प्रत्यक्ष है।

व्यवहार एवं व्यावहारिक सुख जबतक अपेक्षित है, जबतक उनकी प्रतीति है, तबतक जिसकी कल्पनाने उनका सर्जन किया है, हम उसके अधिकारक्षेत्रमें हैं। यदि ये भोग हमारी कल्पना होते तो हमें उनको पानेका प्रयत्न न करना पड़ता। हम कल्पनासे उनकी सृष्टि कर लेते। जिसके कल्पना-क्षेत्रमें हम व्यवहार चलाते हैं, वह हमारा शास्ता है। हम उसकी कृपासे उस क्षेत्रसे बाहर हो सकते हैं। उसके क्षेत्रमें रहकर उसके नियमोंको भंग करनेपर दण्ड मिलेगा ही। इस सत्य एवं आचारकी प्रतिष्ठाके लिये महाप्रभु रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-मतका प्रवर्तन किया।

चित्-अचित्-विशिष्ट समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मके चेतन अंशसे चित् (जीव) और अचित्से जड (प्रकृति) हुई है। ब्रह्म जगत्का निमित्त तथा उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका ही अंश है। भगवान् नारायण ही इस समस्त जड-चेतन सत्ताके स्वामी हैं। ये निखिलगुणगणैकधाम नित्यवैकुण्ठविहारी हैं। उनकी शरणमें जानेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। जीव ज्ञाता है। ज्ञान जीवका धर्म है। वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। जीव और ईश्वर नित्य भिन्न हैं। यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। निर्विकल्प और सविकल्प दोनों प्रकारके ज्ञान विशेषतायुक्त तत्त्वके ही होते हैं। जिसमें कोई विशेषता न हो, उसका ज्ञान नहीं होता। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय-संयोग—ये ज्ञानके हेतु हैं। जो कर्म-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्पन्न है, वही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है।

'ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है, क्योंकि उसका ज्ञान होता है।' यह श्रुतिका मत है। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। उपासनासे अज्ञानकी निवृत्ति ही जीवका प्रयोजन है। ब्रह्म श्रीनारायण अपनी योगमाया-शक्तिसे समन्वित रहकर कर्मफलदाता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी ईश्वररूपसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, संहारके कारण हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा—इन विग्रहोंमें जीवको उनकी उपलब्धि होती है। उन श्रीनारायणके अवतार कर्मके कारण नहीं होते। वे स्वेच्छासे ही अवतार धारण करते हैं। उनमें विकार नहीं होता। जीव चेतन, अणुरूप तथा ब्रह्मका शरीर है। जीव और ब्रह्ममें स्वगत-भेद है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन, स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय, नित्य, देहादिसे भिन्न हैं। जीव कर्ता, भोक्ता, ब्रह्मका शरीर तथा दास है। जीवकी ब्रह्मसे कभी अभिन्नता नहीं होती। अप्राकृत चिन्मय शरीरसे वैकुण्ठधाममें निवासकी प्राप्ति ही मुक्ति है। यह मुक्ति ब्रह्मकी कृपासे उनकी प्रपत्तिद्वारा ही प्राप्त होती है।

विशिष्टाद्वैतमत शरणागति—प्रपत्तिका मार्ग है।

आराध्यके अनुकूलका संकल्प और प्रतिकूलका त्याग प्रपत्तिका स्वरूप माननेका यह निर्विवाद अर्थ हो गया कि शास्त्र-विपरीत समस्त कर्म त्याज्य हैं और शास्त्राचार ही विहित है; क्योंकि शास्त्र ही भगवान्के आदेश हैं। शास्त्रके अतिरिक्त हम उनकी अनुकूलता जान सकें, इसका कोई उपाय ही नहीं। नियम बड़ा उच्च है; किंतु मनुष्यका स्वभाव नियमका दुरुपयोग करना—ह्रासोन्मुख होना है। आचार्यमतके बदले यह आचारियोंका मत कहा जाने लगा। प्रपत्ति—शरणागतिका मुख्य अंश—भाव गौण हो गया और क्रिया ही प्रधान हो गयी। शास्त्रका बाह्याचार अपनी सीमाको पार कर गया और भावकी उपेक्षा हो गयी। फलतः उपासना, जो मुख्य लक्ष्य थी, विशेष प्रकारकी क्रियाओंमें बद्ध हो गयी। इस स्थितिमें शेष वैष्णव मतोंका प्रसार हुआ।

द्वैतवाद

महाप्रभु श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रसारित द्वैतवाद, पूर्णप्रज्ञ-दर्शन कहा जाता है। इस मतका संक्षिप्त सार है—'जीव और ब्रह्म—ये दो नित्य पृथक् सत्ताएँ हैं। जीव अणु एवं दास है और ब्रह्म सगुण, सविशेष, स्वतन्त्र। जीवका परमार्थ है सालोक्यादि मुक्तियोंमें किसीकी प्राप्ति। जीव एवं ब्रह्ममें साम्यबोध भ्रम एवं अपराध है। दृश्य-जगत् सत्यसे अभिन्न है। विकारी और परिवर्तनशील होनेपर भी जगत् मिथ्या नहीं है। क्योंकि असत्यका ज्ञान नहीं हुआ करता। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयके आधीन है। ज्ञानकी चिन्तनसे भिन्न स्थिति नहीं है। अतः ज्ञान सदा सविकल्प ही होता है। ज्ञान आपेक्षिक है। ज्ञान ही ज्ञेयका प्रतिपादक एवं प्रधान प्रमाण है। ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है। वह पूर्णतः वाणीका विषय नहीं होता। भाववस्तु, गुण, क्रिया, जाति, विशेषत्व, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव—ये दस पदार्थ हैं। भाववस्तु दो प्रकारकी है—चेतन और अचेतन। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग, ध्यान—ये साधन हैं जीवके लिये, जिनसे वह मुक्त होता है।

द्वैताद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीनिम्बार्काचार्यने द्वैत एवं अद्वैत दोनोंका सामञ्जस्य करनेवाला प्रकाश जगत्को दिया—जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्ममें परिणाम होनेपर भी वह विकृत नहीं होता। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। उसका सगुण भाव मुख्य है। जीव तथा जगत्—ये दोनों ब्रह्मके परिणाम हैं। ये ब्रह्मसे पृथक् भी हैं और अपृथक् भी। जगदतीतरूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म जगत्का निमित्त-उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका अंश है, उससे भिन्न भी और अभिन्न भी। जीवका स्वरूप अणु है। मुक्त जीव अपनी तथा जगत्की ब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करता है। मुक्तिका साधन केवल उपासना है।

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जगत्के मिथ्यात्वका खण्डन करके उपासनाकी प्रतिष्ठा की है। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण, निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता, निर्विकार, गुणातीत, समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय, संसारके धर्मोंसे रहित तथा जगत्के उपादान हैं। जगत् सत्य है। वह कार्य है। ब्रह्मसे अभिन्न उसकी परिणति है, क्योंकि ब्रह्म अविकृत परिणामी है। जगत्में पदार्थोंका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। जीव शुद्ध तथा अणुरूप है। जीवके लिये ब्रह्मसे प्रीति करना ही श्रेष्ठ मार्ग है। इस प्रीतिकी चरम परिणति है श्रीकृष्णमें पतिभावकी प्राप्ति। यह भगवदनुग्रह (पुष्टि) से होती है। ब्रह्मका विवेचन शास्त्रके द्वारा ही सम्भव है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

श्रीकृष्ण सत्य हैं, इतना जानना ही जीवके लिये पर्याप्त है—महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके इस भावको श्रीगोस्वामिपादोंने अचिन्त्यभेदा-भेदवादका दार्शनिक रूप दिया। महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ही गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्म-सूत्रोंका भाष्य माना था; अतः प्रस्थानत्रयीपर भाष्य न करके भागवतरूप भाष्यसे ही यह दर्शन पुष्ट हुआ है। बहुत पीछे जाकर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य भी रचा गया।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँच तत्त्व हैं। शास्त्र वाचक हैं और ईश्वर वाच्य। ईश्वरका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। ब्रह्मतत्त्व सगुण सविशेष श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञतादि समस्त गुणोंसे युक्त, जीवको भोग एवं मोक्ष देनेवाले हैं। वे निर्गुण हैं, क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण नहीं। उनमें सभी अप्राकृत गुण हैं। संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी—ये तीन शक्तियाँ हैं उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्ण-की। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। यह सत् किंतु अनित्य है। ईश्वर, जीव, काल और प्रकृति—ये चार तत्त्व नित्य हैं। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है, त्रिगुणात्मक है, नित्य है। कर्म जड़

हैं। वे ईश्वरकी शक्तिरूप हैं। जीव अणु है। वह ब्रह्मका भोग्य है। प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त कर लेना ही जीवकी मुक्ति है।

अद्वैतवादके अतिरिक्त शेष सब वैष्णव दर्शन उपासनाकी सिद्धिके लिये है। अतः इनमें जगत्की सत्यता तथा ब्रह्मके सविशेषरूपका प्रतिपादन है। प्रस्थानत्रयीके ही ये सब भाष्य हैं, अतः भाष्यरूप दर्शनोंमें मौलिक समानता तो होनी ही चाहिये। आचार्योंने साधनोंकी पुष्टिके लिये दर्शनका विस्तार किया है। अद्वैतवाद ज्ञानयोगकी पुष्टिके लिये और वैष्णवदर्शन उपासनाकी पुष्टिके लिये हैं। इनमेंसे प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी अनादि परम्परा मानता है। आद्याचार्यका अर्थ केवल उस मतका प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करके प्रचार करनेवाले महापुरुषसे है। उन्होंने सिद्धान्तकी सृष्टि की, ऐसा न तो वे मानते और न उनके अनुयायी। सत्य दस बीस प्रकारका नहीं हो सकता; किन्तु जब हम वाणीमें उसे व्यक्त करते हैं, तब हमारे दृष्टिकोण एवं वाणीके भेदसे वह विविधरूप हो जाता है। अचिन्त्यरूपा माया-शक्ति, अवाङ्मनसगोचर परम-तत्त्व—ये सबको मान्य हैं। इनकी उपलब्धि, इनकी अनुभूतिके मार्ग भिन्न-भिन्न होंगे अधिकारीके अनुरूप। जिस अधिकारका प्रतिपादन होगा, उसके दृष्टिकोणसे तत्त्वका व्यक्तीकरण भी होगा। जैसे अधिकार-भेदसे बने पुराणोंमें परतत्त्व कहीं शिव, कहीं शक्ति, कहीं विष्णुके रूपमें सर्वोपरि प्रतिपादित हुआ है, वैसे ही आचार्योंके सिद्धान्तोंका भेद भी अधिकार-पुष्टिके लिये है। उनमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं।

शैव-दर्शन

निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले दर्शनको छोड़ देनेपर सविशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक दर्शनोंके शैव एवं वैष्णव—दो मुख्य भेद रह जाते हैं; यों तो सौर, शाक्त, गाणपत्य—तीन और भेद हैं। इनमें वैष्णव-दर्शनोंकी चर्चा हो चुकी है। अद्वैतवाद निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादक दर्शन है। उसमें शैव एवं वैष्णव—दोनों प्रकारके उपासक हुए हैं। आजकल शिवोपासना अद्वैतवादियोंमें मुख्यता प्राप्त कर चुकी है; किन्तु आदिसे कभी भी वैष्णव उपासनाका न तो अद्वैतवादसे विरोध था और न श्रीकृष्णके उपासकोंका अद्वैतवादियोंमें अभाव ही। शैव और वैष्णव दोनों दर्शनोंमें ब्रह्मको सविशेष माननेपर शक्तिकी महत्ता मानी गयी है।

वैष्णव-दर्शन तथा अद्वैतवादकी प्रवृत्ति वेदोंको परम प्रमाण माननेकी है। उपासनाके लिये निगम (वेदादि-शास्त्रों) के साथ आगम (तन्त्रों) का दक्षिणाचार भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है; किन्तु परम प्रमाण श्रुति ही रही है। शैव-दर्शन आगम (तन्त्र) को निगमके समान ही परम प्रमाण मानकर प्रवृत्त हुए हैं। उपासनाके क्षेत्रमें उनकी प्रवृत्ति आगमकी ओर है। वे निगमको गौण मानते हैं। आगमके दक्षिणाचारके साथ उन्होंने वामाचारको भी स्थान दिया है।

पाशुपत-दर्शन

तीन नित्य पदार्थ हैं—पति, पशु और पाश। पति परमेश्वर है। वह कर्मादि-सापेक्ष कर्ता है। जीव (पशु) को वही फल देता है। वह शरीरी तथा संसारका कारण है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव एवं सद्योजात—ये मन्त्र ही क्रमशः उसके सिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण हैं। वह मन्त्रमूर्ति है। पतिके इन पाँच रूपोंमें ईशानरूप क्षेत्रज्ञ एवं भोक्ता है। तत्पुरुष प्रकृतिरूप है। अघोर धर्मादि आठ अङ्गोंसे युक्त बुद्धि है। वामदेव अहङ्कार है और सद्योजात मनस्तत्त्व है।

जीव ही पशु है। वह अपरिच्छिन्न, दुर्ज्ञेय तथा कर्ता है। पाश चार हैं—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। अपवित्रता मल-पाश है। इसमें बद्ध जीव विज्ञानाकल कहलाता है। असमाप्तकलुष जीव साधनासे मन्त्रेश्वर-पद प्राप्त करता है। तथा कलुष समाप्त होनेपर वह विद्येश्वर-पद पाता है। धर्म एवं अधर्म—ये कर्म-पाश हैं। इन पाशोंसे तथा मलपाशसे बद्ध जीव प्रलयाकल कहा जाता है। इस कोटिके जीव पाश-द्वयके पक्व होनेपर मुक्त हो जाते हैं। सभी पाशोंसे बद्ध जीवोंकी संज्ञा जीवसकल है। जिसके अंदर प्रलयमें सब कार्य समा जाते हैं और सृष्टिमें जिससे प्रकट होते हैं, वह माया तथा पुरुषकी गतिमें बाधा देनेवाले कर्म रोध-शक्ति हैं। प्रलयाकल जीवोंमें अपक्वपाशद्वय जीव पुर्यष्टक-देह धारणकर नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं। पुर्यष्टक-देहमें अन्तःकरणचतुष्टय, पञ्चभूत, पञ्चभूतात्मा (तन्मात्राएँ), दस इन्द्रियाँ, पाँचों शब्दादि विषय, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण और भोग-साधनकला—ये छत्तीस तत्त्व होते हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

काश्मीरमें श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने शैवदर्शनका जो स्वरूप उपस्थित किया, वही प्रत्यभिज्ञादर्शन कहा गया—प्रतिजीव महेश्वरका आभिमुख्येन ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। परा सिद्धि

लोककल्याणकारी भगवान् शङ्करका हलाहल पान



ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्। अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥
(श्रीमद्भागवत ८।७।४२)

(मुक्ति) और अपरा सिद्धि (अभ्युदय)—ये देवलोक-प्राप्त्यादि बाह्य क्लेश एवं आन्तरिक क्लेशोंके बिना ही परमेश्वरताकी प्राप्तिसे सिद्ध होते हैं। परमेश्वरका दासत्व सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है। यद्यपि ईश्वर स्वभावतः नित्य सिद्ध है, तथापि मायावश अंशतः ईश्वररूपकी अप्रकाशमानता ही उसमें जीवत्व है। शास्त्रोंकी पूर्ण सहायतासे ईश्वरकी पूर्ण शक्तिका ज्ञान होता है। पूर्णशक्ति परमात्मा जब आत्माके सम्मुख प्रकट होते हैं, तब उनकी शक्तिके प्रतिसन्धानसे ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे ईश्वर और अपनेमे अभेद-बोध होता है।

ईश्वर निर्विकल्प एवं निर्विकार हैं। परंतु उनमे शक्तिका स्पन्दन है। निस्तरङ्ग परमात्माकी निर्विकल्प सर्वतोमुखी वृत्ति ही स्पन्द है। ब्रह्ममें ज्ञान तथा क्रिया है। चिद्रूपत्व, अनवच्छिन्नविमर्शत्व, अन्योन्यमुखत्व तथा आनन्दघनैकत्व ही महेश्वरत्व है। वे भावात्मा तथा समस्त पदार्थोंके स्वरूप हैं। उनकी इच्छासे ही जगत्की सृष्टि हुई है।

महेश्वर निरावरण चैतन्यस्वरूप, अनवच्छिन्न, अद्वितीय, स्वानुभवैकप्रमाण, शक्तिचक्रेश्वर, आत्मचिन्तामणि, उपेय तथा अभिधेय हैं। उनकी स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है। उनकी इस स्वात्मभूता प्रकृतिमे कभी व्यभिचार नहीं होता। महेश्वर कर्ता, ज्ञाता तथा अनादिसिद्ध स्वात्मा हैं। जीव चेतन, पर अनीश्वर है। वह प्रत्यगात्मा परमेश्वरसे भिन्न है। मोहाच्छन्न होनेसे कर्ममें बद्ध होकर वह संसारी होता है। जीव महेश्वरका दास है। महेश्वरके साथ एकत्व स्थापित होनेपर वह सब विषयोंको ग्रहण करनेकी पूर्ण शक्ति पाता है। सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूप महेश्वरत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप, चित्स्वरूप, सर्वप्रकाशक, अखण्ड और एक है। प्रत्यभिज्ञा (जीवेश्वरका अभेद-बोध) ही मुक्तिका साधन है।

शिवाद्वैत

ब्रह्म (महेश्वर) आराध्य हैं और धर्माचरण उनकी आराधना है। फलेच्छात्यागपूर्वक कर्म करनेसे पापोंका नाश होता है। पापनाशसे चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञान होता है। कर्म एवं ज्ञानके समुच्चयसे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है। जीवका परम पुरुषार्थ शिवकी समानगुणतारूप मुक्ति पाना है। यह शिवकृपासे ही सिद्ध होती है। इस प्रकार मुक्ति शिवका प्रसाद है। यह प्रसाद उपासनाद्वारा प्राप्त होता है।

ब्रह्म (शिव) सगुण, सविशेष, ज्ञानानन्द-शक्तिसम्पन्न, जगत्रूप होनेवाले, मनके द्वारा आनन्द भोगनेवाले हैं। जीव अनादि, अज्ञानवासनाबद्ध, परवश, विभु, चेतन, शक्ति-परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता है। जीवमें कर्तृत्व स्वाभाविक है। वह किसीका प्रकाश्य नहीं। मुक्त जीव भी अन्तःकरण-समन्वित रहता है। पाश नष्ट होनेसे वह अखण्ड आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मकी परमाशक्ति (चिच्छक्ति—चिदाकाश) मे जगत्का बीज है। वही प्रपञ्चका कारण बनती है। ब्रह्म परिणामी है और जगत् परिणाम। जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव, अनुग्रह—ये ब्रह्मके पाँच कृत्य-प्रपञ्चक हैं।

शिवत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। कर्म, उपासना या ब्रह्मविद्यासे शिवत्वकी प्राप्ति होती है। शूद्रका अधिकार ब्रह्मविद्यामे नहीं है। सत्कर्माचरण तथा पुराणादि-श्रवणसे उसका पाप नाश हो जाता है।

लकुलीश पाशुपत-दर्शन

पशुपतिने बिना किसी कारण एवं साधनके ही संसारका निर्माण किया। इस संसारसे मुक्ति दो प्रकारकी होती है—एक तो दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और दूसरी पारमैश्वर्यकी प्राप्ति। पारमैश्वर्य है दृक्शक्ति (सर्वज्ञता) और क्रियाशक्ति—इच्छित वस्तुकी प्राप्ति। भगवद्दासत्व एक प्रकारका बन्धन है। व्रत, भस्मादि-धारण तथा उपहार—एकान्तमें शिव-नाम लेकर हँसना, रोना एवं जपादि तथा द्वार (लोकमें विपरीत चेष्टा—पागलका-सा आचार)—ये साधन हैं धर्मार्थके।

शक्ति-दर्शन

पराशक्ति त्रिपुरसुन्दरीसे ही शब्द एवं वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है। परमतत्त्व शिव हैं। शक्तिके स्फूर्तिरूप धारण करनेपर शिवने उसमें तेजस्-रूपसे प्रवेश किया, तब विन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। शिवमें शक्तिके प्रवेशसे नारी-तत्त्व—नाद व्यक्त हुआ। ये ही दोनों तत्त्व (नाद-विन्दु) मिलकर अर्धनारीश्वर हुए। यही कामतत्त्व है। पुंतत्त्व श्वेत एवं नारीतत्त्व लाल है। दोनोंसे कलाकी उत्पत्ति हुई है। इस काम एवं कलाके तथा नाद एवं विन्दुके योगसे ही सृष्टि हुई है। मूलतत्त्व अनन्त एवं अव्यक्त है। सृष्टिके प्रत्येक विकासमे उस शिवतत्त्वका आगम है। उस शिवकी अजा आद्या-शक्ति ही प्रकृतिरूपा हैं।

जीवके उद्धारके लिये वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त तथा कुल—ये सात आचार हैं। दिव्य भावके आश्रयसे देव-साक्षात्कार, वीर-भावसे क्रियासिद्धि और पशुकी प्राप्तिसे

ज्ञानसिद्धि होती है। आराधनाके लिये महाशक्तिके दस महाविद्यारूप हैं—महाकाली, उग्रतारा, षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी), भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला। इन शक्तियोंके साथ परतत्त्वके दस आराध्य रूपोंकी उपासना होती है। क्रमशः उनके नाम हैं महाकाल, अक्षोभ्य पुरुष, पञ्चवक्त्र रुद्र, त्र्यम्बक, कबन्ध, दक्षिणामूर्ति, एकवक्त्र रुद्र, मतङ्ग, सदाशिव और विष्णु। जीव आचारपालन एवं आराधनासे, शक्तिकी कृपासे शिवत्वको प्राप्त करके पाशमुक्त हो जाता है।

कुछ अन्य दर्शन

इन दर्शनोंके अतिरिक्त भक्तिके स्वरूप, साधन और तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले नारद तथा शाण्डिल्यकृत भक्तिसूत्र भी भक्तिदर्शनके रूपमें विख्यात हैं। ये बड़े ही उपयोगी तथा भक्तितत्त्वका निरूपण करनेवाले दर्शन हैं। इनके सिवा वैद्यक-शास्त्रका अपना पृथक् दर्शनशास्त्र है। कर्म एवं प्रारब्धको मानकर उसमें चिकित्साका क्या स्थान है, यह इस दर्शनशास्त्रका विषय है। इसी प्रकार 'रसेश्वर' दर्शन है। इस दर्शनकी मान्यता है कि 'परमतत्त्व रसरूप है। शिव एवं पार्वतीका वह मूलभाव स्थूल जगत्मे पारद एवं अभ्रक रूपसे व्यक्त है। पारद आनन्दकी मूर्त अभिव्यक्ति है। पारद ही रस है। सृष्टिसे पार करनेवाला होनेसे उसे पारद कहा जाता है। पारदकी सिद्धिसे शरीर जरा-मृत्युपर विजय पा लेता है। इसी प्रकार ज्यौतिषका दर्शनशास्त्र भी पृथक् है। उसका सारांश इस प्रकार है—

सम्पूर्ण जगत् और उसकी घटनाएँ नक्षत्र-जगत्पर अवलम्बित है। नक्षत्रोंकी गति, स्थिति एवं संयोग ही संसारके समस्त रूपों, क्रियाओं तथा गुणोंके कारण हैं। भावोंकी जो अभिव्यक्ति पृथ्वीपर क्रिया और पदार्थके रूपमे है, वही समष्टिमें नक्षत्रोंके रूपमे है। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आकृति पूर्वनिश्चित है। अवश्य ही उसमे स्थित जीव बदलता रहता है। सभी आकृतियाँ, क्रियाएँ, शब्दादि नित्य है। उनका बराबर आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। इस प्रकार संसारका इतिहास अपनेको बार-बार ज्यों-का-त्यों दुहराता है। प्राणीके कर्म संकल्पपूर्वक ही होते हैं। संकल्प ही कर्मका कारण है। संकल्प भावस्तरोंकी अभिव्यक्ति है। यही भाव सारे ग्रहोंके भी संचालक हैं। अतः कर्म सदा ग्रहोंके अनुसार ही होंगे। प्रारब्धवाद और ज्यौतिषमे कोई भेद नहीं है। मनुष्यका कर्म उसे फल देनेमे स्वयं समर्थ है।

ज्यौतिषकी भाँति ही व्याकरणका भी दर्शनशास्त्र है। इस दर्शनको स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद कहते हैं। महर्षि पाणिनि इसके उद्भावक हैं। यह दर्शन कहता है—'शब्द अनादि और सनातन है; जितने दृश्य हैं, वे कल्पना या विचारकी छाया, उन्हींके मूर्तरूप हैं। दृश्य जगत् अवास्तविक है। शब्दके बिना ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है। शब्द और ज्ञान—ये परस्पर अविभेद्य हैं। शब्दकी स्मृति ही श्वासादि समस्त क्रियाओंका कारण है। शब्द अव्याख्येय शक्तिसे युक्त है। संसार अर्थसे बना है। शब्द उसका ज्ञान देता है। वाचकताका अधिष्ठान प्रणव है। वही जगत्का मूल कारण है। नाम-रूपात्मक ही विश्व है। विश्व शब्द-ब्रह्मका परिणाम नहीं, विवर्त है। शब्दका अर्थसे कल्पित सम्बन्ध नहीं, नित्य सम्बन्ध है। व्यक्त शब्दकी वाणी मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयाकाशमे मध्यमा और कण्ठमें वैखरी रूपसे प्रकट होती है। प्रणवोपासना, योग, शुद्ध एवं सत्य भाषण शब्दब्रह्मकी अनुभूतिमें सहायक हैं।

इसी प्रकार योगके अनेक मार्गोंने शरीरको ज्ञान या सत्यका मन्दिर मानकर नेती, धोती आदि षट्कर्मसे उसकी शुद्धिका प्रतिपादन किया है। षट्चक्र-वेधका कुण्डलिनी-योग भी एक दर्शनशास्त्र ही है। ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र ग्रन्थियोंको वेदान्तके मल, विक्षेप, आवरणकी भाँति मानकर उनके वेधनके लिये प्रवृत्त होनेवाली तन्त्रसाधनाका भी एक दर्शन है। ये सभी आस्तिक दर्शन साधन एवं अधिकारीके भेदसे ही भिन्न हैं। वस्तुतः इनका मूल समग्र दर्शन है और वही उनका लक्ष्य भी है।

भारतीय दर्शन और व्यवहार

एकत्वमे अनेकताकी अभिव्यक्ति और अनेकतामे एकताका दर्शन, यही भारतीय दर्शनकी विशेषता है। एक हिंदीके सम्मान्य विद्वान्ने अभी कहा है—'विश्वकी नाना विभिन्नताओंमे एकताका जितना पूर्ण एवं सार्थक विवेचन भारतने किया, वैसा कोई देश और कोई जाति न कर सकी; किंतु हमारे देशमे जितना श्रेणीभेद है, उतना और कहीं नहीं है।' यह आश्चर्य आपको साम्यवादकी भ्रान्त धारणाके कारण हुआ। नहीं तो अनेकतामें एकताका दर्शन ही भारतीय परम्परा है। अनेकतामें एकत्वका वर्तन न सम्भव है और न आदर्श। पशु, मानव, वृक्षादिमे एकत्वका दर्शन करके यदि एक-सा आहार भी सबको दिया जाने लगे तो उसमें सबकी हानि होगी। लाभ किसीका न होगा। अतएव एकत्व तो बुद्धिमें व्यवस्थित होनेका

भाव है। एकत्वसे बहुत्वका उत्थान भी भारतीय दर्शनने ही बतलाया है। जिस कर्म, अधिकार, भावादि भेदसे बहुत्वका उत्थान है, उसके अनुरूप व्यवहार ही व्यक्ति एवं समाजके लिये कल्याणकारी है। अतः व्यवहारमे दूसरे देशोकी अपेक्षा बहुत अधिक श्रेणी-भेद अधिकार-निरूपणका परिणाम है। वह लाभकारी है और एकत्वका अविरोधी है। भारतीय दर्शनकी गम्भीरताके साथ उसकी यह मौलिक विशेषता समझे बिना हम उसकी व्याख्या करते समय भ्रममे पड़ते हैं। पदार्थ-विज्ञान तथा आलोचनाके क्षेत्रमे हम प्रत्यक्ष यह सिद्धान्त देखते है कि ज्ञान जितना सूक्ष्म होगा, पदार्थोके उपयोग एवं श्रेणी-भेद बढ़ेंगे और अज्ञान श्रेणी-भेदोका लोप करता है। विचार जहाँ व्यावहारिक श्रेणी-भेद बढ़ाता है, वही मूल एकत्वका दर्शन कराता है; पर अज्ञानमे, श्रेणियोका लोप होनेके साथ बौद्धिक भेद बढ़ता है।

हिंदू-संस्कृति और उपनिषद्

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

उपनिषद् हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य और कही भी, किसी भी धर्म या भाषामे न मिलनेवाली अतुलनीय अध्यात्म-सम्पत्ति है। आज हम इससे पराङ्मुख है, इसीलिये परमुखापेक्षी, दीन और नाना प्रकारके सङ्कटोसे ग्रस्त है। अपने घरकी इस निधिको सम्हाले और समझ ले तो हमारे सारे दुःख-संकट आज ही दूर हो सकते है।

पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) मे लिखा है—'ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। अर्थात् सब मिलाकर चारो वेदोकी ११३० शाखाएँ है।' प्राचीन साहित्यसे यह भी पता चलता है कि जितनी शाखाएँ थी, उतनी ही संहिताएँ थी, उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतने ही कल्पसूत्र और उपनिषदे थीं; परंतु हमारे दुर्भाग्यसे इन दिनो कोई भी विभाग पूरा-का-पूरा नही मिलता। प्रत्येक शाखाकी एक विशिष्ट उपनिषद् थी; इसलिये ११३० उपनिषदे उपलब्ध होनी चाहिये। परंतु मिलती है १०८, जो उपनिषत्साहित्यकी सारभूत हैं (मुक्तिकोपनिषद् १४४)। मुक्तिकोपनिषद् (प्रथम अध्याय)से यह भी विदित होता है कि '१०८ मे १० ऋग्वेदसे, १९ शुक्लयजुर्वेदसे, ३२ कृष्णयजुर्वेदसे, १६ सामवेदसे और ३१ अथर्ववेदसे सम्बन्ध रखती हैं।' हाँ, इनके अतिरिक्त पूनाके डा० बेलवल्करने पहले-पहल बाष्कल्य, छागल्य, आर्षेय और शौनक नामक उपनिषदोको सानुवाद प्रकाशित किया है। जर्मन भाषाके अनुवादके साथ डायसनने ६० उपनिषदोको प्रकाशित किया है। इस प्रकाशनके कई संस्करण हो चुके है। नारायणस्वामी और ह्यूमने अंग्रेजी-अनुवादके साथ ३०-३० उपनिषदोको छापा है। इसी तरह कही १०८, कही ३८, कही २८, कही ११ और कहीं ९ उपनिषदे इकट्ठी छापी गयी है। शाहजहाँके बड़े बेटे दाराशिकोहने भी फारसी-अनुवादके साथ कई दर्जन उपनिषदोको छपाया था। इधर अड्यार (मद्रास) की थियासाफिकल सोसाइटीने तो लगभग २०० उपनिषदे छापी है।

'उप' और 'नि' उपसर्गोवाले 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय करनेपर 'उपनिषद्' शब्द बनता है। इसका तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या है। प्रायः इसी अर्थमे यह शब्द रूढ़ है। काठकोपनिषद्के उपोद्घातमे श्रीशङ्कराचार्यने लिखा है कि 'जिससे मुमुक्षुओकी ससार-बीज भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हे ब्रह्मप्राप्ति करा देती है और जिससे दुःखोका सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।' इसका मुख्य अर्थ तो ब्रह्मविद्या ही है, गौण अर्थ ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थविशेष है। परंतु कुछ उपनिषदे योग-स्वरूपके विचारसे परिपूर्ण है और कुछमे विष्णु, शिव और शक्तिकी उपासनाएँ भी भरी पड़ी है।

उपनिषदो, श्रीमद्भगवद्गीता और व्यासकृत वेदान्त-सूत्रोका नाम आचार्योने 'प्रस्थानत्रयी' रखा है। प्रस्थानत्रयी ही हिंदू-धर्म और हिंदू-दर्शनकी विशेष आधारशिला है; परंतु गीता और ब्रह्मसूत्रका मूल-स्रोत उपनिषदे है, इसीलिये सस्कृत-साहित्यमे सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपनिषदे मानी जाती है। जिस सम्प्रदायकी भाष्य-टीकाएँ उपनिषदोपर नही है, वह नगण्य माना जाता है। इसीलिये प्रायः सभी सम्प्रदायोने उपनिषदोपर टीकाएँ लिखी है।

वेदोके जो मन्त्र और ब्राह्मण नामके दो भाग हैं, उनमेसे ब्राह्मणभागमे मन्त्रोका अर्थ-निर्णय किया गया है, याज्ञिक

अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गये हैं और नाना उपाख्यान कहे गये हैं। तपोधन ब्राह्मणोंने ब्राह्मण-भागका संकलन और संस्मरण किया है; इसीलिये इस भागका नाम 'ब्राह्मण' या 'ब्राह्मण-ग्रन्थ' है। ब्रह्मका एक अर्थ यज्ञ भी है; इसलिये यज्ञप्रतिपादक होनेके कारण भी इसका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। जिन ऋषियोंने, जिनके वंशने या जिनके शिष्योंने जिस ब्राह्मण-ग्रन्थका उपदेश दिया है, उन्हींके नामपर प्रायः उस ग्रन्थका नामकरण भी हुआ है। ब्राह्मणोंके जो अंश अरण्य या विपिनमें पठित और उपदिष्ट हैं, उनका नाम 'आरण्यक' है और इन ब्राह्मणों या आरण्यकोंके जो भाग गहन-गम्भीर हैं और सूक्ष्म मनन-चिन्तनसे परिपूर्ण हैं, उनका नाम 'उपनिषद्' है।

स्थान-संकोचके कारण यहाँ उन्हीं बारह उपनिषदोंका अत्यन्त सक्षिप्त परिचय लिखा जायगा, जिनपर श्रीशङ्कराचार्य-जीने भाष्य लिखा है। इन बारहों उपनिषदोंको वेदान्तसूत्रके शारीरक-भाष्यमें शङ्कराचार्यने वेद कहकर बार-बार पुकारा है। अन्य छः उपनिषदोंका भी शङ्कराचार्यने उल्लेख किया है, परंतु उनपर भाष्य नहीं लिखा है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषदें हैं। कुछ गद्यमें हैं, कुछ पद्यमें और कुछ उपनिषदें गद्य-पद्यात्मक भी हैं। ऋषियोंके आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपसे उपनिषदोंमें ग्रथित हैं; इसलिये उपदेशोंमें कहीं-कहीं सामञ्जस्यका अभाव होना स्वाभाविक है। तो भी उपदेशोंकी महानतामें कोई कमी नहीं आती।

ऋग्वेदका जो कौषीतकि या शाङ्खायन आरण्यक इस समय उपलब्ध है और जिसे ए० बी० कीथने अंग्रेजीमें भी अनूदित और सम्पादित कर प्रकाशित किया है; उसमें पंद्रह अध्याय पाये जाते हैं। इसी आरण्यकके तीसरेसे छठे अध्यायोंका नाम 'कौषीतकि-उपनिषद्' है। इस उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें चित्र गार्ग्यायणि नामके क्षत्रिय राजाने उद्दालक आरुणि नामके विद्वान् ब्राह्मणको परलोकविषयक उपदेश दिया है। दूसरे अध्यायमें महाप्राण अर्थात् परब्रह्मका और पिता-पुत्रके सस्नेह सम्बन्धका विवरण है। तीसरेमें इन्द्रने काशिराज दिवोदासको प्राण और प्रज्ञाका उपदेश दिया है, चौथेमें काशिराज अजातशत्रुने बालाकि नामके ब्राह्मणको परब्रह्मकी शिक्षा दी है।

ऋग्वेदीय 'ऐतरेय आरण्यक'में पाँच भाग या आरण्यक हैं और सबको प्रसिद्ध वेदज्ञ सत्यव्रत सामश्रमीजीने सायण-भाष्यके साथ प्रकाशित किया है। इनमें द्वितीय आरण्यक अर्थात् स्वतन्त्र द्वितीय भागके चौथेसे छठे अध्यायोंको 'ऐतरेयोपनिषद्' कहा जाता है। इसके प्रथम अध्यायमें संसारकी सृष्टि, दूसरेमें जीवोंके जन्म और तीसरेमें परब्रह्मकी समीक्षा है।

सामवेदकी कौथुमी शाखाका ब्राह्मण चालीस भागोंमें परिपूर्ण हुआ है। इसके पचीसवें भागको पञ्चविंश या 'ताण्ड्य ब्राह्मण', छब्बीसवेंसे तीसवें भागोंको 'षड्विंश ब्राह्मण', इकतीसवेंसे बत्तीसवें भागको 'मन्त्र ब्राह्मण' और तैंतीसवेंसे चालीसवें भागको 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। सत्यव्रत सामश्रमी, ए० सी० वेदान्तवागीश, के. क्लेम, एच. एफ्. एल्बिंग आदिने इन ब्राह्मणग्रन्थोंको अत्यधिक व्यय करके सम्पादित और प्रकाशित किया है।

छान्दोग्योपनिषद् एक विशाल ग्रन्थ है। इसके पहले और दूसरे भाग या प्रपाठकमें ओंकार, उद्गीथ और सामकी आलोचना है। तीसरेमें परब्रह्मकी विभूति है। इसी भागमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी भी कथा है। श्रीकृष्ण घोर आङ्गिरस-से धर्मकथा सुनकर भूख-प्यास भूल गये थे। चौथेमें सत्य-काम जाबालकी कथा है। सत्यकामने बाल्यकालकी स्वाभाविक कार्यपरम्पराको ही देखकर परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया था। पाँचवेंमें लिखा है—श्वेतकेतु आरुणेय नामके शास्त्रज्ञाता ब्राह्मणने प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय राजाओंसे परमात्माका उपदेश पाया था। इन्हीं श्वेतकेतुने अपने पिता उद्दालक आरुणिसे परब्रह्मका ज्ञान पाया था—यह बात भी छठे भागमें है। सातवेंमें उल्लेख है कि सनत्कुमारसे नारदजीने नाम, वाक्य, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण और परमात्माके सम्बन्धमें उपदेश प्राप्त किया था। आठवें भाग या प्रपाठकमें परब्रह्म और प्रजापतिके सम्बन्धमें अनेकानेक जटिल और निगूढ़ आलोचनाएँ हैं।

सामवेदकी ही तलवकार शाखाकी 'केनोपनिषद्' है। यह इस शाखाका नवम अध्याय है। परंतु यह प्रचलित तलवकारोपनिषद्से भिन्न है। इसके प्रथम और द्वितीय खण्डोंमें परब्रह्मका विवेचन है। तीसरे और चौथेमें लिखा है—देवोंके सामने परमात्मा प्रकट हुए। परंतु देवोंने उन्हें पहचाना नहीं। अनन्तर हैमवती उमाने देवोंसे कहा—'ये ब्रह्म हैं। इन्हींकी शक्तिसे तुम्हें महिमा मिली है।' इस कथाके व्याजसे यह बताया गया है कि वायु, अग्नि आदि प्राकृत शक्तियाँ परमात्मशक्तिकी ही विकासमात्र हैं।

कृष्णयजुर्वेदका 'तैत्तिरीय आरण्यक' दस प्रपाठकोंमें विभक्त है। इनमें सातवें, आठवें और नवें प्रपाठकोंको

'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहा जाता है। प्रथम प्रपाठक या वल्लीमें ओंकार तथा 'भूः, भुवः, स्वः' शब्दोंका प्रकृत अर्थ बताया गया है और धर्मानुष्ठानका पवित्र सदुपदेश किया गया है। दूसरी वल्लीमें परब्रह्मका समीक्षण किया गया है। तीसरीमें वरुण-ने अपने पुत्रको परमात्माका उपदेश किया है। कृष्णयजुर्वेद-की ही काठक-संहिताकी 'कठोपनिषद्' है। इसमें छः वल्लियाँ हैं। इसीमें नचिकेताकी प्रसिद्ध कथा है। नचिकेताने मृत्यु-के मन्दिरमें जाकर मृत्युसे ही परमात्माकी शिक्षा ली है। यहाँ परमात्मा और जीवात्माके विषयमें बहुत ही सुन्दर उपदेश है। इसी वेदकी 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्तका रहस्य भरा पड़ा है।

शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयसंहिताके चालीसवें अध्यायको 'ईशावास्योपनिषद्' कहा जाता है। इसमें परमात्मविषयक एक-से-एक अद्भुत और अनूठे उपदेश हैं। इस वेदकी जो वाजसनेय (माध्यन्दिन) और काण्व नामकी दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं, उन दोनोंके ब्राह्मणोंका नाम 'शतपथब्राह्मण' है। यह सबसे बड़ा ब्राह्मण-ग्रन्थ है और इसे जे० एगलिंग, ए० वेबर (माध्यन्दिन) तथा डब्ल्० कैलेण्डर (काण्व) ने लाखों रुपये व्यय करके सायणभाष्यके साथ प्रकाशित किया है। माध्यन्दिन शाखाके शतपथब्राह्मणमें चौदह काण्ड हैं और इन काण्डोंमें एक सौ अध्याय हैं। इसीलिये इसका नाम 'शतपथ' रक्खा गया है। इसके चौदहवें काण्डको आरण्यक कहा जाता है और इस आरण्यकके अन्तिम छः अध्यायोंका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इसके पहले अध्यायमें सृष्टि और सृष्टिकर्ताका परिचय दिया गया है। दूसरेमें अजातशत्रुसे गार्ग्य-बालाकिने परमात्मज्ञान प्राप्त किया है। तीसरेमें उल्लेख है—विदेहराज जनकने एक विराट् सभा की, जिसमें कुरु, पाञ्चाल आदि प्रदेशोंके अनेकानेक वेदज्ञाता पधारे। सभामें सबको राजा जनकके पुरोहित याज्ञ-वल्क्यने पराजित करके राजपुरस्कार प्राप्त किया। सभामें गार्गी वाचक्नवी नामकी महाविदुषी महिला भी उपस्थित थीं; परंतु वे भी याज्ञवल्क्यसे परास्त हो गयीं। चौथेमें जनक और याज्ञवल्क्यके बीच परब्रह्मके बारेमें एक-से-एक विकट तर्क-वितर्क देखे जाते हैं। इसी अध्यायमें अपनी पत्नी मैत्रेयीको याज्ञवल्क्यने परमात्माका उपदेश दिया है। पाँचवें-में ब्रह्म और प्रजापति, वेदत्रय और गायत्रीका वर्णन है। छठेमें कहा गया है—उद्दालक आरुणिने प्रवाहण जैवलि नामक क्षत्रिय राजासे ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञानसे याज्ञवल्क्यको परिचित कराते हुए उद्दालकने कहा—'सूखे काठको भी यदि ऐसा अमृतमय उपदेश दिया जाय तो उसमें भी टहनियाँ और पत्ते निकल आयें।'

अथर्ववेदकी उपनिषदें तो अगणित बतायी जाती हैं; परंतु तीन अत्यन्त प्राचीन हैं—प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद्। प्रश्नोपनिषद्में परमात्मविषयक छः प्रश्न और उनके उत्तर हैं। मुण्डकोपनिषद्में तीन भाग या मुण्डक हैं और सबमें परमात्मरहस्य विवृत हैं। माण्डूक्यमें ब्रह्मकी सर्वव्यापकता प्रतिपादित की गयी है।

यही उन बारह उपनिषदोंका अतीव संक्षिप्त दिग्दर्शन है, जिनपर भगवान् शङ्कराचार्यने अपना अपूर्व भाष्य लिखा है। इनमें भी सामवेदीय केनोपनिषद्पर आचार्यचरणने दो भाष्य लिखे हैं—एकका नाम पदभाष्य है और दूसरेका नाम वाक्यभाष्य है।

ब्राह्मणों और आरण्यकोंको कर्मकाण्ड कहा जाता है और उपनिषदोंको ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्डकी चर्चा तो इन दिनों नाममात्रकी ही है; क्योंकि इसके आधार जो यज्ञ हैं, वे या तो विलुप्त-से हो गये हैं अथवा रूपान्तर प्राप्त कर चुके हैं; परंतु ज्ञानकाण्डमें कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें जो परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, पुनर्जन्म, स्वर्ग, धर्म आदिका विवरण दिया हुआ है, वह आजतक ज्यों-का-त्यों है; बल्कि हिंदूधर्मका आजतक वही आधार माना जाता है। इसीलिये प्रत्येक हिंदू उपनिषदोंके प्रत्येक वाक्यको मन्त्रवत् सुनकर विमुग्ध और आनन्दनिमग्न हो जाता है। उपनिषदोंपर अबतक जितने भाष्य, वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी गयी हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे साहित्यपर इतनी हों। शङ्कराचार्य, आनन्द भट्टोपाध्याय, अनन्ताचार्य, ब्रह्मानन्द, शङ्करानन्द, विद्यारण्य, सुरेश्वराचार्य, नारायण, विज्ञानभागवत, आनन्दगिरि, मुनि नित्यानन्द, रङ्गरामानुज, दिगम्बरानुचर, मध्वाचार्य, जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, रघूत्तमस्वामी, ब्रह्मयोगी, नारायणमुनि, भास्करानन्द, अरविन्द घोष, महादेव शास्त्री, श्रीशचन्द्र वसु, भगवद्दत्त, भीमसेन, श्रीधर शास्त्री आदि-आदिकी जो उपनिषदोंपर भाष्य-टीकाएँ हैं, वे इस बातका समर्थन करती हैं। यही नहीं, विदेशी विद्वान् भी उपनिषदोंकी चमत्कारिता, सरलता, सुकुमारता, सुन्दरता, मृदुता और मञ्जुलतापर मुग्ध तथा आसक्त हैं। ऑटो श्राडर, जी० ए० जेकब, ओर्टेल, मैक्समूलर, ऑटो बोट्लिंग, हारमन ओल्डेनबर्ग, ई० ह्यूम, राबर्ट जिमरमन, सी० ओ० हास, गोल्डस्टकर, पाल डायसन, आर्थर एवलन, एफ० टी०

ब्रुक्स आदि-आदिने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओंमें उपनिषदोंपर जो टीकाएँ लिखी हैं और उनके अनुवाद किये हैं, उनसे उपनिषदोंकी महिमा और गरिमा सारे संसारमें फैली है। विश्वविख्यात जर्मन विद्वान् शोपेनहारने लिखा है—'सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा।' मैक्समूलरने लिखा है—'उपनिषदें वेदान्तके आदि-स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्चभावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँची हुई मालूम पड़ती है।' सचमुच उपनिषदोंका प्रत्येक वचन वह अमर और प्रतापमयी वाणी है, जिसे पढ़कर और जिसके अनुसार आचरणकर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये, कितने ही पुरुष योगी हो गये, कितने ही जीवन्मुक्त और कितने ही ब्रह्ममें विलीन हो रहे।

उपनिषदें ज्ञानभंडार हैं और इन्हींसे सारे दर्शन, सब शास्त्र, सब तर्क, अखिल युक्तियाँ, समस्त तन्त्र, समूचे पुराण, सम्पूर्ण पदार्थ, विज्ञान और निखिल विद्याएँ निकलकर मानवजातिको आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनीमें बहा रही हैं। इस प्रपञ्चमय संसारके सारे दुःख-दारिद्रय, पाप-ताप और दैन्य-हैन्यको मार भगानेके लिये उपनिषदें जादूकी झोली हैं।

उपनिषदें क्रियात्मक विद्या हैं, काल्पनिक नहीं। मनुष्य अपने-जीवनमें उपनिषद्-शिक्षाको व्यावहारिक रूपमें लाकर स्वयं निरञ्जनको प्राप्त कर सकता है और समाजको भी उन्नतिके शिखरपर पहुँचा सकता है। उपनिषदोंके उपदेशके अनुसार मनुष्य कामादि षड्रिपुओंसे दूर रहकर, ब्रह्मचर्यव्रतका पालनकर तथा शम, दम आदि साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेजसे समाज, देश, जातिको भी उद्भासित कर देता है। उपनिषदें बताती हैं कि मनुष्य अमृत-पुत्र है, वह संयमी रहकर बड़ी सरलतासे अमरता प्राप्त कर सकता है और हर एक प्रजाका ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक उन्नयन कर सकता है। कर्मफलका त्याग करके अथवा उसे ईश्वरार्पण करके निष्काम कर्मयोगी और लोकसंग्रही बननेकी शिक्षा उपनिषदोंका प्रत्येक वचन देता है। केवल मीठा-मीठा चिल्लानेसे मुँह मीठा नहीं हो सकता; इसीलिये उपनिषदें कहती हैं—'केवल पुस्तके रटनेसे या किसीका उपदेश सुन लेनेसे ही आत्मज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् पहले उपदेश सुनो या ग्रन्थ पढ़ो, उसके बाद उसका पूरा मनन करो, एकान्त शान्तिमें उसपर खूब विचार करो और उसके अनन्तर चित्तवृत्तियोंको समेटकर अर्थात् अन्तर्मुख करके, मनको एकाग्र करके बराबर ध्यान धरो; तभी तुम्हें महाज्योति, अखण्ड आनन्द और सनातन शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसके सिवा उपनिषदोंका यह भी उपदेश है कि जिस किसीसे उपदेश नहीं लेना चाहिये; पूर्ण संयमी बनकर वेदज्ञाता, ब्रह्मनिष्ठ और तपोधन गुरुसे ही उपदेश लेना चाहिये।

बृहदारण्यक (५। २। १—३) में एक सुन्दर उपाख्यानके द्वारा दान, दम और दयाकी शिक्षा दी गयी है। छान्दोग्य (३। १७। ४) ने दान, आर्जव, सत्य और तपको अध्यात्म-मार्गका साधन बताया है। तैत्तिरीय (१। २। १—३) ने गुरु और माता-पिताकी सेवा, स्वाध्याय और धर्माचरणका उपदेश दिया है। छान्दोग्यने एक दूसरे स्थल (४। ४। १—५) पर सत्यकी शिक्षाको अनिवार्य बताया है। प्रश्नोपनिषद् (६। १) और मुण्डकोपनिषद् (३। १। ६) में भी ये ही बातें हैं। बृहदारण्यकने एक स्थानपर (४। ४। २३) ज्ञान-साधनके लिये विवेक और वैराग्यको आवश्यक बताया है। मुण्डक (१। २। १२) ने भी इसका समर्थन किया है। बृहदारण्यक (४। ४। ५) और छान्दोग्य (८। १६) ने मनुष्यको संकल्प करने और कर्म करनेमें स्वतन्त्र बताया है। मुक्तिकोपनिषद् (२। ५। ६) ने पुरुषार्थ करनेपर विशेष बल दिया है। कठोपनिषद् (४। ११) ने बन्धनका कारण एकत्व-ज्ञानके अभावको बताया है। श्वेताश्वतर (३। ८) ने जन्म-मरणके विकट चक्रको पार करनेका उपाय आत्मसाक्षात्कार बताया है। मृत्युके अनन्तर कर्मानुसार मार्ग पानेकी बात भी कही है (बृहदारण्यक ६। २; छान्दोग्य ४। १५; कौषीतकि १। २-३)। बृहदारण्यकका यह भी मत है (४। ४-७) कि जिस समय मनुष्यकी सारी वासनाएँ छूट जाती हैं, उस समय इसी लोकमें वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। ओंकारके निरन्तर ध्यानसे 'निगूढ़-देव-दर्शन' की बात कही गयी है (श्वेताश्वतर १। १४) तथा आत्मोपलब्धिको 'भूमा' कहा गया है। 'जहाँ न तो दूसरेको देखता है, न दूसरेको सुनता है, न दूसरेको जानता है, वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; इसके अतिरिक्त जो है, वह मर्त्य और अनित्य है।' (छान्दोग्य ८। २२)

इस तरह चाहे जिस दृष्टिसे देखिये, उपनिषदोंका प्रत्येक उपदेश अमूल्य और अनुपम है। वे हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं और हिंदूजातिके लिये तो गर्वकी वस्तु हैं ही, असलमें

वे मनुष्यजातिके लिये भी गौरवकी वस्तु हैं। उपनिषदोंके उपदेशोंके अनुसार अपनेको बना लीजिये; आपको वह दिव्य और भव्य महाशक्ति प्राप्त हो जायगी, जिसकी मुट्ठीमें समूची प्रकृति आ जाती है। आप सारे सौरमण्डलकी नकेल पकड़ लेंगे। फिर तो विज्ञान आपको खिलवाड़ जँचेगा, विद्या आपकी विरुदावली बखानेगी और मृत्यु आपकी दासी बन जायगी। आप जिसे देख देंगे, वह देवता बन जायगा; आप जहाँ पैर रख देंगे, वहाँ सोना हो जायगा; आप जिसपर कृपा कर देंगे, वह त्रिलोकध्वंसी भीम हो पड़ेगा। यदि आप उपनिषदोंके ब्रह्मद्रवमें अपनेको विलीन कर सकें, तो पृथ्वी आपका आँगन बन जायगी, आकाश आपका रङ्गमञ्च हो जायगा और आपका जीवन संगीतमय हो रहेगा। आपकी प्रत्येक गतिमें रणचण्डीका अट्टहास होगा। आपकी हरएक दृष्टिमें लक्ष्मीका सरस-सुखद आवास होगा; आपकी प्रत्येक कथामें कलाकी कमनीय काकली कूजेगी और आपकी प्रत्येक क्रियामें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मेघमन्द्र निनाद होगा। चर और अचर, जड और चेतनकी राई-रत्ती कथा कहनेवाली उपनिषदोंके उपदेशमें और तदनुसार आचरणमें जिन्होंने अपनेको डुबा दिया है, उनके उपदेश अमोघ महामन्त्र हैं, वे ब्रह्माण्डभालके तिलक हैं, वे ईश्वरीय दूत हैं। विश्वमें ऐसे महापुरुषोंका अवतरण और संचरण आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनी बहानेके लिये है। ऐसे पुरुष जिधर चलते हैं, उधर ही चन्दनवाही मलयानिल बहता है, उधर ही दीपावली है, उधर ही श्री—सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उधर ही सौन्दर्य और सौकुमार्यकी नवल-धवल ज्योत्स्ना थिरकती है। इनकी प्रत्येक गति लोककल्याणके लिये है, ये ही जगदुद्धरण और साधुसंरक्षण करते हैं, इन्हींका उद्देश्य कलियुगको सत्ययुगकी ओर ले जाना है।

हिंदू-संस्कृतिका प्राकार !

गर्भवासमें मिलती शिक्षा, होते थे सोलह संस्कार।
बाहर आते ही माता भी सिखलाती थी शौचाचार ॥
सदाचारकी सत्-शिक्षा सबको मिलती थी बारंबार।
नित्य-नियमसे होता रहता देवाराधन, धर्माचार ॥ १ ॥

सन्ध्या-तर्पण, नित्य श्राद्धकी वेदध्वनिका मधु गुञ्जार।
नित्य होम, स्वाध्याय हो रहा, अतिथी-अभ्यागत-सत्कार ॥
अर्चा-पूजा प्रेमभावसे, करते सब सात्त्विक आहार।
व्रत-उपवास, कथामृतरसको पीते, करते तत्त्व-विचार ॥ २ ॥

काम्य कर्म ही वे नर करते, होता जिन्हें भोग-सुख-प्यार।
किंतु विचक्षण बुद्धिमान् नर करते कामशून्य आचार ॥
सत्य, दया, तप, दान, यज्ञमें रहते थे वे धर्माकार।
ज्ञान, ध्यान, हरि-गुण-गायन ही होता था उनका आधार ॥ ३ ॥

आज्ञा-पालन, पातिव्रत ही उनका था आदर्श विचार।
एकपत्नीव्रत थे वे मानव, जिन्हें सुहाता नहिं कुविचार ॥
करते सबसे निश्छल, निर्मम, किंतु प्रेमपूरित व्यवहार।
दृढ़ रहकर स्वधर्मपालनमें करते रहते धर्म-प्रचार ॥ ४ ॥

इस प्रकार होते नर-नारी, करते सदा विमल आचार।
अन्तकालमें मरकर जाते देवयानसे शुभ अविकार ॥
निर्मल ब्रह्मधामको पाते अनुपम सुख अनन्त आगार।
धार्मिक पुरुषोंका शाश्वत यह हिंदू-संस्कृतिका प्राकार ॥ ५ ॥

—वासुदेव

हिंदू-संस्कृति और पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

'इतिहास और पुराणोंके द्वारा ही वेदार्थका विस्तार करना चाहिये । जिन्होंने शास्त्रोंका सम्यक् श्रवण नहीं किया है, उनसे वेदोंको भय होता है कि ये हमपर प्रहार (आक्षेप) करेंगे ।' आज यही हो रहा है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने कहना आरम्भ किया कि वेद तो गड़रियोंके गीत हैं । हमसे एक अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान्ने कहा—'गीता तथा दूसरे शास्त्रोंमें वेदोंका इतना महत्त्व क्यों है, यह मैं नहीं समझ पाता । वेदमन्त्रोंमें जो दर्शनशास्त्र, भाव या विज्ञान है, उससे तो बहुत ऊँची बातें बहुत स्पष्ट ढंगसे महाभारतमें ही हैं ।' इस प्रकार श्रुतिपर आक्षेप इसलिये होता है कि हम निरुक्त और व्याकरणके आधारपर मन्त्रोंका अर्थ करने लगते हैं । हम भूल ही जाते हैं कि मन्त्र उन्हें इसीलिये कहा गया कि वे मनन करनेके लिये हैं । उनके देवताके आधारपर उनके पद-प्रत्ययमें मन एकाग्र करनेसे उनके मन्त्रार्थका दर्शन होता है । मन्त्र इसलिये नहीं कि उनका अर्थ किया जाय । इतिहास और पुराणोंमें उन्हीं मन्त्रोंका अर्थ विस्तृत किया गया है; अतएव जिस मन्त्रका अर्थ जानना हो, उसको लेकर या तो मनोनिग्रह करना चाहिये, अथवा उस मन्त्रके ऋषिके ग्रन्थोंमें तथा इतिहास और पुराणमें उस मन्त्रके देवताके सम्बन्धमें जो कुछ वर्णन आया है, उस सबको उस मन्त्रका अर्थ समझना चाहिये । जैसे वेदोंमें इन्द्रके बहुत-से मन्त्र हैं । इन मन्त्रोंके अर्थके सम्बन्धमें पुराणोंमें, स्मृतियोंमें, शास्त्रोंमें इन्द्रका जितना चरित है, सब देखना होगा । जिस मन्त्रके जो ऋषि हैं, उनकी वाणी पुराणादिमें जहाँ है, वहीं इस मन्त्रका अर्थ भी है ।

वेदके अध्ययनका अधिकार केवल यज्ञोपवीत-धारियोंको है । स्त्री और शूद्र सस्वर उच्चारणमें असमर्थ होनेके कारण वेदके अधिकारी नहीं हैं । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । वह मनुष्यमात्रके लिये सर्वेश्वरकी ओरसे दिया गया है । उससे मनुष्य-जातिके एक बड़े वर्गको वञ्चित नहीं रहना चाहिये । यदि वेदमें उनका अधिकार नहीं है तो उन्हें ज्ञान कैसे प्राप्त हो ? उन्होंने सृष्टिके आदिमें ज्ञान कैसे प्राप्त किया ? क्योंकि गुण और कर्मके विभागसे चारों वर्णोंकी रचना अनादि है । भगवान्ने ही इस वर्णाश्रम-धर्मका प्रवर्तन किया है । सृष्टिके प्रारम्भसे यह चला आ रहा है । अतएव सृष्टिके प्रारम्भमें जब मनुष्योंको ईश्वरीय ज्ञान मिला, तब क्या स्त्री और शूद्रोंको भगवान्ने मूर्ख ही छोड़ दिया ? ज्ञान स्वयं उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह दूसरेसे सीखा जाता है—यह बात वेदोंके प्रसङ्गमें बता आये हैं । जो वेदोंके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें तो वेद मिले न होंगे । तो क्या जबतक मन्त्रोंका अर्थ-दर्शन करके ऋषियोंने उसे अपनी वाणीमें प्रकट नहीं किया, स्त्री-शूद्र मूर्ख और गूँगे रहे ?

बात ऐसी नहीं है । नियम यह है कि जो जैसा अधिकारी होता है, उसे उसी प्रकार समझना पड़ता है । जो मनन कर सकते थे, जो मन्त्रद्रष्टा हो सकते थे, जो सस्वर उच्चारणमें समर्थ थे, उन्हें परमात्माकी ओरसे सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र प्राप्त हुए । ये ईश्वरीय सूत्र ही मन्त्र हैं । इन मन्त्रोंमें ज्ञान परोक्ष है—'परोक्षवादो वेदोऽयम् ।' इस प्रकार सूत्ररूपसे ज्ञान प्राप्त होनेका कारण यह था कि ज्ञान अनन्त है । उसके सूत्र तो थोड़े ही हो सकते हैं, किंतु उसका अर्थ-विस्तार अपार है । ज्ञानसूत्रोंकी तो सम्यक्-रक्षा सम्भव है, किंतु अर्थ विस्तारकी रक्षा नहीं हो सकती । सृष्टिमें आगे अनेक बार ज्ञानका विस्मरण-स्मरण-चक्र चलेगा, यह सर्वज्ञ प्रभुसे अविदित नहीं था । ऐसी परिस्थितिमें यदि मूल सूत्र रक्षित रहें तो उनके मन्त्रद्रष्टा पुनः हो सकते हैं । अर्थ-विस्तार उन्हीं सूत्रोंसे फिर प्राप्त हो जायगा । ज्ञानका बीज नष्ट न होगा । हुआ भी यही—हम देखते हैं कि गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'मैंने यह ज्ञान सूर्यको दिया था । सूर्यसे मनु, इक्ष्वाकुके क्रमसे आगे बढ़कर बहुत दिनोंमें इस ज्ञानका लोप हो गया । अब मैं उसी अनादि ज्ञानका तुम्हें पुनः उपदेश कर रहा हूँ ।' इसी प्रकार इतिहास और पुराणोंका पुनः सङ्कलन द्वापरके अन्तमें भगवान् कृष्णद्वैपायन बादरायण व्यासने किया । आज महाभारत और पुराण इसी रूपमें उपलब्ध हैं । अतः जो ज्ञानसूत्रको समझने तथा उसकी रक्षा करनेके अधिकारी थे, उन्हें ईश्वरीय ज्ञान उन सूत्रोंके रूपमें प्राप्त हुआ ।

जो ज्ञानसूत्ररूप मन्त्रोंमें मन एकाग्र करके मन्त्र-दर्शनमें समर्थ नहीं थे, जो सस्वर उच्चारण नहीं कर सकते थे, जिनकी बुद्धि परोक्षवाद नहीं ग्रहण कर सकती थी, उनके लिये वेदार्थ सरल रीतिसे प्रकट हुआ । सृष्टिके

आदिमें ही उन्हें इतिहास और पुराणका ज्ञान ब्रह्माजीसे—स्रष्टासे उसी प्रकार ऋषि-परम्परासे प्राप्त हुआ, जिस प्रकार द्विजातियोंको वैदिक ज्ञान। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं था। केवल एक सूत्ररूप था और दूसरा भाष्यरूप।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि।

(बृहदारण्यक० २।४।१०)

'जैसे गीले ईंधनमें अग्नि लगानेसे धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आङ्गिरस अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण तथा अर्थवाद—वे इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं।' इस प्रकार श्रुतिने पुराणादि समस्त शास्त्रोंको अपौरुषेय, अनादि बतलाया है। यह ईश्वरीय ज्ञान ब्रह्माजीको मिला। उनसे—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

(श्रीमद्भा० ३।१२।३९)

'इतिहास और पुराणरूप पाँचवें वेदको उन समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजीने अपने सभी मुखोंसे प्रकट किया।'

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदा अस्य विनिर्गताः॥

(मत्स्यपुराण)

'समस्त शास्त्रोंमें ब्रह्माजीने सर्वप्रथम पुराणोंका स्मरण—उपदेश किया। पीछे उनके मुखोंसे वेद प्रकट हुए।'

मत्स्यपुराणके इस वचनने स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे सर्वप्रथम स्पष्ट एवं विस्तृत रूपमें हुई। उस स्पष्ट रूपके सभी अधिकारी थे। पीछे उस ज्ञानके मूलसूत्र, जो सूत्र समझने और उनकी रक्षा करनेमें समर्थ थे, उनको प्राप्त हो गये।

इस प्रकार पुराण भी अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं। वेदोंकी भाँति ही पुराणोंकी भी परम्परा प्राप्त होती है और एक ही मूल पुराण अधिकारि-भेदसे शाखा-भेदके रूपमें विस्तृत हुआ, यह भी पुराणोंसे ही ज्ञात होता है। भगवान् व्यासने पुराणोंकी नवीन रचना नहीं की। अवश्य ही उन्होंने सृष्टिके प्रारम्भसे चली आती हुई पुराण-परम्पराको, जो बीचमें अस्त-व्यस्त हो गयी थी, व्यवस्थित किया—अपनी वाणीमें उसे सजाया, अष्टादश पुराणोंका उसे रूप दिया। आज जो पुराण प्राप्त हैं, वे यहीं द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासद्वारा व्यवस्थित किये पुराण हैं। वैसे हम आगे देखेंगे कि ये पुराण भी कुछ अस्त-व्यस्त हो गये हैं। उनमेंसे कितनोंके बहुत अंश अप्राप्य हैं।

वेदोंको ऋषियोंने घन-जटादि अनेक प्रकारके पाठोंकी व्यवस्था करके ज्यों-का-त्यों बनाये रक्खा। उनमें एक मात्रातक घटी-बढ़ी नहीं। अतः वेदवाणी अपौरुषेय है। केवल मन्त्रक्रम अर्थ तथा स्मरण-सुविधाके लिये बदला गया और क्रमको अपौरुषेय नहीं माना जाता। पुराणोंके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं रह सकी। वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत था। उसे ज्यों-का-त्यों स्मरण रखना सम्भव नहीं था। करोड़ों वर्षोंमें वह अनेक बार विस्मृत हो गया। अनेक बार उसके अनेक अंश अज्ञात हो गये। बार-बार ऋषिगण मन्त्रोंमें मनोनिग्रह करके मन्त्रार्थविस्तारद्वारा उस मूल ज्ञानको प्रकट करते रहे। इसीसे किसी-किसी वेदमन्त्रके पुराने द्रष्टा दूसरे ऋषि थे और अब दूसरे ऋषि माने जाते हैं। द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासने देखा कि अनादि वेदार्थ ऋषियोंकी वाणीमें बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया है। उन्होंने उस सम्पूर्ण ज्ञानका सङ्कलन किया और अठारह पुराणों तथा महाभारतके रूपमें लिखा। पुराणोंमें अनेक स्थल ज्यों-के-त्यों ऋषियोंके, शास्त्रोंके रख लिये गये हैं। इस प्रकार पुराणोंकी रचना भगवान् व्यासकी है; परंतु उनका समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणकी वाणी तो व्यासकृत है; किंतु उनका वर्णन, ज्ञानादि अपौरुषेय है, नित्य है।

पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार

वेदोंमें समस्त ज्ञान सूत्ररूपसे है और परोक्ष पद्धतिसे वर्णित है। पुराणोंने उसी ज्ञानको स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। पुराणोंमें जो इतिहास-भूगोल तथा प्राणियोंके वर्णन हैं, वे पुराणोंको आधुनिक या किसी कालविशेषकी रचना नहीं बतलाते। भगवान् व्यास अपने ज्ञात इतिहास-भूगोलको लिखने नहीं बैठे थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥

(श्रीमद्भा०)

'स्त्री, शूद्र तथा आचारच्युत द्विजातियोंको भी वेद-

श्रवणका अधिकार नहीं है। कर्म-जगत्में वे 'कल्याण किसमे है', यह जाननेमे मूढ़—अज्ञ हो रहे हैं। अतएव इससे (महाभारत तथा पुराणोंसे) उनका कल्याण होगा।'

इस प्रकार महाभारत और पुराणोंमें वे वेदके अनधिकारियोंके लिये वही अनादि अपौरुषेय ज्ञान, जो लुप्त तथा विखरा हुआ था, एकत्र करनेमें प्रवृत्त हुए थे। इसीसे पुराणोंके अर्थके सम्बन्धमें उन्होंने बताया है—

पुराणव्याख्या त्रिधा, आधिभौतिकी आधिदैविकी आध्यात्मिकी च।

पुराणोंकी तीन प्रकारकी व्याख्या होती है, अर्थात् पुराणोंमें एक साथ तीन वर्णन चलते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों सत्य है। वस्तुतः तो आध्यात्मिक नित्य जगत्के अनुसार ही आधिदैविक भाव-जगत् है और उसीसे आधिभौतिक स्थूल जगत् व्यक्त हुआ है। तीनों जगत् परस्पर सर्वथा अनुरूप हैं। अतएव कोई एक व्याख्या सत्य होनेपर तीनों ही सत्य होंगी। जो लोग यह कहते है कि रामायण एवं महाभारत हृदयमे होनेवाले देव एवं आसुरभावोंके संघर्षके रूपक हैं, वे भौतिक जगत्की घटनाएँ नहीं है, वे यह नहीं समझते कि अन्तर्जगत् ही स्थूल जगत्मे व्यक्त होता है। अतएव जो अन्तर्जगत्का सच्चा रूपक है, उसकी घटनाएँ ठीक ऐतिहासिक ही होगी। जो स्थूल जगत्की सत्य घटनाओंको छोड़कर रूपक बनाने चलेगा, वह अन्तर्जगत्का ठीक वर्णन कर नहीं सकता। क्योंकि अन्तर्जगत् स्थूल जगत्से कहीं वैसादृश्य—असमानता नहीं रखता।

वेदोंमे इतिहास है, भूगोल है, ज्यौतिष है, मनुष्य-समाजका वर्णन है, मनुष्य एवं पशु जातियाँ है। जो कुछ विश्वमे हो गया, हो रहा है या होनेवाला है, वह वेदोंमे है। सभी घटनादिके मूलरूप श्रुतिमे न हों तो उसमे पूर्ण ज्ञान है, यह कहा न जा सके। नित्य इतिहास वेदमे है और नित्य भूगोलादि भी—इतिहास और भूगोलादिका वह नित्य अंश जो प्रत्येक सृष्टिमे आवृत्ति करता है। पुराणोंने वेदोंके उसी रेखाचित्रमें रंग भरकर उसकी आकृतिको स्पष्ट किया है। जैसे वेदोंमे अपरिवर्तनीय इतिहास है। पुराणोंने कल्पभेदसे उनमें जो परिवर्तन होते हैं, उनको भी स्पष्ट कर दिया है। यही दशा भूगोलादिकी है।

उदाहरणार्थ—वेदोंमे देवासुर-संग्राम, श्रीरामचरित, श्रीकृष्णचरित एवं यदु-दुष्यन्त आदिका बहुत-सा वर्णन है। यह सब वर्णन वहाँ विस्तृत नहीं है। चरितोंका केवल उतना अंश है, जितना प्रत्येक कल्पमें समान रहता है। पुराणोंमें, इतिहासमें तथा दूसरे शास्त्रोंमें ये चरित अनेक प्रकारसे वर्णित हैं। एक ग्रन्थ एक या एकाधिक कल्पकी बात कहता है। इस प्रकार चरितोंका अन्तर कल्प-भेदसे होता है। रामावतार तो प्रत्येक त्रेतामें होगा, लेकिन चरितमें कुछ अन्तर पड़ेगा। यह अन्तर पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है। एक प्रलयके पश्चात् फिर दूसरा कल्प आता है। उसमें वही चरित अधिकांश ज्यों-के-त्यों होते हैं। अतएव उस कल्पका पुराण भी वही होता है, जो आज है। इस प्रकार पुराण भी नित्य ज्ञान हैं।

पुराणोंका स्वरूप

पुराण अठारह माने जाते हैं। ये महापुराण हैं। इनके अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी हैं। किसी कल्पमें कोई पुराण महापुराण समझा जाता था और किसीमें वह उपपुराण माना गया। इस कारण पुराणोंमे महापुराण और उपपुराणोंका निर्णय करनेमे भेद पड़ता है। श्रीमद्भागवतके अनुसार अठारह पुराण अपनी श्लोक-संख्याके अनुसार निम्न हैं—

१ ब्रह्मपुराण—दस	हजार	श्लोक।
२ पद्मपुराण—पचपन	,,	,,
३ विष्णुपुराण—तेईस	,,	,,
४ शिवपुराण—चौबीस	,,	,,
५ श्रीमद्भागवत—अठारह	,,	,,
६ नारदीयपुराण—पचीस	,,	,,
७ मार्कण्डेयपुराण—नौ	,,	,,
८ अग्निपुराण—पंद्रह	हजार चार सौ	,,
९ भविष्यपुराण—चौदह	,, पाँच ,,	,,
१० ब्रह्मवैवर्तपुराण—अठारह	हजार	,,
११ लिङ्गपुराण—ग्यारह	,,	,,
१२ वाराहपुराण—चौबीस	,,	,,
१३ स्कन्दपुराण—इक्यासी	हजार एक सौ	,,
१४ वामनपुराण—दस	हजार	,,
१५ कूर्मपुराण—सत्रह	,,	,,
१६ मत्स्यपुराण—चौदह	,,	,,
१७ गरुडपुराण—उन्नीस	,,	,,
१८ ब्रह्माण्डपुराण—बारह	,,	,,

इस प्रकार सब पुराणोंको मिलानेसे चार लाख दस हजार श्लोक-

होते हैं। कल्प-भेदसे इनमेंसे कुछ पुराण उपपुराण माने जाते हैं और निम्न पुराणोंमेंसे कोई उनके स्थानपर महापुराण कहे जाते हैं—

१—देवीभागवत

२—वायुपुराण

इन दो पुराणोंको भी पुराण मान लें तो शेष सत्ताईस उपपुराण प्रसिद्ध हैं। ये पुराणोंके समान ही प्रामाणिक हैं। यह धारणा ठीक नहीं कि ये पुराणोंके पश्चात् रचे गये। इनमेंसे कुछ तो पुराणोंके परिशिष्ट हैं, जैसे हरिवंश-पुराण महाभारतका परिशिष्ट है। कुछ उपपुराण पुराणोंके भगवान् व्यासद्वारा संकलित होनेसे पूर्वके हैं। उनके उद्धरण पुराणोंमें हैं और वे उसी प्रकार वेदार्थका विस्तार करते हैं, जिस प्रकार पुराण। इन पुराणोंके नाम हैं—१. सनत्कुमार, २. नरसिंह, ३. बृहन्नारदीय, ४. शिवधर्मोत्तर, ५. दुर्वासस, ६. कापिल, ७. मानव, ८. उशनस्, ९. वारुण, १०. आदित्य, ११. कालिका, १२. साम्ब, १३. नन्दिकेश्वर, १४. सौर, १५. पाराशर, १६. माहेश्वर, १७. वाशिष्ठ, १८. भार्गव, १९. आदि, २०. मुद्गल, २१. कल्कि, २२. देवी, २३. महाभागवत, २४. बृहद्धर्मोत्तर, २५. परानन्द, २६. पशुपति, २७. हरिवंश। इनके अतिरिक्त पूर्वोक्त महापुराणोंमें जब किसीको उपपुराणोंमें गिनते हैं, तब कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, भागवत, देवीभागवत, वायुपुराण—इनमेंसे कोई एक या एकाधिक उपपुराण माने जाते हैं।

पुराणोंके लक्षण करते हुए कहा गया है कि उनमें निम्न दस लक्षण होने चाहिये—

१—सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२—विसर्ग (विशेष सृष्टि—मानस सृष्टि, देवता, कारक-पुरुषादि);

३—स्थान (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका संनिवेश);

४—पोषण (जीवोंका धर्म, उनके कृत्य—सदाचारादि, जिनसे उनके समाज चलते हैं);

५—ऊति (जीवोंकी कर्मवासना और उनकी स्वर्ग-नरकादि गतियाँ)।

६—मन्वन्तराधिपतियोंके चरित, उनका वंशविस्तार;

७—भगवान्के अवतार-चरित;

८—निरोध (आत्मसंयमके शम-दम-योगादि मार्ग);

९—मुक्ति (ज्ञानयोग, दर्शनशास्त्र);

१०—आश्रय (भगवान्का आश्रय—भक्तिमार्ग);

अथवा

१—सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२—विसर्ग (विशेष सृष्टि);

३—वंश (प्रमुख वंशावली—नित्य इतिहास)।

४—मन्वन्तर।

५—वंशानुचरित।

महापुराणों और उपपुराणोंमें इनमेंसे ऊपरके दस या निम्न पाँच लक्षण होते हैं। वस्तुतः नीचेके पाँचमें ही ऊपरके दसों लक्षणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ये दस लक्षण पुराणोंमें व्यापक होते हैं। ऐसा नहीं कि उनके एक अध्याय या स्कन्धमें एक लक्षणका विस्तार हो। इन दस लक्षणोंके अनुसार पूरा ग्रन्थ होता है। दस लक्षणोंके भीतर सृष्टिका समस्त ज्ञान आ गया, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

पुराणोंका वर्तमान स्वरूप

नारदपुराणमें सभी पुराणोंकी विषय-सूची दी गयी है। उपलब्ध पुराणोंमेंसे भविष्यको छोड़कर शेष पुराण उस सूचीसे मिल जाते हैं। सूचीके अनुसार पुराणोंकी श्लोक-संख्या प्रायः कम पड़ती है। जो पुराण प्राप्त हैं, उनमें सूचीके बहुत-से विषय नहीं मिलते। इससे यही जान पड़ता है कि प्राप्त पुराणोंके बहुत अंश लुप्त हो गये हैं। बँगला 'विश्वकोष'के अनुसार महापुराणोंका परिचय इस प्रकार है—

१. ब्रह्मपुराण—इस पुराणकी जो प्रति बंबईसे छपी है, उसकी अपेक्षा विश्वकोषमें दी हुई सूची अधूरी है। इस पुराणमें २४५ अध्याय हैं। किन्हीं पुराणोंके मतसे इसमें १३,००० श्लोक होने चाहिये। यह वैष्णव पुराण है।

२. पद्मपुराण—प्राप्त पद्मपुराणमें चार खण्ड हैं—सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड। इस पुराणके दो संस्करण प्राप्य हैं—गौड़ीय और दाक्षिणात्य। दोनोंकी कथाओंमें कुछ अन्तर है। दोनोंमें समान अध्याय भी नहीं हैं। प्राप्त पद्मपुराणमें ४८,४५२ श्लोक मिलते हैं। 'स्वर्गखण्ड' तथा 'क्रियायोगसार' इसीके भाग बताये जाते हैं। उनको जोड़नेसे छः खण्ड और श्लोक-संख्या ५५,००० हो जाती है। पद्मपुराणसे तीर्थमाहात्म्य, पर्वमाहात्म्यकी बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें पृथक् की गयी हैं।

३. विष्णुपुराण—विष्णुपुराणका बहुत-सा भाग लुप्त हो गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा ब्रह्मोत्तरखण्डको, जो इसके अंश कहे जाते हैं, मिलानेसे इसकी श्लोक-संख्या २६,००० होती है।

७,००० श्लोक फिर भी नहीं मिलते। ब्रह्मगुप्तने ब्रह्मोत्तरसिद्धान्तकी रचनामें विष्णुधर्मोत्तरसे ज्यौतिषका अंश लिया था, पर वह अंश अब पुराणमें नहीं मिलता। बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें विष्णुपुराणकी अङ्गभूत बतायी जाती हैं, पर पुराणमें नहीं हैं। सम्भव है वे लुप्त अंशके भाग हों।

४. शिवपुराण—कुछ लोग शिवपुराण और वायुपुराणको एक ही बतलाते हैं; पर वायुपुराणसे भिन्न शिवपुराण उपलब्ध है और उसमें श्लोक-संख्या भी पूरी है। यह प्रति बंबईमें छपी है।

५. श्रीमद्भागवत—श्रीमद्भागवतकी प्राप्त प्रतियाँ श्रीधरी टीकाके अनुसार प्रमाण मानकर छपी हैं। श्रीधरजीकी टीका जिन श्लोकोंपर है, उनकी संख्या अठारह हजार नहीं है। 'विजयध्वज' की टीकामें जो अध्याय और श्लोक भागवतके बताये गये हैं, वे जोड़ देनेपर श्लोक-संख्या पूर्ण हो जाती है।

६. नारदीयपुराण—इस पुराणकी प्राप्त प्रतिमें १८,११० श्लोक मिलते हैं। शेष ६,८९० श्लोक लुप्त हो गये जान पड़ते हैं। बृहन्नारदीयपुराण उपपुराणोंमें है। नारदीय पुराणके लक्षण प्राप्त पुराणमें मिलते हैं।

७. मार्कण्डेयपुराण—इसमें नौ हजार श्लोक होने चाहिये, पर प्राप्त प्रतिमें केवल ६,९०० श्लोक हैं। बाकी सब बातें नारदपुराणकी सूचीसे मिलती हैं। कुछ चरित नारदसूचीके नहीं हैं। वही अंश लुप्त होंगे।

८. अग्निपुराण—यह पुराण विद्याओंका विश्वकोष है। इसमें कौमारव्याकरण बड़ा सुन्दर संस्कृत-व्याकरण है। वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यकला, साहित्य, दर्शन—सभी इसमें हैं और यह यथावत् प्राप्य है।

९. भविष्यपुराण—भविष्यपुराणकी चार स्थानोंसे प्रकाशित चार प्रतियाँ उपलब्ध हैं। नारदपुराणमें जो विषयसूची है, उससे कहींकी प्रति पूर्णतः नहीं मिलती। इनमेंसे एक प्रति तो नारदपुराणकी सूचीसे सर्वथा भिन्न है। शेष तीनके भिन्न-भिन्न अंश उस सूचीसे मिलते हैं। यदि नारदपुराणकी सूचीसे मिलनेवाले अंश एकत्र किये जायँ तो कदाचित् इस पुराणका कुछ व्यवस्थितरूप उपलब्ध हो। इस पुराणमें नवीन रचना खूब मिलायी गयी जान पड़ती है।

१०. ब्रह्मवैवर्त—यह पुराण नारदीय पुराणके अनुसार ठीक रूपमें उपलब्ध है; पर सावर्णि-नारद-संवाद, ब्रह्मा-वाराह-संवाद एवं ब्रह्मके विवर्तादिकी कथाएँ इसमें नहीं हैं।

११. लिङ्गपुराण—नवलकिशोर प्रेसकी पुस्तक नारदपुराणकी सूचीसे ठीक मिलती है; किंतु इसमें इस पुराणको ईशान-कल्पका बताया गया है और नारदपुराणके अनुसार इसे अग्निकल्पका होना चाहिये। हलायुधने 'ब्राह्मणसर्वस्व' में बृहत्-लिङ्गपुराणका उद्धरण दिया है; पर वह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

१२. वाराहपुराण—यह पुस्तक अधूरी छपी है। इसमें केवल २१८ अध्याय हैं। इनमें दस हजारसे कुछ अधिक श्लोक हैं। प्रकाशकने स्वीकार किया है कि उसे ग्रन्थ अधूरा मिला है। एशियाटिक सोसायटीकी प्रतिमें भी इतने ही श्लोक हैं।

१३. स्कन्दपुराण—इस पुराणमें भारतके प्रायः सभी तीर्थोंका माहात्म्य है। इसकी श्लोक-संख्या अधिक है; परंतु इसका कारण कदाचित् ग्रन्थके संकलनमें हुई आधुनिक भूलें हैं। क्योंकि अनेक स्थल दो बार छपे हैं। इन पुनरुक्तियोंको निकाल देनेपर श्लोक-संख्या ८१,१०० हो जाती है।

१४. वामनपुराण—यह पुराण नारदपुराणमें दी हुई विषय-सूचीसे मिलते हुए रूपमें उपलब्ध है। कुछ श्लोक कम हैं।

१५. कूर्मपुराण—नारदादि पुराणोंमें इसकी श्लोक-संख्या सत्रह हजार बतायी गयी है, पर प्राप्त प्रतियोंमें छः हजारके लगभग श्लोक हैं। डामर, यामल आदि तन्त्रोंमें कुछ भाग इस पुराणके मिले हो सकते हैं; क्योंकि नारदपुराणकी सूचीसे तन्त्रोंके वे भाग ठीक-ठीक मिलते हैं।

१६. मत्स्यपुराण—यह पुराण अपने प्राचीन रूपमें उपलब्ध है, ऐसा प्रायः सभी अन्वेषक मानते हैं।

१७. गरुडपुराण—गरुडपुराणकी पूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं है। बँगला विश्वकोषकारको भी जो ग्रन्थ मिला था, उसमें सात हजार श्लोक कम थे। वर्तमान ग्रन्थ तो एक खण्डमात्र है। इस पुराणका प्रेतखण्ड बहुत प्रचलित है।

१८. ब्रह्माण्डपुराण—इस पुराणकी उपलब्ध प्रतिमें अध्यात्मरामायण तथा ललितोपाख्यान, जो इसीके अंश कहे जाते हैं, मिला देनेसे श्लोक-संख्या पूरी हो जाती है।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश पुराणोंके कुछ अंश ही लुप्त हुए हैं। एक भविष्यपुराण ही ऐसा है, जिसकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो सकता है। इसमें बहुत कुछ बढ़ाया गया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त शेष सब पुराण नारदपुराणकी विषय-सूचीसे प्रायः मिलते हैं।

अतः पुराणोंके वर्तमान प्राप्त रूप प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

पुराणोंमें वर्णन-भेदके कारण

अथर्ववेदमें आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

(११।४।२४)

छान्दोग्य उपनिषद्‌का मन्त्र है—

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(७।१।१-२)

इस प्रकार अनादि अपौरुषेय श्रुतिमें पञ्चम वेद कहकर जिस इतिहास-पुराणकी चर्चा की गयी है, वह अनादि एवं अपौरुषेय ही होगा। उस ईश्वरीय ज्ञानका एक ही रूप होना चाहिये। पुराणोंमें एक ही कथा बार-बार आती है। किसी पुराणमें ब्रह्माजीको, किसीमें शक्तिको, किसीमें शिवको, किसीमें विष्णुको सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि माना है। यह भेद अपौरुषेय ज्ञानमें क्यों होना चाहिये?

गृह्यसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि पुराण कभी एक ग्रन्थ नहीं थे। इनमें सदा बहुवचनमें पुराणोंका वर्णन है। अतः पुराण अनेक सदासे थे। वर्तमान पुराणोंमें कल्पभेदसे इतिहासादिमें जो अन्तर पड़ता है, उसका स्पष्टीकरण हुआ है। किन्हीं दो पुराणोंमें प्रायः एक कल्पकी कथा नहीं है। पुराणोंमें भिन्न-भिन्न कल्पोंके चरित हैं। प्रत्येक कल्पकी सृष्टि किसी एक ही नित्यलोकके सान्निध्यसे नहीं होती। किसी कल्पमें किसी नित्यलोकसे सृष्टि-प्रवाह चलता है और किसीमें कहींसे। जिस कल्पमें जिस नित्यलोकसे सृष्टिप्रवाह प्राप्त होता है, उस कल्पमें उस लोकके अधिष्ठाताकी प्रधानता होती है। उस कल्पका वर्णन करनेवाला पुराण उसी अधिष्ठाताकी प्रधानताका स्वभावतः वर्णन करेगा। इस प्रकार आदिमें भी जो पुराण रहे होंगे, उनमें इसी प्रकार कल्पभेदोंके चरित तथा अधिष्ठाताओंका वर्णन होगा। भगवान् व्यासने पुराणोंकी संख्या और उनके वर्णन अपनी ओरसे नहीं बदले। बदलना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि जिस वेदार्थको स्पष्ट करनेके लिये अपौरुषेय पुराण थे, उन्हें बदला कैसे जा सकता है। सच्चा इतिहास कोई अपने शब्दोंमें भले लिख दे, पर उसमें बदलनेको क्या होता है।

वेदोंमें सभी अधिकारियोंके लिये साधन हैं। मनुष्यमात्रको उसके अनुरूप आध्यात्मिक मार्ग प्राप्त होना चाहिये। सबके स्वभाव एक-से नहीं हो सकते। अतएव सबके अधिकार भी एक-से नहीं हो सकते। ईश्वरीय ज्ञानमें किसीके लिये साधन न हो, यह शक्य नहीं। पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार होनेसे उन साधननिष्ठाओंका परिपाक हुआ है। कोई पुराण शैव निष्ठाका, कोई वैष्णव निष्ठाका, कोई सौर, कोई शाक्त, कोई ब्राह्म तथा कोई गाणपत्य निष्ठाका परिपाक करता है। जिस पुराणमें जिस कल्पका वर्णन है, उसमें उस कल्पकी सृष्टि जिस दिव्य लोकसे उद्भूत हुई है, उसके अधिष्ठाताकी प्रधानता तथा उनकी उपासनाका समर्थन, पोषण, वर्णन है। ये सभी अधिष्ठाता एक ही भगवान्‌की विभिन्न लीला-अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पुराणोंमें न तो पुनरुक्ति हुई है और न उनकी यह संख्या तथा आकार मूल ईश्वरीय अपौरुषेय रूपसे भिन्न ही है।

पुराणोंकी उपासना-पद्धति

पुराणोंका मुख्य विषय अवतारवाद तथा देवोपासना है। वेदोंके समस्त मन्त्रोंका यज्ञमें विनियोग होना चाहिये, यह श्रुतिका मत है। यज्ञका अर्थ उपासना ही होता है। यज्ञमें देवाराधन ही किया जाता है। पुराणोंमें वेदोंकी उपासना, जो वहाँ परोक्षरूपसे वर्णित थी, विस्तृत एवं स्पष्ट हुई है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्—इन सबमें अवतारोंके पूरे चरित आ जाते हैं। ब्राह्मणादि भागोंको छोड़ दें, तो भी मूल-संहिताओंमें सभी अवतार-चरित हैं। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण-चरितको ले लीजिये—

'स्तोत्रं राधानां पते'　(ऋग्वेद १।३०।५)

'त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।'

(ऋग्वेद ३।१५।३)

'गवामप व्रजं वृधि'　(ऋग्वेद १।१०।७)

आधुनिक अन्वेषक कहते हैं कि श्रीकृष्ण-चरितमें श्रीराधाकी कल्पना जयदेवने की। श्रीमद्भागवतमें यह नाम न देखकर उन्हें यह भ्रम होता है; पर भागवतकारने व्रजकी किसी गोपीका नाम नहीं दिया। मूल-संहितामें श्रीराधाजीका नाम तो है ही, उनके पिता वृषभानुजीका नाम भी है; व्रजका वर्णन भी है। इस प्रकार दूसरे अवतार-चरित भी हैं।

पुराणोंमें शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु और सूर्यकी उपासनाओंका विस्तृत वर्णन है। वेदोंमें पुरुषसूक्त तथा रुद्राष्टाध्यायी प्रसिद्ध अंश हैं। इनके अतिरिक्त भी इन भगवद्विग्रहों-

के नाम, रूप तथा लीलाओंका वर्णन है। पुराणोंमें सूर्य, अग्नि, वायु—इन वैदिक देवताओंके पुराण ही हैं। ऐसे एक भी देवताका वर्णन पुराणोंमें नहीं है, जिसका नाम मूल-संहितामें न हो।

वैदिक अवतारचरित तथा देववर्णन उसी प्रकार पुराणोंमें स्पष्ट हुआ है, जैसे वैदिक इतिहास स्पष्ट हुआ है। अतएव वेदोंके चरितोंसे पुराणोंके चरितोंमें कुछ भिन्नता प्रतीत हो सकती है। वेदोंमें नित्यचरित है, सृष्टिके चरितकी रूपरेखा-मात्र है। पुराणोंमें एक-एक कल्पके चरित हैं। कल्पभेदसे चरितोंमें बहुत कुछ अन्तर भी पड़ा है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पुराने समयमें जिसकी जो निष्ठा होती थी, वह उसीके अनुरूप पुराणको पढ़ता था और वैसा ही आचरण करता था। दूसरे पुराणोंसे उसे कोई मतलब नहीं था। इसका प्रमाण यह है कि बालिद्वीपमें सब शिवोपासक हैं। वे अबतक ब्रह्माण्ड-पुराणको ही एकमात्र पुराण जानते हैं। शेष सत्रह पुराणोंका उन्हें पता नहीं है। इस पुराणको वे अत्यन्त गुह्यशास्त्र मानते हैं, आज अधिकार एवं निष्ठामें विपर्यय होनेसे ये विविध भ्रान्त आक्षेप उठते हैं।

पुराणोंके विचित्र वर्णन

पुराणोंका सबसे अद्भुत भाग है उनके विचित्र वर्णन—दो, तीन, दस मस्तकोंके मनुष्य, सहस्रतक भुजाएँ, सहस्रतक नेत्र। इस प्रकारकी आकृतियोंके साथ कुम्भकर्ण-जैसी दीर्घाकृतियोंको भी गिन लेना चाहिये। आकृतिके अतिरिक्त रीछ, वानर, नाग आदि जातियाँ और इनके मनुष्योंसे सम्बन्ध—ये ऐसी बातें हैं, जिन्हें आजकलके लोग सत्य नहीं मानते। उनके मतमें ये कल्पनाएँ हैं या रूपक हैं।

पुराणोंके अनुसार द्वापरतक अतिरिक्त हाथ, पैर, नेत्र, सिरोंके लोग होते थे। समाजमें इनकी संख्या सत्ययुगमें बहुत अधिक थी, पीछे बराबर घटती गयी। इतना होनेपर भी महाभारतके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उस समयतक भी समाजमें ऐसी आकृतिका पुरुष होना आश्चर्यकी बात नहीं समझी जाती थी। शिशुपालके जन्मके समय चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। बहुत दिनोंतक वह इसी अवस्थामें रहा। माता-पिताको इससे कोई आश्चर्य न हुआ। आज भी विचित्र बच्चोंके उत्पन्न होनेके समाचार आते हैं। बेल्जियमकी एक कब्रके पत्थरपर एक महिलाके एक साथ ३६० बच्चे होनेकी बात तारीखके साथ खुदी है। ऐसे बच्चोंके समाचार भी पत्रोंमें छपते हैं, जो उत्पन्न होते ही बोलने-चलने लगते हैं। प्रकृति अब इतनी विपरीत हो गयी है कि ऐसे बालक जीवित नहीं रहते। प्रकृतिमें कितनी विशेषताएँ हैं, यह मनुष्यकी बुद्धिसे परेकी बात है। शास्त्रोंमें सर्वज्ञ महर्षियोंने जो कुछ कहा है, वह अक्षरशः सत्य है। उसमें न तो रूपक है और न कल्पना ही।

राक्षस, रीछ, वानर, नाग जातियोंका जहाँ पुराणोंमें वर्णन आता है, उस अंशका अर्थ आजके विद्वान् करते हैं कि ये मनुष्योंकी जंगली तथा असभ्य जातियाँ थीं; लेकिन पुराणोंके वर्णन बतलाते हैं कि ये सुसभ्य, उन्नत, पठित लोग थे। वाल्मीकीय रामायणमें किष्किन्धाके लिये कहा गया है—

प्राप्ताः स्म ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।

'वालीकी राजधानीमें ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा वह पुरी शतघ्नी आदि यन्त्रोंसे रक्षित थी।' यह और दूसरे वर्णन भी बतलाते हैं कि ये जातियाँ सुपठित, चतुर, बुद्धिमान् थीं।

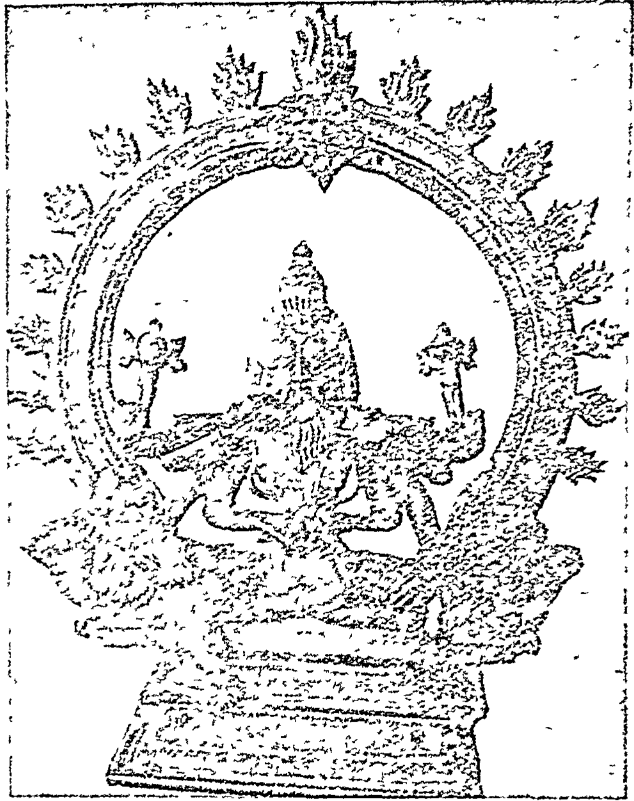
जहाँ भी पुराणोंमें इन जातियोंका वर्णन है, वहाँ ये विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

१—ये सब जातियाँ कामरूप थीं अर्थात् इनके लोगोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी।

२—इनकी स्त्रियाँ साधारण मानवी स्त्रियों-जैसी और सुन्दरी थीं तथा इनका मनुष्योंसे वैवाहिक सम्बन्ध होता था। मनुष्योंकी स्त्रियाँ इनके यहाँ और इनकी मनुष्योंके यहाँ ब्याही जाती थीं।

३—इन जातियोंके केवल पुरुष ही रीछ, वानर, सर्प या राक्षसोंके आकारके थे। इन आकारोंमें भी वे वस्त्रादि पहनते थे; पर उनका आचार इन पशुओंका-सा था।

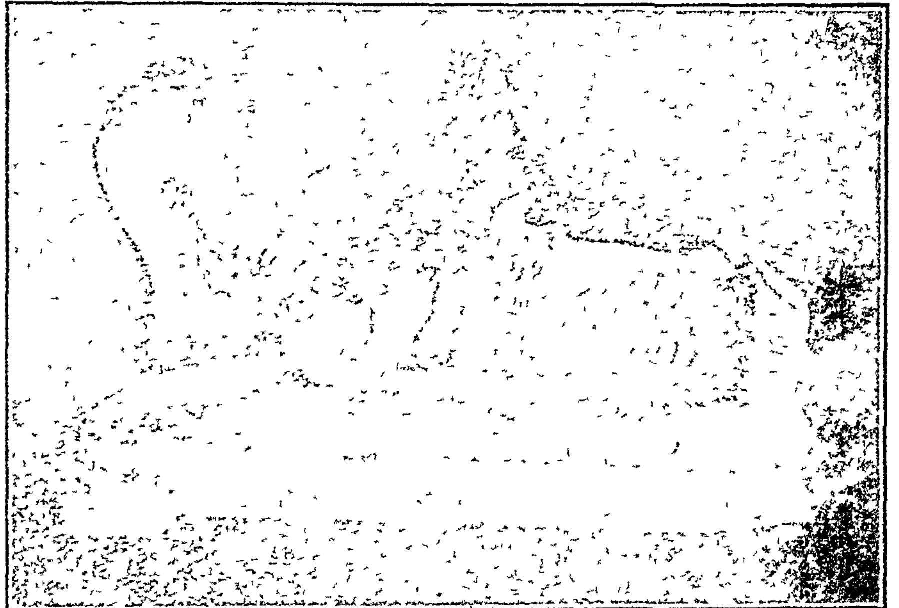
इन बातोंसे यही परिणाम निकलता है कि कुछ ऐसी मानव-जातियाँ थीं, जिनमें पुरुषोंकी आकृति पशुविशेषसे मिलती थी—जैसे वानरोंके पूँछें और नागोंके विषदन्त थे। इन जातियोंके पुरुषोंको उन पशुओंके आचार प्रिय थे और कामरूप होनेके कारण वे प्रायः उन पशुओंके ही आकारमें रहते थे। वैसे वे सुसभ्य मानव थे। कालक्रमसे उन जातियोंमें इच्छानुसार वेष बदलनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। मनुष्योंके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध बढ़ता गया, इससे उनकी आकृतिगत विशेषता भी नष्ट हो गयी। वे पूरे मनुष्य हो गये। द्वापरके अन्तमें इन जातियोंके जाम्बवन्त, द्विविद, उलूपी आदि गिने-चुने व्यक्ति बच गये थे। अब तो



स्थाणु नरसिंह (कांस्यमूर्ति, मद्रास-संग्रहालय)



गान-गोपाल (प्रस्तरमूर्ति, हलेविद)

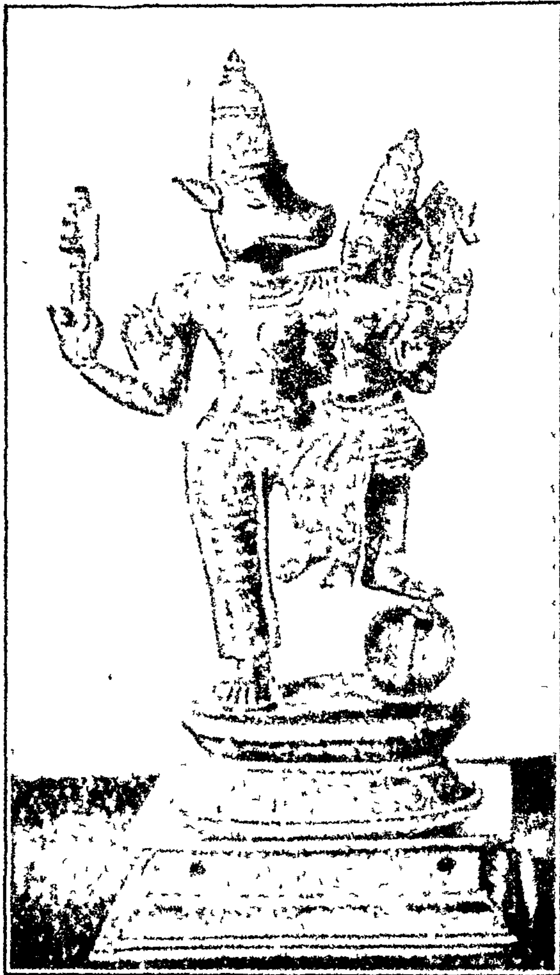


योगशयन मूर्ति (हाथीदाँत, त्रिवेन्द्रम्)

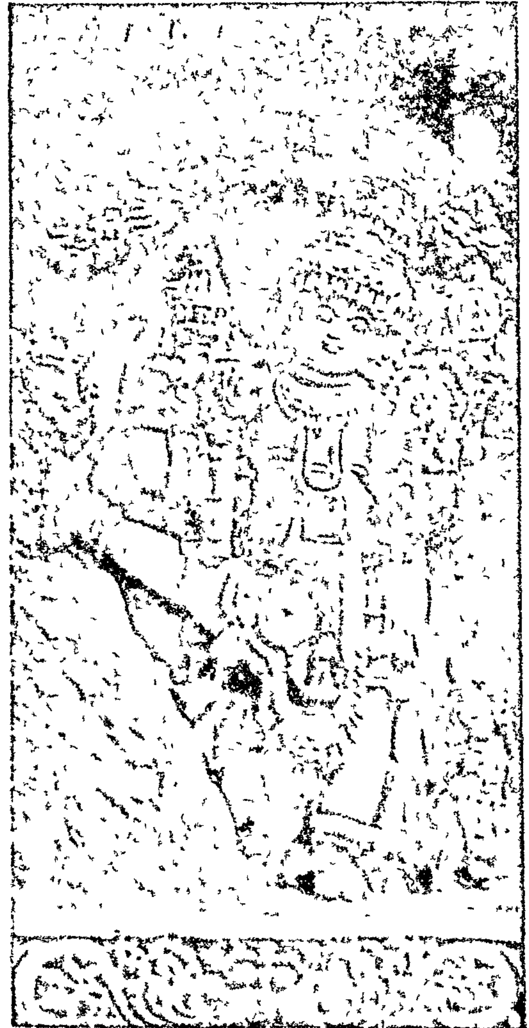
[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे



२१ हयग्रीव (प्रस्तर-मूर्ति, नुग्गेहल्ली)



पृथ्वीयुक्त वाराह (कांस्य-मूर्ति, मद्रास)



त्रिविक्रम (प्रस्तरमूर्ति, नुग्गेहल्ली)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

केवल उनके वंशज मनुष्य हैं। मध्यप्रान्त तथा दक्षिण भारतमें अनेक जातियोंके गोत्र वानर, रीछ आदि हैं और नागगोत्रीय आसामकी नागा जाति तो प्रसिद्ध ही है।

पुराणोंका इतिहास

आजके विद्वान् बड़ी सरलतासे कह देते हैं कि 'भारतीय लोग ठीक-ठीक इतिहास लिखना नहीं जानते थे। पुराणोंमें प्राप्त इतिहास बहुत अस्त-व्यस्त है।' लेकिन वे नहीं सोचते कि इतिहासमें प्रत्येक मानवके चरितका वर्णन सम्भव नहीं है। आज भी जिन जातियोंके इतिहास प्राप्य हैं, उनमें राजा, राजकुल, प्रसिद्ध विद्वान् तथा मुख्य-मुख्य राजनैतिक पुरुषोंके ही वर्णन हैं। इतिहासका उद्देश्य प्रत्येक घटनाका संग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य केवल उन घटनाओंका वर्णन करना है, जो समाज और संस्कृतिको प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त जिन जातियोंके इतिहास कुछ ही सौ वर्षोंके हैं, उनके लिये राजाओं, मन्त्रियों, राजनैतिकों, विद्वानोंका पूरा वर्णन रखना सम्भव और स्वाभाविक भी है; परंतु भारतीय सभ्यता तो करोड़ों वर्ष पुरानी है। यहाँका पूरा इतिहास लिखा गया होता तो क्या दशा होती, यह स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़के शब्दोंमें सुनना ठीक है—

'भारतका इतिहास इतना प्राचीन है कि यदि आदि-कालसे आजतकका इतिहास वर्तमान होता और अत्यन्त संक्षेपसे लिखा जाता और सौ-सौ बरसके लिये केवल एक पृष्ठ लिखा जाता तो एक करोड़ छानवे लाख छिआसी हजार चार सौ इकतीस पृष्ठ होते। यदि एक हजार पृष्ठकी एक जिल्द होती तो उन्नीस हजार छः सौ आठ मोटी-मोटी जिल्दें होतीं। यदि एक पृष्ठमें पचीस पङ्क्ति मान लें और यह भी मान लें कि कोई एक मिनटमें एक पृष्ठ पढ़ लेगा और पाँच घंटे रोज लगातार पढ़ना मान लें तथा यह भी मान लें कि महीनेमें पचीस दिन पढ़ना ही होगा तो पूरे ग्रन्थको पढ़नेमें दो सौ सत्रह वर्ष लगेंगे। इतनी लंबी परम्पराका उस प्रकारका इतिहास होना असम्भव है, जिस तरहकी इन परम्पराहीन राष्ट्रोंकी कल्पना है; और हो भी तो इस युग और संसारके लिये नितान्त निरर्थक है।…………घटनाएँ तो प्रकृतिमें एक ही प्रकारकी बार-बार घटती रहती हैं। इतिहास अपनेको बार-बार दोहराता है।………सब प्रकारकी घटनाओंको बारंबार दोहरानेके बदले एक भारी महत्त्वकी घटनाको देकर एक सूत्र (नियम) निर्धारित कर देना पर्याप्त है।'

पुराण, इतिहास आदिमें मुख्य घटनाएँ देकर सूत्र ही निर्धारित हुआ है। इस सूत्रको निश्चित रूपमें स्पष्ट करनेके लिये प्रत्येक कल्पकी विभिन्नताको स्पष्ट करना पड़ा है। यह करनेमें भी पुराणोंमें एक ही प्रकारकी घटनाओंकी पुनरावृत्ति है। यद्यपि यह पुनरावृत्ति उनके भेदको—अन्तरको बतानेके लिये है; फिर भी यदि सम्पूर्ण घटनाका वर्णन होता तो कितनी निरर्थक पुनरावृत्ति होती, यह इससे समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पुराणों तथा दूसरे शास्त्रोंसे इतिहास प्राप्त करते समय आजके अन्वेषक यह भूल जाते हैं कि सब ग्रन्थोंकी घटनाएँ एक ही कालकी नहीं हैं। सबको एक साथ मिला देनेसे भ्रममें पड़ना ही पड़ेगा। जो घटना जिस कल्पकी है, जो जीवन-गाथा जिस कल्पमें वर्णित है, उसे वहीं रखकर विचार करना चाहिये। एक ही कल्पके दो ग्रन्थोंके वर्णन तो मिलाकर देखे जा सकते हैं; परंतु विभिन्न कल्पोंकी घटनाओं, चरितों, नियमोंमें सामञ्जस्य ढूँढ़ना व्यर्थ है। बैलका सींग घोड़ेके सिरपर रखकर संसारमें वैसा पशु ढूँढ़ना जैसे बुद्धिमानी नहीं, वैसा ही यह कार्य भी है।

पुराणोंके इतिहासको देखने समय हमें इतिहाससम्बन्धी भारतीय परिभाषाको भी ध्यानमें रखना ही चाहिये। आज तो इतिहासका अर्थ है व्यक्तिके जन्म-मरणकी तिथि लिखकर घटनाओंको निश्चित उद्देश्यके रंग-रूपमें उपस्थित करना; निश्चित उद्देश्यके जो चरित समर्थक न हों, वे कितने भी महत्त्वपूर्ण हों, उन्हें छोड़ देना। भारतमें अंग्रेजोंने जो इतिहासके पाठ्य-ग्रन्थ रक्खे, वे उनके लाभकी दृष्टिसे थे। अब इतिहास 'नये' दृष्टिकोणसे बनाया जा रहा है; किंतु भारतीय 'इतिहास' की निश्चित परिभाषा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥
(महाभारत)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशसहित तथा प्राचीन चरितोंसे युक्त ग्रन्थको इतिहास कहा जाता है।'

आर्यादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक्॥

विष्णुपुराणकी टीकामें श्रीधराचार्यजीने यह श्लोक उद्धृत किया है। इसके अनुसार ऋषियोंद्वारा कहे गये नाना उपदेश, देवता तथा ऋषियोंके चरित तथा अद्भुत धर्म-कथाओंवाला ग्रन्थ इतिहास कहलाता है।

इस परिभाषाको दृष्टिमें रखते हुए यह स्मरण रखना

चाहिये कि पुराणोंका इतिहास देवलोक एवं मर्त्यलोकका सम्मिलित इतिहास है। देवलोकादिके सम्बन्धमें विवेचनका यहाँ स्थान नहीं; किंतु इतना जान लेना चाहिये कि जैसे आवागमनके साधनोंने आज यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसी महत्त्वपूर्ण घटना या व्यक्तिका इतिहास आज एक देशमें सीमित रहना शक्य नहीं, उसका कोई-न-कोई अंश दूसरे देशोंसे सम्बन्धित हो जाता है और तब वहाँकी भी सम्बन्धित घटना दिये बिना इतिहास पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार सत्ययुगसे द्वापरके अन्ततक मनुष्यका देवलोकसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य देवलोककी सशरीर यात्रा कर आते थे। फलतः इतिहासमें पृथ्वी और देवलोकका मिला-जुला वर्णन है। इस भेदको न समझकर पूरा इतिहास भूमिपरका मानकर जो देवताओंको भी राजा या व्यक्तिविशेष माननेका प्रयत्न करते हैं, वे घटनाओंका समाधान न पाकर उन्हें कल्पित कहने लगते हैं। आज मानव हीनवीर्य, हीनशक्ति, हीनसंकल्प हो गया है। अतः वह देवलोककी स्थितिको ही सोच नहीं पाता; किंतु भारतीय केवल पाँच सहस्र वर्ष पूर्वतक उस दिव्यलोकके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें रहे हैं। पुराणोंके इतिहासको यह समझकर ही देखनेसे ठीक तात्पर्य ज्ञात होगा।

एक बात यहाँ और स्मरण रखनेकी है कि भारतीय पौराणिक इतिहास या भूगोलमें वर्णन तो समस्त विश्वका है, परंतु घटना-विस्तारादि केवल भारतवर्षका ही है। दूसरे देशोंमें यहाँके लोग गये, युद्धोंमें वहाँके नरेश सेना लेकर सम्मिलित हुए—यह सब वर्णन है; परंतु घटनाएँ, कुल-परम्परादिका सविस्तर वर्णन केवल भारतका ही है। इसी प्रकार भूगोलके सम्बन्धमें वर्णन पूरे ब्रह्माण्डका है; किंतु विस्तृत वर्णन भारतका ही है। इसके दो कारण हैं। भारतसे ही विश्वमें मानव-समाज और सभ्यताका विस्तार हुआ। अतएव भारतके पूर्ण वर्णनसे सबके वर्णन आ जाते हैं। दूसरा कारण यह कि भारत ही पुण्यभूमि है। लौकिक वर्णन ऋषियोंको अभीष्ट नहीं था। वे केवल पुण्यतीर्थों और पुण्यपुरुषोंका वर्णन ही करना चाहते थे। यह बात केवल भारतमें ही उपलब्ध थी।

इतिहासके सम्बन्धमें पुराणोंकी दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घजीवन, दीर्घ आकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी लोगोंको उलझनमें डालती हैं। दीर्घायुके सम्बन्धमें तो कुछ कहना है नहीं। मनुष्य उत्तरोत्तर अल्पजीवी होता जा रहा है। समाचारपत्रोंमें नौ, दस तथा पाँच वर्षकी लड़कियोंके सन्तान होनेकी बातें छप चुकी हैं। आज भी डेढ़ सौ वर्षके व्यक्ति उपलब्ध हैं और तब भी समाजमें साठ-सत्तर वर्ष लंबी आयु मानी जाती है। जब सौ-पचास वर्षोंमें यह स्थिति है, तब लाखों वर्ष पूर्व क्या स्थिति रही होगी—यह श्रद्धापूर्वक अनुमान तो किया जा सकता है; लेकिन ह्रास होता है, यह देखकर भी कुतर्क करनेवालेको सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। आकृतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। हम प्रत्येक देशमें देख रहे हैं कि मनुष्य खर्वाकार होते जा रहे हैं। यूरोपमें पुराने मनुष्योंकी जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आजके मनुष्यकी खोपड़ीसे लगभग ढाईगुनी बड़ी हैं। कुछ देशोंमें मनुष्यके सुरक्षित शरीर भी मिले हैं। दिल्लीके पास ही एक मानव-खोपड़ी मिली थी, जिसके नेत्रोंके छिद्रोंसे आजके मनुष्यका सिर सरलतासे निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझमें भले न आयें, किंतु बुद्धिके बाहरकी नहीं हैं। उनकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है।

संख्याके सम्बन्धमें आजकी यह मान्यता कि मनुष्यकी जन-संख्या पहलेसे बढ़ी है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। आज जिसे पृथ्वी कहा जाता है, वह केवल क्षारसमुद्रसे घिरा पृथ्वीका लगभग सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। इसमें भी अफ्रिकाके वन, सहारा और मध्य एशियाके मरुस्थल तथा दक्षिणी ध्रुवप्रदेश किसी समय उन्नत नगरोंसे पूर्ण थे। वहाँ सभ्यताके अवशेष मिल रहे हैं। आज जिन्हें हम महासागर कहते हैं, जिन्होंने पृथ्वीका तीन-चतुर्थांश डुबा दिया है, वे पहले थे ही नहीं। यह सिद्ध हो गया है कि अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और यूरेशिया (यूरोप-एशिया) कभी मिले हुए थे। यह एक ही भूखण्ड था। इनके मध्यमें समुद्र नहीं था। इन सभी समुद्रोंके नीचे जल-मग्न पर्वतश्रेणियाँ हैं। कहीं-कहीं नगरोंके ध्वंसावशेष हैं, जैसे जापानके दक्षिण-पूर्व। ये पर्वतश्रेणियाँ, जो जलमग्न हैं, भूमिकी पर्वतश्रेणियोंसे सम्बद्ध हैं। अतः पहले जब यह पूरा जम्बूद्वीप आजकी पृथ्वी तथा सागरके साथ जनपूर्ण था, मनुष्योंकी संख्या बहुत अधिक थी।

पुराणोंका भूगोल

सबसे बड़े आक्षेप हैं पुराणोंके भूगोलवर्णनको लेकर। सात द्वीप, सात सागर, सुमेरु, शेषके मस्तकपर अचलरूपसे स्थित पृथ्वी तथा सूर्यके द्वारा उसकी प्रदक्षिणा—ये सब वर्णन ऐसे हैं, जो नितान्त मिथ्या माने जाते हैं। यह समझा जाता है कि विज्ञानने इन बातोंकी खोज कर ली है और वैज्ञानिकोंके निर्णय

ही सत्य हैं। पर सत्य बात तो यह है कि वैज्ञानिक भी अँधेरेमें टटोल रहे हैं अबतक। एक पृथ्वीकी आकृतिको ही लीजिये। पृथ्वीका आकार कैसा है? झटसे कोई भी कह देगा कि नारंगीके समान गोल; लेकिन वैज्ञानिकोंके लिये अब इसका उत्तर बहुत टेढ़ा हो गया है। उनके सामने नीचेकी बातें विकट प्रश्न खड़ा करती हैं—

१—हवाई-जहाज जब बहुत ऊपर उड़ जाता है, तब वहाँसे पृथ्वी उन्नतोदर न दीखकर नतोदर दिखलायी पड़ती है। हवाई जहाजसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकोद्वारा लिये गये चित्रोंमें भी पृथ्वीका चित्र नतोदर आता है।

२—जैसे समुद्रमे जहाजका मस्तूल (ऊपरी भाग) पहले दिखलायी पड़ता है और शेष भाग क्रमशः दीखता जाता है, वैसी बात सपाट मरुस्थलमे नही होती। वहाँ दूरपर आता हुआ ऊँटपर बैठा व्यक्ति धुँधला पर ऊँटके साथ पूरा ही एक साथ दिखलायी पड़ता है। अतः समुद्रमे पानीके कारण प्रकाशकिरणें तिरछी हो जाती हैं, जहाजके क्रमशः दिखलायी पड़नेका यह कारण होना चाहिये।

३—कर्क-रेखापर देशान्तर-रेखाका एक अंश लगभग ४० मीलकी दूरी रखता है और मकर-रेखापर लगभग ७५ मील। आगे यह दूरी देशान्तर-रेखाओंकी घटती नही, कुछ बढ़ती ही जाती है।

४—भूमध्य-रेखासे ४० अक्षांश उत्तरपर उषःकाल ९० मिनटका होता है और ४० अक्षांश दक्षिणपर केवल ५ मिनटका।

५—एक चन्द्रग्रहण ३० अगस्त सन् १९०५ को लगा था। यह कनाडा (उत्तरी अमेरिका), साइबेरिया (उत्तरी एशिया) तथा मिस्र (उत्तरी अफ्रिका) से साथ-साथ देखा गया।

६—दक्षिणी अक्षाश ७० पर शेटलैंड द्वीपमे वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन १९ घंटे ५३ मिनटका होता है; किंतु उत्तरी अक्षाश ७० पर नार्वेके हेमरफास्ट स्थानपर वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन पूरे तीन महीनेका होता है।

७—उत्तरी ध्रुवके यात्री बतलाते हैं कि वायुके दबावके कारण वहाँ ५० सेर भार कठिनतासे उठाया जा सकता है और बंदूकका शब्द २० फुटतक किसी प्रकार सुना जा सकता है; परंतु दक्षिणी ध्रुवमे गये यात्री कहते है कि वहाँ २०० सेर भार सरलतासे उठाया जा सकता है और पिस्तौलका शब्द तोपकी गर्जनाकी भाँति गूँजता है।

८—कहा जाता है कि कैप्टेन जे० रोस दक्षिणी ध्रुवमें पर्याप्त भीतरतक गये। उन्होंने लिखा है कि उन्होंने वहाँ एक बर्फकी दीवाल देखी। उसकी चौड़ाई अज्ञात है। उसका ऊपरी भाग पूरा समतल था और उसमे एक भी गड्ढा या दरार नहीं थी। उसके सहारे पृथ्वीके चारों ओर घूमनेका उन्होंने प्रयत्न किया। वर्तमान नकशोके अनुसार वहाँ पृथ्वीकी परिधि दस हजार आठ सौ मील होनी चाहिये, परन्तु चालीस हजार मीलकी यात्रा करके भी वे उस हिमभित्तिकी परिक्रमा न कर सके। उन्हे लौटना पड़ा।

९—पृथ्वी भी दूसरे ग्रहोंके समान एक ग्रह है। यह स्पष्ट है कि चन्द्रमाका सदा एक ही भाग पृथ्वीसे दिखायी पड़ता है। लिये हुए चन्द्रमाके चित्र यही बतलाते है। यदि चन्द्रमा अपनी धुरीपर चारो ओर घूमता तो उसका दूसरा भाग भी कभी-न-कभी पृथ्वीके सामने आता। इसी प्रकार पृथ्वी भी यदि ग्रह है तो उसका भी एक ही भाग चन्द्रमा या सूर्यके सम्मुख रहना चाहिये। वह धुरीपर घूमनेवाली नहीं हो सकती।

ये तो बड़े-बड़े प्रश्न हैं, जो सबकी समझमे आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त नहरोंकी गोलाई, हवाई जहाजकी यात्रापर पृथ्वीकी गति और गोलाईका प्रभाव, ज्वार-भाटा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले सूक्ष्म गणितके बहुत-से प्रश्न हैं, जो पृथ्वीको गोलाकार सिद्ध नहीं करते। वैज्ञानिकोंका कहना है 'भूमध्य-रेखा पृथ्वीकी वास्तविक मध्यरेखा नहीं है। देशान्तर-रेखाएँ उत्तरी ध्रुवकी ओर संकुचित तथा दक्षिणकी ओर फैलती जाती हैं। पृथ्वी केन्द्रकी ओर सिकुड़ी और ऊपर फैली है।' इसका स्पष्ट अर्थ है कि पृथ्वी नतोदर है। वह तश्तरीके समान गहरी है और नीचे केन्द्रमे सिकुड़ी है।

पद्मपुराणके अनुसार पृथ्वीकी आकृति खिले पद्मके समान है। उसकी कर्णिकापर सुमेरु पर्वत है और उसपर ब्रह्माजी हैं। नियम यह है कि जैसा ब्रह्माण्ड, वैसा ही पिण्ड; जैसा सौरमण्डल, वैसे ही परमाणु बनावटमे होते है। इस नियमके अनुसार पृथ्वीकी आकृतिके ही सातो द्वीप होने चाहिये। हमारे जम्बूद्वीपकी आकृति भी कमलके समान हुई। नीचे केन्द्रमे संकुचित, ऊपर फैलता नतोदर आकार कमलका होता है। यही बात वैज्ञानिक भी कहते हैं। सातो द्वीप एक दूसरेके ऊपर पंखुड़ियोंके मण्डलकी भाँति है। उनके मध्यमे समुद्र हैं। जम्बूद्वीप अपने द्विगुणित विस्तारवाले समुद्रसे घिरा है। यह जम्बूद्वीपको घेरनेवाला क्षार समुद्र अपने द्विगुणित विस्तारवाले द्वीपसे घिरा है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप क्षार समुद्र, प्लक्षद्वीप इक्षुरससागर, शाल्मली द्वीप सुरासमुद्र, कुशद्वीप घृतसमुद्र, क्रौंचद्वीप क्षीरसमुद्र, शाकद्वीप दधिसमुद्र, पुष्करद्वीप निर्मल जल-सागर—ये क्रमशः एकसे दूसरे दुगुने बड़े हैं और एक दूसरे-को घेरे हुए हैं। अन्तिम पुष्करद्वीपको छोड़कर शेष छः द्वीपोंमें सात-सात मुख्य भाग, सात-सात मुख्य पर्वत और सात-सात बड़ी नदियाँ हैं।

भूगोलका यह वर्णन ठीक कमलके समान है। मध्यमें पुष्करद्वीप कर्णिकाकी भाँति है। इसीपर सुमेरु प्रतिष्ठित है। प्रत्येक दल-मण्डलके मध्यमें सागर है। प्रत्येक दल-मण्डलमें सात-सात दल हैं। केवल कर्णिकाका द्वीप एक है। प्रत्येक कमलदलमें सात पर्वत (उनके उन्नत अग्रभाग-के समान) और सात नदियाँ (उनके दलोंकी मुख्य नाड़िकाके समान) हैं। यह तो मुख्य वर्णन है। इसमें अनेक छोटे पर्वत तथा नदियाँ होंगी। भूमिमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। पुराणोंने ऐसे परिवर्तनोंका बहुत स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। वहाँ भूगोलवर्णनमें भूमिकी नित्य आकृतिका वर्णन है। किसी द्वीपमें भूमिसम्बन्धी परिवर्तन नहीं होगा, ऐसी बात वहाँ कहीं नहीं कही गयी। इस जम्बूद्वीपमें ही तीन-चौथाई भाग डूब गया और बाहरी क्षारसमुद्र वहाँ फैल गया है, यह हम देखते ही हैं। ऐसी दशामें हम जम्बूद्वीप-में वे ही सात पर्वत और सात नदियाँ कैसे पा सकते हैं। यहाँ तो इतना बड़ा परिवर्तन हो चुका।

अबतक समुद्री या हवाई जहाजसे पृथ्वीके चारों ओर केवल पूर्वसे पश्चिम या पश्चिमसे पूर्वकी ओर ही घूमा जा सका है। यह घूमना ऐसा ही है, जैसे कुएँमें मेढक एक चक्कर लगा लेता है। कमलाकार पृथ्वीके भीतर ऐसा ही चक्कर सम्भव है। गोल पृथ्वी हो तो उसके उत्तरसे दक्षिण भी चक्कर लगाना सम्भव होना चाहिये। यह काम तभी सम्भव हो, जब उत्तरी या दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार किया जा सके—विशेषतः दक्षिणी-ध्रुव देश। अभीतक कोई ध्रुव-देश पार नहीं किया जा सका और न उसकी सम्भावना ही है। उत्तरी ध्रुवदेशको पार करनेपर कदाचित् इस भूकमलकी कर्णिका मिल सके। दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार करके हम उत्तरी गोलार्ध-में पहुँच जायँगे, यह नितान्त भ्रमपूर्ण कल्पना है। हमें एक अन्धकारपूर्ण क्षार-सागर मिलेगा और यदि किसी प्रकार पृथ्वीसे द्विगुण विस्तारका वह समुद्र पार किया जा सके तो हम प्लक्षद्वीपमें पहुँच सकेंगे।

हम आज जिसे पृथ्वी कहते हैं, यह पृथ्वीका सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। अबतक हमें इसका भी पूरा पता नहीं है। सहाराके रेगिस्तान, अफ्रिकाके जंगल, हिमालयका पर्वतीय भाग, दोनों ध्रुव-देश, समुद्र—अभी सब अज्ञात हैं। इतनेपर भी हम पौराणिक भूगोलका उपहास करने बैठते हैं। अभी तो ध्रुव-प्रदेशके बाहर वास्तविक क्षारसमुद्र है। ये समुद्र तो यहाँ द्वीपके भागमें भर आये हैं। ऐसी स्थितिमें वैज्ञानिक ज्ञान वैसा ही है, जैसे किसी जंगली ग्रामके पाँच, सात वर्षके बालककी विश्वके सम्बन्धमें धारणा। सुमेरु, क्षीरसागर और पृथ्वीके आधार भगवान् शेषको पानेके लिये अभी मण्डूकबुद्धि मानवको इस कूपसे निकलनेमें बहुत विलम्ब है। अभी तो वह इतना भी कठिनतासे समझ पा रहा है कि वह कमलाकार गहरी भूमिमें ही अबतक चक्कर काटता रहा है और उसीको गोल पृथ्वी कहता रहा है।

स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़का, उन्हींके द्वारा सम्पादित 'विज्ञान' पत्रके फरवरी सन् १९३६ के अङ्कमें, 'प्राच्य और पाश्चात्त्य खगोल-विस्तार'के सम्बन्धमें एक लेख निकला था। उसमें उन्होंने शेषशय्याके विस्तार तथा पृथ्वीसे उसकी दूरीका अनुमान किया है। यहाँ उसका भाव हम दे रहे हैं—

पुराणोंके अनुसार ब्रह्माजी उत्पन्न होनेपर जिस कमलसे वे उत्पन्न हुए थे, उसके आधारका पता लगानेके लिये उसके नाल-छिद्रमें प्रविष्ट होकर ३६ हजार वर्षतक नीचे चलते गये। जब नाल समाप्त न हुआ, तब हताश होकर लौट आये। मान लीजिये कि ब्रह्माजी एक घंटेमें केवल एक मील ही नीचे उतरे होंगे। इस प्रकार ३१ करोड़ मील जाकर भी वे कमल-नालका मूल नहीं पा सके थे। ब्रह्माजी एक घंटेमें कितने मील उतरे, यह अज्ञात है; परंतु उनकी शक्ति, उत्सुकतादि-का ध्यान रखना होगा। इस दृष्टिसे सोचनेपर नालकी लंबाई-की संख्या बुद्धिसे बाहर हो जाती है। यदि नालकी लंबाईका शतांश भी कमलकी चौड़ाई हो तो नालकी ऊपर दी हुई कल्पित लंबाईके हिसाबसे ही उसकी चौड़ाई साढ़े आठ हजार मीलसे अधिक होती है। नालकी वास्तविक लंबाईकी कल्पना करनेपर कमलकी चौड़ाई करोड़ों योजन आयेगी। यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि ब्रह्माजी उस कमलकी कर्णिकापर ही उत्पन्न हुए थे और उसके नालछिद्रमें प्रविष्ट हो गये थे। इस दृष्टिसे भी कमलका परिमाण बहुत विस्तृत होगा। जिसकी नाभिसे वह कमल निकला, वह तो अपनेमें अनन्त ब्रह्माण्डोंको लय कर लेता है। उसका आकार-विस्तार और उसकी जो शेष-शय्या है, उसका विस्तार यह मानव-बुद्धि सोच नहीं सकती।

नियम यह है कि आकर्षण-शक्तिके कारण छोटा ग्रह बड़े ग्रहकी परिक्रमा करता है। वैज्ञानिकोंने जब जम्बूद्वीपको ही पृथ्वी मान लिया, तब सूर्य उन्हें बहुत बड़ा ज्ञात हुआ। उन्होंने माना कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है। यह मान्यता भी उनकी अपनी नहीं है। यह मान्यता उन्होंने भारतीय ज्यौतिषके सौर-सिद्धान्तसे ली है। भारतमें चान्द्र, सौर, बार्हस्पत्य, प्राजापत्य और ब्राह्म ज्यौतिषोंका वर्णन ग्रन्थोंमें आता है। इनमेंसे चान्द्र ज्यौतिष पृथ्वीको स्थिर और सूर्यको चलता हुआ मानता है। सौरसिद्धान्त सूर्यको स्थिर और पृथ्वीको चलती हुई मानता है। बार्हस्पत्यसिद्धान्तमें बृहस्पति स्थिर है और शेष सब गतिमान्। प्राजापत्यमें प्रजापति तारा स्थिर और ब्राह्ममें सभी गतिमान् माने जाते हैं। इन सिद्धान्तोंके गणित उत्तरोत्तर जटिल हैं। प्राजापत्य और ब्राह्मसिद्धान्तका तो नाम ही कहीं मिलता है। आइन्स्टीनने सिद्ध कर दिया है कि हम ग्रहोंकी गतिको ठीक नहीं जान सकते। हमारी ग्रह-गतिकी कल्पना अपेक्षाकृत ही रहेगी। जो पृथ्वीपर है, उसे सूर्य गतिशील दीखेगा और जो सूर्यपर है, उसे पृथ्वी। वास्तविक बात सब ग्रहोंसे पृथक् हुए बिना नहीं जानी जा सकती।

ज्यौतिषके सिद्धान्त तो परिणामकी अपेक्षासे बने हैं; किंतु पुराणकार सर्वज्ञ महर्षियोंको सत्यका वर्णन करना था। वे अपनी दिव्य शक्तिसे निरपेक्ष सत्यका साक्षात् करनेमें समर्थ थे। अतएव एक अधूरी भ्रान्तिपूर्ण खोजके आधारपर पुराणोंके किसी नियमको गलत नहीं ठहराया जा सकता, सो भी ऐसी दशामें जब कि उनके दूसरे वर्णन क्रमशः निर्भ्रान्त सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं।

आज जब कि मनुष्य-समाजमें ऐसा पुरुष मिलना असम्भवप्राय हो गया है, जो मनको एकाग्र करके वेदके किसी भी एक मन्त्रका अर्थ-दर्शन कर सके, समाजके लिये वेदार्थ जाननेका एकमात्र साधन पुराण ही रह गये हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञानके आकर हैं। वे ही हिंदू-संस्कृतिके प्रेरक, पोषक, आधार तथा भंडार हैं। उनमें न तो विकृति आयी है और न उनकी कोई बात कोरी कल्पना ही है। पुराणोंके वर्णन जहाँ रूपक हैं, वहाँ उनको स्पष्टरूपसे रूपक बता दिया गया है—जैसे श्रीमद्भागवतका पुरञ्जनोपाख्यान। शेष वर्णन अक्षरशः सत्य हैं। वे रूपक नहीं हैं।

हिंदू-संस्कृतिमें महर्षियोंने कभी भौतिकताको महत्त्व नहीं दिया। भारतने मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य अन्तर्मुख होकर आत्मोपलब्धि करना माना। विश्वके दूसरे सब कार्य, सब चेष्टाएँ इसी लक्ष्यको प्रेरणा दें—यह ऋषियोंकी सदा इच्छा रही। प्रत्येक राष्ट्र अपना इतिहास इसी दृष्टिकोणसे लिखता है कि उसका उद्देश्य उससे पुष्ट है। महर्षियोंने भी भूगोल, इतिहास, व्यक्ति, घटना आदिका इसी दृष्टिसे वर्णन किया। जो स्थल, घटनाएँ या व्यक्ति समाजके लिये आध्यात्मिक प्रेरणा देनेमें किसी प्रकार सहायक हो सकते थे, वे चाहे साधारण दृष्टिसे कम महत्त्वपूर्ण हों, उनका वर्णन किया गया; और जो इस लक्ष्यमें प्रेरक नहीं थे, वे चाहे जितने महत्त्वपूर्ण रहे हों, उनकी चर्चा नहीं है। जैसे पुराणोंमें यह कहीं पता नहीं लगता कि जम्बूद्वीपका बड़ा भाग कब, क्यों और कैसे जलमग्न हुआ।

पुराणोंमें अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषोंकी चरित-सम्बन्धी त्रुटियोंके वर्णन हैं। ऐसी त्रुटियोंके करनेका कहीं आदेश तो है नहीं; लेकिन सत्यको छिपाया भी नहीं गया है। इस सम्बन्धमें साधारण दृष्टि और महापुरुषोंकी दृष्टिमें ही अन्तर होता है। महापुरुषोंका दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जानेसे समाज सावधान रहेगा। लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च स्थितिमें भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे। पुराणोंमें महर्षियोंने भी इसी दृष्टिकोणसे त्रुटियोंको छिपाया नहीं है।

मनुष्यके मनमें अनन्त शक्ति है। आज मन वीर्यहीन हो गया है। इतनेपर भी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि दृढ़ संकल्पमें स्थूल पदार्थको प्रभावित, रूपान्तरित तथा आमूल पुनर्निर्मित करनेकी शक्ति है। आरम्भिक युगोंमें मनमें शक्ति थी। संकल्प बलवान् थे। इसी प्रकार प्रकृतिकी स्थूल शक्तियोंका भी अत्यधिक ह्रास हुआ है। उस समय प्रकृतिमें भी अद्भुत अभिव्यञ्जक शक्ति थी। आज भी अनेक घटनाएँ ऐसी हो जाती हैं, जो तर्कसे सिद्ध नहीं हो पातीं। पूर्णशक्ति प्रकृति और पूर्णशक्ति संकल्पके समयमें विचित्र बातें होती ही रहती थीं। उस समय वे साधारण ही थीं। पुराणोंमें ऐसे वर्णन बहुत हैं। उनको देखकर उछल-कूद मचाना व्यर्थ है। वे सत्य हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था—सबके आधार पुराण हैं। आधुनिक विद्वानोंको भी इनके लिये पुराणोंकी ही शरण लेनी पड़ती है। ऐसी दशामें उनका पुराणोंपर आक्षेप और उनकी उपेक्षा उपहासास्पद ही है। पुराणोंका आदर, उनकी रक्षा तथा उनके ज्ञानके प्रसारमें ही हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा एवं प्रतिष्ठा है।

रामायणमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम्० ए०)

वाल्मीकीय रामायणमें तत्कालीन भारतीय समाजका अत्यन्त विशद एवं सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेखमें उस प्राचीन संस्कृतिका संक्षिप्त परिचय देनेकी चेष्टा की जाती है।

सामाजिक व्यवस्था

रामायणकालीन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रमकी भित्तिपर अवलम्बित थी। वर्ण चार थे। वेदोंका अध्ययन, व्रत, नियमका पालन, यज्ञोंका अनुष्ठान तथा दान—ये प्रथम तीन वर्णों (द्विजों) के साधारण धर्म थे। स्वाध्याय, अध्यापन, तपस्या और प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके विशिष्ट कर्म थे। पुरोहित और ऋत्विक् बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको था। अपने विशिष्ट कार्योंके अतिरिक्त ब्राह्मणोंको अन्य जातियोंके कर्मोंद्वारा भी निर्वाह करनेकी स्वतन्त्रता थी। तत्कालीन ब्राह्मणोंके उनके कर्मानुसार पाँच विभाग किये जा सकते हैं—(१) देव ब्राह्मण—जो प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, जप, होम, अतिथि-देव-पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बड़े सत्यवादी और सदाचारी थे। (२) मुनि ब्राह्मण—जो वनमें रहकर तपस्या करते, फल-मूलोंसे निर्वाह करते तथा दैनिक श्राद्ध करते थे। (३) द्विज ब्राह्मण—जो वेदान्तका अध्ययन करते और अनासक्त होकर सांख्य तथा योगका चिन्तन करते थे। (४) क्षात्र ब्राह्मण—जो क्षत्रियोंकी भाँति शस्त्र धारण करते और युद्धोंमें भाग लेते थे, उदाहरणार्थ भार्गव परशुराम। (५) वैश्य ब्राह्मण—जो कृषि और गोपालनद्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, उदाहरणार्थ ब्राह्मण त्रिजट। कहना न होगा कि जाति जन्मसे ही थी, न कि कर्मसे। क्षात्र अथवा वैश्यवृत्तिसे रहनेवाले ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलाते थे।

ब्राह्मणोंका वध वर्जित था। दोषी ब्राह्मण भी अवध्य था। ब्राह्मणका धन हरनेवाला कठोर दण्डका भागी बनता था। ब्रह्महत्या महापातक थी। ब्राह्मणोंका व्यक्तित्व गौओं और राजाओंके समान पवित्र माना जाता था। दैनिक जीवनमें ब्राह्मणोंको सर्वदा अग्रिम स्थान मिलता था। राजालोग ब्राह्मणोंके प्रति प्रभूत सम्मान प्रदर्शित करते थे। श्रीरामको **'ब्राह्मणानामुपासकः'** कहा गया है। राजकीय समाजमें ब्राह्मण पुरोहितकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजाका वह अनिवार्य सहायक और परामर्शदाता था। दशरथ और श्रीरामके शासनकालोंमें वसिष्ठको जो सम्मान और महत्त्व प्राप्त था, उससे पुरोहितके महान् गौरवका पता चलता है। ब्राह्मणोंकी इस असाधारण महत्ता और अलौकिक मान-प्रतिष्ठाका रहस्य था—उनकी त्याग-भावना, ऐहिक वस्तुओंके प्रति अनासक्ति, स्वाध्याय और धर्म-सेवामें तत्परता, निःस्वार्थ राजकीय सेवा, विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा एवं संगठन-शक्ति।

क्षत्रियका प्रमुख कर्तव्य प्रजाकी रक्षा करना था। श्रीरामके अनुसार क्षत्रिय धनुष इसलिये धारण करता है कि संसारमें 'आर्त' शब्दका अस्तित्व ही न रहे—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।
(३। १०। ३)

ब्राह्मण, गौ और शरणागतकी रक्षा उसका विशेष लक्ष्य था। क्षत्रिय दान लेनेका नहीं, केवल दान देनेका अधिकारी था। परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन, वसिष्ठ और विश्वामित्र, शुक्र और ययाति तथा वसिष्ठपुत्र और त्रिशङ्कु-जैसे अपवादोंके अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणोंको शीर्षस्थानीय मानकर उन्हींका अनुगमन करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण कर-भारसे मुक्त थे।

वैश्यलोग कृषि, गोपालन और वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। वे ही अधिकतर कर चुकाया करते थे। अयोध्या तथा अन्य नगरोंमें उनके लिये पृथक् और प्रशस्त निवासस्थान बने थे। अपनी संख्या और ऐश्वर्यके कारण वैश्य अयोध्याके सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। वैश्योंके व्यापारिक संघ 'श्रेणी,' 'गण' और 'नैगम' कहलाते थे।

तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका विहित कर्म था। उसे यज्ञोंमें उपस्थित होनेका अधिकार था, यज्ञोंके अनुष्ठान करनेका नहीं। वेदाध्ययन और तपस्या करनेका भी वह पात्र नहीं था। चाण्डाल तत्कालीन समाजके अस्पृश्य थे। वे नीलवर्णके होते और नीले ही वस्त्र धारण करते थे। उनके शरीरमें चिताकी राख लिपटी रहती और लोहेके गहने पड़े रहते। वे योनियोंमें अधम और सारे नागरिक अधिकारोंसे वञ्चित थे। उन्हें मन्दिरों, राजप्रासादों और ब्राह्मणोंके घरोंमें जानेका अधिकार नहीं था।

क्षत्रिय विश्वामित्रका ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेना कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह सूचित करता है कि उन दिनो जाति-परिवर्तन कोई असम्भव बात नहीं थी । किंतु सच पूछा जाय तो हमे इस घटनाको मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आँकना चाहिये । ब्राह्मणवर्ण, जो स्वभावतः सत्त्वगुणप्रधान है, रजोगुणप्रधान क्षत्रिय वर्णका विरोधी है । विश्वामित्रको अपना काम-क्रोधसंयुक्त राजसी स्वभाव सात्त्विक वृत्तिमे परिणत करनेके लिये अत्यन्त कठोर मानसिक अनुशासनका दीर्घकालतक अभ्यास करना पड़ा था । जब उनका हृदय काम और क्रोधके प्रभावसे सर्वथा विशुद्ध हो गया, तभी उस युगके सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वशिष्ठने उन्हे 'ब्रह्मर्षि' के नामसे सम्बोधित किया। इससे जाति-परिवर्तनका नियम सिद्ध नही होता । यह एक अपवादमात्र है ।

चारो वर्णोंके पारस्परिक सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे । सभी वर्ण 'स्वकर्मनिरत' थे, अतः वर्ण-विद्वेष नामको भी नहीं था । अयोध्याके वर्णनमे कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणोंको अपना नेता मानते, वैश्य क्षत्रियोकी आज्ञा पालन करते और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए तीनों वर्णोकी सेवामे संलग्न रहते थे । एक सर्वथा सुखी चातुर्वर्ण्य-समाजकी स्थापना और उसका धर्मपूर्वक पालन तत्कालीन राजाओका मुख्य लक्ष्य था।

वर्ण-व्यवस्थाके सहायक रूपमे ही ब्रह्मचर्यादि आश्रमोका विधान है। वर्णाश्रमकी यह व्यवस्था व्यक्ति और समष्टि दोनोकी पारस्परिक हितरक्षाके लिये पर्याप्त थी । वर्ण-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके कर्तव्यो और अधिकारोका इस प्रकार निरूपण करता है कि वे उसके पारिवारिक वातावरण और सामूहिक हित दोनो दृष्टियोंसे समीचीन हो । दूसरी ओर आश्रम-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक अलग इकाईके रूपमे देखता है और उसे बतलाता है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपना जीवन-यापन किस प्रकार करना चाहिये तथा अपनी लक्ष्य-प्राप्तिके लिये क्या उद्योग करना चाहिये ।

कौटुम्बिक स्थिति

प्राचीन भारतमे संयुक्त परिवारकी प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था । पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी । परिवारमे ज्येष्ठ पुत्रका अधिकारपूर्ण स्थान था । वही पिताका उत्तराधिकारी और उत्तरक्रिया करनेका पात्र था । 'पुत्' नामक नरकसे बचने और पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये पिता पुत्रकी कामना करते थे । दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्रकी उपलब्धि हो सकती है । स्त्रियोंद्वारा पुत्र-प्राप्तिके लिये तपस्या करनेके कई उदाहरण मिलते हैं । परम्परागत रूढ़ियो और संस्कारोका पालन परिवारके सदस्योका परम धर्म था ।

प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी उत्कृष्टताका रहस्य उसके पारिवारिक जीवनकी श्रेष्ठता है । इसका समुज्ज्वल उदाहरण रामायणमे चित्रित है । पिता-पुत्रमे, भाई-भाईमे, पति-पत्नीमे, देवर-भौजाईमे, सास-पतोहूमे बड़े स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे । कुटुम्बके अनुशासनमे तरुणवर्ग स्वार्थत्याग, निश्छल प्रेम और सेवाभावना-जैसे आदर्श गुणोको हृदयङ्गम करता था ।

विवाह

पारिवारिक स्थिरता, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण (मुक्ति) की दृष्टिसे विवाह प्रत्येक प्राणीके लिये आवश्यक और वाञ्छनीय माना जा चुका था । कन्याके लिये तो वह अनिवार्य था; पाणिग्रहण उसका द्वितीय जन्म था । कन्याका विवाह उसकी 'पतिसंयोगसुलभ' अवस्थामे और पुत्रका विवाह उसके 'समुपस्थितयौवन' हो जानेपर हुआ करता था । विवाहके पूर्व वर-वधूमे परिचय नही रहता था । सीता, शान्ता और मन्दोदरीने विवाहसे पूर्व अपने पतियोके दर्शन नही किये थे; फिर भी वे पतिपरायणा निकलीं ।

कन्याओको पति-वरणमे स्वतन्त्रता नही थी । इस कार्यमे वे 'पितृवशा' थीं । राजाओंमे स्वयंवरका उल्लेख होनेपर भी वह स्वेच्छासम्मत नही था । जब वायुने कुशनाभकी कन्याओसे विवाहका प्रस्ताव किया, तब उन्होंने कहा कि हमारे पति वही होंगे, जिन्हे हमारे पिता हमे अर्पित करेंगे । पुत्रोंको भी विवाह पिताके आज्ञानुसार करना पड़ता था । धनुर्भङ्ग करनेके बाद सीताका स्वयं पाणिग्रहण करनेका अधिकार होने पर भी श्रीरामने दशरथकी आज्ञा न पानेतक सीताको स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया था । सन्तानके विवाहमे पैतृक सत्ताका इतना अधिकार होते हुए भी केवल इसी कारण विवाहोके दुःखमय होनेके उदाहरण नही मिलते । सीता और मन्दोदरीके पतियोका चुनाव उनके पिताओंने किया है । फिर भी उन्हे पतिप्रेम पर्याप्त मात्रामे मिला । सीता श्रीरामकी प्रिया इसीलिये थीं कि वे उन्हे पिता दशरथकी अनुमतिसे प्राप्त हुई थीं—

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
(१ । ७७ । २६)

कन्याधनके रूपमे पुत्रीको बहुत-सा उपहार देनेकी प्रथा थी । उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र विवाहके लिये माङ्गलिक माना जाता था । शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न विवाह अविच्छेद्य था । इस लोकमे पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमे भी उसीकी स्त्री होती है । स्वामीका त्याग, चाहे वह कैसा भी हो, स्त्रीके लिये महान् अधर्म है । पर दुष्टा स्त्रियोंके परित्यागके उदाहरण मिलते हैं । राजाओं और धनी वर्गोंमें बहुविवाहकी प्रथा प्रचलित थी, पर श्रीरामने एकपत्नीव्रतके अनुकरणीय आदर्शकी स्थापना की ।

प्रेमका आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था । रामायणमे पारस्परिक अनुरागको ही महत्त्व दिया गया है । अतिप्रणय और अप्रणय दोनो ही अनुचित हैं । अपनी पत्नीके प्रति अन्धानुरागका रामायण समर्थन नहीं करती । कामपरायण होना कोई प्रशंसाकी बात नहीं है । विशेषकर स्त्रियोंके लिये तो 'कामवृत्त' सर्वथा अनुचित है । वाल्मीकिने अविवाहित और असंयत प्रेमको बारंबार निन्दित और दण्डित किया है । रामायणने 'स्वदारनिरत' होनेका ही आग्रह किया है । अजितेन्द्रिय व्यक्तिका नाश अवश्यम्भावी है । विवाहकी परिणति—पत्नीत्वकी सफलता—प्रणय एवं सन्तान-प्राप्तिमे ही निहित है ।

स्त्रियोंकी स्थिति

कन्याके विवाहकी चिन्ता, उसके भावी जीवनको सुखी बनानेकी उत्कट लालसाके कारण 'कन्यापितृत्व' सभी मानकाङ्क्षी लोगोंके लिये दुःखदायक था। किंतु कन्याओंसे घृणा या द्रोह करनेका कहीं प्रमाण नहीं मिलता । उनका लालन-पालन प्रेमपूर्वक किया जाता था । परिवारमे वे उपेक्षाका विषय कभी नहीं थीं । अविवाहित कन्याओंको माङ्गलिक और उनकी उपस्थितिको शुभ शकुन माना जाता था । रामायणके प्रमुख स्त्री-पात्रोंकी समीक्षासे यह स्पष्ट है कि विवाहके पूर्व उन्हे अपने घरोंमे समुचित शिक्षा मिल चुकी थी । क्षत्रिय-कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललितकला तथा विभिन्न भाषाओंसे सुपरिचित थीं ।

विवाहके पश्चात् कन्या वधूरूपमे पतिगृहमे प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पतिका प्रगाढ प्रेम और सास-ससुरका हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रामें प्राप्त होता था । पातिव्रत्य-धर्मका आदर्श अत्युच्च था । स्त्रीके लिये पति ही देवता और पति ही प्रभु है । नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिये, यही स्त्रीका लोक और वेदमें प्रसिद्ध सनातनधर्म है । अप्रतिम सौन्दर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायणके अनुसार आदर्श पत्नीका मापदण्ड है । नारी पुरुषकी 'सहधर्मचारिणी' थी, 'समान-सुखदुःखिनी' थी । शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता था । वैदिक श्रुतियाँ पत्नीको पतिकी अभिन्न आत्मा बतलाती है । पतिपर स्त्रीके मुख्यतः तीन अधिकार थे—भरण-पोषणका अधिकार, स्त्रीधनका अधिकार तथा वैवाहिक एकनिष्ठाका अधिकार । पुरुषके पारिवारिक एवं बाह्य कार्योंमे उसकी सुयोग्य पत्नी सब प्रकारसे सहयोग देती थी । सीता, तारा और कैकेयी-जैसी तेजस्वी नारियोंने अपने समयकी राजनीतिक घटनाओंको बहुत प्रभावित किया ।

नारीके पत्नीत्वकी सफलता उसके मातृत्वमें थी । गर्भकालमें आचार-विचारकी पवित्रता मनोऽनुकूल सन्तानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक थी । गर्भकी रक्षाके लिये मन्त्रानुष्ठान किये जाते थे । भ्रूणहत्या महापातक थी । माताका अपने पुत्रोंके प्रति निश्छल ममत्व था और पुत्र भी उसका असीम आदर करते थे । यद्यपि वैधव्य स्त्रीके लिये घोरतम विपत्ति थी, तथापि विधवाएँ अनादरका पात्र नहीं थीं । दशरथकी विधवा रानियाँ सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं ।

स्त्रियोंको पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी । उत्सवोंमे, राज्याभिषेकमे, यज्ञोंमे, सामूहिक भोजोंमे, श्राद्धकर्ममे, अन्त्येष्टि-क्रियामे स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं । अपने पतिकी वे 'क्रीडासहाय' थीं । विविध वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो वे अपने-अपने पतियोंके साथ देश-विदेशमे भ्रमण करतीं । न्यायालयोंमे पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी प्रवेशकर शिकायत कर सकती थीं । श्रीरामके अनुसार स्त्रियोंके लिये न घर, न वस्त्र, न दीवारें और न राजसत्कार ही वैसी आड़ करनेवाला है, जैसा कि उनका अपना सदाचरण । स्त्रियोंके प्रति उच्च शिष्टाचारका पालन किया जाता था । उन्हें सभी प्राणियोंके हाथो अवध्य माना गया था । वाहनोंपर चढते समय स्त्रियोंको पहले स्थान दिया जाता था । रथोंमे महिलाएँ आगेकी ओर बैठायी जाती थीं । परायी स्त्रियोंकी ओर देखना असभ्यता थी । स्त्रियोंके सामने अपने कोपका निवारण कर लेना चाहिये । महात्मालोग स्त्रियोंके प्रति कोई दारुण कार्य नहीं करते ।

आहार-विहार

रामायणकालीन आर्य अपने आहारमें बड़े सुरुचिपूर्ण थे। वे सुस्वादु पक्वान्नोंका बहुतायतसे प्रयोग करते थे। अतिथियों-का उच्च कोटिके भोजनसे स्वागत करना उन्हें विशेष प्रिय था। भोजनके चार प्रकार थे—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य। लोगोंका प्रमुख आहार गेहूँ और चावल था। चावलसे बने पक्वान्नोंमें हविष्यान्न (घीमें उबाला हुआ चावल), कृशर (दूधकी खिचड़ी), मोदक (चावल, दाल और चीनी-के लड्डू), मृष्टान्न (चावलके मालपूए) और पायस (खीर) बड़े प्रिय थे। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका प्रचुर व्यवहार होता था। दधि, क्षीर (खोआ या छेना), कृशर, कपित्थ (मट्ठा) और पायस (खीर)के रूपमें दूधका सेवन किया जाता था। घृतका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। स्नेह अथवा तैल, लवण और सौवर्चल-जैसे नमक, उपदंश और निष्ठान जैसे मिर्च-मसालों तथा अम्लरस-जैसी खटाईका प्रयोग भी देख पड़ता है। उस समयके रसोइये पाकविद्यामें बड़े प्रवीण थे और वे कुण्डल धारण करके भोजन परोसते थे। आम्र, बदरी, दाडिम, इक्षु, जम्बू, खर्जूर, कदली, नारिकेल और पनस-जैसे फलोंका आहार प्रचलित था। मधु और फलासव पेयके रूपमें स्वीकार किये जाते थे। ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी थे। मांसाहारकी तुलनामें शाकाहारको ही श्रेष्ठ माना गया है। विशालरूपमें सामूहिक भोज प्रायः किये जाते थे, जहाँ असंख्य नर-नारी आकर तृप्ति पाते और जहाँ खाद्य एवं पेय पदार्थोंका अटूट भंडार प्रस्तुत रहता। ऐसे अवसरोंपर किसीका अनादर या उपेक्षा नहीं की जाती थी। भोजनका कृत्य एक यज्ञ था, एक समर्पण-क्रिया थी, जिसका उद्देश्य मुख्यरूपसे देवताओं, अतिथियों, मित्रों और सम्बन्धियोंको तृप्त करना था और गौणरूपसे अपना प्राणधारण।

जीवनका समुचित आनन्द उठानेके लिये मनोरञ्जनके अनेक साधन प्रस्तुत थे। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रोंमें आर्योंने समानरूपसे उन्नति की। कोसल प्रदेशको 'प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः' (२। १००। ४८) कहा गया है। गोष्ठियों और समाजोंमें मनोविनोदके विविध साधन मौजूद थे। हास्यकार और कथाकार राजाओंका विनोद करते थे। राजप्रासादोंमें पालतू पशु-पक्षी रानियोंके विनोदके साधन थे। द्यूत, शतरंज, संगीत, नृत्य और नाटक, उद्यान-विहार, मृगया, कन्दुक-क्रीडा, जलविहार तथा व्यायाम आदि आमोद-प्रमोदके अन्य साधन थे। किंतु इन सबमें सामूहिक जीवन, संयम, अहिंसा, विलासके साधनोंका सीमित उपयोग—इन आदर्शोंका ध्यान रक्खा जाता था।

वस्त्र और आभूषण

सूती, रेशमी, ऊनी, सुनहरे, चमकीले, रंग-बिरंगे वस्त्रों-का नागरिकोंमें बहुत व्यवहार होता था। वनवासी लोग कुश, चीर और वल्कल धारण करते। पवित्र कार्योंमें क्षौम (रेशमी) वस्त्रोंका प्रयोग होता था। स्त्री-पुरुष दो वस्त्र धारण करते थे—उत्तरीय और अधोवस्त्र। ब्रह्मचारीगण एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ अपने अधोवस्त्रको कटिभागपर रशनासे कस लेती थीं। उत्तरीय उनके कन्धों और वक्षःस्थल पर पड़ा रहता था और आवश्यकता होनेपर शीघ्रतासे उतारा जा सकता था। साड़ी पहननेकी 'कच्छ' शैलीका सम्भवतः उन दिनों व्यवहार नहीं था। सीनेकी कला परिचित थी। सिरपर साधारण लोग मुकुट धारण करते और राजागण किरीट। पगड़ी (उष्णीष) का व्यवहार भृत्यवर्गतक सीमित था। पैरोंमें लकड़ीकी पादुकाएँ या चमड़े-के उपानह धारण किये जाते थे। राजा हेमभूषित पादुकाएँ पहनते थे। नर-नारी दोनों आभूषणप्रिय थे। सैनिक युद्धमें भी आभूषणोंसे सज्जित होकर जाते। हाथियों, घोड़ों और गौओंको आभूषणोंसे सजानेकी प्रथा थी। शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें मनोहर आभूषण धारण किये जाते थे। हीरे, जवाहरातोंका भी प्रचुर व्यवहार था। पुष्पों और मालाओंका आभूषणोंकी भाँति व्यवहार होता था। सौन्दर्यकी वृद्धिके लिये दैनिक शृङ्गार (प्रतिकर्म) प्रचलित था। चन्दन और अङ्गरागका बहुतायतसे उपयोग होता था।

शिष्टाचार

रामायण-काल सभ्यता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार और आदर्श शिष्टाचारका युग था। रामायणकालीन शिष्टाचार भारतीय शिष्टाचारका सदासे आदर्शभूत रहा है। पञ्च महायज्ञोंमें अतिथि-सत्कारका विशिष्ट स्थान था। अभ्यागतों-का पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, गौ और आसनद्वारा स्वागत किया जाता। क्या तपस्वी और क्या राजा, आतिथ्यमें अपनी शक्ति-के अनुसार सारे साधन जुटा देते थे। ऋषियोंकी अनुपस्थिति में आतिथ्य-भार उनकी पत्नियोंपर आ पड़ता था। अतिथि-क्रियाके पश्चात् कुशल-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते। जहाँ राजा मुनियोंसे उनकी तपस्या, अग्निहोत्र, शिष्यगण, आश्रमस्थ पशु-पक्षी तथा वृक्ष-पुष्पोंके विषयमें कुशल-क्षेम पूछते, वहाँ मुनि-

गण राजाओंसे उनके राष्ट्र, कोश, सुहृत्, बन्धु-बान्धव, मन्त्रिगण तथा शत्रुओंके दमनके बारेमे जिज्ञासा करते थे। आसन ग्रहण करते समय बड़े-छोटोंके यथान्याय बैठनेकी परिपाटी थी। प्रणाम, प्राञ्जलि, अञ्जलि-पुट, प्रणिपात, नामोच्चारण तथा प्रदक्षिणाद्वारा छोटे बड़ोंके प्रति सम्मान अभिव्यक्त करते थे। गुरुजन छोटोंका आलिङ्गन कर, उनका मस्तक सूँघकर और उन्हें आशीर्वाद देकर अपना स्नेह प्रकट करते थे। समवयस्क मित्रोंमे आलिङ्गन और हस्त-संपीडन सामान्यतः प्रचलित अभिवादन-प्रणाली थी। चलते समय बड़े आगे जाते और छोटे उनका विनीत भावसे अनुसरण करते। तत्कालीन सम्बोधन-प्रणाली बड़ी शिष्ट और गौरवपूर्ण थी। द्विजातियोंके लोग संस्कृतमे ही संभाषण करते थे। उपकारोंके लिये कृतज्ञता प्रकट करनेकी तथा अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करनेकी प्रथा प्रचलित थी।

लोकाचार या लौकिक समयका पालन वाञ्छनीय था। लोकापवादसे सभी डरते थे। संशयकी दशामे पूर्वजों या श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गका अनुसरण ही श्रेयस्कर माना जाता था। साहसपूर्ण या आश्चर्यकारी कृत्योंके सम्पादनपर साधुवाद या बधाई दी जाती थी। यज्ञ या राज्याभिषेकके अवसरपर सामूहिक निमन्त्रण दिये जाते और अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारका सुन्दर प्रबन्ध किया जाता। विशिष्ट व्यक्तियोंके पास उपहार लेकर जानेकी रीति थी। मित्रता अग्निको साक्षी देकर की जाती थी। तत्कालीन राजकीय जुलूस बड़े सुव्यवस्थित और वैभवद्योतक थे। अपने वचनोंकी प्रामाणिकता घोषित करनेके लिये अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी शपथ ली जाती थी। अपने सत्य पक्षका आग्रह करनेके लिये 'धरना' देनेका रिवाज था। सार्वजनिक विरोध या दुःख प्रकट करनेके लिये जनताकी ओरसे 'हड़ताल' की जाती थी। रथ या वाहनपर चढ़ते समय उसकी पूजा-प्रदक्षिणा की जाती थी। किसी उक्ति या मन्त्रका महत्त्व बढ़ानेके लिये उसकी तीन बार पुनरुक्ति की जाती थी। मुहूर्तोंमें, दैव अथवा भाग्यमे, शकुनोंमे, स्वप्नोंमे, और मानव-जीवनकी सौ वर्षकी अवधिमे लोगोंका दृढ़ विश्वास था। प्रजापर आ पड़नेवाली विपत्तिका कारण राजाका ही कोई दुष्कर्म माना जाता था।

शिक्षा-दीक्षा

शिक्षाका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यामे कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखनेको भी नहीं मिलता था। शिक्षाको राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। वाल्मीकिके अनुसार जन्म-जन्मान्तर्गत संस्कार ही मनुष्यको अच्छा या बुरा बनाते हैं, चाहे फिर उसे शिक्षा कितनी ही क्यों न दी जाय। रावणकी माताने विश्रवा मुनिसे बड़े कुसमयमे गर्भाधानके लिये प्रार्थना की, जिसके परिणामस्वरूप रावण और कुम्भकर्ण बड़े क्रूर औ दुराचारी निकले। उनके ब्राह्मणत्व, वेदाभ्यास और कठोर तप भी उनके वास्तविक जन्मगत कुसंस्कारोंको बदलनेमे असमर्थ रहे। मुनियोंके आश्रम ही तत्कालीन पाठशालाएँ थीं। गुरुकी सन्निधिमे रहकर शिष्य वैदिक ज्ञान, शिष्टाचार, सदाचार आदिको हृदयङ्गम करता था। गुरुकी शुश्रूषा उसका परम धर्म था। प्रतिपदा अनध्यायका दिन था। अयोध्या नगरी शिक्षाका महान् केन्द्र थी। वहाँ उपाध्याय सुधन्वाका सैनिक शिक्षालय था, जहाँ राजकुमार शस्त्राभ्यास करते थे। वासिष्ठों, तैत्तिरीयों, काठकों, मानवों तथा अगस्त्य और कौशिक ऋषियोंके शिक्षालयोंमें परम्परागत शिक्षाकी व्यवस्था थी। सूतों और मागधोंद्वारा संचालित पौराणिक पाठशालाएँ भी अनेक थीं। यज्ञ-समारम्भोंसे शिक्षा-प्रसारमे बड़ी सहायता मिलती थी। शिक्षण-व्यवस्थाके मुख्यतः चार भाग थे—शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक। शारीरिक शिक्षामे धनुर्विद्या, मृगया, अश्वचर्या, रथचर्या, बाहुयुद्ध, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्धका समावेश था। मानसिक शिक्षाके अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग, काव्य, साहित्य, इतिहास, पुराण, ललित कलाएँ, अर्थशास्त्र, राजनीति-जैसे विषय थे। व्यावहारिक शिक्षणमे व्यापार, कला-कौशल, आयुर्वेद तथा अनेक प्रकारके उद्योग-धंधोंका समावेश था। नैतिक शिक्षाद्वारा बालकको सदाचारी नागरिक बनाया जाता। अनेक प्रकारकी रहस्यमयी विद्याएँ भी प्रचलित थीं। अध्ययन-अध्यापनकी प्रणालियोंमे मौखिक प्रवचन, कण्ठाग्र अभ्यास, कथा-वार्ता, पाठ, स्वाध्याय तथा सामूहिक तर्क-वितर्क आदि प्रचलित थे। लिखनेकी कला भलीभाँति ज्ञात थी। आश्रमोंमें महिलाओंकी उपस्थिति और शिक्षाकी भी सूचना मिलती है। श्रीरामकी शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण थी। शिक्षाके आदर्श ये थे—गौ, ब्राह्मण, चातुर्वर्ण्य, कुटुम्ब और देशकी रक्षाके लिये पर्याप्त शारीरिक बलका संपादन; सर्वाङ्गीण, न कि एकाङ्गी ज्ञानकी अपेक्षा; पुस्तकीय विद्याकी अपर्याप्तता, सांस्कृतिक उत्थान, विचार-स्वातन्त्र्य, शिक्षाके नैतिक और धार्मिक पहलुओंपर आग्रह, चरित्र-गठन, व्यक्तित्वका सर्वाङ्गीण विकास तथा सामूहिक (सामाजिक) कर्तव्योंका पालन।

आर्थिक स्थिति

कृषि देशका प्रमुख उद्योग था। राजाको 'कृषिगौरक्ष्य-जीवियों'की सुविधाओंका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। कृषि समृद्धिपूर्ण थी। श्रीरामके पूर्व देशपर दो दुर्भिक्ष आ पड़े थे, यद्यपि लंबे राम-राज्यमें दुर्भिक्षका नामतक नहीं था। सिंचाईके साधनोंमें प्राकृतिक साधनोंके अतिरिक्त कृत्रिम उपायोंका भी सङ्केत मिलता है। खेत (क्षेत्र अथवा केदार) के 'शोधन'के पश्चात् उसकी जुताई और बुवाई की जाती। सामयिक वर्षा उपजके लिये बड़ी लाभकारी थी। यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), शालि (चावल), चणक (चना), इक्षु (ईख), कुलित्थ (कुलथी), माष (उड़द), तिल, मरीचि, मुद्ग (मूँग) की खेती बहुतायतसे होती थी। खेतीके कई औजार प्रयुक्त होते थे—जैसे हल, कुद्दाल, लाङ्गल, फाल, शूल, टंक आदि। खेतीकी प्रणाली वैदिक कालकी अपेक्षा अधिक उन्नत थी। कृषिके अतिरिक्त उद्यानचर्या तथा फलोद्योग भी प्रचलित थे। गोपालन और गोसवर्धनके अतिरिक्त घोड़ों और हाथियोंकी अच्छी नस्लें उत्पन्न करनेका भी एक व्यवसाय था। पशुपालनद्वारा दुग्ध, दुग्ध-पदार्थ, हाथी-दाँत और चमड़ेका व्यवसाय होता था। जंगलोंकी उपज मानव-उपयोगमें लायी जाती। खानोंसे खनिज पदार्थ निकाले जाते। लोहा, ताँवा, पीतल, काँसी, सोना, चाँदी, सीसा और टीन-जैसे खनिज पदार्थोंका उल्लेख मिलता। धातुओंसे बनी वस्तुओंका दैनिक जीवनमें पर्याप्त प्रचार था। वस्त्रोद्योग भी प्रचलित था। लाक्षाराग या कुसुमरससे कपड़े रँगे जाते थे। व्यापारकी स्थिति बड़ी ही समृद्ध थी। विदेशोंसे भी व्यापार होता था। समुद्री व्यापारके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। सोना, चाँदी, आभूषण, हीरे-जवाहर, हाथी, कुत्ते, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा लाक्षा-जैसी वस्तुएँ विदेशोंको निर्यात की जातीं तथा कम्बोज आदि देशोंके घोड़े, ऊनी वस्त्र, रेशम, कस्तूरी, याक बैलके बाल आदि आयात किये जाते थे। विनिमयका माध्यम गौ थी। निष्क नामक सिक्के भी प्रचलित थे। नाप-तोलेका व्यवहार होता था। रामायणमें लगभग ८० प्रकारके विभिन्न उद्योगोंका स्पष्टतः उल्लेख है। थल, जल और नभ—तीनों मार्गोंसे यातायात होता था। रथ, शिविका, यान, पशु, नाव और विमान यातायातके साधन थे। देशकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही वैभवशाली और समृद्धिपूर्ण थी। नगरों और ग्रामोंके निवासी दीर्घजीवी, नीरोग, प्रसन्न और धन-धान्यसम्पन्न थे। इस आर्थिक सुव्यवस्थाका रहस्य समाजमें धनका संतुलित बँटवारा था, जिसमें आर्योंकी वर्णाश्रम-व्यवस्था विशेषरूपसे सहायक थी।

नगर, ग्राम और आश्रम

रामायणकालीन नगर-संनिवेश स्थापत्य-कलाका सुन्दर उदाहरण है। प्रायः सभी नगरोंकी प्रतिष्ठा दुर्गोंके रूपमें होती। बाहरी आक्रमणोंसे रक्षाके लिये वे विशाल प्राकारों और दुर्गम खाइयोंसे घिरे रहते। प्राकारोंपर रक्षा और प्रत्याक्रमणके अनेक साधन प्रस्तुत रहते। सैनिकदृष्टिसे नगर अभेद्य बनाये जाते थे। फिर भी कला और सौन्दर्यकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। नगर प्रायः नदियोंके किनारे नीरोग वातावरणमें बसाये जाते। उनका आकार कभी पद्म-दलके समान, कभी अर्धचन्द्राकार और कभी अष्टकोणात्मक होता था। सुन्दर विमानाकार भवन, चौराहे, उद्यान, तालाब, सुव्यवस्थित बाजार तथा वृक्ष नगरोंकी शोभा बढ़ाते थे। रास्तोंपर छिड़काव होता और फूल बिखेरे जाते। राजप्रासाद नगरके मध्यमें होता और वहाँसे चारों दिशाओंमें राजमार्ग जाते। नगरके बाहर आमोद-प्रमोदके लिये आराम और विहार बने रहते। तत्कालीन सुन्दर नगरोंमें अयोध्या, लङ्का, किष्किन्धा, तक्षशिला, पुष्कलावती और मधुपुरीके नाम उल्लेखनीय हैं। राजा और प्रजा दोनों नगरोंकी शोभा बढ़ानेमें तत्पर रहते थे। नागरिकताकी भावनासे वे ओतप्रोत थे।

ग्रामों और नगरोंमें साहचर्य था। दोनों आवागमनके साधनोंसे जुड़े रहते, जिससे पारस्परिक विकासमें सहायता मिलती थी। किसानोंकी बस्तियाँ 'ग्राम' और ग्वालोंकी बस्तियाँ 'घोष' कहलाती थीं। उनके निवासस्थान 'ग्राम-संवास' कहलाते थे। गाँवोंके बाहर जुते हुए खेतोंके दृश्य दिखलायी पड़ते थे। बड़े गाँव 'महाग्राम' कहलाते थे। अयोध्यामें ग्रामवासियों (जानपदों) की उपस्थितिका कई बार उल्लेख मिलता है।

रामायणकालीन संस्कृति मुख्यतः तत्कालीन नगरों और आश्रमोंकी देन है। ऋषियोंके आश्रम ही उस समयके सांस्कृतिक केन्द्र थे, जहाँकी रीति-नीति नगरोंको प्रभावित करती थी। ये आश्रम प्रायः 'एकान्त' या 'विविक्त' स्थलोंमें मानव-कोलाहलसे दूर रमणीय स्थानोंमें बसाये जाते थे। बाँस, वृक्षोंकी शाखाओं, पत्तों, मिट्टी, घास और रस्सियोंसे वे बनाये जाते थे। एक आश्रममण्डल या तपोवनका अधिष्ठाता

ऋषि—'कुलपति' होता था। असमयमें आने-जानेपर रास्तों-की पहचानके लिये ऋषिलोग ऊँचे वृक्षोंमें अपने चीर बाँध देते थे। पुण्यात्मा महर्षियोंद्वारा सेवित ये आश्रम आध्यात्मिक तेजके आगार होते थे, जहाँ मनुष्य पापाचरणकी ओर स्वभावतः ही प्रेरित नहीं होता था। वनवास कष्टपूर्ण होते हुए भी पुण्यसंचयके लिये आवश्यक माना जाता था। वनवासी मुनि अपना समय देवपूजा, सन्ध्या, तर्पण, होम, श्राद्ध, वेदघोष, स्वाध्याय और तपस्यामें व्यतीत करते। वे नियता-हार और जितेन्द्रिय रहते, फल-मूलोंपर निर्वाह करते, अत्यावश्यक जीवन-साधनोंका ही उपयोग करते और नाना प्रकारके शारीरिक कष्ट स्वेच्छासे उठाकर सहिष्णु और तितिक्षु बननेका निरन्तर प्रयत्न करते थे। साथ ही भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि केवल एकान्तवासी तपस्वी ही नहीं थे, अपितु परि-भ्रमणद्वारा अनार्य राज्योंमें आर्य-संस्कृतिके प्रसारक और संस्थापक भी थे।

साहित्य और कला

रामायण एक कवि-कलाकारकी मनोहर रचना है। राम-चरित्र-जैसे अलौकिक विषयको एक अनूठी, संगीतमय, छन्दो-बद्ध, संवेदनशील शैलीमें प्रस्तुतकर वाल्मीकिने अपने परवर्ती साहित्यकारोंके लिये एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।

रामायण महाकाव्यका तत्कालीन समाजने हार्दिक स्वागत किया। रामायण-गान उसके लिये एक नूतन, चमत्कारी और अभूतपूर्व अनुभव सिद्ध हुआ। श्रीआनन्दवर्धनाचार्यके अनुसार साहित्यमें रसकी प्रथम उद्भूति रामायणमें वर्णित क्रौञ्च-वध-घटनासे हुई है। काव्यके अतिरिक्त उस युगमें आख्यान, इतिहास और दर्शनका भी सेवन होता था। नक्षत्रविद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, प्राणिशास्त्र, अङ्कगणित, रेखागणित-जैसे वैज्ञानिक विषयोंसे सम्बन्धित सामग्री भी रामायणमें यथेष्ट मात्रामें मिलती है।

वाल्मीकिकी रचना कविकी कलात्मक अभिरुचिकी परिचायक है। उसमें स्थापत्यकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नाट्यशाला और नृत्य-जैसे कलात्मक विषयोंपर परिष्कृत सामग्री उपलब्ध है। कलाका अनुशीलन करनेमें योग और भक्तिका आश्रय लिया जाता था। योगद्वारा कवि कलाकी वस्तुसे अपना तादात्म्य स्थापितकर उसके दुरूह पटलोंको हृदयङ्गम करता तथा भक्तिद्वारा सर्वतोभावेन उसे मूर्तरूप देनेको कटिबद्ध होता। रामायण-रचनामें कविने इसी मार्गद्वयका अनुसरण किया है।

धार्मिक जीवन

रामायणकालीन संस्कृति धर्मद्वारा पूर्णतया अनुप्राणित थी। वेदोंका प्रभुत्व सर्वव्यापी था। धार्मिक अनुष्ठानोंमें वे प्रमाणभूत थे। नये घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व 'वास्तुशान्ति' नामक कृत्य संपादित किया जाता था। नयी फसल काममें लानेसे पहले 'आग्रयण' कृत्यद्वारा नये धानसे देवताओंको प्रसन्न किया जाता था। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने-के अवसरपर स्वस्त्ययन क्रिया की जाती थी। दैनिक अनिवार्य धार्मिक कार्य 'आह्निक कृत्य' कहलाते थे—जिनमें स्नान, अर्घ्य, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, गायत्री-जप, अग्निहोत्र और देवता-र्चन सम्मिलित थे। रामायणकालके आर्य उपयुक्त समयपर सन्ध्योपासन करनेमें बड़े जागरूक रहा करते थे। अन्त्येष्टि-क्रियामें प्रेतकार्य, उदक-क्रिया, पिण्डदान, निर्वाप-क्रिया तथा श्राद्धकर्म किये जाते थे तथा १० दिनका अशौच रक्खा जाता था। प्रार्थनाद्वारा इष्टसिद्धिमें लोगोंकी बड़ी श्रद्धा थी। मन्दिरोंका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। विभिन्न देवताओं-के विग्रहोंकी स्थापना हो चुकी थी। सारे संस्कार यथासमय सम्पन्न हुआ करते थे। तीर्थ-स्थानोंकी यात्रा भी की जाती थी। गौकी पवित्रता सर्वमान्य थी। अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था, जिनमें शास्त्रीय विधिके पालनका पूर्ण ध्यान रक्खा जाता। अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित थी, जिनमें त्रिमूर्तिको विशेष स्थान प्राप्त था। शिव और विष्णुके भक्तोंमें कोई विरोध नहीं था। गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ, नदियोंके संगम, वटवृक्ष, गया-जैसे स्थल, चित्रकूट और हिमालय-जैसे पर्वत पुनीत मान्य हो चुके थे। नैतिकताका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यापुरीमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी, अपने धनसे ही सन्तुष्ट रहनेवाले, संयमी तथा शील और सदाचार-की दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति विशुद्ध थे। प्रतिज्ञा-पालन, सत्यवादिता, कृतज्ञता, इन्द्रियनिग्रह तथा दानशीलताका वाल्मीकिने स्थल-स्थलपर आग्रह किया है। कर्म-सिद्धान्तमें अटूट विश्वास था। यह संसार एक कर्म-भूमि है, जहाँ मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोंका फल पाता है। कर्मफल भोगनेके लिये जन्म-जन्मान्तर तथा स्वर्ग और नरककी प्राप्तिमें विश्वास भी अनिवार्य था। जीवनके प्रति दृष्टिकोण आशा और निराशाका

सम्मिश्रण था। धर्म जीवनके समग्र उत्कर्षका मूल स्रोत था—

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।

(३।९।३०)

सात्त्विक और दैवी जीवनकी ओर प्रेरित करनेवाली सभी बाते धर्मके अन्तर्गत थीं। रामायणके चरित्र-चित्रणमे धर्मकी साकार मूर्तियाँ, धर्मके ज्वलन्त आदर्श विद्यमान है। विभीषणमे शरणागत-धर्मका, हनुमान्‌मे सेवकधर्मका, सुग्रीवमे सख्यधर्मका, दशरथमे पितृधर्मका; श्रीराममे पुत्रधर्म, पतिधर्म और राजधर्मका; कौसल्यामे स्त्रीधर्मका, सीतामे पातिव्रत्यधर्मका तथा भरत और लक्ष्मणमे भ्रातृधर्मका मूर्तिमान् आदर्श सन्निहित है।

रामायणका हिंदू-संस्कृतिपर प्रभाव

हिंदू-संस्कृतिके सभी क्षेत्रोमे रामायणका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। वाल्मीकिके चरितनायक श्रीरामकी पूजा हिंदू-धर्मका अमिट अङ्ग है। रामानुज, रामानन्द, कबीर और तुलसीदासने श्रीरामका एक आदर्श राजा और ईश्वरीय अवतारके रूपमे प्रचार किया, जिससे हिंदू जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय नैतिकताका तो रामायण उद्गम-स्थल ही है। रामायणके आदर्शोंका अनुकरण भारतीय संस्कृतिके समर्थकों और उन्नायकोका सदासे लक्ष्य रहा है। भारतीय काव्यो तथा नाटकोके कथानक रामायणके पर्याप्त ऋणी है। मुरारिके शब्दोमे 'समस्त कविरूपी व्यापारियोके लिये वाल्मीकिने एक सामूहिक पूँजी प्रस्तुत कर दी है'—

अहो सकलकविसार्थसाधारणी खलु इदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।

आधुनिक समयमे होनेवाली रामलीलाएँ भी रामायणके कथानकके प्रति लोकरुचिकी द्योतक है। भारतीय चित्रकारी रामायणद्वारा प्रभावित है। राजपूत-शैलीकी चित्रकलामे रामायण-सम्बन्धी चित्रोंका बाहुल्य है। जोधपुर-म्यूजियममे सैकड़ो वर्ष प्राचीन ९१ रामायण-सम्बन्धी चित्रोका एक संग्रह विद्यमान है। प्राचीन भारतीय स्थापत्यकलाके उपलब्ध नमूनोपर रामायणकी छाप देख पड़ती है। साँची, अमरावती, भारहुत, उदयगिरि, बुद्धगया, नासिक, मथुरा और भूतेश्वरके प्राचीन अवशेषोपर रामायणमे वर्णित प्रासादो और शिखरों तथा सजावट और निर्माणकलाका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। कुमारगुप्त प्रथमकी एक उपलब्ध मुद्रापर अयोध्याकाण्ड (२।२।२२) के उस वर्णनका चित्र अङ्कित है, जिसमे हाथीपर सवार होकर श्रीराम राजमार्गसे जा रहे है, और उनके सिरपर छत्र तना हुआ है। गुप्तकालीन दशावतार-मन्दिरमे तथा विजयनगरकालीन हजारा श्रीराम-मन्दिरमे रामायणके कई दृश्य खुदे हुए है। पहाड़पुर (बंगाल) के आठवी शताब्दीके मन्दिरमें रामायणकी कई घटनाएँ खुदी हुई है। भारतके अनेक प्राचीन शिलालेखोमे रामायणके शब्दो, भावो तथा श्लोकार्धोको उद्धृत किया गया है। यही नही, बृहत्तर भारतके देशोकी कला, साहित्य और संस्कृतिपर भी वाल्मीकीय रामायण-का प्रभाव आज भी स्पष्ट झलकता है।

हिंदुओंकी धर्मनिष्ठा और सचाई

'हिंदू-धर्मका आचार-निर्माणकारी प्रभाव इतना विशाल था कि केवल उच्चवर्गके ही लोग नही, वरं नीचों-से-नीचो जातिके लोग भी शास्त्रोपदिष्ट युद्धकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परम्पराओका पालन करते थे।' रातको लड़ना अथवा छिपकर आक्रमण करना लोग जानते ही नहीं थे। हिंदू लोग सच्चे वीर थे, तभी तो शत्रुके प्रति उनके मनमे लेशमात्र भी वैर नही रहता था। इसीलिये विश्रामकालमे वे एक ही नदीमे स्नान करते तथा एक दूसरेको पान-सुपारी देते।

'दिये हुए वचनके प्रति साधारणसे भी साधारण हिंदू-सैनिकका इतना विलक्षण आदर था कि जब युद्धके बंदियोको प्रतिज्ञाबद्ध करके छः मासके लिये छोड़ा जाता था, तब यदि वे मुक्ति पानेके लिये माँगे हुए मूल्यकी व्यवस्था नही कर पाते तो अपने-आप वापस आ जाते थे। उनमे अपकीर्तिको सदा मरणसे भी अधिक बुरा माना जाता था। सत्यनिष्ठाके प्रति पूरी सावधानीका अभाव तथा शत्रुकी किसी प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ उठा लेना—इनको अपमानजनक समझा जाता था। —पुर्तगाली लेखक

हिंदू-संस्कृति और श्रीरामचरितमानस

(लेखक—मानसराजहंस प० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

सम्-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर सुट्का आगम होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है 'सम्यक् रूपसे अलङ्कृत बनावट', या यों कहिये कि 'दोषापनयनपूर्वक गुणाधान'। इसमे सन्देह नहीं कि अनेक शास्त्रोमे इस शब्दका एकाधिक अर्थोंमे प्रयोग हुआ है; परंतु 'हिंदू-संस्कृति' शब्दका अर्थ 'हिंदुओंद्वारा गृहीत दोषापनयन-गुणाधान-परिपाटी' ही होना चाहिये।

यह जगत् गुण-दोषमय है। शुद्ध गुण या शुद्ध दोषका रूप कहीं ऑखतले नहीं आता। गुणमे दोष मिला हुआ है, और दोषमें गुण मिला हुआ है—यथा 'विधि प्रपंच गुन अवगुन साना।' मानुषी बुद्धि इसके वर्गीकरणमें सर्वथा असमर्थ है। लैबोरेटरी (रसायनशाला) मे भी इनका विश्लेषण नहीं हो सकता। अतः गोस्वामीजी कहते हैं—

गनि गुन दोष वेद बिलगाए।

इस गुण-दोपसे सने हुए प्रपञ्चमेसे गुणो और दोषोंका वर्गीकरण वेदादि शास्त्रोंने किया। अतः इनका निर्णेता वेदादि शास्त्र है। कहना नहीं होगा कि प्रचलित मत-मतान्तरोने भी रूपान्तरसे उसी निर्णयको स्वीकार किया है। परंतु इस समय, जब कि ईश्वरपर विश्वास करना असभ्यता तथा वर्बरताका द्योतक माना जाता है, वेदादि शास्त्रोकी कथा ही क्या है। आज छोटी-सी-छोटी बातें विवादास्पद हो उठी हैं, शब्द तथा उनके अनादि-सिद्ध अर्थोंमे स्वेच्छा-चारिताका बोलबाला हो रहा है, रुचिके अनुसार गुण-दोषकी कल्पना की जा रही है, तदनुसार ही वेदादि शास्त्र भी निर्दयता-के साथ तोड़े-मरोड़े जा रहे है! ऐसी स्थितिमे 'हिंदू-संस्कृति' जैसे जटिल तथा गम्भीर विषयपर विवाद उठना इस समय कोई आश्चर्यकी बात नही है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि 'हिंदू-संस्कृति क्या है? और उसके शुद्धरूपका दर्शन किस उपायसे सम्भव है?'

प्रकृत जिज्ञासुके लिये इसका उत्तर कुछ बहुत कठिन नही है। इस समय जितनी संस्कृतियॉ प्रचलित हैं, उनका जन्म २५०० वर्षोंके भीतरका है। इससे पहलेकी संस्कृति ही शुद्ध हिंदू-संस्कृति है, और उसके वर्णनसे संस्कृतका भंडार भरा पड़ा है। पर जनता उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकती; क्योंकि व्याख्याताकी विप्रलिप्सासे उसमें भी अर्थका अनर्थ किया जा सकता है।

परंतु श्रीरामचरितमानस हिंदीमे है। वह 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' है, उसे सभी सम्प्रदायके लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उसमे कथा भी उस समयकी है, जब कि इन विभिन्न संस्कृतियोंका गन्ध भी नहीं था, जिनके कारणसे हिंदू-संस्कृति विप्रतिपत्तिका विषय हो रही है। उसके नायक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं, जिन्हें संसार आदर्श नरपतिरूपसे स्वीकार करता है, और उसके रचयिता ऐसे वीतराग महात्मा हैं, जिनपर पक्षपात, विप्रलिप्सा तथा स्वार्थ-परायणतादि दोषोंका आरोप नहीं किया जा सकता। अतः श्रीरामचरितमानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हिंदू-संस्कृतिके विशुद्ध रूपका दर्शन बड़ी आसानीसे हो सकता है।

उसमें उपादेयरूपसे जिस भॉति हिंदू-संस्कृतिका कथन है, उसी भॉति हेयरूपसे लङ्काकी संस्कृतिका वर्णन तथा कलि-खल-अघ-अवगुण-कथन भी है; अतः उसकी उक्तियोंमे हिंदू-संस्कृति निखरी हुई-सी दिखायी पड़ती है, सुतरां हिंदू-संस्कृतिके सम्यक् ज्ञानके लिये मैं पाठकोंसे श्रीरामचरितमानसके अध्ययनके लिये अनुरोध करूँगा। यहॉपर तो उसका अधूरा स्थूल मानचित्र भी देना कठिन है।

श्रीरामचरितमानसमे दो समृद्ध देशोंका विशेषरूपसे वर्णन है, एक श्रीअयोध्यापुरीका और दूसरा लङ्कापुरीका। अयोध्यापुरीका राज्य वंशपरम्परागत है, और उसके शासक रघुवंशी क्षत्रिय हैं, जिनका प्रजापालन स्वधर्म है। उनके शासनमे आधुनिक वादोंके सभी गुण थे और दोष एक भी नहीं। उनकी प्रजा स्वतन्त्र होनेपर भी सनाथ थी। राजा प्रजाका आराधन करता था, उसके हृद्गत भावोंको दूतोद्वारा जानकर उनकी तुष्टिके लिये अपनी प्राणप्रिया सती साम्राज्ञीको त्याग सकता था। और प्रजा राजभक्त थी, राजाके लिये अपने प्राणोको निछावर करनेके लिये प्रस्तुत रहती थी। शासकने धर्मभावना इतनी प्रबल बना रक्खी थी कि लोग पापसे भयभीत रहते थे, अपराध या विरोधकी प्रवृत्ति ही उनमे नहीं थी। वहॉ एक ही आन्दोलन चलता था कि 'मनको जीतो;' अतः जेलखाना रहनेपर भी वहॉ कैदी नहीं थे, न्यायालय रहनेपर भी मुकदमे नही थे। यथा—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ॥

सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती ॥

सब लोग अपना-अपना काम ईश्वरार्पणबुद्ध्या करते थे, फलकी कामना किसीको नहीं; अतः बिना मूल्य दिये भी बाजारमें सौदा मिलता था।—'वस्तु बिनु गथ पाइए।'

कोई भी नया काम करनेके पहले राजा प्रजासे सम्मति ले लेता था, यहाँतक कि श्रीरामचन्द्र-ऐसे पुत्रको गद्दी देनेके लिये महाराज दशरथ प्रजाजनोंसे कहते हैं—

जौं पाँचहि मत लागै नीका । करहु हरषि हियँ रामहि टीका ॥

प्रादेशमात्र कहकर अब मैं विरोधी संस्कृति (लङ्काकी संस्कृति) का रूप कुछ दिखलाता हूँ । लङ्काके शासक बड़े विद्वान् ब्राह्मण रावण थे, अतः राज्यशासन उनका स्वधर्म नहीं था । लङ्का उनकी पराक्रमार्जित थी । उन्होंने भी अपने समाजको सुखी कर रक्खा था। सम्पूर्ण संसारको लूटकर उन्होंने सोनेकी लङ्का बना रक्खी थी, यथा—

चाँकि राख्यौ रासि सब जाँगर जहान भो ।

वे अपनी रायसे राज्य करते थे, मन्त्रीकी भी नहीं सुनते थे। राजाको मन्त्री चाहिये, इसलिये मन्त्री रख छोड़ा था। यथा—

भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र ।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र ॥

सम्राट् रावण वेद-पुराणको विद्रोहात्मक समझते थे, अतः उनसे बहुत चिढ़ते थे; जिस भाँति धर्म निर्मूल हो, वैसी ही नित्य नयी आज्ञा निकाला करते थे। धर्मके मूल गौ, ब्राह्मण और देवताओंके विरोधमें नित्य आन्दोलन चलता था। यथा—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिं जप जोग धर्म ब्रत दाना । सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना ॥

फल यह हुआ कि अतिशय धर्मकी ग्लानि देखकर सम्पूर्ण पृथ्वी भयभीत होकर व्याकुल हो उठी; क्योंकि शासकके धर्मविरोधी होनेसे आसुरी प्रकृतिके लोग बहुत अधिक हो गये। वे माता-पिता और देवताको नहीं मानते थे, साधुओंसे सेवा लेते थे। दूसरेके धन और परायी स्त्रीके लम्पट खल, चोर और जुआरियोंकी वृद्धि हुई; जगत्में अव्यवस्था फैल गयी।

ऐसा समय भी जिस उपायसे पलटा जा सकता है, उसका भी निर्देश श्रीगोस्वामीजीने वहीं कर दिया है। वह उपाय वेद-शास्त्रसम्मत है और सहस्रों बारका परीक्षित है, कभी व्यर्थ जानेवाला नहीं है । वह यही है कि जब-जब इस भाँति संसार सङ्कटाकीर्ण हुआ है, तब-तब भले लोग इकट्ठे होकर भगवान्की शरणमें गये हैं, और उन्हींसे प्रार्थना की है। प्रार्थनाका महाप्रभाव अचिन्त्य है, उससे द्रवीभूत होकर परमेश्वर भक्तोंके मनोरथको पूर्ण करते हैं। सम्पूर्ण पृथ्वीने उसी उपायका अवलम्बन किया । वह देवताओंकी शरणमें गयी, उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की।

उसी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर भगवान्ने उक्त रघुवंशमें महाराज दशरथके घरमें अवतार धारण किया और उन्हींके द्वारा लङ्कावाली विरोधिनी संस्कृतिका नाश होकर विशुद्ध हिंदू-संस्कृतिकी पुनः स्थापना हुई।

भौतिक उन्नति यद्यपि उपेक्षाकी वस्तु नहीं है, फिर भी वह संस्कृति नहीं है। संस्कृति उससे कहीं ऊँची वस्तु है। भौतिक उन्नतिका सदुपयोग या दुरुपयोग संस्कृतिके हाथमें है । लङ्कामें जो उन्नति हुई थी, उसे पढ़कर आश्चर्य होता है। वायुयान वहाँ थे, गोले वहाँ शत्रु-सेनापर गिराये जाते थे । रणाङ्गणमें दिनको सिनेमाके ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाये जाते थे, जिन्हें देखकर शत्रुकी सेना युद्ध-पराङ्मुख होती थी। विज्ञान इतना बढ़ा था कि बनावटी शत्रुका सिर दिखलाकर उसकी पत्नीको विपत्ति-सागरमें डाल देते थे; पर इन सबसे संसारका हित नहीं हुआ, क्योंकि उनकी संस्कृति कुत्सित थी।

यह संसार है; एक रंगसे न कभी रहा, न रहेगा। अनेक प्रकारकी उन्नति और अवनतियाँ आया-जाया करती हैं। इसमें हिंदू-संस्कृति यही है कि किसी भी अवस्थामें स्वधर्मका परित्याग न करे; क्योंकि धर्म ही प्रभुका अग्रभाग है। यथा—

सहि कुबोल साँसति सकल अँगइ अनट अपमान ।
तुलसी धरमु न छाड़िये कहि करि गए सुजान ॥



'माता, पिता और आचार्य देवता हैं।' 'माता प्रत्यक्ष देवता है। जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।' 'स्त्रीको संयतोपस्कर (थोड़े गहनोंवाली), दक्ष, हृष्ट और व्यर्थव्यय-पराङ्मुखी होना चाहिये। पतिमें रत रहकर सदा सास-ससुरकी सेवा करना उनका धर्म है।' 'उपाध्यायसे दशगुण आचार्यका, आचार्यसे शतगुण पिताका और पितासे सहस्रगुण गौरव माताका है।'

इस प्रधान धर्मकी शिक्षा देनेके बाद भगवान् श्रीरामचन्द्रने वनकी भयङ्करताओं और वहाँकी असुविधाओंका बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पाठक रामायणमें उनको देख सकते हैं। अधिकांश वर्णन बड़ा ही भावमय और सुन्दर है, कवित्व तो उसमें कूट-कूटकर भरा है। कुछ पङ्क्तियाँ देखिये—

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

इन पंक्तियोंमें कितनी स्वाभाविकता और भावुकता है, सहृदयजन स्वयं उसका अनुभव करें। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंका मत है कि श्रीमती जनकनन्दिनीका चरित्र जिस रूपमें भारतीय कवियोंने अङ्कित किया है, वह कल्पित है; उसमें वास्तविकताका लेश नहीं। 'उनपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उनको कुछ कहते नहीं देखा जाता। ज्ञात होता है कि उनके मुखमें जीभ नहीं, या किसीने उनके मुखपर मुहर लगा दी है। वे बड़े-से-बड़ा दुःख सह लेती हैं परंतु उफ् भी नहीं करतीं। वज्र टूट पड़ता है, किंतु हिलतींतक नहीं। ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा हो सकती है, कोई जीव-धारिणी नहीं।' ऐसी-ही-ऐसी तर्कनाएँ करके वे दिलके फफोले फोड़ते हैं, और इस प्रकारकी और कितनी ही ऊटपटाँग बातें कहते रहते हैं। वास्तव बात यह है कि जिस वातावरणमें उनके हृदयका विकास हुआ है, जो दृश्य उनके नेत्रोंके सामने उपस्थित होते रहते हैं, पति-पत्नीके जिन पारस्परिक व्यवहारोंका उनको अनुभव है, वैसी ही उनकी विचार-परम्परा और मननशैली है। यूरोपकी स्त्रियोंमें आत्मपरायणता अधिक होती है, वे उतनी पतिप्रेमिका और स्नेहमयी नहीं होतीं, जितनी एशिया—विशेषतः भारतकी कुल-ललनाएँ होती हैं। वे पतिपरायणा तभीतक रहती हैं, जबतक उनके स्वार्थोंकी पूर्ति होती रहती है। स्वार्थमें व्याघात उपस्थित होनेपर वे तत्काल उनको त्याग देती हैं। आजकल यह प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल हो गयी है। पतिकी आज्ञामें रहना, उनकी सेवाके लिये आत्मोत्सर्ग करना, उनकी दृष्टिमें आत्मविक्रय है। विवाह-बन्धन उनकी दृष्टिमें उतना पवित्र नहीं, वे बातकी बातमें उसे तोड़ सकती हैं। उनका स्वभाव उग्र, असंयत और प्रायः उच्छृङ्खल होता है। इस प्रकारकी प्रवृत्तिको वे तेजस्विता कहती हैं। उनकी स्वतन्त्रताकी कामना इतनी तीव्र होती है कि पतिके सामने यदि थोड़ा भी झुकना पड़े, तो वे उसे परतन्त्रता मान बैठती हैं। जिस देश, जिस समाजके ऐसे आदर्श हों, उस देश और समाजमें पला हुआ मनुष्य यदि सीतादेवीको अधिक धीर, गम्भीर, संयत, आत्मत्यागकी मूर्ति और पतिप्राणा देखकर उनके विषयमें तथाकथित विचार प्रकट करे तो क्या आश्चर्य। मेरे कथनका यह मतलब नहीं कि यूरोपमें पतिपरायणा स्त्रियाँ होती ही नहीं; ऐसा कहना और सोचना अन्याय होगा। मिल्टनने एक स्थानपर 'ईव' के मुखसे इन शब्दोंको कहलवाया है। ये शब्द उन्होंने आदमसे कहे हैं—

"What thou bidd' st, unargued I beg
So God ordains, God is thy law, thou mine."

'जो आपकी आज्ञा होती है, उसे मैं बिना कुछ कहे-सुने स्वीकार करती हूँ। ईश्वरीय इच्छा यही है। आपके नियन्ता ईश्वर हैं और मेरे आप।'

संसारमें जितनी सती-साध्वी स्त्रियाँ होंगी, प्रायः सबके हृदयका भाव ऐसा ही होगा। यदि यूरोपकी स्त्रियोंमें ऐसा भाव न पाया जाता तो मिल्टनकी लेखनीसे ऐसे शब्द निकलते ही नहीं, अभावमें भाव नहीं होता। यूरोपकी स्त्रियोंमें रजोगुण और तमोगुण ही होता है, सत्त्वगुण नहीं—ऐसा कहना अस्वाभाविक होगा। वहाँ स्वाभाविकताका लोप हो गया है, कृत्रिमता ही शेष है—यह भी नहीं कहा जा सकता। किंतु यह परम सत्य है कि आजकल धार्मिकताका स्थान स्वेच्छाचारिता ग्रहण कर रही है, इसीलिये वहाँका वायुमण्डल विशेष कलुषित हो गया है। यूरोपमें सती-साध्वी स्त्रियोंका अभाव नहीं, किंतु वे उँगलियोंपर गिनी जा सकती हैं। क्षेत्र प्रायः वैसी ही स्त्रियोंके हाथमें है, जिनका चित्रण ऊपर हुआ है। आजकल हमारे यहाँ भी पढ़ी-लिखी स्त्रियोंने यूरोपकी स्त्रियोंका अनुकरण आरम्भ कर दिया है। अतएव उन्हींके प्रभावोंसे लोग प्रभावित हैं, और वैसे ही असंगत विचार भारतकी पुनीत सभ्यतामें पली स्त्रियोंके विषयमें प्रकट करनेके लिये बाध्य हैं; किंतु इस प्रकारकी निर्मूल बातोंका मूल्य ही क्या।



परम मनोहर मूर्ति बालरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र

सिंहासनासीन श्रीसीतारामजी

श्रीमती सीतादेवी भारतकी सती-साध्वी स्त्रियोंकी शिरोमणि हैं। उनको आर्य-संस्कृतिकी दिव्य मूर्ति कह सकते हैं। उनके मुखमें जिह्वा है, किंतु बड़ी ही संयत। उनके मुँहपर मुहर कभी नहीं लगी। वे समयपर बोलती हैं, किंतु उनके शब्द तुले हुए और गम्भीर होते हैं; उन शब्दोंमें महानुभावता भरी होती है, पर साथ ही हृदयकी विशालता भी। कटु वचन कहना, उद्धत बन जाना उनके स्वभावके विरुद्ध है। जैसी मर्यादाशीलता और सदाशयता उनमें दृष्टिगत होती है, अन्यत्र नहीं। और बातोंकी तरह सभ्यताके भी स्तर होते हैं। पहले वह उतनी उदात्त, संयत और गम्भीर नहीं होती, जितनी उन्नतावस्थामें। सांसारिक अन्य पदार्थोंकी तरह उसका भी क्रमशः विकास होता है। जो जातियाँ पहले पशुओंके समान जीवन व्यतीत करती थीं, आज वे ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहती हैं, और वैज्ञानिक आविष्कारोंद्वारा जगत्‌को चकित करती हैं; यह उनकी सभ्यताके क्रमशः विकासका ही फल है। आर्यसभ्यता संसारकी सब सभ्यताओंसे प्राचीन है और लगभग पूर्णताको पहुँची हुई है; इसलिये वह अधिकांश उदात्त गुणोंका आधार है। भगवती जानकी सतीत्वके विषयमें इसका प्रमाण है। स्त्री-जातिके हृदयका चरमोत्कर्ष उनमें देखा जाता है। उनकी महानुभावता संसारकी सती-साध्वी स्त्रियोंका आदर्श है। विभिन्न हाथोंमें पड़कर विचार-वैचित्र्यके कारण कहीं-कहीं उनका चरित्र विकृत हो गया है, किंतु उनकी महत्ता कहीं खर्व नहीं हुई। दिङ्नाग बौद्ध विद्वान् था। उसने 'कुन्दमाला' नामक एक नाटक लिखा है। प्रकरण उसका 'वैदेही-वनवास' है। विपिनमें पहुँचाकर लौटते समय लक्ष्मणजी जनकनन्दिनीसे सन्देशकी प्रार्थना करते हैं, उस समय नाटककार उनके मुखसे ये वाक्य कहलाते हैं—

तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहतवचनतैषा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्।

अहो अविश्वसनीयता प्रकृतनिष्ठुरभावानां पुरुषहृदयानाम्।

'ऐसे निष्ठुरके लिये मैं जो सन्देश देना चाहती हूँ, इसमें लक्ष्मणके वचनका आदर है, सीताका सौभाग्य नहीं।' स्वभावसे ही निष्ठुरभावपूर्ण पुरुष-हृदयकी अविश्वसनीयता विचित्र है।' ऐसे ही एक अवसरपर भवभूति कौन-सा पथ ग्रहण करते हैं, उसे भी देखिये। उत्तररामचरितमें एक स्थलपर वे श्रीमती सीतादेवीकी सखी वासन्तीके मुखसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें यह वाक्य कहलाते हैं—

'अयि देव! किं परं दारुणः खल्वसि।'

'देव! आप सचमुच बड़े निष्ठुर हैं।'

यह सुन सीतादेवी अपनी पतिप्राणताका परिचय देते हुए क्या कहती हैं, उसे भी सुनिये—

'सखि वासन्ति! किं त्वमेवंवादिनी भवसि, पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्याः।'

'सखी वासन्ती! तुम ऐसा क्यों कहती हो? आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।'

दिङ्नागकी जनकनन्दिनी देवी नहीं, मानवी हैं। उनमें धैर्यच्युति है। वे धैर्यच्युत होकर पतिदेवको निष्ठुर कहती हैं, साथ ही पुरुषजातिमात्रको स्वभावसे ही निष्ठुरहृदय कह डालती हैं। इस कथनमें स्वाभाविकता है, किंतु चित्तकी वह विशालता नहीं, जो मनुष्यको देवता बना देती है। विपत्ति ही मनुष्यकी कसौटी है, इसपर कसनेपर दिङ्नागकी सीतादेवी ठीक नहीं उतरीं। भवभूतिकी सीतादेवी वास्तवमें देवी हैं, वे आत्मचिन्ताशून्य हैं, सच्ची पतिप्राणा हैं; वे 'विपदि धैर्य' का आदर्श हैं। उन्होंने स्वाभाविकतापर विजय प्राप्त कर ली है, उनमें प्रतिहिंसा-वृत्ति है ही नहीं। वे स्वयं तो भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर कुछ कहतीं ही नहीं, सखीके कटु वचनको भी नहीं सह सकतीं; उनका यह वाक्य बड़ा ही मार्मिक है—'आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।' यह सीतादेवीका वास्तविक रूप है, यह रूप बुधजन ही नहीं—विबुधजनवन्दनीय है। उनका यही रूप आर्य-संस्कृतिका सर्वस्व है। गोस्वामीजी उनके इसी रूपके उपासक हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बातोंको सुनकर सीतादेवीने क्या कहा, अब उसको उन्हींके शब्दोंमें सुनिये।

कौसल्यादेवीके सामने जनकनन्दिनीको सीधे पतिसे बातचीत करनेमें मर्यादा बाधक थी। अतएव उन्होंने उन्हींका सहारा ढूँढ़ा, किंतु इसमें उनको सफलता न हुई। भगवान् श्रीरामचन्द्रने ऐसी बातें कहीं कि उन्हें बोलनेकी नौबत आयी। इसलिये पहले उन्होंने—

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥

इस पद्यमें कितनी मर्यादाशीलता है। 'छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी' में उनके सरल और विनम्र हृदयकी कितनी सुन्दर प्रतिच्छाया है। साससे अविनयकी क्षमा माँगकर

उन्होंने पतिदेवसे जो कुछ कहा, उसमें पतिप्रेमका प्रवाह उमड़ा पड़ता है। उसका एक-एक शब्द बड़ा ही भावमय है, उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

विवाहकालमें सप्तपदीके समय पत्नी प्रतिज्ञा करती है—

आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि षष्ठमे सा पदे वदेत्॥

'आर्त होनेपर आर्त हूँगी, सुख-दुःख-भागिनी हूँगी और तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी।' कहा जा सकता है कि इस प्रतिज्ञाके अनुसार उनको वही करना चाहिये था, जो पतिने कहा; क्या यह अमर्यादा नहीं? पहली बात यह कि 'आपत्काले नियमो नास्ति।' दूसरी बात यह कि उन्होंने अँवज्ञा क्या की? कोई आज्ञा होनेपर उसके पालन करनेमें जो बाधाएँ उपस्थित होंगी, क्या उनका निवेदन करना आज्ञा न मानना है? आज्ञा माननेकी अपेक्षा पतिकी दुःख-सुख-संगिनी होना, उनके लिये जीवन उत्सर्ग करना क्या अधिक संगत नहीं? सीतादेवीकी चेष्टा यही तो है। स्त्रीका सर्वस्व पति ही तो है, फिर यहाँ तो प्राणकी बाधा उपस्थित है।

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।

ऐसी अवस्थामें उन्होंने जो कुछ नवेदन किया, उसमें विप्रतिपत्ति क्या? जो स्त्री-धर्म है, जो शास्त्रसंगत बात है, वही तो वे कह रही हैं।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम्॥
(मनु०)

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
(व्यास०)

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा॥
(शिवपुराण)

पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्। (वामन० शिवपुराण)

'स्त्रीको न तो कोई यज्ञ करनेकी आवश्यकता है न व्रत-उपवासकी। पतिकी सेवा करनेसे ही वह स्वर्गमें आदृत होती है। पतिलोककी कामना करनेवाली साध्वी स्त्री, चाहे जीवित पति हो चाहे मृत, उसका अप्रिय कभी न करे।' 'भार्या वही है, जो गृह-कार्यमें दक्ष हो, सन्तानवाली हो, पतिप्राणा और पतिव्रता हो।' 'पिता, भ्राता, पुत्र थोड़ा देनेवाले हैं; सब कुछ देनेवाला पति ही है। इसलिये वह सदा सत्कारयोग्य है।' 'स्त्रियोंका गुरु एक पति ही है।'

श्रीमती जानकी देवीके निवेदनमें आर्य-सिद्धान्तोंकी ध्वनिके सिवा और क्या है? हाँ, उनके हृदयके समान उनकी उदात्त उक्तियाँ अवश्य हैं। इस कथनमें कितनी सत्यता है—'पिय वियोग सम दुखु जग नाहीं।' इसीलिये 'तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू' है, और 'भोग रोग सम भूषन भारू' है। जब 'रघुकुल कुमुद बिधु' बिना 'सुरपुर नरक समान' है, तब 'जम जातना सरिस संसारू' का होना क्या आश्चर्य? फिर वे क्यों न कहतीं 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।' अब वे 'मातु पिता भगिनी' इत्यादि बड़े बड़े सम्बन्धियोंका नाम सुन्दर विशेषणोंके साथ गिनाकर यह कहती हैं, 'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते' तब वे किस ज्वालाकी ओर संकेत करती हैं, क्या यह बतलाना होगा? विरह-ज्वालाकी बातें कौन नहीं जानता। विरहिणीको कौन नहीं जलाता। चाहे यह उसकी मानसिक आधिका ही फल हो, उसको अनुभव ऐसा ही होता है। उसको सुधाकर-किरणें भी अग्निमयी ज्ञात होती हैं, और मलयसमीर शेष-श्वास। और अधिक क्या कहें, उन्होंने यह बात कितनी दूरकी कही, 'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।' सत्य है, पुरुष स्त्री-देहका प्राण है, और कामिनी-कल्लोलिनीका सलिल। किन्तु इस बातको सीतादेवी-सदृश पतिप्राणा देवी ही समझ और कह सकती हैं।

इसके उपरान्त उन्होंने यह कहा—

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल॥

बनदेवीं बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौध सत सरिस पहारू॥

आजकल 'खाओ, पीओ, आराम करो' का वज्र-निर्घोष ही सुनायी पड़ रहा है। ऐसी अवस्थामें सीतादेवीकी बातोंको कौन सत्य स्वीकार करेगा? खग-मृगको परिजन, वनको नगर, वल्कलको विमल दुकूल, पर्णशालाको सुरसदन-समान सुखमूल कौन मानेगा? क्या ऐसा माना जा सकता है? ये तो चिकनी-चुपड़ी बातें हैं। वनदेव, वनदेवी सास-ससुर नहीं बन सकते। 'कुस किसलय साथरी' 'मनोज तुराई' नहीं कही जा सकती; न तो कंद-मूल-फल अमृतमय आहार हो सकते हैं और न अवधके सैकड़ों सौधोंके समान पहाड़; एवं न कोई बुद्धिमती स्त्री ऐसा कह सकती है। हाँ, यह कवि-कल्पना हो सकती है।

हृदय सबके पास है, जीभ सबके मुँहमें है; जो जिसके मनमें आये, कह सकता है; जो चाहे सोच सकता है। परन्तु यह अक्षरशः सत्य है कि जो कुछ श्रीजानकी देवीने कहा, वह आर्यललनाके हृदयका सच्चा उद्गार है। यदि हम विवेककी आँखें खोल लें, तो भारतीय कुलबालाके मानस-दर्पणमें यह भाव बहुत ही स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित दिखायी देगा। श्रीमती सीतादेवी स्वयं इसके लिये प्रमाण हैं,—जिन्होंने एक-दो दिन नहीं, लगभग चौदह वर्ष भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ इसी भावसे व्यतीत किये। उनके उद्गारोंका प्रतिपादन निम्नलिखित पद्य बड़ी ही दृढ़तासे करते हैं—

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥
छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥

वास्तविक सुखका सम्बन्ध हृदयके भावोंसे है, किसी पदार्थ अथवा वस्तुविशेषसे नहीं—इन पद्योंको पढ़कर इस बातको सत्य प्रेमका पथिक भलीभाँति समझ सकता है। प्रेम प्रेमके लिये होता है, सुख-उपभोगके लिये नहीं। जो प्रेम सुख-कामनापर उत्सर्गीकृत है, वह प्रेम नहीं, प्रेमका आडम्बर मात्र है। सच्चे प्रेममें कष्टकी अनुभूति होती ही नहीं। सीतादेवी कहती हैं—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥

सत्य प्रेममें अहंभाव नहीं होता, उसमें सेवाभाव ही प्रबल होता है। सत्य प्रेम सूर्य है, उसके सामने अहंभाव-अन्धकार ठहर नहीं सकता; उसको अवलोकनकर सेवाभाव-सरसिज अवश्य विकसित होता रहता है। भगवती जानकीमें यह भाव कितना जाग्रत् है, देखिये—

सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

इन पंक्तियोंमें कितना आत्मनिवेदन है, कितनी अमायिकता और सरलता है, कितनी हितकामना और सहानुभूति है; यह निर्बल हृदयकी अवतारणा नहीं, सबल चित्तकी उदात्त भावमयी सुन्दर प्रस्तावना है। प्रवञ्चनामय मानसकी प्ररोचना नहीं, 'मनस्येकं वचस्येकं क्रियास्वेकं'की सत्यतामयी विभावना है। स्वार्थसाधनकी कपटभरी आयोजना नहीं, कर्तव्यज्ञानकी भक्तिभरी साधना है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रने विपिनकी भयंकरताका बड़ा विशद वर्णन किया था, और यह भी कहा था—

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं॥

सीतादेवी इसका कितना सुन्दर और गम्भीर उत्तर देती हैं, सुनिये—

बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥

इस उत्तरमें कितना आत्मविश्वास और कितनी पति-निर्भरता है, कितनी प्रीतिपरायणता और तेजस्विता है—इसका अनुभव प्रत्येक सहृदय प्राणी कर सकता है।

श्रीरामचन्द्रजीने यह भी कहा था, 'हंसगवनि तुम्ह नहि बनजोगू।' इसका उत्तर बड़ा ही हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है। कहीं भी जानकीदेवीने व्यंगसे काम नहीं लिया, बहुत धीर भावसे संयत उत्तर ही देती चली गयी हैं। किन्तु इस पंक्तिका उत्तर बड़ा ही व्यञ्जनामय है; साथ ही उसमें इतनी स्वाभाविकता है कि पढ़कर चित्त लोटपोट हो जाता है। उत्तर यह है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥

इस वचन-रचनाकी बलिहारी। इसीको कहते हैं, 'कागज-पर रख दिया है कलेजा निकालकर।' कितनी मीठी चुटकी है, साथ ही कितनी प्रेमभरी!

शास्त्रोंमें स्त्रीको सहधर्मिणी कहा गया है; सहधर्मिणीका अर्थ है, समान धर्मवाली। सच्ची गृहिणी वही है, जो पतिके

भावोंको समझती है और बिना कहे उसकी पूर्ति करती है। पतिने जब मुँह खोलकर कुछ कहा और तब स्त्रीने कोई कार्य किया, तो वह सहधर्मिणी कहाँ रही। जिस स्त्रीने पतिके हृदयको नहीं पहचाना, उसके कर्तव्यको नहीं समझा, जो उसकी जीवन-यात्राके अनुकूल अपनेको नहीं बना सकी, किसी स्थलविशेषपर पतिका क्या धर्म है—जो इसकी मर्मज्ञ नहीं, वह सहधर्मिणी होनेका दावा नहीं कर सकती। विवाहके समय वर कन्यासे कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

'मेरे व्रतकी ओर तुम्हारा हृदय खिंचे, मेरे चित्तके अनुकूल तुम्हारा चित्त हो, एकमना होकर मेरी बात मानो, प्रजापति तुमको मुझसे सम्बन्धित करे।'

विवाहके अन्तमें कन्याको ध्रुवका दर्शन कराया जाता है, वह ध्रुवको देखकर कहती है, **ध्रुवमसि ध्रुवं त्वां पश्यामि।** 'अयि ध्रुव! तुम अचल-अटल हो, मैं तुम्हें देखती हूँ।' इसका भाव यह है कि 'विवाहकार्यमें पतिके द्वारा मुझसे जो प्रतिज्ञाएँ करायी गयी हैं, अथवा मैंने स्वयं जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उनपर मैं ध्रुवके समान अचल-अटल रहूँगी।' सप्तपदीके समय वह यह भी कहती है—

यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥

'यज्ञ, होम और दानादिमें; धर्म, अर्थ और काममें मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी।' इसीलिये 'अर्धं भार्या मनुष्यस्य' है। इसीलिये स्त्री अर्धाङ्गिनी है और इसीलिये सहधर्मिणी। रामायणमें इस संस्कृतिका एक बड़ा ही उत्तम निदर्शन है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

गोस्वामीजीकी इस उक्तिमें कि 'प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा' बड़ा स्वारस्य है। 'प्रभु' शब्दका प्रयोग कितना सार्थक है! साधारण जन होते तो इस विषयमें वे कुछ लापरवाही भी कर सकते; किंतु 'प्रभु' का ऐसा करना बड़ा ही अनुचित था। बड़ी ही मर्यादाविरुद्ध बात थी। फिर उसके साथ, जो जीभ नहीं हिला सकता। बड़े लोगोंके लिये दीनों, अकिंचनोंकी सहायता करनेके लिये इस प्रकारके अवसर बड़े ही सुन्दर होते हैं। सेवा करनेवाला बड़ोंसे बड़ी आशा रखता भी है। कम-से-कम भगवान्‌को निषादकी मूँठी अवश्य भर देनी चाहिये थी; किंतु कहाँ, वे तो कुछ न दे सके। तापस-वेषमें उनके पास था ही क्या। फिर उनके जीको चोट क्यों न लगती, और वे क्यों न संकुचित होते। सीतादेवी सतीशिरोमणि हैं, सच्ची सहधर्मिणी और अर्धाङ्गिनी हैं; उन्होंने पतिदेवके हृदयकी बात जान ली और तत्काल मुदित मनसे मणिजटित मुँदरी उतार दी। गोस्वामीजीके शब्दोंकी मार्मिकता देखिये—

'पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥'

कैसी मुँदरी उतारी? मणिजटित। कैसे उतारी? मुदित मनसे। स्त्रियोंको गहना बड़ा प्यारा होता है; उनको उसे अलग करते बड़ी कठिनता होती है, पीड़ा भी होती है। वे आसानीसे उसे किसीको देना नहीं चाहतीं। जब्र करके कोई भले ही ले ले। यह साधारण गहनोंकी बात है, और मणिजटित गहना? वह तो कलेजेमें छिपाकर रखनेकी चीज है। उसका तो नाम ही न लीजिये। किंतु सीतादेवीने वैसी ही अँगूठी उतारी। और वह भी मुदित मनसे; जरा-सा तेवर भी नहीं बदला, पेशानीपर शिकन तक नहीं आयी। क्योंकि उनका सर्वस्व तो उनका जीवनधन है, उनका सौन्दर्य तो उनके हृदयका सौन्दर्य है। जो पतिप्रेमके आभूषणसे आभूषित है, उसको भूषणोंकी क्या आवश्यकता। जिसे पतिकी अनुकूलता वाञ्छनीय है, जो पतिमर्यादाकी भूखी है, गहनोंपर उसकी लार नहीं टपकती। यह चिरसंचित आर्यसंस्कृति है, भगवती जनकनन्दिनी इसका उच्चतम आदर्श हैं।

आधुनिक कालमें भी इस प्रकारके आदर्शोंका अभाव नहीं, एक प्रसंग आपलोगोंको सुनाता हूँ। देशपूज्य, दयासागर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागरका पवित्र नाम आपलोगोंने सुना होगा। उनकी स्त्री बड़ी साध्वी थीं। विद्यासागर महोदयकी उदारता लोकविश्रुत है। एक बार एक ब्राह्मण उनकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विनय की कि 'मैं कन्यादायसे आकुल हूँ; यदि आपने कृपा नहीं की तो मेरा निर्वाह होना कठिन है।' उसने दो सौ रुपयेकी आवश्यकता बतलायी। उस समय उनके पास कुछ नहीं था, वे चिन्तित हुए। ब्राह्मणको बाहर बैठाया और आप अंदर गये। सामने उनकी सहधर्मिणी आ गयीं। उन्होंने पतिके मुखकी

ओर देखा और पूछा 'आप चिन्तित क्यों हैं ?' उन्होंने कहा, 'एक ब्राह्मण कन्यादायग्रस्त है और दो सौ रुपयेकी उसको आवश्यकता है; परंतु इस समय तो मैं बिल्कुल रिक्तहस्त हूँ ।' साध्वीके नेत्रोंमें जल आ गया; उन्होंने कहा, 'मेरे हाथके सोनेके कड़े किस काम आयेंगे ?' यह कहकर उन्होंने अपने कड़े उतारे, और पतिदेवके हाथपर उनको रख दिया। अपनी पत्नीकी यह उदारता देखकर उनके अश्रुपात होने लगा, वे अश्रुविसर्जन करते ही बाहर आये और उत्फुल्ल हृदयसे उन्होंने कड़े ब्राह्मणदेवको सादर देकर कहा; 'इन्हे मेरी स्त्रीने आपको अर्पण किया है।'

रामायणकी संस्कृतिकी बाते सुनाते-सुनाते एक अन्य प्रसंग भी मैंने आपलोगोंके सामने उपस्थित कर दिया— केवल इस विचारसे कि जिसमे आपलोग आर्य-संस्कृतिकी व्यापकताका अनुभव कर सके। आर्य-संस्कृति बहुत उदात्त है और आज इस प्रतिकूल कालमे भी वह बहुत व्यापक है। हिंदू-जातिपर तो उसका प्रभाव है ही, यहॉकी मुसल्मान जाति और ईसाइयोंपर भी उसका असर देखा जाता है। कारण इसका यह है कि उनमे अधिकाश हिंदू-सन्तान ही है। चिरकालिक संस्कार नाश होते-होते होता है। तत्काल अथवा थोड़े समयमे उसका सर्वथा नाश नही होता। यह सच है कि समयकी प्रतिकूलताका सामना उसे करना पड़ रहा है, पाश्चात्त्य विचार भी उसे दबा रहे हैं; किंतु सूर्य कबतक बादलोंमे छिपा रहेगा। काल पाकर बादल टलेंगे और वह फिर वैसा ही जगमगाता दिखलायी पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आर्य-संस्कृतिके भाव उदात्त और सर्वदेशी है। एकदेशिता उनमे कम है। इसलिये पञ्चभूतके समान ही वे उपयोगी है। आवश्यकतानुसार उनका कुछ रूप बदल सकता है, वे सर्वथा परित्यक्त नही हो सकते। रामायण और महाभारतके अनेक अंश और अनेक उपदेश जैसे हिंदू जातिके उपकारक और शिक्षक हैं, वैसे ही संसारकी अन्य जातियोके लिये भी है। यूरोपमे भी उनके अनुवाद आदरसे पढ़े गये हैं और विजातीय सहृदयोंने भी उसकी दिल खोलकर प्रशंसा की है। ऐसी अवस्थामे उनकी उपयोगिता अप्रकट नही। रामायणकी संस्कृतियोका संकलन कर यदि उनपर प्रकाश डाला जाय, और उनपर मननपूर्वक लेख लिखे जायँ तो मेरा विचार है कि वर्तमानकालमे उससे बड़ा लाभ हो सकता है। अन्तमे अपनी निम्नलिखित सवैयाद्वारा गोस्वामीजीका गुणगान करते हुए मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ—

बन राम-रसायनकी रसिका रसना रसिकोंकी हुई सफला।
अवगाहन मानसमें करके जन-मानसका मल सारा टला॥
बनी पावन भावकी भूमि भली, हुआ भावुक-भावुकताका भला।
कविता करके तुलसी न लसे, कविता पा लसी तुलसीकी कला॥

आत्म-ज्योति

भटको नहीं ! अनिश्चयमें मत बहो !

भटकनेसे पतन ही होगा। अनिश्चयमें बहनेसे निर्बलता ही आयेगी।

विचारो और एक निश्चयपर पहुँचो !

निश्चयपर पहुँचनेके बाद उसे कार्यान्वित करो—अडिग, अटल, दुःख झेलते हुए, त्याग करते हुए।

तभी ध्येयतक पहुँचोगे। तभी अपनी मानवता सार्थक प्रमाणित करोगे।— भले ही तब तुम्हारे पैर लहूलुहान हों, मन टूक-टूक हो; आखोंमें तो आतम-गौरव और आतम-सन्तोषकी जगमग ज्योति होगी।

आज दुनियाको यही ज्योति चाहिये। धनकी चकाचौंधमें तो उसकी आँखें खुल ही नहीं पातीं।

उसे स्निग्ध, मनोरम ज्योति दो, जिससे उसकी आँखें खुल सकें।

—बालकृष्ण बलदुवा

आर्य-संस्कृति और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०)

जब किसी देश या जातिकी संस्कृतिका विचार किया जाता है, तब प्रायः उसकी सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, कला-कौशल, व्यापार-वाणिज्य, साहित्य-विज्ञान आदिकी प्रगति देखी जाती है। परंतु प्रकृतिका ऐसा नियम नहीं है कि इन क्षेत्रोमे उन्नति कर लेनेपर भी कोई जाति नष्ट होनेसे बच जाय। बहुत-सी प्राचीन जातियाँ उन्नति कर लेनेपर भी विलीन हो गयीं और उनकी कृतियोंके भग्नांश पुरातत्त्ववेत्ताओंकी खोजकी सामग्री रह गयी हैं। सर हेन्री समनर मेनके मतानुसार थोड़ी-सी पाश्चात्त्य जातियाँ ही प्रगतिशील हैं और शेष सब रूढ़ियोसे बँधी होनेसे गतिहीन हैं या नष्ट हो चुकी हैं। उनकी दृष्टिमे व्यक्तिका अधिकाधिक वर्ग या वर्णसे स्वतन्त्र होना उन्नतिका प्रमाण है। और दूसरा प्रबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण है विज्ञानकी शोध, और उसके द्वारा प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन कर ज्ञान-वर्धनके साथ प्रकृतिकी शक्तिको अपने व्यवहार और उपयोगमे लाना। संस्कृतिका आर्य-आदर्श इससे भिन्न है; परंतु सांसारिक उन्नतिसे उसका विरोध नहीं है। हमारी संस्कृतिके जन्मदाता अरण्यवासी ऋषि-मुनि हैं। ज्ञान-दीपको प्रज्वलित करनेवाले भगवान् वेदव्यास हैं। और पाश्चात्त्य सभ्यताका जन्म नगरोंमे हुआ है। एकपर वन, प्रकृति और अनन्तकी खोजकी छाप पड़ी है, तो दूसरेपर राजस्व एवं भौतिक सुखकी खोजका प्रभाव है।

अनेक प्राचीन जातियाँ कालके गालमें समा गयीं। उनकी आश्चर्यजनक उन्नति भी रक्षा न कर सकी और आर्यजाति सबसे प्राचीन होते हुए भी जीवित है और उसने अपनी कृतियो और विचारधारासे संसारको विशेषरूपसे समृद्ध बनाया है। इस बातका इतिहास साक्षी है। अन्य जातियोंने संस्कृतिके अङ्गोंकी तो भली प्रकार पुष्टि की, परंतु उनको अनुप्राणित करनेवाली संजीवनी शक्तिकी अवहेलना की। परिणाम अनिवार्य था। आर्यजातिने अधिक महत्त्व प्राणको दिया और वह है सनातनधर्म। यही कारण है कि उसकी परम्परा बनी हुई है और वह आज भी जीवित है। गति-मान्द्यके कारण प्रत्यक्ष हैं; परंतु उत्थानके लक्षण भी दिखायी देते हैं। अपनेको बलवती बनानेकी सामर्थ्य और अवरोधको हटानेकी शक्ति उसीमें निहित है।

सनातनधर्म हमारा रक्षक है, पोषक है और भविष्यके लिये हमें इसीका एकमात्र आश्रय है; परंतु खेद तो यह है कि समाजके गण्यमान व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो धर्मानुसार सुधार न कर सनातनधर्मको ही अपनी सुविधा और स्वेच्छाचारसे परिवर्तन करना चाहते हैं। भारतवर्षका विधान बनाया जा रहा है। वह कैसा? धर्मनिरपेक्ष, जिसमें ईश्वरके नामतकका बहिष्कार किया गया है। हमारे बहुसंख्यक विधायकोंकी दृष्टिमे धर्म ही अवनतिका कारण है!

ऋषि-मुनि, आचार्य—यहाँतक कि किसी अवतारने भी यह दावा नहीं किया कि वह सनातनधर्मका जन्मदाता है। समस्त शास्त्रोंका एक ही लक्ष्य रहा है और वह है धर्मका व्याख्यान और उसके द्वारा मनुष्यकी कल्याणकामना। श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्रमयी है। उसीके आधारपर हमारी धर्म-प्राण संस्कृति तथा आर्यजातिके कुछ आदर्शोंको समझनेकी चेष्टा की जाती है। भली प्रकार विचार करनेसे ज्ञात पड़ेगा कि हमारी संस्कृतिके सभी मौलिक सिद्धान्त स्पष्टतः अथवा सूत्ररूपसे गीतामें मिलते हैं। यहाँ तो इने-गिनेपर विचार करना है।

'धर्म' शब्दसे गीताका श्रीगणेश होता है और एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि जिन बातोंको उपदेशरूपमे कहा गया है, वे सब धर्मके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—**इमं धर्म्यं संवादमावयोः**। और अर्जुन भी **धर्मसंमूढचेताः** होकर उपदेशका प्रार्थी हुआ था। इस प्रकार अर्जुनको जो शिक्षा दी गयी, वह हमारे आदर्श और संस्कृतिकी मूलभूत शिक्षा कही जा सकती है। जब अर्जुन युद्धविमुख हुआ, तब श्रीभगवान्ने उसके समस्त तर्कोंका खण्डन तीन ही शब्दोंमें कर दिया—**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्**। उपदेशमें विधि और निषेध दोनों आवश्यक होते हैं। यहाँ निषेध स्पष्ट है। **अनार्यजुष्टम्**—अर्थात् जो आर्यलोगोंके आचरणविरुद्ध हो या उनके आचरणसे अनुमोदित न हो और परम्पराको भङ्ग करनेवाला हो। आर्यका लक्षण योगवासिष्ठमे बतलाया है—

कर्तव्यमाचरन् कामं अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
यथाशास्त्रं यथाचारं यथाकामं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य वह है, जो स्वभावसे ही करनेयोग्य कार्य करता है और न करनेयोग्य नहीं करता। प्रायः लोग दण्डभयसे अपराध या पाप नहीं करते; परंतु आर्यके लिये शुद्धाचरण और निषिद्धका त्याग स्वभावगत होता है। और उसके कार्य सदा शास्त्रानुकूल होते हैं। मर्यादा और परम्पराकी रक्षा बनी रहती है। यह अवस्था अन्तःकरणकी शुद्धिसे प्राप्त होती है। और शुद्ध अन्तःकरण हो जानेपर उसकी प्रेरणा प्रमाणरूप हो जाती है। कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त शकुन्तलाके रूपपर मोहित होकर कहता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

अर्थात् राजाका शुद्ध मन भी शकुन्तलापर रीझ गया है; तब निश्चय है कि उसका क्षत्रियसे विवाह हो सकता है—वह ऋषिकन्या नहीं हो सकती। क्योंकि सज्जनोंके मनमें जिस बातपर शङ्का हो, वहाँ जो कुछ उनका मन कहे, वही ठीक मान लेना चाहिये। अपने अन्तःकरणकी गवाहीपर ऐसा दृढ़ विश्वास आर्यका लक्षण है। भगवान् श्रीरामने जब जनक-नन्दिनीका प्रथम दर्शन पुष्पवाटिकामें किया, तब उनके मनपर जो प्रतिक्रिया हुई, उसको, और तो और, अपने अनुजसे कहनेमें भी उन्हें सङ्कोच न हुआ—'सहज पुनीत मोर मनु छोभा।' पवित्र मन स्वयं ही मर्यादाकी रक्षा करता है, उसको नियन्त्रणमें रखनेकी चेष्टा अनावश्यक है। तभी तो एक कविने कहा है आर्योंकी प्रशंसामें—'जो तेरा नितकर्म था, औरोंका वो ही धर्म था।' हमारा सहज स्वभावसे किया कर्म दूसरोंके लिये आदर्शरूप था। कारण एक ही था—जीवनका प्रत्येक अङ्ग धर्मसे मर्यादित था। साथ ही परम्पराकी रक्षाका भी ध्यान रक्खा जाता था। आर्योंद्वारा आचरणयोग्य कर्ममें परम्परा लक्षित है; क्योंकि जो परम्पराके विरुद्ध हो, वह कार्य भी निषिद्ध हो सकता है।

अन्य धर्मोंमें मोक्षकी कल्पना नहीं है और न जन्मान्तर या कर्मवादका सिद्धान्त स्पष्टतः बताया गया है। गीतामें दोनों कहे गये हैं और आर्यका सबसे महान् आदर्श यही बताया गया है कि आवागमनके चक्रसे निकलकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे। यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और शास्त्रोंकी इसीका उपाय बतानेमें महत्ता है। हिंदुओंपर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि वे मुक्तिके पीछे पड़े रहते हैं, सांसारिक उन्नतिकी अवहेलना करते हैं और मन्द वैराग्यकी भावना रखनेसे अकर्मण्य हो जाते हैं। फिर यह भी कहा जाता है कि मुक्तिका आदर्श स्वार्थमूलक है; क्योंकि वह तो व्यक्तिगत कल्याणकी बात है। ये सब आक्षेप निराधार हैं। अपनी निर्बलता शास्त्र या धर्मके माथे मढ़ना अनुचित है। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता तो यहाँतक मान्य है कि वर्णाश्रम-मर्यादामें रखनेका वास्तविक उद्देश्य ही यह है कि मनुष्य अन्तमें पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो जाय। संन्यास आश्रमका अधिकारी होना सब कार्योंके दायित्वसे मुक्त हो जाना है। परमोच्च अवस्थाप्राप्त मनुष्य उन्मत्तवत्, पिशाचवत्, जडवत् या बालवत् भी व्यवहार करे तो वह महात्मा ही है और हमारे देशमें उसका अब भी वैसा आदर होता है। इससे बढ़कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है। सब दिगम्बर इस देशमें पागल नहीं माने जाते, न उनसे पागलों-जैसा बर्ताव किया जाता है। फिर मोक्ष-प्राप्तिका साधन वैयक्तिक ही हो सकता है। एक साथ हजारों आदमियोंके नमाज पढ़ने-जैसा साधन नहीं है। जीवन्मुक्तको स्वार्थी बताना अज्ञान है; क्योंकि ज्ञानकी परम्परा उन्हींसे बराबर चलती रहती है। ज्ञानकी शिक्षासे बढ़कर लोकोपकार हो नहीं सकता, फिर लोक-संग्रहका आदर्श भी तो गीताने बताया है। ब्रह्मज्ञान या पराभक्ति उपलब्ध होनेपर मनुष्यके लिये कोई विधि-निषेधका बन्धन या किसी कार्यका दायित्व नहीं रहता; परंतु फिर भी एक भावना रहती है कि स्वयं संसार-सागरसे पार हो गये तो दूसरोंको भी पार उतारनेमें सहायता करें। यही करुणा-परवशता है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

(विवेकचूडामणि ३९)

मन्द वैराग्य या अकर्मण्यता और संसारसे उदासीनता हमारा धर्म नहीं सिखाता। शिक्षाका दोष नहीं—यदि अज्ञान-वश उसका दुरुपयोग किया जाय। गीता स्पष्ट कहती है कि एक क्षण भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (३।५)। प्रश्न यह है कि 'संसार कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र है। इसमें कर्म करनेकी क्या युक्ति है, जिससे अनिवार्य कर्म करते हुए भी हम उसके बन्धनसे बच सकें?' गीताका उपदेश है कि व्यक्तिगत कर्मक्षेत्रको धर्मक्षेत्र बनाना चाहिये। कुरुक्षेत्र या व्यक्तिके

कर्मक्षेत्रका अभिमानी अल्पज्ञ जीव है अर्थात् जीव उसका क्षेत्रज्ञ है। यदि जीव अपने प्रकृत स्वरूपको जान ले तो वह धर्मक्षेत्रका क्षेत्रज्ञ हो जाता है। अर्थात् स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही संकुचित मनुष्यका कर्मक्षेत्र होगा। और कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान भी बलवान् रहेगा। जैसे-जैसे 'वसुधैव'कुटुम्बकम्'का भाव तीव्र होगा, क्षेत्र प्रशस्त होता जायगा। जब यह ज्ञान हो जायगा कि सर्वव्यापक और विभु एक ही आत्मा है, तब कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी एक हो जायँगे। नानात्वका अन्त होकर एकत्वमे प्रतिष्ठा हो जायगी। इस आदर्शके सामने आक्षेप निराधार ठहरता है। संसारको जैसा वास्तवमे वह है, वैसा देखनेमे क्या दोष हो सकता है। **अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्** (गीता ९। ३३)—इन शब्दोमे निर्विवाद वस्तुस्थितिका वर्णनकर श्रीभगवान् हमको चिरशान्तिका मार्ग बताते है। जिनकी दृष्टिमें संसार ही सब कुछ है, उनको भी यह अनुभव तो सतत होता रहता है कि उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती। अकर्मण्यता सिखाना एक बात है और संसारके वास्तविक स्वरूपका सदा ध्यानमे रखनेकी शिक्षा दूसरी बात है। भौतिक उन्नतिमे गीता कोई बाधा नहीं देती। धर्मकी हानि बिना किये उन्नति उपादेय है। संसार-प्रवाहका एक किनारा धर्म है और दूसरा मोक्ष है। इन दोनोंकी मर्यादा सुरक्षित रखकर अर्थ और कामकी प्राप्तिका निषेध नहीं है। आधुनिक जगत्मे शक्तिवृद्धिकी चिन्ता तो सब करते हैं और पाश्चात्त्य देश तो इसीमे रत हैं। शक्ति-संचयके साथ धर्म-भावकी वृद्धि न होनेसे नियन्त्रण नहीं रहता। परिणाम भयङ्कर होता है। महादेवजीने असुरको वरदान दे डाला तो वह उन्हींके सिरपर हाथ रख उन्हींको भस्म करनेके लिये उद्यत हो गया। यही दशा आज विज्ञान-जगत्मे प्रत्यक्ष देखनेको मिलती है। मनुष्यके आविष्कार उसीके नाशक बन रहे हैं। और यहाँकी शिक्षा है कि योगविभूति प्राप्त हो जाय तो उसका भी उपयोग सासारिक प्रसंगोमे करना अनुचित है। दुर्योधनकी आसुरी वृत्ति स्वार्थान्ध होकर यहाँतक बढ़ी कि उसका नाश ही करके शान्त हुई। धर्मभीरु अर्जुनको भगवत्कृपा प्राप्त हुई। मनुष्यमें दैवी और आसुरी प्रकृतिका सम्मिश्रण है—जिसको चाहे, उसे बढ़ाये। अर्जुनका पक्ष भी योद्धाओंने किया और दुर्योधनके भी सहायक थे। जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा समाज होगा। अतएव व्यक्तिके विकासपर बल दिया जाय तो उचित ही है। आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं सांसारिक उन्नतिका परस्पर विरोध गीताने बड़ी सुन्दरतासे दूर किया है। अर्जुनको राज्य, सुख, भोग-प्राप्तिके लिये युद्ध करनेकी आज्ञा श्रीभगवान् स्वयं देते हैं; परंतु युद्ध कौशलसे करनेका उपदेश है। अर्थात् भगवान् अपने विधानको यन्त्रवत् पूरा करनेकी और निर्लिप्त होकर समस्त भोग भोगनेकी आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

यह उदासीनता या झूठे वैराग्यका उपदेश नहीं है। भोगमें कैसा भाव रखना, इसीकी शिक्षा है। अतएव धर्मकी मर्यादा सुरक्षित रखकर संसारके भोग प्राप्त करनेमें कोई हानि नहीं। वेदव्यासजी तो यहाँतक कहते हैं कि अर्थ और कामकी इच्छा हो तो भी धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि धर्मसे ही वे प्राप्त होते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

श्रीभगवान्ने अनार्यजुष्टम् कहकर जो आक्षेप अर्जुनके तर्कपर किया, वह बड़ा सारगर्भित है और उसमे हमको अपने सनातन आदर्शकी सुन्दर झाँकी मिलती है। आर्य होना ही महान् गौरव है और उसके साथ उत्तरदायित्व भी वैसा ही महान् है। अन्य मनुष्यजातियोंसे जो उच्चादर्श रखनेकी आशा नहीं की जा सकती, उसको आर्य चरितार्थ करे—यही शिक्षा है।

दूसरा आक्षेप था अस्वर्ग्यम्। यदि सुख-भोगकी लालसा प्रबल है और सकाम कर्ममें प्रवृत्ति बलवती है तो फिर ऐसे कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे चिरकालतक भोग प्राप्त हो सकें। संसारके सुख अनित्य हैं, थोड़े ही भोगके पश्चात् कालका ग्रास बनना पड़ेगा, और संस्कार प्रबल होनेसे भोगेच्छा नीची योनिमे भी ले जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा करना उचित है कि जिसके द्वारा संसारके भोगोसे बढ़कर और अधिक स्थायी स्वर्गके भोग प्राप्त हो सके। इसके लिये पुण्य करना आवश्यक है। यज्ञ, तप, दानसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; इनसे जीवन पवित्र भी होता है और स्वर्ग-कामीकी भोगेच्छा भी कालान्तरमे पूर्ण होती है। परंतु यह प्रवृत्तिमार्ग निवृत्तिमार्गकी तरह अक्षय शान्ति और आवागमनसे मुक्ति नहीं दिला सकता। क्योंकि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १६)

यहाँ भगवान्‌ने पुनर्जन्मका सिद्धान्त और उसके चक्रसे निकलनेका उपाय भी बता दिया। परंतु मृत्युके पश्चात् जन्म लेना ही पड़े तो यह श्रेयस्कर है कि वह अच्छे कुलमें हो या स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति हो। अतएव जो निष्कामभावसे कर्म कर संसारसे छुटकारा पानेके अधिकारी नहीं हो सकते, उन्हें मोक्ष प्राप्त न हो तो कम-से-कम उनकी अधोगति तो न हो—ऐसा आचरण करना उचित है। अन्य धर्मोंमें स्वर्गसे बढ़कर या ऊँचा कोई लोक नहीं बताया जाता; परंतु हमको तो मोक्ष-पदसे निम्न श्रेणीके कई लोक बताये जाते हैं। और मोक्षकी चर्चा तो अन्य धर्मोंमें है ही नहीं। अतएव स्वर्गकामी होना कोई बड़े आदर्शकी बात नहीं है। दूसरोंके लिये इससे बढ़कर कोई कल्पना नहीं।

इस प्रकार 'अस्वर्ग्यम्' कहकर श्रीभगवान्‌ने हमारे आदर्शका एक और दृश्य भी दिखा दिया। परंतु वह 'अनार्यजुष्टम्' से निम्न श्रेणीका है। अधिकारभेदसे उसे भी कहना पड़ा और इसके साथ कई सिद्धान्तोंपर भी संकेत कर दिया।

तीसरा आक्षेप श्रीभगवान्‌का है—'अकीर्तिकरम्'। विश्वसे अतीतकी बात 'अनार्यजुष्टम्' से कही और 'अस्वर्ग्यम्' से परलोककी। 'अकीर्तिकरम्' से इस जगत्‌की ओर संकेत है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'यशो लभस्व'। युद्धमें शत्रुओंको मारकर विजय प्राप्त करो और यशस्वी बनो। यश जीवनकालमें ख्यातिसे प्राप्त होता है और मरनेके बाद वही कीर्ति कहा जाता है। ऐसा भेद गीताने किया है। स्थायी यश कीर्ति हो जाता है। यश प्राप्त होता है पुरुषार्थसे और लोक-सेवा या लोक-संग्रहसे। कठिन कार्य—जो किसीसे न हो सके, उसे सफलतापूर्वक करना यशःप्राप्तिका कारण होता है। यदि निष्कामभाव न हो और निवृत्तिमार्गका अनुसरण न हो सके तो मनुष्यको स्वर्गकामी होना चाहिये। और यदि स्वर्गप्राप्तिके साधन भी उपलब्ध न हों तो कम-से-कम यश तो संसारमें जीते-जी मिले—ऐसा उद्योग होना चाहिये। कालसे बचनेका तो कोई उपाय नहीं। शरीर तो जायगा ही; परंतु प्राप्त यश तथा कीर्तिकी रक्षा की जा सकती है। जिसकी कीर्ति है, वह एक प्रकारसे जीता है—चाहे उसका शरीर न भी रहा हो। यदि यशका भी भागी मनुष्य न बने तो कम-से-कम अपयशसे अपनेको कलङ्कित न करे। यशस्वीको स्वर्गप्राप्ति भी हो सकती है। दुष्कृतिसे कलङ्कितके लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

'अकीर्तिकरम्' से व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। इन दोनोंमें बराबर आदान-प्रदान चलता रहता है। आदर्श यह होना चाहिये कि समाजसे व्यक्तिको जो लाभ होता है, उससे अधिक सेवा या लाभ व्यक्तिद्वारा समाजको मिलना चाहिये। वैसे वे एक दूसरेके पोषक हैं। दुर्योधनकी भावना है कि उसको किसी प्रकार भी निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो, उसके लिये भले ही असंख्य लोगोंको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़े। वह बड़े अभिमानसे कहता है—'मदर्थे त्यक्तजीविताः'। द्रोणाचार्य और भीष्म भी मर जायँ तो दुर्योधनको उसकी चिन्ता नहीं। राज्य बना रहे। दूसरी ओर अर्जुन है, जिसका पक्ष न्याय्य है; परंतु वह कहता है—

> अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
> यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
> यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
> धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥
> (गीता १। ४५-४६)

दोनों व्यक्ति विपरीत भावनाओंके नमूने हैं। देशके नेताने स्वराज्य दिलाया, महान् कार्य किया। किंतु इससे भी महत्ता उन्होंने तब दिखायी, जब यह घोषणा की कि सत्यकी बलि देकर स्वराज्य लेना अस्वीकार है। यह हमारे देशका गौरव है।

आजकल व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको आदर्श माना जाता है। सब जगह समानता, समानाधिकारकी चर्चा सुनायी देती है। गीता इस समस्यापर भी प्रकाश डालती है। समानताका जो पाश्चात्त्य आदर्श है, वह स्वभाव और प्रकृति दोनोंके विरुद्ध है, अतएव अव्यवहार्य है। बलपूर्वक उसको बर्तनेसे अनर्थ होता है। कोई दो व्यक्ति संसारमें एक-से नहीं। भिन्नता और नानात्व प्रकृतिका नियम है। जहाँ असमानता है, उसे स्वीकार करना गीता सिखाती है। आँख बंद कर लेनेसे आकाशका सूर्य कहीं अस्त थोड़े हो जायगा। गुण और स्वभावके वैषम्यसे भेद प्रत्यक्ष है। हाँ, एकता आत्मामें है। उसीपर लक्ष्य रखनेका गीता आदेश देती है। सबमें अन्तर्यामीरूपसे एक ही आत्मा है और उसका लक्ष्य रखनेवाले पण्डित समदर्शी होते हैं। 'पण्डिताः समदर्शिनः' शब्द विचारणीय हैं। 'समवर्तिनः' नहीं कहा, 'समदर्शिनः' कहा है। कुत्ते, चाण्डाल, ब्राह्मणादिसे समान व्यवहार करना मूर्खता होगी। उनमें एक आत्माको देखना पाण्डित्य है। परंतु संसारमें आज समान बर्तावकी दुहाई दी जा रही है। गुण, कर्म, स्वभावको भूलकर समताका राग अलापना और समान बर्तावकी योजना बनाना अनर्थकारी हो रहा है। हमारी शिक्षा यह है कि एकसे अनेकका प्रादुर्भाव हुआ है। इस नानात्वमें एककी प्रतिष्ठा कर लेना सब साधनोंका ध्येय है।

इसी नानात्वके आधारपर अधिकारका सिद्धान्त अवलम्बित है। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करनेसे क्या होगा, यदि

विश्वास न हुआ तो। धर्मका मूल विश्वास एवं श्रद्धा है, न कि प्राणभय। हिंदू-धर्म विचारोंकी पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और बुद्धिको श्रद्धा या विश्वाससे ऊँचा स्थान देनेमें संकोच नहीं करता। हमारे शास्त्रोंने तर्कद्वारा जैसी बालकी खाल निकाली है, वैसी किसी धर्ममें सहन भी नहीं की जा सकती। प्रश्न करना, सन्देह मनमें लाना ही कुफ्र समझा जाता है। सनातनधर्ममें अधिकारानुसार सबको स्थान प्राप्त है और मनुष्यको अपनी बुद्धि दौड़ानेके लिये अनन्त क्षेत्र। यही कारण है कि अन्य धर्मावलम्बियोंको शुद्ध कर या बलपूर्वक अपने धर्ममें लेनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी। हमारा आग्रह आचारपर है; न कि विचारपर। विचारमें स्वतन्त्रता और आचारमें समानता मान्य है। सनातनधर्मकी सहिष्णुता अपनी एक विशेषता है, जो बिल्कुल निराली है। इस प्रकार बुद्धि-स्वातन्त्र्यको जो स्थान यहाँ प्राप्त है, वह अन्य धर्मोंमें असहनीय है।

अबतक गीताके तीन शब्दोंको लेकर—**'अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्'**—सनातनधर्मसे अनुप्राणित हमारी संस्कृतिके कुछ पहलुओंपर विचार किया गया; परंतु उपदेशकी पूर्तिके लिये विधि और निषेध दोनोंका निर्देश आवश्यक होता है। गीताने विधिको भी मन्त्रवत् तीन ही शब्दोंमें बताया है और वे हैं—**'ॐ तत्सत्।'** गीताने इस वाक्यकी बड़े संक्षेपसे व्याख्या की है; परंतु एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि अनिवार्यरूपसे कर्मबन्धनमें पड़े हुए मनुष्यको कल्याणका जो मार्ग गीताने विस्तारसे बताया है, उसीको अतिसूक्ष्मभावसे **'ॐ तत्सत्'** द्वारा सूत्ररूपमें दे दिया है। १७वें अध्यायका २३वेंसे लेकर २७वें श्लोकतकका अंश द्रष्टव्य है। जैसे निषेधात्मक तीन वाक्योंकी व्याख्या की गयी, वैसे ही **'ॐ तत्सत्'** की भी करना उचित है; परंतु लेखके विस्तारभयसे ऐसा नहीं किया जाता। ये त्रिविध परमात्माके नाम हैं, जिनकी भावना सदा बनाये रखनेमें प्रत्येक कर्मका रूप यज्ञ, दान और तप हो जाता है। ॐ वाचक है ब्रह्म और ईश्वर दोनोंका, अर्थात् पर और अपर ब्रह्मका। सब प्रेरणाएँ उसीसे होती है—**'मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'** अतएव ॐके उच्चारणके साथ कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाना चाहिये। हम यन्त्र हैं, हृदयस्थ प्रभु यन्त्री हैं। तत्के उच्चारणसे फलाभिसन्धिके त्यागकी भावना दृढ़ होती है और सत्से कर्मासक्तिका त्याग होता है। **'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'** इस भूलसे मनुष्य बच जाता है। और कर्म करते हुए फलकी इच्छा न रखनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। संसारमें रहते हुए इस विधिके अनुसार कर्म करते हुए भी कल्याण-प्राप्तिका मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार विधि-निषेध सूत्ररूपसे गीताने बताये हैं और इनके अनुसार जीवनका गठन करना आर्य-आदर्श है।

एक बात प्रायः बड़े दावेसे कही जाती है कि संसारमें कोई भी संस्कृति अपने असली और शुद्ध रूपमें कहीं नहीं मिलती है। परस्पर संघात और सम्मिश्रणसे उसकी प्रगति होती रहती है। और इस प्रकार अनेक विचारधाराओंके संगमसे देश या जातिका आदर्श-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उससे बड़ा लाभ होता है। अतएव संस्कृतिपर बाह्य प्रभावको दोष न मानना चाहिये। उसका स्वागत करना उचित है। हमारा सिद्धान्त इस बातको नहीं मानता। हमारी संस्कृतिके आदर्श इतने महान् हैं और उसका प्रत्येक अङ्ग ऐसी उदात्त भावनाओंपर स्थित है कि उनको अधिक उन्नत नहीं बनाया जा सकता। वे ऐसी मौलिक हैं कि मनुष्यकी कल्पनाशक्ति भी उनको उच्चतर बनानेमें असमर्थ है। सुधार अपना करना है, न कि धर्मप्राण परम आदर्शरूप संस्कृतिका। औरोंकी संस्कृतिमें न्यूनता है; क्योंकि वह अपूर्ण है और किसी अङ्गविशेषको ही महत्त्व देती है। रही परस्पर संघात और आदान-प्रदानकी बात; उसमें प्रथम तो यही निश्चय करना कठिन होता है कि औरोंसे क्या लेना है और क्या त्याज्य है। फिर लेना तो वही चाहिये, जो हमारे पास न हो। अग्निमें कोई वस्तु डालनेसे या तो वह प्रज्वलित होकर अग्निरूप हो जाती है या अग्निको बुझा देती है। हमें संकर-संस्कृति नहीं चाहिये। वह अञ्जन किस कामका, जिससे आँख ही फूट जाय। अपना स्वभाव और स्वरूप खो देनेसे न हमारा उपकार होगा न संसारकी सेवा।

आदर्शोंकी महत्तामें और संस्कृतिकी श्रेष्ठतामें संसारकी कोई भी जाति आर्यजातिसे तुलना करनेयोग्य नहीं है। रत्नगर्भा भारतभूमिने अगणित महापुरुषोंको जन्म दिया है और उन्होंने आदर्शोंको पूर्णरूपेण चरितार्थ कर दिखाया है। उनके समान महात्मा अन्य देशोंमें इने-गिने भी नहीं हुए। यहाँ ऋषि-मुनियोंने जन्म ही नहीं लिया, उनके उत्पन्न करनेकी विधि भी बतायी गयी है। मनुष्यको देव-दुर्लभ स्थिति प्राप्त करनेकी सफल युक्ति बतायी गयी है और वह उपाय भी कहा गया है, जिससे साक्षात् ईश्वरको मानवस्तरपर अवताररूपसे प्रकट किया जा सकता है। इसीलिये वेदोंने आर्यलोगोंको **'अमृतस्य पुत्राः'** कहा है।

हिंदू-संस्कृति और साहित्य

(लेखक—साहित्यवारिधि कविसार्वभौम कविशिरोमणि देवर्षिभट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

संस्कृति और सभ्यता यदि किसी समाजकी उन्नति और महत्त्वके कारण हो सकते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि हिंदू-समाज इसके लिये सबसे अधिक भाग्यवान् है। आज चाहे अनेक देश सभ्यताका दावा रखते हों और सभ्य होंगे भी, मुझको इसमे विवाद नहीं; किंतु सभ्यता और संस्कृतिके आदिम इतिहासकी यदि आप खोज करेंगे तो आपको स्पष्ट मालूम हो जायगा कि इस विषयमें हिंदू-समाजकी टक्करमें ठहरनेवाला कोई समाज नहीं निबटेगा। सभ्यताकी ज्योतिका आदिम प्रकाश पहले-पहल भारतीय आर्योंने ही दिखलाया। हम ही नहीं, समुद्र-पारके रहनेवाले पश्चिमी विद्वानोंतकने यह माना है कि सभ्यताके पदार्थोंको पहले-पहल दिखलानेवाले आर्यलोग ही हैं। जिस समय और-और जातियोंको सभ्यताका धुँधला प्रकाश दूरसे दिखलायी दे रहा था, उस प्राचीन समयमें भी आर्य-जाति सभ्यताकी रोशनीसे चमचमा रही थी।

साहित्य ही इस संस्कृतिके सोनेको परखनेकी कसौटी है। आर्योंके साहित्यको निष्पक्षपात दृष्टिसे यदि आप देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि सभ्यता और संस्कृति इस समाजमे कबसे चली आ रही हैं। इसकी खोजमें बहुतोंको कठिनता इसलिये मालूम होगी कि इसके लिये आपको उस संस्कृत-भाषाकी शरण लेनी पड़ेगी, जिसको हम पश्चिमी सभ्यताकी लहरमें बहुत कुछ दूर छोड़ चुके और अब भी छोड़े चले जा रहे हैं। संस्कृत-भाषा ही संस्कृति और सभ्यताकी आदि जन्मदात्री है। हमलोगोंको जाने दीजिये, पश्चिमी विद्वानोंने भी वर्षोंके परिश्रमसे यह खोज निकाला है कि संसारभरका आदिम ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता है। वेदसे पुराना ग्रन्थ (पुस्तक) आजतक भूमण्डलमें नहीं देखा गया। और इस तथ्यको सभी सभ्य आजतक मानते चले आ रहे हैं। अब दुनियाके आदिम ग्रन्थ वेदसे लेकर आजतकके साहित्य और व्यवहारमे आप देख लीजिये कि संस्कृतिका इस हिंदू-समाजमे क्या स्थान है।

जो वेद हमारे लिये ही नहीं, भूमण्डलभरके लिये सर्वादिम ग्रन्थ गिने जाते हैं, उनका प्रधान उद्देश्य है संस्कृतिका उपदेश। पहले-पहल संस्कृति वहींसे हमने सीखी, यह दुनियाभरकी धारणा है। अपने स्वार्थके लिये एक-दूसरेपर छुरी चलना जहाँ पैंड-पैंड़पर सामने आता है, उस मानवजगत्मे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (किसी प्राणीकी हिंसा मत करो) यह आदेश वहींसे आरम्भ होता है। क्या पूर्व और क्या पश्चिम, चारो दिशाओंके सभी राष्ट्र जिसे सर्वसम्मतिसे त्याज्य और पाप समझते हैं, उस 'झूठ'के लिये भगवान् वेदोंने ही उपदेश क्या, आज्ञा दी है—'नानृतं ब्रूयात्' (झूठ मत बोलो)। विस्तार करनेसे कोई लाभ नहीं, 'संस्कृति' पदका अनुवाद आजकलके सभ्य महोदय 'कल्चर' (आचार-व्यवहार) किया करते हैं। अब देखिये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—ये चार आश्रम, इनका विभाग करके जैसा जिसका अधिकार है, उसको वैसे ही आचरणकी शिक्षा वेदसे ही तो मानी जाती है। फिर भी वेदोंमे संस्कृतिके लिये क्या ढूँढ़-ढाँढ़ करनी पड़ेगी ? समाजके लिये वेद आचार-व्यवहारमें कितनी सुन्दर व्यवस्था चाहते हैं—यह एक बातसे ही मैं समझा देना चाहता हूँ। थोड़ेमे परख लीजिये। ईश्वरसे मनुष्य वही माँगता है, जो उसको सबसे अच्छा प्रतीत होता है। वेदोंमें हमारी प्रार्थना होती है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

पण्डित श्रीरामशर्मा रूँथलाद्वारा निर्मित 'वैदिक राष्ट्र-गीत' नामक नयी प्रकाशित पुस्तकमें इसका पद्यानुवाद है—

'ब्रह्मन् ! हमारे राष्ट्रमें द्विज तेजयुत होते रहें,
राजन्य भी आयुध-कुशल, अति शूरमा होते रहें।
होवें महारथ शत्रुनाशक, शत्रुभेदक वे सदा;
गौएँ यहाँ पयधारिणी हों, राष्ट्रमें सुख-संपदा ॥
कृषि-कर्मके साधन सबल हों, बैल वाहक भारके
हों अश्व गतिमें तेज सब, गन्ता पुनः पथ-पारके।
जयशील आरोही रथोंके, नारियाँ हों सुंदरी;
हो प्राप्त सुत यजमानको, वर वीरगण गणकेसरी ॥
यजमानसुत निज शत्रुनाशक, सभ्य हो, सामर्थ्ययुत
निज कालपर फल-औषधी हमको करें अति सौख्ययुत।

कवि स्वयं रसमें आविष्ट होकर सुननेवालोंको भी तन्मय बना देता है। उसके 'नवरसों'में सारी दुनिया आ जाती है। यहाँतक कि 'बीभत्स' भी—जिसमें 'जुगुप्सा', घृणा, 'घिन' ही आदिसे अन्ततक (स्थायीभाव) रहता है—एक रस और काव्यकी आत्मा माना जाता है। किंतु 'संस्कृति' यानी सदाचारको वहाँ भी आदर्श माना जाता है। जिसके साथ जैसा व्यवहार-वर्णन उचित है, वहाँ उससे विरुद्ध वर्णन कवि-सम्प्रदायका उल्लङ्घन है। विस्तारकी जरूरत नहीं। कवियोंके सर्वमान्य, साहित्य-संसारके मार्गदर्शक, ध्वनिकार श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्यने कवियोंको आज्ञा दी है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

'औचित्य अर्थात् जिसके साथ जैसा आचार होना चाहिये; उसके उल्लङ्घनसे बढ़कर रसभङ्गका और कोई कारण नहीं। और औचित्यका निर्वाह रस-सम्प्रदायका परम रहस्य है।'

यों क्यों? काव्य और साहित्यकी जिसके लिये सृष्टि हुई, वहाँ ही 'संस्कृति' को सबसे आगे लेकर बढ़ना पड़ता है। वेद जैसे प्रभुसंमित उपदेश (शासककी स्वतन्त्र आज्ञा), पुराण-स्मृति आदि जैसे सुहृत्संमित उपदेश (मित्रके समान हितोपदेश); वैसे ही, काव्य कान्तासंमित उपदेश (स्त्री जिस तरह अपने पतिको प्रेमचर्यासे प्रसन्न करके फिर उसे हितमार्ग सुझाती है) कहे जाते हैं। काव्योंका मूल उद्देश्य है चरित्र-शिक्षा।

रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्।

अर्थात् प्रत्येक काव्यका यह ध्येय है कि वह अपने वर्णनसे सुननेवालेको शिक्षा दे कि दुनियामें सदा अच्छे मार्गसे चलना चाहिये, जिससे प्रत्येक आदमी अपने आदर्शपर पहुँच सके। रामका चरित्र अच्छा होनेसे सबको प्रिय लगता है और रावणके आचरणोंसे अन्तमें घृणा होती है। इसलिये रामका आदर्श लेना चाहिये, रावणका नहीं। जब 'काव्य'-सृष्टिका यह मूल उद्देश्य है, तब आप ही देख लीजिये कि 'संस्कृति'के उपदेशमें काव्यने कितना काम किया। प्रभु और मित्रका उपदेश किसी आदमीपर चाहे असर न करता हो, किंतु प्रेममें मस्त बनाकर 'इंजेक्शन'के तौरपर दिया हुआ पत्नीका हितोपदेश रग-रगमें असर कर जाता है। प्रसिद्ध है कि रात-दिन जनानेमें विहार करनेवाला एक स्वतन्त्र राजा कविके एकमात्र दोहेको सुनकर जनानेसे बाहर निकल आता है और कविके उपदेशोंको बड़ी कदरदानीसे सुनता है। अब आप कैसे कह सकेंगे कि काव्य-साहित्यमें 'संस्कृति'का अनुरोध नहीं रक्खा जाता। बल्कि यह कहना पड़ेगा कि 'संस्कृति'की रक्षामें सबसे अधिक प्रभाव काव्योंका ही पड़ा है और पड़ा करता है।

साहित्यकारोंका तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, क्या पद्य और क्या गद्य, सभी काव्य किसी शिक्षाके उद्देश्यको लेकर बनने चाहिये। आजकलकी 'कहानी', जो पश्चिमी नकलपर बनने लगी है, कदाचित् केवल मनोविनोदके लिये हो; किंतु भारतीय दृष्टिकोण यहाँ भी यही रहा है कि कथा और आख्यायिकाएँ भी किसी चरित्र-शिक्षाको लेकर ही बननी चाहिये। मनोविनोद जरूर उसमें पूर्ण मात्राका रहे; किंतु व्यङ्ग्य अर्थात् कथाका चरम उद्देश्य किसी अच्छी शिक्षापर पहुँचाना ही होना चाहिये। अब आप ही देख लीजिये कि अनादि साहित्य वेदसे लेकर आजकलके काव्यतकमें 'संस्कृति' यानी चरित्र-रक्षाका कितना अनुरोध रक्खा गया है। व्यवहारमें भी आप देखेंगे कि हिंदू-समाजकी एक अनपढ़ स्त्री भी अपने बच्चेको यही समझायेगी कि—'क्यों दूसरोंको दुःख देता है? चार आदमी तुझको भला कहें, क्यों न उसी तरह तू चलता है?' अब आप ही कहिये कि हिंदू-समाज एड़ीसे लेकर चोटीतक 'संस्कृतिमय' है: यह क्यों नहीं कहा जा सकेगा? 'संस्कृति' से अलग हो जानेपर वह हिंदू ही नहीं रहेगा, यह आप देखेंगे।

अनादिकालसे आजतक बराबर चली आ रही इस हिंदू-संस्कृतिपर आज कुछ महोदयोंकी दूसरी दृष्टि पड़ी है, जो सुधारके नामसे एकदम इसका उद्धार ही कर देना चाहते हैं। किंतु याद रहे, ईश्वरकी प्रेरणासे अनादि उस वैदिक समयसे लेकर आजतक जो हिंदू-संस्कृति धीरे-धीरे परिपक्व बनती गयी, अनवरत व्यवहारके कारण जो स्वाभाविक सिद्ध हुई, अनेक कुठाराघात होनेपर भी अन्तमें जो सत्य साबित हुई, उसमें सहसा परिवर्तन कर देना इतना आसान नहीं। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने आगे-पीछे सब कुछ सोच-समझकर जो 'संस्कृति' सिद्धान्तरूपसे स्वीकार की है, उसमें सुधार करनेके लिये कई शताब्दियोंका अनुभव चाहिये।

हाँ, अबतक दृढ़ बनी हुई इस हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा-भित्तिपर नये-नये 'बिल' बनाकर हम इसे जर्जर बनाना चाहते हैं और इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करते हैं; किंतु

जो हिंदू-समाज 'संस्कृतिप्राण' सिद्ध हुआ है, उसकी संस्कृति नष्ट कर देना मानो उसे प्राणहीन बना देना है। खैर, यह सब समयकी बलिहारी है। अवसर समझकर अन्तमें इस प्रसङ्गके संस्कृतके दो घनाक्षरी छन्द भेंट करता हूँ—

पारम्परीणोपनीता पूर्वपद्धतिः प्रवीणैरद्य
चलिता चतुर्दिङ् नवशैली निरुपेद्रितम्
आडम्बरमात्रं वंशमर्यादामवैति जनो
वादायैव संप्रदायवृत्तमधुनेरितम्।
मञ्जुनाथ मीलति मनस्वी निजमानसेऽद्य
कस्मै कथयेत निजवृत्तमिदमेधितं
खेलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्त्तः ! किमालेखितम्॥१॥

'अच्छे-अच्छे आदमियोंने अपनी पुरानी रीति छोड़ दी। चारों ओर बेरोक-टोक नयी चाल चल पड़ी। लोग इस समय वंशकी मर्यादाको ढोंग समझते हैं। कहा गया है कि शैव-वैष्णव आदि सम्प्रदायोंका वृत्तान्त आजकल कलहका कारण हो जाता है। मनस्वी पुरुष मन-ही-मन घुला जाता है, लबे-चौड़े इस वृत्तान्तको बेचारा किसको कहे। चालाकोंको चारो ओरसे चैन देनेवाले इस कलिकालमें हे स्वामी! भले आदमीके कपालमें आपने यह क्या लिखा है ?'

स्पृश्यास्पृश्यताया बत संकीर्णो विचारो भाति
सदृशोऽधिकारो नरनारीभ्यः प्रदीयते
'धर्मस्योपदेशे वृद्धविप्रा एव नाधिकृता
योग्यतास्मदीयाप्यत्र निर्भरमुदीयते।'
उद्वाहं चतुर्दशाद्धि वर्षाद्वनितानां जगुः
प्रामाण्याय चेङ्ग्लिशानुवादः सह नीयते
त्वङ्गति तरीतुं शास्त्रसागरमलावूबलात्
सेयं नववावूमञ्जुमण्डली महीयते॥२॥

'स्पृश्यास्पृश्यका विचार संकीर्णता है। नर और नारियोंको समान अधिकार दिया जाता है। कहा जाता है कि—'धर्मके उपदेशमें पुराने ब्राह्मणोंका ही अधिकार नहीं, हमारी भी योग्यता इस विषयमें पर्याप्त है।' चौदह वर्षके आगे ही कन्याओंका विवाह कहा जाता है। इसके सबूतके लिये सभाओंमें स्मृतियोंका अंग्रेजी अनुवाद साथ रक्खा जाता है। नवीन यह बाबूमण्डली धन्य है, जो शास्त्र-सागरको तूँबेके बलपर तैरना चाहती है।'

हिंदुत्वका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

'हिंदू' शब्दपर कुछ हिंदुओं और अधिकांश सिक्खों तथा आर्यसमाजी सज्जनोंको यह आपत्ति है कि 'यह शब्द हमारी जातिका बोधक नहीं है; क्योंकि संस्कृतके विशाल साहित्यमें यह शब्द नहीं पाया जाता।'

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि "यह शब्द घृणासूचक है, इसीलिये मुसलमानोंने हमारा यह नाम रक्खा और इसका अर्थ 'काला, चोर, बदमाश' आदि है।"

एक दल यह भी कहता है कि 'हिंदू नाममें क्या रक्खा है ? इसका मोह ही क्यों किया जाय ? इसकी जगहपर आर्य और हिंदुस्थानकी जगहपर 'भारत' या 'आर्यावर्त' शब्द रख दिया जाय।'

इसी तरह हिंदुत्व और उसके व्यापक स्वरूपपर छोटी-मोटी कुछ शङ्काएँ और भी उठायी जाती हैं। इस लेखमें उन्हीं शङ्काओंपर संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

संस्कृतके एक-दो नहीं, अनेक ग्रन्थोंमें 'हिंदु' शब्द पाया जाता है। अद्भुतरूपकोषमें लिखा है—

हिंदुर्हिंदूश्च पुंसि द्वौ दुष्टानां च विधर्षणे।

अर्थात् 'दुष्ट लोगोंको रगड़नेवालेको हिंदु और हिंदू कहा जाता है।' ये दोनो शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। 'हेमन्तकविकोष' की उक्ति है—'हिंदूर्हि नारायणादिदेवताभक्तः।' अर्थात् 'हिंदू उसे कहा जाता है, जो नारायण आदि देवोंका भक्त है।' 'रामकोष'की उक्ति है—

हिंदुर्दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः॥

तात्पर्य यह कि 'हिंदू न तो दुर्जन होता है, न अनार्य होता है और न निन्दक ही होता है। जो सच्चे धर्मका पालक, विद्वान् और वेदधर्ममें निरत है, वही हिंदू है।'

संस्कृतभाषाके विराट् और प्रामाणिक कोष 'शब्द-कल्पद्रुम' में भी 'हिंदू' शब्द और इसकी व्युत्पत्ति लिखी है। आठवीं शताब्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेरुतन्त्र' (३३ प्र०) में लिखा है—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये॥

अर्थात् 'शक, हूण आदि चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका नाश करनेवाले होंगे। जो दुष्टको दोष देता है, उसे हिंदू कहा जाता है।'

अनेक विद्वानोंका मत है कि मेरुतन्त्रमें भी प्राचीन ग्रन्थ 'कालिकापुराण' है। उसमें लिखा है—

कालेन बलिना नूनमधर्मकलिते कलौ।
यवनैर्घोरमाक्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्॥

अर्थात् 'बली कलिके कारण धर्मशून्य कलियुगमें विदेशियोंके द्वारा आक्रमण होनेपर हिंदूलोग विन्ध्यपर्वत चले गये।'

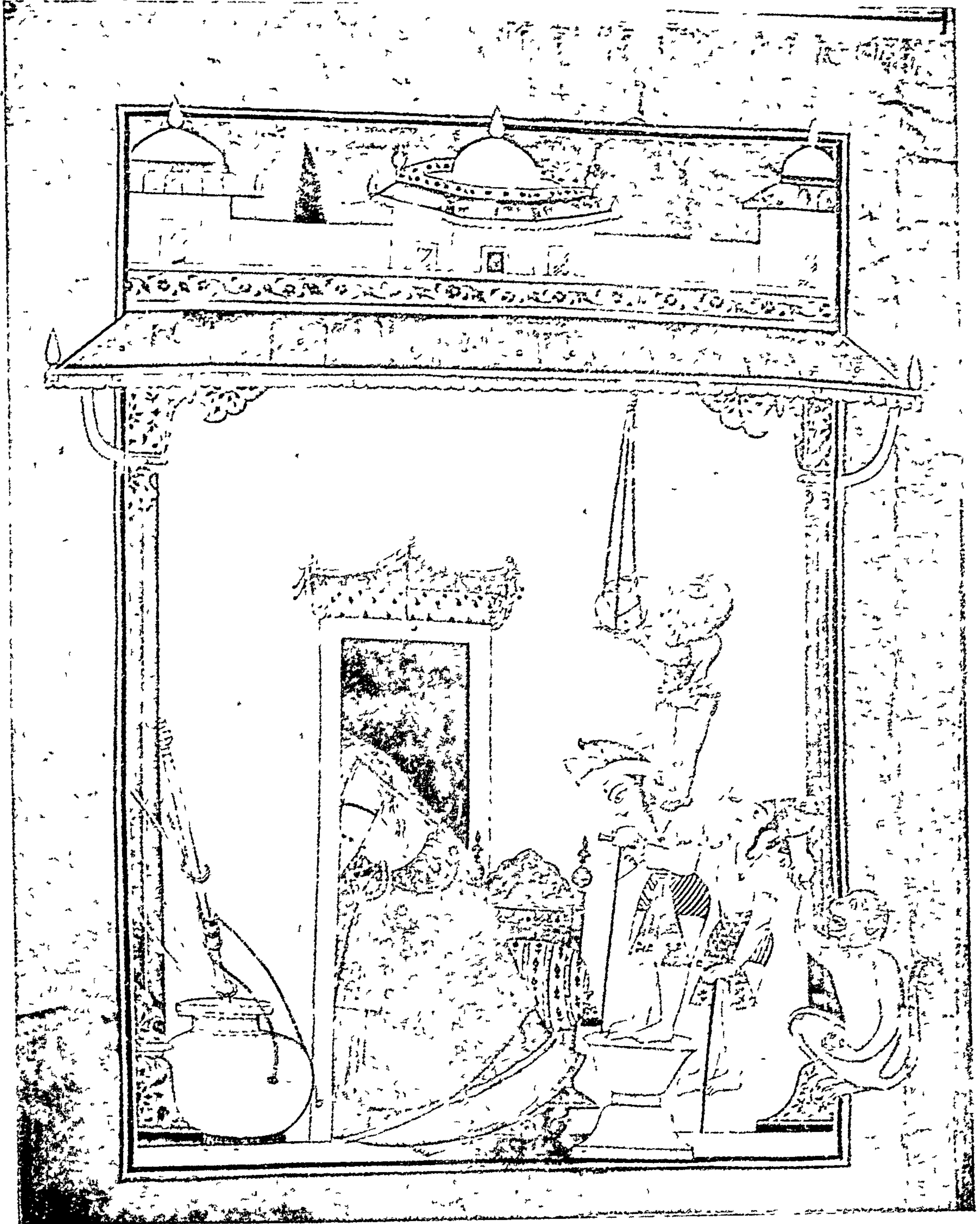
ऊपरके इन श्लोकोंसे स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृत-साहित्यमें एक नहीं, अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका उल्लेख है। इस शब्दका जो लक्षण किया गया है, 'हिंदू' शब्दकी जो परिभाषा दी गयी है, उससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि हिंदू आर्यका ही नाम है। हिंदू वह है, जो दुष्टनाशक, धर्मपरायण, वेदधर्मानुयायी, नारायण-भक्त और विद्वान् है। इन सब लक्षणोंसे ज्ञात होता है कि आर्य और हिंदू एक हैं और आर्यजातिका नाम ही हिंदू-जाति है। इसलिये पहली आपत्ति एकदम निरर्थक है। ऊपरके एक श्लोकसे यह भी विदित होता है कि 'हिंदु' और 'हिंदू'—दोनों ही शब्द शुद्ध हैं।

दूसरी आपत्ति तो और भी निरर्थक है। मुसल्मानोंकी बात तो अलग रही, जिन दिनों महम्मद साहबका जन्म भी नहीं हुआ था और अरबजातिका इतिहास भी कालके अगाध पेटमें था, उन्हीं दिनों बादशाह सिकंदर भारतवर्ष आया था। उसने अपने मन्त्रीसे 'हिंदूकुश' (हिंदूकूट) पर्वत जानेकी इच्छा प्रकट की थी। यह बात उसके जीवनचरितमें है। जब कि ईसासे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व 'हिंदू' शब्द था, तब कैसे कहा जा सकता है कि हिंदू नाम मुसल्मानोंका रक्खा हुआ है?

सिकंदरसे भी सैकड़ों वर्ष पहले पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' बना था। उसमें वेदके हजारों शब्द पाये जाते हैं। उसमें 'हिंदू' शब्दका उल्लेख है। उसी समयसे सिन्धुके इस पार बसनेवालेको हिंदू कहा जाता है। 'बल्ख' नगरका नाम भी पहले 'हिंदवार' था। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द 'सिन्धु' शब्दका तद्भव रूप है। पारसी भाषामें 'स' को 'ह' कहा जाता है। 'सप्त', को 'हप्त', 'सरस्वती' को 'हरह्वती' और 'असुर' को 'अहुर' कहा जाता है। भाषा-विज्ञानके अनुसार भी 'स' और 'ह' परस्पर बदला करते हैं। पारस-वालोंने पहले स्वात, गोमती, कुभा, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती और सिन्धुको अर्थात् 'सप्तसिन्धु'को 'हप्तहिंदु' कहना शुरू किया। (भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, अध्याय ५ में भी 'हप्तहिंद' शब्दोंका उल्लेख आया है।) अनन्तर संक्षेपमें 'हिंदु' कहने लगे और अन्तको हिंदू या सिन्धुके उस पारके रहनेवालोंको—सारे भारतवासियोंको हिंदू कहने लगे। पश्चिमी विदेशोंमें सारे भारतवासी इसी सिन्धुके रास्ते जाते थे; क्योंकि विदेश जानेका एकमात्र यही रास्ता था। इसलिये पारसी सबको हिंदू ही कहने लगे। बल्कि आजतक ईरान, तुर्की, ईराक, अफगानिस्तान और अन्य देशोंमें भारतवर्षको 'हिंद' और प्रत्येक भारतवासीको 'हिंदी' कहा जाता है—चाहे वह हिंदू हो, मुसल्मान हो या कोई हो। अमेरिकावाले प्रत्येक भारतीयको—हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी, यहूदी, सबको हिंदू कहते हैं। इसलिये यह कहना सत्यका अपमान करना है कि 'हिंदू' शब्द मुसल्मानोंका दिया हुआ है। वस्तुतः यह 'सिन्धु' शब्दसे निकला है, जिसका ऋग्वेदमें कितनी ही बार उल्लेख है। इस सिन्धु नदकी ऋग्वेदमें बड़ी ही प्रशंसा लिखी है। इसे आर्यलोग परम पवित्र मानते थे। सिन्धुके तटपर ही ऋषियोंने अनेक वैदिक मन्त्रोंका तपःपूत अन्तःकरणमें आविष्कार किया था। इस तरह 'सिन्धु' वैदिक प्रयोग है और उसके तद्भव 'हिंदु' शब्दमें वैदिक संस्कृति भरी हुई है।

यूनानी भाषामें 'ह' का लोप हो जानेके कारण यूनान या ग्रीसमें 'इन्द' और 'इन्दु' शब्द प्रचलित हुए। अंग्रेज आदि यूरोपियनोंने 'द' का 'ड' बना दिया और हिंदूकी जगह 'इंड', 'इंडो' और 'इंडिया' बना डाला। अंग्रेजोंको 'हिंदू' लिखना भी पड़े, तो वे 'हिंडू' ही लिखेंगे, हिंदू नहीं। उनकी भाषामें 'द' की जगह 'ड' ही है। 'इंड' शब्दसे ही उन्होंने 'इंडीज़', 'ईस्ट इंडीज़', 'वेस्ट इंडीज़', 'इंडियन', 'इंडियन ओशन' आदि शब्दोंको रच डाला। केवल एक 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्दकी विदेशियोंने इतनी दुर्गति कर डाली है। हम पसंद करें या न करें, परंतु अंग्रेज हमें 'इंडियन' ही कहेंगे। आर्यसंस्कृतिसे शून्य विदेशियोंतकको वे भ्रान्तिके कारण 'रेड इंडियन' कहते हैं। परंतु ये पसंद करें या न करें, हम भी तो उन्हें 'फिरंगी' और 'अंग्रेज' ही कहते हैं—'इंगलिशमैन' नहीं। जर्मनीवाले अपनेको 'डोइट्श' और अपने देशको 'डोइट्शलैंड' कहते हैं; परंतु उन्हें हम जर्मन और उनके देशको जर्मनी कहते हैं, चाहे वे पसंद करें या न करें। फ्रांसवाले तो और भी गजब करते हैं—वे इंडियनको

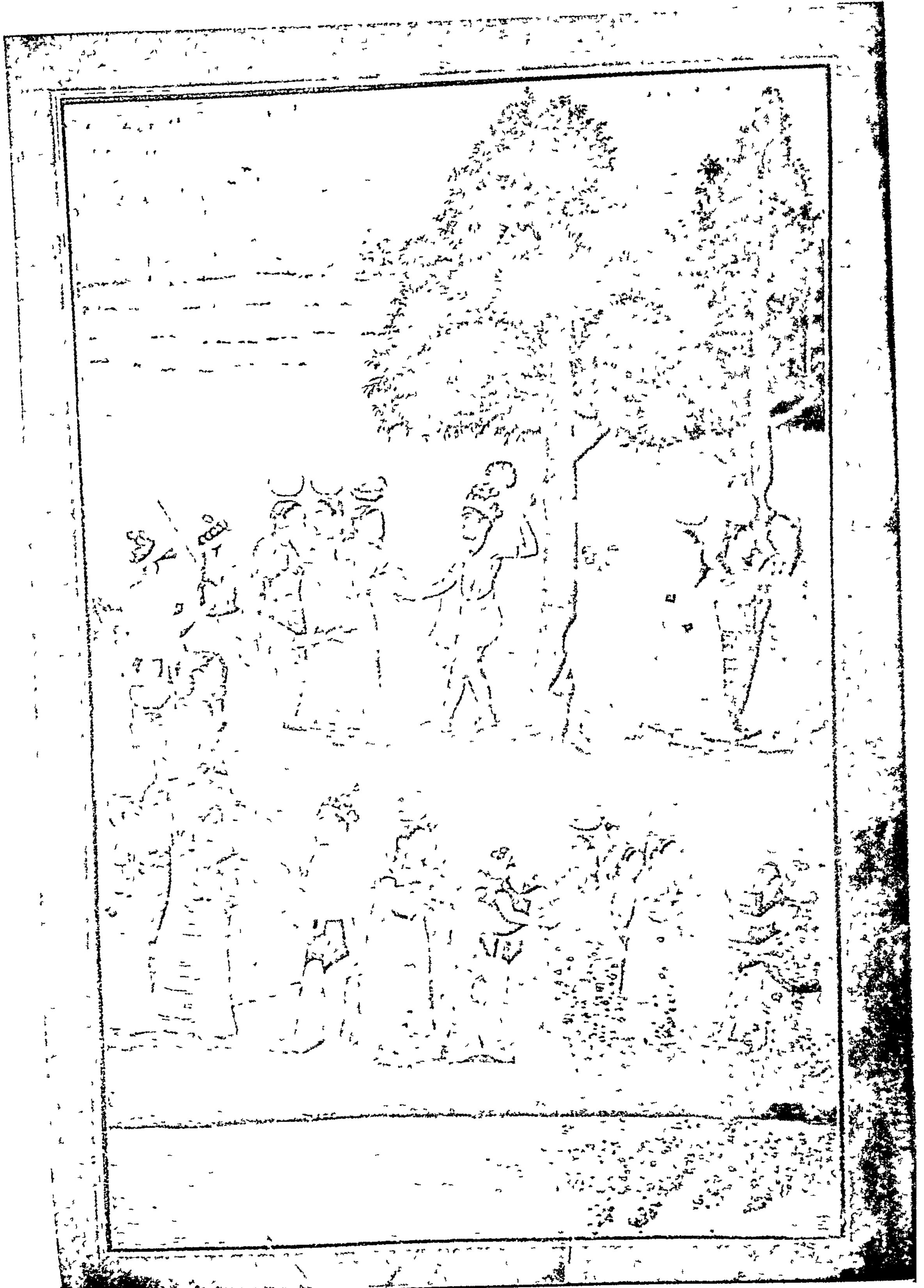
माखन-लीला



बसोली (पहाड़ी) चित्रशैली १८ वीं शती

भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

दानलीला



राजस्थानी चित्रशैली १८ वी शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

'इंजये' कहते हैं। इतना लिखनेका तात्पर्य यह है कि उच्चारण-दोषसे और देश, काल, पात्रकी विभिन्नताके कारण एक शब्दके कई रूप हो जाते हैं। परंतु मूल शब्दमें ही सारे शब्दोंका इतिहास और संस्कृति रहती है। फलतः मूल 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्द वैदिक है, परम पवित्र है और हमारी समूची संस्कृतिसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'हिंदू' शब्दके 'काला' 'चोर' आदि अर्थ द्वेषवश किये जाते हैं। जो विधर्मी हिंदूसे डाह और जलन रखता है, वह तो ऐसे ऊटपटॉग अर्थ करेगा ही। हिंदू सुरके पूजक हैं और पारसी असुरके। दोनोंमे विरोध भाव ज्यादा बढ़ गया, तब पारसी 'हिंदू' शब्दके अर्थका अनर्थ करने लगे। हिंदू-मुसल्मानोंमे शत्रुता बढ़ गयी, तब मुसल्मान इसका अर्थ 'नास्तिक', 'काफिर' आदि करने लगे। परंतु 'हिंदू' शब्द न तो पारसीका है न अरबीका; इसलिये 'हिंदू' शब्दके झूठे अर्थ समाजमे कभी गृहीत नही हुए। खुद मक्का और मदीनावाले भारतके मुसल्मानोको 'हिंदू' और 'हिंदी' कहते हैं तो क्या अपने किये अर्थके अनुसार मुसल्मान 'नास्तिक' और 'काफिर' हैं ? इसलिये यह कहना सरासर असत्य है कि 'यह शब्द मुसल्मानोका दिया हुआ है और इसके अर्थ बुरे हैं।' संस्कृत-में 'असुर' शब्दका अर्थ तो अच्छा नहीं है, तो क्या पारसी 'अहुरमज्द' को छोड़ देगे ?

जो लोग यह कहते हैं 'नाममे क्या रक्खा है ?' उनके सामने नीबूका नाम लीजिये, नीबूके नामका कीर्तन कीजिये, तो उनकी जीभपर पानी जरूर आ जायगा। क्या महाराणा प्रतापका नाम लेनेपर गर्वसे छाती नही फूल उठती ? तब फिर नामका मोह क्यो नही किया जाय ?

नाम वस्तुतः ध्वनिरूप आकार है। अपनी सारी अभिलाषाओंको मनुष्य नामरूपी एक शब्दमें प्रकट कर देता है। नाममे इतने संस्कार, भावनाएँ और स्मृतियॉ मिली रहती हैं कि नाम और वस्तु एक ही हो रहते है। इसीसे श्रीचैतन्य महाप्रभु नाम और नामीमे एकता समझते थे। उन्होने लिखा है—'अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।' अर्थात् नाम और नामवाला एक हैं। इसलिये नामको नामवालेसे हटाया नही जा सकता। शरीरका अङ्ग न होते हुए भी बहुत बार शरीर ही नहीं, शरीरसे भी अधिक महत्त्व नामका हो जाता है। शरीर तो विनष्ट हो जाता है, परंतु नाम कभी विनष्ट नही होता। शङ्कराचार्यका शरीर नही है; परंतु उनका नाम करोड़ो मनुष्योंके लिये जादूका काम करता है। यह कहना बिल्कुल वाहियात है कि 'नाममे क्या रक्खा है ?' प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'नाममे ही सब कुछ है।'

आज हजारो वर्षोंसे 'हिंदू' नाममे इतना विशद इतिहास, इतनी सम्पन्न संस्कृति, इतने उदात्त आदर्श, इतनी रहस्यमयी भावनाएँ, इतने समर्थ जीवन और इतने स्वस्थ तेज घुले-मिले हैं कि यह शब्द प्राणोंसे भी प्यारा हो गया है। यह शब्द हमारे अगणित सत्कार्योंका दर्पण हो गया है। इस नामके लिये असंख्य योगी, यति, कवि, दार्शनिक, जन-नायक और महापराक्रमी अपनी जानतक दे चुके हैं। यह नाम इतिहासका महाकोष बन चुका है। ये ही कारण हैं कि 'हिंदू' नाममे हमारा इतना मोह और इतनी ममता है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि आर्यलोग सदासे यहींके निवासी हैं, तथापि विदेशी विद्वान् और उनके शिष्य भारतीय विद्वान् इस देशमे आर्योंका आदि निवास नही मानते। वे कहते हैं कि 'आर्यलोग एशिया माइनर, स्कांडेनेविया या तिब्बतसे आये हैं।' 'यदि यह बात मान ली जाय, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि विदेशीलोग यहॉके आदि निवासियों—द्रविड़, आदि द्रविड़, कोल, भील, नागा, सन्थाल आदि—को हिंदू कहते थे। मूल नाम हिंदू ही था, जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोसे प्रमाणीकृत है। संस्कृतमे 'ह' के स्थानपर 'स' और 'ध'के स्थानपर 'द' करके वे 'हिंदू' की जगह 'सिन्धु' कहने लगे। नामोके परिमार्जनका अभ्यास आर्योंको था ही। वे अलेक्जेंड्रियाको 'अलसन्दा' और सेल्यूकसको 'सुलूव' कहते थे। यदि यह बात सच हो तो मानना पड़ेगा कि इस देशके लिये 'आर्य' नामसे भी प्राचीन नाम 'हिंदू' है। जिस समय भारतवर्षका कोई इतिहास नही था, उसी समयका—प्रागैतिहासिक कालका 'हिंदू' नाम है। इसका प्राञ्जल रूप अपनी प्रिय नदीके नामपर सिन्धु रक्खा गया अवश्य।' परंतु जनसाधारणमे 'हिंदू' शब्द ही प्रचलित रहा और आर्य भी हिंदू कहलाने लगे। पीछे चलकर 'हिंदू' शब्द इतना व्यापक हो गया कि संस्कृतकी पुस्तकोमे भी इसका प्रयोग धड़ल्लेसे होने लगा। इन दिनो तो यह शब्द समूची वसुन्धरामे व्याप्त हो गया है और हमारे ही साथ यहॉके सभी विभिन्न धर्मवालोको भी संसार हिंदू ही कहता है। सातवीं शताब्दीमें अनेक गिरि-कन्दराओको लॉघकर चीनी यात्री ह्वेनत्सांग यहॉ आया था और कई साल भारतमे रहा; परंतु उसने भी इमे 'हिंतु' ही लिखा है। द्राविडवी प्रयोग केवल कुछ पारसी करते थे। वे अफगा-निस्तानको 'श्वेत भारत' कहते थे। बस, 'सिन्धु' वा 'हिंदू'

शब्द प्रोज्ज्वल वैदिक स्मृतियोंको जगानेवाला है, इसलिये यही नाम हमें सबसे अधिक उपयुक्त जँचा। 'सिंधुस्थान' या हिंदुस्थानको 'उत्तम राष्ट्र' माना गया—

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।

(भविष्यपुराण प्र० प० २)

'सिन्धु' शब्दके दो अर्थ हैं—नदी और समुद्र। इस देशके पश्चिममें सिन्धु (नदी) है ही। उत्तरमें भी हिमालय-के अन्तर्गत सिन्धु ही सीमाका निश्चय करती है। पूर्वमें हिमालयसे ब्रह्मपुत्र निकली है। कुछ लोग इसे सिन्धुकी सहोदरा और कुछ लोग इसको सिन्धुकी ही पूर्वी धारा मानते हैं। इस तरह पूर्वमें भी सिन्धु हुई। दक्षिणमें तो सिन्धु या हिंद-महासागर विस्तृत ही है। इस तरह भगवान्‌ने ही हमारे देशको पूर्णतः सिन्धुस्थान या हिंदुस्थान बना रक्खा है। हमारे देशके लिये इससे बढ़कर दूसरा उपयुक्त शब्द होगा भी नहीं।

ऋग्वेद (९।३३।६ और १०।४७।२) में चार समुद्रोंका उल्लेख है। इन समुद्रोंमें हमारे पूर्वज जहाजों और नावोंके द्वारा यात्रा करते थे और विविध देशोंमें व्यापार करके धन और ऐश्वर्यसे अपने देशको सम्पन्न करते थे। (१।४८।३; १।५६।२; १।११६।३; ४।५५।६; ५।८५।६; ७।८८।३) भूगर्भशास्त्री कहते हैं कि बल्ख और फारसके उत्तरी भागमें और तुर्किस्तानके पश्चिमी प्रान्तमें एक विस्तृत समुद्र था, जो प्राकृतिक कारणोंसे सूखकर कृष्णह्रद (Black Sea), काश्यपह्रद (Caspean Sea), आरलह्रद (Sea of Aral) और बल्काशह्रद (Lake Balkash) के रूपोंमें परिणत हो गया है। किसी समय पञ्चनद (पंजाब) के दक्षिण, पश्चिम और पूर्वमें समुद्र विद्यमान था। श्रीएच. जी. वेल्सने अपने 'Outline of History' ग्रन्थमें लिखा है कि 'ऐसे समुद्रोंका अस्तित्व आजसे पचीस हजार वर्षसे लेकर पचास हजार वर्षके भीतर हो सकता है।' इस तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे देशके चारों तरफ चार समुद्र थे। सप्त सिन्धु, काश्मीर, गान्धार (अफगानिस्तान), बिलोचिस्तानके उत्तर बल्ख और तुर्किस्तानके पश्चिम आदिमें हमारे पूर्वज रहते थे। कदाचित् इसी कारण उन्होंने अपने देशका नाम 'सिन्धुस्थान' या हिंदुस्थान रक्खा था। इस प्रकार कम-से-कम पचीस हजार वर्षोंसे इस दिव्य देशका नाम हिंदुस्थान है। उस समय सुमेर, अक्कद, चाल्डियन, बेबीलोनियन, ग्रीक, रोमन, चीनी और इजिप्शियन आदि संसारकी प्राचीनतम जातियोंका अस्तित्व भी नहीं था।

खेदकी बात है कि देशके कुछ लोगोंने अभीतक हिंदू और हिंदुस्थानके पूर्ण महत्त्वको नहीं समझा है। परंतु वह दिन दूर नहीं, जब हम ही इन पावन शब्दोंके आगे सिर नहीं झुकायेंगे, सारा विश्व सिर झुकायेगा और हिंदुत्वके महाव्यापक स्वरूपके अमर गीत गायेगा।

इसी हिंदुस्थानके प्रत्येक ग्राममें देवपुरुषोंका वास था, प्रत्येक प्रान्तमें यज्ञ होता था, घर-घरमें खजाना भरा रहता था और हर एक मनुष्यमें धर्मका निवास था—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवो देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यं धर्मश्चैव जने जने॥

(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व)

उस समय एक ही संस्कृति थी, एक-सी प्रथाएँ थीं, एक राष्ट्र-भाषा संस्कृत थी और सम्पूर्ण राष्ट्रके जीवनमें अद्भुत आनन्द था। पशु-पक्षीतक स्वतन्त्र विचरा करते थे।

ये ही सब कारण हैं कि 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका महत्त्व अनेक विदेशी भी समझते थे। यहूदी शूरवीरको हिंदू कहते थे। अरबी ग्रन्थ 'सोहब मो अलका' में लिखा है—'भाई-बन्धुओंका अत्याचार हिंदू-तलवारसे भी अधिक घातक होता है।' अरबीमें एक कहावत है—'हिंदू-जवाब देना', जिसका मतलब है 'शत्रुपर कड़ी चोट करना।' हिंदू-तलवार और शूरताकी ऐसी ही धाक थी। बेबीलोनियामें बढ़िया बागको 'सिन्धु' कहते थे। यह इसलिये कि हिंदू ही बागोंके पौधे देते थे। वहाँकी भाषामें 'हिंदू' का अर्थ इस देशका निवासी है। कोई बुरा अर्थ नहीं है।

हिंदीकी प्राचीनतम कविता चंदबरदाईके पिता 'वेन' की जो पायी जाती है, वह बारहवीं सदीकी है। अजमेरके राजा पृथ्वीराजके पिताको लक्ष्य करके यह काव्य लिखा गया है। इसमें हिंदु, हिंदुवान और हिंदका कई बार नाम आया है, जिससे विदित होता है कि ये शब्द उन दिनों अत्यन्त आदरणीय और पूजनीय थे। उन दिनों मुसल्मान पहले-पहल आये हुए थे। वे राजपूतोंके पक्के शत्रु थे। यह कैसे सम्भव था कि अपने शत्रुओंके रक्खे घृणित नामको राजपूत तुरंत अपना लेते और उसे पूजनीय मान लेते? चन्दबरदाईने तो अपने 'पृथ्वीराजरासो' में अगणित बार 'हिंदु' शब्दका प्रयोग बड़े गर्व और गौरवके साथ किया है। 'रासो' में 'भारत' शब्दका व्यवहार तो कई बार किया गया है, परंतु

भारतका कहीं भी हिंदुस्थान अर्थ नहीं है। 'महाभारत' ग्रन्थ है। समर्थ रामदासने भी अपने काव्योंमें राष्ट्रिय भावनासे भरे 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका उल्लेख किया है। महाकवि भूषणने छत्रपति शिवाजी और बुंदेल-राज छत्रसालके सम्बन्धमें कविताएँ बनायी थीं, उनमें हिंदू और हिंदुस्थानकी बार-बार प्रशंसा की है। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह तो 'हिंदुत्व' के लिये ही जिये और मरे। हिंदू-धर्म और हिंदू-राज्यके लिये पेशवा वीर महाकालका विकराल रूप धारण करके मुसल्मानोंसे लड़े थे। सुजानसिंह, जयसिंह, राणा बप्पा, राणा साँगा, राणा प्रताप आदि वीर-व्याघ्रोंने हिंदुत्वकी रक्षाके लिये मद-मत्त शत्रुओंको रौंद डाला था।

हिंदूपनको हिंदुत्व कहा जाता है। हिंदूपनके भीतर हिंदूधर्म, हिंदू-मर्यादा, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-सभ्यता, हिंदू-परम्परा, हिंदूकला आदि-आदि सब आ जाते हैं। हिंदुत्वका स्वरूप इतना व्यापक है कि इसकी रक्षाके लिये वे भी प्राण देनेको तैयार हैं, जो हिंदुत्वकी दो-ही-एक बातें मानते हैं। दक्षिणके 'अनार्य' कहानेवाले अब्राह्मण (आदि द्रविड़) भी अपनेको हिंदू कहनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सब हिंदूमहासभामें सम्मिलित हैं। यहाँके नास्तिक भी अपनेको हिंदू कहते हैं। गोआके प्रायः सभी ईसाई हिंदू-देव-देवियोंकी अबतक पूजा करते हैं। कितने ही मुसल्मान भी हिंदू-त्योहार मनाते और देव-स्थानोंमें मुण्डन-संस्कारतक कराते हैं। जिनपर हिंदुत्वकी धाक जम गयी है, वे मुसल्मान गोमांसके पासतक नहीं जाते। महापतित भी अपनेको छाती फुलाकर हिंदू बताता है। औघड़से लेकर परम वैष्णवतक हिंदुत्वाभिमानी है। सूअरकी हड्डीसे गोंटकर मुसल्मानकी बनायी हुई रोटीको लेकर 'अमृत छकनेवाले' गुरु गोविंदसिंह भी हिंदू हैं और स्वयंपाकी गुरुजी भी हिंदू हैं। वर्णाश्रमी भी हिंदू हैं और वर्णाश्रमके द्रोही भी हिंदू हैं। ईश्वर-द्रोही बौद्ध भी हिंदू हैं, वेदद्रोही जैन भी हिंदू हैं और मूर्तिपूजाद्रोही आर्यसमाजी भी हिंदू हैं। चाण्डाल और चमार भी हिंदुत्वके लिये जान देते हैं और कोल, भील भी हिंदुत्वकी रक्षाके लिये कट मरते हैं। कन्धार और काबुलसे आकर गङ्गा-स्नान करनेवाले भी हिंदुत्वके हिमायती हैं और गङ्गातटपर रहकर गङ्गाकी समालोचना करनेवाले भी हिंदू हैं। हिंदुत्वने ही बौद्धधर्मको जन्म दिया है; इसलिये बौद्धधर्म माननेवाले जापानी, चीनी, तातारी, मंगोल, तिब्बती, सिंहली, बर्मी आदि भी हिंदू हैं। बर्माके भिक्षु उत्तमा हिंदूमहासभाके सभापति भी हुए थे।



मनमें बसते

उसीके मन बसते भगवान।
काम, कोप, मद, लोभ, छोड़ जो करता सबसे प्यार।
कभी न अपने मनमें आने देता बुरे विचार ॥
जिसे नित रहता सत्का ध्यान। उसीके०॥

दुखी देखकर किसी जीवको होता तुरत दयाल।
फाँस न सकता जिसे कभी भी मायाका जंजाल ॥
सदा जो करता हरि-गुण-गान। उसीके० ॥

रखता सदा प्रेम हरि-पदमें, जान जन्मका सार।
और समझता है प्रपंचमय यह सारा संसार ॥
त्यागकर अहंकार, अभिमान। उसीके० ॥

जिसको सुपथ बताते रहते सदा स्वयं भगवंत।
योग-क्षेम वहन करते नित, खिलते फूल वसंत ॥
फैलती सौरभ मधुर महान। उसीके० ॥

—विद्यार्थी फूलचंद

हिंदु-संस्कृति-सम्बन्धी दस विषयोंपर विचार

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

१. एक कल्प एवं सृष्टि-संवत्सर

'ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कुमारिकानाम-क्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि-प्रथमचरणे बौद्धावतारे·········;

—इत्यादि सङ्कल्पको सनातनधर्मी प्रत्येक शुभ कृत्यमें पढ़ते हैं। इसके द्वारा सृष्टिसंवत्सर सरलता तथा संक्षेपसे प्राप्त हो जाता है।

इसपर यह जानना चाहिये कि ब्रह्माजीकी अपने मानसे सौ वर्षकी आयु होती है। ब्रह्माण्डकी सृष्टिसे लेकर महा-प्रलयतक इतना समय व्यतीत होता है। ब्रह्माजीका पूर्वपरार्ध अर्थात् उनकी आयुके पचास वर्ष बीत गये हैं। द्वितीय परार्धका प्रथम कल्प (दिन) यह वर्तमान है, जिसका नाम 'श्वेतवाराहकल्प' है। अर्थात् आजकल ब्रह्माजीका ५१ वें वर्षका प्रथम दिन चल रहा है और उसकी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। इसपर 'श्रीमद्भागवत' पुराणका प्रमाण इस प्रकार है—

एवं विधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपक्षितमिवास्यापि (ब्रह्मणः) परमायुर्वयः शतम्॥
यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते॥
(३। ११। ३२-३३)

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
वाराह इति विख्यातः······ ·· ··········· ॥
(३। ११। ३६)

इसी प्रकार 'मार्कण्डेयपुराण' (४६। ४२-४३-४४) में भी कहा है।

एक कल्पमें एक हजार चतुर्युग होते हैं; उन एक सहस्र चतुर्युगोंमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग हैं। चौदह मन्वन्तरोंके नाम ये हैं—१ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णिक, ९ दक्षसावर्णिक, १० ब्रह्मसावर्णिक, ११ धर्मसावर्णिक, १२ रुद्रसावर्णिक, १३ देवसावर्णिक, १४ इन्द्रसावर्णिक। यह वर्णन श्रीमद्-भागवत पुराणके अष्टम स्कन्ध (१, ५, १३ अध्यायों) में, मनुस्मृति (१। ६१-६२-६३) में, विष्णुपुराण (३। २) में तथा श्रीहरिवंशपुराण (१। ७) में देखा जा सकता है। स्वा० दयानन्दजीने भी मन्वन्तरोंके ये नाम सम्भवतः पुराणोंसे ही लेकर अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २१ पृष्ठमें उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार 'सूर्यसिद्धान्त' भी इस विषयमें साक्षी है (देखिये उसके १। १३, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३वें पद्य)। तदनुसार वैवस्वत मन्वन्तरके (जो आजकल चालू है) ७१ महायुगोंमें २८ सत्ययुग, २८ त्रेता, २८ द्वापर तथा २७ कलियुग बीत चुके हैं। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग चालू है, जिसका आज-कल प्रथम चरण (चतुर्थांश) वर्तमान है; उसमें भी आज (सं० २००६) ५०५० वर्ष बीत चुके हैं।

एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग होते हैं। प्रत्येक युगमें सन्ध्या तथा सन्ध्यांश हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष मिलानेसे ब्रह्माजीका एक दिन हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष ४, ३२, ००, ००, ००० होते हैं। आज (सं० २००६) तक इस कल्पके १, ९७, २९, ४९, ०५० वर्ष बीत चुके हैं तथा २, ३४, ७०, ५०, ९५० वर्ष शेष हैं।

यह विषय भी श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें स्पष्ट है। इस विषयमें कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
* दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्॥

---

* यहाँपर युगोंके वर्ष 'दिव्य' कहे गये हैं। देवता तथा मनुष्यों-की वर्ष-व्यवस्था भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यथा—'दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षि-णायनम्' ॥ (मनु० १। ६७)। 'सूर्यसिद्धान्त' (१। १३) में भी यही बात कही गयी है। यहाँपर स्पष्ट कहा है कि मनुष्योंका वर्ष देवताओं-का दिन-रात होता है। तब 'श्रीमद्भागवत' के 'दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः' (३। ११। १८) तथा 'मनुस्मृति' के 'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम्' (१। ७१)—इस पद्यमें १२,००० वर्ष देवताओंके कहे गये हैं। इनके मनुष्य-वर्ष बनानेके लिये ३६० अङ्कसे गुणा करना पड़ेगा अर्थात् १२,०००×३६०=४३,२०,०००—ये चारों युगोंके मनुष्य-वर्ष हैं। यदि उक्त बारह सहस्र वर्ष देवताओंके न मानकर मनुष्योंके माने जायँ, तब तो कलियुग समाप्त ही हो गया

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥
सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक् ॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश ॥
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।
(३ । ११ । १८–२०, २२–२४)

यही बात 'मनुस्मृति' (१ । ६८ से ७४, ७९-८०) मे तथा 'महाभारत' के वनपर्व (१८८ । २२ से २४, २६) तथा शान्तिपर्वके मोक्ष-धर्मपर्व (२३१ । १६-१७, १९ से २१, २९ से ३१) में भी स्पष्ट की गयी है।

अब हम इनका विवरण लिखते हैं। 'कल्याण' के विज्ञ पाठक अवधानपूर्वक देखें—

(सं० २००६ वि०, कलियुग ५०५०, सन् १९४९-५०)

(भुक्तकल्पके वर्षोंका विवरण)

गत छः मन्वन्तरोंके वर्ष—	१, ८४, ०२, २०, ०००
इनकी सात सन्धियोंके वर्ष—	१, २०, ९६, ०००
सातवें मन्वन्तरके गत २७ चतुर्युगोंके वर्ष—	११, ६६, ४०, ०००
२८ त्रियुगीके भुक्त वर्ष—	३८, ८८, ०००
२८ वें वर्तमान कलियुगके भुक्त वर्ष	५, ०५०
भुक्त कल्पके वर्षोंका योग	१, ९७, २९, ४९, ०५०

और उसके बादका सत्ययुग भी समाप्तप्राय हो गया; क्योंकि तदनुसार कलियुगकी वर्षसंख्या १२०० बतायी गयी है और सतयुग ४८०० दिव्य वर्षोंका माना गया है। एवं महाभारत-युद्धकालसे प्रारम्भ हुए कलियुगको पाँच सहस्र वर्ष बीत चुके हैं, यह सर्वसम्मत बात है। अतएव इन दिव्य वर्षोंको मानुषवर्ष मानना कदापि युक्तिसंगत और यथार्थ नहीं है। इसलिये मन्वादि-लिखित वर्ष दिव्य (देववर्ष) ही हैं, यह जानना चाहिये। इन्हें ३६० अङ्कोंके साथ गुणा करनेसे मानुषवर्ष बनते हैं। मनुने दिव्य वर्षानुसार सत्ययुगके ४८०० वर्ष, त्रेताके ३६०० वर्ष, द्वापरके २४०० वर्ष तथा कलिके १२०० वर्ष माने हैं। इन्हें जोड़नेपर एक चतुर्युगमें देवताओंके १२,००० वर्ष होते हैं। इनको ३६० से गुणा करनेसे चतुर्युगोंके मनुष्यवर्ष ४३,२०,००० होते हैं। 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर० १ । ४ । २१), 'एकं वा एतद् देवानामहर्यद् संवत्सरः' (तै० ब्रा० ३ । ९ । २२ । १)—इन प्रमाणोंसे देवताओंका एक दिन-रात हमारा एक वर्ष होना है।

(भोग्य कल्पके वर्षोंका विवरण)

आगेके सात मन्वन्तरोंके वर्ष—	२, १४, ७०, ४०, ०००
उनकी आठ सन्धियोंके वर्ष—	१, ३८, २४, ०००
आगेके ४३ चतुर्युगोंके वर्ष—	१८, ५७, ६०, ०००
वर्तमान कलियुगके शेष वर्ष—	४, २६, ९५०
कल्पके अग्रिम वर्षोंका योग—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०

इस हिसाबसे—

कल्पके भुक्तवर्ष—	१, ९७, २९, ४९, ०५०
,, भोग्यवर्ष—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०
कल्प (ब्रह्माका दिन)	४, ३२, ००, ००, ०००

ये एक कल्पके वर्ष हैं।

एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके दिनके उदयके साथ ही त्रैलोक्यकी सृष्टि होती है। उसके दिनकी समाप्ति होनेपर उतनी ही रात्रि होती है। उसमें महाप्रलय होता है।

ब्रह्माका दिन—४,३२,००,००,०००
,, की रात्रि—४,३२,००,००,००० } मानुषी वर्ष

दिन-रात्रिका योग—८,६४,००,००,०००

इतने वर्षोंसे ब्रह्माका दिन-रात होता है। इन्हीं वर्षोंको ३० अङ्कोंसे गुणा करनेपर २,५९,२०,००,००,००० वर्षोंका ब्रह्माका एक मास होता है। इन्हीं अङ्कोंको १२ से गुणा करनेपर ब्रह्माका एक वर्ष बनता है। अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००० वर्षोंका एक ब्राह्मवर्ष होता है। फिर इन अङ्कोंको १०० से गुणा करनेपर ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्षोंमें ब्रह्माकी सौ वर्षोंकी आयु समाप्त होती है। इस ब्रह्माकी आयुमेंसे आजतक १५,५५,२१,९७,२९,४९,०५० वर्ष बीत चुके हैं।

अब चारों युगोंके दिव्य तथा मानुष वर्ष एवं उसके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दिखलाये जाते हैं—

चारों युगोंके दिव्य वर्ष

युगोंके नाम	सन्ध्या		नियतकाल		सन्ध्यांश		सर्वयोग
१—सत्ययुग	४००	+	४०००	+	४००	=	४८००
२—[illegible]	३००	+	३०००	+	३००	=	३६००
[illegible]	२००	+	२०००	+	२००	=	[illegible]
	१००	+	१०००	+	१००		[illegible]
			योग				

चारों युगोंके मानुष-वर्ष

युगनाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	१४४०००+	१४४००००+	१४४०००=	१७२८०००
२-त्रेतायुग	१०८०००+	१०८००००+	१०८०००=	१२९६०००
३-द्वापरयुग	७२०००+	७२००००+	७२०००=	८६४०००
४-कलियुग	३६०००+	३६००००+	३६०००=	४३२०००
चार युगोंके वर्षोंका योग				४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि कलियुगके ४,३२,००० मानुषवर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग है और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्यसिद्धान्त' (१। १९ पद्य) के अनुसार १५ सन्धियाँ होती हैं। उनमे एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,००० वर्ष) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' मे 'आर्यसृष्टिसंवत्सर' दिखलाते हुए प्रायः ऐसा ही माना है। पर वे मन्वन्तरोंकी वर्षसंख्यामें सन्धियोंके वर्ष मिलाने भूल गये हैं, जिससे उनकी गणनामें थोड़ी भूल रह गयी है। उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्यसृष्टि-संवत्सर हमारे ही हिसाबसे लिखा हुआ रहता है। १४ मन्वन्तरोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें उनके सन्धि-वर्ष २,५९,२०,००० मिला देनेपर कल्प (ब्रह्माके दिन) के वर्षोंकी संख्या मनुष्यवर्षानुसार ४,३२,००,००,००० हो जाती है। इस प्रसङ्गमे पूर्व जो सङ्कल्प लिख चुके हैं, स्वा० दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २२वें पृष्ठसे उसे भी प्रमाणित किया है।

पहले पाश्चात्त्य लोग सृष्टिको केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी मानते थे। आर्कविशप उशरका मत है कि सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। अन्य ईसाईलोग सृष्टिका प्रारम्भ ६९८४ वर्ष पूर्व मानते थे। परंतु कई अत्यन्त प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उन लोगोंकी धारणा परिवर्तित हो गयी, और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। कई पाश्चात्त्य ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। इधर भूगर्भ-विशारदोंने पृथ्वीकी आयु दस करोड़ आँकी। प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारीपन देखकर उससे निर्णय किया कि संसारमें समुद्र दस करोड़ वर्षोंसे बह रहा है।

प्रो० एस्. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी, पृष्ठ ५०९), प्रो० हिल्मार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्ट्यारम्भ मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिनः भाग २, पृ० ६९४)। प्रो० काल महाशय ७ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम, पृ० ३३५)। चीननिवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। सर विलियम रामसन १० करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २, पृष्ठ ६९४)। प्रसिद्ध अस्थितत्त्ववेत्ता डाक्टर विलियम तथा डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वीकी उष्णताकी परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। यूरेनियम, हीलियम, पोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० गिगचाफ २५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिनिर्माण मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, पृष्ठ ६९४)। प्रो० रेड सृष्टिकी आयु ५० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० हकसल १ अरब वर्षोंसे सृष्टि मानते हैं (वर्ल्ड लाइफ, पृ० १८७)। कोई और एक अरब ६० करोड़ वर्षोंसे मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, समय-समयपर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः ये पौरस्त्य मतमें आकर विश्राम लेते हैं। अतः हमें विश्वास है कि ये लोग १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार ५० वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। हम कल्पका निरूपण कर चुके। यह श्वेतवाराह कल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके। ब्रह्माके एक सहस्र युगोंसे विष्णुकी एक घड़ी होती है। विष्णुकी १२ लाख घड़ियोंसे रुद्रकी आधी घड़ी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २, २३, ९४, ८८, ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ००० वर्षोंकी होती है। रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु होते तथा अन्तर्धान हो जाते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा सङ्केत मिलता है—

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्।
मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥
एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः।
ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥

चारों युगोंके मानुष-वर्ष

युगनाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	१४४०००+	१४४००००+	१४४०००=	१७२८०००
२-त्रेतायुग	१०८०००+	१०८००००+	१०८०००=	१२९६०००
३-द्वापरयुग	७२०००+	७२००००+	७२०००=	८६४०००
४-कलियुग	३६०००+	३६००००+	३६०००=	४३२०००
चार युगोंके वर्षोंका योग				४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि कलियुगके ४,३२,००० मानुषवर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग है और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोंका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्यसिद्धान्त' (१। १९ पद्य) के अनुसार १५ सन्धियाँ होती हैं। उनमें एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,००० वर्ष) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'आर्यसृष्टिसंवत्सर' दिखलाते हुए प्रायः ऐसा ही माना है। पर वे मन्वन्तरोंकी वर्षसंख्यामें सन्धियोंके वर्ष मिलाने भूल गये हैं, जिससे उनकी गणनामें थोड़ी भूल रह गयी है। उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्यसृष्टि-संवत्सर हमारे ही हिसाबसे लिखा हुआ रहता है। १४ मन्वन्तरोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें उनके सन्धि-वर्ष २,५९,२०,००० मिला देनेपर कल्प (ब्रह्माके दिन) के वर्षोंकी संख्या मनुष्यवर्षानुसार ४,३२,००,००,००० हो जाती है। इस प्रसङ्गमें पूर्व जो सङ्कल्प लिख चुके हैं, स्वा० दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २२ वें पृष्ठमें उसे भी प्रमाणित किया है।

पहले पाश्चात्त्य लोग सृष्टिको केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी मानते थे। आर्कविशप उशरका मत है कि सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। अन्य ईसाईलोग सृष्टिका प्रारम्भ ६९८४ वर्ष पूर्व मानते थे। परंतु कई अत्यन्त प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उन लोगोंकी धारणा परिवर्तित हो गयी; और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। कई पाश्चात्त्य ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। इधर भूगर्भ-विशारदोंने पृथ्वीकी आयु दस करोड़ आँकी। प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारीपन देखकर उससे निर्णय किया कि संसारमें समुद्र दस करोड़ वर्षोंसे बह रहा है।

प्रो० एम्. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी; पृष्ठ ५०९), प्रो० हिल्नार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्ट्यारम्भ मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन; भाग २; पृ० ६९४)। प्रो० गाल महाशय ७ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम; पृ० ३३५)। चीननिवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। सर विलियम टामसन १० करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २; पृष्ठ ६९४)। प्रसिद्ध अस्थितत्त्ववेत्ता डाक्टर विलियम तथा डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वीकी उष्णताकी परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। यूरेनियम; हीलियम, पोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० निशचाफ ३५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिनिर्माण मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, पृष्ठ ६९४)। प्रो० रेड सृष्टिकी आयु ५० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० हकसल १ अरब वर्षोंसे सृष्टि मानते हैं (वर्ल्ड लाइफ, पृ० १८७)। कोई और एक अरब ६० करोड़ वर्षोंसे मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, समय-समयपर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः ये पौरस्त्य मतमें आकर विश्राम लेते हैं। अतः हमें विश्वास है कि ये लोग १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार ५० वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। हम कल्पका निरूपण कर चुके। यह श्वेतवाराह कल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके। ब्रह्माके एक सहस्र युगोंसे विष्णुकी एक घड़ी होती है। विष्णुकी १२ लाख घड़ियोंसे रुद्रकी आधी घड़ी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २; २३, ९४, ८८; ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ००० वर्षोंकी होती है। रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु होते तथा अन्तर्धान हो जाते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा सङ्केत मिलता है—

> तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्।
> मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥
> एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः।
> ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥

एतद्दिवसमानेन शतवर्षेण तत्क्षयः ।
एतत्क्षयस्त्रिगुणोऽष्टाभी रुद्रस्य त्रुटिरुच्यते ॥
एवमाब्दिकमानेन प्रयातेऽब्दशते द्विजाः ।
रुद्रश्चात्मनि लीयेत निरालम्बे निरामये ॥

(१२ । १८८—१९१)

इस प्रकार हिंदु-संस्कृति अनादि अथवा प्राचीनतम सिद्ध हुई । अन्य स्थानोंमे इसीके एक देशको आधार बनाकर कई संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, कई नष्ट हो गयीं । अतः हिंदु-संस्कृति ही अन्य संस्कृतियोंकी आदि जननी है । शेष किसी भी संस्कृतिमे इतना काल-परिमाण नहीं मिलता । अतः वे संस्कृतियाँ आदिमती हैं, हिंदु-संस्कृतिकी भाँति अनादि नहीं ।

२. शिखा तथा यज्ञोपवीतका वैज्ञानिक रहस्य

(क) शिखा

शिखा-यज्ञोपवीत आदि हिंदु-संस्कृतिके उपयोगी बाह्यचिह्न यों तो शास्त्रमूलक एवं अदृष्टमूलक हैं, अतः उनके लिये दृष्ट प्रयोजनोंकी आवश्यकता नहीं; तथापि आजकलका समय दृष्ट, बाह्य प्रयोजनोंको भी पूछा करता है; तत्पूर्त्यर्थ निम्न पंक्तियाँ हैं—

पहले इसमें वैदिक प्रमाण भी जान लेने चाहिये । मनुजीने कहा है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

(२ । ३५)

यहाँपर वेदके कहनेसे शिखाका रखना कहा गया है । वेदके दो भाग हैं—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग । इसमे मन्त्रभागका प्रमाण यह है—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।

(शुक्लयजुः वा० स० १७ । ४८)

'विशिखाः'का भाव है—'गोखुरके परिमाणकी शिखावाले । दूसरा मन्त्र यह है—

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम
मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम ।
केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा
सिꣳहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ।

(यजुः वा० सं० १९ । ९२)

यहाँपर 'श्री' के लिये शिखा धारण करना कहा है; यहाँपर शिखाके बालोंको सिंहके लोमसे उपमा दी गयी है ।

अब ब्राह्मणभागका प्रमाण देखिये—

अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुण्डः; तस्य एतद् अपिधानं यत् शिखा ।

(आपस्तम्बधर्मसूत्र १ । १० । ८)

यहाँपर शिखारहितको शून्य अर्थात् श्रीहीन कहा है । अन्य प्रमाण भी इस विषयमे बहुत हैं; पर स्थान नहीं । अब इसका रहस्य समझना चाहिये । यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के शिक्षाध्याय नामक प्रथम वल्लीके छठे अनुवाककी प्रथम कण्डिकामे कहा है—

अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले ।

अर्थात् तालुके मध्यमे स्तनकी तरह जो केशराजि दीखती है, यहाँ केशोंका मूल है । वहाँ सिरके कपालका भेदन करके 'इन्द्रयोनि'—इन्द्र अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग सुषुम्णा नाड़ी है ।

योगीलोग सुषुम्णा नाड़ीको प्रबुद्ध करके उससे आत्म-साक्षात्कार करते हैं । यह नाड़ी अपने मूलस्थानसे होती हुई ललाटके मध्यमे विचरती है । योगीलोग जिसे सुषुम्णाका मूलस्थान कहते हैं, वैद्यलोग उसे 'मस्तुलिङ्ग' कहते हैं । 'मस्तुलिङ्ग' के साथवाले अग्रभागको योगविद्यानिष्णात 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं; वैद्य उसे 'मस्तिष्क' कहते हैं ।

वैद्योंका यह अभिप्राय है कि सारे शरीरमे प्रधान अङ्ग है सिर ! सब शरीरमे व्याप्त नाड़ियोंका सिरसे सम्बन्ध है । मनुष्य-जीवनका केन्द्र भी सिर ही है । सिरसे दो शक्तियाँ रहती हैं—एक ज्ञानशक्ति, दूसरी कर्मशक्ति । इन दोनों शक्तियोंकी परम्परा नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमे फैलती है । इसलिये शरीरमें भी ज्ञान और कर्म—ये दो विभाग हैं । इन दोनो विभागोंका मूलस्थान वही सुषुम्णाका मूलस्थान मस्तुलिङ्ग तथा मस्तिष्क है । मस्तुलिङ्ग कर्मशक्तिका केन्द्र है और मस्तिष्क ज्ञानशक्तिका । मस्तिष्कके साथ ज्ञानेन्द्रियों—कान, नाक, आँख, जीभ, त्वचाका सम्बन्ध है और हाथ, पैर, गुदा, इन्द्रिय, वाणी—इन कर्मेन्द्रियोंका मस्तुलिङ्गसे सम्बन्ध होता है । मस्तिष्क तथा मस्तुलिङ्ग जितने अधिक स्वस्थ या सामर्थ्यवान् होंगे, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंमें भी उतनी शक्ति बढ़ेगी । उन दोनोंके अस्वास्थ्यसे इन इन्द्रियोंमें भी त्रुटि हो जाती है ।

प्रकृतिकी विलक्षण महिमासे दोनों ही स्थलोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। मस्तिष्क ठंडक चाहता है, मस्तुलिङ्ग गर्मी। मस्तिष्ककी ठंडकके लिये क्षौर बनवाया जाता है, तैल, फुलैल, जल, वायु आदिका सेवन करना पड़ता है। शिरोवेदनामें तालुके बाल कटानेसे वेदना शान्त हो जाया करती है। अब रहा मस्तुलिङ्गका प्रश्न है कि उसमें कितनी गर्मी अपेक्षित है। गर्मीकी न्यूनाधिकतासे नाड़ियोंमें प्रकोप हो सकता है, उससे कई हानियाँ सम्भव हैं। अतः उसमें चाहिये मध्यम गर्मी। वह गर्मी कपड़े आदिसे नहीं आ सकती; क्योंकि उनके गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उनसे पूर्ण लाभ सम्भव नहीं।

यह बात भी निश्चित है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वही उसकी वास्तविक सहायक होती है। जैसे कि घड़ा मिट्टीसे बनता है; उस घड़ेके प्रत्येक अवयवकी पूर्ति भी मिट्टीसे ही हो सकती है, जल-अग्नि आदिसे नहीं। 'मस्तुलिङ्ग' भी सिरका एक भाग है; उसकी रक्षा भी सिरसे उत्पन्न पदार्थसे ही हो सकती है, टोपी-हैटसे नहीं। शिरोजात पदार्थ हैं बाल। अतः वहाँ गोखुरके परिमाणके बाल ही मध्यम गर्मी ला सकते हैं, अन्य बाल नहीं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मस्तिष्क शैत्य चाहता है और मस्तुलिङ्ग उष्णता। तो मस्तिष्ककी शीतलताके लिये वहाँके केश थोड़े चाहिये; पर मस्तुलिङ्गकी उष्णताके लिये वहाँ घनीभूत केशोंकी आवश्यकता होती है। इस कारण मस्तुलिङ्गमें सदा ही गहरे बाल रहें, अन्य केशोंसे उनकी विशेषता या उच्चता रहे; इसलिये उसका विशेष नाम भी 'शिखा' रक्खा गया है। कर्मप्रवर्तक होनेसे उसका सम्बन्ध धर्मके साथ है। इधर सन्ध्या आदिके अवसरपर परमात्माकी कृपा शिखाद्वारा ही हमारे अंदर पहुँचती है; तभी नंगे-सिर होकर सन्ध्या करनेका नियम है। इसी कारण 'तैत्तिरीयोपनिषद्' ने इस स्थानका नाम 'इन्द्रयोनि' रक्खा है।

संन्यासमें शिखाका त्याग अपवाद है। सामान्यतया संन्यासका विधान ७५ वर्षोंके बाद होता है। तब आयुकी वृद्धि हो जानेसे शरीरकी पूर्णता हो जानेके कारण 'अधिप' मर्मस्थल (शिखास्थान) की त्वचा कठोर हो जाती है, शिखा-जन्य लाभ भी पचहत्तर वर्षतक प्राप्त होकर सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं। तब शिखा छोड़नेपर भी कोई हानि नहीं होती; तब कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके समाप्त हो जानेसे तत्सम्बद्ध शिखा-सूत्रका त्याग ठीक भी है।

शिखाके विषयमें कई एक विद्वान् अन्य उपपत्तियाँ भी देते हैं। सारी सृष्टिका मूल अग्नि ही है; अग्निका स्वरूप उसकी शिखासे व्यक्त होता है। अग्निको संस्कृतमें 'शिखी' कहा जाता है। अग्नि यदि शिखारहित हो तो उसमें हवन निषिद्ध माना गया है। जब वह शिखी होता है, तब किसीकी शक्ति नहीं कि उसका स्पर्श कर सके। उसके उस स्वरूप (शिखित्व) के नष्ट होनेपर तो भस्म भी उसे आच्छन्न कर दिया करती है। हम सब अग्निके उपासक हैं, अग्निसे ही उत्पन्न हैं। अग्निसे ही हम 'तन्वं मे पाहि' (शुक्लयजु० २। ४) 'तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा' (शुक्लयजु० ३२। १४) आदि प्रार्थनाएँ करते हैं।

जो जिसकी उपासना करता है, अन्तमें वह उसके स्वरूपको प्राप्त होता है। उपासक भी ऐसा चाहता है। तभी वह उपास्यके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये उपास्यके ही चिह्न धारण करता है—जैसे शैव भस्म-रुद्राक्षमाला आदिको, वैष्णव तुलसी-माला आदिको। इसलिये शुक्लयजुर्वेदके 'शतपथब्राह्मण'में आया है—'देवो भूत्वा देवानेति' (१४। ६। १०। ४)। इसी प्रकार तीनों आश्रमोंमें अग्निके उपासक हमलोग भी अग्निका चिह्न 'शिखा' रखते हैं। संन्यासमें अग्निका त्याग होनेसे उसके चिह्न शिखाका भी त्याग कहा है। अग्निसेवन (यज्ञ) तथा उसके अधिकारपट्ट 'यज्ञोपवीत' का भी त्याग कहा है। इस प्रकारकी स्थितिमें उसका अग्निमय संसारसे भी सम्बन्ध न रहनेसे मृत्युसमयमें संन्यासीको अग्निसे नहीं जलाया जाता।

(ख) यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीतसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य 'एकज' होते हैं; फिर उस समय गायत्रीके उपदेशसे 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे उन्हींको आचार्य द्विज कर देता है। उन तीनों प्रकारके एकजोंको वह तीन दिन अपने गर्भमें रखता है। तीन दिनके अनन्तर उन तीनोंका द्वितीय बार जन्म होनेसे वे द्विज कहाते हैं। इसीलिये 'अथर्ववेद'में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
(शौ० सं० ११। ५। ३)

यज्ञोपवीतका सम्बन्ध यज्ञसे है, यज्ञका सम्बन्ध वेदसे है। जैसे कि 'न्यायदर्शन'में कहा है—'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः' (४। १। ६२)। वेदका सम्बन्ध वेदाधिकारी द्विजोंसे है। बिना यज्ञोपवीत हुए द्विजवंशोत्पन्न

भी वेदाध्ययनाधिकारी नहीं हो सकता; तब उसके अनधिकारी भला वेदाध्ययनमें कैसे अधिकृत हो सकते हैं।

यज्ञोपवीत किस प्रकार पुरुषपर वेदका भार रखता है, यज्ञोपवीतियोंको कितना वेद आवश्यक है, यज्ञोपवीत त्रैवर्णिक पुरुषोंका क्यों होता है—इत्यादि बातोंका उत्तर यज्ञोपवीत-सूत्र स्वयं ही देता है; वह हाथकी चार अँगुलियों (चव्वा) पर छियानवे बार लपेटा जाता है। वेद ११३१ शाखाओंमें विभक्त है; उसमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड—ये तीन भाग होते हैं। इनके सब मन्त्र एक लाख हैं। यथा—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः।

(वायुपुराण ६०। ७)

'चरणव्यूह'में भी कहा है—

लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च।

(५। १)

इनमें कर्मकाण्डके मन्त्र ८० सहस्र कहे जाते हैं, उपासना-काण्डके १६ सहस्र। शेष ४ सहस्र ज्ञानकाण्डके मन्त्र माने जाते है। यही बात निरुक्तकार भी सूचित करते हैं—

तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः, अल्पश आध्यात्मिक्यः। (७। ३। १)

'परोक्ष' शब्दसे 'कर्मकाण्ड' इष्ट है; क्योंकि कर्मकाण्ड परोक्ष कर्मफलका प्रतिपादक होता है। 'प्रत्यक्ष' शब्दसे उपासना-काण्ड इष्ट है; वह प्रत्यक्षफलका निदर्शक है। 'आध्यात्मिक' शब्दसे ज्ञानकाण्ड इष्ट है; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार ही ज्ञान होता है। ज्ञानकाण्डकी अल्पतासे ज्ञानकाण्डको कर्म-काण्डसे हीन न समझ लेना चाहिये; क्योंकि हीनता या उत्कृष्टता संख्यापर निर्भर नहीं होती। एक ही सूर्य लाखों तारोंसे 'उत्कृष्ट' ही होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्डकी अपेक्षा होना भी अल्प ही चाहिये। युद्धमें सेनापति 'ज्ञान' होता है, सेना 'कर्म'। पर जितनी संख्या सैनिकोंकी होती है, उतनी सेनापतियोंकी नहीं। यदि सभी सैनिक 'सेनापति' बन जायँ, तो विजय कभी होगी ही नहीं। लोकमें भी ज्ञानी बहुत हो जायँ, तो सबकी भिन्न-भिन्न बुद्धि हो जानेसे वे जनताको कर्ममें प्रवृत्त कर ही न सकें। इसीलिये लोकमें जैसे ज्ञानी या नेता थोड़े होते हैं, परंतु उनकी आज्ञामें चलनेवाले कर्मिष्ठ—जो उनकी आज्ञा बिना विचारे ही मान लें बहुत अपेक्षित होते हैं, वैसे ही वेदमें भी ज्ञानकाण्ड थोड़ा होता है, कर्मकाण्डकी संख्या उसकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। इधर कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा अवर होता हुआ भी सर्वथा अवर नहीं हो जाता। यदि कर्मकाण्ड न हो तो ज्ञान निराधार हो जाय। नेता व्यर्थ हो जाता है, यदि कर्मनिष्ठ जनता न हो, यद्यपि जनता नेताकी अपेक्षा अवर होती है। फलतः तीनों काण्डोंके मन्त्र एक लाख हैं।

यह यज्ञोपवीत चव्वेपर छियानवे बार लपेटा जाता है; इसीलिये ये ११३१ शाखात्मक चार वेदोंमें स्थित कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्डके ८०+१६=९६ सहस्र मन्त्रोंका यह अधिकारपट्ट 'चपरास' की भाँति द्विजको अर्पण किया जाता है। शास्त्रने केवल कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डके अधिकार-तक ही यज्ञोपवीत नियत किया है। ये छियानबे सहस्र मन्त्र चारों वेदोंके हैं, इसीलिये चार अँगुलियोंपर उतनी संख्यासे सूत्र लपेटा जाता है; फिर जो इसे तिगुना करके ऊपर बायीं ओर लपेटा जाता है, उससे इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीन वर्णोंका अधिकार बताया जाता है। फिर इस तीन लड़ीवाले सूत्रको तिगुना करके जो पुनः दाहिनेसे नीचे लपेटा जाता है, उससे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंको इसमें अधिकृत बताया जाता है।

फिर इस नवसूत्र डोरेको इस प्रकार तिगुना किया जाता है कि जिससे तीनों सूत्रोंकी योजना सिरमें एक हो जाय। इस समयकी त्रिगुणता ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋणको सूचित करती है। इस यज्ञोपवीतसूत्रसे सनातनधर्मका पारमार्थिक अद्वैतवाद भी सिद्ध हो रहा है। इसमें एक ही सूत्रसे यज्ञोपवीतकी रचनाका प्रारम्भ होता है; एक ही सूत्रसे तीन सूत्र बन जाते हैं, अन्तमें एक ही ब्रह्मग्रन्थिमें उसकी समाप्ति हो जाती है। मध्यमें ही केवल त्रिगुण चक्र होता है।

संन्यासाश्रममें मोक्षप्राप्त्यर्थ केवल ज्ञानकाण्डका उपयोग करना पड़ता है, इस कारण उस समय छियानवे सहस्र कर्म-उपासनाके मन्त्रोंके इस अधिकारपट्टको छोड़कर शेष चार सहस्र मन्त्रोंके मननका क्रम प्राप्त होनेसे यज्ञोपवीतसूत्रको छोड़ना पड़ता है। अभीष्ट स्थानको प्राप्त हो जानेपर यात्री अपना टिकट देकर स्टेशन पार हो जाता है। गृहस्थाश्रमीको श्रौत-स्मार्त दोनों कर्म करने पड़ते हैं; अतः उसे 'वैखानस-धर्मसूत्र' (३। १। १), 'वृद्धहारीतस्मृति' (८। ४४) तथा 'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि' इस हेमाद्रिके अनुसार दो सूत्र धारण करने पड़ते है।

(ग) कानपर यज्ञोपवीत रखनेका रहस्य

यज्ञोपवीतको शौचादिके समय कानपर रखनेके कुछ

प्रमाण ये हैं—'निवीती दक्षिणे कर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा·········मूत्रपुरीषे विसृजेत' (वैखानसधर्मप्रश्न २ । ९ । १ शौचविधि); 'यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा' (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ४ । ६ । १); '···कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः। कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु···'(याज्ञवल्क्यस्मृति; आचाराध्याय, ब्रह्मचारि-प्रकरण, १६ वाँ पद्य); 'कर्णस्थब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषं विसृजति' (आग्निवेश्यगृह्यसूत्र २ । ६ । ८) इत्यादि ।

शौचके समय यज्ञोपवीतसूत्रको दाहिने कानपर रखनेमें कारण यह है—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
(मनु० १ । ९२)

'पुरुष नाभिसे ऊपर पवित्र है, नाभिके नीचे अपवित्र है । इस प्रमाणसे नाभिका निचला भाग मल-मूत्रधारक होनेसे विशेषतः शौचके समय अपवित्र होता है । इसलिये उस समय पवित्र यज्ञोपवीतको वहाँ न रखकर—

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ।
(मनु० १ । ९२)

—इस प्रमाणसे अत्यन्त पवित्र तथा ज्ञानका भंडार होनेसे बोधायनके अनुसार सिरपर अथवा अन्योंके अनुसार सिरके भाग कानपर रक्खा जाता है । दाहिने कानकी पवित्रता उसमें दीक्षाके समय आचार्यद्वारा गुप्तमन्त्रोपदेश होनेसे तथा—

मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च ।
एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥
(गोभिलगृह्यसंग्रह २ । ९०)

'वायु; चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि; मित्र तथा वरुण—ये सब देवता ब्राह्मणके दाहिने कानमें रहते हैं ।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे देवनिवासके कारण सूचित होती है ।

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते ।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥
(गृह्यसंग्रह २ । ८९)

छींकने, थूकने, दाँतके जूँठे होने, मुहँसे झूटी बात निकलने तथा पतितोंसे बातचीत करनेपर अपने दाहिने कानका स्पर्श करना चाहिये । इसी कारण अपराधी लोग भी अपनी शुद्धिके लिये दाहिने कानको पकड़ते या छूते हैं ।

अन्य बात यह है कि हमारे शरीरमें पार्थिव इन्द्रिय नासिका; जलीय इन्द्रिय जिह्वा, तैजस इन्द्रिय आँख, वायव्य इन्द्रिय त्वचा तथा आकाशीय इन्द्रिय कान है । देश-कालादिके अनुसार श्मशानादिरूपमें पृथिवी, मद्यादियोगसे गङ्गाजलादिरूपमें जल, श्मशानाग्निरूपमें तेज; पुरीषवाय्वादिरूपमें वायु—ये चार भूत अशुद्ध हो जाते हैं; पर आकाश किसी भी दशामें अपवित्र नहीं होता । हमारे शरीरमें उसकी प्रतिनिधिभूत इन्द्रिय कान है । उससे शौचादिके समय यज्ञोपवीतका सम्बन्ध कर देनेसे वह अशुद्ध नहीं होता । यही यज्ञोपवीत-सम्बन्धी वैज्ञानिक रहस्य जान लेने चाहिये ।

२. यज्ञसे देवताओंकी और श्राद्धसे पितरोंकी तृप्तिका रहस्य

(क) वेदका विषय यज्ञ है, यह कहा जा चुका है । वेदमें उपास्य देवता हैं, यज्ञमें भी उपास्य देवता होते हैं; इसीलिये 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इस यज्ञकी मूलभूत 'यज' धातुका मुख्य अर्थ भी देवपूजा ही होता है । देवता परमात्माके ही अङ्ग हुआ करते हैं; अङ्गोंके बिना अङ्गीकी पूजा नहीं हो सकती । अतएव देवपूजन भगवदाराधन ही है । यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें कही गयी है—

तद् यद् इदमाहुः—अमुं यज, अमुं यज—इति एकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।
(शतपथ १४ । ४ । २ । १२)

अर्थात् देवता परमात्माका ही विस्तार है; वह परमात्मा सर्वदेवमय है । इस प्रकार 'मनुस्मृति' में भी कहा है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
(१२ । ११९)

यहाँपर श्रीकुल्लूक भट्टने लिखा है—

इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव, सर्वात्मत्वात् परमात्मनः ।

फलतः देवयजन भगवदाराधन है ।*

अब प्रश्न यह है कि यज्ञ, जो देवपूजनात्मक है, अग्निद्वारा क्यों किया जाता है ? इसपर 'कल्याण' के पाठक निम्न प्रमाण देखें । ऋग्वेदमें कहा है—'न ऋते त्वाममृता मादयन्ते' (शा० सं० ७ । ११ । १)—'हे अग्नि ! तेरे बिना देवता तृप्त नहीं होते ।' 'आ अग्ने ! वह हविरद्याय देवान्' (ऋ० ७ । ११ । ५)—यहाँ स्पष्टरूपसे अग्निको देवताओंके निमित्त हवि धारण करने-

* भगवद्गीतामें जो देवपूजनके द्वारा परमात्माका अवैध पूजन—'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९ । २३)—कहा है, उसका रहस्य यह है कि देवताओंको परमात्माका अङ्ग न समझकर जो उनको स्वतन्त्रतासे पूजना है, वह भी है तो परमात्माका पूजन ही, पर अविधिपूर्वक है ।

वाला कहा है। 'अग्निर्हि देवानां मुखम्' (शतपथ ३।७)— यहाँपर अग्निको देवताओंका मुखस्थानीय कहा है, तब देवताओंकी हविका अग्निमे डालना भी युक्त सिद्ध हुआ।

यज्ञका प्रयोजन केवल वायुशुद्धि नहीं होता; उसका मुख्य लक्ष्य है देवताओंको तृप्त करना। यदि यज्ञका मुख्य लक्ष्य वायुशुद्धिमात्र होता, तो उसमें बहुत महँगे घृतका उपयोग व्यर्थ था; उससे भी सस्ते पदार्थोंसे वायुकी शुद्धि हो सकती थी। और फिर वह कार्य दुर्गन्धित स्थानोंपर करना पड़ता। उस समय वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी आवश्यकता भी नहीं थी। वस्तुतः यज्ञ देवताओंको तृप्त करनेवाला होता है। देवताओंका भक्ष्य घृत हुआ करता है। जब देवाप्सरा उर्वशी पुरूरवाके पास आकर रही थी, और उससे उसके खानेके लिये पूछा गया, तब उसने उत्तर दिया था—'घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यात्' (श्रीमद्भागवत ९।१४।२२)। इससे देवताओं-का भक्ष्य घृत सिद्ध होता है।

केवल पुराणमे ही नहीं, यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमे भी कही गयी है—'घृतस्य स्तोकꣳ सकृदह्न आश्नाम्, तामेव इदं तातृपाणा चरामीति' (शतपथ ११।५।१।१०)। यहाँपर भी कहनेवाली उर्वशी ही है। केवल यहीं नहीं, किंतु मन्त्रभागात्मक वेदमे भी यही बात कही गयी है—घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्' (ऋ०१०।९५।१६)। इस मन्त्रमे उर्वशी ऋषि (वक्त्री) है और पुरूरवा देवता (प्रतिपाद्य)। इसी कारण देवपूजनात्मक यज्ञमे भी देवताओंकी तृप्तिके लिये घृत प्रयुक्त किया जाता है। तभी 'शतपथब्राह्मण' मे कहा है—'एतद् वै देवानां प्रियं धाम, यद् आज्यम् (घृतम्), (१३।३।६।३) 'आज्येन जुहोति' (शतपथ १३।३।६।२)। इससे स्पष्ट हुआ कि यज्ञाङ्ग हवनमे देवताओंकी तृप्तिके लिये ही घृत डाला जाता है। वेदमन्त्र इसलिये पढ़े जाते हैं कि यज्ञ वेदका विषय है। यज्ञ होता है देवपूजार्थ, तब वहाँ वेद-मन्त्रोंकी आवश्यकता भी होती है; क्योंकि वेदमन्त्रोंके विषय देवता भी होते हैं। इसलिये 'निरुक्त' मे यज्ञके समय देवताका मनसे ध्यान करना भी लिखा है—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेत्' (८।२२।११)। इसी प्रकार 'ऐतरेयब्राह्मण' (३।८।१) मे भी कहा है। जब यज्ञ किये जायँगे, तब उसकी हविको अग्नि, वायु, सूर्यचन्द्रादि देवता किरणोंके द्वारा खींचकर मेघ बनाकर वृष्टि तथा मनोरथकी वृष्टि कर देंगे; इससे अवान्तररूपसे वायुशुद्धि भी हो जायगी; पर मुख्य उद्देश्य देवताओंका पूजन या तृप्ति ही है। इसी कारण 'श्रीमद्भगवद्गीता' ने भी कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन [यज्ञेन] ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
(३।१०—१२)

इससे यज्ञ देवपूजाका पर्यायवाचक सिद्ध होता है।

(ख) श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति

पितृश्राद्ध प्रतिमास कृष्णपक्षमे हुआ करता है, जैसा कि अथर्ववेदमे कहा है—'पितृभ्यो मासि उपमास्यं ददाति' (शौ० सं० ८।१२।५)। 'मनुस्मृति' के 'पित्रे रात्र्यहनी मासः' (१।६६)—इस वचनके अनुसार मनुष्योंका महीना पितरोंका एक दिन-रात होता है। इस प्रकार प्रतिमास श्राद्ध करनेपर पितरोंको वह भोजन प्रतिदिनकी तरह मिलता है। कृष्णपक्षमे श्राद्ध इसलिये किया जाता है कि कृष्णपक्ष पितरोंका दिन होता है, शुक्लपक्ष रात्रि।

इसमें कारण यह है कि—

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः
स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वं
दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम्॥
(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना श्लो० १३)

इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है। शुक्लपक्षमे चन्द्रमा सूर्यसे दूर होता है; तब पितृलोकमे १५ दिन निरन्तर एक रात्रि होती है। कृष्णपक्षमे चन्द्र सूर्यके क्रमशः निकट हो जाता है, अतः पितरोंका उन १५ दिनोंमे निरन्तर एक दिन होता है। अमावस्याको जब सूर्य-चन्द्र एक राशिमे होते हैं, तब हमारे अपराह्णकालमे सूर्य चन्द्र-लोकके सिरपर होनेसे उस समय पितरोंका भोजनकाल—मध्याह्न होता है।

यहाँसे मरकर गये हुए हमारे पितरोंकी स्थिति पितृलोकमे हुआ करती है, जैसा कि वेदमे कहा है—

अधा मृताः पितृषु सं भवन्तु। (अथर्व० १८।४।४८)
पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। (अथर्व० १२।२।४५)

पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर है, यह कहा जा चुका है। स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी चन्द्रादिलोकमे प्रजा मानी है;

जैसे कि—'ये सब (सूर्य, चन्द्र, तारे) भूगोललोक, इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। कुछ-कुछ आकृतिमें भेद होनेका सम्भव है (स० प्र० समु० ८, पृष्ठ १४४)। इस प्रकार यदि यहाँसे मरकर पितर चन्द्रलोकमें जन्म लें तो वे हमारे दिये अन्नादिको अपनी आकर्षणशक्तिसे खींच लें—यह सम्भव है। इससे श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति प्रत्यक्षमूलक बन जाती है। अस्तु,

अमावास्या चन्द्रलोकस्थ पितरोंका मध्याह्न एवं भोजनकाल होता है, यह कहा जा चुका है। अब हमें पितरोंके मध्याह्नकालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है, और उन्हें तृप्त करना है। उसका साधन श्राद्ध है। उसके दो प्रकार हैं—एक तो यह कि हमें उनके नामसे अग्निमें हवन करना चाहिये। तभी मृत पितरोंको खिलानेके लिये आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थना की गयी है। जैसे कि—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे।'
(अथर्व० १८। २। ३४)

दूसरा प्रकार यह है कि अग्निके सहोदरभूत ब्राह्मणकी जाठराग्निमें ब्राह्मणके मुखके द्वारा उन पितरोंके नामसे कव्य दिया जाय।

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
(मनु० ३। ९८)

अग्नि और ब्राह्मणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि ब्राह्मण तथा अग्निकी विराट् पुरुषके मुखसे उत्पत्ति कही गयी है—जैसे कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (यजुः० वा० सं० ३१। ११); 'मुखाद् अग्निरजायत' (३१। १२)। इसीलिये शास्त्रोंमें ब्राह्मणको आग्नेय या अग्नि कहा गया है। तभी 'मीमांसादर्शन' (१। ४। २४ सूत्र) के शाबरभाष्यमें 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' पर प्रकाश डालनेके लिये इस प्रकार प्रश्नोत्तरप्रक्रिया दी गयी है—

(प्र०) अथाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? (उ०) गुणवादेन। (प्र०) को गुणवादः ? (उ०) अग्निसम्बन्धः। (प्र०) कथम् ? (उ०) एकजातीयकत्वात् (अग्निब्राह्मणयोः)। (प्र०) किमेकजातीयकत्वम् [तयोः] ? (उ०) प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयमिति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत······ब्राह्मणो मनुष्याणाम्। तस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त' यहाँपर अग्नि और ब्राह्मणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

कुछ अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्' (मनु० ३। २१२)। यदि अग्नि न हो तो ब्राह्मणको कव्य दे दे। इसमें हेतु यह दिया है—'यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते' (३। २१२)। 'गोपथ-ब्राह्मण'में भी कहा है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (१। २। २०)। 'कठोपनिषद्'में ब्राह्मणका अग्नित्व इस प्रकार कहा है—'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' (१। १। ७)। 'भविष्यपुराण'में भी कहा है—'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३। ३६)। इसका ऐतिहासिक प्रमाण 'महाभारत'में मिलता है। वहाँपर निषादके आचारवाले भी ब्राह्मणको निगलनेके समय गरुड़के कण्ठमें अग्निदाह होने लगा (आदिपर्व, २९ वाँ अध्याय)। 'सास्य देवता' (पा० ४। २। २४) इस सूत्रके व्याख्यानमें 'सिद्धान्तकौमुदी' में कहा गया है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया।' इसपर 'बालमनोरमा' कहती है—'अग्निर्नाम यो देवताजातिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः, तदभिमानिको ब्राह्मणः।' अस्तु,

ऐसा करनेपर पूर्व प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाता है। वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे स्वयं सूक्ष्मशरीरात्मक होते हैं। इसी कारण उनके लिये स्थूलसे सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है, उसीसे उनकी तृप्ति होती है।

इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने मुखद्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं; परन्तु हमारा आत्मा सूक्ष्म है। उसके लिये सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है। उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जाठराग्नि सूक्ष्म करके हमारे सूक्ष्म अन्तरात्माको सौंप देती है। उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारा सूक्ष्म आत्मा तृप्त हो जाता है। वहाँपर वह अग्नि स्वयं ही इस कार्यको करने लगती है, हमें कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिये हुए स्थूल भोजनके अग्नि या ब्राह्मणाग्निद्वारा किये गये सूक्ष्म तत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं। वहाँपर ब्राह्मणाग्नि महाग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कामको करने लगती है; उसके लिये ब्राह्मणको कोई व्यापार नहीं करना पड़ता।

यहाँपर पूर्व प्रकारसे समझना चाहिये—जैसे यज्ञसे तृप्त हुए देवता वृष्टि करते हैं, वैसे यहाँपर भी जानना चाहिये। वहाँ उपपत्ति यह है कि जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं; तब स्थूल अग्नि उस हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि महाग्निके साथ मिलकर उस सूक्ष्म हविको लेकर अपने मित्र वायु आदिकी सहायतासे आकाशाभिमुख जाती है तथा आकाशमें स्थित उन-उन देवताओंको वह हवि पहुँचा देती है। वे देवता उस हविसे तृप्त होकर प्रजाके हितके लिये एवं धान्य आदिके उत्पत्त्यर्थ वृष्टि कर देते हैं (मनुस्मृति ३ । ७६)। इसी तरह श्राद्धमें भी जब कव्यको अग्निका सहोदर ब्राह्मण या स्वयं अग्नि प्राप्त करता है, तब वह ब्राह्मणकी अग्नि अथवा स्वयं अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाग्निके साथ मिल जाती है तथा आकाशमें जाकर चन्द्रलोकस्थ पितरोंको सौंप देती है। पितर उससे तृप्त होकर श्राद्ध करनेवालेके धान्य-सन्तान आदिकी व्यवस्था अपने माहात्म्यसे कर देते हैं। जैसे देवताओंको 'सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा दी हुई हविको सूर्य खींचता है, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको चन्द्रमा खींचता है, अथवा सूर्य खींचकर अपनी सुषुम्णा-रश्मिसे प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देता है। जैसे चन्द्रमा सूर्यकी उस रश्मिको खींच लेता है, वैसे ही सूर्यकी किरणोंमें स्थित पूर्वोक्त उस सूक्ष्म अन्नको भी खींचकर उस-उस पितरको सौंप देता है। वे सूक्ष्म पितर भी उस सूक्ष्म हविसे हमारे सूक्ष्म आत्माकी तरह तृप्त हो जाते हैं। इसमें कारण है संकल्पका महिमा; क्योंकि हम उस हविको तत्तत् पितरके उद्देश्यसे सङ्कल्पित करके दिया करते हैं। देवतालोग हमारे मानसिक संकल्पको जान लिया करते हैं। वेद भी इसका अनुमोदन करता है, जैसे कि—

मनो देवा मनुष्यस्या जानन्ति, मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातं वातो देवेभ्यऽआचष्टे यथा पुरुषस्य मनः। (शतपथब्रा० ३ । ४ । २ । ६)।

इसी प्रकार 'अथर्ववेदमें' भी कहा है—'मनसा सङ्कल्पयति, तद् देवानभिगच्छति' (शौ० सं० १२ । ४ । ३१)। सूर्य आदि देवता सब लोगोंका वृत्त जानते हैं, इसमें 'मनुस्मृति'की साक्षी भी देखिये—

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः।

(८ । ८५)

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥

(८ । ८६)

यहाँपर सूर्य-चन्द्रके सम्बन्धमें भी लोगोंका वृत्त जाननेकी बात कही है। इधर चन्द्रमा तो मनका ही देवता माना जाता है। श्राद्धमें संकल्प प्रसिद्ध ही है। उक्त मनुपद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूक भट्टने कहा है—

दिवादीनाम् (द्युगतसूर्यादिदेवानाम्) अधिष्ठातृदेवतास्ति सा च शरीरिणी एकत्र अवस्थापिता तत्सर्वं जानाति—इति आगमप्रामाण्याद् वेदान्तदर्शनमङ्गीकृत्य इदमुक्तम्।

जिस प्रकार वह सर्वाधिष्ठाता देव जड कर्मोंका फल उनके कर्ताओंको प्राप्त कराता है, वैसे ही उन-उन देवताओंके अधिष्ठातृत्वमें उस-उस पितरको श्राद्धका फल प्राप्त कराता है। इस प्रकार श्राद्धद्वारा मृतक पितरोंकी तृप्ति सिद्ध हुई। यज्ञ और श्राद्ध दोनों हिंदु-संस्कृतिके मुख्य अङ्ग हैं—यह नहीं भूलना चाहिये। इन्हींसे हिंदु-संस्कृतिकी सुरक्षा होगी।

४. हिंदु-संस्कृति और परलोकवाद

हिंदु-संस्कृति सर्वादिम संस्कृति है, उसके सर्वादिम ग्रन्थ वेद हैं; उनके अनुसारी वेदाङ्ग तथा धर्मशास्त्र हैं। इन सभीने परलोकको बहुत स्पष्टरूपसे माना है। जो परलोकको नहीं मानते, वे नास्तिक माने गये हैं।

अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४ । ४ । ६०)

—इस पाणिनिसूत्रके 'महाभाष्य'में लिखा है—

अस्ति इत्यस्य मतिरास्तिकः नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः।

इसके 'प्रदीप'में कैयटने स्पष्टीकरण किया है—

अस्ति इत्यस्य इति परलोककर्तृका सत्ता विज्ञेया; तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परो लोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः।

आप्नोति इमं लोकम् आप्नोति अमुम्।

(शौ० सं० ९ । ११ । १३)

'अथर्ववेद' के इस मन्त्रमें 'इमं लोकम्' से 'यह लोक' और 'अमुं' से परलोक सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार—

इमं च लोकं परमं च लोकम्' (अथर्व० १९ । ५४ । ५)

—यहाँ 'परमलोक' का 'परलोक' अर्थ है, जैसे कि—

यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। (अ० १३ । ३ । ५)

—यहाँपर 'परमस्य' का अर्थ 'परस्य' है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में स्पष्टतया कहा है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने, इदं च परलोकस्थानं च। (१४।७।१।९)

कठोपनिषद्की—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे (यमस्य)। (१।२।६)

—इस श्रुतिमें भी स्पष्टरूपसे परलोकको माना गया है।

'परलोकसहायार्थम्' (मनु० ४।२३८)

'नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।' (मनु० ४।२३९)

—इत्यादि स्मृतिपद्य तो इस विषयमें बहुत हैं। इन्हींको देखकर पाश्चात्त्य विद्वानों तथा हमारे यहाँके विद्वानोंने परलोकविद्या निकाली है और इस विषयमें वे उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। अब तो वे असाध्य रोगियोंका भी उपचार उन परलोकस्थ जीवोंसे पूछकर करते हैं, और प्रायः सफल भी हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि जीवात्मा जबतक इस लोकके स्थूल शरीरसे युक्त रहते हैं, तबतक उनमें शक्ति भी सीमित रहती है। पर जब वे स्थूलशरीरको छोड़कर सूक्ष्म होकर पितृलोकमें जाते हैं, उनकी शक्ति बढ़ जाया करती है। जैसे दीपक जब घड़ेमें रक्खा रहता है, तब उसका प्रकाश स्थगित हो जाता है; घड़ेसे दीपकको बाहर कर देनेपर उसकी प्रकाशशक्ति बढ़ जाया करती है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिये। 'वेदान्तदर्शन' के ३।२।६ सूत्रके भाष्यमें आचार्य शङ्करस्वामीने लिखा है—

सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र उपमा—यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा भस्माच्छन्नस्य अग्नेर्दहनप्रकाशने तिरोधीयेते, तथा स्थूलदेहाच्छन्नस्य आत्मनोऽपि ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो जायते।

श्रीयास्कने 'निरुक्त'में 'प्रमदक' (नास्तिक) की 'योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः' (६।३२।१) यह व्युत्पत्ति मानी है। 'शतपथब्राह्मण'में देवलोक (१४।७।१।३६); गन्धर्वलोक (३७), ब्रह्मलोक (१४।७।१।१९) तथा पितृलोक, मनुष्यलोक (३।७।१।२५) का उल्लेख आता है। 'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (१९।७१।१)—अथर्ववेदके इस मन्त्रमें 'ब्रह्मलोक', 'विष्णोर्यत् परमं पदम्' (सामवेद, उत्तरार्चिक १८।२।१।५) में विष्णुलोक, 'ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति' (अथर्व० ११।१।७) में स्वर्गलोक, 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व० १२।२।४५) में पितृलोक, 'अथाहुर्नारकं लोकम्' (अथर्व० १२।४।३६) में नरकलोक, 'सर्वान् कामान् यमराज्ये' (१२।४।३६) में यमलोककी बात आयी है। अतः परलोककल्पना वेदशास्त्रानुमोदित है।

५. यम, यमलोक एवं पितृलोक

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत। (अथर्व० १८।३।१३)

यहाँपर यमको विवस्वान्का पुत्र तथा उसके पास सब पुरुषोंका जाना कहा है।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते। (ऋ० १०।१४।५)

—इस मन्त्रमें यम देवता है, उसके पिताको विवस्वान् कहा गया है।

यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः। (शतपथ० १३।४।३।६)

'यमाय पितृमते स्वधा नमः' (अ० १८।४।७४)

'यमराज्ञः पितॄन् गच्छ' (अ० १८।२।४६)

—इत्यादि वेदके स्थलोंमें यमको पितृपति कहा है।

'वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान्' (अथर्व० ८।२।११)

—यहाँपर यमदूतोंका वर्णन है।

'मोष्वेषामसवो यमं गुः।' (अ० १८।३।६२)

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः॥ (२०)

—यह कृष्णयजुर्वेदका मन्त्र स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपनी 'संस्कारविधि' के अन्त्येष्टिसंस्कारमें दिया है। इससे मृत्युका अधिष्ठाता देव यमराज सूचित होता है।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। (अथर्व० ८।१।९)

—इस मन्त्रमें यमराजके दो कुत्तोंका वर्णन है।

यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्। (अथर्व० ६।११८।२)

इदं यमस्य सादनम्। (ऋ० १०।१३५।७)

यहाँपर यमलोकका वर्णन है।

दक्षिणा तिष्ठन् यमः। (अथर्व० ९।७।२०)

—यहाँपर यमलोकका दक्षिण दिशामे होना बताया है। पितृलोकका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

६. नामकी महत्ता

नामका महत्त्व निष्कारण नही है। नाम-नामीके निरन्तर साहचर्यसे उनका सम्बन्ध भी हमारे चित्तमे गहरे रूपसे सन्निविष्ट हो जाता है। उस नामके साथ इतने संस्कार, इतनी भावनाएँ तथा स्मृतियाँ इकट्ठी हो जाती हैं कि नामका महत्त्व नामीके महत्त्वसे किसी भी तरह न्यून नही ठहरता। नाम और नामी एकाकार हो जाते हैं। जो मधुरिमा उस नियत नाममे हुआ करती है, वह उससे भिन्नमे नहीं होती। नामकी महत्ता बहुत बड़ी है। नामकी महिमा नामीकी महिमासे भी बढ़कर हुआ करती है। यह नाम विशाल आदर्शका सजीव प्रतिनिधि होता है। इस कारण हमारी हिंदु-संस्कृतिमे परमात्माके नामकीर्तनका बहुत प्रचार है। यदि सच कहा जाय तो इसी नामकीर्तनने हमारी संस्कृतिको मुसल्मानी कठोर राज्यमे भी बचाया। नामकीर्तन वेदविरुद्ध भी नहीं है, किंतु वेदने ही इसका प्रचार किया है। कुछ मन्त्र इस विषयमे दिये जाते हैं—

यस्य नाम महद्‌यशः। (यजुः ३२।३)

—यहाँपर परमात्माके नामको यशोजनक माना है।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।

(सामवेद २०।३।४।२)

—यहाँपर परमात्माका नामकीर्तन कहा गया है।

अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान् नाम गृह्णाति आयुषे।

(अथर्व० ६।७६।४)

—यहाँपर नामका ग्रहण आयुके लिये माना गया है।

मनामहे चारु देवस्य नाम। (ऋ० १।२४।१)

मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋ० ८।११।५)

भूरि नाम वन्दमानो दधाति। (ऋ० ५।३।१०)

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि।

(ऋ० १०।६३।१)

चार्विन्द्रस्य नाम। (ऋ० ९।१०९।१४)

यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियम्। (यजु० ५।९)

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(अथर्व० २०।१९।३)

—इत्यादि मन्त्रोमे नामकीर्तनकी आज्ञा दी गयी है। इसीलिये 'भगवद्गीता'में भी कहा है—

सततं कीर्तयन्तो माम्। (९।१४)

'अथर्ववेद'मे कहा है—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरा उषसः।

(१०।७।३१)

इसका आर्यसमाजके विद्वान् पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार अर्थ किया है—'वह (भक्त) सूर्यसे पहले, उषासे पहले (परमेश्वरके एक) नामके साथ (दूसरे) नामको पुकारता है।

यत् ते नाम सुहवं। (अथर्व० ७।२०।२१)

नाम उपास्स्व। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।४)

—यहाँपर नामोपासना बतायी गयी है। यदि नाम-कथनमे शक्ति नही तो 'दुरात्मा' शब्द कहनेमे दूसरा क्यो क्रुद्ध होकर हमसे लड़ता है? 'महात्मा' शब्द कहनेसे क्यो हमपर दूसरा प्रसन्न हो जाता है? जब इस प्रकार हम नामोच्चारणका प्रभाव दिन-रात देखते हैं, तब ईश्वरकी नाम-स्तुतिके उच्चारणका प्रभाव क्यों न होगा? जो लोग कहते हैं कि मिश्री-मिश्री कहनेसे मुँह मीठा नहीं हो जाता, उन्हे याद रखना चाहिये कि सब पदार्थोमे समान शक्ति नहीं हुआ करती। कई पदार्थ नामस्मरणसे प्रभाव डालते हैं, कई खाने-पीनेसे और कई स्पर्शमात्रसे। इस प्रकार पदार्थोकी विचित्र-विचित्र शक्तियाँ हुआ करती हैं। मिश्री खानेसे उसका स्वाद मालूम होता है, पर नामको खाया नहीं जाता। अतः मिश्रीका दृष्टान्त विषम है। नीबूका नाम लेनेसे भी मुखमे खट्टापन मालूम होता है। नामका कीर्तन या स्मरण ही हुआ करता है। पूर्वोक्त वेद-मन्त्रोको ही आधार बनाकर श्रीमद्भागवतपुराणमे कहा गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१८)

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

(६।२।४९)

७. हिंदु-संस्कृतिमें देवतावाद

हिंदु-संस्कृतिमे आदिकालसे ही वेदोके प्रति विश्वास रहा है। देवतावादके प्रसारक वेद ही हैं; अतः इस संस्कृतिमे देवताओके प्रति अगाध श्रद्धा रही है। देवता परमात्माके ही उत्तम अङ्ग हैं। अङ्गीकी पूजा अङ्गोके द्वारा ही होती है;

इसीलिये देवपूजा हिंदु-संस्कृतिका एक अङ्ग है। इन देवताओंमें अलौकिक शक्ति रहती है। यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो इस सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण देवताओंपर आश्रित है। देवताओंके अनुकूल होनेपर ही संसार सुखका श्वास ले सकता है। अदूरदर्शी लोग देवताओंको जड मानते हैं; पर वैदिक सिद्धान्तके अनुसार देवता चेतन हैं।

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यने देवतावादपर अच्छा प्रकाश डाला है। आर्यसमाजके विद्वान् पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपने अथर्ववेद-भाष्यकी भूमिकामें उसका निष्कर्ष सुन्दर ढंगसे लिखा है। पाठकोंके लाभके लिये हम उसे उद्धृत करते हैं—

'परमेश्वरकी सृष्टिमें देहधारी जीवोंकी सृष्टि नाना प्रकारकी है। इस भूलोकमें ही शैवाल, तृण, घास आदि नाना प्रकारके स्थावर और पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जङ्गम हैं। ये सारे जीवविशेष हैं। मनुष्य इन सबमें ऊँची श्रेणीका जीव है; पर परमात्माकी सृष्टि यहींतक समाप्त नहीं है। मनुष्यमें कई दर्जोंमें ऊँचा पद रखनेवाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं, जो मनुष्योंकी भाँति चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञानमें इतने ऊँचे पहुँचे हुए हैं कि मनुष्यकी शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ हैं। इस अनेक प्रकारकी ऊँची सृष्टिमें सबसे ऊँचा स्थान देवताओंका है। देवता चेतन हैं। वे मनुष्योंसे ऊपर और परमेश्वरसे नीचे हैं। परमेश्वरकी ओरसे उनको भिन्न-भिन्न अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं; पर उनका अजर-अमर होना मनुष्योंकी अपेक्षासे है, वस्तुतः उनकी भी अपनी-अपनी आयु नियत है। ब्रह्माण्डकी दिव्य शक्तियोंमेंसे एक-एक शक्तिपर एक-एक देवताका अधिकार है; जिस शक्तिपर जिसका अधिकार है, वही उसका देह है, जो उसके वशमें है।

'जैसे हमारे देहमें एक जीवात्मा है, जो इस देहका अधिपति है, उसी प्रकार उस शक्तिके अंदर भी एक जीवात्मा है, जो उसका अधिपति है। जैसे हमारे अधीन यह देह है, वैसे ही एक देवताके अधीन सूर्यरूपी देह है। हम एक थोड़ी-सी शक्तिवाले देहके स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्तिवाले देहका स्वामी है। वह अध्यात्म-शक्तियोंमें इतना बढ़ा हुआ है कि अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहे, वैसा रूप धरकर जहाँ चाहे, वहाँ जा सकता है। वही देव सूर्यका अधिष्ठाता कहलाता है और सूर्यके नामसे ही बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु आदिके अधिष्ठाता देवता हैं। देवताओंका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, पर वह सारा परमेश्वरके अधीन है। एक-एक देवता एक-एक दिव्यशक्तिका नियन्ता है। पर उन सबके ऊपर उन सबका नियन्ता परमेश्वर है। इसलिये सभी देवता मिलकर जगत्का प्रबन्ध उसी प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार राजाके अधीन उसके भृत्य उसके राज्यका प्रबन्ध करते हैं।

'देवताओंकी उपासनाओंसे उन कामनाओंकी सिद्धि होती है, जिनके कि वे मालिक होते हैं।······वे तबतक दिव्य शरीरको धारण किये रहते हैं, जबतक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता; जिस अधिकारपर उनको परमेश्वरने लगाया है। अधिकारकी समाप्तिपर वे मुक्त हो जाते हैं और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं, जो मनुष्योंमेंसे ही उपासनाद्वारा उस पदके योग्य बन गये हैं। देवताओंके ऐश्वर्यके दर्जे हैं। सबसे ऊँचा दर्जा ब्रह्माका है।' (पृ० ११)

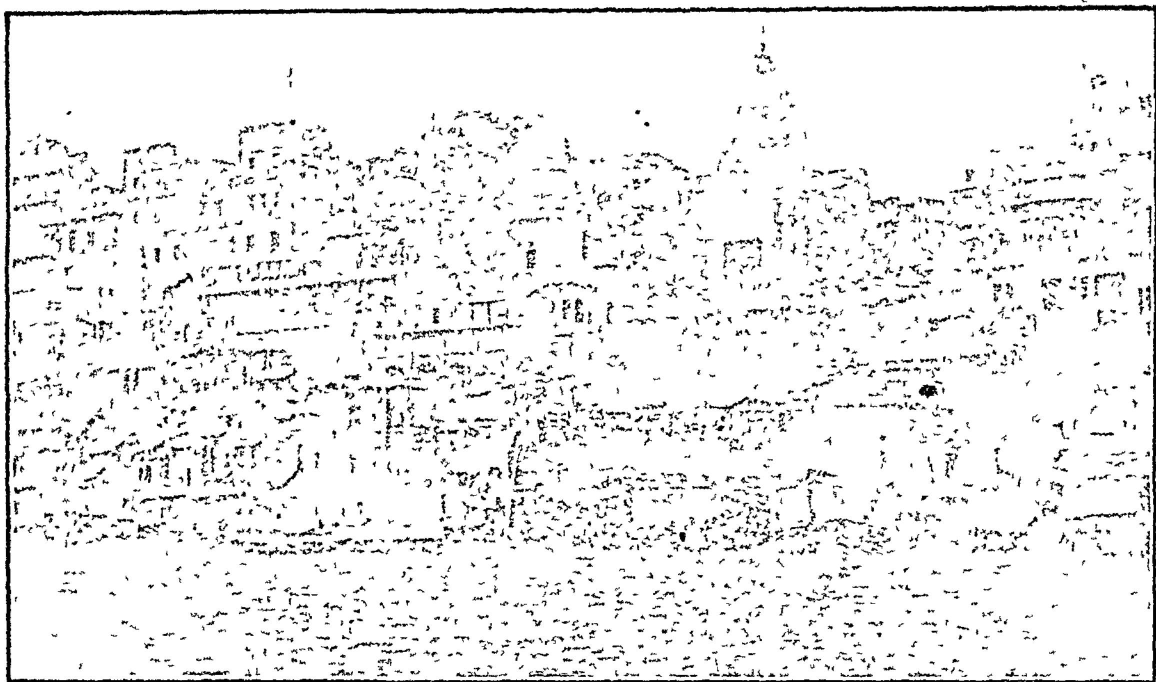
वेदमें परमात्माके वर्णनका प्रकार

"वेद दो प्रकारसे परमात्माका वर्णन करता है—एक बाहरके सम्बन्धोंसे अलग हुए उसके केवल स्वरूपका, दूसरा बाहरके जगत्से सम्बन्ध रखते हुएका।''·····जगत्को अलग रखकर उसके निज रूपको देखें, तो वह उसके शुद्ध स्वरूपका दर्शन है; और जगत्का अन्तर्यामी होकर उसपर शासन करता हुआ देखें, तो वह उसके विशिष्ट रूपका दर्शन है।

शुद्ध ज्ञेय और विशिष्ट उपास्य है

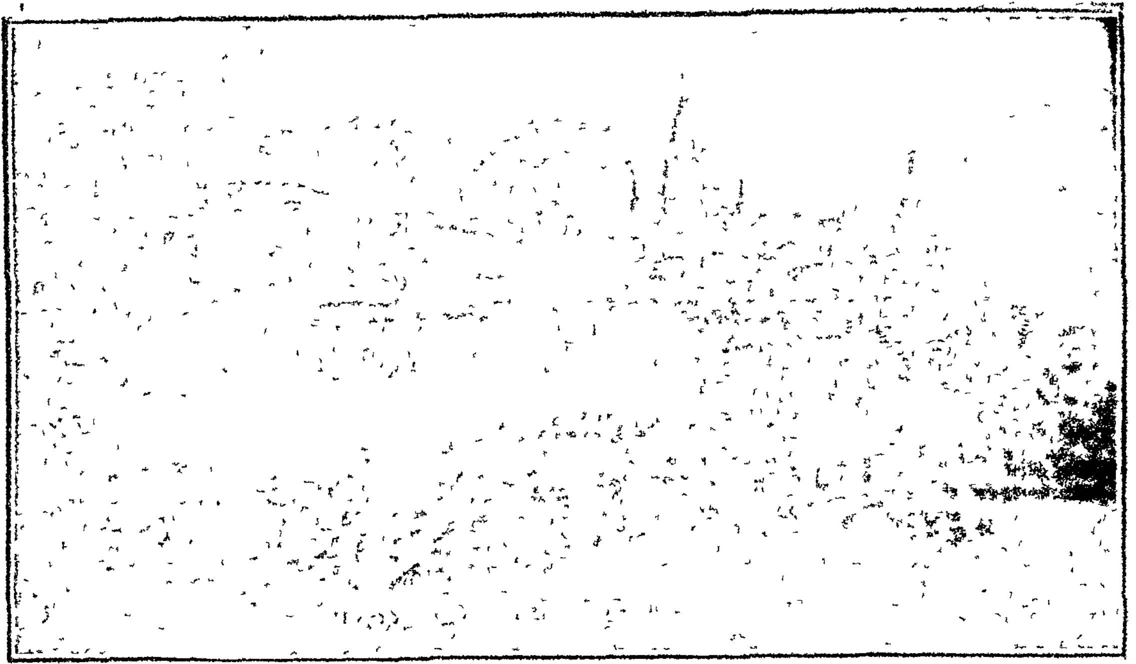
"अब उसका शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्दस्वरूप या नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव अथवा 'नेति-नेति'के सिवा किसी प्रकारसे वर्णित नहीं हो सकता; और अगम्य एवं अचिन्त्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कोई प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी त्रुटियाँ पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेके लिये उससे प्रार्थना कर सकते हैं। क्योंकि किसी मानुषी गुण, प्रेम, दयालुता आदिका हम शुद्धके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते हैं। यह बात याज्ञवल्क्यने गार्गीको शुद्ध-स्वरूपका उपदेश करते हुए बतलायी है—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृहदारण्यक उ० ३। ८। ८)

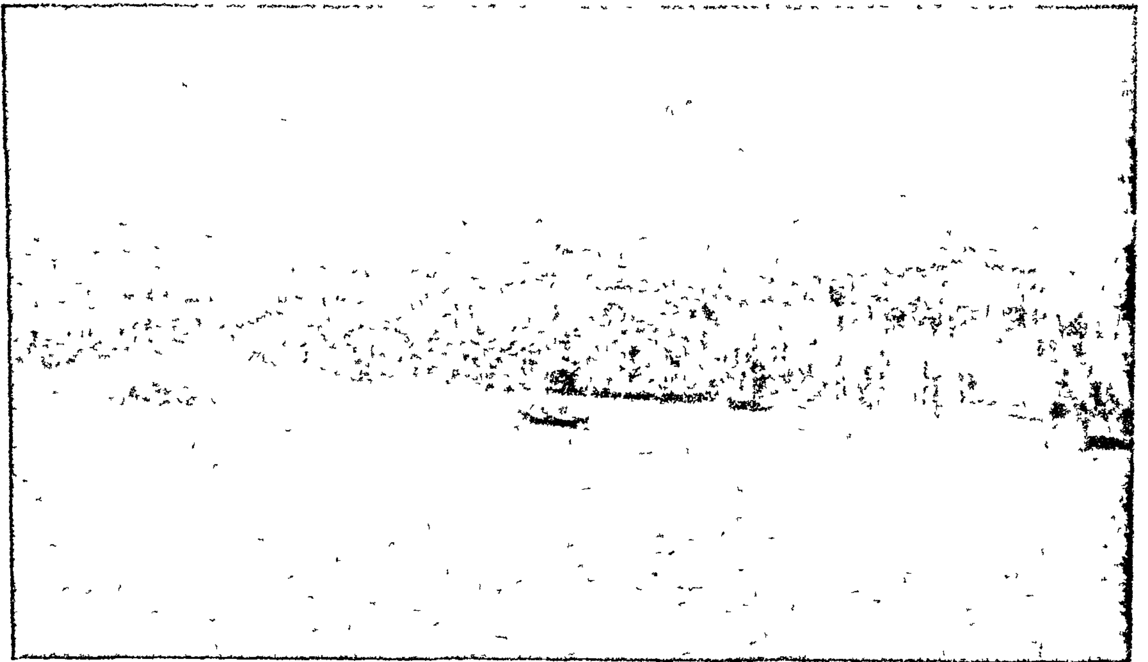


श्रीकाशी—दशाश्वमेध घाट

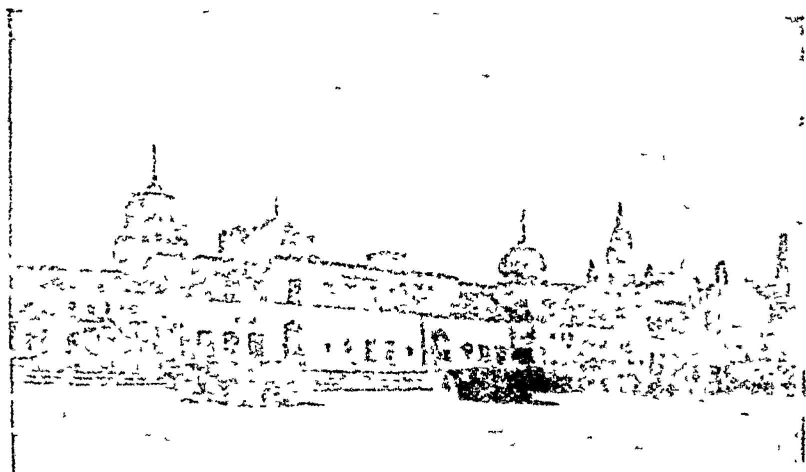




काशी—मणिकर्णिका घाट [पृष्ठ ६९१



त्रिवेणी-संगम, प्रयाग [पृष्ठ ६९२



"इसका अभिप्राय यही है कि इस रूपमें न हम उसको कुछ अर्पण करते हैं, न वह हमारे जीवनपर कोई प्रभाव डालता है। या यों कहें कि इस रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपने विशिष्ट रूपमें ही है।

विशिष्ट रूपमें उसकी अनेक रूपोंमें उपासना

"मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपके लिये भक्ति, पूजा और उपासना है, वह उसका विशिष्ट रूप ही है। और यह रूप उसका अनेक रूपोंमें पूजा जाता है; इन्हीं रूपोंको देवता कहते हैं, जो वेदमें अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, पूषा आदि नामोंसे वर्णन किये गये हैं।

"मनुष्य पहले-पहल इन अलग-अलग विशिष्ट रूपोंमें उसका चिन्तन कर सकता है और जब वह उसकी महिमाको अलग-अलग अनुभव कर चुकता है, तब फिर उसका हृदय एक साथ सारे विश्वमें उसकी महिमाको अनुभव करता हुआ उसका ध्यान और पूजन करता है। इस समष्टिरूपको अदिति, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

विशिष्ट रूपों (देवतारूपों) में परमात्माको जाननेकी आवश्यकता

"पहले-पहल केवल शुद्धरूपमें परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसका जानना जगत्‌में ही सम्भव है, वह भी अनेक विशिष्ट रूपों (देवतारूपों)में। क्योंकि उसकी महिमा, जो इस जगत्‌में देखी जाती है, इतनी बड़ी है कि समष्टिरूपमें उसका ज्ञान मनकी शक्तिसे बाहर है। इसलिये अग्नि, वायु, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण, द्यावापृथिवी, अश्वि, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति इत्यादि परिमित रूपोंमें उसकी महिमा वेदमें कही गयी है और स्तुति, नमस्कार और पूजाद्वारा उन सब रूपोंके साथ गहरा सम्बन्ध करनेका उपदेश है।" (अथर्ववेदभाष्य-भूमिका पृ० १२-१३)

यहाँपर पं०श्रीराजारामजी शास्त्रीने वैदिक देवतावादके विषयको बहुत स्पष्ट कर दिया है; यद्यपि यह उन्होंने अपना निजी मन्तव्य बताया है, तथापि वस्तुतः यही हिंदु-संस्कृतिका भी मन्तव्य है। देवता मनुष्यके सुखजनक हैं; अतः मनुष्योंको देवोंकी उपासना करनी चाहिये—इस विषयमें वेद भी सहमत है। 'कल्याण' के पाठकगण देखें—

न मर्डिता (सुखजनकः) विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत (ऋ० १० । ६४ । २)। अर्थात् देवगणोंके सदृश सुखदायक दूसरा कोई नहीं है; इसलिये मेरी कामनाएँ देवताओंमें हैं। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति' (अथर्व० ११ । ५ । २)—यहाँपर देवताओंकी तपस्यासे प्रसन्नता बतायी गयी है। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ० १ । २७ । १३)—यहाँपर यथाशक्ति देवताओंकी पूजा करना बतलाया है। 'सपर्यन् कीरिणा देवान्, नमसा उपशिक्षन्' (ऋ० ५।४०।८)—इस मन्त्रमें देवताओंकी स्तोत्र एवं नमस्कारसे पूजा बतायी गयी है। 'तेन मा देवास्तपसावतेह' (अथर्व० १९ । ७२ । १)—यहाँ देवताओंसे रक्षार्थ प्रार्थना की गयी है। 'प्रगायत अभ्यर्चाम देवान्' (ऋ० ९ । ९७ । ४)—यहाँपर गानद्वारा देवपूजा कही गयी है।

एष ह वाऽअनद्धा पुरुषो यो न देवानवति न पितॄन्।' (शतपथ० ६ । ३ । १ । २४)

—यहाँपर देवपूजा एवं पितृपूजा न करनेवाले मनुष्यकी निन्दा की गयी है। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० १० । ६५ । १५)—यहाँपर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका इतिहास भी दिखलाया है। 'तस्माद् देवान् यज' (शत० १ । ८ । २।१४)—यहाँपर स्पष्टरूपसे देवपूजन दिखलाया गया है। इसी मूलको लेकर 'मनुस्मृति'ने भी देवपूजनपर बल दिया है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव ······················॥
(२ । १७६)

८. अश्वत्थ तथा तुलसीका महत्त्व

हमारे शास्त्रोंमें अश्वत्थ (पीपल) की महिमा बतायी गयी है। 'अथर्ववेद'में 'अश्वत्थो देवसदनः' (शौ० सं० ५ । ४ । १) पीपलको देवताओंका घर ही कहा है। अतएव उसकी पूजासे भी देवताओंकी पूजा होती है। 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (भगवद्गीता १० । २६)—इस पद्यमें भगवान्‌ने पीपलको अपनी विभूति माना है। लौकिक दृष्टिके अनुसार भी यह पुत्रप्रदाता माना गया है, इसमें आयुर्वेदके अनुसार स्त्रीके वन्ध्यत्वदोषके हटानेकी अद्भुत क्षमता है।

तुलसीके महत्त्वको बतानेवाले ये पद्य प्रसिद्ध हैं—

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद्‌गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः॥
तुलसीविपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्।
क्रोशमात्रं भवत्येव गाङ्गेयेनेव चाम्भसा॥

इससे तुलसीके आस-पासका स्थान पवित्र माना गया है; उसमें मलेरियाकी विषाक्त वायुको दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है। मरनेके समय भी तुलसीमिश्रित गङ्गाजल पिलाया जाता है, जिससे आत्मा पवित्र हो और सुख-शान्तिसे लोकान्तरकी प्राप्ति हो। विषाक्त वायु तुलसीसे स्वच्छ हो जाता है। मलेरियाके उत्पादनमें सहायक मच्छर इससे दूर भागते हैं। यह सब प्रकारके ज्वरोंको हटाकर स्वास्थ्य देती है। जिन रोगियोंको स्वास्थ्यार्थ गङ्गातटके पास जानेमें सुविधा न हो, उन्हें तुलसी-सेनीटोरियममें रखा जाता है; वही लाभ उन्हें वहाँ मिल जाता है। हमारे पूर्वज जडोपासक नहीं थे, जड वस्तुओंके अधिष्ठातृ-देवता मानकर उनकी पूजा किया करते थे। स्वास्थ्यके होनेसे ही धर्माचरणमें प्रवृत्ति हो सकती है; अतः स्वास्थ्यवर्धक वस्तुका धर्मसे सम्बन्ध अनुचित भी नहीं है।

९. सदाचार एवं शौचाचार

हिंदू-संस्कृतिमें जितने सदाचार या शौचाचार रक्खे गये हैं, धार्मिक होनेसे उनका परलोकसे सम्बन्ध तो है ही; अधिकं तु उनका लौकिक लाभोंसे भी सम्बन्ध होता है। हम उनमें कुछका निरूपण करते हैं। विज्ञ पाठकगण ध्यान दें। इनमें प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंका मिश्रण होगा।

देवमन्दिरमें जाना—जहाँ इसमें देवपूजा लक्ष्य होती है, वहाँपर शारीरिक तथा मानसिक लाभ भी हुआ करते हैं। देवालय जानेके लिये हम सूर्योदयसे पहले उठते हैं, तथा सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान करते हैं। इससे रूप, तेज, आरोग्य, मेधा, आयु आदिकी वृद्धि होती है। देवमन्दिर प्रायः शहरसे बाहर होते हैं। वहाँ कोई बगीची होती है। देवपूजाके लिये वहाँपर हम फूल चुनते हैं। हमें शुद्ध वायु मिलती है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य तथा शक्तिका लाभ होता है। चन्दन लगानेसे मस्तिष्क तथा दृष्टिकी शक्ति बढ़ती है। धूप, दीप आदि सुगन्धित द्रव्योंके कारण मन्दिरके चारों ओर दिव्य शक्तिका सञ्चार रहता है, जिससे भूत-बाधाकी निवृत्ति तथा विषयुक्त कीटाणु-शक्तिका ह्रास होता है, शुद्ध वायुमण्डलके प्रभावसे कुविचार अंदर नहीं रह पाते। पुरुष-शरीर पञ्चतत्त्वनिर्मित होता है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी प्रधानता रहा करती है। इसलिये हमारे यहाँ पाँच देवोंकी अपने-अपने रुच्यनुसार पूजा कही गयी है। ये देव भी एक-एक तत्त्व प्रधानतासे धारण करते हैं। इधर मन्दिरमें इन्हीं तत्त्वोंके गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द मिलते हैं; इसलिये तत्त्वविशेषको धारण करनेवाले पुरुषपर उसके अनुकूल विषयका प्रभाव भी होता है। उसी मन्दिरमें शङ्खनाद भी किया जाता है। उससे फेफड़ोंकी शुद्धि तथा छातीकी विशालता सम्पन्न होती है। कीटाणुओंका नाश होता है। इधर मन्दिरस्थ वस्तुएँ—पञ्चगव्य, तुलसी आदि सभी पदार्थ लाभप्रद होते हैं। इस प्रकार देवमन्दिरमें जाना 'जीवेम शरदः शतम्' इस वैदिक उक्तिको बतलाता है।

चरणामृतका वैज्ञानिक महत्त्व—उसी देवमन्दिरमें फिर हम चरणामृत लेते हैं, जिसका माहात्म्य 'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्' प्रसिद्ध ही है। वह हमारे लिये दिव्य ओषधिका काम देता है। पूजाके समय ताम्रपात्रमें रक्खी शालग्रामकी प्रतिमाका मन्त्रोच्चारसे गङ्गाजलद्वारा संस्कार होता है। तुलसीदल, केसर, चन्दन, कस्तूरी आदि पदार्थ उसमें मिले रहते हैं। शालग्राम गण्डकी नदीका पदार्थविशेष है, जिसमें छोटे-छोटे सुवर्ण-कण मिले रहते हैं। वेद सुवर्णमें सौ वर्षकी आयु बताता है। ताँबेका प्रभाव तो विज्ञानप्रसिद्ध है ही। उसमें रक्खा हुआ जल रोगनाशक होता है, फिर गङ्गाजलकी कीटाणुनाशिनी शक्ति तो विश्वविदित ही है। तुलसीदलमें भी विविध व्याधियोंको दूर करनेकी सामर्थ्य है। केसर, चन्दन, कस्तूरीका तो बहुत रोगोंमें उपयोग किया ही जाता है और फिर वेदमन्त्रोंकी शक्ति हिंदु-संस्कृतिमें प्रसिद्ध ही है। इधर वही जल शङ्खमें डाला हुआ और भी शक्तिसम्पन्न हो जाता है। तब वह जल एक अमृतका काम करता है। उसके सेवनसे अकालमृत्यु नहीं होने पाती। इधर मन्दिरमें प्रातःकाल जाना पड़ता है, इस व्याजसे प्रातः-भ्रमण भी हो जाता है। प्रातर्भ्रमणके लाभ भी जगत्प्रसिद्ध हैं। और फिर उस समय हमारे पालक भगवान्से हमारी एकता हो जाती है। धूप तथा घृतका चतुर्मुख दीपक, उसका शुद्ध आलोक इत्यादि सभी पदार्थ हमारी अकालमृत्युको दूर करते हुए—'विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' इस पद्यको चरितार्थ किया करते हैं। यह बात अर्थवाद न होकर सत्य है; क्योंकि इस अवसरकी निष्काम भगवद्भक्ति मुक्ति देकर हमारे पुनर्जन्मको हटा देती है। इस प्रकार चरणामृतपानसे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते हैं।

शङ्खनाद—श्रीजगदीशचन्द्र वसुने अपने वैज्ञानिक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहाँतक शङ्खका नाद जाता है, वहाँतक रोगके अनेक विषाक्त कीटाणु उस नादके सुननेसे ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँकी वायु शुद्ध होती है। हमारे यहाँ भी प्रसिद्ध है कि 'शङ्ख बाजे, भूत भागे।'

कीटाणु भी सूक्ष्म भूतोंके अन्तर्गत होते है। इधर यह शङ्ख गूँगोंको भाषणशक्ति प्रदान करता है। इसलिये छोटे-छोटे बच्चोंके गलेमें छोटे-छोटे शङ्खोंकी माला पहनायी जाती है। इससे बच्चे जल्दी बोलने लग जाते है, उन्हे दृष्टिदोष भी नहीं होता। इसकी श्रेष्ठता होनेसे ही मन्दिरोमे आरतीके समय भक्तोंपर शङ्खका जल डाला जाता है। यूरोपीय वैज्ञानिकोंने भी शङ्खमें मनुष्यहितकारिणी विद्युत् मानी है। शङ्खमे यदि गङ्गाजलको सिद्ध करके पिलाया जाय, तो कीटाणुमूलक सब रोग दूर हो सकते है। इसमे कोई विशिष्ट व्यय भी नहीं होता। इसके अनेक लाभोंको देखकर प्राचीन कालमे स्त्रियाँ शङ्खकी चूड़ियाँ पहनती थीं, अब भी बंगालमे पहनती हैं, जिसका—

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत्।
(४।९)

—इस 'सांख्यदर्शन' के सूत्रमे सकेत किया गया है।

जप-पाठ—प्रत्येक विशिष्ट शब्द एक विशिष्टता रखता है। इसी कारण वेदके शब्दोंकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन नहीं किया जाता; क्योंकि उसके शब्दोंको उसी आनुपूर्वीसे पढ़नेमे लाभ विशेष होता है। उसी आनुपूर्वीका मेघोंपर भी प्रभाव पड़ता है, वृष्टि हो जाती है। सूर्यादि देवोपर प्रभाव पड़ता है, जिससे वे प्रसन्न होकर लाभ पहुँचाते हैं।

फ्रांस देशकी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला मैडम फिनेलाङ्ग नामकी है; उसने शब्दके विषयमे पर्याप्त अनुभव किये हैं। एक दिन विशिष्ट अनुभवके लिये उसने बिजलीके तारोंको एक स्थानमे जोड़ा। साथ ही एक चाकका टुकड़ा भी बाँध दिया, और काला बोर्ड भी रख दिया। निकटमे ही वह एक कुर्सीपर बैठकर गाने लगी। कुछ समयके बाद मुखको ऊँचा करके उसने देखा और हैरान हो गयी। उस बोर्डपर रेखाएँ खिंची थीं। उस बोर्डको उसने साफ कर दिया।

फिर वह अपने प्रेमीके विषयमे गाने लगी। साथ ही उसने देखा कि उस स्वरसे बिजलीके तार काँप रहे है, और उस बोर्डपर आकृति बन रही है। यह जानकर वह प्रसन्न हुई कि शब्दोंका आभ्यन्तरिक भावोंसे गहरा सम्बन्ध है। यह प्रसिद्ध है कि मृग आदि पशु तथा सर्प भी गाने या वंशी-ध्वनिमे मस्त होकर खेलते है। युद्धमे विशिष्ट गानसे अश्वोंमें आवेश आ जाता है। वे कूदते हुए युद्धमे अग्रसर होते है। अस्तु, जब उसने गानेसे आकृतियाँ बनती हुई देखीं, तब उसने भिन्न-भिन्न गानोंका प्रभाव जाननेके लिये यत्न किया। वह रोमन कैथलिक गिरजाघरमे प्रार्थनाके लिये गयी। वहाँ भी उसने बिजलीका वह यन्त्र लगाया। जब प्रार्थना समाप्त हो गयी, तब बोर्डपर एक स्त्री तथा एक लड़केकी आकृति बन गयी। इन आकृतियोंका सम्बन्ध ईसा तथा उसकी माँसे था।

फिर भी वह सन्तुष्ट न हुई। पैरिसके एक महाविद्यालयमे एक बङ्गाली विद्यार्थी पढता था। उसे उसने कोई धार्मिक गाना गानेके लिये कहा। वह विद्यार्थी नये वायुमण्डलमे पला होनेसे धार्मिक गानोंसे अनभिज्ञ था। हाँ, बाल्यावस्थामें पिताने उसे भैरवाष्टक सिखलाया था। जब उसने वह स्तोत्र ऊँचे स्वरसे सुनाया, तब उस काले बोर्डमें भैरवकी मूर्ति बन गयी। इन बातोसे स्पष्ट है कि जप वा उच्च स्वरसे पाठ करनेमें कितनी शक्ति है। इसी सिद्धान्तसे ग्रामोफोन यन्त्रका आविष्कार हुआ।

जपना १०८ बार क्यों ?—हमारे श्वास प्रत्येक पलमे ६ निकलते हैं। २॥ पलोंके एक मिनटमे हमारे १५ श्वास निकलते है। इस हिसाबसे एक घंटेमे ९०० तथा दिनभरके १२ घटोमे १०,८०० श्वास हमारे निकलते हैं। एक दिनके इतने श्वासोंमें हमे अपने इष्टदेवको याद करना चाहिये। परंतु लोकयात्रामे इतना सम्भव नहीं, अतः १०,८०० के पिछले दो शून्योको हटाकर १०८ बार इष्टदेवका जप किया जाता है।

अथवा इसमे एक अन्य रहस्य है। मायाका अङ्क ८ होता है और ब्रह्मका ९ अङ्क। मायामे परिवर्तन या परिवर्धन होता है, ब्रह्ममे नहीं। देखिये ८ का पहाड़ा। ८×१=८; ८×२=१६ (१+६=७)। यह आठका पहाड़ा दुगना होनेपर ७ हो गया है। ८×३=२४ (२+४=६); अब वही ६ हो गया है। इसी प्रकार आगे भी क्रम-क्रमसे वह कम होता जाता है। जैसे—८×७=५६ (५+६=११, १+१=२); यहाँपर २ ही रह जाते हैं। ८×९=७२ (७+२=९) यहाँ वही बढ़कर ९ हो जाता है। पर ब्रह्मका अङ्क ९ उसी रूपमे रहता है। जैसे कि ९ का पहाड़ा देखिये—९×१=९; ९×२=१८ (१+८=९); ९×३=२७; (२+७=९); ९×७=६३ (६+३=९) इत्यादि। इसमे कोई विकार नहीं हुआ।

हिंदु-जाति प्रारम्भसे ही सूर्यभक्त रही है, इसलिये उसकी सन्ध्यामे सूर्यको अर्घ्य दिया जाता है। सविता (सूर्य) का ही गायत्रीरूपमे जप होता है, जपमे साधन माला होती

है। उसकी १०८ मणियाँ होती हैं। सूर्यके १२ भेद होते हैं; उनका बारहवाँ भेद विष्णु है। सूर्यकी १२ राशियाँ होती हैं। वह सूर्य ब्रह्मरूप है—'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (यजुः वा० सं० ३२।१)। ब्रह्मका अङ्क ९ है, यह पहले कहा जा चुका है। १२ अङ्कवाले सूर्यके साथ ९ अङ्कवाले ब्रह्मको गुणा करनेसे १०८ संख्या होती है। इस कारण सर्वात्मक विष्णुका जप भी १०८ बार होता है। १०८ का योग १ + ८ = ९ होता है। ९ अङ्क ब्रह्मका प्रतीक होता है, यह कहा ही जा चुका है। इसलिये ब्रह्मवित् संन्यासियोंके नामके साथ भी 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस न्यायसे ब्रह्मका प्रतिनिधि 'श्री १०८' लिखा जाता है।

पश्चिम-उत्तरमें सिर करनेका निषेध—

यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम्।
अगस्त्यशास्ताम् (दक्षिणाम्) अभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम्॥
(महाभा० १।१५४।८-९)

यहाँपर युधिष्ठिर आदिका सोते समय दक्षिण दिशाकी ओर सिर करना दिखलाया है।

प्रत्यगुत्तरशिरश्च न स्वपिति। (३।१।८)

'वैखानसगृह्यसूत्र'के इस वचनमें पश्चिम तथा उत्तरमें सिर करके सोनेका निषेध किया गया है। इसका कारण विज्ञान यह बताता है कि उत्तरीय ध्रुवसे दक्षिण ध्रुवकी ओर इस प्रकारकी लहरें चलती हैं, जो मस्तिष्कको हानि पहुँचाती हैं। इसलिये उत्तर दिशाकी ओर शवका ही सिर किया जाता है।

पश्चिम दिशामें सिर करनेके लिये 'शतपथ'में निषेध किया है—

तस्माद्‌ु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत।
(३।१।१।७)

उसका कारण यह है—'प्राची हि देवानां दिक्' (शत० १।८।३।१८)—पूर्व दिशा देवताओंकी दिशा है; उधर पैर करनेसे देवताओंका अपमान होता है। पूर्व दिशाकी ओर सिर रखनेसे देवताओंके सम्मानकी बात आयुर्वेद भी बताता है—

प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः।
(सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान १९।६)

ग्रह-नक्षत्रादि सभी पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाते हैं; अतः पूर्व दिशा देवदिशा स्पष्ट है।

ग्रहणमें भोजनादिका निषेध—सूर्य-चन्द्रके ग्रहण-समयमें बहुत-से कीटाणु फैल जाते हैं—यह बात अणुवीक्षण-यन्त्रसे देखी जा सकती है। इसीलिये ऋषियोंने पात्रोंमें कुश डालनेको कहा है, जिससे सब कीटाणु कुशमें आ जाते हैं। ग्रहणके बाद वह कुशा बाहर फेंक दी जाती है और शुद्धवर्ण पात्रोंमें अग्नि भी डाली जाती है। अपने भीतरी-बाहरी कीटाणुओंके हटानेके लिये ग्रहणके बाद ऋषियोंने स्नानकी व्यवस्था की। स्नान करनेसे शरीरके भीतरसे ऊष्मा उद्गम होता है, जिसके कारण भीतर-बाहरके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। ग्रहण-समयमें टुओब्नो-विश्वके प्रोफेसर मि० टर्विस्टनने पर्याप्त अनुसन्धान करके सिद्ध किया है कि सूर्य-चन्द्रके ग्रहणके समय पेटकी पाचनशक्ति कम हो जाती है। तब भोजन करनेपर शारीरिक या मानसिक हानिकी आशङ्का रहती है।

मिट्टीसे हस्तशुद्धि—शौचालयसे आकर हाथोंको जलसे तथा मिट्टीसे शुद्धि करनी पड़ती है—यह प्राचीन व्यवहार है। परंतु आजकलके सुधारकलोग प्राचीन सभी आचारोंको घृणित मानते हैं। वे साबुनका उपयोग करते हैं; परंतु वे नहीं जानते कि साबुनसे मलके परमाणु नष्ट नहीं होते। उन परमाणुओंके सर्वथा नाश करनेकी शक्ति मिट्टीमें ही होती है। इसलिये हमारे प्राचीन मुनि आज्ञा देते थे कि गाँवके बाहर शौचार्थ जाओ, वहाँ गड्ढा करके मलत्याग करो; उस मलको फिर मिट्टीसे ढक दो। उसमें यही रहस्य था कि मिट्टी मलके कीटाणुओंको नष्ट कर देती है। प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिके आधुनिक आविष्कारक श्री लूई कूनेने विविध रोगोंपर मिट्टीका प्रयोग करके बड़ी सफलता प्राप्त की थी। आज भी प्राकृतिक चिकित्सामें मिट्टीका सफल प्रयोग होता है। मिट्टीमें रोगनाशक शक्ति है। सर्पदंशतकमें मिट्टीसे लाभ होना देखा गया है। यहाँ जैसे मिट्टीकी जगह साबुनका प्रयोग अयुक्त होगा, वैसे ही हाथ आदि धोनेमें समझना चाहिये।

साबुनमें चिकनाहट होती है। अतः वह मलके परमाणुओंको दूर नहीं कर सकता; प्रत्युत उसमें मलके परमाणु ठहर जाते हैं। इधर उसी साबुनको अन्य भी प्रयुक्त करते हैं; इस प्रकार मलके परमाणु बढ़ जाया करते हैं। साबुन एक ऐसा पदार्थ है कि उसकी एक टिकियाका एक ही मनुष्यको प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा एक दूसरेके परमाणु इकट्ठे होकर एक दूसरेमें संक्रान्त हो जाते हैं। इधर साबुनमें व्यर्थ खर्च भी होता है। अतः इस अवसरपर मिट्टीका उपयोग ही ठीक है।

'मनुस्मृति'में 'आचारस्य च वर्जनात्' (५।४)

—आचारके छोड़नेको भी असामयिक मृत्युके कारणोमे गिना है। इससे स्पष्ट है कि आचारके पालनेसे मनुष्य पूर्णायु होता है। इसलिये 'आचारः प्रथमो धर्मः' (मनु० १। १०८) कहा गया है।

गण्डूषविधान—मलत्यागके बाद हस्तशुद्धि करके गण्डूष (कुल्ला करने) का विधान भी आया है। वह भी रहस्य-पूर्ण है। हम किसी गलीमे जा रहे हो, और वहाँ मल पड़ा हुआ हो तो हम उस स्थलको पार करके मुँहसे थूक गिरा देते हैं; उसका कारण है कि हमारे मुखमे दुर्गन्धके परमाणु पहुँच जाते हैं, उन्हे निकालनेके लिये थूका जाता है। इस प्रकार पुरीषालयमें कुछ देर रहनेसे मुखमे गये गंदे परमाणुओंको हटानेके लिये साधारण थूकसे काम नही चलता; तब बारह बार कुल्ला किया जाता है, जिससे मुखकी पूर्ण शुद्धि हो जाय। इसी प्रकार मूत्र-त्यागके बाद भी कुल्ले करने चाहिये।*

भोजनशुद्धि—भोजन सात्त्विक, न्यायोपार्जित धनसे प्राप्त तथा सात्त्विक एवं शुद्ध पुरुषका बनाया होना चाहिये। इस बातकी अवहेलना करनेसे भी शारीरिक-मानसिक हानि होती है।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।

(मनु० ५। ४)

यहाँपर अन्नदोषको भी असामयिक मृत्युका कारण बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते; तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तत् पुरीषं भवति; यो मध्यमस्तन्मांसम्; योऽणिष्ठस्तन्मनः।

(६। ५। १)

यहाँपर भोजनके सूक्ष्म अंशको मन कहा गया है। इसलिये प्रसिद्ध है—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

(छा० ७। २६। २)

अन्नमयꣳ हि सोम्य ! मनः। (छा० ६। ५। ४)।

* हमारे यहाँ भोजनके उपरान्त कुल्ले करनेकी प्रथा है। इससे दाँतोंमें अन्नकण नहीं रहनेसे दन्तरोग प्राय. नही होते। यूरोपादि देशोंमें भोजनोपरान्त कुल्ले न करनेसे अधिकांश लोगोंको पायरिया रोग हो जाता है।

इस प्रकार अन्नकी अशुद्धि होनेसे मनको हानि पहुँचती है। भीष्मपितामहने दुर्योधनका अन्यायोपार्जित पापिष्ठ अन्न ग्रहण किया था; इसीसे द्रौपदीके वस्त्र-हरणके समय ठीक सम्मति देनेमे उनका ज्ञान लुप्त हो गया।

१०. प्राचीन साहित्यमें स्त्रियोंका स्थान

'प्राचीन साहित्यमे स्त्रियोपर अत्याचार किया गया है; विधवा होनेपर उन्हें विवाहकी आज्ञा नही। उनके लिये व्रत-उपवास आदि अधिक नियत किये गये हैं। उनको अन्य पति करनेका आदेश नही दिया जाता, उनको पर्देमे—घरमें बंद रक्खा जाता है, उनकी विशिष्ट रक्षा की जाती है, उनपर विश्वास नही किया जाता, उन्हे स्वतन्त्रता नही दी जाती। उन्हे विद्या पढ़नेका आदेश नही, बच्चेके पालन आदिका कष्ट उन्हे दिया जाता है।' आजकलके ये प्राचीन साहित्यपर आक्षेप हैं। वस्तुतः वस्तुस्थितिपर विचार नही किया जाता। हमारा प्राचीन साहित्य किसीका भी द्वेषी नही रहा; सबका वह हितैषी रहा है।

इसपर यह जानना चाहिये कि स्त्रीजातिकी पवित्रतामें ही देशका उद्धार तथा स्त्री-जातिके पतनमे देशका पतन अनिवार्य है; इसीलिये हिंदु-जातिके साहित्यमें पुरुषकी अपेक्षा कन्या वा स्त्रियोकी रक्षापर अधिक ध्यान रक्खा गया है। सन्तानमे पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव अधिक पड़ता है। स्त्री-जातिकी अपवित्रतासे सम्पूर्ण जाति ही अपवित्र हो सकती है। चाकू खरबूजेपर गिरे, अथवा खरबूजा चाकूपर गिरे; दोनो ही प्रकारसे खरबूजेकी ही हानि है। इस प्रकार स्त्री विकारको प्राप्त होकर अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाय, अथवा पुरुष विकारयुक्त होकर अन्य स्त्रीमे आसक्त हो जाय, दोनों ही प्रकारसे स्त्रीका पतन अवश्यम्भावी है। इसलिये भगवद्गीतामे अर्जुनने भी कहा है—

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(१। ४१—४४)

मनुने भी कहा है—

··· अवेद्यावेदनेन च। ··· जायन्ते वर्णसङ्कराः।

(१०। २४)

इससे स्पष्ट है कि स्त्रीकी दुष्टतासे सारी जातिका पतन उपस्थित हो जाता है। वर्णसंकरताको हमारे शास्त्रकार बहुत निन्दित समझते थे।

इसीलिये हमारे सुदक्ष प्राचीन शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके लिये कठोर नियम रक्खे हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्री-जातिको सुरक्षित कर दिया। स्त्री-जातिकी सुरक्षासे ही व्यभिचार असम्भव हो जाता है। हमारी स्त्री-जातिका तपोमय जीवन है। ऐसी दशामें शास्त्रकारोंपर आक्षेप व्यर्थ है। फिर शास्त्रकारोंने ही स्त्रीको कष्ट दिया है, यह बात नहीं। उनको कष्ट प्रकृति स्वयं देती है। प्रतिमास अस्पृश्यता वे ही धारण करती हैं, दस मास गर्भ-धारणका कष्ट वे ही प्राप्त करती हैं, प्रसव-कष्ट—जिसमें दाईके प्रमादसे प्राण भी संशयमें पड़ जाते हैं—वे ही सहती हैं। अपहरणादिक भी स्त्रियोंके ही होते हैं। स्वाभाविक दुर्बलतासे रोग भी इन्हें ही घेरे रहते हैं। इन सबका कारण क्या है?

कारण है पूर्वजन्मके कर्म। हिंदु-संस्कृति कर्मव्यवस्थाको मानती है। पूर्वजन्मके कुछ कर्मविशेषसे—जिसका वर्णन शास्त्रोंमें आता है किंतु यहाँ जिसका वर्णन अवाक्य है—पुरुष-योनिसे पतित होकर जीव स्त्री-योनिमें जाता है। तत्प्रयुक्त ही कष्ट स्त्री-जातिको मिलते हैं। कर्मोंका क्षय भोगसे ही हुआ करता है। तपस्या कष्टप्राप्त्यर्थ हुआ करती है, उस कष्टसे प्राक्तन जन्मोंके दुष्कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसके फलस्वरूप अन्य जन्मोंमें अधिक सुखकी प्राप्ति होती है। वैसे ही स्त्रीका जीवन भी तपस्यारूप है। उसमें भी अनिवार्य कष्टोंके मिलनेसे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका क्षय हो जाता है। अग्रिम जन्म उनका सुखजनक होता है। हिंदु-संस्कृति दूरदृष्टिवाली है, उसकी दृष्टि भविष्यत्पर रहती है; अदूरदर्शी सम्प्रदायोंके व्यक्ति इस संस्कृतिको व्यर्थ ही कलङ्कित करते हैं। वे लोग वर्तमान कालको देखते हैं; न पूर्वजन्मका विचार करते हैं न भविष्यत् जन्मका। वे उन्हें एकान्त सुख देकर, उनका अवशिष्ट पूर्वजन्मका पुण्य भी क्षीण करके, इस जन्ममें भी पातिव्रत्यसे छुट्टी दिलाकर—जिससे कि उनकी सद्गति हो सकती है—उन्हें अग्रिम जन्ममें सीधा पशुयोनिमें भेजना चाहते हैं।

जो रोग कड़वी ओषधिसे दूर होने योग्य हो, वहाँपर कड़वी दवाईको छुड़ाकर यदि रोगीके हितैषी बननेवाले बन्धु उसे मिठाइयाँ खानेको देते हैं, तो स्पष्ट है कि वे लोग रोगीका अवशिष्ट बल भी समाप्तकर उसे राजयक्ष्माका शिकार बनाना चाहते हैं। वे बन्धु हैं या उसके शत्रु—यह सोचना पाठकोंका काम है। वे लोग 'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव' (गीता १८। ३८) तथा 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (१८। ३७)—इन सुखोंके तारतम्यको नहीं सोचते।

फलतः सन्तान शुद्ध हो, धर्मात्मा हो, वर्णसङ्कर न हो—एतदर्थ विधवाविवाहादि अथवा परपुरुषसङ्गका निषेध किया गया है। इसीलिये स्त्रियोंका कार्यक्षेत्र 'घर' बताया गया है, 'बाहर' नहीं। वेद उसे 'गृहपत्नी' (ऋ० १०। ८५। २६), 'गार्हपत्याय जागृहि' (अ० १४। १। २१), 'गृहा वै गार्हपत्यः' (शत० १। ७। ४। १८) कहकर उसके क्षेत्रमें ही रहनेको कहता है और उसे काम देता है—जैसे कपड़ोंका बुनना (अ० १४। २। ५१), पानी भरना, भात पकानेके लिये जल लाना (३। १२। ८; ११। १। १३), घड़ा उठाना (अ० ११। १। १४), भोजन तैयार करना (११। १। २३), घरमें रहना (१४। २। १३), बीज-वपन करना (१४। २। १४), पतिके अनुसार उसके कुलमें नियुक्त होना, सन्तानका उत्पादन करना (१४। १। ५५) इत्यादि।

स्त्रीको विद्याके कार्यमें प्रवृत्त न करने तथा बच्चोंके पालन आदि कार्यमें नियुक्त करनेका रहस्य यह है कि प्रकृतिने स्त्रीको अबला बनाया है। उसका कारण यह है कि पिताके थोड़े शुक्र तथा माताके अधिक रजसे कन्याका शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होता है, रज तृतीय धातु होता है। अतः रज शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे अस्थि आदि कठोर तथा शरीरको सबल करनेवाली वस्तुएँ बनती हैं। कन्याके शरीरमें अस्थि आदि कठोर वस्तुओंकी गौणता होती है, रजोमूलक कोमल वस्तुओंकी अधिकता होती है; अतएव कन्या पुरुषकी अपेक्षा प्रकृतिसे निर्बल है। परंतु कन्याओंको शिक्षा यदि दी जाय तो परीक्षा देनेके समय अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है; हर समय अपनी या अपनी छात्राओंकी उत्तीर्णता या अनुत्तीर्णता-की चिन्ता रखनी पड़ती है। तो अब सोचनेकी बात है कि उन अबलाओंका प्रबल परिश्रम, रजस्वलात्वके समयमें भी—जिस समय एकान्तमें शान्तिसे रहना लिखा है—पढ़ने-पढ़ाने जाना, परीक्षाएँ देते रहना आदि कार्य क्या उनको निर्बल न कर देंगे? क्या वे उनकी भीतरी हानि न करेंगे? क्या उस

परिश्रमका प्रभाव गर्भाधान अथवा प्रसवपर एवं सन्तानके शरीर या मस्तिष्कपर न पड़ेगा ? फिर स्तनन्धयोंकी पुष्टि कैसे होगी ?

पढ़ने-पढ़ाने जानेके समय उन स्त्रियोंके बच्चोंका पालन नौकरोंके अधीन हो जाता है। वेतनग्राही नौकर उस बच्चेकी सेवा क्या करेगा ? वह मातावाला हृदय कहाँसे लायगा ? थकी हुई माताका स्तन्य भी उस बच्चेकी पुष्टि क्या करेगा ? इधर खाद्य पदार्थ निस्सार मिल रहे हैं; तब बालकोंकी आयु बढ़ेगी या घटेगी ? अध्यापिकाएँ बनकर धन इकट्ठा कर '**ममेयमस्तु पोष्या**' (अथर्व० १४ । १ । ५२)—इस वैदिक विवाहके नियमके विरुद्ध वे 'पोष्या' न बनकर 'पोषक' बन रही हैं । जहाँ पहले वे 'गृहस्वामिनी' बनती थीं, वहाँ अब अध्यापिका बनकर पर-पुरुषों (संस्थाके मन्त्री, प्रधान आदि) की 'किङ्करी' बनती हैं और पतिलोग '**स्त्रीवित्तेनाधमाधमाः**' '**स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्**'के विरुद्ध चल रहे हैं; दोनोंमें समानता आ जानेसे स्वस्वामिभाव हट रहा है और विवाद बढ़ रहे हैं ।

इधर स्त्रीको वेदादि पढ़ाना जहाँ शास्त्रविरुद्ध है, वहाँ लौकिक दृष्टिसे भी उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि स्त्रियोंका स्त्रीत्व उन्हें प्रायः अपवित्र दशामें रहनेके लिये बाध्य करता है, जिससे वेदादिके मूल यज्ञोपवीतके नियमोंका पालन भी उनके लिये कठिन पड़ जाता है । प्रतिमास रजस्वला होनेपर, प्रसवकालमें तथा प्रतिसमय नवजात शिशुओंके मल-मूत्र आदि धोनेमें ही स्त्रियोंका समय व्यतीत होता है । स्त्रीके जिस वक्षःस्थलपर ब्रह्मसूत्रको लटकाया जायगा, वह तो धूलि-धूसरित, मलमूत्रदिग्धाङ्ग नवजात शिशुका दिन-रात स्तनपानके समय क्रीडा-स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरीके साथ कुतूहलसे किलोल करेगा ? तब पवित्रता कैसी ?

अविश्वासका कारण यह है कि—'**पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति**' (उत्तररामचरित ४ । १२) । स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश'में लिखा है—'प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (समुल्लास ४, पृष्ठ ४७) । 'स्त्रियोंको प्रिय वही होता है, जो स्त्रैण अर्थात् स्त्रीभोगमें फँसा हो ।' (समु० ११, पृ० २३४) । 'स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी [कामचेष्टा] अधिक होती है (समु० ११, पृ० २३६) । इन सब कारणोंसे स्त्रियोंके हर एकके द्वारा बहकाये जानेकी आशङ्का होती है । इसीलिये उनपर सब रहस्य प्रकट नहीं किया जाता, क्योंकि कोई कही गयी गुप्त बात उनसे प्रायः छिपायी नहीं जा सकती । इसमें स्वाभाविकता है, स्वाभाविकतामें निन्दा वा हीनताकी बात नहीं होती । यही उनपर विश्वास न करनेका रहस्य है ।

फलतः निष्पक्ष शास्त्रकारोंने स्त्री-जातिपर कोई अत्याचार नहीं किया; किंतु जो कुछ उनके लिये विधान किया है, वह उनके हितैषी बनकर । उसी शास्त्रमें माताका स्थान सबसे बड़ा माना गया है । '**स्त्रियः समस्तास्तव देवि भेदाः**' यह सिद्धान्त रक्खा गया है, स्त्रियोंको पतिका अर्धाङ्ग माना गया है । उनको घरकी स्वामिनी माना गया है, सारे परिवारकी निरीक्षिका माना है। उनके पातिव्रत्यको भारतवर्षका मुख उज्ज्वल करनेवाला माना गया है ।

(विद्वान् लेखकने अन्य कई विषयोंपर भी अपने महत्त्व-पूर्ण विचार प्रकट किये थे, परंतु स्थानाभावसे वे प्रकाशित नहीं किये जा सके। एतदर्थ हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं।—सम्पादक)

भारतीयोंका आचार

'भारतीयोंके प्रति सेवाका कार्य कर देनेवाला कोई भी व्यक्ति उनकी कृतज्ञताका सदा विश्वास कर सकता है । परंतु उनका अपराध करनेवाला उनके प्रतिशोधसे बच भी नहीं सकता । उनका अपमान करनेपर वे अपना कलङ्क मिटानेके लिये प्राणोंतककी बाजी लगा देते हैं । यदि कोई कष्टमें पड़ा हो और उसकी सहायता माँगे तो वे अपने आपको भी भूलकर उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ेंगे ।

'जब उन्हें किसी अपकारका बदला चुका लेना होता है, तब वे अपने विरोधियोंको सचेत कर देनेसे चूकते नहीं । फिर प्रत्येक व्यक्ति कवच धारण करके हाथमें कुंत ले लेता है । युद्धमें भागनेवालोंका तो वे पीछा करते हैं, परंतु शरणमें आये हुओंका वध वे नहीं करते ।' —चीनी यात्री ह्वेनसाग (६४५ ई०)

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

'हिंदू' शब्द प्राचीन शास्त्रोंमें नहीं मिलनेसे व्याख्या-सम्बन्धी गहरे मतभेद हैं; पर मेरी मान्यता है कि भारतवर्षमें उत्पन्न सनातनधर्मपर अधिष्ठित सभी सम्प्रदाय हिंदू-संस्कृतिमें सम्मिलित हैं। जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदाय अपने आपको हिंदू भले ही न मानें; पर वे सनातनधर्मपर अधिष्ठित आर्य-परम्पराके अङ्ग होनेसे हिंदू ही हैं। हाँ, उस सनातनधर्मपर अधिष्ठित हिंदुत्वकी तीन धाराएँ हैं—एक पारमार्थिक, दूसरी वैदिक और तीसरी लौकिक। पारमार्थिक धाराको हम वैदान्तिक धारा भी कह सकते हैं। वैदान्तिक धारा उपनिषदोंसे सम्बन्ध रखती है—जो परमार्थपर अधिक जोर देनेमें निवृत्ति-परायण धर्मका प्रचार करती हैं। वैदिक धारा प्रवृत्तिपर अधिक जोर देती है, पर उसका तात्पर्य निवृत्ति ही है। लौकिक धारा व्यवहारकी प्रधानतापर खड़ी है। इस प्रकार इन तीनों धाराओंमें प्रवाहित होनेवाली हिंदू-संस्कृति समस्त संसारको परम कल्याणका सन्देश सुनाती रही है। सनातनधर्म हिंदू-संस्कृतिकी आत्मा है। जैन धर्म हृदय है, बौद्ध धर्म बुद्धि है, सिक्ख धर्म बाहु है, वैष्णव धर्म मुख है, शैव धर्म मस्तक है, शाक्त धर्म वीर्य है, गाणपत्य धर्म पेट है, सौर धर्म नेत्र है और अन्य-अन्य धर्मोंको भी उसके भिन्न-भिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग मान लेना चाहिये। इस प्रकार जो संस्कृति अपने भिन्न-भिन्न साधनोंसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करती है, वही हिंदू-संस्कृति है—

हिनस्ति दुर्वृत्तीः इति हिंदुः ।

जो अपने बलके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करता है, वही हिंदू है और यह चेष्टा निष्काम भावसे, शुद्ध पारमार्थिक दृष्टिकी अपेक्षासे विचार करें, तो सदासे भारतवर्षमें ही होती आयी है। अन्तमें हम भारतीय संस्कृतिके संस्थापक भागवतके ऋषभ-पुत्र भरत, रामायणके राम-भ्राता भरत और महाभारतके शाकुन्तल भरतको प्रणाम करते हैं।

त्याग तथा भोगका समन्वय

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी विद्यालङ्कार)

हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका जैसा समन्वय किया गया है, वैसा सम्भवतः किसी भी अन्य जीवन और अन्य सामाजिक व्यवस्थामें नहीं है। 'सम्भवतः' इसलिये कि कदाचित् किसी जीवन अथवा व्यवस्थामें ऐसा विधान किया गया हो, तो उसका हमें ज्ञान नहीं है। अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभवके आधारपर यह कहनेका साहस अवश्य किया जा सकता है कि मानव-जीवनको केन्द्र मानकर जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाओंकी रचना या कल्पना की गयी है, उनमें त्याग और भोगका ऐसा समन्वय नहीं किया जा सका, जैसा कि हिंदू-जीवन और हिंदू-सामाजिक व्यवस्थामें किया गया है। हिंदू-दर्शनशास्त्रके अनुसार यह सारी सृष्टि प्रभुकी रचना है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की भावनासे एक ब्रह्ममेंसे ही यह अनेकविध सृष्टि उत्पन्न हुई है। ब्रह्मकी सन्तान होनेसे ही इस सृष्टिमें मानव-जीवन और सामाजिक व्यवस्थाका रूप ब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आत्मा यदि परमात्माका ही रूप है, तो उसके लिये जीवनका क्रम और सामाजिक व्यवस्थाका स्वरूप भी परब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आस्तिक हिंदूकी श्रद्धा और विश्वास स्वाभाविक रूपसे परमात्मामें इतना अधिक है कि उसके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवनोंपर परब्रह्मकी छायाका पड़ना अनिवार्य था। वैसा ही हुआ भी। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें एक ही परब्रह्मको इस सृष्टिका कर्ता-धर्ता-हर्ता माना गया है। कर्मफलका नियन्ता होनेसे सारे मानवोंके भाग्योंका खेल उसीके हाथका खिलौना है। उसके श्वास-निःश्वासके साथ सृष्टिके विधि-विधानका सारा नियन्त्रण, सञ्चालन एवं संरक्षण जुड़ा हुआ है। इस सृष्टिमें इस प्रकार रमा होनेपर भी ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त है। वासनासे वह सर्वथा शून्य है। कामनासे वह सर्वथा ऊपर है। लोक-व्यवहारसे वह सर्वथा रहित है। बस, यही तो त्याग और भोगके समन्वयकी सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। सृष्टिके खेलमें इतना लीन होनेपर भी वह उससे सर्वथा अलिप्त है। मानो वह सारा खेल केवल उसकी छाया है, जो उसका प्रतिबिम्ब होने-

पर भी उसको छू नहीं सकती। इस लाग-लपेटसे सर्वथा रहित महापुरुषकी कल्पना हिंदू-शास्त्रकी सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, जिसके सौन्दर्यतक दूसरोंका पहुँचना भी कठिन है। हिंदू-धर्म, हिंदू-शास्त्र, हिंदू-जीवन और हिंदुओंकी सामाजिक व्यवस्था इस कल्पनाके अनुसार प्राणिमात्रके सम्मुख त्याग और भोगके समन्वयका उच्चतम आदर्श उपस्थित करते हैं। अवतारी महापुरुषोंके जीवनमें यह आदर्श इसलिये पूर्णताकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ मिलता है कि उनमें ईश्वरीय अंशकी मात्रा सर्वाधिक किंवा पूर्णताको लिये हुए होती है। आजकलकी भाषामें कहें तो अवतारी महापुरुष ईश्वरकी छाया, प्रतिबिम्ब अथवा फोटो ही होते हैं। इसीलिये उनमें ईश्वरीय गुणोंका समावेश भी असाधारण मात्रामें रहता है। श्रीकृष्णकी लीला इस दृष्टिसे कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित करती है! भोग, वासना या कामनाकी वहाँ यत्किञ्चित् गन्ध भी नहीं है। त्यागमय जीवनका पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ कितना ऊँचा, कितना पवित्र, कितना महान् यह एक ही उदाहरण है! मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने किष्किन्धा और लंकाको जीतकर अपने अधीन नहीं किया। अपना वहाँ कोई गवर्नर या शासक भी नियुक्त नहीं किया। वहाँके निवासियोंको ही वहाँका शासन सौंप देना उस रामराज्यका एक चिह्न था, जिसकी नींव भोगपर न डालकर त्यागपर डाली गयी थी। शोषण, उत्पीड़न तथा दमनसे वह सर्वथा रहित था। इसी प्रकार राजा जनककी जिस विदेहस्थितिका इतना बखान किया गया है, उसका मर्म भी यही था कि राजा जनक जनकपुरीके राज्यके मालिक होते हुए भी उसका उपभोग किसी वासनाप्रधान भावनासे नहीं करते थे। वे राजा होते हुए भी 'भोक्ता' नहीं थे। त्यागभावसे राज्यका सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण उसी आदर्शके तो अनुरूप था, जिससे भगवान् इस संसार अथवा सृष्टिका सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण करते हैं। यह साधना साधारण नहीं है। कमलका पत्ता निर्जीव, वासनारहित और कामनाशून्य होनेसे जलमें रहता हुआ भी उससे स्निग्ध नहीं होता; किंतु मानवके लिये संसारमें रहकर अलिप्त रहना तभी सम्भव है, जब कि वह भोगके साथ त्यागका समन्वय करके भोगको त्यागके अधीन रख सकता है। भर्तृहरिका यह कहना कितना सत्य है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

'विश्वामित्र तथा पराशर-सरीखे महामुनि भी, जो केवल पानी, पत्तों तथा हवापर निर्भर थे, जब कमलके समान सुन्दर स्त्री-मुखको देखते ही मोहमें फँस गये, तब जो लोग दूध, घीसे मिले हुए चावलका सेवन करते हैं, उन लोगोंका यदि इन्द्रिय-संयम हो जाय, तो यह मानना चाहिये कि विन्ध्य पर्वत भी सागरमें तैर सकता है।' इस स्थितिसे मानवका उद्धार करनेके लिये ही तो हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका यह समन्वय किया गया है।

आत्मा परमात्माकी छाया होनेपर भी मानव परब्रह्मके इस आदर्शसे दूर क्यों चला जाता है? केवल आस्तिक हिंदू ही उसके आदर्शको क्यों अपना सका? इन और ऐसे प्रश्नोंका समाधान बिल्कुल स्पष्ट है। एक ही पिताके सारे पुत्र अपने पिताके अनुरूप नहीं होते। एक पिताका एक पुत्र सदाचारी बनकर संयमका उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है, तो दूसरा कदाचारका निकृष्टतम उदाहरण उपस्थितकर अपनेको और अपने माता-पिताको भी लज्जित कर देता है। एक गरीब घरमें जन्म लेकर सम्पन्न बन जाता है, तो दूसरा सम्पन्न घरमें जन्म लेकर भी कंगाल बन जाता है। महात्मा गान्धी और लोकमान्य तिलकके पुत्र यदि अपने पिता-जितना ऊँचा नहीं उठ सके, तो इसका दोष इन महापुरुषोंको तो दिया नहीं जा सकता। पिता अपने जीवनसे और अपने उपदेशसे अपनी सन्तानके सामने उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है; किंतु उसपर आचरण करना तो सन्तानपर ही निर्भर होता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्माने मानवके सामने अपने व्यवहारसे जो परम पुनीत आदर्श उपस्थित किया और अवतारी तथा सिद्ध महापुरुषोंके जीवनसे जिसका उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया, उसका उपदेश भी उसने अपनी वाणी 'वेद'के रूपमें दे दिया। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें कहा है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'इस दृश्य जगत्में जो कुछ भी है, वह सब ईश, भगवान्, परब्रह्म परमात्मासे ओतप्रोत है। उस संसारका भोग त्यागभावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।' कितना सुन्दर यह आदेश अथवा उपदेश है! यदि आजका मानव इसको अपना सके तो संयुक्त राष्ट्रसङ्घके

लंबे-चौड़े भाषणों तथा प्रस्तावों, संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाकी लंबी-चौड़ी शस्त्र-योजनाओं, रूसकी रक्तरञ्जित साम्यवादी विचारधारा और अन्तर्राष्ट्रिय जगत्‌में 'मुँहमें राम बगलमें छुरी'की तरह चली जानेवाली कुचालों तथा इसी आधारपर की जानेवाली कूटनीतिपूर्ण सन्धियों एवं सुलहनामोंके बिना भी संसारमें चिर शान्ति, स्थायी सुख और स्थिर व्यवस्था कायम हो सकती है। इसके न अपनाये जानेका दुष्परिणाम ही तो आजका मानव भोग रहा है। दुःख यह है कि आजके हिंदूकी भी इसमें उतनी आस्था नहीं रही और उसका व्यवहार भी उसके सर्वथा विपरीत अथवा प्रतिकूल हो गया है। वह भी भोगवादी बनकर त्यागमय जीवनसे दूर और बहुत दूर चला गया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आजका हिंदू यदि अपनी मर्यादापर कायम नहीं है, तो उस प्राचीन मर्यादाका कुछ भी महत्त्व नहीं है। संसारमें यदि सत्यका व्यवहार अथवा सदाचरण कम हो चला है, तो उसका यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि सत्य और सदाचरणका कुछ भी महत्त्व नहीं है। मानवका आचरण कैसा भी पतित क्यों न हो जाय; फिर भी सत्यकी निष्ठा, सत्यके आचरण और सत्यके व्यवहारका महत्त्व तो मानवके जीवनके लिये बना ही रहेगा। इसी प्रकार हिंदू-जीवनके प्राचीन आदर्श और प्राचीन मर्यादाका महत्त्व भी कम होना सम्भव नहीं है। त्याग और भोगके समन्वयकी आधारशिलापर ही हिंदू-जीवनकी प्राचीनतम किंवा सर्वप्रथम मर्यादा अथवा व्यवस्थाकी रचना की गयी थी। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ही उसका मूलमन्त्र था। इसका यह भी अर्थ किया जाता है कि 'उस भगवान्‌द्वारा त्यागे हुए अथवा दिये हुएका ही भोग करो।' अर्थात् यह समझो कि हमारा अपना कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है, वह सब उस भगवान्‌का ही दिया हुआ है, जो इस सारे संसारमें व्याप रहा है। किसी भी पदार्थमें अपनेपनकी, अपनी मालिकीकी, अपने प्रभुत्वकी भावनाका पैदा न होना भी तो त्यागभावकी ही पराकाष्ठा है। भले ही वह सांसारिक दृष्टिसे स्वयं उपार्जित किया हुआ ही क्यों न हो! आत्मोपार्जित पदार्थ-भोग भी भगवान्‌का दिया हुआ ही मानकर किया जाय, तो मनुष्यमें स्वामित्व अथवा प्रभुत्वकी भावनासे पैदा होनेवाला अहङ्कार पैदा ही न हो। भगवान्‌ने गीतामें मानवको विनष्ट या भ्रष्ट करनेवाले बुद्धिनाशका कारण जो मोह या सम्मोह बताया है, वह भी स्वामित्व या प्रभुत्वकी इसी दुर्भावनासे उत्पन्न होता है। यह मोह और अहङ्कार ही तो आजके विश्वकी सारी व्याधियोंका मूलभूत कारण है। उसको जड़मूलसे नष्ट करना तो दूर रहा, उसके पैदा होनेकी कोई सम्भावना ही न रहे—इस दूरदृष्टिसे बनायी गयी मर्यादा और व्यवस्था कितनी पवित्र, कितनी सात्त्विक, कितनी ऊँची और कितनी महान् रही होगी—इसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं होना चाहिये।

यह मर्यादा और व्यवस्था क्या थी? वर्णाश्रम-व्यवस्था इसीका नाम है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के मूलमन्त्रको सामने रखकर इसका निर्माण किया गया था। आश्रम-व्यवस्थाका सम्बन्ध मानवके व्यक्तिगत जीवनके साथ था और वर्ण-व्यवस्थाका सम्बन्ध था सामाजिक जीवनके साथ। आश्रमोंकी व्यवस्थाने मानवके जीवनको चार भागोंमें बाँटकर अभ्युदयके उत्तरोत्तर चढ़नेके लिये चार सीढ़ियाँ बना दी गयी थीं। आयुकी न्यूनतम अवधि सौ वर्ष मानकर पहले भागको ब्रह्मचर्य, दूसरेको गृहस्थ, तीसरेको वानप्रस्थ और चौथेको संन्यास नाम देकर चारोंके लिये पचीस-पचीस वर्षकी अवधि नियत की गयी थी। इसी प्रकार समाजको भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार भागोंमें बाँटा गया था। आश्रमोंमें व्यक्तिगत जीवनकी दृष्टिसे और वर्णोंमें सामाजिक किंवा सामूहिक दृष्टिसे जो-जो कर्म, कर्तव्य अथवा जिम्मेवारियाँ सौंपी गयी थीं, उनका मूलभूत आधार यही त्यागमय भोगका मूलमन्त्र था। यह लेख वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी विस्तृत व्याख्या करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखा गया है। फिर भी यहाँ यह बताना आवश्यक है कि यह व्यवस्था मानवके भोगमय स्वभावको त्यागमय बनाने अथवा भोगकी ओर पानीकी धाराकी तरह स्वाभाविक रूपसे बहनेवाली वृत्ति अथवा प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर अङ्कुश रखनेके लिये ही की गयी थी; जिससे मानव-जीवनमें भोग और त्यागका समन्वय होकर मनुष्य 'देव' बन सके। दानवताकी ओर होनेवाली मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर नियन्त्रण किंवा 'ब्रेक' लगाकर उसको देवता बनानेके लिये ही यह सारी व्यवस्था थी।

ब्रह्मचारीमें शिक्षा प्राप्त करनेपर कितना अहङ्कार पैदा हो सकता है, यह आजके विद्यार्थियोंके निरङ्कुश जीवनसे सहजमें मालूम हो जाता है। इसीलिये तो ब्रह्मचारीको गुरुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके, आश्रममें जीवन बिताने और भिक्षा-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेके लिये कहा गया। राजाओं-तकके बालकोंके लिये यही व्यवस्था थी। महाभारतके समयमें

इस व्यवस्थामें विकार पैदा हो गया। शिष्य गुरुके पास न जाकर गुरुका शिष्योंके पास आना आवश्यक हो गया। परिणाम हम सबके सामने है। द्रोणने भी यदि कौरव-पाण्डवोंको शिक्षा-दीक्षा विश्वामित्र अथवा वाल्मीकिकी तरह अपने आश्रममें ही दी होती, तो इतना अनर्थ न हुआ होता। गुरुके चरणोंमें आत्मत्याग करनेवाला विद्यार्थी या ब्रह्मचारी कभी अभिमान या अहङ्कारके वशीभूत नहीं हो सकता। गृहस्थको सब आश्रमोंका वैसे ही आधार बताया गया है, जैसे वायु सब प्राणियोंका आधार है। मनु महाराजने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
(३।७७)

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
(६।९०)

इसीलिये यह भी कहा है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
(३।७८)

दान तथा अन्नसे तीनों आश्रमोंके पालनका भार गृहस्थी-पर डालकर उसको अनुभव कराया गया है कि जैसे नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती और प्राणिमात्रके लिये उसका तट खुला रहता है, वैसे ही उसको भी अपने उपार्जित धनका उपभोग स्वयं नहीं करना है और अपने घरका द्वार सदा ही खुला रखकर भिक्षाके लिये आनेवाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका पालन करना है। त्यागमय भावनासे गृहस्थको इस प्रकार ओतप्रोत कर दिया गया है। वानप्रस्थी और संन्यासीका जीवन तो है ही त्यागमय। उनके पास तो भोगके लिये कुछ भी छोड़ा नहीं गया। यहाँतक कि संन्यासीको संसारके समस्त सम्मानका अधिकारी बनाकर भी उसको मान-सम्मानसे सदा दूर रहनेको ही कहा गया है। उसके लिये कहा गया है—

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः।

'असम्मानसे उसके तपकी वृद्धि होती है और सम्मानसे तपका नाश।'

वर्ण-व्यवस्थाका सौन्दर्य भी ऐसा ही है। एक ओर तो ब्राह्मणको सारे समाजका गुरु बताकर पूजा तथा प्रतिष्ठाका अधिकारी ठहराया गया है, दूसरी ओर उसको यह आदेश दिया गया है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

'ब्राह्मण सम्मानको विष मानकर उससे सदैव उदासीन रहे और अपमानको अमृत मानकर सदा उसीकी इच्छा करे।' भोगकी दृष्टिसे संसारका सारा सम्मान ब्राह्मणके चरणोंमें अर्पण होना चाहिये। किंतु त्याग यह है कि वह उसको विष मानकर उससे उदासीन रहे। इसीलिये यह कहा गया है—

अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धगौरिव सीदति।

'जिस ब्राह्मणकी पूजा, प्रतिष्ठा तथा सम्मान किया जाता है, वह दुही हुई गौकी तरह सूख जाता है।' शासनकी सत्ता, उसका सञ्चालन एवं संरक्षण क्षत्रियवर्गको सौंपा गया है—उपभोगके लिये नहीं, किंतु सदैव सिर हथेलीपर रखकर त्यागका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करनेके लिये। राजा सिंहासनपर बैठता था और राष्ट्रपर संकट उपस्थित होनेपर आत्मोत्सर्ग करनेके लिये वह सबसे आगे युद्ध-क्षेत्रमें प्रस्थान करता था। वैश्यके हाथोंमें व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धंधे आदि सब इसलिये नहीं सौंपे जाते थे कि वह व्यक्तिगत सम्पत्तिके अर्जनमें लग जाय। उसका प्रधान कर्तव्य राष्ट्रको समृद्ध बनाना होता था। सामूहिक, सार्वजनिक अथवा समूचे राष्ट्रकी दृष्टिसे वह सारा उपार्जन करता था और भामासाहकी तरह उसको राष्ट्रके लिये न्यौछावर करनेको तैयार रहता था। शूद्रका तो सारा जीवन ही त्यागमय है। यजुर्वेदके ३१वें अध्यायके ११वें मन्त्रमें वर्णव्यवस्थाका निर्देश किया गया है। वह मन्त्र यह है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रो अजायत॥

समाजरूपी महापुरुषकी कल्पना इस मन्त्रके अनुसार यह की जा सकती है कि ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसका बाहु, वैश्य उसका पेट और शूद्र उसके पैर हैं। मानव-शरीरका सारा व्यवहार अङ्ग-प्रत्यङ्गके उस व्यवहारपर ही तो निर्भर है, जिसका आधार त्याग और भोगका समन्वय ही है। कोई भी इन्द्रिय इस देहमें केवल अपने लिये काम नहीं करती। ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा सम्पादित होनेवाला ज्ञान सारी देहके काम आता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियोंका कर्म भी सारी देहके लिये होता है। ज्ञान एवं कर्मके रूपमें वे जो कुछ भी भोग

इनकार करके जिन पगडंडियोंका पता लगाया; वे अन्तमें सर्वथा एकाङ्गी हो गयीं। आचार्य शंकरने उनके सर्वथा विपरीत जगत्‌को मिथ्या बताकर ईश्वरका प्रतिपादन करते हुए अद्वैतवादकी जिस पगडंडीको ढूँढ निकाला, वह भी अन्तमें एकाङ्गी ही बन गयी। अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके बाद मध्ययुगके संतोंने फिरसे द्वैतका प्रतिपादन एक स्वरसे किया। लेकिन उन सबके नामसे अलग-अलग पन्थ अथवा पगडंडियाँ कायम हो गयीं। उनके बाद तो यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि हिंदू-धर्मके वास्तविक रूपको नानाविध सम्प्रदायोंने ऐसा ढक लिया कि वह हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया और हम सब इन पगडंडियोंमें ही भटकने लग गये। दुर्भाग्यकी पराकाष्ठा यह है कि मैं जिस पगडंडीपर खड़ा हूँ, उसीको मैंने असली, ठीक और अन्तिम तथा गन्तव्य मार्ग मान लिया है। इस भारी भ्रमको वास्तविक किंवा अन्तिम तथ्य मान लेनेवाला 'सत्य' पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे? यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि कहीं भ्रमसे स्वीकार किये गये उपार्जित मतके प्रति हठ न रहकर त्यागकी भावनाका समावेश हो जाय और हिंदू-समाजमें त्याग एवं भोगकी, परस्पर आदान-प्रदानकी और विचार-विनिमयकी उदात्त एवं सहिष्णु भावनाकी प्रतिष्ठा हो जाय तो वह फिरसे अपना उद्धारकर संसारके उद्धारका भी कुछ निमित्त बननेमें समर्थ हो सकता है। प्रकृतिमें जैसे दिन-रातका समन्वय है, और मानव-जीवनमें जैसे सोने-जागनेका समन्वय है, ठीक उसी प्रकार हिंदू-धारणाके अनुसार हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका समन्वय भी प्रायः स्वाभाविक रूपसे ही किया गया था। उसकी फिरसे प्रतिष्ठा करके ही वर्तमान बीमारीका उपचार बहुत अंशोंमें किया जा सकता है। इसी समन्वयका दूसरा नाम है अपरिग्रह, जिसे जैन-जीवन-व्यवस्थामें सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। उस व्यवस्थाके एकाङ्गी हो जानेसे वह व्यापकरूपसे प्रभावशाली नहीं हो सकी। वैसा अपरिग्रही, कहते हैं, पूर्व-जन्मका भी पता पा सकता है।

हिंदू-धर्ममें त्यागका स्थान

(लेखक—श्रीएस० वी० दाडेकर एम्० ए०)

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
(कैवल्योपनिषद्)

'कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, त्यागसे कोई-कोई अमृतत्वको प्राप्त होते हैं।'

'त्याग' का सांगोपांग विचार जितना हिंदू-धर्ममें हुआ है, उतना वैदिकेतर धर्मोंमेंसे बहुत थोड़े धर्मोंने किया होगा। मनुष्यमें दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं—एक भोगकी और दूसरी त्यागकी। यदि यह कहा जाय कि जीवनकी चरितार्थता इन दो वृत्तियोंका योग्य समन्वय करनेमें है तो अनुचित न होगा। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि उसने त्यागका वास्तविक मूल्य जानकर मनुष्योंसे त्यागका आचरण करानेके लिये एक ऐसी अपूर्व सामाजिक पद्धति चला दी है कि उसका अनुकरणकर पृथ्वीके सभी मनुष्य लाभान्वित हो सकते हैं।

वैदिक धर्मने त्यागका महत्त्व पूर्णरूपसे जाना है। इस लेखके ऊपर जो औपनिषद वाक्य उद्धृत है, उससे उत्कृष्ट और ओजःपूर्ण भाषामें त्यागका महत्त्व बतलाया गया है। मोक्ष अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द-की प्राप्ति यदि कोई चाहता है तो उसे स्थूल-सूक्ष्म उपाधियोंका त्याग करना ही होगा। उसीसे वह आत्मरूपको प्राप्त होगा, यही वेदान्तशास्त्र अर्थात् उपनिषदोंका निश्चित मत है। भोगसे इस स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसके लिये त्यागका होना ही आवश्यक है। आत्यन्तिक फलकी प्राप्तिके लिये आत्यन्तिक त्यागका होना उचित ही है। तुकाराम बाबा कहते हैं—'कोई लाभ यों ही नहीं होता। बिना कुछ किये जीवका उद्धार नहीं होता।' उपनिषदोंमें एक वचन है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।
(बृहदारण्यक० ३ । ५ । १)

'पूर्वोक्त इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर उठकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए विचरते हैं।'

भगवान्‌को पानेके लिये त्याग करना पड़ता है, यह सिद्धान्त प्रायः सभी धर्मोंमें स्वीकृत है। ईसाने अपने शिष्योंसे कहा, 'सब कुछ छोड़ो और मेरे पीछे-पीछे चलो।'

(Abandon all and follow me) बौद्ध-धर्म तो 'सर्वं क्षणिकम्, सर्वं दुःखम्' कहकर भिक्षु बन जानेका उपदेश करता है। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि इसने मनुष्य-स्वभावको ठीक-ठीक समझकर यह सिखलाया है कि त्याग किस प्रकार किया जा सकता है। वैदिक धर्मकी 'आश्रम-व्यवस्था' का उद्देश्य ही क्रमशः त्याग करनेकी शिक्षा देना है। 'आश्रमव्यवस्था' शब्दोंसे भी 'अन्त भागमें अन्तर स्थानतक पहुँचानेवाली व्यवस्था' यही अर्थ सूचित होता है।

वैदिक धर्ममें ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है। इसमें जीव विद्याध्ययन करे, पीछे अपनी मानसिक, बौद्धिक आदि सामर्थ्यके अनुसार आगे बढ़े।

बौद्ध-धर्मके समान हमारा धर्म सबसे त्याग करनेको नहीं कहता। संन्यासमें सबका अधिकार नहीं है, सब ब्राह्मण भी संन्यासके अधिकारी नहीं होते। संन्यास ग्रहण करके सब उसे पचा भी नहीं सकते। जो पचा नहीं सकते, उनका त्याग उनके लिये एक भोग बन जाता है। अतः हमारा धर्म सबको समानरूपसे त्याग या भोग करनेको नहीं कहता। यह बात जितनी सच है, उतनी ही सच यह बात भी है कि शुकाचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज अथवा स्वामी विवेकानन्द-जैसे निष्कलंक महापुरुषोंसे, जो आरम्भसे ही त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं, हमारा धर्म भोगका आग्रह नहीं करता। उनसे तो धर्म यही कहता है कि 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद ही संन्यास लेकर बाहर निकल पड़ो।' दूसरोंके लिये धर्मका यह उपदेश है कि 'ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही बनो।' यह जो लचीलापन है, इसीमें हमारे धर्मकी एक महान् विशेषता है।

पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके कारण बचपनमें ही जिनका चित्त ईश्वरकी ओर लग जाता है, उनसे हमारा धर्म गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेको नहीं कहता। श्रीरामकृष्ण परमहंससे हमारा धर्म यह नहीं कहता कि आप पाठशालामें अध्यापकी करते हुए कर्म-मार्गका ही अनुसरण करें। सतीका बाना वही धारण करे, जो उसे निबाह सके। वह हर किसीका काम नहीं है, हर किसीको धर्म उसका उपदेश नहीं करता। सब लोगोंको एक ही साँचेमें ढालनेका अशास्त्रीय उद्योग वैदिक धर्म नहीं करता। सबका परम गन्तव्य स्थान एक ही है; तथापि यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न मार्गसे चलकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पहुँचे हैं। जो जहाँ पहुँचा है, वहाँसे उसे आगे बढ़नेको कहना उचित है। अस्तु! त्रिगुणात्मक है। वह एक साथ एकदम सत्त्वगुणात्मक हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

बौद्ध-धर्मका [illegible] स्वयं बुद्धदेवको पसन्द नहीं था। [illegible] कहा जाता है कि एक बार बुद्धदेवसे [illegible] हुई कि [illegible] भी प्रवेश हो। [illegible] बुद्धदेवसे प्रार्थना की, [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है [illegible]।' [illegible] प्रवेश [illegible] किया। [illegible] स्पष्ट कह दिया कि [illegible] यह धर्म हजार, पाँच सौ वर्षसे अधिक अस्तित्व नहीं रखेगा।

[illegible] हिंदू धर्मने [illegible] ब्रह्मचर्यके बाद [illegible] गृहस्थाश्रम रखा। हिंदू-धर्मकी यह दूसरी विशेषता है। भोगवासनाका महत्त्व उसे ज्ञात था, पर वस्तुस्थितिकी उसने उपेक्षा नहीं की। मनुष्यको काम या भोगकी वासना होना स्वाभाविक है। समुद्र जैसे अपने तरङ्गोंके साथ ही रहता है अथवा चन्दनवृक्षके मूलमें जैसे साँप रहता है, वैसे मनके अंदर काम रहता है। फ्रायडने अब जिस बातको कहा है, उसे हमारे शास्त्रकार पहलेसे जानते थे और उसे उचित स्थान देनेके लिये उन्होंने गृहस्थाश्रमको एक पवित्र आश्रम माना। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कामको अपनी विभूति बतलाते हैं, पर वह काम 'धर्माविरुद्धः'—धर्मके अविरुद्ध होना चाहिये। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, पञ्चम अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक प्रसिद्ध है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

'संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यके सेवनमें प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके लिये कोई वेदाज्ञा नहीं हुआ करती। (कहीं-कहीं) विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञ आदिमें इनके लिये जो अवकाश दिया जाता है, उसका हेतु उच्छृङ्खलताका निवारणकर मर्यादा स्थापित करना होता है। निवृत्ति ही वास्तवमें इष्ट है।'

पैठणके प्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजने इस श्लोकका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण अपने ग्रन्थमें किया है। उसमें कहीं कुछ अश्लीलताकी गन्ध आ सकती है; पर शास्त्र-रहस्य देखना है, इसलिये उसका अवतरण यहाँ देना आवश्यक प्रतीत होता है—'विषयोंमें जो उच्छृङ्खल हैं, उन्हें वेदो-

ने नियमोंमें नियत कर दिया। वेदोंकी इस विषयमें जैसी आज्ञा है, वह तुम्हें सुनाता हूँ। मैथुनके विषयमें योनिभ्रष्टोंको नियन्त्रित करनेके लिये विवाह-संस्था प्रतिष्ठितकर वरिष्ठ वर्णको अपनी निष्ठामें नियत किया। ब्राह्मणको धोबिनके पास जाना कड़वा नहीं लगता, न धोबीको ब्राह्मणीके पास जाना तीता लगता है। चाहे जिस जातिकी स्त्री और चाहे जिस जातिका पुरुष—ऐसे मैथुनसे योनिसंकर होता है। उससे बचनेके लिये वेदोंने विवाहका नियम लगा दिया। ऋतुकालमें जो स्त्रीगमन करते हैं, ऐसे पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। वेद स्वयं निवृत्तिपरक हैं। त्यागरूपसे ही वे भोगका नियमन करते हैं। 'आत्मा वै पुत्र नामासि।' उस पुत्रके होनेपर वेद धीरे-धीरे भोगविषयक अपनी आज्ञाका त्याग कराते हैं।

गृहस्थाश्रममें गृहस्थ-धर्मकी अनुज्ञासे प्राप्त भोग भोगे, पर भोगासक्त न रहे। 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' कहकर उसका महत्त्व गाया गया है। पर गृहस्थको इस आश्रमसे प्राप्त करना है—'वैराग्यका अचल पद'; यह बात वह न भूले।

जीवको परमार्थ-पथपर चलना है, यह सही है। पर इसके साथ हमारे धर्मकी यह शिक्षा है कि इस पथपर चलते हुए वह दूसरोंका भी कल्याण-साधन करे। ज्ञानदेवका दिया हुआ एक सुन्दर दृष्टान्त दोहराकर यों कहा जा सकता है कि गङ्गाजी समुद्रसे मिलने चलती है, पर रास्तेमें कितने काम करती-करती चलती हैं। पापियोंके पाप-ताप नष्ट करती हैं, तटवर्ती वृक्षोंको सींचती हैं; इस तरह बहता गङ्गाका जल समुद्रमें जा मिलता है।' इसी प्रकार मनुष्य अन्य अनेक जीवोंका कल्याण-साधन करता हुआ अपने ध्येयको प्राप्त हो, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है।

पहला आश्रम पूँजी इकट्ठी करनेके लिये है और दूसरा आश्रम उसी पूँजीको समाजकी सेवामें लगानेके लिये है। गृहस्थाश्रममें भोग विधेय है, पर उसके साथ बहुत बड़ा त्याग करनेको भी कहा गया है। कुटुम्बका पालन करना, समाज-को धारण करना इत्यादि गृहस्थाश्रमके ही मुख्य कर्तव्य हैं। इस प्रकार भोगसे वासनाओंका क्षय होनेपर ही वह वान-प्रस्थाश्रम ग्रहण करनेका अधिकारी होता है। 'त्याग' भीतरसे होना चाहिये; ऊपरी त्याग मिथ्या होता है और दम्भका कारण बनता है। गीता जिसे 'मिथ्याचार' कहती है, उसीमें उसकी परिणति होती है। इससे न उस व्यक्तिका कल्याण होता है, न उसके द्वारा समाजका ही। वैदिक धर्म भीतरसे त्याग करनेको कहता है और आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा इसकी शिक्षा देकर इसके लिये तैयार करता है। गीता, उपनिषद् और सब साधु-महात्मा यही उपदेश करते हैं कि 'सब विषयोंका त्याग सर्वथा मनसे ही करना चाहिये।' अन्यथा विषयोंका ध्यान बना रहा तो उलटा ही परिणाम होगा, यही गीता बतलाती है। वासनाक्षय होनेपर वह वानप्रस्थाश्रममें सहधर्मिणीको सङ्ग लेकर वनमें रहे; पर रहे 'संयोगी वियोग' पद्धतिसे। ऐसे कठिन अनुशासन और तप-से तपकर उज्ज्वल हुआ गृहस्थाश्रमी संन्यासका अधिकारी होता है।

संन्यासाश्रम हमारे आश्रममन्दिरका शिखर है। वह अतिशय पवित्र और उच्च है। 'संकल्प'का त्यागकर जो संन्यासी होता है, वही सच्चा संन्यासी है। वैदिक धर्ममें संन्यासका स्थान कितना ऊँचा है, यह बतलानेवाली एक बात सबके सामने है। मनुष्य जब मर जाता है, तब वैदिक धर्मानुसार उसकी लाश जलायी जाती है। पर संन्यासीका मृत शरीर गाड़ा जाता है, उसपर उसका समाधि-मन्दिर बनता और वहाँ उसकी पूजा की जाती है। सर्वस्वका त्यागकर जिसने अपना जीवन त्यागमय बना लिया, जिसने अपने शरीर, मन और इन्द्रियोंके संकल्प-पङ्क धोकर उन्हें पवित्र कर लिया, वैदिक धर्म उसे इतना सम्मान देता है।

इन सब बातोंसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गयी होगी कि हमारे धर्मकी आश्रमव्यवस्थाने भोग करते-करते त्यागका ध्येय लाभ करनेका मार्ग दिखा दिया है। मुक्त होनेके लिये आश्रमसंन्यास लेना ही होगा, ऐसा भी कोई आग्रह हमारे धर्ममें नहीं है। सनक-सनन्दनादिके समान जनकादिकोंके भी उदाहरण इसने जगत्‌के सामने रक्खे हैं। वैदिक धर्मकी यह बहुत बड़ी महत्ता है। गीतामें इसीको 'सब कुछ करके भी कुछ न करना, अकर्ता बने रहना' कहा गया है। यही भोग और त्यागपूर्ण समन्वय साधित हुआ है।

वैदिक धर्मकी आश्रमव्यवस्था निर्माण करनेवाले ऋषियोंको आधुनिक मनोविज्ञानके सिद्धान्त जाननेका कोई अवसर मिलना सम्भव ही नहीं था। तथापि जो समाज-व्यवस्था उन्होंने निर्माण की, वह मानव-मनोविज्ञानका गभीर अध्ययनकर आजके मनोवैज्ञानिकोंने जो सिद्धान्त निकाले हैं, उनकी कसौटीपर ठीक ही जँचती है। हमारे मनु आदि ऋषियोंने लॉके आदि अंग्रेज तत्त्ववेत्ताओंके समान कभी यह न माना कि मनुष्यका मन अलिखित अथवा कोरी शिला

(Tabula Rasa) है। इंग्लैंड तथा अन्य पाश्चात्य देशोंमें कुछ कालतक इस मतका बड़ा बोलबाला था। पीछे मनोवैज्ञानिक मानव-मनका ज्यों-ज्यों अधिक गम्भीर अध्ययन करने लगे, त्यों-त्यों उनकी समझमें यह बात आने लगी कि मन ऐसा नहीं है जैसा कोई कोरा कागज हो, बल्कि पहलेसे उसपर कुछ संस्कार अङ्कित रहते हैं और इन संस्कारोंके साथ ही मनुष्यका जन्म होता है। पाश्चात्योंमें देकार्टका मत विशेष तथ्ययुक्त था। उसके अनुयायियोंने पीछे उसके असली मतको बहुत कुछ बदल डाला, यह बात दूसरी है। विलियम मेकडूगलने अपनी 'दि ग्रुप माइंड' नामकी पुस्तकमें लिखा है—'विभिन्न वंशोंमें परस्पर संस्कारजन्य भेद होते हैं।' पर संस्कारोंको कुछ न माननेका मत जो लॉकने चलाया, वह ऐसा चला कि असली चीज दब गयी और उसके कुफल लोगोंको चखने पड़े। हमारे भारतीय समाजकी दृष्टिसे तो मैकडूगलके विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारतवर्षका राज्यशासन करते हुए अंग्रेजोंने मनोविज्ञानके कुछ अपसिद्धान्तोंको मानकर जैसे कानून चलाये, उनसे राष्ट्रमें एकता और सुख-समृद्धिके बदले एक तरहका अंधेर मचा हुआ है। सन् १९२० में ही इस महान् व्यक्तिने यह भविष्य लिख रक्खा था। उसकी पुस्तकसे कुछ महत्त्वपूर्ण अवतरण नीचे देते हैं—

'सहज गुणोंकी कोई सार्थकता न माननेवाला यह मत, उस समयके मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुरूप और उसीसे निर्धारित था। लॉकके समयसे यह मत चला। इस मतके अनुसार नवजात शिशुका मन बिना किसी संस्कारका, बिल्कुल कोरा और सब मनुष्योंमें एक-सा होता है; कोई ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ उसमें नहीं होतीं, जो विचारणीय हों। इस कोरे मनपर वैयक्तिक अनुभूति अङ्कित होती और विचार-साहचर्यके सिद्धान्तानुसार उसका सम्पूर्ण विस्तार साधन करती है।

'अंग्रेजोंने अपने अधीनस्थ देशों और उनके अधिवासियोंके साथ, विशेषतः भारतवर्षके साथ जिस नीतिका अवलम्बन किया, उसमें स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे यह मत बहुत कुछ प्रतिफलित हुआ है। मतका व्यवहारपर कितना प्रभाव पड़ता है और मतकी इस कार्य-कारिताकी उपेक्षा करनेमें कितनी हानि होती है, इसका यह एक बड़े मार्केका उदाहरण है। मत हमें प्रभावित करते हैं निश्चय ही; पर हम ऐसा दरसाते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है। हमें अपने लिये ही यह स्पष्ट कर लेना चाहिये कि हमारे क्या-क्या मत हैं—चाहे हम अपने आपको व्यवहारमें सर्वथा उन्हींके द्वारा परिचालित न होने देते हों।' (पृ० १०९)

'मानव-शिशुका मन कोरा कागज नहीं है, उसकी आन्तरिक रचनामें बहुत-सी सहज वासनाएँ, बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनसे विचार, भाव और कर्मके सम्बन्धमें एक विशेष दिशा निश्चित होती है। इस बातकी मान्यतासे यह मत स्वीकृत होता है और इन विभेदोंको ठीक तरहसे लक्षित करनेका एक अवसर मिल जाता है।' (पृ० १२०)

'भारतके अंग्रेजी शासनमें 'जातिके नाते जातिका जो महत्त्व है, उसकी उपेक्षा की गयी और संस्कृति तथा संस्थाओं द्वारा गठनका जो कार्य होता है, उसको काल्पनिक महत्त्व प्रदान किया गया—जैसा कि लार्ड मेकालेके पक्षग्राहक सुन्दर प्रतिपादनसे व्यक्त होता है। इसीका यह फल है कि आजसे ८० वर्ष पहले इंग्लैंडने भारतके करोड़ों मनुष्योंको अपनी संस्कृति और संस्थाओंसे विभूषित करनेका काम आरम्भ किया। यह काम पूरा और व्यापक नहीं किया गया; जैसे-तैसे जो कुछ हुआ, उतनेसे ही इस प्रयासका जो परिणाम हुआ, उसका अनौचित्य हम कुछ देख सकते हैं। उत्तम निरीक्षकोंका यह कहना है कि यदि यह काम पूरा हुआ होता और प्रातिनिधिक शासनके सूत्र देशके अधिवासियोंके हाथोंमें सौंप दिये गये होते तो कुछ ही वर्षोंमें सारे देशमें अंधेर और अराजकता मच जाती। हमलोगोंने इस देशको जिस हालतमें पाया था, वैसी ही हालत फिर हो जाती। कुछ दूसरे लोग इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं और उनके इस कहनेमें सत्यका कुछ आभास भी है कि पाश्चात्त्य संस्कृति भारतीय मति और नैतिक प्रकृतिके लिये वस्तुतः हानिकारक है।' (पृ० ११७-११८)

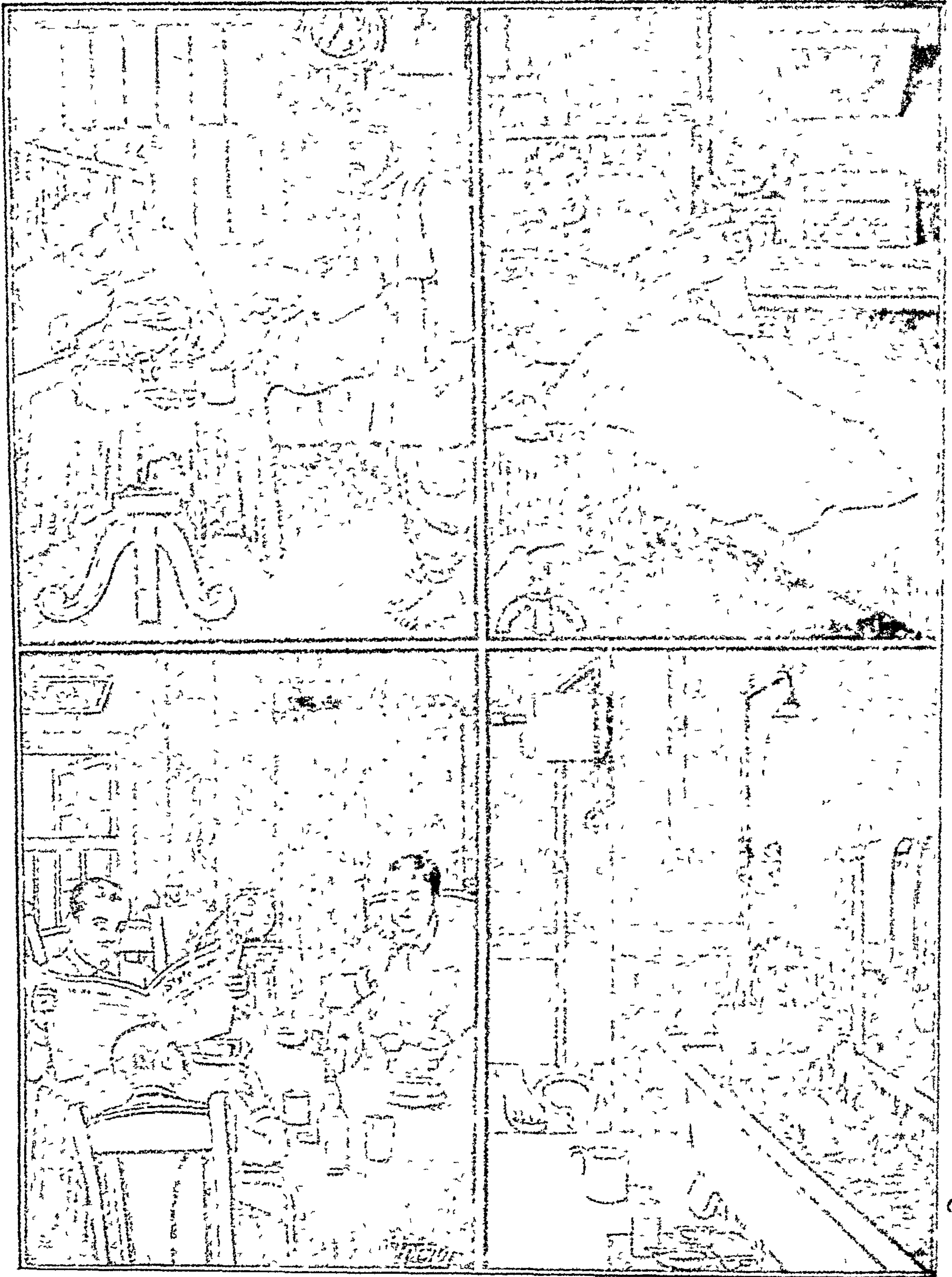
जब कोई श्रेष्ठ पुरुष दुर्भाग्यसे किसी अर्ध सत्यका प्रतिपादन करने लगते हैं, तब उसका परिणाम समस्त समाज और राष्ट्रको भोगना पड़ता है। पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी विशेषता यह है कि मनुष्यमें बुद्धि है। इस बुद्धिसे वह जितना भयङ्कर और व्यापक परिणामवाला अपराध कर सकता है, उतना जानवर नहीं कर सकता। इसी प्रकार बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रमादशील विचार-पद्धतिका भी भयानक दुष्परिणाम होता है और वह सारे राष्ट्रको भोगना पड़ता है। अंग्रेजोंने प्रमादयुक्त मनोविज्ञानके अपसिद्धान्तोंके आधारपर निर्मित लोकतन्त्रको भारतमें संस्थापित करनेकी

सांस्कृतिक प्रातःकाल



पहले प्रातः-स्नान और फिर संध्या-वंदन, पूजा-ध्यान ।
६१ नित्य होम करते गृहस्थ सब, श्रद्धासे देते गोदान ॥

असांस्कृतिक प्रातःकाल



दिन चढ़ आया, खुली नींद अब, पीने लगे 'बेड टी' (Bed-tea) लेट ,
हाथोंमें अखबार आ गया, मुँहमें सुलग रही सिगरेट ।
काफी, चाय, सिगार दोस्तको दे फिर आप बनाते बाल ,
पाखानेके बाथरूममें नहा-नहा हो रहे निहाल !

नींव डाली। भारतके स्वाधीन होनेपर भी अंग्रेजोकी यह भूल दुर्भाग्यक्रमसे भारतके नेताओके ध्यानमे न आयी और वे एकजातीय राष्ट्र बनानेके काममे लगे हैं। परंतु यह उद्योग अशास्त्रीय है और इसके दुष्परिणाम राष्ट्रको भोगने पड़ेंगे। मैकडूगल प्रभृति महान् मनोवैज्ञानिकोका यही मत है। इस ओर भारतके नेताओका ध्यान दिलाना आवश्यक है।

वैदिक धर्मने संस्कारोपर ध्यान रखकर मनुष्योके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—त्रिगुणात्मक विभाग किये हैं और इसपर वर्णाश्रम-व्यवस्था खड़ी की है। 'जैसा जिसका अधिकार है, वैसा ही उसके लिये उपदेश है। जितना भार जो उठा सकता है, उतना ही उसपर रक्खा जाता है।' यही व्यवस्था इस सिद्धान्तका आधार है। हर किसीको 'शनैः-शनैः' त्याग करना सिखलाकर व्यक्ति और समाजको उन्नत अवस्था प्राप्त करानेका प्रयत्न हमारे धर्मने किया है। अन्यत्र कही ऐसा प्रयत्न नही देख पड़ता, यह कहे तो अन्यथा न होगा।

धर्म-शब्दका लक्षण और रहस्य

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०)

वेदमें लिखा है—'धर्मं चर', धर्म करो; 'धर्मेण सुखमासीत', धर्मसे सुख होता है; 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्', धर्ममें प्रमाद या असावधानी नही करनी चाहिये। अब देखना यह है कि वह धर्म क्या है, जिससे सुख मिलता है। इसका विचार करनेके लिये सबसे पहले 'धर्म' शब्दके अर्थकी ओर ध्यान देना चाहिये।

'धर्म' शब्द व्याकरणकी रीतिसे 'धृञ् धारणे' धातुके आगे 'मन्' प्रत्यय लगानेसे बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—

१. ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः—जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है।

२. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः—जो लोकको धारण करे, वह धर्म है।

३. ध्रियते यः स धर्मः—जो दूसरोसे धारण किया जाय, वह धर्म है। महाभारतमे धर्मका यह लक्षण बताया गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
(कर्ण० ६९। ५८)

'धारण करनेसे लोग इसे धर्म कहते है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारणके साथ रहे, वह धर्म है—यह निश्चय है।'

इससे सिद्ध होता है कि 'धर्म' बहुत व्यापक शब्द है। अमरकोषकारके अनुसार 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं; यथा—१ सुकृत या पुण्य, २ वैदिक विधि-यागादि, ३ यमराज, ४ न्याय, ५ स्वभाव, ६ आचार, ७ सोमरसको पीनेवाला। अन्य कोषोमे धर्मके ये अर्थ लिखे मिलते हैं—१ शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले भावी फलका साधनस्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्यरूप भाग्य, २ श्रौत और स्मार्त धर्म, ३ विहित क्रियासे सिद्ध होनेवाला गुण या कर्म-जन्य अदृष्ट, ४ आत्मा, ५ देहको धारण करनेसे जीवात्मा, आचार या सदाचार, ६ वस्त्रका गुण, ७ स्वभाव, ८ उपमा, ९ याग आदि, १० अहिंसा, ११ न्याय, १२ उपनिषद्, १३ धर्मराज या यमराज, १४ सोमाध्यायी, १५ सत्सङ्ग, १६ धनुष, १७ ज्यौतिष-मतमे लग्नसे नवम स्थान या भाग्य-भवन, १८ दान आदि।

किंतु 'धर्म' शब्दका धातुगत अर्थ तो 'धारण करना' ही होता है। निरुक्तमे 'धर्म' शब्दका अर्थ 'नियम' बताया गया है। इन दोनोके मेलसे 'धर्म' शब्दका यही वास्तविक अर्थ होता है कि जिस नियमने इस लोक या संसारको धारण कर रक्खा है, वही धर्म है।

आगे बताया जायगा कि वह नियम कौन-सा है, जिसने इस लोक या ससारको धारण कर रक्खा है और किन नियमोके अनुसार चलनेसे सुख होता है; क्योंकि वेदमे लिखा है कि धर्मसे सुख होता है। लोकमे भी कहते हैं—'धनाद्धर्मं ततः सुखम्', धनसे धर्म होता है और धर्मसे सुख होता है। यह सुख दो प्रकारका है—एक तो इस लोकका सुख और दूसरा परलोकका सुख। इसलिये जिससे इन दोनों प्रकारके सुखोकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। सभी लोग सुखके लिये ही प्रयत्न करते हैं और उसका साधन धर्म है; अतएव वैशेषिक दर्शनके रचयिता पूज्यपाद महर्षि कणादने धर्मका यह लक्षण किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

'जिससे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण या मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

इस धर्मका मूल या जड़ वेद है, मनु महाराजने कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (२ । ६)

'समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-वेद धर्मका मूल है।'

श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्ट कहा है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
(६ । १ । ४४)

'वेदमें कहा हुआ धर्म है और उससे विपरीत अधर्म है।'

दूसरा धर्मका यह लक्षण है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।

'वेदमें जिसकी प्रेरणा की गयी है, वह पदार्थ धर्म है।' अर्थात् वेदमें लिखे अनुसार कर्म करना धर्म है और उसमें निषेध किये हुए कर्मका न करना भी धर्म है। वेदमें लिखे हुए वर्णाश्रम-धर्मोंका न करना और मना किये हुए कर्मोंका करना अधर्म है।

धर्मका तीसरा लक्षण है—

वेदविहितत्वम् ।

'जो वेदमें कहा गया है, वह धर्म है।'

धर्मका चौथा लक्षण यह है—

क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिकाः ।

'क्रिया या कर्मद्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्मका लक्षण है—यह लौकिक पुरुषोंका मत है।'

धर्मका पाँचवाँ लक्षण इस भाँति कहा गया है—

सत्याज्जायते, दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति ।

'धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है, दया और दानसे वह बढ़ता है, क्षमामें वह निवास करता है और क्रोधसे उसका नाश होता है।'

मनुस्मृतिमें धर्मका छठा लक्षण यह बताया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(२ । १२)

'वेद, स्मृति या धर्मशास्त्र, सदाचार या सत्पुरुषोंका आचरण और अपनी आत्माकी प्रसन्नता—यह चार प्रकारका धर्मका लक्षण (परिचायक) है।'

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः प्रकीर्तितः ।

'श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) में जो कहा गया है, वह धर्म कहलाता है।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥
(२ । ९)

'श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए धर्मको करता हुआ मनुष्य इस लोकमें यशको पाता है और मरकर परलोकमें उत्तम सुख या मोक्षको प्राप्त होता है।'

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥
(१ । १०८)

'श्रुति और स्मृतिमें वर्णित सदाचार परम धर्म है। इसलिये अपने आत्माको जाननेवाला (आत्मज्ञानी) द्विज सदा सदाचारसे युक्त रहे।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

'एक धर्म ही ऐसा मित्र है, जो मरनेपर भी जीवके साथ जाता है; और सब तो शरीरके नाशके साथ ही छोड़कर चले जाते हैं।'

वेदमें धर्मके तीन स्कन्ध बताये गये हैं—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छा० २ । २३ । १)

'धर्मके तीन स्कन्ध या विभाग या आधारस्तम्भ हैं। यज्ञ, अध्ययन या स्वाध्याय और दान—यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर लेता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित (चतुर्थाश्रमी संन्यासी) अमृतत्वको प्राप्त होता है।'

इसी 'धर्म' शब्दके पहले 'स्व' जोड़नेसे 'स्वधर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'अपना वर्णाश्रम-धर्म' होता है। उसीके पूर्व 'पर' जोड़नेसे 'परधर्म' शब्द बनता है। उससे तात्पर्य अपने वर्णाश्रम-धर्मको छोड़कर दूसरे पुरुषके वर्णाश्रम-

धर्मसे है। उसीके पहले 'वि' उपसर्ग लगानेसे 'विधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ 'विगतः धर्मेण विधर्मः' होता है। जो अपने धर्मसे गिर जाय अर्थात् जो धर्मान्तरित हो जाय, वह विधर्म है। श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मोंको छोड़कर सब धर्म विधर्म हैं। अतः अपने धर्मको छोड़कर अन्य धर्मको स्वीकार करनेवाला 'विधर्मी' कहा जाता है। उसीके पहले 'कु' उपसर्ग लगानेसे 'कुधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ—'कुत्सितः धर्मः कु र्मः' अर्थात् जो धर्म निन्दाके योग्य हो, वह कुधर्म है। कुधर्म पापाचरण या बुरे आचरणको कहते है। 'कुधर्म' शब्दका एक अर्थ और भी होता है; वह यह कि जो धर्म अन्य धर्ममें बाधा दे, वह 'कुधर्म' कहाता है। यथा—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

"जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा दे, वह धर्म नहीं है, किंतु 'कुधर्म' है। जो धर्म समस्त धर्मोंका अविरोधी है, वही यथार्थ धर्म है।" धर्मके पहले 'नञ्' जोड़नेसे 'न धर्मः अधर्मः' अधर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ—जो धर्मसे बिल्कुल विपरीत हो, वह अधर्म कहाता है। इस अधर्मके पाँच भेद हैं—विधर्म १, परधर्म २, धर्माभास ३, उपधर्म ४ और छलधर्म ५। इनमेंसे 'विधर्म १ और परधर्म २' के अर्थ तो ऊपर लिखे जा चुके हैं। पाखण्डाचार या दम्भ अर्थात् ढोंगको उपधर्म कहते हैं। अपने ही मनसे किसी कामको धर्म कहकर करना 'धर्माभास' है। प्रचलित अर्थको छोड़कर दूसरे प्रकारका अर्थ करके जिस धर्मकी व्याख्या की जाय, वह छल-धर्म है। ऊपर कुधर्मका भी अर्थ लिखा जा चुका है। इन छहों प्रकारके अधर्मोंका परित्याग करना धर्म है। अपना स्वधर्म ही सबको शान्तिदायक होता है। भगवान्‌ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

'स्वधर्ममें मरना श्रेष्ठ है, परधर्म भयकारी है।' समस्त प्राणियोंका वही परम धर्म है, जिससे भगवान्‌में निष्काम, अटल और अचल भक्ति हो और जिसके करनेसे आत्मा प्रसन्न होती हो। जिस ओर धर्म होता है, उसकी जय होती है। कहा भी है—

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

'धर्मसे रोग नष्ट होते हैं, धर्मसे ग्रहोंकी पीड़ा मिटती है। धर्मसे शत्रु-नाश होता है; जहाँ धर्म होता है, वहाँ विजय होती है।'

अब यह विचारना है कि धर्मरूप नियम क्या है, जिसने इस सृष्टि-क्रियाको धारण कर रक्खा है और उसकी किस अवस्थाको धर्म और किस अवस्थाको अधर्म कहते हैं? यह बड़ा गहन तथा सूक्ष्म विषय है। अतः इसे सावधान होकर समझना चाहिये। इस सृष्टिके तीन गुण हैं, जिनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीनों गुण सृष्टिकी समस्त वस्तुओंमें देखनेमें आते हैं। इनमेंसे रजोगुणसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, सत्त्वगुणसे स्थिति और तमोगुणसे संहार या प्रलय होता है। यह समस्त जगत् इन तीन अवस्थाओंके वशीभूत है तथा कोई भी पदार्थ या जीव इस सारी सृष्टिमें नहीं है जो उत्पत्ति, स्थिति और लय—इन तीन अवस्थाओंसे बचा हुआ हो। ईश्वरके रचे हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें ब्रह्माजीसे लेकर स्तम्ब या तृणपर्यन्त अथवा अगणित ग्रह-समूहसे लेकर मिट्टीके क्षुद्र दाने या कणतक सब इन तीन अवस्थाओंके अधीन हैं। उसी प्रकार यह जीव-प्रवाह भी इसी नियमके अधीन रहता हुआ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जीव जन्म लेता है, बढ़ता है और मरता है। इसी अवस्था-भेदसे जीवकी सृष्टि, स्थिति और मुक्ति भी समझी जा सकती है। जैसे अहङ्कार या अहं-तत्त्वसे मोहित होकर जीव पहले-पहले कर्म-प्रवाहमें बहा अर्थात् उसकी उत्पत्ति हुई। पुनः वह कुछ कालतक इस सृष्टिके साथ बहता रहा, अर्थात् कुछ कालतक उसकी स्थिति रही। और अन्तमें अपने असली स्वरूप अर्थात् ब्रह्मको पहचानकर वह इस माया-प्रवाहसे उपरामको प्राप्त हो गया, अर्थात् उसका मोक्ष या ब्रह्ममें लय या ब्रह्ममें सद्भाव हो गया। ये ही तीन अवस्थाएँ प्रत्येक जीवकी होती हैं। अतः धर्म वही है, जो इस क्रियाके स्वाभाविक नियमको बाधा न दे। और अधर्म वह है जो इस नियममें बाधा करे। दूसरे शब्दोंमें जीव सृष्टि-प्रवाहमें पड़नेके अनन्तर क्रमशः अपने गुण-भेदके कारण उन्नत होता हुआ मुक्त होगा। इस क्रमोन्नतिमें जो कर्म सहायक हो, वह धर्म है और इस क्रमोन्नतिमें जो बाधा दे, वह अधर्म है। जो कर्म इस उन्नतिको सरल बनानेमें सहायता दे, वह धर्म कहायेगा और जो कर्म उन्नतिसे अवनतिकी ओर ढकेलेगा, वह अधर्म कहायेगा। इसीलिये सनातन-धर्मावलम्बियोंके खाने, पीने, सोने, जगने, उठने, बैठने, कहने, सुनने, पहनने, जाने, आने आदि प्रत्येक कर्मके साथ धर्म और अधर्मका दृढ़ सम्बन्ध रक्खा गया है। जिस कर्मसे तमोगुण और रजोगुणकी निवृत्ति हो और सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही धर्म-पद-वाच्य कर्म होगा और जिस कर्मसे सत्त्वगुणकी हानि और रजोगुण तथा तमोगुणकी वृद्धि हो, वह अधर्म-पदवाच्य कर्म होगा।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहे हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥
(१४। ९)

'हे भरतवंशिन्! सत्त्वगुण सुखमें आसक्त करता है; रजोगुण कर्ममें प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमाद, आलस्य और निद्रामें लगाता है।'

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। एक पुरुष दिनको नींद लेता है। दिनमें नींद लेना धर्म होगा अथवा अधर्म, इसका निश्चय करनेमें हमें यही विचारना चाहिये कि दिनमें सोनेसे किस गुणकी वृद्धि और किस गुणकी हानि होगी। दिनमें सोनेसे तमोगुणकी वृद्धि होना अनिवार्य है; क्योंकि तमोगुणका फल अज्ञान है, जो सबको मोहित करता है और प्रमाद, आलस्य और निद्राद्वारा बन्धनका कारण होता है। इसलिये तमोगुणकी वृद्धि करनेके कारण दिनमें सोना जीवकी क्रमोन्नतिमें बाधा करता है। अतएव यह दिनको सोनारूप कर्म अधर्मका कारण हुआ। क्योंकि जीवमें जितना तमोगुण या अज्ञान स्पर्श करेगा, उतना ही जीव जडताको प्राप्त होता जायगा और जो कर्म जितना ही सत्त्वगुणकी वृद्धि करेगा, उतना ही जीव चैतन्यको प्राप्तकर मुक्ति अथवा लयकी ओर आगे बढ़ेगा।

इसी प्रकार सभी प्रकारके कर्मोंको इस कसौटीपर कसनेसे उनके विषयमें धर्म और अधर्मका निर्णय सहजमें किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तपर स्थूल और सूक्ष्म भेदसे धर्म और अधर्मका विवेकद्वारा निश्चयकर मनुष्यको प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। यही धर्मका रहस्य है। इसी धार्मिक नियमसे सारी सृष्टिका प्रवाह चलता है। भगवान् स्वयं ही धर्मरूप हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

धर्मोऽहं वृषरूपधृक्। (भा० ११। १७। ११)

'तप, शौच, दया और सत्य नामके चार पैरोंवाले वृषका रूप धारण करनेवाला धर्म मैं (भगवान्) स्वयं हूँ।'

विष्णुसहस्रनाममें भी लिखा है—

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी।

'धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मको बनानेवाले और समस्त धर्मोंके आधार स्वयं भगवान् हैं।'

इसीलिये शास्त्रोंमें लिखा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका परित्याग करनेपर वह उस पुरुषका नाश कर देता है और रक्षा या पालन किया हुआ धर्म इस पुरुषकी रक्षा करता है।'

भगवान् धर्मके स्वयं प्रभु—चलानेवाले या स्वामी हैं—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।

'धर्म आचार या सदाचारसे उत्पन्न होता है। उस धर्मके अच्युतभगवान् प्रभु या चलानेवाले या रक्षक हैं।'

इसलिये धर्म सदा पालन करनेयोग्य वस्तु है, वह हँसी या मजाक उड़ानेकी चीज नहीं है।

शास्त्रोंमें लिखा मिलता है—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः।

सर्वदेवतामय भगवान् धर्मकी जड़ या आधार हैं। भगवान् स्वयं धर्म और धर्मके जाननेवाले हैं। यथा—

धर्मो धर्मविदुत्तमः।

भागवतमें लिखा है कि भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं—

धर्मावनायोरुकृतावतारः। (६। ८। १९)

भगवान्ने ही धर्मरूपी नियमको बनाया है, वे स्वयं उसकी पाबंदी रखते हैं तथा औरोंसे रखवाते हैं—यहाँतक कि वे धर्मकी हानि देखकर स्वयं अवतार धारण करते हैं। जैसा कि गीतामें डंकेकी चोट कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(४। ७-८)

'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेकर आता हूँ। साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके नाश और धर्मकी पुनः स्थापना—इन तीन कामोंके लिये मैं प्रत्येक युगमें प्रकट होता हूँ।'

ईश्वरकृत नियमोंमें न तो कभी आजतक अन्तर पड़ा, न पड़ता है और न कभी पड़ेगा। यह सब ईश्वरकी विचित्र लीला है, जो केवल ईश्वरकी कृपासे ही समझमें आ सकती है।

हिंदू-जीवन

(रचयिता—दीक्षित श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा 'कलानिधि')

जिसके वक्षःस्थल गंगाजल,
जिसके हिम-गिरिका मुकुट भाल;
जिसके पद पूजत स्वर्ण पुरी-
चुम्बन-रत रत्नाकर विशाल;

है प्रकृति अनुचरी जिसकी,
जिसके मातृ-प्रेमके देव भक्त,
उस भारत माताकी संतति
पैंतीस कोटि हम एकरक्त।

कौशल प्रशस्त सम्पूर्ण सहज
हममें अनादिसे विद्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

सब भाषाओंका प्रथम स्रोत,
यह वैदिक संस्कृत कल्परत्न;
जिसपर त्रिलोकतक न्योछावर,
है सहज हमारा ही प्रयत्न।

संसृति-विकासके सर्वप्रथम
कर आदि-मंत्र साक्षात्कार,
हो ब्रह्म-लीन हमने विरचा
ऋग्वेद दिव्यतम निर्विकार।

प्रति गति-विधिके पूरक अखण्ड,
हम स्वयं-सिद्ध सुखमय सुजान;
हम हिंदू हैं हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

गृह, उपवन, वन कर व्याप्त शांति,
जप, योग, शक्ति, तपके प्रभाव,
गज-सिंहादिकमें प्रेम भरा,
हमने उनका हर वैर-भाव !

हमसे पालित सत्-न्याय-नीति,
माया-ममता कर खण्ड-खण्ड;
है प्रजा-शांति-बाधक सुत-वनिता-
को भी हमने दिया दण्ड।

हम सर्व-भूत-हित-रत अनुदिन,
बैठे वसुधैव कुटुम्ब मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

कर प्राणायाम त्रिधा स्वेच्छित
युग-युगतककी लेकर समाधि,
हम रहते अविचल, अजर-अमर;
आती समीप है नहीं व्याधि।

हमसे शरीर-सुख-संवर्द्धक
चौरासी आसनकी प्रयुक्ति;
हम ब्रह्म-रंध्रसे प्राण त्याग,
जब चाहें वर लें त्वरित मुक्ति।

साकार रूपमें निराकारको
लाये हम कर साम-गान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

हम जीवमात्रमें मोद, शांति
रखनेको रहते हैं अधीर;
अवतरे हमारे यहाँ ब्रह्म
झष, कमठ, कोलतक धर शरीर।

हमने शरणागत-रक्षणहित
अपने प्राणोंको दिया वार;
जो पीठ दिखा देता, उसपर
हम कभी नहीं करते प्रहार।

रिपुओंको रणमें बाँध किया
हमने उनको जीवन प्रदान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

हम सफल चक्रवर्ती नृपाल,
हमसे घोषित आदेश-पत्र
भू-मंडलके मंडल-मंडल
भूगर्भित निःसृत यत्र-तत्र।

हम पूर्ण भगीरथ कर प्रयत्न
लाये शिव-सिर सुरधुनी-धार;
रच अश्वमेध हमने पहनी
त्रिभुवन-जयमाला बार-बार !

हमने शर-शय्या ले रणमें
जब इच्छा की, तब तजे प्राण;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हमसे शिक्षित कपि लड़े समर,
रचकर समुद्रपर सेतु-कर्म;
पद-रोपण, पुरी-दहन दर्शित
अङ्गद-हनुमतका वीर-धर्म!

मिट्टीकी मूर्ति हमारी रच,
उससे लेकर शिक्षा अलक्ष,
पढ़ अद्भुत धनुर्वेद वनचर
तक लक्ष्य-वेधमें हुआ दक्ष!

शुक-मैनातकको तर्क-शास्त्र-
का हमसे समुचित हुआ ज्ञान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हम गणित-शास्त्र-पारंगत हमसे—
पद्म-शंखतक प्रकट अङ्क;
हमने ज्यौतिषमें ग्रह-गतिकी
गणना दिखलाई निष्कलंक!

निर्धारित वेलामें तथापि
निश्चित प्रभावसे ही समस्त,
रवि,शशि,कुज,बुध,गुरु,भृगु,शनि,तम
होते रहते हैं उदय-अस्त!

हो चौर इंद्र, पाताल वस्तु
ग्रह-बल यथार्थ हम दें बखान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

संगीत-शास्त्रमें भी हमसे
अद्भुत कौशल दर्शित अतीव;
आकृष्ट हमारी स्वर-लहरी-वश
आ जाते सब वन्य जीव!

गाते वसंत, छाता वसंत;
असमयमें गाते घन-मलार,
घन-गर्जन, विद्युत-चमचम-युत
होती वर्षा मूसलाधार!

उच्चारण करते दीप-राग,
होते दीपक देदीप्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हमने लेकर फरसा प्रचण्ड,
कर-कर अचूक अविचल प्रहार,
अन्यायी-कुल-संहार किया
प्रण कर, रण कर इक्कीस बार!

जो हिल न किसीसे सका रंच,
जिसको त्रिलोक रह गया ताक,
उठ हस्त हमारे भंग हुआ
वह हिमगिरि-सा शिवका पिनाक!

हम अंजलिमें लेकर अपनी
कर गये निमिषमें सिंधु-पान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

पय अहिको देते, पर अहिपति
यदि फैलाये विषकी तरंग,
तो भेद सहस्र फनोंको भी,
हम करते उसका अङ्ग-भंग!

सुरपति भी लेकर प्रलय-मेघ
यदि करना चाहे कुछ अनिष्ट,
तो पड़े क्षुब्ध उसको रहना
इतना हममें पौरुष विशिष्ट!

हँसते कनिष्ठिकापर उछाल
रख पर्वत हम रचते वितान!
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

बढ़ते सुत सिंह समान हमारे
देख विपक्षी-गज-समूह;
अगणित रिपु सिद्धहस्त हों,
पर वह कर अकेले भंग व्यूह!

शिशु करते आत्म-विनोद हमारे
सिंह-मूँछ कर कराधीन,
खेला करते सिंहनी-दुग्ध
पीते छौनेको छीन-छीन!

वर वीर हमारे-ही-जैसे
हैं पुत्र हमारे गुण-निधान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

है प्राणोंका उत्सर्ग सद्य,
पर धर्म-धैर्य तजते न रंच;
हैं पुत्र हमारे ही, जिनपर
चल सका न जगका कुछ प्रपंच !

हमसे ही गर्भ-कालतकमें
होकर अपूर्व शिक्षित प्रवीण,
कर युद्ध विकट, पौगण्ड पुत्र
वध करते हैं योधा धुरीण !

पितु होते, उनके लोहेको
हम गये समरमें स्वयं मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हम भूसुर वह, सुर-गण रहते
जिनकी इच्छाओंके अधीन;
हम भूपति वह, सुरपति रहते
जिनके सम्मुख हैं निरे दीन !

हम धनपति वह जिनपर कुबेर-
की न्यौछावर निधि बार-बार;
हम सेवक वह स्वर्गोपरि 'भारत'
जिनकी सेवाका शृँगार !

वह अबलाएं हममें—जिनके
श्री-गुणपर रति, श्री, शची म्लान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

तज वंश हमारा कहाँ प्रकट
हो सका पतिव्रतका प्रताप ?
जिसने कर-भोजन-लालायित
हरि, हर, विधिको शिशु किया आप !

पत्नियाँ हमारी युद्धस्थलमें
रहीं प्रबल दाहिना हाथ;
जब हमको जीवित कर न सकीं,
हो गईं सती तब साथ-साथ !

रुख देख हमारी ही महिलाओं-
का होना विरमा विहान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

दिग्-विजय-करण-अभिलाषासे
प्रेरित होकर, हो युद्ध-लग्न,
चल पड़ा सिकंदर कर फारस,
काबुल, बख्तर स्वातंत्र्य भग्न !

पर पहुँचा ज्यों ही भारत वह,
हमने झेलम-तट समर रोप,
यूनानी दल दल-विचलित कर
उसके प्राणोंपर किया कोप !

निज मरण देख, वह शरण हुआ
पलटा हमसे पा अभय-दान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

भारत वैभव अपहरण हेतु
छल, बल, रण-कौशल कर अपार,
जब स्वामीके ही भाँति सिल्यूकस
रणमें हमसे गया हार !—

तब सुता-सहित काबुल, कँधार,
दे संकुल अफगानी प्रदेश,
हेरात, बिलोचिस्तान भेंट,
वह चला गया अपने निवेश !

नत-मस्तक होकर चरण हमारे
लगा पूजने फिर युनान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

जब वैयक्तिक लोलुपतावश
हमसे समाजका हुआ लोप
शासन-प्रकाशपर हुआ
अचानक म्लेच्छ-पतंगोंका प्रकोप !

पर स्नेह-क्षीणतातक बढ़ते
अपनी ज्वलंत ज्वाला प्रकाश,
हमने निज लपटोंमें विरचा
उन तुच्छ पतंगोंका विनाश !

हम आप बुझे, पर प्रथम भेज रिपु
शब्द-वेध शरसे श्मशान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

बढ़ चला विधर्मी अनाचार,
जन, धन, लज्जाकी मची लूट;
सह सके असह अन्याय न,
मंदिर गिरे, मूर्तियाँ गईं फूट!

हम केसरिया सज लड़े समर,
कुछ हुईं देवियाँ चिता-क्षार;
दुष्टोंकी छातीपर जमकीं
कुछ खींच कंचुकीसे कटार!

जीवन सतीत्वके साथ रहे,
यह वनिताओंको रहा ध्यान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

सर्वत्र भारती सीमातक
हो चला प्रखर अपना प्रताप;
'अल्ला हो अकबर'का नारा
'हर-हर बम' ध्वनि बन गया आप!

फिर कुटिल काल-दुर्वासाके
पड़ कूट-नीति-व्यवहार साथ,
होकर स्वतंत्र हम हुए पुनः
परतन्त्र हाय अंग्रेज हाथ!

पर अंग्रेजोंको याद हमारी
सन् सत्तावनकी कृपाण;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

चित चाह वसंती-चोलाकी
दे-दे पूर्णाहुति मुक्ति-हेतु,
हम खेले फाँसी, गोलीसे
फहरानेको राष्ट्रीय-केतु!

गा गंगा-यमुनाके गायन,
भज भारत माकी भव्य मूर्ति,
हम चले 'चलो दिल्ली' कहते,
करने अक्षय स्वातंत्र्य-पूर्ति!

हिल उठी ब्रिटिश इम्फालभूमि-
तक देख हमारा अधिष्ठान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

यद्यपि कुछ देश-द्रोहियोंवश
हम सके नहीं कृत समर जीत;
पर भारत-शासन तजनेको
अंग्रेज हुआ उद्यत सभीत!

फिर भी निज पुनरागमन-हेतु
उसने छिप-छिपकर चली चाल;
जिसका फल पाकिस्तान अधम—
अपना अघ, दैवी गति कराल!

पर इस अरिष्ट-उन्मूलनका
चल रहा हमारा अनुष्ठान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

यह हमें न विचलित कर सकता
षडयंत्र दुष्ट-दलका प्रचण्ड;
उठ रहे आत्मरक्षार्थ हमारे
आज संगठित बाहु-दण्ड!

हम हैं अन्यायके नहीं शत्रु,
यदि वह न करें हमसे विरोध;
पथ-कंटकका ही हैं करते हम
सब विधि उन्मूलन-विशोध!

हमसे आदृत रसखान, ताज,
इब्राहिम खाँ-से मुसलमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

अस्तित्व हमारा है अनादिसे
जैसे, वैसे ही अनंत;
इसके विनाशपर तुले शत्रु-
का नियत श्रुतायुध-तुल्य अंत!

भय, सङ्कट, पीड़ाएँ युग-युगकी
हममें भरती हैं प्रकाश;
साक्षी अक्षय-वट शेष, हमें
कर सका नष्ट कब महानाश!

हम ईश्वरीय लीला-अथ-इति-
के अविकल दर्शक वर्तमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हिंदूधर्मका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

इस देशके प्रत्नतम युगमे यहाँके निवासी आर्य आशिष्ठ, द्रढिष्ठ, बलिष्ठ, सुन्दर, श्रद्धालु और आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करनेवाले थे। वे सदाचारी, निर्भीक, उदार और प्रकृतिके विशाल लीलाक्षेत्रके रहस्योसे परिचय प्राप्त करनेके लिये सदा उत्सुक थे। उन्होंने विमल-सलिला सरिताओ, कुसुमित वनराजियों, उत्तुङ्ग अचलो, अगाध सलिलाशयो, किम्बहुना—नानाविध प्राकृतिक सम्पत्तियोका सदुपयोग करके एक ऐसा विज्ञान प्राप्त किया, जो अद्यावधि अपनी यशोगाथाके कारण भूवलयमे विश्रुत है। सात्त्विक जीवन-निर्वाहने एवं शम, दम् आदि सद्गुण-गणने उनके हृदयमें सत्यका सञ्चार किया और अपनी उस अनुभूतिको उन मननशील मेधावी महर्षियोने मन्त्रोके रूपमें अपनी सन्ततिको प्रदान किया। मन्त्रराशिका नाम वेद है।

वेदमे लिखा है कि इस विश्वकी सृष्टि होती है और सृष्टिकर्ताके ईश्वर आदि अनेक नाम हैं।[1] जीवोका पुनर्जन्म होता है। जबतक आत्मसाक्षात्कार नही होता, तबतक पुनर्जन्म और पुनर्मरण होता रहेगा। पुनः-पुनः जन्म और पुनः-पुनः मृत्युसे विकल होकर जीव जब साधना करता है, तब संसार-पाशसे उसका निस्तार हो सकता है। इसी निस्तारसे परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

पुनर्जन्म और मुक्तिवाद आर्यधर्मकी प्रधान सम्पत्ति थी और वह सम्पत्ति अभीतक इस देशमे सुरक्षित है। इस देशका प्राचीन नाम आर्यावर्त था, किंतु यहाँके सप्तसिन्धु-प्रदेशकी सभ्यता और संस्कृतिसे मुग्ध होकर विदेशवासियोने इसको 'सिन्धुस्थान' कहना प्रारम्भ कर दिया। भाषाशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार संस्कृतका सकार विदेशियोकी बोलीमे हकार बन गया और महाप्राण धकार और थकारके स्थानपर क्रमशः अल्पप्राण दकार और तकार होनेसे 'हिंदुस्तान' शब्द बन गया। और यहाँके निवासी 'हिंदु' अथवा 'हिंदू' कहलाये।

पूर्वोक्त भारतीय महर्षिगण आस्तिक थे, क्योकि इस देहके अनन्तर भी वे देहीकी अर्थात् आत्माकी सत्तामे विश्वास रखते थे। कुछ ऐसे भी हिंदू थे, जो देहानन्तर आत्माके अस्तित्वमे—पुनर्जन्म और मुक्तिमे—श्रद्धा नहीं रखते थे। ये हिंदू नास्तिक हिंदू कहलाये।

आस्तिकोमे भी एक दल ऐसा था, जो जीवात्माके पुनर्जन्म और मोक्षमे तो विश्वास करता था; किंतु वैदिक साहित्य उसे मान्य नही था। इस दलको 'अवैदिक आस्तिक हिंदू' नामसे कह सकते हैं।

नास्तिकलोग देहात्मवादी होते है।[1] वे कहते हैं कि 'भस्मीभूत देह फिर नही मिलेगा। अतएव जबतक जीवन है, तबतक आनन्दकी प्राप्ति—जैसे भी हो—कर लेनी चाहिये।' ऐसे नास्तिक लोगोके आचार्य बृहस्पति और चार्वाक हो गये हैं और उनके दर्शनको बार्हस्पत्य अथवा चार्वाक-दर्शन कहते हैं।

अवैदिक आस्तिक हिंदुओमे भी दार्शनिक चर्चा पर्याप्त रही। तीर्थङ्कर महावीर वर्धमानद्वारा प्रदर्शित मार्गको माननेवाले सज्जन जैन हिंदू कहलाते हैं। जैनधर्ममे अहिंसापर अधिक महत्त्व है। यद्यपि सृष्टिकर्ता ईश्वरके लिये इस धर्ममे कोई अवकाश नही है, तथापि सांसारिक वासना-त्यागरूपी साधनाके बलसे जीवको पुनर्जन्म-मरणसे छुटकारा—निर्वाण पानेका सिद्धान्त इसमे सम्यक् स्थापित किया गया है।

जैन-हिंदुओकी ही कोटिमे बौद्ध-हिंदू हैं। कपिलवस्तुके निवृत्तिपरायण राजकुमार सिद्धार्थने बुद्धत्व प्राप्त करके इस सम्प्रदायका सूत्रपात किया था। इस धर्ममे भी जगत्के रचयिता ईश्वरका अस्तित्व स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है, किंतु जन्मानन्तर मृत्यु और मरणानन्तर जन्मकी प्रक्रियाको सिद्ध करके इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे मुक्तिकी स्थापना विशद रूपसे की गयी है।

जैन और बौद्ध-हिंदुओका धार्मिक साहित्य विशाल है और अधिकांशमे पाली-प्राकृतमे लिखा गया है। जैन-हिंदुओके श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो भेद हैं और स्याद्वाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है। इसी

१. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः (श्वेताश्वतर० ३ । ३; श्रीमद्भागवत १ । १ । १; ब्रह्मसूत्र १ । १ । २)

१. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद् राग इवोत्थितम्॥
(सर्वसिद्धान्तसंग्रह)

प्रकार बौद्ध-हिंदुओंके हीनयान और महायान नामक भेद हैं और चार दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जिनके नाम हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

वेदोंको प्रमाण माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें दो विभाग थे। एक दल 'जगत्का स्रष्टा ईश्वर है' यह मानता था और दूसरा दल ईश्वरको नहीं मानता था। ईश्वरको माननेवाले सेश्वर कहलाये और न माननेवाले निरीश्वर। निरीश्वरवादियोंमें कपिल और जैमिनि मुख्य हैं। कपिलके सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके ज्ञानसे ही कैवल्यका लाभ हो सकता है। एवं जैमिनिके मीमांसा-दर्शनके अनुसार वैदिक यज्ञोंके अनुष्ठानसे उत्तम स्थान (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है, जिसमें दुःखका लवलेश भी नहीं है।

ईश्वरको माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें तीन विभाग थे। एक तो वह, जो ईश्वरको निर्गुण-निराकार मानता था। दूसरा वह, जो उसे सगुण-साकार मानता था और तीसरा वह, जो उसे सगुण-निराकार मानता था। उपनिषदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिनसे इन तीनों विभागोंका समर्थन होता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।[1]

—आदि मन्त्र हैं। अद्वैत-मतने ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्य मानकर अन्योंको गौण माना है। आचार्य शङ्कर इस मतके बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। अद्वैतवादी हिंदू कर्म और उपासनाद्वारा अपनेको ब्रह्मज्ञानका अधिकारी बनाते हैं और ब्रह्मज्ञान होनेके अनन्तर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

सगुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः', 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'[2] आदि मन्त्र हैं। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाजमें ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्यता दी गयी है। ब्राह्मसमाजके संस्थापक थे राजा राममोहन राय और आर्यसमाजके स्वामी दयानन्द।

सगुण-साकार ब्रह्मकी सिद्धिमें 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'यत्ते रूपं[3] कल्याणतमं तत्ते पश्यामि' आदि मन्त्र हैं। ब्रह्मको सगुण-साकार माननेवाले हिंदुओंमें पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—सौर, गाणपत, शाक्त, शैव और वैष्णव।

नभोमण्डलमें विराजमान सूर्यके अधिष्ठाता देवताकी उपासना करनेवाले सौर कहलाते हैं। 'हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्'[1] इत्यादि मन्त्र सूर्योपासनाके हैं।

सर्वकर्म-समारम्भमें पूजित गणेशजीकी उपासना करनेवालोंको गाणपत कहते हैं। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे', 'कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्'[2] इत्यादि मन्त्र गणेशोपासनाके हैं।

जगद्धात्री, सिंहवाहिनी शक्तिकी उपासना करनेवाले शाक्त कहलाते हैं। 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि'[3] इत्यादि मन्त्र शक्त्युपासनाके हैं।

पिनाकधारी रुद्र शिवजीकी उपासना करनेवाले शैव कहलाते हैं। 'नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः'[4] इत्यादि मन्त्र शिवोपासनाके हैं।

शङ्ख-चक्र-गदा-कमलधारी श्रीविष्णुके उपासक वैष्णव कहलाते हैं। 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे'[5] इत्यादि मन्त्र विष्णूपासनाके हैं।

सौर सम्प्रदायकी छः शाखाएँ हैं—१–सूर्यबिम्बको सूर्यमूर्ति माननेवाली, २–ब्रह्माजीको सूर्य माननेवाली, ३–विष्णुजीको सूर्य माननेवाली, ४–शिवजीको सूर्य माननेवाली, ५–त्रिमूर्तिको सूर्य माननेवाली, ६–सूर्यमूर्तिका मस्तक, बाहु आदि अङ्गोंपर अङ्कन करनेवाली।

गाणपतोंकी छः शाखाएँ हैं—१–महागणाधिपतिकी उपासिका, २–कुमारगणपतिकी उपासिका, ३–हेरम्ब-गणपतिकी उपासिका, ४–नवनीत-गणपतिकी उपासिका, ५–स्वर्ण-गणपतिकी उपासिका और ६–सन्तान-गणपतिकी उपासिका।

शाक्तोंकी दो शाखाएँ हैं—१–वाममार्ग और २–दक्षिणमार्ग।

शैवोंकी चार शाखाएँ हैं—१–शैव, २–पाशुपत, ३–कारुणिक-सिद्धान्ती और ४–कापालिक।

वैष्णवोंकी चार शाखाएँ हैं, जो सम्प्रदाय-नामसे प्रसिद्ध हैं—१. श्रीसम्प्रदाय, २. ब्रह्मसम्प्रदाय, ३. रुद्रसम्प्रदाय और ४. सनकसम्प्रदाय। श्रीसम्प्रदायकी उपशाखा है—रामानन्दी सम्प्रदाय और ब्रह्मसम्प्रदायकी उपशाखा है—गौड़ीय सम्प्रदाय। प्रधान चार सम्प्रदायोंके आचार्य क्रमशः ये हैं—

१. कठोपनिषद् ३। १५ २. ईशावास्योपनिषद् ८
३. बृहदारण्यक० ५। १५। १

१. ऋग्वेद १। ३५। २ २. ऋग्वेद २। २३। १
३. ऋग्वेद १०। १२५। १ ४. यजुर्वेद १६। १
५. ऋग्वेद १। १५६। ३

रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क। रामानन्दने रामानन्दी सम्प्रदाय चलाया और चैतन्य महाप्रभुसे गौड़ीय सम्प्रदाय चला।

जो हिंदू निर्गुण-निराकार ब्रह्मको ही परम सत्ता समझते हैं, किंतु उपासनाके लिये सूर्य, गणपति, शक्ति, शिव, विष्णुको ब्रह्मका मायिक रूप मानकर स्वीकार करते है, वे 'स्मार्त हिंदू' कहलाते हैं।

'तां[1] योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' —इत्यादि मन्त्रोंसे प्रतिपादित योगविद्याके अभ्यासी साधक और सिद्ध योगी कहे जाते हैं। यह योगमार्ग कर्म-उपासना-ज्ञानके समान ही आदृत रहा है। इससे भी पुनर्जन्मका निरोध करनेवाली कैवल्यदशाकी उपलब्धि होती है। नाथ-सम्प्रदाय आदि योगमार्गके उपभेद हैं। नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं और विशेष-विशेष क्रियाओंके बोधक है। प्रायः सभी हिंदू 'ध्यान' शब्दका अपनी धार्मिक भाषामे प्रयोग करते हैं।

दक्षिणापथमे वैष्णवोंके भागवत-सम्प्रदायकी तीन शाखाएँ हो गयीं—वारकरी सम्प्रदाय, रामदासी सम्प्रदाय और दत्त-सम्प्रदाय। भगवान् दत्तात्रेयसे दत्त-सम्प्रदाय उदित हुआ और समर्थ स्वामी रामदासजीसे रामदासी सम्प्रदाय।

कबीर निर्गुण-निराकारके उपासक थे। इनको माननेवाले कबीरपन्थी हिंदू कहलाते हैं। ऐसे ही अन्य अनेक पन्थ हैं—नानकपन्थ, दादूपन्थ, लालदासी, सत्यनामी, बाबालाली, साधपन्थ, शिवनारायणी, गरीबदासी, रामसनेही, अघोरपन्थी—जिनमे मूर्तिपूजा नहीं होती, किंतु गुरुपूजाका विशेष महत्त्व है।

वैष्णवोंके कुछ अन्य उपसम्प्रदाय हैं—जैसे कि राधावल्लभी, हरिदासी, स्वामिनारायणी आदि।

संतमत वा राधास्वामी पन्थ भी हिंदुओंमे प्रसिद्ध है। आगरेके राधास्वामी दयालुजी इसके प्रवर्तक थे। इन्होंने 'सुरत शब्दयोग' की बड़ी सरल युक्ति प्रकट कर दी, जिससे इस योगका अभ्यास सरल हो गया।

ब्रह्मविद्या-सभा अथवा थियॉसॉफिकल सोसायटीके अनुगामी बहुत-से हिंदू हैं। इस सभाके सिद्धान्तोंमें जन्मान्तरवाद, कर्मवाद, अवतारवाद, योगसाधना, गुरूपासना, तपस्या, जप, तपको स्थान मिला है। एनी बेसेंट आदि कई विदेशी संस्कृतिके दृष्टिकोणसे हिंदू थे।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि—

(अ) कर्मफलमे विश्वास।

(आ) पुनर्जन्ममे श्रद्धा और

(इ) मुक्तिमे आस्था।

—ये तीन बातें हिंदूधर्मके व्यापक रूपके लक्षणमें कही जा सकती हैं; किंतु शौचाचार, वेष-भूषाका भी कम महत्त्व नहीं है। शिखा-सूत्र, मठ-मन्दिर, सभा-समिति, व्रत-उपवास, पर्व-उत्सव, दान-दक्षिणा, भजन-पूजन, कथा-कीर्तन, होम-यज्ञ, जप-तप, ध्यान-धारणा, सन्ध्या-स्वाध्याय ऐसी बातें हैं, जिन्हे प्रायः प्रत्येक हिंदू अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार करता है। ये सब साधनकोटिकी बातें हैं और इनको लेकर परस्पर वैमनस्य कदापि नहीं करना चाहिये। पुनर्जन्मसे छुटकारा पाकर चिरन्तन, शाश्वत, अविनाशी, परम आनन्दका लाभ ही जब हिंदूमात्रका ध्येय है, तब साधनामे भेद प्रेमके मार्गमे बाधक क्यो हो? परस्पर स्नेहभावमे रहकर अपने-अपने पन्थ या सम्प्रदायके अनुसार सभी हिंदू उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको सभीने अच्छा बताया है। प्रत्येक हिंदू जहॉं विचारमें (पुनर्जन्म और मुक्तिके सम्बन्धमे) समान है, वहॉं गायके प्रति श्रद्धाकी दृष्टिसे आचारमे भी समान है। कदाचित् ही कोई हिंदू ऐसा हो, जो गोमाताको पूज्य दृष्टिसे न देखता हो।

इस सिन्धुस्थान आर्यावर्तकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यताको पितृ-पुत्र-परम्परासे तथा गुरु-शिष्य-परम्परासे बनाये रखनेवाले सभी हिंदू परस्पर भ्रातृभावापन्न हैं।

हिंदुओंकी निर्वैरता

हिंदू अनुकूल आचरण करनेवाले तथा सबके प्रति दयालु होते है। उनका संसारमें किसीसे वैर नहीं है।

—इतिहासकार अबुल फजल

१. कठोपनिषद् ६। ११

भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

'भारतीय संस्कृति' शब्द-प्रयोग कुछ असंगत-सा जान पड़ता है। क्या कोई भारतीय प्रकाश, भारतीय अँधेरा, भारतीय सूर्य और भारतीय चन्द्रमा भी कहेगा? एक दृष्टिसे तो सूर्य, चन्द्र, प्रकाश और अँधेरेको किसी देशका कहना अज्ञानका लक्षण माना जायगा; परंतु एक विशिष्ट अर्थमें हम भारतीय आकाश, भारतीय चन्द्रमा, भारतीय गणित, भारतीय विज्ञान, भारतीय शक्कर और भारतीय नमक कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, विज्ञान, गणित, शक्कर, नमक—इन सब वस्तुओंके सामान्य गुण-धर्म संसारभरमें एक ही हैं; लेकिन भारतकी विशिष्ट आवहवामें उनके रूपमें अन्तर दिखायी देता है। इसलिये हम भारतका आकाश, भारतका चन्द्रमा इत्यादि शब्द-प्रयोग करते हैं।

'संस्कृति' भी एक अखिल-जागतिक भाव और सार्वभौम तत्त्व है। उसके लक्षण अखिल-जागतिक हैं। उसके मूल-तत्त्व भी समस्त संसारके सभी देशोंमें समान हैं। यदि ऐसा न होता तो संसारमें सांस्कृतिक भूमिकापरसे न विग्रह होते न सन्धियाँ होतीं, न विवाद होते न संवाद होते, न युद्ध होते न शान्तिकी चर्चा ही होती। जब दो राष्ट्रोंमें या दो राज्योंमें युद्ध होता है, तब उनमेंसे हर एक दूसरेपर अन्याय और दुष्टताका आरोप लगाता है। अन्याय और दुष्टताकी—दोनों पक्षोंकी परिभाषा एक न होती, तो यह पारस्परिक अभियोग असम्भव होता। दोनोंकी भूमिकामें यह मूलभूत एकता है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे कहता है कि मेरी 'संस्कृति' या मेरा 'रहन-सहन' तुझसे श्रेष्ठ है, तब दोनोंकी 'संस्कृति'-की मूलभूत कल्पना एक ही होती है। संस्कृतिके लक्षण या कसौटियाँ अगर समान न हों, तो तुलना ही सम्भव न हो। अगर नॉर्मल 'तापमान' और बुखारकी हमारी परिभाषा एक न हो तो हमारा 'थर्मामीटर' भी एक नहीं होगा और अगर 'थर्मामीटर' एक न होगा, तो किसे बुखार कम है और किसे अधिक—इसका भी निर्णय कोई नहीं कर सकेगा। हमारी 'संस्कृति', 'सभ्यता' और 'उन्नति' की बुनियादी व्याख्या एक ही है। इसीलिये हम संसारके कुछ देशों, कुछ राष्ट्रों और कुछ मानवसमूहोंको अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और अधिक प्रगतिशील कहते हैं। संस्कृतिकी मूलभूत परिभाषा और लक्षणोंमें एकता है; इसीलिये वह 'संस्कृति' है; इसीलिये वह मनुष्योंको 'सभ्य' बना सकती है। सभ्यता और असभ्यताका लक्षण क्या है? हम सभ्य उसे कहते हैं, जिसमें सहूर है, तमीज है, शिष्टता और विवेक है। शिष्टताका अर्थ है—दूसरोंकी सुविधाका ध्यान; विवेकका अर्थ है दूसरोंके साथ व्यवहारमें उन्हें असुविधा या अड़चन-में न डालनेकी वृत्ति। एक वाक्यमें सभ्यता, सज्जनता, शिष्टता हमें दूसरोंके साथ रहनेकी सिफत, दूसरोंके साथ जीनेमें आनन्द अनुभव करनेकी कला सिखाती है। यही 'संस्कृति'का आदर्श है। इसीलिये उसके मूलभूत लक्षण और परिभाषा एक हैं।

यही आर्यता है। आर्य वह है, जो सुसंस्कृत है, संभावित है, शिष्ट है। अनार्य वह है, जो अनाड़ी है, उद्दण्ड है, असभ्य और अशिष्ट है। प्राकृत मानव और संस्कृत मानवमें अन्तर है। जो केवल प्राकृत प्रेरणाओंका दास है, उसका शरीर मनुष्यका होते हुए भी वास्तवमें वह केवल एक मनुष्याकार प्राणी है। अगर पशु नहीं तो पशुतुल्य है। उसमें प्रकृतिको मोड़नेकी या अपने अनुकूल प्रवृत्तिका आविष्कार करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। प्राकृत जीवन आर्य जीवन या सभ्य जीवन नहीं है। 'आर्य' की परिभाषामें 'तिष्ठति प्राकृताचारे' तो कहा है; परंतु साथ-साथ 'कर्तव्यमाचरन् कार्यम्' और 'अकर्तव्यमनाचरन्' भी कहा है। विकार और वासना भी तो प्राकृतिक हैं। जो विकार और वासनाका अनुसरण करता है, वह भी प्राकृत आचार तो करता ही है। फिर उससे अकर्तव्यके अनाचरणकी आशा कैसे की जा सकती है। स्पष्ट है कि यहाँ 'प्राकृताचार'का अर्थ कुछ और ही है। कर्तव्य करना और अकर्तव्य न करना ही जिसके लिये प्राकृताचार है, जिसकी प्रकृति बन गयी है, सहज प्रवृत्ति हो गयी है, वह आर्य है। उसमें कृत्रिमता, औपचारिकता, बाह्य प्रदर्शन नहीं है; उसके चित्तकी स्वाभाविक प्रेरणा ही सद्भावसम्पन्न या सद्व्यवहारप्रवण हो गयी है। 'बालिशता' और 'बालभाव'में, 'चाइल्डिशनेस' और 'चाइल्डलाइक सिंप्लिसिटी'में, छोकरेपन और बालसदृश निष्पापतामें, बहुत बड़ा और मूलगामी भेद है। उसी प्रकार प्राकृत जीवन और अकृत्रिम या निर्व्याज जीवनमें बहुत बड़ा भेद है। सत्प्रवृत्ति और असत् प्रवृत्ति—दोनों प्राकृतिक हैं।

जो दोनोंका निर्विशेष रूपसे अनुसरण करता है, वह 'प्राकृत' है। जो असत् प्रवृत्तियोंका निराकरण और सत् प्रवृत्तियों-का परिपोषण करनेमें यत्नशील है, वह आर्य है, वही सुसंस्कृत है, वह सभ्य जीवनका साधक है। 'कर्तव्यमाचरन् कार्यम्', 'अकर्तव्यमनाचरन्' उसीके लिये लागू है।

मतलब यह कि किसी भी विवाद या संवादकी यह अनिवार्य शर्त है कि दोनों पक्षोंके पदार्थलक्षण एक हों। हमने देखा कि 'संस्कृति' शब्दका लक्षण संसारभरमें एक ही है। उसकी अभिव्यक्ति और आविष्करणकी पद्धतियों और प्रकारोंमें भेद अवश्य होता है। आकारमें भेद हो सकता है, किंतु स्वरूप एक ही होता है।

इस सार्वभौम और मानव्य व्यापक संस्कृतिकी अभि-व्यक्ति और आविष्करण भारतवर्षके साहित्य और जीवनमें विशिष्टरूपसे हुआ है। हमारे दर्शन और साहित्यमें दो विशिष्ट शब्द उसके वाचक और बोधक हैं—'अद्वैत' और 'समन्वय'। इन दो शब्दोंमें संस्कृतिके साध्य और साधनका अन्तर्भाव है। सांस्कृतिक जीवनका ध्येय अद्वैतकी सिद्धि है और उसका साधन समन्वयकी नीतिका नैष्ठिक अनुष्ठान है।

'कैवल्य' या 'ऐक्य' की जगह 'अद्वैत' शब्दका प्रयोग बहुत 'सूचक' है। कैवल्य या ऐक्यमें भेदका मान या उसकी मान्यता भी नहीं है। अद्वैतमें द्वैतका निराकरण है, समस्त भेदोंका नहीं। द्वैत द्वन्द्वका सूचक है। हम हिंदीमें जिसे 'दंद' कहते हैं, उससे बचना चाहते हैं। 'द्विधा' या 'दुविधा' की मानसिक अवस्थामें भी हम अस्वस्थ और अशान्त होते हैं। द्वैतमें विषमता और दूसरेपनकी, परायेपनकी, अनात्मीयताकी भावना है। भेदमें हमेशा विषमता या विरोध नहीं होता। अनात्मभाव नहीं होता। भेदोंमें जो विषमता या विरोध हो, उसके परिहारका नाम समन्वय है। अविरोध-सिद्धि अर्थात् विविधतामेंसे विषमताके अंशका निराकरण ही समन्वयकी पद्धतिका सार है। समन्वयका अर्थ 'समझौता' नहीं है। समझौता एक बाह्य और यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमें आदान-प्रदान है। हम कुछ इष्ट अंशका त्याग करके कुछ अनिष्ट अंशका स्वीकार करते हैं। इसमें दोनों पक्षोंका समाधान नहीं होता। एक अंशमें दोनोंको सन्तोष होता है और एक अंशमें दोनोंको असन्तोष। समान सन्तोषके साथ-साथ समान असन्तोष होता है। अर्ध-सम्मतिके साथ अर्ध-असम्मति भी होती है। इसमें सङ्गति और संवाद नहीं है। इसमें समान 'अन्वय' नहीं है। समन्वयमें विसङ्गति और विप्रतिपत्तिका परिहार है। इसलिये उसमें समान सम्मति और समान सन्तोष है। इसीलिये अद्वैतकी सिद्धि समन्वयकी प्रक्रियासे होती है।

विषमताके निराकरणके बिना अद्वैतकी सिद्धि कभी नहीं होगी। अद्वैत एक मनोवृत्ति, चित्तकी एक अवस्था, एक निष्ठा है; परंतु मनुष्यकी सारी कर्म-प्रणाली उसकी चित्तकी निष्ठा बनाने और उसे स्थिर रखनेके लिये है। इसे अभ्यास कहते हैं। अभ्यास यानी आदत डालनेकी चेष्टा, मुहावरा करनेका अविरत प्रयत्न। यही आचारधर्मका उद्देश्य है। हमारे सारे नीतिधर्म और आचारधर्मका हेतु द्वैतका निराकरण, विषमताका निवारण, भेदमेंसे अभेदकी ओर जानेका प्रयास होना चाहिये। हमारी बुद्धिगत निष्ठा और हृदयगत भावना हमारे व्यवहारमें व्यक्त होनी चाहिये। वृत्ति और कृति, दर्शन और वर्तन, विचार और आचारमें अभेद और सङ्गति होनी चाहिये। यही समत्वकी साधना है। समत्वका साधन, उसकी कला 'योग' है। साध्य और साधनके अभेदके सिद्धान्तके अनुसार 'समत्व' ही 'योग' है। जीवनके हर एक क्षेत्रमें, दैनिक व्यवहारकी हर एक क्रियामें अभेदका अभ्यास ही 'समत्वयोग' है। अद्वैत केवल एक तत्त्वज्ञान नहीं है, वह जीवनका एक विज्ञान भी है। दोनोंको मिलानेसे निष्ठा बनती है। निष्ठामें बौद्धिक असंदिग्धता और अनुभवका प्रत्यय होता है। भारतीय संस्कृतिके इन दो शब्दोंमें—अद्वैत और समन्वयमें—समाज-जीवनके आदर्श और सामाजिक साधनाका सङ्केत है।

विप्रतिपत्ति, प्रतियोगिता, जय-पराजय प्राकृतिक हैं; लेकिन इनका निराकरण करना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ चार हैं। उनको गिनाते हुए आरम्भमें धर्मको रक्खा गया है और अन्तमें मुक्तिको। बीचमें अर्थ और काम। अर्थ यदि धर्ममूलक और मुक्तिसाधक न हो, तो वह अनर्थ हो जाता है। काम यदि धर्ममूलक और मुक्तिका साधक न हो, तो वह सारे जीवनका 'प्रणाश' करता है। अर्थ और कामका अधिष्ठान धर्म हो और उसकी परिणति मोक्षमें हो। आध्यात्मिक बलपर इन शब्दोंका अर्थ चाहें जो हो, हमारी व्यावहारिक सत्ताके बलपर धर्मका अर्थ है विषमताका परिहार, हितोंकी विप्रतिपत्तिका निवारण, समत्वकी सिद्धि। अर्थ-प्रवृत्तिकी प्रेरणाका मूल समत्वकी आकाङ्क्षा हो और उसका परिपाक मुक्ति यानी अद्वैतकी स्थापनामें हो। सामाजिक

मुक्तिमें हर एक व्यक्ति स्वाभाविकरूपसे स्वतन्त्र होता है। विप्रतिपत्ति और संघर्षके अभावमें एक-दूसरेपर आक्रमण या एक-दूसरेके जीवनमें बाधा पहुँचानेके लिये कोई प्रयोजन या अवसर नहीं रह जाता। सबके समान हित और सबके समान सुखमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। समान श्रम और समान प्रतिफलका सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्रमें चरितार्थ हो जाता है।

कामके क्षेत्रमें भी काम जब धर्ममूलक होता है, तब उसमें प्रभुत्व-भावनाके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। वह जब मुक्तिप्रवण होता है, तब उसमें स्त्री और पुरुष एक-दूसरेकी वासना और उपभोगके विषय नहीं रह जाते। स्त्रीके मोहसे पुरुष विमुक्त हो जाता है और पुरुषके आक्रमणके भयसे स्त्री विमुक्त हो जाती है। दोनों एक-दूसरेकी तरफसे सुरक्षित हो जाते हैं। कामके क्षेत्रमें यह मुक्ति है।

आर्थिक क्षेत्रमें धर्मका नाम अस्तेय और अपरिग्रह है, उसका साध्य आर्थिक 'संविभाग' है। कामके क्षेत्रमें धर्मका नाम ब्रह्मचर्य है। और उसका ध्येय स्त्री-पुरुषका वासना-निरपेक्ष सुरक्षित सहजीवन है।

अद्वैत और समन्वयके व्यापक विनियोगके दृष्टान्त भारतवर्षमें जितने ऊँचे मिलते हैं, उतने शायद ही और कहीं मिलते हों। भूतदया सभी धर्मोंका मूल है, लेकिन जितना बड़ा निवृत्त-मांस जनसमुदाय इस देशमें है, उतना संसारमें और कहीं नहीं है। पूछा यह जायगा कि मांस खाने-न-खानेसे संस्कृतिका क्या सम्बन्ध है? जवाब थोड़ेमें इस प्रकार है—

मनुष्य जबतक मृगयाजीवी था, तबतक वह प्राकृतिक अवस्थामें माना जाता था। वह आखेटके द्वारा अपने खाद्यका उपार्जन और उपादान करता था, लेकिन उत्पादन और निर्माण नहीं कर सकता था। जब वह शिकारीसे हरवाहा और चरवाहा बना, तब उसकी सांस्कृतिक उन्नतिका आरम्भ हुआ।

शिकारसे खेती अगर सांस्कृतिक जीवनमें अगला कदम है तो मांसाहारसे अन्नाहार भी अगला कदम समझा जाना चाहिये। शटलैंड और आइसलैंडमें शटलैंडर्स और एस्किमो लोग न खेती कर पाते हैं और न अन्य उत्पादन। मांस खाते हैं, चमड़ा पहनते हैं। हम कहते हैं, बेचारोंको सभ्य जीवनके साधन उपलब्ध नहीं हैं। उन बेचारोंके छुरे शम्पर हम तरस खाते हैं। सारांश यह कि मनुष्य जैसे-जैसे अन्य प्राणियोंके साथ आत्मीयताका अनुभव करता है, वैसे-वैसे उसके जीवनका विकास होता जाता है। उसकी अहंता उतनी व्यापक हो जाती है। अहंता जब हमारे शरीरसे बाहर निकलकर अपना क्षेत्र बढ़ाने लगती है, तब वह अहंता न रहकर आत्मीयतामें परिणत हो जाती है। जीवनके क्षेत्रमें अद्वैत-भावनाके प्रयोगका नाम ही मानवेतर जीव-धारियोंके साथ आत्मीयता है।

मानवीय संस्कृतिके भारतीय संस्करणका थोड़ा-सा स्वरूपवर्णन यहाँ किया है। दावा यह किया जाता है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं है। आध्यात्मिकताका क्या लक्षण है? यह बतलाना मेरा अधिकार नहीं है। इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि अध्यात्म परोक्षज्ञानका विषय नहीं है; प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय है। वह केवल एक बौद्धिक विचार या मनोवृत्ति नहीं है—एक जीवन-निष्ठा है, जो हमारी वृत्तिमें और व्यवहारमें प्रकट होती है। आज हमारे जीवनमें आध्यात्मिकताका कहीं पता भी नहीं। आध्यात्मिक भारतमें भी शालग्राम-शिलाकी अपेक्षा हीरे, मूँगे और पन्नेका महत्त्व अधिक है। यहाँ किसीको उस स्पर्शमणिकी खोज नहीं है, जो आसुरी मनोवृत्तियोंको मङ्गलमय बना देती है। यहाँ भी उसी पारसपत्थरकी खोज है, जो लोहेको सोना बनाता है। आध्यात्मिक भारतका जीवन भी 'हिरण्मयेन पात्रेण' अपिहित है। कारण यह है कि हमने अद्वैतको केवल एक वस्तुगत अवस्था माना है। एक रासायनिक स्थिति समझा है। तरङ्ग समुद्रका अंश है—यह वस्तुगत सत्य है; लेकिन तरङ्गको उसकी कोई प्रतीति नहीं है। दूसरे तरङ्गोंके साथ आत्मीयता अनुभव करनेकी उसमें कोई आकाङ्क्षा नहीं है। भेदमेंसे अभेदकी तरफ अग्रसर होनेकी कोई प्रेरणा उसमें नहीं है। अद्वैतदर्शन इस प्रकारकी बाह्य वस्तुस्थिति नहीं है। आज हमारे सामाजिक जीवनमें और तत्त्वज्ञानके आदर्शमें जो विप्रतिपत्ति पैदा हो गयी है, उसका कारण यह है कि हमने पारमार्थिक सत्ताका व्यावहारिक सत्ताके साथ कोई अनुबन्ध नहीं माना। इन दोनों सत्ताओंको दो समानान्तर प्रवाहोंकी तरह बिल्कुल भिन्न माना। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्षके अध्यात्मवादी व्यक्तियोंमें द्विधा व्यक्तित्वका विकास हुआ। एक ही विग्रहमें दो परस्पर विरोधी व्यक्ति रहने लगे। एकका मुँह संसारोन्मुख था और दूसरा संसारविमुख। एक कल्पनाकी गन्धर्वनगरीमें रहता है, दूसरा व्यवहारकी माया-नगरीमें। एककी

कल्पनासे दूसरेके व्यवहारका कोई मेल नहीं, कोई संगति नहीं। जो व्यक्तिके विषयमे हुआ, वही सामाजिक जीवनमे भी हुआ। हमारे दिव्य आदर्शोका हमारे जीवनकी सरणीसे, हमारे सामाजिक व्यवहारकी परिपाटीसे कोई अनुबन्ध नहीं रह गया है। तत्त्वज्ञान द्युलोकमे रहता है और व्यवहार मृत्युलोकके भी अनुरूप नहीं है। मुक्त तो हम हो नही पाये, दूसरी कोटि 'पशु'की तरफ वेगके साथ बढ़ रहे हैं। इसलिये भारतीय संस्कृतिके हार्दकी तरफ संकेत करना आवश्यक समझा। इसी नम्र आकाङ्क्षासे यह विवेचन किया गया है। इसके गुण-दोष सभी श्रीकृष्णार्पण है।

वैदिक राज्यशासन

[हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्था]

(लेखक—पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वेदाचार्य, साहित्यवाचस्पति, गीतालङ्कार)

१. श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म

हिंदू सदासे अपना धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त मानते आये हैं और अपनी समाजव्यवस्था तथा शासनसंस्था भी उसी प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त समझते है। इसलिये हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्थाका अर्थ श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित राज्यशासन-व्यवस्था ही है। इसी व्यवस्थाको इस लेखमे बताना है। श्रुतिका अर्थ वेद और वेदमे संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्का समावेश परम्पराको माननेवालेकी दृष्टिसे होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका ब्राह्मण है और ऐतरेय महीदासकी रचनासे वह प्रसिद्धिमे आया है। इसमें वैदिक-धर्मियोंकी शासनविषयक एक घोषणा है, जो यहाँ देखने योग्य है—

२. ऋषियोंकी घोषणा

स्वस्ति। साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयं, समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वायुषः आन्ताद् आ परार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड् इति॥ (ऐ० ब्राह्मण)

इसमें ऋषियोंकी तपस्यासे उस समय जितने राज्य-शासन प्रचलित हुए थे, उनकी गणना है। साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्तपर्यायी—इन आठ प्रकारके राज्योंका उल्लेख इस वचनमे है। इनके अतिरिक्त जनराज्य, (जानराज्य), गणराज्य, राज्य—इनका भी वर्णन वेदमें है। संहितामे केवल थोड़ा-सा उल्लेख ही आता है; पर किस प्रकारका राज्य भारतवर्षके किस भागमे अथवा भारतवर्षके बाहर भी किस दिशामे था, इसका स्पष्ट उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थोंमे है अर्थात् यह एक इतिहासकी घटना है, केवल कविकल्पना नही है।

इस वचनमे जिन आठ राज्योंका उल्लेख है, उनका स्वरूप हम आगे देखेंगे; परंतु इस वचनमे जो ऋषियोकी घोषणा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव सबसे पहले उस घोषणापर विचार करना आवश्यक है। वह घोषणा यह है—

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।

'समुद्रपर्यन्त जितनी सब पृथ्वी है, उस सम्पूर्ण भूभागका एक ही आर्य राजा हो।' सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही वैदिक शासनसे शासित हो। सम्पूर्ण पृथ्वीपर एक ही आर्य राज्य हो और सब पृथ्वीपर एक ही आर्य-परिवार—**'वसुधा एव कुटुम्बकम्'**—हो। **'कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्'** इस ऋग्वेदके वचनका यही स्पष्ट अर्थ है। यह था ऋषियोका ध्येय। ऋषि इस महान् ध्येयको सत्य-सत्य सृष्टिमे लानेके लिये यत्न करते थे। पर यह ध्येय इस समयतक सत्य सृष्टिमें उतरा नही है; इतना ही नही, प्रत्युत आर्योका—हिंदुओका—भारतवर्षियोंका संकोच ही होता चला आया है।

३. हिंदुओंका संकोच

संक्षेपसे ही देखिये—कैलास पर्वत पौराणिक युगमे हमारा था, वह आज नही रहा। गान्धार देश भारतवर्षके साम्राज्यमे था, वह आज नहीं है। इस समय तो सिंधु नदी भी भारतराज्यमे नही रही! इस वर्ष और भी अधिक संकोच हो गया है। गत पॉच सहस्र वर्षोंसे लगातार हमारा संकोच हो रहा है। हम अपनी समाज-व्यवस्थाकी कितनी भी प्रशंसा करे, पर आर्योंके राज्य-क्षेत्रका संकोच हो रहा है—इसमे संदेह नही है।

ऋषियोकी घोषणा तो **सम्पूर्ण समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वीका**

एक आर्य सम्राट् बनानेकी और सब भूमि वैदिक शासनसे शासित करनेकी थी। वे स्वर्गसे हमारे संकोचको देखते ही होंगे और अपने अन्तःकरणमें तड़पते ही होंगे। क्या होना चाहिये था और क्या बन रहा है!

इस समय यूरोपमें 'राष्ट्रसङ्घ' बना है। पर उनका कार्य सर्वथा स्वार्थसे भरपूर है। उनके विषयमें यहाँ अधिक न लिखना ही अच्छा है। पर यह ऋषियोंका ध्येय कदापि नहीं है। तपस्वी ऋषियोंका ध्येय तो सत्यमय ही हो सकता है। अब हम देखेंगे कि पूर्वोक्त वचनमें जो इतने राज्य-शासन कहे गये हैं, उनका ध्येय और स्वरूप क्या है—

१. साम्राज्य—सबसे प्रथम साम्राज्य है, पर यह आज-कलके साम्राज्य-जैसा राक्षसी साम्राज्य नहीं। उदाहरण-स्वरूपमें हम यहाँ दो ही साम्राज्योंका उल्लेख करते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी महाराजने रावणके साम्राज्यका नाश किया; परंतु रावणके राज्यको अपने राज्यमें नहीं मिलाया। रावणके राज्यको उसके भाई विभीषणके अधीन करके उसे 'आर्य-विधान' (Aryan constitution) देकर तथा इस आर्य-विधानके अनुसार अपना राज्यशासन चलानेकी आज्ञा करके वे स्वयं वापस आ गये और अयोध्यामें अपना राज्य करने लगे। शत्रुको परास्त करना और उसे आर्य-विधान देना—प्राचीन कालमें इतना ही साम्राज्यका अर्थ था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने लंकाकी लूट नहीं की थी। वे तो लंका नगरमें गये भी नहीं। आर्य-विधान देकर विभीषणको पूर्ण स्वतन्त्र, परंतु अपना आज्ञाङ्कित, आर्य-विधानसे बाहर न जाने योग्य आज्ञाङ्कित करके रक्खा। किसीके स्वातन्त्र्यका अपहरण करनेकी नीति उस समय नहीं थी।

रावणका साम्राज्य उस समय बुरे-से-बुरा समझा जाता था। रावणने राजाओंको परास्त किया था, लूटा भी था, उनकी स्त्रियोंका हरण भी किया था; परंतु जो स्त्री रावणपर अनुरक्त होती थी, उसीको वह अपने अन्तःपुरमें रखता था। इसीलिये वाल्मीकि मुनिने लिखा है कि जो रावणपर अनुरक्त न हुई हो, ऐसी एक भी स्त्री उसके अन्तःपुरमें सती सीतादेवीको छोड़कर दूसरी नहीं थी। आर्योंकी और ऋषि-मुनियोंकी दृष्टिमें रावण बुरे-से-बुरा था; पर उसने भी दूसरोंके राज्योंका हरण नहीं किया और किसी स्त्रीपर बलात्कार भी नहीं किया। इस रावणमें दूसरे राज्योंको लूटना, स्त्रियोंका अपहरण करना और उनको वश करके अन्तःपुरमें रखना—ये दोष अवश्य थे, जो ऋषियोंको असह्य हुए थे। पर रावणने अन्य स्त्रियोंपर बलात्कार नहीं किया था।

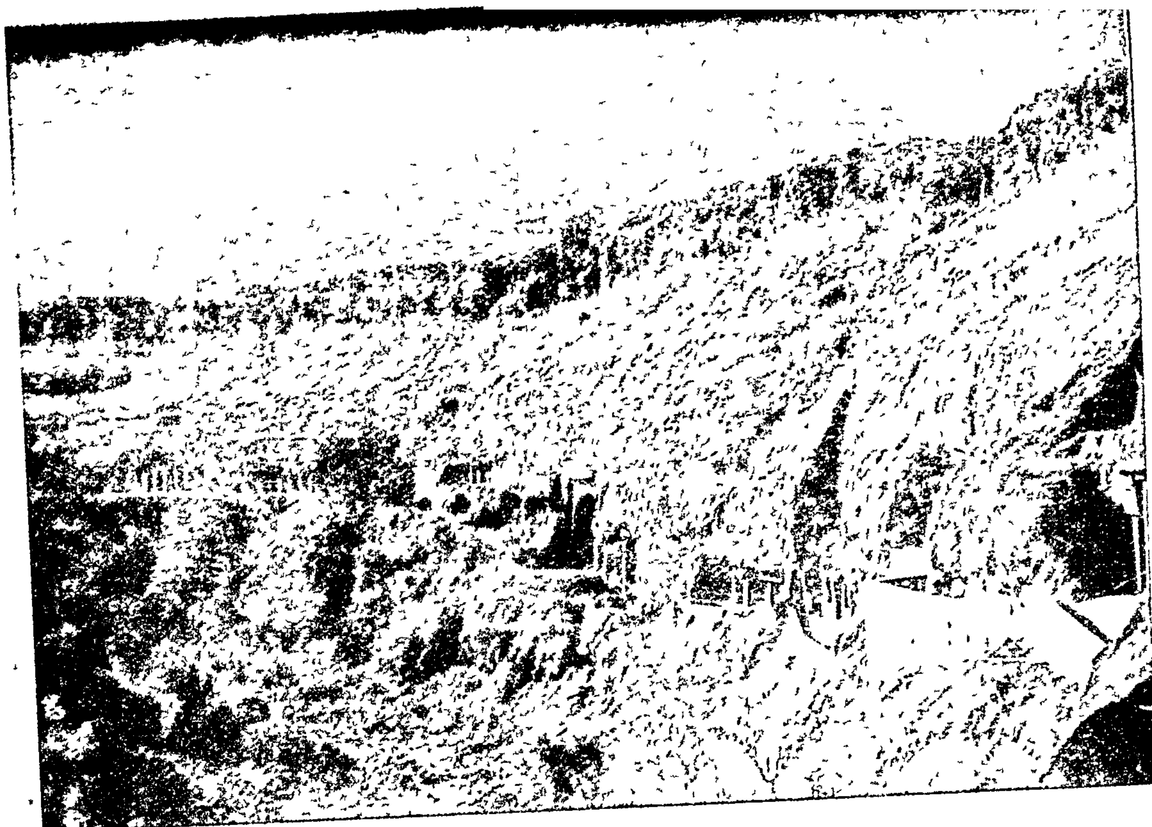
इसके पश्चात् हम देखते हैं कि मुसलमानोंने साम्राज्य स्थापित किये, अंग्रेजोंने किये; पोर्तुगीज आदि। इन सबोंने राज्योंका हरण किया, निर्दोष अत्याचार किये, लूट की, पराजितोंको बुरी तरहसे दबाकर रक्खा। ये सब बातें इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। इनको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

आजका 'साम्राज्यवाद' और प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी 'साम्राज्यकी कल्पना' इनमें आकाश-पातालका अन्तर है। हम यहाँ जिस 'साम्राज्य' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह ऋषियोंका शब्द है, 'आधुनिक साम्राज्यवाद' का नहीं।

ऋषियोंके साम्राज्यमें एक समर्थ राजा दूसरे अनेक राजाओंको परास्त करता, उनको अपना माण्डलिक बनाता और उनको 'आर्य-विधान' देकर इस विधानके अनुसार अपना राज्य चलानेका आदेश देना—इतना ही होता था। मुसलमानों और ईसाइयोंके आधुनिक साम्राज्यवादमें क्या होता था, वह भारतवर्षके गत इतिहाससे प्रसिद्ध है। अस्तु। ऋषियोंका सुसंयत साम्राज्य था। इसमें पराजितोंपर किसी तरह अत्याचार नहीं होते थे। परंतु पराजितोंकी उन्नति करनेके लिये उनको अधिक उत्तम शासनविधान दिया जाता था।

२. भौज्य—यह दूसरा राज्य-शासन है। इसके दो अर्थ मुख्यतः होते हैं। 'भु-ज'—पृथ्वीकी नैसर्गिक मर्यादाओंसे परिवेष्टित राज्य। जिस तरह भारतवर्ष—यह उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें समुद्रसे वेष्टित है। अतः यह भौज्य है। चूँकि निसर्गकी इस देशके लिये मर्यादा है, अतः यहाँका राजा इतने ही भू-विभागपर राज्य करे और बाहरके देशोंपर आक्रमण न करे। इंग्लिस्तान समुद्रसे मर्यादित है, इसलिये अंग्रेज उतने ही टापूमें रहें। इस तरह कई ऋषियोंने भौज्यके नियम निर्धारित किये थे। भौज्यका दूसरा अर्थ जो दूसरे ऋषिमण्डलसे निर्धारित हुआ था, वह था 'भुज' पालना-भ्यवहारयोः (To protect and govern)—प्रजाका भोजनप्रबन्ध करना और उनको सुरक्षित रखकर उनपर राज्य करना। इस अर्थमें प्रजाको खानेके लिये पर्याप्त अन्न, ओढ़नेके लिये पर्याप्त वस्त्र और रहनेके लिये सुखदायी घर देने तथा उनकी अन्तर्बाह्य सुरक्षितता सम्पन्न करनेका भार राज्य-शासनपर आता है। राजा जितनी प्रजाका यह भार उठा सके, उतनी ही प्रजापर वह राज्य कर सकता है। इस अर्थमें भी कुछ स्वारस्य है।

इसके पश्चात् 'स्वाराज्य' शासनका विधान है, पर अपने



अजन्ता-गुफाओंका विहङ्गम दृश्य [पृष्ठ ६८८

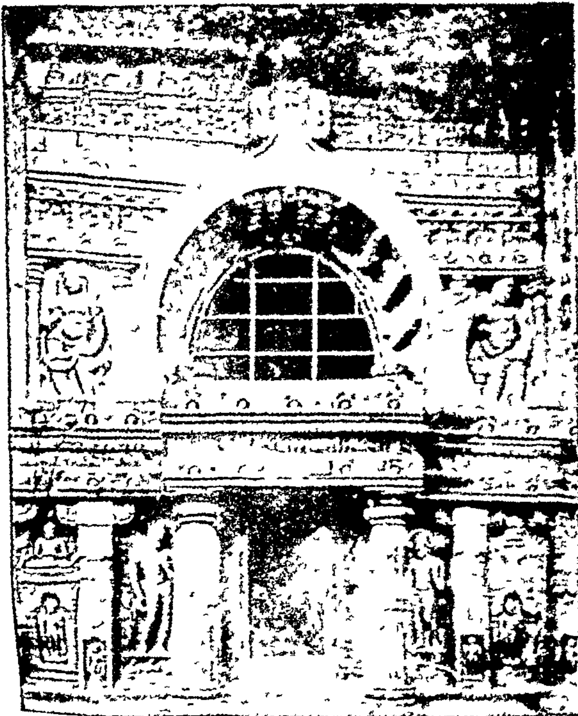
अजन्ताकी दीवारके दो प्रसङ्गदृश्य [पृष्ठ ६८८



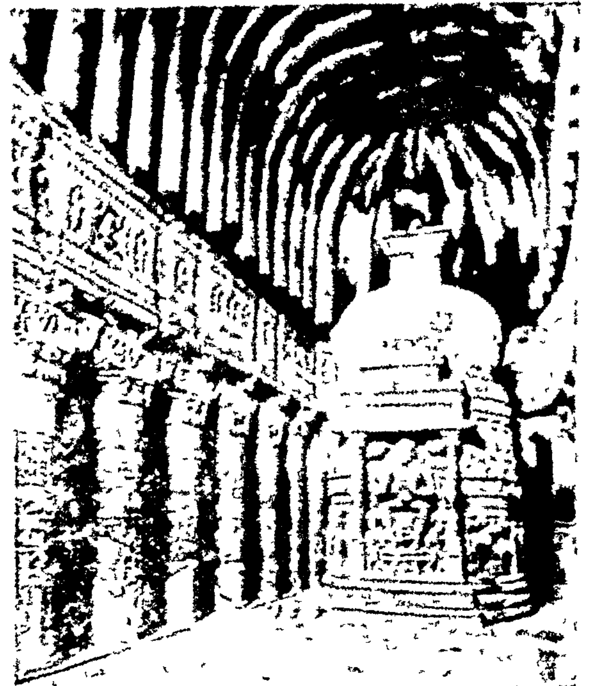
अजन्ताका अभ्यन्तर—भीतरी छतकी चित्रकारी और सुन्दर उत्कीर्ण स्तम्भ



अजन्ता—बरामदा और छतका भीतरी भाग



१६ अजन्ता—मुखभाग



अजन्ता—चैत्य-मण्डपका अभ्यन्तर

विषयकी सुबोधताके लिये हम इसका विचार अन्तमें करेंगे। अतः अब 'वैराज्य'का विचार करते हैं—

३. वैराज्य—(विगतराजकं वैराज्यं) जिसमे कोई राजा नहीं होता, सब जनता ही मिलकर अपना शासन चलाती है। इस वैदिक राज्यपद्धतिके अवशेप अब भी भारतवर्षमें हैं। महाराष्ट्रमे इसका नाम 'दैव' होता है। वह जाति सम्पूर्णतया अपनी ही जातिपर अपना अधिकार चलाती है। कोई एक राजा, शासक, नियामक, अध्यक्ष अथवा प्रधान नही होता। सम्पूर्ण जाति एक स्थानपर जमा होती है और निर्णय करती है, उस निर्णयका पालन वे लोग करते हैं। भारतवर्षमे ऐसी वन्य जातियाँ भी हैं, कि जो इस 'वैराज्य'के अवशेषको आज भी बताती हैं। इसमें दोष यह है कि इस प्रकारका शासन बहुत बड़े भू-भागपर नही हो सकता। छोटे-छोटे स्थानोपर थोड़ी संख्यामे चलनेवाला यह शासन है। अथर्ववेदमे कहा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।

(८। १०। १)

'(अग्रे) प्रारम्भमे (वि-राज्) राजा अथवा शासक नहीं था।' इसीका नाम 'वैराज्य' है। सब जनता, अपने प्रतिनिधियोंद्वारा नही, अपितु स्वयं जो अपना प्रबन्ध करती है, वह 'वैराज्य' कहलाता है। यह (अग्रे आसीत्) मानव-समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामे ही होना स्वाभाविक था और वैसा ही था।

इसके पश्चात् 'पारमेष्ठ्य राज्य'का नाम है। इसका विचार भी हम लेखके अन्तमे करेंगे।

४. महाराज्य—अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वकीय इच्छासे एक होते हैं और एक विधानके अंदर अपने-आपको रखते हैं, वह 'महाराज्य' कहलाता है। इसमें किसीपर जबर्दस्ती या आघात नहीं, परंतु इसमें सबका लाभ ही है। जगत्की स्पर्धामें छोटे-छोटे राज्य रह नहीं सकते, इसलिये उनका परिवर्तन महाराज्यमे होना युक्त ही है; इसी तरह परिवर्तन होते-होते समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक विशाल महाराज्य हो सकता है और यदि इसमे स्वार्थ न बढ़ा, तो सबको अत्यन्त सुख भी मिल सकता है।

५. आधिपत्यमय—पति और अधिपति—ये राज्यके अधिकारियोंके नाम हैं। इनकी सम्मतिसे जो राज्य चलता है, वह आधिपत्यमय राज्यशासन है। अंग्रेजीमे इसका नाम 'ब्यूरोक्रसी' है। और स्वार्थ बढ़ जानेके कारण इसका भी आज बहुत ही घृणित अर्थ हो गया है। पाठक उस घृणित भावको इसमे न देखें और इतना ही समझें कि इसमे राज्याधिकारियोंके अधीन ही शासन-तन्त्र रहता है।

६. समन्तपर्यायी—(सामन्त-पर्यायी राज्य) जो राज्य-शासन सामन्तोके अधीन रहता है, उसका यह नाम है। सामन्त माण्डलिक राजाओका नाम है। उनके अधीन यह राज्य-शासन रहता है। एक आर्य-विधानके अनुसार जो सामन्त राज्य करेंगे, उनका शासन इतना निन्दनीय नही हो सकता। भरत और भगवान् रामचन्द्रके अधीन भी अनेक सामन्त थे। पर उनके होते हुए भी वह 'रामराज्य' ही कहलाया और इस समयतक उसकी प्रशंसा गायी जा रही है। पर आज तो यह सामन्त-मण्डलका राज्य भी घृणित अर्थसे दूषित हो गया है।

७. पारमेष्ठ्य राज्य—परमेष्ठी नाम प्रजापतिका है। परमेश्वरका यह नाम है। सबपर परमेश्वरका राज्य-शासन है, यह जानकर इसके अनुकूल अपना राज्य-शासन चलाना है। सामन्त-राज्य हो अथवा अधिपति-मण्डलका राज्य हो, यदि वे पारमेष्ठ्य राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना राज्य चलायेंगे तो वह निर्दोष हो सकता है।

वैदिक समयमे ऐसा ही होता था। सब आर्य एक वेदानुशासनके नीचे रहकर पारमेष्ठ्य राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना कर्तव्य निष्काम भावसे करते थे। इसलिये मानवी स्वार्थके कारण जिन दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है, वे दोष उस शासनमे नही होते थे।

४. स्वाराज्य-शासन

८. स्वाराज्य—(स्वराज्य) स्वराज्य-शासन भी वैदिक समयका एक उत्तम राज्य-शासन है। आज भी इसी स्वराज्यका प्रयोग हम करते हैं। परंतु यह 'स्वाराज्य' है और आजकलका 'स्व-राज्य' है। इस स्वरभेदको पाठक स्मरण रक्खें। इस स्वरभेदके कारण जो विधान-भेद और अनुशासन-भेद होता है, वह बड़ा भारी है। यहाँ उसका परिपूर्ण विवरण करनेके लिये स्थान नहीं है, परंतु संक्षेपसे 'स्वाराज्य'मे 'स्व' की शुद्धिपर अधिक ध्यान दिया जाता है और 'स्व-राज्य' मे राज्य-शासनके अधिकार अपने अधीन रखनेके लिये विशेष यत्न होता है।

५. आत्मशुद्धि या अधिकारमद

पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा

कि इससे राज्य-शासनमें आकाश-पातालका अन्तर हो जाता है। 'स्वा-राज्य'में 'स्व' की शुद्धता, पवित्रता और निर्दोषता रखने अथवा करनेका यत्न होता है और ऐसे संयमी पुरुष ही राज्याधिकारपर रक्खे जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण राज्य-शासन परिशुद्ध रहता है। रिश्वतखोरी, दम्भ, असत्य, लोभ, अधिकारलिप्सा आदि उक्त 'स्वा-राज्य'-शासनतन्त्रमें नहीं रहते।

परंतु जो 'स्व-राज्य' है, उसमें 'स्व'की शुद्धिकी उपेक्षा और 'राज्य' तन्त्रकी शक्तिसे स्वकीयोंके सुखका संवर्धन करनेका प्रयत्न होता है। इसलिये गुटबंदी उत्पन्न होती है। एक गुट दूसरे गुटको दबानेका प्रयत्न करता है और सर्वत्र संघर्षका वायुमण्डल बढ़ता जाता है। आजकल हम सर्वत्र यही देख रहे हैं। जनतन्त्र राज्य-शासन करनेकी घोषणाएँ तो होती रहती हैं, पर अंदर-अंदरसे अपने गुटोंको संवर्धित करना और दूसरोंको दबाना ही सब देशोंमें चल रहा है। अपना भारत देश भी आज इसी मार्गपर चल रहा है; इसका आदर्श इस समय 'आर्य-आदर्श' नहीं है, यूरोप-अमेरिकाके विधानको ही इसने अपना आदर्श मान रक्खा है। आर्य-विधानका इसको पता ही नहीं और जो बल महात्मा गान्धीजी 'आत्मशुद्धि' पर देते थे और जिस प्रकार अधिकार-ग्रहणसे दूर रहते थे, वह भाव अब दूर होता जा रहा है। इससे 'स्वा-राज्य' और 'स्व-राज्य'का भाव ठीक तरहसे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। 'स्वा-राज्य' शासन वह है, जिसमें परिशुद्ध पवित्र धर्मनिष्ठ निष्पक्ष निष्काम पुरुषोंके अधीन शासनाधिकार रहते हैं; और 'स्व-राज्य' शासन वह है, जिसमें अपने लोगोंके अधीन राज्य-शासन रहता है और वैयक्तिक परिशुद्धतापर कोई सच्चा बल नहीं दिया जाता।

स्वराज्यका यह भाव पाठक ध्यानमें धारण करें 'स्वराज्यमेव स्वाराज्यम्'—स्वराज्य ही स्वाराज्य है; परंतु इसमें आत्मशुद्धिपर विशेष लक्ष्य रहता है।

संक्षेपमें स्वराज्यकी वैदिक कल्पना इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है। उन दिनों यम-नियमोंका पालन—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिकी शिक्षा प्रारम्भसे ही, विद्यार्थी-दशामें ही दी जाती थी। गुरुगृहमें रहकर लोग यम-नियमसम्पन्न हो जाते थे और वे ही राज्यशासनपर आते थे। आज पाठशालाओंमें, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें न तो यम-नियमकी शिक्षा है, न आत्मसंयमकी ओर ध्यान है और न निष्काम सेवाकी ही कल्पना है। सर्वत्र असंयम, भोगलालसा, इन्द्रियचरितार्थता, अर्थ-पैशाचिकता और घोरतम स्वार्थपरताका प्रसार हो रहा है। इसीलिये वैदिक समयमें 'स्व' की पूर्णतापर बल था और आज 'राज्य' की शक्तिपर बल है। इसी कारण प्राचीन समयमें 'रामराज्य' बन सका; इस समय उसमेंसे 'राम' तो चला गया और केवल 'राज्य' ही हाथमें आ गया है!

अस्तु! अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है। स्वाराज्य और स्वराज्य दोनों स्वराज्य ही हैं। दोनों जनराज्य ही हैं, पर एकमें व्यक्ति-सुधारपर बल दिया जाता है और दूसरेमें शासनशक्ति हाथमें रखनेपर बल दिया जाता है।

६. जानराज्य

वैदिक समयमें 'जान-राज्य' शब्द भी था। इसमें 'जान' अर्थात् जनताके सुधारपर बल है। और दूसरा 'जनराज्य' है। इसमें राज्यव्यवस्थापर बल है। ये भी वैसे ही शब्द हैं और वैसा ही गम्भीर भाव बता रहे हैं। बोलनेमें जिस पदके जिस स्वरपर जोर दिया जाता है, वही पद उस वाक्यमें मुख्य भाव बतानेवाला होता है। स्वरशास्त्रका यह नियम जैसा वैदिक समयमें था, वैसा ही इस समय भी विद्वत्संमानित है। इसीलिये विधान-में **'स्व' पर जोर है अथवा 'राज्य' पर जोर है,** यही देखना चाहिये। वैदिक समयमें जो स्वराज्य था, उसमें 'स्व' पर जोर था, और आत्मशुद्धिका विचार प्रबल था। शिक्षाका प्रारम्भ ही आत्मशुद्धिसे होता था। यम-नियम पालन करनेवालोंको ही सब विद्याएँ प्राप्त होती थीं। आर्योंकी प्रणाली यही थी। असुरोंकी प्रणाली भोगप्रधान थी, जिसका विस्तार रावणराज्यके रूपमें हमें मिलता है। जिसको देखना हो, वह देखे।

७. स्वराज्यके अधिकारी

इस तरहसे वैदिक स्वराज्यकी यह परिशुद्ध कल्पना सदा वन्दनीय ही है। इसीलिये वैदिक समयके ऋषिगण भी स्वराज्यशासनमें यत्न करते रहनेकी अभिलाषा रखते थे। अत्रिगोत्रके रातहव्य ऋषिका मन्त्र ही इस विषयमें देखिये—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥
(ऋग्वेद ५। ६६। ६)

इस मन्त्रके 'स्वराज्ये' पदके स्वर भी 'स्व-राज्ये' ऐसे ही हैं। वेदमे सर्वत्र स्वराज्यके 'स्व' पर ही बल दिया गया है। अर्थात् जहाँ आत्मशुद्धिपर ही विशेष बल दिया जाता है, ऐसा यह स्वराज्य है। इस मन्त्रका मुख्य वाक्य यह है—

व्यचिष्टे 'बहु'-पाय्ये 'स्व'-राज्ये आ यतेमहि।

'विस्तृत और बहुतोंद्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे स्वराज्य-शासनमें हम जनताकी भलाईके लिये यत्न करते रहेंगे।'

यह तो इस मन्त्रभागका शब्दार्थ है। इसका विशेष अर्थ ध्यानमें लानेके लिये इस वाक्यके प्रत्येक शब्दका विचार करनेकी आवश्यकता है।

व्यचिष्ट—विस्तृत, व्यापक, सर्वतोगामी, संकुचित भाव जिसमें नहीं है, अर्थात् जो राज्य-शासन जनताके प्रत्येक मनुष्यको अर्थात् धर्मानुसार आचरण करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको सुख देनेका प्रयत्न करता है, अपना परिवार, अपनी जाति, अपने मतवाले आदिका पक्षपात जहाँ नहीं है, प्रत्येक वस्तुमे समानतया ईश्वरभाव देखकर जो व्यवहार होता है, उस असंकुचित व्यापक भावका नाम 'व्यचिष्ट' है। वैदिक स्वराज्यमे पक्षान्धता, गुटबाजी आदि नही थी, यह भाव इससे स्पष्ट हो जाता है।

बहु-पाय्य—बहुतोंद्वारा बहुसम्मतिसे जिसका पालन होता है, वह शासन यहाँ अभीष्ट है। एककी सम्मतिसे कितना भी अच्छा शासन हुआ, तो भी वह अनेक आत्मसंयमी पुरुषोंके शासनसे अधिक अच्छा नहीं हो सकता; इसलिये बहुतोंकी सम्मतिसे पालन होनेवाला राज्य ही श्रेष्ठ होता है। स्वराज्यके शासनके लिये ही यह विशेषण वेदमे लगाया है।

इन दो विशेषणोंसे वैदिक 'स्व-राज्यका अर्थ विशेष रूपसे स्पष्ट हो जाता है। जहाँ संकुचितताका भाव नहीं है और जहाँ बहुसम्मतिसे राज्यका संचालन होता है, वही स्वराज्य है। जिसमे ऋषिलोग (आ यतेमहि) 'हम अखिल मानवोंके हितार्थ प्रयत्न करेंगे', ऐसा भाव मनमे धारण करते थे। इस मन्त्रभागमे 'हम प्रयत्न करेंगे' यह कहा है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँके 'हम' कौन हैं? कौन राष्ट्रकल्याणका प्रयत्न कर सकते हैं? कौन राष्ट्रकल्याण करनेके सच्चे अधिकारी हैं? किनके प्रयत्नसे सचमुच राष्ट्रका कल्याण हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इसी मन्त्रके पूर्वार्धमे दिया है।

८. राष्ट्रकल्याण कौन कर सकेंगे?

हे ईयचक्षसा! मित्र! सूरयः (एते) वयं स्वराज्ये आ यतेमहि।

'हे व्यापक दृष्टिवालो! हे मित्रत्वका व्यवहार करनेवालो! आप दोनो और हम सब विद्वान् मिलकर उक्त स्वराज्यमें सबके कल्याणके लिये प्रयत्न करेंगे।'

इस मन्त्रभागमें स्वराज्य-शासन चलानेके लिये कौन योग्य हैं, यह दिखलाया है। (१) व्यापक दृष्टिवाले अर्थात् जिनमे संकुचित दृष्टि नही है, अपने पक्षवालोंका—अपनी जातिका ही हित करना और अपने पक्षसे भिन्न मतवालोंको कुचलना—यह दुष्टभाव जिनमे नहीं है, जो सबके हितकी व्यापक दृष्टि रखते हैं, उनका नाम 'ईयचक्षाः' है। इनको व्यापक दृष्टिवाले कहते हैं। ये लोग *स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।*

(२) दूसरे 'मित्र'वत् व्यवहार करनेवाले जनताके मित्र, जो सबका कल्याण करनेमे दत्तचित्त रहते हैं, जो कभी किसीसे द्वेष नही करते, वे मित्रवत् व्यवहार करनेवाले स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।

(३) तीसरे 'सूरयः' अर्थात् ज्ञानी, सत्यज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले विद्वान्, यथार्थ ज्ञान धारण करनेवाले—ये भी स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी है।

इसका फलितार्थ यह हुआ—

स्वराज्यके अधिकारी	स्वराज्यके लिये अयोग्य
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. संकुचित दृष्टिवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. शत्रुता बढ़ानेवाले
३. ज्ञानी	३. अज्ञानी

जो स्वराज्यके लिये योग्य हैं, वे ही स्वराज्यमे शासक हो सकते हैं। अर्थात् वैदिक स्वराज्यमे व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और ज्ञानियोंको ही अधिकारके स्थान प्राप्त हो सकते हैं; परंतु जो संकुचित दृष्टिवाले, शत्रुता करनेवाले और अज्ञानी हैं, उनको वैदिक स्वराज्यमे मताधिकार भी नहीं होगा।

९. सबको मताधिकार

आज हमारे नेता कह रहे हैं कि 'सभी पूर्ण आयु (१९ वर्षकी आयु)-वालोंको इस स्वराज्यमे मताधिकार होगा।' अब आप देखिये कि इसमें यम-नियमकी

कोई आवश्यकता नहीं है, व्यापक दृष्टिकी कोई योग्यता नहीं, मित्रवत् व्यवहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ-तक कि विद्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। देखिये वैदिक स्वराज्य और आजका स्वराज्य कैसा है—

वैदिक स्वराज्यके मताधिकारी	आजके स्वराज्यके मताधिकारी
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. केवल १९ वर्षकी आयुवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. सज्जन और दुर्जन
३. ज्ञानी, विद्वान्	३. विद्वान् और मूर्ख
४. आत्मसंयमी	४. सबको मताधिकार

वैदिक धर्मके स्वराज्यमें 'स्व' की उन्नतिपर ध्यान दिया जाता था; इसीलिये यम-नियम-पालन, व्यापक दृष्टि, मित्र-दृष्टि और सत्यज्ञानवालोंको ही मताधिकार दिया जाता था। आजके स्वराज्यमें 'राज्याधिकार' प्राप्त करना ही सबका लक्ष्य है, इसलिये केवल आयुकी ही मर्यादा रक्खी गयी है। यह महत्त्वपूर्ण भेद है वैदिक स्वराज्यमें और आजके स्वराज्यमें। यही स्वर-भेदसे 'स्वा-राज्य' अथवा 'स्व-राज्य' लिखा जाता है। पाठक ही विचार करें कि 'स्व' की शुद्धिपर बल देना चाहिये अथवा राज्यका शासनाधिकार ही केवल प्राप्त करना चाहिये। किससे जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है?

१०. विश्व-कल्याणका ध्येय

वैदिक ऋषि जनताके सच्चे कल्याणका ही ध्येय अपने सामने रखते थे—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद-
स्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसं नमन्तु॥
(अथर्व० १९।४१।१)

'सब जनताका कल्याण करनेकी इच्छा रखनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारम्भमें दीक्षा लेकर तप किया। इससे राष्ट्र, बल और ओजका निर्माण हुआ; अतएव सब विबुध इस राष्ट्रकी भक्ति करें।'

ऋषियोंकी तपस्यासे राष्ट्रभावकी उत्पत्ति हुई है, राष्ट्रभावनासे राष्ट्रिय बल बढ़ता है और बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। 'ततो राष्ट्रं बलं ओजः च जातम्' यह क्रम वेदमें ही निश्चित हो चुका है। राष्ट्रियता, बल, ओज—इनमें एकके साथ दूसरेका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। जिनका राष्ट्र है, उनमें बल और ओज होंगे; जो शताब्दि-योंसे परतन्त्र होंगे, उनमें राष्ट्रिय भावना नहीं होगी, सात्त्विक बल भी नहीं होगा और ओज भी नहीं रहेगा।

ऋषियोंकी तपस्यासे जिस राष्ट्रियताकी उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता यम-नियम-पालनके बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती। इसीलिये ऋषियोंद्वारा जो पूर्वोक्त अनेक राज्य-शासन निर्माण हुए, उनकी शासन-प्रणालीमें यम-नियम-पालन करनेवालोंके लिये ही स्थान है। इसमें 'सब धान बाईस पसेरी' या 'टके सेर खाजा और टके सेर ही भाजी' के अनुसार सज्जन-दुर्जन सब एक ही मापसे मापे नहीं जा सकते। उसमें इन्द्रियलोलुप, उच्छृङ्खल, द्वेष-दम्भसे युक्त, दुष्कृत्यरत लोगोंको स्थान नहीं।

वैदिक स्वराज्यशासनका यही महत्त्व है और यही वैदिक स्वराज्यकी विशेषता है। देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
(अथर्व० ११।३।५)

'ब्रह्मचर्यरूप तप करके ही राजा और राष्ट्रपुरुष राज्य-पालन-व्यवहारके अधिकारी होते हैं।' ब्रह्मचर्य-पालनमें 'यम-नियम' आ गये हैं। यह वैदिक राज्यशासनका सूत्र है। ऋषियोंके तपका यह फल है। जिस शासन-प्रणालीसे जनताका सच्चा सुख बढ़ सकता है, वह यही शासन है।

सम्पूर्ण तरुणोंको अथवा प्रौढ़ोंको मताधिकार रहनेसे बहुसम्मति तो मूढ़ोंकी ही सम्मति होगी, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। जनतामें मूढ़ ही बहुसंख्यक हैं और सच्चे ज्ञानी अल्पसंख्यक हैं। इसलिये वेदने जानराज्यमें ज्ञानियोंका ही अधिकार रक्खा है, सदाचारियोंका ही अधिकार रक्खा है। लोक ज्ञानी बनें, सदाचारी बनें और स्वराज्यशासनमें अपना कर्तव्य करनेके अधिकारी हों।

इतने प्राचीन समयमें जिन ऋषियोंने इतने आठ-दस राज्यशासनोंके नामाभिधान रक्खे और उनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया, उनको राज्यशासन-विषयक कल्पना नहीं थी, और जो सब-की-सब जनताको शासनाधिकार देते हैं, उनको शासनतन्त्रका ज्ञानविशेष है—यों कई यहाँ कहेंगे। पर इसका निर्णय तो अनुभवसे ही हो सकेगा।

वैदिक राज्यशासन 'गुणी और धार्मिक सज्जनोंका शासन' है तथा इसकी जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त वर्णनसे पाठक जान सकते हैं। यह एक परिपूर्ण शासनव्यवस्था है, जिससे समस्त जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है।

आदर्श राज्यानुशासन-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

वर्तमान युगमें समस्त विश्वके मानवमात्र सुख-शान्तिकी खोजमें अथक परिश्रम कर रहे हैं और विविध ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होनेके लिये सचेष्ट हैं; तथापि कठिनाइयोंसे मुक्ति नहीं मिलती, दुःख और क्षोभ बढ़ता ही जा रहा है। 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात।' भीषण समस्या है ! यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, राजा, प्रजा, शासनव्यवस्था और समस्त विभूतियोंकी प्राप्तिके साधन हैं; परंतु कष्टोंकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। कल्याणका मार्ग दृष्टिपथमें आता ही नहीं। आये भी कैसे ! बबूलका बीज वपन करके आम्रफल प्राप्त करना असम्भव है। आधुनिक जगत्के पास वह शान्तिका मूल बीज ही नहीं है। आइये, त्रिकालदर्शी जगत्-हितरत तपोनिष्ठ भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रदर्शित मार्गका अनुसरण करें। वही कल्याणका, सुख और शान्तिका मार्ग है। उन्होंने शासन-सत्ताको ही कालनियामक स्थिर किया है। वह शासन-सत्ता चाहे राज-सत्तात्मक, प्रजा-सत्तात्मक, राजप्रजा-सत्तात्मक अथवा किसी भी प्रकारकी हो, शासनान्तर्गत समस्त क्रियाओंका दायित्व उसीपर होता है। शासनके धर्ममूलक होनेसे प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्ति या अनासक्तिका पोषण होता रहता है। अतः राजा-प्रजा दोनोंमें सुख-समृद्धि और शान्तिकी अभिवृद्धि होती रहती है। अधर्ममूलक शासनमें निवृत्तिका निरोध और प्रवृत्तिका पोषण होता है; अतः परिणाम होता है—काम, क्रोध, लोभ, दुःख, दैन्य, अशान्ति इत्यादि। धर्म ही आर्योंके राज्यानुशासन-विज्ञानकी आधारशिला है। राम-राज्य आदर्श धर्ममूलक राजशासनका प्रतीक है। भारतभूमिके कण-कणमें राम-राज्यकी विभूति अन्तर्हित है; परंतु पश्चिमकी अधर्ममूलक प्रवृत्तिके अन्धानुकरणके मोहसे विमुग्ध नर दुःख-दैन्यसे छूटनेके लिये दुःखद मार्गको ही प्रश्रय दे रहा है। यह सबसे बड़ी विडम्बना है। भारतीय राम-राज्य-शासन-पद्धतिमें ईश्वरत्वकी प्रतिष्ठा है। 'नराणां च नराधिपम्', 'रामः शस्त्रभृतामहम्' इत्यादि भगवान्के स्वमुखसे उच्चारित वाक्य इस दिशामें निरन्तर प्रकाश दे रहे हैं। धर्ममूलक शासनमें व्यवस्था स्थापित करनेके लिये शुद्ध धार्मिक भावसे, अनासक्त भावसे युद्धादिमें प्रवृत्त होनेपर भी दुर्भावनाएँ नहीं सताती। भगवान्ने अर्जुनको इसीलिये समझाया था—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

राम-राज्यकी महिमा अवर्णनीय है। उसका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिये रामायण-महाभारतादि आर्ष ग्रन्थोंका अवलोकन करना आवश्यक है। परंतु केवल परिचयमात्रसे क्या होगा। समस्त दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये राम-राज्यकी स्थापना ही एकमात्र उपाय है। इस महान् यज्ञमें सफलता-प्राप्तिके लिये त्याग, तप आदि तो आवश्यक हैं ही; किंतु सबसे अधिक आवश्यक है—भगवान्की सत्ता, शक्ति और कृपामें अटूट श्रद्धा और अनन्य विश्वास। श्रद्धा और विश्वाससे ही हमें वह बल मिल सकेगा, जिससे हम वर्तमान दुःखद विधानोंमें परिवर्तन कर सकें। महाभागवत महात्मा गान्धीने प्राणोंकी बाजी लगाकर सन्मार्गका प्रदर्शन किया है, यह जगद्विदित है; तथापि अभी मोहनिद्रा भङ्ग नहीं हो रही है। जीवनका वह सर्वोदय-दिवस होगा, जिस दिन हम सर्वात्मना अपनेको भगवच्चरणमें अर्पणकर उपासनाकी आगसे स्वयं भगवान्को इतना द्रवीभूत कर देंगे कि उन्हें अपनी—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

—इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके द्वारा राम-राज्यकी स्थापना करनी ही पड़े। समस्त प्रजाके योगक्षेमवहनका यह स्वरूप है। हिंदू-संस्कृतिके आदर्श शासनविज्ञानका यह रहस्य है।

भारतीयोंकी निष्कपटता

'भारतवर्षके करोड़ों व्यक्ति वहाँके साधु-संतोंकी ही भाँति रहते आये हैं—सहजरूपसे सरल, कपट-रहित और ऋणरहित।'

—प्रो० पी० जॉर्ज

शुक्रका कहना है कि पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है। पिछले जन्ममें वह जैसी तपस्या कर चुका होता है, उसीके अनुरूप वह सात्त्विक, राजसी या तामसी होता है। जो राजा सात्त्विक तप किये होता है वह धर्मनिष्ठ, प्रजापालक, यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला, शत्रुविजेता, दानी, क्षमावान्, शूरवीर, निर्लोभी तथा विषय और व्यसनोंसे विरक्त होता है और वह सात्त्विक राजा अन्तसमयमें मोक्षको प्राप्त होता है—

> नृपः स्वप्राक्तनाद्धत्ते तपसा च महीमिमाम्।
> सात्त्विकं राजसं चैव तामसं त्रिविधं तपः।
> यादृक् तपति योऽत्यर्थं तादृग्भवति स नृपः॥
> यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः।
> यष्टा च सर्वयज्ञानां नेता शत्रुगणस्य च।
> दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि॥
> विरक्तः सात्त्विकः स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्।
>
> (शुक्रनीतिसार १। २०, २९—३१)

इसी प्रकार नारद तथा कात्यायनने भी राजाके लक्षण बतलाये हैं। किंतु कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रके 'मण्डलयोनि' नामक छठे अधिकरणमें अत्यन्त विस्तारसे विचार किया है। उनका कहना है कि 'राजाके १६ आभिगामिक, ८ प्रज्ञाके, ४ उत्साहके तथा ३० आत्मसंपत्के गुण हैं, जिनमें महाकुलीन, भाग्यशाली, मेधावी, धैर्यशाली, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, महादानी, महान् उत्साही, क्षिप्रकारी, दृढ़निश्चय, समीपवर्ती राजाओंको जीतनेमें समर्थ, उदार परिवारवाला और शास्त्रमर्यादाको चाहनेवाला—ये राजाके १६ आभिगामिक गुण हैं—

> महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्त्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविसंवादिकः कृतज्ञः स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः। (कौटिल्य० ६। १। ३)

'शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह, तत्त्व तथा अभिनिवेश—ये आठ प्रज्ञाके गुण हैं। शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता तथा दक्षता—ये ४ उत्साहके गुण हैं। इसी प्रकार आत्मसंपत्के विषयमें कौटिल्य कहते हैं कि 'वाग्मी (अर्थ-पूर्ण भाषण करनेमें समर्थ), प्रगल्भ (सभामें बोलते समय कम्परहित), स्मृति, मति तथा बलसे युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी-घोड़े आदिके चलानेमें निपुण, शत्रुकी विपत्तिमें चढ़ाई करनेवाला, अपनी विपत्तिमें सेनाकी रक्षा करनेवाला, किसीके द्वारा उपकार या अपकार किये जानेपर उसका प्रतिकार करनेवाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्ष आदिमें अन्नादिका ठीक-ठीक विनियोग करनेवाला, लंबी और दूरकी सोचनेवाला, अपनी सेनाके युद्धोचित देश, काल, उत्साह, शक्ति तथा कार्यको प्रधानतया देखनेवाला, सन्धिके प्रयोगको समझनेवाला, प्रकाश-युद्ध आदि करनेमें चतुर, सुपात्रको दान देनेवाला, प्रजाको कष्ट न पहुँचाकर ही गुप्तरूपमें कोषको बढ़ानेवाला, शत्रुके अंदर मृगया-द्यूत आदि व्यसनोंको देखकर उसपर तीक्ष्णरस आदि प्रयोग करनेमें समर्थ, अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, दीन पुरुषोंकी हँसी न उड़ानेवाला, टेढ़ी भौंह न करके देखनेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप और पैशुन्यसे सदा आगे रहनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, हँसमुख तथा उदार भाषण करनेवाला और वृद्धोंके उपदेश तथा आचारका माननेवाला राजा होना चाहिये। ये ही राजाकी आत्मसंपत् हैं—(कौ० ६। १। ४—६)। 'मत्स्यपुराण' तथा 'महाभारत'में भी ये लक्षण कुछ संक्षेपमें तथा कुछ विस्तारपूर्वक कहे गये हैं।

४-राजाके दोष

नारदजीने कहा है कि नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद (अकर्तव्यका आचरण और कर्तव्यका त्याग), दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, इन्द्रियपरायणता, अकेले ही समस्याओंपर विचार करना, अनभिज्ञ लोगोंके साथ मन्त्रणा करना, मन्त्रणामें निश्चित कार्योंका आरम्भ न करना, मन्त्रणाको गुप्त न रखना, माङ्गलिक कार्योंका प्रयोग न करना, और एक ही साथ बहुतसे शत्रुओंके साथ विरोध करना। राजाको परीक्षापूर्वक इन चौदह दोषोंसे बचना चाहिये—

> नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
> अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥
> एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम्।
> निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥
> मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
> कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥
>
> (महा० सभा० ५। १०७—१०९)

५-ज्यौतिष-शास्त्रानुसार राजाके लक्षण

'वृद्धपराशर' का कहना है कि जन्मकुण्डलीमें त्रिकोण (५, ९)-स्थान लक्ष्मीके हैं तथा केन्द्र (१, ४, ७, १०

—यहाँ विशेषतः ४ । १० का भाव है) विष्णुके स्थान हैं । इन भावोंके स्वामियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे राजयोग होता है; विशेषतः नवमेश-दशमेशके संयोगसे राजा—राजाधिराज होता है—

लक्ष्मीस्थानं त्रिकोणं च विष्णुस्थानं च केन्द्रकम् ।
तयोः सम्बन्धमात्रेण राजयोगादिकं भवेत् ॥
कर्मेशस्य तु योगेन राजा साचिव्यतामियात् ।
केन्द्रधर्मेशयोर्योगे राजा वै राजवन्दितः ॥
धर्मकर्माधिपौ चैव व्यत्यये तावुभौ स्थितौ ।
युक्तश्चेद्वै तदा वाच्यः सर्वसौख्यसमन्वितः ॥

(बृ० पा० पू० खं० राजयो० २८ । ३७–४०)

वराहमिहिरका कहना है कि मङ्गल, शनैश्चर, सूर्य और बृहस्पति—ये चारों ग्रह अपने उच्च स्थानोंमें स्थित होकर लग्नमें स्थित हों तो राजा होता है । इन्हीं चारों ग्रहोंमेंसे दो ग्रह अपने उच्च स्थानोंमें स्थित होकर आपसमें प्रत्येक लग्नमें स्थित हों और चन्द्रमा अपने स्थानमें स्थित हो तो राजयोग होता है—

चक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैस्त्रिभिश्च
स्वोच्चेषु षोडशनृपाः कथितैकलग्ने ।
द्व्येकाश्रितेषु च तथैकतमे विलग्ने
स्वक्षेत्रगे शशिनि षोडश भूमिपाः स्युः ॥

(बृहज्जा० राज० ११ । २)

माण्डव्यका कहना है कि मकर राशि लग्नमें स्थित हो और उसीमें शनैश्चर हो तथा मीन राशिमें चन्द्रमा, मिथुनमें मङ्गल, कन्यामें बुध और धनमें बृहस्पति हो तथा सूर्य और शुक्र—ये दोनों कहीं भी स्थित हों तो इस योगमें पैदा होनेवाला व्यक्ति इन्द्रके समान राजा होता है—

मृगे लग्ने सौरस्तिमियुगगतः शीतकिरणः
कुजो युग्मे नार्यां शशभृत्सुतश्चापधरगः ।
गुरुर्दैत्येज्यार्कावभिमतगतौ चारवशतः
प्रसूतौ यस्यासौ भवति नृपः शक्रसदृशः ॥

जातक-पारिजातका मत है कि कन्या, मीन, मिथुन, वृष, सिंह, कुम्भ और धनमें सब ग्रह स्थित हों तो वह मनुष्य बड़ा यशस्वी एवं प्रतापी राजा होता है तथा उसके पास चतुरङ्गिणी सेना होती है—

कन्यामीननृयुग्मगोहरिधनुःकुम्भस्थितैः खेचरैः
सेनामत्तमतङ्गवाजिविपुलो राजा यशस्वी भवेत् ॥

(जा० पा० ७ । १)

सारावलीकी उक्ति है कि एक भी ग्रह परमोच्चका होकर वर्गोत्तमांशमें हो और बली मित्रसे दृष्ट हो तो जातक राजा होता है—

एक एव खगः स्वोच्चे वर्गोत्तमगतो यदि ।
बलवन्मित्रसंदृष्टः करोति पृथिवीपतिम् ॥

फलदीपिकाकारका मत है कि जिसके जन्मसमय जो ग्रह नीच राशिमें प्राप्त हो, उस नीच राशिका स्वामी या उस ग्रहके उच्चस्थानका स्वामी लग्नसे या चन्द्रमासे केन्द्रमें स्थित हो, वह धर्मात्मा और चक्रवर्ती राजा होता है—

नीचे तिष्ठति यस्तदाश्रितगृहाधीशो विलग्नाद्यदा
चन्द्राद्वा यदि नीचगस्य विहगस्योच्चर्क्षनाथोऽथवा ।
केन्द्रे तिष्ठति चेत् प्रपूर्णविभवः स्याच्चक्रवर्ती नृपो
धर्मिष्ठोऽन्यमहीशवन्दितपदस्तेजोयशोभाग्यवान् ॥

जातकाभरणका मत है कि जिसकी कुण्डलीमें पाँच ग्रह अपने-अपने उच्चमें बैठे हों तो वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा होता है—

नभश्चराः पञ्च निजोच्चसंस्था यस्य प्रसूतौ स तु सार्वभौमः ।

(जातकाभ० ६ । १३)

पराशरजीका मत है कि 'नवमेश और दशमेश—ये दोनों पारिजातांशमें प्राप्त होकर भोग करते हों तो वह राजा लोक-शिक्षक होता है । यदि ये ही दोनों गोपुरांशमें चले गये हों तो वह राजा राजाओंसे भी वन्दित होता है और सारी पृथ्वीका पालक—चक्रवर्ती होता है । श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी कुण्डलियोंमें पाँच ग्रह उच्चस्थ थे तथा हरिश्चन्द्र, मनुपुत्र उत्तम, बलि, युधिष्ठिर आदिकी कुण्डलियोंमें नवमेश तथा दशमेश परस्पर सम्बन्ध रखते हुए गोपुरांशको प्राप्त थे। नागार्जुन और विजयाभिनन्दनकी कुण्डलियोंमें भी ये ही योग रहेंगे । भगवान्‌के सभी अवतारोंमें ये ही ग्रह प्रथम देवलोकांशमें प्राप्त हुए होते हैं । द्वितीय देवलोकांशमें इन्द्रादिकोंका तथा प्रथम ऐरावतांशमें स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ था ।'

अस्मिन् योगे हरिश्चन्द्रो मानवश्चोत्तमस्तथा ।
बलिर्वैश्वानरो राजा अन्ये चैव तु चक्रपाः ॥
कलौ युगे तु भविता तथा राजा युधिष्ठिरः ।
भविता शालिवाहश्च तथा विजयनन्दनः ॥
नागार्जुनस्तथा भूपस्तदन्ये चैव गोपुरे ।
पारावतांशकेऽन्ये च जाता मन्वादयस्तथा ॥

देवलोके तु प्रथमे हरेश्चैवावतारणम् ।
मत्स्यादिकल्किपर्यन्ताः सर्वे वर्गोद्भवा मताः ॥
द्वितीये देवलोके तु ज्ञेयाश्चेन्द्रादयः परे ।
ऐरावते च प्रथमे जातः स्वायम्भुवो मनुः ॥

(बृहत्पाराशर होरा० पूर्वभाग० २८ । ४१ । ४८)

राज्यकी प्राप्ति कब होगी, इसका वर्णन करते हुए भगवान् गर्गाचार्य कहते हैं कि जो ग्रह कर्मस्थ हो या लग्नस्थ हो या जो अत्यन्त बली हो, उसीकी अन्तर्दशामें राज्यकी प्राप्ति होती है—

लग्नः कर्मगो वा स्यादथवा प्रबलोऽपि यः ।
स स्यात्स्वान्तर्दशाकाले राज्यदः प्रबलो यदा ॥

६-राजाके सामुद्रिक लक्षण

जब भगवती श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे पूछा कि 'भगवान् राम और लक्ष्मणकी आकृति कैसी है ?' तब हनुमान्‌जीने ठीक सामुद्रिक रीतिसे भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन किया । आपने कहा कि 'उनके तीन अङ्ग मजबूत हैं, तीन लंबे हैं, तीन बराबर हैं, तीन ऊँचे हैं, तीन लाल हैं, तीन चिकने हैं तथा तीन गम्भीर हैं ।'

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥

(वा० रा० सु० ३५ । १७)

सामुद्रिक-शास्त्रमें बतलाया गया है कि राजाकी जाँघ, कलाई और मुट्ठी मजबूत होती है। भौंहे, मुख और बाहु लंबे होते हैं। केशाग्र, बाहु तथा वृषण बराबर होते हैं। वक्षःस्थल, नाभिका अन्तिम भाग और उदर ऊँचे होते हैं। नेत्रोके कोने, नख और हाथ-पैरके तलवे—ये तीन वस्तुएँ लाल होती हैं। हाथ-पैरकी रेखाएँ, सिरके बाल तथा मणि चिकने होते हैं एवं स्वर, चाल और नाभि गम्भीर होती है। भगवान् श्रीरामके इन सभी लक्षणोंको हनुमान्‌जीने संक्षेपमें वर्णन किया था—

ऊरुश्च मणिबन्धश्च मुष्टिश्च नृपतेः स्थिराः ।
प्रलम्बा यस्य स धनी त्रयो भ्रूमुखबाहवः ॥
केशाग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः ।
नाभ्यन्तःकुक्षिवक्षोभिरुन्नतैः क्षितिपो भवेत् ॥
नेत्रान्तनखपाणयङ्घ्रितलैस्ताम्रस्त्रिभिः सुखी ।
स्निग्धा भवन्ति वै येषां पादरेखाः शिरोरुहाः ॥
तथा लिङ्गमणिस्तेषां महाभाग्यं विनिर्दिशेत् ।
स्वरे गतौ च नाभौ च गम्भीरः स च शस्यते ॥

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके हाथ-पैरोंमें हाथी, छत्र, मत्स्य, पुष्करिणी, अंकुश और वीणाके चिह्न हों, वह राजा होता है—

चेद्वारणो वाऽऽतपवारणो वा
वैसारिणः पुष्करिणी सृणिर्वा ।
वीणा च पाणौ चरणे नराणां
ते स्युर्नराणामधिपा वरेण्याः ॥

'जिसका गोल सिर, चौड़ा मस्तक, कर्णान्त-विस्तारी नीलकमल-सदृश नेत्र और घुटनेतक लंबी भुजा हो, वह सारे भूमण्डलका स्वामी होता है ।'

सुवृत्तमौलिस्तु विशालभाल-
श्चाकर्णनीलोत्पलपत्रनेत्रः ।
आजानुबाहुं पुरुषं तमाहु-
र्भूमण्डलाखण्डलमार्यवर्याः ॥

'अग्निपुराण'के २४३वें अध्यायमें तथा 'स्कन्दपुराण'-काशीखण्ड, पूर्वभागके स्त्रीलक्षण-वर्णनाध्यायमें राजा और रानियोंके लक्षण विस्तारसे लिखे गये हैं। जिज्ञासुओंको उन्हें वहीं देखना चाहिये । असलमें, जैसा राजाके प्रधान लक्षणोंमें बताया गया है, उसकी तपस्या ही उसके राजत्वका कारण होती है। 'शुक्र' का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'अपने पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है।' अपने यहाँके राजाओंमें स्वायम्भुव मनु, ध्रुव, प्राचीनबर्हिष्, इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, विदेह, गाधि, रघु, अम्बरीष, गय, सगर, मान्धाता, अलर्क, रन्तिदेव, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, शिवि, प्रह्लाद एवं विभीषणादि ही प्रशंसनीय हैं। यह स्पष्ट है कि धर्म तथा नयके कारण राज्यभ्रष्ट व्यक्ति भी राज्यारूढ़ हो गये हैं; इसके विपरीत धर्मभ्रष्ट होनेपर राज्यारूढ़ भी राज्यच्युत होता देखा गया है—

बहवोऽविनयाद् भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥

(मत्स्य० २१५ । ५३)

यहाँ 'विनय' शब्द 'इन्द्रियजय' का द्योतक है ।

विनयो ह्यन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम् ।

(अग्नि० रामोक्तनी० २३८ । ३)

भगवान्‌की शरणागति तो सब धर्मोमें श्रेष्ठ है और विशेषकर आजकलके युगमे तो एकमात्र यही धर्म बच रहा है; अतएव राजाके लिये तन-मनसे भगवच्छरण होना ही प्रमुख कर्तव्य होना चाहिये । यदि राज्यपाटके नशेमें वह भगवान्-

को भूलकर वेन या रावण-सा आचरण करने लगता है, तब 'राम बिमुख संपति प्रभुताई। गई रही पाई बिनु पाई ॥' हो जाती है।

७—राजाका कर्तव्य

साधारणतया राजाके गौण लक्षणोंमें ही उसके कर्तव्यकी चर्चा भी आ गयी है। उसके कर्तव्योंके विस्तृत वर्णनमें पूरी राजनीति ही आ जाती है। 'मत्स्यपुराण' के २१५ वें अध्यायमें अत्यन्त संक्षेपमें राजाके कर्तव्यका विचार है। फिर उन्तालीस अध्यायोंमें उन्हींका विस्तार है। पर प्रधानतया राजाका कर्तव्य 'धर्मरक्षण' ही है। सभी शास्त्रों, इतिहास-पुराणों तथा राजनीतिके ग्रन्थोंमें इसीको विस्तारसे बतलाया गया है। असलमें तो धर्मरक्षणके अतिरिक्त राजाका कोई अन्य कर्तव्य ही नहीं होता। यही कारण है कि हरिश्चन्द्र आदि राजाओंने धर्मके कारण राज्यश्रीतकको त्याग दिया। जिन्हें भगवान्‌ने बुद्धि दी है, वे दूरतक विचार करते हैं; फिर वे समझ लेते हैं कि इस नश्वर विश्वमें आजतक कितने राजा हुए और चले गये—यह पृथ्वी कितनोंकी हुई और भाग निकली, अब उनमेंसे बहुत-से राजाओंके नामतकका पता नहीं है, इसलिये अधर्माचरणकर लोक—भगवान् तथा महात्माओंको क्यों असन्तुष्ट किया जाय? इसके अतिरिक्त समय पलटते ही भगवान् तो धर्मकी रक्षा करा ही लेते हैं। उन अधार्मिकोंकी बादमें निन्दा भी कम नहीं होती। इसलिये भगवान् रामने ठीक ही कहा है कि कोई भी बुद्धिमान् राजा इन बातोंको सोचता हुआ पापाचरण न करेगा—

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥

(अग्नि० २३। १२)

'आधि-व्याधिसे ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होनेवाले इस शरीरके लिये कौन राजा धर्मविरुद्ध आचरण करेगा।'

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्व-
मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः।

'यह पृथ्वीका आधिपत्य हवामें उड़नेवाले बादलके समान है, विषय-भोग केवल आरम्भमें ही मधुर लगनेवाले हैं, प्राण तिनकेके अग्रभागमें स्थित जलबिन्दुके समान हैं, धर्म ही मनुष्योंका सनातन सुहृद् है, उसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये।'



संस्कृतिकी मीमांसा

(लेखक—डा० श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्०ए०, डी०एस्-सी०, विद्यावारिधि)

'संस्कृत' और 'संस्कार' शब्द पुरातन और बहुशास्त्रप्रयुक्त हैं। 'संस्कृति' शब्द इनकी अपेक्षा नया है। अमरकोश अथवा आप्टेके कोशमें यह नहीं है। अंग्रेजी 'कल्चर' और 'सिविलिजेशन' शब्दोंका अर्थपरिचय करानेके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है; परंतु इन अंग्रेजी शब्दोंका अर्थ भी सुनिश्चित नहीं है। इसी प्रकार 'संस्कृति' शब्दका अर्थ भी प्रवाही है। इसकी कोई शास्त्ररूढ़ परिभाषा नहीं है, पर परिभाषा बनानेका प्रयत्न है। ऐसी ही परिस्थिति 'हिंदू' शब्दकी भी है। संस्कारी मानव-समाजके लिये पुरातन शब्द 'आर्य' था। सिन्धु नदीके समीप या पारका देश सिन्धुस्थान, हिंदुस्थान (अथवा इंडस नदीके नामपर इंडिया) कहलाया और वहाँके लोग हिंदू कहलाये। इस प्रकार 'हिंदू' शब्द पर-प्रत्यय है। परंतु इस समय यह बहुत रूढ़ और बहुत व्यापक हो गया है। तथापि इसके आज भी देशवाचक, जातिवाचक और धर्मवाचक—विभिन्न अर्थ किये जाते हैं।

देशकी भाषाओंमें सामान्य रूपसे इन शब्दोंका जैसा प्रयोग होता है, उसपरसे अर्थ-भावना करके यों कह सकते हैं कि शुभ, शुद्ध अथवा सुसम्बद्ध करनेकी जो क्रिया है, वह है संस्कार, और जिसका संस्कार होता है, वह है संस्कारी। संस्कार-समुच्चयका स्थायी भाव है संस्कारिता। देशगत या समाजगत संस्कारिताका व्यापक प्रस्तार है—संस्कृति। इसी अर्थमें हिंदू-संस्कृति, यूरोपीय संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति इत्यादि प्रयोग किये जाते हैं। 'हिंदू' शब्दको हम यदि धर्मवाचक अर्थात् धर्मप्रधान लक्षणवाला मानें और धर्मको विशिष्ट शास्त्र-ग्रन्थोंद्वारा उदित और निश्चित समस्त जीवनका पुण्य मार्ग समझें तो 'हिंदू' शब्दमें जैन, सिख, देवसमाजी, ब्राह्मसमाजी, बौद्ध आदि नहीं समा सकते; क्योंकि इनकी धर्ममार्गकी मीमांसा और नियमादि पृथक् हैं, विचार-पद्धति भी भिन्न है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद्‌में एक सदस्यने एक बार कहा था कि 'हिंदमें जो बसते हैं, वे

हिंदू हैं।' ऐसा मान ले तो हिंदूमें मुसलमान और ईसाई भी आ जायँगे। इससे अतिव्याप्ति दोष होगा। 'हिंदू' शब्दको जातिवाचक कहें तो अव्याप्ति दोष आ जायगा; क्योंकि सथाल; कोल, भील भी हिंदू कहलाते हैं और आर्य जातियाँ भी हिंदू कहलाती हैं। 'हिंदू' शब्दका वृत्त (घेरा) विस्तृत करनेके लिये राष्ट्रवादी बौद्ध, जैन; सिख; ब्राह्मसमाजी इत्यादिको हिंदूमें परिगणित करना चाहते हैं। पर ऐसा करनेसे हिंदू या हिंदूधर्म अथवा हिंदू-संस्कृतिका कोई स्थायी सिद्ध स्वरूप नहीं रहता। कारण, इनमेंसे कोई देवी-देवताओंको नहीं मानता; कोई वर्णव्यवस्था नहीं मानता और कोई धर्मशास्त्रका ईश्वरोदित होना नहीं मानता। कितने अवतार, मन्त्रशास्त्र, श्राद्ध, तीर्थ आदि नहीं मानते, जो हिंदू-समाजके विशेष चिह्न हैं। अतः सब दृष्टियोंसे विचार करके 'हिंदू' शब्दका अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वेदादि-शास्त्रोदित धर्मव्यवस्थाका जो अवलम्बन करता है, वही हिंदू है, ऐसे हिंदुओंसे बना हुआ समाज हिंदू-समाज है और ऐसे समाजमें जो संस्कृति व्यापक है, वही हिंदू-संस्कृति है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृति वेदादि सनातन धर्मशास्त्रोंपर फलित होनेवाली संस्कृति है; और वेदादि शास्त्र मानव-जातिके पुरातन मौलिक पुण्यग्रन्थ होनेसे यही संस्कृति पुरातन संस्कृति, मानव-संस्कृति और सनातन संस्कृति है।

संस्कृतिके लिये कभी-कभी 'सभ्यता' शब्दका भी प्रयोग होता है। दोनोंमें यह भेद है कि संस्कृति मनुष्यके अखिल जीवनको संस्कारित करती है और सभ्यतासे केवल बाह्याचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवनव्यापिनी चेतना है, सभ्यता शरीरपर धारण किये हुए आभूषण। इसी दृष्टिसे यूरोपादि देशोंके सुधारोंको संस्कृति न कहकर सभ्यता कहा जाता है। संस्कृतिकी भावना बहुत ऊँची होनेसे पञ्चमकार-प्रधान देशवालोंको संस्कृतियुक्त कहनेमें हिचक होती है। परतु ऐसे कुछ देशोंकी द्रव्यशक्ति, क्रियाशक्ति और विज्ञान-शक्ति विशाल होनेसे ये अपनी ही बात दुनियासे मनवाते और उच्चतर संस्कृतिका आदर्श रखनेवाले देशोंको पिछड़े हुए देश मानते और मनवाते हैं। ये लोग ऐसी नीतिसे चलते हैं, जिससे इन्हींकी सभ्यताकी प्रशंसा हो और ये संसारमें अग्रणी गिने जायँ। इनकी ओरसे पैरवी करनेवाले इनके ग्रन्थकारोंमें कोई विषय-सुखके साधनोंकी अभिवृद्धिको, कोई सामान्य मानव-जीवनमें बढ़ती हुई संकीर्णताको और कोई संहारके साधनोंकी बहुलताको ही संस्कृतिकी प्रगतिके लक्षण बतलाते हैं।

हम पहले सूचित कर आये हैं कि हिंदू-संस्कृति अथवा आर्य-संस्कृति ही सनातन और पुरातन संस्कृति हो सकती है। इस सनातन मानव-संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ भ्रमोंका निवारण पहले ही कर लेना अच्छा होगा। कितने यूरोपीय लेखकोंने पहले यह कल्पना की थी कि मानव-जाति पाँच-छः हजार वर्षोंसे इस पृथ्वीतलपर है। पर हमारे पुराण और आधुनिक विज्ञान भी यह बतलाते हैं कि मानव-जाति पृथ्वीतलपर करोड़ों वर्षोंसे इसी प्रकार चली आयी है; अर्थात् यह सनातन मानव-संस्कृति भी करोड़ों वर्षोंसे चली आयी है। इस बीच कितने ही उलट-फेर हो गये हैं। उपर्युक्त ईसाई भ्रमके कारण उन लेखकोंने मानव-इतिहासको पाँच-छः हजार वर्षोंमें जकड़कर अति संकुचित कर दिया है और प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों और सत्य घटनाओंको अविश्वसनीय कहकर उड़ा दिया है। मनुष्य-बुद्धिकी और कल्पनाकी दीनता और पामरता इतनेसे ही ध्यानमें आ सकती है कि आजसे सौ वर्ष पहले जिन चीजोंको असम्भव और केवल काल्पनिक समझा जाता था, वे चीजें—रेडियो, टेलीवीजन, अणुबम आदि आज प्रत्यक्ष हैं। अतः हमारी बुद्धिकी त्रिज्या-रेखामें कोई सच्ची वस्तु या घटना यदि नहीं आती तो यह बुद्धिकी क्षुद्रता है, इतिहासकी अतथ्यता नहीं। हमारे पुराण-इतिहासकारोंका सत्यका आदर्श इतना महान् और निर्मल था कि उन पुराणेतिहासोंका पठन करनेवालोंके चित्त भी सत्यके उपासक बन जाते हैं। हमारे इन पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इतिहासका कभी स्पष्टतया भिन्न-भिन्न रूपसे और कहीं मिश्ररूपसे कथन किया गया है। इसी प्रकार लोक-लोकान्तर-की कथाएँ भी उनमें आती हैं, फिर अनेकों युगों और मन्वन्तरोंमें उनका विस्तार होता है। इन कथाओंको समझनेमें यह बात ध्यानमें रखनी पड़ती है कि इस सच्चे इतिहासमें विश्वके स्थायी तत्त्वोंका विवेचन हुआ है और इस कारण इसमें प्रयुक्त भाषाके शब्द व्यक्तिवाचककी अपेक्षा जातिवाचक अर्थमें अधिकतर प्रयुक्त देखनेमें आते हैं। इससे यह होता है कि शब्दोंकी अभिधाशक्तिसे लोकरञ्जन होता है, साथ ही उनकी व्यञ्जनाशक्तिसे विद्वान् विनम्र शरणागतिके मार्गपर आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, जगदीश्वर परमात्मा शिव अपने लिङ्ग अर्थात् विश्वके पूजनका आग्रह करते हैं। इसमें कितनी उदार भावना प्रतिष्ठित देख पड़ती है। यह विश्व विश्वेश्वरका लिङ्ग यानी चिह्न है, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार शवपर खड़ी चामुण्डाके दर्शनका क्या

अभिप्राय है ? चामुण्डा चेतनाशक्ति हैं, जिनके बिना यह शरीर शव है। इसपर चेतना देवी बैठकर इसे जीवित करती हैं; तभी वह चलने-फिरने, दौड़ने-उड़ने और काम करने लगता है। इस देहका यही मनोहर सत्य है।

मनुष्य-जातिकी भाषाओं, इतिहासों और गणना-पद्धतियोंको देखकर यह पता लगता है कि मानवजाति मूलतः एक ही थी। मानव, मैन आदि शब्द, पुराणोंमें सुरक्षित इतिहास तथा संख्या, वार इत्यादिका साम्य इस बातका मोटे तौरपर समर्थन करता है। इतिहाससे भी यह प्रकट है कि मानवजाति बाल्यकालमें बहुत ही सरल, निर्मल और बलवान् थी। पीछे युग-युगमें जो परिवर्तन होता गया, उसमें धर्मका अंश घटता गया और अधर्मका अंश बढ़ता गया। कितने ही यूरोपीय विद्वानोंने इसमें उलटी ही भावना करके विकासवाद अथवा उत्क्रान्तिवादकी कल्पना की और यह मान लिया कि संसार उत्तरोत्तर अधिकाधिक उन्नति कर रहा है और हमलोग किसी दिन उन्नतिके शिखरपर जा बैठेंगे। पर पिछले दो महायुद्धोंने तथा जगत्की वर्तमान परिस्थितिने भी इन विचारोंकी अयथार्थता दिखला दी है। अब तो यहाँतक अधःपात बढ़ चला है कि कोई भी मनुष्य अपने ही ५०, ६० वर्षोंके जीवनमें संसारकी अधोगति देख सकता है। यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि युग-युग धर्मका ह्रास होता है—यह सिद्धान्त विश्वसनीय और वास्तविक है। यह तो सब जानते ही हैं कि सत्य, दया, तप और शौच—धर्मके ये चार पाद हैं और मोह, दुःसंग एवं मद—इन तीन अधर्मांशोंके द्वारा उनका ह्रास होता है। सत्ययुगमें अपने-अपने कर्म करके सब लोग कृतकृत्य रहते थे। त्रेतायुगमें दुष्टोंसे उनका परित्राण करनेके लिये धर्म खड़ा रहता है। द्वापर इन दोनोंसे विचित्र है—परस्परभिन्न कौरव-पाण्डवोंके समान भले-बुरेका इसमें मिश्रण रहता है। और कलियुग तो कलि, कलह और कुमतसे ही परिपूर्ण होता है। आर्य ऋषियोंने युगोंको यथार्थरूपमें देखकर उनके वैसे ही नाम भी रक्खे हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति यथार्थमें सनातन मानव-संस्कृति है। विशेष बात इतनी ही है कि हम आर्योंने इस संस्कृतिको अखण्डरूपमें सुरक्षित रक्खा है और अन्य लोगोंने अपनी स्थितिके अनुरूप इसका खण्डमात्र स्वीकारकर सन्तोष कर लिया है। इस प्रकार मिस्र, यूनान, बाबिलन, चीन, ईरान आदि देशों तथा अनेक धर्म-सम्प्रदायोंकी विविध संस्कृतियाँ निकलीं और दुनियामें फैलीं। इन विविध संस्कृतियोंमें सत्य, दया, तप और पवित्रताके आचार-विचारका रूपान्तर देख पड़ता है। पर मुख्य तात्त्विक बात यह है कि जहाँ ये चारों न्यूनाधिकरूपमें सर्वत्र देख पड़ते हैं, वहाँ आर्य-संस्कृतिमें इन चारोंकी गहराईमें उतरकर इनके सम्पूर्ण आचार-विचारका आयोजन किया गया है। इसीलिये अन्य लोगोंको यह वस्तु बहुत अद्भुत मालूम होती है। कोई उसे 'अतिशयता' मानते हैं, कोई चकित होकर चुप बैठते हैं, कोई भ्रम अथवा जंगली आदर्शका अवशेष या कल्पनाकी एक विचित्र सृष्टि कहकर सन्तोष कर लेते हैं। यथार्थमें आर्योंकी सत्यमूलक ऐतिहासिक दृष्टि कितनी तीव्र और असामान्य है, यह दिनमें तीन बार देश, काल और क्रियाका सङ्कल्प करनेकी रीतिसे ही स्पष्ट हो जाता है। कालगणनामें सुभीतेके टट्टूपर सवार न होकर प्रत्येक दिन और महीनेके ग्रहोंके योगानुसार यथार्थ सृष्टि-सत्त्वोंसे काल निर्णय करनेवाली प्रजाकी सत्यनिष्ठा कितनी बलवती होनी चाहिये। जिनकी संस्कृत भाषामें सत्य, संयम और शक्ति इतनी भरी हुई है कि कोई भाषा उसकी बराबरी नहीं कर सकती, जिनकी यह भाषा लाखों वर्षोंसे ऐसी ही प्रतिभाशाली और जीवन्त है और जिनका साहित्य सब साहित्योंमें अद्वितीय और अप्रतिम है, उन आर्योंकी विद्याशक्तिकी नाप-जोख कौन कर सकता है ? आर्योंकी यह संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये नहीं कि यह हमारी संस्कृति है। वस्तुतः यह समस्त मानवजातिकी संस्कृति है और ईश्वरोदित शास्त्रोंसे प्रतिफलित हुई है। मानवजातिकी मूल भाषा संस्कृत है, मानवजातिका मूल ज्ञानग्रन्थ वेद है, मानवजातिका मूल साहित्य पुराण है, मानवजातिका मूल धर्म श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आर्यधर्म है। मानवजातिकी मूल संस्कृति मनु आदि महर्षियोंद्वारा स्मृतियोंमें निर्दिष्ट व्यवस्थावाली संस्कृति है। इस संस्कृतिके इतिहासके निर्मल दर्पणवत् तीन प्रधान ग्रन्थ हैं—रामायण, महाभारत और भागवत। मानवजातिकी इस प्राचीन संस्कृतिमें पीछे किस प्रकार धीरे-धीरे कालिमा आ गयी—इसका भी तथ्य इन ग्रन्थोंमें मिलता है।

सामान्य दृष्टिसे देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृति तीन प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर-प्रधान संस्कृति, (२) पुरुष-प्रधान संस्कृति और (३) नारी-प्रधान संस्कृति। ईश्वर-प्रधान संस्कृतिमें सत्त्वगुण विशेष और तप तथा त्यागका प्राधान्य होता है। पुरुषप्रधान संस्कृतिमें

रजोगुण विशेष और तितिक्षा तथा शौर्यका प्राधान्य होता है। नारी-प्रधान संस्कृतिमें तमोगुण विशेष और मोह तथा भोगका प्राधान्य होता है। आर्य-संस्कृति ईश्वर-प्रधान, जर्मनी या इंग्लैंडकी संस्कृति पुरुष-प्रधान और फ्रान्स आदि देशोंकी संस्कृति नारी-प्रधान कही जा सकती है। आर्य-संस्कृति अथवा हिंदू-संस्कृति अथवा वास्तविक रीत्या पुरातन मानव-संस्कृतिमें ईश्वर ही परम आप्त और आप्तव्य है। ईश्वरोदित शास्त्र आचार-विचारके आप्त ग्रन्थ हैं और उनमें उद्घोषित धर्म ही परम विधेय कर्तव्य है। इसके द्वारा मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक कल्याणका अधिकारी होकर सुख, शान्ति और समृद्धि अर्थात् चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध कर सकता है। इस संस्कृतिमें चतुर्विध पुरुषार्थोंकी ऐसी व्यवस्था है कि 'धर्म' प्रधान साधन है और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीचमें 'अर्थ' (जीवनका आवश्यक व्यवहार) ऐसा हो कि वह 'धर्म' के अविरुद्ध हो और काम (विषय-भोग) ऐसा हो कि वह 'मोक्ष' के अविरुद्ध हो। इस संस्कृतिमें रागी-सकामीके लिये प्रवृत्तिमार्ग और संसारसे थके हुए विरागीके लिये निवृत्तिमार्ग है। यह संस्कृति तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संसारके रागी जन कर्मकाण्डके अधिकारी हैं, विरागी ज्ञानकाण्डके अधिकारी और राग एवं त्यागके बीचमें झूलनेवाले अधिकांश मनुष्य उपासनाकाण्डके अधिकारी हैं। आर्य-संस्कृतिके धर्म-ग्रन्थ समस्त मानव-जातिके हितार्थ होनेसे उनमें अधिकार-भेदका विवेक मुख्य है। जन्मभूमि, गुण और कर्मके अनुसार मनुष्योंमें प्रकृतिकी विविधता होती है और उसके अनुसार धर्मोंकी और उनके साथ आदर्शोंकी, आचारोंकी, वृत्तियों और विचारश्रेणियोंकी विविधता आप्त ग्रन्थोंमें रक्खी गयी है।

इस अधिकार-भेदको अच्छी तरहसे समझनेके लिये जरा गहराईमें उतरना होगा। अच्छे-बुरे, साधु-असाधु, बुद्धिमान् और जडबुद्धि, सदाचारी और दुराचारी, बलवान् और दुर्बल, चतुर और सरल, विवेकी और पामर, विद्वान् और मूर्ख—सब प्रकारके मनुष्य होते हैं। इन सबको समान ही समझनेकी भूल मुख्यतः फ्रांसकी क्रान्तिके समय यूरोपमें चालू की गयी। ईश्वरको उड़ाकर उसके स्थानमें 'रीजन' (बुद्धिवाद) की प्रतिमा स्थापित की गयी। ईश्वरके साथ ईश्वरदत्त शास्त्र भी गये। शास्त्र-प्रामाण्यके स्थानमें मनुष्य-बुद्धिका प्रामाण्य माना गया। अब मनुष्यकी बुद्धि क्या कहती, क्या निर्णय करती है—यह कैसे जाना जाय? जाना जाय मनुष्योंको पूछकर। मनुष्योंके मत यदि अलग-अलग हों तो?—उनका बहुमत प्रमाण माना जाय। प्रत्येक मतका मूल्य कैसे आँका जाय?—सभी मतोंको समान मूल्यका समझकर। क्योंकि मूल्य तो आँका जा नहीं सकता। इस प्रकार सब मनुष्योंको समान माननेकी बात आयी। पीछे व्यवहारमें और विचारमें यह सिद्धान्त अव्यवहार्य और अशक्य जँचने लगा। साम्यवादियोंकी आर्थिक समानतावाली माँगमें संस्कृतिके निम्नस्तरके (जैसे अमेरिकाकी रेड इंडियन-जैसी जातिके) लोगोंके साथ एक-सा बर्ताव करना कठिन हो गया। अखिल पूँजीवादी यूरोपीय चक्र डगमगाने लगा। तब समानताके अर्थमें शब्दछल होने लगा। किसीने कहा कि राजनीतिक मत देनेभरकी यह समानता है, किसीने कहा कि आर्थिक संपत्तिकी समता है और किसीने कहा कि विकासके लिये अवकाशकी समता है। और भी अनेकानेक अर्थभेद इसपर लदने लगे। पर जिसके मूलमें ही नग्न असत्य है, उसका कहाँ ठिकाना लगेगा? अभीतक कोई समाधान नहीं हुआ, मामला उलझता ही जा रहा है। त्रिगुणात्मक जगत्‌में एक-एक वस्तु और एक-एक व्यक्तिकी विशेष-विशेष सत्ता है और भिन्नता ही उनका प्रधान लक्षण है। इन भेदोंमेंसे होकर परमात्मतत्त्वमें अभेद साधन करना, यही आर्य-संस्कृतिके संस्कारी मानवकी साधना और श्रद्धामयी उपासना है।

जीव भगवान्‌की ओर गतिमान् हों तो इसे प्रगति, धर्म तथा अधिकारयुक्त सदाचार कहा जायगा और यदि विरुद्ध दिशामें गतिमान् हों तो उसे पतन अथवा दुराचार कहा जायगा। प्रत्येक जीवकी स्थिति अन्य प्रत्येक जीवसे पृथक् है। इसीसे एकके लिये जो आचार प्रगति या उन्नतिका साधक होता है, वही दूसरेके लिये पतनरूप हो सकता है। कोई गरीब मनुष्य यदि लखपती हो जाय तो यह (आर्थिक) उन्नति है। पर कोई करोड़पती यदि लखपती हो जाय तो यह अवनति हुई। ब्राह्मण-समाज सत्त्वप्रधान, क्षत्रिय-समाज सत्त्वरजःप्रधान, वैश्य-समाज रजस्तमःप्रधान और शूद्र-समाज तमःप्रधान होता है। अतः ब्राह्मणके लिये जो अकार्य है, क्षत्रियके लिये वह कार्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ऋषि अपने ऊपर अत्याचार करनेवालेका युद्ध करके संहार चाहे न करे, पर रक्षक जाति क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है। दोनोंके धर्म-कर्म

अलग-अलग हैं। इन समस्त धर्म-कर्म और वृत्तियोंके यथायोग्य विभाग और व्यवस्था आर्योंके आप्त ग्रन्थोमे की हुई है। युगोंके बीत जानेपर भी वह व्यवस्था कितने ही अंशोंमें अभीतक बनी हुई है और इसीसे हमारे चारों वर्णोंके समाज और समस्त आर्य आचार-विचारके लोग जीवित, ज्वलन्त और चिरजीवी बने हुए हैं। इसीसे इस समाजमें अवतीर्ण महापुरुषोंकी इतनी अबाधित और समृद्ध परम्परा है और इसका इतिहास इतना उत्कृष्ट और आदरणीय रहा है। यह किसीका नाश नहीं चाहती। लाखों वर्षोंके बाद आज भी इसकी शक्ति प्रखर और अमर है। इस प्रकार अधिकार-भेद और अधिकार-भेदके अनुसार धर्म-भेद आर्य-संस्कृतिका एक प्रधान सिद्धान्त रहा है। इसे ध्यानमे रखनेसे आर्य-संस्कृतिको समझना बहुत सरल हो जाता है।

आर्य-संस्कृतिके जीवनव्यापारकी प्रधान भावना यज्ञ अर्थात् भगवान्‌का यजन है। प्रत्येक जीवन-कार्य इसी भावनासे करना होता है। नित्यके जीवनमे अग्निहोत्रादि तथा पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा इसीका विधान किया गया है। अखिल विश्वके कल्याणार्थ ये यज्ञ किये जाते हैं। इसीलिये इन्हें 'महायज्ञ' कहते है। इन महायज्ञोंको करके शेष रहा हुआ भाग भक्षण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पुण्य-पापकी भावना सभी धर्मपन्थोंमें है। जो कर्म भगवान्‌के अधिक समीप ले जाय, वह पुण्य और उससे जो विमुख करा दे, वही पाप है। इस अधिकारभेद और यज्ञभावनाके समान ही हिंदू-संस्कृतिका एक परम आवश्यक सिद्धान्त है—अनासक्ति अथवा निष्कामता। जो-जो कर्म किया जाय, वह परमेश्वर-प्रीत्यर्थ ही हो; उसमे कोई आसक्ति या कामना न हो। इससे कर्मकी भूमिका बहुत ऊँची हो जाती है और उसकी सिद्धि भी अपूर्व होती है। इसमें बीजभूत सिद्धान्त मनुष्यको निवृत्तिकी ओर ले जाना है। प्रवृत्ति जीवमात्रमे स्वाभाविक होती है। पर निवृत्तिसे जीव उन्नति और कल्याणको प्राप्त होता है। संयम आदिसे शक्तियाँ बढ़ती है। व्यवहारमे तथा कवित्व और कलाके क्षेत्रमें भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस प्रकार निवृत्तिकी ओर जानेके लिये वाणी, मन, प्राण, इन्द्रियसमूह और आत्माका सयम आर्य-संस्कृतिमे विशेष रूपसे है। योगकी प्रक्रियामे भी यम-नियम प्रथम पंक्तिमें आते है। अधिकांश धर्ममूलक संस्कृतियोमे यम-नियम या शम-दमका प्राधान्य होता है। भेद केवल उनके रूप और मात्राका रहता है।

इस प्रकारके सिद्धान्तोंका विविध संस्कृतियोंमे साम्य होनेपर भी उनकी क्रियासिद्धिमे दीखनेवाले भेदके प्रधान कारण दो हैं—कुछ तो इसमे प्रमाणभूत कारण 'ईश्वर और उसकी आज्ञा' को अर्थात् आप्त वाक्यको मानते है, दूसरे कुछ मनुष्य बुद्धिके तर्कको मानते हैं। ईश्वर-वाक्य, जहाँ व्यवधानरहित सर्वज्ञकी ओरसे आनेके कारण विशेष श्रद्धेय और अपरिवर्तनीय होता है, वहाँ मानव-बुद्धिजन्य मन्तव्य बुद्धिकी परिणामिता, निर्बलता और प्रचुर भिन्नताके कारण कम श्रद्धेय और परिवर्तनीय होता है।

पवित्रताके सम्बन्धमे बाह्य शौच, आन्तर शौच, बीज-शौच और अर्थ-शौच इत्यादि रूपसे बहुत ही गम्भीर व्यवस्था आर्य-संस्कृतिमे सम्पादित हुई है। वह इतनी उत्कृष्ट है कि उसीसे भारतवर्ष सतीत्वमें प्रामाणिकता और सदाचारमे संसारका एक आदर्श बना हुआ था और आज भी कितने ही अंशोमे संसारमे सबसे अधिक सात्त्विक प्रकृतिका परिचय दे रहा है।

हमारी इस संस्कृतिमे गुणोंके तारतम्यसे समाज चार वर्णोंमे विभक्त है। लाखों वर्षोंसे यह समाज-व्यवस्था ऐसी ही चली आयी है—यह बात पुराणेतिहाससे ज्ञात होती है। इस व्यवस्थामे विकृति होनेपर तदनुरूप विविध जातियाँ बन गयीं। कुछ संकर जातियाँ भी उत्पन्न हुईं। शास्त्रकारोंने इनके भी धर्म और वृत्तियाँ निर्णीत की हैं। वर्णोंका संकर बहुत बडा दोष माना गया है। कारण, इस एक गड़बड़से फिर अव्यवस्थाका ही विस्तार आगे होने लगता है। पर संकर जातियाँ यदि अपने-अपने धर्ममें रहकर अपना-अपना धंधा करती रहे तो वह किसी प्रकार निन्द्य नहीं है। भोजनके समय यदि चाण्डाल अतिथिरूपसे आये तो उसका भोजनादिसे सत्कार ही करनेको शास्त्रोंने कहा है।

इस संस्कृतिमे बीज-शुद्धिका विचार विशेष होनेसे अपने-अपने वर्णमे विवाह करना नितान्त आवश्यक है। समान संस्कार और समान आचार-विचारवालोंमे ही विवाह सर्वत्र इष्ट माना जाता है। बीज-शौचके महत्त्वसे ही आर्य-संस्कृतिमे स्त्रियोंके सतीत्वका इतना महत्त्व है, जिसके गुण गाते हमारे शास्त्रकार और साहित्यकार नहीं अघाते। सदाचारिणी स्त्रियाँ आज भी आर्य-कुटुम्बोंमे राज्य करती हैं। उनके पति भी उनके सतीत्वके सामने झुकते हैं।

इसी सतीत्वके आदर्शके कारण आज भी यूरोपके कौटुम्बिक जीवनसे हमारे यहाँका कौटुम्बिक जीवन उच्चतर और अधिक सुखद है। आजकल एक नया तत्त्वज्ञान यह चला है कि 'संयमकी आवश्यकता ही क्या है, स्वच्छन्दता ही स्वाभाविक और सुखकारक है।' इस नयी फिलॉसफीकी चर्चा अधिक न करके इतना ही कहना अलं होगा कि ईश्वरविमुख गतिवाली नरप्रधान या नारीप्रधान संस्कृतियोंकी ये ऊल-जलूल बातें आर्य-संस्कृतिको स्वीकार नहीं हैं।

आजकल सर्वराष्ट्रिय जगत्में जनसमूहके अंदर सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न करनेकी एक हवा चली है। सगे भाई जिस प्रकार एक दूसरेकी निन्दा करके एक दूसरेको नीचा दिखानेका यत्न करते हैं, उसी प्रकार विविध धर्म-पन्थ एक दूसरेकी निन्दा करके मानो सभी धर्मोंपरसे श्रद्धा ही उठा देनेका यत्न करते हैं। जगत्के राजनीतिक नेता सर्वराष्ट्रिय मण्डल स्थापित करने चलते हैं; पर उससे राग-द्वेष ही बढ़ाने और अपना-अपना स्वार्थ साधनेका ही यत्न होता है। विज्ञानके द्वारा तो ऐक्यके बदले संग्रामके और विनाशके साधन ही बढ़ रहे हैं। कारण यह है कि विज्ञान अनधिकारियों और धनलोलुपोंके हाथमें पड़ गया है। श्रुतिके समान विज्ञान भी मानो यही पुकार रहा है कि मुझे अनधिकारियोंके हाथोंमें मत सौंपो, क्योंकि वे मुझे मार डालेंगे। अब संस्कृतिपर इन लोगोंकी दृष्टि पड़ी है। किसी पुरानी संस्कृतिसे इनका काम नहीं चलेगा। सब संस्कृतियोंको मिलाकर उस खिचड़ीसे ये एक नयी बनावटी संस्कृति तैयार करेंगे। विभिन्न संस्कृतियोंके समान अंश निकाल लेनेके इस प्रयत्नका यह फल होगा कि कुछ सामान्य नीतिसूत्र हाथमें आयेंगे। ये भी धर्मपर प्रतिष्ठित न होकर बुद्धिकी खोजपर निर्भर रहेंगे। मानव-जीवनके बाह्य उपचारके लिये ये उपयोगी होंगे। आन्तर जीवनको परिप्लावित करनेवाली कोई बात इनमें न होगी। इसी प्रकार भारतीय संस्कृतिकी भी एक नयी कल्पनाकी हवा बह रही है। धर्मके आधारपर बन्धुत्वका भाव संसारमें प्रतिष्ठित हो सकता है। पर इस व्यापक संभावनाको भुलाकर स्थूल दैशिक भावनाके ऊपर जो नवीन संस्कृति कल्पित हो रही है, उससे सत्यका तिरोधान और एक नये पाखण्डका उपस्थान बन सकता है। सब मत-पन्थोंकी संस्कृतियोंमेंसे व्यापक अंशोंको लेकर एक नवीन संस्कृति निर्माण करनेका प्रयत्न कितना अवास्तव और अनर्थकारी होगा, यह पहले देखा जा चुका है!

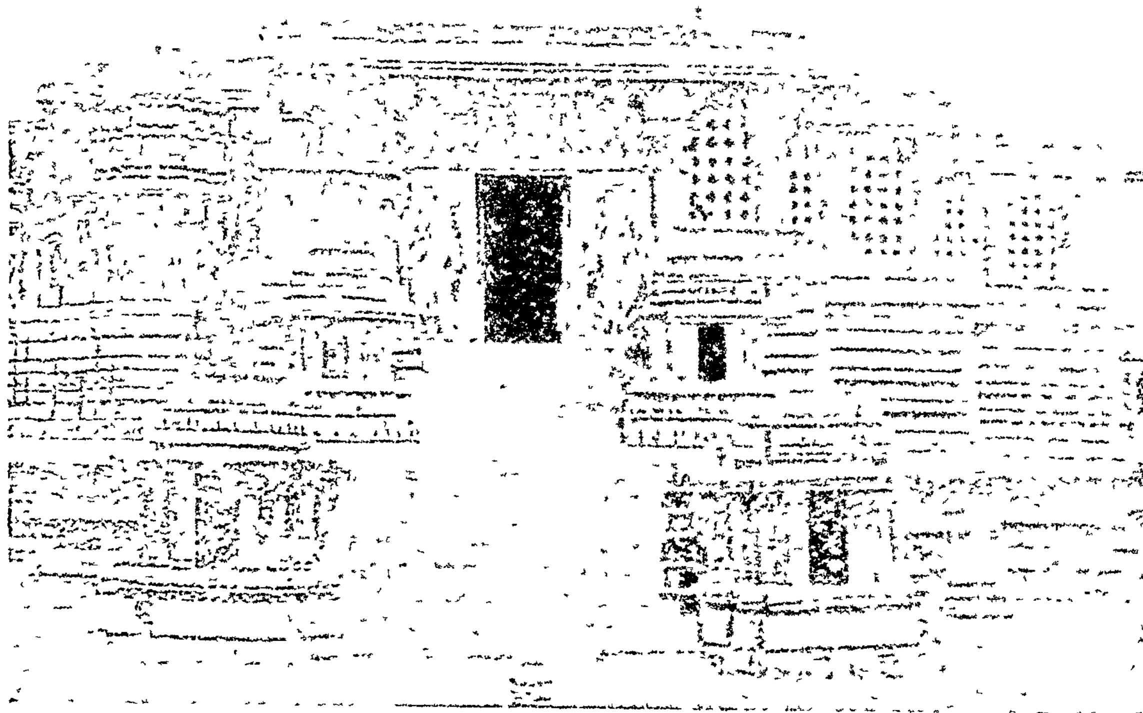
सच पूछिये तो जिस संस्कृतिको आर्योंने जगत्के अक्षय धन-भंडारके समान बचा रक्खा है, उस आद्य मानव-संस्कृतिके साथ अन्य शाखा-संस्कृतियोंकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। कारण, यह आद्य संस्कृति ईश्वरोदित है, सर्वाङ्गसम्पूर्ण है, सनातन और चिरजीवी है—इतिहास इसकी सर्वोत्तमताका साक्षी है। इसे हिंदू या हिंदी संस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूपको लघु करना है। वस्तुतः इसे 'आद्य मानव-संस्कृति' ही कहना चाहिये। इसके विधायक शास्त्र हैं, शास्त्रोंके अर्थनियामक व्याकरणादि ग्रन्थ हैं। इसकी कलाओं और अपर विद्याओंके आधार ग्रन्थ हैं। इसके जीते-जागते प्रतीक भारतीय समाज और भारतके पूज्य साधु-महात्मा हैं। इस संस्कृतिके सर्वोत्कृष्ट होनेमें सन्देह ही क्या है। पर विदेशी और धर्मपरिपन्थी शिक्षाने हमारे कितने ही अग्रगण्य भाइयोंकी इसपरसे श्रद्धा हटा दी है। इसी विच्छिन्न श्रद्धाका यह परिणाम है कि हमारी धारासभाओंमें भी भारतीय संस्कृतिके विघातक विधान और कानूनोंके मसविदे पेश होते हैं और उनको स्वीकार किया जाता है। यह परिस्थिति देशके लिये महान् हानिकारक है। देशके हित और उन्नतिका वास्तविक उपाय तो यही है कि इस संस्कृतिके विशुद्ध आर्यरूपमें सबकी श्रद्धा जाग्रत् की जाय। यद्यपि इस धर्ममूलक संस्कृतिके नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त और प्रेरणातत्त्व निश्चितकर उन्हींके आधारपर इसे अखिल मानव-जातिकी संस्कृतिका वह पद (जो कि वास्तवमें इसका पद है) प्रदान करनेका प्रयत्न किया जा सकता है। और यह प्रयत्न जितने अंशोंमें सफल होगा, उतने ही अंशोंमें वह संसारको सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त करानेमें तथा परम कल्याणकी सिद्धिमें सहायक होगा। भारतवर्षसे अखिल जगत्की मानव-जाति जो आशा रखती आयी है, वह इस प्रकार आद्य मानव-संस्कृतिके पुनरुत्थानसे ही पूर्ण होगी।

कुछ लोग धर्मको 'जनताके लिये अफीम' कहकर उसकी निन्दा करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मकी केन्द्रशक्तिको छोड़नेके बाद ही—फ्रान्सकी महाक्रान्तिके दो-ढाई सौ वर्षके भीतर ही—ऐसा नास्तिकवाद फैला है कि कुछ कहनेकी बात नहीं और इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार, जो एक क्षार-सिन्धुके समान तो था ही, एक महान् नरकागार बन गया है, जिसकी अव्यवस्थाका कोई जोड़

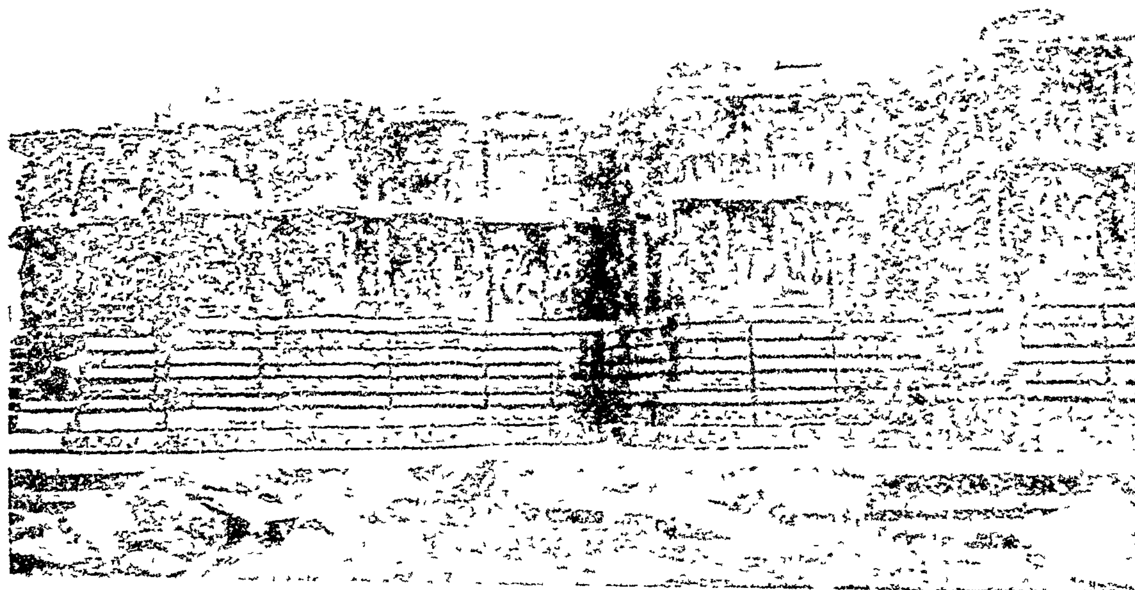
इलोरामें चट्टान काटकर बनाया हुआ कैलास-मन्दिर

[पृ० ६७३

अङ्कुर-वट, कम्बुज



हौसलेश्वर-मन्दिर, हलेविद



केदारेश्वर-मन्दिर, दक्षिण भाग, हलेविद

इतिहासमें नहीं मिलता । इस दुःस्थितिसे संसारका उद्धार अपनी संस्कृतिकी आमूल साधनाके द्वारा ही हो सकता है ।

मूल-सिद्धान्त

अब विविध कार्य-क्षेत्रोंमें अपनी इस संस्कृतिकी कैसी व्यवस्था है, उसे तथा उसके मूल-तत्त्वोंको हमलोग देखें। इस प्रकार इस संस्कृतिकी मूल सिद्धान्त व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, सदाचार-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अर्थनीति-व्यवस्था तथा साहित्यकला-व्यवस्थाके प्रेरक सूत्र हमें मिलेंगे। मौलिक तत्त्व-विवेकका प्रेरक सूत्र हमें भगवती श्रुतिके महावाक्यमें तथा अन्य भगवद्वचनोंमें इस प्रकार मिलता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।

(श्रुतिः)

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

(शिवः)

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥

(श्रीकृष्णः भागवते ११ । ७ । ७)

भगवान् शंकर भगवती पार्वतीसे कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है—कोई अपर वस्तु नहीं ।' भगवान् श्रीकृष्ण भी उद्धवको ज्ञानदान करते हुए कहते हैं कि 'जो कुछ मनसे, वाणीसे, चक्षुसे तथा श्रवणादिसे ग्रहण किया जा सकता है, वह सब नश्वर है, उसे मयामय, मनोमय जानो ।' भगवती श्रुति भी कहती कि 'यह सब कुछ ब्रह्म है, नाना पदार्थरूपसे यहाँ और कुछ भी नहीं है।' यह अद्वैत-वेदान्तका सिद्धान्त है । इससे समग्र संसारप्रपञ्चके इष्ट-फल, अफल और विफल प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और स्वप्नके पदार्थोंको सत्य माननेवाली सारी फिलॉसफी जागनेके साथ ही झूठी हो जाती है, सब भ्रम समाप्त हो जाते हैं । कारण, इस जगत्का यही सार है । इस तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् संसारमें कोई राग, द्वेष, अभिनिवेश और आग्रह नहीं रखते—संसारमें अवधूत-वृत्तिसे रहते हुए परम शान्ति भोग करते हैं । यह ज्ञान ऐसा नहीं है, जो सबको प्राप्त हो सके । परंतु यदि विद्वान् समाज-नेताओंको इसकी यथार्थ उपलब्धि हो जाय तो उससे अखिल समाजको एक दिव्य प्रकाश प्राप्त होता है और उससे जनताके काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार और सुख-दुःख तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्व भी बहुत शिथिल हो जाते हैं । भारतमें पाश्चात्य विद्या और सभ्यताका विशेष प्रभाव पड़नेसे पहले भारतीय समाजकी ऐसी ही स्थिति थी और कहीं कुछ अंशोंमें आज भी है । यह बात समझने ही योग्य है कि अहंता, ममता और भेद-बुद्धिकी जितनी वृद्धि होगी, उतनी ही आधि-व्याधि और उपाधियाँ बढ़ेंगी । पर जब यह निश्चय हो जाता है कि 'यह सारा दृश्यमान जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, मैं एक ही इन सब रूपोंमें स्थित हूँ,' तब इसके लिये शोक और मोह क्या ? यह एक मोटी बात है, एक महान् तत्त्वचिन्तन इसके पीछे है । पर इसका लवमात्र या आभासमात्र भी यदि समाजमें व्यापक हो जाय तो अभी जो वैर-वैमनस्य, राग-द्वेष, दुष्कृति-दुष्टता और निर्दयता आदि घोर दुर्भाव बढ़ते जा रहे हैं, उनका बहुत कुछ शमन हो जाय । जगत् त्रिगुणात्मक है, अतः थोड़ी-बहुत खटपट तो कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रतक सदा चलती ही रहेगी । पर आधुनिक मिथ्यावादसे मानव-जाति इस समय जिस भयानक दुःस्थितिमें जा गिरी है, उससे तो इसका इस उपायसे उद्धार हो सकता है । इस तत्त्वचिन्तनका महान् सत्य कुतर्कसे हाथ लगनेवाला नहीं है । सामान्य रीतिसे इसका समझना भी दुर्घट है । गुरु और शास्त्रसे ही इसे पाना सुकर होता है और तब यह सब तर्कोंके ऊपर अजेय होकर बैठता है । इस एक वाक्यकी असाधारण कल्याणकारिणी शक्तिसे वेद-शास्त्र जगद्वन्द्य होते और आर्य-संस्कृति जगदुद्धारक हो जाती है । जगत्के नाना परितापोंका यह अमोघ शमनोपायरूप महावाक्य वैदिक संस्कृतिवालोंका ही नहीं, सब संस्कृतियोंके विद्वानोंका महावाक्य बन सकता है । इसका रहस्य समझानेवाले अनेकानेक ग्रन्थोंका भंडार भारतकी सभी भाषाओंमें भरा हुआ है ।

समाज-व्यवस्था

अब आर्य-संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थामें कौन-सा प्रधान तत्त्व, कौन-सी प्रेरक शक्ति है—यह देखना चाहिये । समाज-रथके मुख्यतः दो पहिये हैं—नर और नारी । नर भोक्ता और नारी भोग्य है । नर रक्षक और पराक्रमशील है, नारी रक्षित और पातिव्रत्यशील है । दोनों पहिये एक ही दिशामें चलें, इसके लिये एकका दूसरेके अधीन रहना आवश्यक है । पुरुष सदाचारका सेवन करे और स्त्री सतीत्वका आराधन । स्त्री और पुरुष परस्पर स्पर्धा करनेवाले नहीं; परस्परके पूरक और सहायक हैं । दोनों समान भी नहीं हैं; कारण, दोनोंके लक्षण समान नहीं हैं । स्त्री और पुरुष दोनोंमेंसे कोई स्वतन्त्र नहीं है । कारण, काल-कर्म-गुण आदिके अधीन रहनेवाला मनुष्य स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है । पर इसके जीवन-

प्रवाहको शास्त्रानुकूल—धर्म अथवा परम आप्तोदित सदाचारके अनुकूल—चलनेका प्रयत्न कर्तव्य है । इस सारी जीवनचर्याका मूल-सूत्र भी तत्त्वदर्शनके सिद्धान्तमेंसे ही फलित होता है । मिथ्या जगत्‌में अल्पातिअल्प प्रवृत्ति ही भली है—

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २१ । १८)

'जिस-जिससे मनुष्य निवृत्त होता है, उस-उससे वह मुक्त हो जाता है । शोक, मोह और भयको मिटानेवाला यही मनुष्योंका कल्याणरूप धर्म है ।' इसीलिये कामना, इच्छा, एषणा जितनी कम हो, इनका नियमन जितना अधिक हो, उतना ही अच्छा । यह संकोच और नियमन योग्यतापुरस्सर होना चाहिये, किसी तरह कूद-फॉद करने-जैसा न हो । इसकी सम्पूर्ण व्यवस्थाके लिये अनेकविध विशेष धर्म हैं। हमलोग जिन्हें सामान्य धर्म कहते हैं, अर्थात् सत्य, अहिंसा, तप, पवित्रता—ये सब भी किसी-किसी अंशमें और संयोगवश विशेष धर्म माने गये हैं और अधिकार-भेदसे उनके पालनमें न्यूनाधिक्यका विधान किया गया है । इनके साथ वर्ण-व्यवस्था लगी हुई है । वर्ण जन्मसे है या गुण-कर्मसे, इस विषयका अधिक विस्तार न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वर्णकी यथार्थ सिद्धि इन तीनोंसे है, केवल जन्मसे नहीं, केवल गुणसे नहीं, केवल कर्मसे भी नहीं । ये वर्ण विराट्‌रूप समाजके मस्तक, हस्त, ऊरु और पादस्थानीय है और इसलिये इनके स्वभाव, स्थान और कर्म भी इसी विवेकके अनुसार भिन्न-भिन्न है । सभी वर्ण अपने-अपने कर्माचरणके द्वारा परम सिद्धि लाभ करते हैं । वर्णव्यवस्थासे जिस प्रकार समाज व्यवस्थित किया गया है, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा यथाधिकार व्यक्ति-जीवनको उच्चतर बनाते चलनेकी योजना की गयी है । युगके प्रभावसे वर्ण और आश्रम दोनों ही व्यवस्थाओंमें बहुत-सी विशृङ्खलता आ गयी है । तथापि अन्य समाजोंकी तुलनामें हमारा यह आर्य जनसमाज आज भी बहुत व्यवस्थित, सुग्रथित और अधिकांशतः सदाचारी और संयमी बना रह सका है । यूरोपादि देशोंकी स्थिति देखनेसे यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है । समाजके भिन्न-भिन्न वर्ण और व्यक्ति अपने-अपने सहज कर्म और अधिकारमें निष्ठावान् हों, इसीको गुण कहते है और इसके विपर्ययको दोष । सब मनुष्य मनुष्य ही है, अतः समान हैं; उनमें कोई वर्णभेद या वर्गभेद न होना चाहिये—यह समझ उलटी है । तिलका तेल, रेंडीका तेल, बेलेका तेल, केरासीन तेल—सभी तेल हैं, अतः समान हैं—यह कहकर सब तेल मिला दिये जायँ तो क्या परिणाम होगा ? ऐसा तेल किस काम आयेगा ? वह एकमें मिला हुआ तेल न खानेमें काम आयेगा न जुलाबमें, न सिरपर लगानेमें और न लालटेन जलानेमें ही । तेलके नाते सब तेल समान होनेपर भी उनके काम अलग-अलग हैं । अभिप्राय यह कि योग्यताके अनुसार वर्ग-रचना—यह सृष्टि-विवेकका तथा संसारकी व्यवस्थाका एक प्रसिद्ध, प्रचलित और अनुभव-सिद्ध नियम है । गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमें, आम, अमरूद, केले आदि फलोंमें और गेहूँ, चावल आदि धान्योंमें—सभीमें अनेक जातियाँ होती हैं । एक रुईमें अनेकों जातियाँ हैं । इन भेदोंको समझने और योग्यताके अनुसार उनकी योजना करनेमें मानव-बुद्धिका विवेक देख पड़ता है और उन सबको एक साथ मिला देनेमें केवल अविवेकका ही प्रदर्शन होता है ।

इस विषयमें एक खास बात ध्यानमें रखनेयोग्य यह है कि प्रत्येक देशकी जनतामें किसी-न-किसी प्रकारका वर्गीकरण तो होता ही है । कहीं धनके आधारपर होता है, कहीं राजशक्तिके आधारपर, कहीं काम-धंधोंके आधारपर, कहीं जातिके आधारपर, कहीं किसी आधारपर और कहीं किसी अन्य आधारपर । यही वर्गीकरण यदि सदाचारके आदर्शके आधारपर धर्ममूलक जन्मसे ही हुआ करे तो यह व्यवस्था सर्वोत्तम होती है । क्योंकि जन्मको ही कर्म या धर्मका मूल मान लेनेसे ईर्ष्या-असन्तोषके लिये कोई अवकाश नहीं रहता । अपने-अपने समाजमें सभी अग्रसर होकर अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाको पूर्ण कर सकते है और सम्पूर्ण जनताको गुणोंके विशेष आनुवंशिक विकासके लिये असाधारण लाभ होते हैं । इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण आध्यात्मिक धार्मिकताका, क्षत्रिय दयायुक्त शूरताका, वैश्य परोपकारयुक्त द्रव्यार्जन-कुशलताका और शूद्र सच्चाईके साथ सेवाशक्तिका महान् विकास कर सकते हैं । दुनियाके अन्य किसी प्रकारके वर्गीकरणसे यह कार्य किसीने करके नहीं दिखाया है ।

सदाचार-व्यवस्था

अब हमलोग आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्था देखें । सदाचारके सम्बन्धमें सभी धार्मिक संस्कृतियोंका यह सरल नियम है कि उनके धर्मशास्त्रने जिसे सदाचार कहा हो, वह सदाचार; जिसे दुराचार कहा हो, वह दुराचार; और जिसके विषयमें कोई विशेष आदेश न हो, उसमें अपनी अनुकूलता

और अवसरके अनुरूप विकल्प माना जाय । यही नियम आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्थामें भी है धर्मविहीन नींवपर स्थित संस्कृतियोंमें कहीं तो लाभकी दृष्टिसे, कहीं स्वच्छन्दताके विचारसे, कहीं समाजके मतके आधारपर और कहीं लोकहित तथा कहीं राष्ट्रहितको प्रधानता देकर सदाचारका निर्णय किया जाता है । फिर, ऐतिहासिक पद्धतिको माननेवाले कुछ विद्वान् भिन्न-भिन्न देशों और समयोंमें सदाचारके भिन्न-भिन्न मान देखकर सदाचारको एक अनिश्चित और काल्पनिक वस्तु मानते हैं । इन सारी पद्धतियोंमें सदाचार-सम्बन्धिनी नीति और मूल्याङ्कनकी कोई निश्चितता नहीं रहती और ऐसी अनिश्चित सदाचार-नीतिका प्रभाव भी कम ही पडता है । तथा इन सबके साथ स्वतन्त्रताकी लहर भी चलती है। अतएव इन सब पद्धतियोंमें स्वच्छन्दताका ही प्राधान्य रह जाता है । और बाहरी स्वच्छता, नियमितता, उत्साह, साहस, अध्यवसाय, आग्रह, दलबंदी आदि उभयपदी गुणोंपर ही सारा भार रक्खा जाता है । यूरोपमें १७८६ ई० में फ्रांसकी महाक्रान्ति हुई । तबसे इस धर्महीन अर्थात् तर्कजनित सदाचारकी कल्पनाका युगारम्भ माना जा सकता है । तबसे इन डेढ़ सौ वर्षोंमें इस कल्पनासे मानव-जातिकी क्या दशा हो गयी, इसका इतिहास रक्ताक्षरोंमें लिखा हुआ है । हालमें नैतिक पुनर्घटन (मॉरल रिआर्मामेंट) की बात चली है । इसके लिये सांस्कृतिक उत्थानकी बात सोची जा रही है और उसके लिये सर्वराष्ट्रिय समितियाँ स्थापित की गयी है । पर मूलके बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, वैसे ही धर्मके आधार बिना काल्पनिक सदाचार-नीतिका उगना—जीवनपर यथार्थ असर होना असम्भव है । सच्ची बात यह है कि धर्म सांसारिक जीवनसे अलग रखनेकी चीज नहीं है । धर्म ही संसार-जीवनके ईश्वरोदित सदाचारका मार्ग है । यही ईश्वरोदित और मनः-कल्पितका भेद है। ईश्वरोदित कोई चीज ही नहीं है, यह नास्तिक कहता रहे; पर उससे वास्तविक स्थिति तो बदल नहीं सकती । मानव मन्तव्योंका मूल्याङ्कन काल और प्रकृति दोनों करते ही रहते है । सन्मार्गका पुरस्कार सुख और शान्ति और असन्मार्गका दण्ड, दुःख और विनाश—यह विधान संसारमें चल ही रहा है । पुराणोंमें सदाचाररूपी वृक्षका मूल धर्मको बतलाया गया है । धनको उसकी शाखा, कामना-सिद्धिको पुण्य और मोक्षको उसका फल कहा गया है । समस्त ग्राह्य जीवनचर्याकी सुयोग्यता इस सदाचारमें आ जाती है । आर्य-संस्कृतिमें सदाचारका इतना महत्त्व है कि उसके बिना विद्वान् मनुष्यको भी वेदोदित ज्ञान छोड़कर चला जाता है । ईश्वरकी ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति ही सदाचार है और जो प्रवृत्ति उसके विमुख है, वही दुराचार है । कोल्हूके बैलकी भाँति ईश्वरसे दूर रहते हुए संसारचक्रमें फिरते रहनेकी प्रवृत्ति-को व्यवहाराचार कहा जा सकता है । सदाचारकी सम्पत्तिको दैवी और दुराचारकी सम्पत्तिको आसुरी सम्पत्ति कहा गया है । दैवीसे मोक्ष और आसुरीसे बन्धन होता है । आसुरी सम्पत्तिसे आरम्भमें चाहे सुख या स्वतन्त्रता दिखायी दे, परंतु उसका परिणाम तो विषरूप ही होता है । आजकल स्वतन्त्रताका इतना गुणगान होता है, उसके लिये महान् प्रयत्न होते हैं; पर 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की' के अनुसार समाजकी परतन्त्रताकी बेड़ियाँ तो बढ़ती ही जा रही है— काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, दुःख, वैर और अशान्तिकी ही वृद्धि हो रही है । इससे यह समझना चाहिये कि धर्मरहित सदाचार और स्वच्छन्दतामूलक स्वतन्त्रतासे मानव-जातिका कोई भी हित नहीं हो सकता । स्वेच्छाचार दुःख और अशान्तिका कारण है, धर्ममूलक सदाचार और संयम ही सुख-शान्तिका महान् साधन है ।

राज्य व्यवस्था

अब राज्यप्रकरणमें आर्य-संस्कृतिके सर्वमान्य, सर्व-सामान्य और प्रचलित आदर्शोंको देखें । इस विषयके मौलिक तत्त्व-सम्बन्धी दो-तीन शास्त्र-वचन नीचे दिये जाते हैं—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

(मनु० ७ । ३)

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्यानुपालनम् ।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥

(श्रीमद्भा० १ । १७ । १६)

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

(महाभारत)

इन श्लोकोंमें राज्यकी उत्पत्ति, राजाका कर्तव्य तथा राजाका नैतिक प्रभाव—इन तीनों ही बातोंपर प्रकाश डाला गया है । सृष्टिके आरम्भकालमें जब सभी मनुष्य अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते थे, तब राजाकी आवश्यकता नहीं थी । पर पीछे जब चारों ओरसे प्रजाका भय बढ़ने लगा, तब प्रजाकी रक्षाके लिये प्रभुने राजाको उत्पन्न किया । राजाका परम धर्म यह है कि स्वधर्मका

मुकाबले सभी बातोंमें अधिक टिकनेवाले होते हैं। हमारे यहाँ कितनी जातियाँ ऐसी हैं, जो विशिष्ट वृत्तियों और धंधोंका ही अनुसरण करती हैं; जिसमें कोई नयी औद्योगिक संस्थाएँ स्थापित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। उन धंधोंका चुनाव और नियमन उसीमें हो जाता है और किसी धंधेमें संख्याकी कमी या असाधारण वृद्धि सामान्यतः नहीं हो पाती। धन उनका प्रधान ध्येय न होनेसे उसे संग्रह करनेकी वृत्ति संयत रहती है, उसके लिये पापकर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति भी नहीं होती। इससे उनपर मजूरीका अधिक भार नहीं आता, न बहुत धन ही उनके पास एकत्र होता है। इससे राज्यको भी लोगोंके पाससे धन खींचनेके नये-नये उपाय नहीं करने पड़ते। राष्ट्रके खर्चमें भी इस तरह सादगी आ जाती है और कर लगानेकी मर्यादाके द्वारा राज्य नियमित और नियन्त्रित हो जाता है। खेतीसे एक षष्ठांश और व्यापारसे एक दशमांशमात्र लेना राज्यके लिये विधेय होता है। सब लोग अपनी-अपनी संस्कृतिके सदाचारमें रहते हैं और राज्यका हस्तक्षेप कम-से-कम हो जाता है। जो राज्य कम-से-कम राज करता है, वही उत्तम राज्य होता है। यूरोपादि देशोंमें और उनकी देखा-देखी अपने देशमें भी आजकल प्रगतिके नामपर बड़ी-बड़ी खर्चीली योजनाएँ उपस्थित की जा रही हैं। इस तरह राज्य मनुष्यको सर्वथा पराधीन बनाता चला जा रहा है। जनताकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आज राज्य सिरपर चढ बैठा है। स्वतन्त्रताको खोजता हुआ मनुष्य आज धर्मके तन्त्रसे बिछुड़कर अधिक-से-अधिक दुःखप्रद परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें ही जकड़ा जा रहा है। कोई भी राजा स्वप्नमें भी जैसे कर लगाने और प्रजापर 'जो हुक्मी' चलानेका विचार नहीं कर सकता, वैसे ही कर और 'जो हुक्मी' अब प्रजाके सिरपर लद रहे हैं। हमारे आजके इस लोकतन्त्र-राज्यका खर्च भी किस तरह उछल-उछलकर बेतरह बढ़ा जा रहा है, इसके आँकड़े अर्थशास्त्री श्रीमनु सूबेदारने सप्रमाण प्रकाशित किये हैं और यह कहा है कि वर्तमान भारतीय अर्थतन्त्र मूलमें ही भूल-भरा है। देखिये फ्री प्रेस जर्नल २५-८-४९—

भारत-सरकारका खर्च	सन् १९३८-३९	सन् १९४८-४९
शासन-व्यवस्थाका खर्च	१६५ (करोड़)	६१२ (करोड़)
सैनिक-खर्च	४६ ,,	१५५ ,,
मुल्की खर्च	३९ ,,	१८५ ,,
नौ प्रान्तोंका खर्च	८१ ,,	२७२ ,,

ये आँकड़े अच्छी तरहसे आँखें खोलनेवाले हैं। इसका परिणाम यह है कि अंग्रेजोंके जानेके समय सरकारके पास जो नगद पूँजी थी, उसमेंसे आज अधिकांश समाप्त हो गयी है और भीषण अर्थसंकट उपस्थित है। अपनी संस्कृतिके आदर्शोंको छोड़ देनेसे ही भारतपर अनेक महाविपत्तियाँ उपस्थित हुई हैं। मिल-मालिकों और मजूरोंमें विग्रह उपस्थित है। धर्महीन लोकतन्त्रमें ऐसा होना ही ठहरा। इससे यूरोपके समाजवाद और साम्यवादका महाभय भी उपस्थित हो गया है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आर्य-संस्कृतिमें धनकी निन्दा नहीं है। लक्ष्मी जगदम्बाका एक स्वरूप है और उसकी पूजा होती है। गृह-लक्ष्मी और राज्य-लक्ष्मी उसीकी कलाएँ हैं। लक्ष्मीजी सामान्यतः दुराचारीके यहाँ नहीं जातीं और कभी जाती भी हैं तो अधिक समयतक नहीं ठहरतीं। उनका स्थान भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें है और उनका विनियोग भी इसी महास्थानमें होता है। इसी रीतिके अनुसार भारतसे खींची हुई लक्ष्मी अंग्रेजोंके पाससे निकलकर महासागरमें निवास करने चली गयी है।

साहित्य-कला-विज्ञान

अब साहित्य, कला और विज्ञानके सम्बन्धमें आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण देखें। इन तीनों विषयोंमें आर्य-संस्कृति ईश्वर और धर्म-भावनाको परम उपास्य मानकर उन्नति-क्रम निर्धारित करती है। श्रीमद्भागवतने साहित्य-कलाके आदर्शका इस प्रकार वर्णन किया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
(१।५।२२)

'मनुष्यके तप, पाण्डित्य, यज्ञ-यागादि, दान एवं बुद्धि-साहित्यका अविनाशी प्रयोजन कवियोंने उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवर्णनको ही बताया है। भगवद्गुणानुकीर्तनरहित वाङ्मय जनतामें मलिनताका प्रसार करता है। आर्य-संस्कृतिके सभी महान् ग्रन्थ—वेद, रामायण, महाभारत, भागवत आदिमें भगवान्का गुणानुवाद ही व्यापक है और उसके द्वारा अवान्तर रूपसे आर्य-संस्कृतिका विस्तार होता है। यह बात विख्यात है कि ऐसे महाकाव्य अन्य किसी भाषामें नहीं हैं। कलाका विनियोग भी आर्य-संस्कृतिमें सर्वत्र ईश्वर और धर्मके कार्यमें हुआ दिखायी देगा। मन्दिरोंमें, अजन्ताकी गुफाओंमें, मूर्तियोंमें, रविवर्माके चित्रोंमें, स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंमें, साधुओंके उपवस्त्रोंमें, संगीतमें, रंगवल्लीके स्वस्तिकोंमें—जहाँ देखो, वहीं कलाका विनियोग

सम्मानरूपसे प्रभुकी सेवामें ही हुआ है। प्रसिद्ध गायक तानसेनके गुरुके विषयमें यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वे ईश्वरके भजनके सिवा और कुछ गाते ही न थे। आज भी हमारी बंगीया भगिनी यूथिका राय अपने मधुर कण्ठ और उत्तम संगीतका विनियोग भजनोंमें ही करती हैं। प्रसिद्ध गायनाचार्य श्रीविष्णुदिगम्बरजीके जीवनका अन्तिम काल केवल रामायण तथा संत-महात्माओंके पदगान और नाम-संकीर्तनमें ही बीता। उनकी सारी संगीत-शिक्षा संतोंके पद तथा 'रघुपति राघव राजाराम' के इस नामधुनद्वारा ही होती थी। श्रीगाँधीजीपर उन्हींका प्रभाव पड़ा था। गुजरातकी स्त्रियाँ भी नवरात्रमें जगदम्बाका आराधन गरबोंके द्वारा करके अपनी कलाका विस्तार करती हैं। मद्रास प्रान्तके संगीतमें भी भक्तिका ही स्रोत बहता है। कहावत है, 'कृष्ण बिना गाना कैसा।'

तुलसीदासजी कहते हैं—

मनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

विज्ञान और विद्या-शिक्षाके क्षेत्रमें भी यही भावना और यही आदर्श प्रतिबिम्बित है। प्राचीन शिक्षापद्धतिमें भी धर्मग्रन्थ ही मुख्य थे और विज्ञान, भाषाशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य आदि सब शास्त्र धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही प्रतिष्ठित थे। इसीसे इन सब विद्या-कलाओंमें एकतानता थी। यथार्थमें परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जगदात्माका अवलम्बन करती थीं। और पदार्थविद्याओंका उद्गमस्थान भी अप्रतिहत-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंकी योगशक्तिमें था। इसीसे इन विद्याओंमें यथार्थता थी और इनका सर्वत्र प्रसार था। हालमें प्रख्यात वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र वसुने यह आविष्कार किया है कि जड माने जानेवाले पदार्थोंमें भी चेतना है। यह अपनी संस्कृतिके अनुरूप ही है। आर्य-संस्कृतिकी मुख्य भाषा संस्कृत और उसका संस्कृत साहित्य, ये दोनों मानव-जातिकी ज्ञाननिधि और इतिहासके अमूल्य मूलधन हैं। संस्कृत भाषाकी संतति हिंदी, गुजराती, मराठी, बङ्गाली आदि भाषाएँ आर्य-संस्कृतिकी परम्परा और आदर्शको जगाते रहनेमें सदा ही यत्नवान् हैं। भक्तमहाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस आर्य-संस्कृतिका अद्वितीय कीर्तिस्तम्भ है। देश, काल, परिस्थिति चाहे जितने बदला करें; पर जबतक संस्कृत भाषा और उसका महासाहित्य विद्यमान हैं, तबतक मानव-जातिके लिये सच्चे ज्ञान, विज्ञान और कल्याणका द्वार खुला हुआ है और इतिहासका यह सूर्य सत्यको सदा प्रकाशित करता रहेगा।

इस प्रकार हमलोगोंने अपनी सनातन भारतीय संस्कृतिके विविध शाखा-विस्तारोंका किञ्चित्-किञ्चित् अवलोकन किया। सहस्रों ग्रन्थोंसे भी उसका सम्पूर्ण दर्शन, समीक्षा और मीमांसा नहीं हो सकती; कारण, परमात्मामें ही केन्द्रित होनेसे यह जितनी विशाल और अगाध है, उतनी ही अविनाशी है। जो कोई यथाधिकार इसका अनुसरण करता है, वह जगत्के अन्धकार और परितापसे तर जाता और अमृतत्व लाभ करता है। इस संस्कृतिकी सत्-शक्ति, चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति ऐसी है कि जो कोई इसका आश्रय लेता है, वह भी उसीमें समा जाता है। इस संस्कृतिकी भावना-सृष्टि इस विश्वको और मानव-समाजको विराट् पुरुष भगवान्के अङ्गरूपमें प्रकाशित करती है। प्रवृत्तिके झंझावातमेंसे निवृत्तिकी शान्तिमें ले जानेवाली इस संस्कृतिने मानवजीवनके लिये कर्तव्य, उपास्य और ज्ञातव्यकी मनोहर एवं कल्याणकर व्यवस्था की है। इतिहास-कथाओं और देव-कथाओंमें, सत्यपर बिना कोई परदा डाले, प्रभुके मायाविलास-रूप विश्वका वर्णन है। पुरुषमें सदाचार और स्त्रीमें सतीत्वके आदर्शकी महिमा गायी गयी है। काल, कर्म और गुणके वशीभूत एवं स्वभाव, शक्ति तथा स्थूल देहसे सर्वथा असमान रहनेवाले मनुष्योंकी स्वच्छन्दता और समानता केवल मिथ्याभास है—यह चेतावनी इस संस्कृतिसे मिलती रहती है। कृतज्ञताकी भावना इस संस्कृतिमें असीम है। ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण इत्यादिका मर्म हृदयङ्गत करके इसमें जगत्‌की संस्कृतिके संरक्षकोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंका विधान किया गया है। शासनविधानमें भी इसके आदर्शोंने जनताको चिरजीवित्व, सुख, शान्ति और समृद्धि प्रदान की है। ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी पूजाके द्वारा दैवी सम्पत्तिके आधार प्रतिष्ठित किये गये हैं। जिस गौके दूधसे हमलोग पले हैं, उसे हमारी संस्कृतिने मातृरूपमें प्रतिष्ठित और पूजित किया है। समस्त विश्वको उसके एकमात्र महाकारणमें समाविष्टकर तात्त्विक एकताका, अद्वैतका अमूल्य दर्शन कराया है। इस संस्कृतिके मूल, धड़, शाखा, पत्र, पुष्प, फल—सबमें परमात्मा ही अनुस्यूत रूपसे विलास कर रहे हैं और इसीसे इस संस्कृतिके अनुयायी कृतकृत्य होते हैं। भगवती श्रुति कहती हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशावास्य० १)

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

(रचयिता—श्रीप्रताप रस्तोगी)

जागृतिके स्वर्णिम प्रहरोंमें हो रहा नवल किरणोन्मेष ! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश !!

इस प्रथम रश्मिके साथ-साथ ले रही दीनता अँगड़ाई
आशा-हिमजलसे स्नात आज उल्लसित राष्ट्रकी अमराई
खगकुल-कलरवके सँग अजान, गुञ्जित अभिनव जागरण-गान
जागो जीवनका ज्वार लिये, आ रहा इंद्र-धनुषी विहान

जगको देती थी ज्योतिदान जो बन अनिद्य आकाशदीप
जग शलभरूप बन मँडराया जिस ज्योतिरूपिणीके समीप
उस अभ्रविचुम्बी भारतीय संस्कृति-मंदिरका कलश भग्न
हा ! अपना भाग्य-विधान हुआ कितना अस्फुट, कैसा प्रतीप

नश्वर भौतिकतापर विजयी जिसका सदैव अध्यात्मवाद
जड जगतीकी शुचि तपोभूमि ! जो चिर अविनश्वर, अप्रमाद
भ्रुकुटीमें प्रलय-अमर्ष लिये, स्मितिमें संसृति-उत्कर्ष लिये—
जो पूरित-पुष्कल-स्वर्ण-राशि, जो ज्ञान-पुञ्ज, चिर निर्विवाद

हिमगिरि-सा अति उत्तुंग भाल, जिसकी गरिमाका स्तम्भ-रूप
जिसके कौशलके परिचायक साँची, मदुराके भग्नस्तूप
मणि-रत्नोंकी मंजूषा-सी जो शील-दयामयि ऊषा-सी
उसका यह क्षणिक स्खलन निश्चय ही उन्नतिका आरंभ-रूप

विष पीकर सुधा लुटाना ही जिस संस्कृतिका आधारमूल
सिंचन अपलक, सर्जन अनथक, जिसके जगपर उपकार स्थूल
जिसकी अजस्र सभ्यता-धार छाई अब भी मेखलाकार—
उसके विनाशके स्वप्न अहो, जड मस्तिष्कोंकी महाभूल

विस्मृतिका गहरा अंधकार, अवसादोंका आवर्त पीन
जीवनका दारुण दैन्यरूप, संस्कृति विनष्ट गत पुराचीन
विध्वंसोंका यह महाकार परिव्याप्त राष्ट्रके आर-पार
निष्क्रियता तज मेरे अनूप ! जागो बनकर संस्कृत-नवीन

जिसने संसृतिको प्राण दिये, प्राणोंमें स्पंदन भर गति दी
जिसने चिर अगत रहस्योंका विश्लेषण कर प्रज्ञा-मति दी
शंकर दे, तपी तथागत दे, निश्चित दर्शन-सिद्धांत दिये
यश-लोकोज्ज्वल इतिहास दिया, मंगलप्रद हिंदू-संस्कृति दी

युग-चट्टानोंसे ध्वस्तशेष, खंडित, अपमानित मलिनवेष ! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश !!

हमारी संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीराजीवलोचनजी अग्निहोत्री, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
(गीता २ । २२)

'कोई आश्चर्यके साथ इसे देखनेका प्रयत्न करता है, कोई आश्चर्यपूर्वक इसके सम्बन्धमे वार्तालाप करता है, कोई इसके विषयकी बातें आश्चर्यचकित होकर सुनता है; किंतु यह है क्या, यह इतने प्रयत्नके पश्चात् भी कोई जान नहीं पाता ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामे उक्त बात आत्माके सम्बन्धमें कही गयी है । ठीक यही बात भारतीय संस्कृति अथवा भारतीयता-के सम्बन्धमें भी कही जा सकती है । आत्माके सम्बन्धमे दर्शनशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों तथा काव्योंतकमें सर्वत्र चर्चा, विवाद, प्रवचन आदि हैं । प्रत्येक प्राचीन ग्रन्थमे भिन्न-भिन्न प्रकारसे आत्माको समझानेकी चेष्टा की गयी है । इसका यही अर्थ था कि आत्माकी समस्या हल नहीं हो पायी, उसका 'इदमित्थं' रूप स्पष्ट नहीं हो पाया और इसीलिये हर बार इसके समझनेका नवीन प्रयत्न हुआ । प्रारम्भसे लेकर सभी ग्रन्थोंको आत्माके सम्बन्धमें वर्णन करते-करते 'अवाङ्-मनसगोचरम्' कहकर उसका वर्णन समाप्त करना पड़ा । प्रत्येक गुरुने शिष्यको अनेक साधन बताकर तथा आत्माके सम्बन्धकी समस्त सम्भव कल्पना देकर अतृप्त असन्तुष्ट शिष्यको 'श्रद्धत्स्व वत्स' कहकर ही सन्तोष करना पड़ा । समारोपके समय कहना पड़ा कि 'मनमे प्रश्न लेकर आत्माको समझने मत आओ; क्योंकि वह अतर्क्य है । अतएव अनुभवसे ही उसका साक्षात्कार करो ।' गुरुने जब स्वयं मौन धारण कर आत्माकी ज्योतिका साक्षात्कार किया, उससे एकरसता—तादात्म्य प्राप्त किया, तब उसे देखनेमात्रसे शिष्योंके संशय छिन्न हो गये, उन्हें आत्माको प्राप्त करनेके मार्ग मिल गये और अनुभूतिके द्वारा ही उन्होंने आत्मदर्शनके लिये साधना प्रारम्भ की ।

भारतीय संस्कृतिका भी अनुभूतिके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है, तर्कके द्वारा उसका चित्र नहीं खींचा जा सकता—दर्शन नहीं कराया जा सकता । शरीरके किस कणमें आत्माका निवास है, वह किस अवयवको किस प्रकार अनुप्राणित करता है, शरीरको किन साधनोंके द्वारा चैतन्य प्रदान करता है—सक्रियताकी प्रेरणा देता है—यह स्पष्ट करना जितना दुष्कर है, उतना ही दुष्कर यह बताना भी है कि भारतीय संस्कृति भारतीय जीवनके किस अङ्गमे अभिव्यक्त होती है, भारतके कितने निवासियोंके जीवनमे है—कितनेमें नहीं है, हमारे जीवनके कार्योंको वह किन साधनोंसे किस समय प्रेरणा देती है, हमारे अंदर वह किस प्रकार निरवशेष रूपसे पूर्णतः व्याप्त है इत्यादि ।

आत्माके सम्बन्धमे समझानेके लिये अधिकतः दो उपायो-का अवलम्बन किया गया है । पहले अभावात्मक प्रकारसे—

'आत्मा पुत्र-स्त्री-धन नहीं है; क्योंकि अपने अस्तित्वका भान इनके नष्ट होनेपर भी बना रहता है । वह वाक्-नेत्र-श्रवण आदि कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय नहीं है; क्योंकि गूँगे-अन्धे-बहरेको भी चैतन्यका बोध रहता है । वह मन नहीं है; क्योंकि संकल्प-विकल्पकी वृत्ति शान्त रहनेपर भी चेतना तो रहती ही है । वह बुद्धि नहीं है; क्योंकि निश्चयात्मिका वृत्ति जब कार्य नहीं करती, तब भी शरीरको प्रेरणा और सभी वृत्तियोंको प्रकाश अविच्छिन्न गतिसे मिलता रहता है । वह अहङ्कार भी नहीं है; क्योंकि जो 'त्वम्' को अपनेसे अलग कोई वस्तु देखता ही नहीं, उसे 'अहम्' का भाव कहाँ ? वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएँ भी नहीं है; क्योंकि ये तो अन्तः-करणकी वृत्तियोंकी अवस्थाएँ हैं, चिन्मात्र आत्माको इनसे क्या प्रयोजन ?'

'तो वह है क्या ?''''''शून्य ?' यह प्रश्न उपस्थित होनेपर भावात्मक प्रकारसे उत्तर दिया जाता है ।

आत्मा सर्वस्व है । उसे अलग करके नहीं दिखाया जा सकता । वह जीवमें 'अहम्' का भाव जाग्रत् करनेवाला, बुद्धिको निश्चय करनेकी क्षमता देनेवाला, मनको विचार करनेकी प्रेरणा देनेवाला, इन्द्रियोंको शब्द-स्पर्श आदिका अनुभव करने तथा कर्म करनेकी सामर्थ्य देनेवाला, अपने अस्तित्वसे शरीरादि समस्त विश्वका अस्तित्व बनाये रखनेवाला है ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

'जिसकी तर्कना मन नहीं कर सकता, किंतु जिसके अस्तित्व-के कारण मन तर्कना करता है—अर्थात् आत्मा शरीरादि

नहीं है, किंतु शरीरादिके रूपमें वह अभिव्यक्त अवश्य है। वह सबका कारण है, प्रेरक है, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है, अन्धकारका नाशक ज्योतिःस्वरूप है।'

'तो भी वह क्या है?' इसका उत्तर अनुभव और श्रद्धासे मिलता है, तर्कोंसे नहीं; जीवनको शुद्धतर बनाकर शुद्धतमकी ओर ले जाना ही साक्षात्कारका उपाय है। साधनोंकी स्वतन्त्रता है। किसी भी विचार-प्रणालीमें यहाँ दो मत नहीं हैं। हाँ, प्रारम्भिक कालमें उपर्युक्त अभावात्मक और भावात्मक तर्क देना आवश्यक है।

ठीक उसी प्रकारसे प्रश्नकर्ता जब पूछता है कि 'भारतीय संस्कृति क्या है?' तो उसे भी पहले उपर्युक्त दो प्रकारोंसे समझानेका प्रयत्न हो सकता है।

भारतीय संस्कृति किसी भी अन्य संस्कृतिकी विरोधिनी नहीं है; क्योंकि अन्य संस्कृतियोंसे प्रसङ्गवश आया हुआ विरोध जब प्रारम्भ नहीं हुआ, तब भी भारतीय संस्कृतिका अपना स्थायी अस्तित्व था और विरोध समाप्त होनेपर भी उसका चिरन्तन चिरञ्जीवी रूप बना रहा। और न भारतीय संस्कृति किन्हीं विशेष कर्म, भाषा, उपासना, वेश-भूषा, संस्कार, उपासना, जीवन-प्रणालीकी सीमामें ही आबद्ध है। ये सब तो विभिन्न रुचि, स्थिति और स्वभावके अनुसार व्यवहारमें लाये हुए साधन हैं।

जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति भिन्न-भिन्न कालमें प्रकट हुई है, साधनके रूपमें अलग करके उन्हें नहीं देखा जा सकता; क्योंकि भारतीय समाजने जो-जो साधन समय-समयपर अपनाये हैं, उन सभीमें वह प्रस्फुटित हुई है। वह भारतीयोंके जीवनमें समायी हुई है। वेश, भाषा, कर्म आदिमें युगके प्रभावसे परिवर्तन आ सकता है; किंतु युगके अनुरूप साधन लेकर उसी साधनके द्वारा भारतीय संस्कृति अभिव्यक्त होती रही है, होती रहेगी। हाथकी अँगुली प्राण नहीं है; किंतु अँगुलीमें भी प्राण है। पाँचसे छठी अँगुली भी निकल सकती है या जहरीला फोड़ा हो जानेपर अस्पतालमें एक-दो अँगुलियाँ काटी भी जा सकती हैं; किंतु जितनी अँगुलियाँ बचेंगी, जिस रूपमें रहेंगी, उनमें उसी रूपमें प्राण अभिव्यक्त होगा। अँगुली कटनेसे प्राण नहीं कटा; उसमें परिवर्तन आनेसे प्राणमें परिवर्तन नहीं आया। वह पाँचसे बढ़कर छः अँगुलियोंमें अभिव्याप्त हो गया, अथवा तीनमें ही रह गया; किंतु प्राण फिर भी प्राण ही है और सम्पूर्ण है।

भारतीयता किसी प्रकारका बन्धन नहीं, विकास है। संसारमें जिसे मानववाद कहा जाता है—अर्थात् संसारके सभी प्राणियोंको आत्मवत् मानकर उनके प्रति प्रेम, करुणा, उपकार, क्षमा, अहिंसा और सहिष्णुताका भाव रखना; उनके लिये अपने व्यक्तिगत जीवनके स्वार्थ, सुखोपभोगकी लालसा, यश और प्रतिष्ठाकी चाहका परित्याग (संन्यास) करना; दूसरेके विनाशमें अपना निर्माण देखनेकी लिप्सा समाप्त करना; घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धताको अपने जीवनमें न आने देना तथा सामाजिक जीवनमें भी उसे न फैलने देना; इन्द्रियोंको संयमसे कसकर अन्तःकरणकी पवित्रताकी ओर बढ़ना, सत्त्वशुद्धिके लिये ही उपयुक्त जीवन-प्रणालीका निर्माण करना और द्वन्द्वोंसे ऊपर उठते हुए निष्काम भावसे कर्म करनेकी क्षमता प्राप्त करना—यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्यकी पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्वकी ओर उसे पुरस्सर करना भारतीय संस्कृतिका कार्य है।

किंतु इस मानववादकी चर्चा तो संसारकी समस्त संस्कृतियोंने की है, संसारके समस्त समाजोंके अनेक संतोंने लोक-कल्याणकी भावना जाग्रत् करनेका प्रयत्न किया है। तब मानववादको हम भारतीय संस्कृति क्यों कहें? संसारके किसी समाजका व्यक्ति यदि चारित्र्यशील तथा लोकाराधनकी भावनासे प्रेरित हो तो क्या हम उसे भारतीय संस्कृतिका उपासक कह सकेंगे?' यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

प्रथमतः यह कह देना आवश्यक होगा कि मानववादके सिद्धान्तकी घोषणा सबसे पहले भारतीय समाजने—भारतके तपस्वी ऋषि-महर्षियोंने की और अन्य समाज जब भोजन-वस्त्रकी प्रारम्भिक समस्या सुलझा रहे थे—जब उनके जीवनमें जंगलीपन था, तभी भारतीय समाज मानववादके सिद्धान्तोंको केवल चर्चाका विषय ही नहीं बना चुका था, उन्हें जीवनके व्यवहारमें उतार चुका था। आज भी संसारके समाजोंकी अपेक्षा भारतीय समाज मानववादमें सबसे आगे है; किंतु मानववादके साथ-साथ भारतीय संस्कृति कुछ और भी है, जिसे हम भारतीयता कहते हैं। भारतवर्षकी भूमिपर भारतीय जनके हृदय और जीवनमें जो मानववाद भाषा, वेश-भूषा, जीवन-प्रणाली आदिके साधनोंको अपनाकर अनादि कालसे लेकर आजतक विकसित हुआ है, उसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिका उपासक मानवताके सिद्धान्तों-

को माननेके साथ-साथ भारतवर्षको अपनी तपोभूमि, यज्ञभूमि, कर्मभूमि और जन्मभूमि समझता है—भारतमाताको अपनी माता, उपास्य देवीके रूपमें देखता है। भारतवर्षकी गोदमें पलकर इस देशके जनसमाजका आसुरी तथा विदेशी आक्रमणोंसे उद्धार करनेवाले महापुरुषों—भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, लोकमान्य तिलक आदि वीरोंको तथा जीवनके दुःखोंसे उद्धारका उपाय बतानेवाले महापुरुषों—व्यास, शङ्कराचार्य, बुद्ध, महावीर, समर्थ रामदास, तुलसीदास, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महात्मा गान्धी आदि संतोको अपने उद्धारकर्ता पूर्वज मानता है। भारतवर्षमें उद्भूत और विकसित मत-प्रणालियो एवं जीवन-प्रणालियोको आत्मीयताके भावसे देखता और स्वीकार करता है तथा विदेशोंसे आयी हुई मत-प्रणालियों एवं जीवन-प्रणालियोंको—जो कि आजतक भारतीय जीवनमें समरस न हो सकीं, अपितु बडवानलकी तरह उसके अन्तःकरणमे खौलती रहीं—अपच बन गयी, उन्हें आज भी विदेशी, अतएव अग्राह्य मानता है।

अनेक युगोंमें भारतीय संस्कृतिका बाहरकी अनेकों संस्कृतियोंसे संघर्ष होता आया है। उन संघर्षोंकी ओर इङ्गितकर कई बार ऐसा भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृतिके उपासक बननेवाले दूसरी संस्कृतियोके प्रति असहिष्णु रहे हैं तथा हैं। किंतु वस्तुस्थिति दूसरी ही है। भारतीयोंने आक्रमणका विरोध किया है, संस्कृतिका नहीं। आक्रमणका विरोध करना अपने जीवनकी श्रेष्ठता स्थिर रखनेके लिये आवश्यक था। वहाँपर क्षमा और अहिंसाके नामपर आत्मसमर्पण कर देना कायरता हो जाती। यूनानियोंने जब भारतपर आक्रमण किया, तब एक सुसघटित शक्ति निर्मितकर उन्हें खदेड़ दिया गया। परंतु उनकेसाथ सन्धि होते ही सब प्रकारके व्यवहार स्थापित कर लिये गये तथा कला-कौशलका भी आदान-प्रदान किया गया। शक और हूण जब आक्रमणका रूप लेकर आये, तब उनसे शताब्दियोतक टक्कर ली गयी; पर जब वे इस भूमिपर बस गये, तब उन्हे क्षत्रिय बना लिया गया। पारसी हजारोंकी संख्यामे हमारे देशमें आकर आज हजारो सालोंसे आनन्दपूर्वक जीवन बिता रहे हैं। उन्हें आज हम भारतीय ही मानते हैं; क्योंकि भारतके बाहर अब उनका कुछ नहीं, उनकी स्फुरणभूमि भारतभूमि ही है। आज जब भारतीय संस्कृति गुलामीसे मुक्त होकर स्वच्छ वातावरणमें विकसित होने जा रही है, तब उस संस्कृतिसे वे अविलम्ब समरस हो जायँगे—ऐसा हमारा विश्वास है। जो अपनी संस्कृतिके ही अवयव जैन, बौद्ध, सिख आदि हैं, उनके बारेमें तो कुछ कहना ही नहीं; वे तो हमारे हाथकी छठी अँगुली मात्र हैं, जिनकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्राणने आगे बढकर उन्हे अभिव्याप्त कर लिया है।

ईसाकी आठवी शताब्दीसे प्रारम्भ होकर क्रमशः अनेक शताब्दियोंतक इस्लाम-संस्कृतिके उपासकोंने भारतीय संस्कृतिपर लगातार आक्रमण किया और भारतीय संस्कृतिके पुजारियोके विघटन, प्रमाद और अशक्तताके कारण उन्होने विजय प्राप्त की तथा देशपर अधिकार कर लिया। किंतु यह उनकी अन्तिम विजय नही थी; भारतीय पराजित हुए थे, पर उन्होने आत्मसमर्पण नहीं किया था। उन्होने सहस्र वर्षव्यापी लोमहर्षण संग्राम किया—अपने अस्तित्वके लिये, अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये हजारो युद्ध किये, लाखोकी बलि चढ़ायी, कितने ही जौहर कर डाले। एक काल मराठोंके उदयका समय आया, जब यह चित्र स्पष्ट दृष्टिगत हुआ, भारतीयोके शौर्यके कारण ऐसा जान पड़ा कि अब इस्लाम-संस्कृतिसे हमारा पीछा छूट जायगा, भारतीय संस्कृति उसे पराजित कर देगी; परंतु ईसाई संस्कृतिके मदान्ध उपासकोका दुर्भाग्यवश तत्काल सांघातिक आक्रमण हुआ और भारतीय संस्कृति पुनः दासतामें डूबी। इस दासताके कालमे ईसाई संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिको समाप्त करनेके लिये एक नवीन तीक्ष्ण विषका प्रयोग किया—हमारी जीवन-प्रणालीको ही बदल डालनेके लिये हमारे मनमे विदेशी रुचि उत्पन्न की। गत दो सौ वर्षोंकी पराधीनताका काल भारतमे इस्लाम-संस्कृति और भारतीय संस्कृति दोनोके लिये था। इसलिये समान विरोधका आधार लेकर दोनोमे गठबन्धन होनेका एकपक्षीय चित्र अवश्य दिखलायी पड़ा। किंतु ईसाई संस्कृतिके प्रतिनिधि अंग्रेजोको जब यहाँ रहना कठिन जान पड़ने लगा, तब कूटनीति खेलकर उन्होने इस्लामके भक्तोंको अपनी ओर मिलाकर पाकिस्तानका निर्माण कर डाला, जहाँ वह आक्रमक इस्लाम सदा फलता-फूलता रहे और ईसाई संस्कृतिका भी भारतके लिये प्रवेशद्वार बना रहे।

आज भारतका पूर्व और पश्चिमका एक भाग यद्यपि आक्रमकोंकी सम्पत्ति बन गया है, तो भी शेष भारतमे भारतीय संस्कृतिके पनपनेके लिये एक मुक्त वायुमण्डल निर्मित हुआ है। इस स्थितिमे ईसाई संस्कृति, जो अब परास्त हो चुकी है, अल्पकालमे ही अपनी आक्रमणकी वृत्ति छोड़कर

आत्म-समर्पण कर देगी और केवल उपासनाकी एक पद्धति-विशेष रह जायगी। उपासनाकी किसी भी पद्धतिसे भारतीय संस्कृतिने कभी विरोध प्रकट नहीं किया; इसलिये आगे चलकर ईसाई संस्कृति या तो स्वतः समाप्त हो जायगी या उसके उपासक भारतीय जीवनसे समरस होकर भारतीय संस्कृतिमें घुल-मिल जायँगे, जैसा कि वे पहले थे; किंतु इस्लाम-संस्कृतिके साथ भारतीय संस्कृतिका संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। इस्लामके उपासकोंके दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप मुसल्मानोंकी धर्मान्ध आक्रमक वृत्तिमें—उनके जिहादोंमें प्रकट हुआ है, जो भारतमें आज भी जीवित एवं वर्द्धमान है। इस स्वरूपके उपासकोंमें भारतमें आज भी अरबकी सभ्यता, भाषा, वेश-भूषा; वहाँके वीर और संत, वहाँकी जीवन-प्रणाली; यहाँतक कि खाद्य पदार्थोंके लिये भी रुचि विद्यमान है। वे उनसे स्फूर्ति लेते हैं; महमूद, चिंगेज, नादिर, अलाउद्दीन और औरंगजेबको वे अपने पूर्वज, प्रेरणाके केन्द्र मानते हैं। उन्हींका-सा दृष्टिकोण रखते हैं और आजके युगमें कायदे-आजम जिन्ना उनके आराध्य बन गये हैं। यदि वे अपने विजयके कालमें भारतीय संस्कृतिको समाप्त कर देते तो भारतमें एकमेव इस्लाम संस्कृति ही व्याप्त हो जाती, संस्कृति-संघर्षका प्रश्न मिट जाता; परंतु उनके घोर प्रयत्नके पश्चात् भी विशाल एवं चिरञ्जीवी भारतीय संस्कृति विजयिनी होकर निकल आयी। संघर्ष मिटनेका दूसरा मार्ग यह था कि इस्लाम-संस्कृतिके उपासक गत शताब्दियोंमें आत्मसमर्पणकर भारतीय जीवनसे समरसता प्राप्त कर लेते; पर ऐसा भी नहीं हुआ। इसीलिये आज भी वे भारतीय जीवनसे अलग दिखायी देते हैं। इस पृथक्त्वका कारण भारतीय संस्कृतिमें सहिष्णुताका अभाव नहीं, किंतु उनके अपने ही जीवनमें घोर असहिष्णुता, मतान्धता और दूसरोंके प्रति घृणाका भाव है। यह आज भी ज्यों-का-त्यों है और अभी-अभी भारतके विभाजन-कालमें एक अभूतपूर्व विभीषिका उपस्थित कर चुका है। इस्लामका दूसरा किंतु ऊपरी स्वरूप है उपासनाकी एक पद्धति-विशेष। उपासनाकी पद्धतिसे विरोध न होनेके कारण भारतीय जीवन इस्लामकी उपासनाको स्थान देनेको सदैव तैयार रहा है और आज भी है। यह भारतीय संस्कृतिकी उदारता और सहिष्णुता है। कांग्रेसने हिंदू-मुस्लिम एकताका जो प्रयत्न किया, वह यही समझकर कि मुसलमान केवल एक विशिष्ट संस्कृतिका उपासक-मात्र है; किंतु उस संस्कृतिके आक्रमक स्वरूपको उसने नहीं पहचाना अथवा उसकी उपेक्षा की। पर मुसल्मान अपने आक्रमक स्वरूपको नहीं भूला था; इसलिये वह पास तो आया ही नहीं, उसने चुनौतियाँ दीं और अपना अलग राज्य निर्माण कर लिया! यदि आगामी कालमें भारतीय संस्कृति प्रभावशालिनी बन सकी तो आजके बचे-खुचे भारतके मुसल्मान अपने आक्रमक स्वरूपको भूलनेका प्रयत्न करेंगे और उनका उपासक स्वरूप विकसित होकर कालान्तरमें भारतीय जीवनसे एकरस हो सकेगा; और यदि भारतीय संस्कृति शक्ति-सम्पन्न एवं तेजस्विनी नहीं बन सकी तो उनका आक्रमक स्वरूप आगे चलकर अवसरकी खोज करता हुआ पुनः प्रकट हो जायगा।

इस स्थानपर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि दासताके बन्धनसे मुक्त होते ही भारतीय संस्कृतिके ऊपर एक नवीन संस्कृतिके आक्रमणका प्रश्न उपस्थित हो गया है और वह है स्लाव संस्कृति। भौतिक सुखोपभोगके आधारपर जीवन-प्रणालीकी रचना इसकी विशेषता है: रूसमें जन्म लेकर असहिष्णुता और घृणाके आधारपर वह अपना विस्तार कर रही है; देशका दारिद्र्य इसके पौधेको सींच रहा है; भावी निर्माणके लिये ध्वंस और अराजकता उपस्थित करना इसका मार्ग है; आध्यात्मिक जीवन-प्रणालीका विनाश इसके उदयका परिणाम है; आगामी संघर्ष निश्चित है—प्रतिफल हमारी क्षमतापर अवलम्बित है।

भारतीय संस्कृति एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोण है। उदाहरणस्वरूप—जो अभारतीय संस्कृतियाँ हैं, उनमें विवाह एक समझौता है; किंतु भारतीय संस्कृतिमें वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। भारतीय संस्कृतिके आधारपर जो जीवन-प्रणाली निर्मित हुई है, उसकी प्रगति आध्यात्मिकता-की ओर, पूर्णत्वकी ओर, ईश्वरत्वकी ओर है। हमारे जीवनका लक्ष्य होता है ईश्वरको अपने कर्म समर्पण करते हुए मोक्ष—परम शान्तिकी प्राप्ति। सुखोपभोगके लिये भौतिक साधन जुटाना नहीं, अभ्युदयके लिये—ऐहिक जीवनमें संसारमें श्रेष्ठता प्राप्त करना; आशावाद लेकर सब प्रकारसे उच्चतम सभ्यताका विकास करना; सुख, सौभाग्य, गौरव और सामर्थ्यको बढ़ाते जाना—यह हमारा कार्य है। निःश्रेयसके लिये—अभ्युदय-कालमें अर्जित सौभाग्य और सम्पत्तिका उपयोग व्यक्तिगत सुखके लिये न कर, उसे देशके लिये, समाजकी सेवामें, लोक-कल्याणके निमित्त समर्पित कर देना—यह हमारा उद्दिष्ट है। अपनी संस्कृतिके ऊपर आये हुए आक्रमणका

समस्त रक्षासम्बन्धी कार्योंको वही वर्ग करता था। प्रथम-वर्गकी अपेक्षा यद्यपि इसमें त्यागभावना कम है, तो भी कर्तव्य या धर्मकी भीरुतासे एवं ब्राह्मणनियन्तृत्वसे यह स्वेच्छाचार नहीं कर सकता था। तीसरा इच्छाशक्तिप्रधान वैश्य-वर्ग रक्खा गया। कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य आदि कर्तव्य इसे दिया गया। यह वर्ग अपने कर्तव्यद्वारा सारी प्रजाका पालन करता हुआ अपने व्यवसायको देश और विदेशमें फैलाता था। गृहीत धनराशिको अपने पास रखता हुआ यह वर्ग राजकीय कोषाध्यक्षकी भाँति सामाजिक कोषाध्यक्ष कहलाता था और शूद्रोंका चौथा वर्ग शारीरिक श्रमसाध्य कार्योंको करता था। शिल्पादि कलाएँ इसीके हाथमें थीं।

ये हैं भारतीय सामाजिक रचनाके चार भाग, जो अन्योन्याश्रित थे। इनमें ईर्ष्या और द्वेषके लिये स्थान ही नहीं है। सबके तदीय मनोरचनाके आधारपर कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। समाज-सत्ता किसी व्यक्ति या दलके हाथमें नहीं रह सकती। एक वर्गके पास विधान (Law) बनानेकी शक्ति और शिक्षाविभाग है, तो दूसरेके पास राज्याधिकार है, तीसरेके पास कोष और उत्पादन या जीवन-निर्वाहके साधन (Means of Subsistence), और चौथेके पास श्रमशक्ति (Labour Power) और शिल्पादि कलाएँ हैं। क्षत्रियोंकी अधिकार-सत्तापर ब्राह्मणोका, तथा दोनोंकी आवश्यकता-पूर्तिपर वैश्योंका अधिकार है। और तीनोंके मूलभूत शूद्र हैं। इस प्रकार विभक्त होते हुए भी ये परस्पराश्रित कर दिये गये, जिससे किसी प्रकारका संघर्ष न हो सके। इसी अन्योन्याश्रयभावको लक्ष्यमें रखकर वायुपुराणमें कहा है—

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्ज्ञानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात्समासतः॥
यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम्।
रक्षणात्क्षत्रियैरेव जगद्भवति शाश्वतम्॥
तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
... ...
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः॥

इसी हमारी सामाजिक रचनासे सभी अपना-अपना कार्य करते हुए समाज और राष्ट्रके भव्य जीवनके लिये लाभकारी सिद्ध होते थे। इस विषयमें विवाद नहीं कि जिसके पूर्वज दीर्घकालसे जो कार्य करते आ रहे हों, उसके रक्तमें भी तत्कार्यसम्बन्धी गुण अवश्य आयेंगे। और वह वर्ग अपने कार्यको करता हुआ निश्चय ही अन्य वर्गों तथा कार्योंकी अपेक्षा स्वकार्यमें कुशल होकर समाज और राष्ट्रकी तत्सम्बन्धिनी उन्नतिमें विशिष्ट एवं महान् सहायक हो सकता है। इसी-लिये इस सामाजिक रचनाके आधारपर हमारा यह महान् एवं वृद्ध भारत-देश भूतकालमें ज्ञान-विद्या-बुद्धि-कला-वैभवादि सभी गुणोंमें कितना अग्रसर था—यह किसीसे छिपा नहीं है।

अब देखना यह है कि हमारी इस सामाजिक रचनामें कौन-सा सिद्धान्त मार्क्सवादके उपयोगी सिद्धान्तसे कम है। मार्क्सवादका स्थूलरूपसे मौलिक सिद्धान्त यह है—

'प्रत्येक व्यक्ति कार्य करे और सबको उसकी आवश्यकता-के अनुसार प्राप्त हो।'

हम यदि ज़रा गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सामाजिक रचनाके मूलमें उत्तम प्रकारका श्रमविभाग है। उसमें कार्यहीन कोई भी व्यक्ति समाजके ऊपर भाररूप नहीं हो सकता। अपितु सभी स्वकार्यको करते हैं, और आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। और जो यह संघर्ष हो रहा है—यथा एक वर्ग कुछ देना नहीं चाहता और दूसरा वर्ग सब कुछ लेना चाहता है एवं धन, भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त धनीवर्ग और दारिद्र्यपीडित एवं ईर्ष्योत्तेजित श्रमिकवर्ग मनुष्यताको छोड़-कर राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवनको संकटपूर्ण बना रहे हैं—जिसका कि उपाय मार्क्सवादने सर्वविध सम्पत्तिका राजकीय-करण सोचा है—उसका अन्त इसी सामाजिक रचनासे हो सकता है। हमारी सामाजिक रचनामें धनीवर्गका कर्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कुछ भी धन वैश्यवर्ग प्राप्त करता है, उसके ऊपर उसका निजी स्वामित्व नहीं, अपितु वह समाजका है। समाजके लिये सर्वविध धनका न्यायोचित उत्पादन, उसका संग्रह और संवर्द्धन उसका कर्तव्य है। इस प्रकार धनीवर्गकी भाँति जब सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर आरूढ रहेंगे, तब वर्गसंघर्ष हो ही नहीं सकता। और सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर कैसे स्थित रहेंगे—यह पीछे 'अन्योन्याश्रय' से बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इस विषयमें भारतीय सामाजिक रचना अपनी विशालता और श्रेष्ठताके कारण मार्क्सवादसे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। एवं वह सर्वथा निर्दोष है। मार्क्स-वादकी सामाजिक रचनामें तो कई ऐसे भयानक मौलिक

भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक रचना तथा मार्क्सवाद

(लेखक—श्रीप्रेमसागरजी शास्त्री)

भारतके प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियोंने राष्ट्र एवं विश्वकी स्थितिको सुस्थिर बनानेके लिये अपनी कुशाग्रमतिसे जो प्रयत्न किया है, वह रचनाक्षेत्रमें महान् एवं प्रशस्यतम है। उन्होंने नानारूपात्मक पदार्थोंके अन्तःस्थलमें विद्यमान एकरूपताकी खोजकर उसके आधारपर मनुष्यकी वैयक्तिक तथा सामाजिक रचना की, जिससे जायमान सभी विवाद और संघर्ष शान्त हो सकें—मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नति, राष्ट्रिय जीवनका मौलिक सुधार तथा उसका विशुद्ध और स्थायी रूप हो सके।

वैयक्तिक रचना—उन्होंने मनुष्यकी आयुके चार भाग किये। प्रथम भागात्मक ब्रह्मचर्य-जीवनमें अध्ययनादि कर्तव्य था। मनुष्यकी आयुका यही समय प्रारम्भिक उच्चशिक्षाका होता है। इसीलिये उस समय 'सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव' इत्यादि उच्चशिक्षाएँ दी जाती थीं, जिनके अभावसे आज देशमें सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अपने आपको सुधारक माननेवाले बड़े-बड़े नेतालोग भी इसी दिशामें कार्य-सम्पादन कर रहे हैं; किंतु उन प्रारम्भिक उच्च-शिक्षाओंके कारण वे लोग समाज और राष्ट्रके लिये सुयोग्य विद्वान् और सच्चे सुधारक तथा पथप्रदर्शक सिद्ध होते थे। तदनन्तर विद्या समाप्तकर गृहस्थजीवनमें प्रवेश करते थे। पारिवारिक जीवनमें (जिसे लघु समाज-निर्माण कह सकते हैं) रहते हुए अच्छी तरहसे उसका पालन करते थे। और सबकी सेवा करते हुए समाजकी विविधोन्नतिमें सहायक होते थे। इसके बाद अपनी आयुका तीसरा भाग वानप्रस्थ-जीवनमें बिताया जाता था। सम्पूर्ण भार अपनी सन्तानको देकर आमुष्मिक उन्नत्यर्थ ईश्वरोपासनामें तत्पर हो जाते थे। आयुके चतुर्थ भागमें संन्यासजीवन लेकर संसारकी सर्वविध आसक्तिको छोड़कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस उपदेशका अनुसरण करते हुए मनुष्य-जीवनके चरम लक्ष्य परम सत्यकी खोज करते और उसकी अनन्ततामें प्रवाहित हो जाते थे।

यह वैयक्तिक रचना ही आश्रमव्यवस्था है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि इस वैयक्तिक रचनासे मनुष्य अपने चरम ध्येयकी प्राप्ति कर सकता है। और हिंसा-स्तेय-प्रतारण-स्वार्थपरता-परापकारचिकीर्षा आदि समस्त दोषोंकी जननी कामना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। दूसरेकी वस्तुओंको देख हमें भी उन्हें भोगनेकी इच्छा होती है, यही कामना नामकी पिशाची है। उन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा उनके भोगको स्थायी रखनेके लिये हमें अनेक दोष करने पड़ते हैं; यह कामनाका ही परिणाम है। अस्तु, उक्त दोषोंके अभावसे समाज और राष्ट्रकी स्थितिमें थोड़ा भी अन्तर नहीं आ सकता। इसलिये वस्तुतः यह वैयक्तिक रचना मानुषजीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नतिकी पराकाष्ठा एवं राष्ट्र और समाजका मौलिक सुधार था।

सामाजिक रचना—सभी मनुष्योंको इस विशाल समाज-पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्ग समझकर वह समाज विशाल एवं सुदृढ़ भवनके रूपमें असंख्य झंझावातोंको झेलता हुआ अविचल खड़ा रहे, अतः भारतीय महर्षियोंने मनुष्यकी प्रकृतिनार्थक्यके आधारपर भागचतुष्टयरूप चार स्तम्भोंसे उसे दृढ़शक्ति बना दिया, जिससे उसका कोई भी भाग विकृत न हो सके। यह एक प्राकृतिक नियम (Natural Law) है कि मानसिक या बौद्धिक उन्नतिमें सबका बराबर स्थान नहीं हो सकता और सबकी प्रकृतिमें भी एकता नहीं दीख पड़ती। अतः सभी मनुष्योंको एक ही कार्य न सौंपकर उन्हें अपने उत्कर्षमें प्रवृत्त करनेके लिये तथा सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये उनकी जन्मगत वृत्ति एवं मानसिक स्थित्यनुसार भिन्न-भिन्न कार्य ही उन्हें सौंपे जाने चाहिये। भारतीय महर्षियोंने लाखों वर्ष पूर्व इस तथ्यको समझा और विशिष्ट एवं शक्तिशाली समाजका निर्माण कर दिखाया। उन्होंने वेद-भगवान्‌की—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—इस आज्ञाके अनुसार सबसे पहले बुद्धिशक्तिप्रधान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का वर्ग रक्खा। यह वर्ग आजीवन ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरणका कार्य करता था। समाज इसकी उदरवृत्तिका प्रबन्ध करता था और यह इतनेमें ही सन्तुष्ट था। बुद्धिमान्, विचार-शक्तिप्रधान तथा सामाजिक व्यवहारोंसे निरपेक्ष होनेके कारण सामाजिक नियम बनानेकी पात्रता एवं क्षमता उनमें थी। अतः सामाजिक नियन्तृत्वका भार उन्हें सौंपा गया। दूसरा वर्ग बलप्रधान मनुष्योंका रक्खा गया। सामाजिक रक्षाका भार उसे सौंपा गया। राजासे लेकर क्षुद्र कर्मचारीतकके

समस्त रक्षासम्बन्धी कार्योंको वही वर्ग करता था। प्रथम-वर्गकी अपेक्षा यद्यपि इसमे त्यागभावना कम है, तो भी कर्तव्य या धर्मकी भीरुतासे एवं ब्राह्मणनियन्तृत्वसे यह स्वेच्छाचार नहीं कर सकता था। तीसरा इच्छाशक्तिप्रधान वैश्य-वर्ग रक्खा गया। कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य आदि कर्तव्य इसे दिया गया। यह वर्ग अपने कर्तव्यद्वारा सारी प्रजाका पालन करता हुआ अपने व्यवसायको देश और विदेशमे फैलाता था। गृहीत धनराशिको अपने पास रखता हुआ यह वर्ग राजकीय कोषाध्यक्षकी भाँति सामाजिक कोषाध्यक्ष कहलाता था और शूद्रोंका चौथा वर्ग शारीरिक श्रमसाध्य कार्योंको करता था। शिल्पादि कलाएँ इसीके हाथमें थीं।

ये हैं भारतीय सामाजिक रचनाके चार भाग, जो अन्योन्याश्रित थे। इनमें ईर्ष्या और द्वेषके लिये स्थान ही नहीं है। सबके तदीय मनोरचनाके आधारपर कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। समाज-सत्ता किसी व्यक्ति या दलके हाथमे नहीं रह सकती। एक वर्गके पास विधान (Law) बनानेकी शक्ति और शिक्षाविभाग है, तो दूसरेके पास राज्याधिकार है, तीसरेके पास कोष और उत्पादन या जीवन-निर्वाहके साधन (Means of Subsistence), और चौथेके पास श्रमशक्ति (Labour Power) और शिल्पादि कलाएँ हैं। क्षत्रियोकी अधिकार-सत्तापर ब्राह्मणोका, तथा दोनोंकी आवश्यकता-पूर्तिपर वैश्योका अधिकार है। और तीनोंके मूलभूत शूद्र हैं। इस प्रकार विभक्त होते हुए भी ये परस्पराश्रित कर दिये गये, जिससे किसी प्रकारका संघर्ष न हो सके। इसी अन्योन्याश्रयभावको लक्ष्यमे रखकर वायुपुराणमे कहा है—

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्ज्ञानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात्समासतः॥
यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम्।
रक्षणात्क्षत्रियैरेव जगद्भवति शाश्वतम्॥
तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
... ...
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः॥

इसी हमारी सामाजिक रचनासे सभी अपना-अपना कार्य करते हुए समाज और राष्ट्रके भव्य जीवनके लिये लाभकारी सिद्ध होते थे। इस विषयमे विवाद नहीं कि जिसके पूर्वज दीर्घकालसे जो कार्य करते आ रहे हो, उसके रक्तमे भी तत्कार्यसम्बन्धी गुण अवश्य आयँगे। और वह वर्ग अपने कार्यको करता हुआ निश्चय ही अन्य वर्गों तथा कार्योंकी अपेक्षा स्वकार्यमे कुशल होकर समाज और राष्ट्रकी तत्सम्बन्धिनी उन्नतिमे विशिष्ट एवं महान् सहायक हो सकता है। इसी-लिये इस सामाजिक रचनाके आधारपर हमारा यह महान् एवं वृद्ध भारत-देश भूतकालमे ज्ञान-विद्या-बुद्धि-कला-वैभवादि सभी गुणोंमे कितना अग्रसर था—यह किसीसे छिपा नहीं है।

अब देखना यह है कि हमारी इस सामाजिक रचनामे कौन-सा सिद्धान्त मार्क्सवादके उपयोगी सिद्धान्तसे कम है। मार्क्सवादका स्थूलरूपसे मौलिक सिद्धान्त यह है—

'प्रत्येक व्यक्ति कार्य करे और सबको उसकी आवश्यकता-के अनुसार प्राप्त हो।'

हम यदि ज़रा गम्भीरतासे विचार करे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सामाजिक रचनाके मूलमे उत्तम प्रकारका श्रमविभाग है। उसमे कार्यहीन कोई भी व्यक्ति समाजके ऊपर भाररूप नहीं हो सकता। अपितु सभी स्वकार्यको करते हैं, और आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। और जो यह संघर्ष हो रहा है—यथा एक वर्ग कुछ देना नही चाहता और दूसरा वर्ग सब कुछ लेना चाहता है एवं धन, भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त धनीवर्ग और दारिद्र्यपीडित एवं ईर्ष्योत्तेजित श्रमिकवर्ग मनुष्यताको छोड-कर राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवनको संकटपूर्ण बना रहे हैं—जिसका कि उपाय मार्क्सवादने सर्वविध सम्पत्तिका राजकीय-करण सोचा है—उसका अन्त इसी सामाजिक रचनासे हो सकता है। हमारी सामाजिक रचनामे धनीवर्गका कर्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कुछ भी धन वैश्यवर्ग प्राप्त करता है, उसके ऊपर उसका निजी स्वामित्व नहीं, अपितु वह समाजका है। समाजके लिये सर्वविध धनका न्यायोचित उत्पादन, उसका संग्रह और संवर्द्धन उसका कर्तव्य है। इस प्रकार धनीवर्गकी भाँति जब सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर आरूढ रहेंगे, तब वर्गसंघर्ष हो ही नही सकता। और सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर कैसे स्थित रहेंगे—यह पीछे 'अन्योन्याश्रय' से बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इस विषयमे भारतीय सामाजिक रचना अपनी विशालता और श्रेष्ठताके कारण मार्क्सवादसे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। एवं वह सर्वथा निर्दोष है। मार्क्स-वादकी सामाजिक रचनामे तो कई ऐसे भयानक मौलिक

दोष हैं, जो मनुष्यका पतन करके छोड़ते हैं । यथा—

(१) सर्वप्रथम मार्क्सवादीय समाजरचना मनुष्यकी नैसर्गिक मनोरचनाके अनुसार नहीं है ।

(२) इसमें मनुष्य-जीवनके चरम उद्देश्य (भगवत्प्राप्ति) की ओर ध्यान ही नहीं रक्खा गया, जिससे यह मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नतिका साधन तो होता ही नहीं वरं द्वेष, हिंसा, वैर आदिके सेवनसे उसे अवनत कर देता है ।

(३) इसमें वैयक्तिकी शासनसत्ताका सर्वथा अभाव है, जिससे मनुष्यके अन्तःकरणके स्वाभाविक दुष्ट भाव काम-क्रोधादिकों तथा तदुत्पन्न दोषोंके नियन्त्रण तथा दूर करनेका कोई उपाय ही उसके पास नहीं रह जाता ।

(४) यद्यपि निजी स्वामित्वको नष्टकर स्वार्थमूलक भावोंको दबानेका प्रयत्न किया गया है, तथापि उसके साथ ऐसा कोई प्रवर्तक हेतु नहीं बनाया, जिससे मनुष्य आत्मविकासके लिये प्रयत्न करे, अथवा समाजसेवामें स्वपरिश्रमकी पराकाष्ठा दिखला सके ।

परंतु हमारी वैयक्तिक रचना इन सब दोषोंसे सर्वथा रहित है और राष्ट्रके वर्तमान एवं भावीजीवनका सर्वविध सुधार करनेमें समर्थ है । इस सामाजिक रचनासे आधुनिक सम्पूर्ण कलह शान्त हो सकते हैं । सबको उचित काम और यथार्थ पारिश्रमिक (Real Wages) मिल सकता है । प्रत्येकके अधिकारके साथ तत्तुल्य कर्तव्य (Duty) निश्चित किया जा सकता है । और समाजके सभी वर्गोंका कार्य-विभाजन (Division of Work) होते हुए भी वे पूर्वोक्त प्रकारसे इस तरह परस्पराश्रित किये जा सकते हैं कि एक दूसरेको दबानेका कभी अवसर ही न प्राप्त हो सके, प्रत्युत सब प्रेम और आदरके साथ रहनेके लिये विवश हों । इस प्रकार क्रमशः समाज, राष्ट्र एवं विश्वभरकी स्थिति सुस्थिर हो सकती है ।



संस्कृतिका अन्वेषण

प्राचीन इतिहास, कला, साहित्य एवं समाजके आचार-प्रभृतिके अन्वेषण पाश्चात्त्य सभ्यताकी एक महती विशेषता हैं । इसे स्वीकार करना ही होगा कि अन्वेषणकी यह प्रवृत्ति यूरोपकी देन है । प्राचीनताकी छान-बीनकी यह अभिनव रुचि एवं वर्तमान अनेक साधन यूरोपसे विस्तीर्ण हुए हैं और इनको इतना अधिक महत्त्व मिला है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी आयका एक बड़ा भाग इसपर व्यय करता है ।

भारत चाहे प्राचीनताका इस प्रकार अन्वेषक न रहा हो, परंतु हम सदासे उसके विश्वासी और अनुगामी रहे हैं । हमारे लिये प्राचीनता केवल जिज्ञासाकी वस्तु नहीं, वह हमारी आराध्य है । सनातन-शाश्वत धर्म एवं आदि संस्कृति ही हमारी नित्य आदर्श रही है । अवश्य ही सत्यकी विकृतियोंकी रक्षा तथा उनका अन्वेषण भारतको प्रिय नहीं था । जिस जातिका लक्ष्य भौतिकताके ठीक प्रतिकूल अन्तर्मुखता हो, वह बाह्य विकृतियोंकी छान-बीनमें लग भी नहीं सकती ।

जहाँतक गवेषणाका सम्बन्ध है, वह सदा ज्ञानदायिनी और श्रेष्ठ है । यूरोपकी इस प्रवृत्तिकी प्रशंसा करनी पड़ेगी । जहाँ भी यह प्रवृत्ति पक्षपातशून्य होकर विशुद्धरूपमें होगी, वहाँ वह सत्यका चाहे स्पष्ट साक्षात् न करा सके, परंतु उसका सङ्केत तो अवश्य ही करेगी । यूरोपमें, विकासवादकी जन्मभूमि इंग्लैंडमें ही इस प्रकारके विशुद्ध अन्वेषक हैं । उन वैज्ञानिकोंने विकासवादका थोथा सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया है और स्वीकार कर लिया है कि 'डार्विनका विकासवाद बिल्कुल असत्य और विज्ञानके विरुद्ध है' (प्रोफेसर विलियम वैटसन) । सायन्स इस बातका स्पष्ट साक्षी है कि 'मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके स्थानमें उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है । मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी' (सिडनी कालेट) । 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टिमें उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं' (जस्टिस टी० एल० स्टैंज) ।

'चेतनके प्रभावके विना जड पदार्थोंमें चेतना आ ही नहीं सकती, विज्ञानका यह नियम मुझे पृथ्वीके आकर्षणके नियमकी भाँति ही अटल प्रतीत होता है ।'*

* *The Development of Creation on the Earth*, p. 17.

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation. (*The Nature and Origin of Life*, p. 173.)

यह स्वीकार कर लेनेपर भी यूरोपीय वैज्ञानिकों तथा अन्वेषकोंकी स्वदेश एवं स्वसंस्कृतिकी परिस्थिति यह है कि वे असभ्यसे सभ्य हुए हैं। मनुष्यकी मूल-उत्पत्तिके स्थानसे पृथक् होनेपर वे वहाँकी शिक्षासे भी वञ्चित हुए। काल-क्रमसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया। वे असभ्य हो गये। धीरे-धीरे पीछे जब वे अपनेसे अधिक सभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आये, तब उनकी सभ्यता एवं ज्ञानका विकास हुआ। फलतः उनका इतिहास विकासवादका इतिहास है। थोड़े-से अत्यल्प महान् पुरुषोंको छोड़कर मनुष्यका अहङ्कार स्वभावतः उसे यह नहीं स्वीकार करने देता कि कभी वह किसीसे किसी विषयमें हीन रहा है और उसने दूसरोंसे कुछ सीखा है। यूरोपीय अन्वेषक भी इसी वृत्तिसे विवश होकर स्वतः विकासका समर्थन करते हैं। उनमें जो साहसी और तटस्थ हैं, जिन्होंने आदि पूर्ण संस्कृतिका सिद्धान्त स्वीकार किया है, वे वर्तमान अन्वेषण-प्रणालीको सर्वथा भ्रान्त घोषित कर चुके हैं।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे भारतीय अन्वेषकोंमें दो भाग हो गये हैं। एक भाग तो विकासवादकी भावना लेकर चलता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें विकास हुआ। साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, समाज-व्यवस्था, धर्मभावना प्रभृति समस्त क्षेत्रोंमें मनुष्यने क्रमशः उन्नति की। अधिकांश आलोचक—चाहे वे दार्शनिक हों, साहित्यिक हों, पुरातत्त्वके हों या दूसरे किसी विषयके—जो भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित हैं, वे डार्विनकी उसी पुरानी भावनाके समर्थक हैं। वे नहीं देखते कि यूरोपके उच्च वैज्ञानिक उसे दो सदी (वैज्ञानिक सदी) पुरानी एक भ्रमपूर्ण कल्पना कहते हैं और भारतके सम्बन्धमें, जहाँ ज्ञानका निरन्तर ह्रास हुआ है, जहाँ संस्कृतिकी परम्परा सृष्टिके आदिकालसे अनवच्छिन्न है, यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रामक है।

विकासवादकी यह भावना भारतमें अत्यन्त व्यापक है। प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्य ग्रन्थ इसी भावनासे लिखे गये हैं। फलतः नवीन शिक्षित समुदाय भी इसी सिद्धान्तके साँचेमें ढलता जा रहा है। उपनिषदोंका महान् तत्त्वज्ञान, सूत्रग्रन्थोंका अलौकिक दर्शनशास्त्र, आचार्योंकी लोकोत्तर प्रतिभा, साहित्यमें कालिदास, सूर, तुलसी, बिहारीके क्रमसे अब दुर्लभप्राय प्रतिभा, प्राचीन मूर्ति एवं चित्रकलाकी अपूर्व सुषमा—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें प्रत्यक्ष ह्रास देखकर और स्वीकार करके भी यह वर्ग अस्पष्ट, भ्रमपूर्ण, जटिल तर्कोंद्वारा अपने दुराग्रहपर स्थिर है।

समाजकी अध्ययनकी प्रवृत्ति घटती जा रही है। ज्ञान, स्वास्थ्य, शरीर, कला—सबमें दुर्बलता, अपूर्णता आ रही है। इसी अपूर्णताको, उच्छृङ्खलताको, ह्रासको आज 'प्रगति' का नाम दिया जाता है। बचोंके-से स्थूल एवं तथ्यहीन तर्कोंसे पुरातनका परिहास किया जाता है और माना जाता है कि हमारा विकास हो रहा है।

विकासवादके प्रभावका मूल पाश्चात्त्य शिक्षा एवं धारणा है। जिन विद्वानोंमें भारतीयताका गर्व एवं उसके प्रति अनुराग है, वे भी इस पाश्चात्त्य शिक्षासे भ्रमग्रस्त हुए हैं। ऐसे विद्वानोंका एक बहुत श्रेष्ठ, ख्यात एवं सम्मानित वर्ग है, जो यह तो स्वीकार करता है कि हमारे शास्त्र, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ श्रेष्ठ एवं भ्रमहीन हैं, किंतु वह श्रेष्ठताकी धारणा पाश्चात्त्य जगत्‌से लेता है। फलतः जो बातें, जो ज्ञान, जो धारणाएँ पाश्चात्त्य जगत्‌में श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उनके विषयमें वह कहता है 'हमारे यहाँ ये बातें पहलेसे हैं।' शास्त्रोंके अद्भुत अर्थ करके वह उन्हें सिद्ध करता है। जो बातें, नियम, आचार पाश्चात्त्य जगत् हीन मानता है, वे यदि हमारे ग्रन्थोंमें हैं तो इस वर्गके अनुसार 'वे अंश पीछेसे मिलाये हुए प्रक्षिप्त भाग हैं, मध्यकालकी विकृतियाँ हैं।' इस प्रकार यह वर्ग भी आदर्श तो पाश्चात्त्य सभ्यताको ही मानता है।

इस वर्गमें संस्कृतके बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हैं। बात यह है कि जिन्होंने पहले पाश्चात्त्य शिक्षा प्राप्त की, उनकी धारणा उसके अनुसार बन गयी। प्रारम्भिक शिक्षा बालककी अपक्व बुद्धिको अपने साँचेमें ढालती है। अतः उनकी बुद्धि पाश्चात्त्य-विचारप्रधान हो गयी। इसीलिये प्रारम्भिक शिक्षा अपनी भाषामें अपनी संस्कृतिके अनुरूप आवश्यक होती है। बुद्धि पक्व होनेपर विदेशीय शिक्षा ज्ञानवर्द्धनका कारण हो सकती है, परंतु प्रारम्भमें तो वह भ्रम ही उत्पन्न करती है।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे जो भारतीय विद्वानोंका वर्ग पाश्चात्त्य धारणाओंको अपने यहाँके ग्रन्थोंमें सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है, वह चाहे जितना उच्च बौद्धिक वर्ग हो, करता यह अहङ्कारकी प्रेरणासे ही है। अहङ्कार ही व्यक्तिको प्रेरित करता है कि अपनेमें वह सभी गुणोंका आरोप करे और दोषोंके लिये दूसरोंको दोषी ठहराये। 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता नहीं थी!' पाश्चात्त्य दृष्टिमें सभ्य बननेके लिये शास्त्रोंका मनमाना अर्थ करके यह सिद्ध करनेकी अपेक्षा 'अस्पृश्यता थी!' इस प्रकार सत्यकी स्वीकृति अच्छी है। यदि पाश्चात्त्य

धारणा श्रेष्ठ है तो उसे स्वीकार करना चाहिये; परंतु बात तो ठीक उलटी है। 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता थी और वह होनी चाहिये। वह श्रेष्ठ है।' उसके मर्मको न समझकर पाश्चात्त्य सभ्यताने उसे बुरा माना। पाश्चात्त्य प्रभावसे हम एक अच्छाईको बुराई मान लें और तब कहें कि यह हमारे यहाँ नहीं थी, यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। अस्पृश्यताकी भाँति जातिभेद, मूर्तिपूजा, देववाद, अवतारवाद, श्राद्धादि दूसरे धर्म एवं सिद्धान्त भी हैं, जो सत्य हैं, शाश्वत हैं।

चाहे शास्त्रोंको अस्वीकार करनेवाला 'प्रगतिवादी' वर्ग हो या शास्त्रोंसे पाश्चात्त्य मान्यता सिद्ध करनेवाला 'बुद्धिवादी' वर्ग, दोनों ही उस अन्वेषणकी प्रणालीसे प्रभावित हैं, जो पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने अपनायी है। भूमिमें खोदनेपर मिली हुई इमारतें, मूर्तियाँ, सिक्के तथा दूसरे पदार्थ, प्राचीन चित्र, खदानोंमें पत्थरोंमें प्राप्त सैकड़ों वर्ष पुराने जन्तुओंके प्रस्तरीभूत अवशेष, मरुस्थल या हिमप्रान्तमें मिले सुरक्षित शव तथा पिरामिडों एवं कबरोंकी सामग्रियाँ, यही सब पाश्चात्त्य विज्ञानके अन्वेषणके साधन हैं। इन्हींके आधारपर संस्कृतियों एवं सभ्यताओंका इतिहास निर्धारित किया जाता है।

'विकासवाद' पर विचार करते समय इन साधनोंकी अपूर्णतापर विस्तारसे विचार किया जा सकता है। सभी यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वी एक अनिश्चित गहराईतक कभी नहीं खोदी जा सकेगी। इस समय जितना भाग खोदा या ढूँढ़ा जा सका है, वह उस भागका एक सहस्रवाँ भाग भी नहीं, जिसका खोदा जाना अत्यावश्यक जान पड़ता है। अनेक ऐसे प्रमाण बार-बार मिलते हैं, जो पुराने स्थिर किये नियमोंको भ्रान्त सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार अभीतक ऐसा कोई नियम निर्धारित नहीं हुआ, जिसके सम्बन्धमें यह आशा की जा सके कि वह निरपवाद रहेगा। अन्वेषणसे प्राप्त सामग्री कितनी अल्प और अपूर्ण है, यह इससे समझा जा सकता है।

मान लीजिये कि पृथ्वीका वह भाग जिसे खोदा जा सकता है और पुरातत्त्व-विभाग जिसका खोदना आवश्यक मानता है, कुछ सौ शताब्दियोंमें खोद लिया गया। क्या तब इतिहासके समस्त प्रमाण उपलब्ध हो जायँगे? पहली बात तो यह कि नगरों, वनों, खेतों, पर्वतों और समुद्रोंके नीचे तब भी भूमिका अधिक भाग अज्ञात रहेगा। वहाँ कुछ नहीं है, यह तो कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि भूमिका ऊपरी स्तर बराबर धूल, मिट्टीसे ढकता है। इसीसे प्राचीन सामग्रियाँ भूगर्भमें धीरे-धीरे चली गयीं। समस्त सामग्रियाँ प्राचीन होकर सड़ती हैं। लकड़ी, कपड़ा, कागज आदि तो शीघ्र सड़ता है; पर पत्थर, लोहा तथा दूसरी धातुओंमें भी परिवर्तन होते हैं। हम आशा नहीं कर सकते कि भूमिमें हम दस-बीस-लाख वर्ष पुरानी कोई वस्तु पा सकेंगे, जब कि पृथ्वीको रेडियमने अरबों वर्ष पुरानी बता दी है। पृथ्वीके ऊपरी स्तर जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही नीचे दबी वस्तुओंपर दबाव बढ़ता जाता है। बहुत नीचे पृथ्वीके स्तर टूटकर एकाकार हो गये हैं। वहाँ किसी पदार्थका बने रहना सम्भव नहीं। यदि वहाँ कुछ रहा हो तो वह भूमिसे एकाकार हो गया। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री एक निश्चित कालसे पीछेकी हो नहीं सकती। इस सामग्रीमें भी काल जितना अधिक लंबा होगा, पदार्थ उतने सड़े, दुर्बल होंगे। वही पदार्थ मिलेंगे, जो सड़नेसे बच रहे। यदि हमें प्राचीन कालके वस्त्र और कागज नहीं मिलते तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे थे ही नहीं—उस समय केवल पाषाण या धातुका उपयोग होता था। ये 'पाषाणयुग' तथा 'धातुयुग' केवल काल्पनिक हैं। उस समयके काष्ठको पानेकी हम आशा कैसे कर सकते हैं।

जो पदार्थ हमे खोदनेसे मिले हैं या मिलते हैं, वे क्या किसी समयके सचमुच प्रतीक हो सकते हैं? यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा तो कोई स्थान अभी कहीं मिला नहीं है, जहाँ खोदनेपर केवल पत्थर या केवल धातुकी सामग्री मिली हो। सभी सामग्रियाँ कुछ-न-कुछ मिश्रित ही मिलती हैं। आज साधुओंकी रहन-सहन, गरीबोंकी रहन-सहन, विद्वानों और सम्पत्तिशालियोंकी रहन-सहन क्या समान है? क्या एक भीलोंके ग्राम और नगरमें समान सामग्री मिलती है? क्या भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें ही अन्तर नहीं है?

कल्पना कीजिये कि कोई पुरानी समाधि खोदी गयी। वह साधुकी, बौद्ध भिक्षुओंकी हो तो वहाँ मिट्टीके पात्र, साधारण पाषाणके बर्तन तथा कुछ मिट्टी, पत्थर या लकड़ीकी बहुत सामान्य वस्तुएँ निकलेंगी। क्या इसका अर्थ यह होगा कि उस समय लोग कारीगरी नहीं जानते थे? यदि कहीं खोदनेपर टाटानगरकी भाँति कोई औद्योगिक नगर मिले तो यह परिणाम निकलेगा कि उस समय सारे संसारमें केवल लोहा ही प्राप्त था?

आज जहाँ भी खोदनेका काम होता है, यह जाननेका कोई साधन नहीं रहता कि उस समयके समाजमें उस स्थान एवं वहाँके लोगोंकी क्या स्थिति थी। आजके विद्वान्

उन अविशिष्ट सामग्रियोंसे उस समयके पूरे मानव-समाजकी कल्पना करते हैं। यह कल्पना वैसी ही है, जैसे कोई किसी उजड़े छोटे ग्रामकी दीवालों तथा खपरैलके टुकड़ोको लेकर पूरे देशकी संस्कृतिका वर्णन करने लगे।

इस प्रकार आधुनिक अन्वेषणके सब आधार अपूर्ण और भ्रान्तिपूर्ण हैं। अत्यल्प, सन्दिग्ध प्रमाणोंपर किये हुए अनुमान कोरे तथ्यहीन अनुमान ही हैं। ऐसे अनुमानोंने इतिहासको बहुत भ्रमपूर्ण कर दिया है। विकासवादकी निर्मूल धारणा उस भ्रमको और भी जटिल बनाती है। यद्यपि महान् संग्रहालयोंके अध्यक्ष अब स्वीकार करने लगे हैं कि उनके संग्रहालयोंमें ऐसा कुछ नहीं, जो विकासकी धारणाको पुष्ट करे, फिर भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित विद्वान् इन अधूरे प्रमाणोंके अतिरिक्त और कोई आधार अपने अन्वेषणका न पाकर उसी अन्धकारमें भटक रहे हैं।

अन्वेषणकी पाश्चात्त्य प्रणाली उसके भौतिकवादपर निर्भर है। यह मान लिया गया है कि पदार्थोंका स्थूल रूप सत्य है। फलतः पदार्थोंको पृथ्वीके भीतर गड़ा हुआ या आकाशमे वायवीय रूपमे किसी-न-किसी रूपमे मिलना ही चाहिये। इसीसे जो कुछ पृथ्वीमे मिलता है, उसी कंकालके आधारपर इतिहासका काल्पनिक चित्र बनाया जाता है।

हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषणमे ये कंकड़-पत्थरोके प्रमाण किसी भी प्रकार प्रमाणकोटिमे लेने योग्य सिद्ध ही नहीं होते। हिंदू-संस्कृतिकी परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसकी प्राचीनतामें जगत्का कोई पदार्थ अपने रूपमे बना रहेगा, ऐसी आशा नही की जा सकती। कालकृत इस दीर्घताकी बाधाके अतिरिक्त दूसरी बाधा सिद्धान्तकी है। भारतीय दर्शनोके सभी मतोमे पदार्थोंकी व्यक्त सत्ताको अमान्य किया गया है। जगत् एवं उसके पदार्थोंका आविर्भाव तथा तिरोभाव भारतीय दर्शनको मान्य है। जब पदार्थकी स्थूल सत्ता ही नही, तब स्थूल पदार्थके प्राचीन चिह्न मिलने कैसे सम्भव हैं।

स्थूल पदार्थोंके आधारपर हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषण करनेवालोंकी कठिनाइयॉ तो द्वापरके अन्त और आजकी स्थितिके सामञ्जस्यमे ही इतनी बढ़ जाती हैं कि वे कोई ठीक समाधान नहीं कर पाते। द्वापरके अन्तको पॉच सहस्रसे कुछ ही वर्ष अधिक हुए हैं। महाभारतका युद्ध द्वापरके अन्तमे हुआ था। महाभारत तथा पुराणोके वर्णनोका आजकी सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सभी बातोसे सामञ्जस्य नही होता। वर्तमान इतिहास लगभग तीन सहस्र वर्ष पीछेतक जाता है। इन तीन सहस्र वर्षोंका विवरण विश्वस्तरूपसे प्राप्त माना जाता है। पॉच सहस्रसे तीन सहस्रके मध्यके दो सहस्र वर्षोंमे ऐसी कौन-सी महान् घटना विश्वमें हुई, जिसने समस्त विश्वके भूगोल एवं इतिहास-क्रमको भंग कर दिया—इसका कुछ पता नहीं।

महाभारतके वर्णनके अनुसार भारतका उस समयके सम्पूर्ण भूमण्डलके देशोसे सम्बन्ध था। पृथ्वीके वर्तमान सभी देशोंकी भाषा, आचार, कलाकृति आदिमे ऐसे अंश पर्याप्त हैं, जो उनका भारतसे सम्बन्ध सूचित करते हैं। यह सम्बन्ध कब क्यों टूट गया, इतिहास इसे बतानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार भारतीय रथो, दिव्यास्त्रो आदिका लोप भी एक समस्या है।

सर्पके मस्तककी मणि, गजमुक्ता, स्वयं प्रकाशित रत्न—इन सबका वर्णन इतने विस्तारसे प्राचीन शास्त्रोंमें है कि इनको केवल कवि-कल्पना नही कहा जा सकता। इसके साथ यह भी सत्य है कि आज संसारमे ऐसा कोई रत्न या मणि नहीं, जो अन्धकारसे थोड़ा भी प्रकाश कर सके। वह केवल चमकसे अपनी स्थितिमात्र सूचित कर दे, यही पर्याप्त है आज। कहीं कोई सर्पके सिरका मणि नहीं और न कहीं हाथीके मस्तकसे निकला मोती ही उपलब्ध है।

भारतमे जिस अपार ऐश्वर्य एवं सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, क्या सब काल्पनिक है? स्फटिकके भवन, स्वर्णके विशाल नगर-जैसे यज्ञ-मण्डप, रत्नोकी राशियाँ, क्या हुई सब? आजका पाश्चात्त्य सभ्यतामे दीक्षित अन्वेषक तो कह देगा कि यह सब कवियोंके स्वप्नकी बातें हैं। क्योकि पदार्थोंकी स्थूल सत्ता स्वीकार कर लेनेपर उसके लिये दूसरा कोई मार्ग रह नही जाता।

भारतीय शास्त्र इस सम्बन्धमें मौन नहीं हैं। वे कहते हैं कि विश्वमें कोई महान् घटना हुई हो या न हुई हो, पदार्थोंका तिरोभाव होना तो सहज ही है। पदार्थोंकी स्थूल सत्ता केवल भ्रान्ति है। सभी पदार्थोंके अधिदेवता हैं। जब पृथ्वीपर किसी पदार्थको पानेके योग्य अधिकारी नहीं रह जाते, तब वह पदार्थ तिरोहित हो जाता है। जब फिर अधिकारी उत्पन्न होंगे, तब व्यक्त हो जायगा। वह भूमि या समुद्रके गर्भमे छिप नही जाता। स्थूल जगत्से ही लुप्त हो जाता है। यही बात कला, विद्या और दूसरे दिव्यास्त्रादि साधनों तथा शास्त्रोके सम्बन्धमें कही गयी है। पदार्थ जब तिरोहित हो गया, तब पृथ्वी खोदने या समुद्र छाननेसे उसका पता कैसे लगेगा।

पाश्चात्त्य सभ्यताकी प्रेरणा वस्तुके स्थूल रूपको स्वीकार

करती है। इसीसे वस्तुका अन्वेषण, उसका हिसाब वहाँ प्रधान है। वहाँ भूमिसे मिले पदार्थ इतिहासके आधार माने गये। खेतों, घरों, दूकानों, गोदामोंमें चूहे, कीड़ों तथा पक्षियोंके भोजनका हिसाब किया गया। इस हानिसे बचनेके लिये उनके वधके उपाय किये गये। बराबर उन उपायोंका प्रचार हो रहा है। भारतने पदार्थकी स्थूल सत्ता अस्वीकार की। पदार्थ भावरूप हैं। वे भाव-जगत्‌में हमारे अधिकारके अनुरूप व्यक्त होते हैं। अतः यहाँका अन्वेषण पदार्थोंके अवशिष्ट कंकालपर निर्भर नहीं। यहाँ दूसरे जीवोंसे ईर्ष्या नहीं और न उनको मिटानेका प्रयत्न ही है। हिसाब चाहे जो कहे; किंतु भारतीय शास्त्र कहते हैं, डरनेकी कोई बात नहीं। हमारे भागकी उपलब्धि हमें होगी ही। चूहे, कीड़े, सब केवल अपना भाग लेते हैं। वे हमारा भाग नहीं ले सकते।

जैसे आजके मनुष्यका हृदय इतना संदिग्ध हो गया है कि 'वह विश्वास नहीं कर पाता कि पक्षियोंके मनमाना खानेपर भी वृक्षमें उसके भागका फल रहेगा ही, चूहे उसके भंडारमें कुछ घटा नहीं सकते, रक्षाका पूरा प्रयत्न करके वह जितना पाता है, उतना सबको पूरी छूट देकर भी उसे मिलेगा।' ठीक उसी प्रकार स्वतः-प्रकाश रत्नों, मणियों, दिव्यास्त्रों तथा दूसरी विद्याओंके सम्बन्धमें भी उसे सन्देह हो गया है। प्रत्येक विषयमें मनुष्य स्थूल गणित, स्थूल प्रमाण चाहता है।

अनेक बार इन्द्रजाल करनेवाले भावरूप पदार्थका दर्शन करा देते हैं। ऐसे महात्माओंके वर्णन हमे पढ़नेको मिलते हैं, जिनकी मानसिक पूजाके पदार्थ बाहर किसी कारणसे प्रकट हो गये। इन प्रकट पदार्थोंकी स्थूल सत्ता कहाँसे आयी? भावरूप पदार्थ भावकी प्रगाढ़तासे मूर्त ही तो हुए। इसी प्रकार सभी पदार्थ सृष्टिकर्ताकी भावनाके ही मूर्तरूप हैं। जगत्‌के जीवोंके अधिकारके अनुरूप उनका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। महाराज पृथुके समयमें पृथ्वीने सम्पूर्ण खाद्योंको तिरोहित कर दिया था, यह बात पुराणोंमें स्पष्ट कही गयी है।

पदार्थ केवल तिरोहित ही हो जायँ, ऐसी बात नहीं। अनेक बार उनका स्वरूप इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि उनके पहले रूपसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। इस परिवर्तनका कोई प्राकृतिक कारण देना या जानना प्रायः शक्य नहीं होता। तीर्थोंमें स्फटिकशिला, रत्न-मण्डप आदिके वर्तमान रूपोंसे उनके नामोंका सम्बन्ध न देखकर उपहास करनेवाले इस तथ्यको समझ नहीं पाते।

कोयला हीरा बन सकता है, केरोसिन बन सकता है और पता नहीं क्या-क्या बन सकता है; किंतु ये परिवर्तन स्थूल हैं, अतः हम इन्हें पहचान लेते हैं। किंतु राग जब द्वेष, भय, हिंसा, घृणा आदि किसी रूपमें बदलता है, अच्छे मनोवैज्ञानिक भी उसे कठिनाईसे ही विश्लेषित कर पाते हैं। भावरूप पदार्थोंमें जब भाव-जगत्‌से कोई परिवर्तन होता है, हम स्थूल नियमोंसे उसे जान नहीं सकते। फलतः स्थूल पदार्थ एवं स्थूल सिद्धान्त प्राचीन इतिहास तथा संस्कृतिके अन्वेषणमें सदा असमर्थ एवं भ्रामक रहते हैं। उनको आधार मानकर चलनेसे भ्रमकी ही वृद्धि होती है।

विहार प्रान्तके माननीय गवर्नर श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदयने कहा है—'ईंट और ठीकरोंमें भारतीय इतिहासकी खोज हास्यास्पद है। वास्तविक भारतीय इतिहास तो वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें ही मिल सकता है।' वास्तविक बात यही है। मनुष्यका ज्ञान एवं भाषा ही अपनी अनवच्छिन्न परम्परा रखती है। संस्कृतिका ठीक रूप हम उन्हींमें प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्यके ज्ञानका साधारण सर्वमान्य नियम यह है कि वह कालक्रमसे विस्मृत होता जाता है। उसका ह्रास होता है और निमित्तोंके द्वारा वह जाग्रत् होता है। ये निमित्त उस स्थानसे आते हैं, जहाँ ज्ञानका स्तर ऊँचा हो। इस प्रकार ज्ञान अपनी परम्परा बनाये रखता है। क्योंकि मानवसमाज, विद्या, कला, संस्कृति—सब उसके ज्ञानपर निर्भर हैं, उसीकी अनुगामिनी हैं; अतः उनमें भी समष्टिरूपसे ह्रास ही होता है।

भाषाओंके सम्बन्धमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभी भाषाएँ अपनी शक्तिके लिये अपनी मूल भाषापर निर्भर करती हैं। दूसरे शब्दोंमें, वर्तमान भाषाओंसे उनकी मूल भाषाओंमें अधिक शक्ति और क्षमता है। आज जिन्हें मूल भाषाएँ माना जाता है, वे भी एक भाषाकी विकृतियाँ मात्र हैं। मूल-भाषा एक ही है और वह संस्कृत है। इस प्रकार भाषाका इतिहास भी हमें ह्रासकी ही सूचना देता है।

मूलभाषा संस्कृत तथा उसमें सुरक्षित मूलज्ञान शास्त्रोंमें हमें प्राप्त है। श्रुति, स्मृति, पुराणसे यह ज्ञान क्रमशः ह्रासकी ओर चला है। मूलतः इस बातको भली प्रकार हृदयङ्गम करके यदि मानवज्ञान एवं भाषाओंकी छान-बीन हो तो संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषणमार्ग मिल सकता है। यही मार्ग अन्धकारसे 'प्रकाश' की ओर प्रगतिका होगा। न केवल

भारतीय संस्कृति, अपितु मिस्र, यूनान, बैबीलोनिया, चीन, अमेरिका, दक्षिण अफ्रिकादिकी सभी प्राचीन संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषण इसी पथसे सम्भव है; क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि विश्व-मानवकी आदि जन्मभूमि और आदिसंस्कृति एक ही है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँसे मनुष्य पृथ्वीमें फैल गया और अपने साथ यहाँके संस्कारोंको ले गया। काल एवं परिस्थितिके प्रभावसे वही संस्कार अनेक संस्कृतियोंके रूपमें व्यक्त हुए।



देहतत्त्व-विज्ञान

(लेखक—प्रो० श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

जीवके साथ देहका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह केवल अत्यन्त गम्भीर ही नहीं, रहस्यमय भी है। देहको ज्ञान नहीं होता, और जीव कोई ऐसा नहीं होता, जिसे कभी देहका संसर्ग ही प्राप्त न हो। ऐसे जीवकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, जो सदाके लिये देहसम्पर्कसे हीन हो, जिसे कभी शरीरका स्पर्श न करना पड़े। देह-बद्ध और देह-बन्धनसे मुक्त—दो प्रकारके जीव या पुरुष होते हैं। जीव ब्रह्मका अंश है—'अंशो नानाव्यपदेशात्' (वेदान्तसूत्र २। ३। ४२)। गीतामें भी कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(१५। ७)

आविर्भावके पहले जीव ब्रह्मके अन्तर्गत रहता है, अतएव ब्रह्म ही रहता है। जीवके आविर्भावके साथ-साथ देह होती है। देह नहीं तो जीव नहीं। जीवका अर्थ है देही अथवा त्यक्तदेह या देहमुक्त।

जीवकी उत्पत्तिके लिये देह आवश्यक है। ब्रह्मसे पृथक् होकर शत-सहस्र जन्म-जरा-मरणके प्रवाहमें, परम्परा-क्रमसे शत-सहस्र देह धारण करके तथा उनका त्याग करके, असंख्य सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा धर्म-ज्ञानसे अभिज्ञता प्राप्तकर जीवकी जीवनयात्रा सुर-नर-तिर्यक् आदि नाना पर्वोंमें कोटि-कोटि वर्ष व्याप्त होकर एक दिन अवसानको प्राप्त होती है। जीव लौटकर पुनः परब्रह्ममें मिल जाता है। वस्तुतः जीव ब्रह्मसे अलग होकर कभी नहीं रहता और न अलग रहना उसके लिये सम्भव ही है। तथापि वह इस सुदीर्घ यात्रामें देश-देशान्तर, दिग्-दिगन्तर परिभ्रमण करते समय अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होता है। निश्चय ही यह सब अज्ञानवश होता है।

यह जो अचिन्त्य दीर्घयात्रा है, दुरन्त क्लेशमय चक्रमें घूमना है, असीम भवसिन्धुका तरना है—यही जीव-जीवन कहलाता है, इसीको संसार कहते हैं। जबतक यह आवागमन है, अविरत यातायात हो रहा है, तबतक जीव देहसे युक्त रहेगा—देहसे पृथक् नहीं होगा। देह-बन्धन जिस दिन टूट जायगा, उसी दिन इस दीर्घ भयावह व्यापारका अन्त हो जायगा। जीव मुक्त हो जायगा। यह देह प्राकृत देह है, त्रिगुणनिर्मित देह है, नश्वर शरीर है—

मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना।

परंतु जीव जब मुक्त होकर अमृत बनता है, तब वह अशरीरी, अमूर्त्त नहीं हो जाता—गुणमय देहसे मुक्त होकर दिव्य देह, चिन्मय देहसे युक्त होता है। वही देह चिदानन्दमय आत्माके चिदानन्दघन उपादानसे उत्पन्न होता है। इसीलिये आत्मसत्ता और देहसत्ता भिन्न नहीं होती। एक ही सत्ताके दो विभाव होते हैं—आत्मा और देह। देह अविनश्वर है और आत्मा सच्चिदानन्द, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है। श्रुतिमें कहा है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

मुक्त आत्मा अपने स्वतन्त्ररूपमें अभिनिष्पन्न होता है, अर्थात् प्रतिष्ठित होता है। वह वहाँ भ्रमण करता है, क्रीड़ा करता है, हँसता है, अतएव देहविशिष्ट है (छान्दोग्य ८। १२। २)। मुक्त होकर जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, ऐसी कल्पना अद्वैतवादी करते हैं। हमारी बुद्धिके अनुसार वेदान्तदर्शन अर्थात् बादरायणसूत्रोंमें ऐसी कोई बात नहीं। निरञ्जन परम साम्यको प्राप्त होता है, ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है, नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है, ये उपनिषद्गत वाक्य जीवके ब्रह्ममें विलीन होनेकी बात नहीं कहते। सहस्रशः कामनाएँ और वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, आत्मा ब्रह्मके केवल अनुभवानन्द तथा सर्वसिद्धि-सम्पद्के साम्यको प्राप्त होता है—इसी अर्थमें 'ब्रह्मनिर्वाण' और 'ब्रह्मसायुज्य' शब्दोंका प्रयोग होता है। वेदान्तसूत्रका **'भोगमात्रसाम्यं लिङ्गम्'** कहता है कि चिद्देह अद्वैत ज्ञानके प्रभावसे

चिदात्मामें भावसाम्यके द्वारा विलीनप्राय हो जाता है। कभी उसकी दिव्यभावमें स्फुरणा होती है, कभी जाग्रद्वत् और कभी स्वप्नवत्—इत्यादि बातें बादरायण मुनिने स्पष्ट करके कह दी हैं' (वे० सू० ४। ४। ८-१५)।

जीव अमृत और अविनश्वर है। जीवके नित्यत्वमें कभी व्याघात नहीं होता। यह सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है। समस्त विद्वानोंने इसे स्वीकृत किया है। यदि वह अरूप और अमूर्त्त होकर ब्रह्ममें विलीन हो जाय तो उसका नित्यत्व नहीं रह जायगा। अद्वैत ब्रह्मका नित्यत्व जीवके नित्यत्वको संहरण कर लेगा। जलबिन्दु सिन्धुमें मिलकर फिर जलबिन्दु नहीं रहता। अतएव निर्वाणको माननेपर जीवको नित्यतासे हाथ धोना पड़ेगा। वह अनित्य हो जायगा। निर्वाणका सिद्धान्त केवल कल्पनामात्र है, यह बौद्ध सिद्धान्त है। इसकी सांख्यने निन्दा की है—'अपवादमात्रमबुद्धानाम्'। नित्य जीवके नित्यदेह, सिद्धदेह, दिव्यदेह रहती है। यही सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

मुक्त जीवोंके सिद्धदेह भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी भावविशेषकी सिद्धिसे जीवकी मुक्ति होती है। सिद्धदेह उसी भावके अनुसार होता है। उसी भावानुबन्धिरूपमें उसकी स्फुरणा होती है। प्रत्येक जीव एक-एक सुन्दर, सुरम्य, स्वतन्त्र भावमूर्ति होता है, अलग-अलग परम सुन्दर सेवाविग्रह होता है। श्रुतिने कहा है कि जीव परम पुरुषके संग रहता है। उनके प्राण-प्राणमें गुँथा है। जब बद्ध जीव ही प्रभुका सखा है, तब मुक्त जीव तो निश्चय ही होगा। सखा निराकार अर्थात् अशरीरी नहीं होता। दिव्यदेह-सम्पन्न पुरुष या रमणीरूपमें अभिनिष्पन्न होकर अनन्त प्रेमानन्द-राज्यमें निःशेष सुखसम्पद्का आस्वादन करते हुए नित्य निवास करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये ही जीव संसारी बनता है। परब्रह्मका यही उद्देश्य है, सृष्टिका यही गूढ़ लक्ष्य है, इसीके लिये लाखों-लाखों वर्ष जन्म और मरणके दुःखोंमें दुर्दशाग्रस्त होना पड़ता है। लाखों कल्पोंके दुःख-शोक सार्थक हो जाते हैं चिद्देहमें अमृत-जीवनका प्रारम्भ होनेपर।

बद्ध जीवके चार देह हैं, तीन नहीं—(१) कारण-देह या कारण-शरीर, (२) लिङ्ग-देह या लिङ्ग-शरीर, (३) सूक्ष्म-देह या सूक्ष्म-शरीर, (४) स्थूल-देह या स्थूल-शरीर। जीव इससे लिप्त होता है, इसीलिये इसे 'देह' कहते हैं। गोंद लगाकर जैसे कागज तख्तेमें चिपकाया जाता है, उसी प्रकार जीव देहमें चिपक जाता है, लिप्त हो जाता है। अध्यात्मसाधनाके प्रभावसे यह देह क्रमशः क्षीण होकर शीर्ण हो जाता है। इसी अर्थमें इसे 'शरीर' कहते हैं। आत्मा, पुरुष और जीव—एक ही तत्त्वके तीन नाम हैं। जीवके तत्त्वका वर्णन सुविशदरूपसे भागवतमें किया गया है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
(३। २६। ३)

यह निर्गुण, ज्योतिर्मय, अनादि आत्मा प्रकृतिके प्रभावमें प्रवेश करता है। इस प्रकृति-प्रवेशका, प्रकृतिके भीतर जानेके सम्बन्धका, इस व्यापारका अवलम्बन करके ही पुरुष पुरुष होता है, स्वतन्त्र आत्मा बनता है, जीव होता है। अन्यथा जीव या पुरुष नामकी वस्तु कहीं नहीं; है तो केवल ब्रह्म। इसी कारण जीव प्रकृति-प्रविष्ट होकर अर्थात् प्रकृतिके अधीन होकर स्वतन्त्र कब हुआ, स्वकर्मोंके करनेका उत्तरदायित्व कब उसने ग्रहण किया—यह कोई नहीं जानता। ब्रह्म भी नहीं जानता। परंतु फिर भी आदि विद्वान् भगवान् कपिलजीने स्वतः समाधिदृष्टिसे उस प्रवेश-की एक दिव्य भावमूर्ति अङ्कित की है। त्रिगुणमयी प्रकृति त्रिगुण स्वभावके द्वारा त्रिगुणमय उपादानोंसे निरन्तर नयी-नयी सृष्टि करती है—अत्यन्त विचित्र, अत्यन्त मनोहर। ब्रह्मसागरसे फुल्ल-रञ्जित तरङ्गकी भाँति जाग्रत् होकर जीव ब्रह्मकी ही भावान्तररूपा उस सृष्टिकारिणी प्रकृतिको हठात् देखकर प्रफुल्ल हो उठा, विमोहित हो गया, ज्ञान भूल गया; उसने प्रकृतिको आत्मसमर्पण कर दिया।

विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया।
(श्रीमद्भा० ३। २६। ५)

समष्टि-पुरुष समष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर होते हैं, और व्यष्टि-पुरुष व्यष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विश्व, तैजस और प्राज्ञ जीव होते हैं।

पुरुष अर्थात् जीवने प्रकृतिके भीतर प्रवेश किया, वह प्रकृतिके साथ सम्मिलित हुआ। इससे अव्यक्त प्रकृतिको जो आद्य भावान्तर या रूपान्तर प्राप्त हुआ, अर्थात् अव्यक्तने जिस रूपमें अभिव्यक्त होकर सृष्टिके आदिमें जीवको आश्रय दिया, वह रूप ही 'महत्तत्त्व' है। इसीके व्यष्टि-विभागको 'कारण-शरीर' कहते हैं; क्योंकि यही जीव-जीवनका सर्वस्व है। यही अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि तथा सुख-दुःख, धर्माधर्म, सारे तत्त्व, सारी वृत्ति और सारे विकार मूल

कारण है। (the primordial cause of the whole evolution) इसीका नाम शरीर है; क्योंकि यह निश्चय ही एक दिन शीर्ण होकर नष्ट हो जायगा। यही है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'। इसीका नाम 'आनन्दमय कोष' है। क्योंकि सत्त्वगुणकी प्रधानताके कारण इसमें आनन्दकी प्रचुरता है। कोष इसलिये कहते हैं कि आधारपात्रके समान यह समस्त जीवनको धारण करता है। इसका एक नाम 'सुषुप्ति' है; क्योंकि जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाएँ इसीमें जाकर विलीन होती हैं।

दूसरा है लिङ्ग-शरीर। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, पञ्च तन्मात्रांश तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन सबका सूक्ष्म समन्वय (subtly incorporated) ही लिङ्ग-शरीर कहलाता है। वस्तुतः यह तेईस अवयवों या अंशोंवाला होता है। पञ्च प्राणोंको छोड़ दें अथवा पञ्च तन्मात्राओंका हिसाब न रक्खें तो इसके अठारह अङ्ग माने जाते हैं। संसारी जीवके जीवन-यापनके लिये, उस अत्यन्त जटिल और मिश्रित क्रिया-परम्पराके सम्पादनके लिये जो अत्यन्त आश्चर्यमय ज्ञान-चैतन्य यन्त्र (the wonderfully complex mechanism) है, वही 'लिङ्ग-शरीर' कहलाता है। गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

ज्ञान, विज्ञान, वितर्क, विचारादिसे युक्त, सङ्कल्प, विकल्प, अनुभव, संस्कार, स्मृति आदिसे सम्पन्न जिस दुर्गम दुर्ज्ञेय प्रकोष्ठमें बैठकर मायाश्रित जीव सांसारिक जीवन यापन करता है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यादि तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यादिका साधन करता है—उस प्रकोष्ठका नाम ही 'लिङ्ग-शरीर' है। इसको हम 'मानस-शरीर' कह सकते हैं। लिङ्ग-शरीर जीव-जीवनका स्वतः सञ्चालित विवरण-यन्त्र है तथा सर्ववृत्तान्तोंका आधार (an ever-working automatic record machine) है। प्रतिक्षण मन-वाणी और शरीरसे, जाने अथवा अनजाने, इच्छासे या अनिच्छासे जीवनमें जो कुछ किया जाता है, सोचा जाता है या अनुभूत होता है, सब कुछ लिङ्ग-शरीरके भीतर लिख जाता है, लिपिबद्ध हो जाता है, अङ्कित और चित्रित हो जाता है। लोग जो चित्रगुप्तके हिसाबकी बात कहते हैं, वह लिङ्ग-शरीर ही है। सहस्रों-सहस्रों संस्कार इस लिङ्ग-शरीरमें प्रतिक्षण धारण होते रहते हैं। यही अदृष्ट देवताका सूक्ष्म वृत्तान्त-ग्रन्थ है। यह निखिल कर्मफलोंका भंडार है। कर्माशय, कर्मवासना, आशा-निराशा, अतीत, वर्तमान और भविष्यत्—सब-के-सब लिङ्ग-देहरूपी फलक (तख्ते) पर खुदे हुए रहते हैं। जन्म, जाति, स्वभाव, चरित्र, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति—सबका निरूपण और निर्णय होता है लिङ्ग-शरीरके द्वारा। अङ्ग-अवयव, आकार-वर्ण आदि सबकी रचना लिङ्ग-शरीर करता है। लिङ्गके शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि-अहङ्कारके छायालोकके आसनपर बैठी है निर्गुण निर्विकार पुरुषकी चञ्चल छायामूर्ति। उसीका 'पुरुष' नामसे परिचय दिया जाता है। पातञ्जलदर्शनमें कहा गया है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (२।२०)

जो प्रत्ययानुपश्य है, वही पुरुषाकारा बुद्धि अथवा ग्रहीता पुरुष (Reflection spirit) है। यह यथार्थ पुरुष नहीं है, छाया-पुरुष है। यह छाया-पुरुष लिङ्ग-शरीरमें मुग्ध और मोहित हो रहा है। सारी क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं। पुरुष इसे न समझकर अपनेको कर्त्ता मानता है।

कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥
(श्रीमद्भा० ३। २६। ६)

—यही प्रत्ययानुपश्य है।

लिङ्ग-शरीर पुरुषकी अनादि भ्रान्ति और मोहके ऊपर अवस्थित है। जीव-जीवन भी एक भ्रान्तिका प्रवाह ही है। संसार एक विशाल विमोह है, चिरकालतक रहनेवाली भूल (a long-lasting mistake) है। जबतक मोह-भङ्ग नहीं होता, तबतक लिङ्ग-देहका पतन नहीं होता। मोह-भंगको ही दूसरे शब्दोंमें 'विवेकख्याति' या 'परमप्रसंख्यान' (the supreme understanding involving realization of the spirit's freedom from nature) कहते हैं। इस मोहभङ्ग तथा देह-भङ्गके लिये लाखों-लाखों कल्प अतिवाहित हो सकते हैं। फिर तीव्र संवेगसे अनन्य साधनाके फलस्वरूप एक ही जन्ममें लिङ्ग-शरीरका पतन होकर मोक्ष प्राप्त हो सकता है। लिङ्ग-नाम अर्थपूर्ण है—'लयं गच्छति, इति लिङ्गम्'। लिङ्ग-शरीर कोटि-कल्पस्थायी होनेपर भी इसका ध्वंस अनिवार्य है। एक दिन यह छिन्न होगा ही। जितना ही दृढ़, जितना ही टिकाऊ (tenacious) हो—टूटेगा ही। यह नित्य देह नहीं है—इस बातको सदा याद रखनेके लिये ही ऋषियोंने इसका नाम रक्खा है 'लिङ्ग-शरीर'।

वेदान्तमें वर्णित पञ्चकोषोंमें तीन लिङ्ग-शरीरके अन्तर्गत हैं। ज्ञानशक्तिसम्पन्न विज्ञानमय कोष कर्तृत्व भोग करता है;

इच्छाशक्तिविशिष्ट मनोमय कोष कामनाका केन्द्र है, सङ्कल्प और विकल्पका साधक है। अनुभव (perception and feeling), स्मृति और संस्कार आदिका आधार मन है। प्राणमय कोष क्रियाशक्तिशाली है। साधारणतः लोग 'मन' और 'अन्तःकरण' शब्दोंसे जो समझते हैं, वह लिङ्ग-शरीर ही है। लिङ्ग-शरीरके भीतर तन्मात्राओंकी विशेष वृत्ति रहती है; विशेष क्रिया-साधकता रहती है। मन-इन्द्रिय आदि करण-शक्तियाँ निरवयव, अदेशव्यापी होकर भी जो तन्त्र-ग्रन्थि-बद्ध (in a state of cohesion) रहती हैं, प्रायः अङ्गाङ्गि-संयोगयुक्त रहती हैं—इसका कारण यही है कि ये तन्मात्राओंका आधार लेकर रहती हैं, तन्मात्राओंमें लगी रहती हैं। तन्मात्राएँ सूक्ष्म भूत (original subtle material substances) हैं। जिस प्रकार तन्मात्राएँ त्रिगुणात्मक हैं, इन्द्रिय-मन आदि भी उसी प्रकार त्रिगुणात्मक हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि स्वच्छ (translucent) हैं; ये चिदालोककी रश्मिके प्रतिविम्बको ग्रहण कर सकते हैं। पञ्चभूत स्थूल और अस्वच्छ हैं, वे ग्रहण नहीं कर सकते। तन्मात्राओंकी स्थिति दोनोंके मध्यमें है। इन्द्रिय आदिके समान चित्-प्रतिविम्बको ग्रहण नहीं कर सकतीं; परंतु सूक्ष्म स्वभावके कारण इन्द्रियादिको स्थूल-देहके साथ, लिङ्ग-देहको मांसशोणितमय शरीरके साथ युक्त करनेकी योग्यता रखती हैं। तन्मात्राओंकी यह अत्यावश्यक वृत्ति (function) है।

तीसरा है सूक्ष्म-शरीर। यह लिङ्ग-शरीरके समान तान्मात्रिक शरीर नहीं है, ज्ञान-करण अथवा अन्तःकरण-शक्ति भी नहीं है; यह है सूक्ष्म पाञ्चभौतिक शरीर। रक्त और मांसका शरीर जैसे भोग-शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी भोग-शरीर होता है। लिङ्ग-शरीरसे सुख-दुःखका भोग नहीं होता। लिङ्ग-शरीर सुख-दुःखको नियन्त्रित करता है, सुख-दुःखका विधान करता है। मानसिक दुःखका कारण मनमें रहता है। परंतु भोग (suffering) सूक्ष्म देहमें होता है। स्वर्ग-नरकादिके सुख-सम्भोग, दुःख-दुर्दशा, ज्वाला-यन्त्रणा—सबका अनुभव सूक्ष्म-देहमें होता है, मानस शरीरमें नहीं होता।

मृत्युकालमें जीवात्मा देह छोड़कर मुक्त नहीं हो जाता। पाश्चात्त्य साहित्यिक और दार्शनिक लोग जो यह समझते हैं कि मरनेके बाद आत्मा अनन्तमें मिलकर आनन्त्य प्राप्त करता है, यह घनघोर अज्ञान है। आत्मा मृत्युकालमें स्थूल देहका त्यागकर सूक्ष्म-देहसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार अपने-अपने उपयुक्त लोकोंमें सुख-दुःखका भोग करनेके लिये चला जाता है। सूक्ष्म-देह स्थूल-देहके भीतर चिरकालतक रहता है; उसकी नयी सृष्टि नहीं होती। सूक्ष्म-शरीरका नाम 'आतिवाहिक' शरीर है। इसी शरीरमें रहकर जीव लोकान्तरमें गमन करता है, उत्क्रमण करता है।

अभिनव दूसरा देह ग्रहण किया जाता है दीर्घकालके बाद; जब पुनः जन्म होता है तब—मृत्युकालमें नहीं। मृत्युकालमें जीव सूक्ष्म-देहमें बद्ध होकर महायात्रा करता है।

सांख्यकारिकामें इस सूक्ष्म-देहके विषयमें विशेष उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका नाम 'विशेष' शरीर है। 'विशेष' शरीरके बिना लिङ्ग-शरीर टिक नहीं सकता, प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो यथा विना छायाम्।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥

लिङ्ग-शरीर स्वयं निराश्रय है, सूक्ष्म-शरीर लिङ्ग-शरीरका आश्रय है। सूक्ष्म-शरीरको अंग्रेजीमें astral body कहते हैं। प्रेततत्त्व-विद्यामें इस विषयकी विशेष आलोचना की जाती है।

नारकी पापात्माओंके सूक्ष्म-देहमें और मरणोपरान्त स्वर्गलोकमें जानेवाले पुण्यात्माओंके सूक्ष्म-देहमें बहुत अन्तर होता है। पापात्माओंके दुर्भोग-देह भूत-प्रेत-पिशाचोंके कुत्सित आकारवाले वायुप्रधान देहके समान होते हैं। नाना प्रकारकी असहनीय यन्त्रणाओंके कारण उनकी बड़ी विकृत मूर्ति होती है। दूसरी ओर—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

—जिनके विषयमें गीतामें यह बात कही गयी है, उनके देह होते हैं देवदेहके समान तेजस्तत्त्वप्रधान, ज्योतिर्मय, सुन्दर और सुरम्य।

सूक्ष्म-देहका आकार स्थूल देहके अनुसार ही होता है। इसके अनेक प्रमाण हैं। संसारमें इसके सैकड़ों-सैकड़ों उदाहरण पाये गये हैं। सच ही लोकान्तर गये हुए आत्मीयजन नरलोकके आत्मीय जनोंको दिखलायी दे गये हैं—इसके अनेकों वृत्तान्त सभी देशोंके ग्रन्थोंमें लिखे पाये जाते हैं। जिस रूपमें, जिस मूर्तिमें मनुष्य जीते समय मर्त्यलोकमें विचरण करते हैं, उसी रूपमें प्रेतलोग मनुष्यकी आँखोंके सामने दिखलायी देते हैं। परंतु स्थूल-देहका आकार बदलता नहीं, छोटा-बड़ा नहीं होता, एक ही रहता

संगमर्मरकी सरस्वतीमूर्ति (बीकानेर)

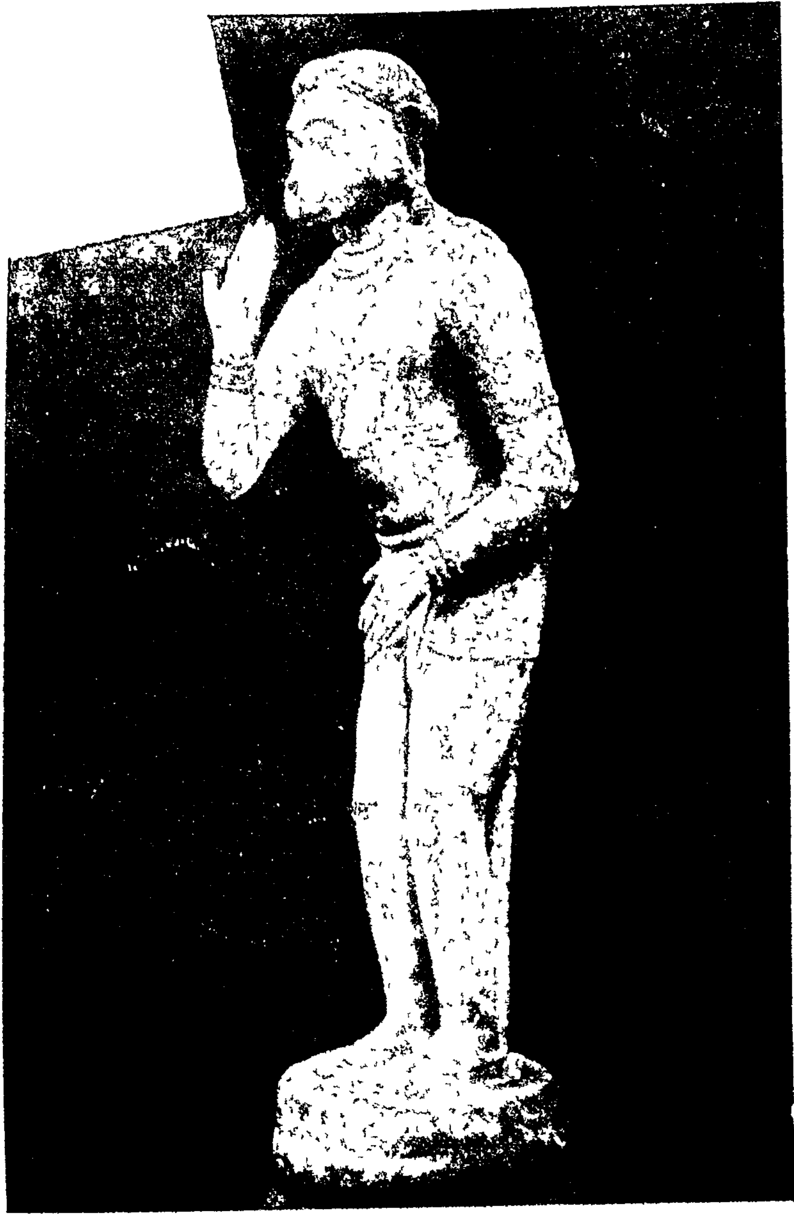


शिशुसहित मातृमूर्ति (भुवनेश्वर)



भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

वानरराज हनुमान्



संगमर्मरकी सूर्यमूर्ति (काबुल)



[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

दक्षिण भारत ११ वीं शती]

है; सूक्ष्म-देह सङ्कोच-प्रसारशील होता है, उसका आकार परिवर्तित होता है, उसमें घनत्व और कठिनत्व नहीं होता। वह प्रत्यवस्थागामी होता है, स्थूल-देहके अन्तर्गत होकर धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त होता है। परंतु जिस प्रकार स्थूल-देह सारे प्राकृतिक नियमोंके अधीन रहता है और नैसर्गिक विधानके अनुसार वृद्धिको प्राप्त होता है, सूक्ष्म-देह उन नियमोंके अधीन नहीं होता—अग्नि-जल, शीत-उष्ण आदिके द्वारा विकृत नहीं होता; क्षतिग्रस्त नहीं होता।

चौथा है स्थूल-देह। यही देह सांसारिक जीवनके समस्त विषय-व्यापार और व्यवहारका क्षेत्र है। साक्षात् सब प्रकारकी क्रियाओंके चलानेवाले यन्त्र इसी देहके अन्तर्गत हैं। दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन आदि वृत्तियोंके साधक चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि इन्द्रियोंसे युक्त मस्तक, ग्रीवा, वक्षःस्थल, उदर, बाहु, हस्त, जङ्घा और चरणादिसे युक्त विचित्र अस्थि-संस्थानके अवलम्बनसे धारण किया गया नाना प्रकारके अवयवोंसे युक्त देह ही मानव-जीवनकी भित्तिभूमि है। नाना प्रकारकी वृत्ति-प्रणालीसे परिपूर्ण यह मानव-शरीर है। श्वास-प्रश्वास-प्रणाली, रक्त-प्रवहण-प्रणाली, शक्ति-सञ्चरण-प्रणाली, स्नायुजालके द्वारा बाह्य विश्वकी वेदनाकी अनुभव-प्रणाली, परिपाक-प्रणाली, मल-निःसरण-प्रणाली—इत्यादि प्रणालियोंको लेकर यह विचित्र देह-यन्त्र बना है। मस्तकमें भाग-भागमें मस्तिष्क-मज्जा, वक्षःस्थलमें हृत्पिण्ड, फुफ्फुस, पञ्जरास्थि-विधान, निम्नोदरमें यकृत् आदि हैं, इसके पश्चात् जननेंद्रिय है। देहयन्त्रके भण्डारमें छोटे-छोटे यन्त्रोंका अन्त नहीं है। त्वक्, चर्म, मांस, रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये आठ धातुएँ देहमें हैं।

इसी शरीरको लेकर मनुष्य व्यापृत है, व्यस्त और विमुग्ध हो रहा है। हृदय-मन, आत्मस्वरूप, विवेक-विचार और विज्ञान—मनुष्य सबको भूल जाता है इस देहके महा-मोहमें पड़कर। वह देहको ही सर्वस्व मान लेता है, इतर प्राणियोंके भावोंसे युक्त हो जाता है। ज्ञान-विज्ञानमें भी देहात्मवादी हो जाता है, देह-सुखका अन्वेषण करता रहता है। देहातिरिक्त किसी सूक्ष्म तत्त्व, आत्मा आदि किसीको स्वीकार नहीं करता। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—इस सत्यको भूल जाता है। शरीर धर्मसाधनका, परम पुरुषार्थके साधनका प्रधान उपाय है—यह ज्ञान उसको नहीं रहता। रूप-स्पर्श आदिसे रहित देह-सुखके अनुभव-प्रवाहमें बहता हुआ अन्धकारमें चला जाता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

—इत्यादि प्रदीप्त उपदेशोंको वह तुच्छ समझता है, सुख-लालसामें उन्मत्त हो जाता है। देह व्याधिग्रस्त होकर विकल हो जाता है, सड़ने, गिरने और गलने लगता है; तब भी उसे चेत नहीं होता कि सुख आत्माकी वस्तु है, देहकी नहीं। योगशास्त्रविद् ऋषि कहते हैं—

मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय स्नायुसन्ततिगुम्फितम्॥

सुख-कामनामें उन्मत्त मनुष्य इस दिव्यवाणीको नहीं सुन पाता। देहमें ही आत्मसमर्पण करके अधःपतनको प्राप्त होता है, अन्धकूपमें निमज्जित होता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

देहात्मवादी लोग आत्मघाती होते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु और पेशियोंसे बना हुआ यह शरीर प्रायः सम्पूर्णरूपेण तामसिक है। इसकी जो प्राण-स्पन्दनक्रिया है, उसमें रजोगुण काम करता है; सत्त्व आच्छन्न, लुप्त है। इस संघातमय तमःपुञ्जभूत स्थूल-देहके गम्भीर और घने तमोराशिके अन्तस्तलमें एक अपूर्व उज्ज्वल ज्योतिमूर्तिमय राज्य है। संसारके किसी देशकी धर्म, ज्ञान-विज्ञान या दर्शनसम्बन्धी कोई विद्या-बुद्धि इस निविड़ और घन तमोराशिको भेदकर उस दिव्य ज्योतिका पता नहीं पा सकी है। उसकी कल्पना भी किसी ज्ञानी-विज्ञानी या दार्शनिकने नहीं की, इसका स्वप्न भी नहीं देखा। उसी स्वर्गसे भी समुज्ज्वल सम्पद्-राशिका आविष्कार किया था भारतके योगी, ऋषि और मुनियोंने—अध्यात्म-विज्ञानवेत्ता, शक्तिसाधनसिद्ध तान्त्रिकोंने। भारतवर्षकी आध्यात्मिक संस्कृति एक अत्याश्चर्यमय व्यापार है। भारतवर्ष सहस्रों अति-मानवोंका आश्चर्यमय देश (a wonderland of Supermen) है। यहाँकी शिक्षा-साधना और संस्कृतिकी तुलना संसारमें अन्यत्र कहीं नहीं है।

कैसी सुदूरगामिनी, दूरदिगन्तप्रकाशिनी अन्तर्दृष्टि थी, और है—भारतवासियोंकी! मानवदेहके अभ्यन्तर व्यापारसमूहोंका जो आविष्कार तन्त्रविज्ञानशास्त्रने किया है, उसके सामने काव्योपन्यासकी कल्पना-छटा अति तुच्छ है। अज्ञ, ह्रस्वदृष्टि, लघुचित्तवाले व्यक्ति इस नित्य सत्य-समूहको उत्कट कल्पना कहकर अविश्वास कर सकते हैं। इसका कुछ आभास यहाँ दिया जाता है—

मेरुदण्डके एक ओर एक 'इड़ा' नामकी नाड़ी है। उसकी प्रभा चन्द्रमाके समान है। दूसरी ओर एक और नाड़ी है, उसका नाम है पिङ्गला; वह सूर्यके समान ज्योतिर्मयी है। मेरुदण्डके अन्तर्देशको भेदकर ऊपरको गयी है एक आश्चर्यमयी नाडी—उसका नाम है सुषुम्णा। वह ज्वलन्त रश्मिमयी है। यह चन्द्र-सूर्य और वह्निप्रभा है, यह एक दिव्य प्रभा-प्रणालिका है। तामसिकताके बीच जो निगूढ़ अध्यात्मशक्तियाँ हैं, प्रधानतः इस ज्योतिः-प्रणालीके द्वारा ही उनका जाना-आना होता है। गुह्य और लिङ्गके मध्यस्थानमें, मेरुदण्डके निम्नप्रान्तमें एक त्रिकोणास्थि-सन्धिक्षेत्र है, उसमें एक पद्माकारका स्नायुगुच्छ है। इसका तान्त्रिक नाम मूलाधार पद्म या आधारचक्र है। बाह्यदृष्टिसे इसका अंग्रेजी नाम 'Sacral plexus' है। सुषुम्णा नाड़ी इस आधारपद्मदलसे उठकर मेरुदण्डके मार्गसे मस्तिष्क—स्तरपरम्पराके शिरोदेश सहस्रदल कमलमें अवस्थित परम शिवशक्तिकी मूर्तिके अङ्कमें जा मिलती है। आधार-पद्म रक्तवर्ण है, इसमें चार दल हैं; वह अधोमुख होकर विकसित हो रहा है। चार दलोंमें चार वर्ण हैं—व, श, ष, स। उनकी तप्तकाञ्चन-सदृश आभा है। आधारपद्म क्षिति-तत्त्वकी अध्यात्मशक्तिका स्थान है। क्षितितत्त्वका बीज है—'लं'। उसमें एक देवमूर्ति है; वह चतुर्भुजी है, नाना अलङ्कारोंसे भूषित है, इन्द्रके समान है, ऐरावतारूढ़ है। इस देवताके अङ्कमें एक शोणितवर्ण बालक है, वह ब्रह्मा हैं। सुषुम्णा नाड़ीके अन्तर्गत एक और नाड़ी ऊपरको उठती है, उसका नाम है वज्रा। वज्रा नाड़ीके मुख-प्रदेशमें, मूलाधार पद्मकी कर्णिकामें एक त्रिकोण यन्त्र है। वह विद्युत्के समान दीप्तिमान् है। वह सुकोमल विलास-वैचित्र्यमय है। सुधा-सञ्चरणशील समीर-प्रवाहके समान एक मनोहर शक्तिका स्थान है यह कमलकेन्द्र। इस शक्तिका नाम है कन्दर्पशक्ति। कन्दर्प-समीर जीवात्माको घेरकर प्रवाहित हो रहा है, यह गुणातीत पुण्यशक्ति है। इसका प्रभाव राजसिक क्षेत्रमें कुत्सित काम है। कन्दर्पप्रभा भास्कर-रश्मिको भी विनिन्दित करती है। वह रक्तवर्ण है। इस यन्त्रके मध्यमें अधोमुख स्वयम्भूलिङ्ग विद्यमान है। वह गले हुए स्वर्णके समान कोमल है। उसकी किरणें पूर्णचन्द्रवत् हैं, वर्णमें नवपल्लवकी आभा है। स्वयम्भूलिङ्गके ऊर्ध्वदेशमें जगन्मोहिनी महामाया है। वज्रा नाड़ीके अन्तर्मार्गमें बहनेवाली ब्रह्मनाड़ी है। महामाया अपना मुँह फैलाकर ब्रह्मनाड़ीसे स्रवित सुधाधाराका पान कर रही हैं। वह प्रज्वलित दीप्तिराशि-स्वरूपा हैं। नवीन तडित्-मालाके सदृश उनकी कान्ति है। सर्पिणीके समान साढ़े तीन कुण्डली मारकर स्थित हैं। यही विद्वानोंकी सुप्रसिद्ध कुलकुण्डलिनी है। वह तेजःपुञ्जवर्णा कुल-कुण्डलिनी मूलाधार पद्ममें निवास करती है। जीवनमें जितने रूप-राग-रस, काव्य-कला, शोभा-सौन्दर्य, प्रवन्ध-रचना आदि कार्य हैं, सभी कुल-कुण्डलिनीकी कृपा है। वह आधारपद्मदलमें निभृत रहकर मत्त मधुपकी गुञ्जारके समान अव्यक्त मधुर ध्वनि कर रही है। वह समस्त प्राणियोंको जीवन प्रदान कर रही हैं। त्रिगुणमयी प्रकृति कुलकुण्डलिनीके शासनके अधीन होकर ही विश्वकी अधीश्वरी हो रही है।

आधारपद्मके ऊपर सुषुम्णाके सूत्रमें एक और पद्म है, जो लिङ्गमूलमें स्थित है। वह सिन्दूरके समान लोहितवर्ण है, षड्दलविशिष्ट है। उसका नाम स्वाधिष्ठान-पद्म है। उसके ऊपर समसूत्रमें अवस्थित मणिपूर पद्म नाभिदेशमें है, वह दशदलविशिष्ट है। नवीन नीरदके समान नीलवर्ण है। सुषुम्णा नाड़ी जहाँ हृद्देशमें मिलती है, वहाँ वह एक सुन्दर सुमनोहर कमल धारण करती है। वह कमल द्वादशदल है, बन्धूक-कुसुमके समान उसका वर्ण है। उसका नाम अनाहत पद्म है। उसके ऊपर कण्ठदेशमें विशुद्ध नामक षोडशदल कमल है। वह गहरा धूम्रवर्ण है। उसके आगे ललाटदेशमें आज्ञापद्म है; वह द्विदल है, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण है, योगिजनोंके योगबलसे प्राण-स्थापनका स्थान है। इसीको लक्ष्य करके गीतामें कहा है—

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्।

इसके आगे शिरोदेशमें स्थित, प्रत्येक दलमें पञ्चाशत्-वर्ण-विन्यस्त, नित्य सुखस्वरूप सहस्रदल पद्म है।

प्रत्येक पद्म या चक्र एक-एक सुमहती अध्यात्मशक्तिके क्रीड़ा-विलासका राज्य है। विश्वजीवनकी यात्राके विशेष-विशेष विभावोंके ऐश्वरीय नियन्त्रणका क्षेत्र है, शासनतन्त्र और राजधानी है। क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पञ्च प्राकृत भूततत्त्वोंके अप्राकृत अध्यात्म क्रियाकेन्द्र हैं—लिङ्गाधोदेश, लिङ्गोर्ध्वदेश, नाभि, हृदय और कण्ठ। प्रत्येक कमलक्षेत्रमें नाना रूप और वर्णमयी, अपूर्व शक्ति-भावच्छटामयी, आश्चर्यजनक शोभा-सौन्दर्य-सम्पत्से युक्त देव-देवियाँ हैं। वे अन्तहीन हैं, अचिन्तनीय हैं, परंतु पूर्ण मनोरम हैं, चित्तको धो देती हैं, हृदयको विशुद्ध करती हैं,

उद्दीपित करती हैं, धूलिधूसरित, कुटिल, कलुषित और कुत्सित संसारके लोभ और मोह-मायाको काट देती हैं। हृदय अमृत-आलोकके लिये लालायित हो उठता है। तामसिक देह-व्यूहको भेदकर आनन्द-ज्योतिर्मय लोकके लिये आकुलित होना ही शिक्षा-साधनाकी सफलता है।

परमार्थ-साधनाके समस्त पर्याय, समस्त मार्ग, जाने या अनजाने, तान्त्रिक साधकोंकी षट्चक्र-साधनाके साथ नाना प्रकारसे, नाना व्यवधानमें संयुक्त हैं। जैसे-जैसे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका प्रभाव निवृत्त होता जाता है, वैसे-ही-वैसे पार्थिव कामनाओंकी शृङ्खला क्रमशः टूटती जाती है, मन-बुद्धि और चित्त निर्मल होते जाते है। साधक नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मस्वरूप स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अग्रसर होता है, ठीक उसी मात्रामे आधारपद्ममे सोयी हुई कुल-कुण्डलिनी जागती जाती है। कुल-कुण्डलिनी जागकर ऊपर आरोहण करती जाती हैं। साधककी अध्यात्मशक्तिकी वृद्धिके साथ-साथ, चित्त-शुद्धिके परिमाणके साथ-साथ, अन्तःकरणमे उज्ज्वलतर ज्ञान-भक्तिके आलोक-विकासके साथ-साथ, सारे संशय दूर होते जाते है, हृदयकी ग्रन्थि छिन्न-भिन्न होती जाती है। कुल-कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगमन करने लगती है, तब आधारसे आरोहण करके स्वाधिष्ठानमे प्रवेश करती है, स्वाधिष्ठानको भेदकर मणिपूरमे आरोहण करती है, मणिपूरको भेदकर अनाहतमे आक्रमण करती है, अनाहतको भेदकर विशुद्धमे, और विशुद्धसे आज्ञामे और आज्ञासे सहस्रारमें जाती है। सुखके बाद सुख, आनन्दके बाद आनन्द और उद्दीपनके बाद उद्दीपन प्राप्त होता है। उल्लास, उत्साह और विलास होता है। आकाशमे आरोहण करना, आलोकमे अवगाहन, दिव्य सुरापान, सुधा-स्नान प्राप्त होता है। सभी पुण्यमय, सभी पूर्ण, प्राणमय, गानमय और ज्ञानमय होता है। अमृत-स्रोतमे सन्तरण होता है, शत शत सुर-तान-लयका श्रवण, कोकिल-कूजन और भ्रमर-गुञ्जनका आस्वादन अनुभूत होता है। देह, मन और प्राण सभी अमृतमय हो जाते है। वहाँ पाप-पुण्य नही होता। सभी सुधातरङ्गमे प्रवाहित होते है। इस प्रकार स्थूल-देहके तमःप्रभावको जीतकर, अमृतभावनामे मर्त्यदेहको क्षयकर, भीतर और बाहर परमानन्द-पुरुषका अन्वेषणकर स्थूल-देह छोड़कर और उसके भीतर स्थित चित्-देहका पता पाकर, धीरे-धीरे निष्कामपथमे लिङ्ग-देहको क्षीणकर, अन्तःसुख, अन्तराराम, अन्तर्ज्योति, आत्मरति, आत्मतृप्त होकर, भगवन्मय मनःप्राण होकर, श्रीकृष्णके पादपद्मोमे आत्म-समर्पण करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। चतुर्देहके चतुर्व्यूह छिन्न-भिन्न होकर मिल जाते है। पृथक्-पृथक् साधनाके अनुसार पृथक्-पृथक् सिद्धि लाभ होती है। इस तत्त्वको भारतवर्ष जानता है, और कोई भी देश नही जानता। इसीलिये भारतीय संस्कृति समस्त पृथ्वीके लिये आदर्श है, आकाश-प्रदीपके समान है।





हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम

कर्ता-धर्ता हैं भगवान।
मैं तो केवल हूँ अभिमान॥
करनेको हैं शास्त्र विधान।
धरने सत्य सनातन ज्ञान॥
'सत् चित् आनँद' अति कल्याण।
प्रभु निमित्त स्वामी जग-प्रान॥
आदि अनादि अमर अम्लान।
हिंदू-संस्कृति विश्व प्रधान॥
आर्योंके गौरव गुण-ग्राम।
हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम॥

—डा० श्रीदुर्गेश्वर नन्दे



पुनर्जन्म

(लेखक—डा० सदाशिव कृष्ण फड़के, डी० ओ० सी०)

जीवका पुनर्जन्म मृत्युके पश्चात् तुरंत इसी लोकमें होता है या परलोक जाकर तब उसे लौटना पड़ता है, यह प्रश्न कभी-कभी उपस्थित होता है। शास्त्रोंमें ऐसे वचन हैं, जिनसे यह अर्थ निकलता-सा प्रतीत होता है कि मृत्युके पश्चात् जीव तुरंत इस लोकमें दूसरे शरीरमें जन्म लेता है। 'जैसे तृणपर रहनेवाला कीड़ा दूसरे तृणका आश्रय लेकर ही पहले तृणको छोड़ता है' (बृहदारण्यक० ४।४।३)। 'मृत्यु-क्षणमें जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही अगला जन्म होता है' (गीता ८।५-६)। इसी प्रकार जातक-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि मृत्यु-घड़ीमें ही अगले जन्मकी जन्म-कुण्डली तैयार होती है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

—इस जन्म-मृत्युपरम्पराके विधानका यही भाव मालूम होता है कि मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म होता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि 'यदि जीवका परलोक जा सकने योग्य विकास ही न हुआ हो तो तुरंत भूलोकमें उसका जन्म होगा। मानव-जातिकी प्रारम्भिक असंस्कृत अवस्थामें मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म हुआ करते होंगे। मरनेवालेका भूलोककी ओर अत्याकर्षण भी मरणोत्तर तुरंत पुनर्जन्मका कारण हो सकता है। कुछ बच्चे बचपनमें अपने पूर्वजन्मकी स्मृति प्रकट करते हैं और अपने पूर्वजन्मके माता-पिताको भी पहचान लेते हैं। इससे यह मालूम होता है कि बचपनमें मरे हुए अविकसित जीव और अकस्मात् जिनकी मृत्यु होती है, वे मरणोत्तर तुरंत जन्म लेते हैं। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि पूर्ण विकसित महात्मा भी परलोकगतिको अनावश्यक जान भगवत्कार्य अथवा लोकोद्धारके लिये मरणके पश्चात् तुरंत जन्म ग्रहण करते हों।' ('लाइफ डिवाइन' '२।२२', थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

इस प्रकार मरणोत्तर तुरंत जन्म तर्क-सम्भव होनेपर भी सामान्यतः ऐसा नहीं होता, यही शास्त्रोंका मथितार्थ और यही युक्तिसङ्गत भी मालूम होता है। अन्न खानेपर पुनः अन्न खानेका समय प्राप्त होनेतक खाये हुए अन्नका पाचन होना जैसे जरूरी होता है, वैसे ही मृत्यु होनेके बादसे पुनः जन्म लेनेतक बीचमें कर्मविपाकके लिये कुछ समय परलोकमें बिताना पड़ता है, इस आशयका वर्णन जीवकी मरणोत्तर परलोकगतिके सम्बन्धमें बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४-६।२) में है। तृणके कीड़ेके दृष्टान्तमें छोड़ने और पकड़नेके तृण तृणरूपमें दोनों समान होते हैं। ऐसा देहान्तर पुनर्जन्ममें सम्भव नहीं है। आवेश अथवा सञ्चारमें ही यह सम्भव है। अतः बृहदारण्यकके उपर्युक्त ४।४।३ में जिस देहान्तरका वर्णन है, वह स्थूल-देह छोड़कर तुरंत सूक्ष्म-देहसे परलोकमें जाना ही है। बृहदारण्यकके ४।४।४ में यही भाव स्पष्ट दीख पड़ता है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मलोकका आनन्दरूप ब्रह्मात्मा और भूलोकका अन्नमय भूतात्मा, जीवात्माकी केवल ये ही दो अवस्थाएँ नहीं हैं। इन दो अन्तिम अवस्थाओंके बीचमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय अवस्थाएँ हैं (तैत्तिरीय० २।३)। इन पिण्डगत अवस्थाओंके अनुरूप ब्रह्माण्डमें भी वैसे ही लोक हैं। उन सूक्ष्म लोकों और उन सूक्ष्म अवस्थाओंमेंसे होकर जीवका ऊपर जाना और पुनर्जन्मके लिये फिर नीचे आना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। फिर जब कल्पके आरम्भमें सृष्टिकी उत्पत्तिमें पूर्वकल्पके जीवोंके प्राप्त कर्मसंस्कारों और अपूर्णतासे पूर्णताको प्राप्त होनेकी अन्तःप्रेरणाको कारण मानना ही पड़ता है, तब पुनर्जन्मकी प्रक्रियामें भौतिक और आध्यात्मिक तथा व्यष्टिपरक और समष्टिपरक उभयविध क्रमोन्नतिके भाव होंगे ही। इस दृष्टिसे देखा जाय तो इस क्रमोन्नतिके अर्थ दृश्य इहलोककी अपेक्षा मरणोत्तर अदृश्य लोकमें ही जीवका बहुत अधिक वास होता है। (लाइफ डिवाइन, थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

पुनर्जन्मका प्रयोजन

इच्छा, ज्ञान, क्रिया जीवकी सहज प्रवृत्ति है। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जाना, दुर्निवार सहज अन्तःस्फूर्ति है। धर्माचरण करके जगत्में भले कहलाना सभी शीलवान् मनुष्य चाहते हैं। पुत्रैषणादि एषणाएँ, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण आदि ऋणोंका विमोचन—ऐसी सभी प्रेरणाएँ सत्प्रवृत्त मनुष्योंमें होती हैं। कर्म, उपासना, योग, ज्ञान इत्यादि विविध साधनोंके द्वारा साधक परमार्थ-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। अध्ययन-अध्यापन, शास्त्र-संशोधन, लोकसेवा, लोकसंग्रह, राजकारण, कलावृद्धि, व्यापार, उद्योग आदि विविध ध्येय कर्तृत्ववान् लोगोंके सामने होते हैं। ये सब इसी बातके प्रमाण हैं कि जीव जड यन्त्र नहीं है, चेतन ईश्वरांश है। जीवमें कुछ लपेटा

हुई और कुछ खुलती हुई अनेक प्रेरक शक्तियाँ हैं। घड़ीमे सूईके पीछे जैसे उसका स्प्रिंग होता है, वैसे ही जीवके पञ्चकोश इन लपेटी हुई शक्तियोंके करंडक होते हैं। जडवादी यह समझते हैं कि जडसे ही चेतनकी उत्पत्ति होती है। पर वे यह नहीं समझते कि जड़मे यदि अन्तर्निहित चेतन न हो तो वह कहाँसे उद्भूत होगा। अभावसे भावकी उत्पत्ति कैसे होगी? सारी सृष्टि व्यक्ताव्यक्तका खेल है। इच्छासे कर्म, कर्मसे वासना और उसका फल, कर्म और फल, रातके पीछे दिन, सङ्कोच और विकास, इहलोक-वास और परलोक-वास, अन्न-सेवन और उसका पाचन, सृष्टिक्रमके ये असंख्य द्वन्द्व-आन्दोलन हैं। इन्हींमें मृत्यु और पुनर्जन्म भी एक द्वन्द्व है। इसका रहस्य कर्मदेव और क्षेत्रज्ञ आत्मा जानता है और इसीलिये उत्क्रान्ति तथा विकासके योग्य, बाह्यतः भली-बुरी परिस्थितिमे, अन्तरात्मा देहात्माके द्वारा पुनर्जन्म लिया करता है। कोई भी देहात्मा विकलाङ्गोसे युक्त देहसे, दरिद्रतामें, दुःशील माता-पिताके यहाँ, निकृष्ट जातिमे, परतन्त्रतामें स्वेच्छासे जन्म नही ले सकता। परंतु ऐसी ही परिस्थितिमे जन्म लेनेसे प्राक्कर्मोंका परिशोध होगा और जीवका उद्धार होगा, यह अन्तरात्मा जानता है। इसीलिये वह क्षेत्रज्ञ अन्तरात्मा जान-बूझकर ऐसा जन्म लेना स्वीकार करता है। बच्चा लुढ़कता-पुढकता चलना सीखता है, सुखका मूल जाननेके लिये दुःखका अनुभव आवश्यक होता है। प्रतिकूल परिस्थितिके साथ सङ्घर्ष करते हुए जीवकी सामर्थ्य, वैराग्य, विवेक-संयमादि गुणोंका संवर्धन होता है। पुनर्जन्मका यह गूढ़ रहस्य जन्मे हुए देहात्माको ज्ञात नहीं होता। इसीसे वह दैव अथवा ईश्वरको कोसता है। ईश्वरीय योजना तो कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है कि जीव सब प्रकारके अनुभवोंसे ज्ञानी बने। यह अनुभव और ज्ञान पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है। इस रहस्यको अन्तर्यामी विज्ञानात्मा जानता है। इसीसे विज्ञानात्माका बोध जिन्हें प्राप्त होता है, वे साधु-संत चाहे जैसी बाह्य दुःस्थितिमे भी सुखस्वरूप ही रहते हैं।

सामान्य स्पन्दन, संवेदना, विषय-ग्रहण, सहज प्राकृत बुद्धि, तर्कबुद्धि, विचार, भाषा, ग्रन्थ; शाब्दिक ज्ञान, विषयासक्ति; बाह्य जीवनार्थ कलह, भेदबुद्धि, स्वार्थका मोह, स्वस्वरूपकी विस्मृति; पशुवृत्ति, अधःपतन—यह सारा लौकिक सुधारवादका वृत्त है। इस समस्याका सम्पूर्ण समाधान पुनर्जन्म-परम्पराके द्वारा जीवका अनुभवपूर्ण श्रेष्ठ पद लाभ करना है। आज बाह्य वैषयिक सुधार अपनी चोटीतक पहुँच गया है। इसके साथ ही ऐहिक स्वार्थ, बर्बरता और धर्म-विरोधकी भी चरमावधि हुई है। स्वैराचारने सत्-शील, शुभ वासना और पवित्र भावनाको पैरोतले कुचल डाला है। यन्त्रोंने हस्त-कौशलका अन्त किया है। कानूनबाजीने न्याय-नीति और धर्मको अपदस्थ किया है। जगत्के वर्तमान नेताओं और उनकी अनुयायी जनताके अनेक पुनर्जन्म होनेके पश्चात् यह स्थिति चाहे तो सुधर सकती है। अन्यथा कोई उपाय आज नही दीख पड़ता।

एक दूसरी दृष्टिसे विचार करते हुए ऐसा दीख पड़ता है कि इस विचित्र संसारमे अलौकिक कलाकार और प्रतिभावान् विद्वान् प्रायः व्यवहारज्ञानशून्य होते हैं। जो विरक्त हैं, उन्हे लोकसंग्रह नही भाता। शरीरतः बलिष्ठ कसरती जवान अप्रबुद्ध होते हैं, धनवान् प्रसङ्गावधान और प्रायः संयमसे रहित होते हैं। शाब्दिक विद्वानोंमें उतनी भी यथार्थ बुद्धि नहीं होती, जितनी पशुओं और बनमानुषोंमे होती है। पक्षियोंमे जो स्वतन्त्रता होती है, वह मनुष्योंमे नही देखी जाती। किसीके पास एक वस्तु है, तो दूसरी नहीं। यह जो मायाका विचित्र खेल है, इससे जीव अनुभव प्राप्त करते-करते परमोच्च ध्येयको प्राप्त हो, यह एक जन्ममे सधनेवाली बात नहीं है। एक जन्ममे, एक शरीरमे, एक परिस्थितिमे सब कुछ सध जाय, यह सम्भव ही नही है। एक जन्ममे देहात्माका पूर्ण विकास होनेके लिये कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माके पूर्ण विकासके लिये अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। क्षेत्रज्ञके दीर्घजीवनमें एक जीवन एक दिनके समान है। अनेक श्रेणियोंकी सृष्टिके इस विद्यालयमे एक जीवन एक श्रेणी है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनो प्रकारकी पूर्णता प्राप्त करनेकी अन्तःस्फूर्त एषणा जीवमे ही होती है। ब्रह्मके सिवा इस जगत्मे और कुछ नहीं है। फिर भी अज्ञान-दशामे स्थूल, सूक्ष्म शरीर और उनके स्थूल, सूक्ष्म लोक-व्यवहार बन्धवत् प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान दूर हो—इसके लिये बार-बार इनका अनुभव प्राप्तकर, इन्हें आत्मसात् करके सहजावस्थामे आ जानेके लिये इहलोकमे यथावश्यक पुनर्जन्म ग्रहणकर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि योग-साधन करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्मका यह एक व्यापक हेतु है।

पुनर्जन्मके प्रमाण

स्थूल दृष्टिसे विचार करते हुए पुनर्जन्मके चार-पाँच प्रमाण सामने आते हैं—१-आप्तोपदेश अथवा श्रुति (बृहदारण्यक० ६। २। १३; छान्दोग्य० ५। १०। ६; प्रश्न० १।

९ । ५-६; कौपीतकि०, मनुस्मृति १२ । १९–२२; गीता ४ । ५; २ । २७; गरुडादि पुराण, जातकादि ज्यौतिप-ग्रन्थ, चरकादि वैद्यक-ग्रन्थ)—यह सब शब्दप्रमाण है। २—माता-पितासे सर्वथा भिन्न स्वभावके सन्तानोंका उत्पन्न होना। चरकसंहितामे इसे पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। ३—फल-बीजन्यायके अनुसार पिछले जन्ममे किये हुए कर्मके फलरूप पुनर्जन्मका होना अनुमानप्रमाण है। ४—बोये हुए बीजका फल बीजके ही अनुरूप होगा, उससे भिन्न नहीं हो सकता—यह इसमें युक्ति है (चरकसूत्र ११ । ३० से ३३)। भृगुसंहितादि ज्यौतिप-ग्रन्थोंमे पुनर्जन्मके फलादेश मिलते है। इन फलादेशोंको कोई माने, या न माने; पर इनसे यह तो प्रमाणित होता ही है कि भृगुसंहितादिको पुनर्जन्म मान्य है। जातक-पारिजातमे यह विधान है कि मृत्युसमयके लग्नमें अमुक ग्रहयोग होनेसे पुनः मृत्युलोक प्राप्त होता है अर्थात् पुनर्जन्म होता है (अ० ५ । १८ । १९)। ५—पुनर्जन्म कार्यानुमेय है। कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका कार्य-कारण-सम्बन्ध पूर्वजन्म और पुनर्जन्म माने बिना समझमे ही नहीं आ सकता। ऐसी कुछ बातोका निर्देश करते हैं। पूर्वजन्म सिद्ध होनेसे पुनर्जन्म आप ही सिद्ध होता है। (क) नन्हे बच्चे नींदमे पूर्वजन्मकी स्मृतिसे कभी हँसते, कभी डरते दिखायी देते हैं। रेंडीके तेलमे भिगोकर कपड़ेकी चूसनी बनाकर नन्हे बच्चेके मुँहमे दी जाय तो बच्चा मुख फेर लेता है। शहदकी चूसनी बनाकर दी जाय तो उसे सुखपूर्वक चूसने लगता है। यह रुचि पूर्वजन्मकी स्मृतिका ही सूचक है। नवजात बच्चेके हाथमे बारीक-सी कोई छड़ी दी जाय और उसका सहारा-सा देकर बच्चेको लिया जाय तो बच्चा कुछ क्षणोतक छड़ी हाथसे नहीं छूटने देता। इसमें भी पूर्वजन्मका संस्कार ही कारण है। माताका स्तनपान करनेकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यह सहज बुद्धि पूर्वानुभवका होना सूचित करती है। (ख) किसी-किसी बालकको पूर्वजन्मकी स्मृति भी हो आती है।* योगियोको भी पूर्वजन्मकी स्मृति होती है। यह प्रमाण निरुत्तर करनेवाला है। पूर्वजन्मकी इन स्मृतियोंको उपस्थित मनुष्यों और पदार्थोंसे मिलाकर देख सकते हैं (मनुस्मृति ४ । १४८, १४९; पतञ्जलि; Rents in the veil of time; Study in Consciousness; Harmsworth Popular Science, Vol. VI; Occult Review, July 1912)। देहात्मा प्रत्येक जन्मका भिन्न होनेसे सबको पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होती। जिनको होती है, उन्हे क्षेत्रज्ञकी प्रेरणासे होती होगी। (ग) भिन्न-भिन्न मनुष्योके भौतिक ज्ञान और नैतिक भावना-मान एक दूसरेसे बहुत ही भिन्न होते हैं। (घ) शील-सदाचारसम्पन्न कुलोंमें दुराचारी और दुराचारियोके कुलोंमे सदाचारी उत्पन्न होते समय-समयपर दीख पड़ते हैं। (ङ) मा-बाप और बेटोंके बीच स्वभाव, रुचि और बुद्धिका बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। (च) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न कवि, तत्त्ववेत्ता, शास्त्रज्ञ, कलाकार, ग्रन्थकार, साधक, सत्पुरुष हीनचरित्र कुलमें भी उत्पन्न हुए दीख पड़ते हैं। (छ) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न माता-पिताके बुद्धिहीन, दुराचारी सन्तान भी देखे जाते हैं। (ज) एक ही माता-पितासे उत्पन्न यमज सन्तान भी एक दूसरेसे स्वभाव, शील आदिमें सर्वथा भिन्न होते दीखते हैं। ऐसे प्रसङ्गोंमें आनुवंशिकताका सिद्धान्त काम नहीं देता। (झ) भिन्न-भिन्न व्यक्तियोकी परिस्थितियाँ, उनकी आधि-व्याधियाँ, उनके शरीरमे जन्मसिद्ध अंगविकलता, उनकी सामर्थ्य, उनके भाग्य और ऐश्वर्य, उनके विकासके लिये प्राप्त अवसर कितने एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं—यह सभी देखते हैं। इस भिन्नताका कारण इस जन्ममे नहीं मिलता। (ञ) किसी-किसीपर आनेवाली आकस्मिक आपत्तियाँ—उदाहरणार्थ बाल-वैधव्य, असाध्य रोग, लूट-मार या डाका, जलप्रलय, अग्निप्रलय, दरिद्रता, अपकीर्ति, अपघात आदिका भी कोई कारण इस जन्ममे कहीं नहीं मिलता। इन सबका कारण पूर्वजन्मकृत कर्म न माना जाय तो ईश्वरको घोर अन्यायी, स्वेच्छाचारी और अत्यन्त निष्ठुर मानना पड़ेगा। (ट) मृत्युकी पहेली पुनर्जन्मवादसे ही समझमे आती है। (ठ) ईश्वरके न्याय-निष्ठुर होने और साथ ही दयामय होनेका मेल पुनर्जन्मवादसे ही बैठता है। (ड) हमारी बुद्धि और वासना तथा हमारी आकाङ्क्षाएँ और परिस्थिति—इन सबके झगड़े पुनर्जन्मवाद माने बिना हल नहीं होते। (ढ) जीवात्माके अमरत्वपर जिनका विश्वास है, उन्हें जन्म-परम्परा अनादि माननी पड़ेगी। अर्थात् प्रत्येक जन्म पुनर्जन्म सिद्ध करेगा। (ण) इस जन्ममे बिना कुछ

* अभी कुछ ही दिनों पहले युक्तप्रान्त, बदायूँ जिला, बिसौली-के इण्टरमीडियट कालेजके प्रोफेसर श्रीबाँकेलालजी शर्मा एम० ए०, शास्त्रीके नन्हेसे पुत्रने अपने पूर्वजन्मका अपना, घरवालोंका, फर्मका नाम बताकर तथा सम्बन्धियोंको पहचानकर सबको आश्चर्यमें डाल दिया था। (देखिये—'भारत' प्रयाग २७ । ८ । ४९)

इसी प्रकार गोला गोकर्णनाथके डाक्टर श्रीशिवरतनलालजी त्रिपाठीकी ३॥ सालकी कन्या भी अपने पूर्वजन्मका सारा विवरण बतलाती है। (देखिये—'नव-भारत' ४ । ९ । ४९)

उद्योग किये धन, ऐश्वर्य, सुखभोग प्राप्त हो अथवा इसके विपरीत सारा जीवन सतत उद्योग और सत्कर्ममे लगकर भी यश प्राप्त न हो और अन्तमे कष्टमय अवस्थामे मृत्यु हो, इसमे पूर्वजन्म माने बिना कर्म और कर्मफलकी सङ्गति लगती नही। यही मानना पडता है कि एकके जन्मसे ही ऐश्वर्यका कारण उसका पूर्वजन्मकृत पुण्य है और दूसरेके सतत उद्योग और सत्कर्मका फल अगले जन्ममे मिलनेवाला है। (त) बहुत-से सत्प्रवृत्त कर्मियों और भावुक उपासकोंको अपने ध्येय-तक पहुँचनेके लिये एक जन्म पर्याप्त नही होता। उन्हे दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। (थ) बहुत-से बच्चे बचपनमे ही मर जाते हैं, बहुत-से जंगली लोग अविकसित यानी अज्ञानकी अवस्थामे ही मरते है। ईश्वरके न्यायमूलक राज्यमे हर किसीका पूर्ण विकास होना ही चाहिये। अतः इनके विकासके हेतु इनके लिये अनेक पुनर्जन्म मानने पड़ते है। (द) कुछ माता-पिता और उनके सन्तानोमे, कुछ सगे भाइयोमे, कुछ पति-पत्नियोमे परस्पर अत्यन्त विरोध पाया जाता है। इस जन्ममे इस विरोधका कारण नहीं दीख पड़ता। (ध) कुछ व्यक्तियोको देखते ही उनके लिये चित्तमे प्रेम और आदर उत्पन्न होता है और कुछको देखते ही चित्त खिन्च जाता है। इसमे पूर्वजन्मके सम्बन्ध ही कारण मालूम होते है। (न) ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, कर्तृत्वसम्पन्न पुरुष, कलाकार, संशोधक, राजनीतिविद् आदि महान् व्यक्ति अनुभव और ज्ञानकी वृद्धि होनेपर जब मरते है, तब उनके उस ज्ञान और अनुभव-का लाभ इहलोकके अन्य लोगोको भी हो—इसके लिये ईश्वरके इस न्यायमूलक राज्यमे उनका पुनर्जन्म मानना पड़ता है। (प) रावण और विभीषण, धृतराष्ट्र और विदुर, राणा प्रताप और अकबर, शिवाजी और सम्भाजी, पद्मिनी और कृष्णाकुमारी, अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई, स्टालिन और हिटलर, गान्धी और जिन्ना इत्यादिकोके यश-अपयशका निर्णय एक जन्ममे होनेवाला नही है।

प्रत्येक वृक्षमे पत्ते लगते, बढ़ते और फिर झड़ जाते हैं। फिर उस वृक्षमें नवपल्लव आते हैं और वे भी कालक्रमसे झड़ जाते हैं। इन्ही पेड़-पत्तोंके विकासके समान क्षेत्रज्ञ आत्मामे देहात्माके पल्लव निकलते, बढ़ते और फिर झड़ जाते है और इस प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माकी तथा देहात्माकी जन्म-परम्परासे प्रगति होती चले, यह युक्तियुक्त मालूम होता है। ध्येयवाद अथवा उत्क्रान्तिवाद एक जन्ममें सिद्ध नही होता। पुनर्जन्म-परम्परासे ही ध्येय-सिद्धिको पूरा अवसर मिलता है। जो कुछ हो, सृष्टि कोई जड यन्त्र नही है। उसमे ज्ञान और इच्छापूर्वक क्रिया है। जडमे ज्ञान और इच्छाका होना सम्भव नही। संवर्धन, पुनरुत्थान, हेतु, आगेकी कार्यनीति, जीवनेच्छा, अमृतत्वकी आकाङ्क्षा आदि चेतनके अनेक गुण-धर्म हैं। ये गुण धर्म जडके नही हैं। अतः जिस किसी भी प्रयोजनसे चेतन जीवका ही पुनर्जन्म होता है, केवल जड-देहका नही।

पुनर्जन्मकारक अन्य बातें

जीवका पुनर्जन्म कहाँ, किस प्रेरणासे अथवा किसके संगमे हो सकता है—इसकी कुछ निर्णायक बातें बतलायी जा सकती है—१-माता-पिताकी सन्तानसम्बन्धिनी तीव्र इच्छा और जन्म लेनेवाले जीवकी जननेच्छा—ये दोनो शक्तियाँ परस्पर आकर्षण करती हैं। २—ईश्वरीय योजनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ जीवात्माकी स्वविषयक विकास-दृष्टि भी अमोघ है। ३—इस दृष्टिके अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो प्राक्कर्म-संस्कार जीवके हो सकते है अथवा उनकी जो प्रतिक्रिया हो सकती हैं, ये दोनो बाते स्पष्ट ही निर्णायक अङ्ग है। इस विषयमे जीवके समग्र संचित कर्ममेसे जो कर्म फलोन्मुख हुआ हो अथवा कर्मदेवताने जीवके भोगके लिये आगे रक्खा हो, वही जीवका प्रारब्धकर्म ही तात्कालिक प्रेरक होगा। ४—पूर्व-जन्ममे प्रेम, ऋण, हत्या, वैर इत्यादि प्रकारके जिनसे जो सम्बन्ध बन गये हो, पुनर्जन्म उन सम्बन्धोंसे आबद्ध व्यक्तियोको एक जगह फिर ला छोड़ता है। पुनर्जन्मके कारणोंका अनुसन्धान करते हुए यह दीख पड़ता है कि कभी-कभी समानधर्मा जीव परस्पर आकर्षित होते है। कभी-कभी विषमधर्मा भी परस्पर प्रतिक्रियारूप सघर्ष करनेको एकत्र होते हैं। संसारमे हम यह भी देखते हैं कि वेश्याके मनोमोहक लावण्य एवं बनने-ठननेमें एक प्रकारकी दुःशीलता होती है। इसके विपरीत पतिव्रताकी सादगीमे पवित्र शील रहता है। कितने ही सुन्दर चित्रोकी पार्श्वभूमि काली होती है। उससे चित्रका सौन्दर्य खिल उठता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद-जैसे पुनर्जन्मके विसंगत प्रकार भी देखनेको मिलते है। पुनर्जन्म लेनेवाला जीव योग्य माता-पिता चुन लेता है, यह बात ऊपर आयी है; पर योग्यायोग्यता परखनेकी यह दृष्टि देहात्माकी नही है। यह काम कर्मफल-विधायक दैवीशक्ति, समष्टि मन अथवा कर्मदेव और जन्म लेने-वाले जीवका अन्तरात्मा करता है। इसमे आकर्षण-विकर्षणके भाव विविध और गूढ होते हैं। ५—ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार

पुनर्जन्म-प्रक्रियामें भी ग्रहोंके योग माने जाते हैं। (जातक-पारिजात, आधान जन्म अ० ३; सन्तान-दीपिका, बृहज्जातक आदि) जीवकी गर्भकुण्डली अथवा जन्मकुण्डलीमें जन्म-कर्म-भविष्य जाना जाता है। मृत्युक्षणमें बनायी हुई कुण्डलीमें पुनर्जन्म जाना जा सकता है। भृगुसंहितामें जन्मलग्न-कुण्डलीसे भी पुनर्जन्म बतलाये गये हैं। यहाँके जीवोंका अन्य खगोलोंमें जन्म अथवा अन्य खगोलोंके जीवोंका यहाँ जन्म होना भी सम्भव है।

पुनर्जन्म और विकासवाद

विकासवाद आधुनिक विज्ञानकी देन है। सनातन-धर्मियोंकी हिंदू-संस्कृतिको कुछ लोग उसके विपरीत मानते हैं, यह उनकी भूल है (हिंदूइज्म ऐण्ड ब्राह्मणिज्म, पृ० १२; अभेदानन्दकृत 'री-इनकार्नेशन')। किञ्चित् विचार करनेसे यह दीख पड़ेगा कि हिंदू-संस्कृतिका पुनर्जन्मवाद आधुनिक विकासवादको अनायास हजम कर सकता है। यह उससे कहीं अधिक पूर्ण और निर्दोष सिद्धान्त है। आधुनिक विकासवाद देहका अथवा अधिक-से-अधिक देहात्माका विचार करता है। विकासवादमें परिवर्तन-प्रवृत्तिका एक सिद्धान्त माना गया है। पर इस परिवर्तन-प्रवृत्तिका कारण क्या है, इसका विचार विकासवादी नहीं करते। पुनर्जन्मका सिद्धान्त माने बिना परिवर्तन-प्रवृत्तिका वास्तविक स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता। विकासवादी यह भी नहीं बतला सकते कि मनुष्योंमें एक तामसी पशुबुद्धि और दूसरी सात्त्विक सदसद्-विवेकी बुद्धि—यह दो प्रकारकी बुद्धि कैसे सम्भव होती है। एक ही समयमें अलौकिक प्रज्ञावान् पुरुष और अत्यन्त अप्रबुद्ध जंगली मनुष्य दोनों रह सकते हैं। वानरसे नरका विकास हुआ कहें तो हम देखते हैं कि लाखों वर्षोंसे असंख्य वानर और असंख्य मनुष्य एक साथ रहते चले आये हैं। इसका कोई समाधान विकासवादी नहीं कर सकते। सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले सनत्कुमार-जैसे ईश्वरके मानसपुत्रोंको कोई अज्ञानी और जंगली कहे और ऐटम (परमाणु) बमसे लाखों निरपराध मनुष्योंको भस्म करनेवाले आजके मनुष्योंको सभ्य, सुसंस्कृत और ज्ञानी कहे तो ऐसा विकासवाद किसीके भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। आधुनिक विकासवादमें आत्मोन्नतिकी कोई भावना नहीं है। योग्यका वरण, जीवनके लिये कलह, बलिष्ठकी स्थिति आदि विकासवादके सिद्धान्तोंके अनुसार संवर्धित आजके सभ्य जगत्में पशुबुद्धि भरपूर है। नित्य-नवीन आधि-व्याधियोंकी कोई कमी नहीं है। आत्महत्या, उन्माद, डाकेजनी, हिंसात्मक राजनीति—इन्हीं सब चीजोंकी दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि हो रही है। आजकी हिंस्र पशु-वृत्ति 'धर्मनिरपेक्ष' अथवा धर्मविरोधी अर्थ और कामके दम्भ और कपटमें छिपी बैठी है। इस आधुनिक विकासवाद-के 'योग्यका वरण' और 'जीवनार्थ कलह'—जैसे सिद्धान्तोंसे कपट, हिंसा, क्रूरता, अत्याचार आदि पशुवृत्तियोंकी वृद्धिका होना ही अनिवार्य है। एक तरहसे धर्मनिरपेक्ष शिक्षित जंगलीपनको ही मानव-विकास समझा जा रहा है। जो साम्य केवल आत्मामें है, उसे बरबस विषम स्वभाववाले देहमें ले आनेका हास्यास्पद प्रयत्न ही आजकी विकसित मानवताका प्रधान लक्षण माना जा रहा है। इस विकासवादके अनुसार मनुष्योंका यह कर्तव्य होता है कि मनुष्य स्वार्थप्रेरित विषयों-को वरण करें और जीवनसंग्राममें दुष्ट और बलिष्ठ सीधे-सादे और दुर्बल लोगोंको मारकर स्वयं जीयें और भोग करें। इसमें नैतिक और धार्मिक वृत्तियोंके संवर्धनके लिये कोई प्रेरक हेतु ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत पुनर्जन्मवादमें यह सिद्धान्त गृहीत है कि क्रमसे जीवकी सत्त्वसंशुद्धि होती जाती है। हिंदू-संस्कृतिके पुनर्जन्मवादमें ऐहिक शारीर सौख्य अथवा विषयासक्ति ध्येय नहीं है। उसका रहस्य अन्तर्मुख और दिव्य है। हमारे पुनर्जन्मवादकी सात्त्विक वृत्ति स्वैराचारी रजस्तमोमय वरण-क्रिया और जीवनार्थ कलहवाले बहिर्मुख आधुनिक विकासवादका अन्तमें पराभव करनेवाली है। मनुष्य-का सच्चा पुरुषार्थ धर्मके द्वारा ही अर्थ और काम सम्पादनकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करना है। इस साध्य-साधनमें पुनर्जन्मकी उपयोगिता स्पष्ट है।

विकासवाद अज्ञानसे ज्ञानकी ओर, अभावसे भावरूपकी ओर अनन्त विकास ही मानता है। उसमें किसी मनुष्यका पुनर्जन्म मनुष्यसे हीन किसी योनिमें होना माना नहीं जा सकता। परंतु यह एकाङ्गी विकासवाद हमारे शास्त्रोक्त पुनर्जन्मवादको आमूलाग्र छोड़े हुए है। पुनर्जन्म अव्यक्तका समर्याद व्यक्त उपाधिमें प्रादुर्भाव है। मूलमें जो वस्तु नहीं है, वह पुनर्जन्ममें भी सम्भव नहीं है। अज्ञानसे ज्ञान या अभावसे भाव हिंदू-संस्कृतिके तत्त्वज्ञानमें नहीं है (गीता २। १६)। विकासका होना बाहरसे किसी नवीन वस्तुका पैदा होना नहीं है। वह अन्तस्सत्तासे अंदरसे ही बाहर प्रकट होता है। पुनर्जन्म कोई नया जन्म नहीं है। सनातन प्रत्यगात्मा केवल नया वेश धारणकर प्रकट होता है। जो ईश्वरीय ज्ञान आरम्भमें उच्च अथवा दीर्घकाल अव्यक्त रहता

है, वही प्रत्यवायके दूर होते ही व्यक्त होने लगता है। जो मूल कारणमें न हो, वह कार्यमें उत्पन्न हो ही नहीं सकता (राजयोग ४ । २-३)। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जानेकी जो बात कही जाती है, वह प्रत्यवायभूत उपाधिकी अपेक्षासे कही जाती है।

उत्कर्षका गगनचुम्बी पर्वत आरोहण करनेमें बीचमें कहीं-कहीं उतार भी होते हैं। उसी प्रकार जीवके कर्मानुरूप तात्कालिक अधःपतन अथवा पशुकोटिमें पुनर्जन्म होना भी पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें गृहीत है। कारण, इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें रजस्तमके उतार भी मार्गमें आते हैं। त्रिगुणात्मक सम्मिश्र कर्मका विपाक अत्यन्त गूढ़ है। भरतको मृगका जन्म लेना पड़ा। नलकूबर-मणिग्रीव वृक्ष बने। पुनर्जन्म-परम्पराके ये चढ़ाव-उतार चढ़ते-उतरते अन्तको यह सोपाधिक अपूर्ण, जन्मान्तरमें उपाधियोंका पूर्ण बाध होनेपर, अपने पूर्णत्वके साथ व्यक्त होता है। यह मूल स्थितिका विकास नहीं है। मूल स्थिति तो पूर्णत्वकी ही है। आत्मानात्मविवेक बुद्धिका काम है। नीति-धर्म निःस्वार्थ होनेकी शिक्षा देते हैं। परमात्माके साथ एकात्मता आध्यात्मिक पूर्णताका लक्षण है। आधुनिक देहात्मवादियोंके विकासवादमें आध्यात्मिक पूर्णताकी इस श्रेष्ठ प्रणालीको कोई अवसर नहीं है। वे देहात्माका बहिर्विकास चाहते हैं। परंतु अन्तर्यामी विज्ञानात्माका विकास इससे सर्वथा भिन्न और सूक्ष्म हुआ करता है। उसका एक जन्ममें पूरा होना अति दुर्घट है। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है।

विकास भी किसलिये? यह आधुनिक विकासवादी नहीं बतला सकते। कारण, आधुनिक विकासवाद एकाक्ष और हेतुशून्य है। स्वाभाविक गुणोंका ह्रास कहीं-कहीं क्यों होता जाता है? मनुष्यकी अपेक्षा निकृष्ट योनियोंमें कहीं-कहीं सहज बुद्धि और इन्द्रियज्ञान अधिक कैसे दीख पड़ते हैं? ऐसे-ऐसे प्रश्नोंके उत्तर यान्त्रिक विकासवादमें नहीं हैं। अथाह ज्ञानसागरकी ज्ञान-तरङ्गोंको ग्रहण करनेमें मस्तिष्कका अधिकाधिक समर्थ होना वस्तुतः मस्तिष्कका विकास नहीं है। अनेक पुनर्जन्मोंके द्वारा होनेवाला यह जीवविकास है। मस्तिष्क जीवका एक करण है। पुनर्जन्मका प्रयोजन मस्तिष्कका संवर्धन नहीं; इसकी अपेक्षा वह अधिक दिव्य है।

[हमारे शास्त्रानुसार विकासवाद युक्तियुक्त और सत्य नहीं है। जीवको कर्मफल-भोगके लिये अपने कर्म तथा वासनासे बाध्य होकर उच्च-नीच विविध योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है (बृहदारण्यक ४ । ४ । ५ तथा छान्दोग्य० ५ । १० । ७ देखिये)। गीताके—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (२ । ४७)

—के अनुसार मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, परंतु भोगमें परतन्त्र है। गीताका—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२ । २२)

—'जैसे पुराने वस्त्रोंको त्यागकर मनुष्य नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर नये शरीरोंको प्राप्त होता है' यह सिद्धान्त भी ठीक है। मरणके बाद जीवको उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, परंतु वह स्थूलदेह नहीं होती। वह तेजः-प्रधान या वायु-प्रधान 'आतिवाहिक' देह होती है, जिसको ग्रहण करके जीव अपने पुण्य-पापानुसार विविध देवलोकोंमें अथवा पितृलोकके विभिन्न स्तरोंमें पहुँचता है और वहाँ सुख-दुःखका भोग करके पुनः नियन्ताके विधानसे यथायोग्य स्थूल देहको प्राप्त होता है।

इस प्रकार जीवका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है और उसका हेतु है 'कर्म'।]

उपसंहार

अज्ञानमें अन्तःक्रान्ति और जीव-जगत्‌के मूलस्वरूपकी ओर उत्क्रान्ति या विकास—इस प्रकारका यह खनिजकोटिसे देवकोटितक सृष्टि-क्रम अनादि कालसे अनन्त कालतक चलता ही रहेगा। अर्जुनको भगवान्‌ने गीतोपदेश सुनाना आरम्भ किया, तब दूसरे ही श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'इस बातको समझो कि मैं पहले कभी नहीं था, यह बात नहीं है; इसी प्रकार तुम और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है। यह भी नहीं है कि हम सब आगे न होंगे।' यह पुनर्जन्मपरम्परा इसी प्रकार त्रिकालाबाधितरूपसे चलनेवाली है। महाराष्ट्रके कीर्तनकार कथा हो चुकनेपर अन्तमें संतश्रेष्ठ तुकारामका 'हेचि दान देगा देवा' यह अभंग गाया करते हैं। इसमें तुकारामजीने भगवान्‌से यह विनय की है—'भगवन्! मुझे मुक्ति या धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये। पर ऐसा करो कि तुम्हारा कभी विस्मरण न हो।

तुम्हारा गुणगान करनेमें मेरा मन रँगा हुआ हो । सत्संगतिका सदा लाभ होता रहे । इतना दो । फिर भले ही पुनर्जन्म देते रहो ।' निवृत्ति-साधक विरक्त जीव पुनर्जन्मसे बचनेकी इच्छा करते होंगे, पर लोकसंग्रही संत पुरुष पुनर्जन्म-का भय या तिरस्कार नहीं करते । भारतीयोंको उनका सदा यही उपदेश रहा है कि ज्ञान, उपासना, कर्मके इस त्रिवेणी-संगमपर आनन्दके साथ पुनर्जन्म लेकर संसारमें वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए सुखपूर्वक रहो ।

कर्मकी प्रतिक्रिया

कर्मके महत्त्वको आज सारा संसार भूल गया है । कर्मकी सर्वव्यापकता, कर्मकी दुर्लङ्घनीय शक्ति और प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक जातिपर कर्मका प्रभाव कैसा नियमित पड़ता है, इसकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं है ।

श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'भगवान्‌का स्वभाव सच्चिदानन्दमय' एकरस है । उसी अलौकिक सत्ताका त्याग करके जो भूतोंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसको कर्म कहते हैं ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (८ । ३)

प्रकृति त्रिगुणमयी है । रजोगुणके कारण प्रकृतिका परिणाम सदा होता रहता है । वह परिणाम कभी सत्त्वसे तमकी ओर और कभी तमसे सत्त्वकी ओर स्वभावसे होता है । जैसे प्रकृतिमें त्रिगुणका होना स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार यह परिणाम भी स्वभावसिद्ध है । इसी स्वभावसिद्ध स्पन्दनको कर्म कहते हैं ।

मीमांसाकारोंने कर्मके तीन भेद कहे हैं, यथा—सहजकर्म, जैवकर्म और ऐशकर्म । सहजकर्म प्राकृतिक स्पन्दनके साथ-ही-साथ प्रकट होता है । आदिसृष्टिमें ब्रह्माण्डगोलकका बनना, जीवसृष्टिका उद्भिज्जरूपसे उत्पन्न होना—यह सब सहजकर्मके उदाहरण हैं । सहजकर्मके बलसे जीव उद्भिज्जयोनि, स्वेदजयोनि, अण्डजयोनि, जरायुजयोनिमें होता हुआ अन्तमें पूर्णावयव मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है । मनुष्य-योनि पूर्णावयव होनेके कारण पाप और पुण्यकी अधिकारिणी हो जाती है । उस समय जीवमें जैवकर्मका उदय होता है । तब मनुष्य आवागमनचक्रमें घूमता हुआ प्रेतयोनि, नरकलोक, स्वर्गलोक, असुरलोक तथा मनुष्यलोकमें आता-जाता रहता है । इसी आवागमन-चक्रको स्थायी रखनेवाला ही जैवकर्म कहाता है । इस दशामें जीवकी क्रमोन्नतिके लिये वेद, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि शास्त्र स्वतः प्रवृत्त रहते हैं । सहजकर्म और जैवकर्म दोनोंसे पृथक् और विचित्र ऐशकर्म कहलाता है । ऐशकर्मका साक्षात् सम्बन्ध देवलोकसे है और परोक्ष सम्बन्ध मृत्युलोकसे है । मनुष्यको क्रमशः आवागमन-चक्रसे छुड़ाकर देवलोककी परिधिमें पहुँचाना ऐशकर्मका ही कार्य है । नचिकेताका एक जन्ममें ही देवयोनिको प्राप्त होना, नन्दिकेश्वरका देवत्व प्राप्त होना, बलिका असुर-राजपद प्राप्त होना—यह सब ऐशकर्मका ही प्रभाव है । ऐशकर्मके बलसे देवता और असुर दोनोंके सब कार्य सुरक्षित रहते हैं । शास्त्रोंसे पता लगता है कि इसी ऐशकर्मके बलसे मनुपदधारी और इन्द्रपदधारी तथा नाना छोटे-बड़े देवपदधारी गण अदल-बदल जाते हैं । इसी ऐशकर्मके बलसे लाखों वर्षोंका कलियुग, लाखों वर्षोंका द्वापरयुग, लाखों वर्षोंका त्रेता और लाखों वर्षोंका सत्ययुग, चारोंका मिलकर एक महायुग तथा ऐसे ७१ महायुगोंका १ मन्वन्तर होता है, जिसमें सब देवपदधारी बदल जाते हैं । यह सब ऐशकर्मकी महिमा है ।

कर्मकी महिमाको देखकर कोई-कोई कर्ममीमांसक कर्मको ही ईश्वररूप मानते हैं । जैन और बौद्धधर्मके आचार्योंमें भी इसी कारण कोई-कोई ईश्वरको न मानकर कर्मको मानते हैं । कोई जाति या व्यक्ति अपने किये हुए कर्मकी प्रति-क्रियासे बचा नहीं सकता । इस समय यूरोपकी जैसी अधःपतित दशा हो गयी है, बृटिशजातिकी शक्तिका जो क्षय हो गया है, यह उस जातिके पूर्वकृत समष्टिकर्मका ही परिणाम है । इस समय हिंदुस्थानरूपी भरतखण्डकी जो अस्त-व्यस्त दशा दीख पड़ती है, समस्त पृथ्वीमें जो घोर हलचल देखनेमें आती है, वह मनुष्यजातिके समष्टिकर्मका ही फल है । अतः इस समयके राजनीतिक नेतृवृन्द, समाज-संस्कारक नेतृवृन्द और सब श्रेणीके नेतृवृन्दकी कर्मके सत्-असत् भावोंकी ओर तीव्रदृष्टि होनी चाहिये । और सबको अपने-अपने शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मों-की ओर पूरा ध्यान रखकर कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होना चाहिये । भक्ताग्रगण्य गोस्वामीजीने कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

सूर्योदय

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-संस्कृतिमें गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्यजातिकी सुरक्षाके लिये चार बड़े-बड़े दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर, जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। दूसरा रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था, जिसमे जन्मसे जाति माननेकी दृढ़ आज्ञा है और तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मण जातिके नेतृत्वमे संचालित होनेकी व्यवस्था है। तीसरा आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमे आर्यजाति सुव्यवस्थित रूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है। और चतुर्थ दुर्ग सतीत्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है। इन चार अटल दुर्गोंमे गोत्र और प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है, उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। गोत्र और प्रवरका माहात्म्य और उसकी परम आवश्यकताका ज्ञान कुछ भी न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्तःकरणमे इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये है और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते है। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भसे अबतक अपने रूपमे विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि और मन्वन्तर-सृष्टिकी तो बात ही क्या है, कल्पादि और महाकल्पादिकी आदि सृष्टि-के साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है; क्योकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनके मानस पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए ऋषियोंसे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिंदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर अबतक पृथ्वीकी लाखो जातियाँ प्रकट हुई और कालके गालमें चली गयीं; परंतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली, अपनी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये गोत्र-प्रवरकी शृङ्खलाके आधारपर चलनेवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही है। जिस मनुष्य-जातिमे वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है, गोत्र-प्रवरकी सुव्यवस्थाका विचार नही है, उस मनुष्य-जातिपर अर्यमा आदि नित्य पितरोंकी कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नही रह सकती। हमारे वेदोंमे, वैदिक कल्पसूत्रोमे तथा स्मृति और पुराणोमे गोत्र-प्रवर-प्रवर्तक महर्षियोंकी चर्चा है तथा उससे आर्यजातिको सुरक्षित रखनेके लिये दृढ़ आज्ञा है। अतः आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दोके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न होने देना चाहिये। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमे अपने पुरोहितके गोत्रसे गोत्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित है। इस कारण उक्त जातियोमे इस व्यवस्थाकी कुछ शिथिलता पड़नी सम्भव है; परंतु ब्राह्मण-जातिमे वेद और शास्त्रोमे वर्णित गोत्र एवं प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिये। आजकल ब्राह्मण-जातिमे जो अनेक प्रकारके पतनके लक्षण दिखायी देते है, उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गोत्र और प्रवरकी महिमाको भूल गयी है। वास्तवमे गोत्र और प्रवरकी महिमाके प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिमे कही-कही ब्रह्मतेज दिखायी देता है। और वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गोत्र-प्रवर-महिमाका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिनमे स्वजातीय अभिमान है, जो अपने स्वधर्मका गौरव समझते हैं, जो जन्मान्तर-विज्ञान मानते है और जो रजोवीर्यकी शुद्धताका गौरव समझते है, उनको इस समय प्रमादग्रस्त न होकर चेतना चाहिये। सर्योदय



हिंदुओंकी विद्या

'ध्यानकी प्रणालीको उन्हीं लोगोने जन्म दिया है। उनमें स्वच्छता एवं शुचिताके गुण वर्तमान हैं।' 'उन लोगोंमे विवेक है तथा वे वीर हैं।'

'ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओंमें हिंदूलोग आगे बढ़े हुए हैं। प्रतिमा-निर्माण, चित्रलेखन, वास्तु आदि कलाओंको उन्होने पूर्णतातक पहुँचा दिया है। उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रोंका संग्रह है।'

—अल्जहीज (आठवीं शताब्दी)



भक्ति-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम०ए०, डी०लिट्०)

वर्तमान युगमें भक्ति-साधन और उसकी उपयोगिताके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता है, ऐसा मैं नहीं समझता। प्रायः सभी विश्वास करते हैं तथा शास्त्र-वाक्य और महापुरुषोंके अनुभव इस विश्वासका समर्थन करते हैं कि दुर्बल मनुष्यके लिये भगवत्प्राप्तिका, एकमात्र न होते हुए भी, प्रधान उपाय भक्ति-साधना है। परंतु सच पूछा जाय तो भक्ति-साधनाका रहस्य सबके लिये सुपरिचित नहीं है। रहस्य जाने बिना किसीको किसी तत्त्वका माहात्म्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतएव इस प्रबन्धमें भक्ति-तत्त्वके रहस्यके सम्बन्धमें अपने ज्ञान और अनुभवके अनुसार संक्षेपमें कुछ कहनेकी चेष्टा करूँगा।

साधनाके समस्त मार्गोंको आलोचनाकी सुविधाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इनके एक-एक भाग साधनाकी एक-एक स्थितिके द्योतक हैं। प्रथम भागका नाम प्रवर्तक-अवस्था, द्वितीय भागका नाम साधक-अवस्था और तृतीय भागका नाम सिद्धावस्था है। प्रवर्तक-अवस्थामें एकके बाद एक दो स्थितियोंका विकास स्वीकृत किया गया है। उसी प्रकार साधक-अवस्थामें भी दो क्रमिक स्थितियोंकी अभिव्यक्ति देखनेमें आती है। परंतु सिद्धावस्थामें इस प्रकारका कोई अवान्तर भेद नहीं पाया जाता। प्रवर्तक-अवस्थामें प्रथम साधना है नाम-साधन। नामकी महिमा भारतवर्षकी भक्त-मण्डलीमें किसीको अविदित नहीं है। वाचक शब्द और वाच्य अर्थमें जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार नाम और नामीमें एक प्रकारका नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। वृक्षके बीजके साथ जिस प्रकार वृक्षफलका सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान्के नामके साथ भगवत्स्वरूपका सम्बन्ध जानना चाहिये। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, यह अप्राकृत वस्तु है और अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न है। भगवान् जिस प्रकार चिदानन्दमय हैं, उनका नाम भी उसी प्रकार चिदानन्दमय है। परंतु नाममें चिद् और आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं रहती, साधनाके प्रभावसे क्रमशः ये अभिव्यक्त होते हैं। परंतु वे उसमें पहलेसे ही अव्यक्तभावसे निहित रहते हैं। नाम अनन्त शक्तियोंका भंडार है। जाग्रत् महापुरुषके श्रीमुखसे निकले हुए नामकी तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाममें भी निजशक्ति विद्यमान रहती है। नाम-दाताकी शक्तिके साथ योग होनेपर नामकी निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर उज्ज्वल रूपमें फूट पड़ती है। ऐसा न हो तो वह नाम यथार्थ नाम नहीं होता, नामाभासरूपमें ही प्रकटित होता है। नामकी महिमा अनन्त है; नामाभास भी व्यर्थ नहीं जाता, उसका भी सुफल होना अनिवार्य है। वस्तुतः भगवान्का नाम अर्थात् जाग्रत् नाम कोई अपने बलसे कर्तृत्वाभिमानपूर्वक नहीं उच्चारण कर सकता। जिसके ऊपर नामकी कृपा होती है, नाम स्वयं ही उसके कण्ठको अवलम्बन करके ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिये बाह्य प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; परंतु नामाभासमें उच्चारणकर्ताका कर्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकालतक विधिपूर्वक गुरूपदेश अथवा आन्तरिक शुद्ध प्रेरणाके अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी किसी-किसी भाग्यवान्के कण्ठमें नामरूपमें परिणत होकर अपने-आप ध्वनित हो उठता है।

दीर्घकालतक नियमितरूपमें नाम-साधना करते रहनेसे यथासमय भगवान्की करुणाका उद्रेक होता है, और वे पथप्रदर्शक गुरुके रूपमें नाम-साधक भक्तके सामने आविर्भूत होते हैं। नाम-साधनाके द्वारा चित्त-शुद्धि तथा देह-शुद्धि यथासम्भव अवश्य ही होती है; परंतु जबतक भक्त गुरुदत्त बीजको प्राप्तकर अपने अशुद्धबीज देहको शुद्ध कायामें परिणत नहीं कर पाता, तबतक वास्तविक साधनाका सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्राकृत शरीरमें भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकारके अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्वकी साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधनाके फलस्वरूप क्रमशः बीजकी अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभावसे मलिन सत्ताको दूर करना सम्भव हो जाता है। पाञ्चभौतिक उपादानोंका आश्रय लेकर उनसे अनुस्यूत जो हमारा अशुद्ध शरीर विद्यमान है, उसका जबतक संस्कार नहीं होता, तबतक उसके लिये प्रकृत साधन-मार्गमें प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुदत्त साधनाके फलस्वरूप भूत और चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं; अतएव पूर्व-स्थित अशुद्ध शरीर विगलित हो जाता है और अपने-अपने भावके अनुसार एक अभिनव शरीरका आविर्भाव होता है।

यह स्वभावका शरीर होता है, इसीका पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह देह निर्मल, अजर और अमर होता है तथा क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मोंसे वर्जित होता है। इस भावदेहको प्राप्तकर भक्त प्रवर्तक-अवस्थासे साधक-अवस्थामें उपनीत होता है। साधारणतः जगत्‌में जिसको साधना कहते हैं, वह प्रकृत साधना नहीं है। स्थूल देहमें अभिनिवेश या तादात्म्यबोधके रहते हुए कोई भी साधना क्यों न की जाय, वह अकृत्रिम स्वाभाविक साधनाके रूपमें परिगणित नहीं हो सकती। भावका साधन ही यथार्थ साधन है। अभावके शरीरमें भावकी साधना नहीं हो सकती। अतएव प्रवर्तक-अवस्थामें अभावके शरीरको भावके शरीरमें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। नाम और मन्त्र—ये प्रारम्भिक चेष्टामें सहायक होते हैं।

जिन्होंने भक्तितत्त्वका अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि क्रियारूपा भक्ति क्रमशः फलरूपा भक्तिमें पर्यवसित होती है। प्रवर्तक-अवस्थामें जो कुछ किया जाता हैं, वह क्रिया-भक्तिके ही अन्तर्गत है। कोई-कोई इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परंतु वास्तविक साधन-भक्ति यह नहीं है, यह कृत्रिम साधन-भक्ति है; क्योंकि प्राकृत-देहाभिमानके रहते हुए प्रकृत साधन-भक्तिका उदय नहीं हो सकता। जिस नवधा भक्तिकी बात भक्तलोग कहते हैं, तथा भक्त-सम्प्रदायमें जिसका साधन देखनेमें आता है, वह भी वस्तुतः प्रवर्तक-अवस्थाका ही व्यापार है। इन सभी अनुष्ठानोंके पीछे केवल देहात्मबोधमूलक कृत्रिम अहंभावकी क्रीडा विद्यमान रहती है। भाव कैसे उदित होता है, इसकी आलोचना करते समय आचार्योंने कहा है कि भावका प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपासे लक्षित होता है। कर्मसे अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते साधन-भक्ति भावभक्तिके रूपमें परिणत हो सकती है। परंतु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती साधनके लक्षित न होनेपर भी भावभक्तिका उदय होते देखा जाता है, ऐसे स्थलमें कृपाको ही मूल कारण मानना पड़ता है। यह कृपा साक्षात् भगवान्‌की भी हो सकती है अथवा सिद्ध भगवद्भक्तकी भी। कुछ लोगोंकी यह भी धारणा है कि भक्तिके कार्य-कारणभावका विचार करनेपर कृत्रिम भक्ति-साधनाको कहीं भी भक्तिका वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वह क्षेत्र-विशेषमें भक्तिकी यथार्थ कारणरूपा भगवत्कृपा अथवा भगवद्भक्तकी कृपाकी अभिव्यञ्जिका है, इसलिये उसका कारणरूपमें ग्रहण होता है।

भक्ति ह्लादिनी शक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा है। अतएव शुद्ध भक्ति स्वरूपतः महाभावका अंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुतः महाभावसे ही स्फुरित होती है। अतएव कृत्रिम साधन-भक्तिकी प्रयोजनीयता स्वीकार करनेपर भी, भावके उदयको सभी साधनद्वारा दुष्प्राप्य मानते हैं। कृत्रिम साधनाके मूलमें जीव रहता है; परंतु भक्ति जीवका स्वभाव-सिद्ध धर्म नहीं है, क्योंकि महाभाव अथवा भाव ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण स्वरूपशक्तिके विलास तथा भगवत्स्वरूपके साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है, परंतु भावको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत्‌से उसमें भावका अनुप्रवेश हुआ करता है।

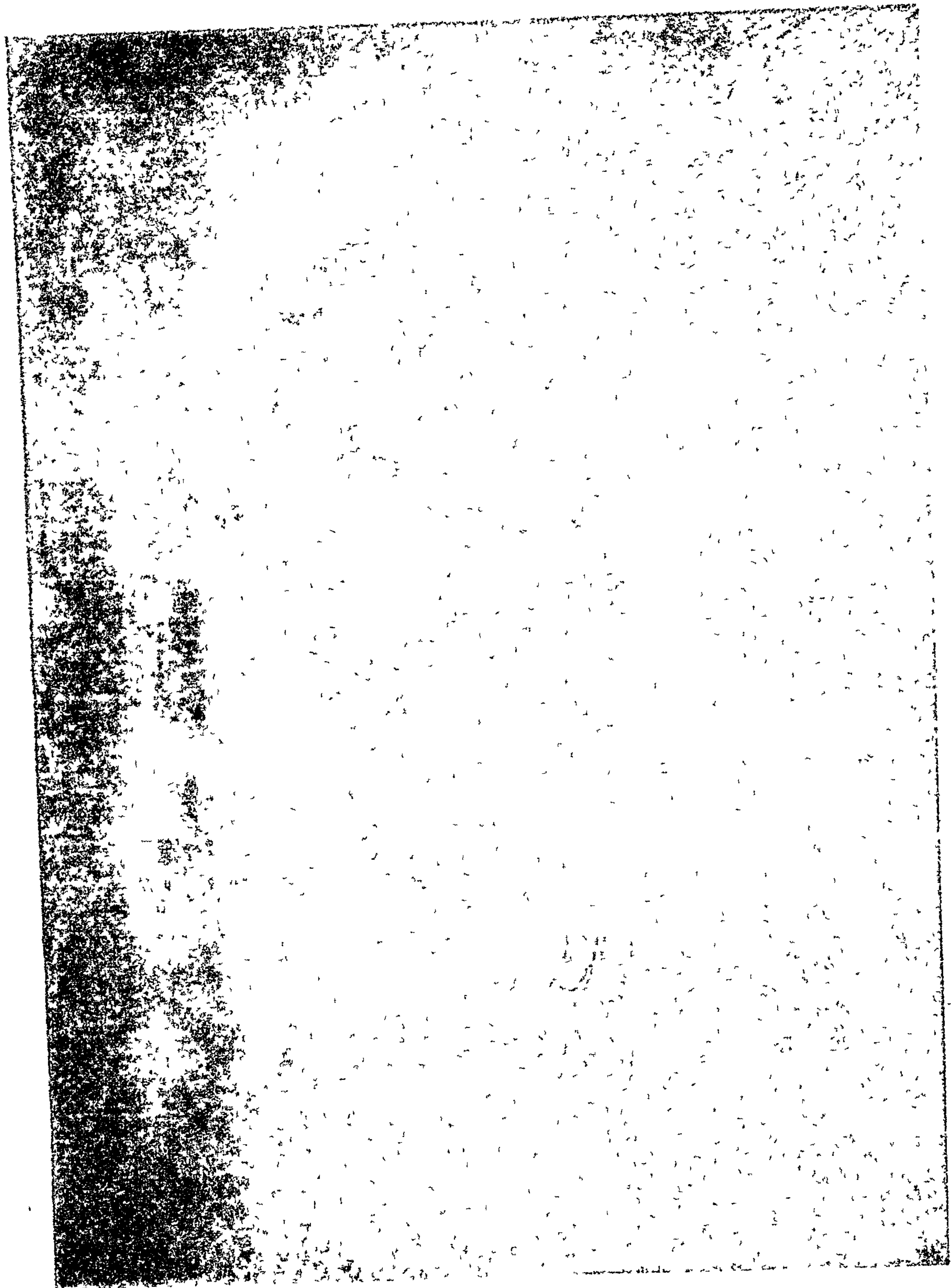
इस प्रकार भावका उदय भावजगत्‌की प्रेरणासे होता है। मायिक शरीर भावग्रहणके लिये उपयोगी नहीं होता; अतएव इस देहमें भावका आविर्भाव नहीं होता। भावका आविर्भाव होता है भाव धारण करनेयोग्य आधारमें। यह आधार शुद्ध देह या भावदेहके नामसे परिचित है। अशुद्ध देह साधनाके प्रभावसे शुद्ध होकर अन्तमें भावदेहके रूपमें प्रकट होता है। पाञ्चभौतिक प्राकृत देहका अवलम्बनकर यदि भावका विकास हो तो भावदेह मिश्ररूपमें अवस्थित हो सकता है। इस अवस्थामें वह अपने पृथक् स्वरूपमें कार्य करता रहता है। अथवा भावके विकासके साथ-साथ प्राकृत देहका त्याग होनेपर, विशुद्ध भावदेह भावजगत्‌में विराजित होता है और वहाँ कार्य करता रहता है। भावके उदयके पूर्व यदि मृत्यु हो, अर्थात् कृत्रिम साधनभक्तिके अनुशीलनके समय बीचमें ही देहत्याग हो जाय तो भाव-जगत्‌में गति प्राप्त नहीं होती। जब भावका उदय होता है, तब समझना चाहिये कि भावदेह कार्य कर रहा है। भावदेहके कार्य करते समय प्राकृत देह जडवत्, स्थिर तथा निःसार-रूपमें पडा रहता है। भावकी तीव्रतामें यह अवश्य ही समझमें आ जाता है। यदि भाव उतना तीव्र न हो तो प्राकृत देहमें उसका उतना प्रभाव देखनेमें नहीं आता। परंतु वस्तुतः वह स्वरूपमें ठीक-ठीक कार्य करता रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

भावदेह प्राकृतदेहके साथ योगयुक्त होनेपर भी प्राकृत देहके अनुरूप नहीं होता। प्राकृत देहमें जिस समय कृत्रिम

की सम्भावना होती है। सञ्चारी भाव भाव-देह प्राप्त करनेके पहले भी जीव हृदयमें कार्य करता रहता है; परंतु वह बीजशक्तिसम्पन्न नहीं होता, अतएव उससे फलोद्गमकी सम्भावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भावकी सञ्चारी अवस्थासे स्थायी अवस्थामें पहुँच सकता है। इसके लिये भक्तलोग नाम और मन्त्रसाधनाकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। स्थायी भाव वस्तुतः भावदेहका ही नामान्तर है। भावके विकासके साथ-साथ हृदयमें प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरङ्ग हृदयकमल अष्टदलोंसे विभूषित है, इसलिये स्थायी भाव भी मूल अष्टभावमें विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदलं कमलका एक-एक दल एक-एक भाव-का स्वरूप है। भावमें प्रविष्ट होकर उसे महाभावमें परिणत करना पड़ता है। यही भावसाधनाका रहस्य है। वस्तुतः महाभाव ही भावसाधनाका लक्ष्य है; परंतु महाभावमें पहुँचनेके लिये, भाव कुछ मध्यवर्ती अवस्थामें होते हुए प्रस्फुटित होता जाता है। इसकी आलोचना क्रमशः की जायगी। जिन आठ अङ्गरूपी भावोंकी बात कही गयी है, आलङ्कारिक लोग उनका अपनी-अपनी परिभाषाके अनुसार नामकरण करते हैं; परतु भावका साधक अपनी दृष्टिभूमिसे उनको प्राप्त हो सकता है, उसके लिये दूसरोंकी दृष्टिभूमिका अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। वास्तवमें तो प्रत्येक भक्तको इन आठों भावोंको एक-एक करके जगाना पड़ता है, नहीं तो जिस किसी भावको उसके चरम विकासकी अवस्थापर्यन्त अभिव्यक्त (स्फुटित) नहीं किया जा सकता। कमलके विकासके लिये जिस प्रकार एक ओर जल-पूर्ण सरोवर और उसके साथ पृथ्वीकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर ज्योतिर्युक्त तेजोमण्डल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है। नीचे रस और ऊपर रविकिरण—इन दोनोंका एक साथ संयोग होनेपर कमल स्फुटित होता है, अन्यथा स्फुटित नहीं हो सकता। भावके विकासके लिये भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाशमें स्थित सूर्यमण्डल आवश्यक होता है, और दूसरी ओर रसोद्गमका मूल कारण स्थायी भाव आवश्यक होता है; क्योंकि सञ्चारी भावका विकास नहीं होता, स्थायी भावका ही विकास होता है।

भावके विकासके पहले तदुपयोगी क्षेत्र निर्माण होता है। नाम-साधनाके बाद तथा मन्त्रसाधनाकी समाप्तिके पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होनेके समय यह लक्षित नहीं होता; परंतु पीछे दृष्टिके उन्मेषके साथ-साथ यह दिखलायी देने लगता है। तब यह समझमें आ जाता है कि कब और किस ढंगसे उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही वस्तुतः एक कुण्ड या सरोवर है, परंतु इसमें सन्देह नहीं कि यह जलहीन सरोवर है। जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तबतक खेचरीभाण्ड अथवा अमृतभाण्डसे अमृत-क्षरण नहीं होता। लक्ष्योन्मेषके साथ-साथ अमृत-क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त शुद्ध कुण्ड सलिलपूर्ण सरोवरके रूपमें शोभायमान होता है। किसी-किसी रहस्यविद् भक्तने इसको काम-सरोवरके रूपमें वर्णन किया है, 'काम' से यहाँ अभिप्राय शुद्ध प्रेमसे है। परंतु वस्तुतः वह तब भी प्रेमरूपमें परिणत नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष भी काम-सूर्यका ही उदय है। कामकला-तत्त्वके जाननेवाले इसे विशेषरूपसे जानते हैं। भाव-सरोवरमें पहले भाव कलिकाके रूपमें प्रकट होता है। पश्चात् सूर्यकी किरणें उसे प्रेमकमलके रूपमें विकसित कर देती है। जब भावका विकास होता है अर्थात् कमल प्रस्फुटित हो जाता है, तब वह सरोवरसे ऊपर उठ आता है; वह फिर सरोवरमें नहीं रहता। एक नाल अथवा मृणालके द्वारा सरोवरके साथ उसका केवल सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तभी वस्तुतः भावमें प्रवेश प्राप्त होता है। अबतक जो हुआ था, वह सब आभासमात्र था। अन्तर्जगत्‌में प्रवेशके पश्चात् आभासके

१. यह गुप्त कमल है। षट्चक्रके अन्तर्गत जो द्वादशदलरूपी हृदयकमल है, उससे यह पृथक् है; क्योंकि द्वादशदलका भेद करनेके बहुत पीछे आज्ञाचक्रका भेद करनेपर अन्तर्लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। परंतु जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, अष्टदलमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्ययुगके बहुतेरे संत अष्टदलको एक प्रकारसे सहस्रदलके साथ अभिन्न समझते थे, तथा कोई-कोई इसको सहस्रदलके अन्तर्गत मानते थे। वस्तुतः इस अष्टदलको यदि भावराज्य मान लें तो प्रचलित द्वादशदलको भावका आभास समझा जा सकता है। इससे ज्ञानके बाद भक्ति होती है या भक्तिके बाद ज्ञान होता है—इस प्रश्नका समाधान हो जायगा। द्वादशदलके बाद लक्ष्यका उन्मेष होता है, यह प्रचलित सिद्धान्त है। इस मतसे भक्तिके बाद ज्ञानका उदय होता है। परंतु वस्तुत. लक्ष्य-उन्मेषके बाद जिस भाग्यवान् भक्तको अष्टदलकी प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टिमें ज्ञानके बाद ही भक्तिका स्थान है—यह स्वीकार करना ही होगा। भक्तिके दो भेद हैं—अपरा और परा भक्ति, अथवा साधन और साध्यभक्ति। इसे समझ लेनेपर उपर्युक्त विरोधका समन्वय सहज-साध्य हो जायगा।



शक्ति-शक्तिमानका प्रेमस्वरूप



शक्ति-शक्तिमान्‌का प्रेमस्वरूप

त्यागके साथ-साथ सत्यरूपमें अष्टदलकी प्राप्ति होती है। इस अष्टदलकी रचना अति अद्भुत होती है। अष्टदलकी कर्णिकाके रूपमें जो विन्दु है, वही अष्टदलका सार है। उसीका दूसरा नाम है 'महाभाव'। वस्तुतः अष्टदल महाभावका ही अष्टधा विभक्त स्वरूपमात्र है; इसे महाभावका कायव्यूह भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि महाभाव यदि विन्दु है, तो इन आठ भावोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध होगा ?' इसका उत्तर यह है कि ये आठ भाव महाभावके स्वगत आठ अङ्गमात्र हैं। इन आठ अवयवोंकी समष्टि महाभावका स्वरूप है। प्रत्येक भाव महाभावके साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भावका जो पूर्ण विकास है, वही महाभाव है। भावसे महाभावकी ओर जानेके दो प्रधान मार्ग हैं। एक आवर्त-क्रमसे और दूसरा साक्षात् तथा सरल रूपसे। आवर्तमार्गका अवलम्बन करते समय प्रदक्षिण अथवा परिक्रमा करके भावसे भावान्तरमें चलते-चलते क्रमशः महाभावमें पहुँचा जाता है। इस मार्गसे महाभावमें उपस्थित होनेपर महाभावका पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है; परंतु आवर्तमार्गसे न जाकर सरल गुप्त मार्गसे भी महाभावमें पहुँचा जाता है। लेकिन इस मार्गसे महाभावका पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता। क्योंकि इस मार्गसे विन्दुके साथ केवल उस विशिष्ट दलका ही सम्बन्ध होता है, अन्य दलका सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाना है। माता और उसकी आठ सन्तान विद्यमान हैं। माता प्रत्येक सन्तानकी जननी है। अतएव उसका सम्बन्ध आठोंमेंसे प्रत्येकके साथ समानरूपसे है। अतः यह सत्य है कि वह एक है, तथापि उसकी आठ सन्तान हैं। इस प्रकार उसका स्नेह-प्यार आदि प्रत्येक सन्तानके लिये ही प्राप्य होनेके कारण आठ भागोंमें विभक्त हो जाता है। दूसरी ओरसे, सन्तानके लिये एक माताके सिवा दूसरा कोई नहीं है। माता जानती है कि उसकी आठ सन्तान हैं, और प्रत्येक सन्तान जानती है कि उसकी एक ही माता है। सन्तान यदि अपनेको आठ भाइयोंमेंसे एक मानकर माताको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह सम्पूर्ण माताको प्राप्त न करके उसके एकदेशको ही प्राप्त करेगा। क्योंकि सम्पूर्ण माताको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है; कारण कि वह अपनेको आठ सन्तानोंमेंसे एक समझता है। यहाँ सम्पूर्ण माताको प्राप्त करनेके लिये उसे आठमेंसे एक न बनकर आठोंके समष्टिरूपमें एक बनना होगा। यह क्रमविकासका मार्ग है, अर्थात् उसकी अगली सन्तानके भावमें तथा उसके आगे उससे अगली सन्तानके भावमें और इस प्रकार क्रमशः भावान्तरमें प्रवेश करते-करते अष्टम सन्तानके भावमें अपनेको प्रस्फुटित कर डालना होगा। तब वह आठ सन्तानोंके समष्टिभूत तथा अष्ट भावोंके प्रतिनिधिरूपमें मध्य विन्दुसे महाभावरूपिणी माताके पास पहुँचनेका अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार आधार पूर्ण होनेपर वह पूर्णरूपसे माताको प्राप्त हो सकेगा। यह हुआ एक मार्ग। दूसरी दृष्टिसे यदि सन्तान अपनेको माताकी आठ सन्तानोंमेंसे एक न समझकर केवल अपनेको ही माताकी एकमात्र सन्तान माने तो वह पूर्वोक्त आवर्तमार्गमें पूर्णता प्राप्त नहीं करेगा; उसके लिये तो सरल मार्ग है और वह गुप्त है, इसे चाहे तो योगमायाका मार्ग कह सकते हैं। अर्थात् वह साक्षात्रूपसे अपने स्थानसे ही सरल मार्गद्वारा माताको प्राप्त हो सकता है। उसे विभिन्न सन्तानोंके भावको ग्रहण करके पूर्णताकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ेगी। वह जहाँ अवस्थित है, वहींसे माताका दर्शन कर सकता है और माताको प्राप्त हो सकता है। इस मार्गमें उसको बाधा देनेवाला कोई नहीं है; कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। वह जानता है कि एकमात्र मैं ही माताकी सन्तान हूँ। और माता भी जानती है कि वही एकमात्र मेरी सन्तान है। अतएव इस क्षेत्रमें वह माताके पूर्ण स्नेह और प्यारका दावा करता है, और उसे प्राप्त भी कर लेता है। माताके इस स्नेह और प्यारमें उसकी अन्य सन्तानका भाग नहीं होता। अन्य सन्तान इस बातको नहीं जानती और जान भी नहीं सकती। योगमायाके आच्छादनमें माता और सन्तानका यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषङ्गिक लीला प्रकाशित होती है। प्रत्येक सन्तानके लिये यह व्यवस्था एक ही प्रकारकी होती है। परंतु इसका विकास होनेमें समय लगता है। यहाँ माताको पूर्णरूपसे व्यक्तिगत भावसे प्राप्त होनेपर भी उसे सर्वसन्तानकी जननीके रूपमें समष्टिभावसे पाना नहीं बनता। लीला-आस्वादनकी यह भी एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टान्तमें जो सन्तानके विषयमें उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्त-गतिके मूलमें आत्मलोप-अवस्था रहती है, अर्थात् प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्थामें जानेके साथ-साथ प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्थामें परिणत हो जाती है, यह जाननेकी बात है। इस प्रकार आवर्तन पूर्ण होनेपर आगे-आगे परिणतिको प्राप्त होते-होते प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्थामें परिणत

हो जाती है, यह जान लेना चाहिये । तब उस अष्टम अवस्थामें पूर्ण विकास प्राप्त हो जानेके पश्चात् माताको पूर्णरूपमें प्राप्त किया जाता है। परंतु इसके सिवा समष्टि-प्राप्तिकी एक और भी प्रणाली है; वह आत्मविकास है, आत्मलोप नहीं । उसके फलस्वरूप प्रथम अवस्थामें ही द्वितीय अवस्था आकर लीन हो जाती है, और उसके बाद आत्मविकासके साथ-साथ सारी अवस्थाएँ उसीमें लीन हो जाती है। इस प्रकार अष्टम सन्तानके भावके लीन हो जानेके बाद जिस अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वही इस मार्गमें समष्टि सन्तानभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है । इसके पश्चात् माताकी प्राप्ति भी तदनुरूप ही होती है । वस्तुतः समष्टि-मार्गके समन्वयके द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथकी प्राप्ति होती है ।

इसी प्रकार व्यष्टिभावकी प्राप्ति भी समझनी चाहिये; क्योंकि व्यष्टिभावमें भी स्वयं माताके आकर्षणसे आकृष्ट होकर माताके समीप जाना तथा अपने आकर्षणसे माताका आकृष्ट होकर आना और सन्तानको गोदमें लेना—ये दो विभिन्न दिशाएँ रहती हैं। व्यष्टिभावमें भी प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावोंके समन्वयके ऊपर प्रतिष्ठित है ।

इससे यह समझा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति परवर्ती सारी विकासभूमिका—चाहे वह अनुलोम-क्रमसे हो या प्रतिलोम-क्रमसे—अनुभव न करके भी अपने व्यक्तिगत स्थानसे ही महाभावके साथ युक्त हो सकता है । अथवा महाभावको अपने साथ युक्त कर सकता है । लीलाके आस्वादनकी दिशासे व्यक्तिगत दिशाका यह एक वैशिष्ट्य है, इसे मानना पड़ेगा । मूलतः व्यक्तिका व्यक्तित्व यदि स्वीकृत हो तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तिके स्थानपर अधिकार नहीं कर सकता; क्योंकि एक व्यक्तिमें जो वैशिष्ट्य होता है, वह दूसरेमें नहीं हो सकता । अतएव क्रमविकासके मार्गसे जानेपर वह व्यक्तिके व्यक्तित्वका मार्ग नहीं होगा—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं । इस स्थलमें व्यक्तित्वकी रक्षा करके ही क्रमविकास मानना होगा । अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति, अपने स्वभावमें विद्यमान रहते हुए भी, समष्टिमें आत्मप्रसार कर सकता है । इस प्रकार समष्टिके साथ अथवा उसके एक-देशके साथ उसको तादात्म्यकी प्राप्ति भी हो सकती है; परंतु फिर भी उसका व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण ही रहता है । इस प्रसंगमें यह भी याद रखना चाहिये कि विकासाभि-मुख व्यक्तित्वका विसर्जन करनेपर, यद्यपि वह विसर्जन स्थायी नहीं होता, तथापि अनिर्दिष्ट कालके लिये व्यक्तित्वका लय अनिवार्य हो जाता है । भावसे महाभाव पर्यन्त लीला-राज्यका विस्तार है । महाभावके साथ भावातीतका योग हुए बिना लीलाका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता । खण्डभावमें भावातीतमें ठीक तौरपर स्थिति प्राप्त नहीं होती । अतएव खण्डभावका महाभावके द्वारा भेद करके ही भावातीतके साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है ।

प्रचलित दृष्टान्तके द्वारा हम विषयको समझानेकी चेष्टा करते हैं । हमारे परिचित भक्तिशास्त्रोंमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—इन पाँच मुख्य भक्तिभावोंका वर्णन प्राप्त होता है । प्रत्येक भावका एक वैशिष्ट्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं । भावके वैशिष्ट्यके अनुसार एक ओर जिस प्रकार भक्तका वैशिष्ट्य निरूपित होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भावकी परिपक्व अवस्थामें आविर्भूत भगवान्‌का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है । शान्त भक्त जिस प्रकारका होता है, उसके सामने प्रकटित भगवत्स्वरूप भी तदनुरूप ही होता है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि शान्तभक्ति एक है, तथापि उसमें असंख्य प्रकार-भेद हैं—इस बातको भक्तलोग स्वीकार करते हैं । इस प्रकारके भेदोंके अन्तर्गत फिर अवान्तर प्रकार-भेद हैं । जो जितना ही विश्लेषण कर सकेगा, वह उतने ही सूक्ष्म भेद करनेमें समर्थ होगा । परंतु इन समस्त सूक्ष्म भेदोंको मान लेनेपर भी उसके द्वारा व्यक्तित्वकी समस्याका समाधान नहीं होता । क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकारके हों, सर्वत्र ही व्यक्तिगत भेदके लिये स्थान रहेगा । अतएव प्रश्न यह है कि एक दृष्टिसे जैसे शान्तभाव अन्यनिरपेक्ष और पूर्ण है, दूसरी ओर उसी प्रकार एक दृष्टिसे पूर्ण होते हुए भी दूसरी दृष्टिसे पूर्णताके लिये भावान्तरकी अपेक्षा करता है । शिशुरूपमें शिशु निरपेक्ष पूर्ण होता है; तथापि उसका एक क्रम-परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वह बालकरूपमें, किशोररूपमें और युवकरूपमें परिणत होता है । इसी प्रकार शान्तभावरूपमें शान्तभावकी एक निरपेक्ष पूर्णता है, यह सत्य है; परंतु शान्तभावकी परिणतिमें दास्यभावका विकास, दास्यभावकी परिणतिमें सख्यभावका विकास इत्यादि भावोंका क्रमविकास अस्वीकार नहीं किया जा सकता । एक-एक भावके विकासके साथ-साथ एक-एक गुणकी भी अभिव्यक्ति होती है । अतएव इस प्रणालीसे महाभावमें उपस्थित होनेपर सभी सम्भाव्य गुणोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो जाती है । एक-एक

भावके अन्तर्गत अवान्तर श्रेणी-विभागमे भी इसी प्रकार क्रमविकास निहित है। परंतु मूल प्रश्न यह है कि व्यक्तिका व्यक्तित्व इस समस्त विकासमे भी अक्षत रहता है। व्यक्तित्वकी महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादनके अन्तर्गत रसवैचित्र्यमे इसका विशिष्ट स्थान है।

शान्तभावके दृष्टान्तस्वरूपमे 'क' और 'ख'को ग्रहण कीजिये। 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' एक दूसरा व्यक्ति है। मान लीजिये कि दोनो शान्त भक्त हैं। व्यक्तिभेदके वश 'क' और 'ख'के भाव एक पर्यायके होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। यह जो पार्थक्य है, वह अक्षुण्ण रूपमे चिरकाल-तक रहता है। अर्थात् शान्तभक्तिके बाद यदि 'क' और 'ख' दोनो दास्य-भक्तिके स्तरमे पहुँचते हैं, तो वैसा होनेपर भी दोनोका यह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना ही रहेगा। इस प्रकार माधुर्यपर्यन्त क्रमोत्कर्ष प्राप्त कर लेनेपर भी 'क' 'क' ही रहेगा। वह 'ख' या कोई दूसरा नहीं बन जायगा; और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा, 'क' या कोई दूसरा नहीं बनेगा। केवल इतना ही नही, माधुर्य भावके अन्तर्गत अवान्तर विभागोका भेद करके महाभावमे प्रवेश कर लेनेपर भी यह व्यक्तिगत पार्थक्य लुप्त नहीं होगा। इस प्रकार समझना चाहिये कि वृत्तके अन्तर्गत प्रत्येक विन्दु केन्द्ररूपी मध्य-विन्दुमे प्रविष्ट होनेपर तथा उसके साथ अभिन्न होनेपर भी अपने-अपने वैशिष्ट्यकी रक्षा करता है। ऐसा न करनेपर लीलास्वादनका माधुर्य नही रहता। एक जिस प्रकार एक रूपमे सत्य है, उसी प्रकार वह अनन्त रूपमे भी सत्य है, क्योकि वहाँ भी तो वह एक ही तद्रूपमे खेल करता है। एकमे जैसे अनन्त है, वैसे ही अनन्तमे एक है—यही लीलाका रहस्य है।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्तिके वृत्ति-विशेषका नाम है; यही भक्तिका स्वरूप है। परिपक्व अवस्थामे इसीका नाम प्रेम है। यह अनन्त प्रकारका है—यह बात भी जानी गयी। परंतु इस अनन्त प्रकारके प्रत्येक प्रकारमे व्यक्तिगत अनन्तत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नही चल सकता। इस व्यक्तिमे ही स्वातन्त्र्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्तिके समान नहीं होता। कुछ स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूपसे उसमें रहता है। स्वरूप-शक्ति और तटस्थ-शक्तिके संयोगसे ऐसा घटित होता है। अर्थात् भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, इसमे सन्देह नहीं। परंतु उस भक्तिका आश्रय स्वरूपशक्तिकी वृत्ति नहीं, तटस्थ-शक्तिका कार्य है अर्थात् जीव है। अतएव रागात्मिका भक्ति जीवकी नही होती। जीवको तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। अर्थात् भाव-विशेषके जीव-विशेषमे अभिव्यक्त होनेपर उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीवमे उसी भावविशेषके अभिव्यक्त होनेपर उसे ठीक वही वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्वकी महिमा है। इसीके कारण लीला लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनयमात्र होता।

जीवरूपी अणु भावका आश्रय है; परंतु देहके सम्बन्धकालमे जीव अन्तःकरणके साथ विजडित होकर प्रकाशित होता है। चाहे जिस कारणसे हो, सांसारिक अवस्थामे जीव और अन्तःकरण तादात्म्यसूत्रमे आबद्ध हैं। अतएव भावका अवतरण जीवमे होनेपर भी वह प्रथम अवस्थामे अन्तःकरणकी वृत्तिके रूपमे प्रतिफलित होता है; परंतु वस्तुतः वह अन्तःकरणकी वृत्ति नही है, अन्तःकरणमे प्रतिफलित होकर वह समस्त देहको अनुप्राणित करता है। लौकिक भावका यही नियम है। परंतु प्रवर्तक अवस्थामे देह और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब उसके बाद स्वभावका विकास हो जाता है, तब इस प्रकार स्थूलदेहके साथ सांकर्य सम्भव नही होता; क्योकि उस समय यह भाव स्थूलदेहसे पृथक् भावदेहके रूपमे अभिव्यक्त होता है। यह भावदेह भावरूपी या शुद्ध सत्तात्मक कार्य एवं चिदणुस्वरूप जीव-रूपी प्राण—इन दोनोका सम्मिलित स्वरूप होता है।

भाव अथवा भक्तिसाधनाकी चरम परिणतिमे एक ओर रसकी अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभावका विकास होता है। रसका जो विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप है, उसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभावके विकासके बिना नहीं हो सकती। परंतु महाभावका विकास भावकी विशिष्ट अभिव्यक्तिके ऊपर निर्भर करता है। भावके नाना प्रकारके भेद हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन समस्त भेदोके अन्तर्गत एक पारस्परिक क्रमानुगत सम्बन्ध है—यह भी ठीक है और प्रत्येक भाव स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष है—यह भी सत्य है। सृष्टिकालीन जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्यके कारण इस प्रकारका भेद होता है।

भाव क्रम-विकासके फलसे हो या अक्रमविकासके फलसे—शान्तसे मधुरमे परिणाम प्राप्त हुए बिना, अथवा स्वभाव-सिद्ध मधुरभावके हुए बिना, भावसे महाभावके मार्गको प्राप्त होनेकी संभावना नही रहती। मधुरभावके प्राप्त होनेपर भी,

यदि प्रतिबन्धक दूर न किया जा सके तो भावकी गति विकासके मार्गसे महाभावतक नहीं पहुँचती; क्योंकि मधुर भावमें सामञ्जस्य और साधारणत्व प्राप्त न हो तो उसमें सामर्थ्यका उदय नहीं होता। इसका विशेष विवरण पीछे किया जायगा।

भाव-साधनाकी दो दिशाएँ हैं। एकमें गुणवृद्धिके साथ-साथ शान्तसे दास्य, दास्यसे वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदयके साथ माधुर्यका विकास होता है। ठीक इसी प्रकार माधुर्य प्राप्त करके सामञ्जस्य और साधारणत्वका परिहार करना आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसीके अनुरूप साधनक्रमका ठीक-ठीक अवलम्बन करनेपर महाभावकी ओर अग्रसर होना सम्भव होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिविशेषमें कृपादि निमित्तसे अथवा स्वभावतः उत्कर्ष विद्यमान रहनेपर उपयुक्त साधन-क्रमका गुरुत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। दूसरी दिशामें, गुण-वृद्धिकी चेष्टा न करके अपने गुणमें आबद्ध रहना तथा अपनी भूमिमें रहते हुए ही भावको प्रेममें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। शान्तभाव शान्त रहते हुए ही प्रेममें परिणत हो सकता है। इसके लिये दास्यभावमें अथवा तदनुरूप अन्य भावमें विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्थापर्यन्त भावकी परिपक्वता होनेपर भावके विषयभूत श्रीभगवान्‌के दर्शनोंकी प्राप्ति प्रत्येक भावके द्वारा ही हो सकती है। उसके लिये भावान्तरका आश्रय आवश्यक नहीं होता। परंतु यह सत्य है कि भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी तथा भविष्यमें रसकी अभिव्यक्ति और लीलामें अधिकार होनेपर भी उसे एक ही भावकी सीमामें बँधे रहना पड़ेगा।

पहले जिस अष्टदल कमलकी बात कही गयी है, वह बाह्य और आन्तर-भेदसे दो प्रकारका समझना चाहिये। आभ्यन्तरीण कमल 'बिन्दु'-स्वरूप होता है, और बाह्य कमल इस बिन्दुकी आठ दिशाओंके आठ दलोंकी समष्टि होता है। इस बाह्य कमलको भावराज्य ही समझना चाहिये, इसमें निरन्तर आठ भावोंका खेल चल रहा है। वस्तुतः ये मौलिक अष्टभाव ही अष्टकालीन लीलाके कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमोंसे इन आठ दलोंकी परिक्रमा पूर्ण कर लेनेपर मध्यबिन्दुमें प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यबिन्दु माधुर्यमय है। मध्यबिन्दुका विश्लेषण करनेपर देखा जाता है कि वह भी स्थूलतः आठ भागोंमें विभक्त है। इन आठ भागोंमेंसे प्रत्येक भाग मध्य बिन्दुका अवयव ही है, जिसे 'कला' कहा जाता है। इन आठ कलाओंका नाम है 'अष्टसखी'। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद हैं। इन अष्ट भावोंका जो निष्कर्ष या निर्यास है, वह यथार्थ महाबिन्दु अर्थात् महाभाव है। महाभावमें भी उत्कर्षगत तारतम्यके भेदसे विकासको अवसर रहता है। इस विकासकी जो चरम परिणति है, उसीको वैष्णव शास्त्रोंमें, विशेषतः अन्तरङ्ग महापुरुषोंकी अनुभूतिमें 'श्रीराधा-तत्त्व' नामसे वर्णन किया गया है। भाव-साधनाके फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलोंके प्रथम दलसे आवर्तित होते-होते क्रमशः महाभावके चरम विकासतक पहुँच सकता है। उस समय पूर्णतम रसकी उपलब्धिमें पूर्णतम मिलन और सामरस्य होता है। बाह्य अष्टदल तथा अष्टकलारूपी भीतरके अष्टदल—इन दोनोंके बीच असंख्य अवान्तर स्तर हैं। जिस रसके विषयमें कहा गया है, उसकी अभिव्यक्ति भावराज्यमें सर्वत्र ही हो सकती है; परंतु भावके अन्तर्मुखी विकासकी आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने स्वरूपमें विशुद्ध रूपसे स्थित हो तो उसके प्रेमरूपमें परिपक्व होनेपर साथ-ही-साथ, अपने स्वभावके अनुसार, भगवान्‌के दर्शन और रसकी उपलब्धिके क्रमसे, तदनुरूप लीलारसका आविर्भाव हो सकता है। परंतु इस रसका पूर्णत्व और मधुरत्व तभी सम्भव है, जब भावोंकी गुणवृद्धिसे होनेवाले एवं अन्यान्य प्रकारके विकास भी सम्पन्न होते रहें।

भारतीयोंका शील

'समस्त भारतीय—चाहे वे प्रासादोंमें रहनेवाले राजकुमार हों अथवा झोपड़ोंमें बसनेवाले प्रजाजन—संसारमें सर्वोत्तम शीलसम्पन्न लोग हैं, मानो यह उनका जातिगत धर्म हो। उचित और न्याय्य व्यवहारका प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूतिके किसी कर्मको भूलते नहीं।' —लार्ड विलिंगडन

प्राणायाम

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

यमाद्यष्टाङ्गयोगेद्धब्रह्ममात्रप्रबोधतः ।
योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे ॥

प्राणायाम अष्टाङ्गयोगका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । इस अष्टाङ्गयोगका प्रचार हिंदू-संस्कृतिके सञ्चालक महर्षियोंने युगारम्भसे ही किया है । सत्ययुगमें पारमार्थिक कल्याण चाहनेवालोंकी संख्या भारतवर्षमें अत्यधिक थी । उस समय सामान्य जनताका जीवन भी संयमशील था । मनका संयम और इन्द्रियोंका दमन करनेकी शिक्षा दी जाती थी । संयम न रखनेवाला समाजमें पतित माना जाता था । लोग व्यावहारिक छल-प्रपञ्चसे सर्वांशमें मुक्त थे । उनका जीवन सत्य-सदाचारमय था । धर्मशास्त्रकथित चार वर्ण और चार आश्रमोंका पालन आग्रहपूर्वक किया जाता था ।

सत्ययुगकी जनताके जीवनमें सत्य, सदाचार और संयम स्वाभाविक होनेसे अष्टाङ्गयोगका अभ्यास विधिवत् होता था । सद्गुरुका जीवन भी परोपकारपरायण होता था । इससे शिष्योंका अभ्यास निर्विघ्न चलता रहता था । दुष्ट प्रारब्धसे या भ्रम-प्रमादवश यदि कुछ हानि पहुँचती तो सद्गुरु अपने मानस बलसे तुरंत उसे सम्हाल लेते थे और शिष्योंका अभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें घर जानेकी अनुमति देते थे ।

सत्ययुगके पश्चात् त्रेतायुगमें जन-समाजमें सत्य, सदाचार और संयमकी मात्रा कुछ कम हुई । सत्य-सदाचारादिके पालन करनेवाले तो बहुत थे और आज कलिमें भी हैं, किंतु सत्य पालन करनेवाले संयमशील मनुष्योंकी संख्या कम हो गयी थी । त्रेतायुगकी अपेक्षा द्वापरमें सत्य-सदाचारयुक्त संयमशीलोंकी संख्या और कम हुई और कलिमें इससे भी बहुत कम हो गयी । इस समय कलियुगके लगभग ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, इतनेमें ही वर्तमानके कंट्रोल-कानूनकी कृपासे तो सत्य भारतवर्षके कोने-कोनेसे प्रायः विदा होता जा रहा है !

सत्य, सदाचार और संयमका ज्यों-ज्यों ह्रास होता गया, त्यों-ही-त्यों अभ्यास करनेवालोंकी संख्या कम होती गयी । इस समय योगाचार्योंकी शिष्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी है । योगाभ्यासकी इच्छावाले मुमुक्षु सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये चारों ओर पत्र-व्यवहार करते रहते हैं । कई मुमुक्षुजन स्वार्थी, अपूर्ण ज्ञानवाले योगाभ्यासीके कथनानुसार अभ्यास करके रोगपीड़ित हो गये हैं । उपनिषदोंमें वर्णित या भगवान् पतञ्जलिकथित समाधि-प्राप्त योगी इस युगमें भी कहीं होंगे, किंतु वे साधारण जनसमाजके परिचयमें नहीं हैं । साधारण जनताको अपूर्ण ज्ञानवालोंके आश्रयसे ही योगाभ्यास करना पड़ता है । ऐसी स्थितिमें प्राणायामका अभ्यास करनेकी इच्छा रखनेवालोंको कुछ मार्ग-निर्देश प्राप्त हो, इसके लिये अपने अनुभवके अनुसार संक्षेपमें लिखनेका प्रयास करता हूँ ।

प्राणायामसे शरीर-शुद्धिके अतिरिक्त मनोबलकी प्राप्ति होती है । इसीसे महर्षियोंने सन्ध्यावन्दनके साथ नित्य प्राणायामका विधान किया है । 'प्राणायामसे पाप जल जाते हैं । यह संसार-समुद्रको पार करनेके लिये महासेतुरूप है ।'* इस प्रकारका फल सुननेपर बहुतोंके मनमें प्राणायाम करनेकी इच्छा जाग उठती है । पर विधिवत् अभ्यास उन्हींको करना चाहिये, जो वस्तुतः अधिकारी हों; अनधिकारीको नहीं । अन्यथा उलटे इतनी हानि पहुँच सकती है कि फिर वे व्यवहार सम्हालनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं ।

प्राणायामका तात्पर्य—प्राणायामका अर्थ है—प्राणका व्यायाम । श्वसन-क्रियामें अपानवायुको जो बाहरसे आकर्षित किया जाता है और प्राणवायुको जो बाहर निकाला जाता है, इसी क्रियाको विधिवत् करनेका नाम प्राणायाम है । विधिके अनुसार आकर्षणको 'पूरक', धारणको 'कुम्भक' और त्याग—बाहर निकालनेको 'रेचक' कहते हैं; इन त्रिविध क्रियाओंका सम्मिलन ही प्राणायाम है ।

भीतर जो वायु आकर्षित की जाती है, वह स्वरयन्त्र, बृहत् श्वासनलिका और विभाजित श्वासनलिकाओंके द्वारा फुफ्फुसोंके भीतरवाले वायुको वायुकोष्ठोंके अंदर प्रवेश कराती है । इसका कुछ परिचय चित्र देखनेपर मिल

---

* प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥
(योगचूडामणि)



सकेगा। फुफ्फुसकोषोंमे वायु कुछ अंशमे सदा भरी रहती है। जीवितावस्थामे कभी भी वे बिल्कुल खाली नहीं होते। उनमे नयी वायु प्रवेश करती रहती है और पहलेकी दूषित वायु बाहर निकलती जाती है। प्राणायाम होनेपर वे शुद्ध हो जाते हैं।

विभाजित श्वासनलिकाओंमेंसे शाखा-प्रशाखा होकर अति सूक्ष्म प्रणालिकाएँ बन जाती हैं। उनके भीतरका मार्ग अति सूक्ष्म रहता है। उनका अन्तिम सिरा वायुकोष्ठोंसे सम्बन्ध रखता है। ये वायुकोष्ठ अर्धगोलाकार हैं। उनपर स्थिति-स्थापक स्नायु-सूत्र लपेटा हुआ है। इस स्नायु-सूत्रके आधारसे वे बार-बार फैलते और सिकुड़ते हैं। जिस प्रकार रबरकी थैली वायु भरनेपर फूलती है और वायु निकाल देनेपर मूल स्थितिमे आ जाती है, उसी प्रकार वायुकोष्ठ वायुका पूरक होनेपर फूलते हैं और रेचन होनेपर उनका फुलाव दूर हो जाता है। इन कोषोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति बाल्यावस्थामे अभ्यासद्वारा शनैः-शनैः बढायी जा सकती है, युवावस्थामें किसीकी शक्ति मर्यादित परिमाणमे बढ़ सकती है और प्रौढ़ावस्थाके पश्चात् नहीं बढ़ सकती। क्योंकि उस अवस्थामे स्थिति-स्थापक गुण नहीं रहता; स्थिति-स्थापक गुणके न होनेकी स्थितिमे यदि प्राणायामका अभ्यास किया जाता है, तो उससे रोगोत्पत्ति होती है। बहुतोंको वायुकोष्ठ-प्रसारण (Emphysema) हो जाता है। फिर कफ, कास, श्वासकृच्छ्रता, थोड़ेसे परिश्रमसे श्वास भर जाना, रक्तमें विष रह जानेसे शिराओंका रंग नीला हो जाना, शारीरिक कृशता, अग्निमान्द्य और हृदयमें भारीपन आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

प्राणायामके अधिकारी—'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' के अनुसार यम, नियम और आसनोंसे जिसने नाड़ियोंकी शुद्धि की हो, वे ही प्राणायामके अधिकारी माने जाते हैं।* 'हठयोगप्रदीपिका'कारने लिखा है कि जिसका आसन दृढ़ हो गया है, जिसने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है तथा जो हितकर, पथ्य भोजन परिमित मात्रामे करता है, वह प्राणायामका अधिकारी है।† जो मुमुक्षु नीरोग हो, सत्य, सदाचार और संयमका पूर्ण पालन करता हो; उसीको अधिकारी माना गया है। आहार-विहारमें स्वच्छन्दता और अनियमितता बिल्कुल नहीं होनी चाहिये। तंबाकू, भाँग, गाँजा, चाय आदिका व्यसन नहीं होना चाहिये। देहके रोग-पीड़ित होनेपर नाड़ियोकी शुद्धि नहीं रहती, ऐसी अवस्थामे भी प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। पाचन-संस्था और श्वसन-संस्थाका कोई रोग नहीं होना चाहिये।

पाचन-संस्थाके रोगोमे जीर्ण मलावरोध, अतिसार, वमनादि तथा श्वसन-संस्थाके रोग—श्वास, कास, राजयक्ष्मादि होनेपर भी प्राणायाम करनेसे वायुका प्रवेश या निर्गमन यथोचित नहीं हो सकता। यदि किसी श्वासप्रणालिका या वायुकोष्ठमे वायुका रोध होगा तो फिर उसमेंसे वह बलात्कारसे बाहर निकलेगा। अतः शरीरमे रोग हो तो पहले औषधोपचार या षट्कर्म और आसनोके द्वारा उसे दूर कर देना चाहिये। सबल नीरोगी मुमुक्षुको अभ्याससे जितना लाभ मिल सकता है, उतना निर्बल या रोगीको नही मिल सकता।

जिसे मस्तिष्कविकृति, हृदयविकृति, वातप्रकोप, रक्तदबावबृद्धि, उपदंश, सुजाक, मधुमेह अथवा जन्मजात पाण्डु या कामलारोग हो, उसे प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। जिनकी छाती जन्मसिद्ध निर्बल हो, जिनको

* यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयुतः।
नाडीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत्॥

† अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत्॥

बाल्यावस्थामें मृदस्थि (Rickets) रोग हो गया हो, आयु बड़ी हो जानेके कारण जिनकी नाड़ियों और वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति दूर हो गयी हो, उनको भी चाहिये कि वे प्राणायामका अभ्यास न करें।

अधिकारियोंमें भी आयुभेदसे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन प्रकार होते हैं। ८ से २० वर्षतककी आयुवाले उत्तम, २१ से ४० वर्षतकके मध्यम और इससे बड़ी आयुवालोंको कनिष्ठ अधिकारी समझना चाहिये। उत्तम अधिकारीके वायुकोष्ठ अधिक आघात सहन कर सकते हैं, मध्यमके उससे कम और कनिष्ठके बहुत ही कम। उत्तम अधिकारी कुम्भक अधिक परिमाणमें कर सकते हैं, मध्यम परिमित परिमाणमें तथा कनिष्ठ अधिकारी तो कुम्भक बढ़ा ही नहीं सकते। इस अधिकारको लक्ष्यमें रक्खे बिना कुम्भक बढ़ानेका प्रयत्न किया जायगा तो फुफ्फुसोंके वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति नष्ट हो जायगी, फिर दूषित वायुके शोधनका कार्य सुचारुरूपसे नहीं हो सकेगा।

अभ्यासस्थान—अभ्यास-स्थान शहरसे दूर शुद्ध वायुयुक्त और स्वच्छ होना चाहिये। वहाँ मच्छर आदिका उपद्रव नहीं होना चाहिये। एकान्त हो; बाहरसे मशीन आदिकी या मनुष्योंकी आवाज न आती हो। क्योंकि अकस्मात् आयी हुई आवाज बलपूर्वक वायु बाहर निकालकर हानि पहुँचा देती है।

वक्तव्य—अधिकारियोंको चाहिये कि निःस्वार्थी, क्रिया-परायण, सद्गुरुके आश्रममें रहकर उनके आज्ञानुसार अभ्यास करें। दूर रहकर अभ्यास करनेपर अभ्यास ठीक हो रहा है या उसमें कोई भूल हो रही है, यह विदित नहीं हो सकता। जो साधक केवल शास्त्र पढ़कर अभ्यास करने लगते हैं, वे बहुधा हानि उठाते हैं।

साधकोंको चाहिये कि अभ्यास उतना ही करें कि जिससे बलका अति क्षय न हो। प्रतिदिन प्रातःकाल उठनेके समय शरीरमें उत्साह रहना चाहिये, थकावट बिल्कुल न रहनी चाहिये। जल्दी अधिक लाभ मिल जाय, इस आशासे जो साधक अभ्यासका अतियोग करते हैं, उनके बलका क्षय होता है। फिर अकस्मात् फुफ्फुसरोग, वातविकार अथवा हृदयरोग हो जाता है, जो औषधोपचारसे भी दूर नहीं हो सकता।

प्राणायामके समय मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धर-बन्ध—इन तीन बन्धोंका आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन तीनों बन्धोंका अभ्यास पहलेसे कर लेना चाहिये। पैरके पार्ष्णिभागके गुदद्वारके पास सीवनपर लगानेसे गुदनलिका (Rectum) का आकुञ्चन होकर अपानवायुकी ऊर्ध्वगति हो जाती है। इस क्रियाको 'मूल-बन्ध' कहते हैं। नाभिके ऊपर और नीचेके उदरप्रदेशको, पीठकी ओर आकर्षित करनेसे वायुपूरित फुफ्फुसोंके नीचे आधार मिल जाता है, जिससे फुफ्फुसोंको वायुके आघातसे हानि नहीं पहुँचती और रेचन-क्रिया उचितरूपसे होती है। इस क्रियाको 'उड्डियान-बन्ध' कहते हैं। गलबिलका आकुञ्चनकर चिबुक (ठोढी) को कण्ठभागसे नीचे और हृदयप्रदेशके ऊपर स्थापित करनेसे फुफ्फुसगत वायुमें चञ्चलता आनेपर भी हानि नहीं पहुँचती तथा मस्तिष्कमें संगृहीत प्राणशक्ति (प्राणवायुमेंसे रूपान्तरित विद्युच्छक्ति) का व्यय नहीं होता। इस क्रियाको 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं।

प्राणायामके अभ्यासके पहले देहमें अति मेद, अति कफ, अति मल या आम रहा हो, अथवा मस्तिष्क, उदर, फुफ्फुसादि प्रदेशमें अधिक दोष रहा हो तो नेति, कपाल-भाति, धौति, नौलि, बस्ति और त्राटक—इन षट्क्रियाओंमेंसे आवश्यक क्रिया करके प्राणमार्गको शुद्ध और देहनाड़ियोंको प्राणधारणक्षम बना लेना चाहिये। लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे षट्कर्मोंका वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

प्राणायाम-प्रकार—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रा, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी—प्राणायामके ये नौ प्रकार हैं। इनमेंसे रोगहीन मनुष्योंको देहके स्वाभाविक मलके शोधन और धारणशक्तिकी वृद्धिके लिये अनुलोम-विलोम प्राणायाम कराया जाता है। इसकी सिद्धि होनेपर शेष आठ प्रकारोंमेंसे अनुकूल प्रकारका आश्रय लिया जाता है।

अनुलोम-विलोम प्रकारके प्राणायाममें दोनों फुफ्फुसोंको सहन हो सके उतने परिमाणमें व्यायाम होता रहता है और बीच-बीचमें क्रमशः दोनोंको विश्राम मिलता जाता है; श्वास-प्रणालिकाओंका मार्ग शुद्ध होता है और वायुकोष्ठोंकी धारण-शक्ति शनैः-शनैः बढ़ती जाती है। इस प्रकारमें हानि पहुँचनेका भय बहुत कम रहता है। इस हेतुसे प्राणायामके अभ्यासके प्रारम्भमें अनुलोम-विलोमका विधान किया गया है।

अनुलोम-विलोम-विधि—अनुलोम-विलोम प्राणायाम विशेषतः पद्मासन लगाकर किया जाता है। इतर आसनोंकी अपेक्षा प्रारम्भिक अभ्यासियोंके फुफ्फुसोंके नीचे आधाररूपसे उदर-प्रदेश आ जानेसे फुफ्फुसोंपर वायुका आघात पहुँचनेका

भय कम रहता है; किंतु जिन साधकोंका पद्मासन ठीक न होता हो, दोनों पाणिभाग नाभिके दोनों ओरके उदर-प्रदेशपर उचितरूपसे न लगते हों; उनको मूलबन्ध या स्वस्तिकासन या अन्य सुखासनसे बैठाकर अभ्यास कराया जाता है।

प्राणायाम प्रारम्भ करनेके समय गणपतिका पूजनकर, इष्टदेवताको नमस्कारकर, पूर्वदिशा या उत्तर दिशामें मुख रखकर मृदु आसनपर पहले चन्द्रनाड़ी (वाम नासापुट) से श्वास ग्रहण करना अर्थात् पूरक करना चाहिये। उसे यथाशक्ति धारण करें अर्थात् कुम्भक करें। फिर सूर्यनाड़ी (दक्षिण नासापुट) से रेचन करें अर्थात् वायुको बाहर निकाल दें। (यह एक प्राणायाम हुआ।) फिर सूर्यनाड़ीसे पूरक करके कुम्भक करें और चन्द्रनाड़ीसे रेचन करें अर्थात् जिस नासापुटसे रेचन करें, उसी नासापुटसे पूरक करें। (यह दूसरा प्राणायाम हुआ।)

इस प्राणायामके अभ्यासमें पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीनों क्रियाएँ विधिवत् होती हैं, मनगढ़ंत रीतिसे नहीं। कुम्भक उतने समयतक करना चाहिये कि रेचन-क्रिया शान्तिपूर्वक अन्तरशक्तिके बलसे हो सके। बलात्कारसे वायु बाहर न निकल जाय, इसकी सावधानी रक्खें। यदि रेचक जल्दी हो जायगा, तो वायु-प्रणालिकाओंमें आघात पहुँचनेकी सम्भावना होगी। कुम्भक यदि शक्तिसे अधिक कालतक रह जायगा, तो वायुकोष्ठोंका स्थिति-स्थापक गुण कम हो जायगा। फिर वे यथोचित सिकुड़ नहीं सकेंगे। परिणाममें रोगोत्पत्ति हो जायगी।

अनुलोम-विलोम प्राणायामके प्रारम्भकालमें बारह मात्रा (साढ़े सोलह सेकंड) का कुम्भक करनेका शास्त्रोक्त विधान है, इसे 'कनिष्ठ प्राणायाम' कहा है। मध्यम प्राणायाममें चौबीस मात्रा (सवा तैंतीस सेकंड) का और उत्तम प्राणायाममें छत्तीस मात्रा (पचास सेकंड) का कुम्भक किया जाता है। यह सामान्य नियम है। किंतु साधकको साढ़े सोलह सेकंडका कुम्भक करना ही चाहिये, ऐसा आग्रह न रक्खें। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जितनी कम होगी, उतना ही कम कुम्भक हो सकेगा। इस धारणशक्तिको शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जल्दी बढ़ानेकी आशासे अधिक कालतक कुम्भक नहीं रखना चाहिये। अन्यथा रेचन-क्रियापर अधिकार नहीं रह सकेगा।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम धारावाहिक होते हैं। अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक; फिर तुरंत पूरक, कुम्भक, रेचक—इस तरह क्रिया सतत करते रहना चाहिये। बीचमें तोड़ नहीं देना चाहिये। यदि अधिक श्रम होनेके कारण क्रिया न हो सकती हो, तो उस समय उतनेमें ही क्रिया समाप्त कर देनी चाहिये। दूसरे समयपर कुम्भक कम करें, जिससे क्रिया धारावाहिक हो सके।

प्रारम्भमें ५, ७, १०, १५, २०, २५ कुम्भक—इस तरह शनैः-शनैः बढ़ायें। शास्त्रकारोंने अस्सी प्राणायामतक बढ़ानेका और दिनमें चार बार अभ्यास करनेका विधान किया है; किंतु वर्तमान समयमें सामान्यतः पचीस प्राणायामतक बढ़ायें और प्रातः-सायं दिनमें दो ही बार अभ्यास करें। शास्त्रकारोंने तीन मासमें नाड़ीशुद्धि और उत्तम प्राणायामकी सिद्धि होनेका वर्णन किया है। उसके स्थानपर वर्तमानमें कम अभ्यास करें तो एक वर्ष लग सकता है। किंतु इस तरह शान्तिपूर्वक और शक्ति-अनुसार अभ्यास करनेमें हानि होनेका कोई भय नहीं रहता।

कनिष्ठ प्राणायामके अभ्यासकालमें स्वेद अधिक आता है। मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण उत्तम स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त होते हैं।* अर्थात् वायु जो वायुकोष्ठोंमें प्रवेश करता है, उसमेंसे प्राणवायु (Oxygen) रक्तमें आकर्षित हो जाता है, वह धमनीमार्गसे रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा मस्तिष्कमें पहुँच जाता है, उसमेंसे कुछ अंशका परिवर्तन प्राणतत्त्व (विद्युत्) रूपमें हो जाता है। यह विद्युत् धारण हो सके, उससे अधिक बढ़नेपर वस्त्रोंमें भी कुछ-कुछ आती रहती है, शीतकालमें और रेशमके वस्त्रोंमें अधिकतर प्रतीत हो जाती है। अन्धकारमें रेशमके या सूतके वस्त्रके दो पर्त अलग करनेपर चट-चट आवाज होकर नीला तेजस्वी प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

बाहरसे जो शुद्ध वायु आकर्षित की जाती है, वह रक्तमें प्रवेश करनेपर रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा तीव्र गतिसे सारे शरीरकी धमनियों (Arteries) और शिराओं (Veins) में पहुँच जाती है और वहाँके मल, विष, आम, रक्तवारि (Plasma) और अपक्षय-प्राप्त रक्ताणुओंको जला (तपा) कर स्वेदद्वारा बाहर निकाल देती है। जिस प्रकार विषमज्वरमें उष्णता बढ़नेपर कीटाणु-विष जलकर स्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, इसी प्रकार प्राणायाममें भी स्वेदमार्ग-

* कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥
(शाण्डिल्योपनिषद्)

से विकारका निवारण हो जाता है। फिर भी साधकावस्थामें ज्वर आदि रोगोंको निकालनेके लिये प्राणायामका प्रयोग नहीं होता। कारण, रोगसे उत्पन्न मल, जो स्थूल होता है, प्राणायाम करनेपर रक्त-मांसादि धातुओंमें प्रवेश करके सूक्ष्मभावको प्राप्त हो जाता है और मस्तिष्क आदि सारे शरीरमें फैल जाता है। साधकावस्थामें कुम्भक कम होता है और रक्तकी पूरी शुद्धि नहीं हो सकती। इसी हेतुसे ज्वर आदि रोगोंमें लीन होनेवाले मलका बल बढ़ जाता है। इसलिये प्राणायामका निषेध है।

जो प्राणवायु चारों ओर रक्तमें फैलता है, वह रूपान्तरित होकर प्राणशक्ति (विद्युत्)-रूप बन जाता है। फिर वह मस्तिष्कके केन्द्र और वात-नाडियोंमें फैल जाता है। रक्तमेंसे जो रक्तवारि जल जाता है, उस स्थानपर रससंस्थामेंसे नया रस आकर्षित हो जाता है तथा जीर्ण रक्ताणुओंका स्थान नूतन सबल रक्ताणु ग्रहण कर लेते हैं। फिर उसी शुद्ध और सबल रक्तमेंसे मांस, मेद, शुक्रादि धातुएँ उत्पन्न होती हैं, जिससे वे भी शुद्ध और सबल बनती हैं।

रक्तमें अशुद्धि अधिक होती है तो स्वेद अधिक आता है और अधिक दिनोंतक आता है। अशुद्धि कम होती है, तो स्वेद कम होता है और कम दिनोंतक आता है। रक्तशुद्धि होनेके साथ-साथ प्राण-वायुके धारणकी शक्ति बढ़ती जाती है। इस तरह कनिष्ठावस्थामेंसे मध्यमावस्थाकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थामें स्वेद बहुत कम हो जाता है; किंतु प्राणशक्ति अधिक उत्पन्न होती रहती है। उसका धारण वातनाडियोंसे यथोचित नहीं होता, जिससे स्थान-स्थानपर मन्द-मन्द कम्प (Spontaneous Convulsion) होता रहता है। यह कम्प भी ज्यों-ज्यों वातनाडियाँ सबल होती हैं, त्यों-ही-त्यों कम होता जाता है।

फिर उत्तमावस्था प्राप्त होनेपर शनैः-शनैः प्राणशक्ति अधिकाधिक धारण होती जाती है। मस्तिष्कमें प्राणशक्तिका अधिक संग्रह होनेपर प्रारम्भमें मस्तिष्कमें भारीपन आता है, जो एक-दो घंटेमें दूर हो जाता है। फिर मस्तिष्कस्थ प्राण-संग्रह-स्थान सबल बननेपर शनैः-शनैः भारीपनवाली अवस्था दूर हो जाती है, नादानुसन्धान होने लगता है और मानसिक संकल्पोंकी सिद्धि होने लगती है। पश्चात् अभ्यास-वृद्धि और यम-नियम आदिके पालनके अनुरूप उत्तरोत्तर लाभकी वृद्धि होती जाती है।

सूचना—(१) यह अभ्यास शुद्धवायुवाले स्थानमें होता है। किंतु वायुका वेग तेज न होना चाहिये; अन्यथा स्वेद उचित मात्रामें बाहर नहीं निकल सकेगा, फलतः शोधन-क्रिया ठीक नहीं होगी। अतः खिड़की नीची हो तो बंद रखनी चाहिये। स्वेद आये, उसे कपड़ेसे पोंछकर दूर न करे, शरीरपर मल दे। इससे देहमें लघुता आयगी, त्वचा तेजस्वी बनेगी और मांसपेशियाँ दृढ़ बनेंगी।*

(२) अभ्यास प्रारम्भ करनेपर प्रथमावस्थामें भोजनमें दूध-भात लेनेका विधान है। दूध-भातका सरलतासे पाचन हो जाता है। उसमेंसे विशेषांशका पाचन आमाशयमें ही हो जाता है। बहुत कम अंशका पाचन अन्त्रमें होता है। जिन साधकोंको आमाशय निर्बल होनेसे दूध अनुकूल न पड़ता हो, वे ताजे दहीका मट्ठा बनाकर ले सकते हैं। भात अनुकूल न हो, तो वे गेहूँका दलिया ले सकते हैं। केवल दूध या केवल मट्ठेपर रहा जाय तो विशेष उत्तम।

(३) साधकके लिये जितना दूध (गोदुग्ध) हितकारी है, उतना मट्ठा नहीं। दूधसे वात, पित्त, कफ धातुएँ आवश्यक परिमाणमें बनती हैं और सब ऋतुओंके लिये वह समान उपकारक है। मट्ठा लेनेपर उससे कफ धातुकी उत्पत्ति कुछ अधिक न हो जाय, शरदृतु या ग्रीष्मऋतुमें दही खट्टा न हो जाय, और वात या पित्तका प्रकोप न हो जाय—इस बातको सम्हालना पड़ता है। मट्ठा लेनेपर सेंधा नमक, जीरा और काली मिर्च मिलानी पड़ती है। दूध-सेवनकी अपेक्षा अभ्यासमें प्रगति भी कुछ कम होती है। फिर भी जिनको पहले संग्रहणी या पेचिश हो गयी हो, अथवा जो वंशगत अर्शके रोगी हों, उनको दूध अनुकूल न होनेपर मट्ठा देना पड़ता है।

(४) चावल कुछ साधकोंको अनुकूल नहीं पड़ते। जिसके आमाशयका पित्त तेज हो, जिसके मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल हो अथवा जिसने देशमें चावल खानेकी प्रथा न होनेसे पहलेसे गेहूँ या ज्वारका सेवन किया हो, उस साधकको गेहूँका दलिया या ज्वारकी रोटीपर रखना पड़ता है। संक्षेपमें जो शरीरको अनुकूल हो और पचनेमें भारी न हो, सरलतासे पच जाय, उसीका सेवन करना चाहिये। यह नियम उत्तम प्राणायामकी दृढ़ता होनेतक है। फिर जब कुम्भकमें अधिक प्रगति हो जाती है, तब भोजनमें अधिक आग्रह नहीं रक्खा

* जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥
(शाण्डिल्योपनिषद्)

जाता। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी भोजनकी तो प्रधानता नहीं होनी चाहिये। अपथ्य भोजन भी नहीं करना चाहिये।

(५) जिस प्रकार सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि पशु शनैः-शनैः वश होते हैं—बलात्कार करनेपर नहीं, उसी प्रकार (कुम्भक) प्राणायामका अभ्यास शनैः-शनैः युक्तिपूर्वक करनेपर वायु वशमें होता है। युक्तिका त्याग तो साधकको मार देता है अर्थात् मनगढ़ंत रीतिसे प्राणायामका अभ्यास किया जायगा तो उससे हिक्का, श्वास, कास, सिरदर्द, कर्णरोग और नेत्र विकारादि नानाविध रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी और प्राणान्त कष्ट होगा।

(६) इस प्राणायामके अभ्यासमें 'मूलबन्ध'को सतत धारण किया जाता है तथा पूरकके अन्तमें 'जालन्धरबन्ध' और कुम्भकके अन्तमें (रेचकके आरम्भमें) 'उड्डियानबन्ध' लगाया जाता है। ये बन्ध न लगाये जायँगे अथवा ये उचित-रूपसे न लगाये जायँगे, तो प्राणायामकी सम्यक् सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पूर्ण सावधानी-से, युक्त शास्त्र-विधिसे सतत अभ्यास करते रहनेपर नाड़ीशुद्धि हो जाती है अर्थात् रक्तवाहिनियोंमें प्राणवायुकी प्रधानता हो जाती है; आगन्तुक वायु, पित्त, दूषित रक्त इत्यादि अविकल नष्ट हो जाता है तथा रक्तसंचालनक्रिया सम्यक् चलती है, तब वायु न यथेष्ट धारण होता है, चित्त व्यग्र नहीं होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इस समय मेद, कफ आदि दूर होनेसे शरीर कृश प्रतीत हो जाता है, किंतु स्फूर्ति आदि कम नहीं होते।

नाड़ीशुद्धि होनेके पश्चात् कुम्भक बढ़ाने और कुण्डलिनीके प्रबोधार्थ, केवल कुम्भकके प्राप्त्यर्थ अथवा राजयोगमें प्रवेशार्थ कितने ही योगी सूर्यभेदी आदि प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राका आश्रय लेते हैं। स्थानाभावसे यहाँ उन प्राणायामोंकी विधि तथा खेचरी आदि मुद्राओंका विवेचन नहीं किया जा सका।

संस्कृति

(रचयिता—श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक')

जय हो ! जय हो !!
भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति ! तेरी सदा विजय हो।
धर्म-भाव भूतलमें छाये,
कर्म-भाव जनतामें आये,
'निष्कामी-जीवन' फल पाये,
ईश्वरमें विश्वास अटल, मन स्वस्थ, नितांत अभय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ १ ॥

'सत्य-सनातन' नित्य प्रचारें,
शुभ कृतियोंके तथ्य विचारें,
निज मानसके दोष सुधारें,
वेदोंके स्वाध्याय निरन्तर, पाप सभीके क्षय हों।
तेरी सदा विजय हो ॥ २ ॥

ऊँच-नीचके भाव बिसारें,
कलुष, कामना सकल निवारें,
समता-भाव समाज प्रसारें,
'वर्णाश्रम' हो ध्येय हमारा, आर्य-जाति जग 'नय' हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ३ ॥

'सदाचार'की शिक्षा पायें,
'उञ्छ-वृत्ति'की भिक्षा भायें,
'यज्ञ-शेष' सब मिलकर खायें,
पूर्णकाम हों, पियें सुधासम प्रतिगृह गोरस पय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ४ ॥

शम-दम-त्याग-तितीक्षा धारें,
दया-क्षमा-संयम विस्तारें,
निज सर्वस्व 'राष्ट्र'-पर वारें,
जीवन्मुक्त बनें अधिवासी, वह अध्यात्म-निलय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ५ ॥

आत्म-शक्ति विस्तार करें हम,
दीनोंका उद्धार करें हम,
शरणागतको प्यार करें हम,
इष्ट-साधना 'साधक'का नवयुग पुनरपि अभिनय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ६ ॥

भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति ! तेरी सदा विजय हो,
माता सदा विजय हो ॥

मायातत्त्व-विज्ञान

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

कल्पना, अनुमान तथा तर्क-वितर्कके द्वारा विचार-विवेचन—इन सबको हेतु बनाकर ही पाश्चात्त्य दर्शनकी व्यापार-लीला समाप्त हो जाती है। यूरोपके दार्शनिक ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-सिद्धान्त इन्हीं सबपर प्रतिष्ठित हैं। पाश्चात्त्य दर्शन विद्या-बुद्धिकी विविध विलासितामात्र है। 'फिलासफी' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यही अर्थ निकलता है। भारतीय दर्शनका लक्ष्य है 'दिव्य दृष्टिसे तत्त्वदर्शन करना', निर्भ्रान्त सत्यकी उपलब्धि करना। सहस्रों तर्क-वितर्कोंके द्वारा भी जिसका कभी खण्डन नहीं हो सकता, जिसे असत् प्रमाणित नहीं किया जा सकता—वही इन्द्रियातीत अप्राकृत और अतिमानसिक उपलब्धि है, दिव्य-दर्शन है; यह तत्त्वविज्ञान योगज समाधिके द्वारा प्राप्त होता है। शुद्ध सात्त्विक ऐकान्तिक एकाग्र बुद्धिके द्वारा इन्द्रिय और चिरचञ्चल मनोवृत्तिको वशीभूत करके अन्तःपुरमें हृत्पद्मके कोशमें जिस अपूर्व विज्ञानालोकका आविर्भाव होता है, उस सर्व रहस्योंको समुद्भासित करनेवाले आलोकमें जो सत्य-तत्त्व-रत्नावली प्रकाशित होती है, वे तत्त्व-समूह ही भारतीय दर्शन-विज्ञानके भण्डारमें प्रत्येक स्तरमें भलीभाँति सुसज्जित हैं; और जिस प्रकार मधुचक्रमें मधु सञ्चित रहता है, उसी प्रकार ये तत्त्व वेद, उपनिषद्, पुराण तथा तन्त्रादिमें सुचारुरूपसे सञ्चित हैं। ये अशेष हैं, अपार हैं।

भारतीय दर्शन-विज्ञान तथा भारतीय शास्त्रग्रन्थ—वेद-पुराणादिको जो लोग इस दृष्टिसे नहीं देखते, उनको चाहिये कि वे भारतीय दर्शनके साथ पाश्चात्त्य दर्शनकी तुलना करनेकी कभी चेष्टा ही न करें। विश्व, विश्व-विधान, विश्व-अधिपति और विश्व-जीवन—इन समस्त तत्त्वोंको भारतीय ऋषियोंने जिस गम्भीरभावसे समझा और विशदरूपसे लिपिबद्ध कर रक्खा है, वैसा संसारमें अन्यत्र कहीं किसीने नहीं किया। इस महासत्यको हृदयङ्गम किये बिना स्वाधीन भारतकी स्वातन्त्र्य-प्राप्तिकी सार्थकता सिद्ध न होगी। दास-मनोवृत्तिकी बातें हम सदा कहते हैं और सुनते हैं। यह दास-मनोवृत्ति हमारे दिन-प्रतिदिनके सामाजिक और राष्ट्रिय जीवनमें जिस प्रकार विद्यमान है, हमारे मानसिक और आध्यात्मिक जीवनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विद्यमान है। भारतकी वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐश्वर्य-सम्पदा असीम और अनन्त है, भारतकी तुलनामें इस दृष्टिसे यूरोप और अमेरिका अत्यन्त दरिद्र हैं। और यह सम्पत् मानवजीवनकी समस्त व्याधियोंकी महौषध है, अमृतत्व और चिदानन्दसुख-सामग्रीकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। इसके स्वल्पमात्र भी जीवनमें कार्यान्वित होनेपर जीवन धन्य हो जाता है।

विश्वके विज्ञान-भण्डारके लिये भारतकी असंख्य देन है। उनमें सर्वश्रेष्ठ और सर्वापेक्षा गहन-गभीर मायातत्त्व-विज्ञान है। यह महामाया परब्रह्मकी शक्ति (योगमाया) है। अनन्त शक्तिमान् ब्रह्मकी यह शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, जिसके प्रभावसे वे ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष और भगवान् हैं। यह उनकी पराशक्ति है, स्वरूपशक्ति है, अन्तरङ्गा शक्ति है। इसके बाद उनकी जीवशक्ति है, जिसके द्वारा वे अनन्तकोटि जीवोंको प्रकट करते हैं। इसी शक्तिके प्रभावसे विश्वके चर-अचर असंख्य जीव विद्यमान हैं। उनकी तीसरी शक्ति माया (जगन्माया) है। इस शक्तिके द्वारा वे विश्वका सृजन करते हैं, विश्वके जीवोंको धारण करते हैं, सृजन करते हैं, पालन करते है और संहार करते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका ।
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ॥

भगवान्‌के साथ छायाके समान रहती हुई सृष्टि, स्थिति और संहारका साधन करनेवाली एकमात्र शक्ति दुर्गा चौदहों भुवनोंका पालन करती हैं। यह अपरा शक्ति हैं। परंतु केवल अपरा ही नहीं, पराशक्ति भी हैं। क्योंकि दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।
(१ । ८२)

'पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो।' गीतामें जीव-शक्तिको भी परा शक्ति कहा गया है—

…प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां…।

भगवत्तत्त्वका निर्णय करते समय उनमें नीच-ऊँचका क्रम बतलाना सम्भव नहीं है; परंतु श्रीभगवान्‌की मायाशक्तिके विभिन्न वैभव, नाना भावों और रूपोंमें उसकी विद्यमानता और क्रियाशीलता, उन सबकी नाना मात्रा और नाना क्रमोंमें अवस्थितिकी विभिन्नता आदि विषयोंपर हम यथासम्भव विचार करेंगे।

पहले यहाँ 'शक्ति' शब्दके अर्थको समझनेकी चेष्टा करें।

शक्तिका अर्थ है सामर्थ्य, कोई कुछ करनेकी योग्यता। परंतु भगवत्-शक्ति केवल सामर्थ्यमात्र नहीं है, 'सामर्थ्यमयी व्यक्ति-सत्ता' (Person) है। भगवान्‌की सभी शक्तियाँ मूर्तिमती, प्राणमयी, ज्ञानमयी और शक्तिमयी देवियाँ हैं अथवा दिव्य पुरुष हैं। यह भारतीय दर्शनका सिद्धान्त है। न्याय, सांख्य और पातञ्जलयोग पढ़नेसे यह बात जाननेमें नहीं आती। यह वेदान्तमें प्रतिभासित और पुराणमें प्रकाशित है। भगवान् एक होकर भी बहु रूपोंमें आविर्भूत होते हैं मूर्तिमती शक्तिके प्रभावसे। शक्तिकी व्यक्तिविशिष्टताके द्वारा ही वे अनेक हैं। भगवान् एक हैं, यह कहनेसे भगवान्‌का कुछ भी प्रतिपादन नहीं होता। एक रूपमें भगवान् सत्तामात्र हैं, शक्तिशून्य हैं। अतएव भागवतमें कहा गया है—

मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥

(३।५।२४)

'उन्होंने चित्स्वरूप होकर भी अपनेको शक्तिहीन और अस्तित्वहीन समझ लिया था।' शक्तिके प्रकाशके साथ ही ब्रह्मकी बहुरूपताका प्रकाश हो गया—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह उनकी शक्ति है।

शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं और भिन्न भी हैं, यह निगूढ़ रहस्य है। भगवत्-तत्त्व-दर्शन अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत है। परंतु अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। मायाशक्ति ब्रह्मसे भिन्न है, परंतु वह निश्चय ही अभिन्न भी है; क्योंकि वह छिन्न नहीं है, खण्डित नहीं है। परब्रह्म अखण्डमण्डल हैं। अतएव भेदवादका प्रमाद खड़ा ही नहीं हो सकता। परंतु हम विश्वको तो देखते हैं और विश्वात्माको नहीं देखते। विश्व और विश्वात्मा एक हैं—यह बात समझमें नहीं आती, कहनेमें नहीं आती; परंतु भागवत उन्हें विश्व, अविश्व, विश्वद्रष्टा तथा विश्वहेतु (१०।२६।४८) बतलाती है। गीता कहती है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

'सारे प्राणी मुझमें हैं और मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ।' यही अचिन्त्य-भेदाभेद है। वे विश्वसे पृथक् नहीं हैं और विश्वके अन्तर्गत भी नहीं हैं। यही मायाका रहस्य है। जिसकी शक्ति है, उसके बिना वह शक्ति अर्थहीन है। अतएव वह अशक्ति अर्थात् असत् है। शक्तिका अन्वय होना है, व्यतिरेक नहीं होता—यह साधारण नियम है।*

परंतु मायाशक्तिमें एक व्यतिरेक व्यापार भी है। 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (श्रीमद्भा० २।९।३३)। अर्थात् माया अर्थशून्य या तत्त्वशून्य होते हुए भी प्रतीयमान होती है—जैसे सरोवरमें चन्द्र-प्रतिबिम्ब। उसमें चन्द्रकी प्रतीति हो है, परंतु चन्द्र नहीं है। माया सत्य है और मिथ्या है। अथवा सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है, 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीया' है। परंतु स्वरूपतः कार्यकारणात्मिका है, शक्तितः सदसदात्मिका है। भागवतके प्रारम्भमें ही वाक्-कौशलपूर्वक कहा गया है कि 'ब्रह्म वह वस्तु है, जिसमें मायाकी सृष्टि है, अर्थात् भूत, इन्द्रिय और देवता—यह तीन प्रकारकी सृष्टि सत्य और मिथ्या है। 'यत्र त्रिसर्गो मृषा', 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।' ब्रह्मका प्रतिभास विश्व है। विश्वोपलब्धिके साथ, उसकी भित्तिरूपमें यदि ब्रह्मोपलब्धि हो तो विश्व सत्य है और यदि विश्वकी उपलब्धि होती हो पर ब्रह्मकी नहीं होती हो—तो ऐसी अवस्थामें विश्व मिथ्या है, शून्यमय है। ब्रह्मभावनाके तिरोहित होनेपर बौद्ध राज्यमें 'शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य'—अर्थात् तत्त्व शून्य है; क्योंकि भावका नाश होता है, विनाशका वस्तुरूपसे प्रकट होना धर्म है—इस प्रकारके उत्कट दर्शनवादका प्रादुर्भाव हुआ था।

श्रुतिमें विश्वके मूलकारण ब्रह्मतत्त्वके निरूपणके प्रसङ्गमें कहा गया है—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'। लीलामय परमात्मस्वरूप ब्रह्म अपनी गुणमयी मायाके द्वारा अपनेको छिपाये रखते हैं। माया आवरण-शक्ति है। परंतु माया ब्रह्मको पूर्णरूपेण निरुद्दिष्ट नहीं कर देती—शून्यमय नहीं कर देती, बल्कि इसके बदले यत्किञ्चित् प्रकट कर देती है। जो कुछ प्रकट करती है, वही सृष्टि है। ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, वन-कानन, जीवसमूह—अनुपपन्न अनुद्दिष्ट ब्रह्मके शून्यप्राय स्थानको पूर्ण करके जो अवस्थान करते हैं, वही विश्व है। मायाकी इस विश्व-प्रकटन-शक्तिका नाम विक्षेप-शक्ति है। यह एक इन्द्रजाल फैलानेवाली शक्ति है। स्वरूपसंगोपिनी तथा नाना-विचित्र-भाव-विभाविनी—स्वरूपको छिपानेवाली और विभिन्न विचित्र भावोंको अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति है। जो सत्य है, तत्त्व है, वह इससे छिप जाता है। उस सत्यके स्थानमें असत्य अथवा अन्य कुछ सत्यका आभास

* जहाँ शक्ति है, वहाँ शक्तिमान् है—यह अन्वय कहलाता है। और जहाँ शक्ति नहीं है, वहाँ शक्तिमान् भी नहीं है—यह व्यतिरेक कहलाता है।

लेकर प्रकाशित होता है। यही मायाकी शक्ति है। माया अघटन-घटना-पटीयसी है। माया वस्तुतः मायाविनी है। नाना वर्णोंसे रञ्जित बाष्पजालमे ब्रह्मज्योतिको आच्छादितकर कोटि-कोटि प्रकारकी रूपमूर्तियाँ—देव-मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, प्रजापति, मन-प्राण, सुख-दुःख, भाव-रङ्ग-रस, अश्रु-हास्य, तरु-लता, पत्र-पुष्प, शोभा-सौरभ—विभासित हो रही है; अनन्त स्रोत प्रवाहित हैं। दिग्दिगन्त प्रकाशित हो उठे हैं, प्रस्फुटित होते हैं, और टूटते जा रहे हैं। श्रीमद्भागवतमे ब्रह्माजीने इसी व्यापारको लक्ष्यमे रखकर कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
..........................।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपियत् सदिवावभाति ॥
(१०।१४।२२)

यह जगत् अनन्त है; प्रायः स्वरूपतत्त्वसे शून्य है, पर आत्मस्वरूपके आश्रयसे शून्य नहीं है। जो आत्मा हैं, जो स्वरूपतत्त्व हैं, जो परमपुरुष हैं, वे नित्यसुखोपलब्धिमय हैं, चिदानन्दघन-शरीर हैं। यह जगत्रूपी प्रपञ्च-पहेली, यह इन्द्रजालकी मनोहारिणी छायामूर्ति उन्हींकी निर्मल ज्योति-छटासे निरन्तर माया-प्रभाववश उद्भासित हो-होकर उन्हींमे मिलती जा रही है। किसकी क्षमता है, जो इस जगत्को मिथ्या समझे। मानो नित्य-सत्य प्रकाशका प्रवाह है; वैशाखकी दोपहरीमें सुदूर दिङ्मण्डलमे प्रखर रश्मि-स्रोतका प्रवाह है; केवल मरीचिका नही है, मृगतृष्णिका है। पिपासाको संदीप्त करती है, प्रशमन नहीं करती। ब्रह्म, माया और विश्व—इन तीनोके सम्बन्धमे निगूढ़ सङ्केत इस श्लोकमे दिया गया है। यह वेदान्तका अन्तरतम सिद्धान्त है। ब्रह्माकी इस विश्व-उपलब्धि-में एक रहस्यमय द्वैतभावना है। माया और ब्रह्म—इन दोनोंका योगायोग यहाँ अनुभूत होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी उपलब्धिमे यह द्वैत नही है, अभिनव भक्तिमय द्वैताद्वैत है।

यत शुनि श्रवणे सकलि कृष्ण नाम।
सकल भुवन देखों गोविन्देर धाम ॥

यहाँ माया दूरीभूत होकर तिरोहित हो जाती है, रसब्रह्म तथा रूपब्रह्म प्रकाशित होते हैं—यहाँ तत्त्वब्रह्म अर्थहीन वस्तु है। कृष्णवर्णका एक शिशु मुरली बजा रहा है, यही ब्रह्म है। यहाँ गुणमयी माया नहीं है, मोहमयी माया है, चिन्मयी माया है, प्रेममयी माया है; इसका नाम है योगमाया।

परंतु इस विषयमे आगे विचार किया जायगा। मायाके दार्शनिक विभावके ऊपर एक बार दृष्टिपात किया गया। अब मायाके वैज्ञानिक या वास्तविक विभावके विषयमे कुछ समझनेकी चेष्टा करें। वास्तविक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवनके जितने विभाग हैं, जितने विभाव हैं—सर्वत्र माया है। सब कुछ माया है। स्थूल, सूक्ष्म, कार्य, कारण—सब कुछ माया है, सभी मायाका कार्य है। परंतु ब्रह्म भी सर्वव्यापी है, अनन्त है। अतएव वह मायाके समस्त विभावों-को व्याप्त करके विद्यमान है। ब्रह्मके भी समस्त विभावोंको व्याप्तकर द्विरूपा माया विराजमान हो रही है। 'त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्', हे माता! एक तुमसे ही यह सब कुछ परिपूरित है। यह जगत्के विषयमें कहा गया है। परंतु जगत् ब्रह्मके एकांगमे स्थित है।

दुर्भेद्य पर्वतादि सभी कुछ माया है। सुकोमल पुष्प, सुरम्य पुष्प-सौरभ माया है, चन्द्र-सूर्य माया है। इन्द्रधनुष मायाका विलास है। मेघमाला आकाशमें सर्वत्र विचरण करती हुई मायाकी ही कहानी कहती रहती है। विद्युत्की क्षणिक प्रभा भी आकाश-पटपर मायाके मनकी बात लिख देती है, परंतु हम पढ़ नहीं पाते। स्रोतस्विनी निरन्तर कलकलध्वनिसे जो गान गाती रहती है, वह मायाके ही प्राणोंकी अनुभूति है। आकाशमण्डल, वायुमण्डल—समस्त मायाके विपुल विस्तार हैं, मायाके श्वास-प्रश्वासके प्रवाह हैं। इन्द्रिय माया है, मन माया है, मायाका लीला-क्षेत्र है, बुद्धि मायाकी निरूपण-शक्ति है, अहङ्कार मायाका स्वर्णसिंहासन है, चित्त मायाका आलोकराज्य है, काम-क्रोध-लोभ-मोह मायाके किङ्कर हैं। कामना, वासना, आशा-निराशा मायाके अन्तहीन जाल हैं। क्षुधा-तृषा, सुख-दुःख, स्नेह और प्रीति-प्यार, छल-प्रवञ्चना, हास्य-रुदन—समस्त मनोवृत्तियाँ मायाके प्रभावसे उत्पन्न मायाके विलास हैं।

एक मायाके ही इतने अचिन्तनीय और अनन्त भाव-वैभव हैं। यह विपुल कार्य-कलाप, क्रीड़ा और विलास-व्यापार, यह अभावनीय प्रकाश-परम्परा कैसे सम्भव हुए हैं? माया त्रिगुणमयी है, यह त्रिगुणात्मिका शक्ति ही मायाकी अशेष सृजन-शक्ति है, अनन्त उद्दीपिनी-शक्तिका हेतु है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन शक्तियाँ हैं।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।

तीनो गुण एक दूसरेको अभिभूत करते हैं, एक दूसरेका आश्रय लेकर कार्य करते हैं, एक दूसरेका पोषण और पूर्ति करते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथा विरुद्धाचरण करके एक दूसरेको पराजित करते हैं। रजस् क्रियाशक्ति (Dynamic force) है; तमस् स्थितिशक्ति, निरोधशक्ति है; सत्त्व प्रकाश-

शक्ति है, साम्य-सुषमा-शान्तिशक्ति है। रजसे चेष्टा उत्पन्न होती है, उद्यम-उद्योग होता है, काम-क्रोधादि होते हैं। तमसे जाड्य, आलस्य, निद्रा, भूल-भ्रान्ति, मोह और सब प्रकारकी अशान्ति उत्पन्न होती है। सत्त्वसे ज्ञान-विज्ञान, विद्या, सत्य-वादिता और न्यायनिष्ठता, सारे सद्भाव—प्रेम, मैत्री, करुणा उत्पन्न होते हैं। ये तीन गुणोंकी पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। परंतु ये तीनों गुण कभी विच्छिन्न नहीं होते, नाना प्रकारसे मिल-जुलकर, और हिंसा-द्वेष, विवाद-विरोध करते हुए चलते हैं। कितने प्रकारसे, कितनी मात्रामें, कितने भावोंमें, कितने प्रकारसे गुणत्रयका योग-वियोग, विरोध-मिलन संघटित होता है—ये बातें देवबुद्धिके लिये भी अगम्य हैं। तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका संयोग-साहचर्य तथा द्वन्द्व-संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। इनके ही विपुल व्यापारोंसे विश्व-जगत्के प्रपञ्च-वैचित्र्य संसिद्ध होते हैं। जहाँ निश्चल पत्थर है, वहाँ गम्भीर तमकी प्रधानता है, सत्त्व और रजो-वृत्ति रुद्ध हैं। जहाँ उषाका आलोक प्रवाहित होता है, वहाँ रजोवृत्तिकी निर्मल क्रिया है। झञ्झावात रजोमय होता है। प्रत्येक गुणके साथ अन्य दो गुणोंका यत्किञ्चित् सम्बन्ध रहेगा ही। कवि जब काव्यरचना करता है, तब उसका चित्त सत्त्वप्रधान होता है। मानसिक क्रिया हो रही है, इसलिये यह समझना होगा कि रजोवृत्ति है। यहाँ तमोगुण प्रतिहत है। परोपकारी पुरुष जहाँ दूसरोंके हितार्थ उद्यम करते हैं, वहाँ रजस् सत्त्व-युक्त होकर वृत्तिमान् होता है। जगत्के स्वार्थ-समुत्साहमें रजोगुण और तमोगुण होते हैं, सत्त्व प्रतिहत होता है। मनुष्यके सारे भ्रम-प्रमादरूप भाव-विपर्यय तमोजन्य होते हैं। यह विविध गुणवृत्तिवैचित्र्य तथा नाना वृत्तियोंका नाना मात्राओंमें साङ्कर्य अर्थात् सम्मिश्रण जगत्-वैचित्र्यका सुगहन कारण है।

जागतिक जीवनमें जो कुछ दोषयुक्त, निन्दनीय और कुत्सित कार्य हैं, सब रजोगुण और तमोगुणके व्यापारसे उत्पन्न होते हैं। रज और तम उसी प्रकार मित्रभावापन्न हैं, जैसे लवण और जल। ये सहज ही घुल-मिलकर काम करते हैं। ये प्रायः सत्त्वके विपरीत पथपर चलते हैं। सत्त्व पराजित हो जाता है। इसी कारण संसारमें इतने पाप हैं। सब गुणोंमें शक्ति समान है—$\frac{1}{3}+\frac{1}{3}+\frac{1}{3}$। रजोगुण और तमोगुण मिलते हैं तो सत्त्वगुणसे दूने शक्तिशाली हो जाते हैं। संसारमें सद्भाव, न्याय, सत्य, पुण्यकी प्रवृत्ति लुप्त हो जा सकती है, ऐसा होना ही स्वाभाविक है। बहुधा संसार पापमें आच्छादित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो संसारमें पुण्यका स्थान ही नहीं है; परंतु ऐसी बात नहीं, ऐसा होता भी नहीं। इसका एक बहुत बड़ा कारण है। सत्त्व एक विशाल शक्तिभण्डारसे, एक महान् प्रभाव-प्रस्रवणसे शक्तिसञ्चय करता है। सत्त्व परसत्त्व-स्वरूप परमपुरुषके साथ अनायास ही योगयुक्त होकर शक्ति-सामर्थ्य संग्रह कर सकता है। रजोगुण और तमोगुणके लिये यह सम्भावना बिल्कुल नहीं है। सत्त्व जब परमेश्वरका आश्रय लेता है, तब सहस्रों रजोगुण और तमोगुणकी शक्तियाँ भी उसे चलायमान नहीं कर सकतीं। भगवान्के पादपद्म जब सत्त्वकी मङ्गलमयी भूमिमें स्थापित हो जाते हैं, तब अधर्मकृत सारे अमङ्गल, सारे अन्धकार दूर हो जाते हैं। जगत् कभी पापसे परिप्लुत होकर अन्धतमसमें विलुप्त नहीं होता। इसका कारण है भगवान्का सत्त्व-सान्निध्य, सत्त्व-संयोग। अवतार-तत्त्वका रहस्य इसीमें निहित है। दुर्गासप्तशतीके प्रथम अध्यायमें यह रहस्य विस्मयजनक रूप धारण करता है। भगवद्भावनासे हीन शुद्ध चरित्रका कोई विशेष मूल्य नहीं है, उसका कोई विश्वास नहीं है—इस आलोकमें यह नीति भी समझने योग्य है, तमोगुणको दूर करनेके मार्गमें रजोवृत्तिको सत्त्वके अधीन करनेके लिये जो प्रयास होता है, जो साधना होती है, वही नैतिक साधना या चरित्र-साधना है। यह साधना बार-बार असफल हो जाती है, यदि साधक भगवान्का आश्रय नहीं लेता, यदि साथ-ही-साथ भगवान्को आत्मसमर्पणकी साधना नहीं करता। यही मानव-चरित्र-दर्शन है, पाप-पुण्यके उत्थान-पतनका तत्त्वदर्शन है। यह त्रिगुण तत्त्वके साथ बहुत घनिष्ठरूपमें संयुक्त है। त्रिगुणमयी मायाकी वृत्ति और उसका फलाफल कुछ कहा गया। परंतु अब भी मायाके विषयमें कुछ भी समझा नहीं गया।

माया है, इसीलिये हम भगवान्का चिन्तन नहीं करते और भगवान्को नहीं जानते। यह सत्य है। परंतु यदि माया न होती तो भी हम भगवान्को नहीं जान सकते। जानने या न जाननेका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि मायाके न रहनेपर हम कोई भी नहीं होते। कुछ भी नहीं रहता। 'नान्यत् किञ्चन मिषत्'। कहीं किसीका स्फुरण नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान एक हो जाते, अर्थात् कुछ भी न होता। ब्रह्मकी मायाशक्तिका प्रयोग—प्रवृत्ति ही वह व्यापार है, जिससे एक ओर लाखों-लाखों ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, कोटि-कोटि आशा-आकाङ्क्षा, विद्या-बुद्धि, सुख-दुःख, शोक-हर्ष, विरह-मिलन, युद्ध-विग्रह, शिल्पकला और शोभा-सुषमाके साथ अनन्त वैचित्र्ययुक्त यह विस्तृत विश्व अनन्त आकाशमें प्रस्फुटित

हो उठता है, और दूसरी ओर ज्योतिराशि परब्रह्म अन्तर्हित हो जाता है—जिस ज्योतिकी तुलनामें अखिल ब्रह्माण्ड अन्धकारवत् है। भागवतकी भाषामें—

तस्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।

'गम्भीर रजनीमें कुहरेके समान और दिनके आलोकमें जुगनूके समान वह ज्योति अदृश्य हो जाती है।'

इस जगत्‌को प्रकट करनेमें कारणरूपिणी मायाका नाम प्रकृति है। यह प्रकृति जो कुछ प्रकाशित करती है अर्थात् प्रकृतिके द्वारा प्रकाशित यह विश्व-ब्रह्माण्ड न तो ब्रह्म है न सच्चिदानन्द; बल्कि नाना प्रकारसे, सरल-कुटिल नाना पथमें ब्रह्मको प्रतिभासित करनेवाला है। अर्थात् यह विश्व ब्रह्मका प्रतिभास है। ब्रह्मके बिना जगत्‌की स्थिति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी रश्मियाँ जगत्‌में ओतप्रोत हैं। परंतु वे रश्मियाँ स्वच्छ नहीं हैं, तमसाच्छन्न हैं, नाना रूपोंमें विकृत है। फिर भी वे ब्रह्मके अस्तित्वका पता बतलाती हैं। साथ ही वे ब्रह्मको छिपाये रखती हैं। जो लोग ज्योति चाहते हैं, जगत् उनके लिये ज्योतिकी रेखासे पूर्ण है और जो नहीं चाहते, वे चूहे अथवा कृमि-कीटादिके समान अन्धकारको ही प्रकाश मान लेते हैं। उनके लिये जगत् ब्रह्मके किरण-कणोंसे हीन है।

प्रकृतिके दो कार्य हैं—भोग और अपवर्ग। जीवमात्रको जगत्‌का परिचय प्रदान करना और विषय-भोगमें सहायता देना प्रकृतिका कार्य है। इस विषय-भोगके मोहसे उसे मुक्त करना, उसके वासना-बन्धनको काटना—यह भी प्रकृतिका कार्य है। परब्रह्मके अनन्त आनन्दलोकमें प्रत्येक जीव प्रवेश करे, प्रत्येक जीव मुक्त हो जाय—यह महामायाकी एकान्त इच्छा है। जो समझते हैं कि माया चिरकालतक जीवको संसारमें फँसाये रखना चाहती है, वे भ्रान्तिमें हैं; बहुतेरे विद्वान् कुसंस्कारवश ऐसा मानते हैं। जिनको मुक्तिकी कामना नहीं है, जो केवल भोग-चिन्तनमें ही जीवन-यापन करते हैं, उनको माया भटका-भटकाकर मारती है—विभ्रामयति; उनके लिये माया भ्रान्तिमयी अविद्या है। जो लोग मुक्ति या भक्तिके लिये भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, उनके लिये माया विद्यादायिनी ज्ञानदायिनी महाविद्या है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।

ब्रह्म एक और अद्वितीय हैं। वे एक ही अनेक—असंख्य होकर आदान-प्रदानका खेल, प्रेम-प्रणय और द्वन्द्व-कलहका खेल जिस शक्तिके द्वारा खेलते हैं, वह शक्ति ही माया है।

प्रकृति चेतनामयी है, यह बात सहज ही कहते नहीं बनती। प्रकृति अचेतन है, यह बात सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है। 'तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्' —सांख्यकारिकाकी यह उक्ति, तथा सांख्यसूत्रका 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' एवं पुराणोंका 'योगनिद्रातत्त्व' —इन सबको एक साथ मिलाकर देखनेपर समझमें आ जाता है कि प्रकृतिकी अचेतनता कल्पनाके द्वारा गृहीत होनेपर भी कार्यतः नहीं सिद्ध होती। क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति माया ब्रह्मसे विरहित नहीं हो सकती। अतएव वह ब्रह्ममयी है, अतएव ज्ञानमयी और चैतन्यमयी है। क्योंकि ब्रह्म चिद्वस्तु है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। माया सत्य शक्ति है, मिथ्या संघटन करती है, समानयन करती है, परंतु स्वयं मिथ्या नहीं है। वह अप्रतिहत ज्ञानसे स्फुरित होती है। अतएव ज्ञानवती है। अनन्तसे उत्पन्न होती है, अतः स्वयं अनन्त है।

पहले कहा जा चुका है कि माया शक्तिमात्र, सत्तामात्र नहीं है, व्यक्तिभूता है; वह देवी भगवती, दुर्गा और जगज्जननी है; वह प्रथम ब्रह्म-ज्योति है, ब्रह्म-तेज है, उसीसे जाग्रत् हुई है, आविर्भूत हुई है, दिव्य तेजस्विनी रमणीके रूपमें—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

ब्रह्मशक्ति जडशक्ति नहीं हो सकती, Mechanical force नहीं हो सकती। वह दिव्य ज्ञान-विज्ञानशक्ति है, सर्वार्थसाधिका शक्ति है, सर्वमङ्गलमयी शक्ति है, प्रेम-कारुण्यमयी शक्ति है, दैत्यसंहारिणी शक्ति है। आद्या शक्ति मूर्तिमती परमेश्वरी है, कोटि विद्युद्दामके समान प्रभामयी है, सिंहवाहिनी है। देवीका सिंह निखिल जडशक्तिमें मूर्तिमन्त हो रहा है।

यह रूप काल्पनिक नहीं है, ध्रुव सत्य है, प्रत्यक्ष सत्य है; जो लोग इस महा-शक्तिस्वरूपिणी देवीको कल्पना समझते हैं, वे बड़े ही भाग्यहीन हैं, ज्ञानहीन तो हैं ही। देवी अनन्तशक्तिधारिणी हैं; प्रत्येक शक्ति ही देवी, अनुचरी और किङ्करी है।

'कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम्।'
'.....अनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे।'

भगवती दुर्गा महामाया भजनीया हैं, केवल विमोहिनी माया नहीं हैं; वे ब्रह्ममयी हैं। देवीके अन्तरको पूर्ण कर

रहे हैं षडैश्वर्यशाली, अशेष रूप-रस-लावण्य-समन्वित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भगवान्। जगज्जननीने 'उनको ढक रक्खा है'—यह बात जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि 'उसने उनको विश्व-पटपर अङ्कित कर रक्खा है।' जबतक वह सन्तानको परमेश्वरके सुख-शोभा-सुधा-सौन्दर्यके सुविमल राज्यके ऐश्वर्य-माधुर्यके भोगने योग्य नहीं बना देती, तबतक उसको शान्ति नहीं। वह इसको जन्मसे मरण और मरणसे जन्मके हिंडोलेपर निरन्तर झुलाती रहेगी और सोचती रहेगी कि इसको कब मुक्त करूँगी।

हम देवीको दानवदलिनी और असुरसंहारिणीके रूपमें महायुद्धमें संलग्न देखते हैं। देवीका वह रूप जैसे बहिरङ्ग है, वैसे ही अन्तरङ्ग भी है। एक ओर देवी रणाङ्गणमें रण-रङ्गिणी रण-चञ्चला हैं, और दूसरी ओर अन्तरके अन्तर्देशमें हृत्पद्मदलमें समासीना, शान्तिमयी, दिव्यरूप-लावण्यमयी, चिन्मयी हैं, सुधासिन्धुके बीच मणिमण्डपमें रत्नवेदिकापर सिंहासनासीन हैं, पीताम्बर धारणकर कनक-भूषणमालासे सुशोभित हो रही हैं।

भगवतीकी अनन्त विस्तार करनेवाली प्रतिभाका यह एक प्रान्त है, उनका अन्य प्रान्त समस्त जागतिक तत्त्वोंका उपादान-कारणस्वरूप है। उपादान-कारणरूपमें महामायाका नाम प्रधान है, जगत्-कर्त्रीरूपमें वे प्रकृति हैं, और जगत्से व्यतिरिक्त रूपमें वे अव्यक्त हैं, त्रिगुणरूप हैं। माया त्रिगुण तत्त्व है, यह सत्य है। परंतु यह सत्यका एक क्षुद्र अंशमात्र है। क्योंकि भगवती केवल त्रिगुण मात्रात्मिका नहीं हैं; वे त्रिगुणकी अधीश्वरी हैं, वे त्रिगुणकी अधिष्ठात्री देवी हैं—

> यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु ....।
> तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वम् ....॥
>
> (दुर्गासप्तशती १। ८२-८३)

दार्शनिकोंने मायाका जो विवरण दिया है, वह शुष्क तत्त्वात्मक (abstraction) है। सचमुचकी माया, वास्तविक माया, प्राणवती-ज्ञानवती माया प्रकाशित हो रही है पुराणोंमें।

> त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
> व्यक्तं तथा प्रधानं ....॥

यह अति शुष्क वर्णन है। सत्य नहीं है, सत्याभास है। दार्शनिककी शुष्क ज्ञानदृष्टिकी अपेक्षा असुरकी द्वेषदृष्टिमें भी सत्यका अधिक प्रकाश है। महिषासुरने देवीको पहले देखा था सृष्टिके आदिमें—

> स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयीं त्विषा॥
> पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम्।
> क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिस्वनेन ताम्॥
> दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद् व्याप्य संस्थिताम्।
>
> (दुर्गासप्तशती २। ३७-३९)

यह महामायाका नित्य-सत्यरूप है, विश्वव्यापी रूप है।

> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

—इस श्रुतिके द्वारा प्रकाशित रूपके अनुरूप ही उनका स्वरूप है, एक ही विश्वतत्त्वका अन्यतर विभाव है; दृष्टिपथ विभिन्न हैं, प्रकाश विभिन्न है, दोनों ही—पुरुष और प्रकृति सत्य हैं। सप्तशतीमें पुरुष अन्तर्गत है, श्रुतिमें प्रकृति अन्तर्गत है। दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। दर्शनकी दृष्टि ज्ञानदृष्टि है। ज्ञानदृष्टिमें छायाकी छाया दीख पड़ती है। श्रुतिकी दृष्टि और पुराणकी दृष्टि भक्तिदृष्टि है। भक्तिके आलोकमें सर्वतोभावेन जीवन्त तत्त्व आविर्भूत होता है। दर्शनके द्वारा प्रतिपादित समस्त माया-तत्त्व सप्तशतीमें स्पष्टतररूपसे प्रतिभात होता है। परंतु सप्तशतीमें देवी केवल तत्त्वात्मिका नहीं हैं; वहाँ देवी लीलामयी हैं, सर्वार्थसाधिका-रूपमें प्रकट हो रही हैं; वे रूपवती हैं, गुणवती हैं, रस-रङ्गमयी हैं। वे ही सचमुचकी महामाया हैं। सांख्यमें इनकी ही काल्पनिक कङ्कालमाला दृष्टिगोचर होती है। सप्तशती भक्तिग्रन्थ है। शोणित-स्रोतके साथ-साथ रक्तवर्ण भक्तिस्रोत बह रहा है सप्तशतीकी प्रत्येक पंक्तिमें, प्रत्येक श्लोकमें।

महामायाकी दो विपरीत शक्तियाँ या वृत्तियाँ हैं—आरोहिणी और अवरोहिणी। वृक्षसे टूटे हुए शुष्क पत्ररूपमें बालुका-कणरूपमें माया अवरोहिणी होती हैं। वे दिव्य आकाशसे उतरकर आती हैं और हीनता स्वीकार करती हैं, यह बात तो कहते नहीं बनती। क्योंकि जो सर्वमयी हैं उनमें हीनता-दीनता या गुरु-गौरव आदि भेद नहीं हैं।

> सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी।
> त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः॥

आरोहण-प्रणालीमें वे इन्द्रादि देवोंकी भी आराध्या, पुण्य-ज्योतिर्मयी हैं। वे सर्वभूता और सर्ववस्तुभूता होते हुए भी सदा सर्वमुक्ता और स्वतन्त्रा हैं। ब्रह्म-विभाविनी हैं,

भगवती हैं । ब्रह्म सर्वव्यापी है, सर्वस्वरूप है, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । तब भी हमको ब्रह्मानुभव नहीं होता । ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, तरु-लता, पशु-पक्षीको हम देखते है । यह जो ब्रह्मातिरिक्त दर्शन है, यह जो ब्रह्मातिरिक्त भिन्न प्रकाश है, यह जो दीर्घकालीन भ्रान्ति है, यह जो वञ्चना है, सो मायाका प्रभाव है । परंतु ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मभावकी साधना करनेवाले ऋषियोंने सर्वत्र नव-नव-भावापन्न ब्रह्मका दर्शन किया; उनको ब्रह्मातिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर नहीं हुआ । माया उनकी ब्रह्मानुभूतिको प्रतिहत नहीं करती और न उसमे बाधा उपस्थित करती है । वह ब्रह्मको नित्य नये-नये रूपमे, रसमे, भावमे, वर्णमे अनुरञ्जित करके प्रकाशित करती है । श्रुति कहती है—

एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।

यह जो अवर्णका नाना वर्णोंमे उपस्थित होना, अरूपका अनन्त रूपोंमे वैचित्र्यके साथ प्रकट होना है—यह मायाका प्रभाव है ।

शास्त्रोंमे मायाके सम्बन्धमे नाना प्रकारकी विपरीत उक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥

तथा—

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ॥

'सुकृतिनाम्' तथा 'पापात्मनाम्' इन दो भेद-वाक्योंमे समस्त भेद—वैपरीत्य निहित है । मायाके प्रभावसे विभिन्न अन्तःकरण हैं । विभिन्न चित्तवृत्ति, मति-गति और चरित्रोंके ऊपर विभिन्न प्रकारसे मायाका प्रभाव है । वे देवी हैं, असुरी हैं; वे लक्ष्मी हैं, अलक्ष्मी हैं; वे मेधा हैं, मोह हैं; स्मृति है, विस्मृति है; ज्योति है, तम हैं; वे रक्षाकारिणी हैं, ध्वंसकारिणी है । विचित्र भाव, रूप और क्रिया ही माया-के चरित्र हैं । अनहोनीका होना, असम्भवका सम्भव होना, अचिन्तनीयका आविर्भाव मायाकी क्रियाशक्तिके अन्तर्गत हैं । मायाशक्तिहीन ब्रह्म केवल स्थावर ही नहीं, मानो अस्तित्वविहीन है । ब्रह्म है और सद्वस्तु है, इसका प्रमाण माया ही है । माया ही उसके अनन्त, अमृत, अचिन्त्य जीवनका एकमात्र आश्रय है । इसी कारण दुर्गाजी कहती है—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।

मायाविहीन होनेपर जो ब्रह्म रहता है, उसका नाम महामृत्यु है । तथापि वह 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'—आनन्दरूप अमृतके समान प्रकाशित है । मायाविरहित ब्रह्मको ही श्रुतिने 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' तथा 'अद्रेश्य-मग्राह्यमगोत्रवर्णम्' कहा है । वह एक प्रचण्ड नकार (A huge negation) है । मायायुक्त होनेपर वही मनोमय है, प्राण और शरीरका नेता है, सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वरस और सर्वगन्ध है । नीलपतङ्ग, हरित और लोहिताक्ष है, और इसी प्रकारके नये-नये रूपोंमे प्रकाशित होता रहता है ।

माया ब्रह्मकी निजी शक्ति है । उस शक्तिसे ब्रह्म-भगवान्‌को विच्युत करनेके लिये, शुद्धाद्वैत भावना उत्पन्न करनेके लिये हृदयहीन पण्डितगण घोर दुराग्रह क्यो करते है—यह परब्रह्म ही जाने । यह भी मायाका ही प्रभाव है । जीवमात्र ही ब्रह्म-रश्मि है, ब्रह्मकण है या चित्कण हैं । परंतु ये चित्कण भिन्न-विभाविनी मायाशक्ति, अथवा पृथक्-प्रकाशिनी मायाविनी प्रकृतिके किसी एक भावाशकणके द्वारा सम्पुटित (incased, ensheathed) रहते हैं । चित्कण क्षेत्रज्ञ हैं । मायाकण अथवा प्रकृतिपुट क्षेत्र है । इन दोनों (spirit and matter) के योगसूत्रसे उत्पन्न होता है प्राण और जीवन । मायाशक्ति ब्रह्म-चैतन्य (spirit) से स्फुरित होकर सूक्ष्मसे स्थूलभाव धारण करते-करते जड (matter), प्रस्तर आदिमे परिणत हो जाती है । बीचमे इन्द्रिय आदिकी सृष्टि होती है । सब कुछ मायाशक्तिका विकार है । सारे विकारोंको प्रकट करके महामाया स्वयं अविकृत रहती है जगदात्मशक्तिके रूपमे (सप्तशती ४ । ३) ।

मायाकी यह जो अन्तहीन क्रियाशीलता है, चिरचञ्चलता है—इसका गम्भीर उद्देश्य है जीवोंका आविर्भाव करना, उनका धारण, रक्षण, प्रतिपालन तथा जन्म-मृत्युके पथमे सञ्चालन करना । इसके अन्तर्गत और भी गम्भीरतर उद्देश्य है, जिसके लिये सुविस्तृत सृष्टि-प्रवाह चलता है । इस चिर परिवर्तनमय, निरन्तर परिणामशील, सुख-दुःखकी भीषण तरङ्गोंवाले भवसिन्धुके मध्य मृत्युमय जीवन-यापन कराते हुए, जीवोंको चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌के रस-सौन्दर्य-राज्यमे अनन्तकालके लिये प्रतिष्ठित कर देना ही महामायाका दूसरा उद्देश्य है । यह उद्देश्य ही जीव-जीवनका निगूढ़ रहस्य (the deepest Romance) है । महामाया नायिका हैं और महानाटककी निर्मात्री हैं । इसी कारण पर-

ब्रह्मका एक नाम है नटेन्द्र—नटवर । 'रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ।' महामायाके इस महातत्त्वदर्शनके भीतर प्रवेश किये बिना विश्व-जीवनके रहस्यका कहीं भी समाधान नहीं मिल सकेगा । सहस्रों अकल्याणसे भरे हुए जीव-जीवनकी अन्तिम परिणति, परम पर्यवसान (the final consummation), चिरकल्याणमय, चिरसुख-सौन्दर्यमय अमृत जीवनमें होता है । विश्व-प्रकृतिके अन्तरमें विद्युदक्षरों-द्वारा उस उद्देश्यका महामन्त्र अङ्कित है, इसीलिये प्रकृति उसका जप करती है। देवीकी अनन्त करुणा'चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता च दृष्टा' है, उनके चित्तमें कृपा और युद्धभूमिमें निष्ठुरता देखी जाती है । जीव दुःख पाते हैं अपने दोषोंसे । आलोकका मार्ग छोड़कर अन्धकारमें जाते हैं अहङ्कारके वश होकर, मोहके वश होकर । मायाका आलोकराज्य भी खुला हुआ है और अन्धकारका पथ भी खुला है । जीवकी जहाँ इच्छा होती है, जाता है । माया परीक्षा करती है, सत्-असत्को प्रमाणित करती है । जीवको संसारमें जो स्वाधीनता मिली है, वह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है; माया उस अधिकारका अपहरण नहीं करती । जो स्वाधीनतापूर्वक मङ्गलमार्गमें जाता है, देवी आनन्दसे उसकी सहायता करती हैं । और यदि स्वाधीनतापूर्वक अमङ्गलके मार्गमें जाता है तो वे बाधा नहीं देतीं, अमङ्गलके अन्धकारमें ही उसे जाने देती हैं । मङ्गल और अमङ्गल सब उसीके हैं । यह समझते ही अमङ्गल क्षीण होने लगता है—'क्षिणोत्यभद्रम् ।'

गीतामें भगवान्ने कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

'तरन्ति'का अर्थ 'मायाके अतीत हो जाना' नहीं है, मायाके अकल्याण-प्रभावसे मुक्त हो जाना है । इन्द्रधनुषमें वाष्पजाल जिस प्रकार रविकी किरणोंके सुरम्य वर्णोंको खोल देता है, विश्वरूपी मायादर्पण भी उसी प्रकार ब्रह्मकी अनन्त शोभा-सम्पत्को विभासित कर देता है । विश्वमायाका दर्पण पाञ्चभौतिक है । इस दर्पणमें हम जो कुछ देखते हैं, अथवा देव-ऋषि-मुनियोंने जो कुछ देखा है, वह ब्रह्मकी एकपाद-विभूति है, एकांशमात्र है, निकृष्ट अंश है, वैकारिक अंश है । निरन्तर गिरता, पड़ता, बह जाता है । फिर प्रस्फुटित होता है, फिर टूटता है और फिर विकसित होता है । जो इस विश्व दृश्यकी अधीश्वरी माया है, वह जीवमाया है, जगन्माया है । ब्रह्मकी अपरा शक्ति है, बहिरङ्गा शक्ति है । वह जिस प्रकार योगमें सहायता प्रदान करनेवाली योगिनी है, उसी प्रकार वियोग-साधन करनेवाली वियोगिनी विवादिनी भी है । प्रधानतः यह 'वियोगमाया' है ।

महामायाका एक सुदिव्य, सुनिर्मल, सर्वसुषमा-समन्वित विभाव है । उस विभावमें उनका नाम पड़ता है 'योगमाया' । वे परब्रह्मकी स्वरूपशक्ति हैं; पाञ्चभौतिक, परिणामशील मृत्यु-शासित विश्वको जो प्रकाशित करती हैं, वे जगन्माया हैं और जीवमाया हैं । परंतु जो चिन्मय, चिर-आनन्दमय, दिव्य प्रेम-सौन्दर्यमय, अमृतमय विश्वको प्रकाशित करती हैं, वे हैं 'योगमाया' । जिस प्रकार मनुष्यके जीवन-यापनका हेतु यह दृश्यमान जगत् है, उसी प्रकार श्रीभगवान्के सर्व-ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वमाधुर्यमय जीवन-यापनका हेतु भी एक अत्याश्चर्यमय, सर्वमनोरम, सर्वचित्ताकर्षक जगत् है, जो कोटि-कोटि कल्पोंमें भी विनाशको नहीं प्राप्त होता, अनन्त-कालतक तरुण, शोभनीय, सुकुमार और सुरम्यरूपमें विराजमान रहता है । श्रीमद्भागवतमें इसका कुछ आभास मिलता है—

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥

(२ । ९ । १२)

—यह भगवान्की स्वरूपैश्वर्यमय त्रिपाद्विभूति है ।

जिस प्रकार जीवकी आत्मोपलब्धि आवश्यक है, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर भी आत्मोपलब्धि (Self-Realization) की इच्छा करते हैं । आत्मोपलब्धिके लिये वे दो महाशक्तियों, दो इन्द्रजालशक्तियोंका प्रयोग करते हैं । वे 'नित्यावाप्तसमस्तकामः'—नित्य पूर्ण-काम हैं । वे अपने अनन्त कामना-भण्डारको खोल देते हैं—दो महाकाशोंके मार्गसे, दो प्रणालियोंसे । कोटि-कोटि कामनाओंकी पूर्णता-प्राप्तिसे भगवान्का अन्तर भरा रहता है । फिर वे उसी सम्पूर्ण भण्डारको अपूर्ण (खाली) करके फैला देते हैं पुनः पूर्ण करनेके लिये, पुनः प्राप्त करनेके लिये । वे नित्य पूर्ण होते हुए भी नित्य अपूर्ण हैं । सदा स्वरूपको सम्प्राप्त होकर भी स्वरूपानुसन्धानमें व्यस्त रहते हैं । इसका निगूढ़ कारण यही है कि वे प्रेमस्वरूप हैं, रसस्वरूप हैं, अखिल-रसामृतमय हैं । वे आनन्दघन हैं, केवलानुभवानन्द-स्वरूप हैं । अर्थात् वे निविड़ प्रेमानुराग-निभृतात्मतत्त्व हैं । परब्रह्मकी प्रेम-पिपासाका अन्त नहीं है । उस पिपासाकी पूर्तिके लिये ही वे शत-सहस्र चतुर्दश-भुवनात्मक ब्रह्माण्डकी

रचना करते हैं। इस व्यापारमें उनकी सहायता करनेवाली 'सर्वार्थसाधिका'—उनके सर्व अर्थोंको साधन करनेवाली, उनके लीला-नाटककी सूत्रधरी महामाया, दुर्गा भगवती हैं।

इस विश्वलीलासे उनके हृदयकी आशा पूरी नहीं होती। उन्होंने इस विश्वराज्यके परे एक अनन्त, असीम, चिन्मय, नित्य ज्योतिर्मय अपूर्व राज्य प्रकाशित कर रक्खा है। उसी राज्यमें उनकी परमतम आत्मोपलब्धि होती है। उसी राज्यमें लीला-पुरुषोत्तमका अमृत-मधुर प्रणय-लीला-प्रवाह अनन्त-कालतक चलता रहता है। उसी राज्यमें सर्वार्थसंसाधिनी, सर्वैश्वर्यसम्पादनकारिणी महाशक्ति योगमाया विराजित हैं; वे निरन्तर क्रियाशीला, क्रीडामयी हैं; चिन्मयी वहाँकी भूमि है। गिरि-नदी, वन-कानन, पशु-पक्षी प्रभृतिसे पूर्ण उस पृष्ठभूमिपर स्वरूप-राज्य अनन्त विस्तृत है। जो कुछ है, सब प्राकृतिक-गुणातीत चिन्मय है। पिता-माता, आत्मीय-स्वजन, सखा-सुहृन्मित्र हैं, लाखों-लाखों भावमयी और रस-रङ्गमयी सखी, सहचरी, प्राणप्रिया हैं। परम पुरुषकी स्वरूपाशक्तिरूपा योगमाया भगवती निखिल रस-सम्बन्धका विधान करती हैं। 'रसो वै सः।' अर्थात् वे केवल आनन्द हैं, केवल प्रेम हैं, केवल सौन्दर्य हैं, निरन्तर लीला-विलास-परायण हैं; वे अद्वितीय—एक हैं, परंतु दुरन्त रसकी प्रेरणासे अनन्त रूप, अनन्त भावमूर्ति, अनन्त सम्बन्धोंको धारण किये हुए हैं। उनकी अद्वैत, ब्रह्मभावमात्रकी उपलब्धि प्रबल प्रणय-वेगसे गलकर तरल तरङ्गोंमें सञ्चारित हो जाती है; प्रत्येक तरङ्ग मूर्तिमान् होती है, लीलामृत-स्रोतस्विनी दिग्दिगन्तमें प्रवाहित होती है, परब्रह्मकी आत्मोपलब्धि हो जाती है, आत्मविस्मृतिके मार्गमें आत्मोपलब्धि होती है।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।
.........................योगेश्वरेश्वरः—

तथा—
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥
अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २२। ९-१०)

महायोगेश्वर आत्माराम, स्वराज्यलक्ष्मीके द्वारा आप्तसमस्तकाम श्रीभगवान्की आत्मोपलब्धि अथवा चिदानन्द-लीलारस-पानका यह एक मनोहर चित्र है। जिस महाशक्तिके प्रयोगसे यह निगूढ़ चिदानन्द-समारोह सम्भव होता है, उस शक्तिका ही नाम योगमाया है। और इस परमानन्द-समारोहमय राज्यका नाम गोलोक अर्थात् ज्योतिर्लोक है। इस विश्वके समान उस राज्यमें भी सब कुछ है; परंतु सब कुछ चिज्ज्योतिर्मय है, अमृतानन्दमय है, सुन्दर, सुरभि और सुरम्य है। यह विश्व उसी राज्यका विकृत, विभ्रष्ट छाया-प्रतिभास है। यह विश्व विश्वके जीवोंकी शिक्षा और साधनाका क्षेत्र है, शत-सहस्र परीक्षाओंका क्षेत्र है। महामाया शिक्षयित्री हैं, परीक्षाविधायिनी हैं, उद्धारकारिणी हैं; साथ ही असद्‌बुद्धि अभक्त असुरगणके लिये भीषण दण्डदायिनी हैं, ध्वंसकारिणी हैं। योगमाया चिदानन्दके आस्वादनका विधान करनेवाली हैं। माया महारहस्यमयी हैं, अनन्त इन्द्र-जाल-विद्याकी विदुषी हैं। उसी इन्द्रजालके द्वारा सत्यका प्रकाश होता है। मायासे भिन्न ब्रह्म शून्यमय है, असत्यवत् है—'असद्वा इदमग्र आसीत्।' मायाके प्रभावसे ब्रह्म सत्य होता है। ब्रह्म-विस्मरणका हेतु है माया-मोह। माया करुणामयी कल्याणमयी जननी है, इस बातको भूलनेपर ही माया-मोहके वशीभूत होना पड़ता है। विद्या तथा दिव्य अवबोध भी माया ही है, अविद्या तथा अज्ञान और मोह भी माया ही है। जो जिसको चाहता है, उसीको पाता है।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

संसारमें यदि केवल ज्योति होती तो उस ज्योतिको कोई प्राप्त नहीं करता; वह न रहनेके समान ही होती। ज्योतिकी प्रतिष्ठाके लिये तमस्‌की आवश्यकता है। अस्तित्वकी प्रतिष्ठाके रूपमें जो द्वैत है, माया उसका विधान करती है विश्वमें त्रिगुणात्मक जडके द्वारा—और गोलोकमें रसवैचित्र्य-प्रणाली-के द्वारा, चित्सामग्रीसमूहके द्वारा।

मायाको समझे बिना जगत्‌का तत्त्व समझमें नहीं आ सकता। संसार एक अत्यन्त सुदुर्गम समस्या (Sphinx's Riddle) है; मायाके विज्ञानालोकमें विश्व-जगत् यत्किञ्चित् बोधगम्य होता है। माया-तत्त्वके साथ जन्मान्तर-तत्त्व, कर्म-तत्त्व अथवा अदृष्ट-तत्त्वका अनुशीलन करना आवश्यक है। इन दोनों तत्त्वोंको पृथ्वीपर केवल भारतवर्षमें तत्त्वज्ञोंने जाना है; और किसी दूसरी जातिको इनका पता नहीं। पृथ्वीकी विभिन्न मानव-जातिके लिये भारतकी यह महान् देन है। ये दोनों तत्त्व महाशिक्षाकी प्रणाली हैं; ये दो अमूल्य ज्ञान-विज्ञान-रत्न-प्रदीप हैं। इन रत्नोंका अनादर करनेसे संसारके सारे ज्ञान व्यर्थ हो जाते हैं। स्पाइनोजा, लिब्निज, कान्ट और हेगेलका क्या मूल्य है? वे तो मूलसे ही भूलपर चलते हैं। हमें इस भूलके स्रोतमें नहीं बह जाना चाहिये। हमें महामायाकी आराधना करके परब्रह्मकी प्रीति प्राप्त करनी चाहिये, अमृत लाभकर कृतार्थ होना चाहिये।

संस्कृतिका प्रतीक मानव

'अच्छा, तुम आ गईं, लेकर निज परिवार !'
मानवका जलद-गम्भीर स्वर गूँज गया,
वीणा-विनिन्दक स्वर दूसरा साथ ही—
'आर्यपुत्र उत्थित हुए—धन्यभाग !
प्रणत है सेविका—
चाहते आशीर्वाद—
सारे शिशु वनके ये !'
मानवी सुकुमार—चल स्वर्ण-लतिका—
वल्कल-कंचुकी, भूर्जपत्र-अधोवस्त्र
धारण किये,
सुमन-गुच्छ-गुम्फित अलकजाल,
पुष्पांजलि चरणोंपर सादर समर्पितकर
नेत्रोंमें मन्द हास्य,
ग्रीवा नत करके
खड़ी थी समीप ही—मंजुल सलज्ज भाव ।
वंक दृष्टि एक बार देखा निज परिवार—
आये थे मयूर संग थन गन नाचते,
आये थे शुक-पिक कूजते,
गूँजते अलि-वृन्द आये थे,
आये थे कृष्ण सर्प फणा फैलाये मत्त,
झूमते-झूमते मत्त गज आये थे ।
आये थे मूषक-शशक कूदते-फुदकते—
पक्षी चहकते हुए साथ-साथ आये थे ।
आया था केहरी संगिनी साथ लिये—
जृम्भणसे लाल जिह्वा लप-लप करता ।
व्याघ्र युग आये थे चड़मड़ करते—
कूदते चकित-से आये मृग-शावक भी ।
आये थे चपल कपि, रोमश ऋक्ष-दल भी,
आया हिमधवल वृषभ,
आई सुरभियाँ—
कूदते चपल वत्स संग-संग आये सब ।
वनके समस्त क्षुद्र-महत् पशु-पक्षीवृन्द—
आज जैसे कोई महोत्सव या मेला हो,
साथ घिर आये थे मानवीके संग-संग ।
मानवी—दयामयी जगन्माता मानवी,
उत्थित हुए हैं आज आराध्य उसके
सारा शिशुवृन्द तब समुत्सुक न आये क्यों?

त्याग रोष-द्वेष, कलुष, जाति शत्रु साथ-साथ
आये थे भूलकर—त्याग सब वैरभाव;
मानवका वात्सल्य—
सत्वका समृद्ध भाव—
डूब गया उसमें रजस्-तमस् कहाँ कबका।
मानव उठा—मत्त गजराज ज्यों चलना,
दीर्घ बाहु, विशद भाल,
विशद वक्ष दीर्घकाय,
क्षीण कटि,
अलक जाल—स्निग्ध मृदु मेचक मंजु;
अनावरित स्वर्णगौर,
हृष्ट-पुष्ट, सुगठित
अरुण कर चरण अधर
पद्मदल-विशाद नयन ।
सादर प्रणति मिली वृषभ-सुरभियोंको,
वत्सोंको पुचकार—
केसरीको थपकी;
किसीपर दृष्टिपात, किसीको मुस्कान—
देता स्नेह-दान जैसे पिता निज पुत्रोंको—
स्रष्टाकी कृतिका सर्वश्रेष्ठ निर्माण—
मानव, निमज्जित हुआ निर्झर-नीरमें,
आया—ज्यों अन्तरका स्नेह हुआ बाह्य स्नात ।
झूमी लतिकाएँ;
पुष्प-राग हुआ भूपित वह,
करती प्रतीक्षा थी मानवी गृहिणी,
स्वागत-संभार लिये ।
किसलय-डालियाँ लाये गजराज थे,
आसन बनानेको ।
नारिकेल-पात्रमें रीछोंका उपहार—
पद्म-मधु, मधुर सुगन्धित मृदुल कंद,
कपियोंने हरित नारिकेल दिये जलको,
चू पड़े पक्कफल पाणिपद्म देखके—
तरुओंने भाग्य माना इस आतिथ्यमें ।
भाग मिला सुरभीको,
वत्सोंको, वृषभको,
पक्षियोंको, पशुओंको, नन्ही पिपीलिकाको ।

गुठलियाँ चबा लीं व्याघ्र केहरीने कड़-कड़,
रीछ और कपियोंने छिलके उठा लिये;
मानवने सबको भाग देकर आहार किया,
धोया कर निर्झरमें—
मत्स्योंका अन्तिम भाग।
नगर नहीं, ग्राम नहीं,
रोध ठाम-ठाम नहीं;
धरा नहीं मल-कलुष,
धूम्र-कलुष वायु नहीं;
मंजु हरित कानन ही धरणीपर चारों ओर।
पुष्पित वल्लरियाँ, झुके फल-भार विटपी,
पवन मन्द-मन्द शान्त।
मानवकी दृष्टि गयी—
अरुण मृदुल किसलय-पूरित अश्वत्थमूल—
उज्ज्वल, सुचिक्कन विशाल शिला-तलपर।
रजसका मन्द क्षोभ लुप्त-लुप्त हो चला—
बैठ गया सुस्थिर-सुबद्ध पद्म-आसनसे,
क्रोड़ीमें करतल-द्वय विकसित पद्म ज्यों,
विधिके करोंकी पूर्णतम कलाकृति—
साँचेमें ढली-सी मूर्ति,
स्थिर स्वर्ण-प्रतिमा।
पद्मदृग पलकोंमें अर्ध-मुकुलित-से,
दण्ड-सा देह सौम्य,
कम्बुकण्ठ भवका,
वैखरी कृतार्थ हुई शुद्ध परा वाणीसे,
नाभिसे प्रणवनाद गूँजा शंख-ध्वनि-सा,
भ्रूमध्य भासित हुआ कोटि-कोटि मार्तण्ड,
मानवके दीर्घपलक स्थिर-निद्र हो गये।
मानवीने शुभ्र पुष्प-अंजलि दी चरणोंपर—
एक निःश्वास—देखा अपने आराध्यको,
वन-पशु-पक्षी शान्त, मन्द वायु मन्दतर,
शान्ति—शान्ति—स्निग्ध शान्ति मानवके मन-सी।
कौन कह सकता है—
दिन-सप्ताह-मास-ऋतु या वर्ष-युग
स्थिर-सत्व मानव उठेगा किस कालमें।

ग्रीष्म-शीत-पावस, हिम-झंझा-लू-उपलवृष्टि
व्यर्थ—वह सुदृढ़मूर्ति अविकृत सर्वथा,
अन्तरमें मधुरिम कोमलतर प्रतिमा—
बाह्य हिमवान-सी दुर्गम अस्पृश्य अचल,
ऋषि नहिं, मुनि नहीं, त्यागी-तपस्वी नहीं—
आदियुग मानव-गृही,
भारतका जन-जन।
आज भी संस्कृति 'वह' पावन प्रतीक लिये,
उच्च किये मस्तक है ज्योतिर्मय सर्वथा,
भारतके अन्तरमें अब भी प्रतिष्ठित है—
भव्य मूर्ति वही आदर्श आदिमानवकी।
आजका मानव
यह विडम्बना—विकासकी।
शीत एवं ऊष्मासे ठिठुरता-पिघलता,
क्षुद्रतम कीटाणु रुग्ण जिसे करते—
शंकित, भीत, बंदी कीट
निज भवन-कन्दरामें,
भीति-आशंका लिये जीवनमें पद-पद,
क्षीणकाय, क्षीण-सत्व,
दिन-दिन क्षीणतर—
तन-मन-स्वास्थ्य जहाँ,
दुबल, वर्बर, क्रूर,
भीरु, रक्तपायी छल-छद्मरत,
मृत्यु-दूत
पैशाचिक संघर्ष, पाशविक आचार,
शृंग-पुच्छ-हीन—
यह आजका द्विपद पशु।
समझे-न-समझे
वह भारतीय संस्कृतिका पावन प्रतीक शुभ्र,
किंतु—
वह आप ही पूर्णतम सर्वथा
अन्तर एवं बाह्यसे—
भारतका अरण्यानी-
मानव—
महनीय-वन्द्य!

—'सुदर्शन'

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र

दैवी राज्यसे सम्बन्धयुक्त शब्दको 'मन्त्र' कहते हैं। दैवी राज्यसे युक्त शुभाशुभ-फलप्रद पदार्थविशेषको 'यन्त्र' कहते हैं। 'तन्त्र' शब्दका अर्थ यों तो बहुत विस्तृत है; क्योंकि वेद, स्मृति, पुराणोंकी तरह तन्त्रशास्त्र भी बड़ा विषय है—श्रीजगदम्बासे सदाशिवने कहा है—'सप्त सप्त सहस्राणि तन्त्राण्याहुर्वरानने।' परंतु तन्त्रशास्त्रका रूढ़ार्थ टोटका भी है, जिसके अद्भुत कार्य देखनेमें आते हैं।

मन्त्रोंमें भगवन्नामवाचक मन्त्र सर्वश्रेष्ठ होते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्का सबसे बड़ा नाम आदि-वाचक प्रणव है। प्रणव त्रिगुणात्मक है। उसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु और संहारकर्ता तथा मुक्तिदाता शिव विद्यमान हैं। इस कारण प्रणवका जप करनेसे और उसके अर्थकी भावना करनेसे साधक भगवान्के चरणकमलोंतक पहुँच जाता है। मन्त्र-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि प्रणव सेतु—पुल है; जैसे रास्तेको सरल करनेके लिये नदी-नालोंपर सेतु बनाये जाते हैं, वैसे ही प्रणवसे युक्त मन्त्र दैवी जगत्में पहुँचानेके लिये सब बाधाओंसे मुक्त हो जाते हैं, पूर्ण शक्ति प्राप्त करते हैं। प्रणव आदिमन्त्र होनेसे इसके स्वरूपको समझनेकी विशेष आवश्यकता है। मन्त्रतत्त्वज्ञ योगीजन प्रणवके दो स्वरूप बताते हैं—एक वर्णात्मक, दूसरा ध्वन्यात्मक। 'अ', 'उ' और 'म' के संयोगसे ओंकारका जो स्वरूप अक्षरात्मक बनाया जाता है और जिसका उच्चारण हर एक मनुष्य कर सकता है, वह शब्दात्मक है। ध्वन्यात्मक प्रणवके विषयमें मन्त्रशास्त्र कहता है कि वह तैलधाराके समान अविच्छिन्न और बड़े घंटेके नादकी तरह है और उसका कोई अङ्ग मुखके द्वारा उच्चारित नहीं हो सकता। केवल योगयुक्त अन्तःकरण अपने चित्ताकाशमें उसको सुन सकता है। प्रणवकी असाधारण महिमा वेदों, उपनिषदों, पुराणों और तन्त्रग्रन्थोंमें बहुत कुछ पायी जाती है। वैदिक दर्शनशास्त्र यह सिद्ध करते हैं कि जहाँ कुछ कार्य है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार साम्यावस्था प्रकृति, जो परम पुरुषके साथ एकरस रहती है, जब विषमावस्थामें परिणत होती है, तब जगत्का सृष्टि-स्थिति-लयकार्य हुआ करता है। जिस समय एकरस रहनेवाली साम्यावस्था प्रकृति वैषम्यावस्थामें परिणत होने लगती है, उस समय प्रकृतिमें जो कम्पन होता है, उस कम्पनकी प्रथम ध्वनिको प्रणव कहते हैं। अतः योगिराजका अन्तःकरण जब इस प्रकृतिकी वैषम्यावस्था-प्राप्तिके मूलस्थानमें पहुँचता है, तब प्रणव सुनायी देता है। इस परमात्मस्वरूप प्रणवके बाहरकी ओर शब्दरूपात्मक जगत् है और दूसरी ओर परम विष्णुपद है। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' आदि मन्त्रप्रणवकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी थोड़ी है।

जैसे प्रणव परमात्माका वाचक होनेके कारण भगवान्के चरणकमलोंमें पहुँचा देता है, वैसे ही मन्त्रशास्त्रोक्त नाना बीजमन्त्र भी दृश्य और अदृश्यरूप दोनोंसे सम्बन्ध कराके तत्तद् बीजसे सम्बन्धयुक्त देव-देवियोंके निकट साधकको पहुँचा देते हैं। दर्शनशास्त्रने सिद्ध कर दिया है कि अन्तःकरण विश्वका माध्यम है और वह योगयुक्त तथा समाहित होनेसे विश्व-ब्रह्माण्डके कोने-कोनेमें पहुँच सकता है। मन्त्र बीजसे युक्त, शाखा-पल्लवसे युक्त—कई तरहके होते हैं। पुनः, मन्त्र वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। बीज-शाखा-पल्लवसे युक्त वेद-पुराण और तन्त्रादिमें पाये जानेवाले मन्त्र वैदिक मन्त्र कहाते हैं और लोगोंमें प्रसिद्ध शावरमन्त्र आदि लौकिक हैं। शावरमन्त्र नाना प्रकारके होते हैं—यहाँतक कि वे मारण-वशीकरणादि कर्मोंमें भी काम आते हैं। वे अर्थशून्य, विभक्तिशून्य होते हैं। ऐसा होनेपर भी उनको सिद्ध करनेकी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनके बिना वे काम नहीं दे सकते। आजकल वैदिक या लौकिक किसी मन्त्रका प्रभाव नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि उसके साधक परिश्रमसे जी चुराते हैं। वैदिक मन्त्रोंकी अनेक प्रकारकी साधनविधि पायी जाती है। इसी तरह लौकिक मन्त्रोंकी सिद्धि करनेमें भी कई प्रकारके साधन और तपकी आवश्यकता होती है। इन सब मन्त्रोंकी साधनावस्थामें ही साधक विश्वास और दृढ़ श्रद्धाके साथ जब प्रयत्न करता है; तभी सफलताकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें यदि कमी रह जाय तो सफलता नहीं होती। अतः वर्तमान समयकी विफलता देखकर मन्त्रोंमें लोग सन्देह करते हैं; परंतु ऐसे सन्देहके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। साधकोंकी साधनामें कमी रह जानेसे ही विफलता दीख पड़ती है। तन्त्रशास्त्रमें यह भी रूपान्तरसे कहा है कि अपवित्र अन्न एवं कुदानग्रहणसे दूषित और आचाररहित शरीर दग्धके सदृश हो जाता है। मन परद्रव्यमें लोभयुक्त और परस्त्री आदिमें आसक्त हो

तो दग्धके सदृश हो जाता है और अन्तःकरण सदा विषयासक्त होनेसे समाहित नहीं हो सकता। इसी कारण कलियुगमे मन्त्रोंकी सिद्धि दुर्लभ हो गयी है।

ऐसे गहन विषयोंको समझनेके लिये अन्तःकरणके स्वरूपकी शक्ति और व्यापकतापर कुछ प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है। अन्तःकरणके चार भेद हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। चारों मिलकर अन्तःकरण-चतुष्टय कहाते हैं। भगवान् ब्रह्मा अन्तःकरणके प्रधान अधिदैव हैं। अन्तः करणके चार विभागोंमें बुद्धि और मन मुख्य हैं। और चित्त तथा अहंकार गौण हैं। इन्द्रियोंको जो चलाता है, वह इन्द्रियराज मन है। और सदसद्विचारके अनुसार जो मनको समाहित करती है, वह मनका गुरु बुद्धि है। नाना वृत्तियोंद्वारा जो मनको नचाता है, वह चित्त कहाता है और प्रत्येक जीवपिण्डमे स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापन करके सर्वव्यापक आत्मतत्त्वको जो आवृत करता है, उसको अहंकार कहते हैं। अहंकार बुद्धिका अन्तर्विभाग है। क्योंकि अहंकारके विना बुद्धि कार्य नहीं कर सकती। शुद्ध अहंकार आत्मतत्त्वतक पहुँचा देता है और अशुद्ध अहंकार तथा अशुद्ध बुद्धिके द्वारा जीव जगत्के सब कार्य किया करता है। इसलिये अहंकार गौण है और बुद्धि मुख्य है। चित्त एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें स्मृति भी रहती है। वह चित्त पूर्वस्मृतिके अनुसार नाना विषयोंको लेकर मनको नचाया करता है। इससे मन एक क्षण भी निश्चल नहीं रहता, चञ्चल बना रहता है।

मन्त्रशास्त्रके साथ अन्तःकरणका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण तन्त्रशास्त्रमें कहा है कि जो मनका त्राण करे, वही मन्त्र है। मन्त्रमे जो शक्ति निहित रहती है, वह शक्ति मन्त्रके आश्रयसे अन्तःकरणमें प्रकट हो जाती है। लकड़ीमें अग्नि रहती है; परंतु वह अरणीके द्वारा मथी जानेपर ही प्रकट होती है। इसी तरह योगयुक्त अन्तःकरणमें व्यवस्थित रूपसे मन्त्रका कार्य होते रहनेसे वह शक्ति प्रकट होकर कार्य करने लगती है। निर्गुण प्रणव-मन्त्र हो अथवा सगुण शक्ति-बीज, माया-बीज आदि हो अथवा शाखा-पल्लवसे युक्त मन्त्र हो, सभीमें तत्तन्मन्त्रसम्बन्धी सारी शक्ति विद्यमान रहती है—जैसे पञ्चाक्षरी, द्वादशाक्षरी आदि वैदिक मन्त्र और लौकिक मन्त्र दोनोके विनियोगमे शक्तिके विकासका तारतम्य रहता है। वेदोक्त और तन्त्रोक्त जो अलौकिक मन्त्र हैं, उनके सिद्ध करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वे स्वतः सिद्ध अनादि मन्त्र हैं। निष्काम साधकको इन मन्त्रोंसे लाभ उठानेके लिये विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, परंतु सकाम रूपसे उनके उपयोगकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता होती है। जो मिश्र मन्त्र होते हैं, जिनमें वैदिकत्व और लौकिकत्व दोनो मिले हुए है, ऐसे मन्त्रोंकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है, केवल मन्त्रसे कार्य-सिद्धि नहीं होती।

अन्तःकरण सर्वव्यापक है और योगयुक्त होनेसे सब जगह काम कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि पिण्ड तीन प्रकारके होते हैं—१. उद्भिज्जादि सहज पिण्ड, २. नाना अधिकारोंके पूर्णावयव जीवरूपी मानवपिण्ड, और ३. नाना श्रेणीके देवताओंके देवपिण्ड। देवपिण्डोंमे भूत-प्रेतादि और दानव-असुरादि पिण्ड भी आ जाते हैं। अन्तःकरण सर्वव्यापक होनेसे वह इन सब पिण्डोंमें विद्यमान है। इस कारण साधक यदि शक्तिशाली हो और उसका अन्तःकरण योगयुक्त हो तो वह चतुर्दश भुवनोंके सब स्थानों और पिण्डोंमें मन्त्रबलसे बलवान् होकर कार्य कर सकता है। यही मन्त्रशक्ति शास्त्रका तात्पर्य है और वह अधिदेववत् अष्टाङ्गयोग-सिद्धिके द्वारा, विधिपूर्वक जपयज्ञद्वारा, अन्यान्य प्रकारके शास्त्रीय अनुष्ठानोंद्वारा प्राप्त हो सकती है। तन्त्रशास्त्रोंमें इसकी अनेक प्रकारकी विधियाँ पायी जाती है, जो विश्वास, श्रद्धा, गुरुसेवा और अन्तःशुद्धि तथा बहिःशुद्धिके सम्पादनसे एवं अन्तःकरण-विज्ञानपर सदा स्थिर दृष्टि रखनेसे और दैवी जगत्पर पूर्ण निर्भर रहनेसे सफल होती हैं।

यन्त्र और तन्त्रके सम्बन्धमें भी कुछ समझने योग्य है। यन्त्र दो प्रकारके होते हैं—नित्ययन्त्र और भावयन्त्र। नित्ययन्त्र उसको कहते हैं, जिसमें दैवीशक्ति स्वाभाविक रूपसे निहित रहतीहै—जैसे शालग्रामशिला, नर्मदेश्वरशिला तथा अपराजिता, कमल आदि पाँच यन्त्रपुष्प। इनमे देवताके आवाहन, विसर्जनकी आवश्यकता नहीं। इनमें हर एक देवताकी पूजा हो सकती है। इन नित्ययन्त्रोंमे दैवी शक्ति कैसे निहित रहती है, यह केवल योगीजन ही अनुभव कर सकते हैं। दूसरे प्रकारके यन्त्र भावयन्त्र कहाते हैं। भावयन्त्रको समझनेके लिये भाव क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। योगशास्त्रमे लिखा है कि मन और चित्तके संयोगसे आसक्ति उत्पन्न होती है और अहंकार तथा बुद्धिके संयोगसे भावतत्त्वका उदय होता है। शुद्ध और अशुद्ध रूपसे भाव दो प्रकारके होते हैं। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयाकार कर देता है और शुद्धभाव अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्म-

पदमें पहुँचाकर शान्ति प्रदान करता है। भावयन्त्रमें शुद्ध-भावकी ही प्रधानता रहती है। श्रीयन्त्र, आद्यायन्त्र, नृसिंहयन्त्र आदि वैदिक यन्त्र अथवा अन्य प्रकारके तान्त्रिक यन्त्र बनाते समय सिद्धिप्राप्त महापुरुष तत्तदनुयायी शुद्धभावके अवलम्बन-से रेखा-मन्त्रादिका यन्त्रमें प्रयोग करते हैं और अन्तःकरण-की शक्ति व्यापक होनेसे तत्तद्भावोंमें प्रयुक्त होकर तत्तदुपयोगी शक्तियाँ उन यन्त्रोंमें उदित होती हैं। इसका कारण चाहे नित्ययन्त्र हो, चाहे भावयन्त्र—समाहित अन्तःकरणकी सहायता-से और उन यन्त्रोंकी शक्तिके सहयोगसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिये यन्त्र तत्तद्देवतारूपी माने जाते हैं। और इनसे लौकिक और अलौकिक स्तरोंमें सब तरहकी सफलता प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार जैसे यन्त्रोंमें दैवी सहायता मिलती है, वैसे ही टोटका आदि तन्त्रोंमें भी समाहित अन्तःकरणकी सहायतासे यथायोग्य सफलता मिलती है। सूर्योदय

हिंदू-संस्कृति और यज्ञानुष्ठान

हिंदू-संस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज हमें अपनी संस्कृतिके विषयमें जो प्राचीनतम वस्तु प्राप्त होती है, वह है वेद-संहिता। वेद-संहिताओंमें सर्वप्रथम ऋग्वेदका नाम लिया जाता है, और इसे संसारके सबसे प्राचीनतम ग्रन्थके रूपमें स्वीकार करनेमें किसीको भी विवाद नहीं। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।

इसमें अग्निदेवकी स्तुति की गयी है, आठ-आठ अक्षरोंके तीन पाद अर्थात् चौबीस अक्षरोंके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमें मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञके देवता, देवताओंके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नोंकी खान हैं; वे हमें श्रेष्ठतम रत्नोंको प्रदान करें।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

वस्तुतः विचार करनेपर यह पहला मन्त्र ही हमारी संस्कृतिका प्रतीक जान पड़ता है। देव और यज्ञका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। देव नहीं तो यज्ञ नहीं, और यज्ञ नहीं तो देवाराधना नहीं; यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही है देवाराधना। हिंदू-जीवनमें जो आदर्श संस्कार हैं, वे देव और देवाराधनासे ही निर्मित हैं। ऋषियोंने हिंदू-जीवनमें यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र पथमें सृष्टिके आदिकालसे आजतक बहती जा रही है और उसमें अवगाहनकर इस देशके तथा विदेशोंके असंख्यों पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होते रहेंगे। ऋग्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें यज्ञका उल्लेख इस बातका द्योतक है कि इस ऋचाकी रचनाके पहले यज्ञका प्रचार आर्य-जीवनमें था और अग्निदेव यज्ञके देव थे, यज्ञमें ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। अतएव यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेदका यज्ञ-विधान इस ऋचाकी रचनाके पहले था, अथवा यज्ञानुष्ठानमें ऋक् और यजुःका युगपत् प्रयोग होता था। अर्वाचीन तथाकथित पुरातत्त्वके अन्वेषकों-का यह कहना कि ऋग्वेद पहलेकी रचना है और यजुर्वेद पश्चात् रचा गया है, केवल मनगढ़न्त और कोरी कल्पना-मात्र है। यज्ञानुष्ठानमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—वेद-त्रयीका युगपत् प्रयोग होता है। अतएव यज्ञके साथ वेदोंका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

और वेदोंकी अलग-अलग संहिताएँ करनेसे उनको एक दूसरेसे पूर्णतः भिन्न भी नहीं समझा जा सकता। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यज्ञका तथा यज्ञाङ्गोंका वर्णन होने तथा सामके उद्गीथ-गान आदिका उल्लेख होनेके कारण यजुः और सामको उत्तरकालीन मानना असंगत है। यजुः और साममें ऋग्वेदके मन्त्रोंकी प्रचुरता देखकर ही आधुनिक बुद्धिवादियोंको भ्रम हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत॥ (ऋ० सं० १। ७। १)

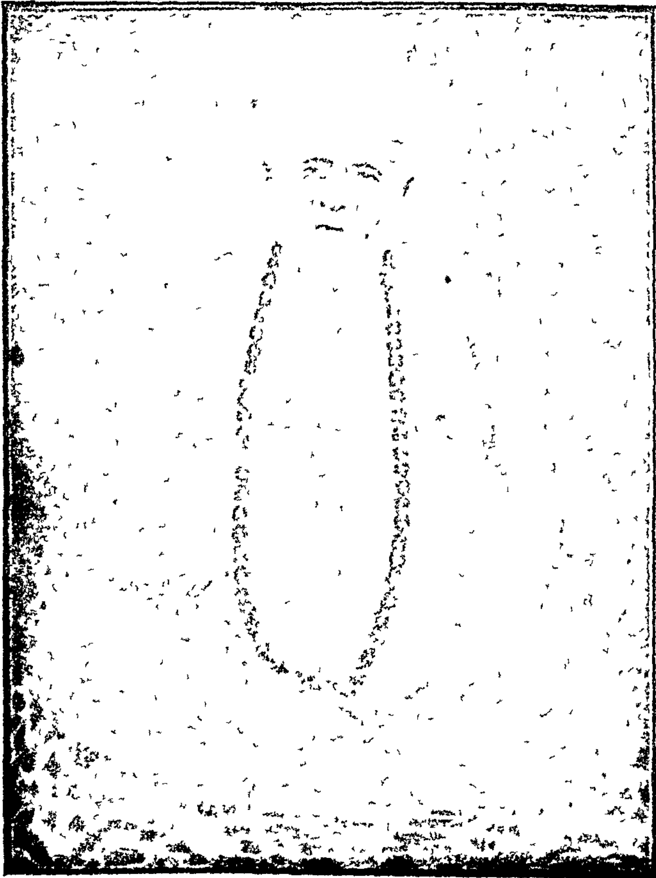
'हे गाथिनः! सामगान करनेवालो, तुम इन्द्रकी ही बृहत्-सामके द्वारा स्तुति करो। तुमलोग भी, हे होतागण! ऋचाओंके द्वारा इन्द्रकी ही स्तुति करो; और हे अध्वर्युगण! तुमलोग भी यजुर्मयी वाणीके द्वारा इन्द्रकी ही स्तुति करो।' दैवतकाण्डके उपोद्घातमें यास्कने उपर्युक्त ऋचाकी इस प्रकार व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यजुः और सामका उल्लेख स्थान-स्थानपर प्रचुरतासे प्राप्त होता है। परंतु इससे इस ऋचाको यजुः और सामवेदसे उत्तरकालकी



स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी



स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंस

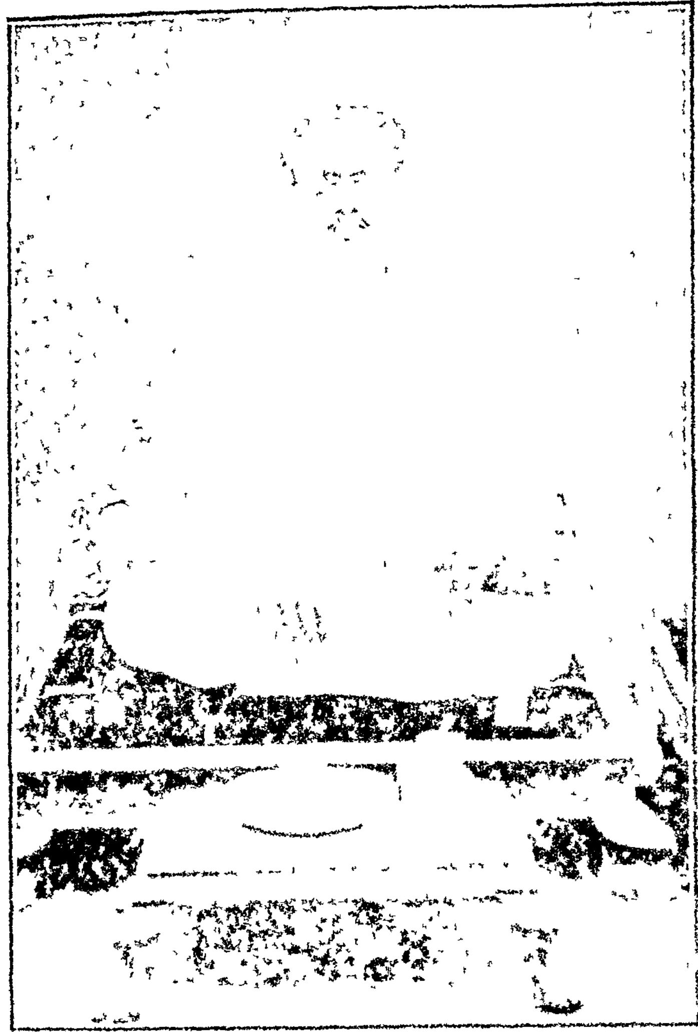


श्रीतैलङ्ग स्वामी

स्वामी श्रीभास्करानन्दजी सरस्वती



२८ श्रीमज्जगद्गुरु श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज



श्रीमद् आचार्यवर श्रीगोकुलनाथजी महाराज

रचना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। आधुनिक ग्रन्थोंके समान संहिताओंको पृथक् ग्रन्थ मानकर वैज्ञानिक अन्वेषणके अन्धकारमें अनेकों पौरस्त्य और पाश्चात्त्य तथाकथित विद्वान् वेदोंकी रचनाका कालनिर्णय करके अपने अविवेकका ही परिचय दे गये हैं!

ऋचाकी रचनासे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी कालविशेषमें आधुनिक काव्यके समान मन्त्रोंकी रचना हुई। यह तो वेदोंका काल-निर्णय करनेवाली आधुनिक बुद्धिका खोखलापन दिखलानेके लिये एक छोटी-सी युक्ति दी गयी है। तत्त्वतः हिंदू-संस्कृतिमें देवता मन्त्रस्वरूप माना जाता है। इस प्रथम ऋक्के देवता हैं अग्निदेव। अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्निकी रचना कौन करेगा? अग्निका आदि नहीं, अन्त नहीं। अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं।* इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं, और इसे नित्य और सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। हिंदू-संस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है। इसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता। यज्ञ ही धर्म है, और धर्मसे ही प्रजाका धारण हो रहा है। अतएव सांस्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि है, और इसके विषयमें कुछ भी आलोचना करना सुसङ्गत ही है। धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान और निःश्रेयसका हेतु है ज्ञान-साधना; अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनमें धर्मका स्वरूप है। जो लोग कर्मकी उपेक्षा करके केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनेको श्रुतिमार्गावलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणाके लिये ही मानो महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादकी अवतारणा करते हुए कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

(जै० सू० १।२।१)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हैं; अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं।' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—इस सूत्रके द्वारा धर्मकी वैदिक विधि-निषेध-मूलक परिभाषा देकर महर्षि जैमिनिजीने यज्ञानुष्ठानमें उपकारक होनेके कारण ही सदाचारको धर्मस्वरूप माना है। अतएव यज्ञविहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं है; वह अधर्म ही है, जो धर्मके कञ्चुकमें छिपा हुआ भूल-भुलैयामें फँसानेके लिये मायाजाल बिछाये हुए है।

जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभङ्गुर मानव-जीवनकी सफलताके लिये। भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयमें चेतावनी दी थी कि 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः,' उसकी सत्यताको गत सहस्रों वर्षोंकी हमारी पराधीनता, दुःख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डंकेकी चोट सिद्ध कर रहे हैं। धर्मकी उपेक्षा करके ही वस्तुतः हम मारे गये, अत्यन्त अधःपतनको प्राप्त हो गये। दुर्दशाकी भी सीमा हो गयी, आज आर्य-सन्तान यज्ञका नाम-तक नहीं जानती। यज्ञीय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग है। यज्ञीय जीवनको छोड़कर हमने अपने आदर्शको छोड़ दिया, आर्य-सन्तानने देवत्वसे वञ्चित होकर आसुरी भावनाओंकी दासता स्वीकार कर ली। आज यज्ञानुष्ठानके विषयमें—इस दुर्ज्ञेय और दुरूह विषयकी कुछ चर्चा चलानेकी जो मैं धृष्टता कर रहा हूँ, इसके लिये विद्वान् लोग क्षमा करेंगे। साधारण पाठकोंको यज्ञ-विषयमें थोड़ा-सा सांकेतिक ज्ञान हो सकेगा, इसी आशासे यह अनधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है।

सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि यज्ञ किसे कहते हैं। महर्षि कात्यायन अपने सूत्रोंमें 'अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते हैं—

---

* यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रोंको कार्यरूपमें देखकर 'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'—इस न्यायके अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर यह है कि 'मन्त्र' कार्य नहीं हैं, वे नित्य हैं और वाणीके रूपमें उनकी अभिव्यक्ति होती है ऋषियोंके अन्तःकरणमें। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र-रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

(ऋ० सं० १०।७१।३)

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपको प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

यज्ञोंमें तत्तत् वस्तुको अभिप्रेत करके ऋषियोंको मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है, अर्थात् ऋषियोंके पुनीत अन्तःकरणमें देवस्वरूप मन्त्रोंका दर्शन होता है।

द्रव्यदेवतात्यागः ।

'द्रव्य, देवता और त्याग—ये तीन यज्ञके लक्षण हैं।' सार्तोल्लास नामक ग्रन्थमें द्रव्य कौनसे पदार्थ हैं, इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तैलं दधि पयः सोमो यवागूरोदनं घृतम् ।
तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः ॥

सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू (चावल या जौकी लपसी), भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञोंमें देवताओंके प्रीत्यर्थ त्यागनेमें आते हैं। देवता आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें अभिव्यक्त होती हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपने प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है।'

इस प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोंके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रोंमें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है, वे सब पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतएव आपाततः पदार्थान्तरको देखकर मन्त्रोंके विषयमें अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।

देवताके स्वरूपके विषयमें शङ्काएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार, जड है या चेतन। परंतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक लोककी विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता यह सब कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं' से परे कुछ और हैं। जो हो, उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्तकर यजमान अपने अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है। स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग है क्या?

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

'जिसमें दुःखका सम्पर्क नहीं, उपभोगके पश्चात् जो दुःखग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे विना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

स्वर्गोंके उच्चावच अनेक भेद हैं। वेदोंमें असंख्य प्रकारके यज्ञोंका विधान है। परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इनके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं—जैसे सोमयागके भेदोंमें अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। दो दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीनयाग होते हैं, और त्रयोदश रात्रियोंसे लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ।

(गौ० ध० ८-१८)

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागोंका उल्लेख किया है। वस्तुतः यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग लाखों-लाखों वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असंख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमें मुख्यतः वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन विधिमें होता है, और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं; अतएव यहाँ इसी यज्ञकी विधिके ऊपर एक संक्षिप्त दृष्टि दी जाती है। प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम दर्शपौर्णमास यज्ञ पड़ा। प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती, और अन्य याग दर्श-

पौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं; अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

इस यागमें पहले व्रतोपायनविधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है; शतपथ ब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायनविधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावास्याके दिन अग्निदेवताके लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा इन्द्रदेवताके लिये पयोद्रव्यके त्याग-रूपमें तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवतासम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमें कुल छः याग होते हैं। अनुष्ठान-विधि इस प्रकार होती है—

१. अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२. अग्नि-अन्वाधान—जिसमें तीनों अग्नियोंमें छः-छः समिधाओंका दान किया जाता है।

३. ब्रह्मवरण—जिसमें यजमान ऋत्विकको वरण करता है।

४. प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमें रखते हैं।

५. परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुश आच्छादन करना।

६. पात्रासादन—यज्ञीय पात्रोंको यथास्थान रखना।

७. शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८. शकटसे हवि ग्रहण करना।

९. पवित्रीकरण।

१०. पात्रहविः-प्रोक्षण—हविष्य एवं पात्रोंको प्रमार्जन करना।

११. फलीकरण—जिसमें तण्डुलमेंसे कणोंको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२. कपालोपधान—दो अङ्गुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३. उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-संयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं, उसको नीचे रखना।

१४. वेदिकरण।

१५. स्तम्ब-यजुः-हरण—(मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना)।

१६. स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्रोंका संमार्जन।

१७. पत्नीसन्नहन—मुञ्जकी रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८. इध्म, वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९. प्रस्तर-ग्रहण—(यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं)।

२०. वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१. परिधि-परिधान—वेदीके चारों ओर परिधि बनाना।

२२. इध्मका आधान।

२३. विधृति-स्थापन।

२४. जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५. पञ्चदश-सामिधेनी-अनुवचन।

२६. अग्निसम्मार्जन।

२७. आघार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८. होतृ-वरण।

२९. पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०. आज्यभाग—(अग्नि और सोमदेवताके निमित्त)।

३१. प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं, उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२. स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३. प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है, उसका ग्रहण)।

३४. इडावदान आदि।

३५. अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६. तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाले याग)।

३७. व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्रोंको हटाना।

३८. सूक्तवाक। } स्तुतिविशेष।
३९. शंयुवाक। }

४०. पत्नी-संयाज—(पत्नी-देवताके निमित्त चार याग)।

४१. दक्षिणाग्नि-होम।

४२. बर्हि-होम।

४३. प्रणीता-विमोक।

४४. विष्णु-क्रम।

४५. व्रत-विसर्ग।

४६. ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियोंके द्वारा दर्श-पौर्णमास याग समाप्त होता है । इनमें जो दूसरी अवान्तर विधियाँ हैं, उनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मणके प्रथम काण्डमें है, यजुर्वेदके महीधर-भाष्यमें भी मन्त्रोंके प्रसङ्गमें उनका संकेत किया गया है । यह दर्शपौर्णमास याग मासमें दो दिन होनेके कारण सुगमतापूर्वक अनुष्ठित हो सकता है । दूसरे याग बहुव्ययसाध्य तथा क्लिष्ट हैं । अतएव यहाँ दर्शपौर्णमासके बारेमें ही किञ्चित् आलोचना की गयी है । यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय । आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपौर्णमास यज्ञके अनुष्ठानमें रत हों तो हमारे देश और समाजमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी और संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक और परलोकको उज्ज्वल बना सकेंगे । यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥
(ऋग्० ८ । ४८ । ३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमें आया, देवताओंको जान लिया । अब शत्रु मेरा क्या करेंगे । और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती है ।'

स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोंका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है । रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता ।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है । यज्ञकी वेदी, समिधा, हवि, दर्भ, यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञाङ्गभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं । इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमें बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं । व्रतके प्रारम्भमें यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।

'हे व्रतपते अग्निदेव ! मैं व्रतका आचरण करूँगा, मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमें समर्थ हो सकूँ । अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ ।' 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमें आनेपर मनुष्यको देवत्वमें परिणत होना पड़ता है । इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है । नास्तिकलोग शङ्का करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञोपरान्त तुरंत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती । उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है, अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमें परिणत होती है । और जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है, तब वही अदृष्ट स्वर्ग-प्रदानका हेतु बनता है । यज्ञानुष्ठानरूप दिव्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति युक्तिसंगत ही है ।'

परंतु यज्ञानुष्ठानका अभाव होनेसे हमारी संस्कृतिकी गहरी हानि हुई है और उसके पुनः-प्रसारसे उसकी उन्नति अवश्यम्भावी है । संसारके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णकी इस अमृतमयी वाणीकी हमने उपेक्षा कर दी है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
(गीता ३ । १०)

प्राचीन कालमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि की, यज्ञ और मन्त्रका प्रजाके जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध रहा । सृष्टिके आदिसे ही इनका अस्तित्व था; अरबों वर्ष पहलेसे यज्ञ अनुष्ठित होते आये हैं । प्रजापतिने सृष्टि करके कहा—'यज्ञोंके द्वारा तुम फलो-फूलो; ये तुम्हारी इष्ट वस्तुको प्रदान करेंगे ।'

भगवान्की अमृतवाणी और प्रजापतिके प्रथम आदेशको भूलकर हमने बहुत कष्ट उठाये । क्या भारतके इस अभिनव स्वातन्त्र्यके साथ यज्ञानुष्ठानका अभ्युदय होगा ? 'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'से, आशा है, पाठक सांस्कृतिक उन्नतिमें क्रियात्मक भाग लेनेकी प्रेरणा प्राप्त करेंगे ।

जबतक भारतवर्षमें यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहा, भारतीय-प्रजा सब प्रकारसे उन्नत और समृद्ध थी । कोई अभाव नहीं था । देवताओंके साथ हमारा पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो गया था । यज्ञोंके द्वारा परितृप्त देवगण हमारी सारी कामनाओंकी पूर्ति करते थे । यज्ञ हमारे सामाजिक जीवनका प्रधान स्वरूप था; इस जीवनकी पवित्र झाँकी श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणों और आरण्यकोंमें मिलती है । उस दिव्यजीवनकी तुलना विश्वके इतिहासमें अन्यत्र मिलनी दुर्घट है ।—अलख निरञ्जन



आर्य-संस्कृति और पीठविज्ञान

वर्तमान समयमे पीठविज्ञान और आर्यधर्मके प्रधान सोलह अङ्गोके रहस्यको अच्छी तरह न समझनेसे अमार्जनीय बड़ी-बड़ी भूलें भारतखण्डके नेतृवृन्दोके द्वारा हो रही है। उन भूलोंको दूर करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। आर्य-संस्कृतिके अनुसार आर्यजाति सर्वव्यापक दैवी सत्ताकी नाना पीठोंमें उपासना किया करती है। योगशास्त्रकी मन्त्रयोग-संहितामे सगुण-उपासनाके आश्रयरूप दिव्य देशस्वरूप पीठके सोलह भेद माने गये हैं। यथा—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।
तथा परात्माखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥
तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्तास्तथात्र कथ्यन्ते।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तीरेखा तथा च चित्रं च॥
मण्डलविशिखैर्नित्ययन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च।
मूर्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्द्धा च षोडशैते स्युः॥

अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध गौके सर्व शरीरमे व्यापक होनेपर भी केवल स्तनद्वारा क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माके व्यापक होनेपर भी उनका विकाश दिव्य देशोंमें होता है। दिव्य देश तन्त्रोमे सोलह कहे हैं; यथा—वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय और मूर्द्धा। यद्यपि ये सभी पीठ हैं, फिर भी यहाँ 'पीठ' शब्द अलग आया है; वह तीर्थके लिये आया है। क्योंकि तीर्थके विशेष-विशेष स्थानमे विशेष-विशेष शक्तिका आविर्भाव माना जाता है—जैसे 'भारतवर्ष' शब्द पृथ्वीका बोधक है, किंतु भारत कहनेसे भारतखण्ड अर्थात् हिंदुस्थानका बोध होता है। क्योंकि भारतवर्ष (पृथ्वी) में (हिंदुस्थान) की प्रधानता है। इसी प्रकार 'पीठ' शब्दसे उपर्युक्त सोलह वस्तुओका ज्ञान होता है; किंतु यहाँ 'पीठ' शब्दका अलग प्रतिपादन इसलिये किया गया है कि जिससे तीर्थोंकी महिमा सूचित हो। 'तीर्थ' शब्दसे नगर या ग्रामविशेषसे तात्पर्य नहीं है, वहाँके देवस्थानविशेषसे तात्पर्य है। उपर्युक्त दिव्य देशोंमें सर्वव्यापक दैवी सत्ताका पीठमे प्राणप्रतिष्ठा करके आविर्भाव कराया जाता है—जैसे मूर्तिमे अथवा भावयन्त्रादिमे जिस-जिस दैवी शक्तिका आविर्भाव प्रबल होता है, पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके उस पीठस्थानको भी शुद्ध-कर अपनेमे उस देवताका आविर्भाव करके तदनन्तर उस पीठमे देवताका आविर्भाव कराना होता है। मन्त्रशास्त्रमे पीठाविर्भावके अनेक भेद पाये जाते हैं। वैदिक दर्शन-शास्त्रोमे आकर्षण और विकर्षणशक्तिका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ पीठकी उत्पत्ति होती है—ऐसा माना गया है। आकर्षणशक्ति रजोगुणप्रसूत है और विकर्षणशक्ति तमोगुण-प्रसूत है। दोनोका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ ही सत्त्वगुण है और उसी सत्त्वगुणमे धर्मकी धारिका शक्तिका विकास होता है, तथा वहाँ ही पीठ बना रहता है। इसी विज्ञान-के अनुसार ग्रह-नक्षत्रादि जिस कक्षामे भ्रमण करते हैं, उस कक्षासे अलग नहीं जाते; वही उनका पीठ है। समाहित अन्तःकरणकी शक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति—इन तीनोकी सहायतासे ऊपर कथित सोलह दिव्य देशोंमे देवशक्तिका आविर्भाव किया जाता है और उस शक्तिके लघुत्व और गुरुत्वके विचारसे तत्-तत् स्थानोमे वह शक्ति अल्पकालतक या बहुत कालतक विद्यमान रहती है। इसी विज्ञानके अनुसार तीर्थविशेषमे अथवा पीठ और मूर्तिविशेषमे दैवी सत्ता बनी रहती है और इसी दैवी रहस्यके अनुसार तीर्थोंमे और मूर्तिविशेषमे विशेष दैवी शक्ति प्रकट रहती है तथा श्रद्धालु भक्तोका कल्याण करती है। वैद्यनाथ, तारकेश्वर, नाथद्वारा आदि तीर्थों और विग्रहोंमें जो नाना प्रकारके चमत्कारोका वर्णन सुननेमे आता है, उसका यही कारण है। नाना पीठोमे नाना चमत्कारोका वर्णन पाया जाता है, इसका कारण प्रत्येक पीठका अलग-अलग संस्कार ही है। जैसे व्यक्तिविशेषमे संस्कार-पार्थक्य रहता है, वैसे ही प्रत्येक पीठमे भी अलग-अलग संस्कार रहता है। जैसे मनुष्यके संस्कारविरुद्ध कार्य करनेसे उसको कष्ट होता है, उसी प्रकार पीठके संस्कारविपरीत कार्य होनेसे उसकी शक्तिमे धक्का लगता है और पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होते हैं। इतना ही नहीं, पीठस्थ संस्कारके विरुद्ध कार्य होनेपर व्यक्ति, जाति तथा देशको भी क्षतिग्रस्त होना पड़ता है। इसलिये जिस पीठमे जिस तरहका संस्कार पूर्वपरम्परासे चला आ रहा है, उसका नाश करना उचित नहीं। वहाँ नूतन स्थापित पीठोमे नया संस्कार चलाया जाय तो कोई हानि नहीं। पीठरहस्य और मूर्तिपूजा आदि समझनेके लिये अपनी मनमानी कल्पनासे काम नहीं करना चाहिये, जैसा कि अंग्रेजी-शिक्षासे शिक्षित नेतृवृन्द किया करते हैं। दैवी जगत्पर श्रद्धा, वैदिक दर्शनशास्त्रोका अध्ययन तथा मन्त्रशास्त्रका अनुशीलन करनेसे यह बात पूरी तरह समझमें आ सकती है। सर्वोदय

भारतीय संस्कृतिका प्रतीक गायत्रीमन्त्र

(लेखक—पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा महामहोपाध्याय)

इस देशमें गायत्रीकी गरिमाका गान द्विजातियोंद्वारा अनादिकालसे होता आ रहा है। यह मन्त्र त्रयीमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदके ३।६२।१०वें मन्त्रमें ऋक्-रूपसे; यजुर्वेदके ३।३५ वें, ३०।२ रे एवं ३६।३ रे मन्त्रमें यजुःरूपसे तथा सामवेदके उत्तरार्चिकके १३ वें अध्यायके तृतीय खण्डके ३रे मन्त्रमें सामरूपसे उपलब्ध है। इस मन्त्रप्रवरके ऋषि विश्वामित्र हैं और देवता सविता हैं। अन्यान्य वैदिक मन्त्रोंके समान यह भी एक मन्त्र है; किंतु गायत्रीछन्दमें ग्रथित होनेके कारण यह 'गायत्री' नामसे ही लोकमें विश्रुत हुआ है,[1] एवं सवितासे सम्बद्ध होनेके कारण यह सावित्री भी कहलाता है। इस मन्त्रमें तीन पद हैं। अक्षर चौबीस होने चाहिये; किंतु एक कम होनेसे इसकी संज्ञा[2] निचृद्गायत्री है। तथापि 'वरेण्यम्' शब्दको 'वरेणियम्' पढ़कर इसमें चौबीस अक्षर माननेकी विद्वानोंकी सम्मति रही है।

गायत्रीमन्त्रका सुगम अर्थ यह है कि 'हम सब जगत्-स्रष्टा उस देवताके वरण करने योग्य तेजका ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे।'

प्रकृतिके साम्राज्यमें बुद्धिकी सत्ता सर्वशिरोमणि है। प्रवृत्तिमार्गियोंको इसीकी कुशाग्रतासे त्रिवर्गकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है एवं निवृत्तिमार्गियोंको इसीकी निर्मलतासे मुक्ति-पदवी भी अनायास मिल जाती है। दोनों मार्गवाले अपने-अपने भावनानुसार परमात्मासे प्रेरित-बुद्धि होकर यथेष्ट सुख लाभ करते हैं।

इस मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी पञ्चमुखी और दशभुजा हैं। वे आराधकोंकी सकल कामनाओंकी पूरिका हैं।

शतपथ ब्राह्मण[3] और तैत्तिरीयारण्यक[4]में भी गायत्रीकी चर्चा की गयी है। उपनिषद्में भी इसकी उपासना है। छान्दोग्य (३।१२।१) का वचन है कि यह जो कुछ है, सब गायत्री ही है[5]। गायत्रीके चमत्कारसे प्रभावित होकर ऋषि-मुनियोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आदिकवि वाल्मीकिने अपनी रामायणके चौबीस सहस्र श्लोकोंकी रचना गायत्रीके चौबीस वर्णोंको लेकर की; वेदव्यास कृष्णद्वैपायनने अपने पुराण-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत महापुराणमें गायत्रीका वर्णन किया; तथा दर्शनशिरोमणि वेदान्तदर्शन[1]ने गायत्रीद्वारा परब्रह्मके ही प्रतिपादनको सिद्ध किया। मनु महाराजकी सम्मति है कि तीन वर्षोंतक सावधान होकर गायत्रीका जप करते रहनेसे जापकको परब्रह्मकी प्राप्ति होती है[2]। इस मन्त्रको जपते समय प्रणव और तीन व्याहृतियोंको भी मन्त्रसे पूर्व बोलनेका सनातन सम्प्रदाय है। प्रणव परमात्माका आदिम नाम है[3], जिसका अर्थ है 'रक्षा करनेवाला'। तीनों व्याहृतियोंका अर्थात्[4] भूः-भुवः-स्वः का क्रमशः अर्थ है सत्-चित्-आनन्द। प्रपञ्चरक्षाविचक्षण सच्चिदानन्द जगदुदयलील परमात्माका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करनेवाले साधक विधूतकल्मष होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

परमात्माका ध्यान अभेद-भावनासे भी किया जाता है और भेद-भावनासे भी। अभेदवादी विद्वान् जीव-ब्रह्मके भेदको अविद्याजनित मानते हुए अभेदको ही तात्त्विक मानते हैं और गायत्रीके जपके समय इसी वृत्तिको लेकर ब्रह्मध्यानमें परायण होते हैं[5]; एवं भेदवादी भावुक भक्त जीवेश्वरमें

---

१. गायन्त त्रायते। (निरुक्त)

२. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। (पिंगलसूत्र)

३. गायत्र्यस्येकपदी इत्यादि।

४. १।११।२

५. गायत्री वा इदं सर्वम्।

---

१. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्। (वेदान्तसूत्र १।१।२५)
गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्त-समाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते। (शांकरभाष्य)

२. योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(मनुस्मृति २।८२)

३. तस्य वाचकः प्रणवः। (योगसूत्र)

४. भवतीति भूः सत्। भावयतीति भुवः चित्। स्वर्यते स्तूयते इति स्वः।
यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं यत्तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

५. (अ) सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (आ) जीवो ब्रह्मैव नापरः।
(इ) नेह नानास्ति किञ्चन।

तात्त्विक भेद[1] मानते हुए उपास्यदेवकी ध्यानमयी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। वे—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

—इस श्लोकके अनुसार आदित्यके अन्तर्यामी[2], कमलासनासीन कटक-कुण्डल-किरीट-केयूर-विभूषित, हार पहने हुए, शङ्खचक्र-धारी[3], पीताभ[4], परमात्मा श्रीमन्नारायणका[5] ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करते हैं।

संस्कृति वही उज्ज्वल है, जिसमे मानवमात्रको ऐहिक सुख वा अभ्युदयका लाभ हो तथा आमुष्मिक आनन्द या निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। भारतकी संस्कृतिकी मूलभित्ति थी धर्म, जो संसारके अर्थमय एवं काममय सुखमे संयत प्रोज्ज्वलता लाता हुआ अन्तमें जीवको परमानन्दकी प्राप्ति करा देता था। गायत्री उसी संस्कृतिका प्रतीक है।

निरीश्वरवादमे बनी हुई अच्छी-से-अच्छी संस्कृति मनुष्यको भौतिकताके गर्तसे बाहर नहीं निकाल सकती। प्राचीन वैदिक संस्कृतिमे ईश्वरवाद ओतप्रोत था। वैदिककालीन ऋषि-मुनि उस जगत्प्रसवित्री शक्तिके सम्मुख नतमस्तक होकर अपने कल्याणकी कामना करते थे। उन्होने जैसे अपनी बुद्धिको ईश्वराधीन कर दिया हो।

आज राजनीतिके आकाशमे ईश्वरपराङ्मुखताकी ऑंधीसे प्रेरित अविश्वासकी घटाएँ घिर रही हैं, जिनसे अशान्तिकी वर्षाकी आशंका है। संस्कृतिकी रक्षा चाहनेवालोको अब सामूहिकरूपमे गायत्रीजपका आयोजन कराना चाहिये, जिसके परिणामस्वरूप मङ्गलमय श्रीभगवान् देशकी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरित करें।

गायत्रीका स्वरूप और मूर्ति

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रतदास ब्रह्मचारी एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

'गायत्री छन्दसामहम्' (श्रीगीता १० । ३५)

सुविख्यात जर्मन दार्शनिक इमैन्युएल काण्ट (Immanuel Kant) साहबने गम्भीर तत्त्वो और विचारोसे पूर्ण बहुतेरे ग्रन्थ प्रणयन करनेके बाद उपसंहारमें कहा है कि "इस संसारमे दो वस्तुओंको देखकर मुझे भय लगता है; उनमे एक है 'नक्षत्रखचित आकाश' (Starry Heaven), और दूसरा है 'विवेककी अनुभूति'—सदसद्का अन्तर्ज्ञान (Moral Conscience)."

इन दोनो वस्तुओसे उनको भय क्यो होता था, इसका कारण काण्ट साहबने बतलाया है। उन्होने कहा है कि "अँधेरी रातमे जब मैं नक्षत्रखचित आकाशकी ओर देखता हूँ तो मेरा मन कहता है कि 'कौन हो तुम महाशक्तिमान् पुरुष, जो इस अगणित सृष्टिमय विश्व-ब्रह्माण्डका सञ्चालन कर रहे हो? जिस प्रकार बालक गेंद खेलते है, उसी प्रकार खेल-खेलमें तुम अनन्त ब्रह्माण्डोको अपने-अपने कक्षमे दौड़ा रहे हो। तुम कितने महान् हो, कितने विराट् हो! और तुम्हारे सामने मैं कितना क्षुद्र हूँ! कितना क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ, कीटादपि कीट हूँ।' यह सोचते ही मन विस्मयाविष्ट हो जाता है, और भय लगता है। उसकी महत्ता और अपनी क्षुद्रताके बीच जब इतना विशाल व्यवधान पाता हूँ, तब भयसे अभिभूत हुए बिना मैं नही रह सकता।'

दूसरी वस्तु, जो काण्ट साहबके लिये भयजनक जान

---

१. (अ) भेदव्यपदेशाच्चान्यः (वेदान्तसूत्र १ । १ । १७) । (आ) भेदव्यपदेशात् (वेदान्तसूत्र १ । ३ । ५) ।

२. (अ) य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते (छान्दोग्य०) । (आ) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (वेदान्तसूत्र १ । १ । २०) । (इ) अन्तः आदित्ये ·····यः पुरुषः प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव (श्रीभाष्य) । (ई) सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरः (वेदान्तसूत्र ४ । ४ । १८ पर शांकरभाष्य) ।

३. यत्र शङ्खचक्रगदाधरस्मरणं मुक्तिश्च (ऋक्परिशिष्ट) ।

४. तुलना कीजिये—(अ) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् (मुण्डक०) । (आ) आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः (छान्दोग्य०) । (इ) स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः (रामायण ५ । ३५ । २२) ।

५. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः ॥ (मनुस्मृति १ । १०)

पड़ी, वह है अन्तरमें विवेककी वाणी या अन्तर्यामीका अनुभव। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं कि "मैं जब कोई अनुचित कार्य करता हूँ, तब मानो कोई मेरे भीतरसे बिजली-सा कड़ककर कहता है कि 'तुम यह अनुचित कर रहे हो!' तब सोचता हूँ—वह कौन है, जो मेरे ही भीतर रहता है पर मुझसे बड़ा है, मुझपर हुकुम चलाता है, मेरे विचारोंके ऊपर अपनी राय देता है। उसकी बातें स्पष्ट सुनायी पड़ती हैं, उनमें ननु-नच नहीं है। उसकी बातोंमें एक कठोर (Imperative) अनुशासन है, जो मुझको अपने आदेशके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये बाध्य करता है। उसकी इस सुस्पष्ट आदेश-वाणीको जब मैं सुनता हूँ, तब भय लगता है। मुझे जैसा बनना उचित था, वह उसे बतला देता है। तब मुझे जैसा बनना उचित था और मैं जैसा कुछ बन गया हूँ, उस आदर्श (Ideal) और यथार्थ (Actual) के बीच जो व्यवधान है, वह मेरी आँखोंके सामने आ जाता है। वह व्यवधान इतना बड़ा है कि उसका विचार करते ही मेरे प्राण भयके मारे स्तब्ध हो जाते हैं। आदर्शकी अपेक्षा मैं कितना नीचे हूँ, कितना छोटा हूँ—इसका विचार करते ही मैं भयभीत हो उठता हूँ।"

इसके बाद काण्ट साहब कहते हैं कि 'मालूम होता है ये दोनों वस्तुएँ यथार्थमें दो नहीं हैं। नक्षत्रखचित आकाशके अन्तरालमें जो शक्ति है और मेरे भीतर छिपी हुई जो सञ्चालिका शक्ति है, वे दोनों मेरे मन एक ही जान पड़ती हैं।' काण्ट कहते हैं कि 'ये दोनों शक्तियाँ एक हैं, ऐसा मेरा अनुमान होता है। परंतु निश्चयपूर्वक ठीक-ठीक कह नहीं सकता। क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी आशा भी नहीं कि किसी दिन इसका प्रमाण मिल जायगा।'

काण्ट साहबकी इस उक्तिके समान उच्च तत्त्वज्ञान पाश्चात्त्यदर्शनमें अधिक नहीं है—यों कहें तो अत्युक्ति न होगी। पाश्चात्त्य विचारकोंकी आध्यात्मिक गवेषणाकी सीमान्त-रेखा यहीं आकर विलीन हो जाती है। अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक काण्ट साहबकी आध्यात्मिक गवेषणाके साथ भारतीय आर्य-ऋषियोंकी गम्भीर अनुभूतिका एक विशेष सादृश्य दिखलायी देता है।

आर्य-संस्कृतिके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ वेद हैं। वेदका सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है—ब्रह्म-गायत्री। इस गायत्री-मन्त्रमें ही आर्य-ऋषि-की सर्वातिशायी गम्भीरतम अनुभूति मूर्तिमान् हुई है। काण्ट साहबने उसके दर्शनसे जिस अन्तिम तत्त्वकी बात कही है, भारतीय ऋषियोंने गायत्री-मन्त्रमें भी उसी चरम सत्यकी बात कही है। उन्होंने कहा है कि 'भूः भुवः स्वः इत्यादि चतुर्दश भुवनात्मक इस समस्त ब्रह्माण्डके जो प्रसविता देवता हैं, उनकी वरणीय ज्योतिका हम ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? उनके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? वे हमारी बुद्धिके प्रचोदयिता अर्थात् प्रेरणकर्ता हैं। जो ब्रह्माण्डके चालक हैं, वे ही हमारी बुद्धिके चालक हैं।'

काण्टके साथ वैदिक ऋषिकी अनुभूतिका यह मेल है और दोनोंमें पृथक्ता भी है। वह यह है कि काण्टने जो कहा है कि दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, वह उनका अनुमानमात्र है, वे निश्चय करके कुछ भी नहीं कह सकते। भारतीय ऋषि कहते हैं कि दोनों एक हैं, इस बातको हम सुनिश्चिततत्त्वसे जानते हैं। 'वेदाहमेतम्'। हमने उनको देखा है। अन्धकारके उस पार उस परमज्योतिकी सत्ताका हमने प्रत्यक्ष किया है। हमारे ज्ञानमें सन्देह, भ्रम और प्रमाद नहीं है; क्योंकि सत्यके साथ एकात्मता प्राप्त करके हमने उसको अपरोक्ष अनुभूतिसे जाना है।

काण्टकी बात और भारतीय ऋषियोंकी बातमें कम पृथक्ता नहीं है। एकके लिये सत्य अनुमानमात्र (Inference) है, और दूसरेके लिये अनुभूति (Realization) है। काण्टके लिये सत्य-निर्णयका पथ है—Reason या तर्क-वितर्क। आर्य-ऋषियोंके लिये सत्यानुभूतिका पथ है—साधना या तपस्या। तर्क-वितर्क तो केवल बुद्धिका कार्य है। साधना समस्त जीवनका कार्य है। तर्क-वितर्कसे सत्यका आंशिक ज्ञान होता है, और साधनाके द्वारा सत्यके साथ तादात्म्य लाभ होता है। इसी कारण पाश्चात्त्योंका सत्यानुसन्धान खण्ड-खण्ड (Fragmentary) है, और भारतीय ऋषियोंकी तत्त्वानुभूति समग्ररूपमें, सामग्रिक (Integral) है।

भारतीय ऋषिकी परम तपस्याका चरम फल ब्रह्मगायत्री है, जो ऋक्, साम और यजुः—तीनों वेदोंमें उद्घोषित है, जिसे लेकर समस्त उपनिषद्की साधना चलती है, आज भी नित्य कोटि-कोटि हिंदू नर-नारी जिसके जप-ध्यानमें निमग्न होकर प्रतिदिन नित्यकर्मका अनुष्ठान करते हैं। इसीसे हिंदुओंका परम धन है—ब्रह्मगायत्री, देवी वेदमाता।

गायत्री-मन्त्रमें तीन वस्तुओंका पता लगता है—१—'सवितुर्वरेण्यं भर्गः' अर्थात् परात्पर तत्त्व, परमात्मा, २—'धियो नः' अर्थात् जीवका बुद्धितत्त्व, ३—'प्रचोदयात्'

—इन दोनोंका प्रचोदनात्मक सम्बन्ध। एक अनन्त ब्रह्माण्डका केन्द्र है, दूसरा व्यष्टि जीवका जीवन-केन्द्र है और तीसरा इन दोनोंके बीच प्रणोदन अर्थात् प्रेरणामूलक आन्तर सम्बन्ध है। इन तीन तत्त्वोंके ऊपर ही विश्वके समस्त दर्शन और विज्ञान प्रतिष्ठित हैं। भारतीय शास्त्रोंके समग्र अनुशीलनका बीज है यह ब्रह्मगायत्री। इसी कारण भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं कि 'छन्दोंमें मैं गायत्री हूँ' (गायत्री छन्दसामहम्)।

सत्यके दो रूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। एक निर्वस्तुक (Abstract) और दूसरा वस्तुनिष्ठ (Concrete)। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितशास्त्रका एक निर्गुण सत्य है। और दो वस्तुएँ तथा दो वस्तुएँ मिलकर चार वस्तुएँ हो जाती हैं—यह व्यावहारिक जीवनमें वस्तुनिष्ठ सगुण सत्य है। इन दोनों रूपोंके द्वारा सत्यका पूर्ण विकास होता है। सत्यकी इस सम्पूर्णताकी अनुभूति भारतीय ऋषियोंको जैसी हुई, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई।

वैदिक साधनामें गायत्री-मन्त्रका निर्गुण स्वरूप तो प्राप्त हो गया। अब उसकी सगुण—सविशेष मूर्ति चाहिये। वास्तविक जीवनमें जबतक उसकी वस्तुनिष्ठ मूर्ति प्रकट नहीं होती, तबतक सत्यका पूर्ण दर्शन सिद्ध नहीं होता। वह मूर्ति प्राप्त हुई है—कुरुक्षेत्रके युद्धक्षेत्रमें।

जब घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर भगवान्‌ने अर्जुनकी बुद्धिकी बागडोरको हाथमें लिया, तब ऋषियोंने देखा कि सहस्र सूर्योंके समान 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता' जिनकी अङ्गज्योति है, वही वरणीय-भर्ग पुरुष आज अर्जुनकी बुद्धिके प्रचोदयिता हैं। यहीं गायत्री-मन्त्रकी सविशेष सगुण मूर्ति प्रकटित है। महाभारतमें, भारतसमरके मध्यस्थलमें यह मूर्ति प्रकट होती है। भारतीय नर-नारीके जीवन-समरके मध्यस्थलमें भी यह मूर्ति विराजमान रहे, यही मानो ऋषियोंकी शिक्षा है। जिसके जीवन-समरके मध्यमें यह विग्रहमूर्ति है, वही यथार्थ भारतीय है। वही महाभारतका—बृहत्तर भारतका सार्थकनामा नागरिक है।

मूर्तिमान् गायत्रीमन्त्रको हम प्रणाम करते हैं—

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

इस मन्त्रके ज्ञानमय प्रदीपको जिन्होंने प्रज्वलित कर रक्खा है, उन श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको हम प्रणाम करते हैं—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्र नेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥

गायत्रीमन्त्रकी मूर्ति देखी गयी, अर्जुनकी बुद्धि-प्रचोदनाका फल हुआ—सप्तशतश्लोकमयी गीता।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

ऋषिगण पुकार उठे—'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'। वेदव्यासने भी सोचा—ठीक तो है, गीता मिल गयी है, अब और शास्त्रोंके विचारकी आवश्यकता ही क्या? यों विचारकर वे सरस्वती नदीके तीरपर जाकर ध्यान करने लगे; परंतु ध्यानमें मन नहीं लगता, मानो कोई कार्य शेष रह गया हो। वे स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर सके। श्रीमद्भगवद्गीता प्रकट हो गयी, फिर कौन-सा काम बाकी रह सकता है? वेदव्यासकी साधनाका अन्त हो गया, फिर भी चरम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई। इसीलिये भगवान्‌की कृपाशक्ति देवर्षि नारदका वेष धारण करके आयी। चरम सत्य साधन-लभ्य वस्तु नहीं है, वह तो कृपालब्ध धन है।

देवर्षि नारदने महर्षि वेदव्याससे कहा—'आपके चित्तमें शान्ति क्यों नहीं है? जान पड़ता है आप इसका कारण नहीं समझ सके हैं। गायत्रीमन्त्रकी जो परमातिपरम मूर्ति है, वह अबतक जगत्‌को नहीं दिखलायी गयी।' महर्षिने देवर्षिकी बात नहीं समझी। तब देवर्षिने समझाकर कहा—'

''ब्रह्मगायत्री-मन्त्रमें यह तथ्य है कि 'वे हमारी बुद्धिको प्रेरित करते हैं।' परंतु किस ओर करते हैं और किस प्रकार करते हैं—इसका कोई उल्लेख नहीं है। समझना चाहिये कि वे सर्वोत्तम उपायोंसे तथा सर्वश्रेष्ठ दिशामें ही प्रेरित करते हैं। वे अर्जुनकी बुद्धिको सञ्चालन करते हैं—उपदेशके द्वारा। बलपूर्वक या कानून बनाकर सञ्चालन करनेकी अपेक्षा उपदेशके द्वारा सञ्चालन करना श्रेष्ठ है; परंतु यह सर्वोत्तम नहीं है। निर्मल विशुद्ध प्रेमके द्वारा जो कर्म-प्रवर्तना होती है, वह उपदेशकी अपेक्षा भी सौगुनी अधिक उत्तम और कार्यकारी है। उपदेशके द्वारा होनेवाली प्रेरणामें कुछ बाह्य-भाव है। प्रेमके द्वारा जो प्रेरणा होती है, वह सर्वथा आन्तरिक होती है। उपदेशका आवेदन (appeal) विचार-शक्ति (thinking) के ऊपर होता है। प्रेमका आवेदन (appeal) भावनाशक्ति, इच्छाशक्ति, अनुभव-शक्ति (thinking, willing, feeling)—सबके ऊपर,

अखण्ड जीवनके ऊपर होता है। इसी कारण वह अधिक व्यापक और निविड होता है।

यह हुई सर्वोत्तम उपायकी बात; अब यह निर्धारण करना है कि सर्वश्रेष्ठ दिशा क्या है। अर्जुनकी बुद्धिका सञ्चालन भगवान्‌ने किया था कर्तव्यकी ओर, स्वधर्मकी ओर। वह श्रेष्ठ दिशा तो है, परंतु सर्वश्रेष्ठ दिशा नहीं है। जिस दिशामें वे ऐश्वर्य-माधुर्यकी पराकाष्ठाके रूपमें स्वयं—स्वरूपसे विराजमान हैं, वही दिशा सर्वश्रेष्ठ दिशा है। परम पुरुष जब विशुद्ध प्रेमके द्वारा किसीके जीवनको प्रचोदित करते हुए अपने असमोर्ध्व स्वरूपकी ओर चलाते हैं, तभी गायत्री-मन्त्र पूर्णाङ्गरूपमें मूर्तिमान् होता है।

ऐसा क्या कहीं हुआ है? महर्षि वेदव्यासकी यह जाननेकी इच्छा समझकर श्रीनारदजीने कहा—'हाँ, हुआ है। क्यों, क्या आप नहीं जानते कि वृन्दावनमें यमुनाके तटपर क्या लीला हुई है? जिस दिन केवल विचारमय उपदेशके द्वारा नहीं, बल्कि प्रेममयी मुरलीके द्वारा व्रज-वधुओंके जीवन-यौवनको, किसी धर्म-कर्म या कर्तव्यकी ओर नहीं, वर समस्त धर्मकर्मोंकी ओरसे हटाकर (सर्वधर्मान् परित्यज्य) अपने सर्वातिशायी माधुर्यकी ओर दौड़ाया गया था, उसी दिन गायत्रीमन्त्रने पूर्णाङ्गता प्राप्त की थी।'

वेदव्यासने नया प्रकाश प्राप्त किया। यह परम और चरम प्रकाश उनकी अपनी साधनाका फल नहीं था, परम कृपाका दान था। कृपाके बिना इस प्रकाशके राज्यमें प्रवेश करनेकी क्षमता किसीमें भी नहीं है। कृपाशक्तिसे शक्तिमान् व्यासने इस अभिनव-प्राप्त सत्यको रूप प्रदान किया श्रीमद्भागवतमें। उन्होंने नौ स्कन्धोंमें भूमिका लिखकर दशम स्कन्धकी रासपञ्चाध्यायीमें ब्रह्मगायत्री-ब्रह्ममन्त्रकी सर्वाङ्गीण मूर्ति प्रकट की। इसीलिये तो श्रीमद्भागवतको कहा गया है—

गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।

श्रीमद्भागवतको पाकर ऋषिगण आनन्दसे उत्फुल्ल होकर पुकार उठे—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्॥

सारे पुराणोंका आदर तभीतक है, जबतक भागवतका साक्षात्कार नहीं होता। केवल सारे पुराणोंका ही नहीं—सारे धर्म-कर्म, साधन-भजन, राष्ट्र, समाज, संसार, नेतृत्व, कर्तृत्व, पाण्डित्य—सबका तभीतक आदर है, जबतक यह मुरलीमनोहर मुरलीकी तानसे बुद्धिको प्रचोदित नहीं करता।

श्रुति, स्मृति और पुराण—यही हिंदू-संस्कृतिका सर्वस्व है। श्रुतिमें ब्रह्मगायत्री निर्गुण है। स्मृति (भगवद्गीता)में ब्रह्मगायत्री सगुण मूर्तिमें प्रकटित है। पुराण (श्रीमद्भागवत) में ब्रह्मगायत्री अप्राकृत गुणातीत भूमिकामें नित्य नवायमान मूर्तिमें विराजित है। यही भारतीय संस्कृतिका सर्वस्व है।

यदि कोई पूछे कि 'आप क्या समस्त भारतीय सांस्कृतिक साधनाकी बात एक वाक्यमें बतला सकते हैं?' तो मैं उत्तर दूँगा कि 'हाँ, बतला सकता हूँ।' यह संस्कृति अखण्ड (Synthetic whole) जो है। इसीसे जो बात लाखों-लाखों वाक्योंमें नहीं व्यक्त की जा सकती, वह इस एक वाक्यमें व्यक्त की जा सकती है—

ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ॐ॥

मुसकान लगी

(रचयिता—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

केते प्रभात लखे नहिं आजु लौं, पै जा प्रभातकी काह कहौं छवि।
कूजत कोकिल कीर कपोत, लसैं नभमें जु नए उनए रवि॥
देखि उदीची प्रभा कमनीय कुवेरके दंत गई अँगुरी दवि।
ह्वै गयो सोर दिगन्तके अन्त लौं, भक्ति सौं देवन सीस गए नवि॥
अवलोकि निसा अवसान अली मन कंज कली खिलि जान लगी।
लहरान लगी अति सीतल पौन, सुगंध पटी फहरान लगी॥
चहुँ ओरन मोद प्रमोद छयो, नव ज्योति भली जगि जान लगी।
छिपि जान लगी अति कारी निसा, अरु प्राची दिसा मुसकान लगी॥

सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्या

(लेखक—पं० श्रीश्यामसुन्दरजी झा न्याय-वेदान्ताचार्य)

यह विषय अति गहन किंतु उपयोगी है। आर्योंके सर्वश्रेष्ठ मन्त्रात्मक कर्मका नाम सन्ध्योपासना है। इसकी भावना, अर्थ और शब्दशक्तिका भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है। प्रकारान्तरसे राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि नामसे व्यवहृत ब्रह्मविद्या सर्वविद्याओंकी माता महाविद्या है। अतएव इसके क्षेत्रकी विशालताके विषयमे कहनेकी जरूरत नहीं है। जो सत्कर्म सर्वभावनाओंके बीजभूत संस्कारोंके प्रेरकरूपसे आज भी सकल शिष्टजनोंद्वारा उपासित है और उपनिषद्गम्य विद्याभ्याससे, ईश्वर, गुरु तथा शास्त्रके प्रसादसे मुमुक्षुजन जिसके परमज्ञेय तत्त्वको जानकर अपने जीवनको सर्वथा कृतकृत्य कर लेते हैं, उस पुण्यकर्म और महाविद्याकी महाकक्षामे क्या नहीं हो सकता। यहाँ इन दोनोंका दिग्दर्शनमात्र विहङ्गावलोकन-न्यायसे करके दोनोंका परस्पर सम्बन्ध दिखानेका यत्किञ्चित् प्रयत्न किया जाता है।

उपनयन-संस्कारके अनन्तर द्विजमात्रका अत्यावश्यक कर्म सन्ध्योपासना है और मुमुक्षुजनोंके लिये परमार्थसिद्धिका ऐकान्तिक साधन ब्रह्मविद्या है। इन दोनोंकी उपयोगिता प्रसिद्ध है।

अहरहः सन्ध्यामुपासीत।

—श्रुति भगवतीका यह पुण्य विधान है। इस अध्यात्मविद्यातत्त्वके न जाननेवालेको उपनिषद् 'कृपण' शब्दसे वर्णन करती है।

य एतदविदित्वा प्रयाति स कृपणः।

अध्यात्मविद्या परम शान्ति एवं परम पुरुषार्थरूप मोक्षका ऐकान्तिक साधन है; तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके विना वेदान्तग्रन्थाध्ययन केवल वाग्विलासार्थ ही सिद्ध होनेसे मोक्ष-साधक नहीं हो सकता। सन्ध्योपासना वेदमूलक नित्यकर्म है। यह अन्तःकरणशुद्धिका मुख्य साधन है। अतः परम-पुरुषार्थावलम्बी सभी सम्प्रदायोंमे सामान्यरूपसे मान्य है। वेदके शाखाभेदसे मन्त्रादि-प्रक्रियामे कुछ भेद अवश्य है, तथापि यह पुण्यकर्म सबको सुसम्मत है। स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देवपूजन, आतिथ्य तथा वैश्वदेव—विप्रके इन नित्य षट्कर्मोंमे सन्ध्यावन्दन सबसे मुख्य है। प्रातःकालसे अहोरात्र-पर्यन्त जीवनतन्त्रको नियमबद्ध करनेकी भावना इसमे भरी है। जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ है, उनको नियत समय-पर ईश्वरस्मरणादि विहित क्रिया करनेसे सन्ध्योपासनाका फल मिलता है।

वर्तमान समयमे ब्रह्मविद्याकी ओर तो साधारण उत्सुकता देखी जाती है, किंतु सन्ध्योपासनामे अधिकांश लोग शिथिलता दिखलाते हैं। इसके अनेक कारणोंमे एक यह भी है कि आजकल प्राचीन प्रणालीके विरुद्ध कालेजोंमे इतिहासाध्ययनके सदृश ही वेदान्ताध्ययन भी सकलसाधारण बन गया है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि विद्या बुद्धिका विषय है और कर्मकाण्डमे कर्मकी आवश्यकता है। ज्ञानका विशेष सम्बन्ध अन्तर्जगत्के साथ है और क्रियाका बाह्य जगत्के साथ। ज्ञान पुरुषपर और क्रिया प्रकृतिपर मुख्यतः अवलम्बित है। ज्ञान स्वयं-वेद्य और क्रिया प्रत्यक्ष-दृश्य है। नूतन शिक्षणसे उत्पन्न वातावरणमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी ओर विशेष झुकाव है। अतएव आज्ञापूर्वक विहित क्रिया यदि नित्य हो तथा इसमे आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता हो तो इस ओर कुछ उपेक्षावृत्ति हो ही जाती है। तथापि अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत्मे साक्षीरूप आत्मा ओतप्रोत है। निःश्रेयस-प्राप्तिमे आत्मज्ञानका प्राधान्य है तो अभ्युदय और लोकसंग्रहार्थ सत्क्रियाकी आवश्यकता है। बाह्य जगत्का चित्तवृत्तिमे लय होनेपर क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती; पर इससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा है। इतना ही नहीं, सन्ध्योपासनादिरूप सात्त्विक क्रिया तो ज्ञानप्राप्तिके अधिकारी होनेमे अत्यन्त उपयोगी और चित्तशुद्धिद्वारा जीवन-शुद्धि-साधनमे भी परम सहायक है।

सन्धिकाल अनेक रीतिसे गहन होता है। मानव-जीवनमे अवस्था-सन्धि विकट होती है। प्रजा-जीवनमे भी विभिन्न संस्कृतियोंका, भिन्न समाजोंका और भिन्न समुदायोंका सन्धि-प्रसङ्ग गहन होता है। सन्धिसमयकी विषमता और विशिष्टता इसलिये है कि इन समयोंमे नूतन-नूतन बलोंका प्राकट्य होनेके कारण मानवसमाजकी भावना किस दिशामे प्रवाहित होगी, यह तत्तत्समय-संयोगसे विदित होता है। अभी अपने देशमे पौरस्त्य और पाश्चात्त्य संस्कृतियोंका सन्धिकाल है। अतएव वह दुर्घट है। तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं कि ऐसे समयमे विश्वतन्त्र-नियामक परमात्माके शरणापन्न होकर कल्याण-मार्गकी साधना करनी चाहिये।

सन्ध्योपासनामें सावित्रीद्वारा सवितादेवकी उपासना है। 'जगत्सूते इति सविता' अर्थात् जिससे जगत्की उत्पत्ति आदि होते हैं, वह सविता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। (श्रुति)

ऐसे जगत्कारणादि ईश्वरकी प्रत्यक्ष विभूति सविता देव हैं। ये भौतिक शक्तिके महासागर, चरमोत्कर्ष हैं। तेजःपुञ्जके भण्डार हैं। चैतन्यशक्तिके मानो स्रोतावाही समुच्चय और दिव्यताकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। सन्ध्योपासनामें मूर्तद्वारा अमूर्त सूर्यमण्डलका प्रत्यक्षानुभव करके व्यष्टिसे व्यापक सविता-नारायणकी उपासना सिद्ध की जाती है।

प्रतिदिन कालसन्धिके समयमें ही सन्ध्या करनेका ऋषि-मुनियोंका विधान है। रात्रि-पूर्वाह्नका, पूर्वाह्न-पराह्नका, पराह्न-पूर्वरात्रिका और पूर्वरात्रि-पररात्रिका—ये चार मुख्य सन्धिकाल माने जाते हैं। इन चार सन्ध्याओंमें मध्यरात्रिकी सन्ध्याकी उपासना तो योगी तथा मन्त्रसाधक करते हैं। साधारणतया द्विजोंके लिये प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी सन्ध्या विहित है। प्रातःसन्ध्यामें रक्तवर्णा, बाला, ब्रह्मदैवत्या, हंसारूढा सावित्रीदेवीकी भावना है। मध्याह्नसन्ध्यामें श्वेतवर्णा, युवती, वृषभासना, रुद्रदैवत्या गायत्रीदेवीकी भावना है। एवं सायं-सन्ध्यामें कृष्णवर्णा, वृद्धा, गरुडवाहना, विष्णुदैवत्या, सरस्वती-देवीकी भावना है। इन तीनों सन्ध्याओंमें अनुक्रमसे भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी भी भावना है। सन्ध्यावन्दनमें देवपरायणताद्वारा कालसन्धि साधनेका संकेत है। इन कालसन्धियोंमें सम्यक् प्रकारसे सविता, सावित्री, सन्ध्या, सगुणब्रह्म अथवा अहंग्रहके उपासकोंकी सर्वशक्तियाँ स्वभावतः पुष्ट होती हैं और इससे अपूर्व मनोबल प्राप्त होता है। इस विषयमें महाभारतमें जरत्कारुमुनिद्वारा शील-सौन्दर्यवती पतिव्रता पत्नीके त्यागका प्रसङ्ग जैसे लोकोत्तर है, वैसे कमनीय भी है। ईश्वर अपने नैष्ठिक तथा दृढ भक्तोंके लिये क्या नहीं कर सकते? सन्ध्योपासनामें कालकी प्रधानता तो है ही। परंतु यह नित्यकर्म इतना आवश्यक और उपकारक है कि कदाचित् काल-लोप भी हो जाय, तो भी कर्मलोप नहीं होना चाहिये—ऐसा वेदविदोंका विधान है।

अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।

सन्ध्योपासना नित्यकर्म है। कामनारहित केवल परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसका विनियोग किया जाता है; किंतु इससे पापका नाश और पुण्यकी प्राप्ति होती है—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात् सर्वं तद्विप्रणश्यति ॥
(याज्ञवल्क्य०)

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥
(मनु०)

सन्ध्यावन्दन भोगप्राप्तिके लिये नहीं है। वासना सरिता-के शुभाशुभरूप दो प्रवाह हैं, सन्ध्यावन्दनका मुख्य हेतु शुभमार्गमें इसे योजन करनेका है। इस पुण्यकर्ममें कर्म-भक्ति और ज्ञान—तीनों योगोंका अद्भुत एवं मनोहर एकी-करण है। आचमन संकल्प-प्राणायामादिमें क्रियाका, न्यास-उपस्थान और जपादिमें उपासनाका तथा प्रणवादि मन्त्रोंसे ज्ञानका तत्त्व विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

सन्ध्योपासनाके लिये प्रशस्त स्थान जलाशय (नदी)-तट, तीर्थस्थान, मन्दिरादि माने गये हैं। ऐसे स्थानोंमें सृष्टि अपना विविध सौन्दर्य और वैभवोंका विशेष दिखाव करती हुई जैसे ऋषिसान्निध्यमें रहती है। ऐसे स्थानकी सुविधा न होनेपर घरपर ही सन्ध्योपासन करना चाहिये।

सन्ध्योपासनामें अनेक मन्त्र हैं। इनमें प्रणव बीजभूत है और गायत्री प्रधान मन्त्र है। प्रणव वेदत्रय, लोकत्रय तथा क्रियात्रयका सारभूत एवं वेदोंका सर्वव्यापी, सर्वसत्तान्वित सनातन बीज है। गायत्रीमन्त्रमें भगवान् सविताके वरेण्य भर्गका ध्यान और बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरणा करनेकी प्रार्थना है। भस्मधारण, संकल्प, प्राणायाम और अघमर्षणादिके मन्त्र भी शब्दार्थकी अप्रमेय, अद्भुत शक्तिके निवासस्थान हैं। ये मन्त्र बहुधा वेदविभूतियाँ ही हैं। वेद अव्यक्त ईश्वरका व्यक्त स्वरूप है। प्रातिभासिक परमाणुओंके नृत्यका सनातन रास श्रुतिभगवतीके बीजरूप प्रणवके एक देशमात्रका विलास है। सन्ध्योपासनामें योग्य देश, काल, क्रिया और मन्त्रोंका इस तरह विनियोग है कि इसके सम्यक् प्रयोगसे अन्तः-करणकी निर्मलता, जीवनकी विशुद्धि, भावनाओंकी उच्चता और ज्ञानसिद्धिकी योग्यताके साथ-साथ आयुकी वृद्धि भी होती है।

सन्ध्योपासनामें प्राणायाम भी मुख्य वस्तु है। प्राणायाम तीन प्रकारके है—पूरक, कुम्भक और रेचक। इसमें प्राणवायु-को नियमित करनेकी प्रक्रिया है। नाभिकमलमें शेषशायी नारायण-का ध्यान करते हुए सप्तव्याहृतियुक्त सशिरस्क गायत्रीमन्त्रके मानस, उपांशु या व्यक्तोच्चारपूर्वक अँगूठेसे नासिकाका दक्षिण-

पुट बंद करके वामपुटद्वारा श्वास खींचनेसे पूरक होता है। नारायणकी नाभिसे उत्पन्न कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माका हृदयदेशमें ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक मध्यम-अनामिका अंगुलियोंसे वामपुटको भी बंदकर श्वास रोकनेसे कुम्भक होता है। एवं ललाटमें साम्बशिवका ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक दक्षिण पुटद्वारा श्वास उतारनेसे रेचक होता है। नाभि, हृदय और ललाट क्रमसे सत्त्व, रज और तमोगुणके स्थान हैं। अतः तत्तद्गुणप्रधान देवका तत्तत्स्थानमें ध्यान करनेकी विधि है। इस प्रकार तीन बार करनेसे नौ प्राणायाम हो जाते हैं। जगत्स्रष्टाने प्राणिमात्रके शरीरयन्त्रमें घटीयन्त्रके सदृश अमुक वर्षपर्यन्तके लिये एक ही बार प्राणवायुकी चाभी भर दी है। इस प्राणवायुका श्वास-क्रियाद्वारा नियमित व्यय होनेसे नियत आयुका भोग होता है, अधिक व्ययसे आयु घट जाती है और अल्प व्ययसे दीर्घ आयु होती है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अतएव ऋषि-महर्षिगण प्राणायामके द्वारा प्राण-स्पन्दन रोककर समाधिस्थ हो जाते थे और दीर्घकाल-पर्यन्त इच्छित आयु भोगते थे। आज भी इने-गिने ऐसे हैं; तथा जो चाहें आज भी इस प्रक्रियासे मर्त्यायुका अतिक्रमण कर सकते हैं। सन्ध्यो (ईशो) पासनाके त्याग और अनियमित जीवन-चर्या होनेके कारण ही आज भारतीय प्रजाकी आयु दिनोदिन क्षीण होती जा रही है।

अब ब्रह्मविद्याका कुछ दर्शन करें। जो इस चराचर जगत्‌का अधिष्ठान है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् दृश्यमान हो रहा है तथा जो देश-काल-वस्तुसे अबाधित और सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित है, उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाली विद्याको ही राजविद्या अथवा ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह अप्रमेय तत्त्व कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रियसे अप्राप्य होकर भी साधनसम्पन्न अधिकारीके लिये सुप्राप्य है—

'यद्वाचानभ्युदितम्;' 'यन्मनसा न मनुते;' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या;' 'मनसैवेदमाप्तव्यम्।' (श्रुति)

ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये अधिकारविशेष अपेक्षित है। इस विषयमें कुछ महानुभाव विचित्र और अविचार-रमणीय शङ्का किया करते हैं; किंतु भलीभाँति विचार करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हृदयस्पर्शी, आदर्शस्पर्शी अथवा चारित्र्यस्पर्शी ज्ञानके प्रति प्रधान साधन अन्तःकरणकी अमुक परिस्थिति है। सामान्य व्यवहारमें भी भाँति-भाँतिकी समझ और ज्ञानमें अभ्यास तथा चरित्रकी आवश्यकता होती है, तो फिर अध्यात्मज्ञानमें अन्तःकरण-शुद्धि सर्वथा अपेक्षित क्यों न हो ? हृदय-परिवर्तनके साथ-साथ जहाँ दोष व्यक्त होने लगता है, वहाँ गुणोंकी प्रतीति भी होने लगती है और राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षिपदके योग्य बन जाते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व नित्य प्राप्त है; अतः इसकी प्राप्ति वैसे ही होती है, जैसे गलेमें पड़े हुए परंतु भूले हुए हारकी स्मरण आते ही प्राप्ति हो जाती है। इसलिये यह बड़ी सहज है। तथापि सत्कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और भक्तिके द्वारा चित्तकी एकाग्रता हुए बिना ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि प्रभुकी अचिन्त्य मायाशक्तिकी विभूतिरूपा विद्याके आवरणसे चराचर जगत्‌का ज्ञान आच्छादित है। मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष है। ज्ञानसे मोक्ष होता है। ज्ञानके साधन चित्तशुद्धि तथा एकाग्रता हैं और चित्तशुद्धि तथा एकाग्रताका प्रमुख तथा प्रबल साधन सन्ध्योपासना है। चित्तरूपी वृक्षके प्राणस्पन्दन और वासना—ये दो बीज हैं। दोनों अथवा एक बीजका निरोध हो जानेपर चित्त-वृक्षका उद्भव ही नहीं हो पाता। प्राणस्पन्दनका नियमन हठयोगमें और वासनाका नियमन राजयोगमें परिगणित है। सन्ध्योपासनामें प्राणायाम तथा निष्कामताका अवलम्बन होनेसे इसमें दोनों योगोंका सङ्कलन है।

सन्ध्योपासना ब्रह्मविद्याप्राप्तिका सहज साधन है। इतना ही नहीं, किंतु सन्ध्या, सावित्री तथा ब्रह्मविद्या—ये सब जगज्जननी जगदम्बा भगवतीके स्वरूपभूत ही हैं—

'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥'
'त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।'

विचार तथा शास्त्रदृष्टिबिन्दुसे सन्ध्या, सावित्री और ब्रह्मविद्यामें आधिदैविक एकता है। जैसे सन्ध्योपासनसे चित्तशुद्धि और शान्ति मिलती है, वैसे ही ब्रह्मविद्यासे देहाभिमान गलित होता है—'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।' ऐसी धन्य अवस्थाकी प्राप्ति होनेसे हृदयग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय विलीन हो जाते हैं और सारी कर्मप्रवृत्ति शिथिल हो जाती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

पाठक इससे समझ गये होंगे कि सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्याका पारमार्थिक तथा लाक्षणिक ऐक्य है। जैसे सर्व सिद्धियाँ ब्रह्मवेत्ताकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार यथार्थ सन्ध्योपासकोंको भी अनायास ही अभ्युदय-प्राप्ति होती है।

सन्ध्योपासनमें चित्तशुद्धिके लिये अनेक शक्तियोंका विनियोग संयोजित है। मार्जन, अघमर्षणादिमें भावशक्ति; गायत्री-जप, अर्घ्यप्रदानादिमें मन्त्रशक्ति; आचमन, भस्मधारणादिमें द्रव्यशक्ति एवं प्राणायामादिमें क्रियाशक्तिका विनियोग करके साध्यको सिद्ध करनेकी योजना इस पुण्यकर्ममें स्पष्ट व्यक्त होती है। इससे अपूर्व शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसके नित्य नियमसे एक प्रकारकी आत्मश्रद्धाके साथ मनमें प्रभु-श्रद्धा जाग्रत् होती है। वर्तमान समयमें धार्मिक क्रियाकी ओर उपेक्षा तथा आक्षेप साधारण बात हो गयी है; इसमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। तथापि उपनीत द्विजमात्रको शिखा-सूत्र-सन्ध्या और द्विजेतरको शिखा-ईश्वरस्मरणादिरूप उपासनाका रहस्य जानकर अपने-अपने फलसिद्धिमें तत्पर होना सर्वथा उचित है। भारतके लिये यह सन्ध्याका समय है, अतएव इस समय सबके लिये यथाशक्ति ईश्वरोपासना करना परम आवश्यक है। आदर्श भारतीय देशका वैभव है। यह आदर्श महान् है। इसमें विलासिता, मान-सम्मानकी खोज तथा अर्थलोलुपतादिको अवकाश नहीं है। इस पुण्यकर्मका नित्य नियमित सेवन करनेसे कुल, धर्म, देशके लौकिक अभ्युदयके साथ ही दुर्लभ ब्रह्मविद्याकी भी प्राप्ति होती है। शिष्ट पुरुषोंका अनुभव इसमें साक्षी है।

हिंदू-संस्कृति और नवमतवाद

(लेखक—डा० श्रीसदाशिव कृष्ण फडके)

नवमतवादी और सनातनी विद्यार्थियोंका संवाद

मार्गे मार्गे निर्मलं ब्रह्मवृन्दं
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः
बोधे बोधे भासते चन्द्रचूडः॥

हिंदू-संस्कृति और नवमतवादका परस्पर संघर्ष दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है। देशके विद्वानोंमें इस समय तीन पक्ष दीख पड़ते हैं—(१) कट्टर नवमतवादी, जो हिंदू-संस्कृतिका सर्वथा निषेध ही किया करते हैं; (२) मध्यम सुधारक पक्ष, जिसका यह कहना है कि भारतीय संस्कृतिका मूल-स्वरूप अत्यन्त उदात्त है; पर दुराग्रही सनातनियोंने अपने अज्ञानमूलक सम्प्रदायोंके द्वारा उसका रूप बिगाड़ दिया है। शिखा-सूत्र, चूल्हा-चौका, जप-तप, सन्ध्या-पूजा, वर्ण-भेद, जाति-भेद, खान-पान और ब्याह-शादीके विधि-निषेध, असंख्य व्रताचरण—एवंविध अदृष्टफलक और अन्धश्रद्धेय हिंदू-धर्मको ही जो ये भारतीय संस्कृति मान लेते हैं, यह निरी भूल है। यथार्थमें सोवियट रूसका साम्यवाद, नवमतवाद और मानवतावाद ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिका परिणत स्वरूप है। भारतीय संस्कृतिके सूचक समता, अद्वैत, मोक्ष इत्यादि पारिभाषिक शब्दोंके वास्तविक अर्थ प्रत्यक्ष और व्यावहारिक हैं। सनातनियोंने उनपर पारमार्थिक अर्थ लादकर उन्हें परोक्ष, काल्पनिक और अव्यावहारिक बना दिया है। यह उनका महान् भ्रम है। भारतीय संस्कृति यथार्थमें उदात्त ऐहिक व्यवहारका ही नाम है। अदृष्ट धर्म अथवा काल्पनिक तत्त्व-ज्ञानके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस विवेचनकी पुष्टिमें सुधारकलोग शास्त्रों और संतोंके वचन भी दिया करते हैं। (३) तीसरा पक्ष सनातनियोंका है। उनका यह कहना है कि हिंदू-संस्कृति हिंदू-धर्मसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। हिंदू-धर्मका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। अखण्ड गुरु-संप्रदायकी परम्परा और विहित-कर्मानुष्ठानसे ही वह जाना जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके सब विधि-निषेध पूर्ण विवेकसे ही सुनिश्चित किये गये हैं। आप्तवचन ही इसमें प्रमाण हैं। 'आचारप्रभवो धर्मः' यही हिंदू-धर्मका दण्डक है। विशुद्ध भारतीय संस्कृतिको नवमतवादका रंग चढ़ाकर आधुनिकोंने विशुद्ध वैदिक संस्कृतिकी छीछालेदर करना आरम्भ किया है। जिन शास्त्रों अथवा संत-वाणियोंको ये लोग समग्ररूपसे नहीं मानते, उन्हींके कुछ संदर्भहीन वचनोंके प्रमाण देकर ये अपने मतोंकी पुष्टि किया करते हैं। इनका यह सर्वथा अप्रामाणिक व्यवहार है। सनातनियोंकी समन्वय-साधक दृष्टिसे ही शास्त्रका रहस्य निश्चितरूपसे जाना जा सकता है। आधुनिकोंकी व्यभिचारी भ्रमरवृत्तिसे विशुद्ध और पूर्ण सत्यका पता चलना असम्भव है। अर्धसत्य असत्यसे भी अधिक भ्रामक होता है। अतः भारतीय संस्कृतिका मनमाना भाष्य करनेवाले इन नवमतवादियोंके भ्रामक प्रचारका उचित प्रतीकार समय रहते यदि न किया जायगा तो ये मध्यस्थ सुधारक भैषज्य-क्षेत्रमें जिस प्रकार आयुर्वेदको ऐलोपैथीमें विलीन

करना चाहते हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको अव्यवहार्य और काल्पनिक मानवतावादके शब्दाडम्बरमे समाप्त कर देगे।

ऐसी विवादग्रस्त परिस्थितिमे एक कालेजके मुख्याध्यापकने सास्कृतिक शिक्षाके तुलनात्मक विचारको प्रोत्साहित करनेके लिये अपने कालेजके दर्शनशास्त्राध्यायी विद्यार्थियो और प्राचीन परम्पराके वेद-शास्त्रविद्यापीठके स्नातकोंके बीच एक दिन अपने कालेजमे पूर्वोत्तर-पक्ष-चर्चा (डिबेट) करायी। यह संवाद शुद्ध सात्त्विक और व्यक्तिनिरपेक्ष हो और इसलिये दोनो ओरके वक्ता सर्वथा निःसंकोच होकर खुले दिलसे भाषण करे—इसकी सूचना मुख्याध्यापकने पहलेसे सबको दे रक्खी थी। विषयान्तर्गत विवादकी प्रत्येक बातकी चर्चाके लिये अधिक-से-अधिक दस मिनटका समय दिया गया था। संवाद शान्तिके साथ हुआ और बहुत उद्बोधक रहा। उसी संवादके कुछ मुख्य पूर्वोत्तर पक्ष आधुनिक और सनातनीके नामोके साथ आगे दिये जाते है।

१) धर्मातीत राज्य

आधुनिक—हमारे देशमे धर्म-भेदोके कारण बहुत बडी हानि होती रही है। इसलिये धर्मातीत राज्यका होना ही हम-लोगोके लिये इष्ट है। वर्तमान बुद्धिवादी जगत्मे ऐहिक, भौतिक दृष्टि और मानवतावादको ही बढ़ानेवाली हमारी राजनीति होनी चाहिये।

सनातनी—धर्मसे किसीकी हानि नहीं हुआ करती। हानि होती है धर्मके विपर्याससे। धर्म वस्तुस्वभाव है। वस्तुमात्रका धर्म ही उस वस्तुका विशेषत्व है। इस विशेपत्वके नष्ट होनेपर उस वस्तुकी स्वसत्ता ही नहीं रह जाती। सनातन वैदिक-धर्म संस्कृतिनिष्ठ भारतका वस्तुविशेष है। इस देशका वह प्राण है। इस धर्म-प्राणताके कारण ही अनादिकालसे यह देश अनेकानेक क्रान्तियोंका अतिक्रमणकर आज भी अपनी सत्त्वप्रधान संस्कृतिके बलपर जगत्मे अपना मस्तक ऊँचा किये खड़ा है। गीता-जैसे धर्म-ग्रन्थ, शङ्कराचार्य-जैसे तत्त्वज्ञ, महात्मा गान्धी-जैसे सत्त्वप्रधान पुरुषको जो अनन्य महत्त्व प्राप्त हुआ, इसका संपूर्ण यश हिंदू-धर्म-संस्कृतिको ही है। इस हिंदू-धर्म-संस्कृतिका उज्ज्वल अभिमान सब प्रकारसे तारक ही होगा। सात्त्विक अभिमान और तामस परद्वेष एक चीज नहीं है। सात्त्विक अभिमान शरीरके मेरुदण्डके समान जीवनका आधारस्तम्भ है। परमतसहिष्णुता हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अतः हिंदू-धर्मनिष्ठा ही हिंदुओंसे अन्य धर्मोंके प्रति द्वेष या उनपर किसी प्रकारका अत्याचार कदापि नहीं होने दे सकती। इस देशके अधिकसंख्यक लोग हिंदू ही हैं। यहाँके अल्पसंख्यक मुसलमान बहुसंख्यक हिंदुओसे द्वेष न करें, इसके लिये हिंदुओसे हिंदुत्वका ही अभिमान त्याग कराना वैसा ही है, जैसे कोई नौकर अपने मालिकको काटने-वाले मच्छरोके प्रतीकारार्थ अपने मालिककी ही हत्या कर डाले! देशमे धर्म-द्वेष न बढे, यह देखना शासकोका कर्तव्य है और इस सम्बन्धमे उन्हे सदा सावधान रहना चाहिये। पर इसके लिये राज्यको ही धर्मातीत कर डालनेकी इच्छा करनेमे कोई तुक नही है। धर्मातीत बना चाहनेवाले राज्यमे ऐसी कोई स्पष्ट घोषणा भले ही न हो कि राज्यके सब लोग धर्महीन हो जायँ; तो भी जब राजसत्ता ही धर्मनिरपेक्ष और केवल ऐहिक, भौतिक स्वार्थोंको ही बढ़ानेवाली बन जायगी, तब 'राजा कालस्य कारणम्' के सिद्धान्तानुसार प्रजाका भी धीरे-धीरे धर्महीन बन जाना अनिवार्य ही है। धर्माभिमानके साथ राष्ट्राभिमानका होना भी आवश्यक है। इस विषमतापूर्ण स्वार्थरत जगत्मे राष्ट्रवादको मानवतावादमे विलीन करनेकी चेष्टा अव्यवहार्य है। कम-से-कम जगत्के राष्ट्रोंकी वर्तमान मनोभूमि इसके सर्वथा प्रतिकूल है। यदि हमारे वर्तमान धर्म-निरपेक्ष राज्यकी घोषणाका यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे देशके लोग राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान अपने अन्तः-करणसे निकाल दे तो हर तरहसे ऐसा प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है कि हम सच्ची निष्ठाके साथ ऐसा राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान जगायें, जिसमे परद्वेपका लेश भी न हो और ऐसे सब उपाय करे, जिनसे राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान सदाचारसम्पन्न, समुज्ज्वल, तेजस्वी और आत्मोन्नतिके साधक बने। परंतु कम-से-कम आज तो हमारे स्वराज्य-शासनके रुखमे वैसी कोई बात नही देख पड़ती, यह बड़े दुःखका विषय है। हमारे वर्तमान नेताओके त्याग, विद्या, बुद्धि, लोकहित-साधनकी शुभेच्छा और कर्तृत्व आदि गुणोंके लिये उन सबके प्रति मेरे हृदयमे भी बहुत आदर है। पर गुरु-महोदयकी आज्ञाके अनुसार हमे व्यक्ति-निरपेक्ष और निस्संकोच भाषण करना है। इसलिये मेरी अल्पबुद्धिमे जो बात जैसी जँचती है, वैसी ही स्पष्ट रूपसे कहनेका मैंने साहस किया है। इसे कोई 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझें तो मैं लाचार हूँ। किसी भी नेताके प्रति अनादर प्रकट करना मेरा अभिप्राय नहीं है। प्रतिपक्ष कृपाकर इस बातका ध्यान रक्खे।

(२) वेदान्त और साम्यवाद

आधुनिक—अजातवाद, मायावाद, परलोकवाद और

निवृत्तिपरक वेदान्त आधुनिक भारतीय संस्कृतिका अत्यन्त अव्यवहार्य और समाजको आलसी, निराश और दुर्बल बनानेवाला रूप है। अतः अब यह होना चाहिये कि (१) हमारे यहाँ व्यक्तिमात्रकी आचार-विचार-स्वतन्त्रतापर ऐसे किसी धर्मका कोई बन्धन न रहे, जिसका फल अदृष्ट है और जो केवल एक काल्पनिक उपाधिमात्र है। (२) योग्यताके अनुसार सबको काम और आवश्यकतानुसार सबको वेतन मिले। सर्वत्र समताका यही दण्डक माना जाय। डोम-चमार और मन्त्री, सैनिक और सेनापति, प्रान्तका गवर्नर और उसका चपरासी—सबको उनकी कम-से-कम आवश्यकताओंके अनुसार समान वेतन दिया जाय। यदि किसी प्रान्तका गवर्नर, मान लीजिये कि ऐसा है कि उसके कोई बाल-बच्चे नहीं हैं और उसका अर्दली चार पुत्रोंका पिता है तो गवर्नरकी अपेक्षा उस अर्दली-का वेतन अधिक हो। (३) प्रधानमन्त्री और सामान्य नागरिक, धनी और दरिद्र, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, जमींदार और किसान, हिंदू और मुसलमान, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर, स्त्री और पुरुष इत्यादि जो ऊँच नीच और अपने-पराये भेद हैं—ये सर्वथा मिट जायँ। यही हमारी इष्ट भारतीय संस्कृतिका सच्चा साम्यवाद और मानवतावाद है। यही एक-मात्र अद्वैत है। (४) खान-पान और शादी-व्याहके सम्बन्धमें सब प्रतिबन्ध उठा दिये जायँ, ताकि इस देशका सम्पूर्ण जन-समाज एक और अखण्ड हो जाय। अन्नकी भूखके समान ही जननेन्द्रिय-सम्बन्धी क्षुधाका होना भी अनिवार्य है। अतः हर किसीको यह आजादी होनी चाहिये कि वह अपनी रुचिके अनुसार इस क्षुधाका शमन कर ले। (५) हर किसीको अपना उत्कर्ष साधन करनेके लिये हर बातमें समान अवसर मिले। (६) संस्कृतिके विषयमें धर्मकी भावना सर्वथा त्याज्य है। पूर्ण समत्वसे युक्त भारतीय संस्कृति ही हमारे देशके लिये इष्ट और भूषणभूत है। ऐसी संस्कृति ही किसी भी बाह्य आक्रमणसे देशकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकती है। (७) वर्णभेद, जातिभेद, कर्मभेद, वृत्तिभेद, ज्ञानभेद, ज्ञान और कर्ममें भेद इत्यादि असंख्य श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावदर्शक भेद उत्पन्न करनेवालोंने हिंदूसमाजको छिन्न-भिन्न और खोखला बना डाला है। इससे देशमें सर्वत्र असन्तोष फैला है। इसीसे बार-बार इस देशपर बाहरवालोंके आक्रमण हुए और यह देश दूसरोंका गुलाम बनता रहा। इस अति कटु अनुभवसे हमारी आँखें खुल जायँ और हम इस ऊँच-नीच भावको मिटा देनेका महत्त्व समझ लें। प्राचीन भारतीय संस्कृति 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' यह कहकर साम्यवाद ही स्थापित करती है। डोम-चमार, बढ़ई-लुहार, चोर-साहुकार—सबको वन्दन करना ही प्राचीन रुद्राध्यायकी शिक्षा है।

सनातनी—हिंदू-धर्म-संस्कृतिके व्यवहार और तत्त्व-ज्ञानको यथावत् न समझनेके कारण ही इस प्रकारका मतिभ्रम हुआ करता है। अजातवाद और मायावादका पारमार्थिक तत्त्वज्ञान व्यक्ति या समाजके ऐहिक या भौतिक व्यवहारमें बाधक नहीं है; परंतु मनुष्यके सुदीर्घ जीवनका विचार करते हुए परलोकको विचार-दृष्टिके ओझल कैसे किया जा सकता है। फिर मनुष्यका परम ध्येय भी निरे भौतिकवादमें कैसे समा सकेगा। मनुष्य केवल देहधारी भूतात्मा नहीं है। प्रत्यगात्माका रूप और उसकी भूख पारमार्थिक है। पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक और आधिभौतिकका सम्बन्ध जोड़नेवाली जो आधिदैविक सत्ता है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भौतिक तत्त्व जगत्का स्रष्टा नहीं है; न नियन्ता ही है। यह बात अनायास ही विचारवानोंके ध्यानमें आ सकती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीनों ही दृष्टियोंसे हिंदू-संस्कृतिमें विचार किया जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परिपालनमें आलस्य, निराशा और दुर्बलताके लिये कोई अवसर नहीं है। हमलोगोंकी पराधीनताके कारण हमें अन्यत्र ढूँढने पड़ेंगे।

अनुशासन, संयम और बन्धन—यही शक्तिका कार्यक्षम स्वरूप है। विद्युत्-शक्तिका निरोध करनेसे प्रकाश उत्पन्न होता है, भापको रोक रखनेसे ही इञ्जन चलता है। इसी प्रकार प्राणायाम, चित्तवृत्ति-निरोध, वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि निरोधक साधनोंसे चाहे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, भूत-ऋण आदि ऋण-बन्धनोंसे ही मनुष्योंकी विभिन्न स्वाभाविक एपणाएँ पूर्ण और पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। हिंदू-संस्कृतिके बन्धनोंसे ही समाजकी सुदृढ़ धारणा होती है। मनुष्यकी बुद्धि असंस्कृत अवस्थामें स्वभावतः विषयासक्त और भ्रान्त हुआ करती है। धर्मके नियन्त्रणके बिना उसका संस्कार नहीं होता। रथके घोड़ोंकी लगाम सारथिके ही हाथमें होनी चाहिये।

रूसका साम्यवाद अव्यावहारिक है। वह बहुत काल नहीं ठहर सकेगा। व्यक्तिकी योग्यताका आर्थिक मूल्य यदि कुछ भी न रहे तो उस योग्यताके सम्पादनके लिये दीर्घ प्रयत्न करानेवाली कोई प्रेरणा ही न रह जायगी। व्यावहारिक मनुष्यमात्रके लिये अर्थ लोभनीय है। व्यवहारमें बड़ोंके

सम्मानकी रक्षा अर्थसे ही होती है। गायके खानेकी खली-कराई अथवा ऊँटके खानेके काँटे समताके नामपर किसी सम्मान्य मानव अतिथिके खानेके लिये परोस दिये जायँ तो यह साम्यवाद होगा या समत्वका उपहास ? किसी गायनाचार्यके पीकदान धोनेवालेको जो वेतन दिया जाता है, वही वेतन उस गायनाचार्यको देनेमें उस कलाका क्या आदर रहा और उसे क्या प्रोत्साहन मिला ? न्यायाधीश और न्यायालयमें झाड़ू देनेवाला दोनोंका आर्थिक मूल्य यदि समान माना जाय तो क्यों न झाड़ू देनेवालेको न्यायाधीशके उच्चासनपर बैठाकर न्यायाधीशके हाथसे झाड़ू दी जाय ? यह न समत्व है, न शिष्टाचार ही। योग्यतानुरूप व्यवहार ही हिंदू-संस्कृतिका दण्डक है और यही शिष्टाचार या सदाचार है। कर्मेन्द्रिय और बुद्धि, दोनोंकी योग्यताओंमें बड़ा अन्तर है। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी—दोनोंको एक ही पैमानेसे नहीं नापा जा सकता। हिंदू-संस्कृतिमें केवल एक ब्रह्म ही सम है। उस ब्रह्मके अंदर भासनेवाले इस नाम-रूपात्मक जगत्‌में स्वभावसे ही सर्वत्र वैषम्य है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिका स्वरूप ही भेदात्मक है। गुणसाम्य तो प्रकृतिका प्रलय है। वेरुलकी गुफामें देवालय, देवालयकी सीढ़ियाँ, सिंहासन, शिव-पार्वती और नन्दी—सभी एक ही पत्थरकी चट्टानके अंदर खुदे हुए हैं। पर सीढ़ियोंपर मनुष्य पैर रखकर ऊपर चढ़ता है और भव-भवानीकी मूर्तियोंके सामने राजाओंके राजमुकुट भी नत होते हैं। पत्थरोंकी जाति एक होनेपर भी सभी पत्थर समान नहीं माने जाते। मानवतावादकी समता इसी प्रकार इस वैषम्यमय जगत्‌में केवल अव्यवहार्य और अयुक्तिक है। उच्च कक्षाओंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों और निम्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंमें योग्यताकी समता भला कैसे हो सकती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि हिंदू-संस्कृतिको अयुक्तिक और अव्यवहार्य समझनेवाले नवमतवादी अपने मानवतावाद और साम्यवादकी अव्यवहार्यता नहीं समझ पाते। ईसाई जगत्‌में जात-पाँत नहीं, खान-पानका विधि-निषेध नहीं, शादी-ब्याहके सम्बन्धमें कोई निर्बन्ध नहीं; फिर भी क्रूरतामें हिंस्र पशुओंको भी लजानेवाले जागतिक युद्ध उन्हीं ईसाई राष्ट्रोंके द्वारा कैसे बन पड़े ? अतः मिश्रविवाहोंसे और सहभोजनोंसे एकता स्थापित होती है, यह समझना केवल भ्रम है। कौरव-पाण्डवोंमें या यादवोंमें परस्पर भेदकी कोई बात ही नहीं थी; फिर भी वे आपसमें लड़े, और उन्होंने रक्तकी नदियाँ बहा दीं। तात्पर्य, गौके सींग तोड़नेसे वह बछड़ा नहीं बन जाती, न सूअरकी पीठपर मोतियोंकी झूल डालनेसे उसे हाथीकी महत्ता प्राप्त होती है।

यथार्थमें धनिकवर्ग समाजपुरुषका उदर है। धनिकोंकी धनवत्ता एक बहुत ही उपादेय केन्द्रीभूत शक्ति है। यही शक्ति आजतक अनेकानेक लोकोपकारक कार्य करती चली आयी है। इसीकी बदौलत नानाविध कलाओं और विद्याओंकी वृद्धि हुई है। धनिकोंकी धनवत्ताके सामने यही आदर्श है; पर इस ओर ले जानेवाले साहस और उद्योगकी प्रवृत्तिमें द्रव्यैषणाका होना आवश्यक है। इसी प्रकार मध्यम-वर्ग समाजपुरुषका हृदय, बुद्धि अथवा मज्जातन्त्र है। इंग्लैंड-जैसे अभ्युदयशाली देशके इतिहासमें मध्यम वर्ग राष्ट्रका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। इस वर्गका स्वस्थ, सुखी और समृद्ध होना समाजके लिये बहुत ही आवश्यक है। श्रमजीवी वर्ग समाजपुरुषका कर्मेन्द्रिय-समूह है। समाज-स्वास्थ्यके लिये इस वर्गकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। हिंदू-संस्कृतिमें तीन गुणों और चार वर्णोंके अनुसार इन तीन वर्गोंका यथायोग्य महत्त्व माना गया है। पिछड़े हुए श्रमजीवी वर्गकी सुख-सुविधा और अभ्युदयके साधनमें आस्था रखना सर्वथा उचित है; परंतु साम्यवादके मोहमें पड़कर इन तीन वर्गोंको नष्ट करने, विशेषतः श्रमजीवियोंके हितार्थ मध्यम वर्गको नष्ट करके धनिक वर्गको रसातल पहुँचाया चाहनेवाली दुष्ट वृत्तिको समतावाद या उदार-धर्म कहना शब्दोंकी विडम्बना और विचारोंकी बगावत है। हिंदू-संस्कृतिके उद्यानमें बढ़े हुए, फल-फूल देनेवाले महान् वृक्षोंको अगल-बगलके छोटे-छोटे पौधोंके बराबर कर देनेके लिये यह सोचना कि एक हाथसे ऊँचे जितने पेड़ हों, सब काट डाले जायँ—कितनी बड़ी मूर्खताकी सूझ है ! सर्वत्र समता स्थापित करनेके लिये ब्राह्मण अपने वर्णकी श्रेष्ठता गँवाकर भंगी और चमारके काम करनेके लिये होड़ बदकर दौड़ पड़ें, यह नवीन राजसत्ता अथवा समतावादका उपदेश विवेक-भ्रष्टताका ही एक प्रदर्शनमात्र है ! ब्राह्मणके संस्कार प्राप्त करनेमें बहुत समय लगता है, पर उन्हें गँवा देनेके लिये अविवेककी एक घड़ी पर्याप्त होती है। नवमतवादियोंका यह कहना कि स्त्रियों और शूद्रोंके लिये पराधीन सेवा-धर्म ही विहित करके उनके साथ बड़ा अन्याय किया गया, बिल्कुल गलत है। व्यक्तिनिष्ठ गुणोंके कारणसे स्त्रियाँ गृहस्वामिनी और विदुषी बनी हैं। वेदोंके कुछ सूक्त स्त्रियोंके कहे हुए हैं। शूद्र अपने पराक्रमसे धनिक ही नहीं, नराधिप तक बने हैं।

अन्त्यजादि वर्णोंके लोग अपने कर्तृत्वसे संत-पदवीतक पहुँचे हैं। इस उत्कर्ष-साधनमें हिंदू-संस्कृति किंचित् भी बाधक नहीं हुई। पर हिंदू-संस्कृतिका यह कहना है कि सब कर्मोंकी योग्यता समान समझना तारतम्य-बुद्धिका अभाव है। ज्ञान और कर्मको समान देखना अविवेक है; वर्णभेद, जातिभेदादि भेदोंको मिटाना संकर उत्पन्न करना है। संकरसे फिर विनाश ही होता है। संकरसे श्रेष्ठ गुणोंका उत्कर्ष, उत्कृष्ट संस्कारोंकी वृद्धि, पवित्रताका परिपोषण, ओज-मेधादिका संवर्द्धन—यह सब असम्भव हो जाता है। संस्कृतिका क्रमशः लोप होनेसे प्रजा पशुवत् असंस्कृत बन जाती है। प्रकृति स्वयं ही भेदरूप है, उसे कोई संस्कृति अभेद नहीं बना सकती। सैन्यकी सुव्यवस्थाके लिये विभिन्न श्रेणियों और कर्माधिकारोंकी अलग-अलग पलटनें तैयार करनी पड़ती हैं। केवल मिट्टी या चूनेका ढेर लगा देनेसे दीवार नहीं खड़ी होती। उसके लिये ईंट-पत्थरके अलग-अलग जोड़ कुशलताके साथ एकमें जोड़ने पड़ते हैं। वर्णभेद कहिये या वर्गभेद; भेदोंका होना अपरिहार्य है। इन विभिन्न वर्गोंको एकत्र जोड़ना हिंदू-संस्कृति-जितना और किसीसे भी नहीं बन पड़ा। हिंदू-संस्कृतिके कारण ही, अनेक भेदोंके होते हुए भी, भारतवर्ष कलतक अखण्ड था। इसे खण्डित किया नवमतवादी नेताओंने ही! गीतोक्त स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ताका समदर्शन, रुद्राध्यायमें वर्णित अन्तर्यामीकी समता, श्रीकृष्ण और संतोंके अलौकिक चरित्र स्थूल भौतिकवादियोंके अव्यवहार्य समतावादको कोई आश्रय नहीं दे सकते। भारतीय संस्कृतिका अद्वैत तत्त्वज्ञान दर्शन है, वर्तन नहीं।

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह ॥*

(श्रीमच्छङ्कराचार्य)

सोपाधिक व्यवहारमें अद्वैत—साम्यवाद सम्भव नहीं।

(३) वर्णाश्रमधर्म

आधुनिक—सनातनियोंका यह दावा है कि हिंदू-संस्कृतिने हिंदूसमाजको सुसंघटित रक्खा। हमारा यह कहना है कि इस संस्कृतिकी वर्णाश्रमव्यवस्था चाहे पहले कभी उपकारक रही हो; पर आज तो उससे समाजका नाश ही हो रहा है; इसलिये अब इसे उठा देना ही आवश्यक हो गया है। ब्राह्मणोंको ही वेदोंका अधिकार हो, शूद्रोंको नहीं; ब्राह्मण ही अध्यापनके अधिकारी हों, शूद्रातिशूद्र नहीं; पौरोहित्य ब्राह्मण ही करें, अन्य लोग नहीं—यह सब मालूम होता है ब्राह्मणोंने स्वार्थवश कुटिलतासे अपना ही इजारा कायम किया है। न्यायतः उचित तो यही है कि अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेमें सभीको समान अवसर मिले। जाति-भेदको इसीलिये मिटा देना है। वर्णभेद भी जन्मसिद्ध माननेका कोई कारण नहीं है। मानना ही हो तो जन्मके बाद यथासंपादित गुण-कर्म देखकर मानना चाहिये। इसी प्रकार आश्रमोंमें वानप्रस्थ और संन्यास—ये दोनों निवृत्तिप्रधान आश्रम समाजपर व्यर्थके भारमात्र हैं; इन्हें उतारकर समाप्त ही करना होगा। इनके स्थानमें मनुष्यके तीसरे और चौथेपनके लिये समाजसेवा ही एक आश्रमधर्म माना जाय; क्योंकि इसी वयसमें उसके ज्ञान और अनुभवसे समाज लाभ उठा सकता है।

सनातनी—हिंदू-संस्कृतिकी वर्णव्यवस्था यदि पहले समाजधारक थी तो अब वह समाजविदारक हो जाय—यह सम्भव नहीं है। वर्णद्वेष और जातिद्वेष विदेशियोंकी राजसत्ताने और उन्हीं विदेशियोंका अन्धानुकरण करनेवाले हमारे विवेकहीन समाजसुधारकोंने ही बढ़ाये हैं। 'जात-पाँत मिटा दो' यह जो आवाज उठी है, इसीसे जातिद्वेष बढ़ रहा है। वर्णाश्रमधर्मकी-सी सयुक्तिक और सुव्यवहार्य समाजव्यवस्था पृथ्वीमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है। वृत्तिभेद और व्यवसाय-भेदसे जातिभेद आप ही उत्पन्न होते हैं। इनमें आनुवंशिक शक्ति और कुशलता संचित होनेसे बचपनसे ही उद्योग-धंधोंकी शिक्षाकी एक उत्तम व्यवस्था बन जाती है। इस यान्त्रिक युगमें इसका महत्त्व कम नहीं है। विभिन्न व्यक्तियोंके विशिष्ट गुण-कर्मभेद प्राक्संस्कारानुरूप जन्मसिद्ध ही हुआ करते हैं। जन्मके पश्चात् यथाप्राप्त गुण-कर्म देखकर समाजकी वर्णव्यवस्था निश्चित करनेकी बात सर्वथा अव्यवहार्य है। ऐसा प्रयत्न यदि किया जायगा तो उससे समाजमें बार-बार कुटुम्ब-विच्छेदके प्रसंग उपस्थित होंगे और अनवस्था उत्पन्न होगी। जन्मसिद्ध वर्णभेद मानना प्राक्कर्मानुसार समुचित ही है और इस प्रकारके वैषम्यके लिये कोई किसीको दोष भी नहीं लगा सकता। हर कोई जन्मके साथ प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त परिस्थितिको सन्तोषके साथ स्वीकार करता है। जातिद्वेषका हौआ खड़ा करके हमारे ही विवेकशून्य सुधारक नेताओंने समाज-व्यवस्था विच्छिन्न करनेके प्रयत्नोंके द्वारा समाजमें घोर असन्तोष उत्पन्न किया है। धनोत्पादक

* चित्तमें सदा सबके साथ अद्वैतकी भावना रक्खे, पर कहीं व्यवहारमें अद्वैत न बरतने लग जाय। तीनों लोकोंके साथ अद्वैत-भाव रक्खे, पर गुरुके साथ नहीं।

उद्योग-धन्धे करने या लखपती और करोड़पती बननेकी अभिलाषा रखनेवाले ब्राह्मण विरले ही होंगे। वेदाध्ययन, अध्यापन और पौरोहित्यसे कोई ब्राह्मण धनाढ्य हुआ हो, ऐसा उदाहरण बड़ी कठिनाईसे मिलेगा। ब्राह्मणधर्मके व्रताचरण, अल्पसन्तोष और तप आदि सबके लिये सुसाध्य नहीं हैं। फिर भी विदेशी राजसत्ताने व्यर्थ ही ब्रह्मद्वेष उत्पन्न किया। ब्राह्मणोंने न किसीसे द्वेष किया, न किसीके अभ्युदयमें कोई बाधा डाली। हिंदू-संस्कृतिका आश्रय लेनेवाले अन्त्यजादि स्वधर्म-पालन करके रैदास, चोखामेला आदिके समान पारमार्थिक उन्नतिकी पराकाष्ठा प्राप्त कर सकते हैं और अपने जातिधर्मसे प्राप्त कर्मके द्वारा ब्राह्मणोंसे अधिक वैभवसम्पन्न बन सकते हैं। ब्राह्मणके जन्म और कर्म किसीसे द्वेष करने अथवा किसी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थके लिये हैं ही नहीं।

सेवाको मानव-जीवनका महत्कर्तव्य मानें तो हिंदू-संस्कृतिके चारों आश्रमोंमें गुरुसेवा, कुटुम्बसेवा, समाजसेवा, धर्मसेवा, ईश्वरसेवा आदि हुआ ही करती है। वानप्रस्थ और संन्यास, जो हिंदू-संस्कृतिके परमोच्च आदर्श हैं, अपने सदाचार और सद्विचारोंद्वारा समाजकी जो सेवा करते हैं, उसका मूल्य कौन आँक सकता है?

(४) विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि

आधुनिक—विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि ज्ञान मापनेके अव्यर्थ निकष हैं। यदि सनातनी इन्हें न मानेंगे तो हिंदू-संस्कृतिका मूल्याङ्कन आज और आगे भी असम्भव होगा। इन दोनों निकषोंको न मानना एक तरहका अज्ञान ही है। कोई भी विज्ञ पुरुष परम्परा अथवा सुसंगतिके गुलाम नहीं बने रहते। सत्यका स्वरूप देशकालानुरूप बदला करता है, यही सब विद्वानोंकी मान्यता है। किसी भी राष्ट्रकी संस्कृति अनेकानेक संस्कृतियोंके सङ्गमसे विकसित हुआ करती है। मूल भारतीय संस्कृतिका स्वरूप हमारी वर्तमान हिंदू-संस्कृतिमें नहीं रह गया है। इस अपूर्ण संस्कृतिको मानवतावादकी नवसंस्कृतिमें रूपान्तरित करना इसका विकास ही कराना है। इसी ऐतिहासिक दृष्टिसे भविष्य कालके लोग हमारी संस्कृतिकी ओर देखेंगे। परिवर्तनशील संसारमें प्राचीनसे ही चिपके रहना बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। बचपनमें जो वस्त्र शरीरमें ठीक बैठता था, वह वयस्क होनेपर कैसे बैठ सकता है। कालप्रवाहके साथ संस्कृतिमें भी परिवर्तन होना अनिवार्य है और इष्ट भी है।

सनातनी—आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि दोनों ही कुछ खास विषयोंमें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ज्ञानके ये सच्चे निकष नहीं हैं। आधुनिक विकासवाद काल्पनिक, एकदेशीय और अपूर्ण है। इसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिके आधार बहुधा सन्दिग्ध और अधूरे होते हैं, उनके अनुमान प्रायः प्रमादयुक्त हुआ करते हैं। अतः विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिमें इतनी योग्यता नहीं है कि ज्ञानकी सत्यता अथवा इष्टानिष्टता जाँच सके। मनुष्यकी आवश्यकताओंका बढना, यान्त्रिक उत्पादनका बढ़ना, युद्धकलाका बढ़ना, भौतिक सुख-साधनोंका बढ़ना, नगरोंकी आबादीका बढ़ना, यातायातके साधनोंका बढ़ना, स्त्रियों-बच्चों, किसानों और मजदूरोंकी स्वाधीनताका बढ़ना इत्यादि विकास मानवहितकी दृष्टिसे इष्ट है या अनिष्ट—क्या विकासवाद इसका सुनिश्चित उत्तर दे सकता है? आजकलके विज्ञ यदि आचार-विचारकी सुसंगत परम्पराका कोई महत्त्व नहीं मानते और उनकी दृष्टिमें यदि सत्य देशकालानुसार बदलनेवाली चीज है तो उनका कोई भी आचार-विचार प्रमाण नहीं माना जा सकता; कारण, जिस सत्यको जब कभी वे देखेंगे, वह अपूर्ण ही रहेगा?

हिंदू-संस्कृति यह कुछ भी स्वीकार नहीं करती। आत्मप्रत्यय, गुरुप्रत्यय और शास्त्रप्रत्ययका समन्वय ही सत्यज्ञानका एकमेव सच्चा निकष हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत है। सत्य वही है, जो त्रिकालाबाधित हो। सत्य विकसनशील या परिवर्तनशील नहीं है। सत्यका आदि-अन्त नहीं है। वह परिवर्तनोंका इतिहास नहीं है। इसीलिये वह प्रमाण है। तात्पर्य, सत्य विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिका विषय ही नहीं है। विकासवादकी मान्यता यह है कि मूल अज्ञानसे ज्ञानकी ओर विकास हो रहा है और उस ज्ञानकी कोई पूर्णता, समाप्ति या अन्त नहीं है। विकासवादका यह सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत नहीं है। सृष्टिके मूलमें अज्ञान नहीं, प्रत्युत स्वयं ज्ञान है। उस मूल ज्ञानस्वरूपका कोई विकास नहीं होता; कारण, वह स्वरूपतः पूर्ण है। अज्ञानका आवरण हटते ही वह स्वयं प्रकाशपूर्ण ज्ञान वहाँ है ही। उस मूल ज्ञानका जिस प्रकार कोई विकास नहीं है, उसी प्रकार कोई इतिहास नहीं है। वही बात आनन्द अथवा सुखकी है। अपूर्णतामें दुःख भासता है। पर मूल ब्रह्म पूर्ण होनेके कारण सुखस्वरूप है। आधुनिक आत्माका विकास मानते हैं। परंतु आत्मा पूर्ण ब्रह्म है, इसलिये उसका विकास सम्भव नहीं। हिंदू-संस्कृतिमें अपरोक्षानुभूति ही ज्ञानका निकष होनेसे उसे इन दोनों वादोंकी कोई आवश्यकता नहीं।

हिंदू-संस्कृतिके रहस्यमय सिद्धान्त स्वतःप्रमाण अपौरुषेय वेदोंपर प्रतिष्ठित होनेसे त्रिकालाबाधित हैं, विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिके विषय नहीं । विशुद्ध हिंदू-धर्म-संस्कृति परकीय संस्कृतियोंके सङ्गमसे विकसित नहीं हुई है । आधुनिक तो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति आधुनिक हिंदू-धर्म-संस्कृतिमें रूपान्तरित हुई है; पर इस रूपान्तर या परिवर्तनको विकास नहीं कहते । फिर ये लोग यह भी कहते हैं कि समाजसत्तावाद, साम्यवाद, मानवतावाद आदि तत्त्वज्ञानके विकसित रूप जब हमें प्राप्त हैं, तब इन्हें छोड़ अज्ञानकी ओर पीछे फिरकर उस पुरातन अविकसित वैदिक कालमें जा पैठनेकी चेष्टा करनेसे बढ़कर अविवेक और क्या होगा । इस प्रकार ये आधुनिक एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृतिके गीत गाते हैं तो दूसरी ओर उन्हीं वेदोंको किसी असभ्य और पुराने बाल्ययुगकी तोतली बातें कहकर उनका उपहास करते हैं । आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिका यह एक निर्बन्ध वाग्विलासमात्र है ।

(५) धर्म और कानून

आधुनिक—धर्मविरोधी कानूनोंके सम्बन्धमें आजकल सनातनियोंने बड़ा कोलाहल मचाया है । सबके समान अधिकारों और विभिन्नधर्मावलम्बी समाजोंको सुव्यवस्थित रखनेमें जब हमारी संकुचित वृत्तिवाला धर्म असमर्थ हुआ, तब ये ही बातें कानून बनाकर करनी पड़ीं । आज तो धर्मानुशासन माननेमें किसीकी भी रुचि नहीं है । ऐसी अवस्थामें समाजहितके उपाय कानूनोंके द्वारा करा लेनेके सिवा और चारा ही क्या है ? राजकाजमें दण्डनीतिका अवलम्बन करना ही पड़ता है ।

सनातनी—दण्डनीति राज्यशासनका एक अङ्ग हुआ करे । पर दमननीतिके कानूनोंकी जैसी आवश्यकता एक परायी सरकारको परकीय भावके कारण पड़ी, वैसी अपनी सरकारको तो न पड़नी चाहिये थी । पर आजकल तो कानूनोंकी टकसालसे रोज-रोज नये-नये दमन-कानून ही निकल रहे हैं ! ऐसी दमननीतिके राज्यको लोकमतका राज्य कैसे कहा जाय । स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सर्व-शास्त्रविद् सर्वसङ्गपरित्यागी महात्मा और उनके धर्मसङ्घद्वारा परिचालित अत्युज्ज्वल धर्मसत्याग्रह तथा हिंदू-संस्कृतिकी अनन्य निष्ठा और कर्मशक्तिसे प्रेरित 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ'का भी इस सरकारको इस प्रकार दमन करना पड़े, यह कैसा स्वराज्य है !

आज अपनी सरकारके सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं—अन्नकी कमी, नवीन शासनविधानका निर्माण, पाकिस्तानकी कुचालोंसे नित्य नये पैदा होनेवाले झगड़े । पाकिस्तानके ही कारण उत्पन्न निर्वासितोंका तथा काश्मीरका प्रश्न, कम्यूनिस्टोंकी उपद्रव नीति, तृतीय विश्वयुद्धकी तैयारी—इन सब अति विकट प्रश्नोंके सामने रहते हुए सरकार चुटकीमें इनमें समय निकालकर जल्दी-जल्दीमें बिल्कुल बे-जिम्मेदार ढंगसे धर्मविरोधी कानूनोंके बाणोंसे सनातनियोंके हृदयोंपर आघात करती है ! इनके बिना सरकारका कौन-सा काम रुका था ? गोवध रोकनेके लिये कानून क्यों नहीं बनाती ? आयुर्वेदिक औषधालयों और कारखानोंके पीछे भी सरकार क्यों पड़ी है ?

हिंदू-धर्म यदि परिवर्तनीय हो और आयुर्वेदिक पद्धतिमें सुधारका अवसर हो; तो भी जिन लोगोंने उन-उन विषयोंका साम्प्रदायिक पद्धतिसे आस्थापूर्वक दृढ़ अभ्यास करके उनमें नैपुण्य और अनुभव प्राप्त किया है, उन्हींके बहुमतके आधारपर कोई सुधार न सोचकर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे—चाहे जो निर्णय करने बैठ जायँ, यह कहाँकी बुद्धिमानी और कहाँका न्याय है ? सरकारी व्यवस्थापक सभाओंमें ऐसे विशेषज्ञ भला; कितने होंगे ? सच्चा धर्मज्ञान अखण्ड गुरु-परम्परासे ही प्राप्त होता है । कालेजोंमें वह शिक्षा नहीं मिला करती, न प्राच्यविद्यासंशोधकोंके ग्रन्थ पढ़नेसे ही उसका कोई बोध होता है । केवल आधिभौतिक ज्ञानसे अथवा विषयलोलुप उपयोगितावादसे हिंदू-धर्म-संस्कृतिका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है । हमारी धर्म-संस्कृति सर्वतोमुखी है । उसकी विचार-पद्धतिमें स्थूल आधिभौतिकके सिवा आधिदैविक, आधियाज्ञिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी समाविष्ट रहते हैं । उन दृष्टियोंसे रहित हमारी नवमतवादिनी बहिर्मुखी राज्यव्यवस्थाके दमनकारी कानूनोंके आगे हिंदू-धर्म और आयुर्वेदकी क्या गति होगी ? उनका शुद्ध स्वरूप इस अवस्थामें टिकना असम्भव हो जायगा । हिंदू-संस्कृतिपर होनेवाले इस प्रहारसे सनातनी हिंदू जनताके हृदय व्यथित होनेके सिवा और क्या प्राप्त करेंगे ?

इसी प्रकार अन्त्यजों और अन्य पिछड़े हुए समाजोंकी आर्थिक दुरवस्था दूर करनेका उपाय करना स्वराज्य-सरकार-का कर्तव्य है, इस विषयमें सबका एकमत है । इन्हें इनके व्यवसायोंके लिये जो शिक्षा आवश्यक है, वह भी दी जानी चाहिये—इसमें भी कोई सन्देह नहीं । स्त्रियोंके दुःख-दर्दका

विचार करना भी आवश्यक ही है। पर इन सब बातोमे अनावश्यक जबर्दस्तीके कानून बनाकर जो क्षोभ उत्पन्न किया जा रहा है, वह राजसत्ता और कानून बनानेके अधिकारका केवल दुरुपयोग है। देवमन्दिरोंमे प्रवेशका कोई अधिकार अन्त्यजोने न चाहा था न माँगा था; फिर भी जिन्होने मन्दिर-प्रवेश-बिल व्यवस्थापक-सभाओमे उपस्थित किये और अट्टहासके साथ देशकी जनतापर उन्हे लादना चाहा, क्या उन्होने कभी इस बातका विचार किया था कि देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा क्या होती है अथवा इन मन्दिरोमे वर्षानुवर्ष सतत विधिपूर्वक जो देव-पूजा और धर्मानुष्ठान होते हैं, उनसे किस प्रकारके शक्ति-संस्कार वहाँ केन्द्रित होते हैं और उनके पावित्र्यकी किस प्रकार रक्षा की जाती है ? अन्त्यजोके मन्दिर-प्रवेशसे देवमन्दिर पहलेसे अधिक पवित्र हो गये—यह जो लोग निधड़क कह डालते है, क्या उन्होने मन्दिरोके द्वार अन्त्यजोके लिये खोल देनेके पश्चात् कभी उन मन्दिरोकी ओर झाँका भी था अथवा उन अन्त्यजोके चित्तमे ही वहाँ जाकर भगवान्‌के दर्शन करनेकी कभी प्रेरणा हुई थी ? ये दोनो ही बाते यदि नही हुई तो बिना सोचे-समझे मन्दिर-प्रवेशकी जो उतावली उन्होने की, उससे सनातनी हिंदू-जनताके हृदयपर कठोर प्रहार करनेके सिवा उन्होने और क्या पा लिया ? उससे अन्त्यजोकी कौन-सी उन्नति हुई ? अन्त्यजोंका मन्दिर-प्रवेश होनेके लिये छटपटानेवाले इन नेताओंने क्या कभी इन देवमन्दिरोकी वास्तविक रक्षा, उद्धार और उत्कर्षके लिये कोई उपाय सोचा ? इनमे ज्ञान-कर्म-भक्तिके सत्र चलाने और भक्तिप्रेमके उत्सव मनाकर जनतामे भगवद्भक्तिका प्रचार करनेका कोई प्रयत्न किया ? यदि नहीं तो मन्दिरोकी पवित्र परम्परापर यह प्रहार करनेका क्या मतलब है ? इसी प्रकार कारखानोके मजदूरो और खेती करनेवाले किसानोको कानून बनानेके अपने अधिकारके जोरपर यह कहकर जो उभाडा जा रहा है कि 'मजदूरो ! कारखानोके मालिक तो तुम्हीं हो, ये पूँजीपति केवल तुम्हारे विश्वस्त है' अथवा 'किसानो ! तुम्हे हम इन खेतोके मालिक बना देगे', इससे मजदूरो और किसानोका शील और चरित्र बिगड़ रहा है। इनके शील और चरित्र बिगड़ चुकनेपर हम उन्हे सुधारना चाहेगे तो पछतावा ही हाथ रह जायगा। इसी प्रकार स्त्रियोकी अमर्याद स्वतन्त्रता; स्त्रियोके प्रौढ़ातिप्रौढ विवाह और विवाह-विच्छेदके कानून बनाया चाहनेवालोने क्या कभी यह सोचा है कि इनके द्वारा हम हिंदुओके वैवाहिक और कौटुम्बिक सुखका जीवन नष्ट कर रहे है, हिंदू-धर्म-संस्कृतिकी परम्परासे सहजप्राप्त पावित्र्य, पातिव्रत्य, सतीत्व आदि गुणोंको उत्सन्न कर रहे हैं ? बिगाड़ना सहज है, बनाना बहुत कठिन।

वैयक्तिक और सामाजिक सुनीतिकी रक्षा और सुधारका काम हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परम्परागत सुदृढ़ संस्कार ही कर सकते हैं। कानूनके द्वारा ऐसे सामाजिक सुधार कराना केवल अन्याय और अत्याचार है। जहाँ कानूनोका ही सारा बल और भरोसा होता है, वहाँ उनसे बचनेके उपाय भी निकल आते है। धर्मका शास्ता ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् और सारे जगत्‌का नियन्ता होता है। उसकी आँख बचाकर निकल भागना किसीके लिये सम्भव नहीं होता। कानून बनानेवाले मनुष्योको धोखा दिया जा सकता है, ईश्वरको नही। कानून बहिर्मनका बाह्य प्रयोग है। धर्म हृदयसे संलग्न रहता है। उसका सहसा विस्मरण नही हो सकता। ईश्वरका जीवके साथ सहज अन्तर्गत सम्बन्ध है। वही धर्मपटका धागा है। कानून अथवा दण्डनीतिके द्वारा जो शासक-शासित-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह कृत्रिम बलप्रयोग है। यह कहना कि आजकल धर्मका शासन कोई नही मानता, सच्ची बातको बिगाड़कर कहना है। धर्मानुशासनको स्थिर करनेके लिये अनुकूल राजसत्ताकी भी आवश्यकता होती है। पहले यदि विधर्मियोंकी राजसत्ता थी तो अब धर्मातीत राजसत्ता है; तब धर्मानुशासन स्थिर कैसे हो ? उदाहरणार्थ, धर्मबाह्य आचरण करनेवालेको पहले जातिसे अलग किया जाता था। पर ऐसा करना यदि आजकी सरकारके कानूनमे अपराध हो तो इसे धर्मानुशासन मिटानेका ही प्रयत्न समझा जायगा।

(६) सर्वराष्ट्रिय प्रतिष्ठा

आधुनिक—यातायातके साधनोकी वृद्धि, व्यापार, रेडियो और समाचारपत्रोकी बहुलता तथा जागतिक युद्धोके कारण सब राष्ट्र परस्पर सम्बद्ध हो गये है। ऐसी अवस्थामे अपनी निवृत्तिप्रधान संस्कृति लेकर भारतवर्ष संसारसे अलग अकेला वेदपाठ अथवा जप-तप-अनुष्ठान करता बैठा रहे, इससे तो कोई काम नहीं चलेगा। सर्वराष्ट्रिय नेताओकी परिषदोंमें भारतको भी उच्च स्थान मिलना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब वह अपने ही राष्ट्र और अपने ही धर्मको लेकर न बैठा रहे, बल्कि इस संकुचित व्यावर्तक अभिमानको त्यागकर भौतिक विज्ञानको ही एकमात्र अभ्युदयकारक शास्त्र और मानवतावादको ही एकमात्र व्यावहारिक विश्वधर्म जानकर स्वीकार करे।

सनातनी—सच पूछिये तो राजनीतिक पराधीनताके कारण झुका हुआ अपने देशका मस्तक, सर्वराष्ट्रिय जगत्‌मे,

हिंदू-संस्कृतिके कारण ही आज भी ऊँचा है। (अभी पिछले दिनों हमारे माननीय प्रधान सचिव पं० श्रीनेहरूजी भी अमेरिका जाकर इस संस्कृतिकी ही गौरव-गाथा साभिमान सुना आये हैं।) इस देशकी यह अनन्य-साधारण विशिष्टता ही संसारमें इसकी महत्ता स्थिर रखनेमें समर्थ है। इसीमें हमारा और जगत्का भी कल्याण है। झुंडमें शामिल न होनेवाले वनराज सिंहने सबसे अलग रहकर अपनी धाक सबपर जमायी है। जहाँ दस झुरमुट हैं, वहाँ ग्यारहवें यदि हम भी हो गये तो इसमें क्या रक्खा है ? एक-ही-एक गगनचुम्बित वृक्षराज बननेमें ही महत्ता है। स्वाभिमान त्यागकर दूसरोंके साथ हिल-मिल जानेसे कभी कोई महान् नेतृत्व नहीं प्राप्त होता। बकोंकी पंक्तिके समान किसी समूहमें न रहनेवाला मोर मोर ही रहता और अपनी स्वतःसिद्ध महिमा और वैभवसे सुशोभन ही दीखता है।

व्यवहारकी पूर्तिके लिये भौतिक विज्ञानोंका अर्जन अवश्य करना चाहिये। पर भौतिककी अपेक्षा आधिदैविक और आध्यात्मिकका महत्त्व बहुत अधिक है। पाश्चात्त्य जगत् जडवादके पीछे पड़ा है, इसलिये हम भी वैसे ही बन जायँ—यह सोचना तो विचारशून्य अन्धानुकरण है। हमारा कार्य यह है कि हम हिंदू-संस्कृतिके आधिदैविक और आध्यात्मिक तेजसे जगत्को दीप्त करें। यही सच्चा पुरुषार्थ है।

हमने अपने राज्यको 'धर्मातीत' कर डाला और मुसल्मानोंको खुश करनेवाली राजनीति स्वीकार कर ली; फिर भी पाकिस्तान दुलत्ती ही झाड़ रहा है और सर्वराष्ट्रिय परिषदोंमें कट्टर इस्लामधर्माभिमानी पाकिस्तानकी ही पीठ ठोंकी जा रही है। प्रत्यक्ष अनुभव तो यही है। आजके सर्वराष्ट्रिय राजनीतिक सम्बन्ध अति नीच स्वार्थ और अत्यन्त कुटिल राजनीतिसे ग्रस्त हैं। ऐसी स्थितिमें अपने देशका गौरव और व्यक्तित्व किसी बातमें है तो वह अपने समुज्ज्वल हिंदू-धर्मका उत्कट अभिमान ही है। राष्ट्रोंके स्वार्थप्रेरित परस्पर कलह, ऐटमबम आदिकी तैयारियाँ, परस्पर घोर अविश्वास—इन सब चीजोंको साफ-साफ देखते हुए भी मानवता और विश्वधर्मकी बातें करना कल्पनाजालमें समुद्रकी लहरोंको पकड़नेके समान ही अव्यवहार्य और हास्यास्पद है। ऐसी फालतू बातोंमें पड़कर हम अपने राष्ट्र और अपनी हिंदू-धर्म-संस्कृतिका अभिमान छोड़ बैठें, इससे बढ़कर मूर्खताकी और कोई बात नहीं हो सकती। 'यह विश्व ही मेरा घर है' यह सर्वभूतात्मभूत स्थितप्रज्ञकी अनुभूति है। वैषम्यपूर्ण जगद्व्यवहारमें उसकी प्रतीति असम्भव है। इसलिये अपने सींग तुड़वाकर बछड़ोंमें मिल जानेवाली गौके समान अपनी दिव्य संस्कृति और उज्ज्वल धर्मनिष्ठा त्यागकर अन्य राष्ट्रोंकी कुटिल राजनीतिके साथ समरस हो जानेकी बात केवल अन्ध अविचार है। हमारी श्रेष्ठ धर्म-संस्कृति जो वनवासी एकाकी तपस्वीकी हिंस्र पशुओंसे रक्षा करती है, वह एकाकी भारतवर्षकी भी रक्षा करेगी। संत-मुनियोंके आश्रमोंमें यदि हिंस्र पशु अपना क्रूर स्वभाव त्याग देते हैं तो अन्य मानवी राष्ट्र हमारे साथ शान्ति और सौजन्यका ही व्यवहार करेंगे; यदि हम अपनी संस्कृति और धर्मनिष्ठामें सच्चे हैं। ऐसा ही आत्मविश्वास राष्ट्रमें जगाना चाहिये, यही श्रेयस्कर है।

(७) लोकतन्त्र और राजतन्त्र

आधुनिक—राज्यकी प्रातिनिधिक संस्थाओंके निर्वाचनमें देशके सब बालिग मनुष्योंको मत (वोट) देनेका अधिकार देकर सबके समान अधिकारोंकी नींवपर जो लोकतन्त्र हमारी स्वराज्य-सरकारने खड़ा किया; उसके प्रखर तेजके सामने सब देशी राजतन्त्रोंके राजमुकुट पिघलकर रसातलको चले गये। यह लोकतन्त्रकी कितनी बड़ी विजय हुई ! अब लोकतन्त्र ही हमलोगोंकी संस्कृति है, अन्य किसी संस्कृतिको माननेके लिये हमलोग तैयार नहीं हैं। भारतीय संस्कृति प्राचीन गणराज्योंके समान लोकतन्त्रकी मान्यता स्वीकार करती हो, तभी वह लोकमतपर निर्भर रहकर आगे जी सकती है; अन्यथा यहीं उसका अन्त है।

सनातनी—कुछ इतिहाससंशोधक यह बतलाते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें पहले गणराज्य थे; पर ये गणराज्य-रूप लोकतन्त्र किस प्रकारके थे और वे राजतन्त्रमें क्यों विलीन हो गये; यह निश्चितरूपसे जाननेके पर्याप्त साधन आज उपलब्ध नहीं हैं। पर राजतन्त्र हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकार्य न हो, ऐसी कोई बात उसके प्राचीन साहित्यसे नहीं प्रतीत होती। राजतन्त्रमें जो ऐश्वर्य और सूत्रैकता विद्यमान रहती है; वह लोकतन्त्रमें नहीं रहती। फिर राजाको उसकी प्रजा भगवान् विष्णुके प्रतीक-रूपमें, ऐश्वर्यके आदर्शरूपमें देखना चाहती है। आबाल-वृद्ध-वनिता—सभी जिस लोभनीय और दर्शनीय राजैश्वर्यके इच्छुक रहते हैं, वह राजैश्वर्य आजके लोकतन्त्रमें कहीं भी दीख नहीं सकता। अपने देशका यह नवस्थित्यन्तर देखकर हिंदू-संस्कृति तो अश्रुपात ही करेगी ! फिर यह भी समझनेकी बात है कि लोक-कल्याणकी जो नैतिक और धार्मिक जिम्मेदारी एक राजापर होती है; उसकी किंचित् भी वेदना

लोकतन्त्रके सैकड़ों नामधारी प्रतिनिधियोंको नहीं हो सकती । हाँ, राजतन्त्रका उद्दण्ड और स्वैराचारी होना सम्भव हो सकता है । पर राजापर नियन्त्रण रखनेवाले उसके विचारशील मन्त्री भी तो होते ही हैं । इसके विपरीत नामधारी लोकतन्त्र कृत्रिम, बेजिम्मेदार और बायें हाथके खेलके बराबर बहुमतके बलपर स्वैर अधिनायकतन्त्र बन जाता है—यह तो आजका प्रत्यक्ष अनुभव ही है ।

वर्तमान लोकतन्त्रके मुख्य-मुख्य दोष देखना हो तो बालिग-मताधिकारकी वर्तमान पद्धतिमें देख लीजिये कि (१) कैसे-कैसे झूठे आश्वासन और प्रलोभन दिये जाते हैं, कैसी कुटिल नीति बरती जाती है, कैसी झूठी परनिन्दा और आत्मश्लाघा की जाती है, कैसे-कैसे लालच दिलाये जाते, सिफारिशें की जाती और रिश्वतें दी जाती हैं और (२) समाजमें कैसे व्यर्थके अनर्थकारी संघर्ष उत्पन्न किये जाते, और असत्य एवं अविवेकको उभाड़ा जाता है । फिर अपने देशकी प्रजा अशिक्षित होनेसे उसे मत देते हुए यह पूरा पता नहीं रहता कि किसको किसलिये वोट दिया जाता है । समझ-बूझकर जिम्मेदारीके साथ वोट देनेवाले कितने होते हैं । ऐसी अवस्थामें बालिग-मताधिकारसे किया जानेवाला निर्वाचन एक खेल होता है और वह भी झूठ और धोखाधड़ीसे भरा हुआ । तीसरा दोष इस निर्वाचन-पद्धतिमें यह है कि प्रत्येक उम्मीदवार यही महामन्त्र उचारा करता है कि 'मैं बुद्धिमान् हूँ, मुझे वोट दो ।' उम्मेदवारीकी शर्तें और चुनावके लिये किया जानेवाला घटाटोप, यह सब अशिष्टताका ही एक प्रदर्शन होता है । कितने ही महान् योग्यतावाले पुरुष ऐसी अवस्थामें उम्मीदवार होना अपनी शिष्टता और सुजनताके विरुद्ध समझते हैं । इस कारण उनकी अमूल्य सेवा और सत्परामर्शसे जनता वञ्चित ही रह जाती है । इन सबसे अधिक निन्दनीय और अनर्थकारक मिथ्याचार और विश्वासघात इसमें यह होता है कि लोग जिसे अपना प्रतिनिधि चुन देते हैं, वह चुन जानेपर अपने निर्वाचकोंको भुला देता है । व्यवस्थापक-सभाओंमें वह उनका मत नहीं बतलाता बल्कि अपना मत या अपने दलविशेषका मत उनपर लादकर उनके साथ विश्वासघात करता है !

पहलेकी ग्रामपञ्चायतोंमें निर्वाचनके क्षेत्र बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे । पंचोंको यह कहनेकी जरूरत नहीं पड़ती थी कि लोग हमें पंच चुनें । पंचोंका काम कर सकनेवाले व्यक्तियोंको लोग स्वयं अच्छी तरहसे जानते थे और उन्हींको पंच चुनते थे । राजा अपने मन्त्री स्वयं ही निर्वाचित करता था । सदाचारसम्पन्न विज्ञलोग राज्यकी धुरा धारण करें, यही अन्तःस्थ नीति थी । राजाको मन्त्रणा देनेवालोंमें वशिष्ठ-जैसे अथवा समर्थ रामदास-जैसे धर्माध्यक्ष हुआ करते थे । बालिग-मताधिकार तत्त्वतः चाहे जो कुछ भी हो, प्रत्यक्षमें अव्यवहार्य और संघर्षकारक है ।

समारोप

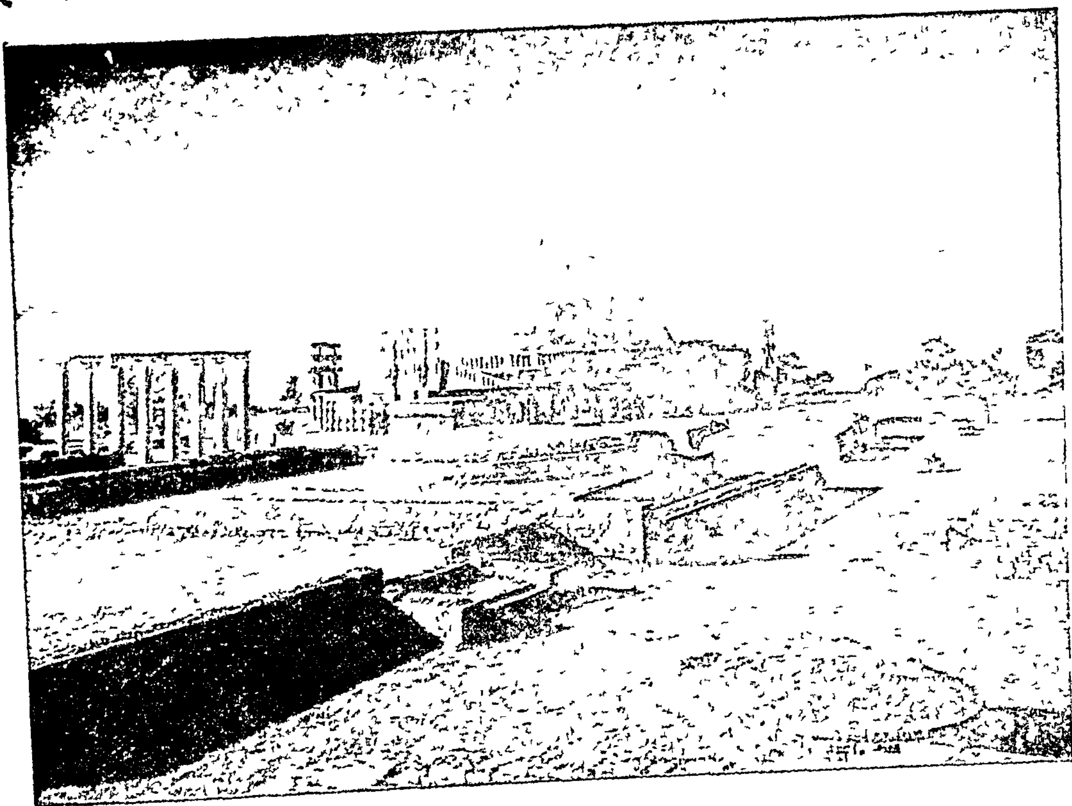
मुख्याध्यापक—मेरे युवक विद्यार्थियो ! तुमलोगोंने अभी जो चर्चा की, उसका सुस्थिर, शान्त और संयत ढंग देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । नवमतवादी वक्ताने हिंदू-संस्कृतिसम्बन्धी अपने आक्षेप संक्षेपमें बतलाकर उनके समाधानके लिये अधिक अवसर दिया, यह उनका सौजन्य है और इसके लिये हृदयसे मैं उन्हें बधाई देता हूँ । चर्चाके लिये आज जो प्रश्न सामने रक्खे गये थे, उनका स्वरूप इतना व्यापक और गहन है कि पूर्णरूपसे उनका आकलन करना तुमलोगोंकी अनुभवरहित बुद्धिके लिये सम्भव नहीं था । प्रत्येक प्रश्नपर पूर्वोत्तर पक्षके लिये दस मिनटका समय रक्खा गया था, वह भी पर्याप्त नहीं था । परंतु मुझे एक प्रयोग करके देखना था, इसीके लिये मैंने यह प्रसंग उपस्थित किया । आजकल समाचारपत्रोंमें प्रायः नवमतवादका ही युक्तिवाद पाठकोंके सामने रक्खा जाता है । इससे हिंदू-संस्कृति-सम्बन्धी मतभेदकी बातें सबको मालूम रहती हैं । पर इन बातोंका सनातनी दृष्टिसे क्या समाधान है, वह जाननेका कोई अवसर पाठकोंको नहीं मिलता । कारण, सनातनियोंके समाचारपत्र बहुत थोड़े और संक्षिप्त हैं । इसका भी कारण यही है कि हमारे आचार-विचारोंपर परायी संस्कृतिकी जबर्दस्त छाप पड़ी है । यह जो कुछ पहले होना था, हुआ । पर अब हम सबके सौभाग्यसे अपने देशमें अपना राज्य स्थापित हो गया है । अतः अब अपने धर्म और संस्कृतिका गम्भीर अध्ययन आस्थाके साथ होना चाहिये । परकीय शासन-कालमें जो वकील-बैरिस्टर आदि कानूनके जानकार लोग थे, उन्हींमेंसे आगे बढ़े हुएँ जिन लोगोंने परकीयोंके साथ वाद-विवाद करनेमें कुशलता प्राप्त की, वे ही हमारे नेता हुए और हमारे बालकों और नवयुवकोंकी शिक्षा-दीक्षा भी ऐसे प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके हाथोंमें रही, जो पाश्चात्त्य संस्कृतिसे अभिभूत थे । इन्हीं नेताओं, प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके विचार हमलोग

सदा पढ़ते और सुनते रहते हैं। इन विचारोंमें स्वधर्मके बारेमें प्रायः अज्ञान और अनास्था—ये दोष स्पष्टतया रहते हैं। पर ये दोष उन्हें ज्ञात नहीं रहते। यही सोचकर मैंने आज यह संवाद प्रयोगके तौरपर रचाया। यह गुरु-संवाद एक नमूनेके तौरपर प्रकाशित करनेके योग्य हुआ, इसका सारा यश तुम विद्यार्थियोंको ही है। जो सुशिक्षित नेता और अन्य विचारशील पाठक अपने मनका दुराग्रह छोड़कर निर्विकार मन और शान्त चित्तसे इस संवादका मनन करेंगे, उन्हें इसमें बहुत-से विचार चिन्तन करने योग्य मिलेंगे। विद्यार्थियोंके इस संवादमें निर्णयात्मक विवेचन विशेषरूपसे भले ही न मिले; पर इससे इतना तो मालूम हो ही जायगा कि आजके नवमतवादी नेता जो कुछ कहते हैं, उसका एक दूसरा पक्ष भी है। आजके संवादमें सनातनी प्रौढ़ विद्यार्थीने जो उत्तर पेश किये, उससे यह विश्वास होता है कि ऐसे प्रौढ़ विद्यार्थियोंके सनातनी आचार्य गुरुके सर्वोत्तम प्रकार उनसे आदरपूर्वक बातचीत विचार-विनिमय किया जाय तो हिंदू-संस्कृतिके अनेक गुण स्पष्ट होंगे। इसलिये अपनी [illegible] और [illegible] विचार करते हुए सर्वोच्च संस्कृतिकी अवहेलना और विदेशियोंका जो विशेष आदरके साथ अध्ययन और अनुकरण तक करते हैं पर अपनी संस्कृतिको साम्प्रदायिक निष्ठासे समझनेका कुछ भी प्रयत्न नहीं करते—यह अत्यन्त खेदजनक और अनर्थकारक आचरण आज हमारे नेता कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे और यह छोटा-सा संवाद उनकी वृत्तिको अन्तर्मुख करनेका निमित्तमात्र कारण बने, यही मेरी आशा-कामना है।

मैं कौन ?

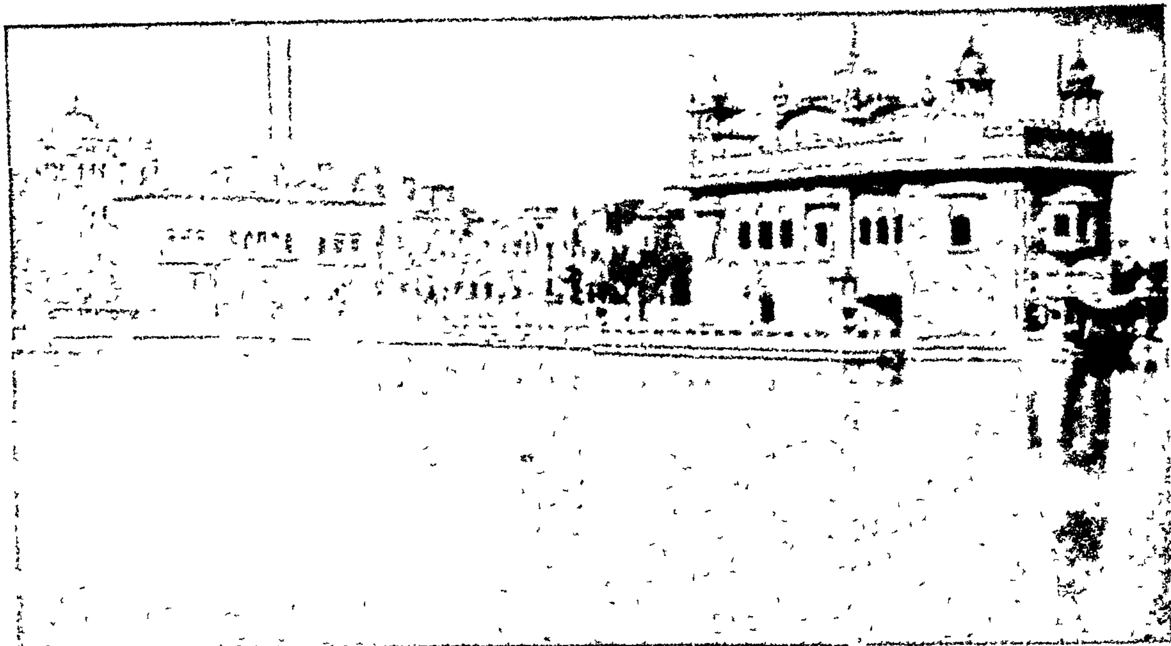
मैं हिंदू-कुलकी कुल-देवी, कबतक अदृश्य औ मौन रहूँ ?
अपना अनर्थ अपमान सहूँ ? फिर आज क्यों न 'मैं कौन' कहूँ ?
मैं हूँ अदृश्य, लेकिन घर-घर मेरी प्रतीक है गो-माता !
जिसकी पूजा हिंदू-समाज कर ऋद्धि-सिद्धि सब कुछ पाता ॥
गोपाल-बाल बन, दुष्ट-दलन माधवने जब मुरली टेरी।
तत्काल विश्वमें स्वर-लहरी बन फैल गयी महिमा मेरी ॥
संस्कृत, प्रशस्त मेरा मुख है, स्मृतियाँ मेरी वाणी अक्षय।
जिसमें सज्जन-गण मज्जन कर, कलि-कल्मषका कर देते क्षय ॥
ऋक्-साम-अथर्व-यजुर्वेदोंको मेरी चार भुजा जानो !
वृष-शङ्ख-चक्र-स्वस्तिक-अम्बुज मेरे कर-धृत आयुध मानो ॥
अभ्युदय और निःश्रेयस ही सुर-नर-मुनि-वन्दित पद पावन।
विचरण करती हूँ निष्कण्टक, युग धर्म विमल मेरा वाहन ॥
शम-दम-यम-नियम-व्रतोंको रख, करते बुध-जन मेरा अर्चन।
अध्यात्म-वेदिकापर रखते नित प्रेम-दया-सद्भाव-सुमन ॥
मम तुष्टि-हेतु निशिदिन होतीं अगणित प्राणोंकी आहुतियाँ।
उन वीरोंकी गाथा-मिष ही गायी जातीं मेरी स्तुतियाँ ॥
धृति-सुकृति-सुमति-सद्गति-सुखदा मैं हूँ हिंदू-संस्कृति देवी !
संसृति पूजे या मत पूजे, भारत मेरा सच्चा सेवी ॥
जबतक जगमें अक्षुण्ण बना, मेरा यह वर्णाश्रम-मन्दिर !
तबतक मैं अचल हिमाचल-सी, उन्नत सप्रभ शाश्वत सुस्थिर ॥

—भवदेव

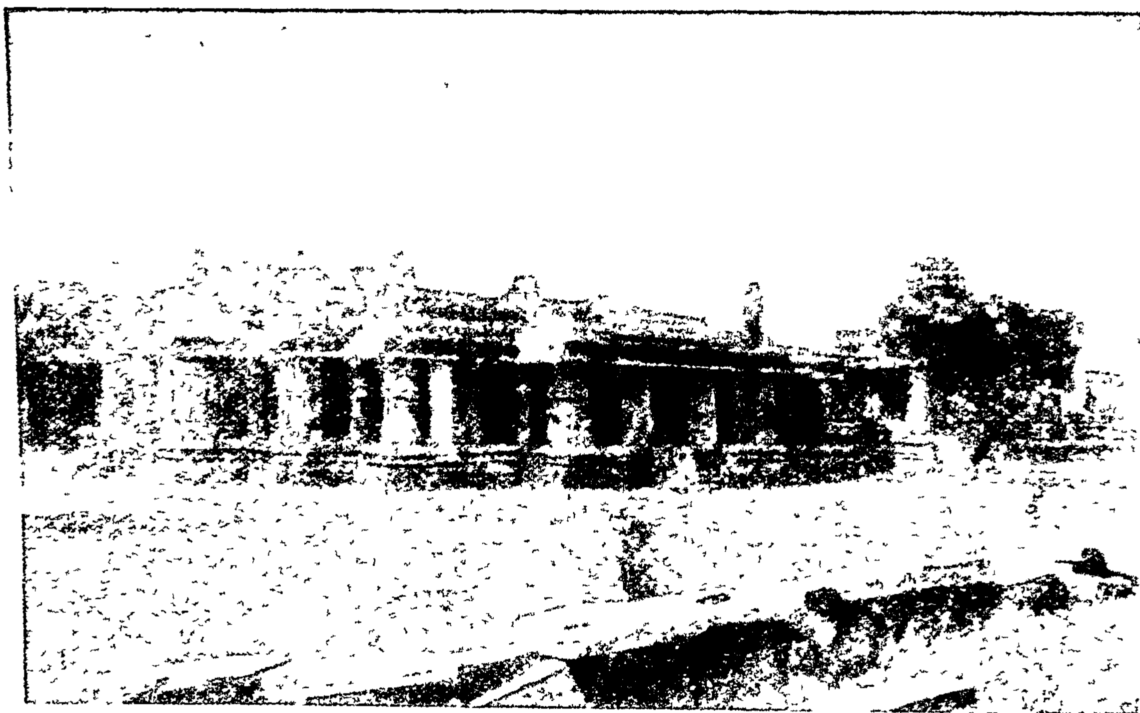


साँचीका स्तूप

चित्तौड़का विजय-स्तम्भ



अमृतसरका स्वर्ण-मन्दिर



विट्ठल-मन्दिर, विजयनगर

रामराज्य

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम्० ए०)

भारतीय संस्कृतिमें राम-राज्य सदासे सुराज्यका पर्यायवाची रहा है। राम-राज्यका वह युग सचमुच अतिशय समुन्नत एवं न्याय और नीतिपर आधारित भारतीय शासन-व्यवस्थाका एक स्वर्णयुग था। तत्कालीन राजनीतिके आदर्श आज भी हमारी पहुँचके बाहर हैं। तब वे शासनतन्त्रके निरन्तर व्यवहारमें आनेवाले दैनिक सूत्र थे। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाके भी बहुत-से संकेत हमें उस समयकी राज्य-व्यवस्थामें अनायास ही प्राप्त हो जायँगे।

शासनतन्त्रका स्वरूप

रामायणकालीन भारतमें कई स्वतन्त्र राज्य थे—जैसे मिथिला, काशी, कोसल, केकय, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, विशाला, सांकाशी, वङ्ग, अङ्ग, मगध और मत्स्य। हिमालय और विन्ध्य पर्वतोंके मध्यका भूभाग आर्यावर्त था। विन्ध्य-पर्वतके दक्षिणमें वानरों और राक्षसोंके प्रदेश थे। उस समय भारतमें कोई एकच्छत्र साम्राज्य नहीं था। पर अयोध्याके राजाकी सत्ता निकटवर्ती सामन्त राजाओंपर पर्याप्त थी। दशरथको 'नतसामन्तः' कहा गया है। विश्वामित्र उनसे पूछते हैं कि 'क्या आपके सामन्त राजा तथा शत्रुगण आपके अधीन हैं?'

अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः।

(१ । १८ । ४६)

रामराज्यमें प्रचलित शासनतन्त्रके स्वरूपको मर्यादित राजतन्त्र (Limited Monarchy) कहा जा सकता है। स्थायी सरकारके अभावमें होनेवाली अराजकताके दोषोंसे जनता सुपरिचित थी। जनताका एक वैधानिक शासकद्वारा स्थापित सुदृढ़ शासन-व्यवस्थामें परम विश्वास था।

राजाका पद कुल-परम्परागत था। फिर भी नया शासक वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमण्डलके द्वारा प्रस्तावित किया जाता और सभा (धारासभा) के द्वारा चुना जाता था। श्रीरामको युवराज बनानेके पूर्व दशरथने अपनी सभाकी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वालीकी अनुपस्थितिमें सारे मन्त्रियोंने सुग्रीवको राजा चुन लिया था। राजा नृगने अपनी सभाके समक्ष अपने पुत्रको उत्तराधिकारी बनानेका प्रस्ताव किया था। ज्येष्ठ पुत्र ही प्रायः युवराजपदका अधिकारी होता था। जब श्रीरामने भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये कहा, तो भरतने उत्तर दिया कि ज्येष्ठ पुत्रके जीते-जी उसके छोटे भाई राजा कभी नहीं बन सकते। किंतु इस नियममें अपवाद भी थे। ज्येष्ठ पुत्र पिता या जनमतद्वारा अधिकारच्युत किया जा सकता था। सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज रास्तोंसे बालकोंको उठाकर नदीमें फेंक दिया करता था। प्रजाजनोंकी प्रार्थनापर सगरने अपने दुष्ट पुत्रको वनमें निर्वासित कर दिया। राजा ययातिने ज्येष्ठ पुत्र यदुको राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पूरुको ही राज्य दिया। पुत्रके अभावमें राजाका भाई युवराज बनाया जाता था। श्रीरामके राज्याभिषेकके पश्चात् भरतको युवराज बनाया गया, क्योंकि उस समयतक श्रीरामके कोई पुत्र नहीं था।

अन्तर्वर्त्ती कालमें नये राजाके चुनावका प्रबन्ध मन्त्रि-मण्डलके सदस्य करते, जो 'राजकर्ता' कहलाते थे। दशरथ-की मृत्युपर ब्राह्मण अमात्यों, मन्त्रिमण्डलके सदस्यों और राजपुरोहितने राजपद रिक्त होनेसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं-पर विचार किया। मन्त्रिमण्डलकी सहमतिसे मुख्य सचिव वसिष्ठने सभाकी ओरसे रामके दूसरे भाई भरतको बुलाया और रामद्वारा छोड़े गये राज्यको स्वीकार करनेको आमन्त्रित किया। भरतने नियम-विरुद्ध राज्य ग्रहण करनेसे इनकार किया और वे रानियों, नागरिकों, सभाके सदस्यों और पुरोहितोंको साथ ले श्रीरामको लौटानेके लिये चित्रकूट गये। जब श्रीरामने दशरथ और कैकेयीके समक्ष की गयी राजत्यागकी अपनी प्रतिज्ञा तोड़ना अस्वीकार कर दिया, तब भरतने श्रीरामकी आज्ञासे चौदह वर्षोंतक उन्हींके नामसे कोसल देशका एक प्रबन्धक (Regent) के रूपमें शासनभार सँभाला।

राजागण प्रजाद्वारा ईश्वरीय विभूतिके रूपमें देखे जाते और प्रगाढ भक्तिके पात्र माने जाते थे। श्रीरामने वालीसे कहा था कि 'राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदय-के देनेवाले होते हैं। अतः उनकी निन्दा, हिंसा तथा उनके प्रति आक्षेप नहीं करना चाहिये। वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर विचरते हैं।' मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। रावणके मतानुसार तेजस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—

इन पाँचों देवताओंके स्वरूपको धारण किये रहते हैं; इसलिये उनमें इन पाँचोंके गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दण्ड और प्रसन्नता—विद्यमान रहते हैं। अतः सभी अवस्थाओंमें राजाओंका सम्मान और पूजन करना चाहिये।

आदर्श राजाके लक्षण

वाल्मीकिके अनुसार आदर्श राजा गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढप्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियोंका हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान्, अनिन्दक और संग्राममें अजेय योद्धा होता है।

नारदद्वारा वर्णित आदर्श राजाके लक्षण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विशेषताओंमें विभाजित किये जा सकते हैं। शारीरिक दृष्टिसे आदर्श राजाका व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। उसके कंधे मोटे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, ग्रीवा शङ्खके समान, ठोढ़ी भरी हुई, छाती चौड़ी, गलेके नीचेकी हड्डी मांससे छिपी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लंबी, मस्तक सुन्दर, ललाट भव्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देहका रंग चिकना, वक्षःस्थल भरा हुआ और आँखें बड़ी होती हैं। मानसिक दृष्टिसे वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदाङ्गके तत्त्वको जाननेवाला, धनुर्वेदमें प्रवीण, धर्मका ज्ञाता, अखिल शास्त्रोंका मर्मज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त तथा प्रतिभासम्पन्न होता है। नैतिक दृष्टिसे वह धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्रीसम्पन्न, अच्छे विचार और उदार हृदयवाला होता है।

हनुमान्‌के अनुसार आदर्श राजा पूर्णचन्द्रके समान मनोहर मुखवाला; पद्मपत्रके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त; रूप और औदार्यसे सम्पन्न; तेज, क्षमा, बुद्धि और यशसे युक्त; सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्यका रक्षक; परम प्रकाशस्वरूप; राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित; ब्राह्मणोंका उपासक; ज्ञानी; शीलवान्, विनम्र, वेद-वेदाङ्गका परिनिष्ठित विद्वान् और सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे युक्त होता है।

अयोध्याकी जनताके अनुसार आदर्श राजा वीर्यवान्, स्थिरप्रज्ञ, विद्वान्, सभी विद्याओं और वेद-वेदाङ्गोंको भलीभाँति जाननेवाला, मधुरभाषी, सज्जन, ईर्ष्या, असूया और मात्सर्यसे दूर, वृद्धों और ब्राह्मणोंका प्रतिपूजक, सदैव शान्त, कृतज्ञ, सदाचारी, शीलसम्पन्न, मार्दव और कोमलतासे युक्त, क्षमावान्, प्रजाप्रिय, दूसरोंके अन्तर्गत विचारोंको तुरंत ताड़नेवाला, दयालु, आलस्य और अभिमानसे शून्य, धर्म, अर्थ और कामका ज्ञाता, गम्भीर, मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, भाषा-ज्ञानमें निपुण, सङ्गीत, वाद्य और चित्रकारीका विशेषज्ञ, शत्रुपर आक्रमण और प्रहार करनेमें कुशल, सेना-सञ्चालनमें निपुण, दोषदृष्टिसे रहित, अमित तेजस्वी, रूपवान्, पराक्रमी, बाहर और भीतरसे शुद्ध, युक्तियाँ देनेमें बृहस्पतिके समान, नीरोग, तरुण, असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित, देश-कालके तत्त्वको समझनेवाला और दीनतासे रहित होता है। रामायणके अनुसार उपर्युक्त सभी लक्षण श्रीराममें घटित होते थे।

राजकुमारोंकी शिक्षा

रामायण-कालमें राजकुमारोंको दी जानेवाली शिक्षाका अनुमान श्रीरामके शिक्षणसे किया जा सकता है। श्रीरामको हाथी और घोड़ेकी सवारी, रथचर्या, धनुर्वेद, घोड़ेपर बैठकर शिकार, धनुष और तलवारका प्रयोग, सैन्य-सञ्चालन-प्रणाली, आक्रमण और प्रहारकी शैली, राजनीति, सङ्गीतशास्त्र, वाद्य और चित्रकारी, वेद-वेदाङ्ग तथा उस समयके सभी शास्त्रों और कलाओंकी शिक्षा दी गयी थी। उपाध्याय सुधन्वाने उन्हें सैनिक शिक्षा दी थी तथा वसिष्ठपुत्र सुयज्ञने वैदिक शिक्षा। ब्रह्मचर्य धारणकर श्रीरामने समग्र शिक्षाक्रमका नियमानुसार अभ्यास किया था। विद्वान् गुरुओंने उन्हें भलीभाँति शिक्षित और अनुशासित किया था। शब्दवेधी विद्यामें राजकुमारोंको पारङ्गत बनाया जाता था। मुनिकुमारके वधमें दशरथने तथा ताटकाके वधमें श्रीरामने अपनी शब्दवेधी विद्याकी प्रवीणता दिखलायी थी।

युवराजको सैन्य-सञ्चालनका अभ्यास करानेके लिये उसे उच्च सैनिक पदाधिकारियोंके साथ रक्खा जाता था। सुग्रीवने अपने सेनापति नीलको आदेश दिया था कि सेनाके एकत्रीकरणमें युवराज अङ्गदको जाम्बवान् तथा अन्य उच्च सैनिक अधिकारियोंके सम्पर्कमें रक्खा जाय। अपने विवाहके पश्चात् युवराज श्रीराम राज्य और प्रासादके प्रबन्धमें अपने पिताकी सहायता किया करते थे। उन्हें कई सैनिक कार्रवाइयोंका भी सञ्चालन करना पड़ता था। राजकुमारोंका विवाह उनकी वैदिक और सैनिक शिक्षाके अनन्तर होता था। राजालोग मृगया, सङ्गीत, नृत्य, कथा-वार्ता तथा हास्य-गोष्ठीद्वारा अपना मनोरञ्जन करते थे।

राज-प्रासाद

राजाका महल 'राजवेश्म' कहलाता था। उसमें कई मंजिलें होती थीं। उसे 'विमान' भी कहते थे। उसकी स्थिति

नगरके मध्यमें होती थी । महलसे नगरको जानेवाले मार्ग 'राजमार्ग' कहलाते थे । इन मार्गोंपर धनिकोंके मकान, दूकानें तथा बाजार होते थे । महलोंमें कई चौक होते थे, जिनमें अलग-अलग द्वार होते थे । अयोध्याके राज-प्रासादमें पाँच चौक थे । आरम्भके तीन चौकोंको रथसे पार किया जा सकता था । शेष दोमें पैदल चलना पड़ता था ।

राजाका व्यक्तिगत निवासस्थान या रनिवास 'अन्तःपुर' कहलाता था । अन्तःपुरमें तीन कक्ष्याएँ होती थीं । बाह्य-कक्ष्यामें राजाकी सभा लगती थी, जहाँ बैठकर वे अपना सार्वजनिक कार्य करते थे । मध्य कक्ष्यामें राजा अपने भाइयों, गुप्तचरों और मन्त्रियों आदिके साथ गुप्त मन्त्रणा किया करते थे । अन्तिम कक्ष्यामें राजाकी रानियाँ रहती थीं, जहाँ राजा, स्त्री-अनुचरों, नपुंसकों तथा द्वाराध्यक्षोंके अतिरिक्त किसीको प्रवेश करनेकी अनुमति नहीं थी । इसी कक्ष्यामें रानियोंके मनोरञ्जनार्थ एक अशोकवाटिका लगी रहती थी । स्त्रियाँ बाह्य और मध्य कक्ष्यामें नहीं आती थीं । राजमहलके द्वारपाल-को महलमें प्रवेश करनेवालोंपर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी, जिससे धूर्त अथवा शत्रुके चर अंदर न आ सकें । राज-कुमारोंके लिये अलग निवासस्थान बनाये जाते थे । दशरथके सभी राजपुत्र अपने पृथक् और समृद्ध राजमहलोंमें रहते थे । (स्वं स्वं गृहं कुबेरभवनोपमम् १ । ७७ । १४) ।

राजाके कर्तव्य

राजाको व्यक्तिगत हितकी अपेक्षा जनहितका विशेष ध्यान रखना पड़ता था । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—राजा सगरको अपनी जनताके कल्याणके लिये अपने दुष्ट पुत्रको निर्वासित कर देना पड़ा था । श्रीरामने प्रजाकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रियभार्या सीताका परित्याग कर दिया । राजाको जन-मतके समक्ष झुकना पड़ता था ।

राजा समस्त देशका संरक्षक था । धर्मानुसार न्यायवितरण करना उसका कर्तव्य था । उसका यह एक लक्ष्य था कि चारों वर्ण स्वकर्मनिरत हैं या नहीं । प्रजा राजाको अपनी आयका छठा भाग (बलिषड्भाग) कर-रूपमें देती थी । बदलेमें राजापर दुष्टोंके दमन और साधुओंके रक्षणका भार आ पड़ता था । यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जाय तो उसे दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं ।

दशरथके अनुसार राजाको काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये; स्वयं जाँच-पड़तालकर तथा गुप्तचरोंद्वारा पता लगाकर समुचित न्याय करना चाहिये; मन्त्री, सेनापति आदि अधिकारियों तथा समस्त प्रजाको प्रसन्न रखना चाहिये, तथा भण्डारघर और शस्त्रागारमें उपयोगी वस्तुओंका विशाल संग्रह रखना चाहिये । राजाका आचार-व्यवहार आदर्श होना चाहिये; क्योंकि प्रजा राजाके पदचिह्नोंका ही अनुसरण करती है । वालीके अनुसार इन्द्रियनिग्रह, मनका निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं । राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये । नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उनके लिये उचित नहीं है । उन्हें अनावश्यक हिंसा नहीं करनी चाहिये; एकके अपराधके लिये अनेकका संहार अनुचित है । उन्हें न्यायप्रिय और लोकप्रिय बनना चाहिये । राजकाजमें राजाको सक्रिय योग देना चाहिये । जब सुग्रीवने राज्यका कार्य मन्त्रियोंको सौंप दिया और उनके कार्योंकी स्वयं देखभालतक नहीं करने लगे, तब हनुमान्‌ने उपालम्भ देकर उन्हें सचेष्ट किया था ।

राजाका दैनिक कार्यक्रम क्या होना चाहिये, इसका उदाहरण श्रीरामकी दैनिकचर्यासे प्राप्त होता है । प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व वन्दिगण आकर स्तुति और सङ्गीतद्वारा राजाको जगाते थे । उठनेके पश्चात् राजा स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुलदेवता, पितरों और विप्रोंकी पूजा करते थे । तत्पश्चात् श्रीराम बाह्य कक्ष्यामें जाकर सार्वजनिक कार्योंको निपटाते थे । यहाँ वे अमात्यों, पुरोहितों, सैनिक अधिकारियों, जानपदों, सामन्त राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गोंके साथ सभाका कार्य-सञ्चालन करते थे । पौरकार्यमें व्यस्त न होनेपर वे मुनियोंके धर्म-प्रवचनोंका श्रवण करते थे । अपराह्णका समय श्रीराम अपने अन्तःपुरके अशोकवनमें सीताके साथ व्यतीत करते थे । दिनके शेष समयमें वे मध्यकक्ष्यामें गुप्तचरों आदिके साथ महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा करते थे ।

राजाको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि उसके दर्शनार्थी सभी वर्ग उससे सरलतापूर्वक मिल सकें । स्त्री-पुरुष सभीको अपनी शिकायतें कहनेके लिये राजाके पास प्रातःकाल आनेका अवसर मिलना चाहिये । प्रतिदिन राजाको राजोचित वेश-भूषामें सभागृहमें बैठकर जनताको दर्शन देना चाहिये ।

अपनी प्रजाके दोषों और पापोंके लिये राजा ही उत्तरदायी था । राजाको दूसरोंसे दान लेनेका अधिकार नहीं था । लोकापवादका भय राजाओंको अनाचारमें प्रवृत्त होनेसे रोकता

से—अज्ञानदृष्टिसे वह सुललित, सरलाङ्गी और सुशोभना है; परंतु भीतरसे—तत्त्वज्ञानदृष्टिसे वह विकृता, विकलिता, कुत्सिता, कुब्जा है! जिस दिन भगवद्भावना, भगवत्प्रेमगन्ध-प्रसंगका आरम्भ होगा; जिस दिन श्यामरूप-गुण माधुरी उसके नयन-गोचर होगी, उस दिन उसकी कलुषित कामकुब्जता, उसकी सकल अन्तरङ्ग-विरूपता दूर हो जायगी। कुब्जा मदन-काम-कामिनी नव श्रीकृष्ण-कामिनी सर्वाङ्गसुन्दरी हो जायगी। अमृतमयी हो जायगी। नारी-जीवनका यही परमतम सौभाग्य है।

सौभाग्यवती विप्रपत्नियाँ

'श्यामसुन्दर! हमें बहुत भूख लगी है। कोई भी उपाय करो।' गौओंने भरपेट कोमल हरित तृण चरकर सुशीतल यमुनाजल पी लिया था और अब वे वृक्षोंकी छायामें बैठकर नेत्रोंको आधा बंद करके रोमन्थ कर रही थीं। कभी-कभी उनकी पूँछें इधर-उधर हिल जाती थीं। चपल बछड़े मयूरों, बंदरोंके पीछे दौड़ रहे थे और वृद्ध श्रीकृष्णचन्द्रके समीप बैठे थे। एक ही शिलापर एक वृक्षके नीचे श्रीकृष्ण और बलराम दोनों विराज रहे थे। सखाओंने पृथक् जाकर परस्पर कुछ कानाफूसी की और अन्तमें एक साथ ही सब दोनों भाइयोंके समीप आये। सबकी ओरसे मधुमङ्गलने प्रार्थना की। आज दोपहरका कलेऊ आया नहीं था। गायें चराते, खेलते सब लोग बहुत दूर मथुराकी दिशामें चले आये थे। कलेऊ लेकर आनेवाली गोपियाँ सम्भवतः बहुत ढूँढ़कर भी इन लोगोंतक नहीं पहुँच सकी थीं।

'वह देखो, थोड़ी दूरपर धुआँ उठ रहा है। मुझे बाबाने बताया है कि मथुराके ब्राह्मण वनमें आकर यज्ञ कर रहे हैं। उनसे जाकर कहो कि बलराम और श्रीकृष्णके लिये अन्न दो। ब्राह्मण अतिथियोंका सत्कार करनेवाले होते हैं।' श्रीकृष्णने एक ओर अँगुलीसे संकेत किया। सब-के-सब उधर ही दौड़ गये।

'द्विजोत्तमगण! आपको प्रणाम! हमें बलराम तथा श्यामने भेजा है। वे दोनों बहुत भूखे हैं और हमलोगोंको भी भूख लगी है। अतिथि-सत्कारसे आपके यज्ञमें कोई दोष नहीं आवेगा।' भूमिमें लेटकर प्रणाम करनेके अनन्तर गोपबालकोंने प्रार्थना की। ब्राह्मणोंने उधर देखातक नहीं। यह उपेक्षा देखकर वे निराश होकर लौट आये।

'पुरुष तो निर्दय होते ही हैं। स्त्रियोंमें दया होती है। अबकी बार यज्ञमण्डपमें न जाकर स्त्रियोंके लिये जो आवास बना है, वहाँ जाकर विप्रपत्नियोंसे कहो। वे अवश्य तुम्हें तुष्ट करेंगी।' नन्दनन्दनने सब सुनकर कहा।

'कन्हैया! अब तो हम नहीं जायँगे। तू स्त्रियोंमें हमें भेजकर उन मथुराके मोटे-ताजे चौबोंसे पिटवाना चाहता है? किसीसे मेरी नहीं पटती है। ना ही ना!' मधुमङ्गलने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया।

'भैया! यहाँ और कुछ है भी नहीं। इस वनमें फल भी तो नहीं हैं। मुझे तो इतनी भूख लगी है कि चलनेमें भी असमर्थ हूँ। मैं, तुम्हीं एक बार और जाओ।' जब वह मयूरमुकुटी अनुरोध करे तो बालकोंका जाना ही निश्चित है।

'हे माताओ! हम आपको प्रणिपात करते हैं। नन्दनन्दन अपने अग्रजके साथ गायें चराते हुए समीपतक आ गये हैं। उन्होंने ही हमें आपके समीप भेजा है। वे बहुत भूखे हैं और हमलोगोंको भी बड़ी क्षुधा है। कृपा करके आप कुछ भोज्य पदार्थ प्रदान करें।' इस बार सुबलने प्रार्थना की।

'हमारे सौभाग्य!' सम्पूर्ण नारी-आवासमें हलचल मच गयी। हाथके कामोंको एक ओर फेंककर स्वर्णथालोंमें बड़ी शीघ्रतासे पदार्थोंको सजानेमें सब आतुरतासे व्यस्त हो गयीं। कौन सोचे कि इतना पदार्थ क्या होगा। अनेक प्रकारके चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय अधिकसे अधिक मात्रामें वे अपने पात्रोंमें भर लेना चाहती थीं। बड़ी शीघ्रतासे थाल सजाकर उन्होंने कहा—'चलो, हमें उन नन्दकुमारतक पहुँचा दो।' बहुत दिनोंसे उन मनमोहनके अपूर्व सौन्दर्य एवं गुणोंका वर्णन सुनती आ रही थीं। बड़ी उत्कण्ठा थी उस भुवनमोहनको एक बार देखनेकी। गोपकुमारोंको आगे करके वे निकल पड़ीं।

ब्राह्मणोंने देखा कि उनकी स्त्रियाँ स्वर्णथाल सजाये गोपबालकोंकेसाथ जा रही हैं तो वे स्रुक्-स्रुवा छोड़कर पुकारते हुए दौड़े। गोपकुमार भयके मारे भाग खड़े हुए। द्विजस्त्रियाँ भी दौड़ने लगीं। केवल एकको उसके पतिने पकड़ लिया। बड़ा दुःख हुआ उसे। श्रीकृष्णके दर्शन न होनेकी तीव्र वेदना हुई। इस कष्टने जन्म-जन्मान्तरके पाप भस्म कर दिये। नेत्र बंद करते ही हृदयमें ललितत्रिभंगी वंशीधर प्रकट हो गया। अपार आनन्द हुआ। समस्त पुण्योंका सुख-भोग हो गया एक पलमें। पाप और पुण्यके बिना शरीर

कैसे टिके ? वह तो मुक्त होकर भगवद्धाममें पहुँच गयी।

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥

इन्दीवरदलश्याम शरीर, स्वर्णाभ पीताम्बर धारण किये, गलेमें वनमाला तथा गुंजाओंकी माला, सिरपर मयूरमुकुट, अनेक धातुओंसे शरीरको नटोंकी भाँति सजाये, एक सखाके कंधेपर दाहिना हाथ रक्खे और बायें हाथमें एक विकच कमल लेकर घुमाते हुए मनमोहनको विप्रपत्नियोंने दूरसे देखा। उन्होंने कानोंमें अधखिले कमल पहन रक्खे थे। कपोलोंपर घुँघराली अलकें आ गयी थीं और उनका मुख-कमल मन्द मुसकानसे शोभित था। आकर उन द्विजपत्नियोंने स्वर्णथाल सम्मुख रख दिये और एकटक उस मनोहर मूर्ति-को देखने लगीं।

'आपलोगोंका स्वागत। आपने बड़ा कष्ट किया। मुझे देखने आप आयीं, यह ठीक ही हुआ। अब आप सब लौटें। आपलोगोंके पति आपकी प्रतीक्षामें होंगे। आपके बिना उनका यज्ञकार्य रुका रहेगा।' बड़े मधुर स्वरोंमें श्यामसुन्दरने उनसे अनुरोध किया।

'आप इस प्रकार निष्ठुरकी भाँति न बोलें। आपने शरणागतका परित्याग न करनेकी जो प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य करें। अपने समस्त बन्धुओंका अनादर करके हम आपके श्रीचरणोंके शरण आयी हैं। हमारा परित्याग आपके लिये उचित नहीं। भला, हमारे पति, पिता, पुत्र और भाई हमें अपने घरोंमें अब क्यों रहने देंगे। हम आश्रयहीना हैं। हे सर्वाश्रय! हमें आश्रय दें।' रोते हुए उन सबने प्रार्थना की।

'आप व्यर्थ शोक कर रही हैं। आपके पति आप-लोगोंका अनादर नहीं करेंगे। मेरे शरणागतोंका तो देवता भी स्वागत करते हैं। आप घरोंको लौटें। मर्यादाका पालन करें।' श्यामसुन्दरने विवश किया। इच्छा न होनेपर भी किसी प्रकार उन्हें लौटना ही पड़ा। उनके जानेपर मोहनने अग्रज तथा सखाओंके साथ उनके लाये अन्नको उत्साहके साथ ग्रहण किया। जो अवशेष रहा, उससे वनके कपियोंने अपनी तृप्ति की।

द्विजपत्नियाँ श्रीकृष्णके पाससे लौटी थीं। वे पतितपावन हो चुकी थीं। उनको देखते ही ब्राह्मणोंके हृदयका मल दूर हो गया। उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने सर्वेशकी याचनाकी उपेक्षा कर दी। ऐसी भगवद्भक्ता स्त्रियोंके पति होनेके कारण उन्होंने अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।—सु० सिं०

भक्तिस्वरूपा विदुरपत्नी

'राजन्! मैं आपके निमन्त्रणका आदर करता हूँ; परंतु खेद है कि मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। भोजन वहाँ किया जाता है, जहाँ प्रेम हो। अथवा क्षुधातुर मनुष्य कहीं भी भोजन कर लेता है। आपका मुझमें प्रेम नहीं। मैं अन्नाभावसे पीड़ित भी नहीं हूँ।' शान्तिदूत बनकर पाण्डवोंकी ओरसे नटनागर हस्तिनापुर पधारे थे। सुयोधनने उनके स्वागतके लिये विपुल सामग्री एकत्र की थी। उनके भोजनको प्रस्तुत करनेके लिये सम्पूर्ण राज्यसे निपुण रसोइये बुलाये गये थे और कई सप्ताह-से वे रात्रि-दिवस एक करके अनेक पदार्थोंको बनानेमें लगे थे। सुयोधनने राजसदनमें भोजन करनेकी प्रार्थना बड़ी नम्रतासे की। उन्हें टका-सा उत्तर मिल गया। उन्हें पता नहीं था कि यह व्रजका गोप सामग्रियोंका नहीं, प्रेमका भूखा रहा करता है!

श्यामसुन्दरके मनमें तो कोई आकर्षण काम कर रहा था। उनके श्रीचरण विदुरके गृहको सार्थक करने जा रहे थे। ऐसा क्यों ? इसलिये कि विदुरपत्नीने जबसे सुना था कि श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं, उनके प्राण, उनका मन, उनका हृदय एक ही जप कर रहा था। उनकी सम्पूर्ण शक्ति एक ही इच्छामें केन्द्रित हो गयी थी। 'मैं उन मयूर-मुकुटीका दर्शन करूँगी। मुझ अभागिनीके भाग्यमें भले यह न हो, परंतु अपनी बुआ कुन्तीसे मिलने वे अवश्य यहाँ पधारेंगे और तब आड़मेंसे ही सही, उन सर्वेशके दर्शनोंसे मैं अपने नेत्र सफल कर लूँगी। आज मेरे जन्म-जन्मके पुण्योंका उदय हुआ है।'

उन्होंने वनमालीके स्वरूप और गुणोंके विषयमें अपने पतिसे बहुत कुछ सुना था। 'कैसे होंगे वे श्रीमान् वासुदेव ? कैसी छटा होगी उनके श्रीअङ्गकी ? उस जलद नीलशरीर-पर तडिदाभ पीतपट कैसा जान पड़ता होगा ? उनका मयूर-मुकुट कितना मनोहर होगा ? उनकी वनमाला, उनके केयूर-कङ्कणादि आभरण······' वे मन-ही-मन भावविभोर हुई उस भुवनमोहन मूर्तिका ध्यान कर रही थीं।

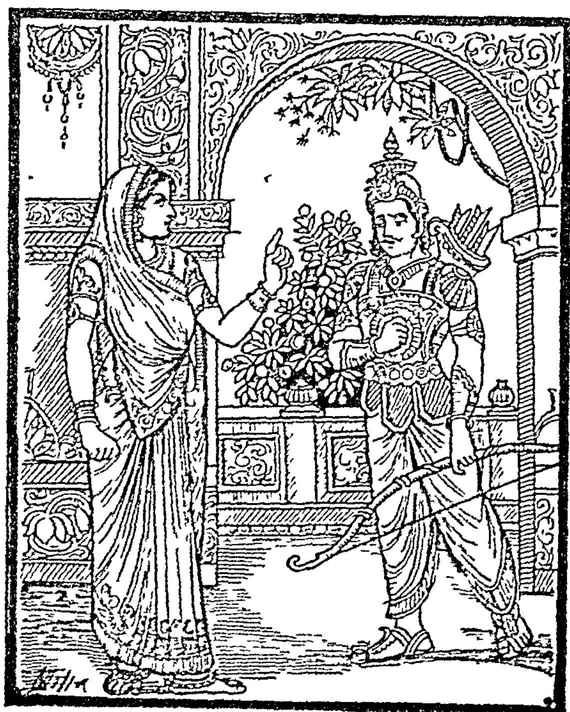
'वे मुझे चाची कहकर पुकारेंगे। मुझसे कहेंगे कि चाची! मुझे भूख लगी है, कुछ खिला दे। अरे नहीं, वे द्वारकाधीश

क्षत्राणी विदुला

'धिक्कार है तुझे ! कापुरुष ! युद्धभूमिसे भागकर अब तू यहाँ स्त्रियोंकी भाँति कोनेमें मुख छिपाकर रोने आया है ? डूब मरनेके लिये तुझे कहीं दो चुल्लू पानी भी नहीं मिला ? तू अपने शूर पिताका पुत्र नहीं है । तू किसी नीचसे उत्पन्न होने योग्य था । पुरुषत्वहीन पशु ! तेरी कीर्ति नष्ट हो गयी । अब तेरा जीवन व्यर्थ है । मुझे अपना कलङ्कित मुख दिखलानेका तुझे किस प्रकार साहस हुआ । जा, अब भी मेरी आँखोंसे दूर हो । जो दूसरोंके पराक्रमका उत्तर दे सके, जो दूसरोंके आघातपर प्रत्याघात कर सके, जिसके पैरोंमें मदमत्त सिंहके मस्तकपर ठोंकर मारनेकी शक्ति हो, वही पुरुष है । जो शत्रुके भयसे भाग खड़ा होता है, जिसे प्राणोंका लोभ भयभीत कर देता है, वह पुरुष नहीं कहला सकता । स्त्रीमें भी महत्ता होती है । स्त्री भी पृथ्वीमें हीन एवं अपमानित होकर नहीं रहना चाहती । संसारमें तेरे समान हीन, तिरस्कृत जीवन वितानेवाले हिंजड़े हैं । अमंगलस्वरूप तेरा जन्म मेरे गर्भसे मुझे तथा इस पवित्र कुलको कलंकित करनेके लिये हुआ है । तेरे-जैसे तेज एवं वीर्यसे हीन पुत्रको जन्म देकर मैं लज्जित हुई हूँ । भगवान् किसी स्त्रीको ऐसा कापुरुष पुत्र न दें । सञ्जय ! अब भी उठ ! शत्रुसे पराजित होकर लोकमे निन्दनीय जीवन तुझे व्यतीत करना होगा । तू एक भिक्षुक होकर रहेगा । इस घृणित जीवनसे मृत्यु तुझे श्रेष्ठ नहीं जान पड़ती ? यदि शत्रुको पराजित करके देशका रक्षण करनेकी शक्ति तुझमें न हो तो शरीरमे बल रहनेतक युद्ध करके रणभूमिमे प्राण त्याग कर । तुझे लोकमें सुयश प्राप्त होगा कि इस शूरने मरते-मरते भी शत्रुपर आघात किया ।'

सौवीर देशकी राजमाता विदुला अपने पुत्रको युद्धमे सिन्धुराजसे पराजित होकर लौटनेपर धिक्कारने लगीं । वे वीर क्षत्राणी थीं और पुत्रका युद्धसे पलायन उनके लिये असह्य था । सञ्जय कोमल स्वभावका भीरु युवक था । युद्धकी विभीषिकाने उसे आतङ्कित कर दिया था । बड़ी दीनतासे उसने कहा—'मा ! मैं तेरा एकमात्र पुत्र हूँ । मेरी मृत्युसे तेरे लिये कौन-सा सुख अवशेष रहेगा ? तू मेरी मृत्युसे सुखी होगी ?'

'तू समझता है कि मैं विना विचारे बकवाद कर रही हूँ ? तू वीरकुलमें उत्पन्न राजपुत्र है । तुझे यह स्वीकार है कि तू राजा होकर भी भिक्षुकका जीवन व्यतीत करे ! इस कुलमे किसीने कभी याचना नहीं की । किसीकी कृपाका अभिलाषी तेरा कोई पूर्वज कभी नहीं बना । इस वंशमे किसीने कभी किसीके सम्मुख भयवश मस्तक नहीं झुकाया । उसी कुलमे अब तू दूसरेका मुख देखेगा, दूसरोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करेगा, दूसरोंके भयसे आतङ्कित रहेगा ! जो भयसे शरणमे आयेकी रक्षा न कर सके, जो अभिलाषा लेकर आयेको दान न दे सके, जो दुखियोंका दुःख दूर न कर सके, वह तो जीवित ही मृतक हो गया । मृत्यु उसके यशको तो नष्ट होनेसे बचा लेती । यदि तुझमे क्षत्रियका रक्त है, तो तू इस हीन जीवनमें कैसे रह सकेगा ? क्षुद्र नदी थोड़े जलसे भर जाती है, क्षुद्र पुरुष थोड़े धनमे सन्तोष कर लेते हैं । थोड़े लाभके लिये हीनावस्थामे रहनेकी अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है । तू वीरवंशमें उत्पन्न है । अपने वंशका कलङ्क होकर, शत्रुके अनुग्रहका भिखारी बनकर जीवन विताना तुझे शोभा नहीं देता । क्षत्रिय होकर शत्रुको मस्तक मत झुका ! क्षत्रिय मर जाता है, परंतु झुकता नहीं । बेटा, उठ ! अपने सञ्जय नामको व्यर्थ मत होने दे । एक बार फिर प्रचण्ड प्रकाशसे प्रकाशित हो । जो अग्नि प्रज्वलित होकर बुझे, वह अग्नि सुलगती हुई धूम्र देनेवाली अग्नि नहीं है । तू प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो । निन्दित, अपमानित, दीन होकर दीर्घ जीवनकी इच्छा मत कर । एक बार ज्वलन्त प्रभासे विश्वको आलोकित करके शान्त होनेवालोंकी महत्ता दीर्घजीवी कीड़े कर नहीं सकते ।'



'बेटा ! मार्गमें तुझे लौटते समय कोई मिला था क्या ?' गान्धारीने पट्टी खोलकर पुत्रको देखा । उसे जाँघिया पहने देखकर पुनः पट्टी बाँधते हुए उसने पूछा । दुर्योधनने श्रीकृष्णके मिलनेकी बात बता दी ।

'उन सर्वेशकी इच्छा टालनेमें कौन समर्थ है ।' गान्धारीके मुखसे लंबी श्वास निकल गयी । दुर्योधनका कटि-प्रदेश वज्र होनेसे रह गया था । भीमने गदाघातसे उसी भागको तोड़ा था ।

× × ×

महाभारतका युद्ध समाप्त हुआ । समस्त कौरव मारे गये । सौ पुत्रोंके वधसे सन्तप्त गान्धारीका पाण्डवोंपर क्रोध स्वाभाविक था । श्रीकृष्णचन्द्रने पहले जाकर समझाया— 'देवि ! आप तपस्विनी हैं । आप पाण्डवोंपर क्रोध न करें । आपने सदा कहा है कि धर्मकी ही विजय होती है । आज आपके ही वचन सत्य हुए हैं । आप अपनेको शान्त करें ।'

गान्धारीने आश्वस्त होकर कहा—'केशव ! मेरे मनमें अत्यन्त व्यथा थी । मेरी बुद्धि विचलित हो गयी थी और मैं पाण्डवोंके अहितकी बात सोच भी रही थी । अब मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी । इन अंधे तथा वृद्ध राजाकी अब पाण्डवोंके साथ तुम्हीं गति हो ।'

भगवान् व्यासकी आज्ञासे धर्मराज कुरुकुलकी सभी स्त्रियोंको लेकर युद्धक्षेत्रमें गये । वहाँ पहुँचकर स्त्रियोंने अपने पतियों, पुत्रों तथा सम्बन्धियोंको मृत देखकर चीत्कार करना प्रारम्भ किया । दुःखिनी अबलाओंके आर्तनादसे व्याकुल होकर गान्धारीने श्रीकृष्णको समीप बुलाया । वे अपनी पुत्र-वधुओं तथा पुत्रोंका नाम ले-लेकर श्रीकृष्णको दिखाते हुए विलाप करने लगीं । प्रत्येक पुत्रका स्मरण करतीं, उसके पराक्रमका वर्णन करतीं और रोती-बिलखती उसकी स्त्रीकी ओर संकेत करतीं । वे शोकसे बार-बार मूर्छित हो रही थीं । अत्यन्त दीन भावसे क्रन्दन करती हुई उन मृत शूरोंका नाम लेकर श्रीकृष्णको बता रही थीं ।

वर्णन करते-करते क्रोध आ गया । गान्धारीने रोषमें पुकारा—'राजा युधिष्ठिर कहाँ हैं ?'

'आपके पुत्रोंका संहार करनेवाला मैं क्रूरकर्मा युधिष्ठिर खड़ा हूँ । पृथ्वीके समस्त राजाओंका नाश करनेका मैं ही कारण हूँ । मैं शापके योग्य हूँ । माता ! मुझे शाप दो । मैंने सुहृदोंका संहार कराया है । अब मुझे राज्य, धन या जीवनका क्या करना है ।' यह कहकर रोते हुए धर्मराज गान्धारीके पैरोंपर गिरने ही जा रहे थे कि गान्धारीकी दृष्टि पट्टीमेंसे उनके हाथके नखोंपर पड़ी । उस दृष्टिके पड़ते ही वे लाल-लाल सुन्दर नख काले हो गये । यह दशा देखकर भयके मारे अर्जुन खिसककर श्रीकृष्णके पीछे हो गये । दूसरे भाई भी इधर-उधर हटने लगे । पाण्डवोंको इस प्रकार भीत देखकर उनकी रक्षा करनेके लिये भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण सामने आ गये ।

गान्धारीके नेत्र लाल हो रहे थे । अङ्ग क्रोधसे काँप रहे थे । उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण ! यह ठीक है कि कौरव और पाण्डव परस्परकी फूटसे नष्ट हुए हैं; परंतु तुमने समर्थ होते हुए यह होने क्यों दिया । तुम्हारे पास अपरिमित सेना थी, तुम स्वयं समर्थ थे । समझाकर या बलपूर्वक तुम दोनोंको रोक सकते थे । मेरे कुलका संहार तुम देखते रहे । तुमने इसकी उपेक्षा कर दी । इसका फल तुम भोगोगे । मैं जानती हूँ कि तुम सृष्टि-स्थिति-पालन-समर्थ सर्वेश्वर हो, फिर भी अपने पातिव्रत्यके सञ्चित पुण्यके प्रभावसे मैं तुम्हें शाप देती हूँ । आजसे छत्तीसवें वर्ष तुम अपने कुलका संहार होते देखकर भी इसी प्रकार उपेक्षा कर दोगे । तुम्हीं उसका नाश करोगे और स्वयं तुम भी साधारण कारणसे अनाथकी भाँति शरीर छोड़ोगे । जैसे आज कुरुकुलकी स्त्रियाँ रो रही हैं, वैसे ही यदुकुलकी स्त्रियाँ भी रोवेंगी ।'



पञ्चकन्या



देवि अहल्या, द्रौपदि, तारा, कुन्ती, मन्दोदरि धन्या ।
प्रभुकी परम अनुग्रहभाजन पावन ये पाँचों कन्या ॥

श्रीकृष्ण उपेक्षासे हँसे। उन्होंने सहज भावसे कहा—'राजकुमारी! यह तो होनेवाला ही था। वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे होगा और मैं उसका अनुमोदन करूँगा। मेरे सिवा उनका नाश करनेमे कोई समर्थ नहीं। देवता या असुर भी यदुवंशका संहार कर नहीं सकते। वह तो परस्परकी कलहसे ही नष्ट होगा। यह निश्चित था और यही मेरी इच्छा है। तुमने तो शाप देकर व्यर्थ ही अपने पुण्यका नाश कर लिया।'

पहली बार श्रीकृष्णने गान्धारीको राजपुत्री कहा था। वे उपेक्षापूर्वक वहाँसे चले गये।

× × ×

पंद्रह वर्षोंतक पाण्डवोंके साथ धृतराष्ट्र सम्मानपूर्वक रहे। तीर्थयात्रासे लौटकर विदुरजीने बताया कि 'अब आपका अन्त-समय समीप है। आपको वनमे रहकर तपस्या करनी चाहिये।' धृतराष्ट्रने वनमे जानेका निश्चय कर लिया। धर्मराज किसी प्रकार उन्हें वनमें जाने देना नहीं चाहते थे। धृतराष्ट्रने अनशन प्रारम्भ किया। अन्तमें भगवान् व्यासने युधिष्ठिरको समझाया। समस्त पाण्डवों तथा उनकी स्त्रियोंने दूरतक धृतराष्ट्रको पहुँचाया। माता कुन्ती तो तपस्याका निश्चय करके उनके साथ ही वनको गयीं।

कुछ दिनों पश्चात् युधिष्ठिर वनमें धृतराष्ट्रके दर्शनार्थ गये। उनके सभी भाई तथा कुरुकुलकी समस्त स्त्रियाँ भी साथ गयीं। वनमें उसी समय भगवान् व्यास भी अनेक महर्षियोंके साथ पहुँच गये। धर्मराज उस तपोवनमें एक महीने रहे।

धर्मपुत्र वही रहकर तपस्या करना चाहते थे। परन्तु माता गान्धारी तथा कुन्तीके भी विवश करनेपर धर्मराज लौट आये। सबके चले जानेपर धृतराष्ट्रने सोचा कि यहाँ रहनेसे बार-बार युधिष्ठिर आवेंगे। तपस्यामें विघ्न पड़ेगा। वे वहाँसे हरिद्वारके लिये चल पड़े। हरिद्वार पहुँचकर धृतराष्ट्रने मुखमे पत्थरका टुकड़ा रखकर केवल वायुपर रहना प्रारम्भ किया। वे कहीं स्थिर नहीं रहते थे। जंगलोमें घूमते रहते थे। कुन्तीदेवीने एक महीने व्रत करके एक दिन फलाहारका नियम कर लिया। देवी गान्धारी केवल जल पीकर रहने लगी। राजा धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे गान्धारी और कुन्ती वनोंमें घूमा करती थीं।

एक दिन गङ्गामें स्नान करके धृतराष्ट्र आश्रममें आ रहे थे। इसी समय वनमें दावाग्नि लग गयी। धृतराष्ट्रने संजयको आदेश देकर बलपूर्वक भगा दिया। स्वयं वे आसन लगाकर बैठ गये। कुन्ती और गान्धारीने उन्हींका अनुकरण किया। योगके द्वारा प्राणोको संयमित करके क्रमशः मूलाधारसे नाभि, हृदय, कण्ठ आदिमे पहुँचाते हुए ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर तीनोंने शरीर छोड़ दिया। उनके उस तपःपूत शरीरकी आहुति प्राप्त कर अग्निदेव भी धन्य हो गये।

—सु० सिं०

देवी कुन्ती

श्रीकृष्णचन्द्रके पितामह शूरसेनजीने अपनी पुत्री पृथा-को अपनी बुआके सन्तानहीन पुत्र कुन्तिभोजको दत्तकरूपमें प्रदान किया। परम सुन्दरी पृथा सात्त्विक प्रवृत्तिकी और धार्मिक थीं। एक बार महाराज कुन्तिभोजके यहाँ एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि हुए। पिताने उनके सत्कारका भार पृथाको दिया। पूरे वर्षभर वे विप्रदेव कुन्तिभोजके घर रहे। अवस्थामें छोटी होनेपर भी राजकुमारी अत्यन्त श्रद्धा, संयम तथा परिश्रमसे उनकी सेवामें लगी रही। विदा होते समय ब्राह्मण देवताने संतुष्ट होकर वरदान माँगनेको कहा।

'आपके समान वेदज्ञ तपस्वी तथा मेरे पिता मुझपर प्रसन्न हैं, इसीसे मेरा श्रम सार्थक हो गया। मुझे कोई अभिलाषा नहीं है।' कुन्तीने ब्राह्मणकी निष्काम भावसे सेवा की थी।

'बेटी! मेरी प्रसन्नता निष्फल नहीं होनी चाहिये। मुझसे तू इन मन्त्रोंको ग्रहण कर ले। इनके द्वारा तू जिस देवताका आह्वान करेगी, वह विवश होकर तेरे समीप उपस्थित होगा।' ब्राह्मणने आग्रह किया। शापके भयसे पृथा निषेध न कर सकीं। अथर्वशीर्षमे आये मन्त्रोंका उपदेश करके तथा महाराजको अपना जाना सूचित करके वे तेजस्वी ब्राह्मण वहीं अन्तर्हित हो गये। ब्राह्मणवेषमें ये महर्षि दुर्वासा थे।

'विप्रदेवने ये कैसे मन्त्र दिये हैं। कुन्ती राजभवनके ऊपर खड़ी सोच रही थीं। उनके मनमें परीक्षा करनेका कुतूहल हुआ। उदय होते सूर्यपर उनकी दृष्टि पड़ी। मन्त्र-प्रभावसे कवच-कुण्डलधारी भगवान् सूर्यके उस सूर्यमण्डलमे उन्हें दर्शन हुए। विधिवत् आचमन करके उन्होने मन्त्रोका जप करते हुए सूर्यनारायणका आह्वान किया। स्वर्णवर्ण, दिव्याभरणभूषित तेजोमय पुरुषरूपसे सूर्यदेव सम्मुख

उपस्थित हो गये । उन्होंने कहा—'भद्रे ! मैं तुम्हारी मन्त्र-शक्तिसे विवश होकर आया हूँ । आज्ञा दो, मैं क्या करूँ ?'

कुन्तीने प्रणाम करके प्रार्थना की—'आप अपने धामको पधारें । मैंने कुतूहलवश आपको बुलाया था । मेरा अपराध क्षमा करें ।'

भगवान् सूर्यने कहा—'देवताका आना व्यर्थ नहीं होना चाहिये । मुझे देखकर तुम्हारे मनमें यह भाव आया था कि मेरे इन कुण्डलों तथा कवचसे भूषित अतुल पराक्रमी पुत्र हो । अतः मैं तुम्हें ऐसा ही पुत्र प्रदान करूँगा ।'

'मैं कन्या हूँ । मेरे माता-पिता जीवित हैं, इस शरीरपर उनका अधिकार है । सदाचार ही लोकमें श्रेष्ठ है और वह है—अनाचारसे शरीरको बचाये रखना । आप मेरे अपराधको क्षमा करके लौट जावें ।' कुन्तीने भीत होकर प्रार्थना की । भगवान् सूर्यने समझाया कि उनकी बात स्वीकार करके भी उसका कन्याभाव नष्ट नहीं होगा । वह सती ही रहेगी । कुन्तीने इसपर सूर्यनारायणकी बात स्वीकार कर ली । भगवान् सूर्यने योगशक्तिसे उसके उदरमें अपना अंश स्थापित किया । उसके कन्याभावको दूषित नहीं किया ।

अन्तःपुरमें केवल एक धायको पता था कि पृथा गर्भवती हैं । यथासमय देवताओंके समान कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ । उसके शरीरपर स्वर्णकवच तथा कानोंमें दिव्य कुण्डल थे । पृथाने धात्रीकी सलाहसे एक पिटारीमें कपड़े बिछाये, ऊपरसे मोम चुपड़ दिया । उसीमें नवजात शिशुको लिटाकर ढकन लगा दिया । पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ते हुए रोकर विदीर्ण होते हृदयसे माता कुन्तीने कहा—'बेटा ! सभी जल, स्थल, नभके प्राणी तेरी रक्षा करें । तेरा मार्ग मङ्गलमय हो । शत्रु तुझे विघ्न न दे । सभी लोकपाल तेरी रक्षा करें ! तू कभी कहीं भी मिलेगा तो इस कवच और कुण्डलोंसे मैं तुझे पहचान लूँगी ।'

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल), उससे यमुनामें होती गङ्गामें पहुँची । चम्पापुरीमें सूत अधिरथने उसे पकड़ा और उसमेंसे निकले हुए बालकको पुत्र मानकर पालन-पोषण किया । वही बालक वसुषेण महारथी कर्णके नामसे प्रख्यात हुआ । दूतोंद्वारा कुन्तीको पता लग गया था कि उनका पुत्र सूतद्वारा पाला जा रहा है । लोकलज्जाके भयसे उन्होंने इस रहस्यको प्रकट नहीं किया ।

× × ×

सुन्दरी पृथाके लिये महाराज कुन्तिभोजने अनेक राजाओंसे प्रार्थना की । स्वयंवर हुआ और महाराज पाण्डुके गलेमें जयमाल पड़ी । कुन्तीको लेकर वे हस्तिनापुर आये । आखेटमें मृगवेषधारी ऋषिकुमार किन्दमपर पाण्डुने बाण चला दिया । मरते समय ऋषिपुत्रने अपना रूप प्रकट करके शाप दे दिया—'तुमने सहवास करते मृगपर बाण छोड़ा, अतः पत्नीके साथ सहवास करते समय तुम्हारी मृत्यु होगी ।'

विरक्त होकर महाराजने संन्यास लेनेका निश्चय किया, किंतु कुन्ती देवीके आग्रहसे पत्नियोंके साथ वनमें तपस्वी जीवन व्यतीत करना उन्होंने स्वीकार कर लिया । सन्तान न होनेसे पुरुष पितृ-ऋणसे उऋण नहीं होता, यह सोचकर महाराज दुःखी रहते थे । ऋषियोंने उन्हें देवांशसे पाँच पुत्रोंकी प्राप्तिका वरदान दिया था । ऋषिवाक्य सत्य होने चाहिये, यह सोचकर उन्होंने एक दिन कुन्तीसे कहा—'भद्रे ! तुम सन्तति-प्राप्तिके लिये कोई यत्न करो ।'

'आपकी आज्ञा होनेपर मैं जिस देवताका आह्वान करूँगी, उसीसे मुझे सन्तान होगी । आप आज्ञा दें, किस देवताका सङ्कल्प करूँ ?' दुर्वासाजीद्वारा मन्त्र-प्राप्तिका वर्णन सुनाकर कुन्तीजीने पूछा ।

'मुझे धर्मात्मा पुत्र चाहिये । धर्मात्मा सन्तति कुलको पवित्र कर देती है । तुम धर्मराजके उद्देश्यसे मन्त्रका जप करो !' महाराजने आदेश दिया । आज्ञाका पालन हुआ । फलतः धर्मराजके अंशसे युधिष्ठिरका जन्म हुआ ।

'क्षत्रिय जाति बलप्रधान है । परम बलवान् सन्ततिकी मैं कामना करता हूँ ।' कुछ दिनों पश्चात् महाराजने पुनः आज्ञा की । इस बार कुन्तीने वायुदेवताके उद्देश्यसे जप किया । पवनके अंशसे उन्हें भीमसेन-जैसे पराक्रमी पुत्रकी प्राप्ति हुई ।

'मैंने देवराजको प्रसन्न कर लिया है, तुम उनका स्मरण करो ।' पाण्डुने सर्वश्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये एक पैरसे सूर्यके सम्मुख खड़े होकर उग्र तपस्या करके महेन्द्रको प्रसन्न कर लिया था । पतिकी आज्ञासे कुन्ती देवीने भी एक वर्षतक व्रत एवं विशेष नियमोंका पालन किया था । महाराजके आदेशसे पृथाके आह्वान करनेपर देवराज पधारे । उनके अंशसे परम पराक्रमी नरके अवतार अर्जुनका जन्म हुआ ।

छोटी रानी माद्रीके अनुरोध करनेपर महाराजने पृथाको आदेश दिया, 'कल्याणि ! माद्रीको भी सन्तति प्रदान करो !'

पतिकी आज्ञा शिरोधार्य करके उन्होंने माद्रीसे किसी देवताका ध्यान करनेको कहा । माद्रीके ध्यान करनेपर

अश्विनीकुमारोंके अंशसे यमज नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति हुई।

एकान्तमें पर्वतपर माद्रीके साथ घूमते हुए पाण्डु अपनेको संयमित न रख सके। फलतः उनका शरीरान्त हो गया। बड़ी रानी होनेके कारण सती होनेका अधिकार कुन्तीजीको था, किंतु माद्रीका अनुरोध स्वीकार करके उन्होंने आजीवन पति-वियोगका कष्ट स्वीकार किया। माद्रीके सती हो जानेपर अपने और माद्रीके पुत्रोंका सर्वथा समान भावसे उन्होंने पालन किया। उस वनके तपस्वियोंने पाण्डुके पुत्रों तथा पत्नीको धृतराष्ट्रके समीप पहुँचा देना आवश्यक समझा। कुन्तीदेवी तपस्वियोंके साथ हस्तिनापुर आयीं। धृतराष्ट्रके आदेशसे यहीं पाण्डु एवं माद्रीकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हुई।

× × ×

दुरात्मा दुर्योधनके कारण पाण्डवोंपर अनेक आपत्तियाँ आयीं। उसने भीमसेनको विष दे दिया और बाँधकर जलमें फेंक दिया। इससे भीमके बच जानेपर सभी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छासे वारणावत नगरमें लकड़ी, लाख, तैलके संयोगसे इस प्रकारका भवन बनाया जो अग्निसे तुरंत भस्म हो जाय। धृतराष्ट्र अपने पुत्रसे सहमत थे। उन्होंने माताके साथ पाण्डवोंको वारणावत जानेकी आज्ञा दे दी। विदुरजीको कौरवोंके इस षड्यन्त्रका पहले ही पता लग गया था। उन्होंने उस भवनसे वनतक एक सुरंग बनवा दी थी। जाते समय युधिष्ठिरको संकेतसे उन्होंने सब बातें समझा दीं।

दुर्योधनका सेवक पुरोचन लाक्षा-भवनपर अग्नि लगानेको नियुक्त था। एक वर्ष पाण्डव वहाँ रहे। एक दिन रात्रिमें स्वयं अग्नि लगाकर वे माताके साथ सुरंगसे वनमें चले गये। पुरोचन उसी अग्निमें भस्म हो गया। दैवात् पाण्डवोंसे अन्न लेने एक भील-स्त्री अपने पाँच पुत्रोंके साथ उसी दिन आयी थी। सुरापानके कारण वे उसी भवनमें अनजाने सोते रह गये थे। उनके जले शवोंको देखकर लोगोंने समझ लिया कि माताके साथ पाण्डव अग्निमें जल गये।

वहाँसे बचकर घूमते हुए पाण्डव एकचक्रा-नगरी पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-वेशमें एक ब्राह्मणके घर वे ठहर गये। एक दिन चारों भाई कंद-मूल लाने वनमें गये थे, केवल भीमसेन माताके पास थे। उसी समय उस घरके लोगोंको करुण-क्रन्दन करते सुनकर माताने कहा—'बेटा! हमलोग ब्राह्मणके घरमें रहते हैं। ये हमारा सत्कार करते हैं। मैं बराबर इनका कोई उपकार करनेकी बात सोचा करती हूँ। आज इनपर कोई विपत्ति आयी जान पड़ती है। यदि इनकी कुछ सहायता हो सके तो हम इनके ऋणसे उऋण हो जायँ।'

भीमसेनने उत्तर दिया—'मा! पता लगाओ! कठिन-से-कठिन कार्य करके भी हम ब्राह्मणकी सेवा करेंगे।'

कुन्तीने जाकर छिपकर देखा, घरका प्रत्येक सदस्य—ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा पुत्री—दूसरेकी रक्षाकी आवश्यकता बताकर अपनेको किसी राक्षसकी भेंट करनेकी बात कर रहे हैं। सभी रो रहे हैं। सभी अपना बलिदान करनेको उत्सुक हैं। सभी अपनेको अनावश्यक तथा दूसरोंको आवश्यक सिद्ध करना चाहते हैं। एक छोटा बच्चा सबके पास जाकर तोतली वाणीमें कह रहा है कि मुझे राक्षसके पास भेज दो। मैं उसे मार डालूँगा।

'आपके दुःखका कारण क्या है? हो सका तो मैं उसे दूर करनेका प्रयत्न करूँगी।' कुन्तीदेवीका हृदय इस दृश्यसे द्रवित हो गया था। उन्होंने प्रकट होकर पूछा। ब्राह्मणने बताया कि बक नामक कोई राक्षस समीप ही रहता है। उसके लिये दो-एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे प्रतिदिन दिये जाते हैं। जो यह सामग्री लेकर जाता है, उसे भी वह खा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो पता नहीं ग्रामके कितने लोगोंको वह खा जाय। प्रत्येक घरके लोग बारी-बारीसे अन्न ले जाते हैं। आज ब्राह्मणकी बारी है। किसी-न-किसी घरके सदस्यको राक्षसका भक्ष्य बनना होगा। कुटुम्बमें किसीको घरपर रहना स्वीकार न होनेके कारण ब्राह्मणने सपरिवार राक्षसके यहाँ जाना निश्चित किया है, यह भी बताया।'

'आप शोक छोड़ दें। राक्षससे छुटकारेका उपाय मेरे पास है। आपके एक ही पुत्र है और एक ही कन्या है। आपमेंसे किसीका जाना उचित नहीं। मेरे पाँच पुत्र हैं। उनमेंसे एक राक्षसका भोजन लेकर चला जायगा।' कुन्तीदेवीने दृढ़ स्वरमें कहा।

'हरे, हरे, मैं इस नश्वर शरीरके लिये अतिथिका वध कभी न होने दूँगा। मैं आत्महत्या तो कर नहीं रहा हूँ। वह राक्षस मुझे पत्नीके साथ भले खा ले, परंतु अपने बदलेमें एक अतिथि ब्राह्मणका बलिदान कभी नहीं करूँगा। मुझे अपने धर्मका ज्ञान है। आपका त्याग, कुलीनता एवं धर्म प्रशंसनीय है, परंतु मैं अपने धर्मका नाश न करूँगा।' वह धर्मात्मा ब्राह्मण इस प्रस्तावसे ही काँप गया।

'मैं ब्राह्मणकी रक्षा करनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ।

आप निश्चिन्त रहें ! राक्षस चाहे जितना बलवान् हो, वह मेरे पराक्रमी मन्त्रसिद्ध पुत्रका कोई अनिष्ट न कर सकेगा। मेरे पुत्रके हाथों अनेक विशालकाय राक्षस मारे जा चुके हैं। आपसे केवल इतनी प्रार्थना है कि इस बातको गुप्त रक्खें। लोग मेरे पुत्रोंको पीछे तंग न करें, यह मैं चाहती हूँ।' कुन्तीजीके दृढ़ निश्चयके सामने ब्राह्मणको झुकना पड़ा। भीमसेन अन्न लेकर गये। वहाँ जाकर गाड़ीमें जुते भैंसोंको तो पीटकर उन्होंने गाँवमें भगा दिया और अन्नका स्वयं प्रसाद पा लिया। राक्षस बक लाल-पीला होता आया सही, किंतु युद्धमें पछाड़कर वृकोदरने उसे सीधे यमलोक भेज दिया। माता कुन्तीकी कृपासे उस गाँवके निवासियोंकी विपत्ति सदाके लिये दूर हो गयी।

यहींसे पाण्डव पाञ्चाल गये। स्वयंवरमें अर्जुनने द्रौपदीको प्राप्त किया। 'मा ! हम एक भिक्षा लाये हैं।' राजकुमारीको लाकर अर्जुनने कहा। विना देखे ही माताने भीतरसे कह दिया—'पाँचों भाई उसे काममें लो !' फलतः पाञ्चाली पाँचों भाइयोंकी पत्नी हुई। पता लगनेपर धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको बुला लिया। आधा राज्य देकर इन्द्रप्रस्थ उनकी राजधानी कर दी। माताके साथ पाण्डवोंका वहाँ निवास हुआ।

× × ×

कैटभारि पाण्डवोंकी ओरसे शान्तिदूत होकर पधारे। दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया कि युद्धके बिना सूईकी नोक रखनेभर भूमि न दूँगा। जब श्रीकृष्ण पुनः विराटनगर लौटने लगे तो माता कुन्तीने अपने पुत्रोंके लिये संदेश दिया—'युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंको बाहुबलसे आजीविका चलानी चाहिये। राजासे सुरक्षित रहकर प्रजा जो धर्म करती है, उसका चतुर्थांश राजाको प्राप्त होता है। दण्डनीतिका ठीक प्रयोग करके लोगोंको वह धर्ममार्गमें प्रवृत्त करता है। तुम जिस सन्तोषको लिये बैठे हो, उसे तुम्हारे पिता-पितामहने कभी आदर नहीं दिया। यह याचना तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं। भिक्षा ब्राह्मण माँगते हैं, वैश्य कृषि-वाणिज्यसे और शूद्र सेवासे आजीविका चलाते हैं। तुम क्षत्रिय हो, भुजबलसे राज्य प्राप्त करो। यही तुम्हारी धर्मसम्मत आजीविका है। तुम-सा पुत्र पाकर भी मैं दूसरोंके टुकड़ोंपर आश्रित हूँ, यह कितने कष्टकी बात है।'

द्यूतमें हारकर पाण्डवोंके वन जानेपर माता कुन्ती विदुरजीके यहाँ रहती थीं। वे अपना पूरा समय भजन, पूजन तथा व्रतोंमें व्यतीत करती थीं। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था। अपने सब कार्य वे स्वयं कर लिया करती थीं। उन्होंने श्रीकृष्णको विदुलाका आख्यान सुनाकर फिर कहा—"अर्जुनसे कहना कि उससे मुझे बड़ी-बड़ी आशाएँ



हैं। आकाशवाणीने उसके जन्मके समय कहा था कि 'वह इन्द्रके समान पराक्रमी होगा। भीमके साथ रहकर शत्रुओंको जय करेगा। सारे कौरवोंको मारकर पितृराज्य प्राप्त करेगा।' मेरी इच्छा है कि देवताओंकी वाणी सत्य हो। क्षत्राणियाँ जिस कामके लिये पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसका समय आ गया।"

श्रीकृष्णसे उन्होंने पुत्रोंको उत्साहित करने तथा रक्षा करनेका अनुरोध किया।

× × ×

'बेटा ! कर्णको भी जलाञ्जलि दो !' युद्धमें मारे गये सभी स्वजनोंको धर्मराज तिलाञ्जलि दे रहे थे। रोती हुई माता कुन्तीने उनसे अनुरोध किया।

'मा ! वह सूतपुत्र सदा हमसे द्वेष करता रहा। वह हमारे गोत्रका भी नहीं। हम उसे जल नहीं देंगे।' युधिष्ठिरने अस्वीकार किया।

'तुम नहीं जानते, वे महाभाग तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता थे !' कुन्तीने कर्णके जन्मका परिचय दिया।

'हाय ! हम यह पहले जानते तो इतना अनर्थ क्यों होता ? हम उनके चरणोंमें सिंहासन निवेदित करके स्वयं सेवक बने रहते। हमने अपने ही ज्येष्ठ भ्राताको मार डाला ! मा ! तूने यह बात मुझसे क्यों नहीं कही ?' धर्मराज अत्यन्त शोकार्त होकर रोते हुए बार-बार पूछने लगे।

'पुत्र ! युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व ही मैं उस सूर्यनन्दनके समीप गयी थी। वे उस समय जलमें खड़े होकर सन्ध्या कर रहे थे। उन्होंने अपनेको अधिरथका पुत्र कहकर मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें बताया कि वे मेरे पुत्र हैं। भगवान् सूर्यने स्पष्ट वाणीमें मेरा समर्थन किया। मैंने अनुरोध किया कि वे पाण्डवोंके पक्षमें आ जायँ। हाय ! मेरे पुत्रने अधिरथके उपकारोंका स्मरण करके इस सत्यको स्वीकार करके भी मानना नहीं चाहा। उसने किसी भी प्रकार दुर्योधनका पक्ष छोड़ना स्वीकार नहीं किया। उसने मुझसे वचन ले लिया कि मैं इस बातको छिपाये रहूँगी। माताका आदर करनेके लिये उसने प्रतिज्ञा की कि युद्धमें अर्जुनके अतिरिक्त किसी पाण्डवको मारनेमें समर्थ होकर भी वह नहीं मारेगा। अपनी प्रतिज्ञाका अन्ततक उसने निर्वाह किया।' माता कुन्तीने रोते हुए बताया।

'माता ! तुमने यह बात छिपाकर हमारे हाथों बहुत बड़ा अनर्थ करा डाला। मैं शाप देता हूँ कि अबसे स्त्रियाँ कोई बात छिपा नहीं सकेंगी।' शोकार्त धर्मराजने शाप दिया। विधिपूर्वक उन्होंने कर्णकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

× × ×



विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

'हे जगद्गुरु ! हे सर्वेश्वर ! मुझपर बार-बार विपत्तियाँ आवें। क्योंकि उनमें आपका दर्शन, स्मरण होता है, जो मोक्षको देनेवाला है।' माता कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे यह वरदान माँगा, जब वे हस्तिनापुरसे युद्धकी समाप्तिके पश्चात् द्वारका जाने लगे। विपत्तिका वरदान ! माता कुन्तीने बराबर विपत्तियोंमें रहकर यह अनुभव कर लिया था कि भगवान्का सच्चा स्मरण विपत्तिमें ही होता है।

राज्य प्राप्त करके पाण्डवोंने धृतराष्ट्रका वही सम्मान रक्खा जो पहले था। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे ही वे सब कार्य करते थे। पंद्रह वर्षोंतक पाण्डवोंने धृतराष्ट्रके संरक्षणमें राज्यकार्य किया। कुन्तीजीने सदा गान्धारीके अनुकूल आचरण किया और उनकी सेवामें लगी रहीं। अन्तमें धृतराष्ट्रने वनमें सपत्नीक रहकर तपस्या करनेका निश्चय किया। महर्षि व्यासके समझानेपर युधिष्ठिरने उनके वनवासके लिये सम्मति दे दी। अन्तमें पुत्रोंका श्राद्ध करके धृतराष्ट्र वनको चले। पाण्डव, सभी पाण्डवोंकी पत्नियाँ और परिजन पहुँचाने चले। माता कुन्ती गान्धारीका हाथ पकड़े आगे-आगे चल रही थीं। युधिष्ठिर, भीम आदिने मातासे लौटनेके लिये बहुत प्रार्थना की, पर कुन्ती अपने निश्चयपर अटल रहीं।

धृतराष्ट्र तथा गान्धारीने भी कुन्तीको लौटनेका आदेश दिया, अनेक प्रयत्न किये, किंतु असफल हुए। सती कुन्ती वनवासका निश्चय कर चुकी थीं। गान्धारी उन्हें किसी प्रकार लौटा न सकीं। वनमें कुशकी चटाईपर गान्धारीके साथ माता कुन्ती रात्रिमें सो रहती थीं। वही जल तथा कन्द-मूल लाती थीं। आश्रम भी वही स्वच्छ करती थीं। सब प्रकारसे वे धृतराष्ट्र तथा गान्धारीकी सावधानीपूर्वक सेवा करती थीं। स्वयं अनेक प्रकारके व्रत-उपवास किया करती थीं। तीनों समय स्नान करके पतिका स्मरण करतीं। इस प्रकार वनमें अपना समय वे व्यतीत करने लगीं।

वनमें युधिष्ठिर एक बार सपरिवार पूरे समाजके साथ मातृदर्शनके लिये पधारे। इसी समय वहाँ भगवान् व्यास भी आये। धृतराष्ट्रने भगवान् व्याससे अपने मृत पुत्रोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की। माता कुन्तीने भी कर्णको देखना चाहा। योगबलसे व्यासजीने सभी मृत पुरुषोंको दिखा दिया। पूरी रात्रि वे मृतजन पाण्डवोंके साथ मिलते-जुलते तथा क्रीड़ा करते रहे। प्रातः गङ्गामें वे अदृश्य हो गये। भगवान् व्यासने आदेश दिया—'जो स्त्रियाँ पतियोंके समीप जाना चाहें, वे गङ्गामें [illegible] लगा लें।'

पाण्डवोंके हस्तिनापुर लौट आनेपर कुन्तीजी गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके साथ हरिद्वार चली गयीं। वहाँ कठोर व्रतों-का तीनों आचरण करने लगे। एक दिन वनमें दावाग्नि लगी देख तीनोंने आसन लगाया। योगके द्वारा प्राण निरोध करके उन्होंने शरीर छोड़ दिया। उनका वह शरीर दावाग्नि-की भेंट हो गया। —सु० सिं०



सती माद्री

मद्रदेशके महाराज शल्यकी भगिनी माद्री अत्यन्त रूपवती एवं सुशीला थीं। भीष्मपितामहने मद्रराजके पास सन्देश भेजा और उसे स्वीकार करके महाराज शल्यने अपनी बहिनका विवाह पाण्डुके साथ कर दिया। राजा पाण्डुका इससे पूर्व ही एक विवाह कुन्तिभोजनरेशकी कन्या कुन्तीसे हो चुका था। एक दिन आखेट करते हुए पाण्डुने एक मृगपर बाण चलाकर उसे मार डाला। मृग उस समय मृगीसे सहवास कर रहा था। मरते समय मृग सहसा ऋषिकुमारके रूपमें परिवर्तित हो गया। अब पाण्डुको पता लगा कि उन्होंने ऋषि-पुत्र किन्दमको भूलसे मार दिया है। पाण्डुको ऋषिपुत्रने शाप दिया कि 'तुमने मृग समझकर भी सहवासके समय मुझे मारनेकी नृशंसता की है, अतः पत्नीसे सहवास करते समय ही तुम्हारी मृत्यु होगी।'

शापको सुनकर पाण्डुको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने संन्यास लेकर तपस्या करनेका निश्चय किया। पाण्डुकी दोनों पत्नियोंने प्रार्थना की कि संन्यास न लेकर वानप्रस्थ-आश्रममें रहते हुए ही महाराज तपस्या करें और इस प्रकार उन दोनों-को भी उनके सान्निध्यमें रहकर तपस्या करनेका अवकाश दें। पाण्डुने इसे स्वीकार कर लिया। सेवकोंको उन्होंने अपने सम्पूर्ण वस्त्राभरण दे दिये और अपनी सब सम्पत्ति तथा राज्य धृतराष्ट्रको देनेका आदेश देकर विदा कर दिया। कन्द-मूल खाकर ऋषियोंके आश्रममें वे तपस्वियोंका जीवन व्यतीत करने लगे।

पाण्डुके आदेशपर कुन्तीजीने क्रमशः धर्म, वायु और इन्द्रका आह्वान किया और उनसे युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन हुए। माद्रीने भी पतिसे सन्तानकी प्रार्थना की।

'शुभे! मेरी प्रसन्नताके लिये तुम माद्रीको भी सन्तति दो।' पाण्डुने कुन्तीसे अनुरोध किया।

'बहिन! तुम केवल एक बार किसी देवतासे पुत्र पा सकती हो। भली प्रकार सोचकर उस देवताका ध्यान करो!' माद्री-ने अश्विनीकुमारोंका ध्यान किया। कुन्तीके मन्त्र-प्रभावसे देवता पधारे और दोनों अश्विनीकुमारोंके अंशसे माद्रीको यमज नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए।

प्रारब्धको कोई टाल नहीं सकता। एक दिन महाराज पाण्डु वनमें घूम रहे थे। एकाकिनी माद्री उनके साथ थीं। शाप विस्मृत हो गया। मन संयमसे बाहर हो गया। उन्होंने माद्रीका आलिङ्गन किया। पत्नीने पृथक् होनेकी बहुत चेष्टा की। पतिको बहुत समझाया। रोई, प्रार्थना की। कोई लाभ न हुआ। अन्ततः शाप सफल हुआ। पाण्डुका शरीर निष्प्राण हो गया।

'बच्चोंको वहीं छोड़कर अकेली आओ!' माद्रीके आर्त-नादको सुनकर पुत्रोंके साथ कुन्ती दौड़ी आ रही थीं। माद्रीने पुकारकर उन्हें सचेत किया। समीप आनेपर कुन्तीने जो कुछ देखा, उससे वे व्याकुल हो गयीं।

'अच्छा उठो! बच्चोंको सम्हालो। मैं बड़ी पत्नी हूँ महाराजकी, अतः मैं उनके साथ सती होऊँगी।' कुन्तीने कहा।

'बहिन! मैं तुमसे छोटी हूँ। मेरा इतना अनुरोध मानो और यह अधिकार मुझे दो! मैं अनुभवहीन हूँ। युवती हूँ। संसारमें संयमपूर्वक रहते हुए शिशुओंका पालन मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। मेरी ही आसक्तिके कारण महाराजको शरीर छोड़ना पड़ा है, अतः उनकी सेवामें मुझे शीघ्र ही उपस्थित होना चाहिये। मेरे बच्चोंका पालन भी तुम अपने बच्चोंके समान ही करना।' कुन्तीको माद्रीका यह आग्रह स्वीकार करना पड़ा। काष्ठ-चयनके बाद चिता निर्मित हुई। उसी प्रकार पतिके शरीरको आलिङ्गन किये हुए ही माद्रीने अपनी आहुति चितानलमें दे दी। पाण्डुके साथ माद्रीकी अस्थियाँ भी ऋषियोंने हस्तिनापुर पहुँचायीं। महाराज धृतराष्ट्रने विधि-पूर्वक बड़े समारोहसे दोनोंकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की।

—सु० सिं०

वेदवती

कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

'मा ! मैं आपके समान ही रूप-गुण-सम्पन्ना पुत्री चाहता हूँ !' महाराज कुशध्वजने उन कमलहस्ता, कमलासना शोभामयीको देखा और एकटक देखते रह गये। अपनी उग्रतर तपस्यासे उन्होंने 'विश्वोद्भवस्थितिसंहारकारिणी' महालक्ष्मीको प्रसन्न कर लिया था। वरदान माँगनेका आदेश होनेपर उन्होंने उनको ही पुत्रीरूपसे माँगा।

'एवमस्तु ! मेरे समान तो और कौन हो सकता है, मैं ही अंशरूपसे तुम्हारी पुत्री बनूँगी।' बादलोंमें विद्युत्की भाँति वह दिव्य मूर्ति इतना कहकर लीन हो गयी। महाराजने पृथ्वीपर मस्तक रक्खा। भवन लौट आये। समयपर महारानी सगर्भा हुईं।

'ॐ गणानां त्वा गणपतिं…'सहसा सूतिकागृह सस्वर वेदमन्त्रकी ध्वनिसे गूँज उठा। परिचारिकाओं एवं धात्रियोंने चौंककर इधर-उधर देखा। महारानी मालावती यह जानकर आनन्दविभोर हो गयी कि उनकी नवजात नन्ही बालिका ही वेदमन्त्रोंका स्वरसहित गान कर रही है। बालिकाका नाम इसी निमित्तको लेकर वेदवती रखा गया।

'मा ! मैं तपस्या करने जाऊँगी।' वह कोई सामान्य बालिका नहीं थी। कुछ क्षणोंमें ही वह पाँच-छः वर्षके बच्चे-जितनी बड़ी हो गयी। उसने सूतिकागृहसे निकलकर स्नान किया। दिव्य वस्त्र धारण किया। वनमें जानेका निश्चय करके उसने माता-पितासे आज्ञा माँगी। अपने आराध्य हृदयेशसे पृथक् होकर उन सिन्धुजाके लिये एक क्षण भी रहना कल्पके समान प्रतीत हुआ। तपस्या करके श्रीहरिको प्राप्त करनेके लिये वे व्याकुल हो गयीं। दृढ़ निश्चयको कौन रोक सकता है। हृदयको वज्र बनाकर महाराज तथा महारानीने पुत्रीको रोते हुए विदा किया।

'जन्मान्तरमें श्रीनारायणको तुम पतिरूपसे प्राप्त करोगी।' पूरे एक मन्वन्तरके कठोर तपके पश्चात् आकाशवाणी हुई। तपस्यासे कृश शरीर उस अमृतस्यन्दी स्वरके कानोंमें पड़ते ही स्वस्थ, सबल एवं सुपुष्ट हो गया। कहाँ तो एक पल भारी हो रहा था प्राणधनसे पृथक् हुए बिना और कहाँ आकाशवाणीने एक जन्मकी अवधि बता दी। अपने तपस्याके क्षेत्र पुष्करको छोड़कर वेदवती गन्धमादनपर चली गयीं और वहाँ और भी दुष्कर तप करने लगीं।

राक्षसराज रावण पुष्पकद्वारा गगनमार्गसे घूमता गन्धमादनपरसे जा रहा था। उसने तपोलग्न उस अपार सौन्दर्यराशिको देखा। पुष्पकसे उतरकर वह नीचे आया और परिचय प्राप्त करनेके लिये जिज्ञासा की। आगत अतिथिके सत्कारके लिये वेदवतीने आसन रक्खा, पैर धोनेको जल दिया और एक पत्तेपर सुस्वादु कन्द एवं फल निवेदित किये। रावण कामान्ध हो रहा था। उसने आतिथ्यकी सामग्री ग्रहण नहीं की। उसने वेदवतीको पकड़ लिया।

'स्थिर हो जा !' रोषपूर्वक देखते हुए वेदवतीने कहा। सहसा राक्षसराजके हाथ, पैर प्रभृति सब काष्ठकी भाँति जड हो गये। न तो उसकी जिह्वा हिल सकती थी और न नेत्रकी पलकें। जो अङ्ग जैसे थे, वैसे ही चेष्टाहीन हो गये। अब तो दशानन अत्यन्त व्याकुल हुआ। बोल तो सकता नहीं था, मन-ही-मन उसी देवीकी स्तुति करने लगा।

'अच्छा, जा ! मेरे ही कारण तेरा सपरिवार नाश होगा।' वेदवतीने उसके शरीरकी जडता दूर करके शाप दे दिया। अधम राक्षसके स्पर्शसे शरीरको अपवित्र हुआ समझ उन्होंने आसन लगाया। नाभिचक्रमें ध्यान करके अग्निकी भावना की। योगाग्निने उनके शरीरको देखते-देखते भस्म कर दिया। यही वेदवती त्रेतामें मिथिलानरेश महाराज जनककी भूमिसे उत्पन्न पुत्री सीता हुई थीं। वनमें भगवान् रामने इनको अग्निके समीप रखकर छायासीताको व्यक्त किया। छायासीताका अपहरण करके सपरिवार रावण मारा गया। जब लङ्काके युद्धके पश्चात् छायासीताने अग्निमें प्रवेश किया तो वैदेही पुनः प्रकट हुईं। छायासीताने भी प्रकट होकर अपने लिये आदेश माँगा। श्रीराम एवं जनकात्मजाके आदेशानुसार पुष्करमें जाकर तीन लाख वर्षतक उन्होंने उग्र तप किया। द्वापरके अन्तमें महाराज द्रुपदके यज्ञकुण्डसे प्रकट होकर वही पाण्डवोंकी पत्नी द्रौपदी हुईं। —सु० सिं०

केतकी

केतकी प्रजापति दक्षकी कन्या थी । रूप, गुण, शील, आचार आदिमें यह मूर्तिमती लक्ष्मी ही थी । इसने विवाह नहीं किया और माता-पिताकी अनुमति लेकर हिमालयके शिखरपर जाकर तप करना आरम्भ कर दिया । एक बार साक्षात् भगवती गायके रूपमें वहाँ आयीं । केतकीने उसकी हँसी की । गायरूपिणी भगवतीने प्रकट होकर कहा—'तुझे कुमारी रहनेका बड़ा गर्व हो गया है, तेरे इस गर्वका नाश करनेके लिये ही मैं आयी हूँ । तुझे शाप देती हूँ कि तू पृथ्वीपर नारीके रूपमें जन्म लेकर पाँच पतियोंकी पत्नी होगी ।' शाप सुनकर केतकीको बड़ा दुःख हुआ, उसने आर्त होकर भगवतीसे प्रार्थना की । दयामयी भगवतीने कहा—'बेटी ! रो मत, तेरे द्वारा भगवान्‌का कार्य सिद्ध होगा । तू उनकी प्रिय है, अतएव प्रसन्नतासे उनका कार्य कर । पाँच स्वामी होनेपर भी तेरा धर्म अस्खलित रहेगा और तू जगत्‌में सतीशिरोमणि मानी जाकर पूजित होगी । तेरा यश अक्षय और तेरा नाम प्रातःस्मरणीय होगा ।' इतना कहकर भगवती अन्तर्धान हो गयीं ।

केतकीका चित्त शान्त नहीं हुआ । उसे इस बातका बड़ा दुःख था कि मुझे ऐसी पवित्र तपोभूमिको छोड़कर मर्त्यभूमिमें जाना पड़ेगा । वह इधर-उधर रोती फिरती थी । एक दिन उसने गङ्गाजीमें प्रवेश किया । देवमायासे उसके आँसुओंकी प्रत्येक बूँद जलके साथ मिलकर एक-एक दिव्य स्वर्णकमल बनने लगी । केतकीको इसका कुछ भी पता न था । मन्दाकिनीमें बहते हुए वे कमल स्वर्गकी ओर चले गये ।

धर्म, वायुदेवता और दोनों अश्विनीकुमारोंके साथ देवराज इन्द्र मन्दाकिनीके किनारे-किनारे स्वर्गको जा रहे थे । स्वर्णकमलोंकी अत्यन्त मधुर और दिव्य गन्धसे पाँचोंको बड़ा सुख मिला । मन्दाकिनीमें बहते हुए अभूतपूर्व स्वर्णकमलोंको देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और इस बातका पता लगानेका विचार करने लगे कि ये पुष्प कहाँसे आते हैं ।

मधुर सौरभपूर्ण सुन्दर स्वर्णपद्मोंके उद्गमस्थानका पता लगाने धर्मराज गये । वे नहीं लौटे, तब वायुदेव गये और उसके बाद दोनो अश्विनीकुमार भी चले गये । जब इनमेंसे कोई नहीं लौटे, तब आश्चर्यचकित होकर स्वयं देवराज खोज करने चले । चलते-चलते वे वहाँ पहुँच गये, जहाँ मन्दाकिनीमें केतकी खड़ी थी । उसे देखकर इन्द्रने उसका परिचय पूछा और उससे अपने साथ विवाह करनेके लिये कहा ।

देवराजकी बात सुनकर केतकीको बड़ी व्यथा हुई । उसने कहा—'देवराज ! मैं जन्मसे तपस्विनी हूँ । भगवान् शङ्करके चरणोंकी मुझपर कृपा है । मेरे प्रति विवाहका प्रस्ताव करनेसे, जैसे इससे पहले चार देवपुरुष कठोर दण्ड भोग रहे हैं, वैसे ही आपको भी भोगना पड़ेगा । आप देवराज हों या और कोई । मुझे किसीकी कोई परवा नहीं है ।'

केतकीकी बात सुनकर देवराजको बड़ा कुतूहल हुआ और उन्होंने निर्भयताके साथ पुनः विवाहका प्रस्ताव करते हुए पहले आये हुए चारों देवताओंका पता पूछा । उन्हें देखना है तो चलो, कहकर केतकी इन्द्रको हिमालयपर ले गयी । वहाँ एक योगी समाधिस्थ थे । केतकीने दूरसे ही उनको बताकर इन्द्रसे कहा कि 'इन महात्मासे पूछिये कि वे कहाँ हैं ।'

इन्द्रने उनके पास जाकर धर्म, वायुदेवता और अश्विनीकुमारोंके बाबत पूछा; पर समाधिस्थ महात्माने कोई उत्तर नहीं दिया । तब इन्द्रने कुपित होकर कुछ कुवाक्य कहे । महात्माकी समाधि टूटी और देखते-देखते ही महात्मा त्रिशूलधारी महान् योगीश्वर भगवान् रुद्रके रूपमें परिणत होकर गर्जते हुए बोले—'तुमलोग बार-बार एकके बाद एक आकर मेरी आश्रिता इस आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी देवीको क्यों सताते हो ? जाओ, पहले चारोंको जो दण्ड दिया गया है, तुम भी उसीको भोगो ।'

इतना कहकर महादेवजी एक अन्धकारमयी गुफाके सामने इन्द्रको ले गये । इन्द्रने काँपते हुए देखा कि धर्मराज, वायुदेव और दोनो अश्विनीकुमार हाथ-पैर बँधे वहाँ पड़े हैं ।

इन्द्र डरकर श्रीशङ्करजीके चरणोंपर गिर पड़े और हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे । आशुतोष प्रसन्न हो गये और उनका दोष क्षमा करके उन पाँचोंको भगवान् विष्णुके पास ले गये । उनकी बात सुनकर विष्णुभगवान्‌ने कहा—'स्वर्गके देवता होकर भी जब तुम इन्द्रियोंका दासत्व नहीं छोड़ सके, तब तुम्हें मर्त्यलोकमें जाकर मनुष्यदेह धारण करना पड़ेगा । तुम पाँचों वहाँ जाकर जन्म लोगे और भगवतीके वचनानुसार दूसरे जन्ममें यह केतकी तुम्हारी धर्मपत्नी होगी । जगत्‌के कल्याणके लिये इस कार्यकी

आवश्यकता है। इसकी सिद्धिके लिये मैं भी तुमलोगोंके साथ ही द्वापरयुगमें पृथ्वीपर अवतीर्ण होऊँगा।

आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाली महान् सती दक्षराजकन्या यह केतकी ही भगवान्‌के कार्यके लिये भगवतीके शापको निमित्त बनाकर राजा द्रुपदके यहाँ यज्ञकुण्डसे कन्याके रूपमें प्रकट हुई और इन्द्र, धर्म, वायु तथा अश्विनीकुमारोंने कुन्ती तथा माद्रीके गर्भसे जन्म लेकर इस द्रौपदीका पाणिग्रहण किया। पूर्वजन्मके महान् तपके फलस्वरूप ही देवी द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णकी सखी बन सकीं और महान् पातिव्रत्यका आदर्श उपस्थित करनेवाली हुईं।



महारानी द्रौपदी

(लेखक—श्रीसुदर्शन सिंहजी)

द्रोणाचार्यको गुरुदक्षिणा देनेके लिये अर्जुनने द्रुपदको पराजित कर दिया। यद्यपि आचार्य द्रोणने द्रुपदको पाशमुक्त करके केवल आधा राज्य लेकर मित्र बना लिया, परंतु वे इस अपमानको भूल न सके। द्रुपदने द्रोणसे बदला लेनेके लिये यज्ञ करके सन्तान-प्राप्तिका निश्चय किया। कल्माषी नगरीके तपस्वी, वेदज्ञ ब्राह्मण उपयाजकी उन्होंने अर्चना की। उनको प्रसन्न करके प्रार्थना की कि द्रोणको मारनेवाले पुत्रकी मुझे प्राप्ति हो, ऐसा यज्ञ करावें। उपयाजने प्रार्थना अस्वीकार कर दी। महाराजने पुनः एक वर्ष सेवा की। इससे प्रसन्न होकर उन विप्रदेवने कहा—'मैंने अपने अग्रजको भूमिमें पड़ा पका फल उठाकर ग्रहण करते एक बार देखा है। मैंने इससे समझा है कि वे द्रव्यकी शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते। आप उनसे प्रार्थना करें।'

महाराज द्रुपदने उनके अग्रज याजको सेवासे प्रसन्न किया। दस करोड़ गायोंकी दक्षिणाका प्रलोभन थोड़ा नहीं था। याजने महाराजके नगरमें आकर सविधि यज्ञ कराया। यज्ञकी पूर्णाहुतिके समय उससे मुकुट, कुण्डल, कवच, त्रोण तथा धनुष धारण किये एक कुमार प्रकट हुआ। इस कुमारका नाम याजने धृष्टद्युम्न रक्खा। महाभारतके युद्धमें पाण्डवपक्षका पूरे युद्धमें यही कुमार सेनापति रहा। यज्ञकुण्डसे एक कुमारी भी प्रकट हुई। वह युवती थी। उसका वर्ण श्याम था। उसके समान रूपवती दूसरी स्त्री हो नहीं सकती। उसके शरीरसे प्रफुल्ल नील कमलकी गन्ध निकलकर कोसभरतक दिशाओंको सुरभित कर रही थी। वर्णके कारण याजने उसका नाम 'कृष्णा' रक्खा। इस रूपमें ऋषिकुमारी गुणवती अग्निवेदीसे प्रकट हुई थी और महाकालीने अंशरूपसे क्षत्रिय-विनाशके लिये उनमें प्रवेश किया था। महाराज द्रुपदकी महारानीने याजसे प्रार्थना की कि ये दोनों मुझे ही माता समझें और याजने 'एवमस्तु' कह दिया।'

× × ×

एकचक्रा नगरीमें ही पाण्डवोंको अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे ज्ञात हो गया कि महाराज द्रुपद अपनी पुत्रीका स्वयंवर कर रहे हैं। भगवान् व्यासने आकर आदेश दिया और उसे स्वीकार कर पाण्डव पाञ्चाल पहुँचे। वहाँ वे एक कुम्हारके घर ठहरे। स्वयंवर-सभामें भी वे ब्राह्मणोंके साथ बैठे। उनके वेष ब्राह्मणोंके समान थे। महाराज द्रुपदने सभाभवनमें ऊपर एक यन्त्र बना रक्खा था। यन्त्र घूमता रहता था। उसके मध्यमें एक मत्स्य बना था। नीचे तैलपूर्ण कड़ाह था। तैलमें छाया देखते हुए घूमते चक्रके मध्यस्थ मत्स्यको पाँच बाणोंसे मारना था। जो ऐसा कर सके, उसीसे द्रौपदीके विवाहकी घोषणा थी। इस कार्यके लिये जो सुदीर्घ धनुष रक्खा था, वह इतना कठोर और भारी था कि बहुतसे राजा तो उसे उठानेमें ही असमर्थ हो गये। जरासन्ध, शिशुपाल, शल्य उसपर ज्या चढ़ानेके प्रयत्नमें दूर गिर पड़े। केवल कर्णने धनुष चढ़ाया। वह बाण मारने ही जा रहा था कि द्रौपदीने पुकारकर कहा—'मैं सूतपुत्रका वरण नहीं करूँगी।' अपमानसे तिलमिलाकर सूर्यकी ओर देखते हुए कर्णने धनुष रख दिया।

राजाओंके निराश होनेपर अर्जुन उठे। उन्हें ब्राह्मण जानकर विप्रवर्गने प्रसन्नता प्रकट की। धनुष चढ़ाकर अर्जुनने मत्स्यवेध किया। द्रौपदीने जयमाल डाली। राजाओंने एक ब्राह्मणसे द्रौपदीका विवाह होते देख द्रुपद और पाण्डवोंपर आक्रमण कर दिया। अर्जुनने धनुष चढ़ा लिया। एक वृक्ष लेकर भीमसेन टूट पड़े। अर्जुनसे युद्ध करके कर्णने शीघ्र समझ लिया कि वे अजेय हैं। उन्हें ब्राह्मण समझकर वह युद्धसे हट गया। उधर भीमने शल्यको दे पटका। इससे सभी नरेश युद्धसे पृथक् होने लगे। श्रीकृष्णने पाण्डवोंको पहचान लिया था। अतः उन्होंने समझा-बुझाकर राजाओंको शान्त कर दिया।

'मा! हम एक भिक्षा लाये हैं।' द्रौपदीको लेकर घर पहुँचनेपर अर्जुनने कहा।

है। आप ही ज्ञानियों तथा योगियोंकी परम गति हैं। आप विभु हैं, सर्वात्मा हैं, आपकी शक्तिसे ही सबको शक्ति प्राप्त होती है। आप ही मृत्यु, जीवन एवं कर्मके अधिष्ठाता हैं। आप ही परमेश्वर हैं। मैं अपना दुःख आपसे न कहूँ तो किससे कहूँ।'

द्रौपदीके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। वे कह रही थीं—'मैं महापराक्रमी पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी सखी हूँ। कौरवोंकी भरी सभामें मेरे केश पकड़कर मुझे घसीटा गया। मैं एकवस्त्रा रजस्वला थी, मुझे नग्न करनेका प्रयत्न किया गया। ये अर्जुन और भीम मेरी रक्षा न कर सके। इसी नीच दुर्योधनने भीमको विष देकर जलमें बाँधकर फेंक दिया था। इसी दुष्टने पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें भस्म करनेका प्रयत्न किया। इसी पिशाचने मेरे केश पकड़कर घसीटवाया और आज भी वह जीवित है।'

पाञ्चाली फूट-फूटकर रोने लगी। उनकी वाणी अस्पष्ट हो गयी। वे श्रीकृष्णको उलाहना दे रही थीं—'तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निसे उत्पन्न गौरवमयी स्त्री हूँ, तुमपर मेरा पवित्र अनुराग है, तुमपर मेरा अधिकार है और रक्षा करनेमें तुम समर्थ हो। तुम्हारे रहते मेरी यह दशा हो रही है।'

भक्तवत्सल और न सुन सके। उन्होंने कहा—'कल्याणी! जिनपर तुम रुष्ट हुई हो, उनका जीवन समाप्त हुआ समझो। उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोयेंगी और उनके अश्रु सूखनेका मार्ग नष्ट हो चुका रहेगा। थोड़े दिनोंमें अर्जुनके बाणोंसे गिरकर वे शृगाल और कुत्तोंके आहार बनेंगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सम्राज्ञी बनकर रहोगी। आकाश फट जाय, समुद्र सूख जायँ, हिमालय चूर हो जाय; पर मेरी बात असत्य न होगी।'

द्रौपदीने अर्जुनकी ओर देखा। विजयने अपने सखाकी बातका समर्थन किया। श्रीकृष्ण अपने साथ सुभद्रा और अभिमन्युको लेकर द्वारका गये। धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पुत्रोंको पाञ्चाल ले गये। सभी आगत राजा अपने-अपने देशोंको लौट गये। विनयपूर्वक धर्मराजने प्रजावर्गको लौटा दिया।

× × ×

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने सत्यभामाजीके साथ आये थे। एकान्तमें सत्यभामाने कृष्णासे पूछा—'बहिन! तुम्हारे पति लोकपालोंके समान शूर हैं। तुम ऐसा क्या व्यवहार करती हो कि वे तुमपर कभी रुष्ट नहीं होते? वे तुमसे सदा प्रसन्न ही रहते हैं। वे सदा तुम्हारे वशमें क्यों रहते हैं? मुझे भी तुम कोई ऐसा व्रत, तप, तीर्थ, मन्त्र, औषध, विद्या, जप, हवन या उपचार बताओ जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे वशमें रहें।'

द्रौपदीने कुछ स्नेह-रोषपूर्वक कहा—'सखे! तुम तो मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंकी बात पूछ रही हो। मैं ऐसी स्त्रियोंकी बात क्या जानूँ। मुझपर ऐसी शङ्का करना तुम्हारे लिये उचित नहीं। जब पति जान लेता है कि पत्नी उसे वशमें करनेके लिये मन्त्र-तन्त्र कर रही है तो वह उससे डरकर दूर रहने लगता है। इस प्रकार चित्तमें उद्वेग होता है और तब शान्ति कैसे रह सकती है? तन्त्र मन्त्रादिसे कभी पति वशमें नहीं किया जा सकता! इनसे तो अनर्थ ही होते हैं। धूर्तलोग स्त्रियोंद्वारा पतिको ऐसी वस्तुएँ खिला देते हैं, जिनसे भयङ्कर रोग हो जाते हैं। पतिके शत्रु इसी बहाने विष खिला देते हैं। ऐसी स्त्रियाँ मूर्खतावश पतिको जलोदर, कुष्ठ, अकाल-वार्धक्य, नपुंसकता, उन्माद या बधिरता-जैसे रोगोंका रोगी बना देती हैं। पापियोंकी बातें माननेवाली पापी नारियाँ इस प्रकार पतियोंको अनेक कष्ट देती हैं। साध्वी स्त्रीको भूलकर भी ऐसा प्रयत्न नहीं करना चाहिये।'

द्रौपदीने इसके पश्चात् अपनी चर्या बतायी—'मैं अहङ्कार और क्रोध छोड़कर पाण्डवों तथा उनकी दूसरी स्त्रियोंकी सावधानीसे सेवा करती हूँ। कभी ईर्ष्या नहीं करती। केवल सेवाके लिये मनको वशमें करके पतियोंके अनुकूल रहती हूँ। न तो अभिमान करती हूँ और न कभी कटुभाषण। असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, बुरे स्थानपर बैठती नहीं; बुरी बातोंपर दृष्टि नहीं देती और पतियोंका दोष न देखकर उनके संकेतोंके अनुसार व्यवहार करती हूँ। कितना भी सुन्दर पुरुष हो, मेरा मन पतियोंके अतिरिक्त उधर नहीं जाता। पतियोंके स्नान-भोजन किये बिना मैं स्नान या भोजन नहीं करती। उनके बैठ जानेपर ही बैठती हूँ और उनके घरमें आनेपर उठकर आदरपूर्वक उनको आसन तथा जल देती हूँ। घरके बर्तनोंको स्वच्छ रखती हूँ, सावधानीसे रसोई बनाती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ। घरको स्वच्छ रखती हूँ तथा गुप्तरूपसे अन्नका संचय रखती हूँ। कभी किसीका तिरस्कार नहीं करती, दुष्टा स्त्रियोंके पासतक नहीं जाती। द्वारपर बार-बार नहीं खड़ी होती, कूड़ा फेंकनेके स्थानपर अधिक नहीं ठहरती। पतिसे पृथक् मुझे रहना पसंद नहीं। पतियोंके घरसे कार्यवश बाहर जानेपर पुष्प, चन्दनका उपयोग छोड़कर व्रत करती हूँ। मेरे पति जिन वस्तुओंको खाते, पीते या सेवन नहीं करते, उनसे दूर रहती हूँ। शास्त्रविहित स्त्रियोंके सब व्रत करती हूँ। अपनेको सदा वस्त्रालङ्कारसे सजाये रहती हूँ।'



द्रौपदीपर कृपा



द्रौपदीने और भी बताया—'मेरी पूज्या सासने जो भी कौटुम्बिक धर्म बताये हैं, सबका पालन करती हूँ । भिक्षा देना, अतिथि-सत्कार, श्राद्ध तथा त्यौहारोंपर पकान्न बनाना, माननीयोंका सत्कार आदि सब धर्म सावधानीसे पालन करती हूँ । पतियोंसे अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र मैं कभी ग्रहण नहीं करती । उनसे ऊँचे आसनपर नहीं बैठती । सासजीसे विवाद नहीं करती । सदा अपनी वीरमाता सासकी भोजन-वस्त्रसे सेवा करती हूँ । उनकी कभी वस्त्र, भूषण या जलमें उपेक्षा नहीं करती । सबसे पीछे सोती हूँ, सबसे पहले शय्या छोड़ देती हूँ । धर्मराजके भवनमें प्रतिदिन आठ सहस्र ब्राह्मण स्वर्णपात्रमें भोजन करते थे । महाराज अट्ठासी सहस्र स्नातकोंका भरण-पोषण करते थे । दस सहस्र दासियाँ उनके थीं । मुझे सबके नाम, रूप, भोजन-वस्त्रका पता रहता था । मैं दासियोंके सम्बन्धमें पता रखती थी कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं । महाराजके पास एक लक्ष घोड़े और इतने ही हाथी थे । उनका भी मैं ही प्रबन्ध करती थी । उनकी गणना करती, आवश्यकताएँ सुनती और अन्तःपुरके ग्वालों, गड़रियों तथा सेवकोंकी देख-भाल करती ।'

महारानी द्रौपदीके कार्य यहीं नहीं समाप्त हो जाते, वे और बताती हैं—'महाराजके आय, व्यय और बचतका मैं हिसाब रखती थी । मेरे पति कुटुम्बका सारा भार छोडकर पूजा-पाठ या आगतोंका सत्कार करते थे । पूरे परिवारकी देख-भाल मैं ही करती थी । वरुणके समान महाराजके अटूट खजानेका पता भी मुझे ही रहता था । भूख-प्यास सहकर रात-दिन एक करके मैं सदा पाण्डवोंके हितमें लगी रहती थी । मुझे तो पतियोंको वशमें करनेका यही उपाय ज्ञात है ।'

महारानी कृष्णा सचमुच गृहस्वामिनी थीं । सत्यभामाने उनसे क्षमा माँगी । विदा होते समय पाञ्चालीने उन्हें पतिको वश करनेका निर्दोष मार्ग बतलाते हुए कहा—'तुम सुहृदता, प्रेम, परिचर्या, कार्यकुशलता तथा विविध प्रकारके पुष्प-चन्दनादिसे श्रीकृष्णकी सेवा करो । वही काम करो, जिससे वे समझें कि तुम एकमात्र उन्हींको प्रिय मानती हो । उनके आनेकी आहट पाते ही आँगनमें खड़ी होकर स्वागतको उद्यत रहो । आते ही आसन और पैर धोनेको जल दो । वे दासीको कोई आज्ञा दें तो वह काम स्वयं कर डालो । तुमसे यदि कोई गुप्त रखने योग्य बात पतिदेव कहें तो उसे किसीसे मत कहो । पतिके मित्रों तथा हितैषियोंको भोजनादिसे सन्तुष्ट करो तथा पतिके शत्रु, द्वेषी, तटस्थ लोगोंसे दूर रहो । सपत्नियोंके पुत्रोंके साथ भी एकान्तमें मत बैठो । कुलीन, दोषरहित सती स्त्रियोंका ही साथ करो । क्रूर, झगड़ालू, पेटू, चोर, दुष्टा तथा चञ्चल स्वभावकी स्त्रियोंसे दूर रहो । इस प्रकार सब प्रकार पतिकी सेवा करनेसे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी तथा अन्तमें स्वर्ग प्राप्त होगा । तुम्हारे विरोधी शमित हो जायँगे ।'

× × ×

'कृष्णे ! मैं बहुत दूरसे आया हूँ । थक गया हूँ । बड़ी भूख लगी है । अपना गृहप्रबन्ध पीछे करना, पहले मुझे कुछ खानेको दो !' सहसा श्यामसुन्दरने प्रवेश करके कहा । पाण्डवोंने आश्चर्यसे देखा था कि अकस्मात् दारुकके रथ रोकते ही श्रीकृष्ण कूदकर पर्णकुटीमें चले गये । उन्होंने धर्मराजको अभिवादनतक नहीं किया ।

'तुम तो जानते ही हो कि साथके विप्रोंको भोजन देनेके लिये महाराजने तपस्या करके सूर्यनारायणसे एक पात्र प्राप्त किया है । उसी पात्रसे विविध पकान्न निकलता है और उसीसे हम सबका काम चलता है । मेरे भोजनके पश्चात् वह पात्र रिक्त हो जाता है । मैंने भोजन कर लिया है । पात्र धोकर रख दिया है । अब क्या हो ?' द्रौपदीने बड़ी खिन्नतासे कहा ।

'मैं तो भूखसे व्याकुल हो रहा हूँ और तुम्हें हँसी सूझती है । मैं कुछ नहीं जानता; लाओ, कुछ खिलाओ !' नकली रोषसे लीलामयने कहा ।

'मेरे पतियोंके समीप दस सहस्र शिष्योंके साथ महर्षि दुर्वासा आये हैं । धर्मराजने उन्हें आतिथ्यको आमन्त्रित कर दिया है । स्नान-सन्ध्या करने वे सरोवर गये हैं । लौटनेपर उन्हें अन्न न मिला तो शाप देकर पाण्डवोंको भस्म कर देंगे । इसी संकटमें पड़कर मन-ही-मन तुम्हारा स्मरण करते हुए मैं रो रही थी । तुमने मुझ दुखियाकी पुकार सुन ली । अब अपने पाण्डवोंकी रक्षा करो !' द्रौपदीका भय दूर हो गया था । उसने प्रार्थना की ।

'यह सब पचड़ा पीछे; पहले लाओ, अपना वह पात्र दो !' श्रीकृष्ण झुँझलाये ।

'लो ! तुम्हीं देख लो !' द्रौपदीने पात्र लाकर दे दिया । भगवान्‌की लीला, भली प्रकार सावधानीसे स्वच्छ किये उस पात्रमें भी शाकका एक पत्ता चिपका निकल आया ।

'यज्ञभोक्ता सर्वात्मा इससे तृप्त हो !' माधवने वह पत्ता उठाकर मुखमें डाल लिया । अब यह पुनः भोजनक्रम प्रारम्भ

हो गया था, अतः पात्र भर गया। उसे तो अब द्रौपदीके भोजन न करनेतक अन्न देते रहना था।

'जाओ! ऋषियोंको बुला लाओ!' श्रीकृष्णने सहदेवको बाहर आकर आज्ञा दी। वहाँ जलमें खड़े ऋषियोंका उदर विश्वात्मा श्रीकृष्णके मुखमें शाक डालते ही भर गया था। खट्टी डकारें आ रही थीं। दुर्वासाजीने सोचा कि युधिष्ठिरने अन्न प्रस्तुत किया होगा, अब हम भोजन तो कर नहीं सकते। कहीं अन्न व्यर्थ नष्ट होता देख धर्मराज रुष्ट हो गये तो लेनेके देने पड़ जायँगे। धर्मराज भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं। महर्षिको अभी अम्बरीषपर रुष्ट होकर कष्ट पानेकी घटना भूली नहीं थी। उन्होंने भागनेमें ही कल्याण समझा। सहदेवने लौटकर बताया कि वहाँ कोई नहीं है।

'महर्षि कहीं अर्धरात्रिको आकर अन्न न माँगें।' पाण्डव चिन्तित हो गये।

'दुर्वासा अब नहीं आवेंगे। दुष्ट दुर्योधनने अपनी सेवासे प्रसन्न करके उनसे वरदान ले लिया था कि शिष्योंके साथ वे तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करने तब पधारें, जब पाञ्चाली भोजन कर चुकी हो। इस कष्टको मैंने निवारित कर दिया।' श्रीकृष्णने सबको समझाकर आश्वस्त किया।

× × ×

वृद्धक्षत्रका पुत्र सिन्धुनरेश जयद्रथ सब प्रकार सज-धजकर विवाहके लिये शाल्व देशकी ओर जा रहा था। उसने एकाकिनी द्रौपदीको वनमें देखा। पाण्डव आखेटके लिये गये थे। जयद्रथ द्रौपदीको देखते ही मुग्ध हो गया। उसने अपने साथी राजा कोटिकास्यको परिचय जाननेके लिये भेजा। कोटिकास्यने समीप जाकर मधुर शब्दोंमें परिचय पूछा और अपना परिचय दिया।

द्रौपदीने बड़े संकोचसे कहा—'मर्यादानुसार मुझे तुमसे नहीं बोलना चाहिये, परंतु समीपमें दूसरे किसी पुरुष या स्त्रीके न होनेसे मुझे विवश होकर बोलना पड़ा। मैं तुम्हें और सिन्धुनरेशको भी जानती हूँ। मेरे पति वनमें आखेटको गये हैं। उन विश्वविख्यात पाण्डवोंको तुम जानते हो। मैं उनकी पत्नी कृष्णा हूँ। अपने वाहन खोल दो! पाण्डवोंका आतिथ्य स्वीकार करके जहाँ जाना हो, चले जाना। उनके लौटनेका समय हो गया है।'

द्रौपदी कुटीमें आतिथ्यकी व्यवस्था करने चली गयी। उसने इन लोगोंपर विश्वास कर लिया। कोटिकास्यसे परिचय पाकर स्वयं जयद्रथ आया। उसने पहले तो कुशल पूछी और पाण्डवोंको राज्यहीन, निर्धन कहकर द्रौपदीसे कहने लगा कि वह उनको छोड़कर सिन्धुकी महारानी बने। द्रौपदीने उसे फटकारा—'मेरे पति युद्धमें देवता और राक्षसोंका भी वध कर सकते हैं। मूर्खतावश अपने नाशके लिये तूने मेरे प्रति कुदृष्टि की है!'

जयद्रथने पुनः धमकाया। कृष्णाने कहा-'तू एकाकिनी समझकर मुझपर बल दिखा रहा है, पर मैं तेरे सम्मुख दीन वचन नहीं बोल सकती। जब एक रथपर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन मेरी खोजमें निकलेंगे तो इन्द्र भी मुझे छिपा नहीं सकते। अभी मेरे पति आकर तेरी सेनाका नाश कर देंगे। यदि मैं पतिव्रता हूँ तो इस सत्यके प्रभावसे आज मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे घसीट रहे हैं।'

जयद्रथने द्रौपदीको पकड़ना चाहा, उसे धक्का देकर पाञ्चालीने धौम्यमुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और इसलिये स्वयं रथमें बैठ गयीं कि जयद्रथ उनका स्पर्श न करे। उनको लेकर जयद्रथ ससैन्य चला। पाण्डवोंने वनमें शृगालको रोते हुए पाससे जाते देख अमङ्गलकी आशङ्का की। वे शीघ्रतापूर्वक लौटे। आश्रममें धात्रिकाको रोते देख उससे पूछकर उन्होंने समाचार ज्ञात किया। आगे बढ़नेपर धौम्यमुनि पैदल सेनामें भीमको पुकारते हुए जाते दिखायी पड़े। भयभीत होकर पैदल सेनाने तो शरण माँग ली। शेषपर पाण्डवोंने बाणवर्षा प्रारम्भ की। अनेक राजा मारे गये। भयातुर जयद्रथ द्रौपदीको रथसे उतारकर भागा। द्रौपदी धौम्यमुनिके साथ धर्मराजके पास लौट आयीं।

'बहिन दुःशला (दुर्योधनकी बहिन) का ध्यान करके जयद्रथको मारना मत! बहिनको विधवा मत करना।' भीमको सिन्धुराजके पीछे जाते देख युधिष्ठिरने आदेश दिया। भीमने दौड़कर जयद्रथको ललकारा और पराजित करके पकड़ लिया। उसको पटककर मरम्मत कर दी। सिरके केश मूँड़कर पाँच चोटियाँ रखकर तथा दासत्व स्वीकार करवाके उसे बाँधकर वे ले आये। इस दशामें उसे देखकर द्रौपदीको दया आ गयी। उन्होंने भीमसेनसे कहा—'महाराजके इस दासको अब छोड़ दो।'

धर्मराजने बन्धनमुक्त करके जयद्रथको दासत्वसे भी मुक्त कर दिया और विदा करते समय समझाया कि—'अब कभी परस्त्रीपर कुदृष्टि डालने-जैसा नीच कार्य मत करना।'

× × ×

'महारानी! मैं सैरन्ध्री हूँ और अपने योग्य कार्य चाहती

हूँ । मुझे बालोंको सुन्दर बनाना, गूँथना, पुष्पहार बनाना, चन्दन या अङ्गराग बनाना बहुत अच्छा आता है । मैं इससे पूर्व द्रौपदीके अन्तःपुरमें रह चुकी हूँ । मुझे केवल भोजन-वस्त्र चाहिये ।' पाञ्चालीने विराटकी महारानी सुदेष्णाको बताया । उसे नगरमें भटकते देख महारानीने बुलाया था ।

'तुम तो देवताओंके समान सुन्दर हो । यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं । तुम्हें अन्तःपुरमें रखनेपर भय है कि महाराज तुमपर आसक्त हो जायँगे ।' सुदेष्णाने उत्तर दिया ।

'पाँच परम पराक्रमी गन्धर्व मेरे पति हैं । जो मुझपर कुदृष्टि करता है, उसे वे उसी रात्रि मार डालते हैं । जो मुझसे पैर नहीं धुलवाता तथा जूठेका स्पर्श नहीं कराता, उसका वे मङ्गल करते हैं ।' कृष्णाने आश्वासन दिया ।

'तुम्हें पैर नहीं धोने होंगे और उच्छिष्ट भी स्पर्श नहीं करना पड़ेगा । तुम मेरे समीप आदरपूर्वक निवास करो ।' सुदेष्णाने स्वीकृति दे दी ।

'तुम इतनी सुन्दर कौन हो ? यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं । मुझे स्वीकार करो ।' एक दिन विराटके सेनापति कीचकने अन्तःपुरमें सैरन्ध्रीको देखकर कहा । वह उस सौन्दर्यपर मुग्ध हो गया था । द्रौपदीने परस्त्रीके प्रति आकर्षित न होनेके लिये उसे समझाया; किंतु वह दुष्ट बराबर हठ ही करता रहा । गन्धर्वोंके भयका भी उसपर कोई प्रभाव न हुआ । उसने द्रौपदीसे कोरा उत्तर पाकर अपनी बहिन सुदेष्णासे प्रार्थना की । सुदेष्णाने द्रौपदीके अस्वीकार करनेपर भी बलपूर्वक रस लानेके बहाने उन्हें कीचकके भवनमें भेजा । उन्मत्त कीचकने उन्हें पकड़नेका प्रयत्न किया । किसी प्रकार उसे धक्का देकर भागकर वे राजसभामें आयीं । पीछे दौड़ता हुआ कीचक वहाँ भी पहुँचा और उसने द्रौपदीको केश पकड़कर पटक दिया तथा पाद-प्रहार किया । सूर्यद्वारा द्रौपदीकी रक्षामें नियुक्त राक्षसने आँधीके समान कीचकको दूर फेंक दिया । वह गिरकर मूर्च्छित हो गया ।

भीमसेन और अर्जुन दोनों क्रोधित हो गये, पर धर्मराजने संकेतसे उन्हें रोक दिया । द्रौपदीने सभाभवनके द्वारपर खड़े होकर कहा, 'मेरे महापराक्रमी पति सूतद्वारा मेरा अपमान कायरोंकी भाँति देख रहे हैं । वे धर्मपाशमें बँधे हैं । यहाँका राजा विराट एक निरपराध स्त्रीको इस प्रकार मारे जाते देखकर चुप है । यह राजा होकर भी न्याय नहीं करता । यह लुटेरोंका-सा धर्म राजाको शोभा नहीं देता । सभासद् भी इस अन्यायको चुपचाप सह रहे हैं ।'

सभासदोंने द्रौपदीकी प्रशंसा की । महाराज विराट कीचकके बलसे दबे थे । उसने अनेक देश जीते थे । यद्यपि वह लम्पट था, प्रजाके धनको लूट लेता था और प्रजाकी स्त्रियोंके साथ अत्याचार करता था, परंतु महाराज उसका विरोध नहीं कर सकते थे । अतः वे चुप रहे । धर्मराजने संकेतसे कहा—'तेरे पति तेरे कष्टदाताको अवश्य नष्ट कर डालेंगे । वे अभी अवसर नहीं देखते । तू अन्तःपुरमें जा !'

द्रौपदी अन्तःपुरमें गयी । सुदेष्णाने उसे आश्वासन देनेका प्रयत्न किया । रात्रिमें द्रौपदीने भोजनालयमें भीमसेनके पास जाकर रोते हुए कहा—'तुमलोगोंको इस वेषमें देखकर मेरा हृदय फटता है । मुझे भी सुदेष्णाकी दासी बनकर रहना पड़ रहा है । अब तो यह अपमान मैं सह नहीं सकती । कीचक नित्य घृणित संकेत करता है और गंदी बातें कहता है । आज उसने भरी सभामें तुम सबके देखते मुझे मारा है । अब वह मुझे नित्य मारेगा और बलप्रयोग करेगा । यदि तुम मुझे अवधि पूर्ण होनेतक चुप रहनेको कहोगे तो मैं प्राण दे दूँगी ।'

भीमसेनने द्रौपदीको आश्वासन दिया । उनकी सम्मतिसे जब कीचकने दूसरे दिन पुनः वही राग छेड़ा तो कृष्णाने उसे रात्रिको एकान्तमें विराटकी नवीन नृत्यशालामें बुलाया । भीमसेन सूचना पाकर पहलेसे ही वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने युद्धमें कीचकको पछाड़कर मार डाला । उसके हाथ-पैर धड़में दबाकर घुसा दिये । इसी दशामें द्रौपदीको दिखाया । द्रौपदीने लोगोंसे कहा—'मेरा अपमान करनेवाले नीच कीचककी मेरे गन्धर्व पतियोंने क्या दशा की, सो जाकर देखो !'

'कीचककी मृत्यु सैरन्ध्रीके कारण ही हुई है । अतः इसे भी साथमें जला दो । इससे कीचककी आत्माको सन्तोष होगा ।' कीचकको मरा देखकर रोषके मारे उपकीचकोंने यह निश्चय किया । उनके भयसे डरे विराटने भी ऐसा करनेकी आज्ञा दे दी । उन्होंने द्रौपदीको बाँध लिया और श्मशान ले चले । आर्तनाद करती जाती द्रौपदीकी रक्षा-पुकार भीमसेनने सुन ली । नगर-परकोटा लाँघकर वे पहले ही श्मशान पहुँच गये । एक महान् वृक्ष उखाड़कर दौड़े । उन्हें देखकर उपकीचक भागे । भीमने उन सबको मार डाला और द्रौपदीको बन्धनमुक्त कर दिया । भीम अपना काम करके पुनः उसी मार्गसे भोजनालय पहुँच गये ।

'भद्रे ! महाराज गन्धर्वोंसे बहुत डरे हैं । तुम अत्यन्त सुन्दरी हो और पुरुष स्वाभाविक कामी होते हैं । तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं । उन्होंने एक सौ पाँच उपकीचकोंको मार डाला है । अतः महाराजने कहा है कि तुम अब यहाँसे जहाँ इच्छा हो, चली जाओ !' अन्तःपुरमें पहुँचते सुदेष्णाने कहा ।

'महाराज मुझे तेरह दिन और क्षमा करें। मेरे गन्धर्व पति इसके पश्चात् स्वयं मुझे ले जायँगे और वे महाराजका भी मङ्गल करेंगे।' सैरन्ध्रीकी इस बातका प्रतिवाद करनेका साहस अब रानी सुदेष्णामें नहीं था। तेरह दिन पश्चात् गुप्तवासकी अवधि समाप्त होनेपर पाण्डव प्रकट हो गये।

× × ×

पाण्डवोंके वनवासकी अवधि समाप्त हुई। विराटनगरमें उनके पक्षके नरेश एकत्र होने लगे। अनेक ऋषियोंने, विदुरने तथा औरोंने भी दुर्योधनको समझाया; किंतु वह बिना युद्धके पाँच ग्राम भी पाण्डवोंको देनेको प्रस्तुत नहीं था। अन्तिम प्रयत्नके रूपमें शान्तिदूत बनकर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने विराट नगरसे हस्तिनापुर जाना निश्चित किया। उनको जानेको उद्यत देखकर द्रौपदीने उनसे कहा—'जनार्दन! अवध्यका वध करनेमें जो पाप होता है, वही पाप वध्यका वध न करनेमें भी होता है। मैं अपने अपमानको भूल नहीं सकी हूँ। शान्ति और दुर्योधनकी दी हुई भिक्षा मेरी अन्तर्ज्वालाको शान्त नहीं करेगी। यादव, पाण्डव और पाञ्चालके शूरोंके रहते मेरी यह दशा है! यदि आपका मुझपर तनिक भी स्नेह है तो कौरवोंपर कोप कीजिये।'

'जाहु भले कुरुराज पर, धारि दूतवर-वेश।
भूलि न जैयो पै वहाँ, केशव द्रौपदि-केश॥

अपने काले-काले सुदीर्घ केशोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णको दिखाते हुए रोकर पाञ्चालीने कहा—'आज बारह वर्षसे इन केशोंमें कंघी नहीं पड़ी है। ये बाँधे नहीं गये हैं।



जिसने इनको भरी सभामें खींचा है, उस दुष्ट दुःशासनकी उसी भुजाके रक्तसे धोकर तब मैं इन्हें बाँधूँगी, यह मैंने प्रतिज्ञा की है। मधुसूदन! क्या ये आजीवन खुले ही रहेंगे? यदि पाण्डव कायर हो गये हैं, यदि वे युद्ध नहीं करते तो मैं अपने पाँचों पुत्रोंको आदेश दूँगी। बेटा अभिमन्यु उनका नेतृत्व करेगा। मेरे पिता और भाई भी यदि मेरी उपेक्षा कर दें तो मैं तुम्हारे पैर पकड़ूँगी। मेरी प्रार्थनापर भी तुम द्रवित न होओगे? तुम्हारा चक्र शान्त ही रहेगा? मैं कौरवोंकी लाशोंको धूलिमें तड़पते देखना चाहती हूँ। इसके बिना कोई साम्राज्य मुझे सुखी नहीं कर सकता।'

श्रीकृष्णने गम्भीरतासे कहा—'कृष्णे! आँसुओंको रोको! इस नाटकको हो जाने दो! मैंने प्रतिज्ञा की है और प्रकृतिके सारे नियमोंके पलट जानेपर भी वह मिथ्या नहीं होगी। जिनपर तुम्हारा कोप है, उनकी विधवा पत्नियोंको तुम शीघ्र ही रोते देखोगी। वही धर्मराज युद्धका आदेश देंगे और तुम्हारे शत्रु युद्धभूमिमें मारे जायँगे!'

× × ×

महाभारतका युद्ध प्रारम्भ हो गया था। सहसा एक रात्रिको धर्मराजके चरोंने समाचार दिया कि दुर्योधनके द्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मपितामहने प्रतिज्ञा की है कि कल वे समस्त सैन्यके साथ पाँचो पाण्डवोंको मार देंगे। पाण्डवोंमें अत्यन्त व्याकुलता फैल गयी। धर्मराजने श्रीकृष्णके पास अर्जुनको भेजा, किंतु रूखा उत्तर मिला। अन्तमें द्रौपदीने माधवके शिविरमें जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे पाण्डवोंकी रक्षा करें।

'यदि पितामहने प्रतिज्ञा की है, तो वह सत्य होकर रहेगी। मैं असमर्थ हूँ।' रूखे मुख उत्तर दे दिया गया।

'तो क्या तुमने लंबी-लंबी शपथें खाकर मुझको झूठा ही आश्वासन दिया था। श्रीकृष्णके जीवित रहते उसकी सखी कृष्णाके पति परलोक सिधार जायँ, इससे बढ़कर कलङ्क और क्या होगा?' द्रौपदीने खीझकर कहा।

'एक उपाय है—तुम चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चलो और भीष्मके शिविरमें जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करो।' श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा।

'मैं तो सदा ही तुम्हारे वचनोंका अनुसरण करनेको प्रस्तुत हूँ, चलो शीघ्र।'

रातका तीसरा प्रहर था। भगवान् द्रौपदीको लेकर चले। 'अरे तुम्हारी पञ्चनदीय जूतियोंको देखकर तो कोई भी पहचान लेगा। उतारो जूतियाँ जल्दी।' श्रीकृष्णने द्रौपदीको कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया और जूतियोंको लेकर अपने पीत

दुःख हो रहा है, मैं रो रही हूँ, ऐसा ही प्रत्येक स्त्रीको होता होगा। देवी कृपीको यह शोक न हो! वे पुत्रशोकमें मेरी तरह न रोवें! ब्राह्मण सब प्रकार पूज्य होता है। इन्हे शीघ्र छोड़ दो! ब्राह्मणोंका हमारे द्वारा अनादर नहीं होना चाहिये।'

भीमसेन अश्वत्थामाके वधके पक्षमे थे। अन्तमे श्रीकृष्णकी सम्मतिसे द्रोणपुत्रके मस्तकपर रहनेवाली मणि छीनकर अर्जुनने उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया।

× × × ×

महाभारतकी समाप्तिपर युधिष्ठिरने बन्धुवधकी भावना करके विरक्त होकर वनमें जानेका विचार प्रकट किया। जब सब भाई उन्हे समझा चुके तो पाञ्चालराजकुमारीने कहा—'महाराज! आपने द्वैतवनमे बार-बार कहा है कि शत्रुओंको जीतकर आप हम सबको सुखी करेंगे, अब अपनी बातको क्यों मिथ्या कर रहे हैं। मेरी सास कुन्तीजी कभी झूठ नहीं बोलतीं। उन्होने भी कहा था कि आप शत्रुओपर विजय करके साम्राज्यका उपभोग करेंगे। अपनी माताके वचनोको आप क्यों मिथ्या कर रहे हैं। दुष्टोंको दण्ड देकर, निर्बलोंकी रक्षा करके, अनाथोकी सहायता करके, विप्रोंको दान देकर प्रजापालन करनेवाला राजा निःश्रेयसको प्राप्त करता है। आप अपने धर्मको छोड़कर किस विधर्मके प्रलोभनमे वन जाना चाहते हैं? आपने दानमें, शास्त्र सुनाकर, यज्ञमें धोखा देकर या अन्यायसे यह राज्य नहीं पाया है। धर्मयुद्धमे शत्रुओका दमन करके आपने इसे उपलब्ध किया है। आपने सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन प्राप्त किया है, अब आप इस दायित्वसे कैसे विमुख होते हैं। मैं पुत्रोंके मरनेपर भी केवल आपकी ओर देखकर ही जीवित हूँ। आपके ये पराक्रमी भाई भी आपके लिये ही जीवन धारण किये हैं। आपके लिये उदासीनता उचित नहीं। शासन कीजिये, यज्ञ कीजिये और ब्राह्मणोंको दान दीजिये।'

धर्मराजका शोक तो भीष्मपितामहके उपदेशोंसे दूर हुआ। उन्होने दीर्घकालतक शासन किया। द्रौपदीके साथ तीन अश्वमेध किये। द्वारकासे लौटकर अर्जुनने जब यदुवंशके संक्षयका समाचार दिया तो परीक्षित्का राज्याभिषेक करके धर्मराजने अपने राजोचित वस्त्रोका त्याग कर दिया। मौनव्रत लेकर वे निकल पड़े। भाइयोने भी उन्हींका अनुकरण किया। द्रौपदीने भी वल्कल पहना और पतियोके पीछे चल पड़ी। धर्मराज सीधे उत्तर चलते गये। बदरिकाश्रमसे ऊपर वे हिमप्रदेशमें जा रहे थे। द्रौपदी सबके पीछे चल रही थी। सब मौन थे। कोई किसीकी ओर देखता नहीं था। द्रौपदीने अपना चित्त सब ओरसे एकाग्र करके परात्पर भगवान् श्रीकृष्णमे लगा दिया था। उन्हे शरीरका पता नहीं था। हिमपर फिसलकर वे गिर पड़ी। शरीर उसी श्वेत हिमराशिमें विलीन हो गया। महारानी द्रौपदी तो परम तत्त्वसे एक हो चुकी थीं।

सती सुभद्रा

'मेरी गायोको लुटेरे दस्यु लिये जा रहे हैं। रक्षा करो! बचाओ!' ब्राह्मणकी आर्त पुकार सुनकर अर्जुनने अन्तःपुरमे प्रवेश करके गाण्डीव उठाया और दस्युओंको दण्ड देकर ब्राह्मणको गाये ला दी।

'मुझे अब आज्ञा दें!' लौटकर अर्जुनने धर्मराजसे विदा चाही। पाण्डवोने नियम किया था कि द्रौपदीके एक भाईके समीप रहनेके समय यदि दूसरा भाई वहाँ जाय तो उसे बारह वर्ष तीर्थाटन करना होगा। अर्जुनने धर्मराजके समीप द्रौपदीके रहते अन्तःपुरमे प्रवेश किया था। सभीने इसे आपद्धर्म बताया, किंतु किरीटीने नियम-पालनका आग्रह स्थिर रक्खा। वहाँसे विदा होकर पृथ्वीके अनेक तीर्थोंमें घूमते हुए वे प्रभास पहुँचे। श्रीकृष्णचन्द्रने यह समाचार पाकर प्रभासमें पदार्पण किया। दोनों सखा परस्पर मिले। अर्जुनको लिवाकर श्रीकृष्ण द्वारका आये। प्रभासमें ही अर्जुनको समाचार मिल गया था कि बलरामजी अपनी छोटी बहिन सुभद्राका विवाह दुर्योधनके साथ करना चाहते है। श्रीकृष्णको यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं था। अर्जुनने श्रीकृष्णकी अनुमतिसे त्रिदण्डी संन्यासीका रूप बनाया और आकर रैवतक पर्वतपर रहने लगे।

द्वारकामे बड़ा भारी उत्सव हुआ। इस उत्सवमें सभी नर-नारी सम्मिलित हुए। अर्जुनने उत्सवमे आयी सुभद्राको देखा। उस लावण्यकी प्रतिमाको वे एकटक नेत्रोंसे मुग्ध होकर देखते-ही रह गये। श्रीकृष्णने अर्जुनके भावको लक्ष्य किया। एकान्त पाकर हँसते हुए उन्होने कहा—'विजय! क्षत्रियके लिये कन्याहरण कोई निन्दाकी बात नहीं है। सुभद्राको प्राप्त करनेका दूसरा मार्ग तुम्हारे लिये मैं नहीं देखता।'

धर्मराजकी सम्मति आवश्यक प्रतीत हुई। हस्तिनापुर

दूत भेजा गया। महाराज युधिष्ठिरने सहर्ष स्वीकृति दे दी। इसी मध्यकालमे बलरामजीने अर्जुनको भोजनके लिये आमन्त्रित किया। श्रीकृष्णने सखियोके द्वारा सुभद्राको अर्जुनका परिचय पहले ही दे दिया था। बलरामजीका सत्कार स्वीकार करके अर्जुन रैवतक पर्वतपर लौट आये। वे अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करने लगे।

पर्वके अवसरपर धूम-धामसे नृत्य, गान, वाद्यके साथ समस्त यदुकुल रैवतक पर्वतकी प्रदक्षिणा कर रहा था। श्रीकृष्णने व्रजमें गोवर्धन-पूजनकी जो प्रथा प्रचलित की थी, वह द्वारकामें इस प्रकार सम्पन्न की जाती थी। अवसर देखकर अर्जुनने संन्यासीका वेश छोड़ दिया। एक रथको सारथिहीन देखकर उसीमे बैठ गये। रथ हॉककर सुभद्राके समीप पहुँचे और शीघ्रतापूर्वक उसको रथमे बैठाकर रथ भगा ले चले। समीपके यदुवीरोने पीछा किया। दॉतोसे रथ-रश्मि पकड़कर अर्जुनने बाणवृष्टि प्रारम्भ की। सुभद्राने देखा कि इस प्रकार रथ ठीक गतिसे नही चलाया जा सकता। उसने आगे बढ़कर रश्मिको हाथोमे ले लिया और सारथिके स्थानपर बैठ गयी। अब भला, अर्जुनका कौन सामना कर सकता था। विवश होकर पीछा करनेवाले लौट आये।

'श्रीकृष्ण चुप क्यो हैं? अर्जुन इनका सखा है। यह सब इनके ही संकेतसे हुआ है। कन्याहरण करके इस धृष्ट पाण्डवने यदुवंशका अपमान किया है। मैं समस्त यादवी सेना लेकर उसे दण्ड दूँगा। यदि युधिष्ठिर सहायताको आये तो उन्हे भी कियेका फल मिलेगा।' समाचार पाकर यादवोकी सभामे बलरामजी क्रोधित हो उठे। सभी यदुवंशी उनका समर्थन कर रहे थे।

'भैया! आप मुझे क्षमा करें! आप जो करेंगे, मै उसीमे आपका अनुगमन करूँगा; किंतु परिणामके सम्बन्धमे हमे विचार कर लेना चाहिये। अर्जुन साधारण शूर नहीं हैं। उन्होने इन्द्रका विरोध करके भी खाण्डव वन अग्निको देनेमें सफलता प्राप्त की है। उनका गाण्डीव दिव्य है। उनके त्रोण अक्षय है। यदि कहीं उन्होने अकेले ही हम सबको पराजित कर दिया तो यदुवंशका कितना बड़ा अपमान होगा। यदि हमने ही उन्हें पराजित कर लिया तो हरण की हुई सुभद्राको दूसरा कौन स्वीकार करेगा। सुभद्राने स्वयं रथ हॉका है; यही सिद्ध करता है कि इसने स्वेच्छासे विजयको वरण किया है। क्या अब वह दूसरेकी पत्नी होना स्वीकार करेगी? क्षत्रियोके लिये कन्याहरण कोई अपमानकी बात नही। अर्जुनने इस सम्बन्धके द्वारा हमे सम्मानित ही किया है।' बड़े भाईके चरणोमे प्रणाम कर श्रीकृष्णने उन्हें नम्रता-पूर्वक समझाया।

भगवान् बलराम शान्त हुए। उन्होने तुरंत दूत भेजे। आदरपूर्वक अर्जुन लौटाये गये। द्वारकामे वसुदेवजीने विधिपूर्वक उन्हे कन्यादान किया। बलरामजीने अपार धन, रत्न दहेजमे दिया। सुभद्राके साथ एक वर्षतक द्वारकामें रहकर तीर्थवासकी अवधि पूर्ण होनेपर अर्जुन हस्तिनापुर लौटे। लाल साड़ी पहनकर ग्वालिनीके वेशमे जब सुभद्राने कुन्तीके पैर छुए तो माता आनन्द-विभोर हो गयी। सुभद्राने द्रौपदीके पैर छूकर कहा—'बहिन! मै तुम्हारी दासी हूँ।' द्रौपदीने उन्हे हृदयसे लगा लिया। समय पाकर सुभद्राजीने महारथी अभिमन्युको जन्म दिया।

× × ×

'तुम कौन हो और क्यों डूबने जा रहे हो? इस अर्धरात्रिके समय इस एकान्तमे तुम क्यो आये?' सुभद्राजी अर्ध-रात्रिमें पर्वस्नान करने गङ्गा-किनारे आयी थी। समीपके वृक्षमे सुन्दर घोड़ीको बॉध गङ्गामे डूबकर आत्महत्याकी तैयारीमें खड़े एक राजवेशधारी पुरुषको देखकर सुभद्राने उससे पूछा और आश्वासन दिया।

'मैं अभागा अवन्तिपति दण्डिराज हूँ। त्रिभुवनमे मुझको किसीने भी आश्रय नही दिया। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण मेरी इस अत्यन्त प्रिय घोड़ीको बलपूर्वक हरण करना चाहते हैं। उनसे लड़नेकी शक्ति मुझमे नही। और मुझको शरण देकर भला, श्रीकृष्णसे कौन वैर मोल ले?' राजवेशधारी पुरुषने करुणस्वरमें कहा।

'मै श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा तुम्हे शरण देती हूँ। मेरे बलवान् स्वामी तथा मेरा वीर पुत्र अभिमन्यु तुम्हारी रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण मेरे भाई हैं, यह समझकर तुम जरा भी सन्देह न करो।' सुभद्राके स्वर दृढ़ थे। दण्डिराज घोड़ीको लेकर सुभद्राके साथ पाण्डवोकी शरणमे पहुँच गये।

दण्डीकी यह घोड़ी शापभ्रष्टा उर्वशी थी। दुर्वासाके शापसे घोड़ी बनी फिरती थी। शापके पश्चात् दयावश दुर्वासाने यह वर भी दिया था कि आठ वज्रोंके एकत्र होते ही शापसे छूट जाओगी। कौरव-पाण्डवोको इस शापकी बातका पता नही था।

'क्षत्रियको धर्मपर स्थिर रहना चाहिये। शरणागतकी

रक्षा क्षत्रियका प्रथम धर्म है। यदि आपको अपने सख्यका निर्वाह करना है तो करो। सुभद्रा स्वयं कल अपने भाईसे युद्ध करेगी।' भवन लौटकर सुभद्राने पतिसे सब समाचार कहा। अर्जुन जब श्यामसुन्दरसे युद्ध करनेमें अपनेको असमर्थ बताने लगे तो उन्हें अच्छी फटकार मिली। अर्धाङ्गिनीकी प्रतिज्ञाको अपनी प्रतिज्ञा मानकर उन्हें युद्धके लिये प्रस्तुत होना पड़ा। अभिमन्युने भी सम्मति दी।

द्वारका समाचार पहुँचा। श्रीकृष्णने सन्देश भेजकर अर्जुनको युद्ध-विरत करना चाहा और घोड़ी उन्हें दे देनेकी सलाह दी। धर्मराजको समझाया। पर अर्जुन अडिग रहे। धर्मपर स्थिर भाईको युधिष्ठिर भी आदेश न दे सके। पार्थ और पार्थ-सखामें संग्राम होने लगा। घोरतर युद्ध दिव्यास्त्रोंमें बढ़कर जब इस रूपमें आया कि श्रीकृष्णने चक्र तथा अर्जुनने पाशुपत उठा लिया तब विश्वमें प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया। देवताओंके आठों वज्र एकत्र हो गये। भगवान् शङ्करने प्रकट होकर श्रीकृष्णकी स्तुति की और प्रार्थना की कि 'भक्तवत्सल! अपने भक्तके लिये अपनी प्रतिज्ञा भंग करें।' भगवान् सन्तुष्ट हो गये। उन्होंने अर्जुनको कण्ठसे लगा लिया। उर्वशी शापमुक्त हो गयी। दण्डिराजको अभयदान मिल गया। श्रीकृष्णको जब पता लगा कि यह सब सुभद्राने किया है तो स्नेहसे उन्होंने छोटी बहिनकी पीठ थपथपा दी।

× × ×

महाभारतका युद्ध समाप्त हुआ। धर्मराजसे विदा लेकर श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ द्वारका आये। सुभद्राजी भी साथ ही आयीं। वसुदेवजीके पूछनेपर श्रीकृष्णने सम्पूर्ण युद्धका वर्णन बड़े विस्तारसे किया। केवल अभिमन्युका वध-प्रसङ्ग वे जान-बूझकर छोड़ गये। बड़े कातर कण्ठसे सुभद्राने कहा—'भैया! मेरे पुत्रकी मृत्यु भी तो सुना दो।' इतना कहकर वे मूर्च्छित हो गयीं। अपने दौहित्रके मरणसे वसुदेवजीको भी



बहुत शोक हुआ। अभिमन्युके युद्ध तथा शौर्यका विस्तारसे वर्णन करके श्रीकृष्णने रोती हुई सुभद्राको आश्वासित किया।

पुत्रकी मृत्युका सुभद्राजीको अन्ततक शोक रहा। वे द्वारकासे फिर लौटकर हस्तिनापुर नहीं आयीं। जब सभी पुरुष द्वारकासे प्रभास चले गये तो वे भी स्त्रियोंके साथ शङ्खोद्धार गयीं। दारुकने प्रभाससे लौटकर यदुवंशके विनाश-का समाचार दिया। अर्जुन उस समय वहीं थे। सुभद्राने शोक-विह्वल होकर पतिके चरणोंपर मस्तक रक्खा और शरीर छोड़ दिया। अर्जुनने अपनी साध्वी पत्नीकी अन्त्येष्टि स्वयं सम्पन्न की।

पाण्डवोंके अन्तःपुरमें अनेक स्त्रियाँ थीं। द्रौपदीके अतिरिक्त सभीने पृथक्-पृथक् परिणय किया था; किंतु अपनी तेजस्विता तथा गुणोंके कारण केवल सुभद्राजी ही सबका सम्मान पा सकीं। उन्हींके वंशसे पाण्डुकी सन्तति-परम्परा अविच्छिन्न रही। —सु० सिं०

भारतीय स्त्रियोंका कर्तव्य

भारतीय महिलाओंकी अवस्थामें उन्नति और प्रगति करनेके लिये क्या उनका पाश्चात्त्य सभ्यताके रंगमें रँग जाना या अंग्रेजियत धारण कर लेना सचमुच उपयुक्त होगा? ·········भारतीय स्त्रियोंका तो धर्म है कि वे अपने राष्ट्रकी परम्पराको जीवित रक्खें। कुछ विदेशी यथार्थ गुणोंके आगे उन्हें अपने विचारों और गूढ़ तत्त्वोंको न भुला देना चाहिये।

—श्रीमती कमला सत्यनाथन्

सती उत्तरा

महाराज विराटने कल्पना भी नहीं की थी कि अज्ञातवासमें पाण्डव उन्हींके यहाँ छिपे हैं। जब उन्होंने सुना कि उनके पुत्र उत्तरने अकेले ही भीष्म, कर्ण, द्रोण, कृप प्रभृति समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंको दुर्योधनके साथ पराजित करके अपनी गायोंको लौटा लिया है तो वे आनन्दातिरेकमें पुत्रकी प्रशंसा करने लगे। उन्हें असह्य हो गया कि राजसभामें पासा बिछानेको नियुक्त ब्राह्मण कंक उनके पुत्रके बदले नपुंसक बृहन्नलाकी प्रशंसा करे। उन्होंने पासा खींचकर मार दिया। कंककी नासिकासे रक्त निकलने लगा। रक्तको कंकने भूमिपर गिरनेसे बचाया। इसी समय कुमार उत्तरने राजसभामें प्रवेश करके महाराजको समझाया और महाराजने ब्राह्मणसे क्षमा माँगी।

तीसरे दिन महाराज विराटको पता लगा कि कंकके वेशमें महाराज युधिष्ठिरका उन्होंने अपमान किया था। बड़ा खेद हुआ उन्हें। पाण्डवोंका परिचय प्राप्त करके महाराजने अनजाने अपराधोंके परिमार्जन तथा स्थायी मैत्री-स्थापनके उद्देश्यसे प्रस्ताव किया कि अर्जुन उनकी पुत्री उत्तराका पाणिग्रहण करें। अर्जुनने बड़ी गम्भीरतासे उत्तर दिया—'राजन्! बृहन्नलाके वेशमें मैं कुमारी उत्तराको वर्षभर नृत्य एवं संगीतकी शिक्षा देता रहा हूँ। अनेक बार एकान्तमें राजकुमारीको मैंने शिक्षा दी है। अब यदि मैं उन्हें स्वीकार कर लूँ तो संसारमें मेरे चरित्रपर सन्देह किया जायगा। आपकी पुत्रीके चरित्रपर भी लोग सन्देह करेंगे। मैंने सदा पुत्रीकी भाँति ही राजकुमारीको मानकर शिक्षा दी है। राजकुमारीने भी मुझे सदा आदर दिया है और पूज्य माना है। अतएव राजकुमारी मेरे लिये पुत्रीके समान है। अपने पुत्र अभिमन्युकी पुत्रवधूके रूपमें मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। श्रीकृष्णचन्द्रके भानजेको जामातारूपमें स्वीकार करना आपके लिये भी गौरवकी बात होगी।'

सभीने अर्जुनकी धर्मनिष्ठाकी प्रशंसा की। यथावसर उत्तराका विवाह सुभद्राजीके परम तेजस्वी पुत्र कुमार अभिमन्युसे हो गया।

× × ×

महाभारतके विकट संग्राममें जब अर्जुन शत्रुओंके ललकारनेपर दूर उनके साथ संग्राम करने चले गये तो आचार्य द्रोणने चक्रव्यूहका निर्माण किया। भगवान् शङ्करके वरदानके प्रतापसे जयद्रथ पाण्डवपक्षके सभी शूरोंको व्यूहमें प्रवेश करनेसे रोकनेमें उस दिन समर्थ हो गया। अकेले अभिमन्यु व्यूहमें जा सके। भयंकर संग्राममें जब सभी कर्णादि महारथी उस तेजस्वी बालकसे पराजित हो गये तो अधर्मपूर्वक आठ महारथियोंने एक साथ उसपर आक्रमण कर दिया। अभिमन्यु खेत रहे। उत्तरा उस समय गर्भवती थीं। श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें आश्वासन देकर पतिके साथ सती होनेसे रोक लिया।

'हे देवदेव! हे त्रिभुवनके स्वामी! हे शरणागतवत्सल! मेरी रक्षा करो! यह प्रज्वलित बाण मेरी ओर आ रहा है। भले यह मेरा विनाश कर दे, किंतु मेरे उदरमें मेरे स्वामीकी जो एकमात्र धरोहर है, वह सुरक्षित रहे!' पाण्डवोंसे विदा लेकर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका जानेके लिये रथपर बैठने ही जा रहे थे कि अन्तःपुरसे कातर चीत्कार करती भयविह्वल उत्तरा उनके पैरोंपर आ गिरी। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे। केश खुले हुए थे और नेत्र कातर हो रहे थे। इसी समय पाण्डवोंने देखा कि उनकी ओर भी पाँच प्रज्वलित बाण आ रहे हैं।

'मा भैः!' चक्रपाणिने चक्र उठाया और पाण्डवोंकी ओर आते हुए बाणोंको शान्त कर दिया। सूक्ष्मरूपसे उत्तराके गर्भमें प्रविष्ट होकर उन्होंने शिशुकी रक्षा की। अश्वत्थामाने जब द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार डाला तथा शिविरमें अग्नि लगाकर भाग गया तो प्रातः अर्जुन उसे पकड़ लाये। यद्यपि वह वध्य था, किंतु पाञ्चालीने उसे मुक्त करा दिया। उसकी शिरःस्थ मणि छीनकर अर्जुनने उसे निकाल दिया। कृतज्ञ होनेके बदले अश्वत्थामाने अपमानका अनुभव किया। उसने पाण्डुके वंशका ही उन्मूलन करनेका संकल्प करके यह ब्रह्मास्त्र प्रयुक्त किया था। जबतक उत्तराको बालक न हो जाय, तबतकके लिये श्रीकृष्णका द्वारका जाना स्थगित हो गया।

सींकपर इषीकास्त्रसंयुक्त ब्रह्मास्त्रका अश्वत्थामाने प्रयोग किया था। गर्भमें श्रीकृष्णने शिशुके चारों ओर गदा घुमाते हुए अस्त्रके प्रभावको दूर रक्खा; किंतु उत्पन्न होते ही बालक अस्त्रप्रभावसे जीवनहीन हो गया। यह समाचार पाकर

जनार्दन सूतिकागृहकी ओर चले। उन्होंने अश्वत्थामाको डॉटकर कहा था—'ब्राह्मणाधम ! यदि तेरे ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्युका पुत्र मृत भी हो गया तो मैं उसे पुनर्जीवन दूँगा।' उन्हें अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी थी। मार्गमें ही कुन्तीदेवी मिलीं। उन्होंने बड़े कातर स्वरोंमें उस बालकको जीवित करनेके लिये प्रार्थना की। पैरोंमें पड़कर उसी समय सुभद्राने कहा—'मुझे बहिन समझकर, पुत्रहीना समझकर या एक अनाथ अबला ही समझकर मेरी रक्षा करो। तुम सब कर सकते हो ! मेरे पौत्रको जीवन दो।'

'ये तुम्हारे श्वशुरतुल्य श्रीद्वारकेश पधार रहे हैं !' द्रौपदीने उत्तराको सूचना दी। वह उसी दुखियाकी सेवामें लगी थी। सूतिकागृह श्वेत पुष्पोंकी मालाओंसे भलीप्रकार सुसज्जित था। तीक्ष्ण शस्त्र चारों ओर लटक रहे थे। तिन्दुक (तेंदू) काष्ठकी प्रज्वलित अग्निमें घृतकी आहुति पड़ रही थी। चारों कोनोंमें अग्नि प्रज्वलित थी। अनेक निपुण चिकित्सक तथा वृद्धा स्त्रियाँ उपस्थित थीं। रक्षोघ्न द्रव्य भली प्रकार यथास्थान रक्खे थे।

उत्तराने वस्त्रसे अपने सर्वाङ्गको आच्छादित करके भूमिमें मस्तक रखकर श्रीकृष्णको प्रणाम किया। वह रोते हुए कहने लगी—'मेरे पतिदेवने मुझे यही एक थाती दी थी। इसे खोकर मैं अब क्या मुख उन्हें दिखाऊँगी। वे कहा करते थे कि यह बालक द्वारकामें जाकर शस्त्र-शिक्षा प्राप्त करेगा। उन्होंने कभी झूठ नहीं कहा था। हाय, उनकी अन्तिम बात झूठी हो रही है। यही एकमात्र पाण्डवोंके वंशमें बचा था। अब कौन पूर्वजोंको पिण्ड देगा। इसके बिना मैं, आपकी बहिन, माता कुन्ती तथा कोई भी जीवन-धारण नहीं करेगा। पार्थका पौत्र मरा हुआ उत्पन्न हुआ, इसे सुनकर धर्मराज मुझे क्या कहेंगे ? मेरे श्वशुर ही मुझे क्या कहेंगे ? आपका अपने भानजेपर अत्यन्त प्रेम था। उन्हींका यह पुत्र निर्दयतासे ब्रह्मास्त्रद्वारा मार डाला गया है। मैं आपसे इसकी भिक्षा माँगती हूँ।'

पगलीकी भाँति उत्तराने मृत बालकको गोदमें उठा लिया और कहने लगी—'बेटा ! ये त्रिभुवनके स्वामी तेरे सम्मुख खड़े हैं। तू धर्मात्मा तथा शीलवान् पिताका पुत्र है। यह अशिष्टता अच्छी नहीं। इन सर्वेश्वरको प्रणाम कर। इनके मंगलमय मुखारविन्दका दर्शन करके अपने नेत्रोंको सार्थक कर। मैंने सोचा था कि तुझे गोदमें लेकर इन उत्पत्ति-पालन-प्रलय-समर्थ सर्वाधारके श्रीचरणोंपर मस्तक रक्खूँगी। मेरी सब आशाएँ नष्ट हो गयीं।'

श्रीकृष्णने पवित्र जल लेकर आचमन किया और ब्रह्मास्त्रको शमित कर दिया। इतना करके वे बोले—'यदि धर्म और ब्राह्मणोंमें मेरा सच्चा प्रेम हो तो यह बालक जीवित हो जाय। यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति रहती हो तो अभिमन्युका यह बालक जीवनलाभ करे। यदि मैंने राग-द्वेषरहित बुद्धिसे केशी और कंसको मारकर धर्म किया हो तो यह ब्रह्मास्त्रसे मृत शिशु अभी जी उठे।'



सहसा बालककी श्वास चलने लगी। उसने नेत्र खोल दिये। चारों ओर आनन्दकी लहर दौड़ गयी। पाण्डवोंका वंशधर यही शिशु परीक्षित् था। विष्णुके द्वारा रक्षित होनेके कारण उसका एक नाम विष्णुरात भी पड़ा। —सु० सिं०

क्षात्र मूर्ति जना

बात द्वापरकी है। महाभारतके घोरतर संग्रामकी निवृत्ति हो चुकी थी। धर्मराज युधिष्ठिरका शासन देशमें सुख, शान्ति एवं वैभवकी प्रतिष्ठा कर चुका था। महाराजके आमन्त्रणपर उनके सभी स्नेही, सम्बन्धी एवं अधीनस्थ नरेश हस्तिनापुरमें एकत्र थे। महाराजने अश्वमेध-यज्ञ प्रारम्भ किया था। यज्ञाश्वकी रक्षाका भार गाण्डीवी अर्जुनपर था और अर्जुनके परम प्रिय सखा भगवान् श्यामसुन्दर उनके साथ थे। नरेशवृन्द अपनी सीमामें अश्वके प्रवेश करते ही सपरिषद् आगे बढ़कर उसका पूजन करते। अर्जुनको विनम्र भावसे उपहार समर्पित करते। श्रीकृष्णका आतिथ्य करके अपनेको कृतार्थ मानते। बहुत कम नरेशोंने अश्वको रोकनेका साहस किया। जिसने भी ऐसा दुःसाहस किया, गाण्डीवके शैलवेधी शरोंने उसके मस्तकको शरीरसे पृथक् कर दिया अथवा उसे 'त्राहि माम्' कहकर शरणमें आना पड़ा।

चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिरका अश्व बढ़ता जा रहा था। इन्द्र और यमकी भी शक्ति नहीं थी कि श्रीकृष्ण एवं अर्जुनकी रक्षामें रहते हुए उसकी ओर देखें। अश्वने माहिष्मती नगरीकी सीमामें प्रवेश किया। माहिष्मती महाराज नीलध्वजकी राजधानी थी और महाराज श्रीकृष्णके परम भक्त थे। महाराजके एक ही पुत्र था। महारानी जनाने अपनी इष्टदेवी भगवती भागीरथीकी आराधना करके उसे प्राप्त किया था। वह गङ्गापुत्र भीष्मके समान ही तेजस्वी एवं शूर था। उसके गुणोंके अनुरूप ही उसका नाम था प्रवीर। प्रवीरने अश्वको देखा, उसके मस्तकपर बँधे लेखपत्रको पढ़ा। उसमें शूरोंके लिये चुनौती थी। उसे यह अपमानजनक प्रतीत हुआ। उसने अश्वको पकड़ लिया।

'तुमने अज्ञानवश यह दुस्साहस किया है। विश्वमें कोई भी अर्जुनसे युद्ध करके जीवनकी आशा नहीं कर सकता। अपनी और मेरी तथा समस्त शूरोंकी मृत्युका तुम कारण बनोगे। राज्य नष्ट हो जायगा। मैं मृत्युसे डरता नहीं। राज्यकी भी मुझे चिन्ता नहीं। अपने आराध्यसे ही मुझे युद्ध करना होगा। उन नील जलदके समान ऋषिमुनिवन्दित श्रीअंगोंपर मुझे बाण चलाने होंगे। मैं यह बात भी नहीं सोच सकता। तुमने बड़ी मूर्खता की।' महाराज नीलध्वजने अश्व पकड़नेका समाचार पाकर पुत्रको डाँटा।

अश्व न पकड़ा जाता तो भी एक बात थी। पकड़कर अश्व छोड़नेमें तो पूरी कायरताका परिचय देना था। प्रवीर क्या करे। महाराजके सम्मुख उसका कोई वश नहीं था। वह चुपचाप राजसभासे मस्तक झुकाये विदा हुआ।

'बेटा! तुमने ठीक किया। क्षत्रियपुत्र मृत्युसे भयभीत हो तो वह कापुरुष है। वह सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता। युद्धमें मरकर क्षत्रिय वह गति पाता है, जो योगीको प्राप्त होती है। भला, चुनौती पाकर कोई शूर शान्त कैसे रह सकता है। तूने मेरे दूधकी लज्जा रक्खी है। तू मेरा सुयोग्य पुत्र है। जा, युद्धको प्रस्तुत हो। मैं महाराजको समझा लूँगी।' प्रवीरने महाराजसे प्रताड़ना पाकर माताके चरणोंमें प्रार्थना की और उस तेजोमय क्षत्राणीने पुत्रको प्रोत्साहित किया।

'महाराज! आप व्यर्थ ही क्षत्रिय हुए। मेरे पिताने आपसे मेरा विवाह बिना जाने ही कर दिया था। मैं अभागी हूँ, जो एक भीरुकी पत्नी हुई। आप अर्जुनके नामसे ही भयभीत हो गये। आपने अश्वके मस्तकपरका लेख देखकर भी अपमानका अनुभव नहीं किया। आपके रक्तमें पता नहीं क्यों क्षत्रियके योग्य उष्णत्व नहीं है। अब जाइये और दाँतोंमें तिनका दबाकर काँपते हुए पकड़ा हुआ अश्व अर्जुनको दे आइये।' महारानी जनाने पतिको एकान्तमें पाकर ललकारा।

'प्रिये! मैं भीरु नहीं हूँ। क्षत्रिय कालसे दो हाथ करनेकी उमंग लेकर ही जन्म ग्रहण करता है। इस अश्वकी रक्षामें अकेले अर्जुन होते तो मैं उनको कबकी चुनौती दे चुका होता। तुम जानती हो कि मयूरमुकुटी मेरे आराध्य हैं। उनके श्रीचरणोंमें कुसुमाञ्जलि देनेके बदले उनके किसलयकोमल अङ्गोंपर शस्त्रप्रहार-जैसी निष्ठुरताकी बात सोचकर ही मेरा हृदय फटा जाता है।' महाराजने शान्त गम्भीर स्वरसे पत्नीको समझाया।

'क्षत्रियके लिये भगवान्‌ने जो धर्म निश्चित कर दिया है, उसका पालन ही उनकी सच्ची आराधना है। क्षात्रधर्मको त्यागकर आप भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेकी आशा व्यर्थ ही कर रहे हैं। युद्धमें अपने भक्तको अपने धर्मपर अविचल देखकर भगवान्‌को सन्तोष होगा। आज आपके शर उन्हें आपके पुष्पोंसे अधिक कोमल, अधिक सुखद एवं अधिक प्रीतिकर प्रतीत होंगे। वे यही पूजा-ग्रहण करने अश्वके साथ इस रूपमें पधारे हैं।' जनाने महाराजको उत्तेजना दी।

महाराजने पत्नीकी बातका प्रत्याख्यान नहीं किया। उन्हें यह बात सत्य जान पड़ी। युद्धकी घोषणा कर दी गयी। युवराज प्रवीरके नेतृत्वमें माहिष्मतीकी सेनाने अर्जुनका सामना किया। बड़ा घनघोर संग्राम हुआ। प्रवीरके प्रबल पराक्रमके सम्मुख प्रथम दिन हस्तिनापुरकी सेना भाग खड़ी हुई। दूसरे दिन युद्धने भीषण रूप धारण किया। युवक प्रवीर कहाँतक गाण्डीवधारीके दिव्यास्त्रोंका प्रतिकार करता। राजकुमार खेत रहा। अर्जुनने शूरकी शूरताका सम्मान किया। युद्धको रोक देनेकी घोषणा कर दी।

महाराज नीलध्वज श्रीकृष्णके भक्त तो थे ही, अर्जुनके सौजन्यसे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने अर्जुनसे साक्षात्

किया । अर्जुनने मित्रभावसे उनका स्वागत किया । महाराजने मित्रताको दृढ़ करनेके लिये अश्वको उपहार बनाकर भेंट कर दिया । महाराजके आग्रहपर श्रीकृष्ण-अर्जुन नगरमें पधारे । महाराज पुत्रशोक भूल गये । उन्हें आराध्यकी सेवाका सुअवसर मिला था । नगरमें महोत्सवकी घोषणा हो गयी । नगर सजाया गया । स्वागत-समारम्भ पूर्णतः प्रस्तुत हुआ ।



'आप यह किनका स्वागत कर रहे हैं? भगवान् श्रीकृष्ण क्या आराध्य होकर पूजा लेने यहाँ पधारे हैं? मैं नारी हूँ। मैं अबला हूँ। फिर भी मैं देख रही हूँ कि श्रीकृष्ण आपके शत्रुके साथ आये हैं। रणभूमिमें शस्त्रोंसे उनका यथोचित स्वागत नहीं किया गया। पुत्रका शव अब भी युद्धभूमिमें पड़ा है। उसे गिद्ध और शृगाल नोच रहे हैं। उसका प्रतिशोध नहीं लिया गया। जय-विजयमें तटस्थ रहनेवाला क्षत्रिय आज शत्रुका स्वागत करते प्रसन्न हो रहा है! कालको भी लोहेके चने चबवानेका हौसला रखनेवाला आज अरिके चरणोंपर नाकें रगड़ रहा है। धिक्कार है ऐसे राज्यको! धिक्कार है ऐसे राज्यके राजाको! धिक्कार है ऐसे राज्यमें रहनेवालेको!' महारानी जनाके ओजमय हृदयको पुत्रकी मृत्युने उतना धक्का नहीं दिया, जितना महाराजके सन्धि-समाचारने दिया। क्षत्रियत्वकी वह साकार मूर्ति इस अपमानसे आहत होकर राजभवनसे उन्मत्तकी भाँति निकल पड़ी। संसार उसके लिये शून्य था। अपनी आराध्यदेवी सुरसरिकी गोदमें उसने अपनेको समर्पित कर लिया। माता जाह्नवीने अपनी प्रिय सेविकाको अपनी शीतल लहरोंमें छिपा लिया। उस ब्रह्मद्रवमें एकाकार होकर ही उसकी ज्वाला शान्त हुई।

—सु० सिं०

ब्रह्मवादिनी राक्षसी कर्कटी

हिमालयस्योत्तरे देशे कर्कटी नाम राक्षसी ।
तस्याः स्मरणमात्रेण दुःस्वप्नः शमितिं व्रजेत् ॥

कहते हैं कि इस श्लोकको पढ़कर सोनेसे खराब स्वप्न नहीं दिखलायी पड़ते। बड़े-बड़े दाँत, लाल-लाल नेत्र, भूरे रूखे केश, भयङ्कर मुख, विशाल शरीर, काला कोयलेके समान रङ्ग, बड़ी विकराल आकृति थी उसकी। केंकड़े (कर्कट) के समान लंबे-लंबे हाथ-पैरोंके कारण उसका नाम कर्कटी पड़ गया था। उसका निवास हिमालयके उत्तरी भागमें था। बड़ा पेट भी था उसका। बहुत खाती; बहुत-से जीवोंको उदरस्तात् करती, रात्रि-दिन भक्षण ही करती रहती; इतनेपर भी उसकी क्षुधा तृप्त नहीं होती थी। उसे सदा भूख लगी रहती। इस कष्टसे वह बहुत दुखी थी।

'जम्बूद्वीपके समस्त प्राणी एक ही श्वासमें, एक ही बार उदरमें पहुँच जायँ तो तृप्ति हो।' उसने सोचा। ऐसा कैसे हो? जम्बूद्वीपमें अधिकांश मनुष्य धर्मात्मा थे और राक्षसी उनकी छाया भी छूनेमें असमर्थ थी। ऐसे पुरुषोंके सम्बन्धी, समीपी तथा उनके द्वारा रक्षित पशु-पक्षी भी राक्षसीकी शक्ति-सीमासे बाहर थे। अन्ततः उसने अपना अभीष्ट सिद्ध करनेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया।

'पुत्री! वर माँग।' कठोर तपस्याके पश्चात् प्रसन्न होकर ब्रह्माने दर्शन दिया।

'मुझे आयसी एवं अनायसी सूचिका (सुई) बना दीजिये, जिससे मैं सब कहीं जाकर समस्त प्राणियोंका भक्षण कर सकूँ।' उसने वर माँगा।

'तू आयसी सूचिका और विषूचिका हो जा। अपरिमित-भोजी, कुत्सितस्थानवासी, मलिनवसन, अपवित्रद्रव्य-सेवनकारी, दुष्क्रियान्वित, शास्त्रवर्जित कर्म करनेवाले व्यक्ति तेरे भोग बनें। जो स्वच्छ हैं, जो सदाचारी हैं तथा जो मेरे मन्त्रके द्वारा सुरक्षित हुए हैं, वे तेरे आक्रमणसे रक्षित रहेंगे।' ब्रह्माजीने मन्त्र बताया और चले गये।

राक्षसीका शरीर सूखते-सूखते सूक्ष्म होता गया और वह सुई हो गयी। विशूचिका महामारीरूपसे वह प्राणियोंका संहार कर रही थी और इस सूची-देहसे मलिन कीटपूर्ण स्थानोंमें, धर्मशालाओंमें, मांस तथा मदिरा बेचनेके स्थानोंमें, दुर्गन्धित नालियोंमें घूमने लगी। उसने अत्यधिक नरमांस खाया। इससे उसकी मानसिक तृप्ति तो हुई, परंतु शारीरिक तृप्ति न हुई। सूक्ष्मशरीरके सूक्ष्म भोग स्थूल-शरीरको तुष्ट नहीं कर सकते थे। उसे स्थूल भोगोंकी लालसा थी। फिर पूर्ववत् शरीर प्राप्त करनेके लिये उसने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी।

सात हजार वर्षोंतक वह तपस्या करती रही। तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो गया। वासनाओंका नाश हो गया। विशुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वबोधका उदय हो गया। राक्षसी उस अन्तरानन्दको उपलब्ध करके परितृप्त हो गयी। उसकी समाधि अखण्ड थी। अन्ततः ब्रह्माजी पुनः पधारे। उन्होंने बिना माँगे ही उसे वरदान दिया। 'बेटी! तेरी आकृति पूर्ववत् विशाल हो जाय। अब तुझे आहार बिना प्रयासके प्राप्त होगा। तू जब समाधिसे उठा करेगी तो तुझे आहार मिला करेगा। तू सत्सङ्ग प्राप्त करनेका यत्न कर, तुझे आहार मिलेगा।'

ब्रह्माजी हंसपर बैठे और चले गये। राक्षसीका शरीर पुनः विशाल हो गया। अभी ध्यानानन्दसे उसकी परितृप्ति हुई नहीं थी। उसने पुनः आसन लगाया और छः महीनेतक समाधि लगाये बैठी रही। समाधिसे उठनेपर उसे क्षुधाने सताया। आहारके अन्वेषणमें निकली। अन्यायपूर्वक जीवहिंसा उसे अभीष्ट नहीं थी। न्यायपूर्ण आहारके अन्वेषणके लिये वह उपत्यका-प्रदेशमें स्थित एक किरात-राज्यमें पहुँची। उसने देखा कि वनमें गुप्तवेषसे दो पुरुष घूम रहे हैं। 'ये मेरे भक्ष्य हो सकते हैं। यदि ये पापी, चोर या दस्यु हैं तो मैं इन्हें खा जाऊँगी। महात्माजन भी रात्रिमें घूमते हैं। मैं परीक्षा करूँगी; यदि ये महात्मा हुए तो इनका सत्सङ्ग करके अपनेको कृतार्थ करूँगी।' यह सोचकर वह उनके सम्मुख चली गयी।

'अरे क्षुद्र कीड़ो! तुम कौन हो? तुम अब मेरा ग्रास बनोगे।' उस विकराल मूर्तिको अपने सम्मुख रात्रिको वनमें गर्जन करते देखकर भी उन दोनोंमें कोई घबराहट नहीं आयी। वे न डरे, न भागे।

'तुम कौन हो? तुम स्वयं डरकर तो चिल्ला नहीं रही हो? तुम इस प्रकार क्रोधित क्यों हो? तुम्हें कुछ माँगना हो तो माँग लो! मैं यहाँका राजा हूँ और ये मेरे मन्त्री हैं। हमें भयभीत करनेका प्रयत्न व्यर्थ है।' बड़े धीर शब्द थे नरेशके।

'मैं राक्षसी हूँ। भूखी हूँ। तुम दोनों रात्रिको घूमते हुए मृत्युके मुखमें आ गये हो। यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे सके तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगी, अन्यथा खा जाऊँगी।' राक्षसीने समझ लिया कि उसके सम्मुख सामान्य पुरुष नहीं खड़े हैं।

'खा जानेका और मृत्युका भय देना व्यर्थ है। जबतक सर्वात्माकी इच्छा नहीं होती और मेरा प्रारब्ध समाप्त नहीं होता, कोई मुझे मार नहीं सकता। तुम्हें जो पूछना हो, पूछो। हम शक्तिभर तुम्हारा समाधान करनेका प्रयत्न करेंगे।' शासकोचित ढंगसे बात कही गयी।



'एक और अनेकरूप होकर कौन परमाणुके भीतर भी लक्ष-लक्ष ब्रह्माण्ड लिये प्रविष्ट है?' राक्षसीने प्रश्न किया।

'ओह, तुम्हारी जिज्ञासा परमात्माके सम्बन्धमें है। नाम-रूपहीन, इन्द्रियातीत, परम सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही वस्तुतः अणु हैं। वही बीजमें वृक्षकी भाँति जगत्‌रूपमें सत् तथा प्रलयके समय अविद्यमानके रूपमें असत् हैं। वे इन सत्-असत्से परे हैं। वही परमाणुमें प्रविष्ट हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको धारण किये हैं।' एक राक्षसीके मुखसे ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न सुनकर आश्चर्य होना स्वाभाविक था।

'मैं कौन हूँ ? तुम दोनों कौन हो ?'

'मैं और तुमका भेद अज्ञानजन्य है। पार्थक्यज्ञान सत्य नहीं।'

'कौन चलता है ? कौन स्थिर है ?'

'जो देश एवं कालसे परे एकरस सर्वत्र व्याप्त है, उसमें गति कैसी ? गतिकी कल्पना भ्रान्ति है।'

'कौन चेतन होकर भी पाषाणवत् जड है ?'

'मिथ्या जगत्से तादात्म्य करके वही चैतन्यघन अपनेको जड मानने लगता है।'

'परम सूक्ष्म क्या है ? प्रकाश और तम क्या हैं ?'

'अत्यन्त दुर्बोध वे सर्वेश ही परम सूक्ष्म हैं। दुर्बोध होनेसे वही तम और ज्ञानस्वरूप होनेसे वही प्रकाश हैं। अविनाशी ज्ञानस्वरूप वही हैं और इन्द्रियोंसे वे नहीं जाने जाते, ऐसा भी वर्णन उन्हींका होता है।'

'निमेष होकर भी कल्प और कल्प होकर भी निमेष कौन है ?'

'मनमें जैसे बहुत विस्तृत नगर (स्वप्नमें) दीखता है, वैसे ही कल्पव्यापी व्यापार भी निमेषमें दर्शित होता है। कल्प-निमेष, विस्तृत-सूक्ष्म, ये सब मनःकल्पित व्यवहार एक चैतन्यघनमें स्थित हैं। ये सब प्रतिभास हैं—जान पड़ते हैं। भावानुसार असत्य सत्य और सत्य असत्य होता है।'

'क्या प्रत्यक्ष होकर भी है नहीं ? चेतन होकर भी जड है ? क्या वायु होकर भी वायु नहीं ? कौन शब्द होकर भी अशब्द है ? अहं होकर भी अनहं है ? सर्वरूप होकर भी कुछ नहीं ?'

'दृश्यकी सत्ता इन्द्रियानुभवके आधारसे है। यह परिवर्तनशील, विनाशी, आदि-अन्तमें न रहनेवाला है। अतः प्रत्यक्ष होकर भी है नहीं। वही एक चेतन तत्त्व इस रूपमें प्रतिभासित हो रहा है। वह चेतन होकर भी जडवत् प्रतीत हो रहा है। वायु, शब्द, अहङ्कारादि समस्त स्वरूप, पदार्थ एवं भाव उसीमें कल्पित हैं। वही इन रूपोंमें उपलब्ध हो रहा है। इतनेपर भी वह सबसे परे है। वह एकरस, निर्विकार है।'

योगवाशिष्ठके उत्पत्तिखण्डमें यह कथा है। राक्षसीके कुछ प्रश्नोंका उत्तर राजाने और कुछका मन्त्रीने दिया है। मनन करने योग्य विस्तृत प्रकरण है।

'धीरद्वय ! मैं प्रसन्न हूँ। साधु-सङ्गके समान सुखकर विश्वमें और कुछ नहीं। आपने मुझे कृतार्थ किया। आप मेरे सेवायोग्य हैं। मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ ?' प्रसन्न होकर राक्षसीने कहा।

'मेरे राज्यमें प्रजा विषूचिकासे पीड़ित है। उसके कष्टका कोई निवारण-मार्ग प्राप्त करने तथा दस्यु आदिकोंको अन्वेषण करने हम रात्रिको निकले हैं; तुम हो सके तो कोई मार्ग बताओ।' राजाने उस राक्षसीसे कहा।

'राक्षसी कर्कटी चली गयी, यह भावना करते हुए चन्द्रमण्डलके मन्त्रको वाम भुजामें भोजपत्रपर लिखकर बाँध ले और वाम हस्तको दाहिने हस्तमें लगाये हुए रोगीका मार्जन करे। इससे रोगी स्वस्थ हो जायगा। जिन्होंने मन्त्र बाँधा है, उन्हें भी विषूचिका न होगी।' राक्षसीने विधि बतायी। मन्त्रीके साथ महाराज नदी-किनारे गये। उन्होंने आचमन किया। तब राक्षसीने मन्त्र बताया।

'ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः। ॐ नमो भगवति विष्णुशक्तिमेनां ॐ हर हर नय नय पच पच मथ मथ उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा। हिमवन्तं गच्छ जीव सः सः चन्द्रमण्डलगतोऽसि स्वाहा।'

'आप मेरी गुरु हुईं। कृपया राजसदनमें सुन्दर स्त्रीका वेष धारणकर पधारें और मेरा सत्कार स्वीकार करें।' राजाने नम्रतापूर्वक मन्त्र-ग्रहणके अनन्तर प्रार्थना की।

'राजन् ! मानुषी भोगोंसे मुझ राक्षसीकी कैसे तृप्ति होगी और मेरा आहार तुम मुझे कैसे दे सकोगे ?' राक्षसीने शङ्का की।

'आप छः दिन तो मानवी भोगोंपर ही सन्तोष करें। इतने दिनोंमें राज्यमें जिन चोर एवं दस्युओंको प्राणदण्ड होगा, मैं उन्हें आपके समर्पित कर दूँगा। उन्हें लेकर आप हिमालयपर जायँ। समाधिके पश्चात् जब उत्थित हों तो पुनः पधारें। आपके लिये भक्ष्य मैं एकत्र रक्खूँगा।' राक्षसीने इस विधानको स्वीकार कर लिया।

हर बार समाधिसे उत्थित होनेपर आकर प्राणदण्डके अपराधियोंको वह ले जाती। राजाने एक गुफामें उसकी मूर्ति स्थापित कर दी। इस मूर्तिकी पूजा करनेवालोंको भी विषूचिका (हैजा) नहीं हुआ करती। —सु० सिं०

दैत्येश्वरी कयाधू

माता ही पुत्रकी सच्ची गुरु है। गर्भस्थ बालकपर माताके संग एवं विचारोंका जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रभाव बालकके सम्पूर्ण जीवन-निर्माणका आधार होता है। यदि माता शिशुके उदरमें आनेपर सात्त्विक आहार, धार्मिक जीवनचर्या, भगवद्गुणानुवाद-श्रवणादिमें लग गयी है तो उसका बालक अवश्य धार्मिक एवं भगवद्भक्त होगा तथा अपने कुलको पवित्र करेगा।

दैत्यमाता दितिने परम प्रतापी हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष—इन दो पुत्रोंको उत्पन्न किया। दोनों त्रिभुवन-विजयी, सुरासुरोंसे अजेय एवं दुर्धर्ष हुए। दोनों भाइयोंमें परम स्नेह था। सृष्टिके प्रारम्भमें ही भगवान् नारायणने 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा'का उद्धार करते समय महावाराह-रूप धारण करके छोटे भाई हिरण्याक्षको मार डाला। हिरण्यकशिपुको बड़ा दुःख हुआ। अत्यन्त क्रोध आया। उसने अपनेको अमर बनानेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया। माता दिति, भाईकी पत्नी तथा भ्रातृपुत्रोंको सदुक्तियोंसे आश्वासित करके, राज्यका भार नमुचि, शम्बर, पुलोमा आदि मन्त्रियोंपर छोड़कर वह मन्दराचलपर कठोर तपस्या करने चला गया।

इन्द्रने देखा कि दैत्यराज्य इस समय नरेशहीन हो गया है। उन्होंने देवताओंके साथ उसपर आक्रमण कर दिया। देवताओंसे पराजित दैत्य इधर-उधर, जहाँ शरण जान पड़ी, वनों एवं पर्वतोंमें भाग गये। देवताओंने दैत्यपुरीको लूट लिया और जला दिया। दैत्यराज हिरण्यकशिपुके प्रबल पराक्रमसे महेन्द्र अत्यन्त भयभीत थे। उन्हें भय था कि पराक्रमी पिताके पुत्र भी कहीं वैसे ही महान् न हों। ऐसा होनेपर तो देवताओंपर घोर विपत्ति आ जाती। महेन्द्रने दैत्यराजके तीनों बालक—पुत्र ह्लाद, अनुह्लाद और संह्लादको मार डाला।

हिरण्यकशिपुकी पत्नी दैत्येश्वरी कयाधू इस समय गर्भवती थीं। उनके सभी अनुचर, समस्त दैत्य भाग गये थे। इन्द्रने बलपूर्वक उन्हें रथमें बैठाया और अमरावतीकी ओर ले चले। वे साध्वी अत्यन्त करुणस्वरसे विलाप कर रही थीं और किसीसे भी सहायताकी प्रार्थना कर रही थीं। इन्द्रको उन्होंने बहुत धिक्कारा, बहुत भर्त्सना की। क्या लाभ? 'स्वार्थी दोषं न पश्यति।'

'महेन्द्र! तुम देवराज हो! तुम्हें शोभा नहीं देता कि परस्त्रीका हरण करो! इस पतिव्रताको शीघ्र छोड़ दो!' वह आर्तक्रन्दन देवर्षि नारदके कानोंमें पड़ा। कोमल हृदय द्रवित हो गया। आगे बढ़कर देवराजको उन्होंने रोका।



'इसके गर्भमें दैत्येन्द्रका अविषह्य गर्भ है। हमें उससे अत्यन्त भय है। हम उसे मार डालना चाहते हैं। भ्रूणहत्यासे बचनेके लिये मैं इसे अमरावती ले जा रहा हूँ। पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इसे छोड़ दूँगा। वहाँ इसको कोई कष्ट नहीं होगा और न कोई इसका अपमान करेगा।' देवर्षिको प्रणाम करके इन्द्रने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

'तुम नहीं जानते कि इसका गर्भस्थ बालक चिरजीवी है। उसका वध तुम्हारी शक्तिके बाहरकी बात है। उससे देवताओंको कोई भय नहीं। वह तो तुम्हारे कल्याणका कारण बनेगा। भगवान्‌का परम भक्त है दैत्यराज्ञीके इस गर्भमें।' देवर्षिने बताया।

'भगवान्‌का परम भक्त इनके गर्भमें है!' महेन्द्रने आदरपूर्वक कयाधूकी परिक्रमा की। उन्हें प्रणाम करके, रथसे उतारकर चले गये।

'बेटी! तुम्हारा दैत्यपुर तो ध्वस्त हो गया। अब तुम मेरे आश्रममें चलकर तबतक सुखपूर्वक रहो, जबतक दैत्येश्वर तपस्या समाप्त करके लौटते नहीं।' उस समयतक देवर्षिको प्रजापति दक्षने शाप नहीं दिया था। वे अविश्रान्त परिव्राजक नहीं बने थे। आश्रम बनाकर भगवान्‌का भजन करते हुए

निवास करते थे । कयाधूने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनके पीछे-पीछे आश्रम पहुँची ।

बड़ी श्रद्धासे कयाधू देवर्षिकी सेवा करती । वे साम्राज्ञी होकर भी तपस्विनी हो गयी थीं । अपने हाथों आश्रमको स्वच्छ करतीं, लीपतीं और नदीसे जल ले आतीं । अपने पुत्रकी मंगल-कामनासे वे सब प्रकार देवर्षिको प्रसन्न करनेका यत्न करती । वेदीपर कुशासन डालकर शयन करतीं, वल्कल-वस्त्र पहनतीं तथा नीवार एवं कंद-मूलसे क्षुधा शान्त कर लेती । अवसर मिलते ही देवर्षि उन्हें भगवान्‌के दिव्यस्वरूप, अनन्त गुण एवं अद्भुत माहात्म्यका श्रवण कराते । गर्भस्थ शिशुको लक्ष्य कर देवर्षि योग, सांख्य तथा तत्त्वज्ञानके गूढ़ तत्त्वोंका उपदेश करते । संसारकी असारता बताकर वैराग्यका प्रतिपादन करते ।

दैत्यपत्नियाँ स्वेच्छा-प्रसवमें समर्थ होती हैं । देवताओंके भयसे कयाधूने प्रसव नहीं किया । कई सहस्र वर्षोंपर जब दैत्यराज वरदान पाकर लौटे तो देवर्षिने कयाधूको पतिके समीप पहुँचाया । साध्वी कयाधूके इसी गर्भसे समस्त सुरासुर-वन्दित परम भागवत प्रह्लादजीका जन्म हुआ ।

मन्दोदरी

त्रिपुरनिर्माता, दानवराज मयने अप्सरा हेमासे परिणय किया । अप्सरा कबतक दानवपुरीमें रहेगी । देवताओंके आह्वानपर वह स्वर्ग चली गयी । नवजात पुत्रीको वह मयके समीप छोड़ती गयी । मयने पुत्रीका नाम मन्दोदरी रक्खा । पत्नीके वियोगसे व्याकुल मयका सारा स्नेह पुत्रीमें केन्द्रित हो गया । वे स्त्री-वियोगसे कातर इधर-उधर घूमते रहते थे । स्वर्णपुरीमें उन्हें विश्राम नहीं मिलता था । अपनी कन्याको वे सदा अपने साथ ही रखते थे ।

मय अपनी कन्याको लिये पृथ्वीपर घोर अरण्यमें घूम रहे थे । मन्दोदरीने पंद्रहवीं वर्षकी आयुमें प्रवेश किया था । उस सौन्दर्यमयी किशोरीमें तारुण्यने प्रवेश पाया था । अकस्मात् राक्षसराज रावणसे मयका वहीं साक्षात् हो गया । अभी रावण था अविवाहित । दानवेन्द्र और राक्षसेन्द्रका परस्पर परिचय हुआ । पितामह ब्रह्माके प्रपौत्र रावणने अपने वंशका परिचय देकर मयसे कन्याकी याचना की । दानवेन्द्रको सुयोग्य पात्र मिला । उन्होंने वहीं रावणको विधिवत् कन्यादान किया । दहेजमें अनेक दिव्यास्त्र तथा अमोघ शक्ति दी । इस प्रकार मन्दोदरी रावणकी पट्टमहिषी हुई ।

रावणने अनेक देव, गन्धर्व एवं नागकन्याओंसे विवाह किया; परंतु मन्दोदरी सर्वप्रधान तथा सदा रावणको सबसे प्रिय रही । मन्दोदरीने सदा रावणका कल्याण चाहा और उसे सदा सत्पथपर बनाये रखनेके प्रयत्नमें रही । उसने रावण-के दुष्कृत्योंका सदा नम्रतापूर्वक विरोध किया ।

सतीत्व स्वयं एक महासाधन है और उससे समस्त सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं । सती नारी केवल पतिसेवासे निःश्रेयस-को भी सरलतासे प्राप्त कर लेती है । मन्दोदरीके सतीत्वने उसके हृदयमें स्वयं यह प्रकाश प्रकट कर दिया कि परात्पर पुरुष-का अवतार अयोध्यामें हो चुका है । जब रावणने छलसे श्री-जनकनन्दिनीका हरण किया तो मन्दोदरीने बड़ी नम्रता एवं शिष्टतापूर्वक उसे समझाया—'नाथ ! श्रीराम मनुष्य नहीं हैं; वे सर्वेश्वर, सर्वसमर्थ, सच्चिदानन्दघन साक्षात् परम पुरुष हैं । उनका अनादर मत करें । वैदेही साक्षात् जगज्जननी योगमाया हैं । यह वैर आपके लिये योग्य नहीं । श्रीजनकनन्दिनीको श्रीरामके समीप पहुँचा दें । लङ्काका राज्य मेघनादको दे दें । हम दोनों वनमें कहीं उन कौशलकुमारका ध्यान करें । वे करुणामय अवश्य आपपर कृपा करेंगे ।'



एक-दो नहीं, अनेक बार चरण पकड़कर मन्दोदरीने

पतिको समझाया। जब भी लङ्केश्वर अन्तःपुरमें मिलता, यह साध्वी उससे आग्रहपूर्वक प्रार्थना करती। पूरी रात्रि अनुनय एवं उपदेशमें व्यतीत हो जाती। जिस अहङ्कारीने 'सीता देहु रामं कहँ' कहनेपर विभीषणको लात मारकर लङ्कासे निकाल दिया था, जिसने वृद्ध मामा माल्यवन्तको भरी सभामें डाटनेमें कोई संकोच नहीं किया, वही रावण कभी भी मन्दोदरीका तिरस्कार न कर सका। हँसकर टाल जाता या उठकर चल देता। वह जानता था कि पत्नी सच्चे हृदयसे उसका कल्याण चाहती है।

जो होना था, हो गया। सर्वात्माके संकल्पमें बाधा देना सम्भव नहीं। वे राघवेन्द्र पृथ्वीका भार दूर करने साकेतसे पधारे थे। उन्हें तो रावण-वध करना ही था। रणक्षेत्रमें दशाननके शवपर रोती-बिलखती मयपुत्रीको उन्होंने कृपाकी दृष्टिसे देखा। शुद्ध हृदयपर भगवत्कृपा हुई। मायाका आवरण छिन्न हो गया। कहाँका शोक और कैसा मोह?

विभीषण लङ्केश्वर हुए। मन्दोदरी फिर भी लङ्काकी महारानी बनी रहीं। यह क्या है? कैसा है यह सतीत्व? मन्दोदरी तो पञ्च कन्याओंमें है। इस 'कन्या'का क्या अर्थ?

शरीर जड है। कर्म भी जड है। न तो शरीर किसी कर्मको पकड़ता और न कर्म किसीको पकड़ते। कर्तापन ही कर्म-संस्कारोंका संचय करता है। भगवान्‌ने कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

पत्नीत्व है क्या? किसी पुरुषसे वैषयिक सुखेच्छासे उसका स्वीकार। यदि किसीके हृदयमें वैषयिक सुखेच्छा न हो और इस दृष्टिसे उसने कभी किसी पुरुषको स्वीकार न किया हो तो वह किसकी पत्नी हुई?

स्वभाव एवं प्रारब्धप्राप्त समाजके नियमानुसार जो पुरुष उसे सेवाके लिये समाजने दिया, उसकी उसने कर्तव्यबुद्धिसे सच्चे हृदयसे सेवा की। राक्षससमाजमें पुनर्विवाहकी प्रथा थी। विभीषण उसे पत्नीके रूपमें रखना चाहते थे। उसके तटस्थ हृदयमें न अपेक्षा थी और न उपेक्षा, बस। —सु० सिं०

सरमा

भक्तराज विभीषणको पाद-प्रहार करके रावणने लङ्कासे निर्वासित कर दिया। विभीषण भगवान् श्रीरामके समीप चले गये। उनकी साध्वी पत्नी सरमा लङ्कामें ही रहीं। विभीषणने इस समय युद्धक्षेत्रमें पदार्पण करनेवाले श्रीराघवकी शरण ली थी। सरमाके लिये पतिके साथ रहना सम्भव नहीं था। स्त्रीका वही धर्म होता है, जो पतिका धर्म हो। पतिदेव जब कोसलेशके सेवक हुए तो सरमाने भी अपनेको श्रीविदेहनन्दिनीकी दासी मान लिया। वे बराबर अशोकवाटिकामें श्रीमैथिलीके समीप रहने लगीं। अनेक प्रकारसे आश्वासन देकर वे उन जगदाराध्याको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करतीं।

एक दिन मायावी रावणने मायासे श्रीरामका कटा हुआ मस्तक तथा उनके धनुषके समान ही मायानिर्मित धनुष एक राक्षसके हाथसे जानकीके पास उनके देखनेको भेजा। राक्षस ये दोनों वस्तुएँ दिखाकर तुरत लौट गया। मायिक वस्तुएँ अधिक कालतक स्थायी नहीं होतीं। उनको देखकर श्रीजानकी अत्यन्त विह्वल हो गयीं। वे अनेक प्रकारसे विलाप करने लगीं।

'आप राक्षसोंके मायाजालपर विश्वास करके क्यों दुखी होती हैं? आपने जो देखा, वह कपटी रावणकी माया थी। आप उसपर विश्वास न करें।' सरमाने आश्वासन दिया। 'श्रीरामको, जब वे सो रहे हों तब भी, कोई सुर या असुर मार नहीं सकता। भला, जाग्रत्‌में उनको कौन पराजित कर सकेगा। वे महाबाहु एक ही बाणसे त्रिलोकीको नष्ट करनेमें समर्थ हैं। उनके साथ वे लक्ष्मण हैं, जिनके क्रुद्ध होनेपर प्रलयङ्कर भी काँपने लगते हैं। रावणने उनका समाचार लेनेको दूत भेजा था। दूतने विशाल वानरी सेनाका उसे परिचय दिया। दूतके मुखसे मैंने सुना है कि समुद्रपर सेतु बनाकर श्रीराघव ससैन्य सुवेल-शिखरपर आ गये हैं। आज लङ्कामें कोई राक्षस अपने प्राणोंसे निश्चिन्त नहीं है।'



सरमा अनेक प्रकारसे श्रीसीताजीको समझा ही रही थी कि युद्धका सूचक शङ्ख बजा। भेरी और नगारोंकी तुमुल ध्वनि होने लगी। उसने बताया 'देवि! सुन लो। मेघगर्जनाके साथ यह भेरीनाद हो रहा है। जान पडता है कि कपिदलने लङ्कापर धावा बोल दिया है। अभी तुम जयनाद सुन रही हो; परंतु तुम्हारे तेजस्वी देवर धनुष चढ़ावेंगे और दो ही घड़ी पश्चात् तुम राक्षसपत्नियोंको पति, पुत्र, भाई आदिके शोकमें क्रन्दन करती सुनोगी। धैर्य रक्खो! दुरात्मा रावणको वे महाबाहु श्रीराम शीघ्र ही मार डालेंगे और तब उन्हें प्राप्त करके तुम्हारा यह समस्त शोक शतगुणित आनन्दमें परिवर्तित हो जायगा।'

सरमाके वचन अक्षरशः सत्य हुए। श्रीमिथिलेशकुमारीके साथ उसके विपत्तिके दिन भी समाप्त हुए। उसने भी अपने निर्वासित पतिको प्राप्त किया और प्राप्त भी किया लङ्कापतिके स्वरूपमें। —सु० सिं०

सती सुलोचना

तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि हि दह्यते।
कम्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥*

महापराक्रमी इन्द्रजित् मेघनादका वध करनेकी प्रतिज्ञा करके सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मण जिस समय समरभूमिमें जानेके लिये प्रस्तुत होते हैं, उस समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी उनसे कहते हैं—'लक्ष्मण! युद्धभूमिमें जाकर तुम अपनी वीरता और रण-कौशलसे रावण-पुत्र मेघनादका वध कर डालोगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है; पर एक बात बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ। मेघनाद एकनारी-व्रतका पालक है। उसकी स्त्री परम पतिव्रता है। ऐसी साध्वी पत्नीके पतिका मस्तक युद्धभूमिमें यदि किसी प्रकार भी गिर पड़ा तो हमारी सारी सेना ध्वंस हो जायगी और हमें युद्धमें विजय प्राप्त करनेकी आशा त्याग देनी पड़ेगी। अतएव तुम इस बातका पूरा ध्यान रखना कि मेघनादका मस्तक समरभूमिमें किसी भी प्रकार गिर न सके।'

श्रीलक्ष्मण अपनी वानरी सेनाके साथ चल पड़े। समरभूमिमें उन्होंने वैसा ही किया। लक्ष्मणने अपने तीक्ष्ण शरोंसे मेघनादका मस्तक उतार लिया, पर उसे पृथ्वीपर गिरने नहीं दिया। महावीर हनूमान् उस मस्तकको अवधेशनन्दनके पास ले आये।

उधर मेघनादकी दक्षिण भुजा युद्धभूमिसे आकाशमार्गमे उड़ती हुई उसकी पत्नी सुलोचनाके पास जा गिरी। सुलोचना चकित हो गयी। दूसरे ही क्षण अत्यन्त दुःखसे कातर होकर वह विलाप करने लगी, पर उसने भुजाका स्पर्श नहीं किया। उसने सोचा, सम्भव है यह भुजा किसी अन्य व्यक्तिकी हो। ऐसी दशामें पर-पुरुषके स्पर्शका दोष मुझे लगेगा। निर्णय करनेके लिये उसने भुजासे कहा—'यदि तू मेरे स्वामीकी ही भुजा है, तो मेरे पातिव्रत्यकी शक्तिसे युद्धका सारा वृत्तान्त लिख दे।'

भुजाके हाथमें दासीने लेखनी पकड़ा दी। लेखनीने लिख दिया—'प्राणप्रिये! तू भ्रम छोड़ दे, यह भुजा मेरी ही है। युद्धभूमिमें श्रीरामके भाई अपूर्व धन्वी लक्ष्मणसे मेरा घोर युद्ध हुआ। लक्ष्मणने कई वर्षोंसे पत्नी, भोजन और निद्रा छोड़ रक्खी है। वे तेजस्वी, निःस्पृह एवं दया, क्षमा, संयम, सत्य तथा समस्त दैवी-गुणोंसे सम्पन्न हैं। संग्राममें उनके साथ मेरी एक नहीं चली। अन्तमें उन्हींके बाणोंसे विद्ध होनेसे मेरा प्राणान्त हो गया। शीश मेरा श्रीरामके पास है।'

पति-भुजा-लिखित उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ़ते ही सुलोचना व्याकुल हो गयी। पुत्र-वधूका मर्मवेधी विलाप सुनकर लङ्काधिपति रावणने आकर कहा, 'शोक न कर, बेटी! प्रातःकाल होते ही सहस्रों मस्तक मेरे शरोंसे कट-कटकर पृथ्वीपर लोट जायँगे। मैं रक्तकी सरिता प्रवाहित कर दूँगा।'

करुण चीत्कार करती हुई सुलोचना बोली, 'पर इससे मेरा क्या लाभ होगा, पिताजी! सहस्रों नहीं, करोड़ों शीश भी मेरे स्वामीके शीशके अभावकी पूर्ति नहीं कर सकेंगे।' यह कहते हुए प्रमीला उठ खड़ी हुई और पालकीमें बैठकर सीतापति श्रीरामके पास चली।

सुलोचनाके आनेका समाचार सुनते ही श्रीराम खड़े हो गये और उसके पास जाकर बोले, 'देवि! तुम्हारे पति विश्वके अन्यतम योद्धा एवं परम पराक्रमी थे। उनमें बहुत-से सद्गुण थे; परंतु विधिकी लिखी लिपि मेटी नहीं जाती। आज तुम्हें इस रूपमें देखकर मेरे मनमें भी पीड़ा हो रही है। तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।

* अर्थात् पातिव्रत्यके तेजसे सूर्य भी परितापको प्राप्त होते हैं तथा आग भी प्रज्वलित हो उठती है; और जहाँ कुछ तेज है, वह सब पातिव्रत्यके तेजको पाकर ही तेजस्वी होता है।

सुलोचना भगवान्‌की स्तुति करने लगी। 'मुझे लज्जित न करो, सुलोचने!' बीचमें ही भगवान् बोल उठे। 'पतिव्रताकी महिमा अपार है। उसकी शक्तिकी तुलना नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और समस्त सुर-समुदाय यदि एक होकर एक पतिव्रताकी शक्तिकी तुलना करें, तो भी वे हेय ही होंगे। सुलोचना! तू पतिव्रता है। परम सती है। पतिमें तेरी अनुरक्ति और अपूर्व भक्ति है, इस कारण तुझसे तो विश्व थर्राता है। मैं तेरी क्या सेवा करूँ, शीघ्र बता।' लज्जित श्रीराम सुलोचनाका दीप्तिमय आनन निहारने लगे। उनकी आकृतिसे दया टपक रही थी।

'सती होनेके लिये पतिदेवका मस्तक लेने यहाँ आयी हूँ, राघवेन्द्र!'—सुलोचना बोल गयी।

भगवान् रामने मेघनादका मस्तक तुरंत मँगवाया और सुलोचनाको दे दिया। पतिदेवका छिन्न मस्तक देखते ही सुलोचनाका हृदय टूक-टूक हो गया। उसकी आँखें बड़े जोरोंसे बरसने लगीं। रोते-रोते उसने पास खड़े लक्ष्मणको देखकर कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम भूलकर भी गर्व मत करना कि मैंने मेघनादका वध किया है। मेघनादको धराशायी करनेकी शक्ति विश्वमें किसीके पास नहीं थी, पर यह युद्ध तो दो पतिव्रता नारियोंका था। आपकी पत्नी भी पतिव्रता हैं और मैं भी पति-चरणोंमें अनुरक्त रहनेवाली भ्रमरी एवं उनकी अनन्य उपासिका थी। पर मेरे पतिदेव पतिव्रता नारीको अपहरण करनेवाले पिताका अन्न खाते थे और उन्हींके लिये युद्धभूमिमें उतरे थे। सती सीताका धर्म भी उर्मिलाके पातिव्रत-धर्ममें मिल मेरी शक्तिकी अपेक्षा बढ़ गया और इसीसे मेरे जीवन-धन परलोक सिधारे।'

वानरमण्डली यह दृश्य देखकर चकित थी। वह यह नहीं समझ पायी कि पतिके मस्तकके प्रभुके पास आनेका वृत्तान्त सुलोचना कैसे जान गयी। अन्तर्यामी प्रभुने वानरोंकी उत्सुकता मिटानेके लिये कहा, 'पतिव्रताके लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

वानर-दलका पूरा समाधान नहीं हो पाया। सुलोचना भी समझ गयी थी। कारण उसने स्पष्ट बता दिया—'मेरे पतिदेवकी भुजा युद्धभूमिसे उड़ती हुई मेरे पास चली गयी थी। उसीने लिखकर मुझे बता दिया।'

व्यङ्ग्यभरे शब्दोंमें सुग्रीव बोल उठे—'निष्प्राण भुजा कैसे लिख सकती है? यदि यह मृतक मस्तक हँसने लगे तो मुझे विश्वास हो सकता है; अन्यथा मैं भुजाके लिखनेकी बात मिथ्या ही समझता हूँ।'

'वृथा तर्क मत करो।' भगवान्‌ने कहा, 'पतिव्रताके माहात्म्यको तुम नहीं जानते। कटा मस्तक भी हँस सकता है।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी मुखाकृति देखकर सुलोचना उनके भावोंको समझ गयी। उसने कहा, 'यदि मैं मन, वचन और कर्मसे पतिको ही देवता मानकर उनसे स्नेह करती हूँ तो मेरे पतिका यह निर्जीव छिन्न मस्तक हँस उठे।'



पतिव्रताकी बात पूरी भी नहीं हो पायी थी कि कटा मस्तक जोरोंसे हँसने लगा। वानरोंका सन्देह दूर हो गया। वे पतिव्रताकी महिमासे परिचित हो गये।

चलते समय सुलोचनाने श्रीराघवेन्द्रसे प्रार्थना की—'भगवन्! आज मेरे पतिकी अन्त्येष्टि क्रिया है और मैं उनकी चिर-सहचरी उनसे मिलने जा रही हूँ। इस कारण आजके दिन युद्ध बंद रहे।' भगवान्‌ने सुलोचनाकी प्रार्थना तुरंत स्वीकार की।

पति-प्रेम-निरता सुलोचना पतिका मस्तक लेकर लङ्कामें समुद्रके तटपर चली गयी। पुरवासियोंने वहाँ चन्दनकी चिता तैयार की। धधकती अग्निमें बैठकर क्षणभरमें वह पतिलोकके लिये प्रस्थित हो गयी। —शि० दु०

माता अञ्जना

'तू बँदरियाके समान चञ्चल है, अतः वानरी हो जा !' महेन्द्रकी सभामें तपोधन महर्षि दुर्वासा पधारे थे। सब-के-सब महर्षिके सम्मुख शान्त खड़े थे। अप्सराश्रेष्ठ पुञ्जिकस्थली किसी कार्यवश एक-दो बार सभाभवनसे बाहर गयी और आयी। महर्षिने इसपर उसे शाप दे दिया।

'तू स्वेच्छास्वरूप धारण कर सकेगी और तीनों लोकोंमें तेरी गति होगी।' अनुनय करनेपर ऋषिने शापका परिहार किया। वानरश्रेष्ठ विरजकी पत्नीके गर्भसे उसने शरीर धारण किया। बड़ी होनेपर पिताने अपनी सुन्दरी, शीलवती पुत्रीका विवाह महान् पराक्रमी कपिशिरोमणि केसरीसे कर दिया।

किसी समय केसरी घूमते हुए प्रभासतीर्थके निकट पहुँच गये। उन्होंने देखा कि बहुत-से ऋषि वहाँ एकत्र हैं। कोई स्नान कर रहा है, कोई तर्पण कर रहा है, कोई सूर्यको अर्घ्य दे रहा है, कोई जलमें खड़े-खड़े जप कर रहा है और कुछ ऋषि किनारेपर आसन लगाकर पूजा या भगवान्का ध्यान कर रहे हैं। उसी समय वहाँ शङ्खशबल नामक एक मत्त हाथी आया और उसने ऋषियोंको मारना प्रारम्भ किया। महात्मा भरद्वाज आसनपर शान्त होकर बैठे थे, वह दुष्ट गज उनकी ओर झपटा। पासके पर्वत-शिखरपरसे केसरीने गजको झपटते देखा। भयङ्कर गर्जना करते हुए वे कूद पड़े। ठीक हाथीके ऊपर ही वे गिरे। बलपूर्वक उसके बड़े-बड़े उज्ज्वल दाँत उन्होंने उखाड़ लिये और उसे मार डाला।

'पुत्र, वर माँगो !' हाथीके मारे जानेपर प्रसन्न होकर मुनिने कहा।

'इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला, पवनके समान पराक्रमी तथा रुद्रके समान शत्रुके लिये असह्य पुत्र आप मुझे प्रदान करें !' केसरीने वरदान माँगा। ऋषियोंने 'एवमस्तु' कह दिया।

एक दिन देवी अञ्जना मानवी स्त्रीका स्वरूप धारणकर सुन्दर वस्त्राभरणोंसे अलङ्कृत होकर पर्वतके शिखरपर विचरण कर रही थीं। उनका रूप अद्भुत था। उनका सौन्दर्य महान् था। वे डूबते हुए सूर्यको देखकर प्रसन्न हो रही थीं। सहसा वायुका वेग उनके समीप ही बढ़ गया। उनका वस्त्र कुछ उड़ गया।

'कौन दुष्ट मुझ पतिपरायणाका अपमान करनेकी चेष्टा करता है ?' उनको सन्देह हुआ कि कोई राक्षस कोई दुश्चेष्टा करना चाहता है। क्योंकि वृक्षोंके पत्र शान्त थे, वायुका वेग उनके चारों ओर ही अनुभव हो रहा था।

'देवि ! क्रोध न करें ! जगत्का श्वासरूप मैं पवन हूँ। मैं आपके शापके योग्य नहीं हूँ। आपके पतिको ऋषियोंने मेरे समान पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया है। उन्हीं महात्माओंके वचनोंसे विवश मैंने आपके शरीरका स्पर्श किया है। इस सूर्यबिम्बके समान अरुण वर्ण महातेजस्वी पुत्र आपको मेरे अंशसे प्राप्त होगा। आप मुझे क्षमा करें !'



वायुने मूर्ति धारण करके प्रार्थना की। उसने और भी बताया—'भगवान् रुद्र मेरे स्पर्शद्वारा स्वयं आपमें प्रविष्ट हुए हैं। वही आपके पुत्ररूपमें प्रकट होंगे।'

वानरराज केसरीके क्षेत्रमें भगवान् रुद्रने स्वयं अवतार धारण किया। परम भागवत श्रीरामदूत हनुमान्जीकी जगत्-पूज्या माता अञ्जनाके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रणाम ! —सु० सिं०

सती तारा

सती ताराकी गणना पञ्चकन्याओंमें है । यह वीर वानरराज वालिकी धर्मपत्नी थी । वीरवर अङ्गदको इसने ही जन्म दिया था । सुग्रीवसे शत्रुता करनेपर ताराने वालिको भलीभाँति समझाया था । तब वालिने उत्तर दिया था कि 'सुग्रीवने अन्याय किया है । मेरे बाद मेरे पुत्र अङ्गदको शासन-सूत्र न सँभलाकर वह स्वयं गद्दीपर बैठ गया । पर तेरे कहनेसे मैं उसे मार नहीं रहा हूँ, इतना कम नहीं है ।'

श्रीरामचन्द्रजीके साथ जब सुग्रीव वालिसे युद्ध करनेके लिये आया, उस समय भी ताराने वालिको निपुण और अनुभवी मन्त्रीकी भाँति सलाह दी थी । वह भलीभाँति जानती थी कि वालिसे युद्ध करनेका साहस सुग्रीव अनन्त बलशाली श्रीरामकी सहायतासे ही कर सका है । उसके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

× × × × । गहि कर चरन नारि समुझावा ॥
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा । ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा ॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा । कालहु जीति सकहिं संग्रामा ॥

पर वालिने उस पतिव्रता नारीकी बात नहीं मानी । श्रीदशरथनन्दनके बाणोंसे उसका प्राणान्त हो गया । उस समय व्याकुल होकर तारा शवके पास जाकर विलाप करने लगी । भगवान्‌ने उसे भलीभाँति समझाया ।



छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित यह अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥

और तू तो पतिव्रता नारी है ! फिर तेरे पतिकी सद्गति के लिये क्या चिन्ता करनी है ? दूसरे यह मेरे बाणोंसे बिंधकर मरा है । तू शोक त्याग दे । तब,

उपजा ग्यान चरन तब लागी । लीन्हेसि परम भगति बर मागी ॥

फिर वानर-जातिके नियमानुसार सुग्रीवके राजा होनेपर तारा पटरानी बनी । लक्ष्मणजीके क्रोधको ताराने ही शान्त किया था । इस प्रकार तारा बड़ी ही चतुर, भगवद्भक्त एवं सती थी । भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम और पतिभक्ति इसकी सराहनीय थी ।—शि० दु०

भक्तिमती शबरी

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'पवित्र जीवनके बिना पवित्रतम परमात्माको कोई नहीं प्राप्त कर सकता ।' उषःकालमें पम्पासरके तटपर महर्षि मतंग अपने शिष्योंसे कह रहे थे । 'अतः मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्रताका पालन करो । शुचि भोजन, शुचि परिधान और अपना प्रत्येक व्यवहार पवित्र होने दो । जीवमात्रपर दया और भगवन्नाममें अनुरक्तिका सदा ध्यान रक्खो । तभी स्थावर-जंगम, लता-वृक्ष आदि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें उन्हें देख सकोगे । यही सच्चा धर्म है । जाति-कुलकी बाधासे यह धर्म सदा मुक्त है ।'

महर्षि और उनके शिष्यगण चले गये थे । शबरी उनके चरण-चिह्नोंपर लोट रही थी, जैसे उसे कोई अमूल्य निधि मिल गयी हो, वृक्षकी ओटसे ऋषिके समस्त उपदेश-आदेश सुन लिये थे उसने । उसकी आँखें बरस रही थीं ।

शबरीका मन उसके शैशवसे ही अशान्त था । भोले भाले पशु-पक्षियोंकी हत्या देखकर वह सिहर उठती थी । उनकी लहू-लुहान देह देखकर वह अपनी आँखें बंद कर लेती थी । अकेले कोनेमें मुँह छिपाकर रोने लगती थी ।

उसका कलेजा टूटने लगता था। हम भी कोई मनुष्य हैं—निर्मम, पाषाण-हृदय ! निरपराध पक्षियोंको, जो खुली हवामें पंख पसारकर उड़ते हैं, पेड़ोंकी डालियोंपर बैठकर भगवान्‌के नामके गीत गाते हैं; उन्हें चोरीसे, छिपकर, नृशंसोंकी भाँति तीक्ष्ण शरोंसे वेध देते हैं। वे हमारी आँखोंके सामने तड़प-तड़पकर प्राण परित्याग कर देते हैं, पर हमारे मनमें करुणाका, दयाका संचार नहीं होता। यही हमारी जीविका बन गयी है। लानत है ऐसी जीविकापर !

चिन्ता, शोक और क्लेशसे उसके दिन बीते। वह नव-यौवन-सम्पन्ना नारी बनी। विवाहकी तैयारी हो गयी। पति वीर था उसका। एक बाणसे दो-दो पक्षियोंको मार लेता था। तेज-से-तेज दौड़ता हुआ हिरन उसकी आँखोंके सामनेसे नहीं बच सकता था। प्रशंसा शबरीने भी सुनी। पर वह छटपटा उठी। एकान्तमें जाकर अशान्त मनसे विश्वके प्राणाधारसे प्रार्थना करने लगी, 'देव ! मुझे पापोंसे बचाइये। मैं अधमातिधम मूर्ख नारी हूँ। मुझे पथका ज्ञान नहीं। आप मेरी रक्षा करें, नाथ ! मैं आपकी शरण हूँ।' प्रार्थना करते-करते रात अधिक हो गयी। शबरीने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया।

अर्द्धरात्रिका समय था। सर्वत्र नीरवताका साम्राज्य था। आकाशमें तारे किंकर्तव्यविमूढ़ हो टुकुर-टुकुर ताक रहे थे। शबरी चुपकेसे दबे पाँव घरसे निकल पड़ी और बने जंगलोंमें जाकर विलीन हो गयी।

कण्टकाकीर्ण पथ, नदी, वन और पर्वतका उसे ध्यान नहीं था। वह भागती चली जा रही थी—अनिश्चित स्थान-की ओर। उस समय उसे केवल यही ध्यान था कि मैं अपने मा-बापके हाथ न आ जाऊँ। हिंसासे बचकर आजीवन ब्रह्म-चारिणी रहकर प्रभु-भजन करूँ।

भागनेमें उसे अपने तन-मनकी सुधि नहीं थी। न क्षुधा थी न तृषा। दो दिन बाद वह पम्पासरपर पहुँची थी। वह थक गयी थी। प्रातः हो चला था। पूर्व क्षितिजपर अरुणिमा बिखर गयी थी। उसी समय स्नानार्थी मतंग ऋषिकी चर्चा उसने सुन ली थी। महर्षिके दर्शनसे अद्भुत प्रभाव उसके मनपर पड़ा था। अपूर्व शान्तिका उसे आज अनुभव हुआ था। वहीं रहनेका उसने निश्चय कर लिया। पर वह अस्पृश्या थी। 'ऋषियोंके तपमें उसके रहनेसे विघ्न पड़ेगा' इस विचारसे उसने अपने रहनेके लिये ऋषियोंके आश्रमसे दूर एक छोटी-सी कुटिया बना ली।

उसने समझ लिया था भगवान्‌के प्राणाधार उनके भक्त होते हैं। भक्तोंकी कृपा हो जानेपर भगवद्दर्शन निश्चय ही हो जायँगे। वह एक पहर रात्रि रहते ही ऋषियोंकी कुटियोंके आस-पासकी भूमि तथा पम्पासरकी ओर जानेवाले मार्गपर झाड़ू लगा देती। एक कंकड़ी भी किसी महर्षि या उनके सौभाग्यशाली भक्तके चरणोंमें चुभ न जाय, इसलिये वह बार-बार झाड़ू लगाती और वहाँ जल छिड़ककर सुगन्धित पुष्प डाल देती। कुटियोंके द्वारपर सूखी लकड़ियोंका ढेर रख आती, जिससे समिधा लानेके लिये मुनिजनोंको किसी प्रकार-का कष्ट न उठाना पड़े।

शबरीका यह नित्यका काम था। पर मुनिलोग चकित थे। गुप्त रीतिसे यह सेवाकार्य कौन कर जाता है—ऋषिगण कुछ तै नहीं कर पाये। शिष्योंने पहरा दिया। शबरी पकड़ ली गयी। मतंग ऋषिके सामने उपस्थित कर दिया शिष्योंने उसे।

शबरी काँप रही थी। उसमें बोलनेका साहस नहीं था। ऋषिकी अपराधिनी थी वह। मतंग ऋषिने उसे देखा। उनके मुँहसे निकल गया—'भगवद्भक्तिमें जाति बाधा नहीं डाल सकती।' शबरी परम भगवद्भक्त है। शिष्यगण एक दूसरेका मुँह ताकने लगे। महर्षि मतंगने शबरीसे कहा, 'तुम मेरी कुटियाके पास ही रह जाओ। मैं कुटियाकी व्यवस्था कर देता हूँ।'

शबरी दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लेट गयी। नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। आज उसका भाग्योदय हुआ है। अब वह तपोधन महर्षिकी सेवा खुलकर कर सकेगी।

साथ ही मतंग ऋषिपर अन्य ऋषिगण कुपित हो गये। 'अस्पृश्याको स्थान देकर अनधिकार-चेष्टा की है महर्षिने ! वे मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहे हैं।' नैष्ठिक तपोव्रतधारी ऋषि भगवद्भक्तकी महिमा नहीं समझ पा रहे थे।

'अधम कहींकी, स्पर्श कर दिया मुझे। पुनः स्नान करना पड़ेगा !' क्रोधसे उन्मत्त एक ऋषि शबरीको डाँटकर पुनः पम्पासरकी ओर चले।

शबरी ध्यानमग्न जा रही थी, उसे ऋषिका ध्यान नहीं था। ऋषिके बिगड़नेका भी उसे कोई ध्यान नहीं हुआ। वह अपने प्राणधनके रूप और नाममें छकी हुई सरोवरसे लौट रही थी।

ऋषिने स्नान नहीं किया। सरोवरमें कीड़े पड़ गये थे। जल रक्तमें परिणत हो गया था। खिन्न होकर वे स्नान किये बिना ही लौट आये।

× × ×

'आपके बिना मैं नहीं रह सकूँगी, मुनिनाथ !' फूट-फूटकर रोती हुई शबरी महर्षि मतंगसे कह रही थी। 'मेरे आधार आप ही हैं। आपके ही द्वारा मुझे ऋषियोंकी थोड़ी-बहुत सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपके ही चरणारविन्दोंमें रहकर मैं भगवान्‌को पानेके लिये विकल हो रही हूँ। आपके बिना मैं कहींकी नहीं रहूँगी। परमार्थ-सिद्धि भी नहीं कर सकूँगी। देव ! आपके साथ मैं भी अपना प्राण छोड़ दूँगी प्रभो !'

'अधीर मत हो, बेटी !' मतंग ऋषिने शबरीको समझाया। 'मेरा अन्तिम समय निकट आ गया है। मुझे जाना ही चाहिये। पर तू अभी ठहर जा। दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम यहाँ शीघ्र आनेवाले हैं। तू उनके दर्शन करेगी और तेरी सारी साधना पूरी हो जायगी।' ऋषिने नश्वर कायाको त्याग दिया। शबरी चिल्ला पड़ी।

× × ×

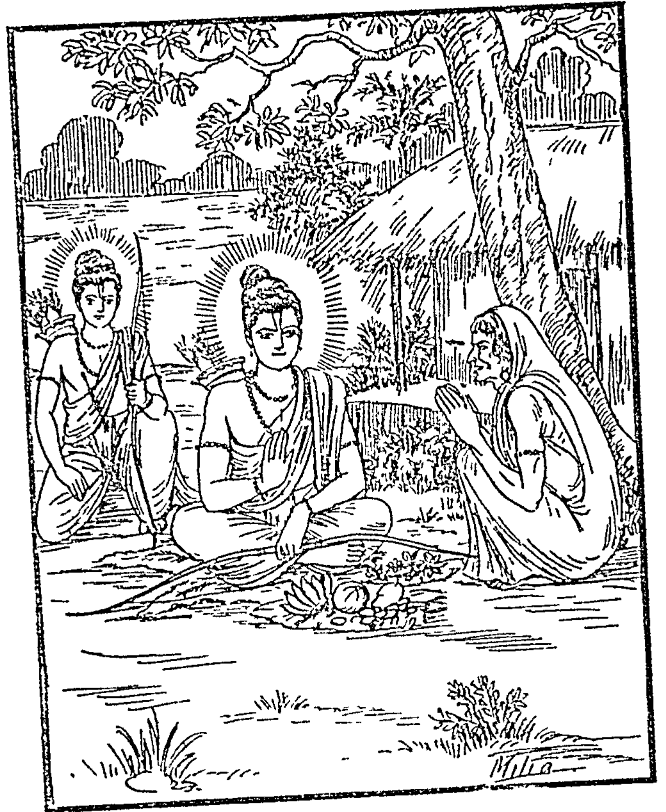
'महर्षिकी बात सत्य होगी ही। भगवान् दण्डकारण्यमें पधारेंगे। मुझे दर्शन मिलेगा।' शबरी आनन्दमें छकी रहने लगी। पत्तेकी खड़खड़ाहटसे भी वह चौंक जाती थी, कहीं भगवान् आ तो नहीं गये। वह प्रतिदिन मार्ग साफ करके मीलोंतक भगवान्‌को जोह आया करती थी। 'भगवान् पहले मेरे यहाँ पधारेंगे' ऋषियोंका निश्चय था।

भगवान् आये और आते ही शबरीकी कुटियाका पता पूछने लगे। ऋषि चकित थे। प्रेमरूप भगवान् शबरीकी कुटियामें पधारे। आह ! शबरीका क्या कहना ?

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए ॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला ॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई ॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥
(रामचरितमानस)

वह प्रेममें आत्मविभोर हो गयी थी। वाणी उसकी अवरुद्ध हो गयी थी। चरणोंको पकड़कर अनन्त सौन्दर्य-मय भगवान्‌की ओर टकटकी लगाकर देखने और आँसू बहानेके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर पा रही थी। उसके वशकी कोई बात ही नहीं थी।

'प्रभो ! आपके लिये एकत्र किये हुए फल-मूलादि रक्खे हैं, बड़ी कठिनतासे अर्घ्य-पाद देनेके बाद शबरीने कहा। वह चुने हुए मीठे-मीठे बेरोंको प्रतिदिन भगवान्‌के लिये रखती थी। उन बेरोंको ले आयी। बड़े प्रेमसे देने लगी। भगवान् आनन्दपूर्वक खाने लगे। भगवान्‌को उन बेरोंमें



इतना अधिक स्वाद और आनन्दका अनुभव हो रहा था।' जैसे प्रेममयी जन्मदायिनी जननी कौसल्याजी उन्हें भोजन करा रही हों।

अपनी अभीप्सा-पूर्ति देखकर अत्यन्त प्रसन्नतासे हाथ जोड़कर वह अत्यन्त प्रेमसे प्रार्थना करने लगी।

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी ॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥

शुद्ध प्रेम और दीनता देखकर भगवान्‌ने उत्तर दिया—

सावधान सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता ॥

फिर भगवान्‌ने उसके सामने नवधा भक्तिका निरूपण किया। इसी बीचमें ऋषियोंका समुदाय (शबरीके आश्रममें) भगवान्‌के दर्शन-निमित्त आ गया। उस समय ऋषियोंका ज्ञानाभिमान लुप्त हो गया था। वे मतंग ऋषिके तिरस्कारके लिये मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे थे। उनके मुँहसे निकल गया—'शबरी ! तू धन्य है।'

पम्पासरमें कीड़े पड़ने और जल रक्तके रूपमें परिणत होनेके सम्बन्धमें श्रीलक्ष्मणजीने ऋषियोंको बताया, 'मतंग मुनिसे द्वेष एवं बाल-ब्रह्मचारिणी, संन्यासिनी, परम भगवद्-भक्त और साध्वी शबरीके अपमान करनेसे आपलोगोंके

अभिमानसे सरोवरकी यह दुर्दशा हुई है। शवरीके पुनः स्पर्श करते ही वह शुद्ध हो जायगा।'

भगवान्‌के आदेशानुसार शवरीने सरोवरको स्पर्श किया, उसका जल पूर्ववत् निर्मल हो गया।

भगवान् उसकी कुटियासे चलने लगे। शवरी अधीर हो गयी। चरणोंकी दृढ़ भक्ति भगवान्‌ने उसे दे ही दी थी। अब उसे कुछ पाना शेष नहीं था। उसकी सारी आकांक्षा प्रभुने पूरी कर दी थी, अब वह भगवान्‌से विलग होकर किसलिये जीवन-धारण करती। ऋषिजनोंके सामने ही उसने अपनी पार्थिव देह त्याग दी। ऋषिगण शवरीका जय-जयकार करने लगे। धन्य थी शवरी और धन्य थी शवरीकी प्रेममयी अद्वितीय भक्ति! —शि० दु०

सती भीलनी चण्ड-पत्नी

पाञ्चालनरेश महाराज सिंहकेतु आखेटके लिये निकले थे। अनेक निपुण शिकारी, सामन्त एवं सैनिक साथ थे। महाराजने अश्व बढ़ाया। सब-के-सब पीछे छूट गये। केवल उनके साथ तरुण भील चण्ड आड़े-टेढ़े मार्गोंसे दौड़ता हुआ पहुँच सका। आज भी जंगली भील केवल लाठीसे चीते या बाघको मार डालते हैं। चण्ड सदा आखेटमें महाराजके साथ रहता था। महाराज उसके समीप रहनेसे निरापद रहते थे। अधिक समीप रहनेके कारण चण्ड महाराजसे बहुत निःसङ्कोच हो गया था।

महाराजका अश्व बढ़ा जा रहा था। अरण्यके पद-पदसे परिचित चण्डने देखा कि आगे जाकर अश्वको लंबा चक्कर लेकर मुड़ना होगा। उसने सीधा मार्ग पकड़ा। झाड़ियोंमें होकर आगे बढ़ने लगा। एक टूटा-फूटा शिवमन्दिर था उस वनमें। मन्दिरमें भगवान् शङ्करकी बड़ी सुन्दर लिङ्गमूर्ति थी। चण्डने अनेकों बार उस मन्दिरको देखा था। अनेकों बार छिपकर पशुओंका आखेट करनेके लिये उसने मन्दिरके टूटे कोनेका आश्रय लिया था। आज उसके पूर्व पुण्योंका उदय हुआ था। भगवान् आशुतोषने उसपर कृपा की थी। मन्दिरके समीपसे निकलते समय उसके मनमें विचार उठा। 'यहाँ वनमें भगवान्‌की कोई पूजा नहीं करता। वनपशु मन्दिरमें आकर उन्हें कष्ट देते होंगे। मैं ले चलूँ तो जैसी हो सकेगी, वैसी पूजा तो होगी।' मन्दिरमें जाकर उसने मूर्ति उठा ली और शीघ्रतासे आगे चला गया।

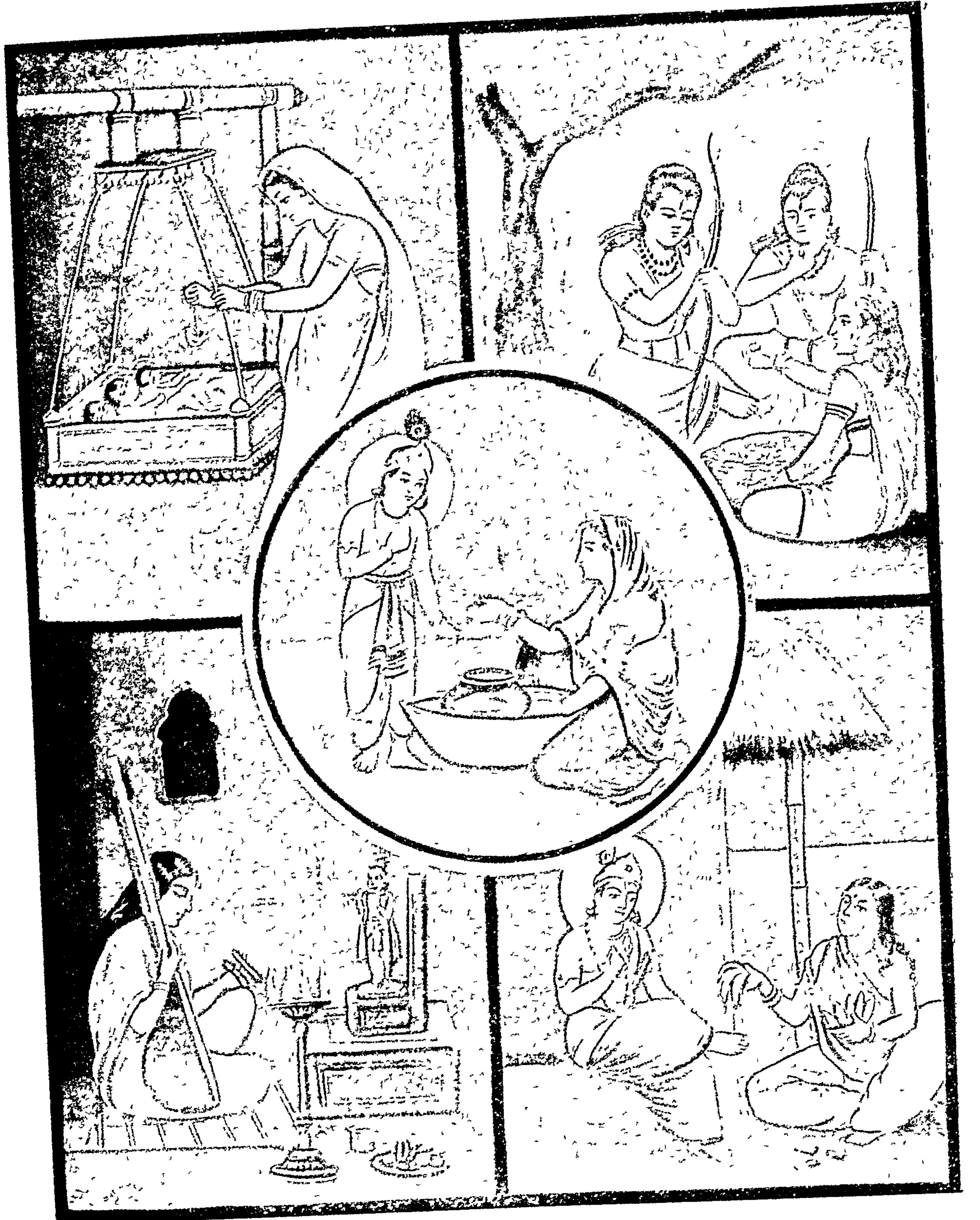
'महाराज! देखिये, भगवान् शङ्करकी कितनी सुन्दर मूर्ति है। यहाँ वनमें भला, कोई कैसे इनकी पूजा करता। मैं उठा लाया हूँ; लेकिन पूजा करना तो मुझे आता ही नहीं। आप कृपाकर बता दें तो वैसे ही इनकी नित्य पूजा किया करूँ।' चण्डने महाराजसे पूछा। मार्ग कठिन था। अश्व धीरे-धीरे जा रहा था।

'बड़ा अच्छा किया तुमने। अब इन्हें नित्य स्नान कराके आसनपर बैठा दिया करो। ये चन्दन नहीं लगाते, इनको तो चिताभस्म लगाना प्रिय है। नित्य चिताभस्म लगाया करो। बेलपत्र, फूल चढ़ाकर धूप दिखा दिया करो और बत्ती जला दिया करो। जो खाने-पीनेको हो, इन्हें भोग लगाकर भोजन किया करो। पूजाके पश्चात् इनके सामने नाचा-गाया करो। इन्हें नृत्य देखना बहुत प्रिय है। हाँ, देखना—इन्हें लगाना चिताकी ही भस्म। कोई दूसरी राख मत लगा देना।' महाराज धार्मिक थे। भीलके भोलेपनपर उन्हें हँसी आ रही थी। भीलोंके नृत्यको उन्होंने अनेक बार देखा था। उसका भी उन्हें स्मरण हो गया था।

चण्डने समझ लिया कि अब वह पूजाका पण्डित हो गया है। हाथ जोड़कर महाराजको प्रणाम किया उसने। लौटते ही अपनी झोंपड़ीका एक कोना लीप-पोतकर एक मिट्टीकी वेदी बनायी और उसपर शङ्करजीको बैठा दिया। बेलपत्र, फूलके लिये कोई कठिनाई थी ही नहीं; श्मशानसे जाकर एक दिन एक गठरी चिताभस्म ले आता तो वह कई सप्ताह चलती रहती। उसकी पूजा नियमित चलने लगी। ठीक प्रातः स्नान करके पूजामें जुट जाता। आँधी आवे या पत्थर पड़े, मन्त्री बुलावे या राजा, अपनी पूजा किये बिना वह कहीं जाता नहीं था। पत्नीको उसने समझा रक्खा था कि यदि वह किसी दिन घर न रहे तो शङ्करजीकी पूजा विधिपूर्वक अवश्य हो। जाते समय बराबर पत्नीको सावधान कर जाता कि पूजामें प्रमाद न हो।

एक दिन चण्डकी चिताभस्म समाप्त हो गयी। वह प्रातः उठते ही भागा श्मशान। पहले दिन राजाने उसे बुला लिया था और बहुत रात्रि गये घर लौटा था। चिताभस्म संग्रह कर नहीं सकता था। रात्रिमें वर्षा हुई थी खूब जोरकी। श्मशानमें भला, भस्म कहाँ। बहुत दौड़-धूपके बाद

पञ्च-भक्तिमती



अनसूया, शबरी, गोपीजन, रानी मीराँ, विदुरानी ।
वन्दनीय ये पाँच देवियाँ भक्तिमती अति जगजानी ॥

वह निराश होकर लौट आया। खेद एवं पश्चात्तापके कारण उसके नेत्रोंसे ऑसू बह रहे थे। लौटकर झोंपड़ीमें सिर पकड़कर बैठ गया।

'आप इतने दुखी क्यों हैं ?' पत्नीने पूछा।

'मैं बड़ा अभागा हूँ। कहीं भी चिताभस्म नहीं मिली। आज भगवान्‌की पूजा कैसे होगी। भला, पूजा किये बिना मैं जल भी कैसे पी सकता हूँ। आज भगवान् बिना पूजाके रहेंगे। हाय!' भीलके उस लौह शरीरमें इतना भावपूर्ण कोमल हृदय है, यह कौन सोच सकता था।

'बस, इतनी बातके लिये आप इतने व्याकुल हैं। स्नान कीजिये! चिताभस्म तो अभी मिल जायगी।' भीलनीने पतिको आश्वासन दिया। बिना एक क्षण रुके वह मुड़ पड़ी। द्वारके सम्मुख थोड़ी दूरीपर एक पीपलका वृक्ष था। वहाँ उसने मिट्टीकी वेदी बना दी और झोंपड़ीका सब सामान निकाल-निकालकर उसी वृक्षके नीचे रखने लगी।

'तुम यह सब क्या कर रही हो ?' हक्का-बक्का भील पत्नीकी ओर देख रहा था। वह कुछ भी समझ नहीं सका।

'आप शीघ्र स्नान करके भगवान्‌को पीपलके नीचे वेदीपर बैठा दें। झोंपड़ी तो दूसरी आप आज सन्ध्यातक बना ही लेंगे। इसमें अग्नि लगाकर मैं जल जाती हूँ। भगवान्‌की पूजाके लिये बहुत दिनोंको चिताभस्म हो जाती है।' जिस निरपेक्षासे भील वनपशुओंका आखेट करता था, उसी निरपेक्षासे भीलनी अपने शरीरकी आहुति देनेकी बात कह रही थी। जैसे एक साधारण खेल करने जा रही है वह।

चण्डने पत्नीके मुखकी ओर देखा। पत्नीके त्याग, प्रेम और भक्तिने उसे प्रेमविभोर कर दिया। भरे कण्ठसे उसने कहा—'शरीर ही सुख, धर्म और पुण्यका कारण है। तुम अपने शरीरको मत जलाओ!'

'मेरे मालिक! एक दिन तो मैं मरूँगी ही। मेरा शरीर भगवान्‌की सेवामें लगे, इससे बड़ा पुण्य और क्या होगा। मैं बड़ी भाग्यवती हूँ कि मेरा शरीर भगवान्‌की पूजामें लगेगा। मुझे रोको मत। आज्ञा दो!' भीलनीने पतिके पैरोंपर सिर रक्खा। भीलके नेत्रोंसे बूँदें टपकती रहीं। वह बोलनेमें असमर्थ था।

भीलनीने फिर स्नान किया। शङ्करजीको पीपलके नीचेकी वेदीपर बैठाया। झोंपड़ीमें अग्नि लगा दी। पतिको पुनः प्रणाम करके वह भगवान् शङ्करकी स्तुति करने लगी। श्रद्धा, पातिव्रत्य एवं त्यागने हृदयको शुद्ध बना दिया। आवरण ध्वस्त हो गये। विशुद्ध ज्ञान तो अन्तःकरणमें ही है। उस दिव्य ज्ञानसे परिपूत उसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही थी—

वाञ्छामि नाहमपि सर्वधनाधिपत्यं
न स्वर्गभूमिमचलां न पदं विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि नाथ नित्यं
त्वत्पादपङ्कजलसन्मकरन्दभृङ्गी॥
किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः
कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः॥

(ब्र० सं० म० १७)

'हे प्रभो! न तो मैं कुबेरका पद चाहती न स्वर्ग, न ब्रह्मलोक और न मोक्ष ही। मेरे चाहे जितने जन्म हों, परंतु सर्वदा मैं आपके चरणकमलोंकी रजकी भ्रमरी रहूँ। आपके चरणोंमें मेरा नित्य अनुराग रहे। सर्वोच्च वर्णमें जन्म लेने, सम्पूर्ण शास्त्र-विचारमें समर्थ होने, विद्या पढ़ने आदिसे क्या लाभ ? जिसका चित्त आप परमेश्वरकी भक्तिमें लगा है, उससे अधिक त्रिभुवनमें और कौन धन्य है।

प्रार्थना करते हुए उसने प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश किया। शरीर भस्म हो गया। चण्डने स्नान किया। पुष्प एकत्र किये। जल डालकर थोड़ी-सी चिताभस्म शीतल करके उससे पूजा की। आज उसके हृदयमें अपूर्व भाव था। अन्तरमें पत्नीके त्यागने प्रेमकी धारा प्रवाहित कर दी थी। नैवेद्य लगाकर वह उन्मत्तकी भाँति भगवान्‌के सम्मुख नृत्य करने खड़ा हुआ। आजसे पूर्व पति-पत्नी दोनों भगवान्‌के सम्मुख नाचते थे। आज वह अकेले नाचेगा।



'हैं! मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ? तुम यहाँ कैसे? तुम तो अग्निमें जल गयी थी न?' चण्ड चौंक पड़ा। उसने देखा कि उसकी बायीं ओर नित्यकी भाँति साथ नाचनेको उसकी पत्नी खड़ी है।

'सपना काहेका? आपके सामने आपकी दासी मैं ही तो खड़ी हूँ। मुझे तो स्मरण नहीं कि मैं कब आगमें जली।' भीलनीने पतिकी बातोंसे आश्चर्य प्रकट किया।

'आपलोग कैलास पधारें! भगवान् गङ्गाधर आपका स्मरण कर रहे हैं।' भील-दम्पति अभी आश्चर्यसे छुटकारा नहीं पा सके थे कि एक दिव्य विमान आकाशसे उतरा और एक भगवान् शङ्करके पार्षदने दोनोंसे प्रार्थना की। आदरपूर्वक दोनोंको उन शिव-पार्षदने विमानमें बैठाया। सु० सिं०



सती रानी पिंगला

'मैंने एक सतीके दर्शन किये हैं। आज मेरे भाग्य धन्य हैं! ऐसी सती तो मैंने अबतक देखी नहीं।' चन्द्रावतीके परमारवंशी अन्तिम नरेश हूनने आखेटसे लौटकर अपनी पत्नी रानी पिंगलासे बताया। उनका स्वर गद्गद हो रहा था। श्रद्धासे उनके नेत्र भर आये थे। उन्हें आश्चर्य तो यह था कि व्याध-जैसी छोटी जातिमें भी ऐसी सतियाँ होती हैं। उन्होंने वनमें एक व्याधको सर्पके काटनेसे मरते देखा था। उसकी पत्नीने स्वयं चिता निर्माण करके पतिदेहके साथ अग्निप्रवेश किया था। जलते समय उस स्त्रीके मुखपर विषादके बदले प्रसन्नताके चिह्न स्पष्ट हो रहे थे।

'निश्चय वह एक वीर स्त्री है। फिर भी उसे सती नहीं कहना चाहिये। पतिकी मृत्युके पश्चात् जो जीवित रहे, वह सती कैसी। पतिकी मृत्युका समाचार पाते ही सती स्त्री पतिका कोई चिह्न लेकर अविलम्ब शरीर छोड़ देगी।' महाराजसे सब सुनकर रानीने कहा।

'ऐसी सती तो रानी पिंगला ही होगी।' महाराजको पत्नीद्वारा एक सतीका उपहास करना अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत हुआ। उन्होंने रानीपर व्यङ्ग्य किया।

रानीने समझ लिया कि कभी उनकी परीक्षा अवश्य होगी। उन्हें पश्चात्ताप हुआ, पर अब तो मुखसे बात निकल चुकी थी। अवसर पाकर उन्होने अपने धर्मगुरु भगवान् दत्तात्रेयके राजसदनमें पधारनेपर एक दिन प्रार्थना की—'प्रभो! मेरे स्वामी बराबर आखेट और युद्धोंमें लगे रहते हैं। ऐसे समय शत्रु देशमें बहुधा राजाकी मृत्युका समाचार प्रसारित कर देते हैं। यदि ऐसा अवसर आवे तो मैं कैसे समझूँ कि मेरे पतिदेव जीवित हैं या नहीं।'

'लड़की! तू मुझसे भी छिपाती है? ऐसे अवसरके आनेका मार्ग तो तूने स्वयं बना दिया है। तू जाने या न जाने, परिणाम तो एक ही होना है। जो भी हो, तेरी इच्छा है तो यह बीज ले। अपने आँगनमें इसे बो दे। एक छोटा-सा पौधा हो जायगा। जब तुझे महाराजके जीवनमें शङ्का हो तो वृक्षसे स्नान करके पूछना। यदि राजा जीवित हुए तो वृक्षसे जलकी बूँदें टपकेंगी और यदि वे धरापर न हुए तो वृक्षके पत्ते तुरंत सूखकर गिर पड़ेंगे।' दत्तात्रेयने एक बीज दे दिया और चले गये। रानीने उसे सावधानीसे बोया। वह उगा और ठीक सिंचन पाकर एक हरा-भरा पौधा हो गया।

राज्यमें दस्युओंका उपद्रव बढ़ा। नरेशको उनके दमनके लिये जाना पड़ा। दस्युओंका दमन करके लौटते समय उनके मनमें रानीके सतीत्वकी परीक्षाका विचार हुआ। उन्होंने संवाद भेजा कि 'दस्युओंने राजाको मार डाला।' दूतको उन्होंने समझा दिया कि अन्तिम क्षणमें वह बता दे कि समाचार मिथ्या है। दूत राजमुकुट लेकर राजधानी पहुँचा। द्वारपरसे ही उसने रोना-पीटना प्रारम्भ कर दिया। दूरसे उसे देखकर रानीने सखियोंसे कह दिया कि अमङ्गल समाचार लेकर दूत आ रहा है। दूतसे समाचार पाकर रानीने स्नान किया और वृक्षके समीप गयीं। पूछनेपर वृक्षके पत्तोंसे जलबिन्दु टपकने लगे। राजा जीवित हैं, इतना तो निश्चय हो गया।

'महाराजने मेरी परीक्षाके लिये दूत भेजा है। उनकी इच्छा है कि मैं शरीर छोड़ दूँ। पतिकी इच्छामें सन्तुष्ट रहना ही स्त्रीका धर्म है। परलोकमें तो वे मुझे अवश्य ही प्राप्त होंगे। यदि इस समय मैं शरीर नहीं छोड़ूँगी तो मेरा पितृकुल कलङ्कित होगा। लोग कहेंगे कि राजा सोमचन्द्रकी पुत्री पतिके मरणका समाचार पाकर भी जीवित ही रही।' रानी पिंगलाने यह जानकर भी कि नरेश जीवित हैं, मरनेका ही निश्चय किया।

रानी पिंगला योगिनी थीं। उन्होंने पतिके मुकुटको गोदमें रखकर आसन लगाया। अपान प्राणसे मिलकर समान एवं उदानको लेता कण्ठसे भ्रूमध्यमें पहुँचा। इसी समय दूतने कहा, 'महारानी! यह संवाद मिथ्या है।' महारानी सुनने-

की सीमासे बाहर हो चुकी थीं। तालु-मूल फोड़कर ब्रह्मरन्ध्रसे उनका प्राण निकल चुका था। दूत लौटा।

दूत भेजनेपर महाराजको ध्यान आया कि कहीं सचमुच रानी प्राण न छोड़ दें। वे यथासम्भव तीव्र गतिसे नगरकी ओर चले। मार्ग श्मशानके समीपसे था। उन्होंने देखा कि एक चितासे लपटें उठ रही हैं। चन्दनकी सुगन्ध आ रही है। ज्ञात हुआ कि रानी पिंगलाने शरीर छोड़ दिया और उनका शव-दाह हो रहा है। राजा विक्षिप्तप्राय हो गये। वस्त्राभूषण उन्होंने उतार फेंके और पैदल ही श्मशानमें चले गये। शीघ्रतामें अश्व बढ़ाकर वे आगे निकल आये थे। साथमें कोई था नहीं। श्मशानमें भी लोग शवको जलाकर जा चुके थे। राजा पागलोंकी भाँति श्मशानमें रोते हुए घूमने लगे।

परम सिद्ध गोरखनाथजीने राजाको इस दशामें देखा। महापुरुषके हृदयमें दयाका सञ्चार हुआ। वे राजाके समीप गये। पूछनेपर राजाने पत्नीकी मृत्युका वर्णन फूट-फूटकर रोते हुए किया। इसी समय गोरखनाथजीके हाथकी हँडिया छूटकर गिर गयी और टुकड़े-टुकड़े हो गयी। वे हँडियाके टुकड़ोंको समेटकर हाय-हाय करके चिल्लाने लगे। राजाको आश्चर्य हुआ। उसने कहा—'आप दो कौड़ीकी हँडियाके लिये इतने बड़े महात्मा होकर इस प्रकार क्यों रो रहे हैं। इससे अच्छी अनेक हँडियाएँ आपको मिल जायँगी। मिट्टीकी ही थी, फूट गयी।'

'मेरी हँडिया तो मिट्टीकी थी और तेरी स्त्री सोनेकी बनी थी क्या? मुझे इससे अच्छी हँडिया मिल जायगी और तुझे संसारमें दूसरी स्त्री ही नहीं मिलती? मेरी हँडिया तो भला दो कौड़ीकी भी थी, तेरी स्त्री तो उतनेकी भी नहीं थी। तेरे क्षणिक सुखके अतिरिक्त वह क्या करती थी? मेरी हँडिया तो रात-दिन मेरे साथ रहती थी। इसीसे मैं पानी पीता था। इसीमें माँगकर भिक्षा कर लेता था। इसीको सिरके नीचे रखकर सो जाता था। बड़ा बुद्धिमान् बना है। मुझे उपदेश देने आया है। मेरी हँडिया जोड़ दे, मैं तेरी स्त्री जिलाये देता हूँ।' संतने क्रोधका नाटक किया।

'प्रभो! आप समर्थ हैं। मैं तुच्छ जीव आपकी शरण हूँ। उस साध्वी पत्नीके बिना मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। आप उसे जीवित कर दें।' राजाने रोते-रोते संतके चरण पकड़ लिये।

'ले, पहचान ले। इनमेंसे तेरी पिंगला कौन है?' एक चुटकी भस्म संतने चितापर फेंक दी। एक पूरी भीड़ खड़ी हो गयी। सब रूप-रंगमें पिंगलाके ही समान थीं। राजाने पहचाननेमें असमर्थ होकर फिर विनय की। संतने ताली बजायी और वहाँ असली पिंगला रानी खड़ी थी।

'हो गया! अब मेरा मोह दूर हो गया। राज्यसुख बहुत भोग लिया। अब तो आप मुझे अपने इन श्रीचरणोंमें स्थान दें।' सहसा नरेशके मनमें वैराग्य हो गया। पिंगलाकी ओरसे मुख फेरकर वे संतके चरणोंमें गिर पड़े। उन्होंने नहीं देखा कि कब वह माया-पुत्तलिका अदृश्य हो गयी। महात्मा तो कृपा करने ही पधारे थे। वहींसे नरेश गुरुके साथ वनमें साधन करने चले गये। —सु० सिं०



सती भोगवती

प्रारब्धका विधान अन्यथा नहीं हुआ करता। महाराज विजयराजने कल्पनातक नहीं की थी कि उनके मन्त्री तथा पुरोहित उनकी सुन्दरी कन्याके लिये इतना कुरूप पति चुनेंगे। पुरोहितने भी राजकुमारको देखे बिना ही नारियल दे दिया था। शूरसेनके नरेश जानते थे कि उनके पुत्रको देखकर कोई अपनी कन्या नहीं देना चाहेगा, इसीसे विजयराजके मन्त्री तथा पुरोहितको उन्होंने समझाकर तथा दक्षिणासे सन्तुष्ट कर राजकुमारको दिखाये बिना ही नारियल ले लिया था।

विजयराजकी पुत्री अनुपम रूपवती थी। महाराजने एक ही पुत्री होनेसे उसे भली प्रकार शिक्षित किया था। भोगवती अपनी विलक्षण प्रतिभाके प्रभावसे पुराण, इतिहास, दर्शन-शास्त्र, नीति, धर्मशास्त्र तथा आचारशास्त्रमें पारंगत हो गयी थी। विजयराजने देखा कि जामाता नागराज देखनेमें अत्यन्त कुरूप एवं भयानक है। लक्षणोंसे अत्यन्त क्रूर जान पड़ता है। कोई उपाय नहीं था। नारियल दिया जा चुका था। बारात आ चुकी थी। मन मारकर उन्होंने पुत्रीका विवाह कर दिया।

'बेटी! तुम्हारा पति राज्यके आवश्यक कार्यवश विदेश गया है।' ससुराल जानेपर-जब सासने अपनी परम रूपवती एवं सुशीला बहूको देखा तो उनका हृदय धक्-से हो गया। इस सुकुमार बालिकाको वे अपने कुरूप एवं क्रूर पुत्रके पास कैसे भेजेंगी। महाराजको उन्होंने इस बातपर सहमत कर लिया कि पुत्रवधूको पुत्रसे दूर ही रक्खा जाय। महाराज भी अपने किये-पर पश्चात्ताप कर रहे थे।

'सखी! मेरे पतिदेव कब लौटेंगे?' अनेक बार भोगवतीने

अपनी परिचारिकाओंसे पूछा । उसने अनुभव किया कि परिचारिकाएँ कुछ मुसकरा पड़ती हैं और कोई बात छिपा रही है । अधिक दिन बीतनेपर उसका सन्देह बढ़ता गया । अन्तमें उसकी एक अत्यन्त अन्तरङ्ग सहेलीने सब बातें बहुत आग्रह करनेपर सूचित कर दीं ।

'मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ ।' भोगवतीने अपनी सहेलीसे नागराजके पास सन्देश भेजा ।

'मुझे किसीसे मिलना नहीं है और न मैं किसीकी अपेक्षा करता हूँ ।' नागराजने रूक्षतासे फटकार दिया । माता-पिताने उसे कठोर चेतावनी दी थी कि वह पत्नीसे मिलनेका प्रयत्न न करे । उसे इसमें अपना बड़ा भारी अपमान प्रतीत हुआ था । बहुत रुष्ट था वह ।

'नाथ ! इस दासीसे कौन-सा अपराध हो गया कि आपने इसे त्याग दिया है ?' एक दिन सखीको लेकर स्वयं भोगवती पतिके शयनागारमें रात्रिको पहुँची । उसे देखकर नागराज उठकर बाहर चले जानेको उद्यत हुआ; किंतु भोगवतीने उसके पैर पकड़कर उनपर मस्तक रख दिया । वह फूट-फूटकर रो रही थी ।

'तू यहाँ क्यों आयी ? मेरे समीप तेरा कोई काम नहीं ।'



नागराजने उसे ठुकरा दिया । सहेलीके साथ वह लौट आयी । अब प्रतिदिन रात्रिमें वह पतिके शयनकक्षमें जाने लगी । थोड़ी देर पतिके चरण दबाती और फिर लौट आती । नागराज उसका प्रायः अपमान करता; किंतु उसने इधर कभी ध्यान ही नहीं दिया । पतिकी भयकर धमकियोंकी उसने उपेक्षा कर दी ।

'प्रिये ! मेरा भद्दा रूप देखकर भी तू डरती नहीं ?' अन्तमें एक दिन नेत्रोंसे प्रसन्न होकर नागराजने पूछा ।

'स्त्रीके लिये तो पति ही परमेश्वर है । लोग टेढ़ी-मेढ़ी शालग्राम-शिलामें परम सुन्दर भगवान्‌की भावना करते हैं । मैं तो आपको कुरूप नहीं देखती, फिर डरूँ क्यों ?' भोगवतीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया । दोनोंमें प्रगाढ़ प्रेम हो गया । थोड़े दिनों पश्चात् दम्पति गोदावरी-स्नान करने गये । श्रद्धापूर्वक नागराजने ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके बड़ी भक्तिसे गोदावरीमें स्नान किया । सती भोगवतीके सतीत्वका प्रभाव, दानका फल तथा तीर्थकी महिमासे नागराजकी कुरूपता दूर हो गयी । वह इतना सुन्दर हो गया कि उसके पूर्व-परिचित उसे पहचान नहीं सकते थे । यात्रा समाप्त करके दोनों स्वदेश लौटे ।

शूरसेननरेशका शरीरान्त हो चुका था । उनके छोटे पुत्रोंने निश्चय किया कि राज्य परस्पर विभाजित कर लिया जाय । वे नागराजको भाग नहीं देना चाहते थे । नागराज जब नगरके पास पहुँचे तो छोटे भाइयोंने नगरकी सीमाके द्वार बंद करा दिये । नागराजको बड़ा क्रोध आया । उन्होंने युद्ध करके अपना भाग प्राप्त करनेका निश्चय किया ।

'मेरी अल्प बुद्धिमें भाइयोंसे युद्ध करना उचित नहीं है । चाहे जो भी हो, वे आपके सहोदर बन्धु हैं । यदि भाइयोंमें फूट हुई तो शत्रु आक्रमण कर देंगे और राज्य न आपका रहेगा, न उनका । रावण और बालि दोनों भाइयोंको शत्रु बनाकर ही नष्ट हुए । चाहे जैसे हो, भाइयोंसे मेल करनेमें ही कल्याण है ।' भोगवतीने पतिको समझाया ।

'वे हमें नगरमें ही नहीं आने देते, ऐसे भाइयोंसे मेल कैसे सम्भव है ?' नागराजने पूछा ।

'आप उन्हें आदरपूर्वक निमन्त्रण दीजिये कि हम तीर्थसे लौटे हैं, इसलिये नगरसे बाहर रहकर कथा सुनेंगे तथा ब्राह्मण-भोजन करायेंगे । वे आपके पुण्य कार्यमें अवश्य सम्मिलित होंगे ।' भोगवतीने नीतिसे काम लेनेका विचार व्यक्त किया ।

नगरसे बाहर आवास बना । नगरवासियोंके साथ भाइयोंको भी आमन्त्रित किया गया । वे सब आदरपूर्वक बुलाये गये थे, अतः आये । नागराजने उनका भली प्रकार सत्कार

किया। भोगवतीने भी उनका सावधानीसे स्वागत किया। ध्रुव, वामन एवं भरतके चरित्रकी कथाएँ हुईं। इन भ्रातृप्रेमकी कथाओंको सुनकर तथा नागराज एवं भोगवतीके व्यवहारको देखकर उन नागराजके छोटे भाइयोंको बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने बड़े भाईके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी। नागराज पिताके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए। —सु० सिं०

सती वाक्पुष्टा

विक्रम-संवत्के पूर्व दूसरी शताब्दीमें काश्मीर देशमें तुजीन नामका एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वाक्पुष्टा उसीकी रानी थी। राजाने हुङ्केश्वर महादेवका एक प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया और प्रजाके हितके बहुत-से काम किये। यात्रियोंको आराम देनेके लिये सड़कोंके किनारे छायादार वृक्ष लगवाये। रानी वाक्पुष्टा भी राजाके समान ही परोपकारिणी थी। प्रजाको वह सन्तानके समान मानती थी और उनके कष्ट-निवारणके लिये सदा तैयार रहती थी।

इस प्रकार राजा-रानीका सासारिक जीवन बड़े सुखसे बीतने लगा। एक वर्ष शरद् ऋतुमें पहाड़पर इतनी अधिक बर्फ गिरी कि सारी खेती चौपट हो गयी और देशमें भारी अकाल पड़ गया। लोग दाने-दानेके मुँहताज हो गये। भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर लोग असमयमें ही काल-कवलित होने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया।

तुंजीन और वाक्पुष्टाने प्रजाका आर्तनाद सुना। उनका हृदय विदीर्ण हो गया और वे प्रजाकी सहायता करनेके लिये राजप्रासादसे निकल पड़े। सारा राजकोष, सब माल-मत्ता दुर्भिक्षपीड़ित प्रजाको अन्न पहुँचानेके लिये मुक्त कर दिया। राजा-रानी स्वयं गाँव-गाँव घूमकर पीड़ितोंको अन्न बाँटनेका काम करने लगे। राज्यमें ऐसा कोई स्थान नहीं बचा, जहाँ जाकर राजा-रानीने भूखोंको भोजन न कराया हो।

परंतु अकाल इतना भयानक था कि राज्यका सारा खजाना खाली हो गया, देशमें एक दाना अन्न भी न बचा और प्रजाको भूखसे तड़प-तड़पकर मरनेके सिवा कोई उपाय शेष न रहा। राजा एक दिन सारे दिन परिश्रम करके घर आया, प्रजाका आर्तनाद सुनकर उसके धीरजका बाँध टूट गया। वह स्वयं भूखा-प्यासा था, परंतु उसका हृदय प्रजाकी पीड़ासे फटा जा रहा था। उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और वह घबराकर रोने लगा।

रानी वाक्पुष्टा शयनागारमें भगवान्से प्रार्थना कर रही थी। पतिको दुखी देखकर वह उसके पास गयी। राजाने अपने आँसू रोककर कहा—'प्रिये! हमलोगोंकी आँखोंके सामने ही आज हमारी प्यारी प्रजा भूखसे तड़प-तड़पकर मर रही है और हम उसको अन्न देनेमें असमर्थ हो रहे हैं। वह राजा अभागा है, जो प्रजाका पालन नहीं करता। राजाके पापसे प्रजाको कष्ट होता है। रानी! देशमें कहीं एक छटाँक भी अन्न नहीं बचा, बर्फके पहाड़ चारों ओर खड़े रहनेके कारण बाहरके रास्ते बंद हो गये हैं। अब प्रजाका उच्छेद निश्चित है और मैं उसे देखनेके लिये जीते रहना नहीं चाहता। इसलिये मैं जलती आगमें कूदकर प्राण दे देना चाहता हूँ।'

रानी पतिके हृदयकी व्यथाको समझ गयी। उसने कहा—'स्वामिन्! आत्महत्या वीर पुरुषको शोभा नहीं देती। प्रजाको पालन करना हमारा धर्म है। धर्मकी रक्षाके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यदि इस प्रकार एक भी प्रजाका प्राण बचानेमें हम समर्थ होंगे तो हमारा जीवन सफल हो जायगा।'

इतना कहकर रानी वाक्पुष्टा भगवान्की प्रार्थनामें लग गयी। उसने निश्चय कर लिया कि या तो मैं आज भगवान्को संतुष्ट करूँगी या पतिसे पहले ही इस संसारका परित्याग करूँगी। वह घंटों प्रार्थना करती रही, अन्तमें भगवान्का हृदय पसीजा। काश्मीर राज्यमें आकाशसे भोजन-पदार्थोंकी अमित वर्षा होने लगी। दुर्भिक्षपीड़ित लोगोंने खाकर अपने प्राण बचाये। राजाका शोक दूर हो गया, साथ ही राज्यसे अकाल भी समाप्त हो गया।

रानी वाकपुष्टा दया और पुण्यकी मूर्ति थी। उसने गरीबों और ब्राह्मणोंके लिये स्थान-स्थानपर अन्न-सत्रका प्रबन्ध कर रक्खा था। राजाके मरनेके बाद रानी वाक्पुष्टा सती हो गयी। जिस स्थानपर रानी सती हुई थी, वह स्थान आज भी वाक्पुष्टावटीके नामसे प्रसिद्ध है।—गौ० द्वि०

वीराङ्गना रूपसुन्दरी

ईसाकी सातवीं सदीमें गुजरातमें पचासर नामक स्थान था। वहाँ गुजरातकी राजधानी थी। जयशिखर नामके राजा वहाँ राज्य करते थे। राजाने अपने राज्यको तरह-तरहसे समृद्ध बनानेकी चेष्टा की। प्रजा सम्पन्न हो गयी और राजधानी धन-धान्य, मणि-माणिक्य तथा सुवर्णसे भरी सुशोभित होने लगी। इस सारे वैभवके साथ-साथ राजमहलमें एक ऐसा अपूर्व रत्न था, जिसका प्रकाश बहुत दूर-दूरतक फैला हुआ था। वह अद्भुत रत्न राजा जयशिखरकी रानी—मुलतानकी राजकन्या रूपसुन्दरी थी। दिव्य सौन्दर्यके होते हुए भी रूपसुन्दरीमें अभिमान न था, वह विनयकी मूर्ति थी। सहिष्णुता, विवेक आदि गुण उसमें सहजसिद्ध थे। अपने रूप और गुणोंके कारण वह उस समय देश-विदेशमें सर्वत्र प्रसिद्ध हो रही थी।

गुजरातके समीप ही भुवड़ नामका एक राज्य था। वहाँका राजा गुजरातकी समृद्धि और रूपसुन्दरीकी ख्यातिसे ललच गया और अपनी सेना तैयार करके उसने गुजरातपर आक्रमण कर दिया। भुवड़की सैनिकशक्ति गुजरातसे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। अतएव युद्धके परिणामके विषयमें रूपसुन्दरीके मनमें आशङ्काएँ होने लगीं। परंतु उसने जयशिखरको युद्धमें लड़नेके लिये तैयार किया। युद्धसे भागना क्षत्रियका धर्म नहीं है। प्रजाकी रक्षाके लिये युद्धमें अपना प्राण न्योछावर करनेवाला राजा धन्य है! भुवड़राजके साथ सैन्यबल अधिक होनेके कारण जयशिखर पराजित हुआ और युद्धमें मारा गया।

रूपसुन्दरी गर्भवती थी। अतएव पतिके साथ चितापर जलना उसके लिये ठीक न था। अतएव गर्भकी रक्षाके लिये वह अपने भाईके साथ भागकर वनमें चली गयी। फिर भाईको तो लौटा दिया और आप घूमते-घूमते एक निरापद स्थानमें पहुँची। वहाँ एक गरीब भीलनीके यहाँ शरण लेकर रहने लगी और भीलनी फल-मूल देकर उसका भरण-पोषण करने लगी। वहाँ ही उसने एक पुत्र-रत्न प्रसव किया। वनमें रहनेके कारण उस बालकका नाम वनराज रक्खा गया।

भीलनी तथा अपनी माताकी वीर-कथाओंके बीच राजकुमार बढ़ ही रहा था कि इतनेमें एक संन्यासी एक दिन उस ओर आ निकले। उन्होंने रूपसुन्दरीको बच्चेके साथ अपने आश्रममें चलनेके लिये कहा। रानीने जब ठीक-ठीक पहचान लिया कि संन्यासी वास्तविक परोपकारी संत हैं, तब उनके साथ जानेके लिये तैयार हो गयी।

सन्यासीके आश्रममें रूपसुन्दरी और उसके बालक वनराजका जीवन बहुत सुखसे बीतने लगा। वनराज बढ़कर जवान हुआ। उसे सब प्रकारकी शस्त्रास्त्र-विद्या सिखलायी गयी। रूपवतीने एक दिन उसे भुवड़के राजासे अपने पिताका बदला लेनेके लिये उत्साहित किया। वनराज बहुत बहादुर निकला। उसने भीलोंकी सेना तैयार करके भुवड़राजपर चढ़ाई कर दी और राजाको पराजित कर अपने देश गुजरातको अधिकारमें कर लिया।

रानी रूपसुन्दरीने राज्य प्राप्त हो जानेपर भील-सरदार और संन्यासीको राजधानीमें बड़े सत्कारसे बुलाया और उन्हें अच्छी तरह सम्मानित किया। रानी रूपसुन्दरीकी कथा चारों ओर फैल गयी। रूपसुन्दरीने अपने बच्चेको वीर बनाकर पतिके द्वारा हारे हुए राज्यको पुनः प्राप्त किया और धीरे-धीरे गुजरातकी प्रजा पुनः समृद्ध हो गयी, और सुख-चैनसे दिन बिताने लगी। —गौ० द्वि०

सती देवस्मिता

धर्मगुप्त नामक एक वैश्य देवनगरीमें रहता था। उसकी कन्याका नाम देवस्मिता था। उसने अपनी कन्याको अच्छी तरह पढ़ाया-लिखाया था। देवस्मिता रूपवती, गुणवती और धर्मात्मा लड़की थी। उसका व्याह ताम्रलिप्ती नगरके मणिभद्र-नामक एक सुन्दर और धार्मिक युवकके साथ हुआ।

देवस्मिता पतिव्रता थी। घरका काम-धंधा सँभालनेके सिवा पति तथा सास-ससुरकी सेवा बड़े प्रेमसे करती थी। कोई अतिथि-अभ्यागत भी उसके यहाँसे विमुख नहीं जाता था।

कुछ समय बीतनेपर उसके ससुर मर गये। सारा गृहस्थीका भार मणिभद्रके ऊपर आ गया। वह व्यापार करनेके लिये विदेश चला और कटाह-नामक नगरमें जाकर वहाँ व्यापार करने लगा। दुर्भाग्यवश वहाँ उसे दो-चार दुराचारी और असभ्य लोगोंका साथ हो गया। एक दिन शराबके नशेमें वे स्त्रियोंकी निन्दा करने लगे। मणिभद्रको यह बात न रुची। वह बहुत बिगड़ा। उसने कहा—'तुमलोग झूठे हो। स्त्रियाँ देवी होती हैं। मेरी स्त्री पतिव्रता है, लोग उसे देवीकी तरह पूजते हैं।'

मणिभद्रकी यह बात उन दुष्टोंको खल गयी। उन्होंने मणिभद्रके घरका पता-ठिकाना लगाया और ताम्रलिप्तीमें जाकर छलसे मणिभद्रकी स्त्रीका सतीत्व नष्ट करनेका निश्चय किया।

इस दुष्ट निश्चयके साथ वे दुराचारी ताम्रलिप्ती आये और एक बौद्ध-मठमें ठहरे और वहाँ अपने दुष्कर्मको सिद्ध करनेके लिये जाल रचने लगे। उस मठमे एक बौद्ध संन्यासिनी रहती थी; उसे धनका प्रलोभन देकर उन दुष्टोंने अपने पक्षमे किया और उसके द्वारा देवस्मिताको अपने कुचक्रका शिकार बनानेके लिये घातमें बैठे।

वह बूढ़ी संन्यासिनी देवस्मिताके घर गयी। साध्वी देवस्मिताने उसका भलीभाँति सत्कार किया। संन्यासिनीने धर्मोपदेश करके पहले उसके हृदयमे अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। धीरे-धीरे दोनोमें काफी जान-पहचान हो गयी। संन्यासिनीने एक दिन मौका पाकर देवस्मिताके यौवन और पति-वियोगकी चर्चा चलायी। इससे देवस्मिताकी सहानुभूति बढ़ी। अन्तमें उस कुटनीने एक दिन देवस्मिताको अकेली देखकर उससे कहा कि हमारे मठमे चार नौजवान व्यापारी ठहरे हुए हैं। वे तुम्हारे विरहमें व्याकुल हैं। तुमसे भेंट करना चाहते हैं। कहो तो उनको यहाँ भेज दूँ।'

कुटनीकी इस बातको सुनकर देवस्मिता अवाक् हो गयी। उसे पता चल गया कि अबतक उसके यहाँ आने-जाने और मेल-जोल बढ़ानेमें दुष्टा संन्यासिनीका क्या उद्देश्य था। उसने मनमे सोचा कि पहले उन दुष्टोंको दण्ड देना चाहिये। इस-लिये कुटनीसे उसने हँसते हुए कहा—'अच्छा, आज शामको उन्हे यहाँ ले आना; मैं पूछूँगी कि वे मुझसे क्यों मिलना चाहते हैं।'

रातको जब सब सो गये तो एक-एक करके उन चारोको वह वृद्धा संन्यासिनी ले आयी। देवस्मिताने पहलेसे ही दो विश्वस्त नौकरोंको छिपा रक्खा था, और उनके हाथोमे गरम किये हुए लोहेके कुत्तेके पंजे दे रक्खे थे। उन दुष्टोने घरमे जैसे ही प्रवेश किया, अँधेरेमें नौकरोंने अपने पंजोसे उनके सिरोंको दाग दिया और उनको मकानसे बाहर ढकेल दिया। उनकी बड़ी दुर्दशा हुई, वे बिना कुछ कहे-सुने ताम्रलिप्तीसे सूर्योदयके पहले ही भाग खड़े हुए। उस कुटनी संन्यासिनीसे भी अपना समाचार कह सुनानेका उनको अवसर न मिला।

दूसरे दिन उस संन्यासिनीको बुलाकर देवस्मिताने खूब धमकाया और कहा—'क्यो री! क्या इस प्रकार लोगोंको पथ-भ्रष्ट करनेके लिये ही तूने संन्यासिनीका वेष धारण किया है? धिक्कार है तुझे! वेष साधुका रखती है और धंधा कुटनीका करती है। तेरे उन चारो बदमाशोको तो मैंने मजा चखा दिया है, अब तेरी बारी है। बोल, तेरी क्या गति करूँ, जिससे तेरे-सरीखी ढोंगी स्त्रियाँ सदाके लिये चेत जायँ।'

देवस्मिताका चण्डीरूप देखकर बुढ़िया काँप उठी, और उसके पैरोंपर गिर गयी। यह देख देवस्मिताकी सासको उसपर दया आ गयी, वह बीच-बचाव करने लगी। परंतु देवस्मिताने कहा—'नहीं, माताजी! इसे तो दण्ड देना ही चाहिये। क्योंकि दुष्टोंको उचित दण्ड न देनेसे पाप बढ़ता है और अन्तमे धर्मका लोप हो जाता है।'

अन्तमें देवस्मिताने उस बौद्ध मठके पुजारीको बुलवाया और संन्यासिनीकी सारी पोल खोल दी। बुढ़िया मठसे निकाल दी गयी। उसके बाद देवस्मिताके मनमे आया कि कहीं ये दुष्ट परदेशमे जाकर मेरे पतिसे अपना बदला न चुकावे। इसलिये उसने अपनी सासने आज्ञा ली और मर्दाना वेष धारण करके कटाह नगरमे जाकर अपने पतिकी दूकानके पास ही एक मकान लेकर ठाट-बाटसे रहने लगी। मर्दाने वेशमे रहनेके कारण उसका पति पहचान न सका। देवस्मिताने बुद्धिमानीसे पता लगा लिया कि उन चारो दुष्टोंने मणिभद्रके मनमे उसके प्रति बुरी धारणा पैदा कर दी है। उसने राजदरबारमे जाकर राजासे प्रार्थना की कि उसके चार गुलाम भागकर वहाँ आये हैं और नगरमे ठहरे हुए हैं। उनका पता लगाकर उसे वापस दिया जाय।

वहाँका राजा शूरसेन बड़ा धर्मात्मा और नीतिज्ञ था। परदेशी व्यापारीकी पुकार सुनकर उसने कहा—'तुम अपने गुलामोके नाम बताओ, उन्हे पकड़वाकर अवश्य तुम्हारे सुपुर्द कर दिया जायगा।'

इसपर देवस्मिताने उनके नाम बतलाये। वे सब-के-सब उस राज्यके प्रसिद्ध सेठ-साहूकारोंके लड़के थे। इसलिये देवस्मिताकी बात सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चारो नवयुवक सभामें बुलाये गये। राजाने पुरुषवेशधारी देवस्मितासे कहा—'देखो, तुम धोखा तो नहीं खा रहे हो। जिनको तुम गुलाम बता रहे हो, वे तो इस राज्यके धनी-मानी साहूकारोंके पुत्र हैं। इनका अपमान करनेके अपराधमें कहीं तुम न फँस जाना।'

देवस्मिता तनिक भी विचलित न हुई। वह बोली, मेरे दासोंके सिरमें कुत्तेके पंजेके चिह्न रहते हैं। इन लोगोंने पगड़ीके नीचे उन चिह्नोंको छिपा रक्खा है। आप इनकी पगड़ी

उतरवाकर देखें और बतावें कि ये मेरे दास हैं या नहीं।'

राजाकी आज्ञासे उन चारोंकी पगड़ियाँ उतारी गयीं तो उनके सिरपर सचमुच कुत्तेके पंजेके चिह्न दिखायी पड़े। उसे देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने उनसे बार-बार पूछा कि वे उन चिह्नोंके रहस्यको बतावें; किंतु लज्जाके मारे उनका सिर अवनत था, उनके मुँहसे एक शब्द भी न निकल सका।

अब देवस्मिताने उन पापियोंके सारे कुचक्रका भण्डाफोड़ कर दिया। यह सुनकर वह राजा उनके ऊपर बहुत बिगड़ा और उनको कारावासकी सजा दी। किंतु उनके माता-पिताने देवस्मिताके पैरों पड़कर क्षमा माँगी और उनके ऊपर दया करके उसने राजासे प्रार्थना करके उनकी सजा माफ करा दी।

राजा देवस्मितासे बहुत प्रसन्न हुआ और उसके पातिव्रत्य-की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। उसने देवस्मिताका सत्कार करके बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंके साथ ताम्रलिप्तीके लिये विदा किया। मणिभद्रने भी अपनी स्त्रीके पातिव्रत्यकी इस अद्भुत कहानीको सुना तो उसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई; उसके मनकी आशङ्काएँ दूर हो गयीं और वह भी उसके साथ अपने घर लौट गया।

मणिभद्रकी माँने जब ये समाचार सुने तो उसका हृदय गद्गद हो गया। उसने अपनी पुत्रवधूको छातीसे लगाकर अपने हृदयके आवेगको शान्त किया और प्रसन्न होकर कहा—'बहू! तू सचमुच देवी है। भगवान् तेरे सौभाग्यको सदा अचल रक्खे। तेरी-सी देवियोंसे ही स्त्रीजाति गौरवसे सिर उन्नत करती है।

नगर और राज्यमें देवस्मिताके इस साहस, पातिव्रत्य-प्रेम, धर्मप्रियता और कुशलताकी कहानी सर्वत्र फैल गयी। सब धन्य-धन्य करने लगे।—गौ० द्वि०



सती मयणल्ल देवी

सातवीं सदीमें चालुक्योंकी सार्वभौम राजसत्ता सारे दक्षिण-भारतपर स्थापित हो गयी थी। पुलकेशी द्वितीय और महाराज हर्षवर्धनमें 'भारतका सम्राट्' पद पानेके लिये प्रतिद्वन्द्विता चला करती थी। ग्यारहवीं सदीमें चालुक्य राजा भीम गुजरातमें राज करता था। वह महारानी उदयमतीको प्राणसे भी बढ़कर चाहता था। उदयमतीके पुत्रका नाम कर्ण था। कर्णकी मातृभक्ति इतनी प्रसिद्ध थी कि लोग महाभारतके कर्णका स्मरण कर उसे अभिनव कर्ण कहा करते थे। कर्ण सन् १०२२ ई०में गद्दीपर बैठा। उसकी राजमहिषीका नाम मयणल्ल देवी था, जिसने सौजन्य और पातिव्रत-धर्मसे राजा-को अपने वशमें कर लिया।

मयणल्ल देवी चन्द्रपुरके राजाकी कन्या थी। वह चालुक्यनरेशकी वीरतापर मुग्ध थी। राजा अत्यन्त सुन्दर भी था। राजकन्याने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं कर्णसे ही विवाह करूँगी, अन्यथा कुमारी रहूँगी। मयणल्ल कुछ-कुछ कुरूपा और मोटी थी। उसके पिता रात-दिन उसके विवाहके लिये चिन्तित रहा करते थे। परंतु उपाय निकल ही आया।

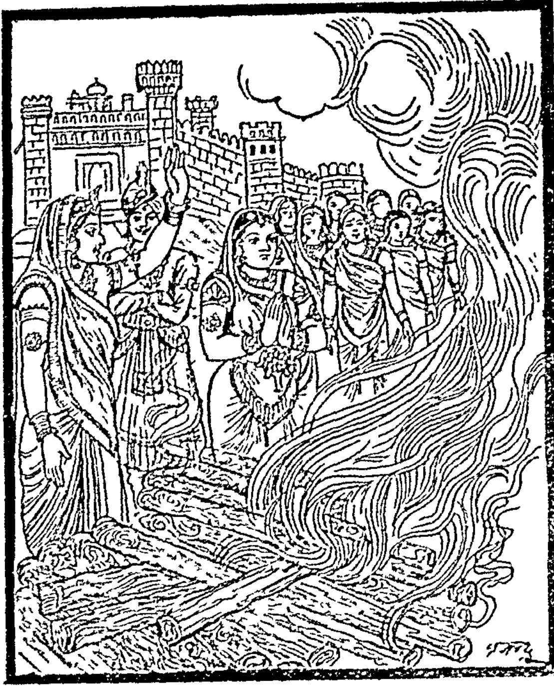
एक बार कर्णकी राजसभामें एक चित्रकारने कादम्बराज जयकेशीकी कन्याका चित्र दिखाया और कहा कि इसका नाम मयणल्ल है। उसने कहा 'यह आपके साथ विवाह करना चाहती है। इसने आपके लिये एक हाथी भेजा है।'

राजा मन्त्रियोंके साथ हाथी देखनेके लिये बाहर आया, परंतु वह आश्चर्यचकित हो उठा। हाथीपर मयणल्ल स्वयं बैठी थी। राजाने उसके साथ विवाह करनेसे इनकार कर दिया।

राजकुमारीने सादर अभिवादन कर कहा, 'आर्यकन्या जिसे एक बार अपना पति चुन लेती है, वही उसके जीवनका सहारा हो जाता है। यौवन, सौन्दर्य आदि तो संसारकी मानी हुई वस्तुएँ हैं। जब मानव संन्यास-पथपर यात्रा करता है तो वह सुन्दरी-से-सुन्दरी प्रियतमाको माता कहकर ही सांसारिक बन्धन तोड़ता है। यदि आप विवाह न करेंगे तो मैं संसारमें जीवन धारण करनातक तुच्छ समझती हूँ। जब मैंने हृदय-सिंहासनपर आपको बैठा लिया है तो दूसरेका सपनेमें भी खयाल करना महापाप है।'

इन बातोंसे राजाका मन प्रभावित न हो सका। अन्तमें उस राजबालाने अपनी आठ सहेलियोंके साथ चितामें जलकर सती होनेमें ही अपने व्रत-पालनका सुगम मार्ग देखा।

एक बहुत बड़ी चिता तैयार की गयी। मयणल्ल चिता-में प्रवेश करनेवाली ही थी कि कर्णकी राजमाता उदयमतीने गुण-ग्राहकता और वास्तविक मातृत्वका परिचय दिया। उसने



कर्णको समझाया कि 'सौन्दर्य और रूपसे अधिक मूल्यवान् हृदय होता है । सुन्दर हृदय ही असली सौन्दर्य है । मयणल्लका हृदय पातिव्रत-धर्मसे अत्यन्त शुद्ध हो चुका है । उसका तिरस्कार करना या उसे निराश करना सर्वथा अनुचित है । यदि तुम विवाह न करोगे तो मैं स्वयं चितामें जलकर प्राण दे दूँगी ।'

कर्णका पत्थर हृदय माताके कठोर व्रतसे पिघल उठा । राजकुमारीका विवाह हो गया । मयणल्लने अपने सुन्दर और सुशील स्वभावसे कर्णको अपने वशमें कर लिया । राजामात्य मुञ्जालकी सहायतासे उसने राज्यप्रबन्धमें भी काफी योग दिया । मयणल्लको कालान्तरमें सिद्धराज नामक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ । चालुक्योंकी मान-प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ानेमें कुमार सिद्धराजका बहुत बड़ा हाथ था । मयणल्लने उसे बचपनसे ही राजोचित गुणोंसे अलङ्कृत करना आरम्भ कर दिया था । मयणल्लके मातृत्वने आगे चलकर सिद्धराजको महाराजाधिराज बना दिया ।

मयणल्लका नाम चालुक्योंके इतिहासमें अमर है । उसने आदर्श पातिव्रतका पालन किया । वह मातृत्व, पातिव्रत और सतीत्वकी प्रतीक थी । —रा० श्री०

सती वीराङ्गना रानीबाई

हिंदू-जाति विश्वकी आदिकालीन सभ्य जाति है । विश्वको सभ्यताकी शिक्षा देनेवाला देश हिंदुस्थान है । चीन, सीरिया, अरब, रोम, यूनानकी सभ्यताके राजप्रासादकी नींव इसी गौरवशाली देशने रक्खी थी । जब हम जलती चिताओंकी लाल लपटोंका स्मरण करते हैं, उनमें सर्वस्व स्वाहा कर देनेवाली नारी-रत्नोंकी कहानी पढ़ते हैं, तो मस्तक श्रद्धासे झुक जाता है, मातृत्वका सच्चा भाव हृदयमें भर उठता है । जो देश अपनी नारियोंकी वीर-गाथाओं और आदर्श चरित्रके इतिहासकी ओर ध्यान नहीं देता, वह कुछ ही दिनोंमें पतित हो जाता है । उसकी सभ्यता और संस्कृतिका दीवाला निकल जाता है । यह हमारे परम सौभाग्यकी बात है कि हम अपने नारियोंके पवित्र और अनुपम चरित्रकी पूजा करते हैं । जबतक हिंदू-जाति वीर नारियोंके सतीत्वका बखान करती रहेगी, उसे दुनियाकी बर्बर-से-बर्बर जाति भी मिटानेका दुस्साहस नहीं कर सकती । सती रानीबाईके चरित्रपर यदि सावधानीसे विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वह मध्यकालीन भारतकी पहली सती स्त्री थी, जिसने चितामें जलकर हिंदू-रमणियोंके सामने आदर्श उपस्थित कर दिया कि देश, जाति और धर्मकी रक्षाके लिये फूलोंकी सेजपर सोनेवाली नारी किस तरह अपना सर्वस्व अग्निदेवकी पूजामें चढ़ा सकती है । रानीबाई महाराज दाहिरकी राजरानी थी । कुछ इतिहासकारोंका कहना है कि दाहिरकी राजपत्नीका नाम 'लाड़ी' था, लेकिन 'चाचनामा'का लेखक उसे रानीबाई लिखता है और दाहिरकी राजमहिषीको इतिहासकी दृष्टिसे 'रानीबाई' कहना अधिक युक्तिसङ्गत दीखता है ।

हिंदुस्थानपर यवनोंके आक्रमण आठवीं सदीसे ही आरम्भ हो गये थे । तुर्कोंके हमलोंके बहुत पहलेसे ही हिंदुस्थान तथा पश्चिमी यूरोपपर अरबोंने इस्लामकी पताका फहरानेका यत्न किया और यूरोपमें तो वे कुछ अंशतक सफल भी रहे, लेकिन हिंदुस्थानमें उनकी न चली । इतिहासकार लेनपूल लिखता है कि हिंदुस्थानके इतिहासमें अरबोंका क्षणिक आधिपत्य एक कहानी और इस्लामके इतिहासमें एक असफल विजय थी, जिसका परिणाम स्थायी न रह सका । सन् ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिमने बगदादके खलीफाका आदेश पाकर हिंदुस्थानपर हमला किया । देवलको उजाड़कर उसने वीरान कर दिया, मन्दिरकी पवित्रता नष्ट कर दी । उसके बाद नैरन पहुँचा, एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार करवाकर उसने सिंध नदी पार करनेकी योजना बनायी । राजा दाहिरने उसका सामना करनेके लिये सेना तैयार की । उसकी राजधानी आलोर नगरमें थी, लेकिन वह रावारके दुर्गसे हमला करना उचित समझता था । वह अपने पुत्र जयसिंह और पत्नी रानीबाईको लेकर रावारके किलेमें चला गया । दाहिर और उसके 'ठाकुरों'ने

युद्ध किया। अलबिलादरीका कहना है कि 'इतना बड़ा विकट संग्राम इतिहासमें और पहले कभी नहीं सुना गया था। दाहिर हाथीपरसे उतरकर युद्ध करने लगा। लेकिन सायंकाल होते-होते मारा गया। राजपूत बड़ी वीरतासे लड़े।

जब रानीको पतिकी मृत्युका समाचार मिला तो उसका चेहरा क्रोधसे लाल हो गया। उसने यवनोंका अन्त कर देनेके लिये म्यानसे तलवार खींच ली। चाचनामामें लिखा है कि पंद्रह हजार सैनिकोंको लेकर रानीने यवनोंको रौंदना आरम्भ कर दिया। भयङ्कर मार-काट होने लगी, लेकिन वह बहुत देरतक अरबोंके सामने न ठहर सकी। रानी लड़ती जाती थी और वीर सैनिकोंके हृदयमें उत्साह भी भरती जाती थी कि 'वीरो! आगे बढ़ते चलो, धर्मद्रोहियोंको इस पवित्र भारतभूमिसे निकालकर बाहर कर देना प्रत्येक हिंदूका धर्म है। गो-ब्राह्मण और आर्यधर्मकी रक्षा करनेसे ही हम सभ्य राष्ट्रोंके सामने अपनी उन्नतिशील सभ्यता और गौरवमयी संस्कृतिका बखान कर सकेंगे।' पहले तो ऐसा लगता था कि राजपूत मैदान मार ले गये, लेकिन अन्तमें किलेपर अरबोंका आधिपत्य स्थापित हो गया।

राजमहिषीने देखा कि किला दुश्मनोंके हाथमें पड़ चुका है, उसे अन्तिम कर्तव्य स्थिर करनेमें कुछ भी देर न लगी। उसने किलेकी तमाम नारियोंको सामने बुलाकर कहा कि 'गो-हत्यारोंके हाथमें हमारी स्वाधीनता चली गयी है, हमें किसी भी हालतमें उनकी दासतामें नहीं रहना है। अपना सतीत्व भङ्ग कराकर पराधीन जीवन बिताना हमारे लिये कभी भी शोभन नहीं है। हमलोगोंके पति स्वर्गमें राह देखते होंगे और प्रतीक्षा करते होंगे। हमें वीर-नारियोंकी तरह अपना धर्ममूलक कर्तव्य पालन कर वहाँ शीघ्र ही चलना चाहिये।'

यह विवरण कपोलकल्पित नहीं है, चाचनामाके लेखकने इसे बड़े लंबे-चौड़े रूपमें दिया है। हिंदू-रमणियोंने रानीको विश्वास दिलाया कि हम सब अग्निदेवताके हाथोंमें अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिये तैयार हैं।

एक बहुत विशाल अग्निकुण्ड तैयार कराया गया। रक्त वस्त्र पहनकर राजरानी जलती चितामें ईश्वर और धर्मको साक्षी देकर कूद पड़ी। आग दहक रही थी। उसकी शिखाएँ आकाशसे बातें कर रही थीं। ज्वालामयी आर्यविजयकी प्रतिनिधिकी तरह रानीबाई पतिसे मिलने स्वर्ग चली गयी। सैकड़ों स्त्रियोंने उसी तरह अपने-आपको होमकर रानीके सहगमनका आनन्द अनुभव किया।

आलोर और रावार दोनों नगर तेजस्विनी सती रानीबाईके स्वर्गगमनसे श्मशान बन गये। वह मध्यकालीन भारतीय सतियोंकी पथ-प्रदर्शिका थी। वह आदर्श सती, वीर नारी, कुशल सेनासंचालिका और राजोचित गुणोंसे सम्पन्न राजरानी थी। —रा० श्री०

सती-महिमा

(रचयिता—श्रीकविकिङ्करजी 'चित्र')

(१)

जो नर सती-हृदयका करते हैं कुछ भी अपकार।
वे पामर हैं, ईश्वरसे ही करते द्रोह अपार॥
जगज्जननि है सती, सती है करुणामयी अनूप।
जगकी गति है सती, सती है हरिका स्वयं स्वरूप॥
इससे नहीं सतीका कोई करे कभी अपमान।
वह देवी है, सुर भी उसका करते हैं गुणगान॥

(२)

सती तेजसे दमक रहे हैं—कलानाथ, निशिनाथ!
सती तेजसे दमक रहे हैं—तमहारी दिननाथ!
सती तेजसे जग तेजोमय होता नित्य नवीन!
सती न हो तो यह जग होवे क्षणमें यहीं विलीन!
सती तेजसे अवनि, फलोंसे होती शोभावान!
वह देवी है, सुर भी उसका करते हैं गुणगान!

(३)

सती जहाँ रहती है—वह घर होता तीर्थ-स्वरूप।
सती हृदयकी पूजा करते होकर देव अरूप!
सती हृदयका जो पामर नर करता है अपकार!
रावणकी नाईं उसके कुलभरका हो संहार॥
नहीं दबा सकता है कोई सती-हृदय बलवान।
वह देवी है सुर भी उसका करते हैं गुणगान॥

(४)

जहाँ सती रहती है—बहता सुधा-समान समीर।
नहीं वहाँ कोई हो पाते रोग, शोक, दुख, पीर॥
भयहारिणी भवानी रहती वहाँ अलक्षित रूप।
नहीं सता सकते हैं उसको कोई भी नरभूप॥
उस गृहिणीकी रक्षा करते स्वयं विष्णु भगवान।
वह देवी है, सुर भी उसका करते हैं गुणगान॥

सती रानी उर्मिला



स्वाधीनता-संग्राममें सर्वस्वकी बलि देनेवाली भारतीय नारियोंकी वीर-गाथाएँ सैकड़ों सालसे हमारे रक्तमें प्रवाह और भुजाओंमें शक्ति उत्पन्न करती आ रही हैं। जिस समय एकाग्रचित्तसे हम उनकी जलती चिताओं और सतीत्व-रक्षाकी कीर्तिमयी कहानियाँ कहते-सुनते हैं, हमारे हृदयोंमें पवित्र भाव भर उठते हैं।

ग्यारहवीं सदीका अन्तिम चरण था, महमूद गजनवी हमलोंपर हमले कर देव-मन्दिरोंकी पवित्रतापर गदाघात कर रहा था। सोमनाथका विशाल मन्दिर उसकी कुख्यातिका सजीव स्मारक-सा गुजरातकी छातीपर खड़ा था। राजा जयपालकी रानियोंका सतीत्व वातावरणमें घोषणा कर रहा था कि हिंदू-जाति म्लेच्छोंको अपने पवित्र देशमें कभी प्रश्रय नहीं देगी। इसी समय अजमेरका राजा धर्मगजदेव अपनी वीरता और न्यायपरताके लिये बाहरके देशोंमें भी प्रसिद्ध हो चुका था। उसकी रानी उर्मिला पतिभक्ति और सतीत्वकी एक सजीव मूर्ति ही थी। वह अत्यन्त सुन्दरी और शीलवती थी। राजाको राज्यप्रबन्धमें यथाशक्ति सहयोग देती थी। अचानक महमूद गजनवीने अजमेरपर आक्रमण कर दिया। राजाका अपराध केवल इतना ही था कि जिस समय म्लेच्छोंने सोमनाथ-मन्दिरकी मूर्तिपर गदा-प्रहार किया, राजाने मुसल्मानोंसे विकट युद्ध किया था। इसीका बदला लेनेके लिये महमूद मौका देख रहा था।

ऐसे अवसरपर भारतीय नारियोंने नारी-धर्मका पालन किया, कन्याओंने कन्याव्रत निबाहा, सारा-का-सारा राष्ट्र विदेशियोंको देशसे बाहर निकाल देनेके लिये उठ खड़ा हुआ। रानी उर्मिलाने भी अपने वीर हृदयका परिचय दिया। उसने राजासे कहा कि 'प्राणनाथ! मैं भी आपके साथ रणमें चलना चाहती हूँ। मेरा स्थान सदा आपकी बायीं ओर है।' राजा धर्मगजदेव रानीके इन उद्गारोंसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सादर कहा, 'प्रिये! तुम्हें रणमें साथ ले चलनेमें मुझे आपत्ति नहीं है; लेकिन मेरी अनुपस्थितिका यह जोरदार तकाजा है कि अजमेरके प्रबन्धके लिये मैं तुम्हें यहीं छोड़ दूँ।' रानीने भी राजाका संकेत समझ लिया और उसने फिर आग्रह न किया। उसने राजाको रणके लिये सहर्ष विदा किया।

रण-प्रस्थानका बाजा बज उठा। राजपूत ऐसी वीरतासे लड़े कि शत्रुओंके छक्के छूट गये। एक यवनके तीरने राजाको जीवनरहित कर दिया। उसके परलोक-गमनसे राजपूत-सेनामें भीषण हाहाकार मच गया। सायंकाल राजाका शव किलेमें लाया गया। नारियोंने शवपर पुष्पवर्षा की। अन्तमें एक विशाल चिता तैयार की गयी। रानीने अन्तिम कर्तव्य-पालन किया। पति-पत्नी दोनों-के-दोनों एक ही साथ स्वर्ग चले गये। राजरानी उर्मिलाके पातिव्रत-धर्म-पालनने भारतीय नारियोंके लिये सतीत्वका जीता-जागता आदर्श दिया है। स्त्रीत्वकी कसौटी सतीत्व है। —रा० श्री०

वीराङ्गना कर्मदेवी

बात है उस समयकी, जब मेवाड़के राजा समरसिंहकी पत्नी पृथा अपने पतिके साथ सती हो गयी थी और उनकी दूसरी पत्नी कर्मदेवी नाबालिग पुत्र कर्णकी संरक्षिका बनकर राज-काज सँभाल रही थी। मुहम्मद गोरीके सेनापति कुतुबुद्दीनने अपनी विशाल सेना लेकर वीरभूमि मेवाड़पर आक्रमण कर दिया। उस समय उनकी शक्तिको रोकनेकी क्षमता किसीमें नहीं थी। राजपूत चिन्तित हो गये।

'मेवाड़की रक्षा कैसे होगी, मा!'—राजपूत-सरदारने कहा।

'आज यह प्रश्न आपके मनमें कैसे उठा, सरदार? आज मेवाड़के राजपूतोंमें मातृभूमिकी रक्षा करनेके लिये प्रतिक्षण

बद्धपरिकर रहने और मर-मिटनेवाले वीर राजपूतोंका रक्त नहीं रह गया क्या ?' राजमाताने उत्तर दिया ।

सरदार कहने लगे—'हममें सब कुछ है, माता ! जीवन तो हमारा हथेलीपर है । आपके भ्रू-सङ्केतपर राजपूतोंकी लोथें-ही-लोथें दीख जायँगी, पर महाराजकी अनुपस्थितिमें हमारा नेतृत्व कौन········? यही चिन्ता है, मा ।'

'इसकी तनिक भी चिन्ता न करो, सरदार !' राजमाताने जोशसे कहा । 'उनकी वीरपत्नी मैं अभी जीवित हूँ । मैं शत्रु-दलका संहार करनेके लिये चण्डी बन जाऊँगी । जाओ, युद्धकी तैयारी करो ।'

राजपूतोंकी धमनियोंका प्रवाहित रक्त उष्ण हो उठा । क्षणभरमें ही झूमती हुई राजपूतसेना राजमाताके सामने आ डटी । प्रत्येक सैनिकके तनमें, मनमें, रोम-रोममें विश्वास;—शक्ति और विजयका दृढ़ विश्वास था ।

पठानोंके सामने आते ही कर्मदेवी अपने वीर सैनिकोंके



साथ उनपर क्षुधार्त्त सिंहिनीकी भाँति टूट पड़ी । मुसल्मान गाजर-मूलीकी भाँति कटने लगे । समरभूमिमें रक्तकी सरिता प्रवाहित हो गयी । पराजित मुसल्मान छुकते-छिपते प्राण लेकर भागे । वीराङ्गना कर्मदेवीने मेवाड़पर आँच भी नहीं लगने दी । —शि० दु०

कृषक-बाला

(रचयिता—कुँवर श्रीइन्द्रपालसिंहजी 'इन्द्र')

खींचता हूँ आज एक चित्र, अतिशय विचित्र ,
भारत-गत-गौरवका, वैभवका, यशका ,
राजपूत-नारीके शौर्यका, प्रतापका ,
नम्रताका, शीलताका और वाक्पटुताका ,
कार्यकी प्रवीणताका, अतिशय चपलताका ,
जो है अति ओजपूर्ण, तेजपूर्ण औ पवित्र ।
साथ ही महान्, इतिहास मध्य भासमान ,
वीरभूमि मेवाड़के गौरवका एक गान ,
कवियोंकी कल-कविताकी मंजुताका प्राण ।

आसीन थे चित्तौड़के शुभ्र-पादपीठपर—
राणा लक्ष्मणके सपूत, बलमें अकूत ,
रणनीति-पारंगत, राजधर्म-नीतियुत ,
सर्वकलादक्ष, प्रजाप्रिय अरिसिंहजी ।

करने आखेट एक दिन गये वीरवर—
साथ सामन्त, सहयोगी नृपभक्त थे ।
बना एक शूकरको लक्ष्य निज शिलीमुखका
भगे रणधीर, वीर नृप अरिसिंह; किंतु
एक क्षेत्र मध्य हुआ शूकर प्रविष्ट शीघ्र ।
करने प्रवेश लगे ज्यों ही अश्वारोही वीर
क्षेत्रमध्य शूकरका पीछा करते हुए ,
आके कहा कान्तकाया कृषक-कुमारीने—
नम्रता, विनयसे तथा लज्जावनत होके—
'देव ! इस काल क्षेत्र-रक्षिका हूँ मैं यहाँ ,
करिये विनष्ट नहीं मेरे इस क्षेत्रको ;
आपके सुलक्ष्यको मैं सत्वर ही लाती हूँ ।'

देखा अरिसिंहने मधुरिमा थी मुखपर ,
पंकजसे नयनोंमें विनय सुहाती थी ;
साथ ही भरी थीं आर्द्रता और लज्जा भी ।
शुष्क अलकें थीं पड़ी पुष्ट पृष्ठ-भागपर ,
जो थीं नितम्बोंतक लटकी हुई तथा
जिनमें गुँथे थे मंजु पुष्प विविध भाँतिके ।

उन्नत-उरोजोंपर रक्तिम-प्रभासे पूर्ण
रत्तिकाका हार लहराता भाग्यवान हो।
मस्तक प्रशस्तपर सिन्दूर-विन्दु था।
अंग-प्रत्यंग था सुपुष्ट, सुगठित तथा
सौन्दर्य रोम-रोम मध्य व्याप्त हो रहा
मानो रति-रूपको चुरा करके लाई हो।

सुन षोडशीके मधुसिक्त वचनोंको नृप
स्वीकृतिसे बोले 'उक्ति ठीक है तुम्हारी यह।'
तब तो तुरंत चढ़ निकटस्थ मंचपर,
लेके कर यष्टि, बना तीव्र, चढ़ा धन्वापर,
श्रवणोंतक खींच मारा शूकरके गातमें—
और मृत-गात्र लाके पटका नृप सामने।
मुग्ध होके राणाने सराहना की वीरताकी,
और कहा 'होगी यह वीरकी प्रसूता मा।'

क्षेत्रके समीप एक रम्य-वाटिकाके मध्य
भूपतिने भोजनकी अपने व्यवस्था की।
किंतु कुछ क्षणके अनन्तर ही एक गोल
लगा नृप-अश्व-जानु मध्य अति जोरसे।
लगते ही अश्व चेतनासे हीन हो गया।
जिसे लख अरिसिंह निष्प्रभ-से हो गये।
चकित, अवाक्, शान्त, चित्रस्थ-से बने
हयको विलोकते ही रह गये भूपवर।

इतनेमें आयी वह बाला करबद्ध होके,
और नम्रतासे कहा—'मेरा अपराध है।
रक्षा कर रही थी वन्य पशुओंसे क्षेत्रकी मैं,
लक्ष्य चूकनेसे हाय! लगा हय-गात्रमें—
कीजिये क्षमा-प्रदान यद्यपि मैं दोषी हूँ।'
नेत्रोंमें विनय, विवशता लिए थी वह।
देखकर नम्रता महान् नृप मुग्ध हुए—
मनमें विचारा, 'यह बाला वरणीय है।'
और कहा, 'देवी! यह व्यर्थकी विवशता है—
करकी असावधानीमें तुम्हारा दोष क्या?'
आश्वासित होके बाल तत्क्षण चली गयी।*

दूसरे दिवस अरिसिंहने पता लगाया
बालिका चँदाणे राजपूतकी थी सुन्दरी—
और गए उसके जनक पास 'ऊनवा',
किया प्रस्ताव निज शादीका सँकोचसे।
सुन भूप-वचन सहर्ष बोला राजपूत—
'अहा मम आत्मजा अमित भाग्यवान है।'
फिर शुभ लग्न शोध कन्याका विवाह किया।
यही बालिका थी हम्मीरजीकी पूज्य मा,
जो कि चित्तौड़-इतिहास मध्य थे प्रसिद्ध;
क्योंकि वे अतिशय ही श्रेष्ठ और वरेष्ठ थे।

—oo✻oo—

राणा हम्मीरकी वीर पत्नी

अलाउद्दीनने चित्तौड़का किला जीतकर राजा मालदेवको सौंप दिया। राणा लक्ष्मणसिंहने चित्तौड़ हाथसे निकल जानेपर अपना निवासस्थान आंदावा नामक जंगलमें ही बनाया था। उसके बाद अरिसिंह गद्दीपर बैठा, उसके वीर पुत्र हम्मीरने उस समय हिंदुओंको विधर्मियो और [illegible] अत्याचारसे बचाया। उस समय वही हिंदुओंका [illegible] था। राजा अरिसिंहकी रानी बड़ी वीरहृदया थी। उसकी वीरताका परिचय एक बार शिकारके अवसरपर राजा अरिसिंहको मिला था। वीर माताकी सन्तान वीर ही होती है।

राणा हम्मीर चित्तौड़से [illegible] वको निकाल-कर सम्राट् अलाउद्दीनको [illegible] था। हम्मीर और मालदेवमें शत्रुता [illegible] हम्मीरके पास

* अरिसिंह लौट रहे थे [illegible] बालासे भेट हो गयी। सिर
भैंसोंकी साँकल पकड़े यह [illegible] थी। राजकुमारके [illegible]
कन्याको आज छकाना चाहिये। [illegible] दौड़ाया, इस [illegible]
घड़ा गिर जाय। कृपक-बाला [illegible] यी और जरा [illegible]
मारी कि पलक मारते-मारते वह [illegible] समेत चित्त [illegible]

नारियल भेजा और कहलाया, 'मेरी कन्या आपसे विवाह करना चाहती है।' राजपूतोंने हम्मीरपर दबाव डाला कि यवन बादशाहके दासकी कन्यासे विवाह करना मेवाड़के राणाकी प्रतिष्ठा और गौरवके विरुद्ध है। परन्तु हम्मीर तो चित्तौड़की पवित्र भूमिका दर्शन करना चाहता था; वह तो मातृभूमिके मन्दिरको देखना चाहता था, जिसमें सती पद्मिनीके साथ असंख्य स्त्रियोंने आत्म-यज्ञ कर पतिलोकमें गमन किया। उसने विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और निश्चित तिथिपर चित्तौड़के लिये कुछ सैनिकोंके साथ चल पड़ा।

उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि विवाहकी कुछ भी तैयारी नहीं थी। उसे यह बात समझनेमें देर न लगी कि उसके साथ धोखा किया गया है और उसे नीचा दिखाने-के लिये ही यह सब आयोजन और षड्यन्त्र रचा गया है।

विवाह-संस्कारके बाद आधी रातके समय वधू उसके सामने लायी गयी। उसने राणा हम्मीरसे एकान्तमें उसी समय कहा, 'महाराज! दासीको क्षमा करें, मेरा सौभाग्य कहाँ जो आपकी अर्धाङ्गिनी बनूँ?' और इसके बाद वह दूर खड़ी हो गयी। राणाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कारण पूछा। उस नव-परिणीता वधूने कहा, 'महाराज! शत्रुकी कन्या होनेसे ही मैं आपके योग्य नहीं हूँ, ऐसी बात नहीं है; वे आपके शत्रु हुए तो क्या? लेकिन एक और बात है। यद्यपि यह बात तो है ही कि जिन यवनों-का नाम सुननेसे मेरा शरीर जलने लगता है, उन्हींकी अधीनता स्वीकारकर मेरे पिताने चित्तौड़के सिंहासनको कलङ्कित किया है, तो भी विवाह-सम्बन्धमें कुछ भी आपत्ति उठनेकी बात नहीं है; लेकिन मुझे बतलाया गया है कि मैं बाल-विधवा हूँ। जब मैं छोटी थी तभी मेरा विवाह भट्टीवंशके किसी सरदार-से कर दिया गया था, जिसका मुझे नाममात्रको भी स्मरण नहीं है। आपको धोखा देने और चित्तौड़को कलङ्कित करनेके लिये ही यह विवाह गुप्त रक्खा गया। मेरा चित्त कुमारीकी तरह विशुद्ध है। आप जैसा उचित समझें, करें।' राणा-हम्मीरका शरीर क्रोध और अभिमानके कारण काँपने लगा। मालदेवके विश्वासघातपर उसे बड़ा दुःख हुआ; परंतु इस राजकन्याकी सरलता, सादगी, स्वार्थत्याग-भावनासे वह प्रसन्न हो उठा। उसकी तेजस्विता और स्वाभाविक कोमलताने राणाका मन अपने वशमें कर लिया। राणाने कहा, 'तुम्हारी-जैसी वीरबाला इस संसारमें दुर्लभ है।'



'मैंने देवता और ब्राह्मणोंको साक्षी देकर जिस राजकन्या-का पाणिग्रहण किया है, उसका हाथ छोड़ देनेसे ही राणाका वंश कलङ्कित होगा' यह सोचकर राणाने उसे स्वीकार कर लिया और उस वीरपत्नीके कहनेसे उसने जाल नामक सरदारको दहेज-में माँग लिया। वह जानती थी कि जालके न रहनेसे मालदेव-की हानि होनेकी सम्भावना है। फिर भी उसने देश-कल्याणके आगे व्यक्तिगत स्वार्थकी तिलाञ्जलि दे दी।

एक बार चित्तौड़के क्षेत्रपाल नामक देवताको मनौती चढ़ानेके लिये वह अपने पुत्रको लेकर चित्तौड़ आयी। मालदेव पुत्रोंको साथ लेकर किसी युद्धमें जा रहा था। रानी-ने राजपूतोंको यवनोंके विरुद्ध प्रोत्साहित किया। हम्मीर भी एक सेना लेकर आ पहुँचा, मुसलमानोंसे विकट युद्ध हुआ और चित्तौड़ राजपूतोंके अधिकारमें आ गया। मालदेवने भी लौटकर किसी प्रकारकी आपत्ति न की और चित्तौड़ उसने अपने दामादको सौंप दिया। इस काममें मालदेवकी कन्याका बड़ा हाथ था। चित्तौड़पर राजपूतोंकी स्वतन्त्र पताका फहराने लगी।

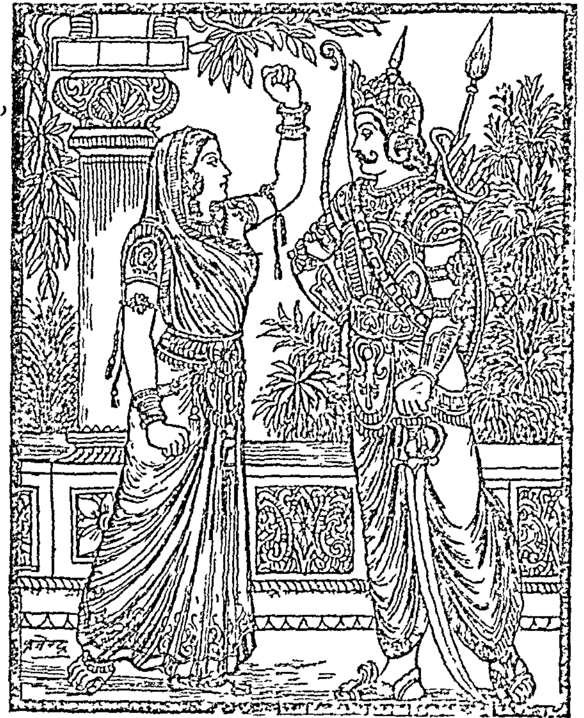
—रा० श्री०

सती संयोगिता

संयोगिता महाराज पृथ्वीराज चौहानकी रानी थी। उसके सतीत्वकी कहानी, पातिव्रत्यकी गाथा और वीरत्वकी कथा प्रत्येक भारतीय घरमें कही जाती है। उसके स्वयंवरकी घटनाका स्मरण होते ही रोमाञ्च होने लगता है। उसे अभिनव दमयन्ती कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। जिस तरह महाराज नलकी सेवामें ही दमयन्तीने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, उसी तरह भारतके सम्राट् पृथ्वीराजकी पटरानीने महान् पातिव्रत्य-धर्मका परिचय दिया।

बारहवीं सदीके हिंदुस्थानमें कन्नौजके राजा जयचंद और पृथ्वीराज दिल्लीपति सार्वभौम सम्राट् होनेकी बलवती इच्छा कर एक दूसरेसे निपटनेकी तैयारी कर रहे थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि पृथ्वीराजकी वीरता और शासन-दक्षतापर मुग्ध होकर उनका नाना अनङ्गपाल मरते समय उनको अपना राज्य दे गया था। इस तरह पृथ्वीराजकी राजसत्ता अजमेर और दिल्ली दोनों राज्योंमें स्थापित हो गयी और पृथ्वीराजका मौसेरा भाई जयचंद केवल कन्नौजका ही अधिपति हो सका। इस समय गोरीका आक्रमण हो रहा था, जयचंद पृथ्वीराजको नीचा दिखानेका उत्तम अवसर देखकर सेना सुसज्जित करने लगा। जयचंदने पृथ्वीराजको सम्राट् माननेसे इनकार कर दिया। टाड लिखता है कि वह स्वयं अपने आपको चक्रवर्ती सम्राट् घोषित करना चाहता था। उसने कई राजाओंको अपनी ओर मिलाकर एक बहुत बड़े राजसूय-यज्ञका आयोजन किया, जिसमें भारतवर्षके प्रायः सभी नरेश सम्मिलित थे। समरसिंह और पृथ्वीराजकी प्रतिमाएँ द्वारपालके स्थानपर रख दी गयीं। जयचंदने यह घोषणा करवा दी थी कि इसी यज्ञमें उसकी बहिन संयोगिता स्वयंवर करेगी। यथासमय संयोगिता स्वयंवरमें पहुँची। संयोगिता तो मन-ही-मन पृथ्वीराजको आत्मसमर्पण कर चुकी थी। उसने पृथ्वीराजकी प्रतिमाके गलेमें माला डाल दी। जयचंद आगबबूला हो उठा; लेकिन वह राजपूतकन्या यह कहती भीतर चली गयी कि 'जिसको मैं एक बार मनसे वर चुकी, उसके अतिरिक्त संसारके सब पुरुष मेरे बन्धु और पुत्रके समान हैं।' पृथ्वीराजने कन्नौजपर चढ़ाई की, जयचंदको पराजितकर वह संयोगिताको साथ लेकर दिल्ली चले आये। अब तो वैमनस्यका बीज बढ़कर विष-वृक्ष हो गया। यही कारण था कि जब पृथ्वीराज गोरीसे हिंदुस्थानके भाग्यका फैसला कर रहा था, जयचंद तमाशा देखता रह गया। इतिहासकार टाडने इस उदासीनताका कारण संयोगिताका पृथ्वीराजद्वारा अपहरण बतलाया है।

सन् ११९१ ई०में तराईके युद्धस्थलमें विधर्मी सेनाका सामना करनेके लिये फरिश्ताके कथनानुसार पृथ्वीराज दो लाख घुड़सवार तथा तीन हजार हाथियोंकी सेना लेकर आ डटे। रणके लिये प्रस्थान करते समय संयोगिताने अपने पतिसे, हिंदुस्थानके सम्राट्से कहा कि 'प्राणनाथ! आप रणमें जाकर



शत्रुओंका मान मर्दनकर उन्हें उचित दण्ड दें। आप पार्थिव शरीरकी थोड़ी भी चिन्ता न करें, आपकी कीर्ति अमर रहेगी।' घमासान संग्राम हुआ, मुहम्मद गोरीकी सेना मारी गयी। यह हिंदुओंकी बहुत बड़ी विजय थी। तबेकात-नसीरीके लेखक मिनहाज सिराजका कथन है कि सुल्तान घोड़ेकी पीठपर सवार होकर रणसे भाग गया; लेकिन रणस्थलसे कुछ ही दूर गया था कि उसका घोड़ा चल बसा। इस्लामी सेना हार गयी। सुल्तान बुरी तरह घायल हो चुका था; परंतु एक वीर सिपाहीकी सहायतासे उसकी जान बच गयी।' उसने फिर आक्रमण किया, इस बार पृथ्वीराज कैद कर लिये गये। और रासोके अनुसार गोरमें उनकी मृत्यु हो गयी।

सती संयोगिताने जब पतिकी मृत्युका समाचार सुना, तब उसने एक आर्य नारीकी तरह अपना धर्ममूलक कर्तव्य पालन

किया। संयोगिताने पृथ्वीराजको अपने हाथों महान् वीर-सज्जासे सजाकर रणाङ्गणमें भेजते समय महाराजसे कहा था, 'ऐसा दीखता है कि यह अन्तिम विदा है।' और उसी दिनसे पतिकी अनुपस्थितिमें पातिव्रत-धर्मका पालन करनेके लिये उस सम्राज्ञीने केवल जल पीकर ही अपने शेष दिन बिताये। पतिके परलोक-गमनपर उसने चितामें अपने पवित्र शरीरको स्वाहाकर सहगमनका सुख भोगनेके लिये पतिलोककी यात्रा की। —रा० श्री०

सती वीराङ्गना अच्छनकुमारी

आठवींसे बारहवीं सदीके बीचका समय भारतीय इतिहासमें अपना विशेष स्थान रखता है। हिंदुओंकी सार्वभौम सत्ता समाप्त हो चुकी थी। यह सामन्तशाहीका युग था। देश छोटे-छोटे राजपूतराज्योंमें विभक्त हो चुका था। इस विशिष्ट युगके अन्तिम चरणमें दिल्लीकी गद्दीपर अन्तिम हिंदूसम्राट् पृथ्वीराज थे; उनकी वीरताकी कहानियोंसे काबुल, ताशकन्द, बगदाद, ईरान आदिके यवनाधिपतियोंके कलेजे दहल उठे थे। महमूद गजनवीने कुछ दिन पहले आक्रमण किये थे। लेकिन उसके मरनेके बाद यवन बहुत दिनोंतक भारतपर हमला न कर सके। महाराज पृथ्वीराजके राज्यकालके आरम्भमें मुहम्मद गोरीके दो-एक हमले हो चुके थे, परन्तु भारतीय राजनीतिपर तथा राजनीतिक परिस्थितियोंपर उनका कुछ भी स्थायी परिणाम न हुआ। मुहम्मद गोरीको महाराज पृथ्वीराजने कई बार परास्त भी किया था। इस युगकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक विशेषता यह थी कि राजपूत-कन्या जिसे एक बार अपना पति स्वीकार कर लेती थी, उसे पानेके लिये वह प्राणोंकी बलि देनेतकपर तुल जाती थी। चरित्र-नायिका अच्छनकुमारीने पृथ्वीराजको अपने हृदय-सिंहासनपर बैठा लिया था। वह उनकी वीरता और शक्ति-सम्पन्नतापर अपनेको न्योछावर कर चुकी थी।

अच्छन चन्द्रावतीके राजा जैतसिंहकी कन्या थी। पिताको उसके हृदयकी बात ज्ञात हो गयी। जब पिताने पूछा कि 'यदि पृथ्वीराज विवाह करनेके लिये तैयार न होंगे, तब क्या होगा?' तो उस वीरबालाने कहा कि 'पृथ्वीराज सच्चे राजपूत हैं, वे राजपूत-कन्याकी बात कभी नहीं टालेंगे और यदि उन्होंने टाल ही दी तो मैं आजन्म कुमारी रहूँगी।' राजपूतकन्या अपने प्रणपर अडिग रही। गुजरातका राजा भीमदेव बड़ा शक्तिशाली था, वह सुन्दरी अच्छनको अपनी पत्नी बनाना चाहता था। उसने जैतसिंहके पास बातचीत चलानेके लिये अपने मन्त्री अमरसिंहको भेजा। जैतसिंहने कहा कि 'राजपूत-कन्याकी मँगनी एक ही बार होती है। यदि भीमदेव नहीं मानेंगे तो हमारे लिये अन्तिम रास्ता युद्ध ही होगा।' इस चुनौतीका उत्तर भीमदेवने आक्रमणसे दिया। चन्द्रावती एक छोटी-सी रियासत थी, राजाने अजमेरके राजा सोमेश्वरदेवसे सहायता माँगी। सोमेश्वरदेव पृथ्वीराजके पिता थे। इसी समय मुहम्मद गोरीने पाञ्चालपर आक्रमण किया। सोमेश्वर दो विकट परिस्थितियोंसे घिर गये। एक ओर पुत्रवधूकी मानरक्षाका प्रश्न था तो दूसरी ओर देशसे म्लेच्छोंको बाहर निकालना था। वह एक बड़ी सेना लेकर चन्द्रावतीकी ओर चल पड़े और प्रधान सेनापतिको आदेश दिया कि यवनोंसे लड़नेके लिये सेना सुसज्जित करें।

अभी सोमेश्वर चन्द्रावती नहीं पहुँचे थे कि पृथ्वीराजको अच्छनका पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि 'भीमदेवने सारे देशको उजाड़ दिया है, अजमेरसे भी अभीतक सहायता नहीं मिली। यदि आप शीघ्र न आयेंगे तो इज्जत मिट्टीमें मिल जायगी। मुझे आपका ही बल है और दृढ़ विश्वास है कि आप एक राजपूतकन्याकी मान-रक्षामें योग देंगे।' पृथ्वीराज सहायताके लिये अचलगढ़ किलेकी ओर चल पड़े। पाञ्चालदेशमें भी गोरीका सामना करनेके लिये सेना भेज दी थी।

अचलगढ़के किलेमें महाराज पृथ्वीराज पहुँच गये। वीर कन्याने अपने भावी पतिके दर्शन किये; भीमदेवके हाथों सोमेश्वरकी मृत्युका समाचार सुनकर सरदारोंने पृथ्वीराजका राजतिलक कर दिया। अच्छनसे उनका विवाह हो गया और वह उनके साथ अजमेर चली आयी। अच्छनने राजकार्यमें बहुत अच्छे ढंगसे भाग लिया था, उसमें चक्रवर्ती सम्राट्की रानी होनेके सारे गुण विद्यमान थे। महाराजकी पटरानी संयोगिता या संयुक्तासे भी उसकी काफी बनती थी, दोनों महलमें प्रिय सहेलियोंकी तरह रहती थीं।

सन् ११९२ में गोरीने फिर भारतवर्षपर आक्रमण किया। तलवड़ी या तिरौरी नामक स्थानपर घोर युद्ध हुआ, तुर्कोंके पैर उखड़ गये। राजपूतोंने समझा कि 'गोरी फिर कभी न आवेगा।' पर घरकी फूट बुरी होती है। राजा जयचन्दकी मूर्खतासे उसे फिर आक्रमण करनेका मौका मिल गया। पृथ्वीराज और उसकी सेनाने जी-तोड़कर युद्ध किया, लेकिन विजयसिंहनामक एक विश्वासघाती सरदारकी चालोंसे वे पकड़कर बन्दीगृहमें डाल दिये गये।

जब उनके प्रधान सेनापतिने अच्छनकुमारीसे महाराजकी कैदकी बात कही तो वह आपेसे बाहर हो गयी। उसने सेनापतिको बुरी तरह फटकारा और कहा कि 'रणसे राजपूत कभी हारकर वापस नहीं आते। तुमने क्षत्रियत्वकी अवमानना की है।' इतना कहकर वह झट घोड़ेपर चढ़ गयी, उसके हाथमें नंगी तलवार बिजलीकी तरह चमक रही



थी, भालमें श्वेत चन्दनका तिलक था। उसकी केशराशि पीठपर गुम्फित होकर लटक रही थी। वह राजाको छुड़ाने के लिये चल पड़ी। उसने चलते समय कहा—'प्रजाका धर्म है अपने राजाकी रक्षा करे; मैं राजराजेश्वरी नहीं, महाराज पृथ्वीराजकी प्रजा हूँ। किसकी मजाल है महाराजको कैदमें रक्खे।' राजपूत सैनिक हजारोंकी संख्यामें उसके पीछे-पीछे चल पड़े। यवनोंके छक्के छूट गये। विकट युद्ध हुआ।

राजपूतोंने स्वाधीनताके इस प्रथम युद्धमें अपने प्राणोंकी जिस प्रकार बलि दी, वह विश्वइतिहासमें एक अलौकिक और अभूतपूर्व घटना थी। रानी म्लेच्छके एक बाणसे मारी गयी। यवनोंने बहुत चाहा कि उसका शव मिल जाय; लेकिन स्वाभिमानी राजपूतोंने उसे चितापर पहले ही रख दिया था। रानीने अपने स्वामीकी रक्षाके लिये अपने कीमती प्राणोंकी बलि दे दी और शरीर अग्निदेवताको सौंप दिया। महाराज पृथ्वीराज गोर भेज दिये गये।

अपने इन्हीं त्यागों और बलिदानोंके कारण हिंदू जाति अमर है। हिंदुत्वको मिटानेवाले स्वयं मिट जाते हैं, इतिहास इस बातका साक्षी है। —रा० श्री०

वीराङ्गना वीरमती

भारतीय नारियोंने अपने सतीत्व और पातिव्रत्यकी रक्षाके लिये जलती चिताओंमें अपने-आपको समर्पणकर जिस प्रण-पालनका परिचय मध्यकालमें दिया, जिस वीरता और उत्साहसे उन्होंने म्लेच्छोंके पापी हाथोंमें पड़नेसे अपने-आपको बचाया, उन सब बातोंका विवरण अन्य देशोंके इतिहासमें नाममात्रको ही मिलता है। विश्वका मध्यकाल वीरताका स्वर्णयुग समझा जा सकता है; इंग्लैंड, फ्रांस, इटली आदिमें भी इस समय वीरों (नाइटों) की गुण-गाथाएँ बड़े चावसे गायी जा रही थीं।

चौदहवीं सदीमें भारतका सम्राट् अलाउद्दीन था। इतिहास साक्षी है कि वह हिंदुओंको नष्ट करने, उनकी बहू-बेटियोंकी इज्जत लेने, उनका राज्य हड़प लेनेके लिये किस तरह तुला बैठा था; लेकिन चित्तौड़में रानी पद्मिनीने अँगूठा दिखा दिया, वह चितामें जलकर राख हो गयी, सम्राट्की सारी आशाओंपर पानी फिर गया। चित्तौड़की ही तरह देवगिरि राज्य अपना सिर उन्नत किये हुए था। उस छोटे-से राज्यने द्वितीय सिकंदर बननेका सपने देखनेवाले यवन बादशाह अलाउद्दीनसे साफ-साफ कह दिया कि देवगिरि अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये खून पानीकी तरह बहा देगा। देवगिरिका राजा रामदेव अपने मराठा सरदारके बलपर कूदता था। यवनोंकी मजाल नहीं थी कि वह उस मराठा सरदारके जीते-जी देवगिरिपर हमला बोल दे। इस सरदारकी एक रूपवती कन्या 'वीरमती' थी। वीरमतीकी माता इस असार-संसारसे बहुत पहले ही कूच कर चुकी थी। उसका पिता भी एक युद्धमें वीरताके सच्चे जौहर प्रकट करता हुआ चल बसा। वह अनाथ हो गयी, लेकिन राजा रामदेव उसे अनाथकी हालतमें कैसे रख सकते थे। राजाने उसको राजमहलमें बुला लिया और सगी लड़कीकी तरह जानने-मानने लगे। राजाकी लड़की गौरी उसे पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई, दोनों एक दूसरेकी छायाकी तरह साथ रहती थीं। कुछ दिनोंके बाद राजाने वीरमतीकी सगाई एक मराठा युवक कृष्णरावसे कर दी, जो बड़ा वीर था और जिसकी वीरताकी कहानियाँ वीरमती भी सुन चुकी थी। लेकिन वह स्वभावका कपटी था।

देवगिरिपर अलाउद्दीनने आक्रमण कर दिया। राजा रामदेव यवनोंका लोहा माननेके लिये कभी तैयार नहीं था। देवगिरिसे राजाके सेनापतित्वमें मतवाले वीर सैनिकोंकी टोली, जिनमें कृष्णराव भी था, यवनोंको सीमासे बाहर निकाल देनेके लिये चल पड़ी। वीरमतीने चलते समय कृष्णरावसे कहा था, 'प्रियतम! रणभूमि ही वीरोंके आराम करनेका

भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमे पद्मिनीकी सुन्दरता और वीरता एक ख्यातिकी वस्तु बन गयी थी। वह अपूर्व सुन्दरी थी, उसका पद्मिनी नाम ही इसकी पुष्टि करता है। जायसीने उसको सिंहलद्वीपके राजा गन्धर्वसेनकी लड़की बताया है। सिंहलमें पद्मिनी स्त्रियोंका होना केवल गोरखपन्थी ही मानते हैं। रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझाका मत है कि 'रत्नसिंहके राज्य करनेका जो अल्प समय निश्चित है, उससे यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहलद्वीप अथवा लङ्काके राजाकी कन्यासे नहीं, सिंगोलीके (चित्तौड़से ४० मील पूर्व) सरदारकी कन्यासे हुआ हो।' हो सकता है कि पद्मावती या पद्मिनी सिंगोलीके सरदारकी कन्या रही हो और जायसीने उसे सिंहल समझकर अपने आख्यानमें प्रकृत-रूप दिया हो। इतना तो निश्चित ही है कि पद्मिनी रानीकी अपूर्व सुन्दरताकी चर्चा सुनकर अलाउद्दीनने चित्तौड़पर सन् १३०३ ई० में हमला कर दिया था। आक्रमण होनेपर जो कुछ भी घटना घटकर रही, उसकी सत्यतामें तो विश्वास करना ही चाहिये।

अलाउद्दीन तो विश्व-विजयका सपना देख रहा था। उस मदान्धपर द्वितीय सिकंदर बननेकी सनक सवार थी, लेकिन भारतकी ऐतिहासिक परिस्थितियोंने उसे पहले रणथम्भोर और चित्तौड़से ही निपट लेनेके लिये विवश किया। इतिहास इस बातका जीता-जागता प्रमाण है कि खिलजी-सम्राट् हिंदुत्वको मटियामेट कर इस्लामी प्रभुताकी नींव दृढ़ करना चाहता था। अल्तमस और अलाउद्दीनके राजत्वकालमें हिंदुओंपर जो अत्याचार और अनाचार ढाहे गये, लेखनी उन्हें नहीं लिख सकती।

अलाउद्दीनके आक्रमणका समाचार सुनकर राजपूतोंने नंगी तलवारकी शपथ लेकर कहा कि 'जीते-जी यवन इस भूमिकी पावनता नहीं नष्ट कर सकते।' वह बहुत दिनोंतक घेरा डाले पड़ा रहा। इस अवसरपर पद्मिनीने अद्भुत साहस और तेजस्विताका परिचय दिया। दोनों सेनाओंकी शक्ति समाप्त हो चुकी थी। पहले तो अलाउद्दीनने पद्मिनीके लिये ही आक्रमण किया था; परंतु अब उसने कहला भेजा कि 'मैं पद्मिनीको नहीं चाहता, आप उसे केवल एक बार मुझे दिखा दें। मैं दिल्ली लौट जाऊँगा।' राणाको यह बात बहुत अप्रिय लगी, उन्होंने दूतसे तड़ककर कहा कि 'यह असम्भव है।' पद्मिनीने बड़ी दूरदर्शितासे काम लिया। उसने पतिसे कहा कि 'मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण चित्तौड़ तबाह हो जाय, प्रजा मटियामेट कर दी जाय। राजपूत नारी आपत्तिकालमें जानती है कि उसे क्या करना चाहिये, आइनेमें मुख दिखलानेमें आपको आपत्ति नहीं करनी चाहिये।' रत्नसिंहने उसकी बुद्धिमत्ताकी बड़ी सराहना की। अलाउद्दीनके पास समाचार भेज दिया गया कि 'रानीको प्रत्यक्ष मुख दिखलानेमें आपत्ति है, यदि वे चाहें तो आइनेमें देख सकते हैं।' अलाउद्दीनको तो दिल्ली लौटनेका बहाना मिलना चाहिये था, उसमें इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह चित्तौड़का घेरा डाले पड़ा रहे। अलाउद्दीन चित्तौड़के राजमहलमें आया। उसका काफी स्वागत-सत्कार हुआ। पद्मिनी एक जगह खड़ी हो गयी। सामने दर्पण था। अलाउद्दीनने रानीकी ओर पीठ करके दर्पणमें पद्मिनीके मुखपद्मके दर्शन किये। वह रानीका मुख देखकर आश्चर्यचकित हो उठा। दर्पणपर ही उसकी दृष्टि गड़ी रही। उस नराधमकी कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; उसने मन-ही-मन निश्चय कर डाला कि चित्तौड़पर आधिपत्य स्थापित करके ही रहूँगा।

जायसी हिंदू रीति-रिवाजों, पद्धतियों, देवी-देवताओं और प्रणालियोंमें पूर्ण आस्था रखता था। उसने इस घटनाको बिल्कुल उड़ा दिया है। उसकी लेखनीको यह बात कभी सह्य नहीं थी कि 'शैतान' अलाउद्दीन राजपूतनीका मुख आइनेमें भी देखे। उसके कथानकके अनुसार तो अलाउद्दीनने राजासे मैत्री कर ली थी, चित्तौड़में दावत खाने गया था। वह राजाके साथ शतरंज खेल रहा था कि संयोगसे उसने पद्मिनीका मुख दीवारपर लगे दर्पणमें देख लिया। पद्मावती झरोखेपर बैठकर खेल देख रही थी। सुल्तानको मूर्च्छा आ गयी। उसके दूतने समझाया कि वह पद्मावती थी। जिस समय राजा उसे किलेसे बाहर पहुँचाने जा रहा था, यवन-सैनिकोंने उसके इशारेसे राजाको कैद कर लिया। चित्तौड़में हाहाकार मच गया। इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि अलाउद्दीनने राजाके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह छोड़ दिया जायगा यदि पद्मिनी उसकी सेवामें भेज दी जाय। जब राजपूतोंको यह बात ज्ञात हुई, उन्होंने रत्नसिंहके पास विष भेजनेका निश्चय कर लिया, जिससे राजा आत्मयज्ञ कर स्वर्ग चला जाय। पद्मिनीने कूटनीतिसे काम लिया। उसने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति अपनायी। उसने वीरवर गोरा और उसके बारह वर्षके शूरवीर भतीजे बादलकी सहायता और सम्मतिसे अलाउद्दीनको पत्र लिखा, 'जब आप मुझे न पानेसे ही मेरे स्वामीके पवित्र प्राणोंका हरण करना चाहते हैं, तब मैं यह नहीं चाहती कि मेरे कारण मेवाड़के सूर्यका अस्त हो। मैं आपके निकट आत्मसमर्पण करनेके लिये प्रस्तुत हूँ; परंतु आप जानते हैं कि मैं राजरानी हूँ। मैं अकेली आपके यहाँ न आऊँगी। मेरे साथ मेरी सात सौ सहचरियाँ, जो सम्भ्रान्त राजपूतोंकी कन्याएँ तथा महिलाएँ हैं, रहेंगी। कुछ तो मेरे साथ दिल्ली जायँगी और कुछ चित्तौड़ वापस लौट आयँगी। आपको आत्मसमर्पण करनेके पहले मैं एक बार अपने पतिके चरणोंका दर्शन करूँगी। कारागारके सामने किसी भी

जौहरकी ज्वाला



जाग उठी चित्तौर-दुर्गमें जौहरकी भीषण ज्वाला ।
हँसती हुई धर्म-रक्षा हित कूद पड़ीं क्षत्रिय-बाला ॥

मुसलमान सैनिकका पहरा नहीं होना चाहिये। यदि आपको यह शर्त स्वीकार हो, तो मैं आनेका प्रबन्ध करूँगी।' उस दुष्टकी आँखें तो पहलेसे ही बंद हो चुकी थीं। उसे कहाँ पता था कि 'कण्टकेनैव कण्टकम्' का छुरा उसके गलेपर चलाया जा रहा है। उसकी काम-वासना तो और भी प्रज्वलित हो उठी। 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'के अनुसार वह जड़ बन गया। उसे विचार करनेका अवसर ही न मिला। उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। राजपूत सैनिक शस्त्रोंको कपड़ोंके अंदर छिपाये कहारोंके भेषमें डोलियाँ उठाकर ले चले। प्रत्येक डोलीके साथ अंदर दो और बाहर चार—छः राजपूत थे। सात सौ डोलियोंमें बयालीस सौ राजपूत वीर चले। सबसे आगेकी सुन्दर पालकीमें स्वयं महारानी पद्मिनी थीं। उस पालकीके दोनों ओर गोरा और बादल—चचा-भतीजा—घोड़ोंपर सवार होकर चल रहे थे।

यह भी कहा जाता है कि स्वयं रानी पद्मिनी नहीं गयी थीं। पद्मिनीकी पालकीमें तमाम औजारोंको लेकर एक लोहार बैठ गया था, जो रत्नसिंहको कैदसे मुक्त करनेके लिये था। रानी राजमहलके झरोखेपर बैठी परमात्मासे अपने प्राणाधार-के प्राणोंकी भिक्षा माँग रही थी। गोरा और बादलकी कूटनीतिसे किसीको पतातक न लग पाया कि पद्मिनीकी पालकीमें वह नहीं, एक लोहार है। कविवर जायसीने इस दृश्यका बहुत सजीव वर्णन किया है। 'बैठ लोहार न जानै भानू' राजपूतोंने अपने राजाको कैदसे छुड़ा लिया, दोनों ओरके सिपाहियों और सैनिकोंने विकट मार-काट की।



भइ अस्या सुल्तानी, वेगि करहु यहि हाथ।
रतन जात है आगे, लिये पदारथ साथ॥

वीरवर गोराने इस लड़ाईमें वीरतासे लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की। अलाउद्दीनके पैर उखड़ गये। रत्नसिंह सकुशल किलेमें पहुँच गये।

अलाउद्दीनको अपनी इस पराजयका बड़ा खेद था। कई वर्षोंके बाद उसने प्रचण्ड सेनाको साथ लेकर पुनः चित्तौड़पर चढ़ाई की। पिछले युद्धसे बचे-खुचे मरणोन्मत्त वीर राजपूत केसरिया बाना पहनकर निकल आये, राजपूतों-की तलवार-भवानीने सैकड़ोंके सिर धड़से अलग कर दिये। उधर राजपूतनियोंने भी साहसके साथ पद्मिनीकी अध्यक्षतामें अपने कर्तव्यका पालन किया। अबुलफजलने आइने-अकबरीमें लिखा है कि रतनसिंहकी मृत्यु अलाउदीन-के साथ युद्धमें हुई।

पद्मिनीने जौहर-यज्ञ किया। पद्मिनीकी अनुमतिसे चित्तौड़की राजपूत-वीराङ्गनाओंने मिलकर एक सूखे विशाल कुण्डमें चिता जला दी। अग्निकी शिखाएँ 'शत-शत जिह्वा' निकालकर आकाश-पथको चूमने लगीं। पद्मिनीने उन रणाङ्गनाओंसे कहा 'बहिनो! आज हम सब आर्य नारियोंकी मर्यादा-रक्षाके लिये, पवित्र सती-धर्मकी रक्षाके लिये और देशका मुख उज्ज्वल रखनेके लिये अग्निदेवता-को अपने शरीर समर्पण कर रही हैं। यवन भी आँख खोल-कर देख लेंगे कि हमारे हृदयोंमें कितना आत्मबल और धर्मबल है।'

सहस्रों स्त्रियाँ अग्निकुण्डमें कूद पड़ीं, देखते-ही-देखते सब कुछ स्वाहा हो गया! जिस सौन्दर्यको देखकर अलाउद्दीनके हृदयमें पाप-वासना जाग उठी थी, जिसके चरणोंपर हिंदुस्थानका बादशाह लोटनेको तैयार था, वही अपने कुल-गौरवकी रक्षाके लिये अग्निमें समा गया। बादशाहको उस विशाल किलेमें, एकलिङ्गके उस महामरघट-में, राखके सिवा और कुछ नहीं मिला। —रा० श्री०

सती गोराकी रानी



अलाउद्दीनने गद्दीपर बैठते ही सिकंदर द्वितीय बननेकी इच्छा की, लेकिन दिल्लीके कोतवाल अलाउलमुल्कके समझानेपर उसने विश्व-विजयका खयाल छोड़ दिया। चित्तौड़ और रणथम्भोर उसके आक्रमणके लक्ष्य बने। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि अलाउद्दीनने चित्तौड़के राजा रत्नसिंहको धोखेसे कैदकर राजपूतोंसे पद्मिनीकी माँग की थी और गोरा तथा बादलने उसे मुँहतोड़ जवाब दिया। शाही सेनाका राजपूतोंने जमकर सामना किया, गोरा वीरगतिको प्राप्त हुआ; लेकिन राणा सुरक्षित अवस्थामें चित्तौड़ पहुँचा दिये गये।

गोराकी रानी बड़ी वीरहृदया थी। उसके सतीत्वका बखान करते हुए 'मेवाड़नी जाहोजलाली'का लेखक लिखता है कि 'शूर सती! तुम्हारा जितना भी बखान किया जाय, थोड़ा है।' बादल यवनोंको खदेड़कर घर वापस आया। खुमान-रासोमें इस साकेका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। बादल उस समय केवल बारह सालका लड़का था; परंतु उसने जिस वीरतासे काम लिया, वह इतिहासका एक स्तुत्य अङ्ग है। रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाने गोरा बादलको एक ही व्यक्ति माना है, परंतु कर्नल टाड तथा अन्य इतिहास-कारोंके मतसे गोरा और बादल दो थे। एक चाचा था, दूसरा भतीजा।

गोराकी रानीने उससे कहा—'तुम मेरे पतिके पराक्रमका वर्णन करो; मुझे बतलाओ कि किस तरह शत्रुओं और विधर्मियोंको राजपूतोंने रणभूमिमें मटियामेट किया। मैं साकेका वीरतापूर्ण वर्णन सुनकर आनन्दपूर्वक पतिलोकमें जाना चाहती हूँ।'

बादलने कहा—'माँ, पूज्य काकाजीको ही तो इस रणमें वास्तविक सफलता मिल सकी। उन्होंने शत्रुओंके खूनसे रँगे शवोंको अपनी सेज बनाया। एक यवन शाहजादा वीरगतिको प्राप्त होकर तकियेका काम दे रहा था।' बादलने कहा—'मैं उन्हें उस मृत्यु-सेजपर सोते छोड़कर आ रहा हूँ। शत्रुओंने उनकी मृत्यु-शय्या घेर ली है।' उसने बादलसे पूछा कि पतिने किस तरह शत्रुओंसे रण किया। उस सुकुमार बालकके मुखसे निकल ही तो पड़ा, 'काकी! उसकी वीरताका बखान करनेवाला तो कोई रह ही नहीं गया। रणमें उसने किसी भी शत्रुको छोड़ा ही नहीं, जो उसकी वीरताकी कहानी कह सकता।'

एक विशाल चिता तैयार की गयी। अग्निकी ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। गोराकी वीरपत्नीने कहा—'प्रियतमको मेरा अभाव खटकता होगा।' वह अविलम्ब जलती चितामें कूद पड़ी। गोराकी रानीका सतीत्व अमिट है। —रा० श्री०

वीरकन्या विद्युल्लता

यह लिखना असङ्गत नहीं होगा कि जिस तरह मध्य-कालीन भारतीय राजघरानोंकी रानियाँ यवनों और म्लेच्छोंसे अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये जान हथेलीपर लिये रहती थीं, उसी तरह साधारण गृहस्थोंकी बहू-बेटियाँ भी अपने देशकी रक्षा, अस्तित्व और स्वत्वके लिये प्राणोंकी बलि देनेके लिये सदा उद्यत रहती थीं।

अलाउद्दीनका चित्तौड़-आक्रमण एक इतिहासप्रसिद्ध घटना है। चित्तौड़ और रणथम्भोरपर विजय पानेमें यवना-धिपति उस समय अपना गौरव समझते थे। उधर, चित्तौड़पर अलाउद्दीन आक्रमण करनेकी योजना बना रहा था और इधर राणाके सैनिक भी असावधान नहीं थे। चित्तौड़के एक नामी सरदारका पुत्र समरसिंह अपनी वीरता और रूपके लिये उस समय बहुत प्रसिद्ध था। चरित्रनायिका विद्युल्लता उसकी प्रियतमा बननेका स्वप्न देख रही थी। विद्युल्लता भी

चित्तौड़के एक वीर सैनिककी कन्या थी। वह चित्तौड़में सबसे अधिक सुन्दरी समझी जाती थी। रूप और सौन्दर्य दोनों उसके जीवन-साथी थे। साथ-ही-साथ वह उदार और सद्गुणसम्पन्ना भी थी।

अलाउद्दीनके आक्रमणको रोकनेके लिये समरसिंहको भी लड़ाईमें जाना पड़ा। बहुत दिन बीत गये, वह विद्युल्लताको न देख सका। विद्युल्लता भी उसके वियोगमें पीली पड़ती जाती थी, उसका वदन सूख रहा था, वह दीन-मलिनकी तरह अपने घरके सामने ही बगीचेमें बैठी रहती थी। फिर भी वह यह सोचकर संतोष कर लिया करती थी कि उसका भावी पति अपना कर्तव्य कर रहा है।

रातका समय था, चन्द्रदेवता अपनी सोलह कलाओंसे गगनतलपर विलास कर रहे थे, दूध-सी एक धारा पृथ्वीपर बह चली थी। उस स्वच्छ चाँदनीमें युवतीने देखा कि समर उसके पास खड़ा है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। समरने उससे कहा कि 'मैं तुम्हारे पास एक विशेष कार्यके लिये उपस्थित हुआ हूँ।' उसने यह भी कहा कि 'सारे-के-सारे राजपूत सैनिक कुछ ही दिनोंमें मुसल्मान सेनाकी क्रोधाग्निमें जलकर स्वाहा हो जायँगे। मैं नहीं चाहता कि प्रेमकी पवित्र भावनाओंको कुचलकर समराग्निमें अपने-आपको झोंक दूँ। मेरे लिये तुम्हारा प्रेम स्वर्ग और अपवर्ग है। सेनापतिकी आँख बचाकर मैं रणसे भाग आया हूँ। हमलोगोंको अब कहीं दूर चले चलना चाहिये, नहीं तो प्रेम-निधि मिट्टीमें मिल जायगी।'

विद्युल्लताका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा। उसने कहा, 'समर! मातृभूमिपर विधर्मियोंका आक्रमण हो रहा है, तुम्हारे-ऐसे वीर राजपूतके इन कायरतापूर्ण शब्दोंने मुझे आश्चर्यमें डाल दिया है। राजपूतकन्याएँ ऐसे पुरुषोंसे प्रेम करना या उससे विवाह करना पाप समझती हैं, जो अपने कर्तव्यसे विमुख होकर कायरता-प्रदर्शन करते हैं। यदि तुम रणमें वीरगति पाओगे तो मेरे आनन्दका ठिकाना न रहेगा। माना हमलोग सांसारिक सम्बन्धमें बँध न सकेंगे, किंतु स्वर्गीय सम्बन्ध तो हम दोनोंका अक्षुण्ण ही रहेगा।

वीर बालाके शब्द-बाण उस दुष्टका पाषाण-हृदय न बेध सके। अन्तमें उसने यवनोंसे मिलकर चित्तौड़का सारा भेद प्रकट कर देना उचित समझा। उसका ऐसा खयाल था कि यवनोंकी ओर हो जानेसे उसकी जान बच जायगी और उसकी प्रियतमा विद्युल्लता भी उसे मिल जायगी। उसने यवनसेनापतिसे मिलकर सारे भेद बतला दिये। उसीका परिणाम था कि सैकड़ों बहू-बेटियों, हजारों राजरानियोंको पद्मिनीके साथ जौहर-यज्ञमें प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। उस अधमके पापने चित्तौड़को जलाकर राख कर डाला। इतने बड़े भीषण काण्डके बाद उसने विद्युल्लताका स्मरण किया। वह चित्तौड़की ओर चल पड़ा। उसके साथ सैकड़ों मुसल्मान सैनिक भी थे।

विद्युल्लताको ज्ञात नहीं था कि इतने बड़े अग्निकाण्डकी जड़ समरसिंह है। वह समरको देखकर हर्षसे नाच उठी। परन्तु मुसल्मान सैनिकोंने उसे बंदी नहीं बनाया था। वह समझ गयी कि पापी समरने देशके साथ विश्वासघात किया है। ज्यों ही उस अधमने उसे 'प्रिये' कहकर पुकारना चाहा, उसके पापी अधरोंने उसके अधरामृतका पान करना चाहा, त्यों ही उस सिंहिनीने उससे कहा कि 'अधम! मेरे शरीरको छूकर अपवित्र करनेसे अच्छा तो यह होगा कि तुम चुल्लूभर पानीमें डूब मरो। राजपूत रमणियोंके हृदयमें कायरोंके लिये स्थान नहीं है।'

विद्युल्लताने कमरसे कटार निकालकर अपनी छातीमें



भोंक ली। समरने उसे पकड़ना चाहा, लेकिन वह उस पापीके हाथोंसे अपवित्र होनेके पहले ही स्वर्गमें पहुँच चुकी थी।

राष्ट्रकी बलिवेदीपर प्राणोंकी आहुति देकर विद्युल्लताने चित्तौड़के इतिहासमें अपनी कीर्ति अमिट कर ली। —रा० श्री०

जवाहरबाई

सोलहवीं सदीका पूर्वार्ध हिंदुस्थानके इतिहासमें अपना विशेष महत्त्व रखता है। पठानों और मुगलोंने पूरे देशपर अपनी प्रभुता स्थापित करनी चाही थी। राजपूतोंमें भी महाराणा संग्रामसिंहने वीरता और उत्साह भर दिया था कि यवनोंको देशसे बाहर निकालकर हिमालयसे कन्याकुमारी और अटकसे कटकतक हिंदूराज्य स्थापित किया जाय। शेरशाह बादशाह बननेका सपना देख रहा था, हुमायूँ बाबरकी वीरता और सम्मान अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये यत्नशील था। मेवाड़कुलसूर्य राणा संग्रामसिंहकी मृत्युके बाद चित्तौड़की गद्दीपर उसका पुत्र विक्रमादित्य बैठा, जो विलासप्रिय और कायर था। गुजरात और मालवाके पठान शासकोंने उसकी शक्तिहीनता और कुप्रबन्धसे लाभ उठाकर चित्तौड़गढ़पर आक्रमण कर दिया, राजा हारकर भाग गया। मुसलमान नगरमें घुसने लगे। राजपूत स्त्रियोंने 'जौहर' करनेकी प्रतिज्ञा की। विपत्तिमें राजपूत स्त्रियाँ अग्निमें आत्मसमर्पण करती हैं, इसे 'जौहर' कहते हैं। इस प्रथाने समय-समयपर हिंदुत्व और प्रधानतया क्षत्रियत्वकी रक्षा की है। विक्रमादित्यकी राजरानी जवाहरबाईने राजपूतनियोंसे ललकारकर कहा, 'जौहर करनेसे नारीधर्मका पालन अवश्य होगा, लेकिन देशरक्षा नहीं हो सकती। मरना तो है ही, इसलिये विधर्मियोंको मारकर मरना और उत्तम होगा। हाथमें खड्ग धारणकर शत्रुओंको अपनी तेजस्विता और वीरताका परिचय करा देना चाहिये।' क्षत्राणियोंने वीरतापूर्ण वक्तृता सुनकर हुंकार किया, उनके गगनभेदी सिंहनादने यवनोंके कलेजे दहला दिये।

अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो अगणित वीराङ्गनाएँ घोड़ोंपर चढ़कर महलसे बाहर निकल पड़ीं। आगे-आगे राजपत्नी जवाहरबाई थी। इन स्त्रियोंने पठानोंसे जमकर युद्ध किया। खूनकी नदी बहने लगी। आततायी और विधर्मियोंके छक्के छूट गये। 'हर-हर महादेव' और 'एकलिङ्ग भगवान्‌की जय'



बोलकर अन्तमें असंख्य वीर-वधुओंने स्वर्गकी यात्रा की। वीराङ्गना जवाहरबाईने रणस्थलमें जूझते हुए ही स्वर्गकी यात्रा की। पठान विजयी हुए, परंतु वह उनकी हार ही थी; स्त्रियोंपर कायरतापूर्ण ढंगसे तलवार उठाकर विजय पाना वीरोंका काम कदापि नहीं हो सकता। सती-साध्वी जवाहरबाईकी वीरगाथा मेवाड़ और हिंदुस्थानके इतिहासमें अमिट है। —रा० श्री०

पन्ना धाय

माके हृदयकी कल्पना माता ही कर सकती है। चित्तौड़ ही नहीं, भारत और विश्वके इतिहासमें पन्ना धायकी चरित्र-गाथा एक विलक्षण-सी वस्तु है। उसने जिस तत्परतासे गुलाबसे भी कोमल मेवाड़के राजकुमार उदयसिंहके प्राणोंकी रक्षा की, वह इतिहासकी एक अमिट घटना है। राना संग्रामसिंहके स्वर्गवासके बाद चित्तौड़की गद्दीपर राणा विक्रमादित्य बैठा, लेकिन वह निकम्मा और अयोग्य था। थोड़े ही दिनोंमें वह शासनसे अलग कर दिया गया और राणा साँगाका कनिष्ठ पुत्र उदयसिंह बनवीर दासीपुत्रकी संरक्षामें उत्तराधिकारी घोषित किया गया और पन्ना धायकी देख-रेखमें रख दिया गया, क्योंकि उसकी अवस्था केवल छः सालकी थी और उसकी मा रानी करुणावतीका स्वर्गवास हो चुका था। चित्तौड़के इतिहासमें यह समय अत्यन्त नाजुक था, बड़े-से-बड़े परिवर्तनकी सम्भावना थी।

पन्ना धाय खींची जातिकी राजपूत रमणी थी । उसका हृदय अत्यन्त विशाल था । एक दिन वनवीरने निश्चय कर लिया कि रात आते ही वह उदयसिंहके खूनसे अपनी तलवारकी प्यास बुझायेगा । काली रात आ गयी, चारो ओर अन्धकार छा गया । पन्नाको पता नहीं था कि दुष्ट वनवीरने राजकुमारकी हत्या करनेकी योजना बना ली है । राजकुमार रातका भोजन समाप्त कर बिस्तरेपर सो चुका था; इतनेमे बारी आया जो नित्य पत्तल आदि हटानेके लिये आया करता था । बारीने राजकुमारके कमरेमे आते समय देख लिया था कि पापी और नमकहराम वनवीरकी तलवार विक्रमादित्यके दो टुकड़े कर चुकी थी । उसके बदनका खून सूख गया । परन्तु उसने साहससे काम लिया । उसने पन्नासे सारी बातें बतला दीं । पन्ना उदयसिंहको अपने बच्चेसे भी अधिक प्यार करती थी । पन्ना अपना पुत्र चन्दन और मेवाड़के उत्तराधिकारी उदयसिंहको छातीसे चिपकाकर सोयी हुई थी । उसकी आँखोंमे स्नेहकी धारा फूट रही थी । उसके अधरोंपर वात्सल्यका रस उमड़ रहा था । वह चौंक उठी । ऐसे अवसरोंपर भारतीय स्त्रियाँ अपना कर्तव्य स्थिर करनेमे बड़ी चतुर और कुशल होती हैं । उसकी समझमे यह बात आ गयी कि दुष्ट खूनी इस कमरेमें भी आयेगा और अबोध तथा निरीह बालकका वध कर अपनी पापमयी इच्छा पूरी करेगा । उसने बारीसे कहा कि 'मैं प्यारे उदयको इस तरह मरते कभी नहीं देख सकती ।'

उसने उदयके गाल चूमकर उसे फलके टोकरेमे रखकर पत्तोंसे ढक दिया और बारीसे कहा कि 'तुम इसे लेकर बीरा नदीके तटपर मेरी प्रतीक्षा करना । बारी टोकरेमे सोये हुए मेवाड़के वैभवको लेकर किलेके बाहर चला गया । उसके बाद वीरहृदया पन्नाने जो कुछ भी किया, उसका उदाहरण विश्वके इतिहासमे कहीं नहीं मिल सकता । अपने कलेजेके टुकड़े चन्दनको सेजपर सुलाकर वह वनवीरकी राह देखने लगी । अपने भावी राजा और सौंपी हुई थातीकी रक्षाके लिये उस वीर-माताने अपनी सन्तानको ही मृत्युकी वेदीपर चढ़ा दिया । उसका चेहरा स्वाभिमानसे चमक रहा था, वह तो उदयसिंहकी ही जीवन-रक्षामे अपना और मेवाड़ दोनोंका सौभाग्य समझती थी । दुष्ट हत्यारा आ पहुँचा । वह बोला, 'उदय कहाँ है ?' पन्ना सम्हलकर दूर खड़ी हो गयी । उसके मुखसे एक भी शब्द नही निकला, अँगुलियोंसे उसने चन्दनकी ओर संकेत किया; तलवार गिरी, बालकके मुखसे



एक चीख निकली । पन्नाकी आँखोसे एक बूँद भी जल नहीं गिरा, परन्तु पुत्र-स्नेहसे उसका हृदय भीतर-ही-भीतर फटा जा रहा था । वह शक्ति थी, शक्ति अत्याचारोंसे कभी नहीं डरती और न पराजित होती है । वनवीर चला गया !

माने मृत पुत्रका अन्तिम संस्कार वीरा नदीके तटपर किया । रातकी नीरव भयानकता उसे संकल्पसे डिगा नहीं सकी । वह उदयको कलेजेमे छिपाकर मेवाड़के बाहर निकल पड़ी । किसीने भी उसे प्रश्रय न दिया । अन्तमे वह देयरा पहुँची । वहाँका शासक आशाशाह था । धायने उससे कहा— 'अपने राजाकी जान बचाओ' और राजकुमारको गोदमें रख दिया ।

कुछ दिनोंके बाद वनवीर इस समाचारसे दंग हो उठा कि उदयसिंह जीवित है । वनवीरको अपने पापकर्मोका दण्ड मिला । पन्ना जीवित थी । उसने उदयसिंहका राज्याभिषेक देखकर अपने आपको धन्य माना । राणा उदयसिंह उसके पवित्र चरणोंकी धूलि सिरपर चढ़ाकर आनन्दित हो उठे ।

पन्ना अपने आदर्श त्यागसे अमर हो गयी । —रा० श्री०

सती करुणावती (कर्मावती)

महारानी करुणावती चित्तौड़के महाराणा संग्रामसिंहकी छोटी रानी थी, उसकी तेजस्विता और वीरताका बखान चारण और वन्दीजन घूम-घूमकर सारे राजपूतानेमें कर रहे थे। महाराणाका स्वर्गवास होनेपर राजकुमार विक्रमादित्य और रत्नसिंहमें युद्ध छिड़ गया; परंतु कालान्तरमें ही बूँदीके राजकुमार सूरजमल और रत्नसिंहमें आँबेरकी राजकन्याके पाणिग्रहणके लिये विकट संग्राम हुआ, जिसमें राजकुमार रत्नसिंह मारा गया। राज्यसिंहासनपर विक्रमादित्यका ही आधिपत्य रहा, पर वह निकम्मा और कायर था। मेवाड़के शासनकी अव्यवस्थाका लाभ उठाकर गुजरातके बादशाह बहादुरशाहने चित्तौड़पर छापा मारा। विक्रमादित्यमें इतनी शक्ति तो थी नहीं कि वह बहादुरसे सामना करे; और इधर असन्तुष्ट सैनिक बहादुरशाहसे जा मिले। राजमाता करुणावतीने उन विद्रोही सैनिकोंको बहुत फटकारा। सैनिकोंके हृदयपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने करुणावतीके सामने अपनी नंगी तलवारोंकी शपथ लेकर कहा कि 'हम जीते-जी यवनोंको चित्तौड़में प्रवेश नहीं करने देंगे।' महारानी इनके सञ्चालन और सेनापतित्वका उत्तरदायित्व अपने कन्धोंपर लेकर रणभूमिमें कालीकी तरह कूद पड़ी और तलवारको यवनोंका खून पिलाकर उसने उन्हें महावरकी लताके समान इधर-उधर फेंक दिया। कई दिनोंतक खण्डयुद्ध होता रहा। बहादुरशाहकी विशाल सेना काफी संख्यामें मारी गयी और घायल हुई। पर धीरे-धीरे राजपूतोंके भी पैर उखड़ने लगे।

अन्तमें राजपूत सरदारोंने उस राजपूत बालासे कहा कि किलेकी कुंजी बहादुरके पास भेज दी जाय। यह सुनकर रानी क्रोधसे पागल हो गयी और उसने उन कायर सरदारोंसे कहा कि 'राजपूतोंको इस तरहके वचन कभी नहीं कहने चाहिये। शेर खरगोशोंके सामने कभी सिर नहीं झुका सकता। राजपूत शरीरमें रक्त रहते शत्रुके सामने कभी आत्मसमर्पण नहीं करते।'

राजपूत शान्त हो गये। किसीको साहस नहीं हुआ कि वह महारानीका प्रतिवाद करे। इसी समय मुगलों और पठानोंमें युद्ध छिड़ गया था। दिल्लीके सिंहासनपर हुमायूँका अधिकार था। रानी करुणावतीने मुगल सम्राट्को अपना 'राखी-बन्धु' बनाना चाहा। जिसे राजपूत स्त्रियाँ राखी भेजकर अपना भाई बनाती थीं, वह अपनेको सौभाग्यशाली और गौरवान्वित समझता था। हुमायूँ उन दिनों अपने प्रतिद्वन्द्वी शेरशाहसे बंगालमें निपट रहा था। राखी पाते ही हुमायूँ बंगालकी लड़ाई स्थगित कर चित्तौड़की ओर चल पड़ा। पर उसके चित्तौड़ पहुँचनेके पहले ही चित्तौड़का सर्वनाश हो चुका था। किलेपर पठानोंका झंडा फहरा रहा था।

हुमायूँकी प्रतीक्षामें कई दिन बीत गये। पठानोंका दबदबा बढ़ता जा रहा था। तब रानीने राजपूतोंसे ललकारकर कहा कि 'आप केसरिया बाना पहनकर रणमें कूद पड़ें और हम स्त्रियाँ अग्निकी गोदमें अपने-आपको समर्पित कर स्वर्गमें आपसे आ मिलेंगी।' वीर राजपूत दुश्मनोंपर टूट पड़े। भयंकर मार-काट मच गयी। इधर राजपूत वीर शत्रुओंके प्राणोंसे खेल रहे थे और उधर वीर अभागी करुणावती तेरह हजार क्षत्राणियोंके साथ जौहरकी ज्वालामें कूद पड़ी। रानीने चितापर बैठकर कहा कि 'क्षत्राणियोंके सतीत्व और धर्मपर आपत्ति आनेपर सदा इसी पथका अनुसरण करना चाहिये।'



थोड़ी ही देरमें जौहरकी ज्वालाने सबको अग्निरूप बना लिया! बहादुरशाहने नगरमें प्रवेश किया, वहाँ राख और हड्डियोंके सिवा और कुछ नहीं था। इतनेमें हुमायूँ भी पहुँच गया; उसने बहादुरपर आक्रमण किया और हराकर अपनी धर्मस्वरूपा बहिनकी मृत्युका बदला चुकाया। फिर भी वह दुखी था कि बहिनकी रक्षा न कर सका। —रा० श्री०

वीराङ्गना वीरा

वीरा अपने साहस और पराक्रमके लिये प्रसिद्ध है । वह मेवाड़के राणा उदयसिंहकी उपपत्नी थी । उसने बड़ी वीरता-से उदयसिंहके प्राणोकी रक्षा की और उसे अकबरके पंजोसे छुड़ा लायी ।



अभी अकबरको शासनकी बागडोर सम्हाले कुछ ही दिन हुए थे कि उसने चित्तौड़पर हमला कर दिया । उदयसिंह अकबरसे लड़ना नही चाहता था, वह कायर और डरपोक था । उसके पुत्र महाराणा प्रतापने एक बार अचानक ही कह डाला था कि 'यदि सॉगा और मेरे बीच चित्तौड़का राणा और कोई दूसरा न होता तो अकबर उस स्वाधीन भूमिपर अपना आधिपत्य कभी नही स्थापित कर पाता ।'

युद्ध आरंभ हुआ । राणा दृढ़तासे न लड़ सका और इसका परिणाम यह हुआ कि अकबरने उसे कैद कर लिया । जब उसके पकड़े जानेका समाचार चित्तौड़मे पहुँचा तो सरदारोंने चुप्पी साध ली । यह देखकर उसकी उपपत्नी वीराङ्गना वीराका चेहरा क्रोधसे लाल हो उठा । राणा उसे बहुत मानता था । रानीने गहने उतार डाले और रणचण्डीकी तरह हाथ-मे तलवार लेकर वह यवनोपर टूट पड़ी । उस वीर महिलाकी रण-पटुता तथा वीरता और साहसके सामने अकबरकी सेना युद्ध-भूमिमे न ठहर सकी, उसके पॉव उखड़ गये । राजपूतो-ने भागती हुई सेनाका पीछा कर बहुत-से मुगल सैनिकोंको मार डाला और वह वीराङ्गना अपने पतिको कैदसे छुड़ाकर चित्तौड़ लौट आयी । अकबरको घेरा उठा लेनेके लिये विवश होना पड़ा । राणा उदयसिंहने उसकी वीरता और बुद्धिमत्ता-पर प्रसन्न होकर उसकी बड़ी प्रशंसा की और बहुत कुछ इनाम दिया । इतिहासकार टाड लिखता है कि 'केवल वीरा-की ही वीरतासे चित्तौड़की स्वाधीनता इस बार बच गयी ।' उदयसिंह बहुधा कहा करता था कि वीराके ही कारण मेरा छुटकारा हो सका । सरदार ऐसी बाते सुनकर लज्जासे सिर झुका लिया करते थे । अन्तमे उन्होने षड्यन्त्र रचकर वीराको मरवा डाला । उसने अपने पतिके लिये हॅसते-हॅसते प्राण दे दिये । —रा० श्री०

शिलाद-पत्नी दुर्गावती

'हमलोगोने खूनकी नदी बहा दी थी, महाराज!' खिन्न सैनिकने कहा । 'पर महाराजको बहादुरशाहके क्रूर सैनिकोने वन्दी बना लिया ।' सैनिकने सिर नीचा कर लिया ।

'बहादुरशाह तो हुमायूँका एक छोटा सरदार है' रायसेन दुर्गके अधिपति शिलादके छोटे भाई लक्ष्मणने रोषके साथ उत्तर दिया । 'यदि स्वयं हुमायूँ भी आ जाता, तो मैं उसका मुकाबला करता । उस नीचने भैयाको गिरफ्तार कर लिया तो मै तो हूँ । एक राजपूतके भी रहते म्लेच्छ रायसेन-दुर्गको स्पर्शतक नही कर सकता ।'

तलवारें चलने लगी । राजपूतोने लोथ-पर-लोथ गिराना शुरू कर दिया । मुसल्मान गाजर-मूलीकी तरह कटने लगे । पर वे टिड्डी-दलकी भॉति बढ़ते ही जा रहे थे । मुट्ठीभर राजपूत समाप्तप्राय हो चले ।

× × ×

'सहजमें ही दुर्ग छोड़ देनेपर हम आपके भाईको सकुशल मुक्त कर देंगे और दुर्गके किसी भी स्त्री-पुरुषको कोई क्षति नहीं पहुँचायेंगे। आपकी प्रतिष्ठा बनी रहेगी, अन्यथा युद्धके लिये हम विवश हैं।' लक्ष्मणने बहादुरशाहके पत्रको एक ही साँसमें पढ़ लिया।

शिलादके भाई लक्ष्मण विचार-तरङ्गोंमें डूबने-उतराने लगे।

× × ×

'भाभी! दुर्ग छोड़कर अभी-अभी मेरे साथ चली चलो।' लक्ष्मणने घबराहटसे कहा। 'यवन दुर्गमें प्रवेश करना ही चाहते हैं।'

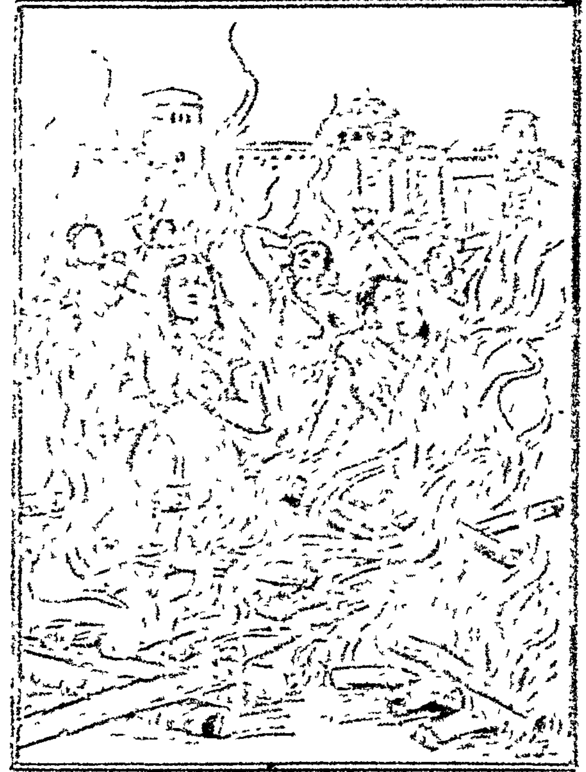
'कायर और निर्लज्ज कहींका!' गरजकर शिलादकी पत्नी दुर्गावतीने कहा—'भाईके बंदी होनेपर दुर्ग शत्रुको सौंपकर जनानखानेमें छिपता है? धिक्कार है तुझे।' दुर्गावती अपने ही दाँतों अपना होठ काट रही थी।

'दुर्गके स्त्री-पुरुषोंकी प्रतिष्ठा बचानेके लिये मैंने ऐसा किया है, भाभी!'

'मुँहमें कालिख लगाकर मेरे सामनेसे अभी हट जा, कायर कहींका!' शिलादकी पत्नी अपने वशमें नहीं थी। उसकी आँखें जल रही थीं। अत्यन्त घृणासे उसने कहा—'राजपूतोंमें कलङ्क लगानेवाले तुझ-जैसे अधम राजपूत नहीं ही मिलेंगे। तू प्राण बचाकर भाग जा, पर हम तो वीर राजपूतकी पत्नी हैं।'

× × ×

मुसल्मानोंने बड़े उत्साहसे 'अल्लाहो अकबर'का नारा लगाते हुए दुर्गमें प्रवेश किया; पर उन्होंने देखा कि भीतर चारों ओर भयंकर आग लगी हुई है। वह समस्त मुस्लिम सैन्यके बुझानेसे भी नहीं बुझ सकती थी।



तीन दिनोंतक सेना दूर ही पड़ी रही। अन्तमें उन्हें वहाँ राखके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सका। सब-के-सब शिलाद-पत्नी दुर्गावतीकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करने लगे।

सतीत्व-रक्षणका जितना उज्ज्वल और ज्वलन्त उदाहरण भारतके इतिहासमें मिलता है, वैसा अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है।

—शि० दु०

महाराणा प्रतापकी रानी

सन् १५७६ ई० में हल्दीघाटीका विकट युद्ध हुआ। मानसिंहने अपमानका बदला चुका लिया। यदि राणा चाहते तो अपने भालेकी नोकसे बाबरके घरका चिराग गुल कर देते, शाहजादा सलीमके हाथीपर चेतक अपने अगले चरण रख चुका था। राजपूतोंने बड़ी वीरता दिखायी, मानका अभिमान विजयी हुआ। राणाके स्वामिभक्त सरदार मानाने उनकी जान बचायी। अकबरके शत्रुको प्रश्रय देना आसान काम नहीं था; और फिर इतनी शक्ति और गौरव ही किसमें रह गया था, जो मेवाड़के सीसोदिया परिवारको आश्रय देता। महाराणाकी प्रियतमाने कहा, 'प्राणाधार! पहाड़ियाँ और जंगल ही हमारा राज्य है, भील ही हमारी प्रजा है। उदयपुर, कुम्भलनेर आदिके राजमहलोंसे भी अधिक सुख हमें जंगलोंमें मिलेगा। स्वाधीनताके सैनिकोंके लिये जंगल ही मंगलका स्थान है।' राणा चल पड़े; उनके पीछे-पीछे कुमार अमरसिंह, उनकी प्यारी राजकुमारी और मेवाड़की महारानी थी। राणाने सारे साधन नष्ट कर दिये, जिससे मुगल उन सामरिक वस्तुओंका उपयोग कर मेवाड़की स्वाधीनताको जर्जर न कर सकें। स्वाधीनताका व्रत बहुत ही कठोर होता है। राणा मेवाड़की पवित्र भूमिसे विदा ले रहे थे; सामने निर्जन मैदान था, विदेशी आक्रमणने राजस्थानको मरुस्थान बना दिया था।

अकबरकी विषैली राजनीतिके क्लोरोफार्मसे मतवाले होकर बड़े-बड़े राजपूत-घरानोंने अपनी सांस्कृतिक परम्परा और मान-सम्मानकी उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया था, मेवाड़को छोड़कर अन्य राजपूत-रियासतोंने अकबरका लोहा मान लिया था। पृथ्वीराज अपनी इस वीर रानीके साथ दिल्लीमें ही रहते थे। किरणदेवी परम सुन्दरी और सुशीला थी। अकबर उसे अपनी वासनाका शिकार बनाना चाहता था। वह शक्तिशाली सम्राट् अवश्य था, किंतु कामाग्नि भी उसके हृदयमें रात-दिन धधका करती थी। दिल्लीके शक्तिशाली सम्राट्की अभिलाषाओंकी पूर्तिमें बाधक होनेके लिये काफी शक्ति और साधनसम्पन्नताकी आवश्यकता थी।

अपनी विषय-वासनाकी तृप्तिके लिये ही अकबर हर-साल दिल्लीमें 'नौरोज'का मेला लगवाता था। राजपूतोंकी तथा दिल्लीकी अन्य स्त्रियाँ इस मेलेके बाजारमें जाया करती थीं। पुरुषोंको मेलेमें जानेकी आज्ञा नहीं थी। अकबर स्त्री-वेषमें इस मेलेमें घूमा करता था। जिस सुन्दरीपर अकबर मुग्ध हो जाता था, उसे उसकी कुट्टिनियाँ फँसाकर उसके राजमहलमें ले जाती थीं।

अकबरकी आँखें बहुत दिनोंसे किरणदेवीपर लगी हुई थीं। उसे सीसोदिया राजघरानेकी सिंहनीकी वीरताका पता नहीं था। वह नहीं जानता था कि भारतीय नारियोंने अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंतकका चितामें जल-जलकर बलिदान कर दिया है। महारानी पद्मिनीकी चिताकी जलती राखका दर्शन उसकी पापी आँखोंने नहीं किया था।

एक दिन जब 'नौरोज'के मेलेमें मीनाबाजारकी सजावट देखनेके लिये किरणदेवी आयी तो कुट्टिनियोंने अकबरके संकेतसे उस पतिव्रताको धोखेसे जनानेमहलपर पहुँचा दिया। विषयान्ध पामर अकबरने उसे घेर लिया और नाना प्रकारके प्रलोभन दिये। किरणदेवीकी तेजस्विताकी प्रखर किरणोंसे अकबरकी कामवासना भभकती जा रही थी। ज्यों ही उसने उस राजपूतरमणीका अङ्ग स्पर्श करनेके लिये हाथ हिलाया, त्यों ही उस रणचण्डीने कमरमें तेज कटार निकाली और शुम्भ-निशुम्भकी तरह उसे धरतीपर पटककर छातीपर पैर रखकर कहा—'नीच! नराधम! भारतका सम्राट् होते हुए भी तूने इतना बड़ा पाप करनेकी कुचेष्टा की! भगवान्ने सती-साध्वियोंकी रक्षाके लिये तुझे बादशाह बनाया है और तू



उनपर बलात्कार करता है! दुष्ट! अधम! तू बादशाह नहीं, नीच विषयी कुत्ता है, पिशाच है; तुझे पता नहीं है कि मैं किस कुलकी कन्या हूँ। सारा भारत तेरे पाँवोंपर सिर झुकाता है; परंतु मेवाड़का सीसोदिया-वंश अभी अपना सिर ऊँचा किये खड़ा है। मैं उसी पवित्र राजवंशकी कन्या हूँ। मेरी धमनियोंमें बाप्पा रावल और साँगाका रक्त है। मेरे अंग-अंगमें पावन क्षत्रिय वीराङ्गनाओंके चरित्रकी पवित्रता है। तू बचना चाहता है तो मनमें सच्चा पश्चात्ताप करके अपनी माताकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा कर कि अबसे 'नौरोज' का मेला नहीं होगा और किसी भी नारीकी आबरूपर तू मन नहीं चलावेगा। नहीं तो, आज इसी तेज धार कटारसे तेरा काम तमाम करती हूँ।'

अकबरके शरीरका खून सूख गया। पानीपत, मालवा, गुजरात और खानदेशके सेनानायकके दोनों हाथ थरथर काँपने लगे। उसने करुणस्वरमें बड़ा पश्चात्ताप करते हुए हाथ जोड़कर कहा, 'मा! क्षमा कर दो, मेरे प्राण तुम्हारे हाथोंमें हैं, पुत्र प्राणोंकी भीख चाहता है।' उसने प्रण किया कि 'अब नौरोजका मेला कभी न लगेगा।' दयामयी आर्यदेवीने अकबरको प्राणोंकी भीख दे दी!

इस तरह तेजस्विनी और पतिव्रता राजपूतरमणीने यवनके हाथोंसे अपने सतीत्वकी रक्षा की। नौरोजका मेला

और मीनावाजार अकवरके चरित्रके वड़े कलङ्क हैं, जिन्हे इतिहासकार कभी नहीं भूल सकते हैं।

किरणदेवी सतीत्वकी प्रखर किरण थी, जिसके आलोकने सारे देशको पातिव्रत्यकी आभासे जगमगा दिया।

कुछ इतिहासकारोंका मत है कि किरणदेवीका नाम जयावती (या जोशीवाई) था। नाम कुछ भी हो, कामसे ही लोगोंकी प्रसिद्धि होती है। इतना तो है ही कि वीकानेरनरेश पृथ्वीराजकी राजरानीके पातिव्रत-धर्मने दुराचारी अकवरको विवश किया कि वह उसे 'मा' कहे। इतिहासने दिखला दिया कि अवला कहलानेवाली नारी कितनी वलवती होती है। रा० श्री०

तीन वीर क्षत्राणियाँ

(कर्मदेवी, कमलावती और कर्णवती)

'वेटा! मेवाड़पर प्रवल शत्रुने आक्रमण किया है। सेना लेकर जा और महाराणाकी सहायता कर!' राजमाता कर्मदेवीने राजपूतानेके केलवाड़ा प्रदेशके शासक अपने सोलह वर्षके पुत्र पुत्तको आदेश दिया। वादशाह अकवरकी सेनाने महाराणा उदयसिंहपर आक्रमण किया है, यह समाचार पहुँच चुका था।

'मा! राणाजीने मुझे युद्धका आमन्त्रण नहीं भेजा है।' नरेश पुत्तने उत्तर दिया।

'वच्चे! राणा दयालु है। तू अभी वच्चा है, यह समझकर उन्होंने तुझे नहीं बुलाया। क्या हो गया इससे! मेवाड़वासी राजपूत होकर मातृभूमिपर संकट आनेपर भी तू चुप वैठा रहेगा? राणाकी प्रजा होकर शत्रुके आक्रमणके समय उनकी सहायता न करेगा? संकोच न कर! तू मेरा पुत्र है। अल्पवया होनेपर भी वीरतामें तू किसीसे कम नहीं। राणाने नहीं बुलाया तो न सही; जन्मभूमि तुझे पुकारती है। जन्मभूमिके आह्वानसे राणाके आमन्त्रणका मूल्य क्या अधिक है? सैन्य सजा और शीघ्रता कर! कदाचित् राणा तेरी सहायता वालक समझकर स्वीकार न भी करें तो स्मरण रखना कि तू स्वदेशकी सेवाके लिये जा रहा है। राणाकी स्वीकृतिका कोई अर्थ नहीं। तुझे स्वदेशकी सेवा अवश्य करनी है। प्रस्थान कर, पुत्र! प्रभु तेरा मङ्गल करें!' राजमाताने प्रोत्साहित किया।

ऐसी माताओंके पुत्र कापुरुष नहीं हुआ करते। सिंहिनी गीदड़ नहीं जनती। पुत्त शूर थे। माताका आदेश स्वीकार किया उन्होंने। सैन्य लेकर वे चित्तौड़की ओर चले। पुत्रके चले जानेपर राजमाता कर्मदेवीने पुत्री तथा पुत्रवधूसे कहा—'मेरा वच्चा पुत्त अभी भी वालक है, अनुभवशून्य है। मैं उसे युद्धमें भेजकर निश्चिन्त नहीं रह सकती। जा रही हूँ—जहाँतक सम्भव होगा, सहायता करूँगी।'

'मा! मैं भी तुम्हारी पुत्री हूँ। तुमने मुझे हाथोंमे स्वर्ण-कङ्कण पहननेके साथ तलवार सम्हालनेकी भी शिक्षा दी है। अपने भैयाकी सहायता करूँगी मैं। मुझे रोको मत! साथ ले चलो।' राजकुमारी कर्णवतीने आग्रह किया।

'मैं उन शूरकी सहधर्मिणी हूँ। उनकी प्रत्येक दशामे सेवा करना मेरा कर्तव्य है। वे विजयी होंगे तो मैं साथ लौटूँगी और कदाचित् उन्होंने वीरशय्या ली तो क्षत्राणी परलोकतक पतिके साथ जाना गर्भसे ही सीखकर आती है। मा! मुझे यहाँ मत छोड़ो।' पुत्रवधू कमलावतीने सासके चरण पकड़ लिये।

'ठीक, चलो!' तनिक सोचकर राजमाताने दोनोंको आदेश दे दिया। शस्त्रसज्ज होकर तीनों क्षत्राणियाँ घोड़ोंपर वैठीं। चित्तौड़के प्रायः सभी सामन्त राणाकी सहायताको आये थे। वेदनोरके ठाकुर जयमल्लको महाराणाने सेनापति वनाया। युद्धमें वे खेत रहे। इस अवसरमें पुत्तने जो शूरता एवं रणकौशल प्रदर्शित किया था, उससे राणाने द्वितीय सेनापतिका गौरव उन्हें प्रदान किया।

अकवरने एक वड़ी सेना पुत्तके सम्मुख भेज दी और स्वयं घूमकर एक पहाड़ी मार्गसे पुत्तके पृष्ठभागपर आक्रमण करनेके लिये विशाल सैन्य लेकर चल पड़े। एक तंग जगहपर पहुँचते ही सम्मुखसे गोलियोंकी वर्षाका सामना करना पड़ा मुगलसेनाको। इस आक्रमणका वादशाहने अनुमान तक नहीं किया था। प्रत्येक गोली एक सैनिककी भेंट ले रही थी। वादशाहको तव और भी आश्चर्य हुआ, जव उन्हें उनके एक चरने वृक्षपरसे देखनेके पश्चात् वताया कि केवल तीन स्त्रियाँ पर्वतकी एक आड़से यह गोली-वर्षा कर रही हैं। राजमाता कर्मदेवी चुपचाप आयी थीं। उन्होंने किसीको वहाँ सूचना नहीं दी थी। युद्धस्थलका निरीक्षण करके उन्होंने समझ लिया था कि इस मार्गसे पुत्तपर पीछेसे

आक्रमण हो सकता है। मार्गकी रक्षाके लिये पुत्री तथा पुत्र-वधूके साथ एक अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थानपर उन्होंने मोर्चा बना लिया था।

'केवल तीन स्त्रियाँ !' बादशाहको आश्चर्य हुआ। उन्होने सैनिकोंको प्रोत्साहित किया। धड़ा-धड़ सैनिक गोली खाकर गिरते जा रहे थे, फिर भी वे बढ़ रहे थे! एक गोली लगी और राजकुमारी कर्णावती गिर पड़ीं। राजमाताने केवल एक दृष्टि पुत्रीपर डाली। मृत्युका वरण करने तो वे तीनों आयी ही थीं। इस समय शोक कैसा। राजकुमारीके प्राण परलोककी यात्रामें और राजमाता गोलीवर्षामें लग गयीं। कहाँतक दो स्त्रियाँ पूरी सेनाका सामना करतीं। गोलियाँ लगीं, दोनों गिर पड़ीं।

'मा, तुम! और यह!' इसी समय अपने सम्मुखकी सेनाको पराजित करके पुत्त पहुँच गये। उन्हे बादशाहके इधर आनेका समाचार मिल गया था। माता तथा पत्नीको देखकर वे चौंके। उन्होंने बैठकर दोनोंको दोनो जानुओपर उठाया। सेनाको आगे बढ़नेका वे आदेश दे चुके थे। कमलावतीने एक बार मस्तक उठाया। नेत्र खुले और पति-के दर्शन करके सदाके लिये खुले रह गये। पतिके अङ्कमे ही उन्होंने शरीर छोड़ा।

'बेटा! युद्धकी यह गड़बड़ मैं सुन रही हूँ। तू यहाँ किसलिये समय नष्ट कर रहा है? सेनापतिसे हीन सेना क्या कर लेगी? शत्रुओंको जीतकर देशकी रक्षा करनेमें तू समर्थ हो तो ठीक; नहीं तो युद्धमें सम्मुख लड़ते हुए शरीर छोड़ना। स्वर्गमें मैं तुझे बधाई देनेको प्रस्तुत रहूँगी। तेरी बहिन तेरा स्वागत करेगी और तेरी पत्नी तेरी प्रतीक्षा करती मिलेगी।' राजमाता सम्भवतः पुत्रको यही आदेश देनेको प्राण रोके थीं।



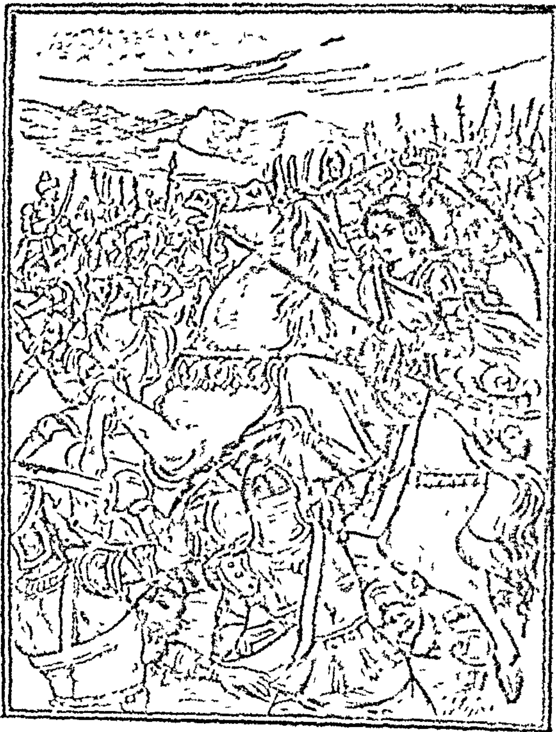
'हर-हर महादेव! जय श्रीएकलिङ्ग!' पुत्तने शत्रुओपर आक्रमण किया और युद्धके पवित्र तीर्थमे शरीर छोड़ा उन्होंने। —सु० सि०

वीराङ्गना ताराबाई

ताराबाई नामकी कई सती-साध्वी स्त्रियाँ भारतीय इतिहासमें ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं।

टोंक एक रियासत है। पहले वहाँ राव सुरनाथका आधिपत्य था। सोलहवीं सदीमें यवनोंके कपटपूर्ण अत्याचारके कारण उन्हें यह प्रदेश छोड़ देना पड़ा। वे अरावली पहाड़की तलहटीमें एक छोटा-सा प्रदेश बसाकर रहने लगे। चरित्रनायिका ताराबाई उन्हींकी वीर पुत्री थी, राव सुरनाथके कोई और सन्तान न थी। ताराकी माका बहुत पहले ही देहान्त हो चुका था, उसकी शिक्षाका भार राव सुरनाथपर ही पड़ा। वह स्वयं एक वीर पुरुष था, उसने सन्तानको भी वीर बनाना चाहा; यही कारण था कि थोड़े ही दिनोंमें ताराने घोड़ेपर चढ़ना, तलवार चलाना, भाला मारना आदि भली प्रकार सीख लिये। ज्यो-ज्यो वह बड़ी होती गयी, वीरताकी भावनाएँ उसमे प्रबल होने लगीं। कभी-कभी सुरनाथ उसे अपनी जन्मभूमि टोंककी कहानी सुनाता। वह कहता कि भारतकी छातीपर दुष्ट यवनोंका नंगा नाच हो रहा है। उनके अत्याचार और बलात्कारके सामने असुरोंकी दानवता भी मात हो रही है। वह अपनी पुत्रीको समझाता था कि विदेशियोंको मातृभूमिसे बाहर निकाल देना प्रत्येक हिंदुस्थानीका कर्तव्य है। पिताके वीरता-पूर्ण प्रवचनोंको सुनकर तारा कहने लगती थी कि 'आप राजपूतोंकी सेना तैयारकर शत्रुओपर आक्रमण करें, सेना-पतित्वका भार मेरे कंधोंपर होगा।'

पिताने वीर पुत्रीकी बात मानकर बहुत बड़ी सेना तैयार



के मैदानमें शत्रुसेनाका विनाश करने लगी। उसके तेज बाण दुश्मनोंको मटियामेट करने लगे। परन्तु मुट्ठीभर राजपूत अधिक देरतक विशाल मुगल-सेनाके सामने न ठहर सके। रानी घायल हुई, उसकी बायीं आँखमें आकर अचानक तीर लगा। निकालनेका प्रयत्न करनेपर भी वह नहीं निकला। फिर भी वह वीराङ्गना लड़ती रही। थोड़ी ही देरमें सारी राजपूत-सेनामें हाहाकार मच गया। वीर पुत्र नारायण, रानीके नयनोंका तारा, जो रानीके हाथीके बगलमें घोड़ेपर सवार होकर मुगलोंसे लोहा ले रहा था, दुश्मनके एक बाणसे चल बसा। साध्वी रानी पुत्र-वियोगमें कर्तव्य-पथसे विचलित न हुई। उसने लड़ाई जारी रक्खी। पुत्रका शव उसकी आँखोंके सामनेसे दूर हटा लिया गया। परन्तु सहनशक्तिकी भी सीमा होती है, रानी बुरी तरह घायल हो गयी। आँखों तले अँधेरा छा गया। जब विजयकी कोई आशा नहीं रह गयी, तब देखते-ही देखते उस वीराङ्गनाने कमरसे कटार निकालकर अपनी छातीमें भोंक ली। शत्रु तमाशा देखते रह गये। कितना महान् पराक्रम और सतीत्वका बल उसे प्राप्त था, इसका निर्णय इतिहासकार भी नहीं कर सके। रानी रणगङ्गामें अवगाहन करके पवित्र हो गयी।

गढ़मण्डलपर अकबरका आधिपत्य हो गया। दिल्लीका खजाना रत्नों, मोतियों और हीरोंसे भर गया; लेकिन दुर्गावती-रत्नपर यवनोंका अधिकार न हो सका। —रा० श्री०

रूपनगढ़की राजकुमारी

'अपनी कन्याको शाही बेगम बननेके लिये तुरंत दिल्ली भेज दो!' औरंगजेबके इस संदेशके साथ दिल्लीसे एक सेना भी रूपनगढ़के राजा विक्रम सोलंकीके पास पहुँची। अनेक राजपूत नरेशोंने अपनी कन्याएँ दिल्लीको भेज दी थीं। विरोध करनेमें केवल सर्वनाश ही था। कोई मार्ग न देखकर राजा प्रस्तुत हो गये। राजकुमारीको भी समाचार मिला। वे इससे अत्यन्त दुखी हो गयीं।

राजकुमारी मन-ही-मन चित्तौड़के राणा राजसिंहकी पूजा करती थीं। कारण यह था कि एक दिन रूपनगढ़के जनाना महलमें किसी मुसलमान बिसातिनने रानियों तथा राजकन्याओंको महाराणा प्रताप, अमरसिंह, शाहजहाँ, अकबर, जहाँगीर आदिके चित्र दिखानेके साथ ही राणा राजसिंहका चित्र भी दिखलाया था। राजकुमारीका चित्त उस दिव्य चित्रपर लग गया। इतनेमें बिसातिनने औरंगजेबका चित्र दिखलाया। सखियाँ उस चित्रको देखकर हँसने लगीं। हँसी-हँसीमें चित्र जमीनपर गिरकर टूट गया। इसपर बिसातिनने कहा कि 'शाहनशाह'के चित्रका इतना अपमान किया गया है, यह अच्छा नहीं हुआ। बादशाहको पता लगेगा तो रूपनगढ़के किलेकी एक ईंट भी नहीं बचेगी।' राजकुमारी यह सुनकर तड़क उठी और उसने चित्रका दाम उसकी ओर फेंककर कहा कि 'सब बारी-बारी इस चित्रपर एक-एक लात मारो।' सहेलियोंने आदेशका पालन किया। बिसातिनको यह बहुत बुरा लगा और उसने दिल्ली पहुँचकर ये सारी बातें महलकी बेगमोंकी मारफत औरंगजेबके पास पहुँचा दीं। वह तो हिंदू-राज्योंको तहस नहस करनेका बहाना खोजा ही करता था। आगबबूला हो उठा और उसने उसी क्षण रूपनगढ़के राजाको राजकुमारीको देनेके लिये सूचना भेज दी।

एकान्तमें राजकुमारीने पितासे रोते हुए प्रार्थना की। 'पिताजी! अन्ततः आपने यह क्या सोचा। पवित्र राजपूत-कुलमें जन्म लेकर मैं मुगलानी बनूँगी? आपको अपनी कन्या यवनको देते लज्जा नहीं प्रतीत होती? देव-पूजाके योग्य पुष्प क्या पिशाचके पैरोंसे कुचला जायगा?'

'पुत्री! आज अपनेसे बहुत ऊँचे-ऊँचे राजघरानोंकी कन्याएँ बादशाहकी बेगमें हैं। जोधपुरकी कन्या जिस स्थानपर है, वहाँ मेरी पुत्री पहुँचेगी—यह तो अपमानकी बात नहीं है। तू सम्राज्ञी होगी। अपना छोटा-सा राज्य है। इतना गौरव अपनेको मिल रहा है। तू व्यर्थ क्यों दुखी होती है।' नरेश जानते थे कि वे आत्मवञ्चना कर रहे हैं।

वीर रानी दुर्गावती



तीर लगा आ आँखमें, संमुख सैन्य अपार ।
दुर्गा-सी दुर्गावती करती शत्रु-सँहार ॥

'मेरे भाग्यमे कोई वीर राजपूत न हो तो मैं कुमारी रह लूँगी। आप वीर राजपूत होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं ? इस नरक-कुण्डमें भेजनेके बदले मुझे चितामें क्यों नहीं डाल देते। ऊँचे कुल और बड़े राज्योंका सौभाग्य उन्हींके समीप रहे। बाहरी सम्पत्ति ही श्रेष्ठता नहीं है। धर्म ही श्रेष्ठ है। राज्य क्या बड़ा और क्या छोटा। राजपूतका गौरव उसकी शूरता और आन है। मुझे बादशाहका वैभव नहीं चाहिये। दूसरोंकी भाँति आप अपने वंशको कलङ्क न लगावें। मैं धनी-मानी यवनके राजमहलके बदले गर्वित राजपूतकी टूटी झोपड़ीमें जाना श्रेष्ठ मानती हूँ।' राजकन्याने बड़े ओजस्वी स्वरमें पिताको उत्तर दिया।

'मैं तुम्हारी बात समझता हूँ, तुम्हारे कष्टका भी मुझे पता है; पर मैं विवश हूँ। बादशाहके सम्मुख मेरी शक्ति नगण्य है। मैं विरोध भी करूँ तो बादशाह बलपूर्वक तुम्हें ले जायँगे। इस व्यर्थके सर्वनाशसे बचनेके लिये मैं ऐसा कर रहा हूँ।' नरेशके नेत्र भर आये। अधिक छिपाना वशमें नहीं था।

'क्षत्राणीको बलपूर्वक अधर्ममें लगानेकी शक्ति दिल्ली तो क्या, देवताओंकी सेनामें भी नहीं। अग्नि, विष और तलवार—ये तीन क्षत्रियाकी नित्य सहचरियाँ हैं। इनकी सहायतासे सदा राजपूत-महिलाओंने आत्मरक्षा की है। मुगलोंका सामना करनेकी शक्ति आपमें नहीं है तो अपनी रक्षा कर लेनेकी शक्ति मुझमें है।' राजकुमारी आवेशमें खड़ी हो गयीं।

'धर्म-रक्षाके लिये पुत्रीकी मृत्युसे राजपूत कभी दुखी नहीं होता। तुम्हारे मरनेसे मुझे कष्ट नहीं होगा। मैं गौरवका अनुभव करूँगा कि मेरी कन्या इतनी पवित्र थी। किंतु तुम्हारे मरनेका समाचार पाकर बादशाह रुष्ट हो जायँगे। वे यही समझेंगे कि उन्हें कन्या न देकर मैंने मार डाला है। अपमान समझकर वे आक्रमण करेंगे। यदि तुम्हें जन्मभूमिको ध्वंस करना हो तो यही करो।' नरेशने नीतिका आश्रय लिया।

'आप मुझे यवन-सेनाके साथ भेज दें।' राजकुमारीने निश्चय कर लिया कि वे मार्गमें अपघात करेंगी। पिताके पाससे लौटकर वे अनेक चिन्ताओंमें तल्लीन हो गयीं। अन्तमें उनके मुखपर आशाकी एक रेखा आयी। बड़े उत्साहसे उन्होंने एक पत्र लिखा। राजकुमारीका पत्र लेकर एक विश्वस्त घुड़सवार उदयपुर पहुँचा। उसने आदरपूर्वक महाराज राजसिंहको पत्र दिया।

'महाराणा! आप राजपूतोंके गौरव हैं। आपके पूर्वजोंने धर्म-रक्षाके लिये सर्वस्व न्योछावर कर दिया है। विपत्तिमें पड़ी एक राजपूत-बालिका आपकी शरण है। धर्म तथा राजपूतोंकी आनके रक्षक क्या विपत्तिमें पड़ी एक बालिकाकी रक्षा न करेंगे ? आप मेरी उपेक्षा कर देंगे ? सदासे राजपूतोंके सम्मानका रक्षण करनेवालोंके वंशज होकर आप एक राजपूत-कन्याका अपमान सह लेंगे ? मेरे लिये इससे बड़ी विपत्ति और क्या होगी, इसीसे मैं आपसे रक्षाकी याचना करती हूँ। मेवाड़के अधिपतिके जीवित रहते एक राजपूत-कन्या अनिच्छापूर्वक दिल्लीके मुगलकी बेगम बनायी जायगी ? सोच लीजिये—बड़ी प्रबल शक्तिसे शत्रुता मोल लेनी है। प्राणोंपर खेलना है। बदलेमें कुछ मिलेगा नहीं। मैं एक दरिद्र लड़की हूँ। आपके चरणोंमें अपने-आपको चढ़ा देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है मेरे पास। भुजाओंमें शक्ति न हो तो रहने दीजिये। दुराचारी यवनोंसे रक्षा करनेमें यदि आप कायर हो जायँगे तो विष मेरे पास है। मैं अपनी रक्षा कर लूँगी। आज भी आपकी तलवार म्यानमें रहे तो वह म्यानमें ही रहने योग्य होगी।' राजसिंहने पत्र पढ़ा। नेत्र अँगारे हो उठे। होठ फड़कने लगे।

'राजकुमारीसे कहना, प्रतापके वंशजमें अभी उनका रक्त है। वे निश्चिन्त रहें।' राजसिंहने दूतको उसी समय विदा कर दिया। सेनाको सज्जित होनेकी आज्ञा दी गयी। रूपनगढ़से दिल्लीके मार्गमें एक पर्वतीय स्थानमें राजसिंहने सेना व्यवस्थित की। राजकुमारी यवन-सेनाके साथ चलीं। पालकीमें बैठे रहनेपर भी उनके नेत्र सदा बाहर किसीका अन्वेषण करते रहते थे। पहाड़ी स्थलपर पहुँचते ही राजसिंहने अकस्मात् आक्रमण कर दिया। मुगल सैनिक तितर-बितर



होकर भाग गये । समाचार पाकर औरंगजेबने चढ़ाई की। सन् १६८० में बादशाहको राजसिंहके द्वारा पराजित होकर लौटना पड़ा । रूपनगढ़की राजकुमारी मेवाड़की महारानी हुई। —सु० सिं०

वीराङ्गना हाडी रानी

चित्तौड़के सिंहासनपर राणा राजसिंह आसीन थे। बादशाह औरंगजेबने रूपनगढ़की राजकन्यासे विवाह करना चाहा। राजकुमारी चञ्चलकुमारी या रूपवतीने चित्तौड़के राणाके पास पत्र भेजा कि 'क्या राजसिंह सीसोदिया-कुल-भूषणके जीते-जी राजहंसिनीका गिद्धसे विवाह होगा?' राणा सहायताके लिये वचनबद्ध हो गये और शूरवीर सरदार चूँडावतके यह कहनेपर कि जबतक आप राठौर-कन्याका पाणिग्रहण कर उदयपुर लौट न आवेंगे, मैं शाही सेनाको मार्गमें ही रोक रक्खूँगा, वे एक सुसज्जित सेना लेकर रूपनगढ़की ओर चल पड़े।

सरदार चूँडावतने अपनी राजधानीमें युद्धका डंका बजा दिया, क्षत्रिय मरने-मारनेको तैयार हो गये। राणाके लिये प्रयाण करते समय सरदारने अपनी नव-विवाहिता यौवनोन्मादिनी रानीको देखा, उसका मुख फीका पड़ गया। वह न आगे बढ़ सका न पीछे ही आ सका। अपने पतिकी यह शिथिलता देखकर हाडी रानीको बड़ा आश्चर्य हुआ। रानीने अपनी शपथ देकर सरदारसे उदासीका कारण पूछा। सरदारने सारी बातें बतला दीं और कहा कि 'मुझे मरनेसे कुछ भी भय नहीं है, वीर तो रणमें मरते ही हैं; मुझे चिन्ता केवल इस बातकी है कि तुमने विवाहका कुछ भी सुख कभी नहीं देखा।' रानीने सिंहिनीकी तरह कड़ककर कहा कि 'प्राणनाथ! आप मेरी चिन्ता छोड़ दें, राजपूतनी सतीत्व और पातिव्रत-धर्मका मूल्य जानती है। यदि आप रणक्षेत्रमें विजय पायेंगे तो इससे बढ़कर मेरे लिये और कौन-सा सुख होगा। पर मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि यदि आप रणक्षेत्रमें दिव्यलोकको प्रयाण कर जायँगे तो मैं सती होकर आपको वहाँ भी दाम्पत्य-सुखसे सन्तुष्ट करूँगी, इस कथनमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये।'

सरदारको विश्वास न हो सका कि उसके मरनेके बाद उसकी तरुण रानी सती होगी; इसलिये विदा लेते समय उसने फिर सावधान किया कि 'मेरे मरनेके बाद तुम अपना धर्म मत भूल जाना।' राजधानीमें जब धौंसा बजने लगा तो उसने विश्वासपात्र सेवकसे उसके पास फिर उसी तरहका सन्देश भेजा। क्योंकि उसे भय था कि स्वर्गमें वह कहीं दाम्पत्य-सुखसे वञ्चित न रह जाय! हाडी रानीको अब यह डर हो गया कि 'कहीं ऐसा न हो कि सरदार मेरे ही कारण युद्धसे विमुख हो जायँ या रणसे कायरकी तरह भाग खड़े हों।' उस सतीने अपना सिर काटकर सेवकके हाथमें



रख दिया। सिर काटनेके पहले उसने कहा था कि 'पतिदेवसे कह देना, मैं पहले ही सती होकर देवलोककी यात्रा कर रही हूँ और आपको प्रेमके चिह्नस्वरूप यह भेंट भेज रही हूँ; इसे लेकर आप रणभूमिमें पधारें और विजय प्राप्त करके यशलाभ करें। देवलोकमें हम दोनोंका पुनः सम्मेलन होगा।' वीर चूँडावत रानी हाडीका सिर देखकर आनन्दित हो उठा और दूने उत्साहसे युद्ध करने लगा।

हाडी रानीका यह आत्मबलिदान सर्वथा स्तुत्य है। इतिहासमें ऐसी ही देवियोंके नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाते हैं।

—रा० श्री०

सती प्रभावती



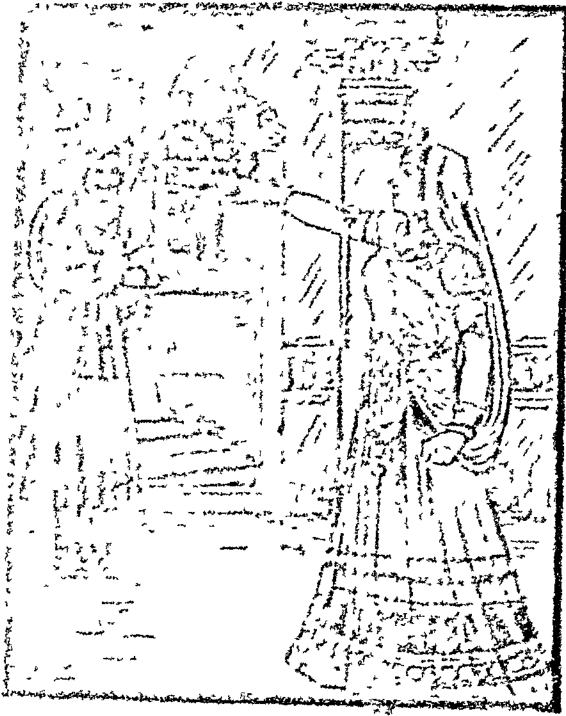
सती प्रभावती गुन्नौरके राजाकी रानी थी; रूप, लावण्य और गुणोंमें उसके समान उस समय कोई-कोई ही थीं। उसकी सुन्दरताकी ख्यातिपर मुग्ध होकर निकटस्थ यवनाधिपतिने गुन्नौरपर चढ़ाई की। रानी बड़ी वीरतासे लड़ी। बहुतसे राजपूत और यवन सैनिक मारे गये। जब थोड़ी-सी सेना शेष रह गयी, रानी गुन्नौर किलेसे नर्मदा किलेमें चली गयी। गुन्नौरपर यवनोंका आधिपत्य स्थापित हो गया। यवनसेनाने उसका पीछा किया। रानीने किलेके फाटक बंद करवा लिये। बहुत-से राजपूत मारे गये। यवनाधिपतिने रानीको पत्र लिखा कि 'तुम आत्मसमर्पण कर दो।' उसने यह भी लिखा था कि 'तुम मेरे साथ विवाह कर लो; मैं राज्य लौटा दूँगा और दासकी तरह रहूँगा।' रानी पत्र पाकर क्रोधसे जल उठी; पर अन्य उपायोंसे रक्षा न होती देखकर उसने कूटनीतिसे उस दुष्टको उचित शिक्षा देनी चाही। रानीने उसे लिखा कि 'मैं विवाह करनेके लिये तैयार हूँ, किंतु विवाहयोग्य पोशाक आपके पास तैयार नहीं है। मैं पोशाक भेजती हूँ, आप उसीको पहनकर पधारें।' वह नराधम अत्यन्त प्रसन्न हुआ; उसने नहीं सोचा कि राजपूत-रमणियोंसे ऐसा व्यवहार करनेके लिये प्राणोंकी भी बलि देनी पड़ती है। दूसरे दिन रानीने पोशाक भेज दी। दुष्ट यवन शादीकी पोशाक पहनकर महलमें पहुँचा। रानीका दिव्य रूप देखकर वह दुष्ट चिल्ला उठा—'यह तो अप्सरा है।' रानी उसे देखती रही, थोड़ी ही देरमें यवनकी विकलता बढ़ने लगी। वह पीड़ासे व्याकुल हो उठा। आँखोंतले अँधेरा छा गया और कपड़े फाड़ता हुआ वह छटपटाकर कहने लगा—'अरे! मैं तो मरा।' रानीने उस नीचसे कहा—'खाँ साहेब! अब आपकी अन्तकी घड़ी आ पहुँची है। मेरे बदले मृत्युदेवीसे विवाह हो रहा है। आपकी कामान्धतासे सतीत्वरक्षाकी रक्षाके लिये इसके अतिरिक्त और उपाय ही नहीं था कि आपकी मृत्युके लिये विषसे रँगी पोशाक भेजती।' इतना कहकर उस सतीने ईश्वरका नाम लिया और फिर नर्मदा नदीकी पवित्र लहरियोंमें कूदकर अपने प्राण त्याग दिये। यवन भी वहींपर तड़प तड़पकर मर गया।

प्रभावतीके सतीत्वकी प्रभासे गुन्नौर राज्यका कोना-कोना आलोकित हो उठा। उसका जीवन धन्य था। —रा० श्री०

महाराज यशवंतसिंहकी रानी

जोधपुर-नरेश यशवंतसिंहकी रानी बड़ी वीराङ्गना थी, टेक और मर्यादाकी मूर्ति थी। वह राजनीतिमें भी कुशल थी। फ्रेंच-यात्री बर्नियरने उसकी राजनीतिज्ञता, साहस और सतीत्वकी अपनी 'भारतयात्रा' पुस्तकमें बड़ी प्रशंसा की है।

एक बार इस सतीने सुना कि उसके पति यशवंतसिंह आठ हजारमेंसे केवल पाँच सौ सैनिकोंके साथ, अप्रतिष्ठा और पराजयसे नहीं, शत्रुओंसे वीरतापूर्वक लड़कर लौट रहे हैं तो उसने बधाई भेजना तो दूर रहा, बड़ी कड़ाईसे किलेके सारे फाटक बंद करवा लिये और कहला भेजा कि 'मेवाड़के



[illegible] अमित्र शत्रुओंको पूरी तरह पराजित बिना किये ही [illegible] रणभूमिसे लौट आते हैं तो उनके लिये बड़ी लज्जाकी [illegible]। उन्हें तो वीरतासे लड़कर युद्धभूमिमें ही मर जाना [illegible] था।' और इसके बाद ही उसने कहा कि 'नहीं-नहीं, [illegible] बिना पूरी जीत पाये कभी नहीं लौट सकते। [illegible] गये हैं और रानीने चिता तैयार करनेका आदेश दिया। इस तरह कई दिन बीत गये। वह पागल हो उठी; परंतु बादमें उसकी माने समझाया कि महाराजने विश्राम लेनेके लिये ही यह चाल चली है और सेना सुसज्जित कर औरंगजेबको हरानेकी पूरी योजना बनायी है।

कुछ ही दिनोंके बाद राजाका एक रणस्थलमें ही देहान्त हो गया। रानीने पतिके स्वर्गगमनके बाद बड़े-बड़े आश्चर्यके काम किये। उसने मेवाड़के राणाकी अध्यक्षतामें विदेशी सत्ताको बाहर निकालनेके लिये एक राजपूत-संघ बनाया। अपनी और पुत्र अजीतसिंहकी रक्षाका भार राणा राजसिंहके कंधोंपर रख निश्चिन्त होकर उसने विधर्मियोंके विनाशकी योजनामें जीवनके अन्तिम दिन बिताये। वह राजपूत सैनिकोंको यह कहकर उत्तेजित किया करती थी कि 'हिंदुस्थान हिंदुओंका है। विदेशियों और गो-वध करनेवाले यवनोंको इस पवित्र भूमिसे बाहर कर देना बड़े पुण्यका काम होगा।' यदि यह रानी कुछ दिन और जीवित रहती तो मुगलोंका तख्त उलट जाता; देशका इतिहास कुछ दूसरा ही होता। राजपूतानेमें हिंदु-पुनरुत्थानका बीज अङ्कुरित हो चुका था। कर्नल टाडने लिखा है कि 'राजपूतोंने शक्ति और वीरतासे सैन्य-सञ्चार आरम्भ कर दिया था। बादशाह औरंगजेबके अशिष्ट और अमानुषी व्यवहारोंसे ही उन्होंने ऐसा करना चाहा था और आशङ्का थी कि मुगलोंकी राजसत्ताका अन्त हो जाता।'

महारानीकी कीर्ति अमिट है। वह आदर्श पत्नी और सती थी। —रा० श्री०

सती भगवती

'ठाकुर साहब! मैंने अभी आपकी बहिनको स्नान करते समय देखा है। ऐसी खूबसूरत इस तरह तकलीफ पाने लायक नहीं। वह तो बेगम होने लायक है। मैं आपको पाँच हजार अशर्फियाँ दूँगा और आपकी जागीर बढ़ा दी जायगी। बड़ा एहसानमन्द होऊँगा। अपनी बहन आप मुझे दे दीजिये!' मिर्जासाहबने कहा।

'लात मारता हूँ तेरी जागीर और तेरी सोनेकी थैलियों-पर। खबरदार! फिर ऐसी बात जबानसे निकाली तो सिर जमीन चूमता होगा।' राजपूतके नेत्र अंगारे उगलने लगे। हाथ तलवारकी मूँठपर जम गया। भयके मारे मिर्जा पीछे हट गया। इसी समय संकेत पाकर उसके सिपाहियोंने पीछेसे गोविन्दसिंहको पकड़ लिया।

'अच्छा, तो तुम सीधे न मानोगे? बंद कर दो बदमाश-को।' सिंहको बन्दी देखकर मिर्जा गरजे। बेचारा राजपूत नौकाके बन्दीघरमें हाथ-पैर बाँधकर डाल दिया गया।

समाचार गोविन्दसिंहके घर पहुँचा। उनकी पत्नी अत्यन्त दुःखी हुई। भौजाइयाँ ये ननदपर उबल पड़ीं—'तू बड़ी

अभागिनी है। तेरे ही कारण मेरे पतिदेव पकड़े गये हैं। पता नही अब उनकी क्या दशा है। तेरा यह रूप जला देने योग्य है। इतनी बड़ी हो गयी, पर घरमे स्नान करते बनता ही नही। ले, अब तो तेरा सन्तोष हुआ।'

भगवतीने धैर्यपूर्वक कहा—'भाभी! शोक मत करो। मैं अभी भैयाको छुड़ाकर भेज देती हूँ।'

पतिके शोकमें निमग्न स्त्रीने समझा ही नही कि उसकी ननद क्या करने जा रही है। भगवती सीधे घाटपर आयी। उसने झुककर मिर्जाको आदाब करके कहा—'नाहक मेरे लिये जनावने यह तूमार खड़ा किया है। मेरे लिये इससे अच्छी किस्मत क्या होगी कि मै बेगम बनने जा रही हूँ। मेरे भाई-को छोड़ दीजिये। मै नावसे सफर करनेमे डरती हूँ। खूब-सूरत पालकी मँगाइये। मेरे लिये कीमती जेवर और साड़ी मँगाइये। बेगम होकर मैं इस हालतमे हर्गिज नहीं जाऊँगी।'

होरिलसिंह छोड़ दिये गये। आभूषण तथा कपड़े आने-मे कितनी देर। मन मारकर भगवतीने सबको पहना और पालकीमे बैठ गयी। मार्गमे बड़ा सुन्दर सरोवर पड़ता था। वहाँ पहुँचकर उसने कहा कि 'प्यास लगी है।' खुद मिर्जा-साहब दौड़े बधना लेकर। भगवतीने रोका—'आपके महलोंमे चलकर निकाह हो जानेपर मैं आपका छुआ खाऊँगी और पानी पीऊँगी। अभी मुझे माफ कीजिये। मेरे वालिदने यह तालाब बनवाया है। मैं बचपनमे इसमे बहुत तैरती रही हूँ। पता नहीं कब यह देखनेको मिले। आखिरी बार मै खुद इससे पानी पीऊँगी।'

किसीके उतारनेकी अपेक्षा किये बिना ही वह उतर पड़ी। ऊँचे घाटपर पहुँचकर उसने हाथ जोड़ा, 'मा दुर्गे! मेरी रक्षा करना। मेरा शरीर इन म्लेच्छोसे न छुआ जाय।' कूद पड़ी वहीं-से। देर होते देख मिर्जा अपने आदमियोको लेकर पहुँचे। वहाँ



क्या धरा था। अब उनकी समझमे बात आयी। सरोवरमे जाल डाला गया। शवका पता नही था। समाचार पाकर होरिल-सिंह पहुँचे। उन्होने भी जाल डलवाया। प्राणहीन बहनका शव उसमें देखकर हाथ जोड़कर वे बोले 'भगवती! तू सच-मुच भगवती थी। तूने मेरे कुलकी लज्जा रख ली।

वही सतीके शरीरका दाह हुआ। आज भी वहाँ सती-चौरा है और लोग श्रद्धासे उसकी पूजा करते हैं। —सु० सिं०

सती सारन्धा

नारीत्वके तीन आधार सतीत्व, पातिव्रत्य और सदाचार हैं; इन तीनों सद्गुणोकी त्रिवेणीमे लेखकों, कवियो और चारणोंने एक नहीं, हजारों बार स्नानकर अपनी लेखनी, वाणी और कविताएँ पवित्र कर ली हैं। जिस वीरकी यशो-गाथा गानेके लिये कवियोकी वाणी मचल उठी, जिसकी प्रशंसामे शिवाजी महाराजके कवि भूषणने 'रैयाराव चम्पत-को छत्रसाल महाराज, भूषन सकै को बखान करि बलनके' लिख डाला, उसी छत्रसालकी वीर माताका नाम सारन्धा था। वह रूपवती, उदार और परम वीरहृदया थी। इस सतीने सुखकी कोमल सेज त्यागकर कॉटेदार झाड़ियोंको अपना निवासस्थान बनाया। इस रानीके तपोमय आदर्श और त्यागमूलक वीरत्वके काम जीवनमे बड़ी श्रद्धा उत्पन्न क

सारन्धा चम्पतरायकी वीर पत्नी थी। उसकी वीरताकी गाथाएँ शाही दरबारमें भी कही-सुनी जाती थी। रानी सारन्धा-टेकड़ीके शासक अनिरुद्धसिंहकी बहन थी। अनिरुद्ध-सिंहकी रानी शीतला अपने पतिको बहुत प्रेम करती थी, लेकिन सारन्धा देश और मातृभूमिकी रक्षामें सदैव तत्पर रहती थी।

एक दिन रातमें घना अन्धकार छाया हुआ था। शीतला पतिके वियोगमे ऑसू बहा रही थी। सारन्धा भी पास ही बैठी थी। इतनेमे अनिरुद्धसिंह आ पहुँचा। उसके कपड़े भीगे थे, हथियार छीन लिये गये थे। शीतलाने पतिकी अवस्थापर बड़ी चिन्ता प्रकट की। वह दुश्मनोसे हारकर चला आया था। सारन्धाकी नसोमे बिजली दौड़ गयी। उसने उत्तेजित

होकर कहा—'जिस कुलकी मानरक्षाके लिये समय-समयपर लाखों वीरोंने रणाग्निमें अपने प्राणोंकी आहुति दे दी, उसी-को तुमने खो दिया!' बहिनकी इस उक्तिसे अनिरुद्धका मस्तक लज्जासे झुक गया; उसने सेना लेकर रणकी ओर फिर प्रस्थान किया और शत्रुओंको पराजित कर अपनी जन्म-भूमिकी मान-मर्यादा रक्खी।

सारन्धाका विवाह कालान्तरमें बुंदेलखण्डके (ओरछा) नरेश चम्पतरायसे कर दिया गया। चम्पत ऐसी वीरपत्नीको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। रायके कई रानियाँ थीं, पर वह सारन्धाको उसके विशेष गुणोंके कारण अधिक मानता-जानता था।

चम्पतरायने गद्दीपर बैठते ही मुगलोंको 'कर' देना बंद कर दिया था। कुछ कारणोंसे उसने दिल्लीपति शाहजहाँका प्रश्रय चाहा और वह रानी सारन्धाके साथ दिल्ली चला आया। बादशाहने उसे कुम्हारगढ़ किलेपर अधिकार करनेके लिये भेजा। रायने शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली और शीघ्र ही वह दाराका एक विश्वासपात्र मित्र बन गया। चम्पतराय कुछ विलासी था। रानी सारन्धा पतिकी इस विलास-प्रियतासे मन-ही-मन चिढ़ती थी। वह नहीं चाहती थी कि मेरा पति प्रजा-पालन-धर्म भूलकर दिल्लीमें गुलछर्रे उड़ाये। बहुत समझाने-बुझानेपर आखिर राय चम्पतकी नींद टूट गयी, वह अपनी खोयी स्वाधीनता प्राप्त कर बुंदेलखण्डमें एक स्वाधीन राजाकी तरह राज करने लगा। सारन्धाको वह आदरकी दृष्टिसे देखता था, इसलिये उसकी प्रत्येक सलाहके अनुसार उसने राजप्रबन्ध करना आरम्भ किया।

इसी बीचमें शाहजहाँ बीमार पड़ा। उसके शाहजादोंमें राजगद्दीके लिये युद्ध छिड़ गया। औरंगजेब उस समय दक्षिणका सूबेदार था। वह एक सेना लेकर चल पड़ा; परंतु दाराशिकोहकी विशाल सैन्यशक्तिने उसे विवश किया कि वह बुंदेलखण्डके महाराज चम्पतरायकी सहायता ले। राजपूत शरणागतकी रक्षा जानकी बाजी लगाकर भी करते हैं। रानी सारन्धाने पतिको समझाया कि औरंगजेबकी सहायता करना कर्तव्य है। उसकी सहायतासे सन् १६५८ ई० में औरंगजेबने चम्बल नदी पारकर दाराको परास्त करनेके लिये सेना सुसज्जित की। इस युद्धमें रानी सारन्धा भी पतिके साथ थी। विकट मार-काटके बाद औरंगजेब विजयी हुआ। उसने चम्पतरायको जागीर दी, राजाका विलासी जीवन और कार्य-क्रम देखकर सती सारन्धाको बड़ा दुःख हुआ।

उत्तराधिकारके युद्धमें वलीबहादुरका, जो दाराका एक सरदार था, घोड़ा औरंगजेबने चम्पतरायको पुरस्कारस्वरूप दिया। चम्पतरायकी अनुपस्थितिमें सारन्धाके पुत्रसे वली-बहादुरने घोड़ा छीन लिया। रानीने बालककी कायरतापर बड़ा दुःख प्रकट किया और वह वलीबहादुरसे घोड़ा छीनकर ही रही। उसने औरंगजेबसे भी बात-की-बातमें कह डाला था कि 'मुझे मान बहुत प्रिय है, इस घोड़ेके लिये मैं जागीर-तक वापिस कर सकती हूँ।' औरंगजेब इसपर जल-भुन उठा। जागीर वापस कर दी गयी। राजदम्पति दिल्लीसे बुंदेलखण्ड चले आये।

परंतु उनपर औरंगजेबकी वक्रदृष्टि सदा बनी रही। यवनोंने आक्रमण किया। कृतघ्न औरंगजेब चम्पतरायको धूलिमें मिला देना चाहता था। बुंदेलोंने जमकर युद्ध किया, रानी सारन्धा घोड़ेपर सवार होकर दुर्गाकी तरह यवनोंको



गाजर-मूलीकी तरह काट-काटकर मृत्युदेवताको बलि देने लगी। यवन हार गये। औरंगजेबने दूसरी बार बहुत बड़ी फौज भेजी; इस बार राजा हार गया, परंतु पकड़ा न गया। वह अपनी वीर रानीके साथ जंगलों और पहाड़ोंमें घूमता रहा एवं मुगल पीछा करते रहे। एक बार वह घायल सिंह पालकीमें बैठकर कहीं दूर जा रहा था कि अचानक मुगल सैनिक आ पहुँचे। राजा नहीं चाहता था कि 'मैं पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़ा जाऊँ', उसने रानीसे कहा कि 'तुम मेरी छातीमें तलवार भोंक दो।' रानीकी आँखोंमें प्रेमकी जलधारा छलछला उठी। उस पति-

परायणाने पतिका आदेश पालन किया। राजाने स्वर्गकी यात्रा की। यवनोंका हृदय द्रवीभूत हो उठा; उन्होंने रानीसे कहा कि 'आपकी वीरता धन्य है।' रानी नहीं चाहती थी कि यवन मेरे पवित्र शरीरमें जीते-जी हाथ लगायें, अतएव उसने अपनी छातीमें भी खूनसे रँगी तलवार भोंक ली और पतिके साथ स्वर्ग चली गयी। —रा० श्री०

सती रूपकुमारी

'कालनेमि कलि कपट निधानू।'

अधर्म जब धर्मकी आड़में, धर्मका वेश लेकर खड़ा होता है, तब अत्यन्त घातक होता है। उसकी कृत्रिम धार्मिकता धर्मसे भी प्रगाढ़ प्रतीत होती है। उसके प्रपञ्चजालमें अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पड़ जाया करते हैं। ऐसे समय एकमात्र श्रीहरि ही रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् बलरामने कहा था—'वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः।' धार्मिक बनकर पाखण्ड करके जो पाप करते हैं, उन महापातकियोंका उद्धार तो कभी नहीं हो सकता। अवश्य ही वे शासकके द्वारा प्राणदण्ड पाने योग्य हैं।

आगराके एक ग्राममें एक ऐसे ही महानुभाव निवास करते थे। उनका नाम भी भगवतदास था। तिलक, बड़ी-बड़ी माला तथा पूजा-पाठसे वे अपनेको अत्यन्त भगवद्भक्त प्रख्यात करते थे। संसारकी दुःखरूपता तथा विषयोंके प्रति वैराग्यका बड़ी प्रभावपूर्ण भाषामें वर्णन किया करते थे। गुप्तरूपसे समीपके गुण्डोंसे उनका सम्बन्ध था और उनकी अनेक इच्छाएँ गुण्डोंके द्वारा पूर्ण होती थीं। गाँवके धर्मसिंह नामक सुशील, धार्मिक एवं सीधे राजपूतपर उन्होंने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। उस भोले क्षत्रियसे वे अनेक प्रकारकी सेवा लेते रहते थे। उसका अन्नादि भी ले लेते थे। धर्मसिंह ऐसे धर्मात्माकी सेवासे प्रसन्न था।

भगवतदास किसी कार्यवश धर्मसिंहके घर आये। उनकी दृष्टि धर्मसिंहकी पत्नी रूपकुमारीपर पड़ गयी। रूपकुमारी सौन्दर्यमें अपने नामके अनुरूप ही थी। भगवतदास मुग्ध हो गये। अब तो उनकी बैठक धर्मसिंहके घर प्रारम्भ हो गयी। सुबह, शाम, दोपहरको वे धर्मसिंहके यहाँ ही डटे रहते। उनका सत्सङ्ग प्रारम्भ हो गया। लच्छेदार भाषामें वैराग्य और ज्ञानके उपदेश दिये जाने लगे। प्रत्येक कार्यमें धर्मसिंहको सहायता और सलाह देने लगे। किसी भी बहानेसे धर्मसिंहके घरका चक्कर काटना उन्होंने अपना कार्य बना लिया।

इस प्रकार चक्कर काटनेसे लाभ होते न देख धर्मसिंहको कहीं दूर भेजनेका उन्होंने निश्चय किया। गुण्डे हाथमें थे ही, गाँवमें लड़ाई हुई। प्रतिपक्षीको समझा दिया कि धर्मसिंहकी इसमें प्रेरणा है। मुकदमा चला और वह अदालत पहुँचा। धर्मसिंहको प्रयाग जाना ही पड़ेगा। भगवतदासने खूब प्रोत्साहित किया। साथ चलकर सब काम करा देनेका वचन दिया। ठीक चलनेके दिन आपने खेदके साथ प्रकट किया कि 'बीमार हो जानेके कारण मैं साथ न जा सकूँगा।'

'भगवान्ने अच्छा ही किया। आपके यहाँ रहनेसे मैं घरकी ओरसे निश्चिन्त रहूँगा।' सरलहृदय धर्मसिंहने तो यह कहकर प्रस्थान किया। भगवतदासने उत्साहपूर्वक आश्वासन दिया। गामको भोजन करके वह धर्मसिंहके घर पहुँचा। उसने प्रकट किया कि धर्मसिंहकी अनुपस्थितिमें मैं बरामदेमें सोऊँगा। सरलहृदया रूपकुमारी उनके सौजन्यसे प्रसन्न हुई। बरामदेमें उनके लिये चारपाई लगा दी गयी।

'ओह! मुझे बड़ी पीड़ा है। पासके गाँवमें जाकर वैद्यजीसे ओषधि ले आओ।' थोड़ी देर पश्चात् भगवतदासने सेवकसे कहा। धर्मसिंहके घरपर दो सेवक थे। एकको वे साथ ले गये थे और दूसरेको इस प्रकार घरसे बाहर भेज दिया गया। मार्गमें पहलेहीसे गुण्डे रक्खे गये थे। उन्होंने सेवकको पकड़कर रस्सियोंसे बाँधा और समीपके एक जलहीन कुएँमें फेंक दिया।

बेचारी रूपकुमारीको क्या पता था इस दुष्टताका। वह अपने पुत्रको लेकर निश्चिन्त सो रही थी। सहसा अर्धरात्रिमें कुछ आहट पाकर उसकी निद्रा दूर हुई। उसने देखा कि भगवतदास उसकी चारपाईके पास खड़ा है। एक बार तो वह चौंकी। भगवतदासका शरीर काँप रहा था और मुखसे स्पष्ट शब्द नहीं निकलता था। रूपकुमारीको उसके दूषित भावका अनुमान हो गया। उसने एक धक्का दिया।

निमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न बुधि बरु तन कलेसा॥

भगवतदास लुढ़क गये। रूपकुमारी भागकर एक कोठरीमें घुस गयी और उसने भीतरसे द्वार बंद कर लिये। अब भगवतदास सम्हला। उसको रोष आया।



पतिव्रता नीलदेवीने उसे ऐसा करनेसे रोका और 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'की नीतिसे काम निकालना चाहा। उसने अपनी संगीत-कलाका उपयोग किया। एक नाचनेवालीका भेष बनाकर और साजिंदोंके रूपमें सैनिकोंको साथ लेकर वह यवनसेनापतिके खेमेमें पहुँच गयी। उसने चोलीके भीतर दुधारी कटार रख ली थी। मदिरापान चल रहा था, यवन नशेमें झूम रहे थे। कलाकी साक्षात् सजीव मूर्तिने यवन सेनापति अब्दुलशरीफका चित्त काम-वासनासे चञ्चल कर दिया। वह उन्मत्त हो उठा। रानी नाचने लगी। वह गाती जाती थी और साथ-ही साथ खानको प्याले-पर-प्याला शराब भी पिलाती जाती थी। उस मनचलेने अपनी कीमती अँगूठी उतारकर रानीको देनी चाही; परंतु उस छद्मवेशा करालवदना कालीने यह कहकर लेनेसे इनकार कर दिया कि 'सब इनाम एक साथ ले लूँगी।'

पिंजरेमें बंद राजा सूरजदेव विस्मित हो उठा। उसे रानीका नाच देखकर बड़ा क्रोध आ रहा था। वह उसे कुलटा समझकर पागल हो उठा। उसे वास्तविकताका कुछ भी ज्ञान नहीं था। इधर खानकी कामज्वाला बढ़ रही थी। उसने रानीको खींचकर पास बैठा लिया और चुम्बनके लिये ज्यों ही हाथ-पैर डुलाये कि रानीने कटार निकालकर उस नराधम-की छातीमें भोंक दी और फिर उसी रक्तरञ्जित कटारको उसके मुखमें डालकर बोली—'पापी! नीच! ले, पहले इसका चुम्बन कर।'

साजिंदेके भेषमें आये हुए उन क्षत्रियोंने तबले, सारंगी और सितार पटककर तलवारें निकाल लीं। कुमार सोमदेवने भी बाहरसे हमला कर दिया। राजा पिंजरेके लोह-छड़ तोड़कर बाहर निकल आया और दुश्मनोंको यमके हवाले करने लगा। घमासान युद्ध छिड़ गया, पर थोड़ी ही देरमें धोखेसे एक यवनने राजाका सिर काट लिया। रानीने झटपट पतिका सिर उठा लिया और शत्रुओंपर प्रहार करती हुई खेमेके बाहर चली आयी।

राजकुमार सोमदेवने शत्रुओंपर विजय पायी। रानी पुत्रका राजतिलक कर पतिका सिर गोदमें लेकर चितामें बैठ गयी। नीलदेवी आदर्श सती थी। —रा० श्री०

वीराङ्गना सुन्दरबाई

आर्यनारियोंने समय-समयपर अपनी वीरता और साहस-की कड़ी परीक्षा देकर अपने सतीत्व और स्वाभिमानको सुरक्षित रक्खा है। कायरता मनुष्यकी सबसे बड़ी अयोग्यता है। वीरता उसका सबसे बड़ा बल है। क्षत्राणियोंकी जीवन-सहचरी वीरता ही थी; उनके चरित्रमेंसे वीरताका अंश निकाल दिया जाय तो उनमें और एक साधारण नारीमें कुछ भी अन्तर नहीं दीखेगा।

कुछ ही समय पहलेकी बात है, शैलपुरका केशरीसिंह राजा था। उसकी लड़कीका नाम सुन्दरबाई था। 'यथा नाम तथा गुण' की सार्थकताकी वह प्रतिमूर्ति ही थी। उस समय आस-पासमें उसके समान सुन्दरी कन्याएँ कम ही थीं। वह संस्कृत-की पूर्ण पण्डिता थी। राजनीतिका उसे अच्छा ज्ञान था। जिस तरह वह सुन्दरतामें अद्वितीय थी, उसी तरह न्याय-शास्त्रमें भी पारङ्गता थी। वचनकी बड़ी पक्की थी। सोलह सालकी अवस्थामें ही उसने राजकन्याके लिये आवश्यक सारे गुणोंमें पूरी-पूरी योग्यता पा ली थी।

एक दिन वह राजोद्यानमें सहेलियोंके साथ विचर रही थी। आपसमें राग-रंगकी बातें हो रही थीं। सहेलियाँ तरह-तरहके आमोद-प्रमोदसे राजकुमारीका मन बहला रही थीं। एकने कहा कि 'जब मैं पतिके घर जाऊँगी तो उसके साथ

अमुक बर्ताव करूँगी।' एकने कहा कि 'मैं तो वल्लभीपुरके राजकुमार वीरसिंहकी पत्नी बनकर उन्हें अपनी वीरता और पराक्रमसे मोहित कर लूँगी।' संयोगसे उसी उपवनमें एक पेड़के नीचे घोड़ेकी पीठसे उतरकर एक युवक सैनिक विश्राम कर रहा था। उसे यह बात समझनेमें थोड़ी भी देर न लगी कि बाग शैलपुरके राजा केशरीसिंहका है। वह तुरंत चल पड़ा, वीर युवक वल्लभीपुरका राजकुमार वीरसिंह था।

उसने वल्लभीपुर पहुँचकर पितासे सारी बातें बतला दीं और केशरीसिंहके पास विवाहके लिये सन्देश भेजा। राजाने स्वीकृति दे दी। यथासमय विवाह हो गया, परंतु वीरसिंह तो अपनी सहधर्मिणीकी परीक्षा लेना चाहता था। सुन्दरबाईको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसके पतिने उससे मिलना-जुलना बंद कर दिया।

एक दिन वह सायंकाल राजमन्दिरमें सखी-सहेलियोंके साथ देवपूजनके लिये गयी। राजकुमारने उससे वहीं मिलना उचित समझा। मन्दिरके भीतर पुरुषोंको जानेकी आज्ञा नहीं थी; परंतु राजकुमारके लिये कोई रोक नहीं थी, वह अंदर चला गया। उसने सुन्दरबाईको कहते सुना, 'परमात्मा! मेरे पतिका मङ्गल हो।' राजकुमारने कहा, 'तुमने जो प्रतिज्ञा बगीचेमें की थी, उसे पूरी करो।' सुन्दरबाईकी समझमें सारा कच्चा चिट्ठा आ गया। उसने एक वीर क्षत्राणीकी तरह देवताके सामने पतिकी उपस्थितिमें यह बात दुहरायी कि 'मैं सिद्ध करके ही रहूँगी कि राजपूतनीकी बातोंमें कितनी दृढ़ता होती है।'



दूसरे ही दिन उस बुद्धिमतीने पिताके पास गुप्तरूपसे एक पत्र भेजा कि 'मेरे लिये एक घोड़ा और कवच भेज दीजिये।' उसने उस पत्रमें अपनी प्रतिज्ञाकी भी बात लिख दी थी। केशरीसिंहने शैलपुरसे वल्लभीपुरतक एक सुरंग खुदवा डाली और पुत्रीद्वारा माँगी गयी वस्तुएँ उसके पास भेज दीं।

वल्लभीपुरका दरबार लगा हुआ था, बड़े-बड़े सामन्त और सरदार बैठे हुए थे। राजकुमार वीरसिंह भी पिताके वामकक्षमें उपस्थित थे। इतनेमें ही एक घुड़सवारने 'जुहार'की रस्म अदाकर नौकरीके लिये आवेदनपत्र दिया। राजाने उसकी सुन्दरताकी ओर आकृष्ट होकर पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है और किस तरहकी नौकरी चाहते हो?' उसने अपना नाम रत्नसिंह बतलाया और निर्भीक होकर कहा—'मैं युद्धमें वह काम कर सकता हूँ, जो किसी वीरसे न हो सके।' राजा बड़े प्रसन्न हुए और वीरसिंह तो दंग रह गये। उसे नौकरी मिल गयी। राजकुमार वीरसिंह और रत्नसिंहमें धीरे-धीरे खूब पटने लगी। दोनों एक दूसरेके मित्र हो गये, यहाँतक कि बिना एक दूसरेको देखे उन दोनोंको कल नहीं पड़ता था। दोनों साथ-ही-साथ जंगलमें शिकार खेलने जाते थे और जीवनका अधिकांश समय एक ही साथ बिताते थे। कभी रत्नसिंह वीरसिंहके मुखसे यह सुनकर कि 'सुन्दरबाई तो बड़ी कठोरहृदया है, मेरा तनिक भी खयाल नहीं करती' रत्नसिंह ठहाका मारकर हँस पड़ता था। एक बार रत्नसिंहने राजाके कहनेपर एक सिंहको मार डाला, जो नगर-निवासियोंको एक-एक करके रातमें भक्षण कर लिया करता था। राजा और वीरसिंह दोनों उसे श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखने लगे। इसके कुछ ही दिनों बाद वल्लभीपुरपर एक समीपवर्ती राजाने अधिकार कर लिया और वीरसिंहको कैद कर लिया। वीरसिंहको यह नहीं मालूम था कि रत्नसिंह पुरुष नहीं, उसकी पत्नी सुन्दरबाई है। अपने पिताकी सहायतासे उसने वल्लभीपुरपर अधिकार कर लिया और शत्रुओंको नगरसे बाहर कर दिया। शैलपुरसे सुरंगके रास्तेसे ही वल्लभीपुरमें सेना आयी थी; वीरसिंह और उसके पिताको आश्चर्य हुआ कि जिस सुरंगका उन्हें पतातक नहीं था, यद्यपि वह उनके ही महलतक थी, रत्नसिंहने किस तरह उसका भेद जान लिया। राजाने उसे अच्छी तरह पुरस्कृत किया।

एक दिन रत्नसिंहकी बड़ी खोज हुई, परंतु पता न चला। राजकुमार वीरसिंहको पता चला कि वह अभी-अभी सुन्दरबाईके महलमें गया है। राजकुमारका चेहरा लाल हो गया। महलमें जाकर उसने सुन्दरसे पूछा—'रत्नसिंह कहाँ



लोग कदापि वीरप्रधान यशोराजसिंहके पुत्र नहीं हो सकते। मालूम होता है कोई दुरात्मा किसी छद्मवेशमें मेरा धर्म लूट ले गया। तुम नीचाशय प्राणरक्षक भीरु दोनों भाई उस दुरात्माके वीर्यसे सम्भूत हुए हो।'

अपनी माताकी अग्निमयी तिरस्कारवाणी श्रवण करके आल्हा-ऊदल पदाहत फणिराजके तुल्य घोर गर्जन करते हुए महोवा जानेको तैयार हो गये और उसी क्षण कान्यकुब्जाधीशकी अनुमति माँगनेके हेतु दरबारमें पहुँचे। कन्नौजराज दोनों भाइयों तथा राजदूत जगनिकको सम्मानपूर्वक अनेक धनरत्न देकर अनुमतिप्रदानपूर्वक आशीर्वाद देते हुए बोले कि—'राजपूतोंके कर्तव्यका पालन करो।'

आल्हा-ऊदल दोनों भाई कन्नौजाधीशसे विदा होकर व्यग्रचित्त महोवेके लिये प्रस्थानित हुए। रास्तेमें उन्हें अपशकुन हुए। पर वीर भ्राताओंने उन्हें कुछ न समझा और मनमें कहा कि 'यदि स्वयं मृत्यु भी सम्मुख आवे, तो वह भी हमें आज नहीं रोक सकती।' इस प्रकार दृढ़संकल्प हो वे बड़े वेगसे महोवेकी ओर बढ़े।

जब परमालके कानमें यह बात पहुँची कि आल्हा-ऊदल आ रहे हैं, तब उनका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठा और आल्हा-ऊदलकी अगवानीके लिये बड़े समारोहसे वीरगणोंको साथ ले वे स्वयं चले।

आल्हा-ऊदल महोवा पहुँचे। मल्हनादेवीने उनकी आरती उतारकर बड़ी प्रशंसा की। स्वदेशभक्तिसे मुग्ध होकर उन्हें प्रेमसे आलिङ्गन किया और आनन्दके साथ उनको महलमें ले गयीं। जब वीरव्याघ्र पृथ्वीराजके कानमें यह बात पहुँची कि आल्हा-ऊदल आ गये, तब उन्होंने परमालके निकट यह सन्देश भेजा—

'दिल्लीपतिकी असहाय क्षत-विक्षत सेनाकी हत्या ही इस युद्धका कारण है। अवसरसे सात दिन अधिक बीत गये। यदि महोवा नृपतिकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो वे दिल्लीकी अधीनता स्वीकार करें।'

पत्र पाकर परमाल निराश और दुःखित हुए; पर आल्हा-ऊदलने प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि 'आज या तो हम रणक्षेत्रमें मस्तक देंगे या पृथ्वीराजका गर्वभञ्जन करेंगे। वीरगण मृत्युका आलिङ्गन भले ही करें, पर शत्रुके सामने सिर नहीं झुकाते। असंख्य सैन्यद्वारा वेष्टित होनेपर भी वीर अपना बलाभिमान नहीं त्यागते तथा युद्धार्थ प्रण करके पीछे नहीं हटते।'

दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं, और नियत तिथिके प्रातःकाल रणके लिये सुसज्जित हो आल्हा और ऊदल अपनी माता देवलदेवीके दर्शनके लिये उपस्थित हुए।

देवलदेवी वीर-माता थीं। उन्होंने आल्हा-ऊदल दोनोंके सिरपर अपना हस्त रखकर आशीर्वाद दिया और कहा कि 'कर्तव्यपालनके समान धर्म संसारमें अन्य नहीं है। प्राणपणसे कर्तव्यपालन करना ही वीरोंका व्रत है। यदि कर्तव्य-पालन करते हुए प्राण विसर्जन हो तो समझो कि तुम्हारा जीवन सार्थक हुआ और तुम्हारी माता सचमुच पवित्र और धन्य हुई। तुम महोवेकी मानरक्षा करो। जन्मभूमिकी गौरव-रक्षा करना प्रत्येक नर-नारीका पवित्र कर्तव्य है। आल्हाके हाथमें बरछी देती हुई वे बोलीं—'इस बरछी (शूल) के अग्रभागमें शत्रुका सिर लेकर आओ, अन्यथा मृत्युको सहर्ष चुम्बन करो।' फिर ऊदलको खड्ग देकर बोलीं—'बेटा! शत्रुओंको पीठ दिखलाकर घर न लौटना। यदि तुम दोनों भाई वीरश्रेष्ठ यशोराजसिंहके विमल वीर्यसे सम्भूत हो तो महोवेकी मान-रक्षाके प्रयत्नमें प्राण-विसर्जन कर देना। यही तुम्हारा कर्तव्य है—पावन धर्म है। तुम शरीर और प्राणोंका मोह त्यागकर वीर-व्रतका अनुष्ठान करो—स्वकर्तव्य-पालन करो।' ऐसी वीरोचित शिक्षा देकर देवलदेवीने पुत्रोंको रणक्षेत्रके लिये विदा किया।

आहा! ऐसी आदर्श वीरमाताका नाम क्यों न अमर हो और उसकी कीर्ति-कौमुदी संसारमें युग-युगतक क्यों न फैले! क्या भारतमें अब ऐसी वीर-माता जन्म-धारण न करेंगी!

वीराङ्गना रूपाली

बात है उस समयकी, जब आजकी तरह यातायातके साधन सुलभ नहीं थे, पंद्रह-बीस मील भी एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिये साथीकी आवश्यकता पड़ती थी। डाकू और लुटेरोंका आतङ्क सर्वत्र छाया रहता था। उस समय कुछ लोग अपने पास दस-पाँच आदमियोंको रखते और किसीको कहीं पहुँचवाना होता तो उचित मूल्यपर अपने साथी साथ लगा देते। वे सुरक्षित पहुँचा आते। ऐसे लोगोंकी यही जीविका थी।

'मेरी पुत्रीका आँचल भरना है। तुम उसे ससुरालसे ले आओ, गेमो भाई!'—माणिकपुर गाँवके जमींदारने गेमोसे कहा। गेमोको अपनी वीरतापर गर्व था और सचमुच वह जहाँ अकेले जाता, दस-पाँच छँटे पहलवान भी एक साथ उसका सामना करनेका साहस नहीं कर पाते। जमींदारकी आज्ञा टालनेकी हिम्मत उसमें नहीं थी।

'अच्छी बात है।' गेमो तैयार हो गया।

जमींदारकी पुत्रीका नाम था रूपालीबाई। उसकी ससुराल माणिकपुरसे दस मील दूर पड़ती थी। गेमोने उसे लानेके लिये प्रस्थान कर दिया।

गर्मीके दिन थे। उषा विदा भी नहीं हो पाती थी कि अंशुमाली अपनी अग्निमयी किरण-शलाकाओंसे वसुन्धराके वक्षःस्थलको छेदने लगते। पशु-पक्षी सभी त्रस्त होकर एकान्त शीतल छायामें भागकर मुँह छिपा लेते। इसी कारण ठंडे-ठंडेमें पहुँचनेके लिये बैलोंकी तीन गाड़ियाँ रातमें ही जुत गयीं। आगेकी गाड़ीपर खाने-पीनेका सामान था। बीचवाली गाड़ीपर अपने आभूषणोंको लेकर रूपालीबाई बैठी थी। आभूषण उसके पास लगभग पाँच सहस्र रुपयेके थे और पिछली गाड़ीपर गेमो कुछ अन्य सामग्रियोंके साथ बैठा था। गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी।

रात कृष्णपक्षकी थी। आकाश निरभ्र था। तारे चमक रहे थे। शीतल, मन्द समीर बह रहा था। गेमोकी पलकें झँपने लगीं। इसी बीचमें अगले गाड़ीवानने पुकारकर कहा—'गेमो भाई! रात्रिका समय है, जगते रहो।'

'मैं गेमो हूँ, मेरे सामने कोई नहीं आ सकेगा। तुम गाड़ी हाँकते जाओ।' ऊँघते-ऊँघते गेमोने उत्तर दे दिया।

'भैया गेमो! जागते रहो, अँधेरी रात है'—कुछ दूर आगे जानेपर रूपालीबाईने कहा।

'तू निश्चिन्त रह, बाई! तेरा भाई गेमो तो साथ ही है।' पाँव पसारते हुए उसने कहा। 'मेरे सामने कौन आ सकेगा!' धीरे-धीरे वह खुर्राटे लेने लगा।

× × ×

'गेमो भाई!' गाड़ीवानने जोरसे पुकारा।

'मैं गेमो हूँ,' निद्रित गेमोने धीरेसे कहा।

'गेमो भाई!' डरती हुई रूपालीने पुकारा। दस-बारह लुटेरोंने उसकी गाड़ियाँ घेर ली थीं।

'मैं गेमो…' वह बड़-बड़ाकर रह गया।

× × ×

'तुम्हारे पास जो कुछ हो, दे दो'—एक लुटेरेने कर्कश स्वरमें कहा।

'मेरे गहने ये हैं।' रूपालीने पेटी सरका दी।

'गलेका गहना दे', दूसरे लुटेरेने कहा। गलेका सोनेका आभूषण चमक गया था।

'कड़े उतार।' फिर एकने कहा।

'मेरे सारे गहने तो ले लिये,' रोते-रोते रूपालीने कहा। 'कड़ा छोड़ दो, भैया!'

'बात मत बना, तुरंत निकाल।' लुटेरेने डाँटा।

'तुम्हीं निकाल लो। मुझसे तो नहीं निकलता।'—रूपालीसे कड़ा नहीं निकला। विवश होकर उसने कहा।

'ये पैर क्या हैं, कमलके फूल भी लजा जायँगे इन्हें देखकर।' कड़ा निकालनेका प्रयत्न करते हुए एक लुटेरेने व्यंग किया।

रूपाली इसे सह नहीं सकी। समस्त सम्पत्ति ले लेनेकी उसे चिन्ता नहीं थी, वह फिर आ जाती। बिना गहने पहने भी वह रह सकती थी, पर सतीत्वपर तनिक भी आघात भारतीय ललनाको क्षणभरमें ही उग्र रूपधारिणी महाकाली बना देता है। उस समय वह या तो पापीको मिटा देती है या अपना ही बलिदान कर देती है; प्रत्येक दशामें वह देवलोककी अधिकारिणी बनती है।

कटिसे कटार खींचकर रूपालीने दो लुटेरोंके सिर तुरंत धड़से अलग कर दिये, जो उसके पैरसे गहने निकाल रहे थे। रूपाली गर्भवती थी। वह शीघ्र ही सन्तान उत्पन्न करनेवाली थी। उसने समझ लिया था कि ये लुटेरे अब मुझे जीती नहीं छोड़ सकेंगे। वह गाड़ीसे कूद पड़ी। बचे हुए दसों लुटेरे गर्भवती रूपालीपर लाठी-वर्षा करने लगे। रूपालीका शरीर छिलने लगा।

रूपाली वीर पिताकी पुत्री थी। उसकी रग-रगमें वीरता भरी थी। अस्त्र-शस्त्र चलानेका अभ्यास भी शैशवमें उसने खूब किया था। डाकुओंके पास केवल एक तलवार थी, रूपालीने उसे दुबककर ले लिया था।

लाठी पड़ते ही वह कभी काट लेती और दूसरे ही क्षण तलवारसे लुटेरोंपर वार करती। उसकी तलवारने जिस लुटेरेका कण्ठ स्पर्श किया, वही यम-सदनको सिधारा।



रूपालीका शरीर खूनसे लथपथ हो गया था। शरीरमें अनेक घाव हो गये थे, फिर भी वह तलवार चलाती जा रही थी। आठ लुटेरे वहाँ सदाके लिये सो गये। दो अपनी जान लेकर भागे।

'बहिन, मुझे बचा!'—करुणाभरी ध्वनि तीसरी गाड़ीसे निकली। रूपालीने देखा, वह गेमो था। जो अपनी वीरताके मदसे अंधा हो रहा था, उसके हाथ-पाँव लुटेरोंने कसकर बाँध दिये थे। बीचमें डंडा लगा दिया था। वह हिल-डुल भी नहीं सकता था। रूपालीने उसके बन्धन काट दिये।

'बहिन! अब तू गाड़ीपर बैठ जा!'—गेमोने लज्जा और विनयसे कहा।

'मैं गाड़ीपर नहीं बैठूँगी', रूपालीने जवाब दिया। 'मैं पैदल ही चलूँगी। गाड़ी ले चलो।'

गाड़ी चल पड़ी। गेमो दम साधे चुपचाप गाड़ीके पीछे-पीछे चल रहा था। वह रूपालीकी वीरता देखकर स्तम्भित रह गया था। रूपाली चण्डिका बन गयी थी। उसकी आँखोंसे जैसे आग बरस रही थी। बाल उसके बिखरे थे। हाथमें लंबी तलवार चमक रही थी। शरीरसे रक्त टपक रहा था।

'मैं सीधे घर जाऊँगी।' बीचमें मामाका गाँव पड़ा था। मामाके आग्रह करनेपर रूपालीने स्पष्ट शब्दोंमें उत्तर दिया।

गाड़ीवान गाड़ी हाँके जा रहे थे। गर्भवती वीर नारी महाकालीके रूपमें साथ-साथ चल रही थी।

× × ×

'गेमो कहाँ गया?' रूपालीके पिता (माणिकपुरके जमींदार) ने चकित होकर पूछा। अपनी पुत्रीकी दशा देखकर वे घबड़ा गये थे।

'माणिकपुरके पास आते ही मुँह छिपाकर वह जाने कहाँ चला गया।'—गाड़ीवानने सारी घटना सुना दी।

'चिन्ता न कर, बेटी! आभूषणोंसे मैं तुम्हें लाद दूँगा।' जमींदारने अपनी बेटीकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा।

रूपालीको देखने गाँवके सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े और सयान एकत्र हो गये थे। सब-के-सब चकित थे। दो घंटेके बाद रूपाली वहीं लेट गयी। उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।—शि० दु०

सती कमलादेवी

कमलादेवी वीरपुर गाँवके एक वीर राजपूतकी वीरपुत्री थीं। इनके पिताजी प्रायः युद्धमें रहा करते थे, परंतु इनकी माताजीने इन्हें शिक्षा दी। वीरोंकी कहानियाँ सुनकर इनके रोएँ फड़क उठते थे। यही कारण था कि माकी मृत्युके बाद भी ये भयभीत नहीं होती थीं। नदीतट, निर्जन वन और पर्वतकी गुफाओंमें भी ये पिताके साथ घूमकर अत्यन्त प्रसन्न होती थीं। पिताकी अनुपस्थितिमें खाये-पीये बिना रह लेनेका इनका अभ्यास हो गया था। शस्त्रादि चलाना ये अच्छी तरह जान गयी थीं। सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्ततक लंबी तलवार इनकी कटिमें लटकती ही रहती थी।

एक दिन शत्रुओंसे पाँच दिनतक भयङ्कर युद्ध हुआ और उसमें कमलादेवीके पिता धराशायी हो गये। यह समाचार देवीजीको बादमें मिला। उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'मैं

जबतक शत्रुओंका समूल उच्छेद नहीं कर दूँगी, तबतक अपना पाणिग्रहण नहीं कराऊँगी ।'

दो वर्ष बीतते-बीतते कमलाकी धाक अपने प्रान्तमें सबपर छा गयी । उसने अपनी भूमि शत्रुओंसे रहित कर दी । वीरता, धीरता और साहसकी वह सजीव मूर्ति थी । उसके एक हुंकारसे अरिदल काँप जाता था और उसके सैनिकोंका उत्साह बढ़ जाता था । उसके समस्त सैनिक उसके आज्ञा-पालनके लिये प्रतिक्षण तैयार रहते थे

सैनिकोंमें कुछ ऐसे थे, जो उसकी रूप-माधुरीपर आकर्षित होकर उसकी आज्ञा मानते और हर तरहसे अपनेको वीर सिद्ध करनेका प्रयत्न करते । उन्हींमें एक सैनिकका नाम था गुलाबसिंह । यह अत्यन्त सरल, भोला और पराक्रमी तथा वीर था । यह कभी व्यर्थकी डींग कमला-देवीके सामने नहीं मारता था । कमलादेवी इसे बहुत प्यार करती थीं, और मन-ही-मन उसको वरण भी कर चुकी थीं।

कमलादेवीने एक दिन सुना कि पासके जंगलमें चार शेर आ गये हैं । देवीने अपने पचीस-तीस सैनिकोंके साथ तुरंत वहाँके लिये प्रस्थान किया । जंगलमें पहुँचकर सबका निवासस्थान ठीक करके वे स्वयं जंगलमें आगे चलीं । घोड़े-की टापका शब्द सुनकर नर-मादा दोनों शेर सामने आकर गुर्राने लगे । कमलादेवीके जैसे पाँवके नीचेसे पृथ्वी सरक गयी । वे सँभली ही थीं कि उन्होंने देखा एक वीर राजपूत उन शेरोंके पास जाकर युद्ध करने लगा । शेर-दम्पति तो धराशायी हो गये; पर राजपूतका शरीर शिथिल हो गया, वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । शेरके दो बच्चे माता-पिताका बदला लेनेके लिये राजपूतके वक्षःस्थलपर चढ़कर उसे विदीर्ण करना ही चाहते थे कि कमलाने दौड़कर तलवारके एक ही वारसे उनका सिर अलग कर दिया ।



राजपूतकी आकृति देखते ही कमला चीख उठी । वह वीर राजपूत गुलाबसिंह थे । कदाचित् कमलादेवीको अकेले जाते देखकर तीरकी तरह वे भी उसके पीछे हो लिये थे ।

गुलाबसिंहको देवी उठा लायी । उसने बड़ी तत्परतासे चिकित्सा करायी । तीसरे दिन गुलाबसिंहने आँख खोली और पूछा—'कौन ?' रोते हुए कमलादेवीने उत्तर दिया 'प्राणनाथ ! मैं हूँ आपकी कमला !' देवीका उत्तर पूरा भी नहीं हो पाया कि एक ही हिचकीमें गुलाबसिंहके प्राण निकल गये । कमलादेवी केवल वरण किये हुए स्वामीके शवपर गिरकर क्रन्दन करने लगीं ।

वीरपुर गाँवके पासके छोटे-से मैदानमें चन्दनकी चिता तैयार हुई । समस्त ग्रामवासियोंके बीच कमलादेवी अपने प्राण-प्रिय जीवन-धनकी निर्जीव देहके साथ जलकर राख हो गयीं ।

राजपूतानेके वीरपुर गाँवकी एक छोटी-सी गुफामें सती कमलादेवीका भग्न-स्मारक आज भी विद्यमान है । उस गाँवमें जब किसी बालक-बालिकाका विवाह होता है, तो दुलहा-दुलहिन सहस्रों स्त्री-पुरुषोंके साथ वहाँ जाकर पूजन करते और मङ्गल-गीत गाते हैं । —शि० दु०

सती जसमा

पाटनका राजा सिद्धराज बड़ा विलासी था । वह कितनी ही युवती नारियोंका धर्म भ्रष्ट कर चुका था । उसके यौवनकी आँधीमें कितनी ही भोली स्त्रियोंको अपना सतीत्व खोना पड़ा । उसके कुछ गुप्तचर नगरमें सौन्दर्य और यौवन-सम्पन्न रमणीकी ही गवेषणामें यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे ।

नगरके पास उसने एक सरोवर खुदवानेकी योजना बनायी । शुभ मुहूर्तमें सरोवरका काम आरम्भ हुआ । सहस्रों श्रमिक काम करने लगे । उनके रहनेके लिये झोपड़ियाँ पास ही बनी थीं । मजदूरोंका मुखिया भीकम था और उसीकी सहधर्मिणी थी जसमा । जसमा अपूर्व सुन्दरी थी । काम करते

हुए एक दिन सिद्धराजने उसे देखा तो कलेजा थाम लिया। 'इतना सुन्दर रूप !' एक बार वह चकित हो गया। जसमासहित भीकमको बुलाकर उसने कहा—'तुमलोग यह काम छोड़कर महलमें अच्छी नौकरी कर लो तो कैसा रहे ? जसमा अन्तःपुरमें रह लेगी।'

भीकमका मन नृत्य कर उठा। महलमें काम करनेका सौभाग्य असाधारण है। पर जसमाने सिद्धराजकी ऑखोंमें विष देखा, उसने पतिको प्रस्ताव अस्वीकृत कर देनेका संकेत किया। 'महाराज ! हमलोगोंका यही काम ठीक है।' उत्तर देकर दोनों दम्पति पुनः अपने काममें जुट गये।

उसी दिन आधी रातके समय जब समस्त संसार निद्रा-देवीकी सुखदायिनी गोदमें विश्राम कर रहा था, सिद्धराजके दो सैनिक भीकमकी झोपड़ीमें प्रवेश कर गये। एकने कहा—'भीकम ! अपनी पत्नी जसमाको हमें सौंप दो। वह राजरानी बनेगी।' जसमा क्रोधोन्मत्त हो गयी। वह तुरंत अपनी कमरसे छुरा निकालकर सिंहिनीकी तरह उस सैनिकपर टूट पड़ी। छुरा उसके कलेजेमें घुसेड़ दिया। सैनिककी सॉस वहीं निकल गयी। दूसरा अपना प्राण लेकर राजाके पास भागा।

अपने सैनिककी मृत्युका समाचार सुनकर सिद्धराज होठ काटने लगा। भीकम और जसमाको कैद कर लेनेके लिये उसने मन्त्रीको आज्ञा दी। मन्त्रीने कहा—'राजन् ! मैं आपके पिताके समयसे न्याय करता आ रहा हूँ। आज भी अन्याय नहीं करूँगा। भीकमका दोष नहीं है। दोषी आप हैं। इस अधम कृत्यमें मुझसे सहायताकी आशा आप न करें। जसमा सती नारी है, यह भी आप न भूलें।' सिद्धराजने क्रोध करके मन्त्रीको कैद कर लिया।

सहस्रों सैनिक मजदूरोंकी झोपड़ियोंपर पहुँचे। सारी झोपड़ियाँ खाली थीं। सब-के-सब वहाँसे चल पड़े। भीकम और जसमा घबराते हुए जा रहे थे कि राजाके सैनिक आकर हमारी हत्या कर डालेंगे। सैनिकोंने मजदूरोंको पकड़नेके लिये घोड़ोंको जोरोंसे दौड़ाया। कुछ ही आगे जानेपर श्रमिक-दल दीख गया। घोड़ोंकी टाप-ध्वनि सुनकर भीकम-के पैरके नीचेसे पृथ्वी सरक गयी।

श्रमिकोंने भी अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। युद्ध छिड़ गया। लोथ-पर-लोथ गिरने लगी। खूनकी धारा बह चली। जसमाके हाथमें तलवार चमक रही थी। उससे वह बड़ी तीव्रतासे शत्रुओंका संहार कर रही थी। प्रायः सभी सैनिक और श्रमिक धराशायी हो गये। जसमाने इने-गिने सैनिकों-को भी यमपुर भेज दिया। अब केवल सिद्धराज बच गया था। उसे देखते ही जसमा चण्डी बन गयी। 'नारकीय कुत्ते कहींके !' कहती हुई जसमाने एक ही हाथमें सिद्धराजका मस्तक धड़से अलग कर दिया। मस्तक छटककर दूर गिर



पड़ा। धड़ छटपटाने लगी।

लाशोंके बीचमें अकेली जसमा थी। उसने अपने पति-की लाश ढूँढ़ ली। उसका हृदय तड़प उठा। दूसरे ही क्षण उसने अपने कोमल कलेजेमें तलवारकी नोंक धँसा ली और अपने प्रियतमकी निर्जीव देहपर गिर पड़ी। उसके प्राण इस अधम जगत्को छोड़कर पवित्र लोकमें चले गये। रक्तमें सनी लाशोंको देखकर कलंकी चन्द्र हँस रहा था।

लोगोंने वहींपर दोनोंकी समाधि बनवा दी। आज भी माघ-पूर्णिमाको वहाँ मेला लगता है। सहस्रों स्त्री-पुरुष उस समाधिपर पुष्प-मालाएँ चढ़ाते तथा अभीष्ट-पूर्तिके लिये श्रद्धा-भक्तिसे प्रार्थना करते हैं। —शि० दु०

रानी साहबकुँवरि

पंजाबमें पटियालाकी रियासत जम्बूकाश्मीरके अतिरिक्त सबसे बड़ी रियासत समझी जाती है। इसी राज्यमें दो सौ साल पहले एक अत्यन्त सुन्दर, कार्यकुशल और चतुर रानीने जन्म लिया था। अठारहवीं सदीके अन्तिम चरणमें मराठा-संघका दब-दबा सारे देशमें बढ़ता चला जा रहा था। लार्ड वेलेसली अपनी कूटनीतिसे भारतका मानचित्र लाल रंगसे रँगनेका जोरदार प्रयत्न कर रहा था। पंजाबके मिसल और छोटी-छोटी रियासतें मराठों और अंग्रेजोंसे अपनी स्वाधीनता बचानेके लिये बड़ी-बड़ी सेनाएँ सुसज्जित कर रही थीं। रानी साहब-कुँवरिका भाई साहबसिंह कमजोर, निकम्मा और अयोग्य

शासक था। साहबकुँवरि वारिद्रावके राजा जयमलसिंहकी पत्नी थी। भाईको सहायता देनेके लिये पतिकी आज्ञासे रानी पटियालामें ही रहकर शासन-प्रबन्ध करने लगी। उसके सुप्रबन्धसे राज्य और प्रजा दोनोकी दशा सुधर गयी।

राजकुँवरि किसी भी गुणमें पुरुषोसे कम नहीं थी। जिस तरह उसमे शासन करनेकी योग्यता थी, काम पड़नेपर उसने उसी तरह रणकुशलता और वीरताका भी परिचय दिया। प्रजा रानीकी सुश्रृङ्खल कार्यप्रणाली और शासननीतिसे सन्तुष्ट थी। इधर रानी पटियालाका शासन सम्हाल रही थी, उधर जयमलसिंहके सगे भाई फतहसिंहने, जो उससे पहलेसे खार खाये हुए था, उसे कैद कर लिया। वीर रानीने फतहसिंहपर चढ़ाई कर दी और पतिको उसके फौलादी पंजोसे मुक्तकर पटियाला लौट आयी।



इधर मराठोने पटियालापर आक्रमण कर दिया, वे सन्धिके अनुसार कर लेना चाहते थे। रानीने चौथ देना अपमान समझा। पटियालाकी सेना लेकर उसने मराठोका सामना किया। रानीकी युद्धचातुरीने उन्हे सन्धि कर लेनेके लिये विवश किया। सन् १७९४ ई०मे सन्धि हो गयी। इसी बीचमे नाहन राज्यकी प्रजाने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। रानी साहबकुँवरिकी सहायतासे विद्रोह दबाकर राजाने शान्ति स्थापित की। रानीके आत्मबलने उसकी कीर्तिलता दूर-दूरतक फैला दी।

सन् १७९६ ई०मे अंग्रेज सेनापति सर टामसने झिन्द राज्यपर आक्रमण कर दिया, वह तमाम सिख रियासतोपर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। रानीने सिखोकी सहायता की, सर टामस 'मेहम'की ओर बढ़ गया, यह तो सिखोको धोखा देनेके लिये उसकी एक चाल थी। रानीकी मध्यस्थतासे सर टामसने सिखोसे सुलह कर ली।

पटियालाका शासन-प्रबन्ध ठीक-ठीक चल रहा था, रानीने कुछ दिनोके लिये एकान्तवास करना चाहा। साहबसिंहको मन-चले साथियोने सुझाया कि वह विद्रोह करके पटियाला राज्य हड़प लेना चाहती है। राजाने उसे थोड़नके किलेमे कैद कर लिया। परंतु रानी निकल गयी। जीवनके अन्तिम दिन उसने अपने पतिके साथ 'थिरियन' किलेमे विताये। —रा० श्री०

पतिव्रता लक्ष्मीबाई

भगवान् भाष्यकार जगद्गुरु रामानुजाचार्य शिष्योके साथ श्रीशैलकी यात्राको निकले थे। मार्गमे अष्ट-सहस्र ग्राम पड़ता था। मध्याह्न समीप था। भगवान्के प्रसादकी व्यवस्था आवश्यक थी। ग्राममे एक शिष्य रहता था। अत्यन्त अकिंचन—भिक्षामे जो मिल जाय, उसीपर सन्तोष करनेवाला ब्राह्मण। नरमा-कपासके वृक्षोने उसकी झोपड़ीके चारों ओर घेरेका रूप दे दिया था। फलतः लोग उसे कार्पासराम वरद कहा करते थे। भगवान् भाष्यकारने उस टूटी झोपड़ीके द्वारपर जाकर भगवान्का नाम लिया उच्च स्वरसे। भीतरसे हाथोकी ताली बजी उत्तरमे। चूड़ियोकी झनकारने बता दिया कि गृहिणीने ताली बजायी है।

आचार्यने समझ लिया कि गृहिणी मेरे सम्मुख आ सके, इस परिस्थितिमे नहीं है। 'क्या बाधा होगी ?' सर्वज्ञ आचार्यको यह जानते देर न लगी कि कार्पासरामकी पत्नी लक्ष्मी-

बाईके पास एक ही साड़ी है। स्नान करके उन्होंने साड़ीको सूखने डाल दिया है और स्वयं चिथड़े लपेटे बैठी हैं। उन्होंने यह तो जान लिया है कि कोई साधु पधारे हैं, किंतु वस्त्राभावसे आनेमें असमर्थ हैं। आचार्यने एक वस्त्र भीतर फेंक दिया।

'भगवान्!' वस्त्र पहनकर बाहर आते ही स्वयं आचार्यको सशिष्य उपस्थित देखकर लक्ष्मीबाईके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उन्हें आशा नहीं थी कि उन-जैसे कंगालके द्वारपर कभी आचार्य पधारेंगे। पृथ्वीमें लेटकर अपने अश्रुओंसे जगद्गुरुके पवित्र पदोंको उन्होंने प्रक्षालित कर दिया।

'गृहस्वामी भिक्षाटन करने गये हैं। सम्मुख सरोवरपर श्रीहरिके मन्दिरके प्राङ्गणमें प्रभु विराजें। मैं यथाशक्ति आराधनका आयोजन करती हूँ।' हाथोंकी अञ्जलि मस्तकसे लगाकर बड़ी नम्रतासे उन्होंने विनय की। झोपड़ीमें प्रभुको बैठाने योग्य स्थान नहीं था। कोई आसन भी नहीं था, जो दिया जा सके। आचार्यने सन्तोष व्यक्त किया और शिष्योंके साथ सरोवरपर चले गये।

घरमें अन्नका दाना नहीं; पतिदेव कबतक लौटेंगे, सो पता नहीं। लक्ष्मीबाईकी व्याकुलताकी सीमा नहीं थी। आज जन्म-जन्मान्तरका पुण्योदय होनेपर तो गुरुदेव उनके यहाँ पधारे हैं और यहाँ उनके सत्कारके लिये कुछ है ही नहीं। तब क्या आज आचार्य भूखे रहेंगे? अत्यन्त व्याकुल होकर उस पतिव्रताने गृहके एक कोनेमें विराजमान श्रीमन्नारायणकी मूर्तिके सम्मुख मस्तक पटक दिया भूमिपर। फूट-फूटकर रो रही थी वह। थोड़ी देरमें सिर उठानेपर पड़ोसके सम्पन्न व्यापारीका भवन दृष्टि पड़ा। मानो साक्षात् भगवान्ने ही कोई प्रेरणा की हो। उन्होंने आँसू पोंछ लिये।

'भगवन्! मुझे गुरुदेवका सत्कार तो करना ही है। यदि मैं सचमुच पतिव्रता हूँ, यदि पतिदेवके अतिरिक्त स्वप्नमें भी कोई पुरुष मेरे मनमें कभी नहीं आया है, यदि तुम्हारे चरणोंमें मेरा तनिक भी अनुराग है, तो तुम मेरी रक्षा करोगे। मेरे शरीरको स्पर्श करनेका साहस संसारमें किसीको नहीं है।' साध्वीने निश्चय किया और घरसे निकलकर वह उस वैश्यके यहाँ पहुँची।

'अब तुमने समझदारीका काम किया है!' बनिया गद्दीपर मसनदके सहारे आधा लेटा था। लक्ष्मीदेवीको देखकर उसे आश्चर्य भी हुआ और प्रसन्नता भी। भला, धनके आगे कौन नहीं झुकता, यह सोचकर वह प्रसन्न हो गया। संकेतसे मुनीम तथा नौकरोंको उसने वहाँसे हटा दिया। 'मैंने तुम्हारे लिये अनेक बार बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण भेजे। फल एवं मिष्टान्न भेजे। भला, उनको लौटाकर तुम्हें क्या लाभ हुआ। मैंने अनेक स्त्रियोंके द्वारा बार-बार तुमसे प्रार्थना की। खैर, आज तुमने बड़ी कृपा की। अब तुम्हें कोई कष्ट न होगा।' लक्ष्मीदेवीके परम सुन्दर रूपपर मोहित होकर बहुत दिनोंसे वह अपने कुप्रयत्नमें लगा था। सदा उसे इस ब्राह्मणीकी तीव्र उपेक्षा मिली थी। आज वह बहुत प्रसन्न था।

'मेरे गुरुदेव शिष्योंके साथ पधारे हैं। उनके आतिथ्यके लिये सामग्री चाहिये। मैं सायंकाल तुम्हारे समीप आ जाऊँगी। इस समय तो मुझे आवश्यक सामग्री दे दो!' लक्ष्मीबाईने बड़ी गम्भीरतासे कहा। वे शान्त खड़ी थीं। उस बनियेकी बातोंको मानो उन्होंने सुना ही न हो।

'जो चाहो, ले जाओ!' सेठजीकी उदारता उमड़ पड़ी थी। लक्ष्मीदेवी आटा, घी, शर्करा प्रभृति सब पदार्थ लेकर लौटीं। उन्होंने बड़े प्रेमसे अनेक प्रकारके पदार्थ बनाये। भगवान् भाष्यकारने शिष्योंके साथ भगवान्को भोग लगाकर उन पक्वान्नोंको ग्रहण किया।

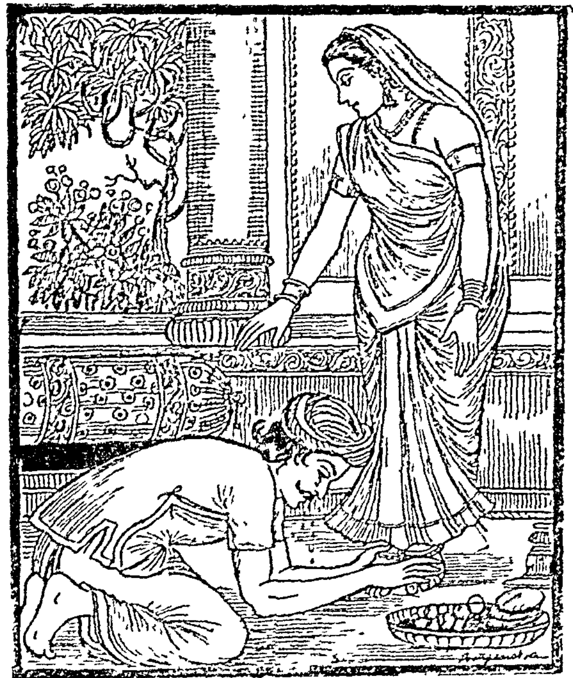
कार्पासराम भिक्षा करके लौटे। उनको ग्रामसे बाहर ही आचार्यके पधारनेका समाचार मिला। सीधे सरोवरपर जाकर उन्होंने गुरुदेवको प्रणिपात किया। आचार्यसे यह सुनकर कि उनकी पत्नीने अनेक पक्वान्नोंसे गुरुदेवका सत्कार किया है, उन्हें आनन्दके साथ आश्चर्य भी हुआ। घर आकर उन्होंने पूछा, 'साध्वी! तुमने गुरुदेवका इतना भव्य आतिथ्य किस प्रकार सम्पन्न किया? घरमें तो एक चुटकी आटा या एक दाना अन्न नहीं था।'

पतिव्रता पत्नीने बिना कुछ छिपाये पतिसे सब सुना दिया। आज ही ब्राह्मणको ज्ञात हुआ कि पड़ोसी बनिया इतने दिनोंसे उसकी पत्नीके प्रति ऐसे दुष्ट भाव रखता है। अप्रसन्न होनेके स्थानपर वह प्रसन्न हुआ।' मैं धन्य हूँ। तुम्हारे समान भक्तिमती सहधर्मिणीको पाकर मैं कृतार्थ हूँ।'

'आप मुझे लज्जित न करें! मेरे सत्य एवं पातिव्रत्य दोनोंकी जैसे रक्षा हो, वह उपाय करें।' पत्नीने पतिके चरणोंपर मस्तक रक्खा। 'यदि कोई दूसरा मार्ग न हुआ तो मैं सायंकालसे पूर्व ही शरीर छोड़ दूँगी। क्योंकि बनियेको सायंकाल आनेका मैंने वचन दिया है।'

कार्पासरामके समीप क्या उपाय था। पत्नीको लेकर वे आचार्यके समीप पहुँचे। श्रीगुरुचरणोंमें उन्होंने सब निवेदित किया। एक क्षण जगद्गुरुके नेत्र बंद हो गये। उनके नेत्रोंमें लक्ष्मीबाईके अनुपम अनुरागसे जल आ गया था। नेत्र खोलकर उन्होंने आदेश दिया—'देवि! तुम धन्य हो; विश्वमें इतनी शक्ति किसमें है, जो तुम्हारे शरीरका स्पर्श करे। चिन्ताकी कोई बात नहीं। भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करो और यही प्रसाद ले जाकर उस वैश्यको दो।'

दम्पतिने प्रसाद लिया। सायंकाल कार्पासराम पत्नीको लेकर सेठके घर पहुँचे। वे बाहर खड़े रहे। लक्ष्मीबाई प्रसाद लेकर भीतर गयीं। उनके आग्रहपर सेठने प्रसाद लिया। भगवान्‌का प्रसाद, भगवान् भाष्यकारने उसे भोग लगाया था और लक्ष्मीदेवी-जैसी साध्वीके हाथसे मिला था। प्रसाद लेते ही वैश्यका तो चित्त ही बदल गया। काम-चर्चा तो दूर रही, वह लक्ष्मीदेवीके पैरोंपर गिर पड़ा—'मा! मैं कितना भयङ्कर पाप करना चाहता था। दमयन्तीको कुदृष्टिसे देखकर जैसे निषाद भस्म हो गया था, वैसी ही दशा आज मेरी होनी थी। दयामयी! तुमने मेरी रक्षा की। मैं महानीच हूँ। घोर पापी हूँ। मेरे अपराध क्षमा करो।'



फूट-फूटकर पैरोंमें गिरकर रोते वैश्यको सतीने आश्वासन दिया। जब उसने सुना कि कार्पासराम द्वारपर खड़े हैं, तो उसके हृदयपर और बड़ा प्रभाव पड़ा। दौड़कर वह बाहर आया और उनके चरणोंमें लोटने लगा। कार्पासराम उसे लेकर सपत्नीक लौटे। आचार्यने उसपर कृपा की और उसने उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण की। —सु० सिं०

नारी-महिमा

(रचयिता—श्रीलोचनप्रसादजी पाण्डेय)

(१)

नारी! तू है विश्वमें अतुल ईश-वरदान।
तुझको पाकर नर-निकर बना महाबलवान॥
बना महाबलवान शक्ति पा तुझसे शुभतर।
दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वतीकी मूर्ति मनोहर॥
घर-घर सुख-सौभाग्य शान्ति-सम्पद अधिकारी।
बन सकते हैं सहज जहाँ हों पूजित नारी॥

(२)

जननी-बहन स्वरूपमें प्रेम, दया, अनुराग।
गृहिणी बन अर्पित करे सेवा-आत्मत्याग॥
सेवा-आत्मत्याग भरे शुभ सुगुण तुम्हारे।
सुमन बिछाते कंटक-पथमें सदा हमारे॥
तुमसे जाति-समाजसहित पावन है अवनी।
नारी! तुम हो धन्य नरोंकी विक्रम-जननी॥

(३)

नारी! तू अर्धाङ्गिनी नरकी, सब सुख मूल।
घर वैकुण्ठ समान हो, जब हो तू अनुकूल॥
जब तू हो अनुकूल बहन, पत्नी, जननी बन।
पावन हो प्रति भवन, शान्ति-सुखमय हो जीवन॥
धन वैभव शुचि स्वास्थ्य शील सद्गुण बलधारी।
बन जाता वह देश, जहाँ हैं साध्वी नारी॥

(४)

नाता मातासे सभी घर-परिवार-समाज।
मातृ-भूमि सम्बन्ध सह शासन तथा स्वराज॥
शासन तथा स्वराज मातृभाषाके नाते।
बनकर गौरवगेह विश्वमें पूजा पाते॥
कविकुल रचकर काव्य अमर जननी-यश गाता।
नारी-सुगुण समूह विमल माताका नाता॥

भक्त धनुर्दासकी पत्नी

'धनुर्दास धनवान् हैं और इस समय तुमलोगोंको धनकी आवश्यकता है। उनके घर जाकर चोरी कर लाओ। माँगनेसे पर्याप्त धन मिलेगा, इसका क्या भरोसा।' जगद्गुरु रामानुजाचार्यजीने शिष्योंको आदेश दिया। उनके शिष्योंके सब वस्त्रादि कोई चोरी कर ले गया था। इससे वे बहुत रुष्ट थे और परस्पर एक दूसरेपर दोषारोपण कर रहे थे।

शिष्योंमें धनका लोभ था। इसीसे उन्होंने समझ लिया कि गुरुदेवकी आज्ञा होनेसे चोरीका पाप नहीं लगेगा। रात्रिमें वे धनुर्दासके घर गये। पति-पत्नी सो रहे थे। घरमें खटपट होनेसे उनके नेत्र खुल गये। देखा कि साधु कुछ ले जाना चाहते हैं तो धनुर्दासने नेत्र बंद कर लिये। साधुओंने जो मिला, एकत्र किया। अन्तमें उनमेंसे एकने धनुर्दासकी पत्नीके शरीरपरसे आभूषण उतारने प्रारम्भ किये। वे जाग रही थीं। जब साधु एक ओरके आभूषण उतार चुका तो धीरेसे उन्होंने करवट बदली। साधुओंने कभी चोरी तो की नहीं थी। धनुर्दासकी स्त्रीको हिलते देख वे भयके मारे भाग खड़े हुए। इससे धनुर्दास अपनी पत्नीपर बहुत नाराज हुए। वह बेचारी रोती हुई गुरुदेवकी शरणमें पहुँची।

आचार्यने धनुर्दासको बुलाया और सब शिष्योंके सम्मुख ही उससे पत्नीपर क्रुद्ध होनेका कारण पूछा। बड़ी नम्रतासे धनुर्दासने प्रार्थना की—'भगवन्! धन तो वैष्णवोंका ही है। हम तो उनके उच्छिष्टभोजी हैं। बेचारे वैष्णव अपने त्यागके कारण कष्ट सहकर तप करते हैं। नहीं तो, भगवान्की ही सारी सम्पत्ति है और उसपर उनके जनोंका ही अधिकार है। मेरे सौभाग्यसे मुझपर कृपा करके रात्रिमें मेरे घर वे अपना द्रव्य लेने पधारे थे। यह इतनी लोभी है कि द्रव्यके लोभसे इसने जागनेके लक्षण प्रकट कर दिये और साधु लौट आये।

'देव! मेरा कोई अपराध नहीं। साधुओंने मेरे एक ओरके आभूषण उतार लिये थे। मैंने इसलिये करवट बदली कि वे दूसरी ओरके आभूषण भी उतार लें, उन्हें कुछ द्रव्य और मिल जाय। मुझे तनिक भी सन्देह होता कि मेरे हिलनेसे वे चले आवेंगे तो मैं ऐसा कभी न करती।' धनुर्दासकी पत्नीने बड़ी नम्रतासे विनय की।



'तुम दोनों निर्दोष हो। तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह देखकर ये वैष्णव ईर्ष्या करते थे कि विरक्तोंको छोड़कर मैं एक गृहस्थको क्यों अधिक मानता हूँ। मैंने ही इन्हें शिक्षा देनेके लिये यह काण्ड प्रस्तुत किया है। आज इन्होंने देख लिया कि सच्ची विरक्ति तथा त्याग तुमलोगोंमें है या इन वस्त्रोंके लिये आपसमें लड़नेवाले तथा लोभसे चोरी करनेवालोंमें।' आचार्यने स्पष्टीकरण किया। साधु अत्यन्त लज्जित हो गये। —सु० सिं०

गृहलक्ष्मियाँ

'स्त्रियोंकी बहु-संख्या स्वभावतः अविवाहित कुमारियाँ बननेके बजाय घरकी लक्ष्मियाँ, सरस्वतियाँ और अन्नपूर्णाएँ बननेके अधिक उपयुक्त हैं, जहाँ उनकी उपस्थिति ही घरके लोगोंके जीवनमें प्रसन्नता और शक्ति लाती और अपने कार्योंको सफलतापूर्वक करनेके लिये उन्हें प्रोत्साहित करती है।'

—डा० भगवानदास

सती बेहुला

स्वयं नारायणः शम्भुर्विधाता जगतामपि ।
सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यश्च सन्ततम् ॥*

चम्पकनगरीमें चन्द्रधर नामक एक धनी वैश्य थे। ये आशुतोष शिवके भक्त थे, पर मनसादेवीसे इनका बड़ा विरोध था। इसी विरोधके कारण मनसादेवीने चन्द्रधरके छः पुत्रोंको विषधर नागोंसे डँसवाकर मरवा डाला। सातवें पुत्र लक्ष्मीन्द्रका विवाह उज्जयिनीके धार्मिक साधु नामक वैश्यकी परम सुन्दरी सती कन्या बेहुलाके साथ हुआ।

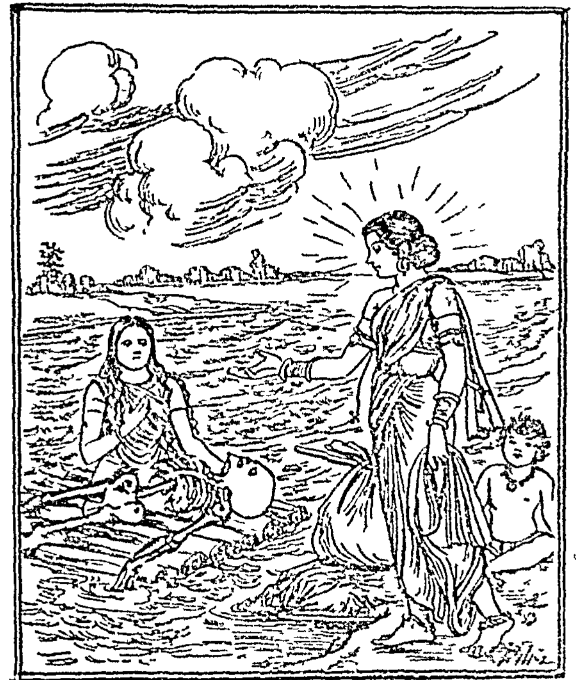
लक्ष्मीन्द्रकी कुण्डली देखकर ज्योतिषियोंने बता दिया था कि विवाहकी प्रथम रात्रिमें ही साँप काटनेसे मृत्यु हो सकती है। इस भयसे पुत्रके प्राणोंकी रक्षाके लिये विवाहके पूर्व ही चन्द्रधरने अपने नगरके निकटवर्ती सन्ताली पर्वतपर एक लोहेका अत्यन्त मजबूत घर बनवाया, जिसमें वायु भी प्रवेश न कर सके। बड़े-बड़े प्रसिद्ध सँपेरा और तीव्र गन्धवाली जड़ी-बूटियोंको, जिन्हें साँप सह न सकें, आस-पास रखवा दिया, परंतु मनसादेवीने भवन-निर्मातासे एक सूक्ष्म छिद्र बनानेके लिये कह दिया था। उसने छिद्रमें कोयला डालकर बंद कर दिया था। फलस्वरूप विवाहकी प्रथम रात्रिको ही मनसादेवी-की विषधर नागिनने जाकर लक्ष्मीन्द्रको डँस लिया। उसके प्राणपखेरू उड़ गये।

प्रातःकाल होते ही लक्ष्मीन्द्रकी माता सिर धुनने लगी। घरमें हाहाकार मच गया। नव-वधू बेहुला तो अवसन्न हो गयी थी। शव जलानेकी तैयारी हो गयी। उस समय बेहुलाने लाज छोड़कर साहसपूर्वक कहा—'साँपसे काटे हुएको जलाना निषिद्ध है, उसको जलमें बहाया जाता है। केलेके वृक्षको आप-लोग नावके आकारमें बना दें, मैं पतिके शवके साथ जाऊँगी।'

केलेके वृक्षकी नाव तैयार हुई। लाल साड़ी एवं सिन्दूर धारण कर बेहुला पतिकी लाश अपनी गोदमें लेकर नावपर बैठ गयी। बेहुलाने पुरवासियोंसे कहा—'स्त्रीका धन, स्त्रीकी गति पति है। पति नहीं तो स्त्रीका जगत्में, जीवनमें कुछ नहीं। इसी कारण मैं जीवन-धनके साथ जा रही हूँ। मैं यदि इन्हें जीवित कर सकी तो आपलोगोंका पुनः दर्शन करूँगी; नहीं तो……' बेहुला अपनी पूरी बात कह भी नहीं पायी थी कि नदीकी उन्मत्त लहरियाँ उसकी नौका दूर ले गयी। बेहुला आँखोंसे ओझल हो गयी। पुरवासी चकित-चमत्कृत, विचारमग्न घर लौट गये।

पतिकी निर्जीव देह लिये बेहुला नदीकी प्रखर धारामें बहती चली जा रही थी। महीनों बीत गये, पर उसके मुँहमें कुछ नहीं गया। उसका शरीर क्षीण हो गया था, रंग पीला पड़ गया था, पर आकृति दीप्तिपूर्ण थी। लक्ष्मीन्द्रके शवसे दुर्गन्ध निकलने लगी थी। कीड़े भी पड़ने लगे। बेहुला उन कीड़ोंको निकाल-निकालकर फेंकने लगी। धीरे-धीरे लक्ष्मीन्द्रके सारे शरीरमें कीड़े पड़ गये। मांस पानीमें बहने लगा। अस्थि-पञ्जरमात्र अवशिष्ट रह गया।

बेहुला अन्न-जलके बिना वायुके सहारे पतिकी अस्थियाँ छातीसे लगाये चली जा रही थी। उसे छः मास बीत गये थे। एक दिन बहते हुए उसने देखा एक धोबिन तटपर कपड़ा धोने आयी है। उसका बच्चा रोने लगा तो क्रोधमें आकर उसने अपने बच्चेको तुरंत मार डाला और कपड़े धोकर जब चलने लगी तो बच्चेको पुनः जीवित कर लिया।



यह देखकर बेहुला नावको किनारेकी ओर ले चली। उसने देखा धोबिनकी आकृतिसे तेज टपक रहा था। धोबिन वस्तुतः देवी मनसाकी सहेली थी। बेहुलाका कठोर तप देखकर उसने उसे भेजा था। उसका नाम था नेता। नेताने बेहुलाकी बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा—'पतिके चरणोंमें ऐसी प्रीति, इतना त्याग और ऐसा कठोर तप तो देवलोकमें भी

* स्वयं नारायण, शिव और जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा एवं सम्पूर्ण देवता और ऋषि-मुनि भी सर्वदा सती स्त्रियोंसे डरते रहते हैं।

सम्भव नहीं है। तुम मेरे साथ देवलोकमें चलकर अपने नृत्यसे महादेवको रिझा दो तो तुम्हारे पति जीवित हो जायँगे।'

बेहुलाके मनमें आशा नाच उठी। उसने कहा—'प्राण-धनके लिये मैं नरकाग्निमें भी प्रवेश करनेके लिये सहर्ष प्रस्तुत हूँ।' नेता उत्तर सुनकर चकित हो गयी और आदरपूर्वक बेहुलाको देवलोक ले चली। बेहुलाके पतिदेवकी अस्थियाँ उसके वक्षःस्थलसे चिपकी थीं।

नेताके आयोजनसे देवगण एकत्र हुए। बेहुला अपने प्रियतम लक्ष्मीन्द्रकी स्मृतिसे उन्मत्त होकर नृत्य करने लगी। उसकी आँखें चतुर्दिक् लक्ष्मीन्द्रकी ही मूर्ति देख रही थीं। बेहुलाका नृत्य और उसकी करुणवाणीको सुनकर देवसमुदाय द्रवित हो गया।

मनसादेवी भी विचलित हुईं। 'सती बेहुला! मैं तुमसे पराजित हो गयी। आज बहुत दिनोंके बाद सावित्रीकी भाँति तुमने भी अपने मृत पतिको जीवित कर लिया। बेटी! तुम्हारी पति-भक्ति देखकर मैं तुम्हारा सौभाग्य-सिन्दूर लौटा रही हूँ। तुम्हारी कीर्ति धरातलपर अमर रहेगी।' मनसाने वर दिया।

इतना कहकर देवीने लक्ष्मीन्द्रकी निर्जीव अस्थियोंको स्पर्श कर दिया। लक्ष्मीन्द्र जीवित हो गये। बेहुलाका मन-मयूर नृत्य कर उठा। उसने अपना मस्तक पतिके चरणोंपर रख दिया।

आनन्दाश्रु वर्षण करते हुए देवगण बेहुलादेवीकी जय-जयकार करने लगे। —शि० दु०

देवी पद्मावती

श्रीजगन्नाथपुरीके सुदेव नामक भक्त ब्राह्मणने भगवान्‌के स्वप्नादेशसे अपनी कन्या पद्मावतीका विवाह केन्दुविल्वके श्रीजयदेवजीके साथ कर दिया था। दम्पति भगवान् श्रीराधामाधवजीके उपासक थे।

कुछ समयके बाद श्रीजयदेवजी गौडेश्वर राजा लक्ष्मणसेन-के पास रहने लगे थे। वहाँ बाहर श्रीजयदेवजी और भीतर उनकी भक्त पत्नी पद्मावती सत्संग कराया करती थी। भगवच्चर्चा ही उनका प्राण था। एक दिन पद्मावतीने कहा—'पत्नीका परम पूज्य और उसकी गति एकमात्र पति ही है। पतिकी मृत्युका समाचार सुनकर पतिव्रता स्त्रीके प्राण-पखेरू उसी क्षण देहपिञ्जर छोड़कर उड़ जाते हैं। वह क्षणभर भी जीवन धारण नहीं कर सकती।'

रानीके मनमें अपने सतीत्वका कुछ अभिमान था। उन्होंने देवी पद्मावतीकी बातपर विश्वास नहीं किया। एक दिनकी बात है, श्रीजयदेवजी राजाके साथ बाहर गये हुए थे। इधर मुँह बिचकाकर रानीने आकर पद्मावतीसे कहा—'पण्डित-जीको वनमें सिंह खा.........' रानीका वाक्य पूरा नहीं हो पाया कि पद्मावती धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी। रानीने देखा उनका शरीर निश्चेष्ट और निष्प्राण था।



रानी घबरा गयी। 'श्रीजयदेवजीके आनेपर मैं कौन-सा मुँह दिखाऊँगी।' वह बार-बार सोच रही थी और पतिव्रता-की शक्तिसे भयभीत होकर थरथर काँप रही थी। इसी बीचमें श्रीजयदेवजी आ गये। पत्नीकी मृत्युका समाचार सुनकर भी वे विचलित नहीं हुए। परंतु रानीके संकोचको देखकर उन्होंने कहा—'आप चिन्ता न करें' और भगवान्‌से

प्रार्थना करने लगे। देखते-ही-देखते पद्मावती उठकर बैठ गयी। उसने समझा कि मैं सोकर उठ रही हूँ।

कुछ दिनों बाद राजाकी अनुमति लेकर श्रीजयदेवजी और पद्मावती श्रीयुगलसरकारके विग्रहको लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और प्रभुकी सेवा करते हुए भगवद्-भजनमें दिन बिताने लगे।

श्रीजयदेवजी एक दिन गीतगोविन्दका यह पद लिख रहे थे—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं जनितरतिरङ्गपरभागम्।
भण मसृणवाणि कराणि चरणद्वयं सरसलसदलक्तकरागम्॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—

इसके आगेका वाक्य ठीक नहीं बैठ रहा था। इसी बीचमे पद्मावतीने भोजनके लिये आग्रह किया। पद अधूरा छोड़कर ही श्रीजयदेवजी गङ्गा-स्नान करने चले गये।

कुछ ही क्षणोंमे पद्मावतीने देखा कि जयदेवजी आकर 'गीतगोविन्द' माँग रहे हैं। बेचारी सरल-हृदया पत्नीने नटवरको नहीं पहचाना। उसने विस्मयसे पूछा—'आप तो स्नान करने गये थे, बीचसे ही कैसे लौट आये?'

'रास्तेमें ही पदका अन्तिम चरण याद आ गया। इसी-से लौट आया।' महामायावीका उत्तर मिल गया।

पद्मावतीने ग्रन्थ, लेखनी और मसिपात्र ला दिये। भगवान्‌ने पदकी पूर्ति कर दी 'देहि पदपल्लवमुदारम्'

इसके बाद पद्मावतीसे जल माँगकर वहीं स्नान एवं भोजन भी कर लिया। फिर जाकर पलंगपर लेट रहे। पत्तलमे बचा प्रसाद पद्मावती पाने लगी।

स्नान करके लौटे हुए श्रीजयदेवजीने अपनी पत्नीको भोजन करते देखा तो चकित हो गये। उनके भोजनके पूर्व पद्मावती कदापि भोजन नहीं कर सकती थी। उन्होंने पूछा—'यह क्या पद्मा? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

'आप यह क्या कह रहे है नाथ!' पद्मावतीने कहा, 'अभी-अभी अपने पदकी पूर्ति करके आपने स्नान और भोजन करके शयन किया था और अभी ....।'

जयदेवजी दौड़े पलंगके पास गये। देखा तो वह खाली था। उन्होने तुरंत ग्रन्थ खोलकर देखा तो चकित हो गये। 'मै तो यही लिखने जा रहा था पद्मा! पर संकोचवश नहीं लिख पाया।' पत्नीसे आकर उन्होंने कहा। उनकी आँखें बरबस गीली हो गयी।

'हे गोपाल! हे श्रीकृष्ण!! हे व्रजेन्द्रनन्दन!!!' भगवान्‌के कितने नाम अत्यन्त कातर भावसे श्रीजयदेवजी बोल गये और दौड़कर पद्मावतीका उच्छिष्ट भोजन करने लगे। पद्मावतीने पत्तल आगे खींची, पर वे गिड़गिड़ाकर एक-एक चावल चाटते जा रहे थे। 'तू धन्य है, देवि! भगवान् श्रीकृष्णने तेरे हाथसे स्नान और भोजन कर लिया। मेरे ही ऊपर जाने क्यों......' उनकी आँखोसे अश्रुवर्षा होने लगी।

× × ×

बादमें श्रीजयदेवजी अपनी साध्वी पत्नी देवी पद्मावतीके साथ वृन्दावनमे चले आये। वहाँपर पाप-पुञ्ज-नाशिनी श्रीकालिन्दीमे स्नानकर श्रीकृष्णकी लीलाका आनन्द लूटते हुए उन लोगोने अपने नश्वर शरीरको त्यागकर गोलोकके लिये प्रस्थान कर दिया। कुछ लोगोका कहना है कि श्रीजयदेवजीने अपना शरीर अपने गाँवमे ही छोड़ा था।

पद्मावतीकी पति-भक्ति अद्वितीय और विश्वपतिकी चरणानुरक्ति अनुपम थी। वह देवी धन्य थी! उसका जीवन धन्य था!! —शि० दु०

सती नागमती

राजकुमारी नागमती कानमेरप्रान्त-नरेश कानसूला भेडाकी कन्या थी। अधेड़ अवस्थामे ग्राम-देवता नागकी आराधना करनेसे उन्हें पुत्री हुई थी, इस कन्याका सौन्दर्य मानवमे होना सहज नहीं। आराध्यके नामपर इसका नाम नागमती पड़ा था।

एक वर्ष सहसा अकाल पड़ा। वर्षाके विना अन्न कैसे हो। प्रजा भागने लगी। कानसूला भेडा बड़े उदार नरेश थे। उन्होने प्रजाकी सहायताके लिये पूरा राजकोष वितरित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उन्हे भी सपरिवार राज्य छोड़कर सौराष्ट्रके समियाणा राज्यमें शरण लेनी पड़ी। यहाँके नरेश धम्मरवालाने उनका सीमापर आकर स्वागत किया। सम्मान-पूर्वक वे यहाँ रहने लगे। इस राज्यके युवराज नागवालाने भी नागमतीकी प्रशंसा सुनी थी। एक दिन सरोवर-स्नान करती नागमतीपर युवराजकी दृष्टि पड़ी। दोनोने एक दूसरेको देखा। वे परस्पर मुग्ध हो गये।

युवराज नागवाला विवाहित थे। दूसरे किसी दिन वे

की और उसे अपहरणके लिये उत्तेजित किया ।

नरेश सोढ़ाने बहुत सोच-समझकर आज्ञा दी कि मेरे राज्यमे मारूके समान सुन्दर कन्याका अन्वेषण करो। वे परस्त्री-अपहरण नहीं करना चाहते थे। अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। एक बड़ी सुन्दरी कन्या मिली। नरेश उसके सौन्दर्यसे प्रभावित हुए। उन्होने उससे विवाह कर लिया। देवराजने अब सूचित किया कि यह कन्या सौन्दर्यमे मारूकी किसी भी अंशमे तुलना कर नहीं सकती। नरेशके सम्मुख एक अकल्पित सौन्दर्य था। उससे भी अधिक सौन्दर्यके प्रलोभनने उन्हे विचारहीन बना दिया। पॉच सौ घुड़सवारोंके साथ उन्होंने हमीर सोढ़ाको भेजा मारूके अपहरणके लिये।

हमीर धारापुर आये। एक दिन तो उन्होंने कुएँपर प्रतीक्षा की, परंतु वृष्टि हो जानेसे कोई जल भरने न आया। घरका भेदी बुरा होता है। देवराजने बताया कि अपने भवनके ऑगनमे मारू अपनी माताके साथ दधिमन्थन कर रही है। वहॉ और कोई नही है। हमीर भीतर चले गये। बलपूर्वक उन्होने मारूको घोड़ेपर बैठा लिया। अमरकोट पहुँचकर मारूने नरेशसे प्रार्थना की—'मैंने एक व्रत प्रारम्भ किया है। उसे एक मास हो चुका है। पॉच मास और शेष हैं। व्रत भङ्ग करनेसे देवता रुष्ट होकर आपका अकल्याण करेंगे। मुझे पॉच महीने अकेले भवनमे रहने दीजिये। किसी पुरुषका दर्शन इस अन्तरमे मुझे नहीं होना चाहिये। व्रतके अन्तमे एक सुन्दर ऊँटपर बैठकर नगर-भ्रमण करके व्रत समाप्त करूँगी। तब आपके दर्शन होंगे।'

राजाने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। मारूने अपने पतिको सन्देश भेज दिया कि वे कोई बहुत सुन्दर ऊँट लेकर यहॉ आ जायँ। विरामजीने बड़े श्रमसे उत्तम गतिका ऊँट लिया। वे अमरकोट जाकर गुप्तरूपसे रहने लगे। पॉच महीने पूर्ण हुए, मारूने ऊँटकी मॉग की। नगरके सब ऊँट नरेशके आदेशसे एकत्र हुए। मारूने विरामजीके ऊँटको चुना। वहॉ ऊँटवालोंके अतिरिक्त केवल स्त्रियॉ थीं। मारू ऊँटपर बैठीं। नगर-कोटके भीतर ही ऊँटको घुमा लानेका आदेश था। स्त्रियोकी दृष्टि-सीमासे बाहर होते ही ऊँटकी चाल तेज हो गयी।

बड़ी देरमें अन्वेषण होनेपर पता लगा कि मारू अपने पतिके साथ भाग गयी है। जब पीछा करनेपर भी घुड़सवार ऊँटको न पकड़ सके तो सुमराने सेना लेकर धारापुरपर आक्रमण किया। युद्धमें धारा सुथार, विरामजी सोलंकी तथा उनके सेवक मारे गये। शत्रुके हाथ पड़नेकी अपेक्षा मरना श्रेष्ठ समझकर रानी जलफू तथा मारू एक पर्वतकी चोटीसे नीचे कूद पड़ीं। उनके शरीरका भी पता न लगा।



मारूने अपनी पति-भक्तिके उद्गारमें कहा था—'कम्बल पॉच रुपयेको मिल सकता है; किंतु शाल तो लाख रुपयेका भी हो सकता है। दूसरी स्त्रियोंको चाहे जो रुचे, मेरा मन तो विरामजीमे ही लगा है।' —सु० सिं०

सती विकोई

'संशयात्मा विनश्यति।' सन्देहके वशीभूत होकर मानव अपना सर्वनाश कर लिया करता है। इतिहास साक्षी है कि सन्देहने कितने अनर्थ कराये हैं। वास्तविकताका साक्षात्कार होनेपर मनुष्यको जन्मभर पश्चात्तापकी आगमे जलना पड़ा है; किंतु उसमे इतना धैर्य, इतनी स्थिरता कहॉ कि वह अपने भ्रमको सम्हालकर तबतक प्रतीक्षा करे, जबतक सत्य उसपर प्रकट न हो जाय। वह तो भ्रमको सत्य मान लेता है और सत्यके अन्वेषणका प्रयत्न भी नहीं करता।

काठियावाड़की घटना है। कमा नामक एक गरासिया अपनी पत्नीके साथ रात्रिमे सो रहा था। कमाने देखा कि स्त्री सोते-सोते कुछ बोल रही है। वह ध्यानसे सुनने लगा। उसकी स्त्री विकोई कह रही थी—'घोड़ेपर चढ़ा काला झाल कितना भला लगता है। क्या शोभा है!'

काला झाल मित्र था कमाका। एक दिन घर आनेपर विकोईने उसे देखा था। वह स्वस्थ सुन्दर युवक उसे बहुत भला लगा। सौन्दर्य भला लगे, इसमें तो कोई दोष है नहीं। जैसे हम सुन्दर बालक, प्रफुल्ल पुष्प एवं चपल बछड़े को देखकर आकर्षित होते हैं, वैसे ही विकोई निर्दोषभावसे उस युवकको देखकर प्रसन्न हुई थी। अन्तर्मनमें संस्कार रह गये। निद्रामें उसने काला झालको घोड़ेपर बैठकर नगरमें घूमते देखा। उसके मुखसे उद्गार प्रकट हो गये। कमाका हृदय सन्देहसे भर गया। उसने पत्नीको जगाकर कहा—'तू सोतेमें भी जिसका स्वप्न देखती है, उसीके पास चली जा! मेरे घरमें ऐसी दुष्टा स्त्रीके लिये स्थान नहीं!'

विकोई दुःख एवं आश्चर्यसे मूक हो गयी। आज सहसा पतिको हो क्या गया। पूछनेपर व्यंग वचनोंके अतिरिक्त चपत तथा घूसे और पड़े। कमा क्रोधसे काँप रहा था। बड़ी कठिनतासे उसने जो विकोईके मुखसे सुना था, बताया। पतिके पैर पकड़कर उस साध्वीने रोते-रोते प्रार्थना की। सच-सच बता दिया। पुरुषके हृदयमें जब सन्देहका कीट घुस जाता है तो सहज ही नहीं निकला करता। कमाने पत्नीको घसीटकर द्वारसे बाहर धक्का देकर गिरा दिया। बड़े जोरसे उसने भीतरसे द्वार बंद कर लिये।

आर्तस्वरसे विकोईने क्रन्दन करते हुए प्रार्थना की—'तुम मेरे शरीरको सुई या भालेसे छेद डालो, मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दो; परंतु मुझे निकालो मत! मुझे पत्नीकी भाँति नहीं रखना है तो दासीकी भाँति रहने दो। मैं तुम्हारे पैरोंकी जूती हूँ। तुम्हारे घरके सब काम करूँगी और तुम जो जूँठा टुकड़ा फेंक दोगे, उसे कुतियाकी भाँति खाकर सन्तोष कर लूँगी। तुम्हारे साथ मैंने वर्षों विताये हैं; मिथ्या सन्देहमें पड़कर मुझे छोड़ो मत। मेरे न रहनेपर तुम्हें पानी भरना होगा, बर्तन मलने होंगे। इन कामोंके लिये मजदूरनी समझकर ही तुम मुझे अपने पास रहने दो। तुम्हें सुखी देखकर ही मैं सुखी रहूँगी। मैं तुम्हारी विवाहिता पत्नी हूँ। मुझे घरसे मत निकालो!'

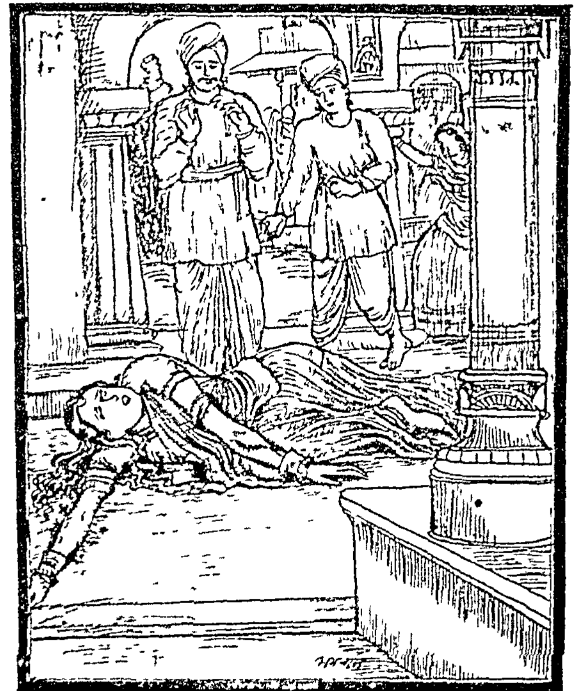
कमाके सिरपर सन्देहका भूत सवार था। पत्नीका क्रन्दन उसे प्रभावित न कर सका। बेचारी विकोई रातभर द्वारपर पड़ी रही। गरासिया जातिमें पुनर्विवाहकी प्रथा है, विकोई सुन्दर स्त्री थी। वह चाहती तो कोई भी युवक आदरसे उसे स्वीकार कर लेता। उसने ऐसा कुछ नहीं किया। जब उसे विश्वास हो गया कि पति उसे किसी प्रकार घरमें न रहने देगा तो वहाँसे उठी। वहाँसे चलकर वह पासके गाँवमें काला झालके घरपर पहुँची। प्रातःकाल काला झाल गायें दुह रहा था। मित्रकी पत्नीको इस समय आया देख उसे आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'बहिन! तुम इतनी दुखी क्यों जान पड़ती हो? इस समय कैसे आयी हो।'

विकोई फूट-फूटकर रोने लगी। उसने बिलखते हुए सब बातें बताकर कहा—'मैंने सोचा, भगवान्‌ने तुम्हें इतना सुन्दर रूप दिया है तो मन भी सुन्दर दिया होगा। तुम्हारे बहिन कहनेसे मैं समझ गयी कि मेरा सोचना ठीक ही था।'

काला झाल सत्पुरुष था। उसने कहा—'बहिन! कमाने जो अज्ञानका काम किया है, वह उसपर पछतायेगा। यह तुम्हारे भाईका घर है। प्रसन्नतासे रहो!'

विकोई वहीं रहने लगी। अपने शील, नम्रता तथा परिश्रमसे वह परिवारमें सबके आदरकी पात्र हो गयी। पड़ोसी भी उसकी प्रशंसा करते थे। उसके सदाचारकी प्रशंसा गाँवमें होने लगी। कमाको पत्नीके शीलका पता लगा। उसने यह भी सुना कि विकोई वहाँ काला झालकी बहिन बनकर रहती है। तब उसे अपने कियेपर बड़ा दुःख हुआ। एक दिन वह नदीपर स्नान करने पहुँचा। उसने दूरसे देखा कि विकोई स्नान करके घड़ेमें जल लेकर जा रही है। वह बहुत दुर्बल हो गयी जान पड़ती है। दुःखके मारे वह वहीं बैठ गया। विकोईने जहाँ स्नान किया था, वहीं बैठकर उसने अश्रु बहाये।

'मैंने उसके साथ इतना निर्दय व्यवहार किया है; पता नहीं अब वह मुझे क्षमा भी करेगी या नहीं। मेरे लिये भला उसके मनमें अब क्यों प्रेम होने लगा।' कमाने परीक्षा लेनेका विचार किया। उसने एक पड़ोसीसे विकोईके पास समाचार भेजा कि कमाका देहान्त हो गया। सती विकोई



'फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी'' केवल दस दिन''' रघुनाथ सोचने लगा। वह घबड़ा गया। उसका मुँह सूख गया। दौड़ा हुआ उसका मन सीधे भगवान्‌के पास चला गया। चरणोंमें गिरकर प्रार्थना करने लगा—'दयामय! मेरे बल, मेरी आशा, मेरा भरोसा, सब कुछ आप ही हैं। प्रभो! सतीके सन्तापको शीघ्र दूर कीजिये, सर्व-विपत्ति-विनाशक नाथ!'

प्रार्थना करते-करते सिंहद्वारके समीप ही रघुनाथ सो गया। सवेरे आँख खुली तो उसने देखा वह कलावतीपुरमें अपने श्वशुरकी देहरीपर पड़ा है। उसके सातों साले चीथड़ेमें लेटे उसे देख रहे हैं। एक क्षण तो उसने इसे स्वप्न समझा, पर दूसरे ही क्षण जगदीश्वरकी कृपाका उसे अनुभव हुआ।

लोकलाजके भयसे सालोंने उसे भीतर ले जाकर स्नानादि कराकर नूतन वस्त्र पहनाये। कृत्रिम स्वागत आरम्भ हुआ। अन्नपूर्णाका मन-मयूर अत्यन्त उमंगसे नृत्य कर रहा था। उसकी जीवन-ज्योति जगानेवाले उसके नयनाभिराम घनश्याम जो आ गये थे।

× × × ×

सतीका कलेजा हिल रहा था। उसकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। उसके परिवारवाले इतने कुटिल हैं, उसे विश्वास नहीं था। और मेरी जननी;—मक्खन-सा हृदय कहलाता है स्त्रियोंका, पर ये तो वज्रखंडसे भी अधिक कठोर और निष्ठुर हैं! मेरे भोले-भाले सरलहृदय पतिको भोजनमें हलाहल देकर समाप्त कर देनेका उपक्रम कर रही हैं। आँसू भर आते थे, पर अन्नपूर्णा उन्हें पोंछ लेती थी।

बिषम गरल यामें मिल्यो, नाथ बचन पतियाहु।
दासी तव चरननि परै, रुको, अन्न जनि खाहु॥

अन्नपूर्णाने चुपकेसे छोटे-से ताड़पत्रपर लिखा। बड़ी युक्तिसे माकी दृष्टि बचाकर उसने पिष्टक (बंगाली मिठाई) के नीचे रख दिया। वह जानती थी कि मेरे पतिदेवको पिष्टक अत्यन्त प्रिय है। पहले वे पिष्टक ही खा सकते हैं।

अन्नपूर्णाकी मा अत्यन्त आदर दिखाते हुए थाल परस रही थीं। अन्नपूर्णा झरोखेसे झाँक रही थी। उसका हृदय काँप रहा था। उसके सौभाग्यका वारा-न्यारा होने जा रहा था। वह दयामय न्यायकारी भगवान्‌से दयाकी, अपने प्राणपतिकी, अपने सौभाग्य-सिन्दूरकी आँसूभरे नेत्रोंसे भिक्षा माँग रही थी।

रघुनाथने पहले पिष्टक ही उठाया। पत्र उसकी दृष्टिमें पड़ गया। इतनेमें ही अन्नपूर्णाको उसके भाईने देख लिया। उसे अलग कर देना उचित समझा। पाप-पङ्कसे निर्मल बने रहनेके लिये उसने उसे कोठरीमें बंद करके ताला लगा दिया!

दोहा रघुनाथने पढ़ लिया था। हाथ उसका वहीं रुक गया। पर भोग लग चुका था। 'आह! विषमय भोजन मैंने प्रभुको अर्पित कर दिया?' वह छटपटा उठा। विषसे प्रभुने प्रह्लाद और मीराँकी रक्षा की थी''यह सामग्री अब तो प्रभुका प्रसाद है। निश्चिन्त होकर रघुनाथने भोजन शुरू किया। थाली समाप्त हो गयी।

देहमें असह्य ऐंठन! तीव्र वेदना!! अनन्त दाह!!! रघुनाथके प्राण निकल गये। सबने देखा, दुष्टाके मैनकी कली खिल गयी!

× × × ×

'सर्प-दंशनसे मृत्यु हो गयी, कह दिया जायगा।' सबने निर्णय कर लिया था। रातभर उस परिवारमें किसीको नींद नहीं आयी। घंटाभर रात रहते ही शवको लेकर गाड़ देनेके लिये उन लोगोंने रघुनाथकी कोठरीमें प्रवेश किया।

देहरीपर ही वे ठिठक गये। उनका दिल धड़कने लगा। 'एक क्षण भी मैं इस घरमें नहीं रुक सकूँगा,' रघुनाथने कहा। वह आसनपर बैठा मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान कर रहा था। उसे रात्रिकी घटना ज्यों-की-त्यों याद है। असह्य पीड़ा और जलनके उपरान्त प्रभुके कर-कमलोंका शीतल सुखदस्पर्श और भुवन-मोहिनी मञ्जुल मूर्ति वह नहीं भूल सका है। 'धर्मतः अन्नपूर्णा मेरी पत्नी है। वह मुझे मिलनी चाहिये। नहीं तो तुमलोगोंकी इच्छा!' कहकर रघुनाथ खड़ा हो गया और श्वशुर-गृहसे बाहर निकल गया। उसके साले और श्वशुरने प्रार्थना की; पर वह नहीं रुका, नहीं रुका। कलावती-पुरके बाहर एक वृक्षके नीचे बैठ गया। 'अन्नपूर्णा जायगी तो साथ कर दिया जायगा' कहकर वे लोग लौट आये।

'बेटी! तू उस निर्धन भिक्षुकके साथ रहना चाहती है या धनी-मानी राजमन्त्रीके पुत्र''''''''' पिताने किवाड़ खोलकर अन्नपूर्णासे पूछा। उसके सातो पुत्र और पत्नी सब-के-सब अन्नपूर्णाका मुख देख रहे थे।

'मैं हिंदू-नारी हूँ, पिताजी!' अन्नपूर्णाने उत्तर दिया। पतिकी चिन्तामें वह रातभर रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थी। उसकी प्रार्थनासे पिघलकर ही भगवान्‌ने रघुनाथको जीवन-दान किया था। आज पतिप्रेमने उसकी लाजका बाँध

तोड़ दिया है। वह चण्डिका-सी लग रही है। 'मेरे सर्वस्व वे भिखारी ही हैं। अतुल धन-सम्पत्तिपर मैं थूक दूँगी, पर अपने पतिसे अलग नहीं हो सकूँगी। बलप्रयोग करनेपर आपलोग मेरे जीवनसे हाथ धो बैठेंगे।'

सब-के-सब अवाक् रह गये। धन-सम्पत्तिके साथ वे लोग अन्नपूर्णाको उसके पतिके पास पहुँचा आये। 'राम कृष्ण हरि' कहता हुआ रघुनाथ अपनी धर्मशीला पत्नीके साथ श्रीजगन्नाथपुरी चला।

'अब क्या होगा, नाथ?' डरती हुई अन्नपूर्णाने पतिसे कहा। 'नराधम राजमन्त्रीके सैनिक मुझे आपसे छीननेके लिये आ रहे हैं। घोड़ोंकी टाप सुनायी दे रही है। धूलि भी उड़ रही है। शायद माताजीने चुपकेसे उसे सन्देश·····।' उसकी आँखें भरभरा आयीं।

'मेरे एकमात्र रक्षक भगवान् हैं, प्रिये!' 'राम-कृष्ण-हरि' के जापक रघुनाथने निश्चिन्ततासे कहा। 'वे मेरे साथ हैं। जिन्होंने विषसे मृत्यु हो जानेपर स्वयं आकर अपना कर-कमल फेरकर मुझे जीवन-दान दिया था, इस समय भी वे बचा लेंगे। तुम चिन्ता मत करो।' वह कीर्तन करते हुए अपनी राह आगे बढ़ा चला जा रहा था।

'तुम लोग कौन हो? कहाँ जा रहे हो? यह सेना कैसी है?' दो नयनमनोहर शूर सवारोंने आते ही एक साथ तीन प्रश्न कर दिये।

'हम अनाथ हैं। प्रभु ही हमारे सर्वस्व हैं। उन्हींके धाममें हम लोग जा रहे हैं। ये राजाके सैनिक शायद हमारी ही टोहमें आकर मेरी धर्म-पत्नीको छीन लेना चाहते हैं।' रघुनाथने उत्तर दिया।

'तुम चिन्ता मत करो।' सैनिकने कहा, 'हम उन्हें देख लेंगे।'

× × ×

मन्त्री-पुत्रके सैनिकोंको लगा जैसे लाखों अश्वारोही वीर-सैनिक रघुनाथ और उसकी पत्नीकी रक्षा कर रहे हैं। वे सब-के-सब जिधर राह मिली, प्राण बचानेके लिये उधर ही भाग खड़े हुए। उन दोनों सैनिकोंको रघुनाथने भले ही



नही पहचाना हो, पर इतना तो उसका दृढ़ विश्वास था ही कि उसे भगवान्‌ने बचाया है।

'अब कोई भय नही है,' सैनिकोने पुरीके पास आकर कहा। 'अब तुमलोग चले जाओगे।'

'आपने बड़ी कृपा की,' आभार-प्रदर्शन करते हुए रघुनाथने उन दोनो सैनिकोंको प्रेमपूर्वक प्रणाम किया। 'आपलोगोंने हम दोनोकी रक्षा की, हम ऋणी हैं।'

सैनिक चले गये।

× × ×

रघुनाथ अपनी साध्वी पत्नी अन्नपूर्णाके साथ पुरी आया। उसका कष्ट मिट गया। एक कुटिया बना ली और उसीमें रहने लगा।

'कृष्ण-कथा, कृष्ण-कीर्तन, कृष्ण-गुणानुवाद-श्रवण' यही उनका काम था। कृष्ण-सेवाके अतिरिक्त रघुनाथका और कोई काम नही था और देवी अन्नपूर्णा अपने प्राणधन पतिदेवके साथ-साथ विश्वपतिकी सेवा करके उनके चरणोमे लीन होती जा रही थी। —शि० दु०

पूजनीया श्रीविष्णुप्रिया देवी

श्रीविष्णुप्रिया देवी महाप्रभु श्रीश्रीगौराङ्गदेवकी सहधर्मिणी थीं। महाप्रभुके संन्यास लेनेपर श्रीविष्णुप्रियाजीको अपार कष्ट हुआ था। वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़पती रहती थीं। उनकी इसी व्याकुलताके कारण वृन्दावन जाते समय प्रभु उनके पास गये थे। श्रीप्रियाजीके पूछनेपर कि 'मैं अपना जीवन किस प्रकार धारण करूँ?' श्रीप्रभुने अपनी चरणपादुका उन्हे दे दी और उन्हींके द्वारा उन्हे जीवन-धारण करनेका उपदेश भी दिया था।

राजरानी मीराँ

(लेखक—श्रीरामलालजी बी० ए०)

भारतका मध्यकाल भक्तिका स्वर्णयुग था। ज्ञानधाराके साथ-ही-साथ सूर और तुलसीने सगुणभक्तिकी प्रेममयी मन्दाकिनी बहा दी। जनता भगवान्के लोक-रक्षक और लोक-रञ्जन स्वरूपोंकी कायल होती जा रही थी। यवन-शासनके प्रति हिंदू-समाजमें स्वाभाविक उपेक्षाका उदय होने लग गया था। यद्यपि हिंदू-राजसत्ता डॉवाडोल थी, फिर भी आध्यात्मिक जागरणमें हिंदू पीछे नहीं थे। अयोध्या, मथुरा और चित्रकूट आदि पवित्र तीर्थक्षेत्रोंमें भक्तकवियोंका प्रेम-काव्य व्याप्त हो उठा। मीराँने अपनी व्यक्तिगत साधनासे केवल अपना ही कल्याण नहीं किया, समाज, साहित्य और देशका भी बहुत बड़ा हित किया। उनकी अलौकिक तपस्या-ने सिद्ध कर दिया कि राजमहलमें रहनेवाली राजरानी राजकीय वैभवोंपर लात मारकर व्रजकी गली-गलीमें भगवान्-की खोज करनेमें आकाश-पाताल एक कर सकती है, पाषाणमें प्रतिष्ठित भगवत्प्रतिमासे प्रत्यक्ष संलाप कर सकती है।

मीराँका जन्म कहाँ हुआ था, कब हुआ था, उनके पिताका क्या नाम था, पति कौन थे?—ये प्रश्न अब भी किसी-न-किसी अंशमें विद्वानोंकी खोजके विषय बने हुए हैं। प्रश्नोंका समाधान कुछ भी हो, मध्यकालके उत्तरार्द्धमें मीराँ थीं ही। उन्होंने अपने प्रेमकाव्यसे रसिकशेखर नन्दनन्दनको रिझा लिया था ही, यह नितान्त सत्य है। उनकी जीवनीके सम्बन्धमें बहुत कुछ खोज हो चुकी है; उसके आधारपर यह बात तो निश्चित ही है कि उनका विवाह पवित्र सीसोदिया-कुलमें हुआ था। उनका जन्म संवत् १५६० के लगभग मेड़ता परगनेके कुड़की गाँवमें हुआ था। वे जोधपुरके संस्थापक प्रसिद्ध राठौरवंशके राजा राव जोधाजी-की प्रपौत्री, मेड़ताके राव दूदाजीकी पौत्री और रतनसिंहजीकी पुत्री थीं। मीराँकी माताका देहान्त बहुत जल्दी हो गया था, इसलिये दूदाजीने मीराँको अपने पास मेड़ता बुला लिया था। उनका लालन-पालन प्रसिद्ध भक्त जयमलके साथ हुआ था, जिनकी सराहना अपने भक्तमालमें नाभाजीने की है। जयमलजी मीराँके ताऊ वीरमजीके पुत्र थे। बाल्यकाल-से ही मीराँमें भक्तिके संस्कार जाग्रत् होने लगे थे। प्रियादासजीने भी भक्तमालकी टीकामें इनका जन्मस्थान मेड़ता ही माना है और मीराँने स्वयं कहा है—

'मेड़तिये घर जन्म लियो है, मीराँ नाम कहायो।'

चित्तौड़के राजकुमार भोजराजसे सं० १५७३ में तेरह सालकी अवस्थामें धूमधामके साथ इनका विवाह कर दिया गया। ससुरालमें आनेपर सास इनकी पूजा और उपासना-शैलीसे चिढ़कर बात-बातमें उपेक्षा करने लगी। मीराँसे उसकी अनबन-सी हो गयी। चित्तौड़की राजरानी लोक-लज्जा छोड़कर झाँझ-करताल बजाकर गोविन्दको रिझावे और गावे—'तेरो कोई नहिं रोकणहार, मगन होय मीरा चली'—राणाके परिवार-के लिये यह बात असह्य थी। लेकिन इधर तो अजब मस्ती थी, कुछ और ही ढंग था। श्याम-रंगकी तरङ्गमें जिसका मन बह रहा था, उसपर दूसरेका रंग चढ़ता ही किस तरह? दूर-दूरसे भक्त-मण्डली आने लगी। राजपरिवार मीराँके तपोमय जीवनमें विघ्न डालनेके लिये कटिबद्ध था, परंतु भगवान्के भक्तका अमङ्गल करनेवालोंका चेहरा काला पड़ गया। जिन नयनोंमें नन्दलाल बसते थे, उनमें विश्वके बड़े-से-बड़े सौन्दर्यके लिये स्थान ही कहाँ था?

कुछ लोगोंका ऐसा मत है कि मीराँकी उनके पतिने बड़ी ताड़ना की थी, परंतु यह असंगत और गलत धारणा है। कुमार भोजराजका विवाह होनेके पाँच ही वर्ष बाद देहावसान हो गया था। मीराँको सतानेवाला तो उनका देवर विक्रम था। (कुछ लोगोंने गीतगोविन्दके टीकाकार राणा कुम्भको उनका पति माना है; यदि कुछ देरके लिये इसे भी ठीक समझ लिया जाय तो भी पतिका विरोध सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि कुम्भ स्वयं भगवद्भक्त थे।) मीराँके पदोंसे तथा उनके सम्बन्धकी अन्य खोजोंसे यह बात तो स्पष्ट ही हो गयी है कि उनका पतिसे कभी विरोध नहीं हुआ।

यह बात तो स्वाभाविक ही थी कि गिरधरगोपालजीके प्रेमके पीछे उन्हें पति-प्रेमको तिलाञ्जलि देनी पड़ी। पतिकी मृत्यु हो जानेपर अपनी बहन ऊदाके संकेतपर राणा विक्रमने उन्हें तरह-तरहका कष्ट देना आरम्भ किया। उनके जीवन-का अन्त कर डालनेके लिये विषका प्याला और काला नाग भेजा गया; परंतु काल उनका कुछ न बिगाड़ सका। प्रेम-योगिनी मीराँको अपने भगवान्के बलपर पूरा-पूरा विश्वास था, उनमें दृढ़ आस्था थी, उन्होंने राणाको दिखला दिया—

थारी मारी ना मरूँ, मेरो राखणहारो और।

जिस महलमें राग-रंग होता था, दूर-दूर देशोंके संगीतज्ञ और कलाकार अपनी कलाका परिचय देते थे, उसीमें सीसोदियाकुलकी एक राजरानीने भगवान्‌का गुण-गान कर सारा वातावरण भक्ति-भावनासे ओतप्रोत कर दिया।



पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे।
लोग कहै मीराँ भई रे बावरी, सास कहै कुलनासी रे।
विष को प्यालो राणाजी भेज्यो, पीवत मीराँ हाँसी रे॥
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गइ दासी रे।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर सहज मिल्या अविनासी रे॥

सारा-का-सारा परिवार वैरी हो गया। रास्तेके फूल काँटे बन गये। मीराँके अङ्ग-अङ्गमें भक्तिकी धारा प्रवाहित हो उठी। उन्होंने कह ही तो डाला—

'मेरे तो गिरधर-गोपाल, दूसरो न कोई'

'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै' की बात उन्होंने अपने जीवनमें चरितार्थ कर दी। सीसोदिया-कुलका महाराणा भले ही रूठ जाय, 'म्हे तो गोविंदका गुण गास्याँ हो माई'—की तीव्र भाव-भङ्गिमा उनके अधरोंके स्पन्दनमें आलोड़ित थी। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था—'नहिं ऐसो जनम बारम्बार'। कहते हैं कि संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासके दरबारमें भी उन्होंने आवेदन-पत्र भेजा था, वेदना-निवेदनके लिये उनसे बढ़कर योग्य 'वकील' और था ही कौन? जिस समय राणाका अत्याचार पराकाष्ठापर पहुँचा हुआ था, उन्होंने गोस्वामीजीको पत्र लिखा—

'बालपणे सें मीराँ कीन्ही गिरिधरलाल मिताई,
सो तो अब छूटै नहिं क्योंहू लगी लगन बरियाई
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभगतन सुखदाई,
हमहू कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई।'

राघवेन्द्रके पदारविन्द-मकरन्दमें रात-दिन डूबे रहनेवाले महात्माने भक्त-हृदयकी वेदना समझ ली; उन्हें इस बातका तनिक भी ध्यान नहीं था कि यदि उत्तर महाराणाके हाथमें पड़ेगा तो उसका भयानक परिणाम हो सकता है। राम-भक्तकी वाणीने निस्संकोच कहला भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन्हि, भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लों।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लों॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य, प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो॥

आशाके अनुरूप उत्तर पाकर मीराँका हृदय गद्‌गद हो उठा। नयनोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगी। अङ्ग-अङ्गमें रोमाञ्च होने लगा, मनमें मस्तीकी घटा उमड़ आयी। राजरानीने महलकी ओर देखा, उन्होंने मिट्टीके पुतलेसे विदा माँगी, चित्तौड़की पवित्र भूमिकी वन्दना की, प्रियतमने अपनी लीला-भूमिमें चलनेका सङ्केत किया। पैर पीछे पड़ते ही किस तरह? मनसे उन्होंने कहा—

चलो मन गंगा जमुना तीर।
गंगा जमुना निरमल पानी सीतल होत सरीर।
बंसी बजावत गावत कान्हो, संग लिये बलबीर॥
मोर मुकुट पीताबर सोहै, कुंडल झलकत हीर।
'मीराँ'के प्रभु गिरिधर नागर चरण-कँवल पै सीर॥

तीर्थ-यात्राके लिये वे निकल पड़ीं। मन ब्रज-धामकी शोभा देखनेके लिये आकुल था, तनकी सुधि-बुधि नहीं थी। अधर हिल रहे थे, स्वरमें कम्पन था—'हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणें कोय।' सचमुच प्रभुकी विरह-वेदना अत्यन्त भयङ्कर होती है। फिर भी संतोंने कहा है—'साईं सब के पास हो, कोइ दरद सुनावै।' भगवान् तो सदा भक्तों-

के हृदयमें निवास करते हैं, उन्होंने मीराँकी वेदनाका अनुभव तो कर ही लिया था। वे व्रज पहुँच गयीं। गिरिधरनागरके नगरकी शोभा न्यारी थी, रीति-नीति निराली थी, यहाँ तो दधि बेचनेवाली गोपियाँ दहीका नाम भूलकर श्यामके नामकी रट लगा रही थीं। मीराँने गोविन्दको मोल-ले ही तो लिया—

माई म्हे तो लियो गोविंदो मोल ।
कोई कहे ओछो, कोई कहे छाने, लियो री बजता ढोल ॥
कोई कहे मूँघो, कोई कहे सूँघो, लीन्यों प्रेम के मोल ।
'मीराँ'को प्रभु दरसन दीज्यो पूरब जनमरो कोल ॥

व्रज-भूमिमें वे बहुत दिनोंतक संतोंका सत्संग करती रहीं। एक बार वे प्रसिद्ध भक्त श्रीजीवगोस्वामीसे मिलने गयी थीं। गोस्वामीजीने यह कहकर कि 'मैं तो स्त्रियोंसे नहीं मिलता' मिलना अस्वीकार कर दिया। गिरिधरनागरकी सहेलीने कहला भेजा—'मैं तो समझती थी व्रजमें पुरुष केवल एक श्रीकृष्ण ही हैं; परंतु अब एक पुरुष और निकल आये।' इतना सुनकर जीव गोस्वामी उनसे नंगे पाँव ही मिलने दौड़ पड़े। कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि जीव गोस्वामी ही इनके गुरु थे और कुछ लोगोंका मत है कि संत रैदासने इन्हें दीक्षा दी थी।

व्रजवासके बाद ये द्वारका आयीं। एक बार वे भगवान् श्रीरणछोड़जीके सामने मस्त होकर नृत्य तथा संगीतसे अपने प्रियतमका मनोरञ्जन कर रही थीं, सहसा एक दिव्य ज्योति भगवान्‌की प्रतिमासे निकली और मीराँजी उसीमें समा गयीं। आजकल वह मूर्ति श्रीडाकोरजीमें है, जहाँ मीराँका चीर आज भी मूर्तिके बगलमें लटका हुआ है। संवत् १६०८ के लगभग उनका देहावसान हुआ था, ऐसा कहा जाता है।

मीराँ केवल भक्त ही नहीं, बड़ी भावुक कवि भी थीं। कविता उनकी भक्तिका अलंकार है, उनका काव्य हृदयका काव्य है। गिरिधरगोपाल ही उनके काव्यके नायक हैं। उनकी उपासना मधुर भावकी थी। उन्होंने अपने पदों और गीतोंमें भगवान्‌का पतिरूपमें स्मरण किया है। वे प्रेम-योगिनी थीं। उनका जीवन धन्य था।

श्रीमती रत्नावतीजी

आँबेर-नरेश श्रीमानसिंहके छोटे भाईका नाम माधवसिंह था और इन्हीं माधवसिंहकी परिणीता पत्नी थीं रत्नावतीजी। श्रीरत्नावतीजीकी दासी भगवद्भक्त थी। उसकी स्वरलहरी अत्यन्त मधुर थी। वह हर समय धीरे-धीरे 'नवलकिशोर, नन्दकिशोर, वृन्दावनचन्द्र' का कीर्तन किया करती थी। उसका यह जप दिनमें प्रायः अखण्डरूपसे चला करता था।

उसकी स्वरमाधुरीका अपूर्व प्रभाव रत्नावतीपर पड़ता था। रत्नावती कोई भी काम करती रहती, पर दासीके होंठ हिलते ही वह उसे अपने पास बुला लेती और कुछ स्पष्ट शब्दोंमें गानेके लिये आग्रह करती। दासी आँख बंद करके श्यामसुन्दरका ध्यान करती हुई 'नवलकिशोर, नन्दकिशोर, वृन्दावनचन्द्र' नामोंको संगीतके स्वरोंमें गाती। रानी झूम उठतीं और दासीके साथ स्वयं भी गुनगुनाने लगतीं।

पर रानीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता, जब वह देखती कि दासीकी दोनों आँखोंसे आँसू झर रहे हैं। वह इसका कारण दासीसे बार-बार पूछती, पर दासी इसके उत्तरको टाल देनेका प्रयत्न करती।

'तुम्हें बताना ही होगा, गाते-गाते तुम रो क्यों पड़ती हो?' रानीने हठ किया।

'उस सलोने श्यामसुन्दरका तीर जिसे लग जाता है, उसे रोनेके सिवा और कोई चारा नहीं रहता,' दासीने नपे-तुले शब्दोंमें उत्तर दे दिया।

'मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझ पायी, स्पष्ट कर दो'—रानीने उत्सुकतासे पूछा।

'रसिकशेखर श्रीकृष्णसे प्रीति होनेपर उनके बिना रहा नहीं जाता। जिन्हें उनकी सच्ची लगन है, उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वे दिनमें तड़पकर और रातमें करवटें बदल-बदलकर आँसुओंसे मुँह धोते रहते हैं'—दासीने स्पष्ट किया।

'श्रीकृष्ण-दर्शन मुझे भी करा दो'—रानीने विनयपूर्ण शब्दोंमें आग्रह किया। उसके मनमें विश्वास हो गया था कि दासी सामान्य नारी नहीं, परम भगवद्भक्त है। उसे दासीके पदसे मुक्त कर देनेका भी निश्चय रानीने कर लिया था।

'श्रीकृष्ण-दर्शन दुर्लभ है, पर अत्यन्त सरल भी है। श्रीकृष्ण हमारे और आपके—सबके पास हैं। आवश्यकता है शुद्ध प्रेमकी। हृदयकी तड़पन देखकर वे अधीर हो जाते हैं। फिर दर्शन उन्हें देना ही पड़ता है।'

रानी बड़ी प्रसन्न हुई। वह भगवत्प्रेमके मार्गकी पथिक बन गयी। दासी अपने पदसे मुक्त हो गयी। अब वह रानीके पास बैठकर प्रभु-गुणगान करती रहती और मधुर स्वरोंमें

कीर्तन करती। पास ही संतोंके टिकनेके लिये एक संत-सेवा-शाला बनवा दी गयी; वहाँ संत आते और उनकी खूब सेवा होती।

यह समाचार राजाके पास पहुँचा। राजा जलकर राख हो गये। 'राजाकी पत्नी साधारण नारियोंकी भाँति भजन-कीर्तन और साधुसेवा करे, यह आचरण किसी भी राजवंशकी प्रतिष्ठापर आघात पहुँचा देता है,' राजा क्रोधसे काँप रहे थे।

'पिताजी! प्रणाम'—उसी समय राजा माधवसिंहके पुत्र प्रेमसिंहने उन्हें प्रणाम किया। माताकी सीखके अनुसार कुँवरके भालमें तिलक और कण्ठमें तुलसीकी माला थी।

'मोडी* बैरागिनका छोरा'—राजाके मुँहसे निकल पड़ा।

कुँवर उलटे पाँव लौट पड़े। उन्हें सारी बात विदित हो गयी थी। उन्होंने तुरंत अपनी माता रत्नावतीजीको पत्र लिखा कि 'पिताजीने मोडी बैरागिनका छोरा कहकर मुझे ताना मारा है, अब आप तनिक भी अपने पथसे विचलित न हों। मैं भी आजसे ही विधिवत् 'मोडी बैरागिनका छोरा, मोडा अर्थात् साधु बन रहा हूँ।' पुत्रका पत्र पानेपर रत्नावतीजीकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही। उन्होंने अपने केश तुरंत मुड़वा दिये। अब वे खुलकर भजन-कीर्तन करने लगीं और रात-दिन प्रभु-प्रेममें छकी रहने लगीं।

यह समाचार पाकर माधवसिंहको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि 'रत्नावतीको तो किसी प्रकार इस पृथ्वीसे उठा ही देना है। इसने तो मेरी नाक काट ली।'

'रानीके महलके दरवाजेपर ले जाकर पिंजरबद्ध सिंह खोल दिया जाय। वह रानीको एक ही वारमें समाप्त कर देगा'—कलङ्कसे बचनेके लिये मन्त्रीने युक्ति बतायी और यही निश्चित भी हुआ। दूसरे दिन दरवाजेपर पिंजरेसे शेर खोल दिया गया। रत्नावतीजी उस समय पूजा कर रही थीं। शेरको उन्होंने आते देखा, पर मनमें तनिक भी भयभीत नहीं हुईं। भावमयी देवीने देखा—सचमुच प्रह्लादकी रक्षा करनेवाले कृपालु भगवान् नृसिंहदेव मुझे दर्शन देने आये हैं। रानी बड़ी प्रसन्नता और उत्साहसे पूजनकी सामग्री लेकर शेरके सामने चली गयीं। उन्होंने शेरके मस्तकपर चन्दन लगाया तथा गलेमें फूलोंकी माला पहनायी। नैवेद्य भी अर्पण किया। उस समय भगवान्ने उसी शेरमें उन्हें साक्षात् नृसिंहदेवके रूपमें दर्शन दिया।



इसके बाद शेरने क्रोधमें आकर पिंजरा लानेवालोंको तुरंत चीर डाला।

यह संवाद मिलते ही माधवसिंह घबराये हुए रानीके पास आकर चरणोंमें गिर पड़े। 'सारी धन-सम्पत्ति आपकी है, आप राजभवनमें चलें,' माधवसिंहजीने रानीसे प्रार्थना की; पर रानीने कहा—'राज्य आप ही देखिये। अब मैं तो अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके अतिरिक्त जगत्की अन्य किसी भी वस्तुकी ओर नहीं देख सकती।'

एक बार मानसिंह और माधवसिंह नावसे कहीं जा रहे थे। दैवयोगसे नाव डूबने लगी। उस समय श्रीरत्नावतीजीके स्मरणसे नाव किनारे लग गयी और दोनों भाइयोंके प्राण बच गये।—शि० दु०

श्रीकर्माबाई

श्रीकर्माजी नामकी एक भगवद्भक्त देवी श्रीपुरुषोत्तम-पुरीमें रहती थीं। इन्हें वात्सल्यभक्ति अत्यन्त प्रिय थी। ये प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातःकाल स्नानादि किये बिना ही खिचड़ी तैयार करतीं और भगवान्को अर्पित करतीं। प्रेमके वशमें रहनेवाले श्रीजगन्नाथजी भी प्रतिदिन सुघर-सलोने बालकके वेशमें आकर श्रीकर्माजीकी गोदमें बैठकर खिचड़ी

* राजपूतानेमें व्यङ्ग्यकी वाणीमें साधुको 'मोडा' (मुण्डित) कहते हैं।



आ जाते। श्रीकर्मांजी सदैव चिन्तित रहा करती थीं कि बच्चेके भोजनमें कभी भी विलम्ब न हो जाय। इसी कारण वे किसी भी विधि-विधानके पचड़ेमें न पड़कर अत्यन्त प्रेमसे सबेरे ही खिचड़ी तैयार कर लेतीं।

एक दिनकी बात है। श्रीकर्मांजीके पास एक साधु आये। उन्होंने अपवित्रताके साथ खिचड़ी तैयार करके भगवान्को अर्पण करते देखा। घबराकर उन्होंने श्रीकर्मांजीको पवित्रताके लिये स्नानादिकी विधियाँ बता दीं।

भक्तिमती श्रीकर्मांजीने दूसरे दिन वैसा ही किया। पर इस प्रकार खिचड़ी तैयार करते उन्हें देर हो गयी। उस समय उनका हृदय रो उठा। मेरा प्यारा श्यामसुन्दर भूखसे छटपटा रहा होगा।

श्रीकर्मांजीने दुखी मनसे श्यामसुन्दरको खिचड़ी खिलायी। इसी समय मन्दिरमें अनेकानेक घृतमय पक्वान्न निवेदित करनेके लिये पुजारीने प्रभुका आवाहन किया। प्रभु जूँठे मुँह ही वहाँ चले गये।

पुजारी चकित हो गया। उसने देखा उस दिन भगवान्के मुखारविन्दमें खिचड़ी लगी है। पुजारी भी भक्त था। उसका हृदय क्रन्दन करने लगा। उसने अत्यन्त कातर होकर प्रभुसे असली बात जाननेकी प्रार्थना की।

उत्तर मिला, नित्यप्रति प्रातःकाल मैं कर्माबाईके पास खिचड़ी खाने जाता हूँ। उनकी खिचड़ी मुझे बड़ी मधुर और प्रिय लगती है। पर आज एक साधुने जाकर उन्हें स्नानादिकी विधियाँ बता दीं; इसलिये मुझे क्षुधाका कष्ट तो हुआ ही, शीघ्रतामें जूठे मुँह आ जाना पड़ा।

भगवान्के आज्ञानुसार पुजारीने उस साधुको ढूँढ़कर प्रभुकी सारी बातें सुना दीं। साधु घबराया हुआ श्रीकर्मांजीके पास जाकर बोला—'आप पूर्वकी ही तरह प्रतिदिन सबेरे ही खिचड़ी बनाकर प्रभुको निवेदन कर दिया करें। आपके लिये किसी नियमकी आवश्यकता नहीं है।'

श्रीकर्मांजी उसी तरह प्रतिदिन सबेरे भगवान्को खिचड़ी खिलाने लगीं।

श्रीकर्मांजी परमात्माके पवित्र और आनन्दमय धाममें चली गयीं, पर उनके प्रेमकी गाथा आज भी विद्यमान है। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें आज भी प्रतिदिन प्रातःकाल खिचड़ीका भोग लगाया जाता है।—शि० दु०

करमैतीबाई

जयपुर-राज्यान्तर्गत खंडेला नामक गाँवमें सेखावत सरदार राज्य करते थे। खंडेला राज्यके कुलपुरोहित पण्डित परशुरामजी थे। करमैती इन्हींकी पुत्री थी। पूर्व-जन्मके शुभ-संस्कारसे करमैतीका मन बचपनसे ही श्यामसुन्दरमें लगा हुआ था। वह एकान्तमें श्रीकृष्णका ध्यान करती और कभी-कभी जोरोंसे 'हा नाथ! हा नाथ!' पुकार उठती। वह मिट्टीके घरौंदे बनाकर जब धूलि-धूसरित खेलती, तब भी श्यामसुन्दरके प्रेममें उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रुकी वर्षा हो जाती। करमैती धीरे-धीरे सयानी होने लगी। उसकी उम्रके साथ-साथ उसका प्रभु-प्रेम भी बढ़ता ही गया। वह यौवनसम्पन्न नारी-सी बन गयी। पर उसे जैसे इसका पता ही नहीं था। वह रात-दिन श्रीकृष्ण-प्रेममें तन्मय रहती। उन्हींका मधुर नाम लेती रहती। पण्डित परशुरामजीको पुत्रीके विवाहकी चिन्ता हुई। विवाहकी चर्चा चलने लगी, पर करमैतीको यह चर्चा प्रिय नहीं लगती थी। वह सांसारिक मनुष्यसे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहती थी, पर सङ्कोचवश माता-पिताके सामने कुछ कह भी नहीं सकती थी। एक शुभ मुहूर्तमें उसका विवाह हो गया।

कुछ दिनों बाद उसे लेनेके लिये उसके पति आये। करमैतीने यह सुना था कि मेरी ससुरालके लोग मांसाहारी हैं। उस परिवारमें श्यामसुन्दरका भजन-स्मरण करना सम्भव नहीं होगा। इस विचारसे अधीर होकर वह रोने लगी। उसने मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना की, 'प्रभो! इस आपदासे तुम्हीं बचाओ। क्या तुम्हारी चरणसेविका अब विषयसेविका बनकर रहेगी? तुम्हीं कोई ऐसी युक्ति करो, जिससे इस संसार-सागरसे मैं बच जाऊँ।' करमैतीकी आँखोंसे अजस्र अश्रु-सरिता प्रवाहित हो रही थी।

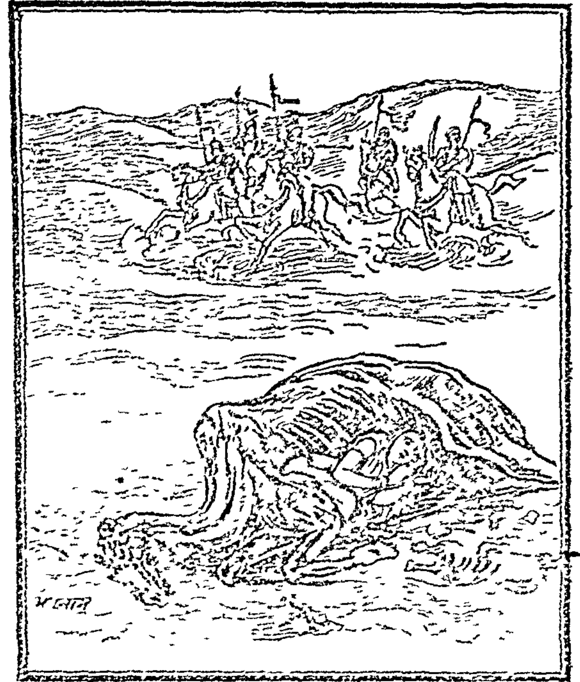
वरके और ससुरालके लोग खुर्राटे ले रहे थे, पर करमैती प्रभुके वियोगमें छटपटा रही थी। अँधेरी रात थी। सहसा वह घरसे निकल पड़ी। वह अकेली कभी कहीं नहीं गयी थी; पर जिन्हें उस साँवरेसे लगन लग गयी है, उसे कुछ भी नहीं सुहाता। 'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं कहाँ चलेउँ नहिं बूझा॥' की भाँति वह तिमिराच्छन्न निशीथमें भागती जा रही थी।

तारे छिपे, उषा मुसकरायी। अंशुमालीने किरणावली बिखेरी। धरा मुखरित हुई, पर करमैती प्रियके पथपर दौड़ती चली जा रही थी। वह संसारसे ऊब गयी थी। उसके शरीरसे श्रान्तिका कोई चिह्न नहीं दीख रहा था।

आँख खुलनेपर करमैतीको न पाकर उसकी माता घबरा गयीं। वे दौड़ी हुई परशुरामजीके पास पहुँचीं। परशुरामजी यद्यपि जानते थे कि मेरी पुत्री भगवद्भक्त है, वासनासे त्राण पानेके लिये उसने ऐसा किया है, पर लोक-लाजके भयसे भागते हुए वे सेखावत सरदारके पास पहुँचे। सरदारने बहुत-से सैनिक करमैतीका पता लगाने चारों ओर भेजे।

करमैतीको कण्टकाकीर्ण, ऊबड़-खाबड़ या सपाट पथका ज्ञान नहीं था। वह भागती चली जा रही थी। आसपास कोई वृक्ष भी नहीं था। घोड़ोंकी टाप सुनकर वह घबरा गयी। उसने समझ लिया निश्चय ही मेरा पता लगाने सैनिक आ रहे हैं। उसने चारों ओर आँख दौड़ायी। कहीं छिपनेकी जगह नहीं थी। पास ही एक मरा हुआ ऊँट पड़ा था। सियारों, कुत्तों और चील्ह-कौओंने उसका मांस खा लिया था। केवल दुर्गन्धयुक्त अस्थि-पञ्जर गिरिगुहाकी भाँति अवशिष्ट था।

तीव्र दुर्गन्धका ध्यान किये बिना ही करमैती ऊँटके उसी अस्थि-पञ्जरमें लेट रही। सैनिक पाससे ही निकले, पर दुर्गन्धके



कारण उस ओर देखा भी नहीं। करमैती तीन दिनोंतक ऊँटके पेटमें ही पड़ी रही। फिर वह वहाँसे हरिद्वार चली गयी। वहाँ जाह्नवीमें स्नान करके वृन्दावन चली गयी। उन दिनों वृन्दावनमें अत्यन्त प्रेमी संत ही रहते थे। करमैतीको जैसे निधि मिल गयी। वह प्रतिदिन कालिन्दीमें स्नान करके कहीं कदम्ब या करील वृक्षके नीचे बैठकर श्रीकृष्णका ध्यान करती रहती।

कुछ समयोपरान्त उसके पिता वृन्दावन पहुँचे। पर करमैतीका कहीं पता नहीं लगा। एक दिन ब्रह्मकुण्डपर ध्यानमग्ना करमैतीको उन्होंने देखा। करमैतीके तेजको देखकर वे चकित हो गये और ऐसी भक्त पुत्रीके पिता होनेपर मन-ही-मन प्रसन्न भी हुए। उन्होंने घर चलनेके लिये करमैतीसे प्रार्थना की।

'कौन अभागा वृन्दावन आकर लौटना चाहेगा? आप घर जाकर सपरिवार श्रीकृष्णका भजन करें,' करमैतीने कहा। उसके पिता रोते हुए घर लौटे।

'तू बड़ी भाग्यशालिनी है, जो तूने ऐसी पुत्रीको जन्म दिया'—परशुरामजीने अपनी पत्नीसे कहा।

खंडेलाके राजाने यह समाचार सुनकर वृन्दावनके लिये प्रस्थान किया। वहाँ करमैतीके दर्शनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुटिया बनवा देनेकी प्रार्थना करनेपर पहले तो करमैती इन्कार कर गयी, पर राजाके अधिक आग्रह करनेपर उसने स्वीकृति दे दी। सुनते हैं, उस कुटियाका ध्वंसावशेष अब भी है।

करमैतीका जीवन त्यागमय था। उसका मन क्षण-क्षण श्रीकृष्ण-मिलनके लिये आतुर रहता था। उसकी आँखोंमें

रात-दिन सावन-भादों छाया रहता था। अपना समस्त जीवन वृन्दावनमें बिताकर उस सती नारीने अन्तमें गोलोकके लिये प्रस्थान किया। श्रीनाभादासजी अपने भक्तमालमें करमैतीके सम्बन्धमें लिखते हैं—

नस्वर पति-रति त्यागि कृष्ण पद सों रति जोरी।
सबै जगत की फाँस तरकि तिनुका ज्यों तोरी॥
निर्मल कुल काँथडा धन्य परसा जेहिं जाई।
करि बृंदावन वास संत मुख करत बडाई॥
संसार-स्वाद-सुख त्यागि करि फेरि नहीं तिन तन चही।
कठिन काल कलियुग महँ करमैती निकलंक रही॥

—शि० दु०

सुरसरी

सुरसरी नामकी एक परम भक्तिमती एवं सती नारी हो गयी है। पतिके चरणोंमें इनका दृढ़ प्रेम था। पतिके बिना एक क्षण भी जीवन धारण करना इनके लिये असम्भव था।

एक बारकी बात है। अपने पतिके साथ ये वनमें तप कर रही थीं कि एक म्लेच्छकी दृष्टि इनपर पड़ गयी। वह इनके अनुपम सौन्दर्यको देखकर कामोन्मत्त हो उठा तथा रात-दिन इस अवसरकी ताकमें रहने लगा कि इनके पति कहीं चले जायँ।

एक दिन सुरसरीके पति समिधा और पुष्प लेनेके लिये वनमें थोड़ी दूर निकल गये। म्लेच्छने अपने लिये सुअवसर देखा। वह दुष्ट प्रलाप करता हुआ सुरसरीके पास चला आया।

म्लेच्छको दूरसे ही देखकर सुरसरी घबरा गयी। उस समय उसकी बड़ी विचित्र दशा थी। उसका हृदय काँप रहा था और आँखोंसे आँसू बह रहे थे। अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये वह दयानिधान भगवान्‌से मन-ही-मन कातर प्रार्थना करने लगी।



म्लेच्छ निर्भीक होकर सुरसरीके पास चला आया; पर सुरसरीको देखते ही वह उलटकर सिरपर पाँव रखकर जोरसे भागा, पीछे मुड़कर भी नहीं देखा उसने। सुरसरीके स्थान-पर उसकी आँखोंने बैठी हुई सिंहिनीको देखा था। उसे अपने ही प्राणोंके लाले पड़े थे।

जिन्हें अपने धर्ममें पूरी निष्ठा तथा दृढ़ विश्वास है, समयपर भगवान् उनकी रक्षा करते ही हैं। —शि० दु०

वैराग्यमयी बाँका

वैराग्यमयी बाँकादेवी परम भगवद्भक्त राँकाकी पत्नी थीं। ये लोग पण्ढरपुरमें रहते थे। बाँकामें भगवद्भक्तोंके समस्त दिव्य गुण विद्यमान थे। राँकाकी भगवद्भक्तिका प्रभाव बाँकापर पड़ा था, पर बाँकाके वैराग्यका भी प्रभाव राँकापर पड़ा था। बाँका परम भगवद्भक्त एवं सती नारी थीं। वह अहर्निश अपने पतिकी सेवा और भगवद्-भजनमें दत्तचित्त रहती थीं।

जीविकाके लिये वह अपने पतिके साथ जंगलसे लकड़ियाँ ले आती और उसे बेचकर अपना काम चलाती। उस समय श्रीनामदेवजी भी थे। संत स्वभावतः दयालु होते हैं। राँका-बाँकाकी दीनतासे दुखी होकर श्रीनामदेवजीने भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'प्रभो! इन्हे धनी कर दें।' उत्तर मिला, 'इन्हें धनकी कामना नहीं है, तुम देखना चाहो तो कल प्रातःकाल वनके रास्तेपर छिपकर देख लेना।'

× × ×

'धूलको धूलसे क्यों ढँक रहे हैं, स्वामी!' बाँकाने स्वर्ण-मुहरोंकी थैलीपर धूल डालते हुए देखकर अपने पति राँकासे कहा।



'मुहरोंकी थैली देखकर तुम्हारे मनमें कहीं लोभ न पैदा हो जाय, इसीलिये मैं इसे धूलसे ढँक रहा था। पर तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई'—हर्षोल्लासके साथ राँका कह गये।

श्रीनामदेवजी छिपे यह दृश्य देख रहे थे। उनकी आँखें गीली हो गयीं। 'इस देवी-जैसी सती और वैराग्यमयी नारियाँ बहुत कम हैं, जो सोने और धूलमें कोई अन्तर नहीं देखतीं।' श्रीनामदेवजी मन-ही-मन कह गये। 'प्रभो! आपकी जिसपर कृपा हो गयी, वह त्रैलोक्यकी तुच्छ सम्पत्ति-पर क्यों मन चलाने लगा।'

× × ×

'घर लौट चलें, आज लकड़ी नहीं मिलेगी, सोना जो छू लिया है।'—बाँकाने अपने पतिसे कहा। वनमें सूखी लकड़ियोंके अनेक गठ्ठड़ बँधे पड़े थे। दम्पतिकी परीक्षाके लिये भगवान्ने बाँध रक्खे थे। बाँकाने समझा कोई अन्य व्यक्ति अपने लिये इन लकड़ियोंको बाँध गया है।

'चलो!' राँका-बाँका घर लौट आये। दूसरेकी वस्तु स्पर्श करना वे पाप समझते थे।

उस दिन दोनों बिना खाये सो रहे। इस बाँके त्यागके कारण ही राँकाकी धर्मपरायण पत्नीका नाम 'बाँका' पड़ गया। बाँका नामके साथ ही वैराग्यकी स्मृति हो जाती है। 'बाँका' वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप थी। —शि० दु०

जयमाला

(१)

एक बार मा उमा विहँसकर बोलीं सकल समक्ष।
परिक्रमा कर सकल जगतकी जो आवै मम कक्ष—
प्रथम जो आवेगा, तत्काल
उसीको दे दूँगी जयमाल;
होगा प्रथम पूज्य वह बाल।
देव-दनुज मुनि-यक्ष-मनुज-पशु दौड़ चले उस काल!
हमीं ले लेंगे वह जयमाल!

(२)

चले गये निज-निज यानों पर, रहा न कोई शेष।
धीरे से उठ माता सन्मुख, आये लला गनेस॥
लगाकर जननि-प्रदक्षिण तीन,
दण्डवत कीनी तत्क्षण तीन;
पुनः कर जोड़ विनीत, प्रवीन
बोले—'जननी! तेरे उरमें है यह सृष्टि तमाम!
भूमि-परिकरमासे क्या काम?'

(३)

तबतक आये लोग घूमकर शिवा निकट कैलास।
क्षुब्ध हो गये जब यह देखा, पलट गया है तास—
पहिन जयमाला खड़े गणेश,
वन्दना करें प्रजेश-महेश,
अर्चना करें यमादिक शेष
बोले सब—'जय जय जगदम्बे! तुम ही सृष्टिस्वरूप!
दिया गनपतिने सबक अनूप!!

—पारसचन्द्र

श्रीरतिवन्तीजी

श्रीरतिवन्तीजी परम भगवद्भक्त थीं। इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका बालरूप अत्यन्त प्रिय था। ये प्रतिदिन बड़ी ही श्रद्धा और प्रेमसे यशोदानन्दनकी पूजा करतीं और हर समय उनके भोगकी सामग्री जुटानेमें ही लगी रहतीं। ये चाहे कोई भी काम करती, परंतु मन इनका हर समय नन्द-नन्दनके ध्यानमें ही निमग्न रहता था। श्रीकृष्ण-चरित्रकी कथा कहीं भी होती तो पूजाके अतिरिक्त सारा काम छोड़कर ये दौड़ती हुई चली जातीं। कथा अत्यन्त श्रद्धा भक्तिसे ध्यानपूर्वक सुनतीं तथा अन्तमें सबके चले जानेपर ही वहाँसे उठती थीं।

एक दिनकी बात है, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये वे भोगसामग्री तैयार कर रही थीं। उसी समय थोड़ी ही दूरपर कथा हो रही थी। भोग तैयार करना छोड़कर कथा सुनने ये नहीं जा सकीं। इन्होंने उस समय अपने पुत्रको कथा सुननेके लिये भेज दिया।

उस दिन ऊखल-बन्धन-लीलाका प्रकरण था। बच्चेने लौटकर अपनी मातासे सारी कथा संक्षेपमें सुना दी। 'व्रजबालाओंने श्रीकृष्णकी माखनचोरीकी शिकायत नन्दरानीसे पहले ही कर दी थी। एक दिन यशोदाने स्वयं अपनी आँखोंसे कन्हैयाको माखन चुराते और उसे ग्वालबालों तथा बंदरोंमें वितरण करते देख लिया। इसपर मैया क्रोधित हो गयी और उसने सुकुमार कन्हैयाको पकड़कर ऊखलसे बाँध दिया।'



श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखलमें बाँधनेकी बात सुनते ही श्रीरतिवन्तीजी अधीर हो गयीं। वे दुःखसे घबरा उठीं और उन्होंने तुरंत अपने प्राण छोड़ दिये। नश्वर देह छोड़ते समय उनके मुँहसे इतना ही निकला था कि 'यशोदारानी-सरीखी निष्ठुर स्त्री जगत्में नहीं होगी। उसने कुसुम-सुकुमार कन्हैयाको ऊखलसे ....'। —गि० दु०

लीलावती

हँस-हँस कन्त न पाइयाँ, जिन पायाँ तिन रोय।
हँसि-खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिन होय॥

—नानक

लगभग दो सौ वर्ष पूर्वकी बात है। चन्दरनगरके पास मधुपुर नामका एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ एक ब्राह्मण-दम्पति रहते थे। ब्राह्मणका नाम था नारायणकान्त और ब्राह्मणीका नाम था रत्नेश्वरी। इन लोगोंके कोई पुत्र नहीं था। लीलावती इन्हींकी एकमात्र कन्या थी। लीलावती परम सुन्दर और अत्यन्त चञ्चल थी। अपनी बालक्रीड़ाओंसे माता-पिताका मन मुदित किया करती थी। इसके माता-पिता दोनों ही परम धार्मिक और भगवत्-परायण थे। रत्नेश्वरी घरका कोई भी काम करती, वह मधुर स्वरोंमें धीरे-धीरे गुनगुनाती ही रहती।

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥

प्रतिदिन सुनते-सुनते लीलावतीको भी यह पद याद हो गया। अब वह भी कोई काम करती, धूर-घुरेटे खेलती, या माका आँचल पकड़कर खेलती या दूध पीने लगती, तो भी बीचमें रह-रहकर अपनी तोतली बोलीमें गा लेती—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥

माके स्नान और पूजाके समय लीलावती साथ ही रहती। माको प्रणाम करते देखकर वह भी प्रणाम करती। तुलसीको दीपक चढ़ाते देखकर स्वयं दीपक चढ़ाती। इस प्रकार उसके मनपर धार्मिक संस्कार पड़ रहे थे।

वह बढ़ने लगी। समयपर सयानी हुई। विवाह हो गया। आँखोंमें आँसू भरे माता-पिताको बिलखते छोड़कर वह ससुराल चली गयी। ससुरालमें सम्पत्ति काफी थी।

लीलावतीके सुखकी समस्त सामग्रियाँ वहाँ थीं। लीलावती धीरे-धीरे विलासके दलदलमें फँसती गयी और उसकी धार्मिक भावना दबती गयी। पाँच-सात वर्षके भीतर उसे दो संतानें भी हो गयीं—गोपालकृष्ण और कालिन्दी। बच्चोंको नहला-धुलाकर उन्हें सजाना तथा भोगसामग्रियोंको जुटानेके अतिरिक्त उसका जैसे और कोई काम ही नहीं रह गया था।

अचानक लीलावतीके गाँवमें जोरोंसे हैजा पड़ा। उसके गोपालकृष्ण और कालिन्दी भी उसकी लपेटमें आ गये। लीलावती घबरा गयी। अर्धरात्रिकी वेला थी। चारपाईपर लीलावतीका प्राणाधार उसका बच्चा छटपटा रहा था और सिरहाने बैठकर वह सिसक रही थी।

आपत्तिके समय नास्तिक भी भगवत्प्रार्थना करने लगता है। लीलावती तो संस्कारसम्पन्न थी। उसे अपने शैशवका प्रभु-प्रेम स्मरण हो आया। वर्षोंके बाद आज पुनः सहसा उसके मुँहसे निकल पड़ा—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

अपने विलासी जीवनपर उसे बहुत खेद हुआ। उसका हृदय हाहाकार कर उठा। मन-ही-मन क्रन्दन करते हुए वह प्रार्थना करने लगी—भगवान्‌ने प्रार्थना सुनी और साथ ही मनकी विशुद्ध प्रार्थनाके पवित्र तीर्थमें अवगाहन करनेपर उसका सांसारिक कल्मष धुल गया। लीलावती प्रभुकी सच्ची चेरी बन गयी।

लीलावतीकी पति-सेवा और बच्चोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आयी, पर वह अपना मन केवल भगवान्‌में लगाये थी। गोपालसहस्रनामका पाठ तो वह करती ही थी।

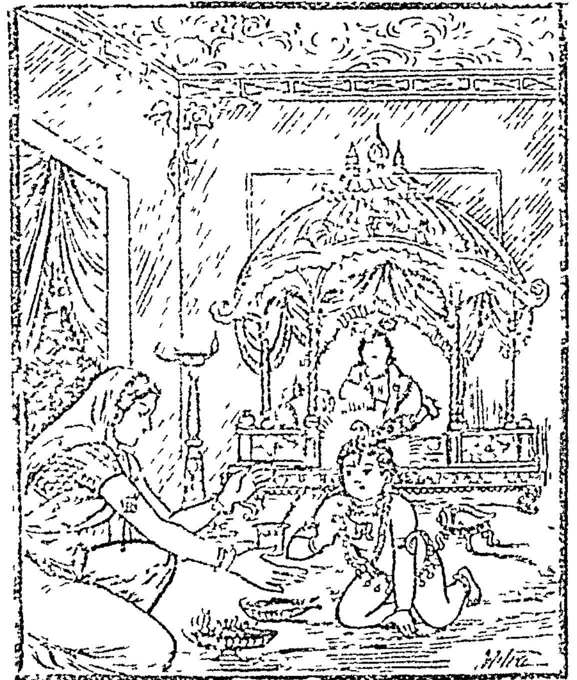
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

—का कीर्तन भी उसका चलता रहता। उसके होठ हर समय हिलते रहते। उसने अपने यहाँ बालकृष्णकी स्वर्ण-प्रतिमा प्रतिष्ठित करवायी और श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेमसे उसकी सेवा-अर्चामें रहने लगी। अब वह पहलेसे भी अधिक उल्लाससे काम कर रही थी, पर अब उसके समस्त कर्मोंके केन्द्र भगवान् थे। जगत्से उसे वैराग्य हो गया था।

लीलावतीके साधनमें क्रमशः वृद्धि होती गयी। वाणीमें नाम और मनमें बालकृष्णका रूप अच्छी तरह उतर गया था। वह श्रीकृष्णको गोदमें लेने और उन्हें स्तनपान करानेके लिये कभी-कभी अधिक विकल हो जाया करती थी। ध्यानमें वह कभी श्रीकृष्णका मुख-चुम्बन करती तो कभी उलझी लटें सुलझाकर सँवारने लगती। अंदर-ही-अंदर वह श्रीकृष्णकी परिचर्या दत्तचित्त होकर करती थी।

देवोत्थानी एकादशीके दिन घरमें श्रीकृष्णकी झाँकी सजायी गयी थी। आधी राततक जागरण करके चरणामृत लेकर सब लोग सो गये, पर उस दिन लीलावतीकी आँखोंमें नींद नहीं थी; वह तो अपने बालगोपालको गोदमें लेकर स्तनपान करानेके लिये अधीर हो गयी थी।

उसके स्तनोंसे दूध झर रहा था। लीलावती प्रतिमाकी ओर देख रही थी। तरसती और बरसती हुई उसकी आँखोंने देखा स्वर्णप्रतिमा प्रतिमा नहीं, वे तो साक्षात् बालकृष्ण ही हैं और मचलते हुए उसीके पास आ रहे हैं। देखते-ही-देखते वे उसके पास आ गये। लीलावतीने उन्हें अपनी गोदमें ले लिया।



लीलावतीकी प्रसन्नता किस प्रकार वर्णित हो। उसे दुर्लभ अनमोल रत्न मिल गया था। दूध उसके स्तनोंसे जोरों-से झरने लग गया था। बालकृष्णका मुँह उसने स्तनसे लगा दिया। श्रीकृष्ण दुग्धपान करने लगे। लीलावतीकी सारी अभिलाषा पूरी हो गयी। उसकी कोई इच्छा शेष नहीं रही।

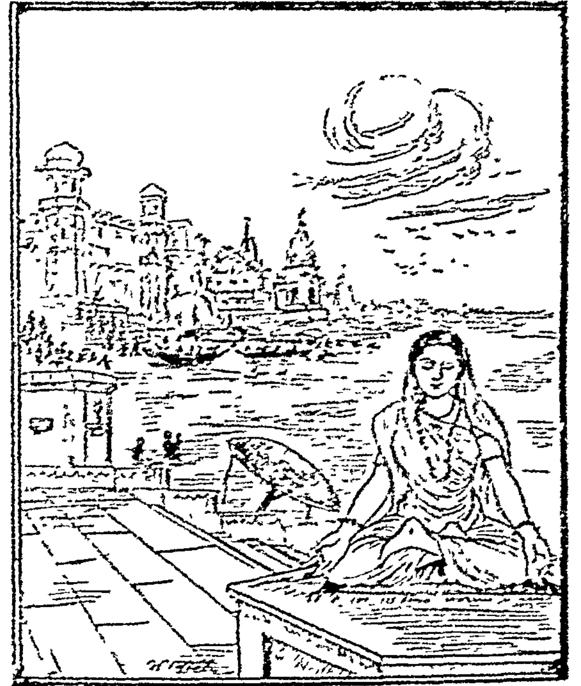
दूसरे दिन प्रातःकाल पूजा-घर खुलनेपर लोगोंने देखा कि लीलावतीके अङ्कमें बालकृष्णकी स्वर्णप्रतिमा पड़ी है और उसके प्राणपखेरू उसे छोड़कर दिव्य लोकमें प्रयाण कर चुके हैं।—शि० दु०

श्रीनिर्मला देवी

पण्डित विश्वनाथ थे तो गुजरातके रहनेवाले, पर वे काशीमें रह रहे थे। निर्मला इन्हींकी पुत्री थी। यह अत्यन्त सुन्दर और सरल थी। वैराग्य और भगवद्भक्तिकी जीवित प्रतिमा-सी प्रतीत होती थी। इसके परमप्रिय श्रीराम थे। यह उन्हींके विग्रहकी पूजा करती और उन्हीं प्राणाराम रामका ध्यान और नाम-जप निरन्तर किया करती थी। समयपर निर्मलाका विवाह हो गया। वर भी अत्यन्त सुन्दर, सरल और धार्मिक था; परंतु वर्ष पूरा भी नहीं हो पाया कि हैजेके लपेटमें आकर उसने अपनी देह छोड़ दी। पण्डित विश्वनाथपर जैसे वज्रपात हो गया।

पर वे भक्त थे। रो-रोकर श्रीरामजीकी पूजा करने लगे। भक्तभयहारी भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'भैया विश्वनाथ! चिन्तित क्यों होते हो? मेरा विधान सदैव मङ्गलके लिये है। निर्मलाका वैधव्य भी उसके तथा तुम्हारे हितके लिये है। पूर्वजन्ममें भी यह तुम्हारी ही पुत्री थी। उस जन्ममें भी तुम ब्राह्मण ही थे; तुम्हारा नाम जगदीश और निर्मलाका नाम सरस्वती था। तुमलोग सदाचारी थे, पर तुम्हारी पुत्रीने एक धूर्त और कुटिल क्षत्रियके बहकावेमें आकर अपने पतिका अपमान कर दिया। तुमने भी उसका समर्थन किया। उसके पतिने आकुल होकर तुम्हें और सरस्वतीको शाप दे दिया। पर सरस्वती तुलसीका सेवन, एकादशीका व्रत और मेरे नामका जप करती रहती थी और तुम उसमें सहायक थे। इस कारण मेरी कृपासे तुम दोनों फिर ब्राह्मण हुए। पतिके शापसे ही निर्मला विधवा हो गयी है।' भगवान् अन्तर्धान हो गये।

पण्डित विश्वनाथका शोक कुछ कम हुआ। वे भगवान्का भजन करने लगे। कुछ ही दिनोंमें वे अपनी पत्नीसहित भगवान्का भजन करते हुए परमधाममें चले गये। उस समय निर्मलाकी आकृतिपर विषादकी रेखा भी नहीं खिंच पायी। उसका मुखमण्डल प्रसन्न था। वह श्रीरामके मङ्गलमय नामका जप कर रही थी। उसके पास न चिन्ता थी और न शोक था। वह तो राम-नामके आनन्दाम्बुधिमें निमग्न होकर सारे दुःख-दैन्य और पाप-तापको दूर छोड़ आयी थी। भगवान्के नामका प्रभाव ही ऐसा है।



माता-पिताकी यथोचित क्रिया समाप्त करनेके बाद निर्मला घर छोड़कर गङ्गा-तटपर दूर चली गयी। वहाँ उसने तीस वर्षोंतक तपपूर्ण जीवन बिताया, फिर गङ्गामैयाकी अखण्ड धारमें अपने शरीरको छोड़कर भगवान्के दिव्य धाममें चली गयी।—शि० दु०

दयावती दयाबाई

दयाबाई नामकी एक देवी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्त थीं। इनका मन हर समय श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दमें लगा रहता था। ये घरका कोई काम करती रहतीं, पर इनकी जिह्वा प्रतिक्षण श्रीकृष्णका मधुर नाम उच्चारण करती रहती। इनका एक श्वास भी ऐसा नहीं बीतता, जिसमें भगवत्स्मरण न होता हो।

एक बारकी बात है, दयाबाईके पति तीर्थयात्राके लिये घरसे बाहर चले गये। बहुत दिनोंतक अनेकानेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए वे मथुरा आये। फिर दर्शन करनेके लिये वे बलदेवजीके यहाँ गये।

उसी रातको दयाबाईके बैठकेमें एक अत्यन्त वृद्ध, जर्जर-शरीर संत आकर सो रहे। कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था, पर संतके पास ओढ़नेके लिये कुछ नहीं था। रात एक

पहरसे अधिक बीत गयी थी। संत थरथर काँप रहे थे। उनका शरीर काला पड़ता जा रहा था। दयाबाईकी दृष्टि संतपर पड़ी, तो वे घबरा गयीं। वे तुरंत संतको अपने कोठेपर ले गयीं और उन्हें बिस्तरपर सुलाकर काफी ओढ़ना ओढ़ा दिया; पर संतकी कँपकँपी बंद नहीं हुई। तब उनका शीतनिवारण करनेके लिये दयाबाईने ऊपरसे अपने शरीरसे उनको दबा लिया।

संतके ऊपर दयाबाईको इस प्रकार बैठी देखकर एक



स्त्रीने यह समाचार अपने पड़ोसियोंसे जा सुनाया। पड़ोसी तुरंत दौड़े आये; और उन लोगोंने दोनोंको पकड़कर एक कोठरीमें बंद कर दिया और यह निश्चय हुआ कि दयाबाईके पतिके लौटनेपर इन दोनोंको दण्ड दिया जायगा।

गाँववाले दयाबाईके पतिके आगमनकी प्रतीक्षा बड़ी तीव्रतासे कर रहे थे। उसके पति आ भी गये। गाँववाले सब उसके पीछे-पीछे आये। दयाबाई पड़ोसियोंके ढंगको देखकर लज्जित हो रही थी। पर उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब घरमें आते ही उसके पतिदेव सबके सामने उसके चरणोंपर गिर पड़े और उन्होंने कहा—'प्रिये! तुम धन्य हो, तुम्हें पत्नीके रूपमें पाकर मैं धन्य हो गया।' गाँववाले एक-दूसरेका मुँह देखने लगे।

दयाबाईके पतिने वृद्ध संतकी खूब सेवा की और उन्हें प्रेमपूर्वक विदा किया। पत्नीके आग्रह करनेपर दयाबाईके पतिने बताया—"जिस दिन श्रीबलदेवजीका दर्शन करके रातमें मैं सो रहा था, उसी रातको स्वप्नमें मैं देख रहा हूँ कि अनन्त सौन्दर्यसागर भक्तवत्सल श्रीबलदेवजी मेरे सामने खड़े हैं। मुसकराते हुए उन्होंने मुझसे कहा कि 'तुम तुरंत घर चले जाओ। तुम्हारी स्त्री परम सती है। परीक्षा लेनेके लिये वृद्ध साधुके वेषमें मैं उसके यहाँ गया था, पर उसके पड़ोसियोंने उसे कलङ्कित करने और दण्ड देनेका नीच प्रयत्न किया है।'

"आँख खुलनेपर श्रीबलदेवजीके चरणोंमें प्रणाम कर भागता हुआ सीधे मैं यहीं आया। देखा तो स्वप्नकी बातें सर्वथा सत्य हैं। सचमुच तुम्हें पाकर आज मैं अपने भाग्यकी जितनी सराहना करता हूँ, उतनी ही कम है। उस पुरुषके भाग्यका क्या कहना, जिसकी पत्नी पतिव्रता एवं भगवद्भक्त है।"

—शि० दु०

भक्तिमती श्रीहरदेवी

विशालपुरीके सेठ स्थानकदेव सचमुच धन्य थे। उनकी पत्नी गजदेवी अत्यन्त सुशील, धर्मपरायण और भगवद्भक्त थीं। इनके एक ही सन्तान थी। वह थीं हरदेवी। हरदेवीके जीवनपर माताकी श्रद्धा-भक्तिका पूरा प्रभाव पड़ा था। स्थानकदेवके घरमें दिनभर भगवन्नामकी पुण्यतोया गङ्गा कलकल निनाद करती हुई प्रवाहित होती रहती थीं।

उचित शिक्षा-दीक्षाके बाद विवाहयोग्य होनेपर हरदेवीका विवाह चम्पकपुरीके सेठ गुणदेवके पुत्र हर्षदेवके साथ सम्पन्न हो गया। विदाईका दिन था। अचानक गजदेवीको ज्वर चढ़ आया। वह बढ़ता ही गया। गजदेवीने कोई ओषधि नहीं ली। किसी तरह साहस करके वे उठकर अपने पूजा-भवनमें जाकर भगवान्से प्रार्थना करने लगीं—

प्रभो! शायद आप मुझे अपने चरणोंमें बुलाना चाहते हैं, मेरा बड़ा सौभाग्य है देव! मेरी बच्चीपर ध्यान रखना, स्वामी! इसे अपने चरणोंसे अलग न होने देना, नाथ! मैं पापीयसी हूँ, पर आपकी हूँ; इससे बढ़कर और क्या कहूँ, प्रियतम!' गजदेवीकी दोनों आँखें बड़े जोरोंसे बरस रही थीं।

भक्तिमती गजदेवीके अन्तर्मनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् प्रकट हो गये और कहने लगे—'देवी! तुम मेरी भक्त हो। तुम मेरे परम धाममें जा रही हो। सती नारीकी पुत्री यों ही मेरी भक्त होती; पर जब तुमने वर माँग लिया, तब तो वह अवश्य ही मेरे चरणोंमें रहेगी। तुम चिन्ता न करो। तुम्हारे प्रभावसे तुम्हारे पति भी परम धाममें ही जायँगे।'

'विद्या इसकी सफल होगी, देवि !' साधुने कह दिया। 'बड़ी भाग्यवान् हो, मा ! तुम।'

कल्याणीने संत-चरणोंपर अपना शीश रख दिया। जटिल हाथ जोड़े खड़ा था।

× × × ×

'मा ! तेरे सिवा मेरे और कोई नहीं है क्या ?' भोले बच्चेने कल्याणीका आँचल पकड़कर कहा। 'एक विद्यार्थी मुझसे पूछ रहा था, तेरे कौन-कौन है ? मैंने कह दिया, केवल मा ! उसके तो भाई भी हैं, मा !'

'बेटा !' कल्याणीकी आँखें डबडबा आयीं। उस वृद्धाकी आँखोंका तारा, जीवनका अनमोल रत्न तो यह जटिल ही था। उसका उदास मुँह देखना इसके वशकी बात नहीं थी। 'तेरे भी भाई है, बेटा !' वह कह गयी।

'मा ! मेरे भी भाई है ?' जटिल प्रसन्नतासे नाच उठा।

'हाँ, बेटा ! तेरा भैया बड़ा भला, बड़ा सुन्दर और बड़ा ही चतुर है। लोग उसे दीनबन्धु कहते हैं।' भक्त वृद्धाने उत्तर दे दिया।

'दीनबन्धु भैया तो मुझसे कभी मिले नहीं, मा !' माकी ठुड्डी पकड़ते हुए बालकने पूछा।

'सच्चे मनसे जो चाहते है, उनसे वह मिल जाते हैं, मेरे बच्चे !' दृढ विश्वास जमाती हुई कल्याणीने कहा। 'पृथ्वी, आकाश, जल, पवन तथा तृण-तृण और कण-कणमें वे निवास करते हैं, मेरे लाल ! तू जब पुकारेगा, वे तेरे पास आ जायँगे।' जाने क्यों बुढ़ियाकी आँखें छलक आयी थीं।

'तब तो सायंकाल अँधेरा होनेपर मैं भैयाको ही साथ ले लूँगा,' बच्चेने पूरे विश्वाससे कहा। 'इधर तो विलम्ब हो जानेपर एक बूढ़े बाबा जंगल पार कराकर जाने कहाँ अदृश्य हो जाते थे।'

'बूढ़े बाबा !'

'हाँ, मा ! उस दिन जो यहाँ आये थे।' बच्चेने समझानेकी दृष्टिसे कहा, 'जिन्होंने मुझे पढ़ानेके लिये तुमसे कहा था।'

'मेरे बच्चेकी किस प्रकार रक्षा कर रहे हो, नाथ !' कल्याणी मन-ही-मन बोल गयी। 'तुम्हारा उपकार नहीं भूल सकूँगी, स्वामी !'

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

कल्याणी भगवान्के विग्रहके सामने करताल बजाकर मधुर स्वरमें गा रही थी। जटिल हाथ जोड़े माके स्वर-में-स्वर मिला रहा था।

जटिलको नींद आ गयी। वह सो गया। वृद्धा सारी रात्रि अपने परमप्रियतमको रिझानेका प्रयत्न करती रही।

× × × ×

'दीनबन्धु ! ओ भैया दीनबन्धु ! मुझे डर लग रहा है,' जटिलने जंगलके बीचमें पुकारा। सूर्यदेव अस्ताचल चले गये थे। सर्वत्र अँधेरा छा गया था।

जटिलने चारों ओर देखा। पत्तेकी खड़खड़ाहटपर वह पेड़के पीछेतक चला गया, पर 'दीनबन्धु' कहीं नहीं दीखा। 'मा मुझे प्राणसे भी अधिक प्यार करती है। वह कदापि झूठ नहीं बोल सकती। दीनबन्धु अवश्य आ जायँगे।' उसने पूरी शक्ति लगाकर ऊँचे स्वरसे रोते-रोते पुकारा—'भैया दीनबन्धु ! मैं डर रहा हूँ !'

'आया, भैया !' लताओंके भीतरसे निकलते हुए दीनबन्धुने कहा।

'मैं कबसे चिल्ला रहा हूँ !' दीनबन्धुकी ओर टकटकी लगाये जटिलने कहा। 'मुझे डर लग रहा था।'

'क्षमा करना, भैया !' दीनबन्धुने जटिलका हाथ पकड़ लिया। 'अब मैं एक बारके पुकारनेपर आ जाया करूँगा।'

'रात होनेपर अकेले डर लगता है, भैया !' जटिल दीनबन्धुके हाथकी अँगुलियाँ सहला रहा था। उसने इतना सुन्दर लड़का नहीं देखा था। सलोना साँवला शरीर, गलेमें वनमाला, सिरपर मोहन मयूर-पिच्छ और हाथमें छोटी-सी बाँसकी बाँसुरी। रह-रहकर दीनबन्धु मुसकरा रहे थे। बिजलीकी तरह धवल दन्तपंक्तियाँ चमक जाती थीं। 'मेरे भैया-जैसा सुन्दर संसारमें किसीका भैया नहीं होगा।' जटिलके मनमें इसका गर्व था।

'अब तुम जाओ, भैया !' दीनबन्धुने कहा। 'प्रतिदिन मैं तुम्हें जंगलसे पार कर दिया करूँगा।'

'बड़े अच्छे हो, भैया !' जटिल खुशीसे फूल उठा था। 'अब तो प्रतिदिन मैं यही चाहूँगा कि कब सन्ध्या हो।'

'मा ! भैयाको छोड़ा नहीं जाता था,' जटिलने कुटियामें पैर रखते ही अपनी जननीसे कहा।

'दीनबन्धु कैसा था, बेटा ?' जटिलको गोदमें बैठाकर उसके घुँघराले बाल सहलाती हुई मा पूछ रही थी और जटिल खुशीसे हँस-हँसकर सब कुछ बता रहा था।

'मुझपर आपकी बड़ी कृपा है, नाथ !' जटिलको सुलाते हुए कल्याणीने कहा। 'यह बालक आपका ही है। इसे आपके ही चरणोंमें समर्पित करती हूँ, देव !'

इसके बाद वह उन्मत्त होकर कीर्तन करने लगी। पूर्व क्षितिजपर उषा मुसकरा उठी, पर उसे पता नहीं चला।

× × × ×

'गुरुजी ! यह मेरा दही—' जटिलने धीरेसे कहा। गुरुजीके यहाँ श्राद्ध था। ब्राह्मण भोजन करने बैठ गये थे।

'दही-दही सिरपर चिल्लाता है,' पात्र फेंकते हुए क्रोधसे

गुरुने उत्तर दिया। दूध, घी तथा वृहद् अन्न-भण्डार प्रदान करनेवाले शिष्योंकी तुलनामें जटिल सर्वथा नगण्य था और छोटे-से पुरवेमें आधा सेर दही! गुरुजीकी आँखें जल उठी थीं।

'बच्चेको निराश न करें, मिश्रजी!' एक ब्राह्मणने भोजन करते हुए कहा। सरल शिशुका काँपना और रोना उनसे देखा नहीं गया।

'इतने दहीका क्या होगा?'—मिश्रजी बोल गये।

'जितना दही उस पुरवेमें बचा है, मुझे दे दे।' ब्राह्मणने कह दिया।

'लीजिये!' मिश्रजी पुरवा उठा लाये। श्राद्धके ब्राह्मणकी आज्ञा अमान्य नहीं हो सकती थी।

'बड़ा मीठा दही है!' खाते-खाते ब्राह्मण प्रशंसा कर रहा था। दहीसे उसकी पत्तल भर गयी थी।

'एक, दो, तीन, चार, पाँच!' आश्चर्यकी बात थी। सब-के-सब चकित थे। उस पुरवेका दही समाप्त ही नहीं होता था। सभी निमन्त्रित ब्राह्मण खा चुके। सबने कहा—'आजतक जीवनमें इतना मधुर दही नहीं खाया।'

'बेटा! यह दही किसने दिया है?' मनमें पश्चात्ताप करते हुए अत्यन्त प्यारसे मिश्रजीने पूछा। भोजनके लिये अब कोई शेष नहीं था। पुरवेने सबका काम चला दिया था। और वह अबतक ज्यों-का-त्यों भरा था।

'मेरे भाई दीनबन्धुने!' जटिलने भाईके सम्बन्धकी सारी कथा सुना दी।

'तू बड़ा भाग्यवान् है, बेटा!' जटिलको गोदमें लेते हुए मिश्रजी बोले। वे मन-ही-मन कह गये—'मैं मनुष्य नहीं पत्थर हूँ।'

× × × ×

'भैया दीनबन्धु!' जटिलने पुकारा। 'आज मेरे गुरुजी भी तुम्हें देखने आये हैं।'

'तुम अकेले नहीं हो, जटिल!' उत्तर मिला। 'इसलिये मैं आकर क्या करूँगा।'

'भैया! मैं रोने लगूँगा'—जटिलने कहा।

'नाथ! मैं महा अधम हूँ।' मिश्रजी रो रहे थे। उन्हें लग रहा था, जैसे साक्षात् भगवान् जटिलसे बात-चीत कर रहे थे। महातेजःपुञ्जके अतिरिक्त वे कुछ नहीं देख पा रहे थे।

'मैंने तुम्हें दिखानेके लिये गुरुजीको वचन दिया है, भैया'! जटिलने दीनबन्धुसे प्रार्थना की।

'पर वे इस योग्य नहीं हो सके हैं, जटिल!' उत्तर मिला।

'कृपा करें, देव!' मिश्रजी फफक पड़े। उन्होंने जटिलको गोदमें ले लिया।

'अनुपम छवि! अनुपम चितवन्!! और अनुपम मुसकान!!!' मिश्रजी जैसे अचेत हो गये। वाणी उनकी अवरुद्ध हो गयी।

'चलो, मैं माके पास आऊँगा।' दीनबन्धु चले गये। मिश्रजीने आँखे खोलीं। निर्जन वन और प्रगाढ़ तमके अतिरिक्त कुछ नहीं।

जटिलको गोदमें लेकर वे कल्याणीके यहाँ चल पड़े।

× × × ×

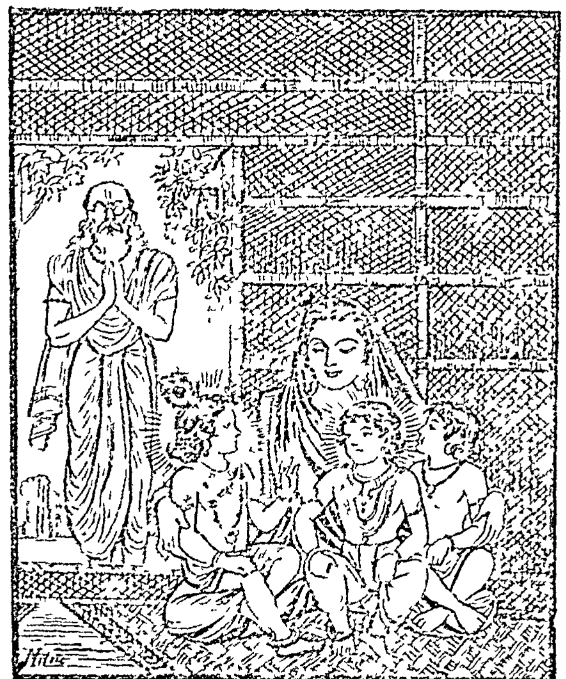
'क्या हो गया मेरे लालको!' कल्याणी चीख उठी। गुरुजीकी गोदमें बच्चेको देखकर उसने समझा था कि वह बीमार हो गया है; नहीं तो गुरुजी यहाँतक स्वयं क्यों पहुँचाने आते?

'जटिलको क्या होगा, देवि!' मिश्रजीने कहा। 'तू महान् भाग्यशालिनी है, कल्याणी! और जटिल ·····' मिश्रजी नहीं बोल पाये।

'भैया आ गये, मा!' खुशीसे कल्याणीके कण्ठमें बाँहे डालकर झूलते हुए जटिलने कहा।

'अनन्त-कोटि सविताओंकी तेजोमयी किरणें मैं नहीं सह सकूँगी, नाथ!' कल्याणीने असीम तेजःपुञ्जको सामने देखकर निवेदन किया। 'मैं यशोदाकी भाँति श्रीकृष्णको अपनी गोदमें देखना चाहती हूँ, देव!'

श्रीकृष्ण भैया बलरामके साथ दूसरे ही क्षण उसकी गोदमें



थे। कल्याणीके हृदयमें आनन्दके लिये स्थान नहीं था। महाभाग्यवती पुण्यमयी यशोदाकी भाँति आज उसके अङ्कमें भी लीलामय श्रीकृष्ण और बलराम बैठे थे। मिश्रजी हाथ जोड़े खड़े थे, उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह रहे थे।—शि० दु०

भक्त दामोदरकी भक्तपत्नी

यह दीन ब्राह्मणी काञ्ची-नगरीमें रहती थी। पतिके अतिरिक्त परिवारमें और कोई नहीं था। दोनोंकी प्रकृति अत्यन्त उदात्त थी। दोनों ही परम सन्तोषी और भगवद्भक्त थे। दामोदर गाँवसे भिक्षा माँग लाते और उनकी पत्नी भोजन बनाती। यदि कोई अतिथि आया होता तो उसकी सेवा की जाती; अन्यथा पशु-पक्षियोंका भाग देकर भगवान्‌का नाम लेकर दोनों प्रसाद पाते और शान्तिसे सो जाते। भिक्षा नहीं मिलती, तो भी असन्तोष और अशान्ति उनके पास फटकने नहीं पाती।

'घरमें कौन है, भैया?' अत्यन्त जर्जर-काय वृद्धने पुकार लगायी। 'मैं अतिथि हूँ। तुम्हारे दरवाजेपर खड़ा हूँ।'

'स्वामी! दासके लिये क्या आज्ञा है?' तेजोमय वृद्धके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए दामोदरने निवेदन किया।

'सुना है तुम अतिथि अभ्यागतको बड़े ही स्वागत-सत्कारसे भोजन देते हो।' वृद्धने कहा। 'श्रद्धालु समझकर ही तुम्हारे घर आ गया। चलने-फिरनेकी शक्ति तो है नहीं, पर तुम्हारा एक मुट्ठी अन्न पानेके लिये यहाँ आ गया।'

'महाराज! घर आपका ही है।' धड़कते दिलसे दामोदरने अतिथिको हाथका सहारा दिया। 'घरमें चलें।'

× × ×

'फटा चिथड़ा और मिट्टीकी फूटी हाँड़ीके अतिरिक्त तो और कुछ नहीं है, स्वामी!' दामोदरकी पत्नीने घरकी स्थिति स्पष्ट कर दी। 'उपवास करते दो दिन बीत गये। आज भी तो कुछ नहीं मिला।'

'सती!' अत्यन्त चिन्तित होकर दामोदरने कहा—'अत्यन्त क्षीणकाय, सर्वथा असमर्थ अतिथि बड़े सौभाग्यसे घरपर पधारे हैं। अतिथि-सेवा नहीं होगी क्या, देवि?' दामोदर विकल हो गये।

'गोविन्द! इतनी कठोर परीक्षा क्यों?' कातर भावसे मन-ही-मन पत्नीने प्रार्थना की। दूसरे ही क्षण वह प्रसन्न हो गयी। पतिसे उसने कहा—'नाथ! अतिथि-सेवा खूब प्रेमसे होगी। पड़ोससे कैंची ले आयें।'

'कैंची ले आया, देवि!' दामोदर एक ही साँसमें दौड़ते गये और कैंची लेकर दौड़ते आये।

'सिरके मेरे केश काट लें' पत्नीने प्रेमसे कहा।

दामोदरका हाथ काँप गया, पर हृदय उत्फुल्ल हो उठा। 'देवि! तू धन्य है,' कहते हुए चारों ओरके केशोंको छोड़कर बीचके सारे केश उन्होंने काट लिये।

उन केशोंकी पत्नीने डोरी बट दी। दामोदर बाजार गये। सौभाग्यसे रस्सी तुरंत बिक गयी। चावल, दाल, आटा, घी, चीनी और भाजी आदि सभी आवश्यक सामग्रियाँ दामोदर बड़ी प्रसन्नतासे ले आये। सुचतुरा गृहिणीने बड़ी शुद्धता और प्रेमसे रसोई बनायी।

चरण पखारकर टूटी चौकीपर अत्यन्त आदर और प्रेमसे अतिथि बैठाये गये। 'बूढ़े साधु' समझकर सतीने भोजन थोड़ा ही परसा। पर वे बड़े विचित्र बूढ़े थे। 'थोड़ा और, थोड़ा और' करते पत्तल चिकना कर दिया उन्होंने। पान चबाते हुए बाहर निकले।

'तुमलोगोंकी सेवासे बहुत आनन्द मिला, भाई!' लंबे कुशासनपर पाँव पसारते हुए साधुने कहा। 'शरीर वृद्ध हो गया है। आज चल सकना सम्भव नहीं है। शामको एक हँडिया चावलसे ही काम चल जायगा।'

'जो आज्ञा,' दामोदरने शीश झुकाये कहा।

× × ×

'अतिथिमें चलनेकी शक्ति नहीं है, सती!' दामोदरने पत्नीसे कहा। 'सन्ध्याके भोजनका क्या होगा?'

'चिन्ताकी क्या बात है, देव!' सतीने तुरंत उत्तर दिया। 'मेरे केश अभी शेष पड़े हैं।'

कैंची चली, केश पृथ्वीपर आ गये। रस्सी बनी। बाजारसे भोजनकी सामग्री आ गयी। भोजन तैयार हुआ। अतिथि जीमने बैठे। 'थोड़ा-सा और' करते-करते एक-एक चावल चट कर लिया बाबाजीने।

घास-फूसका फूटा-टूटा आसन मिला। अतिथि सो गये। दामोदर और उनकी पत्नीको खाने-पीनेके लिये तो कुछ था नहीं। अतिथिके चरणोंकी सेवा होने लगी। चरण दबानेके सुखकी तुलनामें क्षुधा आदिके क्लेश नगण्य थे। रात बीतती गयी। साधुके चरणोंको पकड़े ही दोनों दम्पति वहीं सो गये।

बड़े विलक्षण थे साधु ! थे तो वे क्षीराब्धिशायी, पर वृद्ध बनकर पत्तोंके विस्तरपर सोनेमें उन्हें अपूर्व सुख मिल रहा था। 'बाबा बहुत बूढ़े हैं, शरीर कमजोर है। सवेरे भी इनसे नहीं चला जायगा। कल भिक्षा लाकर इनकी सेवा करेंगे।' आँख बंद किये दामोदरकी यह बात उन्होंने सुन ली थी।

पति-पत्नीका त्याग और उनकी अतिथि-वत्सलता देखकर विश्वको सुख-शान्ति देनेवाले वृद्धवेषधारी प्रभुकी आँखें डबडबा आयीं।

उन्होंने सती नारीके मुण्डित मस्तकपर हाथ फेर दिया। वह तुरंत वस्त्राभूषणसज्जित देवी बन गयी। केश पहलेसे भी अधिक काले और लंबे उग आये। दामोदरके शरीरपर उन्होंने हाथ फेरा, दामोदर स्वस्थ तथा पवित्र हो गये। भगवान्‌ने कुटियामें दृष्टि घुमायी। वह राजमहलके रूपमें परिणत हो गयी। वहाँ अनन्त रत्न-राशि एकत्र हो गयी। 'तेरे चरणोंमें प्रणाम है, सती !' विश्वके परमाराध्य बोल गये। 'आजीवन अपनी साध पूरी करके तुमलोग वैकुण्ठ जाओगे। मैं छायाकी तरह सदैव तुमलोगोंके साथ रहूँगा।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये।

× × ×

सती चकित थी, कलकी सारी घटना ज्यों-की-त्यों उसे स्मरण थी। ये केश ज्यों-के-त्यों कैसे उग आये ? ये दुर्लभ वस्त्राभूषण, यह उच्च अट्टालिका, ये अनमोल रत्न सब रातभरमें ही कैसे आ गये? उसने पतिको जगाया। दामोदरको अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हुआ, पर दूसरे ही क्षण उन्मत्तकी तरह वे दौड़ पड़े। 'सती! वृद्ध अतिथि कहाँ गये ?' गाँवमें चारों ओर देखा, पर वे कहाँ थे।

'वे सामान्य अतिथि नहीं थे, देवि !' दामोदरने प्रेम-पुलकित होकर कहा। 'वे करुणासिन्धु थे। यह सारी विभूति सुदामाकी भाँति उन्होंने ही प्रदान की है। हाय ! उन्हें हम नहीं समझ···।' —शि० दु०

भक्त शान्तोबाकी सती धर्मपत्नी

बात है मुगलोंके शासनकालकी। उस समय दक्षिणके रंजनम् नामक गाँवमें शान्तोबा नामके एक धनवान् व्यक्ति रहते थे। आरम्भमें तो ये बड़े विलासी थे, पर अन्तमें अपने पूर्व पुण्य एवं भगवत्कृपासे घर-बार छोड़कर पर्वतपर चले गये। उन्हें सच्चा वैराग्य हो गया था। अपनी कही जानेवाली सारी सम्पत्ति उन्होंने पहले अनाथ, भिक्षुक एवं साधु-महात्माओंमें वितरित कर दी थी।

उनकी पत्नी साध्वी थी। पतिके वियोगमें रो-रोकर अपने दिन काट रही थी। एक दिन घरवालोंने उससे कहा कि 'तू शान्तोबाके पास चली जा। तेरे अनुपम सौन्दर्यको देखकर वह तुरत लौट आयेगा।'

वह सती तो पति-दर्शनके लिये जलहीन मीनकी भाँति तड़प ही रही थी। घरवालोंकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने सोचा, 'पतिदेव यहाँ आवें तो अच्छा ही है; और न लौटें तो मुझे ही वहाँ रहने दें, तो भी अच्छा है। मुझे तो प्रत्येक दशामें उनके चरणोंमें रहनेका अवसर मिल जायगा।'

हर्षोन्मादमें वह अपने तन-मनकी सुध-बुध खोकर भागती हुई भूधर-शिखरपर अपने पतिके पास पहुँच गयी। वह पतिके चरणोंपर गिर पड़ी और जी भरकर रोयी। उसके आँसुओंसे शान्तोबाके दोनों पाँव भीग गये। रोते-रोते उसने कहा—'नाथ! आपने परिवारका त्याग कर दिया, यह तो अच्छा किया; पर मैं तो आपकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ। मेरे प्राणोंके आधार एकमात्र आप ही हैं। मुझे तो नहीं छोड़ना चाहिये। आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं आपके प्रत्येक कार्यमें सहयोग दूँगी; आप जहाँ कहीं रहें, मुझे अपने चरणोंमें ही रक्खें।'

पत्नीकी विनीत वाणी सुनकर शान्तोबा बोले—'यदि तुम मेरे पास रहना चाहती हो, तो तुम्हें मेरी ही तरह रहना पड़ेगा। शरीरके ये अलङ्कार अलग कर देने पड़ेंगे और तपस्विनीकी भाँति रहना पड़ेगा, अन्यथा तुम्हारी इच्छा हो तो लौट सकती हो, मुझे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है।' शान्तोबापर उनकी पत्नीके सौन्दर्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। भगवान्‌के भक्तोंपर पुष्पशरके शर मुड़ जाते हैं।

सती नारीने अपने अलङ्कार तुरत उतार दिये और शरीरपर केवल साड़ी रहने दी। उसकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। वह फल-फूल लाकर अपने पतिकी हर प्रकारसे सेवा करती तथा भगवन्नामका जप करती रहती। भोगोंके प्रति उसका जरा भी आकर्षण नहीं रह गया था। वैराग्यकी वह जीवित प्रतिमा-सी लग रही थी।

पत्नीके तप, त्याग और भोगोंकी सर्वथा अनिच्छा देखकर

शान्तोबा परम सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे थे। पत्नीकी परीक्षाके लिये उन्होंने एक दिन कहा—'रोटी खाये मुझे बहुत दिन बीत गये हैं। तू गाँवसे केवल सूखी रोटी माँग ला।'

सती चल पड़ी। वह धनी परिवारकी वधू थी। भीख किस प्रकार माँगी जाती है, वह जानती नहीं थी। शरीरपर-का वस्त्र भी फट चला था। फिर भी वह अपने पतिकी रोटीके लिये गाँवमें घूम रही थी। गलतीसे वह अपनी ननदके घर चली गयी। उसकी ननद उसी गाँवमें ब्याही थी। ननदने भाभीको इस रूपमें देखा तो वह रोने लगी। सती नारीने ननदसे सारा वृत्तान्त कहकर कहा—'तुम मुझे सूखी रोटी शीघ्रतासे दे दो, भूखे स्वामी मेरी बाट देख रहे होंगे।'

ननद तुरंत एक थालीमें हलुआ, पूरी और साग ले आयी। शान्तोबाकी पत्नीने कहा कि 'उन्होंने केवल सूखी रोटी माँगी है।' पर ननदके सामने उसकी एक न चली। दौड़ी हुई वह पतिके पास पहुँची।

'हलुआ, पूरी और सागके लिये तुमसे किसने कहा था?' शान्तोबाने भोजन स्वीकार नहीं किया। काँपती हुई उनकी पत्नीने सारी बात बता दी।

'मैं तो सूखी रोटी ही खाऊँगा'—हलुआ, पूरीकी ओरसे मुँह फेरकर शान्तोबाने कहा।

उनकी पत्नीका शरीर थरथर काँप रहा था। पाँव काँटों-से छलनी हो गये थे। वह हाँफ रही थी, फिर भी पतिकी आज्ञा पाकर पुनः अत्यन्त प्रसन्नतासे रोटीके लिये चल पड़ी। दौड़ती हुई वह गाँवमें गयी और कई घरोंसे सूखी रोटी माँगकर शीघ्रतासे लौटी।

आते समय आकाशमें गरजते हुए काले बादल घिर आये। बिजली जोरोंसे चमक रही थी। मूसलाधार वृष्टि भी होने लगी। सतीके कोमल शरीरपर पानीकी बौछार तीरकी तरह लग रही थी। उसकी साड़ी फटी थी, पर वह अपने शरीरकी चिन्ता न करके अपने पतिकी रोटी साड़ीमें छिपाती भागती चली जा रही थी।

थोड़ी ही दूर आगे जानेपर भीमा नदी पड़ी। उस समय भीमाका विकराल स्वरूप हो गया था। वह पूरे वेगसे उमड़ आयी थी। चारों ओर अँधेरा छा गया था। अपना हाथ भी नहीं सूझ रहा था।

शान्तोबाकी पत्नी घबरा गयी। 'मेरे स्वामी भूखसे आकुल होकर अधीरतासे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे' यही ध्यान बार-बार उसके सामने आता था। वह सर्वथा विवश थी। चतुर्दिक् प्रगाढ़ तमका साम्राज्य था। वहाँ मनुष्यकी गन्ध भी नहीं मिल रही थी। भीमाको पार करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था।

सती दुःखकी अधिकतासे व्याकुल होकर पतित-पावन पाण्डुरंगसे प्रार्थना करने लगी—'प्रभो! मेरे स्वामी भूखे हैं। मैं यहाँ पड़ी हूँ। मैं छटपटा रही हूँ। इस समय आपके अतिरिक्त मेरा और कोई सहायक नहीं है। दयामय! दया कीजिये।' सती फूट-फूटकर रोने लगी।

श्रीरावेशशायीका आसन हिला। केवट बनकर वे सतीके सामने खड़े हो गये। विद्युत्-प्रकाशमें उन्हें देखकर सतीने तुरंत पूछा, 'भैया! तुम कौन हो?'



'मैं केवट हूँ'—केवट-वेषधारी नटवर बोल गये।

'भैया! यहाँपर मेरा कोई सहायक नहीं है। भाई या पिता एकमात्र तुम्हीं हो। मुझे किसी प्रकार पार पहुँचा दो।' गिड़गिड़ाते हुए सतीने प्रार्थना की और मूर्च्छित हो गयी।

भगवान्‌ने उसे कंधेपर उठाया और शान्तोबाकी कुटीके सामने छोड़कर अन्तर्धान हो गये। सतीकी चेतना भी जाग्रत् हो गयी। उसने देखा मेरे शरीरका समस्त वस्त्र रोटीके टुकड़ेपर लिपटा हुआ है। वह लज्जित हो गयी। सोचा, केवटने अपने मनमें क्या सोचा होगा!

रोटीका टुकड़ा पतिदेवके सामने रख दिया सतीने। पर शान्तोबाने उस टुकड़ेको देखातक भी नहीं। वे अपलक नयनोंसे अपनी पत्नीकी ओर देख रहे थे। इतना अगाध सौन्दर्य और इतना अपूर्व तेज जो उनकी पत्नीकी आकृतिपर छिटका हुआ था, उन्होंने अपने जीवनमें आजतक कभी नहीं देखा था।

पतिके पूछनेपर सतीने सारी बात ज्यों-की-त्यों कह दी। शान्तोबा रोने लगे। 'देहरीतक आकर लौट गये प्रभु।' वे चिल्लाने लगे। उन्होंने कहा—'देवी! तू धन्य है। बड़े भाग्यसे मैंने तुझे पत्नीके रूपमें पाया है।'

शान्तोबाने निश्चय कर लिया जबतक उस केवटके दर्शन नहीं होंगे, मैं अन्न-जल कुछ नहीं ग्रहण करूँगा। पतिके उपवास करनेपर पत्नी कैसे खाती। दोनों दम्पति उपवास करने लगे। विवश होकर श्यामसुन्दरको दर्शन देने पड़े।

सतीने अपना अन्तिम जीवन पतिके साथ पण्ढरपुरमें रहकर व्यतीत किया। —शि० दु०



श्रीगणेशदेई रानी

श्रीमधुकरसाहजी ओड़छेके नरेश थे। इनकी पत्नीका नाम गणेशदेई था। ये परम भगवद्भक्त थीं। भगवद्भक्तोंका आदर-सत्कार ये खूब प्रेमसे किया करती थी।

श्रीगणेशदेई रानी एक बार अयोध्यामें दर्शनके लिये आयीं। अयोध्याकी मनोहर शोभा तथा सरयूके पुलिनमें इनका मन अटक गया। ये वहीं रहने लगीं। इनके पतिदेवने इन्हे लौट आनेके लिये कई पत्र दिये, पर ये आज-कल करके टालती ही गयीं। अन्तमे इन्हे अपने पतिदेवका एक पत्र प्राप्त हुआ। उसमे लिखा था कि 'अब तुम कौसल्याकुमार-को साथ ही लेकर लौटना।'

रानी अपने पतिके इस भावपर मुग्ध हो गयी। वे बार-बार मन्दिरमें जाकर प्रार्थना करने लगी कि 'हे प्रभो! आप मेरे साथ ही ओड़छा पधारें। पर उन्हे कभी किसी ओरसे भी कोई आज्ञा नहीं मिली। सर्वथा निराश होकर शरीर त्याग कर देनेके विचारसे ये सरयूजीके गहरे जलमें कूद पड़ी। परंतु जलके भीतर ही इन्हें कौसल्याकुमारके दर्शन हो गये। साथ ही भगवान् श्रीरामकी एक प्रतिमा इनके अङ्कमे आ गयी और ये सरयूजीके तटसे आ लगीं।

रानी बहुत प्रसन्न हुई और उन्होंने सारा समाचार मधुकरसाहको लिख भेजा। मधुकरसाह ससैन्य अवध आये और भगवान्‌के दर्शन कर कृतार्थ हुए। अयोध्यामे दोनों दम्पतिने खूब उत्सव मनाया और बहुत-सा धन भी दानमे दिया।

प्रभु-प्रेरणासे रानीने पुष्यनक्षत्रमे अयोध्यासे ओड़छाके लिये प्रस्थान किया। वे छब्बीस दिनोंतक एक ही स्थानपर रहतीं और फिर सत्ताईसवें दिन पुष्यनक्षत्रमें चलतीं। इस प्रकार ये ओड़छा आयी। वहाँपर अत्यन्त प्रेमसे भगवान्‌को पधरवाया। बादमें श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी और अञ्जनीकुमारकी मूर्तियाँ भी पधरायी गयीं।

श्रीगणेशदेईका नियम था कि ये पूजा अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति और प्रेमसे अपने ही हाथों करती थीं। इस कार्यमे वे किसी-का सहयोग पसंद नहीं करती थीं।

कुछ लोगोंके मनमे यह सन्देह था कि रानीको मूर्ति श्रीसरयूजीमें नहीं मिली है, ये कहीं अन्यत्रसे ले आयी है। घट-घटव्यापी प्रभुने लोगोंका भ्रम निवारण करनेके लिये एक दिन गणेशदेईसे कहा—'तुम बहुत समयसे खड़ी हो, बैठ जाओ!'—मूर्तिके सामने वे सदैव खड़ी ही रहती थीं। 'प्रभो! आप तो खड़े हैं, फिर मैं कैसे बैठूँ?' हाथ जोड़कर अत्यन्त विनीत शब्दोंमें रानीने उत्तर दिया।

'मैं बैठूँगा तो फिर कभी नहीं उठूँगा'—भगवान् बोले।

'आपकी जैसी इच्छा'—रानीने उत्तरमे नतमस्तक होकर कहा।

भगवान् वीरासनसे बैठ गये और अबतक उसी तरह बैठे है। श्रावण शुक्ल तृतीयाको आप झूलनपर विराजते है। तब विशेष रूपसे आनन्दोत्सव मनाया जाता है। सुनते हैं उसी मूर्तिकी तरह अयोध्यामे कनकभवनमे श्रीरामचन्द्रजी अब विराजमान हैं। ये गोरे हैं और ओड़छेके श्याम हैं। —शि० दु०



सालवेगकी माता

कटकके शक्तिशाली मुगल लालवेगके पुत्र सालवेगके मस्तकमें युद्धकला सीखते समय तेज तलवार धँस गयी थी। उपचार करते महीनों बीत गये थे। पर कोई लाभ नहीं हुआ था। उसने कराहते हुए अपनी मातासे किसी प्रकार भी घाव अच्छा हो, ऐसा उपाय करनेके लिये कहा। माता हिंदू कन्या थी। सालवेगका पिता लालवेग उसे हरण कर लाया था और अब यौवन न रहनेपर उसने उसको छोड़ दिया था। उसके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति विश्वास और प्रेम था। उसने कहा—'मेरी बात मानो तो तुम शीघ्र अच्छे हो सकते हो।'

'तुम्हारी बात नहीं मानूँगा तो किसकी बात मानूँगा मा!'

'भगवान् श्रीकृष्णका सहारा लेनेपर तू रोगमुक्त तो हो ही जायगा, तुझे कभी कोई व्याधि नहीं हो सकेगी।'

'श्रीकृष्ण कौन है, मा?'

'वे नन्द और यशोदाके पुत्र हैं। राधा उनकी रानी हैं। वे हर जगह रहते हैं। तुम्हारे मनमें भी हैं। पुकारते ही प्रकट हो जायँगे। संसारके सबसे बड़े वीर, सबसे बड़े धनी और समस्त शक्तियोंके केन्द्र वे ही हैं। आकाश, पवन, तारे उन्होंने ही बनाये हैं। सूरज-चाँद उन्हींके संकेतपर नाचते रहते हैं।' वर्षोंके बाद श्रीकृष्ण-चिन्तनका अवसर सालवेगकी माताको आज ही मिला था। उसका मन शान्तिका अनुभव कर रहा था।

'कितने दिनोंमें अच्छा हो जाऊँगा, मा?' आशान्वित होकर सालवेगने पूछा।

'प्रेमसे, शुद्ध अन्तःकरणसे पुकार सका तो बारह दिनोंमें ही तू उनके दर्शन कर सकेगा। घाव तेरा सूख जायगा। नहीं तो, बारह सौ दिनोंमें भी कुछ नहीं हो सकेगा।'

'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!! श्रीकृष्ण!!!' सालवेग पुकार उठा। उसे अपनी पीड़ाका ध्यान नहीं था। वह श्रीकृष्णके मङ्गलमय नामको अनवरत रूपसे रट रहा था। माकी बतायी कल्पित, पर अत्यन्त मनोहर मूर्ति उसके मानसिक नेत्रोंके सामने थी।

× × ×

'मा! तेरे श्रीकृष्णका नाम रटते आज दस दिन बीत गये,' सालवेग निराश होकर बोला। 'पर मुझे तो अबतक कोई लाभ नहीं हुआ।'

'घबरा मत, बेटा!' माताका मन पुत्रके भजन और प्रेमाश्रुओंको देखकर उत्फुल्ल था। उसने कहा—'उनकी लीला बड़ी विचित्र है। कष्टमें भी तू उन्हें भूल सकता है कि नहीं, वे यही देख रहे हैं। लाल! तू किसी प्रकारका सन्देह न करके वंशीधरका भजन खूब प्रेम और विश्वाससे कर।'

"ग्यारहवाँ दिन भी बीत गया मा!" सालवेगने दूसरे दिन कहा। "तू 'संशय न कर' यही कहती जाती है, मेरी मृत्यु ही कदाचित् उन्हें अभीष्ट है।"

'धैर्य रख, बेटा!' कलपते पुत्रको देखकर भी माताने दूसरा उपदेश नहीं दिया। उसकी श्रीकृष्ण-भक्ति दृढ़ थी। उसने कहा—'सन्देह त्यागकर श्रीकृष्ण-स्मरण किये जा।'

× × ×

'मा! मा!! ओ मा!!!' सालवेगने अपनी माताको जगाते हुए कहा। 'आज मुझे तेरे श्यामसुन्दरके दर्शन हो गये। मेरे घावका केवल चिह्न ही अवशिष्ट रह गया। दर्दका तो पता ही नहीं रहा।'



'बेटा!' श्रीकृष्णके प्रेमसे छकी माताने आँखें खोलीं। उसे तो कोई आश्चर्य नहीं था। बेटेको छातीसे चिपकाते हुए उसने कहा—'अब तो विश्वास हुआ, बेटा!'

'मा !' सालबेगने कहा, 'अब मैं श्रीकृष्णको इस जीवनमें कभी नहीं भूल सकूँगा। उनके-जैसा सुन्दर और मनको चुरानेवाला मैंने आजतक देखा ही नहीं, मा !'

'ठीक कहता है, बेटा !' माकी आँखोंसे धीरे-धीरे आँसू ढुलक रहे थे।

'अब मैं उन्हींके नाम-गुणका प्रचार करूँगा।' सालबेगपर प्रभु-कृपा हो गयी थी। वह कृतार्थ हो गया था। दृढ़ताके साथ उसने कहा—'संन्यासी होकर अब मैं जन्म सफल करूँगा, मा !'

'मैं नहीं रोकती, बेटा !' सालबेगकी माता सामान्य माता नहीं थी। वह श्रीकृष्ण-भक्त थी। मन उसका वशीभूत था। हँसते-हँसते उसने कहा—'वही जीवन सफल है, जो भगवान्‌के काम आ जाय।'

× × ×

'प्रभुको मैं कभी नहीं भूलूँगा। तू भी उन्हें कभी नहीं भूलना, मा !' सालबेगने माताका चरण-स्पर्श किया और श्रीजगन्नाथपुरीके लिये चल पड़ा।'

'भगवान् मङ्गल करें।' माताकी आँखें बरस रही थीं, परंतु मुँहमें श्रीकृष्णका नाम और हृदयमें प्रेम तथा आनन्द उमड़ा आ रहा था।

तपस्विनी गौरीबाई

गुजरातकी सती देवियोंमें गौरीबाई बहुत प्रख्यात हैं। इनका जन्म सवत् १८१५ में गीरपुर नामक शहरमें हुआ था। गौरीबाईके पाँच वर्षकी होते ही पिताने उसका विवाह कर दिया। आठ दिन भी नहीं बीतने पाये कि उसके पतिका देहान्त हो गया। बेचारी अबोध बालिकाका सुख अनजानमें ही छीन लिया गया। पर उसे इसका कोई ज्ञान नहीं था।

उसके पिता विद्वान् थे। उसे धर्मशिक्षा देने लगे। थोड़े ही दिनोंमें गौरीबाई गीता आदि धर्मग्रन्थोंका पाठ करने लगी। वह घरकी एक कोठरीके कोनेमें बैठी योगाभ्यास भी करने लगी। तेरह वर्षकी अवस्थातक उस सती देवीमें समस्त दिव्य गुणोंका पूर्ण विकास हो गया। गाँवकी स्त्रियाँ उसके तेजोमय स्वरूपके दर्शनार्थ आने लगीं।

धीरे-धीरे गौरीबाईका समाचार वहाँके राजाको भी मिला। राजा आये और गौरीबाईके चमत्कार, तीव्र बुद्धि, उसकी समाधि, सरल स्वभाव और अमूल्य उपदेश सुनकर मोहित हो गये। उन्होंने गौरीबाईसे प्रार्थना करके वहींपर गौरीबाईके नामसे एक उपासनागृह और सरोवर बनवा दिया।

गौरीबाई भगवान्‌का पूजन बड़े प्रेमसे करती और समाधि तो अन्न-जल त्यागकर अखण्ड रूपसे पंद्रह दिनतक लगाये रहती। दर्शनके लिये भीड़ एकत्र रहती; पर जिस क्षण वह कुशासनपर आसन लगाकर समाधिके लिये बैठती उस समय कोठरीकी देहरी बंद कर दी जाती और पंद्रह दिनके भीतर नहीं खुलती। कुछ ही समयमें राजाने वहीं एक धर्मशाला भी बनवा दी। गौरीबाई अब केवल आध सेर दूधपर शरीररक्षा करने लगी। उसे वचनसिद्धि प्राप्त हो गयी।

गौरीबाई एक संतके द्वारा दिये हुए दिव्य विग्रह



श्रीबालमुकुन्दजीकी खूब प्रेमसे सेवा करती। दर्शनार्थियोंकी भीड़ प्रतिदिन उसके यहाँ बढ़ती जा रही थी। इससे उसके साधनमें विघ्न उपस्थित होता था। इस कारण उसने अपना घर छोड़ दिया। तीर्थोंमें भ्रमण करती हुई काशीमें आकर एक पर्णकुटीमें रहने लगी। उस समय काशी-नरेशके पदपर राजा सुन्दरसिंह थे। उन्होंने गौरीबाईका खूब सम्मान किया। कितने ही नरपति गौरीबाईके चरणोंपर गिरकर उसे अपने राज्यमें रखना चाहते थे, पर वह तपस्विनी देवी एकान्तमें साधनके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहती थी।

गौरीबाईको अपनी मृत्युका ज्ञान पहले ही हो गया था। उसने अपनी अत्यन्त प्रिय चतुरीबाईको सदुपदेश दिया तथा बालमुकुन्दजीकी सेवाका भार उसे ही सौंप दिया। उसने चतुरीबाईसे बार-बार आग्रह किया कि श्रीबालमुकुन्दजीकी सेवा खूब प्रेमसे करना।

संवत् १८६५की चैत्रसुदी नवमीका मध्याह्नकाल था। सर्वत्र दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्रजीका जन्मोत्सव अपूर्व प्रेमोत्साहसे मनाया जा रहा था। उसी पवित्र वेलामें गौरीबाई अपना नश्वर कलेवर त्यागकर भगवत्स्वरूपमें विलीन हो गयी।

—शि० दु०



श्रीरत्नावलीजी

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी माता-पितासे वियुक्त होकर साधुकी कृपासे पालित हुए। संतने उन्हें केवल पढ़ाया और शिक्षा दी। दीक्षा देकर बाबाजी बनानेकी धुन उन्हें थी नहीं। गुरुकी आज्ञासे गोस्वामीजीने विवाह किया। गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। सौभाग्यसे उन्हें अत्यन्त रूपवती, गुणवती, पतिपरायणा स्त्री प्राप्त हुई। पत्नीमें अत्यधिक अनुराग हो गया। हृदयमें प्रेम तो था ही, इस ओर लग गया। पत्नीके बिना उन्हे कुछ देर भी रहना असह्य हो जाता था।

ससुरालसे सन्देश-पर-सन्देश आ रहे थे। रत्नावलीजीके पिता-माता उन्हे बुलानेको अत्यन्त उत्सुक थे। रत्नावलीजी भी एक बार पितृ-गृह हो आना चाहती थीं। तुलसीदासजी उनके वियोगकी कल्पनासे ही व्याकुल हो जाते थे। वे दो दिनके लिये भी पत्नीको भेजनेके लिये प्रस्तुत नहीं थे। संयोगवश गोस्वामीजी कहीं गये थे। रत्नावलीजीके भाई अपनी बहिनको लेने आये। एक पत्रमें अपने जानेकी सूचना तथा क्षमा-प्रार्थना लिखकर रत्नावलीजीने शय्यापर रख दी अपने स्वामीके लिये और वे भाईके साथ चली गयी।

गोस्वामीजी कुछ रात्रि गये लौटे। घरमें पत्नीको न देख व्याकुल हो गये। बहुत ढूँढ़नेपर पत्रपर दृष्टि पड़ी। अँधेरी रात्रि, आँधी चल रही थी, वर्षा हो रही थी, मेघ-गर्जन और वज्रपात रह-रहकर होता रहता था। प्रेम यह सब कहाँ देखता है। निकल पड़े ससुरालके लिये। वर्षामें तरङ्गें लेकर उछलती भयङ्कर नदी; परंतु कौन देखे। नौका तो उस अंधड़में मिलती कहाँ, एक शव मिल गया। उसीको पकड़कर तैरते हुए नदी पार करके पहुँचे श्वशुरगृह।

'ओह, मेरे आनेके लिये धर्मसङ्गिनीने रस्सी लटका रक्खी है।' भवनका द्वार तो बंद था; किंतु रत्नावलीजीके कक्षसे मन्द प्रकाश आ रहा था। गवाक्षसे कुछ लटक रहा था। आप उसे पकड़कर ऊपर पहुँचे।

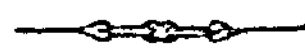
'आप! इस समय आये कैसे?' सोतेसे जगायी जानेपर रत्नावलीजी चौंककर उठीं। पतिको सिरसे पैरतक भींगे देखकर उन्होंने पूछा।

'नदी तो पार करनेको एक कोई मुर्दा मिल गया अवसरपर। उसे पकड़कर सहज ही तैर आया। यहाँ आनेके लिये तो तुमने कमंद लटका ही रक्खा है।' तुलसीदासजीने इस प्रकार कहा, जैसे साधारण कार्य ही तो हुआ है।

'कमंद! कहाँ है वह?' प्रदीप लेकर रत्नावलीजीने देखा। एक काला सर्प लटक रहा था। 'हे भगवन्' कहकर उन्होंने सिरपर हाथ पटका। 'इस हड्डी मांसके लोथड़ेमें जितना आपका अनुराग है, उतना कहीं श्रीरघुनाथजीमे होता तो आप अपने और मेरे भी कुलको साकेत पहुँचा पाते।'

बारूद तो प्रस्तुत ही थी, चिनगारी पड़नेकी देर थी। पूर्वसंस्कार जाग गये। मोहका पर्दा फट गया। जैसे अतल अन्धकारसे किसीने दिनके प्रखर प्रकाशमें फेंक दिया हो। गोस्वामीजीने गुरुभावसे पत्नीको प्रणाम किया और उसी गवाक्षसे उसी काले नागको पकड़कर कूद पड़े। उन्होने क्या किया—यह बताना आवश्यक नहीं है। उनका श्रीराम-चरितमानस उनके साधन, भक्तिका विजयघोष है।

—सु० सिं०



माताके उपकार अतुलनीय

माताके उपकारको तौलनहार न बाट।
जीवन, जगमें सब जगह देख चुके हैं हाट॥

—रामजीवन शर्मा

एक भक्तिमती विधवा

भारतभूमि भगवान्‌की क्रीड़ाभूमि है। भगवान्‌की लीलाएँ अलौकिक होती हैं। भगवान्‌के सन्निकट रहनेवाले भक्तोंकी जीवनलीला यदि अलौकिक हो तो इसमें क्या आश्चर्य? बङ्ग देशमें एक योगसिद्ध भगवद्भक्त श्रीमत्स्वामी सत्यदेव सरस्वती नामके प्रसिद्ध संन्यासी हो गये हैं। स्वामीजीके समयमें शान्तिपुरके समीप गुप्तिपाड़ा नामक गाँवमें एक भगवद्भक्ति-परायण ब्राह्मणपरिवार निवास करता था। ब्राह्मणको एक दिन गङ्गास्नान करते समय भगवान् श्रीकृष्णकी एक मनोहारिणी मूर्ति गङ्गाकी धारामें बहती हुई प्राप्त हुई। भक्तको भगवान् मिल गये, ब्राह्मणके आनन्दका पारावार उमड़ उठा।

भगवान्‌की मूर्तिको घर लाकर ब्राह्मणने बड़े भक्तिभाव और श्रद्धासे पूजन किया। सारा परिवार भगवत्प्रेमकी मन्दाकिनीमें सुस्नात होकर परितृप्त हो गया। रात्रिकालमें भगवत्पूजनके पश्चात् प्रसाद पाकर सब लोग सो गये। ब्राह्मणने स्वप्नमें देखा कि वही भगवान्‌की श्रीमूर्ति सामने उपस्थित है और कह रही है—'मैं संन्यासीके घर जाऊँगा! गृहस्थके घर नहीं रह सकता। मुझे रखनेसे तुम्हारा अनिष्ट होगा। मुझे सत्यदेव सरस्वतीके पास पहुँचा दे।'

ब्राह्मण भक्तिभावनाकी प्रतिमूर्ति था। उसे इष्टदेव मिल गये, तो लौकिक अनिष्टकी परवा कौन करता? वह भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजार्चनामें अपने दिन शान्ति और सुखसे बिताने लगा। परंतु भवितव्यताको कौन रोक सकता है? एक-एक करके ब्राह्मणपरिवारके सब आदमी परलोकवासी हुए। घरमें बच गयी एकमात्र उसकी विधवा कन्या और श्रीभगवान्‌की वह मनोहारिणी मूर्ति। वह कन्या अकेली भगवान्‌की आराधनामें तत्पर हो गयी। दिन, रात उसके भगवान्‌की मूर्तिके सामने ध्यान-पूजामें बीतने लगे।

श्रीस्वामी सत्यदेव सरस्वतीको भगवान्‌ने स्वप्न दिया—'तुम मुझे लाकर यहाँ ही प्रतिष्ठा करो।' स्वामीजी भगवान्‌की उस मूर्तिके लिये इधर-उधर खोज करने लगे। गङ्गापार जाकर गुप्तिपाड़ा गाँवमें उस ब्राह्मणके घर पहुँचे। वहाँ घरपर उनको कोई दिखलायी न दिया। भीतर घुसनेपर उन्होंने देखा कि घरमें कोई पुरुष नहीं है, केवल एक अपूर्व रूपवती कन्या भगवान् श्रीकृष्णकी एक प्रतिमाके सामने भक्तिभावसे तन्मय होकर पूजा कर रही है। स्वामीजी भगवान्‌की उस दिव्य मूर्तिको देखकर मुग्ध हो गये। उस कन्याने भगवान्‌को सुपक्व फल-मूल और मिष्टान्नयुक्त नैवेद्य निवेदन किया। श्रीवृन्दावनविहारीलालकी वह अनुपम लावण्यमयी मूर्ति मुसकराने लगी और उस कामिनीके कर-कमलोंद्वारा निवेदित नैवेद्यको लेकर प्रेमसे आस्वादित करने लगी।

भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन सहज नहीं; दर्शन कर लेनेपर जीवको इस संसारमें और किसी वस्तुकी इच्छा भी नहीं रहती। और भगवान् जब स्वयं प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं, तभी कृतार्थ होता है भक्त। अन्यथा दुर्लभ है भगवद्-दर्शन। आज स्वामीजीने भक्तिकी प्रत्यक्ष मूर्ति उस विधवा कन्याके सामने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके दर्शन किये। कृतकृत्य हो गये, नयनोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगा, निर्निमेष भगवान्‌की ओर देखते-देखते स्वामीजीको तन-मनकी सुधि न रही। स्वप्नमें भी भगवान्‌की उसी मूर्तिने दर्शन दिया था। अतएव स्वामीजी अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर आह्लादित हो उठे।

उस भक्तिमती विधवा युवतीने भाँति-भाँतिसे गद्गद वाणीसे भगवान्‌की स्तुति की। आरतीके उपरान्त पुष्पाञ्जलि निवेदन करके पूजासे निवृत्त हो जैसे ही उसने घरके प्राङ्गणकी ओर दृष्टि डाली तो देखा कि एक भव्यमूर्ति तपःपूत संन्यासी सामने खड़े हैं। उसने श्रद्धापूर्वक संन्यासीके चरणोंमें प्रणाम किया और पूछा—'प्रभो! आप कौन हैं, कहाँसे और किस प्रयोजनसे आपने इस भगवान्‌के मन्दिरमें आनेकी कृपा की है?'

संन्यासीने अपने जीवनमें पहले-पहल एक सच्ची भक्तिमती भगवान्‌की पुजारिनका दर्शन किया था। वह इस अलौकिक लीलाको देखकर अवाक् हो रहे थे। नेत्रोंमें प्रेमाश्रु रुक नहीं रहे थे। किसी प्रकार अपनेको सँभालकर उन्होंने कहा—'कल्याणि! मैं एक तुच्छ संन्यासी हूँ और भिक्षाके लिये यहाँ आया हूँ।' वह साध्वी यह बात सुनकर प्रसन्न हो उठी और बोली—'भगवन्! आप यथारुचि भिक्षा ग्रहण करके आज इस दुःखिनीको कृतार्थ कीजिये।'

संन्यासीने प्रेमपूर्वक प्रसाद ग्रहण किया और कहा—'देवि! भोजनकी दक्षिणा मिलनी चाहिये। दक्षिणाके बिना मेरा भिक्षाग्रहण करना पूरा न होगा। परंतु मैं संन्यासी हूँ,

रुपया-पैसा छूता नहीं। मुझे अपनी वह देवमूर्ति दक्षिणामें दे दो।'

उस साध्वी विधवाकी सुप्त स्मृति जाग उठी। उसने कहा—'भगवन्! आपकी आज्ञाका पालन किया जायगा और यह देवमूर्ति आपको मिल जायगी।' इतना कहकर वह भक्तिपूता रमणी भगवान्‌के विग्रहके सामने खड़ी हो गयी। क्षणभर ध्यानावस्थित होनेके बाद कहने लगी—'प्रभो! यह तो मैं पहलेसे ही जानती थी कि तुम किसी संसार-त्यागी संयमी संन्यासीकी सेवाके अभिलाषी हो। पिताजीको स्वप्नमें तुमने आदेश दिया था। वह बात आज सामने उपस्थित है। तुम्हें संन्यासीको अर्पण न करनेके कारण हमारे घरका जो अनिष्ट हुआ सो हुआ ही। एक-एक करके घरके सब आदमी मर गये। मैं विधवा हो गयी। परंतु भक्तवत्सल प्रभो! तुम्हारे प्रेममें—तुमको प्राप्त करके मेरे पिताने, घरके सब लोगोंने संसारकी परवा न की। उसको नष्ट होने दिया। पर तुमको नहीं छोड़ा! भगवन्! मेरे परिवारकी यह परम्परा है। मेरा संसार छूट गया। एकमात्र आधार तुम्हीं थे। नाथ! अब तुम अपने सेवक संन्यासीकी सेवा ग्रहण करने जाते हो। अब मुझ निराश्रया अनाथाको अवलम्ब कहाँ? प्रभो! अब मुझे कुछ कहना नहीं है, चाह भी नहीं है। प्राण रहते तुम्हारे वियोगको सह न सकूँगी। इसलिये हे अशरणशरण! इस कंगालिनीको दया करके अपने चरणोंमें विलीन कर लो।'

इस प्रकार गद्‌गद वाणीसे बोलते-बोलते वह साध्वी श्रीभगवान्‌के पदपद्मोंकी ओर देखने लगी। आँसुओंकी धारासे उसका वक्षःस्थल प्रवाहित हो उठा। लंबी साँस चलने लगी और देखते-ही-देखते उस भक्तिमती विधवाकी श्वास-गति बंद हो गयी। उस महायोगिनीने इस मानव-लीलाको संवरण किया। धन्य है उसका यह भगवान्‌के श्रीचरणोंमें आत्म-निवेदन। —गी० द्वि०

राजमाता जीजाबाई

पुण्यवती जीजाबाई छत्रपति महाराज शिवाजीकी माता थी। बचपनसे ही वह हिंदू-जातिके मान-गौरवकी रक्षाके लिये सर्वस्व समर्पण करनेको तयार थी। सोलहवीं सदीमें जिन मराठोंने अद्‌भुत कार्य कर दिखाये थे, उनमें सिन्दखेड़के देशमुख (अधिपति) जाधवराव बहुत प्रसिद्ध थे, वे यदुवंशी क्षत्रिय थे। सन् १५९७ ई०में उनकी कन्या जीजाबाईका जन्म हुआ। चौदहवीं सदीमें मेवाड़के राणाके एक वंशज सुजानसिंहने दक्षिणमें अपना किला बनवाया और वहीं रहने लगा। टाडने भी लिखा है कि नैपाल और सताराके राज्यसंस्थापक मेवाड़के राणाके ही वंशधर थे। सताराका राज्यकुल अपनेको भोसवन्त या भोसला कहता था। इस वंशमें मालोजी नामक एक सरदार बड़े वीर थे। सिन्दखेड़के राजा जाधवरावसे उनकी बहुत पटती थी। मालोजीके पुत्रका नाम शाहजी था। एक बार होलीका उत्सव हो रहा था, मालोजी सिन्दखेड़में ही थे। उन्होंने जाधवरावकी छोटी कन्याको देखकर कहा—'यह तो मेरी पुत्र-वधू होनेके योग्य है।' जाधवरावने शाहजीसे पूछा, उन्होंने जीजाके मुखपर अबीर छिड़क दिया, जीजाने भी शाहजीके ऊपर अबीर डाल दिया। उस समय दोनो अबोध थे। जब दोनो बड़े हुए, विवाह कर दिया गया।

समय बीतते देर नहीं लगती, धीरे-धीरे दोनो घरानोंमें वैमनस्य उठ खड़ा हुआ। जाधवराव मुगलोंके सहायक थे, शाहजहाँ दक्षिण-विजयकी तैयारी कर रहा था। गोलकुण्डा और बीजापुर राज्योंकी बढ़तीसे वह मन-ही-मन जलता था। शाहजी निजामकी ओर थे, जाधवराव मुगलोंके पक्षमें थे। एक बार शाहजी बड़ी विपत्तिमें पड़ गये थे। जाधवराव उनका पीछा कर रहे थे। शाहजीने अपने एक मित्रकी सहायतासे जीजाको शिवनेरके किलेमें सुरक्षित कर दिया और आप आगे बढ़ गये। उस समय जीजाका पाँव भारी था, उन्होंने शिवनेरमें पिताको देखकर कहा—'मैं आपकी दुश्मन हूँ, क्योंकि मेरा पति आपका वैरी है। दामादके बदले कन्या ही हाथ लगी है; जो कुछ करना चाहो, कर लो।' रावने कहा कि 'यदि तुम नैहर चलना चाहो तो ले चल सकता हूँ।' साध्वी जीजाबाई तो पातिव्रतकी प्रतिमूर्ति ही थी। उन्होंने तड़ककर कहा, 'आर्यनारीका धर्म है कि वह अपने पतिके आदेशके अनुसार काम करे।' जाधवराव अपना-सा मुँह लेकर चले गये। बादशाहने बादमें उन्हें मरवा डाला, क्योंकि उन्होंने राजद्रोह किया था। १० अप्रैल १६२७ ई०को शिवनेर-दुर्गमें जीजाबाईने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, हिंदू-राज्यके संस्थापक महाराज शिवाजीको जन्म दिया। जीजाने अपने इस पुत्ररत्नके साथ तीन साल इसी किलेमें बिताये। जीजा-

बाईने बड़ी दृढ़तासे कठिनाइयोंका सामना कर तथा अनेक प्रकारकी यातनाएँ झेलकर शिवाजीका लालन-पालन किया। शिवाजीकी शिक्षाके लिये उन्होंने कोई बात उठा न रक्खी। लिखना-पढ़ना, तीर चलाना, गोली मारना, पटा खेलना, घोड़ेपर चढ़ना जीजाने ही शिवाजीको सिखाया था।

वे आदर्श माता थीं। मावलियोंके छोटे-छोटे लड़कों-को बुलाकर पुरस्कार देती थीं, शिवाजीने उन लोगोंकी टोलियाँ बनाकर छोटे-मोटे गाँवोंपर माताके आदेशसे हमला भी करना आरम्भ कर दिया। माताके ही आशीर्वादका फल था कि बालक शिवाने बीजापुरके सुल्तानके नाकोंमें दम कर दिया। जीजाबाई तत्कालीन वातावरणका दूषित स्वरूप अच्छी तरह समझती थीं। वे शिवाजीको धर्मका गूढ़तत्त्व समझाती थीं, रामायण, महाभारत और राणा प्रतापकी वीर-गाथाएँ सुनाकर बालककी नसोंमें हिंदुत्वकी भावनाएँ भरती थीं। दादोजी कोंडदेव-ऐसे गुरुको नियुक्त कर उन्होंने शिवा-जीको आदर्श हिंदू-सन्तान बना दिया। वे अपने प्यारे पुत्र-से कहा करती थीं, अपनी व्यथाको सुनाया करती थीं, कि 'यदि तुम संसारमें आदर्श हिंदू बनकर रहना चाहते हो तो स्वराज्यकी स्थापना करो। देशसे यवनों और विधर्मियोंको निकालकर हिंदू-धर्मकी रक्षा करो।'

पतिकी मृत्युपर साध्वी जीजाने चिता जलाकर सती होना चाहा, लेकिन शिवाजीने आग्रह किया—'माता! विना तुम्हारे पवित्र आदेशोंके स्वराज्यकी स्थापना न हो सकेगी। धर्मपर विद्रोहियोंका आघात फिर आरम्भ हो जायगा।' राजमाताने पुत्रके अनुरोधका महत्त्व समझा।

शिवाजीने औरंगजेबकी कैदसे निकलकर माताका दर्शन सबसे पहले किया। उस समय वे संन्यासीके वेषमें थे।



फाटकपर खड़े होकर भिक्षा माँगी। माताने आवाज पहचान ली और उस हिंदू-नारीरत्नने कहा—'अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र स्वराज्य स्थापित करेगा। हिंदू-पद-पादशाही आनेमें अब कुछ भी विलम्ब नहीं है।'

महाराष्ट्रमें तथा भारतके एक बड़े भूभागमें स्वराज्यकी स्वतन्त्र पताका देखकर राजमाता जीजाने स्वर्गकी यात्रा की। वे स्वराज्यकी आदिदेवी थीं।—रा० श्री०

महाराष्ट्रकी वीराङ्गना—ताराबाई

वीराङ्गना ताराबाई महाराज शिवाजीकी पुत्र-वधू और राजारामकी पत्नी थी। महाराष्ट्रके इतिहासमें वह एक बहुत बड़ी शक्ति समझी गयी है और शिवाजीके देहावसानपर उसने ही स्वराज्यकी लड़ाईका नेतृत्व किया। इतिहासकी पुनरावृत्ति हो रही थी, सन् १६७४ ई०मे शिवाजीने राज्याभिषेक किया और हिंदू-पद-पादशाहीकी घोषणा की। शिवाजीकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ थीं, लेकिन १६८० ई० मे उनकी मृत्यु हो जानेसे उनमेंसे कुछ ही कार्यान्वित हो सकीं। शम्भाजीने राजकार्य सम्हाला। उसके बाद शाहू राजा हुआ, पर पकड़ा गया और औरंगजेबने उसे कैदमें डाल दिया। शिवाजीके द्वितीय पुत्र राजारामसे मुगल बहुत डरते थे, १७०० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। वीराङ्गना ताराबाईने इस विकट स्थितिमें वीरता और साहससे काम लिया; रामचन्द्र पन्त अमात्यकी सहायतासे उसने सारे महाराष्ट्रको देश, जाति और धर्मकी रक्षाके लिये शिवाजीकी पताकाके नीचे एकत्रित किया। औरंगजेबने १७०३ ई०में सिंहगढ़ किलेपर अधिकार

कर लिया और उसका नाम 'वकसिन्द वकसी' रक्खा।

ताराबाई अपने सेनापति शंकरनारायणकी सहायतासे मुगल राज्यमें दिन-दोपहर हमला करने लगी। वह महाराष्ट्रोंको ललकारती रहती थी—'यदि हम सावधानीसे विदेशियोंको राष्ट्र और धर्मपर आघात करनेसे नहीं रोकेंगे तो हिंदू-राज्यके सपने नहीं पूरे हो सकेंगे।' वह कहा करती थी—'विदेशियों और विधर्मियोंको देशसे बाहर निकाल देनेका समय आ गया है; यदि हिंदू इस स्वर्ण-अवसरपर चूक जायँगे तो उन्हें बहुत दिनोंतक पश्चात्ताप करना पड़ेगा।' इतिहासकार खफीखाँने इस वीराङ्गनाकी बड़ी प्रशंसा की है। वह लिखता है कि ताराबाई महाराष्ट्रके हृदयपर आधिपत्य स्थापित कर बड़े उत्साह और वीरतासे मुगल राज्यके प्रदेशोंपर छापा मारने लगी। सैनिक उसके वीर-वचन सुनकर मर-मिटनेके लिये तैयार हो जाते थे। हिंदू-राज्यकी नींव दृढ़ करना ही उसके सामने एक बहुत बड़ा काम था और उसीमें उसने अपना सारा जीवन खपा दिया। सन् १७०५ ई०में औरंगजेबने सिंहगढ़से घेरा उठाकर बीजापुरकी ओर कूच कर दिया। सिंहगढ़पर मराठोंका फिर अधिकार हो गया। शाहू मुगलोंका बंदी था। औरंगजेबने उसकी ओरसे सहायताके लिये कहला भेजा, परन्तु बुद्धिमती ताराबाई औरंगजेबकी धूर्तता और छल-नीतिसे परिचित थी। उसने महाराष्ट्रके सैनिकोंसे कहा, 'वीरो! यद्यपि शाहूका विवाह कर धूर्त आलमगीरने उसे मेरे ससुरकी तलवार दे दी है, फिर भी हमें शाहूकी सहायता कभी न करनी चाहिये। वह तो विभीषण है। वह जयचन्दकी तरह हिंदुस्थानको एक बार फिर यवनोंके हाथमें सौंप देगा। यदि देशवासी दुश्मनकी सहायता करते हों, हिंदुत्वको मिटानेकी योजना और कपटपूर्ण नीतिमें सहयोग देते हों, तो सारे देशको चाहिये उनसे असहयोग कर राजशक्ति अपने हाथमें ले ले। आज राष्ट्रके बनने-बिगड़नेका प्रसंग उपस्थित है। यवनों और देशद्रोहियोंने सदा हमारे साथ धोखा किया; उनसे सावधान रहना ही हमारे लिये हितकर है, विदेशियों और देशद्रोहियोंपर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता।' ताराके वीरतापूर्ण शब्दोंने महाराष्ट्रीय सैनिकोंके हृदयमें वीरता और उत्साह भर दिया, उन्होंने तलवार खींचकर



कहा—'माता, हमें वस्तुस्थितिका पूरा ज्ञान है। जबतक दम है, यवन महाराष्ट्रकी पवित्रताको नष्ट नहीं कर सकते; हम विधर्मियोंके दाँत खट्टे कर देंगे।' 'हर हर महादेव!' और ताराबाईके जयनादसे सारा-का-सारा वातावरण गूँज उठा।

ताराबाईने पूनापर अधिकार कर लिया। परन्तु उसके सहयोगी धनजीने विश्वासघात किया। वह देशद्रोही शाहूसे मिलकर इस वीराङ्गनाके विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगा। शाहूने ताराके सहायकोंको मरवाना आरम्भ किया, परन्तु ताराने साहससे काम लिया। उसका आशा-केन्द्र शंकरनारायण था। महाराष्ट्र सैनिकोंने शंकरनारायणके सेनापतित्वमें पुरन्दर किलेपर धावा बोल दिया। ताराबाईने किलेपर अधिकार कर लिया। उसके सैनिकोंमें केवल एक शक्ति काम कर रही थी और वह थी हिंदू-पद-पादशाही। सारा-का-सारा महाराष्ट्र ताराबाईकी निःस्वार्थ देश-सेवा और धर्म-प्रेमसे परिचित था। लोग जानते थे कि हिंदू-राज्यकी दृढ़ स्थापनाके लिये ही उसने सुख और राजमहलपर लात मार दी है।

सन् १७४९ ई०में ग्रहण समाप्त हो गया। शाहूकी मृत्यु हो गयी। बालाजी पेशवा पूनापर अधिकार कर राज-सत्ता हड़पनेकी योजना बना रहा था। ताराबाईको उसकी चालका पता लग गया, वह बालाजीको सदा दबाये रखना चाहती थी; क्योंकि उसे आशङ्का थी कि ऐसा न हो वह निजामसे सन्धि कर महाराष्ट्रकी राजसत्ता विनष्ट कर दे। शाहूके मरनेपर ताराका पौत्र रामराज गद्दीपर बैठा,

परन्तु पेशवा शाहूद्वारा दिये गये अपने अधिकार सुरक्षित रखना चाहता था । इधर ताराबाई सत्तर सालकी हो चुकी थी; उसका स्वामिभक्त सेनापति शंकरनारायण, जिसकी प्रतिज्ञा थी कि ताराबाईका साथ कभी न छोड़ूँगा, शाहूद्वारा धमकाये जानेपर जल-समाधि ले चुका था । ताराबाईने कहला भेजा कि 'मैं पतिकी समाधिका दर्शन करनेके लिये सिंहगढ़ जा रही हूँ, मुझे महाराष्ट्रकी नेत्रीके रूपमें प्रचार करनेकी चेष्टा और प्रयत्न कीजिये ।' पेशवाको यह बात अच्छी न लगी, वह तो सारे महाराष्ट्रको हड़पनेकी ताकमें था । पंत सचिवने अपने अधिकारोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी माँग की । और इससे ताराबाईके रुष्ट होनेपर उसने रामराजको कैद कर लिया ।

ताराबाई कोल्हापुर चली गयी और बालाजीको पराजित करनेकी योजना बनाने लगी । पेशवा डर गया । रामराज छोड़ दिया गया । ताराबाईने पूनापर अधिकार कर लिया । परन्तु बालाजी पुनः निजामकी सहायतासे पूनाका राजा बन बैठा ।

इस प्रकार ताराबाईका सारा-का-सारा जीवन हिंदू-पद-पादशाहीकी रक्षामें बीता । इतिहासकार खफीखांने लिखा है कि वह बड़ी बुद्धिमती, रणकुशल और कूटनीतिज्ञ थी । उसका राजप्रबन्ध और सैन्य-संचालनका तरीका अच्छा था ।

सचमुच वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी । —रा० श्री०

मलयबाई देसाई

महाराष्ट्रमें बल्लारी दुर्ग प्रसिद्ध है । जिस समय महाराज शिवाजी हिंदू-पद-पादशाहीकी स्थापनाके लिये औरंगजेबसे युद्ध कर रहे थे, उस समय बल्लारीका राजा एक क्षत्रिय था, जिसकी धर्मपरायणता और शान्तिप्रियताकी सराहना सुदूर राज्योंमें भी हो रही थी । राजाका देहान्त होनेपर शासनका भार राजमहिषी मलयबाईके कंधेपर आ पड़ा । उस क्षत्रिय-वीराङ्गनाने राज्यका प्रबन्ध बहुत अच्छा किया । वह हिंदू-हितके लिये रात-दिन मरने-जीनेको तैयार रहती थी । आदर्श हिंदू-विधवाकी तरह भागवत-गीता-रामायण आदि धर्म-ग्रन्थोंका पारायण करना उसके दैनिक जीवनका एक मुख्य अङ्ग था ।

विजय सम्पादन करते-करते महाराज शिवाजी बल्लारीके निकट आ पहुँचे । रानीने बिना संग्रामके अपनी स्वाधीनताको खो बैठना या पराजय स्वीकार कर लेना उचित नहीं समझा । यद्यपि वह अच्छी तरह समझती थी कि महाराज शिवाजी सारे देशमें एकच्छत्र हिंदूराज्यकी स्थापना कर विदेशियोंसे राजसत्ता छीन लेना चाहते हैं और उसे इस पुनीत काममें सहयोग देना चाहिये; फिर भी राजधर्मने उसे विवश किया कि वह रण करे, क्योंकि शिवाजीने उसके राज्यपर आक्रमण किया था । जिस नरकेशरीने दिल्लीका तख्त डगमगा दिया था, उसके सामने तलवार खींचकर रण करनेका वीर क्षत्राणीने व्रत लिया । सत्ताईस दिनोंतक लड़ाई होती रही, अन्तमें मराठोंने किलेपर अधिकार कर लिया और मलयबाई कैद कर ली गयी ।

शिवाजीने किलेमें दरबार किया, मलयबाईको शिवाजीने आदरसे निकटके आसनपर बैठाया । मलयबाईने कहा, 'महाराज ! आप इस देशके राजा हैं । मैं इस छोटे-से किलेकी रानी हूँ । मैंने अपनी शक्तिके अनुसार राजधर्मका पालन किया है । आप राजधर्म और क्षत्राणीके कर्तव्य जानते हैं । मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया, मैं आपसे किसी प्रकारका अनुग्रह नहीं चाहती हूँ ।'



महाराज शिवाजीने रानीकी भरे दरबारमें स्तुति करते हुए कहा, 'मा ! आप आदर्श राजपत्नी हैं; जबतक मेरी भुजाओंमें बल है और तलवार-भवानीकी कृपा है, किसीमें भी इतनी शक्ति नहीं है कि यह दुर्ग आपसे छीन ले । इस

पुत्रकी केवल यही कामना है कि आप मेरे अपराधको भूल जायँ और मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपनी मातृभूमिको विदेशियोंके हाथसे मुक्तकर स्वराज्यकी स्थापना करूँ।'

मलयवाईकी आँखोंमें पुत्रप्रेमकी गङ्गा-यमुना बहने लगी। उसने वीर हिंदू-सन्तानको मातृत्वशक्तिका अभय-दान दिया। —रा० श्री०

पतिव्रता ताईबाई

ताईबाई एक सती-साध्वी पतिव्रता स्त्री थी। पति कैसा भी क्यों न हो, पत्नीके प्रति उसका व्यवहार किसी तरहका भी क्यों न हो, भारतीय नारीका वह आराध्य और उपास्य देवता ही है। ताईबाई बड़ी वीर थीं, वह बम्बईके कन्हाड़ नामक प्रान्तमें एक तेलीके घर पैदा हुई थी। कन्हाड़-के राजा परशुराम पंतने ताईबाईके रूपसे मुग्ध होकर उससे विवाह कर लिया। ताई सुन्दरी होनेके साथ-ही-साथ गुणवती, बुद्धिमती और वीरहृदया थी।

परशुराम पंत अधिकार-मदसे अंधा होकर प्रजापर मनमाना अत्याचार करता था। वह सदैव भोग-विलासमें लिप्त रहकर प्रजाको उत्पीड़ित करनेमें ही अपनी राजसत्ताकी सार्थकता समझता था। साध्वी ताईको ये बातें कभी अच्छी नहीं लगती थीं। वह मीठे-मीठे वचनोंसे राजाको समझाती थी कि 'प्रजापालन ही राजधर्म है। यदि प्रजा दुखी है तो राजाको नरक भोगना पड़ता है। प्रजा ही राजाका बल है।'

आखिर अत्याचारका आरा तेजीसे चलता देखकर प्रजाने विद्रोह कर दिया। राजमाताने पेशवासे सहायताकी प्रार्थना की। बाजीराव पेशवाने परशुरामसे राज्य छीनकर राजमाताको दे दिया। सताराका राजा पेशवाका शत्रु था, इसलिये परशुरामने उसकी सहायतासे पेशवाके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी। परशुराम हार गया और मसूरगढ़के किलेमें बन्दी बनाकर उसे डाल दिया गया।

परशुराम पापी था, उसके अत्याचारकी कहानी चारों ओर फैल रही थी; फिर भी वह पतिव्रता ताईका पति था, प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा था। उस वीर रानीने पेशवाके विरुद्ध बहुत बड़ी सेना सुसज्जित की। उसने वीर सरदारोंसे कहा कि 'वीरो! तैयार हो जाओ; मेरी नसोंमें जबतक खून है तबतक किसका साहस है कि मेरे पतिको बन्दी कर सके। मेरी चमकती हुई तलवार शत्रुके खूनसे प्यास बुझायेगी।' ताईने राजमाताके हाथसे राज्याधिकार छीनकर अपने पतिको जेल-खानेसे मुक्त कर लिया। ताईने पेशवासे भी युद्ध मोल लेना चाहा; इसपर वह जल-भुन उठा, वीरवर गोखले ताईबाईको परास्त करनेके लिये विशाल सेना लेकर चल पड़ा। एक दिन अचानक किलेमें आग लग गयी। गोखले विजयी हुआ, वीरहृदया ताई पेशवाके सामने बन्दी बनाकर लायी गयी। पेशवाने उससे विद्रोह करनेका कारण पूछा। उस नारीने कहा कि 'आपने मेरे पतिको बन्दी बनाया था; इसलिये मैंने



वही किया, जो एक आदर्श आर्यनारीको करना चाहिये था।'

पेशवाने उसकी वीरताकी सराहना की और उसको मुक्त कर दिया, तथा एक बहुमूल्य जागीर भी दी।

ताईबाईकी पतिभक्तिने ही उसका नाम इतिहासमें अमर और अमिट कर दिया है। —रा० श्री०

स्त्रियोंका कर्तव्य

'.........स्त्रियोंके बाहरके कार्योंमें लगे रहनेसे काम नहीं चलेगा। हमारे देशकी प्रत्येक महिलाको गृहिणी और जननी बनना पड़ेगा।' —हर हिटलर

साध्वी सखूबाई

महाराष्ट्रमें कृष्णा नदीके किनारे कह्राड़ नामका एक गाँव है। वहींके एक ब्राह्मणकी पुत्रवधू सखूबाई थीं। इनके परिवारमें इनके पति और सास-ससुर—कुल चार प्राणी थे। सखूबाई अत्यन्त सरल, उदार और भगवद्भक्त थीं, पर इनकी सास अत्यन्त अधिक कर्कशा और कुटिला थीं। सासके पुत्र और पति भी ठीक उसी ढंगके थे।

सखूबाई सूर्यदेवके आगमनके पूर्वसे ही घरका काम शुरू कर देतीं और सबके सो जानेके बादतक भी काम करती ही रहतीं; इतनेपर भी उन्हें सासकी कोई सहानुभूति नहीं मिलती, वह सखूबाईको दिनमे चार-छः बार अवश्य ही गाली दे आती और लात-घूसे भी लगाती रहती। सखू अपने शीलवश सब सहती रहतीं। पतिके पास भी व्यथा-कथा कहकर मन हल्का करनेका सौभाग्य उनका नहीं था।

सखू कृष्णाके तटपर जल भरने गयी थीं। उन्होंने देखा, यात्रियोंका बृहत् समुदाय लाल-लाल पताकाएँ लिये बड़े प्रेम और उत्साहसे, पाँवमें घुँघुरू बाँधे, कीर्तन करता हुआ आषाढ़ सुदी एकादशीके उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये पण्ढरपुर जा रहा है। पण्ढरपुर महाराष्ट्रका प्रसिद्ध तीर्थ है। आषाढ़ सुदी एकादशीको वहाँ लाखों भक्तोंकी भीड़ एकत्र होती है। सखूबाई पण्ढरीनाथके दर्शनके लिये विकल हो गयी। वह भी संतोंके पीछे हो लीं।

पता पाते ही उनका पति दौड़ता हुआ कृष्णा-तटपर गया और सखूको बुरी तरह पीटता हुआ घर ले आया। गालियोंकी बौछार तो रास्तेभर अखण्डरूपसे पड़ रही थी। यात्रा अभी पंद्रह दिनोंतक होनेवाली थी। इस कारण, सखू कहीं चली न जाय, इस भयसे उसकी सासने सखूको कसकर खम्भेसे बाँध दिया। सखू रो रही थी। पर उसके पति, सास या ससुरको तनिक भी दया नहीं आयी। पण्ढरीनाथके दर्शनके लिये सखू रो-रोकर मन-ही-मन प्रार्थना करने लगी।

भगवान् रुक्मिणीको छोड़कर घबराये हुए सखूकी एक पड़ोसिनके रूपमें उसके सामने आ गये और बोले—'तू! पण्ढरपुर चली जा, तेरे स्थानपर मैं बँध जाती हूँ।' सखू कुछ बोल भी नहीं पायी कि उसकी पड़ोसिन-वेषधारी भगवान्‌ने उसका बन्धन खोल दिया। पड़ोसिनका आभार



मानती हुई सखू यात्रियोंके साथ पण्ढरपुर चली गयी।

नकली सखूके खम्भेसे बँधे और खाये-पीये बिना पंद्रह दिन बीत गये। उनका शरीर सूखकर पीला पड़ गया था, पर उनकी सासके मनमें करुणा सञ्चरित नहीं हो सकी। 'कहीं मर गयी तो फिर विवाह होना सम्भव नहीं है' इस भय और स्वार्थसे उसके पतिने बन्धन खोल दिया।

सखू वेषधारी भगवान् सुशीला वधूकी तरह पतिकी सेवा करने लगे। उस दिनका भोजन करके सास भी प्रसन्न हो गयी और अपनी वधूकी प्रशंसा करने लगी। पानी लाना, घरमें झाड़ू देना, कूटना-पीसना, भोजन बनाना और सास तथा पतिके चरण दबाना—यह सारा काम भगवान् करने लगे। भक्तिमती सखूके प्रेमके प्रभावसे भगवान् उन दुष्टोंकी भी सेवा करते थे। भगवान्‌की दयालुता कितनी असीम है, इसके लिये यह सुन्दर प्रमाण है। सखूके परिवारकी मनोवृत्ति बदल गयी। सब उसे प्यार करने लगे।

उधर सखू पण्ढरपुर पहुँचकर आनन्दमें डूब गयी। भगवान्‌का उत्सव देखकर वह धन्य हो गयी। भगवान्‌के अनुपम सौन्दर्यको देखकर वह प्रेमातिरेकसे पाण्डुरङ्गके ध्यानमें संलग्न हो गयी। उसे समाधि हो गयी। अन्तमें अष्ट सात्त्विक भावोंमें अन्तिम भावका उदय हो गया, जिससे सखूके प्राण-पंछी शरीरसे बाहर निकल पड़े। कलेवर अचेतन होकर जमीनपर गिर पड़ा।

दैवयोगसे कऱ्हाड़के निकटवर्ती किवल ग्रामका एक ब्राह्मण, जो यात्रा करने आया था, उधर आ निकला। उसने सखूको पहचान लिया और अपने सब साथियोंको बुलाकर सखूकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी।

इधर भगवती रुक्मिणीजी घबरायीं कि 'यह तो खूब रही। उधर स्वामी सखू बनकर उसके परिवारकी सेवा कर रहे हैं। मैं तो बुरी तरह फँसी।' तुरंत आकर उन्होंने सखूकी अस्थियाँ एकत्रकर उसे जीवित कर दिया। सखूको मालूम हुआ, जैसे वह सोकर उठ रही है।

'पुत्री! मैं जानती हूँ कि तू उस देहसे अपने घर नहीं जाना चाहती थी; पर तेरी वह देह तो जलायी जा चुकी है। यह दूसरा शरीर है। तू घर लौट जा, तेरा कल्याण होगा।'—रुक्मिणीजीने कहा।

'जैसी आज्ञा' कहकर सखू कऱ्हाड़के लिये चल पड़ी। कृष्णाके तटपर ही उसके पड़ोसिन वेषधारी भगवान् मिले। सखूने उससे बड़ी विनयसे कहा—'बहिन! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया।'

'कष्टकी क्या बात है' कहकर भगवान्ने सखूको कलसी पकड़ा दी। सखू जल लेकर घर आयी और पूर्ववत् सारा काम करने लगी। परिवारके बदले हुए स्वभावको देखकर वह मन-ही-मन चकित हो रही थी।

'तुम्हारी पुत्रवधूकी मृत्यु हो गयी,' पण्ढरपुरसे लौटे हुए ब्राह्मणने सखूके श्वशुरको एकान्तमें बुलाकर कहा।'

'अरे, यह क्या कहते हो? मेरी पुत्रवधू तो कहीं गयी ही नहीं, वह तो यहीं है।' सखूके श्वशुर एक साँसमें कह गये। और ब्राह्मणको लाकर सखूको दिखा दिया।

उधर ब्राह्मणके साथ लौटे हुए लोग भी सखूकी अन्त्येष्टिका समाचार कह गये थे।

सासके प्रेमपूर्वक पूछनेपर सखूने कहा—'मैं पण्ढरपुर गयी थी। वहाँ रुक्मिणीजीने कहा था—तेरा शरीर जलाया जा चुका है, यह दूसरी देह है। तू घर जा। पर मुझे कुछ पता नहीं; मैं इतना ही जानती हूँ कि मैं एक दिन मूर्च्छित हो गयी थी।'

'पर यहाँ तू प्रतिदिन सारा काम करती थी। तेरे पतिने अपने ही हाथों पंद्रहवें दिन तेरा बन्धन खोला था—' सासने कहा। उनके पूछनेपर सखूके पतिने भी कहा—'पंद्रहवें दिन बन्धन मैंने ही खोला था। तबतक तू यहीं बँधी थी।'

सखू रोने लगी। 'मेरे लिये पाण्डुरङ्गने मेरे बदले छोटा-सा काम भी किया। आपलोगोंका बड़ा सौभाग्य है, जो मेरे स्वामीका दर्शन मिला'—रोते रोते सखूने कहा।

साध्वी सखूके पातिव्रत्य, त्याग, शील और प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे उसके कुटिल सास-ससुर और पतिका भी उद्धार हो गया। वे भगवत्प्रेममें भजनमें लग गये।—शि० दु०

सती बहिणाबाई

दक्षिणमें देवनद नामक एक छोटी-सी नदी बहती है। वहाँ एक पवित्र तीर्थ भी है। उसी तीर्थके पास देवगाँव नामक ग्राममें आऊजी कुलकर्णी नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम जानकी था। इन्हीं देवीके गर्भसे बहिणाबाईका जन्म हुआ था।

कुछ दिनोंके बाद आऊजी अपने दामाद, पत्नी एवं पुत्रीके साथ तीर्थयात्रा करने निकले। घूमते-घामते दो वर्षके पश्चात् ये लोग करवीर क्षेत्रमें आ गये। वहाँ शास्त्रमर्मज्ञ एक अग्निहोत्री ब्राह्मणने इन लोगोंको रख लिया। इस गाँवमें श्रीलक्ष्मीजीका मन्दिर है और यह क्षेत्र दक्षिण काशीके नामसे प्रसिद्ध है। उन दिनों वहाँ श्रीजयराम गोस्वामीजीका कीर्तन भी होता था। ऐसे पुनीत सुखदायक सत्संगमें इन लोगोंका मन रम गया।

'यह गाय और बछड़ा आपलोग ले लें'—गायकी पगहिया आऊजीके हाथमें थमाते हुए अग्निहोत्रीने कहा। यह गाय उसे यजमानोंसे मिली थी; पर रात्रिमें स्वप्न हुआ था कि 'सवत्सा गाय अतिथिको भेंट कर दो।'

बछड़ेसहित गायको पाकर बहिणा बड़ी प्रसन्न हुई। वह बड़े प्रेमसे गायकी सेवा करने लगी। प्रेमपूर्ण सेवासे गाय और बछड़े दोनों बहिणाके सगे सम्बन्धी हो गये थे। बछड़ा हरदम बहिणाके साथ लगा रहता। बहिणा जहाँ कहीं जाती, उसके साथ बछड़ा अवश्य होता। कीर्तनमें बछड़ा साथ रहता। बहिणाके नमस्कार करनेपर बछड़ा भी मस्तक पृथ्वीपर टेक देता, गाय भी बहिणाके बाहर जाते रँभाने लगती। बहिणाके ही हाथों घास और पानी ग्रहण करती। गाय बछड़ेको देखकर लोग कहते कि ये दोनों योगभ्रष्ट महापुरुष हैं।

एक दिन मोरोपन्त नामक सज्जनके यहाँ श्रीगोस्वामी जयरामजीका कीर्तन हो रहा था। बहिणाके साथ वहाँ बछड़ा भी बैठा था। उस दिन बहिणा और बछड़ेका मन कीर्तनमें इतना लगा कि दोनोंको अपने तनकी सुधि नहीं

रही। अन्य कीर्तनकारियोंको भी बहुत आनन्द आया।

दूसरे दिन ही बहिणाकी प्रशंसा सुनकर उसका पति जल उठा। उसे सन्देह हुआ और उसने उस दिन बहिणाको बहुत मार मारी और रस्सीसे बाँध दिया। गाय-बछड़े बहिणाको पिटते देखकर मृतप्राय हो रहे थे। उन्होंने घास-पानीकी ओर मुँह भी नहीं उठाया। तब बहिणाका बन्धन खोल दिया गया। बहिणा घास-पानी लेकर गाय-बछड़ेके पास गयी, परंतु उन दोनोंने कुछ नहीं खाया। यह देखकर बहिणा भी भूखी रातभर उन्हींके पास सो रही।

उस दिन बड़े दुःखसे बहिणाने प्रार्थना की थी—'प्रभो! स्त्रीकी गति पति है, पर मेरे पतिदेव मुझपर असन्तुष्ट हैं। मैं बड़ी पापीयसी हूँ। आप ही मेरी रक्षा करें।' प्रार्थना करते-करते उसे नींद आ गयी थी।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।

—दूसरे दिन अकस्मात् श्रीअग्निहोत्रीजीके मुँहसे निकल पड़ा। और तुरंत बछड़ेके मुँहसे—

'यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।'

—द्वारा श्लोककी पूर्ति हुई। बछड़ा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके प्राणपखेरू उड़ गये।

घर आनेपर लोगोंने देखा कि बहिणा मूर्च्छित पड़ी है। बहुत उपचार किया गया, पर उसे कोई लाभ नहीं हुआ। अचेतन अवस्थामें उसे ऐसा लगा जैसे कोई वृद्ध ब्राह्मण कह रहे थे कि 'उठो! भगवच्चिन्तन करो।' बहिणाने आँख खोलकर देखा, दीपकज्योति झिलमिला रही थी। उसने आँखें बंद कीं तो प्रत्यक्ष भगवान् पाण्डुरंगके दर्शन हो गये। वह योग्य गुरुके लिये छटपटा रही थी। आकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर उसे दर्शन देते हुए श्रीतुकारामजीने कहा—'मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। तू चिन्ता न कर।' बहिणा उठकर बैठ गयी। बहिणाकी चारों ओर प्रशंसा होने लगी।

यह सब देखकर उसके पतिके मनमें पुनः रोष हुआ। 'मैं तुमसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। तू अपने पिताके साथ चली जा।' क्रोधके साथ पतिने डाँटा। बहिणा सिसकने लगी। भगवान्से प्रार्थनाके अतिरिक्त उसके पास और किसीका भरोसा नहीं था। पतिकी बुद्धि ठीक करनेके लिये वह प्रभुसे निवेदन करती रही।

बहिणाका पति सहसा बीमार पड़ा। वह किसीकी बात भी नहीं मानता था, केवल बहिणा रात-दिन उसकी सेवा किया करती थी। उसके शरीरमें ज्वाला और वेदना असह्य हो रही थी। किसी उपचारसे उसे कोई लाभ नहीं हुआ। एक मासतक अन्न-जल उसके मुँहमें नहीं गया। एक दिन उसने सोचा 'शायद कीर्तनादिकी शिकायत करनेसे मुझे यह कष्ट मिला हो।' इस विचारसे उसने प्रार्थना की—'प्रभो! यदि बहिणाको डाँटने



और भजनादिका अपमान करनेके कारण मेरी यह दशा हुई हो, तो मैं अब भविष्यमें कभी भी ऐसा अपराध नहीं करूँगा।'

भगवान् पाण्डुरंगने वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें स्वप्नमें कहा—'तेरी पत्नी साध्वी है। तू उसे पाकर भाग्यवान् हो गया है। तू भी उसीकी तरह क्यों नहीं बन जाता?' बहिणाके पतिकी आँख खुल गयी। उसी क्षण उसने प्रतिज्ञा की कि 'अब मैं बहिणाको कभी भी नहीं सताऊँगा और उसके धार्मिक कृत्य एवं भगवद्भजनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डालूँगा।'

तदनन्तर वे लोग तुकारामजीके दर्शनार्थ देहूगाँव गये। वहाँ श्रीतुकारामजीको बहिणाने ठीक वैसा ही देखा, जैसे स्वप्नमें देखा था। उसके आनन्दका कोई पार नहीं रहा। वहाँ कोंडाजी नामक ब्राह्मणके घर उन लोगोंके रहने आदिकी व्यवस्था हो गयी।

बहिणाबाई परम सुखी हो गयी थी। उसे प्रतिदिन संत-चरणके दर्शन एवं भगवत्कीर्तन तथा कथा-श्रवण करनेको मिल जाता था। यही उसकी निधि थी।

बहिणा परम भगवद्भक्त थी, परम साध्वी थी, दिव्य-

गुण-सम्पन्न थी। पति, गुरु और भगवान्में किसी प्रकारका अन्तर समझे बिना वह सबकी सेवा करती थी। उसकी भगवद्भक्तिका आधार भी उसकी पतिसेवा थी। पातिव्रत्यके प्रभावसे उसने अपने साथ अपने पतिदेवको भी इस कल्मष-पूर्ण जगत्से मुक्ति दिलाकर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ सुख-शान्तिका अनन्त स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहता है।—शि० दु०

परमयोगिनी मुक्ताबाई

जो लोहेको सोना कर दे, वह पारस है कच्चा।
जो लोहेको पारस कर दे, वह पारस है सच्चा॥

महाराष्ट्रमें समर्थ रामदास स्वामी, श्रीएकनाथजी, नामदेवजी ऐसे ही संतोंमें हो गये हैं। एक परिवार-का-परिवार वहाँ संतोंकी सर्वश्रेष्ठ गणनामें है और वह परिवार है श्रीनिवृत्तिनाथजीका। निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और इनकी छोटी बहिन मुक्ताबाई—सब-के-सब जन्मसे सिद्ध-योगी, परमज्ञानी, परमविरक्त एवं सच्चे भगवद्भक्त। जन्मसे ही सब महापुरुष। आजन्मब्रह्मचारी रहकर जीवोंके उद्धारके लिये ही दिव्यजगत्से इस मूर्ति-चतुष्टयका धरापर आविर्भाव हुआ था।

'नाम और रूपकी पृथक्-पृथक् कल्पना मिथ्या है। सब नाम विठ्ठलके ही नाम हैं। सब रूप उसी पण्ढरपुरमें कमर-पर हाथ रखकर ईंटपर खड़े रहनेवाले खिलाड़ीने रख छोड़े हैं। उन पाण्डुरंगके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' बड़े भाई निवृत्तिनाथ ही सबके गुरु थे। उन्होंने ही छोटे भाइयों और बहिनको यह उपदेश दिया था।

'विठोवा बड़े अच्छे हैं।' बारह वर्षकी बालिका मुक्ताबाई कभी-कभी बड़ी प्रसन्न होती। किसी सुन्दर पुष्पको लेकर वह तन्मय हो जाती। 'इतना मृदुल, इतना सुरभित, इतना सुन्दर रूप बनाया है उन्होंने।' अपने अष्टादशवर्षीय बड़े भाईके उपदेशको हृदयसे उसने ग्रहण कर लिया था।'

'बड़े नटखट हैं पाण्डुरंग।' कभी वह झल्ला उठती, जब हाथोंमें काँटा चुभ जाता। 'काँटा, कङ्कड़, पत्थर—जाने इन रूपोंके धारणमें उन्हें क्यों आनन्द आता है! अपने हाथोंके दर्दपर उसका ध्यान कम ही जाता था।

'छि, छि, विठोवा बड़े गंदे हैं।' एक दिन उसने अपने बड़े भाईको दिखाया। 'दादा! देखो न, इस गंदी नालीमें कीड़े बने किलबिला रहे हैं! राम! राम!' उसके दादाने उसे डाँट दिया। यह डाँटना व्यर्थ था। उस शुद्ध हृदयमें मनन चल रहा था। पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम—सबमें एक व्यापक सर्वेशको देखनेकी साधना थी यह।

× × ×

'दादा! आज दीपावली है। ज्ञान और सोपान दादा भिक्षामें सभी कुछ ले आये हैं। क्या बनाऊँ?' भिक्षामें आटा, दाल, बेसन, घी, शाक देखकर बालिका अत्यन्त प्रसन्न हो गयी थी। अपने बड़े भाईकी वह कुछ सेवा कर सके, इससे बड़ा आनन्द उसने दूसरा कभी समझा ही नहीं।

'मेरा मन चील्हा खानेका होता है!' निवृत्तिनाथने साधारण भावसे कह दिया।

'नमकीन भी बनाऊँगी और मीठे भी।' बड़ी प्रसन्नतासे उछलती-कूदती वह चली गयी। परन्तु घरमें तवा तो है ही नहीं। बर्तन तो विसोबा चाटीने कल रात्रिमें सब चोरी करा दिये। बिना तवेके चील्हे किस प्रकार बनेंगे। जल्दीसे मिट्टीका तवा लाने वह कुम्हारोंके घरकी ओर चल पड़ी। मार्गमें ही विसोबासे भेंट हो गयी। ईर्ष्यालु ब्राह्मणके पूछनेपर मुक्ताबाईने ठीक-ठीक बता दिया।

'माँगेंगे भीख और जीभ इतनी चलती है।' विसोबा साथ लग गया। उसने कुम्हारोंको मना कर दिया 'जो इस संन्यासीकी लड़कीको तवा देगा, उसे मैं जातिसे बाहर करा दूँगा।'

विवश होकर मुक्ताबाईको लौटना पड़ा। उनका मुख उदास हो रहा था। घर पहुँचते ही ज्ञानेश्वरने पूछा उसकी उदासीका कारण। बालिकाने सारा हाल सुना दिया।

'पगली, रोती क्यों है। तुझे चील्हे बनाने हैं या तवेका अचार डालना है।' बहिनको समझाकर ज्ञानेश्वर नंगी पीठ करके बैठ गये। उन योगिराजने प्राणोंका संयम करके अग्निकी भावना की शरीरमें। पीठ तप्त तवेकी भाँति लाल हो गयी। 'ले; जितने चील्हे सेंकने हों, इसपर सेंक ले।'

मुक्ताबाई स्वयं परमयोगिनी थीं। भाइयोंकी शक्ति उनसे अविदित नहीं थी। उन्होंने बहुत-से मीठे और नमकीन चील्हे बना लिये। 'दादा! अपने तवेको अब शीतल कर लो!' सब बनाकर उन्होंने भाईसे कहा। ज्ञानेश्वरने अग्निधारणका उपसंहार किया।

'मुक्तिने निर्मित किये और ज्ञानकी अग्निमें सेंके गये! चील्होंके स्वादका क्या पूछना।' निवृत्तिनाथ भोजन करते हुए भोजनकी प्रशंसा कर रहे थे। इतनेमें एक बड़ा-सा काला कुत्ता आया और अवशेष चील्हे मुखमें भरकर भागने लगा। तीनों भाई साथ ही बैठे थे। उनका भोजन प्रायः समाप्त हो

चुका था। निवृत्तिनाथने कहा—'मुक्ता! मार जल्दीसे कुत्तेको! सब चील्हे ले जायगा तो तू ही भूखी रहेगी!'

'मारूँ किसे? विठ्ठल ही तो कुत्ता भी बन गये हैं!' मुक्ताबाईने बड़ी निश्चिन्ततासे कहा। उन्होंने कुत्तेकी ओर देखा तक नहीं।



तीनो भाई हँस पड़े। ज्ञानेश्वरने पूछा—'कुत्ता तो विठ्ठल बन गये हैं और विसोब चाटी?'

'वे भी विठ्ठल ही हैं!' मुक्ताका स्वर ज्यों-का-त्यों था।

विसोबा चाटी मुक्ताके साथ ही कुम्हारके घरसे पीछा करता आया था। वह देखना चाहता था कि तवा न मिलनेपर ये सब क्या करते हैं। ज्ञानेश्वरकी पीठपर चील्हे बनते देख उसे बड़ी जलन हुई। जाकर कुत्तेको वही पकड़ ले आया था। मुक्ताके शब्दने उसके हृदयपर बाणकी भाँति आघात किया। वहाँसे निकलकर सीधे वह मुक्ताबाईके पैरोंपर गिरा—'मैं महा-अधम हूँ। मैंने आपलोगोको कष्ट देनेमें कुछ भी उठा नही रक्खा है। आप दयामय हैं, साक्षात् विठ्ठलके स्वरूप है आपलोग। मुझ पामरको क्षमा करे। मेरा उद्धार करें! मुझे अपने चरणोमे स्थान दे।'

कई दिनोंतक विसोबाने बड़ा आग्रह किया। उसके पश्चात्ताप एवं हठको देखकर निवृत्तिनाथने आदेश दिया। मुक्ताबाईने उसे दीक्षा दी। मुक्ताबाईकी कृपासे विसोबा चाटी-जैसा ईर्ष्यालु ब्राह्मण प्रसिद्ध महात्मा विसोबा खेचर हो गया। उसने योगके द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त की। महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध महात्मा नामदेवजी इन्हीं विसोबा खेचरके शिष्य हुए हैं। —सु० सिं०

जनाबाई

भक्तप्रवर श्रीनामदेवजीका नाम प्रसिद्ध है। जनाबाई उन्हींके यहाँ नौकरानीका काम करती थी। श्रीनामदेवजीके सम्पर्कमे आकर वह भक्त बन गयी थी। वह कोई भी काम करती भगवन्नामका कीर्तन किया करती। वह साध्वी थी। काम करना था उसे भगवद्भक्त-भवनका। सारी क्रियाओंसे उससे भगवत्सेवा स्वयं होती जाती थी।

एकादशीकी रात्रिमे श्रीनामदेवजीके घर अखण्ड कीर्तन होता। अंशुमालीके क्षितिजपर पहुँचते ही जनाबाई वहाँ आ जाती और एक कोनेमे बैठी हुई रातभर कीर्तन करती रहती। उसकी आँखोसे प्रेमाश्रु बहते रहते।

एक बारकी बात है। एकादशीकी रातभर कीर्तन कर लेनेके बाद वह अपने घर गयी। भगवान्के ध्यानमे बैठे-बैठे उसे दो घड़ी दिन चढ़ आया। वह स्वामीके गृहकी सेवामे विलम्ब होनेसे घबराती हुई नामदेवजीके घर पहुँची। काम कितने पड़े थे। जल्दी-जल्दी कपड़े लेकर नदी-किनारे गयी। वस्त्र पानीमे डुबा भी नहीं पायी थी कि श्रीनामदेवजीके दूसरे आवश्यक कामकी याद आ गयी। कपड़ा छोड़कर वह भागती श्रीनामदेवजीके घरकी ओर चली।

'कहाँ जा रही हो, बेटी?' एक बुढ़ियाने उसका आँचल पकड़कर माताकी तरह प्रेमभरे शब्दोमे कहा।

'आज मुझे देर हो गयी है। महात्माकी सेवा बाकी है।' कहती हुई जना जल्दीसे बुढ़ियासे आँचल छुड़ा भागी।

'चिन्ता न कर, बेटी! कपड़े मै साफ कर देती हूँ'—बुढ़ियाने अत्यन्त स्नेहसने स्वरोमे कहा।

जनाबाई श्रीनामदेवजीके घर तो गयी, पर जाने क्यो बार-बार उसका मन बुढ़ियाकी याद कर लेता था। स्नेहमयी जननीकी भाँति दुर्लभ स्नेह उसे जीवनमे पहली बार मिला था।

श्रीनामदेवजीका आवश्यक काम समाप्त करके जना नदी-तटपर आयी तो देखा वृद्धाने सारे वस्त्र अत्यन्त उज्ज्वल कर

दिये हैं। उसे पता नहीं था कि इस वृद्धाने इस वस्त्रके पहनने-वाले एवं धोनेवालोंका तन-मन भी निर्मल कर दिया है।

'बड़ा कष्ट उठाया आपने! मैं आपका आभार मानती हूँ'—जनाबाईने वृद्धासे विनयभरे स्वरोंमें कहा।

'इसमें आभारकी कौन बात है, बेटी!' कहती हुई वृद्धा वहाँसे चल पड़ी।

'कभी आवश्यकता पड़ी तो मैं भी वृद्धाकी सेवा करूँगी'—इस विचारसे तुरंत वृद्धाका परिचय प्राप्त करनेके लिये जना वृद्धाको ढूँढ़नेके लिये दौड़ पड़ी, पर वृद्धाको कहीं न पाकर वह निराश होकर लौट आयी।

सारी बात जनाने श्रीनामदेवजीको बता दी। 'जना! तू बड़ी भाग्यशालिनी है। वह वृद्धा तो स्वयं भगवान् थे,' श्रीनामदेवजी भगवान्की भक्तवत्सलताकी प्रशंसा करते हुए बोले।

जना प्रेमसे रोने लगी। भगवान्के अपने लिये कष्ट उठानेकी बात सोचकर उसका हृदय टूक-टूक हो जाता था।

—शि० दु०

सहजो और दया

ये दोनों चरणदासकी शिष्या थीं। इनका निश्चित समय नहीं मिलता। इन दोनोंका क्रमबद्ध जीवन-चरित्र भी अबतक कहींसे प्राप्त नहीं हो सका है। ये दोनों बहिनें 'शब्दमार्गी' थीं। सहजो प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप थी और दया वैराग्यकी जीवित प्रतिमा थी। अन्य संतोंकी भाँति इन देवियोंकी वाणियाँ भी सांसारिक मनुष्योंके शुभ-पथका प्रदर्शन करती हैं। स्मरणके लिये दोनोंके दो-दो दोहे यहाँ अङ्कित किये जाते हैं—

सीस नवै तो तुमहिं कूँ, तुमहिं सूँ भाखूँ दीन। जो झगरूँ तो तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन॥
निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधार के धार। मेरे तुम ही नाथ! इक जीवन-प्रान-अधार॥ —दया
प्रेम दिवाने जे भए, कहें बहकते बैन। सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥
प्रेम दिवाने जे भए, सहजो डिगमिग देह। पाँव पड़े कित को कितै, हरि सँभाउ तब लेह॥ —सहजो

—शि० दु०

चारणी नागल और मीणरु

(सती-शापका परिणाम)

(लेखक—पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री, 'साहित्यालङ्कार')

काहू सुमति कि खल सँग जामी।
सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी॥

—श्रीतुलसीदासजी

विक्रमाब्द १४४१ की बात है। तब जूनागढ़ हिंदुओंके हाथमें था। उसके दुर्गपर त्रिशूलचिह्नित हिंदू-ध्वज फहरा रहा था। वहाँपर हिंदू-वंशके अन्तिम नरेश राव माण्डलीक राज्य कर रहे थे।

मोणिया जूनागढ़से दक्षिणकी ओर दस मील दूर गिरनारके एक कोनेमें पड़ता है। राव माण्डलीक अपने चपल तुरङ्गपर चढ़कर उसी ओर भागे जा रहे थे। उनकी सद्-सत् एवं धर्माधर्मविवेककी शक्ति लुप्त हो गयी थी, फिर भी वे बीच-बीचमें अश्व रोककर ठिठक जाते थे। एक बार उनका कलेजा धड़क जाता था!

वे नागार्जुनकी जननी सती नागबाईको भलीभाँति जानते थे। वे एक नहीं, अनेक बार उसकी देहरीपर जा चुके हैं और श्रद्धावनत उसकी चरण-धूलि भी माथेपर चढ़ा चुके हैं। वे यह भी जानते थे कि उसके मैके दात्राणा एवं ससुराल मोणियाके लोग उसे 'देवी' कहते हैं और सचमुच उसमें वैसी ही विलक्षण शक्ति एवं दैवी गुण भी हैं। वचन-सिद्धि भी उसके पास है। पितृगृहमें जब वह अल्पवयस्का बालिका थी, तभी उसका चमत्कार देखनेमें आया था। नृशंस यवनोंने उसके पिताकी गाय चुरा ली थी। उसने अपनी दिव्य शक्तिसे उसे लौटा लिया और उसके कर-स्पर्शसे ही गायकी मृत देहमें जीवन संचरित हो गया था।

युवावस्थामें नागार्जुनको जन्म देनेके बाद ही वह विधवा हो गयी। प्राणप्रिय पुत्र नागार्जुनके पालन-पोषण एवं

संरक्षणके लिये ही उसने सती होनेका विचार त्याग दिया था।

'अपना परम सौभाग्य ! दूत समाचार लाया है कि सौराष्ट्रके 'रा' महाराज अपने यहाँ पदार्पण कर रहे हैं। बेटी ! अपनेसे हो सके, उतना सत्कार महाराजका करना चाहिये।' नागबाईने अपनी पुत्रवधूको आदेश दिया। सौराष्ट्र (जूनागढ़) नरेश उस समय 'रा' पदसे भूषित होते थे और उस समय गद्दीपर अन्तिम 'रा' माण्डलीक थे। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी कि महाराज चारणके घर पधार रहे थे। 'रा' नवघन एवं 'रा' खंगारका वंश सदासे शूर एवं प्रजावत्सल रहा है। चारण जाति परम पूज्य एवं देवांश-सम्भूत मानी जाती रही है। चारणियाँ साक्षात् योगमायाका स्वरूप मानी जाती थीं। 'रा' यदि चारणियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ नागबाईसे आशीर्वाद प्राप्त करने आ रहे थे तो स्वाभाविक ही था।

चारण जाति पूज्य तो मानी ही जाती थी; वह अत्यन्त शूर, समरकुशल होती थी। चारण स्त्रियाँ पुरुषोंके समान ही शस्त्रकलामें निपुण होती थीं और युद्धमें अच्छे प्रख्यात शूर उनका लोहा मानते थे। उनकी राज्यमें सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी। नरेशका आगमन सुनकर चारणियोंने गीत गाना प्रारम्भ किया। स्थान सुसज्जित हुआ। स्वागतका आयोजन हुआ। जूनागढ़से बीस मील दूर पवित्र गिरनारकी छायामें आज 'रा' पधार रहे थे।

नागबाईने द्वारपर 'रा' का स्वर्णपुष्पोंसे अभिनन्दन किया। उनपर न्योछावर किया। उनके भालपर तिलक किया। भवनके जिस स्थानपर 'रा' के बैठनेके लिये गद्दी-तकिया लगा था, वहाँसे द्वारदेशतक पाटाम्बर पड़ा था। उसपर होकर नरेश नागबाईके साथ बैठनेके स्थानतक गये और वहाँ आसीन हो गये। 'रा' माण्डलीक धार्मिक पुरुष थे। वे सीधे गङ्गाजल मँगाते थे और उसीसे नित्य स्नान करते थे। उनके एक परिचितको रक्तपित्तका रोग हो गया था। नरेशके पवित्र स्पर्शमात्रसे वह मनुष्य स्वस्थ हो गया। ऐसे नरेशके मनमें कोई दुर्भावना होगी, यह कोई अनुमान नहीं कर सकता था। पर—'को न कुसंगति पाइ नसाई।'

'रा' माण्डलीककी परिषद्में कुछ दुष्टस्वभाव पुरुष थे। उन्होंने बार-बार नागबाईकी पुत्रवधू मीणल देवीके रूपकी प्रशंसा की। अनेक बार मित्रोंसे परिहासपूर्वक एक नारीका वर्णन सुनते-सुनते 'रा' का हृदय कलुषित हो गया। वे यहाँ आज नागबाईकी पुत्रवधू मीणलका सौन्दर्य देखने आये थे !!

वे बड़ी उलझनमें पड़ गये थे। बुरी भावनाको लेकर मीणल देवीके यहाँ आये थे और वह सजा-सजाया थाल लिये बहिनकी तरह भ्रातृ-पूजाके लिये उद्यत थी। नरेशकी बुद्धि कुछ काम नहीं कर रही थी।

नरेश स्त्रियोंसे घिरे पूर्वाभिमुख बैठे थे। मङ्गल-गीत गाये जा रहे थे। पवित्रहृदया मीणलने रोलीका तिलक लगानेके लिये हाथ उठाया ही था कि राव माण्डलीक उत्तराभिमुख हो गये। 'चन्द्रबलके कारण आज पूर्वाभिमुख पूजा शुभ नहीं होगी, इस कारण नरेश उत्तराभिमुख हो गये हैं' अपनी अल्पज्ञताका अनुभव करके लज्जिता मीणलने तिलकके लिये पुनः हाथ उठाया तो नरेशने पश्चिमकी ओर मुँह फेर लिया।

उसीको सम्मुख समझकर बेचारी मीणल पश्चिमकी ओर गयी। राजाने उसे कटाक्षपूर्वक देखा और दक्षिणकी ओर मुख करके बैठ गये !!

'मा ! राजा तो फिर रहा है।' नरेशको कटाक्षसे अपनी ओर देखते देख साध्वी मीणल मुड़ पड़ी। उसने साससे कहा। 'बेटी ! राजा नहीं फिर रहा है। उसका दिन फिर रहा है, जो योगमायाके समान चारणियोंपर कुदृष्टि डाले, वह राजा नहीं रह सकता।' नागबाईने राजाकी कुदृष्टि देख ली थी।

'रा' माण्डलीककी दुष्ट मनोवृत्तिने सती नागबाईके हृदयमें क्षोभ पैदा कर दिया। वे गरजकर बोलीं—

गंगा जळ गहे चा, पंड ताहरू तो पवित्र छे,
विजाने तो रगत गयाँ, पण आ शें सूझ्युँ माडळिक।
गढ़ जूनानी पोळ, दामो कुंड देखीश नहीं,
रतन पडशे रोळ, ते दी मुँ सभारे माडळिक॥
जाशे 'रा'नी रीत, 'रा' पणुं रहेशे नहीं,
भमतो माँगीश भीख, ते दी मुँ संभारे माडळिक।
भूल्यो राजा भींत, नागरके नम्यो नहीं,
मदिर ठेकाणे मसीद, ते दी मुँ संभारे माडळिक

"अरे माण्डलीक ! तैंने जन्मभर गङ्गाजलमें स्नान किया है, तेरा शरीर पवित्र था। तेरे छूने भरसे बिजानीका रक्तपित्त मिट गया था। अब तुझे यह क्या सूझा !

"अरे माण्डलीक ! अब तुझे जूनागढ़का दरवाजा और दामोदरकुण्ड देखनेको नहीं मिलेंगे। तेरी पुण्य-राशि समाप्त हो जायगी। तब तू मुझे याद करेगा।

"अरे माण्डलीक ! तेरी 'राव'की रीति नष्ट हो जायगी, तेरा रावपन नहीं रहेगा और तू भीख माँगता हुआ भटकेगा, तब तू मुझे याद करेगा।

"अरे माण्डलीक! तू भान भूल गया है। इसीसे तैंने नागलको प्रणाम नहीं किया। तेरे मन्दिर-महलकी जगह मस्जिद बनेगी। तब तू मुझे याद करेगा।"

माण्डलीकको अब अपने प्रमादका पता लगा। वह मारे लज्जाके गड़ गया और मुँह छिपाकर घोड़ेको वहीं छोड़कर भागा। उसके हृदयमें आग जल रही थी और महासतीके शापसे उसे अपना भविष्य प्रत्यक्ष अन्धकारमय दिखलायी दे रहा था।

दुर्गके सम्मुख जाते ही प्रहरीने सन्देश दिया—'उत्तरकी ओरसे मुहम्मद बेगड़ा विशाल सैन्यके साथ दुर्ग-ध्वंस करनेके लिये चढ़ आया है।

राव माण्डलीकने शत्रुओंको भगानेके लिये अपने सैनिकोंको आदेश दिया। घमासान युद्ध हुआ। हिंदू वीरोंने अपनी वीरताका सुन्दर परिचय दिया। पर सती शापके कारण वे दुर्गको बचा नहीं सके। झूमती हुई यवन-सेना जूनागढ़में आ गयी। राव माण्डलीक बंदी बन गया।*

साईं नेहड़ी

नामसे आप भ्रममें न पड़ें। उस पवित्र देवीका नाम साईं था और नेहड़ा नामक चारणोंकी एक विख्यात शूर जाति है। इसी जातिमें वह उत्पन्न हुई थी। वनमें चारणोंकी इतस्ततः झोपड़ियोंके बिखरे समूहको 'नेह' कहते हैं। इस प्रकारके एक 'नेह'में जंगलमें साईंकी भी झोपड़ी थी। उसके पतिदेव दूसरे चारणोंके साथ विदेशमें आजीविकाके लिये गये थे। अपनी झोपड़ीमें साईं सब भोगोंको छोड़कर पतिको स्मरण करते हुए किसी प्रकार दिन काट रही थी।

अँधेरी रात्रि थी। बादल गर्जना कर रहे थे। विद्युत् चमक रही थी। मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। पतिरहिता साईंकी पलकोंमें निद्रा नहीं थी जब चटाईपर पड़े पड़े जी ऊब गया तो वह द्वारके समीप आ खड़ी हुई। द्वार खोलकर प्रकृतिके ताण्डव-नृत्यको देखने लगी। सहसा बिजली चमकी। उसने देखा कि एक घोड़ा चला आ रहा है। फिर दूसरी बार ध्यानसे देखनेपर पता लगा कि उसपर कोई बैठा है। वह इसी झोंपड़ीकी ओर आ रहा है। साईंने सोचा 'कोई आँधी-पानीसे त्रस्त भूला पथिक होगा।'

वह बड़े असमंजसमें पड़ी। एकाकिनी तरुणी, अँधेरी रात्रि। किसी पुरुषको आश्रय दे या नहीं? सबेरे उसके यहाँसे एक पुरुषको जाते देख लोग क्या कहेंगे? जो भी हो, इस आपत्तिमें अतिथिको आश्रय तो देना ही चाहिये। उस गृहस्थको धिक्कार है, जिसके यहाँसे अतिथि निराश लौट जाता है। लोग चाहे जो कहें; किंतु जो सबका साक्षी है, वह तो जानता ही है। साईंने आगतको आश्रय देना स्थिर किया। घोड़ा आकर उसके सम्मुख खड़ा हो गया। यह क्या, आगत तो घोड़ेपर मूर्च्छित लुढ़का पड़ा है। स्वामिभक्त घोड़ेकी बुद्धिमानी ही उसे यहाँतक ले आयी है।

चारणीने मूर्च्छितको हाथोंसे नीचे उतारा। वस्त्रोंसे वह कोई राजपुरुष प्रतीत होता था। उसने उसके सब वस्त्र उतार दिये। शीतके कारण वह अकड़ गया था; किंतु हृदय चल रहा था। जीवनके लक्षण थे। सूखे वस्त्रसे उसके शरीरको पोंछकर चटाईपर लिटा दिया। घोड़ेको भीतर बाँध दिया और उसके वस्त्र सूखनेको फैला दिये। भाग्यकी बात, घरमें ईंधन नहीं था। जो थोड़े-से वस्त्र थे, वे अतिथिको पर्याप्त उष्णता देकर जीवन देनेमें समर्थ नहीं थे। अग्नि जलानेका साधन नहीं था।

'माता अपने पुत्रको गोदमें लेकर सोती है। बचपनमें भाई-बहिन साथ ही सोते हैं। यह मेरा अतिथि है। मूर्च्छित है। इसके मनमें तो कोई भाव इस समय आ नहीं सकता और मेरा मन पवित्र है। मन ही धर्मका मूल है।' साईंने सोचकर निश्चय किया। वह आगतके समीप लेट गयी। आगतकी पीठको अपनी ओर करके उसने उसे अपनी गोदमें ले लिया। मानव-शरीरकी गर्मीसे उस शीतल शरीरमें गर्मीका संचार हुआ। श्वासोंका क्रम ठीक होते ही साईं उठ गयी।

'सौराष्ट्रके गोहिलवाड़ प्रान्तमें खम्भातके अखातके समीप तलाजा नगर है। मैं वहाँका नरेश हूँ। तुमने मुझे जीवनदान दिया है, अतः तुम मेरी धर्मकी बहिन हो। जब कभी मेरे योग्य सेवा हो, अवश्य मुझे सूचित करना।' स्वस्थ होनेपर आगतने अपना पूरा परिचय देकर बताया कि 'मैं आखेटके लिये वनमें आया था। साथियोंसे पृथक् होकर मार्ग भूलनेके कारण मेरी यह दशा हुई।' प्रातःकाल वह अपने घोड़ेपर चढ़कर चला गया।

'रात्रिमें इसके घरमें बड़ा सुन्दर तरुण रहा है। इसने उसके घोड़ेको भी इसलिये भीतर बाँध रक्खा था कि कोई देख

* कहते हैं कि राव माण्डलीक कुछ दिनोंके बाद मुहम्मद बेगड़ाके कारावाससे निकल भागा और गली-गलीकी खाक छानता रहा। क्षुधादि अनेक यातनाएँ सहते हुए अन्तमें उसने अहमदाबादमें प्राण परित्याग कर दिया। —लेखक

न ले।' चारणोंके झोपड़ियोंकी स्त्रियाँ काना-फूसी करने लगीं। भली बातपर मनुष्य कठिनतासे विश्वास करता है; किंतु बुरी बातपर उसका सहज विश्वास हो जाता है। साईका पति लौटा। अपनी स्त्रीके सम्बन्धमे फैले प्रवादको सुनकर वह आगबबूला हो गया। पत्नीकी बातोपर उसे तनिक भी विश्वास न हुआ। वह उसे बराबर मारने लगा। कटुवचनोसे सदा उसका तिरस्कार करता और अकारण ही क्रूरतापूर्वक पीटता।

'अन्तमें साई नित्यके इस अत्याचारसे व्यथित हो गयी। उसने सूर्यभगवान्से हाथ जोड़कर कातर स्वरमें प्रार्थना की—'हे लोकसाक्षी प्रभु! आप सबके पाप-पुण्यको जानते हैं। मैंने कोई पाप नहीं किया है, यह आपसे अविदित नहीं! यदि मैंने कोई अपराध किया हो तो आप मुझे कठोर दण्ड दें।'

'पुत्री! तू पवित्र है। तुझपर जो अकारण अत्याचार करता है, उसे मैं शाप देता हूँ। उसके सर्वाङ्गमें गलित कुष्ठ हो!' स्पष्ट आकाशसे शब्द आये। 'यह क्या? सती हाहाकार करके मूर्च्छित हो गयी। इससे तो अच्छा था कि मुझको ही दण्ड मिला होता। पतिके अमङ्गलकी बात तो मैंने सोची भी नहीं थी।' चारणके सर्वाङ्गसे दुर्गन्धयुक्त मवाद निकलने लगा। साई बड़े धैर्यसे पतिकी सेवा करने लगी।

कुछ दिनो पश्चात् पतिको कंधेपर बैठाकर वह तलाजा पहुँची। राजभवनमें उसने समाचार भेजा। नरेशने अत्यन्त आदरसे पतिके साथ उसे बुलवाया और सत्कार किया। अन्तमें उसने नरेशसे कहा—'मेरे ही अपराधसे पतिदेवको यह भयङ्कर कष्ट सहना पड़ रहा है। अनेक प्रकारसे यत्न करके निराश होनेपर आपके पास आयी हूँ।'

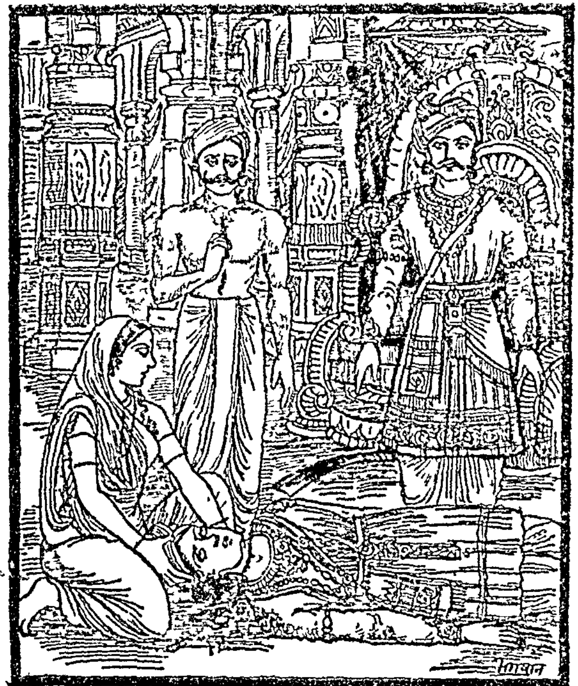
'बहिन! मुझे आज्ञा दो। प्राण देकर भी मैं तुम्हारा कार्य करूँगा।' उपकारका कुछ बदला देनेका अवसर मिले, यह सोचकर नरेश प्रसन्न हो गये।

'एक महात्माने कहा है कि बत्तीस लक्षणोंवाले पुरुषके रक्तसे स्नान करानेपर तेरे पतिदेव स्वस्थ हो जायँगे! पतिके लिये मैं यह क्रूर कर्म करनेपर उद्यत हुई हूँ,' साईने बताया। इसी समय राजकुमारने माताके सिखानेसे आकर साईको प्रणाम किया।

'बेटा! तेरा मङ्गल हो। भाई! तुम बड़े भाग्यवान् हो! तुम्हे बत्तीस लक्षणोंसे सम्पन्न पुत्र मिला है।' साईने यह कहकर राजाके मुखकी ओर देखा। नरेशको समझते देर न लगी। वे चुपचाप उठकर पत्नीके समीप गये। पिताको दुखी होते देख पुत्र कारण जाननेके लिये साथ गया।

'मेरा जीवन धन्य है! मेरे द्वारा कुछ उपकार हो, इसमे बड़ा मेरा क्या सौभाग्य होगा। जिसने आपके जीवनकी रक्षा की, उसके काम आकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। आप इतने दुखी क्यों होते हैं। उठिये, कर्तव्यका पालन कीजिये।' राजकुमारने दृढ़तापूर्वक माता-पिताको आश्वासन दिया। उसने पूरी बातें सुन ली थीं। अन्ततः महारानीने भी पातिव्रत्य सम्हाला। उन्होंने भी पतिको प्रोत्साहित किया। महाराज पुत्रको लेकर आये। खड्गके एक ही आघातसे युवराजका मस्तक पृथक् हो गया। रक्तसे स्नान करके चारण स्वस्थ हो गया।

अब साईकी बारी थी। उसने युवराजके मस्तकको उठाकर धड़पर रखकर हाथ फेरा गर्दनके चारो ओर। 'मैंने यदि



स्वप्नमे भी पतिको छोड़कर दूसरे पुरुषका चिन्तन न किया हो तो तू जी उठ, बेटा!' पतिव्रताके आदेशकी अवहेलना करनेका साहस यमराजमे नहीं। अपनी शक्तिके भरोसे ही साईने बलिदान माँगा था। युवराज इस प्रकार उसके गोदमे बैठ गये, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।—सु० सि०

नारी

सुरा सुधा माहुर भरी, रची विधाता नार।
डगमगात जीवत मरत, जेहि चितवत इक बार॥ —रामाधार पाण्डेय, साहित्यालङ्कार

चारणी कामबाई

'मेरा भाई घोड़ा बेचकर कब लौटेगा, भाभी !' जामनगरके नरेशने कामबाईसे कहा। वे चारणोंके गाँवमें प्रतिष्ठित चारणोंके बीचमें बैठे थे। परम रूपवती कामबाईको कलसी लिये जल भरने जाते देखकर उन्होंने कह दिया।

कामबाईके कलेजेमें आग लग गयी। 'राजा प्रजाका पिता होता है और जामनगरके नरेशको तो हम भाई मानती हैं; पर इन्होंने आज मुझे भाभी कह दिया !' अपमानका अनुभव करके वह काँपने लगी। साथ ही उसने सोचा, मेरे अद्वितीय लावण्यने ही उनकी बुद्धि भ्रष्ट की है।

वह तुरंत घर गयी। वहाँ उसने तीव्र धारवाली कटारसे अपने दोनों स्तन काट डाले और उन्हें थालीमें रखकर कपड़ेसे ढक दिया। बाल उसके खुले थे। थाली हाथमें लेकर वह राजाके पास चली।

उसका भीषण स्वरूप जो देखता, वही काँप जाता। वह राजाके पास पहुँची। समस्त चारण काँपने लगे और राजा भाग चला। कामबाई भी अपना जाँबुडा (चारणोंका गाँव, जहाँ कि कामबाई थी) गाँव छोड़कर राजाके पीछे-पीछे चली।

एक कोस जानेके बाद कामबाईने अपना एक पाँव काट दिया और एक पैरसे ही लँगड़ाती जामनगरकी ओर चली। दूसरा कोस समाप्त होनेपर उसने दूसरा पाँव भी काट दिया और दोनों हाथोंके बलसे धड़को घसीटती हुई राजाकी राजधानीकी ओर जाने लगी। तीसरे कोसके समाप्त होनेपर उसने अपनी दाहिनी भुजा काट डाली और एक ही भुजाके बलपर लड़खड़ाती हुई चली। चौथे कोसपर उसने अपनी दूसरी भुजा भी काट डाली।

× × ×

'साक्षात् चण्डिकाकी तरह एक चारणी अपने शरीरके हरएक अवयवको काटती-फेंकती नगरकी सीमातक पहुँच चुकी है' प्रजाने राजासे निवेदन किया।

'माताजी ! चारणोंके बहकानेसे मैंने आपको कुवचन कहा था। कृपापूर्वक मुझे क्षमा करें।' दौड़ते हुए राजाने सिर झुकाये और हाथ जोड़े हुए कामबाईसे प्रार्थना की। उनका शरीर थरथर काँप रहा था।

'मैं जानती हूँ, मेरे विरोधी चारणोंके बहकावेमें आकर आपने मुझे कटुवचन कहा है। अतः मैं आपको क्षमा करती हूँ,' कहती हुई कामबाईने अपना प्राण परित्याग कर दिया।

—शि० दु०

जगदम्बा श्रीकरणीदेवी

लगभग ५०० वर्ष पूर्वकी बात है। जोधपुर-राज्यान्तर्गत सुआप नामक गाँवमें मेहोजी नामके एक चारण रहते थे। ये भगवतीके उपासक थे। इनके लगातार छः पुत्रियाँ हुईं। इन्होंने देवीसे प्रार्थना की कि 'माता ! मेरा वंश चले।' माताने प्रकट होकर 'तथास्तु' कह दिया।

अबकी बार मेहोजीको पुत्र होनेकी आशा थी, पर फिर पुत्री हो गयी। मेहोजीकी बहिनने अपने भाईसे अँगुली टेढ़ीकर कहा—'फिर वही पत्थर आ पड़ा।' तबसे उनकी अँगुली टेढ़ी ही रह गयी। दूसरी बार अपनी ससुरालसे लौटनेपर वे बालिकाकी सेवा करने लगीं। बालिकाने अपने करस्पर्शसे ही अँगुली सीधी कर दी। बालिकाका नाम रिधुबाई था, पर अब वह करणीदेवी कहलाने लगी।

भोजनकी सामग्री लेकर एक दिन देवीजी अपने खेतपर जा रही थीं। रास्तेमें जैसलमेरके महाराज शेखोजी अपनी क्षुधार्त सेनाके साथ मिले। देवीजीने अपने उतने ही भोजनसे समस्त सैनिकोंको खिला दिया और राजाको विपत्तिमें सहायता देनेका वचन दिया। राजा युद्धक्षेत्रमें पहुँचे, पर उनकी सेना हार गयी और उनके रथका घोड़ा भी मर गया। स्मरण करते ही देवीजी सिंहके रूपमें उनके रथमें जुत गयीं। राजाकी विजय भी हो गयी।

करणीदेवीके पिताको एक बार सर्पने काट लिया। देवीजीने केवल करस्पर्शसे ही उन्हें अच्छा कर दिया। देवीजीको सयानी देखकर उनके पिताने साठिका नामक गाँवके दीपोजीसे उनका विवाह कर दिया। पहले ही दिन देवीजीने दीपोजीको चतुर्भुजी रूपमें दर्शन दिया और कहा कि 'आप दूसरा विवाह कर लें। मुझसे कोई सन्तान न होगी।' दीपोजीने देवीजीकी बहिनसे विवाह किया। उनसे चार सन्तानें हुईं। वे सन्तानें देवीजीकी ही कहलाती थीं। दीपोजी देवीजीको सदैव माताके रूपमें देखते थे।

ससुरालमें भी उन्होंने बहुत चमत्कार दिखाये। 'यहाँ बिच्छू रहते हैं, बहू सावधान रहना!' एक दिन उनकी सासने कहा। 'बिच्छूके तो यहाँ दर्शन भी नहीं होते,' देवीजीने कहा। सुनते हैं, तबसे आजतक वहाँ बिच्छू कभी नहीं निकले।

एक बार साठिका गाँवमें कई वर्षतक दुर्भिक्ष पड़ा। दयालु देवीजी गायोंको लेकर वहाँसे चल पड़ीं, वे पहले राठौड़ राजा कान्होजीकी राजधानी जाँगळू पहुँचीं। कुओंके जलसे भरी खेलियोंसे जल पिलानेकी आज्ञा उन्होंने कर्मचारी और राजासे चाही, पर किसीने उन्हें गायोंको जल नहीं पिलाने दिया। इतनेमें ही राजाके छोटे भाई रणमलजी आ गये। उन्होंने देवीजीकी अभ्यर्थना की और पानी पिलानेके लिये गायोंको ले गये। पानी पी लेनेपर भी खेलियाँ ज्यों-की-त्यों भरी रहीं। देवीजीने उन्हें 'राजन्' कह दिया। बादमें जाँगळूके राजा रणमलजी ही हुए और जोधपुरको भी उन्होंने अपने अधिकारमें कर लिया।

इसके बाद देवीजीने आगे चलकर देशनोक नामक गाँव बसाया। नेड़ी स्थानसे चलते समय उन्होंने अपनी नेड़ी (मथानी) वहीं गाड़ दी थी। कहते हैं, वह हरी हो गयी और खेजड़ी (शमी) वृक्षके रूपमें आज भी वर्तमान है। उस स्थानको आजतक नेड़ी कहते हैं।

जोधपुरके राजा जोधाजीके सुपुत्र बीकाजी अपने पिताजीसे मनमुटाव हो जानेके कारण आश्विन सुदी १० संवत् १५२२ को नया शहर बसानेके लिये देवीजीके पास आये। देवीजीने उन्हें राजा होनेका आशीर्वाद दे दिया। कुछ दिन बाद उन्होंने बीकानेर नगर बसाया। उनका सब जगह अधिकार हो गया। वे राजा बन गये। करणीदेवी राज्यकी कुलदेवी बन गयीं।

राज्यप्रबन्धसे अब भी देवीजीका स्थान देशनोकमें वर्तमान है। नवरात्रियोंमें वहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है और बीच-बीचमें शतचण्डी-अनुष्ठान आदिका भी आयोजन होता रहता है।

देशनोकमें देवीजी ५० वर्षतक रहीं। एक बार जैसलमेर-नरेशकी पीठमें एक फोड़ा हो गया। किसी प्रकार भी अच्छा न होनेपर उन्होंने देवीजीको याद किया। देवीजी अपने पुत्र (भगिनी-पुत्र) पूनोजीको साथ लेकर चलीं। वहाँसे तीस कोस दूर चारणवास नामक गाँवके पास आकर उन्होंने पूनोजीसे जल मँगाकर स्नान किया और उसी क्षण नश्वर शरीर त्याग दिया। आज भी उस स्थानपर देवीजीका स्मारक विद्यमान है।

माताजीके चले जानेसे पूनोजी फूट-फूटकर रोने लगे, तब देवीजीने भगवतीके रूपमें उन्हें दर्शन देकर कहा—'तुम देशनोक लौट जाओ। मैं तुमसे फिर वहाँ मिलूँगी।' पूनोजी देशनोक लौट आये। भगवतीने जैसलमेर-नरेशका फोड़ा अच्छा कर दिया।

देशनोकमें श्रीदेवीजीके दर्शनार्थ दूर-दूरसे यात्री आते हैं। वहाँ अब भी चमत्कार देखे जाते हैं। एक दिन साधुके वेषमें एक चोर आया और देवीजीका छत्र चुराकर गुम हो गया। देवीजीने राजाको तुरंत स्वप्न दिया। राजाने चोरको पकड़वाकर छत्र मन्दिरमें भिजवा दिया और सोनेका एक विशाल और सुन्दर छत्र बनवाकर देवीजीको भेंट किया, जो अब भी वहाँ रक्खा है।

देशनोक बीकानेरसे बीस मील दक्षिण बीकानेर रेलवेका स्टेशन है। देवीजीका मन्दिर स्टेशनसे अत्यन्त समीप ही है। दर्शनार्थियोंको बीकानेरसे देशनोक जानेके लिये राज्यकी ओरसे वापसी टिकट ।।-) में मिल जाता है। स्टेशनपर ठहरनेके लिये धर्मशाला आदिका भी सुप्रबन्ध है।—गि० दु०

पवित्र गणिका

यह कथा बहुत पुरानी है। एक नगरमें जीवन्ती नामकी एक वेश्या रहती थी। वह थी तो पवित्र संस्कारसम्पन्न, परंतु कुछ बड़े पापके प्रभावसे उसने गणिकाके घरमें जन्म लिया था। वह व्यभिचारवृत्तिसे अपना पेट-पालन करती थी।

'यह तोता बहुत सुन्दर है, इसे मुझे दे दो!' गणिकाने तोता बेचनेवालेसे कहा। बेचनेवालेको मूल्यसे मतलब था। तोता उसने गणिकाके हाथ बेच दिया।

गणिका वैसे ही मन बहलानेके लिये तोतेको 'राम-राम' पढ़ाने लगी। पर नामका प्रभाव तो समस्त पापोंको नाश करनेवाला होता है। 'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥' की उक्तिके अनुसार गणिकाका मन क्रमशः 'राम-राम' में लगने लगा। उसे जब भी अवकाश मिलता, वह तोतेके पास आकर बैठ जाती। तोता 'राम-राम' गाने लगता। गायिका गणिकाने तोतेको अच्छे

स्वरका अभ्यास करा दिया था। स्वयं भी तोतेके स्वरमें स्वर मिलाकर अत्यन्त मधुरतासे 'राम-राम' गाती।



मृत्यु जीवोंके पीछे सिंहिनीकी तरह दौड़ रही है। गणिका और तोता दोनोंके प्राणपंछी एक ही साथ 'राम-राम' कहते हुए निकल गये।

उस समय वहाँ बड़ी विचित्र घटना घटी। दोनों प्राणियोंके प्राण अपने-अपने लोकोंमें ले जानेके लिये यमराज और श्रीविष्णुके दूत आ गये। विष्णुके दूत सबल थे। यमदूत घबराये हुए यमराजके पास पहुँचे और गणिका तथा तोतेकी सारी कहानी सुना दी। इस बातपर अधिक जोर दिया कि गणिका महाव्यभिचारिणी तथा अधमा थी।

यमराजने गम्भीरतासे उत्तर दिया—"यदि उन्होंने 'राम' इन दोनों अक्षरोंका मरते समय स्मरण किया है तो वे मुझसे कभी दण्डनीय नहीं हैं। उस 'राम' नामके प्रतापसे भगवान नारायण उनके प्रभु हो गये। गणिका पवित्र हो गयी।"

दूना यदि स्मरन्तौ तौ रामनामाक्षरद्वयम्।
तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥

यमदूतोंने सिर लटका लिया। गणिका दिव्यलोकमें चली गयी। —शि० दु०

वेश्या सुमध्या

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

एक बार भीड़के धक्केमें जिसके पैर लड़खड़ाये, वह प्रायः गिरता है और कुचला जाता है। दुःसङ्गसे सुन्दरी सुमध्याका पतन हुआ और फिर होता ही गया। अन्तमें सामाजिक परिस्थितियोंसे विवश होकर वह वेश्या हो गयी। माता-पिताके संरक्षणमें उसने शास्त्रोंका अध्ययन किया था। बचपनमें उसे धार्मिक वातावरण प्राप्त हुआ था। अपने पतनपर उसे अत्यन्त पश्चात्ताप था। छुटकारेका कोई मार्ग न मिलनेसे मन-ही-मन वह खिन्न रहा करती थी। अपने व्यवसायसे उसे अत्यन्त घृणा थी।

पुरुषोत्तमपुरीकी उस श्रेष्ठ वेश्यापर वहाँका एक सम्पन्न ब्राह्मण युवक भद्रतनु आसक्त था। यद्यपि बचपनमें भद्रतनु अत्यन्त धार्मिक एवं सदाचारी था, किंतु सङ्गदोषसे उसके सब धार्मिक कृत्य छूट गये। क्रमशः वह कुपथगामी हुआ। मद्यपान, चोरी, द्यूत—सब दुर्गुण उसमें आ गये। दुर्गुणोंकी तो एक शृङ्खला है। एकको छूते ही सब आ जाते हैं। अब भद्रतनु धर्मकी निन्दा करने लगा। परलोक एवं देवताओंसे उसकी आस्था दूर हो गयी। लोगोंको दिखानेके लिये वह पाखण्ड भी करने लगा।

भद्रतनु वेश्याओंके व्यसनमें पड़कर इसी क्रममें सुमध्याके समीप पहुँचा। सुमध्याके रूपने उसे अत्यन्त आकर्षित किया। वह नित्य उसके समीप जाने लगा। सुमध्याने भी उस ब्राह्मणयुवकसे अनुराग किया। अपने व्यवसायसे उसे घृणा तो थी ही, अब दूसरे सभी पुरुषोंका अपने यहाँ आना उसने बंद कर दिया। उसे भद्रतनुके पतनपर बड़ी दया आती थी। अनेक प्रकारसे मद्य, द्यूत, मांसाहार एवं चोरीके दोषोंको बताकर वह आग्रह करती कि भद्रतनु उन्हें छोड़ दे। हम जिससे स्नेह करते हैं, उसकी बातोंका हमारे हृदयपर प्रभाव पड़ता है। सुमध्याके बार-बारके उपदेशोंसे भद्रतनुने क्रमशः इन व्यसनोंको छोड़ना प्रारम्भ किया।

घोड़ा घासपर दया करे तो खाय क्या? यद्यपि सुमध्याको ब्राह्मणकुमारके पतनपर अत्यन्त दुःख होता था, किंतु वह उसे अपने समीप आनेसे मना करनेमें असमर्थ थी। भद्रतनुके अतिरिक्त उसकी जीविकाका दूसरा कोई साधन नहीं था। उसे यह भी विश्वास नहीं था कि भद्रतनु उसकी बात मान ही लेगा। भय था कि अधिक जोर देनेपर वह और किसीके समीप जाने लगेगा।

अँधेरी रात्रि थी, वर्षा हो रही थी। भद्रतनुने अर्ध-रात्रिको सुमध्याका द्वार खटखटाया। उसके सब वस्त्र भीग गये थे। भीतर आकर वस्त्र बदलते हुए कहने लगा—'क्षमा करना! आज पिताका श्राद्ध था। इस श्राद्धादिमें मेरी रत्तीभर भी श्रद्धा नहीं; परंतु क्या करूँ, लोगोंके डरसे करना पड़ा। मैंने किसी प्रकार उसे पूरा किया है। बहुत शीघ्रता करनेपर भी देर हो गयी। मेरा मन तो तुममें ही लगा था। मेरा तो पूजन-श्राद्ध सब तुम्हीं हो। तुम्हें छोड़कर मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिये।'

सुमध्या सुन रही थी। उसे ब्राह्मणके पतनपर दया आ रही थी। कितना मोह! कितना अज्ञान! उसने रोषपूर्वक कहा—"ब्राह्मण! धिक्कार है तुझे! तेरे-जैसे पुत्रसे तो अच्छा



था कि तेरे पिता बिना पुत्रके ही रहते। आज उनके श्राद्धके दिन तू इस नरककुण्डमें डूबने आया है? तूने शास्त्र पढ़े हैं। तुझे यह नहीं लिखा मिला कि श्राद्धके दिन स्त्री-सहवास करनेवाले तथा उसके पितरोंको भी परलोकमें वीर्यपान करना पड़ता है? मेरे इस हड्डी, मांस, चर्मके शरीरमें ऐसा क्या है, जिसपर तू पागल हो रहा है!

"अरे! मूर्ख! प्राणियोंका जीवन यमराजके दण्डके अधीन है (चाहे जब मृत्यु आ जाती है), यह जानते हुए भी तू निर्भय होकर क्यों सदा पापोंमें लिप्त हो रहा है? जीवनका क्या ठिकाना है? यह तो जलके बुद्बुदेके समान एक ही क्षणमें ध्वंस हो जायगा। इसे नित्य जानकर तू नित्य ऐसे पाप क्यों कर रहा है? 'मृत्यु' ये दो अक्षर जिसके ललाटपर लिखे हैं, वह प्राणी सब प्रकार क्लेश देनेवाले पाप न जाने क्यों करता है? अहो! संसारमें भगवान् महाविष्णुकी माया बड़ी बलवती है, जिससे लोग शत्रुतुल्य पापोंको बटोरकर उलटे हर्षित होते हैं। रे दुराशय! तू अपने शरीरमें पापको स्थान मत दे। जैसे अग्नि अपने आश्रितको दग्ध कर डालती है, इसी प्रकार पाप भी अपने आश्रितको भस्म कर डालते हैं!*

"भाई! विचार कर, और अपने मनको मुझसे हटाकर भगवान्‌में लगा दे। जो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌को भजता है, वह भगवान्‌की दुस्तर मायासे सहजमें ही तर जाता है। भगवान् बड़े दयालु हैं! वे तुझे आश्रय देंगे।" यों कहकर सुमध्या चुप हो गयी। उसका हृदय वैराग्यसे पूर्ण हो गया!

'मैंने शास्त्र पढ़े हैं, ब्राह्मण हूँ और फिर भी इस वेश्यासे गया-बीता हूँ।' भद्रतनुके हृदयपर वेश्याके वचनोंसे बड़ी चोट लगी। वह चुपचाप काष्ठकी भाँति थोड़ी देर सोचता खड़ा रहा। उसे अपने पूर्वके जप, तप, धर्मका स्मरण आया। क्रमशः अपने पतनका विचार हुआ। उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। दोनों हाथ जोड़कर उसने वेश्याको प्रणाम किया—'देवि! तुमने मुझे मार्ग दिखाया! पतनके गड्ढेसे मुझे बचाया।'

वहाँसे तुरंत लौटकर भद्रतनु सीधे महामुनि मार्कण्डेयजीके समीप पहुँचा और उनके आदेशसे दान्त मुनिके आश्रमपर जाकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। कठोर नियमोंका पालन करते हुए धर्मपूर्वक उसने शेष जीवन व्यतीत किया। उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिये।

भद्रतनुके घरसे बाहर जाते ही सुमध्याने अपने सब आभूषण एवं कीमती वस्त्रोंको एकत्र किया। प्रातः उसने उन्हें बेच डाला। उस मकानको छोड़कर दूसरे स्थानपर एक झोपड़ीमें संयमपूर्वक भगवान्‌का स्मरण करते हुए उसने जीवन सफल किया। —सु० सि०

---

* दुर्मते मैथुनं यस्तु कुरुते पितृवासरे। रेतोभोगिन एव स्युः पितरस्तस्य सोऽपि च॥
यमदण्डान्तरस्थायि जीवितं च शरीरिणाम्। तथापि पातकं मूढ कुरुषे निर्भयः सदा॥
जलबुद्बुदवन्मूढ क्षणविध्वंसि जीवनम्। किमर्थं शाश्वतधिया करोषि दुरितं सदा॥
ललाटे लिखितं यस्य मृत्युरित्यक्षरद्वयम्। स कथं कुरुते पापं समस्तक्लेशदायकम्॥
अहो माया महाविष्णोरेका बलवती क्षितौ। यतः पापमिवामित्रं सञ्चेतुं हर्षितो जनः॥
स्थानं पापाय मा देहि निज देहे दुराशय। दहत्याश्रयमेनं हि वीतिहोत्र इव ज्वलन्॥

गणिकाका रत्नमुकुट

'आज पता नहीं मेरे किस सौभाग्यका उदय हुआ है ! एक वेश्याके द्वारपर साधु ! कहीं ऐसा न हो कि मेरा परिचय पाकर महात्मालोग चले जायँ ।' दक्षिण देशकी उस गणिकाने नगरसे लौटकर देखा कि उसके द्वारके सम्मुख पीपलके पेड़के नीचेके चबूतरेपर वैष्णव संतोंने आसन कर रक्खा है । धूनी जल रही है । छत्ता गाड़कर उसके नीचे ठाकुरजीका सिंहासन लगा दिया गया है । साधुओंमें कोई चन्दन घिस रहा है, कोई पार्षद मल रहा है और कोई तिलक कर रहा है । वेश्याने सोचा कि 'मैं इनका आतिथ्य करनेयोग्य तो हूँ नहीं, मेरा अन्न भला साधु कैसे ग्रहण करेंगे !' वह भीतर गयी । एक चाँदीकी थालीमें स्वर्ण-मुद्राएँ जितनी आ सकीं लेकर उसने लाकर ठाकुरजीके सामने थोड़ी दूरीपर रख दिया ।

'मैया ! तू कौन है ?' एक साधुने पूछा । इतना द्रव्य श्रद्धासे अनजान स्त्रीका निवेदन करना कम आश्चर्यजनक नहीं था ।

'आप और चाहे जो पूछें, परंतु मेरा परिचय न पूछें !' उसने मुख नीचा करके प्रार्थना की ।

'साधुसे भयकी क्या बात ?' महात्माने आग्रह किया ।

'मैं महानीच हूँ । मेरे पापोंका कोई हिसाब नहीं । सम्भवतः मुझे देखकर नरकके जीव भी घृणा करेंगे । पाप ही मेरा जीवन है । शरीरको वेचकर मेरी जीविका चलती है ।' रोते हुए उसने कहा ।

'ले जा अपना थाल ! साधु वेश्याओंका धन नहीं लिया करते !' एक साधुने झिड़क दिया ।

'महाराज ! मेरे-जैसी महापापिनीसे नरक या नारकीय जीवतक घृणा कर सकते हैं, किंतु गङ्गाजी तो घृणा नहीं करतीं । मैं नित्य गोदा माताकी पवित्र धारामें डुबकी लगाती हूँ । उन्होंने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया । सुना है कि साधु गङ्गाजीसे भी अधिक पवित्र होते हैं । संत तो सुरसरिको भी पवित्र कर देते हैं । आप यदि मुझसे घृणा करेंगे तो फिर कौन पतितोंका उद्धार करेगा ! मेरा दुर्भाग्य !' उसने अत्यन्त दुःखित होकर थाल उठा लिया ।

'मैया ! श्रीरङ्गनाथके लिये मुकुट बनवा दे,' मण्डलीमें जो सबसे वृद्ध थे, उन्होंने कहा । गणिकाकी भक्तिभरी वाणीने उन्हें द्रवित कर दिया था ।

'जिसकी भेंट संत नहीं लेते, उसकी रङ्गनाथ तो क्या लेंगे ! साधु तो भगवान्से भी अधिक दयालु होते हैं । वे तो उन सर्वेचसे भी अधिक पतितोंपर कृपा करते हैं । जिसका तिरस्कार साधुओंने ही कर दिया, उसके लिये भगवान्से क्या आशा रही ।' वह रोती हुई जा रही थी ।

'मैया ! उपहार न लेना होता तो मुकुट बनानेका आदेश न देता !' वृद्ध साधुने स्पष्ट समझाया । वह द्रव्य साधुओंने स्वीकार कर लिया । तीन लाख रुपयोंसे वेश्याने एक सुन्दर रत्नजटित मुकुट बनवाया और उसे लेकर वह श्रीरङ्ग पहुँची ।

'मैं अपवित्र हूँ, मेरा मन्दिरमें जाना उचित नहीं ! आप मुकुट भगवान्को चढ़ा दें !' भला, श्रीरङ्गनाथके पुजारीजी यह वेश्याका आग्रह कैसे मान लें ! उन्हें तो स्वप्नमें भगवान्ने स्पष्ट आदेश दिया था कि वे उसी वेश्याके हाथसे मुकुट धारण करेंगे । विवश होकर वह मुकुट लेकर गयी । दोनों हाथोंने मुकुट उठाकर नृत्य करते हुए वह आगे बढ़ी । आज भगवान्के शृङ्गारमें मस्तकपर मुकुट नहीं था । सिंहासन ऊँचा था । मूर्तिके मस्तकतक वेश्याका हाथ पहुँच नहीं सकता था ।



उसने मुकुट उठाया । सबने देखा कि श्रीरङ्गनाथके श्रीविग्रहने मस्तक झुका दिया है । वेश्याने मुकुट उठाकर रख दिया । मूर्ति पूर्ववत् हो गयी । मन्दिरके प्राङ्गणमें ही भगवान्की इस असीम कृपाका अनुभव करके उनके दर्शन करते हुए ही उसने शरीर छोड़ दिया ।—सु० सिं०

कान्हू पात्रा

'तबलेपर थाप पड़ते ही मेरा कलेजा टूटने लगता है, मा !' मंगलवेढ़ाकी प्रसिद्ध गणिका श्यामाकी पुत्री कान्हू पात्राने रोते-रोते कहा । 'सारंगीकी मधुर ध्वनि बर्छीकी अनीकी तरह मेरी रग-रगमें चुभती है, शत-शत वृश्चिक-दंशन-सी पीड़ा

मुझे होने लगती है। मंजीरके झनझनाते ही मैं अधीर हो जाती हूँ और बगलेकी पाँखकी तरह उज्ज्वल वस्त्रोंसे सजे रसिकोंको देखती हूँ, तो मेरा दम घुटने लगता है। वे मुझे यमदूतकी भाँति भयानक दीखते हैं, मा! मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा। मुझे क्षमा कर दो।'

'पेट बड़ा अधम है, बेटी!' श्यामाने पुत्रीके माथेपर हाथ फेरते तथा बालोंको सहलाते हुए कहा। 'इसके लिये मनके पवित्र भावोंका दमन करके, अपना सर्वनाश करके, विषकी कड़वी घूँटकी भाँति इसे पीना पड़ता है, मेरी बिटिया! पहले तो सचमुच मन छटपटा उठता है, पर थोड़े ही दिनोंमें आदत पड़ जाती है। हमारी जीविका ही यही है, मेरी रानी बेटी!'

'पर ऐसी जीविकापर मैं थूक दूँगी, मा!' कान्हू पात्राने स्पष्ट शब्दोंमें माको अपना निश्चय सुनाया। 'मनकी पवित्र भावनाओंका दमन करके उद्दाम वासनाके पंकमें मैं नहीं फँसना चाहती। विषकी घूँट पीना मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं चिथड़ेसे अपना तन लपेटकर भीख माँगकर खा लूँगी। भीख नहीं मिली तो बिना खाये भगवान्‌का नाम लेकर लेट रहूँगी; पर अपना धर्म, अपना सतीत्व उन समाजके दुर्दान्त नारकीय कीड़ोंके चाँदीके टुकड़ोंपर समर्पित नहीं कर सकूँगी, मा! क्षुधाकी असह्य ज्वालासे तड़प-तड़पकर मैं कुत्तेकी मौत मर जाना पसंद करूँगी; पर इस घृणित जीविकाका सहारा मैं नहीं लूँगी, अम्मा! नहीं लूँगी।' कान्हूकी आँखें बरस रही थीं। उसका आँचल भीग गया था।

'बेटी! मैं तो तेरे भलेकी दृष्टिसे कह रही हूँ।' श्यामा अपनी पुत्रीका भाव देखकर डर गयी थी। उसने देखा, लालन-पालनका सारा कष्ट मेरा व्यर्थ जा रहा है। पर जननी-की दया भी उसमें थी। अत्यन्त स्नेहसे उसने कहा—'किसी धनी पुरुषका ही पल्ला पकड़ ले। एकके ही पास रह जा! तेरी खूबसूरतीपर अप्सराएँ भी शर्माती हैं। संकेतमात्रपर कितने धन-कुबेर तेरे पैरोंको चूम लेंगे। यह यौवन सदा नहीं रह सकेगा……'

'मेरी जान लेकर ही दम लेगी क्या, मा?' बीचमें ही रोक-कर अत्यन्त दुःखसे कान्हूने कहा। 'अस्थि-रक्त-मांस-निर्मित किसी भी पुतलेके कण्ठमें मेरी बाँहें नहीं पड़ सकेंगी।'

कान्हू उठकर दूसरे कमरेमें चली गयी और फफक-फफककर रोने लगी। वारकरी श्रीविट्ठल-भक्तोंके एक दिनके भजन और उपदेशका उसपर इतना प्रभाव पड़ गया था। उसके पूर्वजन्मके शुभ-संस्कार उदित हो गये थे। जगत्‌की अस्थिरता और नश्वरता तथा पापका भीषण परिणाम उसकी आँखोंमें नृत्य कर रहा था!

× × ×

'भगवान् पाण्डुरंगके एक बार—केवल एक बार दर्शन कर लेने दो, भैया!' गिड़गिड़ाते हुए कान्हूने बेदर बादशाहके सिपाहियोंसे प्रार्थना की। कान्हूके सौन्दर्यकी ख्याति सुनकर वह बादशाह इसपर लुब्ध हो गया था। 'कान्हू अपनी माको छोड़कर पण्ढरपुर चली गयी है। अगर वह सिधाईसे न आ सके तो जबर्दस्ती मेरे हरममें उसे ले आओ!' बादशाहने अपने सिपाहियोंको आज्ञा दे दी थी। सिपाही अपने अन्नदाताकी आज्ञाका पालन कर रहे थे।

'बादशाहकी गोदमें लेटनेके लिये तुम्हें चलना ही पड़ेगा,' क्रोधसे एक सिपाहीने कहा। 'तुम्हें ढूँढ़नेमें हमलोगोंकी दुर्दशा हो गयी है।'

'केवल एक बार……' कान्हू फूट-फूटकर रो रही थी।

'दर्शन कर लेने दो!' पाण्डुरंग-कृपासे सरल बालिकाके रुदनपर एक सिपाहीने द्रवित होकर कहा। 'हमलोग मन्दिरके द्वारपर खड़े रहेंगे। दर्शन करके निकलते ही पकड़ लेंगे।'

× × ×

'मेरे पाण्डुरंग!' अत्यन्त व्याकुलता तथा करुणा-विगलित हृदयसे रुदन करती हुई कान्हू पात्राने भगवान्‌के सामने खड़ी होकर प्रार्थना की—'प्रभो! मेरे मा-बाप और भाई—सब कुछ तुम्हीं हो। जिस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये मैं माका साथ छोड़कर यहाँ भाग आयी थी, वही विपत्ति पुनः मेरे सिरपर आ रही है। नरकमें ले जानेके लिये यमदूत बाहर ही खड़े हैं, नाथ! मुझे तुम्हारे चरणोंके सिवा और कोई सहारा नहीं है, देव! मुझे उबार लो।' कान्हूने अपना सिर भगवान्‌के चरणोंमें झुकाया; बस, उसी क्षण उसका शरीर अचेत हो गया। उसके तनसे एक ज्योति निकली, वह



भगवान्‌के विग्रहमें विलीन हो गयी।

वेदरशाहके सिपाही मुँह लटकाये चले गये। कान्हू पात्राकी अस्थियाँ मन्दिरके दक्षिण द्वारपर गाड़ी गयीं। मन्दिरके समीप कान्हू पात्राकी मूर्तिके दर्शन कर आज भी पतितजन पावन बन रहे हैं। —शि० दु०

वेश्या चिन्तामणि

चिन्तामणि पण्या नहीं थीं। वे गायिका थीं। अपने अद्भुत लावण्य, मनोहर संगीत तथा कलापूर्ण नृत्यसे उन्होंने पर्याप्त सम्मान प्राप्त किया था। नगरके प्रायः सभी सम्पन्न युवक उनके यहाँ आते और अपने संगीतसे वे उनका मनोरञ्जन करती।

अन्ततः नारीहृदय किसीको अर्पित हुए बिना अपनेको पूर्ण नही मान सकता। नगरका सर्वश्रेष्ठ सम्पन्न ब्राह्मण-युवक विल्वमंगल चिन्तामणिको राजपथपर देखकर आत्मविस्मृत हो गया। उस रूपराशिके सम्मुख उसका संयम स्थिर न रह सका। रात्रिमें वह चिन्तामणिके समीप पहुँचा। सुन्दर गौरवर्ण, स्वस्थ सुपुष्ट शरीर। संयम और सदाचारके तेजने युवकको अत्यन्त सुन्दर बना दिया था। चिन्तामणिका हृदय भी आकर्षित हुआ। दोनोंने परस्पर एक दूसरेको उत्सर्ग कर दिया।

युवक विल्वमङ्गल प्रतिभाशाली कवि था। उसका काव्य चिन्तामणिका कोकिल कण्ठ, लोकोत्तर गायन एवं नृत्यकलाको पाकर सार्थक हो गया। चिन्तामणिकी कला भी उस काव्यको प्राप्तकर सफल हुई। दोनोंका प्रेम प्रगाढ़तर होता गया। अब किसीको दूसरेके विना कुछ क्षण भी विश्राम नहीं था। युवकके नियम, संयम, धर्म, कर्म—सब समाप्त हो गये। वह अब चिन्तामणिके गायनमें ही मुग्ध रहने लगा। चिन्तामणिका भी कहीं आना-जाना बंद हो गया। उन्होंने सेवकोंको आदेश दे दिया कि उनके यहाँ कोई आने न पावे। सब प्रकार वे उसी युवकको प्रसन्न करनेमें तत्पर रहने लगीं।

पिता रुग्ण थे। सन्देशपर सन्देश आते थे; किंतु विल्वमङ्गल भला, चिन्तामणिको छोड़कर कैसे जायँ। चिन्तामणिने उन्हें घर जानेको विवश किया। दैवेच्छा, पिताने शरीर छोड़ दिया। अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न करनेमें रात्रि हो गयी। वर्षाके दिन, बढ़ी हुई नदी और अँधेरी रात्रि। हाथको हाथ नहीं सूझता था। जो भी हो, विल्वमङ्गलको तो चिन्तामणिके समीप पहुँचना ही है। यह साधारण वैषयिक प्रेम नहीं था। प्रगाढ़ होकर वह विशुद्ध हो चुका था। नदीमें कूद पड़े। किसी प्रकार तैरकर पार हुए।

चिन्तामणि सोतेसे जगानेपर उठी थीं। उन्होंने सब सुना। उनका प्रेम भी लौकिक नहीं था। वे विल्वमङ्गलसे सच्चा प्रेम करती थीं। विशुद्ध प्रेम प्रेमास्पदका आत्मकल्याण चाहता है। वह तो मोक्षका प्रशस्त मार्ग है। पतन तो कामके द्वारा होता है। चिन्तामणिके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा—



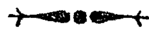
'आज ही आपके पिताने शरीर छोड़ा है। आपकी माता कितनी व्याकुल होंगी, यह मैं अनुमान कर सकती हूँ। आपको उन्होंने जन्म दिया है। कम-से-कम आज तो आश्वासन देने आपको उनके समीप रहना था। आप जिस चिन्तामणिके मोहसे इस भयंकर रात्रिमें बढ़ी हुई नदीको तैरकर, मृत्युकी उपेक्षा करके आये है, वह क्या है? हड्डी, मांस, स्नायु, रक्त, थूक, केश प्रभृति घृणित एवं अपवित्र वस्तुओंके अतिरिक्त मेरे इस शरीरमें क्या है? आप प्रतिभाशाली कवि हैं। तनिक कल्पना तो कीजिये कि मेरे सर्वाङ्गमें शीतलाके दाग पड़ गये हैं। मुझे गलित कुष्ठ हो गया है और घावोंसे राध बह रही है। क्या यह असम्भव है? इसी रूपके पीछे आप पागल हो गये हैं। सच्चे चिन्तामणि तो वे नवनीलनीरदच्छवि, मयूरपिच्छधर नन्द-नन्दन हैं। उन्हें

प्राप्त करनेपर चिन्ताएँ सदाके लिये मिट जाती हैं। उनकी अपार रूपराशिकी एक किरण ही इस सम्पूर्ण जगत्‌को सौन्दर्य देती है। कितनी तुच्छ, कितनी घृणित है यह वेश्या उनके सम्मुख। जितना प्रेम आपका इस नश्वर शरीरपर है, उतना यदि उनसे हो—कृतार्थ हो जाय यह चिन्तामणि भी।'

चिन्तामणि अपने शयन-कक्षके एक मनोहर चित्रकी ओर, जिसे उन्होंने स्वयं बनाया था, संकेत कर रही थीं बार-बार। बिल्वमङ्गल कवि थे। प्रतिभाशाली थे। उनका जीवन सदाचारपूर्ण व्यतीत हुआ था। अब भी उनमें कोई दुर्व्यसन नहीं था। चिन्तामणिसे उनका सच्चा प्रेम था। एक-एक शब्द उनके हृदयपर बैठता जा रहा था। जैसे कोई अत्यन्त श्रद्धालु शिष्य गुरुदेवके उपदेशोंको श्रवण करता है, वैसे ही एकाग्रचित्तसे वे एक-एक शब्द श्रवण कर रहे थे। उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल रहा था।

'देवि! तुम मेरी गुरु हो! तुम्हारा आदेश मुझे हृदयसे स्वीकार है।' बड़ी कठिनतासे भरे हुए कण्ठसे उन्होंने कहा और शीघ्रतापूर्वक प्रणाम करके लौट पड़े। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि व्रजमें पहुँचकर ही उन्होंने अपना विश्राम-स्थान बनाया। अपने 'श्रीकृष्णकर्णामृत' के मङ्गलाचरणमें उन्होंने सर्वप्रथम गुरुरूपसे चिन्तामणिका स्मरण किया है।

रात्रिभर चिन्तामणि रोती रहीं। वे बिल्वमङ्गलकी कल्याण-कामनाके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करती रहीं। सबेरा होते ही उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दीनोंमें वितरित कर दी। एक सादी साड़ी पहनकर अपने विशाल भवनका उन्होंने त्याग कर दिया। फूसकी एक झोपड़ीमें वन्यफल एवं कन्दमूल-पर निर्वाह करती हुई निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करने लगीं। उनका शेष जीवन एक साध्वी, तपस्विनी नारीके लिये आदर्श जीवन था। —सु० सिं०



सती रूपमती

शील और आचार किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं। यह तो पवित्र सुरसरिकी धारा है। प्रत्येकको इसमें निमग्न होने-का अधिकार है। जो इसमें स्नान करेगा, पवित्र हो जायगा। उसके पाप-ताप धुल जायँगे और वह लोकपूजित हो जायगा।

रूपमती एक वेश्याकी पुत्री थीं। माताने उन्हें नृत्य एवं संगीत सिखलाया था। संगीत-कलामें वे इतनी कुशल थीं कि कहते हैं, प्रसिद्ध गानविशारद तानसेन भी उनसे कुछ सीख गये थे। उज्जैनसे ५५ मील दूर मालवामें उनका जन्म हुआ था, किंतु उनकी कीर्ति सम्पूर्ण देशमें व्याप्त हो गयी थी। मालवानरेश बाजबहादुर नृत्य-संगीतके विख्यात प्रेमी थे। रूपमतीका जब अपने राजासे साक्षात् हुआ तो बाजबहादुर कलापर और रूपमती उनकी गुणग्राहकतापर मुग्ध हो गयीं। बाजबहादुरको उन्होंने अपना हृदय समर्पित कर दिया और नरेशने भी उन्हें अपनी समस्त रानियोंसे अधिक सम्मान दिया। उनके लिये पृथक् भवन बनवा दिया गया।

रूपमती विवाहिता स्त्रीसे भी अधिक बाजबहादुरकी सेवा-में संलग्न रहा करती थीं। उन्होंने नरेशको अपना पति मान लिया था और सदा उनकी आज्ञाका पालन करती थीं। बाजबहादुरका रूपमतीपर अपार प्रेम था। वे प्रायः रात-दिन उनके ही साथ रहते थे। रूपमती बाणविद्यामें निपुण थीं। उन्हें अश्वपरिचालनका पूरा ज्ञान था और आखेट उन्हें रुचिकर था। आखेटमें उनका अश्व बाजबहादुरसे आगे चलता था।

एक दिन रूपमती नरेशके साथ आखेटको वनमें गयी थीं। साथके सेवक पीछे छूट गये। सहसा भीलोंने आक्रमण कर दिया। नरेशपर विपत्ति देखकर रूपमतीने घोड़ेकी लगाम दाँतोंसे पकड़ी। धनुष चढ़ाकर उन्होंने घोड़ा आगे बढ़ाया उनकी तीव्र बाणवृष्टिने भीलोंको विचलित कर दिया। बाजबहादुर भी शरवर्षा कर रहे थे। भीलोंमेंसे कुछ मारे गये और शेष आहत होकर भाग खड़े हुए।

अबतक मालवाने बादशाह अकबरके सामने मस्तक नहीं झुकाया था। राजा बाजबहादुरके भोगविलासका समाचार पाकर अकबरने सन् १५९० में एक बड़ी सेना अहमदखाँके नेतृत्व-में भेज दी। भयङ्कर युद्ध हुआ। बाजबहादुरको पराजित होना पड़ा। वे भाग गये। जब अहमदखाँने अन्तःपुरमें प्रवेश किया तो उसने देखा कि राजाके आदेशानुसार राज-सेवकोंने सभी स्त्रियोंको तलवारके घाट उतार दिया है। अहमदखाँके कानोंमें रूपमतीकी कीर्ति पहुँची थी। वह उनको पाना चाहता था। पता लगानेपर मूर्च्छित दशामें रूपमती मिलीं। वे कम घायल हुई थीं और भ्रमवश सेवक उन्हें मृत समझकर छोड़ गये थे।

'पतिविहीन होकर जीनेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं कितनी अभागिनी हूँ कि पतिके इच्छानुसार मेरा अन्त नहीं हुआ। पतिका नाम लेते हुए मुझे शान्तिसे मरने दो।' मूर्छा दूर होनेपर रूपमतीने अपनी चिकित्सामें लगे लोगोंसे कहा।

उन्होंने औषध लेना अस्वीकार कर दिया और पट्टी नोच फेंकनेको उद्यत हो गयीं।

'बाजबहादुर जीवित हैं। वे केवल भाग गये हैं। अच्छी होनेपर तुम्हें उनके पास भेज दिया जायगा।' अहमदखाँने धूर्ततापूर्वक आश्वासन दिया। रूपमतीको विश्वास हो गया। उन्होंने ओषधि ले ली तथा पट्टी बाँधने दी। उनके इच्छानुसार अहमदखाँने उन्हें शेख अहमदनीके पास भिजवा दिया। वे एक धार्मिक पुरुष थे। बाजबहादुरकी उनपर श्रद्धा थी। रूपमतीने इन अपरिचितोंके मध्यमें रहनेकी अपेक्षा वहाँ रहना अच्छा समझा। ठीक होनेपर जब उन्होंने बाजबहादुरके पास जानेकी इच्छा प्रकट की तो उत्तर मिला कि 'बाजबहादुर अभी बादशाहका शत्रु है। जबतक बादशाहके पास उपस्थित होकर वह क्षमा न माँगे और बादशाह उसे क्षमा न कर दें, तबतक उसके पास किसीको भेजा नहीं जा सकता।'

'चलो, खाँ आपको याद करते हैं। अब बाजबहादुर निर्धन हो गया। खाँका राज्य है। उन्हें प्रसन्न करनेमें ही अब तुम्हें सुख मिलेगा।' यह सन्देश उसी दिन शामको अहमदखाँके दूतने सुनाया। रूपमतीको अब उसके भावका पता लगा। उसने सोचा, प्रतिवाद करना व्यर्थ है। दुष्ट अहमदखाँको कोई रोकनेवाला नहीं। वह पकड़ मँगावेगा और बलप्रयोग करेगा। बड़ा दुःख हुआ उस सरलहृदयाको।

'खाँको कहना, मैं उनकी बादी हूँ। मेहरबानी करके आज वे यहीं आवें। मैं उनका इंतजार करूँगी।' दुःख एवं रोषके भावको दबाकर रूपमतीने हँसते मुख दूतको सन्देश देकर विदा किया। उन्होंने स्नान किया। बहुत सुन्दर वस्त्र पहना। सब बहुमूल्य आभूषण धारण किये। वेणीमें पुष्प गूँथे। सम्पूर्ण शरीरमें इत्र लगाया। भली प्रकार शृङ्गार करके एक शय्यापर बहुमूल्य आस्तरण डाला। उसपर फूल बिछाये। इस प्रकार पूरी तैयारी हो गयी।

'हे परमेश्वर! मैं आत्महत्या नहीं कर रही हूँ। मनसे भी मैंने पतिको छोड़कर किसी दूसरे पुरुषका चिन्तन नहीं किया है। मेरे शीलकी रक्षाका कोई और मार्ग रहा नहीं। मुझे क्षमा करो। परलोकमें पतिके चरण मुझे प्राप्त हों,' प्रार्थना करके रूपमतीने भयङ्कर विष पी लिया और मुखपर इत्रमें सना रूमाल डालकर शय्यापर सो गयी।

अहमद खाँ खूब सजकर आया। उसने समझा रूपमती मेरे आनेमें देर होनेसे रूठकर सो गयी हैं। पुकारनेका परिणाम न होते देख मुखसे रूमाल हटाया। नीले ओठ, चढ़े नेत्र, विचित्र



आकृति। पीछे हट गया वह। सिर पीट लिया उसने अपना। रूपमतीके सतीत्वने उस पाषाणको पिघला दिया था।

सारंगपुरमें एक तालाबके पास रूपमतीकी समाधि है। मालवामें रूपमतीके निर्मित सरस पद अबतक प्रेमसे गाये जाते हैं। रूपमती एवं बाजबहादुरके चित्र अनेकों मिलते हैं। उनके अमर प्रेमकी अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं। रूपमती अच्छी कवि थीं। उनकी कवितामें प्रेमका गौरव-गान है। उनके एक पदका भाव है—

'दूसरे दूसरी सम्पत्तियोंका संग्रह करें। मेरा धन तो प्रियतमका प्रेम है। प्रेमका धन मैं सबकी दृष्टिसे बचाकर हृदयमें रखती हूँ। इस धनमें कभी कमी नहीं होती। मेरी सम्पत्ति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती है। मैंने अपनेको प्रियतमको समर्पित कर दिया है। मेरा प्रेमधन अनन्त है।'

—सु० सिं०

महामायाकी छाया

भारत! भूलना नहीं—तुम्हारी नारी-जातिका आदर्श सीता, सावित्री और दमयन्ती हैं। भूलना नहीं—तुम्हारा समाज विराट् महामायाकी छायामात्र है। —स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामजनीजी



संत कृष्णदासके पैर क्षणभरके लिये रुक गये। तबलेकी गमगमाहट, पायलकी रुनझुन और सारङ्गीके मधुर स्वरके साथ गणिका रामजनीकी मधुर स्वर-लहरी थिरक रही थी।

'कितना मधुर स्वर है इस वेश्या-पुत्रीका। वाणी जैसे अमृतमें डुबोयी गयी है। यदि यह हमारे गोवर्धन-धरके सामने गाती तो इसका जीवन, इसका जन्म सफल......' संतने तुरंत सोच लिया। वे भगवान्‌के लिये वस्त्राभूषण लेने गोवर्धनसे दिल्ली आये थे। गलीमें गणिकाकी मधुर तानपर मुग्ध होकर उन्होंने यह निर्णय कर लिया।

'मेरे ठाकुरके पास चल सकोगी?' सीढ़ीसे उतरते ही कृष्णदासने लावण्यमयी गणिकासे कहा। 'वे अनन्त सम्पत्ति-सम्पन्न और उदार हैं। तुम्हारी दीनता सदाके लिये मिट जायगी।'

'हाँ, हाँ, अवश्य चलूँगी,' धनकी लोभिन गणिकाने उत्तर दिया। 'आपकी आज्ञाके लिये दासीके तन, मन और प्राण सभी प्रस्तुत हैं।'

× × ×

रामजनीने सोचा था किसी धनवान् जमींदारके यहाँ चलना है। वस्त्राभूषणसे वह पूर्णतया सुसज्जित थी। सौन्दर्य उसका निखर गया था। उसके अङ्ग-अङ्गमें आकर्षण था। पुरुषको उन्मत्त बना देनेकी क्षमता थी। भजन रटाते बाबाजी उसे गोवर्धनके मन्दिरमें ले आये। वह चकित थी, पर चुप थी; रुपया तो उसे पहले ही मिल चुका था।

'भजन गाओ, देवि!' श्रीकृष्णदासने अत्यन्त प्रेमसे कहते हुए भगवान्‌का पट खोल दिया।

गणिका रामजनीने भगवान्‌को देखा—केवल एक बार देखा, न जाने कौन-सी सम्मोहक शक्ति थी उस प्रतिमामें। गणिका छक गयी। बिक गयी। उसका मन अपने वशमें नहीं रह पाया। टकटकी लगाये वह गोवर्धनधरकी ओर देखती रही। बहुत देरतक देखती रही।

'प्रार्थना सुनाओ, बेटी!' संतने गणिकाको सचेत किया। उसने समझा मैं गानेके लिये यहाँ आयी हूँ। कृष्णदासजीने उसे एक पद बनाकर मुखस्थ करा दिया था। उसे ही वह गानेका उपक्रम करने लगी।

तबलेपर थाप पड़ी, वह गमक उठा। सारङ्गी काँप गयी। मञ्जीर झनझना उठा। मधुर वाद्योंका एक समाँ बँध गया। रामजनीने गाना आरम्भ किया।

'मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यौ' स्वरमें अनुपम मधुरता थी। श्रोता झूम उठे। श्रीकृष्णदासकी आँखें भर आयीं। रामजनीका मन तो सचमुच गिरिधर-छविमें अटक गया था। उसने इस पंक्तिको कई बार दुहराया। प्रत्येक बार उसमें नूतन रस छलकता दीखता था। गणिकाका तो प्राण स्वरोंसे तड़पता हुआ बोल रहा था। गीत आगे बढ़ा—

ललित त्रिभंग चारु पै चलि कै,
चिबुक चारु गडि ठटक्यौ॥ १॥

रामजनी श्यामसुन्दरके रंगमें रँगकर श्यामसुन्दर बन गयी थी। अपनी देहका ध्यान उसे नहीं था। त्रिभङ्गी चाल चलकर चिबुक पकड़कर ठिठकनेका अत्यन्त सुन्दर चित्रण नृत्यमें उसने किया। दर्शक मुग्ध थे।

सजल स्याम घन बरन लीन है,
फिर चित अनत न भटक्यौ।

जलसे लदे बादलका आकार बनाती हुई वह धनश्यामकी भुवनमोहिनी मूर्तिकी ओर देखने लगी। आँखें उसकी भर आयीं। बड़े साहससे उसने पदके अन्तिम अंशकी पूर्ति की।

कृष्णदास किए प्रान निछावर,
यह तन जग सिर पटक्यौ॥ २॥

रामजनीका पार्थिव शरीर धम्मसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसकी साँस बंद हो गयी थी। भक्तगण उसके सौभाग्यकी प्रशंसा कर रहे थे।

साधु-संत और आचार-विचार रखनेवाले सब लोगोंने भगवान्‌का कीर्तन करते हुए उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की। रामजनी धन्य थी। उसके सौभाग्यपर देवगणोंको भी ईर्ष्या होती है। —शि० दु०

महारानी जिन्दा

यह समझना कि बड़े-बड़े राजप्रासादोमें रहनेवालोंको सुख-दुःखका अनुभव कम होता है, बहुत बड़ी भूल है। ऐसे लोगोका जीवन काँटोंका ताज है। उनके कंधोंपर देश, जाति, समाज और राष्ट्रके प्रति बड़े-बड़े उत्तरदायित्व रहते हैं। महारानी जिन्दाका जीवन गुलाबकी सेज नहीं, काँटोंका जाल था। कुछ लोग इस रानीका नाम जिन्दो भी बतलाते हैं। वह पंजाब-केशरी महाराज रणजीतसिंहकी रानी थी। उसने जिस धैर्यसे अपने अन्तिम दिन बिताये, वह एक इतिहासप्रसिद्ध बात है और सर्वथा सराहनीय तथा स्तुत्य है।

सन् १८३९ ई०मे महाराज रणजीतसिंहकी मृत्युके बाद पंजाबमे अराजकता फैल गयी। सिखसेना स्वच्छन्दता-पूर्वक कार्य करने लगी, प्रत्येक सिख सरदार अपनी रियासत-की सीमा बढ़ाकर सारे पंजाबको हथिया लेना चाहता था। अंग्रेजोकी गृध्रदृष्टि पंजाबपर लगी हुई थी। महारानी जिन्दा-ने अपने सेनापति हरिसिंहकी सहायतासे अपने पाँच वर्षके बेटे दिलीपसिंहको राज्यका अधिकारी बनाकर शासनकी बागडोर अपने हाथमे ले ली।

सन् १८४५ ई०मे सिखों और अंग्रेजोकी लड़ाई छिड़ गयी, अंग्रेज जीत गये; लेकिन पंजाब अंग्रेजी-राज्यमे नहीं मिलाया गया। हेनरी लारेन्स वहाँका रेजीडन्ट बनाया गया। इस तरह अंग्रेजोने महाराज दिलीपसिंहको अपने हाथका खिलौना बनाकर रानी जिन्दाको राज्यके कार्यों-से अलग कर दिया और उसके गुजारेके लिये डेढ़ लाख रुपये-की वार्षिक पेन्शन नियत कर दी। रानीने अपनी पेन्शनको दान-धर्ममें लगाना आरम्भ कर दिया। गरीबों और दीन-दुखियोंको अन्न-वस्त्र दिया जाने लगा और वह स्वयं जीवन-का शेष भाग भगवान्‌की पूजा और उपासनामें बिताने लगी। लारेन्सको उसका यह आचरण अच्छा न लगा। लगता ही क्यों, वह तो पंजाबको हड़पनेकी तैयारी कर रहा था। रानीकी पेन्शन चालीस हजार रुपयोंकी कर दी गयी। धर्मपत्नी जिन्दाने पेन्शन घटा दिये जानेको अपना अपमान समझा, उसने भीतर-ही-भीतर विद्रोहकी तैयारी आरम्भ कर दी; लेकिन गोरे-प्रभुओंके जासूससे यह बात छिपी न रह सकी, वह बन्दी बनाकर बनारस भेज दी गयी। सिखोंने अपनी रानीको बन्दीके रूपमें देखना महापाप समझा, उन्होंने विद्रोहके पलीतेमें आग लगा दी। सन् १८४९ ई०में चिलियानवालामें भयानक युद्ध हुआ, मैदान सिखोंके हाथ रहा। कुछ दिनोंके बाद गुजरातके युद्धमें सिखोंको बुरी तरहसे अंग्रेजोने दबा दिया।

महारानी स्वाधीनताके लिये आकुल हो उठी; उसने जेलके फाटक तोड़ डाले, अपने हाथोंसे ही अपनी पराधीनता-की हथकड़ी-बेड़ी काट डाली। पंजाबमे उस समय विद्रोहकी आग सुलग रही थी; फिर भी वहाँ जाना उसने ठीक नहीं समझा। महारानीने योगिनीका वेष धारण किया और नैपालकी ओर चल पड़ी। सचमुच यह बहुत बड़ी वीरता, साहस और बुद्धिमत्ताका काम था। सन् १८४९ ई०मे वह नैपालके भिच्छाखोटी-नामक स्थानपर पहुँच गयी। उस समय नैपालके प्रधान मन्त्री राणा जंगबहादुर थे; उन्होंने अपने उत्तरदायित्वपर रानीको नैपालमें रहनेके लिये स्थान दिया और कभी भी राज्यकी ओरसे भारतकी स्वतन्त्र राजरानीके स्वागत-सत्कारमें किसी तरहकी कमी न होने दी। अंग्रेजोने रानी-को वापस माँगा और धमकी दी कि नैपाल-सरकार इस माँगकी ओर ध्यान न देगी तो सन्धि-भंगका उत्तरदायित्व उसपर होगा। राणाने अंग्रेजोको कोरा-सा जवाब दे दिया।

कुछ दिनोंके बाद राजकुमार दिलीपसिंह इंग्लैंड भेज दिया गया। रानी अपने पुत्रको प्राणसे भी बढ़कर प्यार करती थी, वह इंग्लैंड जा पहुँची। वहाँ जाकर उसने जो कुछ देखा, उससे वह पागल हो उठी; दिलीप तो धर्मको तिलाञ्जलि दे चुका था। सती-साध्वी धर्म-परायणा हिंदू-माता-के हृदयको बहुत बड़ा आघात पहुँचा और धर्मद्रोही राज-कुमारके प्रति उसका वात्सल्य और मातृ-प्रेम घृणा और उपेक्षामे परिवर्तित हो उठा।

महारानीने अनेक कष्ट सहकर भी सतीत्व और धर्म तथा कर्तव्यसे कभी मुख न मोड़ा। सन् १८६३ ई०में इस तपस्विनी और आदर्श हिंदू-नारीका इंग्लैंडमें ही देहावसान हो गया। —रा० श्री०

देवी अमरो

देवी अमरो प्रसिद्ध सिक्ख गुरु अंगदजीकी पुत्री थीं । धार्मिक भावना उनमें कूट-कूटकर भरी थी; पर उनका जीवन-सूत्र जिन अमरदासके साथ जुड़ा, वे धर्मकी अवहेलना करनेवाले थे । धर्मके प्रति उनके मनमें कोई भी श्रद्धा नहीं थी ।

अमरो इस बातसे रात-दिन दुखी रहती थी । सिक्खोंके द्वितीय गुरुकी पुत्रीका पति धार्मिक न हो, उसके लिये इससे बढ़कर लज्जाकी और कोई बात नहीं थी । पतिकी रुचि धर्मकी ओर केन्द्रित हो जानेके लिये वह शुद्ध मनसे भगवान्‌से करुण प्रार्थना किया करती थी । पति जब भी उसके पास आते, वह उनके सामने धर्मकी महत्ता वर्णन करने लगती । धार्मिक कथाओंको इतने प्रेम, इतनी श्रद्धा और इतने मार्मिक ढंगसे वह सुनाती कि उसके पति मन्त्रमुग्धकी तरह उसे सुनते रहते ।

प्रातःकालका मनोहर समय था । अंशुमालीकी गुलाबी रश्मियाँ धरातलकी वृक्ष-लताओं और कण-कणको अपने रंगमें डुबा रही थीं । शीतल पवन धीरे-धीरे बह रहा था । अमरो अत्यन्त मधुर स्वरसे प्रभुका भजन गा रही थी । उसकी वाणीमें जैसे अमृत घुला हुआ था ।

'अबसे मैं भी भगवद्भजन करूँगा प्राणेश्वरी' अमरदासने पूरा भजन पीछेसे सुन लिया था । उन्होंने कहा 'इसे फिर सुनाओ ।'

अमरोके वदनपर हँसी खेल गयी । जी खोलकर उसने भजन गाया । अमरदास झूम रहे थे ।

अमरदास सिक्खोंके प्रसिद्ध तृतीय गुरु हुए, यह सभी जानते हैं । इसका श्रेय देवी अमरोको ही है । सिक्खोंके द्वितीय गुरु अंगदजी स्त्री-जातिको पूज्य समझकर अत्यन्त श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे ।—शि० दु०

देवी साहेबकुँवर

सिक्खोंके प्रसिद्ध और पूज्य गुरु गोविन्दसिंह पाँच वीर योद्धाओंको अपने धर्मकी दीक्षा दे रहे थे । वे कह रहे थे 'विश्वकी प्रत्येक जातिके प्रत्येक व्यक्तिको ही नहीं, अपितु प्रत्येक चराचर प्राणीको भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार है । भगवान् परम पिता हैं । करुणाके सागर हैं । समस्त प्राणियोंके मस्तकपर उनका करुणामय, प्रेममय और परम शान्तिमय वरद करकमल है । खालसा जातिका यही धर्म है । वह विश्वके सभी मनुष्योंको समेटकर एक सूत्रमें ग्रथित कर देना चाहती है ।'

'नैवेद्य ग्रहण करें !' गुरु गोविन्दसिंहकी धर्मपत्नीने मस्तक झुकाये कहा । वे अमृतरस तैयार करके लायी थीं । साथमें बताशा भी था ।

'तुम ठीक समयपर आयीं,' बताशेको अमृत-रसमें डुबाते हुए गुरु गोविन्दसिंहने कहा । 'योग्य नारी पुरुषके जीवनमें मधुमय अमृत उँडेलकर उसके जीवनमें सुख-शान्तिकी सरिता प्रवाहित कर देती है । पुरुषको नारीका कृतज्ञ होना चाहिये ।'

साहेबकुँवर परम चतुर और धार्मिक नारी थीं । इसी कारण इन्हें गुरु गोविन्दसिंहकी धर्मपत्नी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था । दीक्षा लेते समय सिक्खोंने कहा था—'गुरु गोविन्दसिंहजी हमारे पूज्य पिता और साहेबकुँवर हमारी परम पूजनीया जननी हैं ।'—शि० दु०

देवी शरणकुँवर

अग्निकी भयङ्कर लपटें देखकर मुगल-पठान दौड़ पड़े । समर-भूमिकी लहू-लुहान लाशोंको रौंदते हुए वे चले गये ।

'तुम कौन हो ?' भयङ्कर चिताग्निके पास खड़ी षोडशी बालिकाको देखकर एक पठानने प्रश्न किया । अर्ध-रात्रिके प्रगाढ़ तममें जब आकाशमें काले बादल मँडरा रहे थे, इस बालिकाने सिक्खोंके शवको एकत्र कर इतनी बड़ी चिता कैसे बना ली ?

बालिकाने पंजाबके सीमा-क्षेत्रपर वीर सिक्खोंकी मृत्यु होनेपर सोचा था—'इन वीरकी मा-बहनें होतीं तो इनकी लाशोंकी दुर्गति नहीं होती । श्रृगाल कुत्ते और चीलके पेटमें इनका मांस नहीं जाता । पर इनकी बहिन मैं जीवित हूँ । मैं अपने कर्तव्यका पालन करूँगी ।'

लाशोंपर पैर रखते हुए बालोंको देखकर उसने सिक्खोंके शव एकत्र किये थे एकाकी, तिमिराच्छन्न निशीथमें । वह थक गयी थी । फिर भी विशाल चिता तैयार करके उसने उसमें आग लगा दी ।

यह बात ऐसी थी, जिसे वह प्रकट नहीं करना चाहती थी । असत्य भाषण भी वह नहीं कर सकती थी । वह मौन थी । क्रुद्ध पठानोंने उसे उठाकर चितामें डाल दिया । क्षणभरमें उसके शरीरका अस्तित्व लोप हो गया ।

शरणकुँवरका जन्म गुरु गोविन्दसिंहके समयमें हुआ था ।—शि० दु०

विदुषी लीलावती

बहुत दिनोंकी बात है, भारतके प्रत्येक विद्यार्थी और अध्यापककी जीभपर साध्वी लीलावतीका नाम रहता था। लीलावती गणितविद्याकी आचार्या थी; जिस समय विदेशी गणितका क-ख-ग भी नहीं जानते थे, उस समय उसने गणितके ऐसे-ऐसे सिद्धान्त सोच डाले, जिनपर आधुनिक गणितज्ञोंकी बुद्धि चकरा जाती है।

दसवीं सदीकी बात है, दक्षिण भारतमें भास्कराचार्य नामक गणित और ज्यौतिष विद्याके एक बहुत बड़े पण्डित थे। उनकी कन्याका नाम लीलावती था। वही उनकी एकमात्र सन्तान थी। उन्होंने ज्योतिषकी गणनासे जान लिया कि 'वह विवाहके थोड़े दिनोंके ही बाद विधवा हो जायगी।' उन्होंने बहुत कुछ सोचनेके बाद ऐसा लग्न खोज निकाला, जिसमें विवाह होनेपर कन्या विधवा न हो। विवाहकी तिथि निश्चित हो गयी। जलघड़ीसे ही समय देखनेका काम लिया जाता था। एक बड़े कटोरेमें छोटा-सा छेद कर पानीके घड़ेमें छोड़ दिया जाता था। सूराखके पानीसे जब कटोरा भर जाता और पानीमें डूब जाता था तब एक घड़ी होती थी। विधाताका ही सोचा होता है। लीलावती सोलह श्रृङ्गार सजकर बैठी थी, सब लोग उस शुभ लग्नकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि एक मोती लीलावतीके आभूषणसे टूटकर कटोरेमें गिर पड़ा और सूराख बंद हो गया; शुभ लग्न बीत गया और किसीको पता तक न चला। विवाह दूसरे लग्नपर ही करना पड़ा; लीलावती विधवा हो गयी, पिता और पुत्रीके धैर्यका बाँध टूट गया!

पुत्रीका वैधव्य-दुःख दूर करनेके लिये भास्कराचार्यने उसे गणित पढ़ाना आरम्भ किया। उसने भी गणितके अध्ययनमें ही शेष जीवनकी उपयोगिता समझी। थोड़े ही दिनोंमें वह उक्त विषयमें पूर्ण पण्डिता हो गयी। पाटी-गणित, बीजगणित और ज्यौतिष विषयका एक ग्रन्थ 'सिद्धान्त-शिरोमणि' भास्कराचार्यने बनाया है। इसमें गणितका अधिकांश भाग लीलावतीकी रचना है। पाटीगणितके अंशका नाम ही भास्कराचार्यने अपनी कन्याको अमर कर देनेके लिये 'लीलावती' रक्खा है।*

मनुष्यके मरनेपर उसकी कीर्ति ही रह जाती है। लीलावतीने गणितके आश्चर्यजनक और नवीन, नवीनतर तथा नवीनतम सिद्धान्त खिरकर विश्वमात्रका उपकार किया है। वैधव्यने उस साध्वी नारीकी कीर्तिमें चार चाँद लगा दिये।

सती खना

गणितमें लीलावती और ज्योतिषमें खनाका नाम बहुत प्रसिद्ध है। खना लङ्काद्वीपके एक ज्योतिषीकी कन्या थी। सातवीं या आठवीं सदीकी बात है। उज्जयिनीमें महाराज विक्रमका राज्य था। उनके दरबारमें बड़े-बड़े कलाकार, कवि, पण्डित, ज्योतिषी आदि विद्यमान थे। वराह ज्योतिषियोंका अगुआ था। उसकी गणना नवरत्नोंमें होती थी। इतिहासज्ञ वराहमिहिरके नामसे परिचित हैं। मिहिर वराहका लड़का था। मिहिरका जन्म होनेपर वराहने गणना करके देखा कि मिहिरकी आयु केवल दस सालकी थी; परंतु यह उसकी भूल थी। उसने गणना करते समय एक शून्य छोड़ दिया था, उसकी आयु सौ सालकी थी। वराहने उसे एक हाँड़ीमें बंद कर क्षिप्रा नदीमें फेंक दिया, हाँड़ी व्यापारियोंके हाथ लगी; उन्होंने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया और काममें लगा दिया। मिहिर होनहार तो था ही, ज्यौतिषविद्या उसकी पैतृक सम्पत्ति थी; वह घूमता-फिरता लङ्कामें एक ज्योतिषीके घर पहुँचा। उसने ज्यौतिषका अध्ययन किया। ज्योतिषीकी कन्यासे उसका विवाह हो गया, जो ज्योतिषमें पारङ्गता थी। कालान्तरमें उसने भारतयात्रा की। उज्जयिनीमें भी आकर उसने वराहतकको परास्त किया। किसी तरह वराहको पता चल गया कि यह उसका ही पुत्र है।

अब ज्योतिषके कड़े-से-कड़े प्रश्न हल हो जाया करते थे। कभी-कभी घरके भीतर बैठी खना ससुरको बड़ी-से-बड़ी भूलका ज्ञान करा देती थी। नगरवाले नहीं जानते थे कि मिहिरकी पत्नी इतनी विदुषी है। वराह उसकी विद्वत्तापर मन-ही-मन कुढ़ता था। उसे यह बात कभी नहीं अच्छी लगती थी कि वह समय-समयपर मेरी गणनामें भूल निकाला करे। खनाको ऐसी-ऐसी गणनाएँ आती थीं, जिनका वराह या मिहिरको थोड़ी मात्रामें भी ज्ञान नहीं था।

* 'लीलावती' ग्रन्थमें आये हुए 'सखे' 'मृगनयने' 'कान्ते' आदि सम्बोधनोंके कारण कुछ लोग लीलावतीको भास्कराचार्यकी सहधर्मिणी मानते हैं।

एक दिन राजाने तारागणोंके सम्बन्धमें वराहसे कठिन प्रश्न किया । उसने मौका माँगा । सन्ध्या-समय घर लौटकर वह प्रश्न हल करने लगा, परंतु किसी प्रकारसे मीमांसा न हुई । रातमें भोजन करते समय बात-की-बातमें खनाने उसे समझा दिया; वराह यह सोचकर प्रसन्न हुआ कि पुत्र-वधूकी विद्यासे राजसभामें मेरा मान बना रहेगा । दूसरे दिन राजाने हलकी विधि पूछी । वराहको कहना ही पड़ा कि प्रश्नका हल खनाने किया है । राजा तथा सभा-सदस्य चकित हो उठे । राजाने कहा, 'उसे आदरके साथ सभामें लाइये, हम और प्रश्न करेंगे ।' वराहको यह बात अच्छी न लगी । उसने घर आकर पुत्रको खनाकी जीभ काट लेनेकी आज्ञा दी । मिहिर पिताके आज्ञापालन और सती-साध्वी विदुषी खनाके प्रेमसे घिर गया । खनाने मिहिरको समझाया कि स्त्रीके मोह या प्रेमसे अधिक महत्त्व पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें है; उसने कहा कि 'मेरी मृत्यु किसी दुर्घटनासे होगी, इसलिये आप निर्भय होकर जीभ काट लें ।'

मिहिरने पतिव्रताकी बात मान ली । उसने उसकी जीभ काट ली । इस तरह साध्वी खनाने पतिको स्वधर्मपरायणताकी सच्ची सीख दी और ससुरको अपनी कुलवधूको राजदरबारमें उपस्थित करनेसे बचा लिया ।

किसान और देहाती जन खनाके बताये सिद्धान्तों और गणनाओंसे पानी बरसने, सूखा पड़ने आदिका भविष्य बतलाते हैं । —रा० श्री०

भडली

श्रावण पहिले पाँच दिन, मेघ न माँडे आल ।
पिया पधारौ मालवा, मैं जैहौं मौसाल ॥
पूरब दिसिमें कातरी, जो आथमते सूर ।
भडली वायक इमि भडे, दूध जमाऊँ कूर ॥
सनि, आदित या मंगलहिं, जौं पौढ़ें जदुराय ।
चाक चढ़ावै मेदिनी, पृथ्वी परलै थाय ॥
श्रावन सुक्ला सप्तमी उदय न दीखै भानु ।
तब लगि देव बरसहीं, जब लगि देव उठान ॥
अंडा ले चींटी चढ़ै, चिड़ी नहावै धूर ।
ऊँचे चील उड़ान लै, है बरसा भरपूर ॥

ये कृषकोंके लिये जीवनसूत्र हैं । काठियावाड़से लेकर उत्तरभारत तक इनका प्रचार है । इस प्रकारके सूत्ररूप दोहे ऋतुके सम्बन्धमें, उपजके सम्बन्धमें, पशुओंके सम्बन्धमें तथा कृषि-पशु एवं मनुष्योंके रोगोंके सम्बन्धमें ग्रामोंमे अत्यन्त प्रचलित हैं । ये प्रायः ज्यों-के-त्यों सत्य सिद्ध होते हैं । पता नहीं, कितने दीर्घकालीन अनुभव एवं गहन ज्योतिषका तत्त्व इनमें निहित है ।

मारवाड़के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी हुदादकी कन्या भडलीने इस प्रकारके दोहोंका निर्माण किया है । ये दोहे ही बताते हैं कि उनका ज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान कितना विशाल था । प्रायः भडलीके दोहे अत्यन्त सरल ग्रामीण भाषामें हैं । सूत्रकी भाँति उनमें पूरी बात कह दी गयी है । ग्राम्य कृषकोंके लिये तो वे पुराण हैं ।

पितासे भडलीने ज्योतिषका ज्ञान प्राप्त किया था । साथ ही बड़ी सावधानीसे उन्होने दीर्घकालतक प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण किया था । उनके ज्ञान एवं अनुभवके द्वारा आज भी असंख्यों कृषकोंका उपकार हो रहा है । —सु० सिं०

उठो !

उठो बहनो ! क्या सोच-विचार ।
आज छाया है कौन खुमार ।
वीर थीं तुम तो पहले धीर,
भीरु क्यों बनती अब लाचार !

बनी जाती हो क्यों नादान,
भूलकर वह अपना अभिमान ।
शिवा, राणा-सी वीर महान,
तुम्हींने पैदा की संतान ॥

कहाँ वह कर्म धर्म-अनुकूल,
कहाँ वह जीवन सुखका मूल,
देख यह पश्चिमीय अँधियाव,
वही क्यों जाती सुध-बुध भूल ॥

उठा लो अपना शस्त्र कृपाण,
करो भारतका नव-निर्माण;
गुँजा दो नभमें गौरव-गान,
जग उठे हिंदू-राष्ट्र महान !!

—कु० शैल गर्ग

दक्षिणके नारी-पञ्चरत्न

(लेखक—श्री १००८ श्रीकाञ्ची कामकोटिपीठाधीश्वर श्रीश्रीशङ्कराचार्यजी महाराज)

द्रविड़देशके शैव-सम्प्रदायने प्राचीन ६३ शिव-भक्तोंको प्रधान माना जाता है। उन्हें 'नायनमार' कहते हैं। इनके रचित अनेक भावपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें तीन नारियाँ हैं, जो महाशिवभक्ता हो गयी हैं। श्रीपुनीतवती, श्रीमङ्गैयर्करशि और श्रीनिलकवती। उस समयके विष्णुभक्तोंमें बारह मुख्य माने जाते हैं। भगवान् नारायणकी भक्तिधारा उनके ग्रन्थोंमें अबाध प्रवाहित होती है। उनके गीत वेदाध्ययनकी भाँति वैष्णवोंद्वारा गाये जाते हैं। इन्हें 'आळवार' कहते हैं। 'आळवारों'में भक्तिमती श्रीआंडाल (गोदा) मुकुटमणिके समान हैं। इनके अतिरिक्त श्रीमती औवैयार दक्षिणमें सर्व-मान्य नारी सन्त हो गयी हैं। इन पञ्चरत्नोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१—श्रीमती औवैयार

दक्षिण भारतकी जो भूमि 'श्रीकाञ्ची', 'श्रीकावेरी' और 'श्रीकुमारी'—शक्तित्रयरूपसे भूषित है, जहाँ पावनतम तीर्थक्षेत्र एवं पीठ हैं, उसी पुण्यक्षेत्रमें दो सहस्र वर्ष पूर्व ये संत-स्त्री महात्मा आविर्भूत हुईं। झोपड़ीसे राजसदनतक वृद्धाओं-की कहानियों एवं बच्चोंकी तोतली वाणीमें इनका सुयश विस्तीर्ण है। श्रीमती औवैयारका स्थान दक्षिणी संतोंमें प्रथम है। 'क्रोध मत करो!' 'धर्म करो!' 'माता-पिता हमारे प्रत्यक्ष देव हैं' ये औवैयारके उपदेश-वाक्य हमारी पाठशालाओं-की शिशुकक्षाके पाठ बन चुके हैं।

दो पदोंके छोटे ग्रन्थोंसे लेकर मोक्षप्रद गूढ आध्यात्मिक विशद ग्रन्थोंका निर्माण औवैयारने किया है। यहाँ उनकी महिमा व्याप्त है। ग्राम्य लोकोक्तियोंमें उनके महावाक्य विकीर्ण हुए हैं। श्रुतिकी भाँति औवैयारका उद्धरण देते ही प्रतिवादीको कुण्ठित हो जाना पड़ता है। इन महासंतके परमाराध्य भगवान् गणपति थे; फिर भी इनके ग्रन्थोंमें जन-साधारणके लिये शिव-विष्णु प्रभृति श्रीविग्रहोंकी उपासना-की अपार प्रेरणा है।

औवैयारका चरित उत्तम गुणोंका आदर्श है। इनके प्रकाशित ग्रन्थोंसे कहीं अधिक अप्रकाशित ग्रन्थ हैं। तंजोर जिले-में 'मायूर अरन्तांगि (Mayavaram to Arantangi) लाइनमें तिल्लैविलाकम् स्टेशनके समीप कर्पनारकोविल अथवा तिरुक्कोळिलि क्षेत्रम् एक प्राचीन शिवक्षेत्र है। उसके समीप तुलसियार पट्टनम् ग्राममें औवैयारका एक मन्दिर है। मन्दिर-के साथ दी हुई भूमि है। तीन वर्ष पूर्व इन दोनों मन्दिरोंका महाकुम्भाभिषेक-महोत्सव जीर्णोद्धार करके सम्पन्न हुआ है।

२—श्रीमती पुनीतवती [कारैक्काल अम्मैयार]

कारैक्काल प्रदेश फ्रेंच शासनमें है। श्रीमती पुनीतवती-का यहीं आविर्भाव हुआ था। यह स्थान तंजोर जिलेके समीप है। इनके सम्बन्धमें एक घटना लोकमें अत्यन्त प्रख्यात है। किसी समय श्रीमती पुनीतवतीके पति श्रीपरमदत्त-जीको किसी सज्जनने दो सुपक्व आम्रफल दिये। इन्होंने पत्नीको रखनेके लिये दे दिया। उसी दिन कोई साधु अतिथि आये उनके गृहमें। अतिथि तो स्वयं आराध्यके स्वरूप होते हैं। उनके सत्कारमें पुनीतवतीजीने एक आमका उपयोग किया। पतिदेव भोजन करने बैठे। दूसरा आम उनके सम्मुख आया। आम बड़ा स्वादिष्ट था। एक फलसे तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने पत्नीसे दूसरा फल माँगा। सती साध्वी पुनीतवती अपने पतिके क्रोधी स्वभावको जानती थीं। भयके कारण वे कह नहीं सकीं कि फल अतिथिको अर्पित हो चुका है। भीतर जाकर वे आराध्यके सम्मुख प्रार्थना करने लगीं। सहसा एक फल उनकी अञ्जलिमें आ गया।

श्रीपरमदत्तजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा अमृत-स्वाद, यह दिव्य सुरभि तो जीवनमें उन्हें कभी नहीं प्राप्त हुई थी। यह तो उनका दिया फल नहीं हो सकता। उन्होंने पत्नीसे पूछा और उस सरलाने सब सत्य-सत्य सुना दिया। इस लाभसे लोभ हुआ। एक और फलकी उन्होंने इच्छा प्रकट की। श्रीपुनीतवतीने पुनः प्रार्थना की। फल उनकी अञ्जलिमें आया; किंतु परमदत्तजीके करोंमें पहुँचते ही वह अदृश्य हो गया। इस घटनाकी स्मृतिमें प्रत्येक वर्ष वहाँ फाल्गुनके स्वाती नक्षत्रमें 'आम्रफलोत्सव' मनाया जाता है।

पत्नीकी भगवद्भक्ति एवं प्रभाव देखकर परमदत्तजीकी उनके प्रति आदरबुद्धि हो गयी। श्रीपुनीतवतीको बड़ा दुःख हुआ इससे। अब पतिदेवकी सेवाका अवसर प्राप्त नहीं होता था। अपना जीवन उन्होंने ईश्वराराधन एवं तीर्थाटनमें लगाया। उनका दिव्य सौन्दर्य उस युगकी पैदल तीर्थयात्रा-में बाधक हो रहा था। फलस्वरूप उन्होंने अपनेको अत्यन्त कुरूपा बना लिया। उनका स्वरूप देखकर लोग उन्हें पिशाच

समझने लगे। उन्होंने अपने पदोमे नामके स्थानपर 'कारैक्कालपेय्' की भाँति 'कारैक्काल पिशाच'का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है।

३—श्रीमती मङ्गैयर्करशि

तमिळ प्रान्तमें चेर, चोळ और पाण्ड्य—ये तीन प्रख्यात राज्य हैं। पाण्ड्यराज्यका प्रधान नगर मधुरा (मदुरा) है। यहाँके नरेशकी मङ्गैयर्करशि प्रधान महिषी थीं। महाराजने जैन-धर्मके प्रभावमें आकर राज्यमे घोषणा करा दी थी कि 'किसी-को वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। भस्म और रुद्राक्ष-धारण भी अपराध है। ऐसा करनेवाला दण्डपात्र होगा।' महारानी परम शिवभक्ता थीं। पतिके आचरणसे उन्हें अत्यन्त क्लेश होता था। एकान्तमें वे आराध्यसे प्रार्थना किया करती थीं कि महाराजकी बुद्धि शुद्ध हो और वे भगवान् शङ्करके चरणोमे लगें। इसके लिये वे अनेक व्रत करतीं, अनुष्ठान करतीं तथा गुप्तरूपसे भगवान् शङ्करकी आराधना करती रहतीं। प्रत्यक्ष करनेसे महाराजके रुष्ट होनेका भय था।

महारानीका आर्तनाद कैलाशनाथतक पहुँचा। भगवान् स्कन्द धराधामपर 'ज्ञानसम्बन्धमूर्ति' नामसे अवतीर्ण हुए। उन्होंने विभूति-माहात्म्य, वैदिक धर्मके शुद्ध स्वरूप और शिव-भक्तिका प्रबल प्रचार प्रारम्भ किया। नरेशपर इसी समय आपत्ति आयी। विपत्तिके कारण विवश होकर उन्होंने कुमार कार्तिकेयकी शरण ग्रहण की। राज्यमें पुनः शैव-धर्म-की प्रतिष्ठा हुई। महारानीके पातिव्रत्य एवं भक्तिके प्रभावसे राज्य समृद्धिसम्पन्न हुआ।

४—श्रीमती तिलकवतियार

दक्षिण आरकाट जिलेमे पण्रुटी रेलवे स्टेशनके पास 'तिरुवतिकै' एक प्रधान शिवक्षेत्र है। उसके समीप एक छोटे ग्राममे एक शूद्र-गृहमे इनका जन्म हुआ था। बचपनसे शिवोपासक परिवारका प्रभाव पड़ा और भगवान् शङ्करके चरणोंमें इन्हे प्रेम हो गया। इनका विवाह इनके पिताने एक सजातीय शूर युवकसे निश्चित किया। विवाह-तिथिसे आठ दिन पूर्व उस युवकको एक युद्धमे भाग लेना पड़ा और वह खेत रहा। अकस्मात् इसी समय माता-पिताका भी शरीरान्त हो गया। तिलकवतीने सबको स्पष्ट कह दिया कि जिसे पिताने देना स्वीकार किया था, उससे एक प्रकार विवाह हो चुका। हृदयका दान दो बार नहीं होता। प्रबल इच्छा होनेपर भी वे सती नहीं हो सकीं; क्योकि छोटा भाई अभी शिशु था और उसके पालन-पोषणका भार इन्हींपर था।

तिलकवतीने भाईको पाला और सुशिक्षित किया। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि हुआ, किंतु श्रमण साधुओंके सम्पर्क-में आकर उसकी आस्था वैदिक-धर्मसे जाती रही। तन्त्र-मन्त्रों-पर विश्वास हुआ और भस्म तथा रुद्राक्ष-धारण बंद हो गया। तिलकवतीने भाईको बहुत समझाया, परंतु वह तो दूसरे प्रभाव-में आ चुका था। बहिनसे पृथक् जैनोंके स्थानोंमें ही वह रहने लगा और उसका नाम धर्मसेन हो गया।

तिलकवतीने जिसे हृदयके सम्पूर्ण स्नेहसे पाला था, उस-को विपथगामी देखकर उन्हे मर्मान्तक पीड़ा हुई। वे नित्य भगवान् आशुतोषसे प्रार्थना करने लगीं कि वे दयामय उनके भाईको सन्मार्गपर लावें। सच्ची प्रार्थना व्यर्थ नहीं होती। उनके भाईके उदरमें भयङ्कर शूल उठा। सभी प्रख्यात मान्त्रिकोंने प्रयत्न कर लिये, पर सब व्यर्थ रहा। अब उसे बहिनका स्मरण हुआ। संदेश भेजा गया, किंतु तिलकवतीने श्रमणोंके स्थानमे आना अस्वीकार कर दिया। विवश होकर वे बहिनके समीप आये। बहिनने उन्हें भगवान्‌के सम्मुख उपस्थित किया। मस्तकपर भस्म लगाते ही शूल दूर हो गया। भावविभोर होकर उन्होने धारावाही कवितामे उन शशाङ्क-शेखरका स्तवन प्रारम्भ किया। इससे संतुष्ट होकर भगवान्-ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें 'वागीश' नामसे सम्बोधित किया।

अब वागीश राज्यमें शिवभक्ति एवं वैदिक धर्मका प्रचार करने लगे। जैसे हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको मारनेका प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया था, वैसे ही प्रयत्न इनकी हत्याके तत्कालीन जैन नरेश एवं श्रमणोके द्वारा भी हुए। भगवान् शङ्करने सब प्रकार इनकी रक्षा की। नरेशने इनके चरणोंमे मस्तक झुकाया। ये 'पिता' कहलाये और राज्यमे शिवधर्मका प्रचार हुआ। इन्होने अपनी बहिन तिलकवतियारको ही सदा अपना गुरु स्वीकार किया है।

५—श्रीमती आंडाल (गोदा)

कर्कटे पूर्वफाल्गुन्यां तुलसीकाननोद्भवाम्।
पाण्ड्ये विश्वम्भरां गोदां वन्दे श्रीरङ्गनायिकाम्॥

श्रीरामनाथ जिलेके प्रख्यात श्रीविल्लिपुत्तूरमें 'श्रीविष्णुचित्त' या 'पेरिय आळवार' नामक श्रीआळवारकी पुत्रीरूपसे स्वयं महालक्ष्मी या भगवती तुलसी ही प्रकट हुई थी इस रूपमें, यह भक्तोंकी धारणा है। पेरिय आळवार सदा भगवान् नारायणकी आराधनामे लीन रहते थे। बचपनसे ही गोदाके हृदय-सिंहासनपर वे चतुर्भुज घनश्याम विराजमान थे। वे उन्हींको अपना पति मानती थी। पेरिय आळवार नित्य श्रीरङ्गनाथके लिये पुष्पमाल्य निर्मित करके गृहमें रखते।

आण्डाल उन मालाओंसे अपना शृङ्गार करतीं और दर्पणमें अपना स्वरूप देखतीं। इतना करके उन मालाओंको उतारकर वे यथास्थित रख देतीं। एक दिन पिताने यह देख लिया। भगवान्की पूजाके लिये निर्मित माल्य उच्छिष्ट करते देख पुत्रीपर वे अत्यन्त रुष्ट हुए। उसी दिन रात्रिमें श्रीरङ्गनाथने स्वप्नमें दर्शन देकर आदेश दिया—'मुझे आण्डालकी धारण की हुई मालाएँ ही प्रिय हैं। दूसरे पुष्पमाल्य मुझे प्रिय नहीं।' इसीसे आण्डालका नाम पड़ गया 'चूडिक्कोडुत्तनाचियार' अर्थात् पहनकर देनेवाली देवी।

इनके सम्बन्धमें विजयनगर-राज्यके चक्रवर्ती श्रीकृष्णदेवरायने एक नाटक लिखा है सोलहवीं शताब्दीमें। उसका नाम है 'आमुक्त माल्यदम्'। आण्डालके रचे प्रबन्ध 'तिरुप्पावै' कहे जाते हैं। ये भक्तिरससे ओतप्रोत हैं। आज भी धनुर्मासमें इन दूसरे आळवार प्रबन्धोंका जनसमाज पाठ होता है, उस समय सूर्योदयसे पूर्व सभी विष्णुमन्दिरोंमें आण्डालके 'तिरुप्पावै'का पारायण होता है। सब आळवार आण्डालको पद्दरन महत्तर धारण करते हैं।

स्त्रियोंमें साधारणतया पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक श्रद्धा होती है, यह लोकप्रसिद्ध है। उनका यह स्वभावसिद्ध श्रद्धा यदि माता, पिता, गुरु एवं गुरुजनोंकी शिक्षासे अथवा सत्संगसे पातिव्रत्य, धार्मिक धर्म, दया, परोपकार, भगवद्भक्ति, वैराग्य एवं ज्ञानके अर्जनमें लग जाय तो वह इतना कल्याणकर हो सकता है कि उससे जगत्का उद्धारतक सम्भव है। कन्याकुमारी प्रान्तके उपर्युक्त नारीरत्न इसके प्रमाण हैं।



सती पुष्पावती

छठवीं या सातवीं सदीमें वल्लभीपुर एक समृद्धिशाली राज्य था। उस समय वल्लभीपुर महाराज शीलादित्यके अधीन था जो अपने समयके एक बहुत ऐश्वर्यशाली और शक्तिशाली राजा समझे जाते थे। चन्द्रावतीके परमार राजाकी कन्या पुष्पावतीसे राजा शीलादित्यका विवाह हुआ था। रानी बड़ी रूपवती, साध्वी और वीरहृदया थी; उनकी गुण-सम्पन्नताकी कहानी दूर-दूरतक फैली हुई थी। रानीका अधिक समय पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप-नियम आदि पवित्र और शुभ कर्मोंमें ही बीतता था।

एक बार वह अम्बा देवीके मन्दिरमें मनौती चढ़ाने गयी थी। अम्बा देवीका मन्दिर राज्यमें ही था, पर वल्लभीपुरसे कम-से-कम दो दिनके रास्तेकी दूरीपर था। अचानक वल्लभीपुरपर बर्बरोंने आक्रमण कर दिया। शीलादित्यने राजधानीकी रक्षा करनेके लिये विकट युद्ध किया। दुश्मन मैदान छोड़कर भागनेवाले ही थे कि वल्लभीपुरके ही एक निवासीकी सहायतासे उन्होंने सूर्यकुण्डकी पवित्रता नष्ट कर दी। उस समय लोगोंका यह विश्वास था कि इसी सूर्यकुण्डसे सूर्य देवताके सात घोड़े (सप्ताश्व) निकलकर राजाकी लड़ाईमें सहायता करते हैं। आक्रमणकारियोंने कुण्डमें गोवध कर दिया और उसका महत्त्व समाप्त हो गया। इस किंवदन्तीका यह भी आशय था कि आक्रमणकारी कुएँमें गोवध कर डाल देते थे, हिंदू पानी नहीं पाते थे और अन्तमें उनको आत्मसमर्पण करना पड़ता था। टाडने भी लिखा है कि अलाउद्दीन तथा अन्य यवनाधिपतियोंने चित्तौड़-आक्रमणके समय भी यही नीति अपनायी थी।

वल्लभीपुरपर आक्रमणकारियोंका अधिकार हो गया। राजा लड़ाईमें मारे गये। वल्लभीपुरका विशाल राजप्रासाद श्मशान हो गया। असंख्य नारियोंने चितामें जलकर आत्मयज्ञकी अन्तिम आहुति दी। इस प्रकार इधर वल्लभीपुर मरघट बन रहा था, उधर रानी पुष्पावती ध्यानमग्न होकर देवीकी आरती उतार रही थी। सोनेकी थाली हाथसे गिर पड़ी। दीपक बुझ गये। रानीने मन-ही-मन किसी अनिष्टकी कल्पना की। रानीकी पालकी वल्लभीपुरकी ओर चली। उस समय रानी गर्भवती थी, रानीकी पालकी लेकर कहार पवनके वेगसे आगे बढ़ रहे थे। रानीने ओहार उठाकर देखा कुमुदिनीपति सुधा-कलश लेकर मलय पहाड़की हरी भूमिपर प्रकृतिदेवीका अभिनन्दन कर रहा है। उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि दिशाएँ काली पड़ती जा रही हैं; झाड़ियोंमें, लतिकाओंमें उदासी छा गयी है। दो ही-तीन पल बीते थे कि वल्लभीपुरके राजदूतने पालकी रोकनेका अनुरोध किया। पुष्पावतीने समझा कि प्रियतमने शुभ सन्देश भेजा होगा। शुभ सन्देश ही तो था, स्वर्गमें जानेका शुभ आमन्त्रण था। रानी पालकीपरसे उतर पड़ी, उसने सब वृत्तान्त सुनकर वहीं चिता सजानेकी आज्ञा दी। राजसैनिकोंने कहा—'माता! इस समय पाँव



भारी है।' रानी बिजलीकी तरह कड़क उठी, 'पतिका स्वर्गगमन सुनकर राजपूतनीका एक पल भी जीवनधारण करना महापाप है। पति मुझे स्वर्गमें बुला रहे हैं और मैं विलम्ब करूँ, यह असम्भव है!' परंतु सैनिकोंके बहुत समझाने-बुझानेपर उसने सोचा कि 'गर्भगत बालककी रक्षा करना माताका परम कर्तव्य है, यही राज-सन्तान बर्बर आक्रमणकारियोंको मटियामेट कर देशकी सीमापर हिंदुओंका आधिपत्य स्थापित करेगी।' रानीने आदर्श मातृत्वका परिचय दिया। उसके लिये राजमहल नरक बन चुका था। वह मलय पहाड़के जंगलमें एक गुफामें रहने लगी।

कुछ ही महीनोंके बाद राजकुमार गुहका जन्म हुआ। सन्तान पैदा हो जानेके बाद एक पल भी जीवन-धारण करना पुष्पावतीके लिये महामरण था। रानीने अपने प्यारे पुत्रके लालन-पालनका भार बड़नगरके एक ब्राह्मणकी कन्याको, जो बड़ी सुशील और धर्मपरायण थी, दिया।

रानीने कहा—'बहन! तुम्हारा कर्तव्य यही है कि इस बालकको पाल-पोसकर इस योग्य बना दो कि यह आततायियों और विधर्मियोंको तलातलमें पहुँचाकर सारे भारतवर्षमें हिंदू धर्मका ध्वज फहरा दे। एक बातका और स्मरण रखना होगा कि इस राजकुमारका विवाह राजपूत-कन्यासे ही हो।'

मलयज चन्दनकी चिता धायँ-धायँ जल रही थी। अग्नि सैकड़ों जीभ फैलाकर रानीको पतिलोकमें ले जानेके लिये आकाश चूमनेकी उत्सुकता दिखा रही थी। चिताके समीप कमलावती राजकुमार गुहको गोदमें लेकर खड़ी थी। दो दिनका शिशु चुपचाप माताकी साधना देख रहा था। वह 'कहाँ-कहाँ' कर रहा था। रानीने एक बार उसके भोले मुखकी ओर देखा और चितामें कूद पड़ी।

वल्लभीपुर मिट गया, उसका चिह्न भी नहीं है; लेकिन पुष्पावतीके यशकी सुगन्ध मलय पहाड़के वन-उपवनमें व्याप्त है।

—रा० श्री०

योगिनी जनीबाई

किसी समय बंगाल, आसामसे नेपाल, काश्मीर, राजपूताना होकर सम्पूर्ण गुजरात प्रान्तमें शक्ति-उपासना-पद्धति प्रचलित थी। बिना किसी जाति या वर्ण-भेदके सभी लोग तान्त्रिक पद्धतिसे महाशक्तिकी सम्मिलितरूपसे आराधना करते थे। शाक्तदर्शन वस्तुतः काश्मीरीय शैवदर्शन ही है। इसके अनुसार छत्तीस तत्त्व माने जाते हैं और वे शिवव्यूह, विद्याव्यूह तथा आत्मव्यूहकी अध्वत्रयीमें विभाजित होते हैं। यह विभाजन क्रमशः शुद्ध, मिश्र एवं अशुद्ध है। शक्तिसे अभिन्न चित्स्वरूप शिवका ही यह सब विलास है। एकमात्र सत्यतत्त्व शिव ही हैं और वे अपने नित्य श्रीपुरमें क्रीड़ा-क्रिया करते हैं। इस शाक्त मतके भी साधना-भेदसे अनेक सम्प्रदाय थे। जनीबाई जिस सम्प्रदायमें थीं, वह अजपाके द्वारा अकुलमें प्रवेश करके अन्तर्न्यासको प्रधान माननेवाला सम्प्रदाय था। नादश्रवण करते हुए उन्मनी-अवस्थाको प्राप्त करके नित्य आनन्दमें निमग्न रहते हुए अर्धनारीश्वरका सान्निध्य ही इस सम्प्रदायका लक्ष्य था। मन्त्र चिन्तामणि माना जाता था। षट्चक्रोंमें तत्त्वोंको जाग्रत् करते हुए कामकला (कुण्डलिनी) को चक्रवेध करके सहस्रारमें श्रीचन्द्रके समीप नित्य श्रीपुरमें पहुँचाकर साधक भैरवस्वरूप प्राप्त करता है। बाला त्रिपुरसुन्दरीकी आराधना ही उसके श्रेयका साधन है। जनीबाईके पदोंमें इस योगमार्गका विस्तारसे सांकेतिक वर्णन है।

जनीबाईके गुरुदेव 'मीठु' अलौकिक पुरुष थे। काशीमें सर्वशास्त्राभ्यास करके आत्मज्ञानके निमित्त उन्होंने विन्ध्याचलकी गुफामें गङ्गा-किनारे तपस्या की। ग्यारह दिन वे एकासनसे बैठे रहे। यहाँ उन्हें भगवान् शङ्करका साक्षात् हुआ। भगवान् शिवके द्वारा अद्वैतज्ञान प्राप्तकर वे घर

महिसामें आये। वानप्रस्थाश्रमका त्याग करके अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्यका पुनः प्रारम्भ किया। जनताके कल्याणके लिये उन्होंने मण्डल बनाकर अपनी शाक्त-उपासना-पद्धति प्रचलित की। इनके सम्प्रदायका खूब प्रसार हुआ।

संवत् १८४७ मे गुरुदेवने शरीर छोड़ा। १८५७ में उन्होंने जनीको दिव्य दर्शन दिया। जनीने अपनी साधनासे १८६० मे युगलस्वरूपका तथा १८६७ में महाशक्ति श्रीबाला-का दर्शन प्राप्त किया। इसी अन्तिम वर्ष पौष बदी तेरसको रविवारके दिन उनकी आत्माने रश्मिरूपसे महाप्रकाशमें प्रवेश प्राप्त कर लिया।

केवल इतना ही परिचय जनीबाईका उनकी कविताओंके द्वारा प्राप्त होता है। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनके पद्य बतलाते हैं कि यह गुजराती महिला शाक्त साधनाकी सिद्ध योगिनी थीं। साथ ही उनमे प्रकाण्ड वैराग्य एवं प्रबल भक्ति-भाव था। अपने गुरुदेवके चरितका उन्होंने बड़े विस्तारसे वर्णन किया है। —सु० सिं०

जेठीबाई

यूरोपमें रोमके पोपकी सार्वभौम सत्ताके दिन थे। प्रायः सभी यूरोपीय नरेश पोपका सम्मान करते, उन्हें कर देते और उनकी आज्ञाओका पालन करते। ऐसा न करनेपर भय रहता था कि पोपकी सेना उन्हें पदच्युत कर देगी और जनता धर्म-गुरुका साथ देगी। पोपने राजाओंको आज्ञा दे रक्खी थी कि वे अपने शासित प्रदेशमे ईसाई-धर्मका प्रचार करें। इटलीके धार्मिक गिरजाघरोमें धर्मप्रचारक शिक्षित होते थे। इन्हे रेवरेंड, बिशप आदि उपाधियाँ प्राप्त हुआ करती थीं। ये धर्मप्रचारक यूरोपीय देशोंसे शासित विभिन्न देशोमे जाकर अनेक अत्याचार करके इतरधर्मानुयायियोंको ईसाई बनाते थे। इन्हे 'जेस्युइट' कहा जाता था। जहाँ भी ये जाते थे, वहाँके अधिकारियोंको इनकी हर प्रकार सहायता करनी पड़ती थी। ये अधिकारियों-के भी अधिकारी माने जाते थे। इनके साथ अविवाहित धर्म-प्रचारिकाएँ भी होती थीं और उन्हें 'नन्स' कहते थे।

भारतमें जहाँ कहीं भी पुर्तगीज शासन हुआ, वहाँ इन ईसाई-धर्म-प्रचारक 'जेस्युइट' तथा 'नन्स' वर्गने स्थानीय पुर्तगीज शासकोंकी सहायतासे देशी प्रजापर जो अमानुषिक अत्याचार किये हैं, वे रोमाञ्च कर देनेवाले हैं। अनेक पैशाचिक यन्त्रणाओके द्वारा वे दूसरे धर्मके लोगोंको ईसाई बननेको बाध्य किया करते थे। भारतमें पुर्तगीज राज्यकी राजधानी गोआ थी। इन धर्म-प्रचारकोने अपने अत्याचारोसे वहाँकी अधिकाश जनताको ईसाई बना डाला। काठियावाड़में भी पुर्तगालका छोटा-सा राज्य था। गवर्नर गोआमे रहता था। काठियावाड़में उस समय दीवनगर प्रमुख बंदरगाह एवं उद्योगका केन्द्र था। हाथीके दाँत, आबनूस, स्वर्णाभरण, अन्न, लोहेके हथियार तथा अनेक प्रकारके रंगीन कपड़े दीवसे अरब तथा यूरोपके देशोंको जाया करते थे।

दीवमें मलमलपर सुन्दर बेल-बूटोंकी रँगाईके अनेक कारखाने थे। यह काम यहाँ प्रमुखतासे होता था। कच्छके मांडवी राज्यके एक क्षत्रिय अपनी मातृभूमि छोड़कर यहाँ आ बसे थे। उन्होंने वस्त्रपर छपाईका कारखाना बना लिया था। उनका कारखाना नगरके प्रमुख कारखानोंमें था। अपनी पत्नी जेठीबाईके साथ वे स्वयं कारखानोंकी देख-भाल किया करते थे।

दीवके पुर्तगीज अधिकारियोंने कानून बना दिया था कि विवाहके पूर्व यदि किसी बच्चेके माता-पिता मर जायँ तो वह सरकारी संरक्षणमें ले लिया जायगा। माता या पितामेंसे जो पीछे मरे, उसके शरीरकी अन्त्येष्टि-क्रिया होते ही एक सूबेदार सैनिकोंके साथ आता और बालकको ले जाता। घरमें दादी, बहिन, भाई आदि होनेपर भी यह किया जाता। ऐसे बच्चोंको ईसाई बना लिया जाता था। एक दिन जेठीबाईके कारखाने एक आदमीका शरीरान्त हुआ। उसके लड़केकी आयु ग्यार वर्षकी थी। जेठीबाईने उसे विधर्मी होनेसे बचानेका निश्च किया। उसी लड़केके वर्ण एवं अवस्थाकी एक लड़की उन्हों ढूँढ़ निकाली। लड़कीके पिताको जेठीबाईने यह आश्वासन दिय कि बड़े होनेतक लड़केके तथा उसकी स्त्रीके पालन-पोषण एव शिक्षणका भार वे स्वयं उठावेंगी। ब्राह्मण बुलाये गये। लड़के के पिताका शव घरमे पड़ा रहा और विवाह हो गया। शवके अग्निसंस्कारसे लौटनेपर सूबेदार आया। लड़केकी शादीक समाचार पाकर उसे निराश होकर लौटना पड़ा। अब तो यह क्रम बन गया। जिस लड़केके माता-पिता मरते, उसके सम्बन्धी जेठीबाईके पास दौड़े आते। जेठीबाई किसी प्रकार पहले विवाह करातीं बच्चेका और तब मृतकका शव श्मशान जाता। सब अधिकारी उनसे रुष्ट हो गये। नगरके लोगोंमे उनकी कीर्ति प्रख्यात हो गयी।

'इस प्रकार कितनोंको बचाया जा सकता है!' जेठीबाई निरन्तर इन अनाथ बच्चोंकी चिन्ता करती रहती थीं। उन्होंने

सुना था कि पुर्तगालका शासन वहाँकी महारानीके हाथमें है; यह सोचकर कि नारीके हृदयमें दया होगी, प्रार्थना-पत्र भेजनेका निश्चय किया। एक सुयोग्य पुर्तगीज बैरिस्टरको पर्याप्त पुरस्कार देकर उससे प्रार्थना-पत्र लिखवाया। खूब सुन्दर ढाकेकी मलमल लेकर उसपर उन्होंने अपने हाथसे चारों ओर वेल-बूटे छापे। मध्यमें सुन्दर कमल बनाया। कमलके बीचकी कर्णिकापर बड़े सुन्दर अक्षरोंमें प्रार्थना-पत्र लिखा पुर्तगीज भाषामें। उस ओढ़नीको उन्होंने चन्दनकी एक सुन्दर पेटीमें सजाकर रक्खा। पेटी अनेक प्रकारके वेल-बूटोंसे बहुत आकर्षक हो गयी थी।

प्रार्थना-पत्रमें जेठीबाईने बाल-अपहरण कानूनका मार्मिक चित्र खींचा था। बच्चेको एक अपरिचित लोगोंमें बलात् ले जानेसे कितना कष्ट होता है, इसका वर्णन किया था। उन्होंने पूछा था कि 'कोई आपके पुत्र-पुत्रीको छीनकर बलात् ले जाय और अपने धर्ममें दीक्षित करे तो आपको कैसा लगे।' अन्तमें प्रार्थना थी कि 'नारी होनेके कारण महारानी नारी-हृदयकी व्यथाको समझें और इस अन्यायको रोकें।'

प्रार्थना-पत्र लेकर पालकी नौकामें, जो उस समयके जलयान थे, दीवसे गोआ जानेमें चौदह दिन लगे। मार्गमें जलदस्युओंका भय था, अनेक संकट थे; परंतु जेठीबाई पैर बढ़ाकर पीछे हटाना नहीं जानती थीं। वे गोआ पहुँचीं। एक हाथमें जलती मशाल, एकमें प्रार्थना-पत्रकी पेटी और मस्तकपर जलती अग्निकी सिगड़ी लेकर गवर्नरकी कोठीके सामने पहुँचकर उन्होंने 'न्याय! न्याय!' की पुकार की। गवर्नरने एक कुलीन महिलाको इस विचित्र वेषमें पुकारते देख पहरेदारसे बुलवाया।

'आपके शासनमें अन्धकार है। इसीसे मैंने मशाल ले रक्खा है। हम आपकी प्रजा अन्यायसे जल रही हैं। मैंने यह बतानेको सिरपर जलती सिगड़ी रक्खी है।' जेठीबाईने अपने विचित्र वेषका रहस्य बताया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र दिया। वायसराय तथा गवर्नरने मिलकर प्रार्थनापर विचार किया। वे जेठीबाईके व्यक्तित्वसे पूर्णतः प्रभावित हुए। कौंसिल बैठी और पत्रको पुर्तगाल भेजनेका निश्चय हुआ। गवर्नरकी अच्छी सिफारिशके साथ पत्र भेजा गया।

पत्र पुर्तगाल पहुँचा। पुर्तगीज महारानीने पत्र देखा। इतनी सुन्दर कला उसने अबतक नहीं देखी थी। जेठीबाईकी ओढ़नी पुर्तगालमें 'पान दे जेठी'के नामसे विख्यात हो गयी। पुर्तगालसे ताम्रपत्रपर खुदी हुई निम्न आज्ञाएँ भारत पहुँचीं महारानीकी ओरसे—

१—अनाथ बालकोंको ईसाई बनानेका वर्तमान कानून तुरंत बंद किया जाय।

२—जेठीबाई मेरी पुत्री मानी जाय और उसके सम्मानमें उसके घरके सम्मुख सप्ताहमें एक बार सरकारी बाजा जाकर बजा करे।

३—जब कभी कोई सरकारी कर्मचारी जेठीबाईके या उसके घरके सम्मुखसे निकले, अमुक दूरीतक टोप उतारकर सलामी दे। दीवके गवर्नर भी इस आज्ञाका पालन करें।

बड़ी धूमधामसे वह ताम्रपत्र गोआसे दीव आया और आदरपूर्वक जेठीबाईको दिया गया। अनेक बार सरकारी अधिकारी महाजनोंसे विवाद होनेपर जेठीबाईको मध्यस्थ बनाकर निपटारा कर लिया करते थे। अभी कुछ वर्षों पूर्वतक जेठीबाईके घरके सम्मुख एक पीलूका वृक्ष था और जबतक वह रहा, सरकारी कर्मचारी वहाँ जाकर टोप उतार लिया करते थे।

—सु० सिं०

सती मानबा

(लेखक—श्रीयुत रा० माणेकलाल शङ्करलालजी राणा)

दो सौ वर्ष पूर्व सूरतमें नवाबी शासन था। लम्पट नवाबने नगरसेठकी कुमारी कन्या मानबाके सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनी। उसने छलपूर्वक स्वयं नगरसेठके यहाँ जाकर उस देवोपम सुन्दरीको देखा। अब संयम उसके वशका नहीं था। नगरसेठ बुलाये गये। नवाबने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया। जब नगरसेठ वज्राहतकी भाँति दुखी हो रहे थे, उन्हें आज्ञा सुनायी गयी कि यदि तुम पुत्री देना स्वीकार न करोगे तो बंदी कर लिये जाओगे। बेचारे वैश्य, यह भी ठिकाना नहीं था कि अत्याचार कहाँतक बढ़ेगा। उन्हें स्वीकार करना पड़ा। नवाब सपरिवार उन्हें फाँसी दिलवाकर सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन सकता था। इतनेपर भी पुत्रीको बचाना अशक्य था। उसे तो आततायी बलपूर्वक ले ही जाते। घरके लोगोंने परिस्थिति समझी तो आँसू पीकर रह गये। कोई उपाय नहीं था!

बेचारी मानबाके हृदयकी व्यथाका पार नहीं था। माता-पिता उसे यवनके यहाँ भेज रहे थे। सखियाँ 'बेगमसाहिबा' कहकर उपहास कर रही थीं और नवाबके सैनिक पालकीके

सब द्वारपर खड़े थे। गेते हुए उसे पालकीमें बैठना पड़ा। नवाबके महलोंके द्वारपर पालकी पहुँची। मानवाको सीढ़ियों-से ऊपर पहुँचाया गया। वह वैभव, इतना ऐश्वर्य! परंतु मानवा सोच रही थी कि क्या उसका पवित्र शरीर यवनके द्वारा दूषित होगा। सहसा वह द्वारकी ओर दौड़ी और सीढ़ियोंपरसे लुढ़कती भूमिमें आ रही!

विलासी नवाब आतुरतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। यह दृश्य देखकर वह स्वयं दौड़ा। सीढ़ियोंसे नीचे आकर उसने हाथ पकड़कर उठाना चाहा मानवाको। हाथ छूते ही जड़की भाँति खड़ा रह गया। यवनके अपवित्र स्पर्श-से बचनेके लिये मानवा तो पहले ही देवताओंके परमपवित्र देशमें पहुँच चुकी थी। नवाबके हाथमें तो मिट्टी थी—पत्थरके समान शीतल मिट्टी!!

क्षमाशीला असामान्या

बात है उस समयकी, जब बंगभूमिपर सिराजुद्दौलाका शासन था। सिराजुद्दौलाके पूर्व उसके दादा अलीवर्दीखाँ राज्य करते थे। उनका अनन्त प्यार सिराजुद्दौलाके ऊपर बरसता रहता था। इसका परिणाम यह होता कि सिराजुद्दौला-के बुरे कार्योंको भी उसके दादा नहीं रोक पाते थे। सिराजुद्दौला अपने बचपनके ही जीवनकालमें अत्यन्त व्यभिचारी, दुश्चरित्र और अनर्थकारी बन गया। वह राह चलते भले घरकी बहू-बेटियोंकी इज्जत लूट लेता था। प्रजा संत्रस्त थी, पर कुछ कर नहीं पाती थी।

उस समय मुर्शिदाबादमें बहुत बड़े-बड़े सेठ रहते थे। वहाँके प्रसिद्ध जगत्सेठकी पुत्री असामान्या थी। असामान्या उत्तम गुणोंमें असामान्या ही थी। वह परम रूपवती एवं साध्वी थी। वीणा तो उसके रागमें ही ढलती थी। तैरनेकी कला-में भी वह अत्यन्त निपुण थी। सोलहवें वसन्तको पार करते ही पिताने उसका विवाह कर दिया था।

उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा सिराजुद्दौलाने भी सुनी। वह असामान्याको मिलनेके लिये व्याकुल हो गया। कोई भी उपाय न देखकर उसने स्त्रीके वेषमें असामान्याके अन्तःपुरमें प्रवेश किया और उसने तुरंत असामान्याको अपने अङ्कमें कस लिया। असामान्या अपनी पूरी शक्तिसे चिल्ला पड़ी। दौड़ते हुए उसके पति आये। पत्नीसे चोटीतक उनके शरीरमें जैसे आग लग गयी। क्रोधसे वे काँपने लगे। उन्होंने स्त्री-वेषधारी यवन सिराजुद्दौलाको पकड़कर पीटना शुरू किया। सैकड़ों जूते उसके सिरपर पड़े। वे सिराजुद्दौलाका मस्तक उतार लेनेवाले थे कि अवसर पाकर वह भाग निकला।

सिराजुद्दौलाके मनमें प्रतिहिंसाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। वह क्रुद्ध-निर्मर्दित सर्पकी भाँति फुफकार रहा था। कुमन्त्रणा-से उसने असामान्याके पतिके शिरश्छेदकी योजना तैयार की। मनुष्यके रूपमें कई राक्षस इस पापकृत्यके लिये उद्यत हो गये। प्रत्युत सिराजुद्दौलाने उन्हें यह भी आदेश दिया था कि असामान्याके पतिका मस्तक काटकर चाँदीकी थालीमें उसकी पत्नीके पास पहुँचा देना।

उसके सैनिकोंने वैसा ही किया। असामान्याके पतिका मस्तक उतारकर रजतकी थालीमें असामान्याके पास भेज दिया। पतिका कटा सिर देखकर असामान्या पछाड़ खाकर गिर पड़ी। वह मूर्च्छित हो गयी। तबसे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। वह पगलीकी तरह रहने लगी। कभी रोती, कभी गाती, कभी जोरोंसे चिल्लाती और कभी कण्ठलीन हो जाती। आज तुमलोग भी नहीं बोलती।

सिराजुद्दौलाके अन्यायसे प्रजा अत्यन्त पीड़ित हो गयी थी। उसने अंग्रेजोंकी सहायतासे सिराजुद्दौलाको शासनच्युत करनेका निश्चय कर लिया। इसी बीचमें उसे मीर जाफरने युद्ध-में पराजित करके शासन-सूत्र अपने हाथमें ले लिया। और मीर जाफरकी आज्ञासे उसके पुत्र मुहम्मद बेगने सिराजुद्दौला-की बुरी तरह हत्या कर डाली। सिराजुद्दौलाके हाथ, पैर और मस्तकादि सभी अङ्ग अलग-अलग काट डाले गये थे। उसके कटे अङ्गको हाथीके ऊपर रखकर प्रजाके बीचसे कब्रिस्तान पहुँचाया गया। उस समय असामान्याके पिता भी अपनी पुत्रीके साथ कब्रिस्तानमें पापीका अन्तिम दृश्य देखने गये।

कटा हुआ प्रत्येक अङ्ग रक्तसे सिंचित था। सारी प्रजा उसे आँख फाड़कर देखती और दुराचारीकी मृत्युपर संतोष-की साँस ले रही थी। इसी समय एक आश्चर्यजनक घटना घटी। पगली असामान्या जोरोंसे हँसने लगी और पूछ बैठी 'यह कटा शरीर किसका है?'

दो-तीन वर्षके बाद असामान्याने अर्थपूर्ण प्रश्न पूछा था। उसके पिताने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'बेटी! तेरे पतिकी हत्या करनेवाले पापी सिराजुद्दौलाका।'

'बहुत अच्छा हुआ!' 'बहुत अच्छा हुआ!' जोरसे

चिल्लाती हुई असामान्या अपने पिताके साथ घर वापस चली गयी। लोगोंको भान हुआ जैसे असामान्याकी बुद्धि ठीक हो गयी। और सचमुच सिराजुद्दौलाका अन्तिम परिणाम देखकर असामान्याका बुद्धिभ्रंश मिट गया।

घर आनेपर असामान्या सोचने लगी—'पतिदेव तो चले ही गये, इस जीवनमें तो पुनः उनके दर्शन होंगे ही नहीं; फिर इस ममताके बन्धनोंमें रहकर क्या करूँगी। अब मुझे वह तप करना चाहिये, जिससे जीवन-धनका सुखद स्पर्श पुनः प्राप्त हो सके।' असामान्या दृढ़निश्चयी थी। नीरव निशीथ-में घर छोड़कर भाग गयी। उसके पिताने बहुत ढुँढ़वाया; पर वह नहीं मिली, नहीं मिली।

सिराजुद्दौलाके वियोगमें उसकी पत्नी मेहरुन्निसा मछलीकी तरह तड़प रही थी और प्रिय-वियोगसे अर्द्धमृत-सी हो गयी थी। दुराचारी सिराजुद्दौलाने उसे अपने ही जीवनकालमें ठुकरा दिया था, पर वह नारी पतिव्रता थी। अपने जीवनमें उसने पतिपर कभी क्रोध नहीं किया। उसके एक बालिका भी हुई थी। नव-जात बालिकाका पालन करना उसकी सामर्थ्यकी बात नहीं थी। उसने उसे दिल्लीके एक परिचितको दे देनेका निश्चय करके प्रस्थान किया।

साध्वी मेहरुन्निसा अपनी अज्ञान बच्चीको लेकर जा रही थी और तपस्विनी असामान्या कुछ ही दूर उसके पीछे-पीछे चल रही थी। थोड़ी ही दूरपर आगे गङ्गाजी पड़नेवाली थीं कि बड़े जोरोंकी आँधी आयी और मूसलधार वृष्टि भी होने लगी। हवाके तीव्र झोकोंसे विशाल वृक्ष समूल उखड़-उखड़कर पृथ्वीपर लोटने लगे। अपना शरीर सँभालना कठिन था; पर मेहरुन्निसा आगे ही बढ़ती चली जा रही थी और सात्त्विक भावका उदय होनेसे उसका उपकार करनेके लिये 'बहिन रुको!' 'बहिन रुको!' चिल्लाती हुई असामान्या भी अपनी पूरी शक्तिसे पीछे-पीछे दौड़ रही थी।

गङ्गातट आ गया। गङ्गाकी लहरें नागिनकी भाँति उछल-उछलकर वारि-बूँदोंको आत्मसात् कर रही थीं। असामान्याने अपनी बहुमूल्य अँगूठी केवटको देकर नाव खुलवा ली। उसने निश्चय कर लिया था 'मेहरुन्निसा नावमें चली गयी।' माँझी अँगूठी पाकर नाव जोरोंसे ले चला। दूसरी डोंगी भी दिखायी दी। पर उस समय आँखकी पलक उठानी भी मुश्किल थी। पानीकी बौछार तीरकी तरह चोट कर रही थी।

थोड़ी ही देरमें दर्दनाक चीख सुनायी दी। असामान्या तुरंत नावसे कूद पड़ी। उसने समझ लिया था मेहरुन्निसाकी नाव डूब गयी। असामान्या तैरती हुई वहाँ पहुँच गयी। मेहरुन्निसाके बाल उसने देखे और तुरंत पकड़ लिया और



तैरती हुई उसे किनारेकी ओर ले चली। असामान्याने तैरते हुए कई बार प्रयत्न किया कि बच्चीको गोदमें ले ले; पर उसकी माने उसे अपने अङ्कमें ही दबाये रक्खा, छोड़ा नहीं।

पूरे तीन घंटेके बाद असामान्या किनारे लगी। वह थक गयी थी, फिर भी उसने मेहरुन्निसाको बचानेका बहुत प्रयत्न किया। पर वह नहीं बच पायी। उसके प्राण परलोक चले गये।

बालिकाका पालन स्वयं असामान्याने किया। उसे वह अपनी सगी पुत्रीकी तरह प्यार करती थी। उसके पालनेमें उसने बहुत कष्ट सहे थे। बंगालमें आज भी लाखों व्यक्ति असामान्याको देवी मानते हैं और उसका गुणगान करते हैं।

—शि० दु०

दुर्गाभक्त दयावती

देवी दयावती अत्यन्त गरीब थीं। इनके पतिका नाम रामलाल था। रामलाल कलकत्तेमें एक व्यापारीके यहाँ काम करते थे। घर इनका काशीपुरमें था। प्रति पंद्रहवें दिन ये पत्नीकी देख-भालके लिये चले जाया करते थे। आवश्यकता पड़नेपर बीचमें भी आ जाते थे।

एक बार माघपूर्णिमाके दिन कार्याधिक्यके कारण रामलालको भोजनके लिये भी अवकाश नहीं मिला। वे गङ्गा-तटपर चले गये। वहाँ उनका मन नहीं लगा। उन्हें लगा जैसे मेरी पत्नी स्मरण कर रही है।

वे सीधे काशीपुर आये। वहाँ उन्होंने देखा कि उनका

पुत्र ज्वरके वेग और शीतलाके प्रकोपसे छटपटा रहा है और उनकी पत्नी चारपाईके समीप बैठी आँसू बहा रही है। पूछनेपर पता चला कि संक्रामक रोगके कारण पासके डाक्टरने दवा लेनेको अपने यहाँ आनेके लिये भी मना कर दिया है।

बच्चेको तड़पता देखकर दयावती उसे गोदमें लेकर रोने लगी। रामलालने दीपकी बत्ती ठीक करनी चाही, पर दीपक बुझ गया। घरमें न तेल था और न तेल लानेके लिये पासमें पैसा ही था। दयावती जोरोंसे क्रन्दन करने लगी। 'चिन्ता छोड़कर तुम मा दुर्गाका आश्रय लो और उन्हींका स्मरण करो। मैं तेलकी व्यवस्था करके अभी आता हूँ' कहते हुए रामलाल घरसे निकल गये।

पुकारनेपर भी पड़ोसीका कोई उत्तर न पाकर रामलाल घरकी ओर चले, पर बच्चेकी स्मृतिसे बेचैन होकर वे जाह्नवी-के तटपर चले गये। वहाँ वे 'मा दुर्गे! मा दुर्गे!' रटने लगे। उन्हें अपने शरीरकी स्मृति नहीं रह गयी।

उधर कफसे रुँधे कठोर ऊर्ध्व श्वासको न सुनकर दयावतीने सोचा कि पुत्रका देहान्त हो गया। वह चिल्लाने लगी। 'बचाओ-बचाओ' पुकार करती वह मूर्च्छित हो गयी।

'बच्चा मुझे दे दो' कोई रमणी प्यारभरे स्वरमें कह रही है, होश आनेपर दयावतीने सुना। विपत्तिमें रमणीकी सहानुभूतिसे दयावती गद्गद हो गयी। बच्चा रमणीने ले लिया।



'तुम कौन हो, मा!' दयावतीने प्रश्न किया। 'मैं तुम लोगोंकी मा हूँ' रमणी बोल गयी। 'अब चिन्ता न करो, बच्चा अच्छा हो जाता है।'

'मा! भूख लगी है,' बच्चा बोल उठा। मा फल-दूध भी साथ ही लायी थी। बच्चेको दे दिया और चलने लगी।

'मा! ठहरो,' दयावतीने आग्रह किया। 'रामलाल मेरे दरवाजेपर बैठा है, मैं वहीं जा रही हूँ,' कहकर मा चली गयी।

रामलाल मा दुर्गाके ध्यानमें रातभर बैठा रहा। प्रातः ध्यान टूटा तो उसे घरकी स्थिति याद आयी। वह भागता हुआ घर आया। देखा तो बच्चा दयावतीकी गोदमें हँस रहा है। दयावतीने रात्रिमें रमणीके आने, बच्चेको रोगमुक्त करके खिलाने और परस्परकी बात-चीत कह सुनायी।

रामलाल जैसे उन्मत्त हो गया। दयावतीसे उसने कहा—'देवी! तुम भाग्यशालिनी हो, मा दुर्गा तुम्हें दर्शन दे गयीं।' दयावती तो पहलेसे ही मा दुर्गाकी हो चुकी थी। माताके दर्शनसे ही वह पवित्र हो गयी थी। उसकी सारी कामना पूरी हो गयी थी।

उधर रामलालके मालिकने रात्रिमें स्वप्न देखा कि उसकी मा उससे कह रही है कि 'तुम्हारा बड़ा भाई रामलालके रूपमें तुम्हारा नौकर बना भूखसे तड़पकर रह गया, तुम्हें दया भी नहीं आती।' उसकी माता उसके बचपनमें ही मर गयी थी। स्वप्नमें माकी विकराल मूर्ति देखते ही वह भयभीत होकर उठ बैठा।

वह भागता हुआ सीधे रामलालके पास आकर उसके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'भैया! तुम मेरे भाई हो। मेरी सम्पत्तिमें आधा भाग तुम्हारा है। तुम चलकर अपनी सम्पत्ति सँभालो।'

उसके आग्रहका रामलालपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने कहा—'यदि आप अपनी सम्पत्तिका आधा मेरा समझते है, तो वह भाग आप भगवद्भक्तोंमें और पुण्य कार्योंमें व्यय कर दीजिये।' और दोनों दम्पति गङ्गातटकी ओर चले गये। दयावती अन्ततक अपने पतिके साथ रहकर मा दुर्गाका स्मरण करती रही। —शि० दु०

फूल देवी

पुरन्दरने फूलबाईका मार्मिक पत्र एक ही सॉसमे पढ़ लिया। उन्हें तृप्ति नहीं हुई। एक बार, दो बार, तीन बार, कई बार उन्होंने उसे पढ़ा। उनकी ऑखें झर रही थीं, पर पत्र वे पढ़ते ही जा रहे थे। बचपनका सारा दृश्य उनकी ऑखो-मे झूल गया।

पुरन्दरके ही देवल गॉवमे विधवा वृद्धाकी एकमात्र पुत्री फूलबाई थी। वही अपनी माकी ऑखोकी पुतली, अंधे-की लाठी, जीवनका सहारा थी। पुरन्दर और फूलबाई दोनों गॉवकी पाठशालामे एक ही साथ शिक्षा पाते थे। बाल्य-कालमें दोनोंमे खूब प्रेम था। दोनों परस्पर हिल-मिलकर पढ़ते और साथ ही खेला करते। वयस्के साथ-साथ उनका प्रेम भी बढ़ता गया।

फूलबाईको यौवनमे प्रवेश करते देखकर उसकी माताने पुरन्दरके साथ विवाह करना निश्चित कर दिया; पर इस कामनाकी पूर्ति भी नहीं हो पायी कि वह कालके कराल गालमें चली गयी। फूलबाई वृक्षसे गिरी लतिकाकी भॉति मुरझाने लगी।

यह अनुपम लावण्यवती थी। इसीके गॉवमे औरंगजेबने इसे देखा और लुब्ध हो गया। उसके सैनिक फूलबाईको उठा ले गये। वह बेगमोंकी प्रधान बनी। फूलजानी बेगम उसका नाम पड़ा।

पर वह इससे बहुत ही दुखी थी और उसने आत्महत्या-का विचार करके पुरन्दरको मार्मिक पत्र लिखा था। एक बार अन्तकालमे दर्शनकी कातर प्रार्थना की थी उसने।

'मेरी सहायता तुम कर सकोगी?' ऑसू पोछते हुए पुरन्दरने पत्र-वाहिकासे पूछा। वह फूलजानी बेगमकी प्राणप्रिय और परम विश्वस्त बॉदी थी।

'बेगम साहिबाकी ख्वाहिश पूरी करनेके लिये अपनी जान भी दे सकती हूॅ'—उसने तुरंत जवाब दिया।

'तो मुझे अपनी बेगमके पास ले चलो।' पुरन्दर बॉदी-के पीछे-पीछे चल पड़े।

× × ×

'मैं परम अपवित्र हूॅ; मुझे स्पर्श न करें, नाथ!' फूलने रोते-रोते कहा। उसकी ऑखोमे ऑसूकी बाढ़ आ गयी थी!

'तुम परम पवित्र हो, देवि!' फूलको अपने अङ्कमे लेते हुए पुरन्दरने कहा। 'जिसका मन और जिसकी आत्मा अपवित्र नही है, जो विवश है, मनसे जिसने पर-पुरुषकी ओर दृष्टि भी नही डाली, वह नारी कायासे बन्धनमे पड़कर भी अपवित्र नहीं मानी जा सकती। मैं तुम्हे अपनी सहधर्मिणी बनाकर रक्खूॅगा, रानी!'

'मैं ऐसा नही होने दूॅगी, स्वामी! मैं आपके योग्य नहीं रह गयी हूॅ' रोते-रोते फूलने कहा। 'आप मेरा कहा मान लें, स्वामी! समय बहुत कम है।'

'क्या चाहती हो, फूल?' पुरन्दरकी ऑखे छलछला आयीं।

'आपके दर्शनके लिये ही मै जीवित थी,' उसने बड़ी धीरतासे ऑसू पोछते हुए कहा। 'मै चाहती हूॅ अपने ही हाथों आप मेरा प्राणान्त कर दे। मैं पवित्र हो जाऊॅगी। मेरी आकाङ्क्षा पूरी हो जायगी। परलोकमें पुनः आपकी सेवामे आ जाऊॅगी।'

'यह क्या कहती हो, फूल!' पुरन्दरने उदास होकर कहा।

'मै जो कह रही हूॅ, वही ठीक है। आप मेरी लालसा पूरी करें। मराठा राजपूत हैं आप!' वह बोल गयी।

पुरन्दरने कटार खींच ली। हाथ ऊपर उठाया, कटार चमक गयी। पुरन्दरका कलेजा धड़क उठा और हाथ हिल गया; पर फूलके चेहरेपर प्रसन्नता नाच उठी।

सहसा पीछेसे एक बॉदीने हाथ पकड़ लिया। पुरन्दर सन्न रह गये। फूल क्रोधसे कॉप उठी।

'हाथ छोड़ दे। मै बेगम होकर हुक्म दे रही हूॅ।' बेगम-ने जोरसे डॉटा, बॉदी भाग खड़ी हुई।

× × ×

'नालायक बॉदीने बादशाहको सारा भेद बता दिया,' फूलने घबराहटसे कहा। 'आप इस सुरंगकी राह शीघ्रतासे चले जायॅ। सुरंगद्वारपर सुसज्जित अश्व तैयार है।'

पुरन्दर सुरंगमे घुसे। घोड़ेपर सवार हो भाग निकले, पर औरंगजेबके सैनिक उनके पीछे लग गये थे। सैनिकोंके बाण पुरन्दरके शरीरमे चुभते जा रहे थे। रक्त टपक रहा था, पर वे वायु-विनिन्दक गतिसे घोड़ा भगाये लिये जा रहे थे। अन्तमे उनका शरीर शिथिल पड़ गया। वे पकड़ लिये गये।

'महलके भीतर कैसे पहुॅचे?' औरंगजेबने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा। 'वहॉ कोई आदमी नही जा पाता। भेद बता देनेपर मैं तुम्हे माफ कर दूॅगा।'

'तुम्हारे-जैसे चोरोसे वीर मराठे माफी नहीं चाहते,' क्रोधसे कॉपते हुए लाल ऑखें किये पुरन्दरने उत्तर दिया। 'तुमने मेरे सर्वस्व—मेरी पत्नी—की चोरी की थी। मै उसे ही लेने आया था।'

औरंगजेब अपमान नही सह सकता था। उसने पुरन्दर-को तुरंत प्राणदण्डकी आज्ञा दी। बाणविद्ध पुरन्दरके शरीरमे चमकती हुई संगीनें चारो ओरसे धॅस गयीं। औरंगजेब अपनी ऑखोसे देख रहा था।

सहसा पीछेकी ओरसे एक दर्दभरी चीख सुनकर वह घबरा गया। देखा तो हाथमे कटार लिये फूलजानी बेगम

भागती आ रही है। उसकी बिथुरी केशराशि नागिनोंकी तरह पीठपर लहरा रही थी। वह चण्डी बन गयी थी।

औरंगजेब काँप उठा। एक क्षण सैनिक भी स्तब्ध रह गये। उन्होंने बेगमके हाथसे कटार छीननेकी कोशिश की,



किंतु इसके पूर्व ही कटार उसके कोमल हृदयमें प्रवेश कर गयी। फूल गिर पड़ी। खूनका फौवारा छूट पड़ा!

मरते-मरते उसने कहा—'हिंदू-नारीका पति ही सर्वस्व होता है। विश्वकी कोई शक्ति भी उसे अपने पतिसे अलग नहीं कर सकती। महलमें बंद रहकर भी मैं इन्हीं देवताके चरणोंमें थी। इनके परलोक-गमनपर भी इन्हींके पास जा रही हूँ।'

औरंगजेबने सिर थाम लिया। हिंदू-नारीकी पति-भक्ति देखकर वह चमत्कृत हो गया। अहमदनगर किलेके बाहर उसने एक समाधि बनवायी। सात दिनोंतक अनवरत उसने बादशाहके आज्ञानुसार उसकी मारी बेगमें समाधिपर फूल चढ़ाती और दीपक जलाती थीं।

समाधिपर उसने निम्नाङ्कित आशयका एक फारसी-शैर भी खुदवाया था। सुनते हैं, वह अबतक विद्यमान है।

जो मैं ऐसा जानता मरल बाल्हिका नाहिं।
इतना अतुलित प्रेम है, फूल छेदता नाहिं॥

—शि० दु०

देवी चौधुरानी

भारतमे अंग्रेजोका राज्य स्थापित होनेपर पहला गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स हुआ। उस समय बंगप्रान्तकी स्थिति अत्यन्त विलक्षण थी। अंग्रेजोने बंगालके नवाबके लिये अल्पमात्रामे वार्षिक पेन्शन निर्धारित करके सारी व्यवस्था अपने हाथमे ले ली थी। उनके पास अस्त्र थे, शस्त्र थे, सैनिक थे। सब कुछ होते हुए भी उन्हें प्रजाकी सुख-शान्तिकी कोई चिन्ता नहीं थी। वे तो केवल भारतका अमूल्य धन इंग्लैंड भेजनेमें व्यस्त थे।

प्रजा अनाश्रित थी। असहायावस्थामे पड़ी थी। उसके दुःख-सुखकी चिन्ता करनेवाला कोई नहीं था। उसकी सम्मान-प्रतिष्ठाकी रक्षा करनी किसीको अपेक्षित नहीं थी। छोटे-छोटे जमीदार भी स्वार्थवश अंग्रेजोंके तलवे सहला रहे थे। क्योंकि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिये जिन-जिन जमींदार और ताल्लुकेदारोंने संगठित होकर अंग्रेजोका विरोध किया था, वे सब-के-सब या तो मौतके घाट उतार दिये गये या आजन्म कालकोठरीमे ठूँस दिये गये थे। उनकी सारी सम्पत्ति तो अंग्रेजोने छीन ही ली थी।

पश्चिमी बंगालमें प्रजामें अब भी एक धनिकवर्ग था। उनपर डाकुओंका प्रतिदिन आक्रमण होने लगा। डाकुओंका छोटा दल आता और बड़े-बड़े धनी तथा जमींदारोंके पास जाकर धनकी माँग करता। धन तुरंत मिल जाता। रंचमात्र भी चीं-चपड़ करनेपर धनीका सिर धड़से अलग हो जाता। धन लेकर डाकू अविलम्ब भाग जाते। डाकुओंका आतङ्क उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था।

आश्चर्यकी बात तो यह थी कि डाकुओंकी अध्यक्षा एक स्त्री थी। पर उसका किसीको पता नहीं था। वह कौन है, कहाँकी रहनेवाली है, उसकी जाति क्या है, वह सधवा है या विधवा—इसका किसीको पता नहीं था। उसे कोई रानी या कोई गौरीबाई और कोई देवी चौधुरानी कहता। इसके नामसे बड़े-बड़े लोगोका कलेजा काँप जाता था।

देवी चौधुरानी अत्यन्त चतुर एवं वीर नारी थी। उसने बड़ी कुशलतासे चुने हुए डाकुओ और अनाश्रित वीर सरदारोको एकत्र कर सैन्य संगठित किया। वह रानी बन गयी। पश्चिमी बंगप्रान्तमे घोषित हो चुका था कि देवी

चौधुरानी 'रानी' है । 'अंग्रेजों और मुसलमानोंको निकालकर उर्वर बंगभूमिको स्वतन्त्र करना ही मेरा उद्देश्य है'—अपने उद्देश्यका उसने स्पष्टीकरण कर दिया था ।

सुदृढ़ दुर्ग, संगठित सैन्य और अगाध सम्पत्तिका संग्रह कर लिया था उसने । अब अंग्रेजोंको लूटनेका कार्य-क्रम बना । गुप्तचरके द्वारा यह समाचार पाकर एक अंग्रेज कलकत्ता लार्ड हेस्टिंग्सको रहस्य बताने गया । वह कलकत्ता पहुँच भी नहीं पाया कि कलकत्तेके कई धनिकोंकी सम्पत्ति लूट ली गयी । अंग्रेज सैनिक कुछ नहीं कर पाये । उन लुटेरोंमें देवी चौधुरानी भी थी ।

यह वृत्तान्त सुनकर लार्ड हेस्टिंग्सके कान खड़े हो गये । उसने देवी चौधुरानीको दबाना अत्यन्त कठिन काम समझा । अंग्रेजोंने समझा कि 'देवी चौधुरानीके नाममें भी कोई षड्यन्त्र है । कोई वीर षड्यन्त्रकारी पुरुष देवी चौधुरानी बना हुआ है ।' उसने एक विशाल सैन्य एकत्र करके लुटेरोंके विनाशके लिये भेजा ।

अंग्रेजोंकी गोलियोंकी बौछारके सामने लुटेरे टिक नहीं सके । वे अपने-अपने प्राण लेकर भागे । अंग्रेजोंने एक-एक लुटेरेका उच्छेदन करना शुरू कर दिया, पर देवी चौधुरानीके माथेपर बल भी नहीं पड़ी । उसने अपने सैनिकोंको युद्ध करनेका आदेश दिया ।

घमासान लड़ाई शुरू हुई । एक-एक अंगुल भूमिके लिये अंग्रेजोंको अपने रक्तकी तीव्र सरिता प्रवाहित करनी पड़ती थी । वे त्रस्त हो गये थे । पर वे भी साहसी थे । उनके पास सेना और सामग्री प्रचुर मात्रामें थी । बढ़ते हुए वे देवी चौधुरानीके दुर्गके पास चले गये ।

डाकू दुर्गके द्वारपर डटकर युद्ध कर रहे थे । पीछेसे भी छिपा हुआ डाकुओंका दल आकर अंग्रेजोंका प्राण-संहार करने लगा । दुर्गके ऊपरसे एक तोपसे लाल-लाल गोलोंकी धुआँधार वर्षा होने लगी । सहस्रों अंग्रेज देखते-देखते धराशायी हो गये । उनके प्राणोंके लाले पड़े थे । डाकुओंकी युद्धकला देखकर वे चकित हो गये ।

तोप पकड़नेके लिये जिन अंग्रेजोंने ऊपर चढ़नेकी कोशिश की, वे सभी बारी-बारीसे गोलियोंसे भून दिये गये । अंग्रेजोंका एक सैनिक दुर्गमें घुस गया । उससे एक डाकू भिड़ गया । दो घटेतक युद्ध होनेके पश्चात् एक अंग्रेजकी संगीनसे डाकूकी मृत्यु हुई ।

युद्धमें मर-मिटनेके लिये उत्साह तथा इतनी रणचातुरी लुटेरोंमें देवी चौधुरानीसे आयी थी । देवी चौधुरानीको सभी देवी मानकर श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे, पर वह किसी ही सैनिकके सामने प्रकट होती थी । अन्य सबके लिये वह अन्ततक रहस्यमयी ही बनी रही ।

नारी होकर भी देवी चौधुरानीने बड़े-बड़े वीरोंके दाँत खट्टे कर दिये । अन्तमें भी वह अंग्रेजोंके हाथ नहीं आयी । सुनते हैं त्रस्त प्राणियोंकी सहायताके लिये देवी आयी थी, फिर योगबलसे अन्तर्धान हो गयी ।

इस देवीके नामपर प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीबंकिमचन्द्र चटर्जीने एक सुन्दर और बृहद् उपन्यास लिखा है ।

—शि० दु०

रानी भवानी

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय)

देशके असंख्य नर-नारी जिनको देवता समझकर प्रणाम करते हैं, जिनकी पुण्य-छायाने बंगालके मुर्शिदाबादको आज भी स्निग्ध कर रक्खा है, आज भी मुर्शिदाबादका बड़नगर जिनकी अतुलनीय देवभक्तिका कुछ-कुछ परिचय दे रहा है, भारतप्रसिद्ध प्रातःस्मरणीय वे रानी भवानी बंगालके नाटोर राज-वंशके जमींदार रामकान्तकी धर्मपत्नी थीं ।

राजा उदयनारायणका पतन होनेपर राजशाही-जमींदारी नाटोरवंशके हाथमें आ गयी । इस नाटोरवंशके आदिपुरुष रघुनन्दन थे । उन्होंने मुर्शीदकुलीखाँके समीप काम करके अपनी बुद्धिसत्तासे उनके प्रियपात्र बनकर इस जमींदारीको प्राप्त किया था । पश्चात् यह जमींदारी उनके भाई रामजीवनको मिली । रामजीवनके पुत्र कालिकाप्रसाद थे और उनके दत्तक पुत्रका नाम रामकान्त था । रामकान्तके परलोकवासी होनेपर उनकी पत्नी रानी भवानीने सारी सम्पत्तिका उत्तराधिकार प्राप्त करके बंगालके जमींदारोंमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया । बंगालके नवाब सिराजुद्दौलाके विरुद्ध जब लार्ड क्लाइव बंगालके श्रेष्ठ मनीषी और धनी-समुदायके साथ षड्यन्त्र करके उनका नाश करनेकी चेष्टा कर रहे थे, उस समय एकमात्र इन महीयसी महिलाने ही उनका प्रतिवाद किया था । इनके प्रतिवादस्वरूप उपदेशके अनुसार कार्य

होता तो प्रायः दो सौ वर्षोंतक जो भारतको अंग्रेजोंके अधीन रखकर दुःसह यन्त्रणा भोगनी पड़ी, उससे बहुत कुछ छुटकारा मिल जाता।

रानी भवानीको जो जमींदारी मिली थी, उससे प्रायः डेढ़ करोड़की वार्षिक आय थी। इसमेंसे सत्तर लाख रुपये सरकारको लगान देना पड़ता। शेष प्रायः सभी रुपये पुण्यकार्यमें व्यय होते। तत्कालीन बंगालके जमींदारोंमें इन्हींकी आय सबसे अधिक थी। अब भी इनके वंशधर नाटोरके जमींदार महाराजकी उपाधि धारण करते हुए सम्मान और गौरवके साथ अपनी लुप्तप्राय जमींदारीका उपभोग कर रहे हैं।

रानी भवानी बत्तीस वर्षकी उम्रमें विधवा हुई थी। उनके 'तारा' नामकी एक कन्या थी। रानी भवानीके जीवनकालमें ही वह भी विधवा हो गयी और उसने फिर ब्रह्मचारिणीका जीवन बिताया। विवश होकर रानी भवानीको एक दत्तक पुत्र ग्रहण करना पड़ा। यह दत्तक पुत्र ही बंगालके साधक-चूड़ामणि राजयोगी रामकृष्ण थे। रामकृष्णके बड़े होनेपर जमींदारीका सारा भार उन्हें सौंपकर रानी भवानी भागीरथीके तटपर बड़नगर चली आयीं और उसे देवमन्दिरोंसे विभूषित करके वाराणसीके सदृश पवित्र बना दिया। धर्मप्राणा माताके साथ उनकी सुयोग्य कन्या भी गङ्गातट-निवासिनी हो गयी। रानी भवानीके जीवनकालमें ही रामकृष्णका देहान्त हो गया था, इसलिये रानीने उसकी सारी देवोत्तर सम्पत्ति एक दानपत्रके द्वारा रामकृष्णकी पत्नी जयमणिको दे दी थी।

बड़नगरमें निवास करनेके समय रानी भवानी अपने हाथों जमींदारीका शासन करतीं और उनकी सारी दैनिक कार्यावली एक निर्दिष्ट नियमसे चलती। वे प्रतिदिन चार घड़ी रात रहते उठकर मालाके द्वारा जप करने बैठ जातीं; आधी घड़ी रात रहते जप पूरा होनेपर वे बगीचेमें जाकर अपने हाथों पुष्पचयन करतीं। जिस दिन अँधेरा रहता, उस दिन नौकर आगे-पीछे मशाल लिये रहते। पुष्पचयनके पश्चात् गङ्गास्नान करके दो घड़ी दिन चढ़नेतक घाटपर बैठकर जप, गङ्गा-पूजन और शिव-पूजन करतीं। तदनन्तर प्रत्येक मन्दिरमें पुष्पाञ्जलि अर्पण करके घर लौटतीं और पुराण-शास्त्रके श्रवण, शिव-पूजन और इष्ट-पूजनमें लग जातीं। दुपहरतक इन्हीं सब कार्योंमें समयका सदुपयोग करतीं। इसके बाद अपने हाथों रसोई बनाकर पहले दस ब्राह्मणोंको भोजन करातीं; फिर परिवारस्थ ब्राह्मणोंके भोजनकी व्यवस्था करके ढाई पहर दिन चढ़े स्वयं हविष्यान्न भोजन करतीं। तदनन्तर दीवान-दफ्तरमें कुशासनपर बैठकर मुख-शुद्धि करनेके अनन्तर कर्मचारियोंको कामकाजका आदेश करतीं; वे लोग उन आदेशोंको लिख लेते। तीन पहर बीतनेपर फिर पुराण सुनने लगतीं। दो घड़ी दिन बचता, तब पुराणकी कथा बंद होती। इस समय सब कर्मचारी उनके आदेशानुसार कागज-पत्र तैयार करके उनसे हस्ताक्षर करानेके लिये आ जाते। रानी सबका मर्म सुनकर उनपर मोहर लगाकर हस्ताक्षर करतीं। सायंकालको पुनः गङ्गा-दर्शन करके और गङ्गाजीपर घृत-दीपक जलाकर घर लौटतीं और चार घड़ी रात बीतनेतक जप करती रहतीं। इसके बाद जलपान करके दीवान-दफ्तरमें जातीं और कामकाजके सम्बन्धमें सबको निर्देश करतीं। पहरभर रात्रिके समय प्रजाजनके आवेदन सुनकर उनपर विचार करतीं और अन्तमें पहरेदारोंमें कौन कहाँ है, सबका पता लगाकर डेढ़ पहर रात बीतनेपर शयन करतीं।

रानी भवानीने बहुसंख्यक देव-मन्दिरोंका निर्माण कराकर अपने प्रिय निवासस्थान बड़नगरकी शोभा बढ़ायी थी। इन मन्दिरोंके भोगरागके लिये उन्होंने प्रायः एक लाख रुपये वार्षिक वृत्ति बाँध दी थी। उनके बनाये-मन्दिरोंमें भवानीश्वरका मन्दिर सबसे बड़ा है। इस गगनस्पर्शी मन्दिरकी निर्माणकला बड़ी ही प्रशंसनीय है। इस समय यह असंस्कृत और भग्नप्राय स्थितिमें है। इसके पश्चिमकी ओर रानीकी कन्या ताराने गोपाल-मन्दिर बनवाया था। इस मन्दिरमें भगवान् श्रीगोपालजीकी काले पत्थरकी बड़ी ही मनोहर मूर्ति विराजित है। गोपाल-मन्दिरके पीछे इनके दत्तकपुत्र साधकप्रवर राजा रामकृष्णकी साधनाका पञ्चमुण्डी आसन था। आज भी एक सूखे बेल-वृक्षके नीचे वेदीके चिह्न मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त राजराजेश्वरी देवीका मन्दिर और मदनगोपालजीका मन्दिर आदि हैं। इन सभी मन्दिरोंकी कारीगरी प्रशंसनीय है। मन्दिरोंकी दीवारों पर देव-देवियोंकी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। भवानीश्वर और गोपाल-मन्दिरके उत्तरकी ओर राजमहलके बीचमें एक पूर्व-द्वारी मकानके नीचेके तल्लेमें रानी भवानी रहती थीं। वह पवित्र गृह आज भी राज-परिवारकी पवित्रताकी रक्षा कर रहा है।

इस प्रकार कठोर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए

देव-सेवा, दीन-प्रतिपालन और प्रजाके हित-साधनमें अपने जीवनको उत्सर्ग करके रानी उनासी (७९) वर्षकी अवस्थामें बड़नगरमें भागीरथीके तटपर विश्व-जननी भवानीके साथ नित्य-सम्मिलित हो गयीं।

आजकलकी शिक्षिता पाश्चात्य भावोंसे भावित नारियोंके लिये और दूसरी ओर अशिक्षिता कुरुचिपूर्ण भावोंसे ग्रसित अबला नारियोंके लिये भी इस साधिका महीयसी नारीकी जीवनी अत्यन्त हितकर है। आशा है वर्तमान नारी-समाज इस प्रातःस्मरणीया नारीके आदर्शपर चलकर हिंदू-भारतके गौरवकी रक्षा करके जगत्‌की नारियोंके सामने एक महान् आदर्श उपस्थित करती हुई स्वयं धन्य होगी और जगत्‌को धन्य करेंगी।

महारानी लक्ष्मीबाई

(लेखक—श्रीरामलालजी बी० ए०)

महारानी लक्ष्मीबाई स्वाधीनताकी लक्ष्मी थी। देश, धर्म और स्वतन्त्रताके लिये इस वीराङ्गनाने आत्मबलिदान किया है। वह भारतीय स्वाधीनताकी देवी थीं; झाँसीका किला स्वराज्य-मन्दिर है, स्वतन्त्र जातिकी बलिवेदीका भव्य महल है। कौन ऐसा हिंदुस्थानी होगा, जिसकी नसोंमें इस वीर-भूमिको देखकर बिजली न दौड़ जाय। इस पवित्र मन्दिरके कण कणमें स्वाधीनताका इतिहास छिपा है, जिसे पढ़नेके लिये वीर जाति ही समर्थ कही जा सकती है। किलेकी राज्यलक्ष्मीकी अमर आत्मा अब भी सारे वातावरणको अपने सिंहनादसे कम्पायमान करती हुई कहती-सी जान पड़ती है, दीखती है—'झाँसी मेरी है, अपनी झाँसी किसीको नहीं दूँगी। जो लेना चाहे, आये; मैं उसे देख लूँगी।' यह था उसकी स्वाधीनताका मूल मन्त्र, यह था उसके स्वाभिमानका परिचय!

कौन जानता था कि मोरोपन्त ताम्बे और सौभाग्यवती भागीरथीबाईकी लाड़ली सन्तान भारतीय स्वाधीनताके रणमें अडिग चरण रखकर अपने-आपको अमर कर लेगी? कौन जानता था कि बिठूरमें नानासाहबके साथ-साथ खेलनेवाली बालिका मनूबाई गङ्गाधररावकी राजरानी होगी? इतिहासको कहाँ पता था कि अभिनव दुर्गावतीकी कहानीसे उसका अङ्ग-अङ्ग रँग उठेगा? मनूबाईकी बाल्यावस्था पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर बिठूरमें ही बीती थी, वह सोनेकी थालीमें प्रत्येक साल घीके दीप जलाकर नानासाहब-सरीखे स्वतन्त्र भारतीय राजकुमारकी आरती उतारती और भैया-दूजका उत्सव मनाती थी। दीपकोंकी चमक और सुनहले आलोकमें भारतका स्वर्णयुग उतर आया करता था।

इस वीराङ्गनाका जन्म कार्तिक कृष्ण १४ संवत् १८११ में हुआ था। ज्योतिषियोंने भविष्यवाणी की थी कि संसारके इतिहासमें इसका नाम सदाके लिये अमर रहेगा। मनूका बाल्यकाल बालक नानासाहबके ही साथ बीता। बाजीराव पेशवाने इन दोनोंकी शिक्षा-दीक्षाका उचित प्रबन्ध कर दिया था। प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके अनुसार लिखना-पढ़ना, शस्त्र-अस्त्र चलाना, घोड़ेपर चढ़ना इस वीर-कन्याने थोड़े दिनोंमें ही सीख लिया था। झाँसीमें उस समय गङ्गाधरराव राजा था। लक्ष्मीबाईका विवाह उन्हींसे कर दिया गया। झाँसीकी रानी होनेके बाद उसे कभी बिठूर जानेका सौभाग्य नहीं मिला। रानी निःसन्तान थी। आनन्दराव दामोदर नामक एक बालकको गोद लेनेकी बात पक्की हुई और गवर्नर-जनरलसे स्वीकृतिके लिये लिखा-पढ़ी की गयी कि दामोदर नामक बालक गोद ले लिया गया है। झाँसीका राज्य तो पहलेसे ही अंग्रेजोंका विश्वासपात्र होता चला आया था; लेकिन इस समय डलहौसी भारतके मान-चित्रको लाल रंगसे रँगनेकी चिन्तामें चूर था। रानी लक्ष्मीबाईकी बात अनसुनी कर दी गयी। इतिहासकार केनोने लिखा है कि रानीका प्रयत्न व्यर्थ ही गया। झाँसी राज्य गङ्गाधरकी मृत्युके बाद अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया और रानी तथा उसके दत्तक पुत्रके गुजारेके लिये थोड़ी-सी पेन्शन बाँध दी गयी।

विधवा होनेपर महारानीका जीवन एक पवित्र हिंदू नारीकी तरह संयमित और नियमित हो गया। उसने अपना सारा ध्यान जप-तप-नियम, पूजा-पाठ और ईश्वरभक्तिमें लगाया। नित्यकर्मसे निवृत्त होकर वह तुलसी-पूजन करती और दान-धर्म आदिमें व्यस्त रहती थी। महाभारत-भागवत-पुराणादि सुननेमें उसकी बड़ी रुचि थी। उसका जीवन पूर्ण वैराग्यमय हो गया।

कुछ दिनोंके बाद रानीने धूम-धामसे अपने दत्तक पुत्र दामोदरका उपनयन-संस्कार किया, इसके लिये दत्तकके नाम जमा सात लाख रुपयेमेंसे एक लाख सरकारने मंजूर किया

था। राज्य हड़प लिये जानेपर भी अंग्रेजोंके प्रति रानीका व्यवहार उत्तम ही रहा, उसने मनमें कभी द्वेष या वैमनस्यके भाव न उठने दिये। फिर भी होनहार तो होकर ही रहता है। गोरोंके सिरपर विनाशका भूत बैठ गया था, वे तो बहुत दूरका स्वप्न देख रहे थे। फिर भी नानासाहब, झाँसीकी रानी, तॉत्या टोपे आदिके रहते उनका मनोरथ सिद्ध होना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। डलहौसीकी राज्य हड़प लेनेकी नीतिसे भारतके स्वतन्त्र शासकोंको पता चल गया कि किसी भी हालतमें गोरों और फिरङ्गियोंका विश्वास नहीं किया जा सकता। सब-के-सब असन्तुष्ट थे। बगावतकी तैयारी भीतर-ही-भीतर होने लगी। शिवाजीके वंशज और स्वाधीन भारतीय शासक नहीं चाहते थे कि कासिमबाजार और सूरतमें घूम-घूमकर खिलौने बेचनेवाले सौदागर हमें अपने हाथोंका खिलौना बना लें; उन्होंने इस शरारतकी सजा देनेकी विधि सोची। इन विदेशियोंको निकाल बाहर करनेके लिये जोरदार प्रयत्न आरम्भ हो गया। बारूदमें आग लगने भरकी देर थी। अंग्रेजी सेनाके हिंदुस्तानी सैनिकोंमें असन्तोष बढ़ गया था और उनके हृदयोंमें विद्रोहकी आग सुलग रही थी। रानी लक्ष्मीबाईको इस नाटकमें बहुत बड़ा काम करना था। उसे स्वाधीनताके इस महायज्ञमें बड़े-से-बड़ा आत्मत्याग और बलिदान करना था।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि रानी अंग्रेजोंको निकाल बाहर करना चाहती थी। वह तो उसके लिये स्वाभाविक ही था; क्योंकि वह नानासाहबके साथ शिवाजीके राज्याधिकारीकी राजधानी बिठूरके स्वतन्त्र वातावरणमें पली थी। परंतु कुछ विद्रोही सरदारों और सेनापतियोंकी नीति और कार्य-प्रणाली उसे पसंद नहीं थी। विद्रोहियोंके सामने सामूहिकरूपसे तीन लक्ष्य थे; उनका एक वर्ग देश-प्रेमसे पागल होकर नन्दकुमारके हत्यारोंको, वारेन हेस्टिंग्जके देशवालोंको हिंदुस्थानसे बाहर निकालकर हिंदुस्थानमें अपना खोया राज्य या स्वराज्य स्थापित करना चाहता था; इस वर्गमें नानासाहब, महारानी लक्ष्मीबाई, कुँवरसिंह, बाँदेका नवाब, तॉत्या टोपे और अन्तिम मुगल-अधिपति बहादुरशाह थे। दूसरा वर्ग स्वराज्य-स्थापनाके साथ-ही-साथ केवल अंग्रेजोंको ही नहीं, उनके हिंदुस्तानी सहायकोंको भी मार-काटकर तथा उनका राज्य हड़पकर भारतमें भारतीयोंका आधिपत्य चाहता था; इस वर्गने कुछ समझदारीसे काम लिया। तीसरा वर्ग कुछ ऐसे शासकों, सैनिकों और लुटेरोंका था, जो केवल लूट-पाट करना चाहता था और भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलनसे लाभ उठाकर अपने-आपको दृढ़ और समृद्धिशाली बनानेके फेरमें था। इस वर्गकी हार-जीतका महत्त्व कुछ भी नहीं था; जिसकी शक्ति बढ़ती देखता था, उसीकी ओर हो जाता था। इस वर्गने भारतीय जन-आन्दोलनकी बड़ी हानि की। इसी वर्गके एक सरदार नत्थेखाँने झाँसीके किलेको घेरकर रानीसे तीन लाख रुपये माँगे। वह रुपये कहाँसे लाती। अंग्रेजोंने राज्यकी सम्पत्तिपर पहलेसे हाथ साफ कर दिया था, फिर भी अपने मान और गौरवकी रक्षाके लिये अपने सारे कीमती आभूषण उसने नत्थेखाँके हाथमें रख दिये; बादमें यह दुष्ट अंग्रेजोंसे मिल गया और उसने रानीपर विद्रोही होनेका लाञ्छन लगाया। अंग्रेज तो रानीसे सशङ्कित थे ही। झाँसीके दमनकी तैयारी होने लगी। लक्ष्मी रणचण्डी बन गयी। विद्रोहका नया अध्याय आरम्भ हो गया। झाँसीके वीर सैनिक 'हर हर महादेव' का सिंहनाद कर रणमें कूद पड़े।

झाँसीकी जनताने नंगी तलवार चूमकर रानीका अभिवादन किया। वह किलेकी ऊपरी छतपर खड़ी थी। उस रणभवानीके सिरपर लाल रंगकी चमकदार टोपी थी, जिसमें मोतियोंकी लड़ी और रत्न जड़े थे। गलेमें हीरेका हार था। कमरबंदमें 'मस्क' के बने हुए दो पिस्तौल थे, जिनपर चाँदी और सोनेके पत्तर जड़े थे। कमरबंदमें जहरसे बुता हुआ पेशकब्ज था। लाल साड़ी पहनकर वह रणाङ्गना नंगी तलवार लपलपाती हुई कह रही थी, 'झाँसी मेरी है, मैं किसीको न दूँगी।' प्रजाने कहा, 'माता दुर्गे! तुम निश्चिन्त रहो, हम झाँसीपर किसी विदेशीका अधिकार न होने देंगे। सारा-का-सारा वातावरण 'हर हर महादेव' के जयनादसे गूँज उठा। डलहौजीज एडमिनिस्ट्रेशन द्वितीय भागमें लिखा है—The lightening of Jhansi declared, 'Give up my Jhansi? I will not! Let him try to take who dares!! Meri Jhansi doongi nahin'!'

खानदेशका रहनेवाला सदाशिव नारायण महारानीके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, वह अंग्रेजोंका कृपापात्र था। नत्थेखाँने अंग्रेजोंसे मिलकर रानीपर हमला कर दिया। महारानी क्रोधसे लाल हो गयी। उसने कहला भेजा—'मैं हिंदू नारी हूँ। रणाङ्गणमें शत्रुकी ललकारका उत्तमताके साथ स्वागत करना जानती हूँ। आक्रमणका उत्तर रणभूमिमें मेरी तलवार देगी।' विकट युद्ध हुआ। नत्थेने अंग्रेजोंसे सहायता माँगी। पहले तो वह दुष्ट विद्रोहियोंका सरदार था। महारानी

अबला नहीं, सबला थी; उसके दमनके लिये इंग्लैंडसे १६ सितम्बर १८५७ ई० को सेनापति सर ह्यू रोज आ पहुँचा और अचानक ही एक दिन सात बजे सवेरे उसने झाँसीपर हमला बोल दिया। उसने रानीके पास कहला भेजा कि 'आप किलेसहित अपने-आपको समर्पण कर दें।' रानी सिंहिनीकी तरह गरज उठी; उसने पत्र लिखवाया कि 'मैं आत्मसमर्पणको अपना प्रत्यक्ष अपमान समझती हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि हिंदू-नारी, जो हिंदू-संस्कृति और राष्ट्रीयताकी अनुगामिनी है, किसी पुरुषको आत्मसमर्पण नहीं कर सकती।' कुछ इतिहासकारोंका मत है कि इस उत्तरसे अंग्रेज-सेना कुपित हो उठी, 'अंग्रेजोने झाँसीमे गोवध करना आरम्भ कर दिया।' महाराजा शिवाजीके वंशको पवित्र करनेवाली इस महाराष्ट्र-रानीने खुले-आम विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया। झाँसीकी रानीने अंग्रेजोंके छक्के छुड़ा दिये और सर ह्यू रोजके दाँत खट्टे कर दिये, जिसने रानीकी प्रशंसा विद्रोहियोंकी सबसे कुशल सेनापति कहकर की है। उसने कहा था—'She was the bravest and best man on the side of the mutineers.' रानीने किलेपर गरगज, कड़क बिजली, घनगर्ज, भवानीशंकर तोपें रखवा दीं। अंग्रेजोंने झाँसीके किलेपर गोले बरसाना आरम्भ किया। रानीने उन्हें मुँहतोड़ जवाब दिया। वह स्वयं घोड़ेपर सवार होकर और हाथमें नंगी तलवार लेकर अपने सैनिकोंको प्रोत्साहित करने लगी। फिरंगी रानीकी वीरतासे दंग हो गये। अंग्रेजी सेनामें घनगर्ज तोपकी मारसे हाहाकार मच गया। वह पीछे हटने लगी। रानीने अपने तोपची गुलाम गौसखाँको शाबाशी दी और पुरस्कारमें एक जोड़ा सोनेका कड़ा दे डाला। वह तो देशकी स्वाधीनताके नामपर अपने प्राणोंका पुरस्कारतक देनेके लिये तैयार थी। वह आत्मबलिदानकी देवी थी। दो-ही-चार दिनोंके बाद रानीको तॉत्या टोपेकी हारका समाचार मिला। वह कुछ खिन्न हो उठी। झाँसीपर भी अंग्रेजोंने खून-पसीना एक करनेके बाद विजय पायी। रानी दुखी हुई, फिर भी उस वीर रमणीने उनका मूलोच्छेदन करनेका व्रत ले ही लिया। रानी अभी किलेमें ही थी; उसने कहा, 'यह असम्भव है कि मेरे जीतेजी झाँसी अंग्रेजोंकी हो जाय। जबतक हाथमें तलवार है, तनमें प्राण है, झाँसी मेरी ही रहेगी।' वह सैनिकोंको लेकर किलेके नीचे उतरी। अंग्रेजोने धोखेसे वार करना आरम्भ किया, सारे किलेमें भयङ्कर अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अंग्रेजोंने विशाल किलेको श्मशानतुल्य बनाकर उसमें आग लगा दी और इतिहासके पृष्ठोंपर अपनी कायरतामूलक वीरताका अमिट चित्र खींच दिया। रानीने अपने शरीरको गोले-बारूदकी कोठरीमें आग लगाकर जला देना चाहा, लेकिन सरदारोंके बहुत कहने-सुननेपर उन्होंने बाहर निकल जाना ही उचित समझा। सोनेकी चिड़िया निकल गयी, दुश्मनोंने पीछा किया। रानी ग्वालियर रियासतके भांडेर नामक स्थानपर पहुँच गयी। लेफ्टेनेंट बाकर पीछा करता हुआ आ पहुँचा। रानी सूर्य-रश्मिकी तरह तलवार चमकाती हुई आगे बढ़ गयी, महामाया कालीकी तरह उसने पीछा करनेवालोंको मौतके घाट उतार दिया और चौबीस घंटोंतक घोड़ेकी पीठपर रहकर एक सौ दो मीलका लंबा रास्ता पार कर लिया। काल्पी पहुँचकर उसने स्वतन्त्रताकी ज्वाला सुलगा दी। उत्तर भारतके मुख्य-मुख्य विद्रोहियोंकी बैठक हुई। नानासाहबसे यहीं रानीका मिलन हुआ; उन्होंने प्रतिज्ञा की—'मेरी तलवार शत्रुओंके विनाश और हिंदुस्थानकी मर्यादा रखनेके लिये सदा उठी रहेगी।' नानासाहब रानीकी बात सुनकर गद्गद हो गया। काल्पीमें अंग्रेजी फौज विजयी हुई। पेशवाकी छावनीसे महारानी बाहर निकल गयी।

विद्रोही ग्वालियरकी ओर बढ़े। जयाजीराव सिन्धिया अंग्रेजोंका बहुत बड़ा मित्र और सहायक था। ग्वालियरकी प्रजाने विद्रोह कर दिया, वह और चाहती थी कि राजा अंग्रेजोंसे लड़े, महारानीकी वीरतासे नानासाहबने ग्वालियरके किलेपर अधिकार कर लिया; लेकिन दिनकरराव, जो ग्वालियरका दीवान था, अंग्रेजोंसे मिल गया और अन्तमें वहाँ भी दुर्भाग्यने विद्रोहियोंका साथ दिया। रानीने जीवन-संग्रामकी तैयारी की। वह रत्नजटित नंगी कृपाण कमरमें लटकाये हुए रण-धुरन्धर सेनानायककी तरह अपने सैनिकोंमें नया जीवन भरने लगी। इतनेमें कर्नल स्मिथकी सेनाने रानीपर आक्रमण किया। महारानीने जी तोड़कर सामना किया। इतना भीषण रण रानीको और पहले कभी नहीं करना पड़ा था। विदेशियोंको हिंदुस्थानके बाहर निकालनेका यह अन्तिम जोरदार प्रयत्न था। रानी चारों ओरसे घिर गयी। परंतु वह शत्रुओंका व्यूह तोड़कर आगे बढ़ गयी। उसने जानकी बाजी लगा दी, 'मानो दैत्यदलनि दरेरे देति दुरगा' की सत्यता चरितार्थ हो उठी। वह पहलेसे भी अधिक प्रचण्ड वेगसे शत्रुओंपर टूट पड़ी और विकट मार करती हुई अपने अङ्गरक्षकोंके साथ शत्रुओंके घेरेसे पार हो गयी।

रानी वायुकी तरह बढ़ती जा रही थी, परन्तु कराल काल उस महाकालीका पीछा कर रहा था। दो अंग्रेज सैनिक

पीछे-पीछे वेगसे चले आ रहे थे। रास्तेमें एक नाला पड़ा, रानीका घोड़ा उसे पार न कर सका। गङ्गाधरके राजमहलकी जीवन-सहचरी उस नीरव स्थानमें असहाय हो गयी। वह जीवनके अन्तिम क्षणोंकी प्रतीक्षा करने लगी। उसने देखा—दो सैनिक बढ़े आ रहे हैं। उस सबलाने, जिसने झाँसीके किलेमें बैठकर असंख्य गोरोंको स्वर्ग भेज दिया, केवल दो साधारण शत्रुओंपर वार करना अपना अपमान समझा। फिर भी उसे चिन्ता थी कि म्लेच्छ पवित्र शरीरपर हाथ न लगा दें। इसलिये उसने प्यासी तलवार सम्हाल ली, जमकर युद्ध हुआ; इतनेमें एक सैनिकने रानीके सिरपर पीछेसे आघात किया, दूसरेने आगेसे किया, महाकालीकी साड़ी खूनसे लथपथ हो गयी। रानीकी आँखोंसे चिनगारियाँ फूटने लगीं। उसने कपालिनीकी तरह उग्र रूप धारण कर लिया; उसकी तलवार उस दुष्ट शत्रुके मस्तकपर टूट पड़ी, जिसने संगीन चलायी थी। उसके दो टुकड़े हो गये, दूसरा शत्रु भी धराशायी हुआ। महामाया लक्ष्मीबाईने दोनोंके शवपर दोनों पैर रख दिये; ऐसा लगता था मानो कालीके पैरोंके तले शुम्भ और निशुम्भ दबे पड़े हैं। रणभूमिमें खूनकी धारा बहने लगी, नालेका पानी लाल हो गया। रानी निस्तेज होने लगी, उसके अङ्ग-अङ्गसे खूनके झरने बह रहे थे। रानीके अन्तिम वाक्य यही थे कि 'मेरी मृत्यु एक वीराङ्गनाकी तरह हुई। मुझे ये म्लेच्छ न जीवितावस्थामें ही पकड़ सके, न मेरे मरनेके उपरान्त ही पकड़ने पाये।'

रानीके मुखपर अद्भुत आनन्द था। उसने आँखें मूँद लीं।

झाँसीकी पवित्र भूमिपर रानीका किला आकाश चूमता-सा कह रहा है कि 'समयके आघातसे मेरा तन जर्जर और काला भले ही हो जाय, फिर भी मेरा हृदय महारानी लक्ष्मीके उज्ज्वल यशसे सदा शुभ्र—आलोकित रहेगा।'

नीरकुमारी

राजपूतोंमें एक-दूसरेके प्रति मान-अपमान तथा प्रतिद्वन्द्विताकी भावनाके विद्यमान रहते भी कर्तव्यपरायणता और वचनबद्धताने उन्हें वीर-जातिके इतिहासमें एक विशिष्ट स्थान दे रक्खा है।

केवल दो सौ साल पहलेकी बात है, मारवाडनरेश अजीतसिंहके पौत्र रामसिंह और अजीतसिंहके द्वितीय पुत्र भक्तसिंहमें बहुत विकट युद्ध हुआ। रामसिंह शासक थे, इसलिये भक्तसिंहने उनके विरुद्ध राजद्रोह किया। कुछ सरदार राजाकी ओर थे और कुछ इने-गिने सरदारोंने विद्रोहीका साथ दिया। मेहोत्री सरदार राजाके पक्षमें था। उसके पुत्रकी वीरता प्रसिद्ध थी, परन्तु वह रणमें उपस्थित नहीं था। मेहोत्रीकुमार नीरके सरदारकी कन्यासे विवाह करने गया था। राजदूतने मण्डपमें ही आकर उससे रणकी सारी बातें बतायीं; सामने सुन्दर स्त्री थी, चारो ओर मङ्गल-स्वरोंका घोष हो रहा था। किसी तरह आवश्यक विधियाँ पूरी कर उसने वरके वेषमें ही रण-यात्रा की। चलते समय उसने विवाहिता स्त्रीसे कहा—'मैं राजपूत वीर हूँ, तुम राजपूत बाला हो। जीवित रहनेपर फिर मिलेंगे।' राजपूतनीके शरीरमें बिजली दौड़ गयी, उस वीरवधूने कहा—'यहाँ नहीं



तो वहाँ अवश्य ही मिलेंगे।' पतिने रणकी ओर प्रस्थान किया और नीर-कन्या ससुराल गयी।

वीर और वीराङ्गनाकी सुहागरात्रि भी विचित्र थी। पत्नीने ससुराल पहुँचकर देखा कि पतिका शव चितापर रक्खा है। वह पतिके शवसे लिपट गयी। चिताकी आग

पीछे-पीछे वेगसे चले आ रहे थे। रास्तेमें एक नाला पड़ा, रानीका घोड़ा उसे पार न कर सका। गङ्गाधरके राजमहलकी जीवन-सहचरी उस नीरव स्थानमें असहाय हो गयी। वह जीवनके अन्तिम क्षणोंकी प्रतीक्षा करने लगी। उसने देखा—दो सैनिक बढ़े आ रहे हैं। उस सबलाने, जिसने झाँसीके किलेमें बैठकर असंख्य गोरोंको स्वर्ग भेज दिया, केवल दो साधारण शत्रुओंपर वार करना अपना अपमान समझा। फिर भी उसे चिन्ता थी कि म्लेच्छ पवित्र शरीरपर हाथ न लगा दें। इसलिये उसने प्यासी तलवार सम्हाल ली, जमकर युद्ध हुआ; इतनेमें एक सैनिकने रानीके सिरपर पीछेसे आघात किया, दूसरेने आगेसे किया; महाकालीकी साड़ी खूनसे लथपथ हो गयी। रानीकी आँखोंसे चिनगारियाँ फूटने लगीं। उसने कपालिनीकी तरह उग्र रूप धारण कर लिया; उसकी तलवार उस दुष्ट शत्रुके मस्तकपर टूट पड़ी, जिसने संगीन चलायी थी। उसके दो टुकड़े हो गये, दूसरा शत्रु भी धराशायी हुआ। महामाया लक्ष्मीबाईने दोनोंके शवपर दोनों पैर रख दिये; ऐसा लगता था मानो कालीके पैरोंके तले शुम्भ और निशुम्भ दबे पड़े हैं। रणभूमिमें खूनकी धारा बहने लगी, नालेका पानी लाल हो गया। रानी निस्तेज होने लगी, उसके अङ्ग-अङ्गसे खूनके झरने बह रहे थे। रानीके अन्तिम वाक्य यही थे कि 'मेरी मृत्यु एक वीराङ्गनाकी तरह हुई। मुझे ये म्लेच्छ न जीवितावस्थामें ही पकड़ सके, न मेरे मरनेके उपरान्त ही पकड़ने पाये।'

रानीके मुखपर अद्भुत आनन्द था। उसने आँखें मूँद लीं।

झाँसीकी पवित्र भूमिपर रानीका किला आकाश चूमता-सा कह रहा है कि 'समयके आघातसे मेरा तन जर्जर और काला भले ही हो जाय, फिर भी मेरा हृदय महारानी लक्ष्मीके उज्ज्वल यशसे सदा शुभ्र—आलोकित रहेगा।'

नीरकुमारी

राजपूतोंमें एक-दूसरेके प्रति मान-अपमान तथा प्रतिद्वन्द्विताकी भावनाके विद्यमान रहते भी कर्तव्यपरायणता और वचनबद्धताने उन्हें वीर-जातिके इतिहासमें एक विशिष्ट स्थान दे रक्खा है।

केवल दो सौ साल पहलेकी बात है, मारवाड़नरेश अजीतसिंहके पौत्र रामसिंह और अजीतसिंहके द्वितीय पुत्र भक्तसिंहमें बहुत विकट युद्ध हुआ। रामसिंह शासक थे, इसलिये भक्तसिंहने उनके विरुद्ध राजद्रोह किया। कुछ सरदार राजाकी ओर थे और कुछ इने-गिने सरदारोंने विद्रोहीका साथ दिया। मेहोत्री सरदार राजाके पक्षमें था। उसके पुत्रकी वीरता प्रसिद्ध थी, परन्तु वह रणमें उपस्थित नहीं था। मेहोत्रीकुमार नीरके सरदारकी कन्यासे विवाह करने गया था। राजदूतने मण्डपमें ही आकर उससे रणकी सारी बातें बतायीं; सामने सुन्दर स्त्री थी, चारों ओर मङ्गल-स्वरोंका घोष हो रहा था। किसी तरह आवश्यक विधियाँ पूरी कर उसने वरके वेषमें ही रण-यात्रा की। चलते समय उसने विवाहिता स्त्रीसे कहा—'मैं राजपूत वीर हूँ, तुम राजपूत बाला हो। जीवित रहनेपर फिर मिलेंगे।' राजपूतनीके शरीरमें बिजली दौड़ गयी, उस वीरवधूने कहा—'यहाँ नहीं



तो वहाँ अवश्य ही मिलेंगे।' पतिने रणकी ओर प्रस्थान किया और नीर-कन्या ससुराल गयी।

वीर और वीराङ्गनाकी सुहागरात्रि भी विचित्र थी। पत्नीने ससुराल पहुँचकर देखा कि पतिका शव चितापर रक्खा है। वह पतिके शवसे लिपट गयी। चिताकी आग

जल उठी। एक घड़ीके भी सम्बन्धने पति-पत्नीको कड़ी अग्नि-परीक्षामें पवित्र कर दिया। वह सच्चे रूपमें सहधर्मिणी थी, इस तरहके सहमरण या सहगमनका उदाहरण विश्व-इतिहासमें कम मिलेगा।—रा० श्री०

रानी राजबाई

सन् १८३७ में वढ़वाण (काठियावाड़) राज्यका संचालन रानी राजबाईने अपने हाथोंमें लिया। वे तेजस्वी स्वभावकी, युद्धकला एवं नीतिशास्त्रमें कुशल थीं। वढ़वाणमें उस समय राज्यसिंहासनपर स्त्रियोंका ही अधिकार हुआ करता था। इसी प्रथाके अनुसार पति एवं पुत्रोंकी उपस्थितिमें राजबाईने राज्यशासन प्राप्त किया था। उनमें शासनकी सम्पूर्ण योग्यता थी और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि इस कार्यमें नारी पुरुषसे किसी प्रकार कम सुयोग्य नहीं है। उनके सुशासनके कारण ब्रिटिश अधिकारी प्रसन्न थे।

सत्तर वर्षकी आयुमें राजबाईको तीर्थ-यात्रा करनेकी इच्छा हुई। रानीने अपने अल्पवयस्क पौत्रको गद्दीका अधिकारी घोषित किया और उसकी माता (अपनी पुत्रवधू) को राज्य-संचालिका बनाकर वे तीर्थयात्राको निकलीं। उनकी पुत्रवधू गोवलबाई सुयोग्य स्त्री थीं। राज्य संचालनकी उनमें पूरी योग्यता थी। पर राज्यका अधिकार हाथमें आनेपर मनमें लोभ आ गया। गोवलबाईने सोचा कि मैं क्यों अपनी सासके समान रानी न बनूँ। उन्होंने अपने विचारको कार्यरूप देनेके लिये सैनिकोंको मिला लिया।

रानी राजबाई तीर्थयात्रा करके कई वर्षमें लौटीं। वे राजसदनमें पहुँचकर यज्ञादि करना चाहती थीं। नगरद्वार उन्हें बंद मिला। गोवलबाईने संदेश कहला भेजा—'आप बूढ़ी हुईं। आपकी मृत्यु समीप आ चुकी है। कहीं तीर्थमें जाकर भजन करें। राजभवन और राजकार्यकी उलझनोंमें आपको अब नहीं पड़ना चाहिये।'

तेजस्विनी रानीको अपमानका बोध हुआ। उन्होंने राजकोट जाकर तत्कालीन रेजीडेंट सर विलोग्बीसे सहायता चाही। सर विलोग्बीने सहायता देना अस्वीकार कर दिया। वहाँसे निराश होकर रानी राजबाईने सैन्य-संग्रह प्रारम्भ किया। एक सहस्र सैनिक उन्हें मिले। लगभग पचहत्तर वर्षकी आयुमें उन्होंने सुदृढ़ कवच धारण किया। मस्तकपर शिरस्त्राण पहना और हाथमें नंगी तलवार लेकर वे घोड़ेपर बैठकर सैन्य संचालन करती हुई आगे बढ़ीं।

राजधानीके द्वार बंद थे। रानीके सैनिकोंपर भीतरसे गोलोंकी मार पड़ रही थी। एक-पर-एक सैनिक गिरते जा रहे थे। सहसा सेनानायकको गोली लगी। वह लुढ़ककर रानीके पैरोंके समीप गिर गया। बूढ़ी महारानीने देखा कि उनके सैनिक पीछे हट रहे हैं। नेत्र लाल हो गये। ओठ फड़कने लगे। पता नहीं उस वृद्धाके शरीरमें कहाँकी शक्ति आ गयी थी।



घोड़ेको उन्होंने आगे बढ़ाया और नगरद्वारपर पहुँचीं। गोले-गोलीकी वर्षाकी उन्होंने उपेक्षा कर दी थी। महारानीको बढ़ते देख सभी सैनिक बढ़ गये। द्वारपर आघात होने लगा।

नगरके सैनिक वृद्धा रानीका साहस देख डर गये। वे भाग खड़े हुए। द्वारपालने देखा कि द्वार तो टूट ही जायगा, अतएव उसने फाटक खोल दिया। समाचार पाते ही गोवलबाई भाग खड़ी हुई। प्रजाने अपनी वृद्धा रानीका स्वागत किया। इस गये-बीते युगमें भी आजसे कुल बहत्तर वर्ष पहले पौन सौ वर्षकी दीर्घ आयुमें युद्धमें उत्साहपूर्वक अच्छे शूरोंके हौसले पस्त करनेवाली यह प्रचण्ड वीराङ्गना रानी अपने जीवनके अन्तिम समयतक शासन-संचालिका रहीं।—सु० सिं०

रानी जयमती

आसाममें 'लरा-राजा'का राज्यकाल अपने अत्याचारोंके लिये कुख्यात है। यह अहमवंशीय राजा बालकपनमें ही सिंहासनपर बैठा था। 'लरा' का अर्थ होता है बालक। सत्य तो यह है कि शासनतन्त्र मन्त्रियोंके हाथमें था। वे अपनी सत्ता सुदृढ करनेके लिये सदा सिंहासनपर दुर्बल, भीरु एवं आलसी नरेशको रखना चाहते थे। राजा मन्त्रियोंके हाथकी कठपुतली होता था। मन्त्रियोंने षड्यन्त्र करके वहाँके राजाको मार दिया था और तब यह बालक राजा बनाया गया था। बड़े होनेपर लरा-राजाको अपने जीवनकी चिन्ता हुई। उसने राज्यके उत्तराधिकारियोंका वध करना प्रारम्भ किया। बहुतों-का अङ्गभङ्ग करा दिया उसने। उन दिनों राज्यका अधिकार खण्डिताङ्ग व्यक्तिको नहीं मिला करता था।

'लरा-राजा' ने रूप तथा गुणोंकी प्रशंसा सुनकर कुमारी जयमतीके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। ऐसे कापुरुष एवं क्रूरसे विवाह करना जयमतीने अस्वीकार कर दिया। स्वयंवर हुआ और उसमें राजकुलके धर्मात्मा, विख्यात शूर गदापाणिका उन्होंने वरण किया। आसामके लोग प्रतापी गदापाणिका बहुत आदर करते थे। पहलेसे ही 'लरा-राजा' गदापाणिसे चिढ़ता था। अब जयमतीका पाणि-ग्रहण करनेके कारण वह और भी रुष्ट हो गया। बराबर उनके वधकी चेष्टा करने लगा। किसी प्रकार थोडे दिनों गदापाणि बचते रहे। उनके एक पुत्र हुआ। अन्तमें पत्नी-की अनुमतिसे राजकोपसे बचनेके लिये वे पुत्र तथा पत्नीको छोड़कर जंगलोंमें भाग गये।

'लरा-राजा'के सैनिकोंने गदापाणिका पीछा किया। अनेक बार गदापाणिने आक्रमण करके सैनिक-टुकड़ियोंका नाश कर दिया, पर अकेला व्यक्ति एक सेनासे कबतक लड़ता। वनमें भटकते हुए वे अत्यन्त दुर्बल हो गये। वन्य कन्दोंपर ही आजीविका थी। इधर-उधरके बराबर भ्रमण, जागरण तथा चिन्ताने उन्हें असमर्थ कर दिया। अन्तमें ब्रह्मपुत्रको पार करके किसी एकान्त गुफामें वे छिप गये। सैनिकोंको जब पर्याप्त समयतक पता न लगा तो वे निराश होकर लौट आये।

'तुम्हारे पति कहाँ हैं?' मन्त्रियोंकी सम्मतिसे 'लरा राजा' ने दरबारमें जयमतीको बुलाकर पूछा। जयमतीने उसके साथ विवाह अस्वीकार कर दिया था, इससे वह चिढ़ा हुआ था।

'मैं यह नहीं बताऊँगी कि वे कहाँ हैं,' जयमतीने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया। उनकी निर्भीकता एवं तेजने एक बार सबको स्तम्भित कर दिया। मन्त्रियोंका भय दिखाना व्यर्थ था। अन्तमें उस दुष्ट राजाने सतीको बन्दीगृहमें डाल दिया। वहाँ उन्हें अनेक प्रकारकी पीड़ा दी जाती। भोजन कई दिनोंपर मिलता। वह भी रूखी रोटी और नमक। उनके केश ऊपर बाँध दिये जाते और इस प्रकार उन्हें कई दिनोंतक खड़ा रक्खा जाता। उस साध्वीने सब क्लेश चुपचाप सहन कर लिये।

गदापाणिको पत्नीके उत्पीड़नका पता लगा। वेश बदल-कर वे बन्दीगृहमें पहुँचे। उन्होंने जयमतीको सलाह दी कि 'तुम पतिका पता बता दो।' भला, पतिव्रता अपने पतिको नहीं पहचानेगी। जयमतीने हाथ जोड़कर भरे कण्ठसे कहा—'मेरे स्वामी कहाँ हैं, यह मैं इस समय भी जानती हूँ। पर जब-तक मेरे शरीरमें प्राण हैं, तबतक मैं इसे बता नहीं सकती। आप व्यर्थ क्यों मुझे उलटी सम्मति देते हैं। आपको मेरा हितैषी बननेको भेजा किसने! मैं आपके पैरों पड़ती हूँ। अपने योग्य स्थलपर आप शीघ्र चले जायँ!'

गदापाणिने पत्नीका संकेत समझ लिया। मन मारकर वे लौट गये। अब 'लरा-राजा'ने जयमतीको बँधवाकर दीवालपर लटकवा दिया। उनके पैर पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते थे। जल्लादोंका समय निश्चित कर दिया गया। एकके हटते ही दूसरा आ जाता। जयमतीपर बेंत पड़ रहे थे और



वे अनवरत रूपसे बराबर पंद्रह दिन-रात पड़ते रहे।

जयमतीने मुख बंद कर लिया था। उनके मुखसे उफ तक नहीं निकला।

'आपके शरीरमें तनिक भी दया नहीं ! मेरा अपमान और कष्ट देखने तथा बढ़ाने आप बार-बार आते हैं !' गदापाणि पुनः परिवर्तित वेशमें आये तो जयमतीने बड़े दीन स्वरसे कहा था। पत्नीके हृदयपर आघात न लगे, यह ध्यान करके वे चले गये। पतिव्रता जयमती इतना कठोर उत्पीडन सहकर अधिक जीवित न रह सकीं। उन्होंने शरीर छोड़ दिया। प्रजा 'लरा-राजा'के अत्याचारोंसे ऊब चुकी थी। सरदारोंने गदापाणिको आदरपूर्वक बुलाया। उनके नेतृत्वमें प्रजाने विद्रोह किया। 'लरा राजा' मारा गया। गदापाणि नरेश हुए। उनके पश्चात् उनके पुत्र रुद्रसिंह गद्दीपर बैठे। रुद्रसिंहने माताकी स्मृतिमें 'जयसागर' नामक तालाब और 'जयदोल' नामक मन्दिर बनवाया। जयसागरके समान विशाल तालाब कहीं खोदा हुआ नहीं मिलता। उसका जल सर्वदा स्फटिकके समान निर्मल रहता है।

भक्त कवयित्री गौरीबाई

(लेखक—श्री 'मस्त')

जिस प्रकार राजस्थानने मीराबाईको पाकर अपनेको सफल किया, उसी प्रकार वहाँ एक सतमार्गीय कवयित्री एवं परम संत भी हुई हैं। सवत् १८१५ मे वागड प्रान्तके गिरपुरमें एक नागर ब्राह्मणके यहाँ गौरीबाईका जन्म हुआ था। पाँच वर्षकी अवस्थामे ही उनका विवाह हो गया। विवाहके अवसरपर उनके नेत्रोमे पीड़ा होनेके कारण पट्टी बाँधनी पड़ी थी। विवाहके आठ दिन पश्चात् उनके पतिका देहान्त हो गया। उन्होंने न तो पतिको देखा और न कुछ जाना। उनका सदा निश्चय रहा—'मेरा पति तो परमात्मा है !'

पिताके यहाँ ही गौरीबाईका पालन तथा शिक्षण हुआ। बचपनसे उनकी रुचि कथा, कीर्तन तथा पूजापाठमे थी। प्रारम्भसे सरल संयमित जीवनका उन्हें अभ्यास हो गया था। धीरे-धीरे अवस्थाके साथ उनका भगवत्प्रेम तथा आराधना बढ़ने लगी। इसके साथ उनकी कीर्ति भी फैली। डूँगरपुरके रावल शिवसिंहजी उनके दर्शनको आये तथा अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। वहाँ गौरीबाईके ठाकुर संवत् १८८६ मे विराजे। मन्दिरमे रावलजीने साधुओंके लिये सदाव्रतकी व्यवस्था कर दी। गौरीबाई अपनी दो भानजियोंके साथ वहाँ रहने लगीं। मन्दिरमे पण्डितोंकी कथा, शास्त्रचर्चा, साधु संतोका आगमन होता रहता था।

एक समय एक महात्मा मन्दिरमे पधारे। उन्हींसे गौरीबाईने दीक्षा ग्रहण की। उनके ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि उन्होने गुरुकी कृपासे अनहदनादका श्रवण किया। अब वे पंद्रह दिनोंतक समाधिकी स्थितिमें रहने लगीं। एक बार उनकी भानजीने परीक्षाके लिये उनकी जघामे सुई चुभा दी। उनका शरीर हिलातक नहीं। भक्तिकी धार उनमे प्रवाहित हो गयी थी। उनका रहन-सहन सादा था, किंतु उनका प्रभाव महान् था। सवत् १८६० मे वे जयपुर गयीं। वहाँके महाराज प्रतापसिंहजीने उनकी परीक्षाके लिये ठाकुरजीके मन्दिरका पट बद करा दिया और आग्रह किया कि वे श्रीविग्रहके शृङ्गारका वर्णन करें तो मन्दिर खुलेगा। भगवान्‌के दर्शन किये बिना जाना उचित न समझकर उन्होने एक पदद्वारा प्रभुके शृङ्गारका वर्णन किया। उसमें मुकुटका वर्णन नहीं था। पट खोलनेपर मुकुट गिरा हुआ पाया गया।

जयपुरसे आप वृन्दावनकी यात्रा करके काशी गयीं। वहाँके शिवभक्त राजा सुन्दरसिंहने आपका बड़ा सत्कार किया। आपने नरेशको समाधिमार्गका उपदेश किया। वही सात दिनकी समाधिके पश्चात् आपने अपनी भावजको बताया कि मेरा अन्तिम समय समीप है और मधुवनमें यमुना-तटपर मैं शरीर छोड़ना चाहती हूँ। काशी-नरेशने सब प्रबन्ध कर दिया। ठीक रामनवमीको मध्याह्नमे संवत् १८६५ में यमुना-तटपर आपने शरीर छोड़ा।

आप एक रामभक्त साधुकी शिष्या थी एवं स्वयं श्रीकृष्णोपासिका थीं। आपके लिये राम-कृष्णमे कोई भेद नहीं था। आपके पद बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं। उनमे योगके गूढ़ रहस्य, विशुद्ध अद्वैतवाद तथा प्रेमा भक्तिका सुन्दर सामंजस्य है।

महारानी अहल्याबाई

महारानी अहल्याबाई इन्दौरके राजाधिराज खण्डेरावकी राजरानी और मल्हारराव होल्करकी पुत्रवधू थीं।

सतरहवीं सदीके समाप्त होनेपर मराठोंने जोर पकड़ा। हिंदू-पदपादशाहीकी स्थापनाका आरम्भ छत्रपति महाराज शिवाजीने किया था। बाजीराव पेशवाने उसकी पूर्ति की। बाजीरावके स्वामिभक्त सहायकोंमे दामाजी गायकवाड़, राणोजी सिन्धिया और मल्हारराव होल्करके नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय मराठोंकी सेनाएँ विजय-सम्पादन[illegible] थीं। एक बार

गुजरातके किसी विद्रोही दलका दमन करने मल्हारराव पूना जा रहे थे। उन्होंने पाथरड़ीके शिव-मन्दिरमें डेरा डाल दिया। आनन्दराव अथवा मनकोजी सिन्धियाकी होनहार कन्या अहल्याको उन्होंने यहीं देखा। उन्हें वे राजधानी इन्दौरमें लाये और अपने पुत्रका उनसे विवाह कर दिया। दम्पति सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे।

राजवधू होनेपर भी दरिद्र-कन्या अहल्याने कभी गर्व नहीं किया। वे सास-ससुरकी पूजा और सेवा-शुश्रूषामें एक आदर्श हिंदू-कुलवधूकी तरह लगी रहती थीं। जन्मसे ही भगवद्भक्त थीं। पूजा-पाठके साथ राजप्रबन्धमें भी पति और ससुरको पूरा-पूरा सहयोग देती थीं। थोड़े ही दिनोंमें उन्हें एक पुत्र और एक कन्या पैदा हुए। उन्होंने नौ सालतक दाम्पत्य-सुख-भोग किया। विधातासे उनका सुख और ऐश्वर्य न देखा गया। परमात्माने उनपर सकटोंकी आग बरसाकर उनके धैर्य और साहसकी कड़ी परख की। खण्डेरावने स्वर्गलोककी यात्रा की। अहल्याने आत्मयज्ञ करना चाहा; परन्तु सास ससुरने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया और उन्हे भी विश्वास हो गया कि यदि मैं उनकी आज्ञाकी अवहेलना करूँगी तो इन्दौरकी राज्यश्री लुट जायगी, प्रजा अनाथ हो जायगी और मराठोंके आदर्श हिंदूराज्य-की स्थापनाकी आशापर पानी फिर जायगा। उन्होंने निर्भीकतासे कहा कि यदि इस जन्ममे नहीं तो अन्य जीवनमें अवश्य ही स्वामी-से मिलूँगी। मल्हाररावने उसे सारे अधिकार सौंप दिये। सन् १७६१ में पानीपतके युद्धस्थलसे लौटनेपर उसने अहल्याकी शासनदक्षताकी बड़ी प्रशंसा की।

सन् १७६५ ई० मे मल्हाररावका देहान्त हो गया। अहल्याका पुत्र मालेराव गद्दीपर बैठा। वह अत्यन्त क्रोधी, उतावला और दुष्ट हृदयका पुरुष था। कहाँ तो उसकी माता ब्राह्मणोंके सामने मस्तक झुकाती थी और कहाँ वह नीच उन्हे कोडे लगवाता था! क्रमशः उसके पापोंका घड़ा भर गया और कुछ दिनोंके बाद उसकी मृत्यु हो गयी!

बाजीराव पेशवाका देहान्त होनेपर माधवराव पेशवा बनाये गये। उनका चाचा रघुनाथराव व्यसनी, कपटी, और मूर्ख था। इन्दौरके मन्त्री गङ्गाधर यशवन्तके भड़कानेपर वह अहल्याको राज्यसे निकालकर इन्दौरपर अधिकार करनेकी इच्छा कर बैठा। इन्दौरकी राजमहिषीने गायकवाड़ और भोसलेकी सहायता माँगी। दोनों ही उसकी ओरसे लड़नेके लिये आ पहुँचे। इधर अहल्याने अपने सरदारों और सैनिकोंसे कहा, 'माना, हम पेशवाके अधीन हैं; पर उन्हें कोई अधिकार नहीं है कि वे हमारा राज्य अकारण छीन लें। मुझे अबला समझकर रघुनाथरावने इन्दौरपर हमला कर दिया है। परन्तु मैं उन्हे बतला दूँगी कि मैं सामान्य अबला नहीं हूँ। वीरप्रसू और वीरवधू हूँ। जिस समय रणमें तलवार लेकर खड़ी हो जाऊँगी, पेशवाका सिंहासन हिल उठेगा। सत्यपर चलनेवालोंकी सहायता परमात्मा करता है।' उनके सैनिक मरने-मारनेको तैयार हो गये; परन्तु वह नहीं चाहती थीं कि अकारण रक्तपात हो; इसलिये उन्होंने पेशवाको पत्र लिखा,—'मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि आप मेरा राज्य अपहरण करने ससैन्य आ रहे हैं। यह राज्य आपका ही है; किन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि आप इसे अन्यायपूर्वक छीन लें और इसलिये मुझे भी शस्त्रद्वारा आपका अभिवादन करना पड़ेगा।' माधवरावको आक्रमणके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं था; उसने रानीको लिख दिया कि 'यदि इस तरह कोई राज्य अपहरण करना चाहे तो उसे दण्ड देनेका पूर्ण अधिकार है। मैं तुम्हारे राज्यप्रबन्ध और कार्यकुशलतासे सन्तुष्ट हूँ।'

रघुनाथराव क्षिप्रा नदीतक बढ़ आया; पर प्रतिरोध-की काफी तैयारी देखकर वह डर गया और उसने रानीके पास कहला भेजा कि 'मैं तो केवल देखना चाहता था कि तुम शत्रुओंसे किस प्रकार अपनी रक्षा कर सकती हो।' तदनन्तर वह अतिथिरूपमें कुछ दिनोंतक इन्दौरके किलेमें रहा और फिर अपना-सा मुख लेकर राजधानीमें लौट आया।

रानी बड़ी क्षमाशील थीं; यद्यपि वे जानती थीं कि सारे झगड़ेकी जड़ गंगाधर यशवन्त है, फिर भी उन्होंने क्षमा करके उसको राज्यमे स्थान दिया। उनकी राजनीतिज्ञताकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। उनके राज्यमें सदा शान्ति बनी रही। वे शासन करनेमें जिस तरह कठोर थीं, दया करनेमे भी उतनी ही उदार थीं। साथ ही घोड़ेकी पीठपर सवार होकर रणमें कूद पड़ना भी उनके लिये साधारण काम था। भारत-देशके प्रायः सभी तीर्थस्थानोंमें उनके देवमन्दिर तथा अन्नसत्र आदि स्मारकस्वरूप खड़े हैं। प्रजापालन उनके शासन-प्रबन्ध-का एक विशिष्ट अङ्ग था।

एक बार कुछ भीलोंने विद्रोह किया था, पर रानीने उन्हे अपनी कूटनीति और वीरतासे अपने वशमें कर लिया।

रानी बड़ी सत्यपरायणा थी। उनके खजानेमे करोड़ों रुपये थे। वे उन्हें दानधर्ममे खर्च करना चाहती थीं। रघुनाथराव-ने किसी लड़ाईकी सहायताके लिये रुपये माँगे; रानीने सीधा जवाब दे दिया कि 'ये रुपये दान-धर्मके लिये हैं। आप ब्राह्मण हैं; यदि मन्त्र पढ़कर लेना चाहे तो मैं संकल्प करनेके लिये प्रस्तुत हूँ।' रघुनाथराव एक बड़ी सेना लेकर आ पहुँचा, रानीने पाँच सौ स्त्रियोंके साथ युद्धक्षेत्रमे उसका स्वागत किया। उन्होंने रघुनाथरावसे कहा कि 'आप राजा है, आपके साथ द्रोह करना मैं उचित नहीं समझती हूँ। आप हमें

मारकर रुपये ले जायँ।' पेशवा रानीके साहसपर आश्चर्यचकित हो उठा। वह लौट गया। अहल्या शान्तिपूर्वक राज करने लगीं।

राज्य प्राप्त होनेपर मद न हो और लोभकी मात्रा न बढ़े, ऐसा बहुत कम होता है। अहल्याबाईमे मद तो था ही नही। लोभका लेश भी नहीं था। इसीसे लोभी राजाओंकी भाँति खून, विश्वासघातकता तथा अनाचारोंके द्वारा उनका जीवन कलङ्कित नहीं हुआ। वे रानीकी हैसियतसे सदा प्रजाके अभावोंको दूर करने तथा उसे सब प्रकारसे सुख-सुविधा प्रदान करती रहीं और हिंदू नारीकी हैसियतसे पूजा-अर्चना, अतिथि तथा ब्राह्मणोंकी सेवा, दूसरोंके धर्म-साधनमें सहायता और दुखियोंके दुःख-निवारण आदि परोपकारी सत्कार्योंमे संलग्न रहीं। प्रजाका हित हो और उसकी उन्नति हो—यही उनके कार्योंका मुख्य ध्येय रहता था। प्रजाहित, राज्यहित तथा अपने पवित्र वंशकी मान-मर्यादा-रक्षाके लिये जितना कार्य करना आवश्यक था, वे उतना ही करती थीं। शेष समय तथा मन भगवच्चिन्तनमें लगाती थीं।

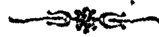
उनका पारिवारिक जीवन सन्तोषजनक नहीं था। केवल उनकी एक कन्या मुक्ताबाई बच गयी थी। कालान्तरमें वह भी विधवा हो गयी और पतिके साथ चितामे जलकर स्वर्ग सिधार गयी थी।

अहल्याबाई अद्वितीय गुणवती देवी थीं, उनमें अभिमान नाममात्रको भी नहीं था। वह आदर्श आर्य-नारी और निपुण शासक थी। किसी ब्राह्मणने उनकी प्रशंसामे एक पुस्तक रच डाली। रानीने पुस्तक सुन ली और यह कहकर उसे नदीमें फेंकवा दिया कि 'मेरे समान पापिनीमे इतने गुण नहीं हैं।' बार-बार वे ईश्वरसे यही कहती थीं कि 'प्रभो! तुमने पत्थरकी अहल्याका उद्धार किया है, मुझे भी अपनाकर भवसागरसे पार कर दो।'

एक दिन उन्होंने बारह हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उनके चरण-तीर्थसे पवित्र होकर स्वर्ग चली गयीं।

उनकी अवस्था उस समय साठ सालकी थी।

अहल्याबाई महान् धर्मपरायण, तपस्विनी और तेजस्विनी नारी थीं। इतिहासमें उनका नाम स्वर्णाक्षरोंमे अङ्कित है।



सती मुक्ताबाई

महारानी अहल्याबाईकी यह पुत्री माताके समान ही धर्मपरायण एवं सद्गुणसम्पन्न थी। महारानी अहल्याबाईके एकमात्र राजकुमार मल्हाररावकी मृत्युके पश्चात् राज्यमें लूट-पाट, चोरी-डकैतीकी प्रबलता हो गयी। दस्युओंने अपना एक सुगठित दल बना लिया। महारानीने एक दिन भरे दरबारमे घोषणा की—'जो दस्युओंको पूर्णतः दमन करके प्रजामे सुख-शान्ति स्थापित कर देगा, उसके साथ राजकुमारी मुक्ताबाईका विवाह होगा।'

'माता! मुझे आवश्यक धन तथा सेनाकी सहायता मिले तो मैं यह कार्य कर दूँगा।' सभामे पर्याप्त समयतक निस्तब्धता रहनेके पश्चात् एक तेजस्वी, सुगठित-शरीर, सुन्दर महाराष्ट्र-युवकने उठकर प्रार्थना की। महारानीके आदेशसे जितनी आवश्यकता हो, उतनी सेना और कोष लेनेकी उसे स्वतन्त्रता हो गयी। दो ही वर्षोंमें राज्यमे सुव्यवस्था हो गयी। युवकके सुप्रबन्धसे दस्यु शमित हो गये। प्रजा आनन्दसे रहने लगी। महारानीने सभी राज्यके प्रतिष्ठित सरदारोंको बुलाकर बड़े उत्साहके साथ पुत्रीका विवाह उस युवक यशवंतराव फाणशेके साथ कर दिया।

एकमात्र पुत्रीको विदा करते समय महारानीने भरे कण्ठसे जामाताको समझाया—'स्त्रीको सदा सुखी रखना और सन्मार्गपर चलाना, यह पुरुषके ही हाथमे है। पतिके सद्गुणोंको देखकर स्त्री भी गुणवती बनती है। स्त्री-जाति स्वामीके विचार जाननेमे कुशल होती है। घोड़ा अपने सवारकी योग्यता पहचान लेता है और यदि सवार कच्चा हुआ तो उसे फेंक देना चाहता है। यदि सवार कुशल हुआ तो घोड़ा स्वतः ठीक चलता है। स्त्रियोंकी भी यही दशा है। पतिके स्वभाव एवं आचारको देखकर स्त्री अपना रहन-सहन बनाती है। स्त्रियोंको शास्त्रोंने अत्यन्त गौरव दिया है। स्त्री अमोघ शक्ति है। शान्ति, सुख और आनन्द-की मूर्ति है। बाहर पुरुषको चाहे जितना कष्ट हुआ हो, पर घर आते ही हँसते हुए मुखसे पत्नीके स्वागत करनेपर वह सभी दुःख भूल जाता है। स्त्रियाँ गृहको नन्दनवन बनाये रखनेमे समर्थ हैं। तुम स्वयं कुशल हो। मेरी पुत्रीको आदरसे रखना। उसे कष्ट मत देना। तुम्हारा मङ्गल हो। तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन सुखमय हो।'

महारानीने पुत्रीको अङ्कमें भर लिया। उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल रहा था। पुत्रीको उन्होंने उपदेश दिया—'बेटी! अब तू नादान नहीं है। भला-बुरा समझनेकी तुझमें शक्ति है। स्त्रीके लिये पति ही परमात्मा है। सब प्रकार उसकी सेवा करना और उसकी प्रसन्नता एवं भलाईका प्रयत्न करना ही स्त्रीका धर्म है। स्वामीकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य न करना। वह रुष्ट हो या अनादर करे, तो भी मनमें बुरा मत मानना। भोग-विलाससे आसक्ति न करके चित्तको धर्ममें लगाये रखना। पतिसे कभी कोई बात छिपाना नहीं। जब वह घर आवे तो प्रसन्न होकर उसका स्वागत करना। भूलकर भी पतिसे कभी झूठ मत बोलना। कोई भूल हो जाय तो बताकर क्षमा माँग लेना। तुम्हारे घरमें कभी कलह न हो। तुम्हारा तन, मन और प्राण पतिका है—यह ध्यान रखना। तुम दोनों सदा प्रेमसे रहो और अखण्ड सुख भोगो!'

मुक्ताबाईका दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त सुखमें बीता। पति-पत्नीमें प्रगाढ़ प्रेम था। उन्हें एक सुन्दर पुत्र नत्थोबा प्राप्त हुआ। प्रायः वह बालक महेश्वरमें माता-पिताके समीप कम ही रहा करता था। वह अधिक अपनी ननिहालमें इन्दौर रहता था। अहल्याबाईका सब स्नेह दौहित्रपर एकत्र हो गया था। भाग्यकी बात—बालक इन्दौरसे पिताके समीप आया था। उसे ज्वर आया और १८ वर्षकी आयुमें ही उसका देहान्त हो गया। पुत्रकी मृत्युका यशवंतरावके हृदयपर भारी आघात लगा। वे तभीसे दुःखी और अस्वस्थ रहने लगे। सन् १७९१ में उन्होंने भी शरीर छोड़ दिया।

पतिकी मृत्युसे मुक्ताबाई असहाय हो गयी। उन्होंने सती होनेका निश्चय किया। मातासे आज्ञा माँगनेपर महारानी अहल्याबाईने समझाया—'बेटी! तू अपनी इस वृद्धा मातापर दया कर। मेरे अब अकेले तू ही एक आधार रही है। जीवनमें मुझे दुःख-ही-दुःख मिला है। पति, पुत्र, दौहित्र और अन्तमें जामाता भी मैंने खोया है। यदि तू भी चली जायगी तो मैं यह शोक कैसे सह सकूँगी। अपने निश्चयको तू बदल दे। मुझे भी पति-वियोग हुआ है और उसे किसी प्रकार मैंने सहा है।'

मुक्ताबाईने सोचा। उसका निश्चय अविचल रहा। उसने नम्रतापूर्वक माताको समझाया—'मा! आज मैं अविनीत हो गयी हूँ। मुझे क्षमा करो! आपने तो सती न होकर धर्मका ही पालन किया था। उस समय आपके दो बच्चे थे। मेरे बड़े भाई छोटे थे और मैं नवजात थी। दो प्राणियोंकी रक्षाके लिये आपने परलोकमें पतिके सान्निध्यका त्याग किया। मेरा पुत्र पहले ही जा चुका है। आपकी वृद्धावस्था है। आयुका कोई ठिकाना नहीं। सोचिये तो आपके न रहनेपर मेरी क्या दशा होगी। मैं असहाय होकर कहाँ भटकूँगी। आप धर्मको जानती हैं। मोहको छोड़कर मुझे आज्ञा दें। पूज्य पतिदेव मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।'

विवश होकर महारानीको आज्ञा देनी पड़ी। रोदनके स्वरमें राजवाद्य बजते जा रहे थे। सभी सामन्त और राज-कर्मचारी नंगे सिर रोते हुए जा रहे थे। महारानी फूट-फूटकर रो रही थीं। केवल मुक्ताबाईके मुखपर गम्भीर प्रसन्नता थी। स्नान करके उन्होंने लाल साड़ी पहन ली थी। भली प्रकार अपना शृङ्गार किया था। मस्तकके खुले केशोंमें पुष्प लगाये थे। पतिकी रथीके साथ वे चल रही थीं। चिता निर्मित हुई। शवको स्नान कराया गया। मुक्ताबाईने पतिके देहको उठाकर हृदयसे दबा लिया। वे अकेली उस शरीरको लेकर चितापर जाकर बैठ गयीं। सुगन्धित द्रव्योंके साथ चिता प्रज्वलित हुई और पतिके देहके साथ सतीके देहकी भस्म एक हो गयी। परलोकमें सती पतिसे एक होने पहुँच चुकी थीं उससे पूर्व ही।—सु० सिं०

वीराङ्गना भीमाबाई होल्कर

महारानी अहल्याबाईके दत्तक पुत्र तुकोजीरावके चार पुत्र थे। इन चारोंमें यशवंतराव होल्करने इतिहासमें ख्याति प्राप्त की। तुकोजीकी मृत्युके पश्चात् यशवंतराव राज्यके अधिकारी हुए। अनेक बार यशवंतरावका सिन्धिया, पेशवा एवं अंग्रेजोंसे संग्राम हुआ। सन् १८०४ में चम्बल नदीके समीप कर्नल मोन्सुन साहबको उन्होंने ऐसी पराजय दी कि कर्नलको बुरी तरह भागना पड़ा। इन्हीं यशवंतरावकी पुत्री भीमाबाई थीं। पिताने बचपनसे ही उन्हें घोड़ेकी सवारी तथा अस्त्रचालनकी विद्या सिखायी थी। पिताकी वीरता, समयसूचकता तथा साहस भीमादेवीको प्राप्त हुए थे। मराठी तो उनकी मातृभाषा थी ही, पितासे उन्होंने फारसीका भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

यशवंतरावके समयमें ही अपने सौन्दर्यके कारण तुलसी-बाई नामक एक दासीका होल्कर महाराजके मनपर और साथ

ही राजभवनपर भी अधिकार हो गया था। होल्करकी मृत्यु-पर इसी दासीने राज्यपर अधिकार किया। उसने एक दत्तक पुत्र भी लिया था। दासी अत्यन्त अहंकारिणी थी। उसके अत्याचारोंसे प्रजामें असन्तोष फैल गया था। सभी उसके द्वारा उत्पीड़ित हो रहे थे। भीमाबाई उस समय पतिगृहमें थीं।

भीमाबाईको समाचार मिला; पिताके राज्यकी अव्यवस्थित दशासे उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। उनके पतिका देहान्त हो गया था। उन्होंने कर्नल माल्कमसे कहा— 'जान पड़ता है कि होल्कर राज्य एवं होल्कर-कुटुम्बका अन्त समीप है। इस समय इस परिवारके महान् गौरवकी रक्षा करनेवाला मेरे अतिरिक्त कोई रहा नहीं। मैं असहाय विधवा हूँ। मेरे कोई पुत्र भी नहीं है। समस्त प्रपञ्चोंसे पृथक् होकर मुझे भगवान्‌का भजन करना चाहिये। फिर भी इस कठोर विपत्तिके समय पितृकुलके सम्मानकी रक्षाके लिये मुझे राज्यकार्यमें हाथ डालना होगा और राज्यका संरक्षण करना होगा।'

सन् १८१७में महीदपुरमें अंग्रेजोंके विरुद्ध होल्कर सेना-का भाग्यने साथ नहीं दिया। भीमाबाई पराजय स्वीकार करने-वाली स्त्री नहीं थीं। उन्होंने थोड़ी सेना संगठित कर ली। उनका निवास पहाड़ोंमें बना। छत्रपति शिवाजीका अनुकरण करके उन्होंने छापा मारना प्रारम्भ किया। अंग्रेजी खजाने, चौकियाँ तथा सामग्री रखनेके स्थान लूटे जाने लगे।

सर माल्कम बहुत बड़ी सेनाके साथ भीमाबाईके निवास-के अन्वेषणमें निकले थे। उन्होंने देखा कि जंगलमें समीपसे ही भीमाबाई घोड़ेपर चढ़ी जा रही हैं। सर माल्कमने उन्हें जीवित पकड़नेका विचार किया। इससे अच्छा अवसर मिलना कठिन था। भीमाबाईके साथ केवल एक ही घुड़सवार सैनिक था। माल्कमके सैनिकोंने घेरा डालना प्रारम्भ किया। भीमाबाईका साथी सैनिक आदेश पाकर घेरा पूरा होनेसे पहले भाग गया। वह वीराङ्गना स्थिर खड़ी रही।

घेरा पूरा हो गया। सैनिकोंने समझा कि आज उन्होंने इस आफतकी पुतली महाराष्ट्र वीराङ्गनाको पकड़ लिया। घेरा छोटा होता गया। सहसा धीरे-धीरे भीमाबाईका घोड़ा सर माल्कमकी ओर बढ़ा। सबने समझा कि विवश होकर वे आत्मसमर्पण करने जा रही हैं। घुड़सवार सैनिकोंकी अटूट पंक्ति चारों ओर उन्हें घेर चुकी थी। घोड़ा ठीक माल्कम-के सम्मुख पहुँचा। एक एड़ लगी और ठीक सेनापति सर माल्कमके सिरके ऊपरसे वह महाराष्ट्र अश्व अपनी स्वामिनी-



को लेकर घेरेसे बाहर हो गया। अब दौड़-धूप और बंदूकों-की गोलियाँ व्यर्थ थीं। अंग्रेजी घोड़े उस महाराष्ट्र घोड़ेके समान नालोंको कूदते, पत्थरोंपर उछलते, झाड़ियोंको चीरते जानेमें असमर्थ थे।

एक पूरी सेनाको अपने धैर्य, साहस एवं कौशलसे अकेले छकाकर वह गौरवमयी नारी कहाँ गयी? उनका क्या हुआ? इतिहास इस सम्बन्धमें मूक है। —सु० सिं०

नारीका स्थान हृदय

नारीकी उत्पत्ति न तो पुरुषके पैरसे हुई है कि जिससे वह उसके द्वारा शासित होती रहे और न उसके सिरसे हुई है कि जिससे वह उसपर शासन करे। उसकी उत्पत्ति तो पुरुषके वाम पार्श्वसे हुई है, जिससे कि वह उसकी सहयोगिनी बने, उसके हृत्प्रदेशके समीप रहकर उसका प्रेम प्राप्त करे एवं उसके हाथके नीचे रहकर उसके संरक्षणका उपभोग करे।

—मैथ्यू आनल्ड

महारानी स्वर्णमयी

सन् १८२७के मार्गशीर्षमे वर्धमान जिलेके भाटाकुल ग्रामके एक दरिद्र कुटुम्बमे एक बालिका उत्पन्न हुई । बालिका असाधारण सुन्दरी थी । माता-पिताने उसका नाम शारदा-सुन्दरी रख दिया । बालिका थोड़ी बड़ी हुई । बचपनसे ही उसके दिव्य गुण प्रकट होने लगे । किसी बालकको रोते देख वह व्याकुल हो जाती, उसके अश्रु पोंछती और अपने खिलौने उसे दे आती । थोड़ी बड़ी होनेपर ग्रामके रोगियोंकी सेवाका भार उसने उठा लिया । माता-पिता उसे भोजनके लिये ढूँढ़ते रहते । वह कहीं किसी वृद्धाका आटा पीस रही है, किसी रोगीका माथा दबा रही है, किसीके लिये भोजन बना रही है, किसी रोगीके कपड़े या घरको स्वच्छ कर रही है अथवा कहीं किसीके बर्तन मल रही है । उसकी सेवामे ऊँच-नीच, छोटे-बड़ेका भेद नहीं था । सबके कष्ट, सबकी असुविधा, सबके अश्रु उसे समान रूपसे व्यथित करते । न स्नानकी सुधि और न भोजनकी चिन्ता । रात-रातभर वह बीमारोंके समीप बैठी रहती । ग्रामके लोग कहा करते कि इतनी ममता, इतनी दया इस अवस्थामे मनुष्यमें सम्भव नहीं । शारदासुन्दरी तो कोई देवी हैं ।

मुर्शिदाबादकी रानी हरसुन्दरी अपने कुमारके लिये सुयोग्य कन्याके अन्वेषणमें थीं । उन्होंने शारदासुन्दरीके रूप एवं गुणका वर्णन सुना तो निश्चय किया कि वही उनकी पुत्रवधू होगी । कुमार कृष्णनाथ अंग्रेजी पढ़े युवक थे । कन्या देखे बिना विवाह करना उन्हे स्वीकार नहीं था । उन्होने देखकर स्वीकृति दे दी और धूम-धामसे विवाह हुआ । शारदासुन्दरी देहातकी झोपडीसे ग्यारह वर्षकी अवस्थामें राजभवनमे आयीं । यहाँ उनका नाम स्वर्णमयी हो गया । पुत्र-वधूके तप्तकाञ्चनवर्ण शरीरको देखकर रानी हरसुन्दरीने यह नामकरण किया ।

लार्ड हेस्टिंग्सके कारण ही कुमार कृष्णनाथका परिवार उन्नत होकर राजा हो गया था । पिताकी मृत्युके समय कुमार अल्पवयस्क थे । राज्य कोर्ट ऑफ वार्डसमें चला गया था । कुमारकी शिक्षा अंग्रेजी सरक्षणमे पाश्चात्त्य ढंगपर हुई थी । उनमे शराब-मांसाहारादि अनेक दुर्गुण आ गये थे । उनका रहन-सहन अग्रेजी ढंगका था । ऐसे पतिके साथ स्वर्णमयीने अत्यन्त संयम तथा नम्रताका व्यवहार करते हुए निर्वाह कर लिया । वे स्वयं न तो मांस खाती थीं और न सुराका स्पर्श करती थीं । फिर भी उनके द्वारा पतिका कभी अनादर या उपेक्षा नहीं हुई ।

विवाहके पश्चात् कुमार कृष्णनाथ वयस्क हुए । राज्य उनके हाथमें आया । राजा कृष्णनाथ अपने व्यसनोंके कारण बहुत व्यय करते थे । फल यह हुआ कि राज्यपर बहुत अधिक कर्ज हो गया । कम्पनीके खजानेसे कीमती द्रव्यकी पेटी चोरी हुई । राजा कृष्णनाथके दफादार गोपालपर चोरीका कम्पनीने दोष लगाया । राजा साहबपर नौकरको प्रेरणा देनेका दोष भी लगा । राजमहल घेर लिया गया । किसी प्रकार राजा साहब कासिमबाजारसे भागकर कलकत्ता पहुँचे । इसी समय गोपाल दफादारकी मृत्यु हो गयी । स्वाभाविक था कि राजा साहबपर उसे मार डालनेका सन्देह हो । अपमानसे बचनेके लिये राजा कृष्णनाथने गोली मारकर आत्महत्या कर ली ।

बहुत छोटी उम्रमें रानी स्वर्णमयी ससुराल आयी थीं । सन् १८४५में जब वे अठारह वर्षकी थीं, विधवा हो गयीं । यह शोक तो था ही, राजाके वकील स्ट्रेटलने दो वसीयतनामे कोर्टमें राजा कृष्णनाथके उपस्थित कर दिये । दोनोंमे वे राज्यके संरक्षक बनाये गये थे । रानी स्वर्णमयीको मासिक डेढ़ हजार रुपया देनेको लिखा गया था । इसी समय रानी स्वर्णमयीको राजीवलोचन-जैसा उदार, धार्मिक नीतिज्ञ सहायक प्राप्त हुआ । मुकदमा चला । अन्तमें न्यायालयने घोषणा की—'राजा कृष्णनाथ न रोगी थे और न वृद्ध । उन्होंने सहसा आत्महत्या की । आत्महत्यासे पूर्व वसीयत करनेका अवकाश मिलना उनके लिये शक्य नहीं था । दोनों वसीयतनामे जाली हैं ।'

सुप्रीम कोर्टसे राज्य स्वर्णमयीको प्राप्त हुआ । इसी समय राजमाता हरसुन्दरीने दावा किया कि कृष्णनाथ जातिभ्रष्ट होनेसे पैतृक सम्पत्तिके अधिकारी नहीं रह गये थे । अतः उनकी पत्नी उसकी अधिकारिणी नहीं होगी । दूसरी ओरसे कम्पनी सरकारने दावा किया कि आत्महत्या करनेवालेकी सम्पत्ति सरकारकी होती है । न्यायालयने ये दोनो दावे भी अस्वीकार कर दिये । आचरणके कारण कोई सम्पत्तिके अधिकारसे वञ्चित नहीं किया जा सकता और भारतमें विलायतका कानून कि आत्महत्या करनेवालेकी सम्पत्ति सरकारकी है, उचित नहीं माना गया । रानी स्वर्णमयीको राज्य प्राप्त हुआ । इतना होकर भी शान्ति कहाँ थी । राजा कृष्णनाथने राज्यपर अत्यधिक ऋण जो कर रक्खा था ।

रानी स्वर्णमयीने राजीवलोचनको दीवान बनाया । दीवानकी दक्षता और पटुताके कारण थोड़े समयमें राज्य ऋण-

मुक्त हो गया। दीवान राजीवलोचन बड़े संयमी पुरुष थे। उनमें प्रगाढ धर्मनिष्ठा थी। उनके पास कोई निजी सम्पत्ति नहीं थी और अन्ततक उन्होंने कोई अपनी सम्पत्ति नहीं बनायी। दान, धर्म तथा परोपकारमें ही उनकी विशेष रुचि थी। रानी स्वर्णमयीकी धार्मिक भावना इससे प्रोत्साहित हुई। रानी होनेपर भी वे हिंदू-विधवाके सब आचारोंका पालन करती थीं। केवल एक समय सादा भोजन करतीं, भूमिपर सोतीं, सादे वस्त्र पहनतीं तथा बराबर पूजा-पाठमें लगी रहतीं।

लोगोंमें रानी स्वर्णमयी अन्नपूर्णाके नामसे पुकारी जाती थीं। उनके यहाँसे कोई प्रार्थना करके निराश नहीं लौटा करता था। माँगनेवाला सदा अपने अनुमानसे अधिक पाता था। कन्याओंके विवाहके लिये दरिद्र ब्राह्मण सहायता माँगने जाते। उनकी आशा ५०) या ६०) रुपयेकी होती थी। जब वे दो-तीन सौ लेकर लौटते तो हार्दिक आशीर्वाद नगरके लोगोंतकको भी वे देते जाते थे। जहाँ जलकष्ट था, वहाँ कुएँ बनवाये गये। घोषणा की गयी कि राज्यमें जिनके घरोंमें अग्नि लग जाय, उनके घर राज्यव्ययसे बनवा दिये जायँ। मृत्यु एवं विवाहमें काष्ठादि लेनेकी खुली घोषणा हो गयी। अनेक सुयोग्य ब्राह्मणोंको वार्षिकवृत्ति निश्चित की गयी। विद्यार्थियोंको बराबर सहायता दी गयी। सहस्रों भिक्षुक नित्य राजसदनसे अन्न पाते थे।

अस्पताल, चिकित्सालय, विद्यालय, पुस्तकालय बनवानेमें रानी स्वर्णमयीने बहुत अधिक दान किया। उनका दान किसी धर्म या जातितक सीमित नहीं था। अर्थसंकटमें उन्होंने यूरोपियनोंकी भी सहायता की। दुर्गामहोत्सव, जन्माष्टमी प्रभृति धार्मिक पर्वोंके लिये वार्षिक ढाई लाख रुपयोंका व्यय निश्चित था। आय-व्ययका हिसाब करनेपर पता चला कि रानीने साठ लाख रुपया वार्षिक दान-पुण्यमें व्यय किया है। सरकारने उन्हें महारानीकी उपाधि दी थी।

बँगला संवत् १३०४ भाद्रपदमें महारानीने शरीर छोड़ा। सम्पूर्ण बंगाल उनके शोकमें व्याकुल हो गया। रानी भवानीके पश्चात् बंगालके हृदयका इतना व्यापक स्नेह एवं श्रद्धा किसी नारीको प्राप्त हुई तो वे महारानी स्वर्णमयी ही हुई हैं। उनकी उदारता, दानशीलता, दयाका वर्णन अबतक लोग श्रद्धापूर्वक करते हैं। —सु० सिं०

ईमानदार आया बमनी

आया बमनी एक अंग्रेज डाक्टरकी सेवामें रहती थी। डाक्टर साहब अवधप्रान्तके कैंटोन्मेंटके सर्जनके पदपर काम कर रहे थे।

सन् १८५७ के गदरकी लपट अवधमें भी पहुँची। अंग्रेजोंको अपने प्राणोंकी रक्षा करनी कठिन थी। डाक्टर साहबकी पत्नी और उनके दो बच्चोंको अनाजके बोरेमें छिपाकर ऊपरसे भी बोरा रख दिया गया। और इस प्रकार छिपकर वे लखनऊ पहुँच गये। डाक्टर साहबने भी किसी गुप्त स्थानमें छिपकर अपनी जान बचायी।

विद्रोहियोंने डाक्टर साहबके बँगलेपर आक्रमण कर दिया और उसमें आग लगा दी। अत्यन्त भव्य और फर्नीचरोंसे सजाया हुआ बँगला अग्निदेवकी लपलपाती जिह्वाके स्पर्शसे क्षणभरमें जलकर राख हो गया।

कुछ दिनोंके बाद विद्रोह शान्त होनेपर डाक्टर साहब पुनः अवधमें आ गये। उन्हें ढूँढ़ती हुई उनकी पुरानी आया बमनी भी वहाँ आयी। उसने डाक्टर साहबकी विषादमयी आकृति देखी। आया बिना पूछे बोल उठी—'मेम साहिबाने भागते समय जल्दीमें अपने समस्त बहुमूल्य आभूषण यहीं छोड़ दिये थे। उन्हें ले जाकर अपने घरमें मैंने अबतक छिपा रक्खा था। देनेके लिये आपको ही ढूँढ़ रही थी।'



डाक्टर साहब खिल उठे। उनके पास कुछ नहीं रह गया था। बँगला और फर्नीचरके जल जानेपर भी बहुमूल्य आभूषणोंको पाकर उनकी चिन्ता मिट गयी। उनकी अमूल्य सम्पत्ति वे ही आभूषण थे। डाक्टरने आयाको धन्यवाद दिया। उनके मुँहसे स्वयं निकल पड़ा—'भारतीय देवियाँ धन्य हैं!'—शि० दु०

वीर आया

आज हम एक ऐसी आयाके सम्बन्धमें कुछ पंक्तियाँ लिख रहे हैं, जिसमें विदेशियोंकी भी जान बचानेके लिये प्राणोंकी ममता नहीं थी। वह आया कानपुरके एक अंग्रेज सरदारके यहाँ नौकर थी।

सन् १८५७ ई० की गदरमें कानपुरमें भी भीषण नर-संहार आरम्भ हो गया था। भारतीय जन अंग्रेजोंके दुर्व्यवहारसे विकल हो गये थे। उनकी सहनशीलता पराकाष्ठापर पहुँच गयी थी। भारतीयोंकी बुद्धि अपने वशमें नहीं थी। वे एक-एक अंग्रेजको ढूँढ़-ढूँढ़कर मौतके घाट उतार रहे थे। अंग्रेजोंकी जानके लाले पड़े थे। प्राण-रक्षाका उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

'अब कानपुर आजसे स्वाधीन हो गया। आपलोग हमलोगोंको सुरक्षित चले जाने दें'—अंग्रेज सरदारने भारतीयोंसे अनुरोध किया। अनुरोध स्वीकृत हुआ। बाल-बच्चोंसहित अंग्रेज नावमें आ गये।

परन्तु कुछ विद्रोही भारतीय शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो नदी-किनारे पहुँच गये और अंग्रेजोंपर गोलियोंकी वर्षा करने लगे। अंग्रेजोंकी स्त्री और बच्चोंके क्रन्दनसे सरिता-तीर काँप उठा।

आया भी उसी नावपर थी। साथमें उसका पंद्रह वर्षका बेटा था। उसके मालिकका पुत्र भी उसीके साथ था। कोई रास्ता न देखकर आया दोनों बच्चोंके साथ नदीमें कूद पड़ी और तैरती हुई दूसरे तटपर जा लगी। पर विद्रोही वहाँ भी थे। वे अंग्रेजोंको ढूँढ़ रहे थे। आया घेर ली गयी। उसके अंग्रेज मालिकका बच्चा उसके शरीरसे चिपक गया था।

'इस बच्चेको छोड़कर तू यहाँसे अभी भाग जा'—एक विद्रोहीने कहा। 'हम इसका सिर अभी धड़से अलग करेंगे।'

आयाके बच्चेने अपनी माँसे कहा—'माँ! इसे दे दे न! हमलोगोंकी जान बच जायगी।'

गिड़गिड़ाते हुए प्राणोंकी भीख माँगती हुई आया बोली—'यह मेरे मालिकका लड़का है। आपलोग इसकी जान छोड़ दें, भगवान् आपलोगोंपर दया करेगा।'



आयाकी बात सुनकर एक विद्रोहीने डाँटकर कहा—'बच्चेको छोड़ दे, नहीं तो तू अभी ढेर हो जायगी।'

'देहमें जान रहते तो इस बच्चेको मैं नहीं छोड़ सकूँगी'—बुढ़ियाका वाक्य पूरा होते-होते विद्रोहीकी चमकती तलवार उसकी गर्दनपर फिर गयी थी। उसका सिर मुर्दा-सा पृथ्वीपर गिर गया। मृत्युके समय भी अंग्रेज मालिकका बच्चा उसकी भुजाओंमें कसा था।

वहाँ आयाका बच्चा बच गया था। उसके द्वारा आयाकी यह कीर्ति-कहानी चारों ओर फैल गयी। भारत-भूमि धन्य है और धन्य हैं यहाँकी देवियाँ!! —शि० दु०

भारतीय सभ्यतामें नारी

ओह! यहाँ एक ऐसी सभ्यताके दर्शन होते हैं, जिसको आप अपनी सभ्यताकी पहलेके स्वीकार करनेमें 'ना' नहीं कर सकते, जो नारीको पुरुषके समकक्ष धरातलपर रखती है, और जो उसे घरमें एवं समाजमें समान स्थान प्रदान करती है।

—'दि बाइबल इन इंडिया,' पृष्ठ २०५.

अजपा ब्रह्मचारिणी और हकहकी माता

नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
—रामचरितमानस

बात है सैकड़ो वर्ष पहलेकी। उन दिनों बंगालमे दीवानी और फौजदारी कचहरियोंका फैसला पण्डितलोग किया करते थे। वे अंग्रेजी नही जानते थे, परंतु उनका न्याय 'विशुद्ध न्याय' होता था। अजपा ब्रह्मचारिणी एक ऐसे ही धन-वैभव-सम्पन्न जज पण्डितकी पुत्री थी। उसका नाम था विलासिनी। उसका विवाह एक धनी, पर मूर्ख वरसे हुआ था। कुछ दिनो बाद पतिका देहान्त हो गया। धीरे-धीरे रुपये-पैसे भी समाप्त हो गये। जीविकाका भी उसे कोई साधन नही रह गया। विवश होकर सौन्दर्यमयी विलासिनी रूपके हाटमे बैठ गयी। अन्तमे एक धनी जमीदारने उसे रखेलिन बना लिया। उसका जीवन बड़ी तीव्रतासे पतनके घोर गर्तमे जाने लगा।

उसी समय काशीमे रामायणके एक कथावाचक आये। मधुरताभरे स्वरसे वे बड़ी ही ललित कथा कहते थे। संगीतप्रेमी विलासिनी भी एक दिन गीतके लोभसे कथा सुनने गयी। पहले ही दिन रामायणकी कथाका उसपर अमिट प्रभाव पड़ा। वह प्रतिदिन आकर एक ओर बैठ जाती तथा बड़े प्रेमसे कथा सुनती रहती। कथा सुनते-सुनते तन्मय हो जाती। वह रोने लगती। भगवती सीताकी पतिभक्ति, परमहिंसक वाल्मीकिका उद्धार, श्रीलक्ष्मणकी भ्रातृभक्ति, भरतका अनन्य प्रेम, भगवान् श्रीरामका पावन चरित्र, संसारकी अनित्यता, धर्मकी जय, पापकी पराजय और धन-यौवनकी क्षणभङ्गुरताके प्रसंग सुनकर वह मन-ही-मन क्रन्दन करने लगी। अपने पापभरे जीवनपर वह सिर धुनने लगी।

आठ दिन कथा कहनेके बाद कथावाचक अन्यत्र चले गये और उसी दिन आधी रातके समय थोड़े-से रुपये-पैसे लेकर विलासिनी जमीदारके घरसे निकल गयी। नगरसे बाहर जाते ही उसने अपना उज्ज्वल परिधान फेंककर गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया। गलेमे रुद्राक्षकी माला और हाथमे काष्ठ-कमण्डलु लेकर तथा माँथेपर विभूति रमाकर राम-गुन गाती विलासिनी वृन्दावन-धामकी ओर चल दी।

'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं।'

नामकी महिमा ही ऐसी है। शुद्ध मनसे संसारको छोड़कर विलासिनी प्रभुके चरणोमे विलीन होने जा रही थी, उसकी आकृतिपर तेज क्रीड़ा करने लगा। उसकी वाणीमे जैसे मधुर अमृत घुला था। वह जब प्रभु-भजन गाने लगती तो शत-शत नर-नारी-मस्तक नमित हो जाते थे। वह साक्षात् देवी-सी लग रही थी।

वृन्दावन पहुँचकर अपने पाप-प्रक्षालन एवं प्रभुके पद-पङ्कजमे प्रीतिके लिये वह कठोर तप करने लगी। कालिन्दी-कूलपर एक पैरपर खड़े होकर भगवन्नाम-जप, चारो ओर अग्नि प्रज्वलित कर बीचमे वीरासनसे बैठकर भगवन्नाम-जप उसका नित्यका कृत्य हो गया था। सिद्ध देवी जानकर उसे कोई छेड़ता नही था। अन्न-जलकी चिन्ता उसे नहीं थी। अपने तनके नष्ट होनेका ध्यान उसे नहीं था, उसे प्रतिक्षण यदि ध्यान था तो केवल भगवन्नामका। तभीसे वह 'अजपा ब्रह्मचारिणी' कहलाने लगी।

दर्शनाकाङ्क्षियोकी भीड़ देखकर अजपा देवीने वृन्दावन त्याग दिया। वे ज्वालामुखी तीर्थमे चली गयीं। फिर जालन्धर होते हुए 'चिन्तामणि' नामक स्थानमे 'भवानी देवी' के दर्शनार्थ गयीं। वहाँ वह एक अन्य साधु-देवीके साथ रहने लगी। साधु-देवी वीणा बजातीं और अजपा देवी भजन गाती, उस समय अमृतकी वर्षा होने लगती। साधु-देवीके नाम-ग्रामका कुछ पता नही था। पर वे सिद्ध थी। वाणी-सिद्धि भी उन्हे थी। वे 'हक' 'हक' पुकारा करती थीं, जिसका अर्थ हिन्दीमे 'नित्य, स्थायी, अमर, अनवद्य, अक्षर सत्य' होता है। इसी आधारपर उन्हे 'हकहकी माता' कहते थे।



ये दोनो देवियाँ सदैव एक साथ रहतीं। नामके प्रभावसे अजपामें विचित्र परिवर्तन हो गया था। वह संत हो गयी थी। भगवान्‌के गुण गाती दोनों पंजावके नौशेरा नामक स्थानमें पहुँचीं। वहाँ श्मशान और कब्रस्तान दोनों थे। जगत्‌के लिये भयावन भूमि ही उन देवियोंके लिये परम रमणीय थी। वहीं एकान्तमें वृक्षके नीचे रहकर वे दोनों भजन करती थीं।

कुछ ही दिनोंमें अंग्रेजोंने वहाँ कैण्टूनमेंट (छावनी) बनानेका निश्चय किया। इकइकी माताने इसका विरोध किया, पर उनकी बात नहीं सुनी गयी। अन्तमें इकइकी माताने कहा 'छावनीनिर्माता, निर्मापक तथा यहाँके निवासी सभी नष्ट हो जायँगे।' फिर भी छावनी बनने लगी। माताकी बात सच्ची निकली। सब-के-सब मर गये। एक व्यक्ति भी, जो छावनी बननेसे सहानुभूति रखता था, जीवित नहीं बचा।*

उसके बाद नौशेरा छोड़कर घूमती हुई वे दोनों अरवली पर्वतपर पहुँचीं। वहाँ एक गुफामें विषधर साँपोंकी ये क्रीड़ा देख रही थीं कि दो बलिष्ठ हाथोंने उन दोनोंको पकड़ लिया और पीठपर बाँधकर ले चले। वे दोनों अंग्रेज थे।

आधी रात बीत चुकी थी। दोनों देवियाँ दो अंग्रेजोंकी पीठपर बँधी हुई बन्दीगृहमें लायी गयीं। उनसे कहा गया कि विद्रोहियोंको अन्न-वस्त्र वितरण करने एवं गुप्त रीतिसे अंग्रेजोंका मूलोच्छेदन करनेके सहयोगमें साहाय्यके अपराधमें तुमलोगोंको कल आठ बजे गोली मार दी जायगी।

रात केवल दो घंटे बाकी थी कि सहस्रों विद्रोहियोंका समूह वहाँ आ पहुँचा। आते ही उन लोगोंने अंग्रेजोंके कैम्प जला दिये तथा एक अंग्रेजको भी जीवित नहीं छोड़ा। अजपा ब्रह्मचारिणी और इकइकी माता बंदीगृहसे बाहर निकाली गयीं।

उसके बादसे फिर उन तपस्विनी देवियोंका कहीं पता नहीं चला। जिन्हें उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक वे उन देवियोंके दर्शनार्थ तरसते रहे।—शि० दु०

महासती राजीमती

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

पुरुष और नारी मानव-समाजरूपी रथके दो पहिये हैं, जिनके बिना या किसी एकके कमजोर होनेसे समाजकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इन दोनोंका संयोग एक दूसरेका पूरक है। एकके बिना दूसरेका जीवन नीरस-सा प्रतीत होने लगता है। दोनोंकी प्रकृतिमें कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ हैं, जिनके सम्मिलनमें ही सुन्दरता है अर्थात् दोनोंके अलग-अलग रहनेपर कमी—अपूर्णताका अनुभव होता है। पुरुषमें पौरुष प्रधान है तो स्त्रीमें सेवा प्रधान है। पुरुष उत्पादक है तो स्त्री उसकी व्यवस्थापिका है। बाहर पुरुषका प्रभाव है तो स्त्रीका घरमें है। पुरुष घरका राजा है तो नारी घरकी रानी है।

प्राचीन कालसे भारतवर्षमें नारीका एक उज्ज्वल आदर्श रहा है—सतीत्व। इसीसे उसे परम पूजनीया, प्रातःस्मरणीया एवं अत्यन्त पवित्र माना गया है। ब्रह्मचर्य वास्तवमें ही एक अलौकिक तेज एवं असाधारण बल है। उसके प्रभावके असंख्य चमत्कार भारतीय साहित्यमें यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। पुरुषके हाथमें सत्ता आयी, फलतः वृत्तियोंका दमन न कर मनमानी अधिक हुई। उसकी प्रकृति जहाँ आवेशप्रधान है, वहाँ स्त्री-स्वभाव सहनशीलताका है। वह अपनी उज्ज्वल आभाका परिचय सतीत्वके द्वारा देती है। पुरुषने अपनी कमजोरी महसूस की और नारीके उस आदर्श गुणके आदररूपमें सतियोंके महत्त्वको स्थान दिया। भारतीय साहित्यमें असंख्य नारीरत्नोंकी कथाओंका भण्डार है। जैन-साहित्यमें तपःपूता सती-साध्वियोंके हजारों चरितग्रन्थ हैं, जिनमें सैकड़ों सतियोंकी कथाएँ हैं। उनमेंसे सोलह† का तो निम्नोक्त श्लोकद्वारा नित्य प्रातः स्मरण किया जाता है।

ब्राह्मी चन्दनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥

अर्थात् ब्राह्मी, चन्दनबाला, राजीमती, द्रौपदी, कौशल्या,

* यह समाचार उस समयके प्रायः सभी प्रतिष्ठित समाचारपत्रोंमें सविस्तृत प्रकाशित हुआ था। १५ मार्च सन् १९०७ के 'इंडियन मिरर' नामक पत्रमें 'दि कर्स आफ दि फकीर' (फकीरका शाप) शीर्षक लेख देखें।

† इन सभी सतियोंके परिचयके लिये धीरजलाल धनजीशाह लिखित गुजराती 'सोल सती' नामक ग्रन्थ एवं हिंदीमें 'जैनबोलसंग्रह' भा० ५ पृ० १८१ से २७६ देखिये।

मृगावती, सुलसा, सीता, सुभद्रा, शिवा, कुन्ती, दमयन्ती, (पुष्प) चूला, प्रभावती, पद्मावती और सुन्दरी प्रतिदिन हमारा मङ्गल करें ।

इनमेंसे कई सतियाँ तो समग्र हिंदू समाजमे विख्यात हैं— जैसे द्रौपदी, कौशल्या (भगवान् रामचन्द्रकी माता), सीता, कुन्ती, दमयन्ती तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं । मृगावतीके आख्यानकने भी जैन, बौद्ध और ब्राह्मण—तीनोंके साहित्यमे स्थान पाया है । अब शेष सतियोंमेसे ब्राह्मी और सुन्दरी तो भगवान् ऋषभदेवकी पुत्रियाँ थी । राजीमती भगवान् कृष्णके चचेरे भाई जैनतीर्थंकर नेमिनाथजीकी पत्नी थी और चन्दनबाला, सुलसा, मृगावती, शिवा, प्रभावती और पद्मावती भगवान् महावीरकी भक्त थीं । मृगावती, शिवा, प्रभावती और पद्मावती तो सगी बहिने थीं और वैशालीके प्रसिद्ध गणतन्त्री राजा चेटककी पुत्रियाँ थी । चन्दनबाला भगवान् महावीरके साध्वी-संघकी नेता थी । मृगावती उनकी शिष्या थी । अवशेष सुभद्रा और पुष्पचूलाका समय निश्चिततया जाननेमे नही आया ।

प्रातःस्मरणीय सोलह मुख्य सतियोके सम्बन्धमे सामान्यतया जानकारी कराके अब पाठकोको सती राजीमतीका संक्षिप्त परिचय कराया जा रहा है । अन्य सतियोसे इनमे एक विशेषता है—वह है प्रबोधक वचनोद्वारा विचलित कामासक्त रथनेमिको सुपथपर लाना । कथा संक्षेपमे इस प्रकार है—

गौरीपुर नगरमे पुरुषोत्तम भगवान् कृष्णके पिता वसुदेवके बड़े भाई समुद्रविजयजीकी पत्नी शिवादेवीकी रत्नगर्भा कुक्षिसे बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का जन्म हुआ था । बाल्यकालसे ही वे बड़े विरक्त थे । अतः विवाहके लिये माता-पिताके अनुरोधको वे कभी कुछ, कभी कुछ कहकर टालते रहते । पर पुरुषोत्तम कृष्णने उनकी सगाई मथुराके राजा उग्रसेनकी गुणवती पुत्री राजीमतीसे कर ही डाली । नियत समयपर बारात उग्रसेनके यहाँ पहुँची । पर कुमार अरिष्टनेमिने विवाहके प्रीतिभोजके लिये इकट्ठे किये हुए पशुओका बाड़ा भरा देखा तो वे सिहर उठे और अपने विवाहके उपलक्षमें इतने निरपराध जीवोंका प्राणघात हो—यह उन्हे असह्य हो गया और बिना विवाह किये ही वे लौट गये और वैराग्यभावसे गिरनार पर्वतपर जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली । राजीमतीको ज्ञात होनेपर उसने भी उनका अनुसरण किया और माता-पिता एवं सखियोकी इस आशाको कि अन्य किसी कुमारके साथ तुम्हारा विवाह कर दिया जाय, ठुकरा दिया । 'उत्तराध्ययनः सूत्र'के अनुसार भगवान् नेमिनाथके दीक्षा-अवसरपर पुरुषोत्तम कृष्णने कहा था कि 'हे संयमीश्वर ! आप अपने अभीष्ट श्रेय (मोक्ष) को प्राप्त हों ।' इसी प्रकार राजीमतीके दीक्षावसरपर भी उन्होने कहा था कि 'हे पुत्री ! इस भयङ्कर संसारको शीघ्र पार करो ।'

दीक्षाके अनन्तर एक दिन गिरनारपर जाते हुए वर्षा हो जानेसे राजीमतीके वस्त्र भीग गये । उन्होने उन्हे सुखानेके लिये एक गुफामे प्रवेश किया और भीगे कपड़े उतारने लगी । इसी समय गुफामे रहे हुए साधु रथनेमिकी दृष्टि उसपर जा पडी और उसके अद्भुत रूप-लावण्यसे वह विचलित हो उठा । राजीमतीने उसे देखते ही संभ्रमसे अपने अङ्गोको ढक लिया और सकुचाकर बैठ गयी । कामासक्त रथनेमिने उसे अपनी इच्छा बतलाते हुए अपने साथ विषय-भोगोको भोगनेकी प्रार्थना की, पर राजीमतीका आदर्श महान् था । वह



कब विचलित होनेवाली थी । उसने उसे निम्नोक्त उद्बोधक वचनोंद्वारा प्रतिबोध देकर संयमभ्रष्ट जीवनको गिरते-गिरते बचा लिया ।

'हे रथनेमि ! कदाचित् तुम रूपमे साक्षात् कामदेव, लीलामें नल, कुवेर या इन्द्र हो, तो भी मैं तुम्हारी कामना नहीं करती । अगन्धन कुलमें उत्पन्न सर्प अग्निमे जल भले ही जाय पर उगले हुए विषको वापस नहीं लेता—पीता । हे अपयशके अभिलाषी ! तुम्हें धिक्कार है कि तुम वासनामय वमन किये हुए भोगोंको छोड़कर पुनः भोगनेकी इच्छा

कर रहे हो । इस पतित जीवनसे तो तुम्हारा मरना ही अच्छा है । मैं भोजक विष्णुकी पौत्री और महाराजा उग्रसेनकी पुत्री हूँ और तुम अंधकविष्णुके पौत्र और समुद्रविजयके पुत्र हो । देखो, हम दोनों गन्धनकुलके सर्प न बनें ! हे संयमीश्वर ! निश्चल हो संयममें स्थिर होओ । हे मुनि ! यदि तुम इस तरह स्त्रियोंको देखकर आसक्त होते रहोगे तो समुद्रके किनारे हवासे हिलते हुए झाडकी तरह उच्च भूमिकासे गिर पड़ोगे । जैसे ग्वाला गायोंको चराता हुआ उनका स्वामी नहीं, जैसे चाभी रखनेसे भण्डारी मालिक नहीं बन जाता, उसी तरह यदि तुम विषयाभिलाषी होगे तो केवल भयके अधिकारी होओगे, उज्ज्वल चरित्रके नहीं । अतः हे रथनेमि ! अपनी इन्द्रियोंको वश करो, आत्माको कामभोगोंकी वासनासे हटाओ ।'

ब्रह्मचारिणी साध्वीके इन शब्दोंसे रथनेमि होशमें आये; जैसे हाथी अंकुशसे वशमें आ जाता है, वैसे ही इन उद्बोधक शब्दोंने उसे पुनः संयममें स्थिर बना दिया । धन्य है सती राजीमती, धन्य है उनकी दृढ़ता । उनका सतीत्व-आदर्श आज भी घर-घरमें जितेन्द्रियताका संदेश दे रहा है । उनके आत्म-स्पर्शी शब्द आज भी विषयरूपी विषके विनाशनमें गारुड मन्त्र हैं । पाठक भी उन्हें पुनः-पुनः स्मरणकर सच्चरित्र बननेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें । इसी उज्ज्वल भावनाके साथ लेखक विश्राम लेता है ।

महासती चन्दनबाला

(लेखक—श्रीताराचंदजी सेठिया)

भगवान् महावीरके समयमें चम्पानगरी (बिहार) में, जो आजकल चम्पारनके नामसे प्रसिद्ध है, दधिवाहन नामके क्षत्रिय राजा राज्य करते थे । वे बड़े ही न्यायप्रिय एवं प्रजापालक राजा थे । इन्हीं राजाके धारिणी नामकी रानी थीं, जो बड़ी रूपवती एवं गुणवती थी । रानीके वसुमती (जिसका आगे चलकर नाम चन्दनबाला पडा) नामकी पुत्री थी । वसुमती भी माके सदृश रूपवती, गुणवती एवं बुद्धिमती थी । बडी होनेपर उसे धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा दी गयी । राजा-रानीने उसका विवाह नहीं किया; वे चाहते थे कि हमारी लड़की पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहकर महिलासमाजके सामने एक आदर्श उपस्थित करे । वसुमती भी यही चाहती थी; क्योंकि उसकी माताने इसी प्रकारकी शिक्षा उसे दी थी । अतः विवाह नहीं किया गया ।

चम्पापुरीकी सीमापर कौशाम्बी नामकी नगरी थी । वहाँ शतानीक नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानीका नाम मृगावती था । मृगावती धारिणीकी सगी बहिन ही थी । अतः दोनों राजा आपसमें सम्बन्धी भी थे । फिर भी वह चम्पापुरी-पर अपना अधिकार जमानेके लिये आतुर हो रहा था । उसने मौका देखकर अपनी सेना सुगठित की और चम्पापुरीपर धावा बोल दिया । इधर दधिवाहनकी मामूली सेना थी; क्योंकि न तो वह किसी राजापर आक्रमण ही करना चाहता था और न उसे स्वप्नमें भी यह आशा थी कि कोई उसपर हमला करेगा । उसकी सभी राजाओंसे सन्धियाँ थी । वह अहिंसात्मक नीतिको माननेवाला शान्तिप्रिय राजा था । वह निरर्थक थोड़ेसे स्वार्थके लिये न तो लाखों-करोड़ों आदमियोंका खून बहाना चाहता था और न उसके अधीन ही होना चाहता था । अतः दधिवाहन जंगलमें भाग गया । परंतु उसके मन्त्रियोंने अपनी मुट्ठीभर फौज लेकर शतानीककी फौजका सामना किया । परंतु कहाँ यह थोड़ी-सी सेना और कहाँ शतानीककी विशाल सेना । अन्तमें शतानीककी विजय हुई ।

शतानीकका एक रथी (रथपर लड़नेवाला योद्धा) राजमहलको लूटनेके लिये वहाँ आ पहुँचा । वहाँ विविध प्रकारके रत्नोंको देखकर उसको अत्यन्त प्रसन्नता हुई; परंतु जब उसने रानीके अनुपम सौन्दर्यको देखा तो उन सब रत्नोंको भूल गया और उसे बलपूर्वक प्राप्त करनेके निश्चयसे अपनी तलवार निकालकर कहने लगा—'उठो और मेरे साथ चलो । अब तुम्हारा यहाँ कुछ नहीं है । या तो मेरे साथ चलो, नहीं तो यह तलवार तुम्हारा भी खून पीनेमें नहीं हिचकेगी ।' धारिणीने सोचा कि 'यह योद्धा युद्धके नशेमें पागल हो रहा है । नशा शान्त होनेपर मान जायगा ।' अतः रानी अपनी लड़की वसुमतीको लेकर रथपर जाकर बैठ गयी ।

रथी अपने भावी सुखोंकी कल्पना करता हुआ अपने रथको जंगलमें ले गया और रानीसे अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा—'मैं तुम्हें अपनी स्त्री बनाऊँगा ।' रानीने बहुत कुछ समझाया एवं फटकारा, परंतु रथी तो उस समय कामान्ध हो

रहा था। इससे वह बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ण करनेके लिये तैयार हो गया। इतनेमेही धारिणीने अपनी जीभ पकड़कर बाहर खींच ली। इस प्रकार उस महासतीने अपने सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये अपने प्राणोकी भी बाजी लगाकर समस्त महिला-जगत्‌के सामने तो महान् आदर्श रक्खा ही, साथमें रथीके जीवनको भी एकदम पलट दिया। कामान्ध होनेके कारण जिसपर उपदेशका कोई प्रभाव नही पड़ा, उसे आत्मोत्सर्गद्वारा सत्यका मार्ग सुझा दिया।

वसुमती इस हृदयद्रावक दृश्यको धीरतापूर्वक देख रही थी। उसने सोचा कि 'मुझे भी अब माके बताये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये, नही तो यह दुष्ट रथी मेरे साथ भी वैसा ही बर्ताव करेगा।' परंतु अब रथीका हृदय-परिवर्तन हो चुका था। उसकी ऑखे खुल चुकी थीं। उसने वसुमतीसे क्षमा-याचना की और कहा—'बेटी! मुझे माफ करो। मैंने महान् पाप किया है। अब मुझे बहुत ही पश्चात्ताप हो रहा है। तेरी माता महासती थी। मै दुष्ट एक महासतीका हत्यारा हूँ। पुत्री! अपनी हत्या करके मेरे पापकी गठरीको और भारी मत करो। मैं तुम्हारे साथ स्वप्नमे भी वैसा बर्ताव न करूँगा।' इस तरहसे पश्चात्ताप करता हुआ वह वसुमतीके पैरोंपर गिर पड़ा। वसुमतीको भी विश्वास हो गया कि रथी अब सन्मार्गपर आ गया है। उसने उसको सान्त्वना दी और उसके पश्चात् दोनोने सतीका दाह संस्कार किया।

रथी वसुमतीको अपने घर ले आया और उसके साथ बेटी-सा व्यवहार करने लगा; परतु रथीकी स्त्रीको सन्देह हो गया कि मेरे पति इसके सौन्दर्यपर मोहित हो गये हैं और इसे मेरी सौत बनायेंगे। अतएव इसको किसी-न-किसी तरह घरसे निकाल देना चाहिये। यद्यपि वसुमतीके आनेसे रथीके घरका सारा कार्य व्यवस्थित ढगसे होने लगा, फिर भी रथीकी स्त्री वसुमतीको हमेशा बुरी तरहसे डॉटती थी ताकि यह अपने-आप चली जाय। परंतु वसुमती चुपचाप अपना अपराध न होते हुए भी अपनी भूल स्वीकार कर लेती थी। उसने तो क्रोधपर पहले ही विजय प्राप्त कर रखी थी। रथीकी स्त्रीकी यह चाल बेकार हुई। तब उसने और कोई उपाय न देखकर अपने पतिसे ही हठ किया कि 'इस लड़कीको बेचकर मुझे बीस लाख मोहरे लाकर दो, अन्यथा मै अपना प्राण त्याग दूँगी।' रथी स्वप्नमे भी ऐसी सदाचारिणी एव सेवापरायण कन्याको नही बेच सकता था; परंतु वसुमतीने स्वयं समझाया, 'पिताजी! मुझे बेच आइये और माताजीका भ्रम दूर कीजिये। यदि मैं सती हूँ तो किसमें साहस है कि मेरा सतीत्व खण्डन कर सके। क्या आपने मेरी माताका आत्म-बलिदान अपनी ऑखों नहीं देखा है?' रथीको उस समय असहनीय दुःख हो रहा था, उसकी ऑखोसे ऑसुओं-की धारा बह रही थी; परंतु वसुमतीके वचन शिरोधार्य समझकर वह उसको बेचनेके लिये घरसे निकल पड़ा।

जब रथी वसुमतीको लेकर बाजारके चौराहेपर पहुँचा तो वह स्वयं चिल्लाने लगी, 'भाइयो! मैं एक दासी हूँ, बिकनेके लिये आयी हूँ। मेरी कीमत बीस लाख मोहरे हैं। जो कोई खरीदना चाहे, मेरे पिताजीको मूल्य देकर खरीद सकता है।' नगरके सभी नागरिक इसकी सौम्य एवं सुन्दर आकृतिको देखकर खरीदना तो चाहते थे परंतु एक दासीके लिये बीस लाख मोहरें-जैसी बडी रकम नही देना चाहते थे।

इतनेमें नगरकी सुप्रसिद्ध 'नगरनायिका' वेश्या आयी। वसुमतीको देखकर उसे अपार हर्ष हुआ। वेश्या अपने भावी स्वप्नोंके किले बनाने लगी कि इस लड़कीको पाकर मेरा धंधा चमक उठेगा। मैं थोड़े ही दिनोंमें मालामाल हो जाऊँगी। इस कन्याके लिये बीस लाख मोहरे तो क्या, करोड़ मोहरें भी दी जायँ तो थोड़ी हैं। परंतु वसुमती उसके शृङ्गार एवं भावसे समझ गयी कि यह कोई भद्र महिला नही है। अतः उसने पूछा, 'माताजी! आपके घरका आचार क्या है?' वेश्याने उत्तर दिया, 'बेटी! तू तो भोली है। मेरे यहॉ जाकर तुझे दासी नही बनना पड़ेगा। नित्य नये-नये शृङ्गार करना और बड़े-बड़े पुरुषोंको अपना दास बनाये रखना होगा।' वसुमतीने कहा—'माताजी! जिस कार्यके लिये मुझे ले जाना चाहती हैं, वह कार्य मुझसे कदापि न होगा। मेरा और आपका आचार सर्वथा एक दूसरेके विपरीत है। अतः मुझे आप न खरीदे। मैं आपके साथ कदापि नही चलूँगी।' वेश्याने बहुत कुछ समझाया एवं प्रलोभन दिये; परंतु सब बेकार गये।

अब तो वेश्या और भी ज्यादा जबर्दस्ती करने लगी। परंतु याद रखिये सदा धर्मकी ही विजय होती है, पापकी कदापि नहीं हो सकती। आकाशसे देवतालोग बंदरोंके रूपमे प्रकट होकर वेश्यापर टूट पड़े और उसके शरीरको नोच डाला। वेश्या सहायताके लिये चिल्लायी; परंतु सभी लोग डरके मारे भाग चुके थे। कोई भी वेश्याको छुड़ाने न आया। बंदरोंने वेश्याको लहूलुहान कर दिया। वसुमतीको वेश्याके करुणक्रन्दनपर दया आ गयी। उसने बदरोको डॉटते हुए कहा—'इसे छोड़ दो।' बंदर सब भाग गये। वसुमतीने

वेश्याको उठाया और सान्त्वना दी। उस सतीके स्पर्शमात्रसे वेश्याका सारा भयङ्कर दर्द दूर हो गया। अब वेश्याको मालूम हुआ कि यह तो अपकारीका भी उपकार करनेवाली महासती है। उसने वसुमतीसे पश्चात्ताप करते हुए बार-बार क्षमा-याचना की एवं भविष्यमें पापका पैसा छोड़ देनेके लिये प्रतिज्ञा की। उसे अब मालूम हो गया था कि अहिंसा और सतीत्वमें कितनी महान् शक्ति है। उनकी शक्तिके सामने दुनियाकी सारी शक्तियाँ नगण्य हैं। वेश्या अपनी आत्माको धिक्कारती हुई अपने घर चली गयी। वसुमती और वेश्याकी बात बिजलीके सदृश सारे शहरमें फैल गयी।

कौशाम्बी नगरीमें धनावह नामका एक धर्मात्मा सेठ रहता था। वह निःसन्तान था। जब उसने यह वृत्तान्त सुना तो उसके हर्षकी सीमा न रही। वह दौड़ा-दौड़ा उस कन्याको खरीदनेके लिये आया। वसुमतीने वही बात पूछी—'पिताजी! आपके घरका आचार क्या है?' सेठजीने गम्भीरतासे उत्तर दिया—'पुत्री! यथाशक्ति धर्माराधना करना ही मेरे घरका आचार है। मैं द्वादश व्रतधारी श्रावक हूँ। अतिथिको विमुख न जाने देना मेरा नियम है। धार्मिक कार्योंमें मेरा सहयोग देना ही तुम्हारा कार्य होगा। तेरे सत्य और शीलको पालनेमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होगी।' सेठजीके इस प्रकारके वचन सुनकर वसुमती जानेके लिये तैयार हो गयी।

सेठजी वसुमतीको अपने घर ले गये। घर लाकर रथीको बीस लाख मोहरें दीं; परंतु उसने लेनेसे इन्कार करते हुए कहा—'मैं इस धर्मपरायण पुत्रीको कदापि नहीं बेचना चाहता; परंतु यह मेरे घरके कलुषित वातावरणमें नहीं रहना चाहती। यदि यह आपके यहाँ रहना चाहती है तो वहाँ रहे। परंतु मैं इसका मूल्य लेकर पापका भागी नहीं बनना चाहता।' अंतमें वसुमतीके समझानेपर रथीको विवश होकर मोहरें लेनी पड़ीं। मोहरें लेकर वह अपने घर चला गया।

सेठजीने इस कन्याका नाम गुण तथा नामके अनुसार 'चन्दनबाला' रक्खा; क्योंकि चन्दन काटनेवालेको भी सुगन्ध और शान्ति देता है, उसी प्रकार यह कन्या अपकारीका भी उपकार करनेवाली स्त्रीरत्न थी। सभी लोग इसको चन्दनबाला कहने लगे।

सेठजीकी स्त्रीका नाम मूला था। उसका स्वभाव सेठजीके विपरीत था। सेठजी जितने नम्र, सरल, धार्मिक एवं दयालु थे, सेठानी उतनी ही कठोर, कपटी एवं निर्दय थी। वसुमतीके रूप एवं सौन्दर्यको देखकर उसे शक था कि कहीं सेठजी इसे मेरी सौत न बना लें। स्त्री सभी दुःखोंको सहन कर सकती है पर सौतका दुःख नहीं सह सकती!

एक दिनकी बात है कि सेठजी बाहरसे आये थे। उनके पैर कीचड़से लथपथ हो रहे थे। उन्होंने पानी माँगा। उस समय चन्दनबाला स्नानके बाद अपने बाल सुखा रही थी। पिताके पैर कीचड़से भरे देखकर वह धोने स्वयं आ गयी। यद्यपि सेठजी उससे पैर धुलवाना नहीं चाहते थे, परंतु चन्दनबालाके आग्रह करनेसे पैर धुलवाने बैठ गये। पैर धोते समय सिरके बाल हिलनेके कारण चन्दनबालाके मुँहपर आ रहे थे, जिससे उसकी दृष्टि अवरुद्ध होती थी। सेठजीने उन बालोंको उठाकर पीछे कर दिया।

मलिनहृदया मूला यह दृश्य देख रही थी। अब तो उसे पक्का विश्वास हो गया कि सेठजी चन्दनबालासे अनुचित सम्बन्ध रखते हैं। मैं अब इस बालाकी छोकरीकी खबर लूँगी।

एक बार सेठजी किसी जरूरी कार्यसे तीन-चार दिनके लिये बाहर चले गये थे। अब मूलाको मनमानी कार्रवाई करनेका सुअवसर मिल गया। उसने चन्दनबालाके सुन्दर बालोंको मुँड़वा दिया, उसके वस्त्रोंको उतार लिया और पुराने वस्त्रोंकी काछ लगा दी। उस दुष्टा मूलाको इतनेपर भी संतोष नहीं हुआ। उसने हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उसको पुराने भौंरे (तहखाने, तलघर) में बंद करके ताला लगा दिया। उसका अनुमान था कि चन्दनबाला भौंरेमें भूखी पड़ी पड़ी तीन-चार दिनमें मर जायगी। परंतु साथ ही-साथ उसके हृदयमें भयका संचार भी हुआ कि कोई यदि चन्दनबालाके बारेमें पूछेगा तो क्या उत्तर दिया जायगा। अतः बात टकी रखनेके लिये घरका ताला बंद करके वह अपने पीहर चली गयी।

महासती चन्दनबालाने इतना महान् सङ्कट आनेपर भी अपने धैर्यको नहीं छोड़ा। वह उस हालतमें भी सुखका अनुभव कर रही थी। वह यह बात अच्छी तरहसे जानती थी कि विपत्ति बड़ोंके लिये कसौटीमात्र है। इतना कष्ट देनेपर भी वह मूलाको धन्यवाद ही देती थी, जिसने कि उसे देवदेवका एकान्तमें गुणगान करनेके लिये सुअवसर दिया था।

आज चन्दनबालाको भौंरेमें बंद हुए तीन दिन समाप्त हो गये। चौथे दिन सेठजी घर आये तो मकान बंद मिला। सेठजी बड़े असमञ्जसमें पड़ गये। इतनेमें एक नौकर आया। सेठजीके पूछनेपर उसने कहा कि 'सेठानीने हम सबको बाहर भेज दिया था। अतएव क्या हुआ, क्या नहीं, मुझे

मालूम नहीं है।' परंतु सेठजी मूलाके मलिन स्वभावको भली-भाँति जानते थे। उन्होंने नौकरको मूलाके पीहर भेजा और चाबियाँ मँगायीं। घर खोलनेपर चन्दनबाला कहीं भी दिखायी न दी तो वे चन्दनबालाका नाम लेकर जोर-जोरसे पुकारने लगे।

सेठजीकी आवाजको सुनकर चन्दनबालाने कहा—'पिताजी! मैं यहाँ हूँ।' आवाजके अनुसन्धानपर सेठजी धीरे-धीरे भौंरेके पास गये और किवाड़ खोलकर अँधेरेमें टटोलते हुए उसके पास जा पहुँचे। धीरे-धीरे उसको ऊपर उठाया और बाहर लाये। चन्दनबालाकी यह दशा देखकर सेठजीके दुःखकी सीमा न रही। वे जोर-जोरसे रोने लगे। चन्दनबालाने सान्त्वना देते हुए कहा—'पिताजी! इसमें आपका और माताजीका कुछ भी दोष नहीं है। यह तो मेरे पिछले किये हुए कर्मोंका फल है।' परंतु सेठजी तो शोकसागरमें डूब रहे थे। उनपर किसी बातका असर नहीं हो रहा था। सेठजीका ध्यान किसी कार्यकी ओर खींचकर उनका दुःख दूर करनेके उद्देश्यसे चन्दनबालाने कहा—'पिताजी! मुझे भूख लगी है और मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वस्तु सबसे पहले आपके हाथमें आवे, उसीसे पारणा करूँगी।'

रसोईघरके तो ताला लगा हुआ था। इधर-उधर देखनेपर सूपमें पड़े हुए उड़दके बाकले दिखायी दिये। चन्दनबालाकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये सेठजीने उन्हींको दे दिया। बाकले देकर सेठजी बेड़ी तुड़वानेके लिये लुहारको बुलाने चले गये। इधर चन्दनबाला बाकले लेकर देहलीपर बैठ गयी। उसका एक पैर देहलीके भीतर था और दूसरा बाहर। पारणा करनेके पहले उसे अतिथिकी याद आ गयी। अतः वह अतिथिके लिये भावना करने लगी।

उधर भगवान् महावीरने खूब ही कठोर अभिग्रह धारण कर रक्खा था, वह यह था—

'राजकन्या हो, अविवाहिता हो, सदाचारिणी हो, निर्दोष होनेपर भी जिसके पाँवोंमें बेड़ियाँ और हाथोंमें हथकड़ियाँ पड़ी हुई हों, सिर मुँडा हुआ हो, शरीरपर काछ लगी हो, तीन दिनका उपवास किये हो, पारणेके लिये उड़दके बाकले सूपमें लिये हो, न घरमें हो और न बाहर हो, एक पैर देहलीके भीतर हो और दूसरा बाहर हो, दान देनेकी भावनासे अतिथिकी प्रतीक्षा कर रही हो, प्रसन्नमुख हो और आँखोंमें आँसू भी हो—इन तेरह बातोंके मिलनेसे ही मैं आहार ग्रहण करूँगा। अगर ये बातें न मिलें तो आजीवन अनशन है।'

आहारकी गवेषणामें फिरते हुए भगवान्‌को पाँच मास पचीस दिन हो गये, परंतु ये बातें न मिलीं। भगवान् घूमते-घूमते कौशाम्बीमें पधारे। वहाँ धनावह सेठके यहाँ गये। चन्दनबालाको उस रूपमें देखा, परंतु आँखोंमें आँसू न थे। अतः भगवान् वापस लौटने लगे। भगवान्‌को वापस लौटते देख चन्दनबालाके आँखोंमें आँसू आ गये। भगवान्‌ने अचानक पीछे देखा तो तेरहवीं बात भी मिल चुकी थी; अतएव उन्होंने भिक्षाके लिये हाथ फैला दिये। चन्दनबालाने सहर्ष उड़दके बाकले भगवान्‌को वहरा दिये। उसी समय आकाशसे जयनाद हुआ—'सती चन्दनबालाकी जय!' धनावह सेठके घरपर फूलों और सोनैयोंकी वर्षा होने लगी। हथकड़ी और बेड़ियाँ आभूषणोंके रूपमें बदल गयीं। सारा शरीर सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित हो गया। सिरपर कोमल और सुन्दर केश आ गये। वहाँ रत्नजटित दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ। इन्द्रादि देवोंने चन्दनबालाको उसपर बैठाया और स्वय स्तुति करने लगे।

यह घटना कौशाम्बी नगरीमें बिजलीकी भाँति फैल गयी। सेठजीने, जो कि लुहारको लानेके लिये गये हुए थे, यह घटना सुनी तो खुशी-खुशी घर वापस लौट गये। मूला भी यह घटना सुनकर दौड़ी-दौड़ी आयी और चन्दनबालासे बार-बार क्षमा-याचना करने लगी। चन्दनबालाने मूलाको सान्त्वना देते हुए कहा—'माताजी! इसमें आपका कोई कसूर नहीं है। जो होनी होती है, वह तो होकर ही रहती है। यदि आप ऐसा न करतीं तो भगवान् महावीरकी पारणा मेरे हाथसे कैसे होती? अतः आपके ऐसा करनेसे ही मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ।' इसी तरहसे वेश्या और रथीकी स्त्रीने भी आकर क्षमा माँगी।

जब राजा शतानीक और रानी मृगावतीको यह मालूम हुआ तो उनको भी बड़ा दुःख हुआ और वे पश्चात्ताप करने लगे। शतानीकने सोचा कि 'मेरे ही थोड़ेसे स्वार्थके लिये इतने आदमी मारे गये और इतनी बहनें विधवा हो गयीं। राजा और रानी दोनोंने आकर क्षमा माँगी।

इसके बाद शतानीकके बहुत ही अनुरोध करनेपर चन्दनबाला सेठजीकी आज्ञा लेकर राजाके यहाँ चली गयी। राजा शतानीकने दधिवाहनको बुलाकर उससे क्षमा माँगी और चम्पापुरीका राज्य वापस उसको सौंप दिया।

कुछ दिनोंके बाद वह अवसर उपस्थित हो गया, जिसके लिये चन्दनबाला प्रतीक्षा कर रही थी। भगवान् महावीरको 'केवल ज्ञान' उत्पन्न हो गया। संसारके कल्याणार्थ वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे। चन्दनबालाको जब यह मालूम हुआ तो शतानीक और मृगावतीसे आज्ञा लेकर भगवान्‌के पास

जाकर दीक्षा ग्रहण की। स्त्रियोंमें सर्वप्रथम दीक्षा लेनेवाली चन्दनबाला ही थी। उसीसे साध्वीरूप तीर्थका प्रारम्भ हुआ। भगवान्ने उसे साध्वी-संघकी नेत्री बनाया।

यथासमय मृगावतीने भी दीक्षा ली। वह चन्दनबालाकी शिष्या बनी। धीरे-धीरे काली, महाकाली, सुकाली आदि रानियोंने भी संयम अङ्गीकार किया। इस तरहसे छत्तीस हजार साध्वियोंकी मुख्या बनकर वह लोककल्याणार्थ ग्रामानुग्राम विचरने लगी।

चन्दनबालाकी छत्तीस हजार साध्वियोंमेंसे एक हजार चार सौ साध्वियोंको 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ। आयु पूरी होनेपर एक हजार चार सौ साध्वियाँ शेष कर्मोंको खपाकर मुक्तिको प्राप्त हुईं।

सती मृगावती

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

भगवान् महावीरके समकालीन कौशाम्बीके नरेश शतानीककी पत्नी मृगावतीकी कथा भारतीय साहित्यमें प्रसिद्ध हैं। कथासरित्सागर आदि वैदिक कथाग्रन्थोंमें, इसी प्रकार बौद्धसाहित्यमें भी पायी जाती है; पर जैनसाहित्य प्राचीनताके नाते विशेष प्रामाणिक प्रतीत होता है। हिंदी-साहित्यमें भी मृगावतीका आख्यान प्रसिद्ध है। सोलहवीं शताब्दीके मुस्लिम कवि कुतबनने भी इस कथासे प्रभावित होकर हिंदीमें मृगावतीकी कथा रची, जिसकी प्रति बीकानेर राज्यकी अनूप संस्कृत लाइब्रेरीमें विद्यमान है। यहाँ तुलनात्मक अध्ययनके लिये जैनसाहित्यमें वर्णित मृगावतीकी कथाका परिचय दिया जा रहा है।

उपलब्ध जैनसाहित्यमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ एकादश अङ्गसूत्र हैं। उनमेंसे पाँचवें 'भगवती सूत्र'के बारहवें शतकके दूसरे उद्देशकमें जयन्ती श्राविकाके प्रसंगमें शतानीक, उदयन एवं मृगावतीका वर्णन है, जिसका सार इस प्रकार है—

'कौशाम्बी नगरीमें चन्द्रावतरण नामक चैत्य था। एक समय भगवान् महावीरस्वामी वहाँ पधारे। उस समय राजा उदयन उनके दर्शन करनेको गये। उदयनके पिताका नाम शतानीक और माताका नाम मृगावती था। वह वैशालीके प्रसिद्ध राजा चेटककी पुत्री थी। शतानीकके जयन्ती नामक बहिन थी, जो परम जैन श्राविका थी। वह भगवान् महावीरकी परम भक्त एवं साधुओंकी सेवामें सर्वाग्रणी थी।

भगवान् महावीरके कौशाम्बी आनेका समाचार पाकर जयन्तीने अपनी भावज मृगावतीसे कहा कि 'हे देवानुप्रिया! भगवान्के नामश्रवणसे बड़ा लाभ होता है। अतः उनका वन्दन एवं धर्मश्रवण करें तो अपना कल्याण निश्चित है।' यह सुनकर मृगावती भी दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर जयन्तीके साथ वाहनमें भगवान् महावीरके पास गयी। भगवान् महावीरका धर्मोपदेश श्रवणकर नगरके अन्य लोग, उदयन और मृगावती वापस लौटे; पर जयन्तीने भगवान्से कई प्रश्न किये, जिनके उत्तर पाकर वह उनके पास दीक्षित हुई। उसने आर्या चन्दनाके पास शिष्यारूपसे रहकर ग्यारह अङ्ग पढ़े एवं बहुत वर्षोंतक साध्वीपना पालनकर ६० समयके उपवासपर निर्वाण प्राप्त किया।'

'भगवती सूत्र'के उपर्युक्त कथनसे उदयन एवं उनकी माता मृगावतीका जैनधर्मसे विशेष सम्बन्ध प्रमाणित है। इसका एक अन्य कारण भी है; वह यह है मृगावतीके पिता राजा चेटक जैनधर्मावलम्बी थे एवं उनका भगवान्से कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था। 'आवश्यक चूर्णी' के अनुसार—हैहयवंशीय राजा चेटककी रानियोंसे सात पुत्रियाँ हुई थीं, जिनमेंसे १ प्रभावती—वीतभयपत्तनके[1] राजा उदयनको, २ पद्मावती—चम्पाके राजा दधिवाहनको, ३ मृगावती कौशाम्बीके राजा शतानीकको, ४ शिवा—उज्जयिनीके प्रद्योतको, ५ ज्येष्ठा—महावीरके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धनको तथा ६ चेलना—राजगृहके राजा श्रेणिकको ब्याही थी। भगवान् महावीरकी माता त्रिशला चेटककी बहिन थी, अतः मृगावती उनकी भतीजी थी तथा भगवान् महावीरके मामाकी बेटी बहिन थी।

कौशाम्बी-नरेश उदयनकी माता मृगावतीका जैनधर्ममें महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्ममें सोलह सती स्त्रियाँ मानी गयी हैं, जिनका नाम प्रातःकाल बड़ी श्रद्धासे लिया जाता है। मृगावती उन्हीं सोलहमेंसे एक है। इनके सम्बन्धमें प्राचीन आवश्यकचूर्णी आदि जैनग्रन्थोंमें उल्लेख है ही, पर स्वतन्त्ररूपसे भी निम्नोक्त चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१	मृगावती-चरित	(संस्कृत)	देवप्रभसूरि १३ वीं शताब्दी
२	,,	चौपाई	सकलचन्द्र सं० १६४३ पूर्व
३	,,	,,	विनयसमुद्र सं० १६०२ वैशाख सुदी ५ बीकानेर
४	,,	,,	समयसुन्दर सं० १६६८ मुलतान

१. वर्तमान 'भेहरा' (पंजाब)

मृगावतीकी कथा भारतीय साहित्यमे बड़ी प्रसिद्ध रही है। हिंदी भाषामे कुतबन-रचित 'मृगावती' ग्रन्थ पाया जाता है। मृगावती नामक एक ग्रन्थकी एक त्रुटित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरीमे भी है। पर वह उपर्युक्त कुतबन-रचित है या नहीं, यह अन्त भागके त्रुटित होनेसे नही कहा जा सकता।

अब जैनग्रन्थोंमे मृगावतीका चरित्र जिस रूपमे प्राप्त होता है, उसका सार दिया जाता है जिससे तुलनात्मक अध्ययनमे सुगमता हो जाय।

सती मृगावतीकी कथा

वैशालीके राजा चेटककी पुत्री मृगावती राजा शतानीककी रानी थी। रानीको गर्भ रहनेके तीन महीने पश्चात् रुधिरमय बावलीमें स्नान करनेका दोहदा उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्ण करनेके लिये युगन्धर नामक प्रधान मन्त्रीने लाल रंगसे बावलीके पानीको रक्तसदृश कर दिया। रानी ज्यो ही स्नानकर बाहर निकली कि भारण्ड पक्षी उसे मांसपिण्ड समझकर ले उडा। सब लोग हाहाकार करने लगे। पर पक्षीके समान उड़ न सकनेसे उसका पीछा करनेसे विवश थे। रानी भी 'बचाओ-बचाओ' पुकार करती हुई रो रही थी। अतः राजा शतानीकको बड़ा दुःख हुआ, पर सर्वत्र खोज करनेपर भी रानीका पता न चला। रानीके वियोगमे चौदह वर्ष व्यतीत हो गये।

अचानक एक दिन राजसभामें एक भीलसहित एक सेठ सोनेका कङ्कण लेकर उपस्थित हुआ और कहने लगा—'राजन्! यह भील यह कङ्कण बेचनेके लिये मेरी दूकानपर लाया है, पर इसपर आपका नाम पाकर मैं इसे आपके समक्ष ले आया हूँ।' राजाने कङ्कण पहचान लिया और भीलसे पूछा कि 'यह तुम्हे कैसे प्राप्त हुआ?' भीलने कहा—'महाराज! एक समय मैं मणिके लिये साँपका वध कर रहा था कि 'मत मारो' की आवाज आयी और एक बालकने मुझे मणिके बदले अपनी माताका यह सोनेका कङ्कण ला दिया। पाँच वर्षोंतक पहननेके पश्चात् मेरी पत्नीने कहा कि 'इसके बदले मुझे कानोंके कुण्डल ला दो।' यह सुनकर राजाने उसे कानोंके कुण्डल देते हुए उससे बालक और उसकी माताका स्थान बतलानेका अनुरोध किया। राजासहित मलयाचल पर्वतपर पहुँचकर भीलने उस स्थानको बतला दिया। वहाँ पहुँचनेपर राजाने एक तेजस्वी बालकको रूठा हुआ देखा। उसने योगियोंसे पूछा कि 'यह किसका बालक है?' इसपर एक योगीने मृगावतीको मूर्च्छावस्थामे पानेपर शीतलोपचार करनेसे ठीक होने और सचेत होनेपर समझा-बुझाकर आश्रममे लानेकी बात कही और कहा कि 'यह उसीका पुत्र है। देववाणीके अनुसार इसका नाम उदयन रक्खा गया है।' यह सुनकर राजाने उसको अपने गलेसे लगा लिया। इतनेमें मृगावती भी आती हुई दिखलायी पड़ी और राजा उसे लेकर नगरमे लौट आया। नगरजनोंके हर्षकी सीमा न रही, एवं राजाका चिरवियोग समाप्त हुआ। कुँवर उदयन वीणा-वादनमे बड़े कुशल थे।

एक दिन राजा समस्त सभासदोंसहित राजसभामे बैठा था। उसने अपने नगर और राजसभाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसपर एक विदेशीने राजसभामें उत्कृष्ट चित्रोंका अभाव बतलाया। राजाने एक सर्वगुणसम्पन्न चित्रकारकी अध्यक्षतामे चित्र बनानेकी आज्ञा दी। चित्रकारको यक्षका वर था कि वह किसी भी वस्तुकी तनिक-सी झलक पाकर उसे हूबहू चित्रित कर सकेगा। एक दिन चित्र अंकित करते हुए रानी मृगावतीके पैरका अँगूठा देखनेमे आया। कुशल चित्रकारने तत्काल ही यक्षके वरके कारण मृगावतीका हूबहू रूप चित्रित कर दिया। रानीकी जंघाको चित्रित करते समय काले रंगकी एक बूँद उसपर जा गिरी। उसने उसे मिटानेका बहुत प्रयत्न किया। पर सफल न होनेसे रानीकी जंघापर ऐसा ही तिल होनेका अनुमान किया। चित्रशाला तैयार होनेपर राजाने उसे बड़े गौरसे देखा और चित्रकारकी कलाका बड़ा आदर किया। इतनेमे ही रानी मृगावतीका चित्र उनकी नजरोमें पड़ा और उसे देखते-देखते जाँघपर तिलका निशान चित्रित देख उसे चित्रकारके बेहूदेपनसे अप्रसन्नता होनेके साथ ही उसके चरित्रपर सन्देह हो गया। राजाकी क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने तत्काल ही चित्रकारको प्राणदण्डका हुक्म कर दिया; पर अन्य चित्रकारो एवं मन्त्रियोके समझानेपर चित्रकारसे यक्षके वरदानकी बात जानकर परीक्षा ली गयी। चित्रकार परीक्षामे उत्तीर्ण हुआ, फिर भी राजाने उसका दाहिना हाथ तो कटवा ही दिया। इस अन्यायपूर्ण व्यवहारसे चित्रकारको बड़ा रोष आया। वह इसका बदला लेनेकी ठानकर बायें हाथसे ही मृगावतीका चित्र बनाकर उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके पास पहुँचा। प्रद्योत चित्रको देखकर मुग्ध हो गया। उसने मृगावतीकी मँगनीके लिये शतानीकके

१. अन्य जैनग्रन्थोंमें शतानीकके चंपाके दधिवाहन राजापर चढाई कर उसे हरानेका उल्लेख है। दधिवाहनकी पत्नी धारिणी मृगावतीकी बहिन थी। धारिणीके चन्दनबाला नामक कन्या थी, जिसके हाथसे भगवान् महावीरने छः महीने (५ दिन कम) के तपका पारण (आहार-ग्रहण) किया था।

पास दूत भेजा। पर वे इस अयुक्त बातको कैसे स्वीकार कर सकते थे ? अतः प्रद्योतने कौशाम्बीपर विशाल सेनाके साथ चढ़ाई कर दी। शतानीकका सैन्यबल मुकाबिला करने योग्य न था। अतः कुछ दिन लड़ाई होती रही। अन्तमें अतिसार-रोगवश शतानीकका मरण हो गया। मृगावतीने धैर्य धारण कर सतीत्वकी रक्षाके लिये एक चाल चली। उसने प्रद्योतको कहला दिया कि 'अभी तो राजाके मरणके शोकके कारण मैं उद्विग्न हूँ, अतः आप वापस पधार जायँ। समय आनेपर विचार किया जायगा। इसपर यदि आप जबरदस्ती करेंगे तो मैं प्राण-विसर्जन कर दूँगी।' प्रद्योत इस बातको उचित समझकर वापस चला गया। इधर मृगावतीने नगरके चारों ओर सुदृढ़ दीवार बनवायी और सैन्यबल बढ़ाया तथा उदयनकुमारको शस्त्रास्त्रकी शिक्षा देकर योग्य बनाया।

कुछ समयके पश्चात् प्रद्योतने मृगावतीके लिये दूती भेजी, पर उसके अस्वीकार करनेपर फिर चढ़ाई की। इसी समय भगवान् महावीर कौशाम्बी पधारे। मृगावतीने उनके उपदेश सुनकर दीक्षा ग्रहण कर ली और आर्या चन्दनबालाके पास साधना कर ६० समयके उपवास कर मोक्ष पधारीं।[1]

सुभद्रा

यह सुभद्रा महाभारत-युगकी सुभद्रा—वीर अभिमन्युकी माता नहीं, यह तो जैन-कालकी एक सती है। इसके पिताका नाम जिनदास और माताका नाम तत्त्वमालिनी था। जिनदास वसन्तपुर नगरके राजा जितशत्रुके अमात्य थे। वे जैनधर्मके अनुयायी थे, इसलिये उन्होंने पुत्रीको भी जैनधर्मकी छत्रछायामें पाला-पोसा और शिक्षा देकर बड़ा किया। सुभद्रा बड़ी ही सुशीला और भक्तिमती निकली। वह पूजा-अर्चना नित्य बड़े प्रेमसे करती थी और अतिथि-अभ्यागतोंका स्वागत-सत्कार कर उन्हें सन्तुष्ट करती थी। माता-पिताने उसे जैनधर्मकी मूर्ति समझ किसी सुपात्र जैन-युवकसे ब्याह देनेका विचार किया।

उसी समय चम्पानगरीमें बुद्धदास नामका एक जैन वणिक् रहता था। वह बौद्धधर्मका अनुयायी था। सुभद्राके गुण और सौन्दर्यपर वह मुग्ध था और उससे ब्याह करना चाहता था। किंतु सुभद्राके माता-पिता उसका विवाह किसी जैनसे करना चाहते थे। यह एक बड़ी रुकावट उसके मार्गमें थी। अतएव उसने बौद्धधर्म छोड़कर जैनधर्ममें दीक्षा ली।

बुद्धदास भी सद्गुणी और रूपवान् युवक था, अतएव सुभद्राके माता-पिताने उसका ब्याह बुद्धदाससे कर दिया। सुभद्रा अपनी ससुराल गयी। परंतु ससुरालके सब लोग बुद्धधर्मके अनुयायी थे और उनकी पूजा-अर्चना भी तदनुसार ही होती थी। सुभद्राकी तो आत्मा ही जैनधर्मसे अनुप्राणित हो रही थी। अतएव वह अपने धर्मानुसार वहाँ आचरण करने लगी। उसकी सासको यह बात बहुत खली और उसने बहूको बौद्धधर्ममें लानेके लिये बहुत प्रयत्न किया; परंतु उसका सब प्रयत्न व्यर्थ गया। इससे सासको बड़ा दुःख हुआ। वह अप्रसन्न होकर बहूके विरुद्ध बुद्धदासको भड़काने लगी; परंतु बुद्धदास सुभद्राके सतीत्वमें विश्वास करता था, अतः माताकी बातोंका उसके ऊपर कोई असर न पड़ा। सुभद्रा जैनधर्मके अनुसार सदाचरण करती हुई आदर्श गृहिणीके समान जीवन बिताने लगी।

एक दिन एक जैन-साधु सुभद्राके यहाँ भिक्षा लेने आया। साधुकी आँखमें एक तिनका पड़ गया। कोमल-हृदया सुभद्रासे यह देखा न गया। वह उस साधुके पास बैठकर आँखसे तिनका निकालने लगी। उसकी सास ऐसे अवसरकी खोजमें थी ही; बुद्धदासको चुपकेसे बुलाकर सुभद्राको दिखलाया और उसके विरुद्ध खूब कान भरे। बुद्धदासके हृदयमें भी सुभद्राके सतीत्वके विषयमें शङ्का हो गयी, और वह उससे अप्रसन्न रहने लगा। पति-प्रेमसे वञ्चित रहनेपर सुभद्राको बड़ा दुःख हुआ। उसने भगवान्के ध्यान और व्रत-उपवासका अनुष्ठान प्रारम्भ किया तथा देवी-देवताओंसे अपने ऊपर आये हुए कलङ्कको दूर करनेकी प्रार्थना की।

इसी बीच एक अद्भुत घटना घटी। राजाके महलके प्रहरी जब प्रातःकाल महलके द्वार खोलनेके लिये गये तो उनसे एक भी द्वार न खुला। ज्योतिषियोंने बतलाया कि यह कोई दैवी प्रकोप है। यदि कोई पूर्ण पतिव्रता स्त्री आकर द्वार खोले तो सम्भव है कि काम बन जाय।

राजाने ढिंढोरा पिटवा दिया। राज्यसे अनेक स्त्रियाँ राजद्वारपर आयीं, परंतु सब असफल होकर लौट गयीं। सुभद्राने अपनी साससे कहा—'माताजी! मैंने मन, वचन और कर्मसे अपने पतिदेवमें एक निष्ठा रक्खी है; आज्ञा दें

१. विशेष जाननेके लिये हमारी ओरसे प्रकाशित 'सती मृगावती' पुस्तक देखना चाहिये।

तो मैं राजद्वार खोलने जाऊँ।' सासने उसकी बात हँसीमें उड़ा दी। परंतु फिर सुभद्राने उसे नम्रतापूर्वक समझाकर कहा—'माताजी! आप मेरे सतीत्वके विषयमें शङ्का करती हैं। यह समय इस बातकी परीक्षाका आ गया है। यदि मुझमें सच्ची पतिभक्ति और सतीत्व होगा तो द्वार खुल जायँगे, नहीं तो कुल-कलङ्किनी कुलटा समझकर आप मुझे घरसे निकाल देना।'

साससे आज्ञा लेकर सुभद्रा राजद्वारपर गयी और उसके धक्का देते ही महलके द्वार खुल गये। सुभद्राके सतीत्वकी परीक्षा हो गयी। वह कसौटीपर बिल्कुल खरी उतरी। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए और उसका बड़ा आदर-सत्कार करके वस्त्राभूषणके साथ विदा किया। सुभद्राकी सासको भी पश्चात्ताप होने लगा कि ऐसी शीलवती बहूको मैंने व्यर्थ ही सताया था। उसने सुभद्रासे इसके लिये क्षमा माँगी। सती सुभद्राने उदारताके साथ उसे क्षमा करके जैनधर्मका महत्त्व समझाया। उसके बाद कुछ दिनोंतक गृहस्थधर्मका पालन करनेके उपरान्त सुभद्राने जैनमुनिसे संन्यासकी दीक्षा ली और अपने देशके दुःखी और अज्ञानी बहिनोंको सुख पहुँचाते हुए धर्मके मार्गपर चलनेके लिये प्रोत्साहित किया। सुभद्राका जीवन जैन-सन्यासिनीके रूपमें अमर हो गया।

उदारहृदया सुनन्दा

वेन्नातट नगरमें धनपति नामक सेठके घर सुनन्दाका जन्म हुआ था। माता-पिताने उसे लाड़-प्यारसे पाला-पोसा और शिक्षा देकर बड़ा बनाया। धीरे-धीरे सुनन्दा वयःप्राप्त हो गयी और माता-पिता उसके लिये योग्य वरकी तलाश करने लगे।

इसी बीच राजगृह-नरेशका पुत्र श्रेणिक सेठ धनपतिकी दूकानपर आया और उससे उसका परिचय बढ़ा। श्रेणिक रूपवान् और धार्मिक युवक था। सुनन्दाका उससे प्रेम हो गया और वह भी सुनन्दाके रूप, गुण और शीलको देखकर उसपर मुग्ध हो गया। सुनन्दाके पिताको जब यह बात मालूम हुई तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और सुनन्दाका व्याह उससे कर देनेपर राजी हो गया।

श्रेणिकको जब यह बात मालूम हुई तो वह सुनन्दासे मिला और उसे समझाया कि उसके समान चलते-फिरते अनजान पुरुषके साथ व्याह करना उसके लिये ठीक न होगा; परंतु सुनन्दाने निश्चय कर लिया था। उसने कहा—'आप मुझे झूठा भय न दिखावें। मैं अपना विचार नहीं बदल सकती। यदि मैं व्याह करूँगी तो आपसे ही करूँगी, नहीं तो संयमपूर्वक कुमारी-व्रत धारणकर जीवन बिताऊँगी। आप परदेशी हैं, विवाहोपरान्त मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं पतिव्रत-धर्मका पालन करती हुई दिन-रात आपका नाम जपती रहूँगी।'

सुनन्दाके इस निश्चयसे श्रेणिकने उससे व्याह कर लिया। विवाहके कुछ समय बाद सुनन्दाको गर्भ रहा। सुनन्दाकी माता प्रेमपूर्वक उसकी सारी इच्छाएँ पूरी करती, फिर भी सुनन्दा दिन-प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। उसकी दुर्बलताका कारण पूछनेपर पता चला कि उसके मनमें एक इच्छा उत्पन्न हो गयी है; और उसके पूर्ण होनेकी आशा न होनेके कारण वह दिन-प्रतिदिन दुबली होती जा रही है। माताने जब उसकी अभिलाषाके बारेमें पूछा तो उसने कहा—'मा! मैं चाहती हूँ कि हाथीपर चढ़कर बाजे-गाजेके साथ निकलूँ। रास्तेमें जो दीन-दुखी मिलें, उन्हें दान देकर अयाचक बना दूँ। अहिंसा-धर्मका पालन करूँ और साधु-संतोंको सात्त्विक भोजन कराके धर्मप्रचार कराऊँ।'

बेटीकी इस अभिलाषाको सुनकर माता प्रसन्न तो हुई, परंतु काम उसके बूतेके बाहरका था। अतएव उसने उसे अपने जामाता श्रेणिकसे कह सुनाया। वह भी अपनी पत्नीकी इस उच्च अभिलाषासे प्रसन्न हो गया। उसके पास एक अमूल्य रत्न था, जिसमें नेत्रोंको ज्योति देनेकी शक्ति थी। वेन्नातट-नगरके राजाकी लड़की सुलोचनाकी आँखें बड़ी और सुन्दर होनेपर भी तेजहीन थीं। अतएव श्रेणिकने अपने ससुरको वह रत्न देकर राजाके पास भेजा।

धनपति सेठने अपने रत्नके प्रकाशसे राजकन्या सुलोचनाके नेत्रोंको जब ज्योति प्रदान कर दी तो राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ और सेठको मुँहमाँगा इनाम देनेके लिये कहा। तब धनपति सेठने अपनी कन्याकी अभिलाषा उससे निवेदन करके उसको पूर्ण करनेकी प्रार्थना की। राजा उसकी अभिलाषाकी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने कोषागारसे धन-व्यय करके सुनन्दाकी अभिलाषा पूरी की।

श्रेणिक अपने पिताके राज्यमें गया। सुनन्दाने भी पीछे अपने पुत्रको साथ ले पतिगृहके लिये प्रस्थान किया। वहाँ जाकर उसने दीन-दरिद्रोंकी सेवा, धर्मोपदेश, भगवान्की आराधना आदि सत्कार्योंमें अपना जीवन व्यतीत किया। महावीरस्वामीके जीवनकालमें सुनन्दा एक सद्धर्मचारिणी गृहस्थ-स्त्रीके रूपमें प्रसिद्ध थी और अन्तमें संन्यास-दीक्षा लेकर वह मोक्षकी अधिकारिणी बन गयी। —गौ० द्वि०

माता मायादेवी



आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहले कोलिया देशमें महानुप्रबुद्ध नामके राजा राज्य करते थे। उनकी सबसे बड़ी पुत्रीका नाम था मायादेवी। मायादेवीके जन्मके समय ब्राह्मणोंने भविष्यद्वाणी की थी कि इस कन्याके पेटसे चक्रवर्ती राजकुमार जन्म लेगा। पिताके घर मायादेवीको भलीभाँति सुशिक्षा दी गयी और उसका जीवन सद्गुणोंसे विभूषित हो उठा। कपिलवस्तुके राजा शुद्धोदनके साथ उसका विवाह हुआ।

मायादेवी अपूर्व रूपवती थी और उसका मुखमण्डल ज्ञानदीप्तिसे आलोकित था। प्रजाजनके साथ उसका वर्ताव माताके समान होता था और सदा प्रजाके कल्याण-साधनमें वह लगी रहती थी। राजा शुद्धोदनके राजमहल और कपिलवस्तु नगरीमें तो क्या, समस्त शाक्य-जनपदमें मायादेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान समादृत होती थी।

आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन शाक्यवंशमें बड़ा उत्सव मनाया जाता था। एक बार कपिलवस्तुमें यह उत्सव-समारोह हो रहा था। चारों ओर हर्षातिरेकसे जन-जनका हृदय उमड़ पड़ता था, शाक्यनगरी प्रफुल्लित हो रही थी। महारानी मायादेवीने दीन-दुखियों, अनाथों और ब्राह्मणोंको दान देकर अयाचक कर दिया और वह बड़ी राततक शास्त्र-कथा सुनती रही। पश्चात् अन्तःपुरमें सोते समय उसने एक अद्भुत स्वप्न देखा। दिशाओंके रक्षक देवगण उसके सामने आये और उसे उठाकर हिमालय पहाड़के ऊपर ले गये। वहाँ मायादेवीको एक शालवृक्षके नीचे डाल दिया। अचानक देवकन्याएँ दिव्य गन्ध तथा दिव्य वस्त्रालङ्कार लेकर उपस्थित हो गयीं। उन्होंने मायादेवीका शरीर चन्दन-चर्चित किया तथा दिव्य वस्त्रालङ्कारसे शृङ्गार करके उसे स्वर्ण-सिंहासनपर सुला दिया। तुरंत ही एक श्वेत हाथी वहाँ प्रकट हुआ और अपनी रुपहली सूँड़में एक श्वेत कमल लिये महारानीकी तीन प्रदक्षिणा करके उनकी बायीं कोखसे होकर धीरे-धीरे पेटमें पैठ गया।

प्रातःकाल महारानीने अपने स्वप्नकी चर्चा महाराज शुद्धोदनसे की। प्रसिद्ध ज्योतिषी राजमहलमें बुलाये गये। उन्होंने स्वप्नफलका आदेश करते हुए कहा—'महाराज! महारानी मायादेवीके पेटसे एक महान् पुरुषका अवतार होनेवाला है। वह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहेगा तो चक्रवर्ती राजा होगा और संन्यास ग्रहण करेगा तो बुद्ध होकर जगत्के दुःख और अज्ञानको दूर कर देगा।'

मायादेवीका गर्भ बढ़ता गया। उसका तो स्वभाव पहलेसे ही दयालु था, परंतु गर्भके बढ़नेके साथ-साथ प्राणीमात्रके प्रति उसके हृदयमें दयास्रोत उमड़ता गया और हृदयसे संसार-वासना दूर होती गयी। मायादेवी सद्गुणोंकी प्रतिमा बन गयी।

नौ महीने पूरे होने आये। मायादेवीका मन नैहर जानेका हुआ। कपिलवस्तुसे कुछ दूरपर लुम्बिनी-काननमें शालवृक्षके नीचे बोधिसत्त्व गौतमबुद्धका जन्म हुआ। उस समय जगत्में एक अपूर्व प्रकाश छा गया। शीतल-मन्द-सुगन्ध अनुपम त्रिविध समीर बहने लगा। आकाशसे देवगण विमानमें बैठे पुष्पवर्षा कर रहे थे। देवीकी मनोकामना पूरी हुई। पुत्रका 'सिद्धार्थ' नाम रक्खा गया।

माता मायादेवी! तुम धन्य हो! सिद्धार्थको उत्पन्न कर तुम लोकविश्रुता हो गयी। तुम्हें वह अमरत्व पद मिला, जिसे विरली ही जननी प्राप्त करती है। देवि! तुम्हारे स्मरणसे हृदय निष्पाप हो जाता है। तुझे शतशः प्रणाम! सहस्रशः प्रणाम!!

यशोधरा (गोपा)

कपिलवस्तुके पास कलि नामका एक छोटा-सा राज्य था। कलिदेशकी राजकन्याका नाम था गोपा। उसके पिता महाराज दण्डपाणिने स्वयंवर रचा। सिद्धार्थ उस स्वयंवरमे शामिल हुए और उनकी शस्त्रास्त्र-विद्यामें अपूर्व योग्यतासे प्रसन्न होकर गोपाने उनके गलेमें जयमाला डाली।

विवाह हो जानेके बाद गोपा अपने मनका पति पाकर छायाकी भाँति उसकी अनुगामिनी बन गयी। सुख-दुःखमे वह सदा पतिका साथ देती थी। दस वर्षोतक दोनोंने अपना सांसारिक जीवन सुखसे बिताया। गोपा-जैसी सुशीला पत्नी पाकर गौतमकी सारी चिन्ताएँ दूर हो गयी। ग्यारहवें वर्ष गोपा गर्भवती हुई। गौतमके हृदयमें तो बचपनसे ही संसारकी क्षणभंगुरता तथा मनुष्य-शरीरकी नश्वरतापर विरागकी भावना काम कर रही थी। गोपाके गर्भवती होनेपर उनके मनमे आया कि उनका संसार-बन्धन और दृढ़ हो रहा है।

एक दिन रातको गोपा सोते-सोते अचानक चौंक पड़ी। भयभीत होकर उसने स्वामीको जगाया। गौतमने जागकर उसकी घबराहट शान्त की, तब उसने कहा—'स्वामी! मैंने आज तीन अद्भुत स्वप्न देखे हैं और मैं घबरा गयी हूँ। मैंने देखा है कि एक सफेद साँड़ है, उसके सींग फैले हुए हैं और मस्तकपर एक चमकती हुई मणि है। वह झूमता हुआ नगरके द्वारकी ओर जा रहा है, किसीके रोके नहीं रुक रहा है। इतनेमें इन्द्रमन्दिरसे ध्वनि आती है—'यदि साँड़ नहीं रुका तो नगरकी कीर्ति चली जायगी।' फिर भी वह साँड़ नहीं रुका, मैं रोती हुई उस साँड़के गले लिपट गयी और उसे रोकने लगी। लोगोंसे मैंने नगर-द्वार बंद करनेके लिये कहा; परंतु साँड़ नहीं रुका, द्वारके बाहर निकल गया। मैं हताश हो गयी।

फिर सो जानेपर कुछ देरके बाद मैं देखती हूँ कि चार दिव्यपुरुष असंख्य गणोंके साथ आकाशसे उतरकर नगरमें प्रवेश कर रहे हैं। उनके साथ इन्द्रपुरीके प्रवेशद्वारका सुनहला झंडा टूटकर नीचे गिरता है, और उसके स्थानपर एक तेजस्वी पताका प्रकट हो जाती है। उस पताकामें रुपहली डोरसे सिले हुए माणिक गुँथे हुए हैं, उसे देखकर सारे प्राणी हर्षसे प्रफुल्लित हो रहे हैं। अरुणोदयका समय, पुरवैया हवा चलनेसे वह पताका फहराने लगी और आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी।

इसके बाद हे स्वामी! मैंने एक भयानक स्वप्न देखा और मैं डर गयी। देखती क्या हूँ कि मैं आपके पास आ रही हूँ तो आप हैं नहीं। मैं घबराकर उठी, मेरी छातीके नीचे दबी हुई आपकी माला सर्प हो गयी। मेरे पैरोंके बिछुए निकल पड़े, हाथके सुवर्ण-कंकण टूटकर गिर गये। केशमें गुँथे हुए जूहीके फूल रजमें मिल गये, मेरी विलासशय्या जमीनमें धँस गयी। इसके बाद बहुत दूरीपर उसी सफेद साँड़की आवाज सुनायी दी। वही पताका पुनः फहराने लगी और यह ध्वनि सुनायी पडी कि—वह समय आ गया, जिसे सुनते ही मैं चौंककर उठ खड़ी हो गयी।'

इतना कहकर गोपा रोने लगी। गौतमने उसे तरह-तरहसे आश्वासन दिया। आश्वासन पाकर पतिप्राणा यशोधरा सो गयी। गोपाको आश्वासन देकर सिद्धार्थ भी सो गया; परंतु उसके मनमें यह बात आ गयी कि गोपाके स्वप्न सही हैं; क्योंकि संसारके प्रति उसकी आसक्ति सचमुच कम होती जा रही थी और जगत्का उद्धार करनेकी इच्छा प्रबल हो रही थी।

जब राजकुमारके मनमें इस प्रकार विचारक्रान्ति हो रही थी, उसी समय यशोधराने एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया। सिद्धार्थके मनमें विरागकी भावना और तीव्र हो उठी। एक दिन रातको यशोधरा अपने बच्चेको छातीसे लगाकर सो रही थी, सिद्धार्थ उठ खडा हुआ और सोते हुए स्त्री-पुत्रको छोड़कर संसारका कल्याण करनेके लिये राजमहलका त्याग करके वनकी ओर चला गया।

गोपा जब सोकर उठी और राजकुमारको वहाँ नहीं देखा तो उसे निश्चय हो गया कि वह अमरत्वको प्राप्त करनेके लिये राजमहलसे निकल गये हैं। उसे पति-वियोगपर बहुत दुःख हुआ। पति गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासी हो गये हैं, अतएव पतिप्राणा गोपा संन्यासिनीके समान सादा वेश और कठोर व्रतका पालन करती हुई राजमहलमें रहने लगी।

पुत्र-वियोगसे दुखी माता-पिताको गोपाका कठिन संयम देखकर बड़ा सन्ताप हुआ। उन्होंने उसे समझाया; परंतु पति तपस्या करे और पतिव्रता स्त्री राजभवनके विलासमें रहे, यह बात कैसे हो सकती है। गोपा राजभवनमे रहकर तप करने लगी।

बुद्धत्व प्राप्त करके जब गौतम धर्मप्रचार करते हुए कपिलवस्तु गये तो सारा नगर जगमगा उठा, सारे नगर-निवासियोंके हृदयमें आनन्दका पारावार उमड़ने लगा। गोपाने मूँड़ मुँड़ाये हुए गरीब भिखमंगेके रूपमें जब उनको देखा तो उसके हृदयका बाँध टूट गया, वह अपनेको सँभाल न सकी। आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी; परंतु वह मन-ही-मन कहने लगी—'अरे, मैं रोती क्यों हूँ? इनके चरण-कमलोंसे आज सारी कपिलवस्तु नगरी धन्य हो रही है। इनके दर्शनसे नगरवासियोंके मुख-मण्डलपर दिव्य कान्ति झलक उठी है, वेशभूषा-हीन होनेपर भी इनकी मूर्ति ज्योतिर्मय हो रही है, इनके तपःतेजके सामने राजतेज तुच्छ है, नगण्य है। इनके सामने राजमहलका राजभोग गरीब भिखमंगेकी झोपडीके सूखे साग-पातसे किसी प्रकार भी बढ़कर नहीं है। ओह! आज ये कितने महान्, कितने उच्च हैं!'

पतिप्राणा पत्नीने अपने पतिके वास्तविक स्वरूपको देखा, उसका हृदय गद्गद हो गया, वह अपनेको धन्य समझने लगी।

बुद्धके विदा होनेके समय गोपाने अपनी सबसे प्रिय वस्तु अपने प्यारे पुत्र राहुलको बुद्धके चरणोंमें अर्पित कर दिया।



पत्नी पतिकी अर्द्धाङ्गिनी होती है। पत्नीका जीवन उच्च न हो तो पतिका जीवन-विकास संभव नहीं। गौतमने जीवोंको दुःख-बन्धनसे छुडानेके लिये संसारका त्याग किया, तो गोपाका त्याग भी कम नहीं कहा जा सकता। उसने गौतमकी उद्देश्य-सिद्धिके लिये उन्हें वैराग्यके मार्गमें प्रेरणा प्रदान की, राजवैभवका त्याग कर कठोर संयम-व्रत धारण किया और जनसुखहिताय अपने प्रिय पुत्रका त्याग किया। गोपा इस आदर्श जीवनके कारण यशोधराके नामसे जगत्‌में विख्यात हुई। सचमुच जिस प्रकार गौतमका जीवन अलौकिक है, उसी प्रकार यशोधराका जीवन रमणी-जगत्‌की अद्वितीय वस्तु है। यशोधरा-जैसी पत्नीके कारण ही गौतम बुद्धत्वके योग्य हुए और दुःखसे सन्तप्त संसारके प्राणियोंको धर्मका मार्ग दिखलानेमें समर्थ हो सके। यशोधरा-सी यशस्विनी नारी धन्य है, उसकी जीवनलीला अपूर्व है, देवलोकमें भी उसकी तुलना नहीं। —गौ० द्वि०

महाप्रजापति गौतमी

महाप्रजापति कोलिया देशकी राजकन्या थी। यह मायादेवीकी छोटी बहिन थी। इसके पिता शाक्यवंशीय राजा महासुप्रबुद्ध थे, उनका गोत्र गौतम था। अतएव महाप्रजापतिको गौतमी कहकर पुकारते थे। रूप और गुणमें गौतमी मायादेवीसे किसी प्रकार कम न थी। सिद्धार्थके जन्म-दिवसके ठीक सातवें दिन मायादेवीका देहावसान हुआ। महाराजा शुद्धोदनने गौतमीको अपनी पटरानी बनाया। उसी समय गौतमीको भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम नन्द रक्खा गया।

मायादेवीके देहावसानके बाद महाराजको यह चिन्ता सताने लगी कि सिद्धार्थका पालन-पोषण कैसे हो। गौतमीने पतिको चिन्तित देखा, बहिनके वियोगसे उसे दुःख था ही, मातृहीन बालक सिद्धार्थको देखकर उसके स्नेहका बाँध टूटकर उमड़ उठा। उसने अपने बच्चे नन्दको पालनेके लिये एक दाईके सुपुर्द किया और स्वयं सिद्धार्थको पुत्रवत् पालने लगी।

सिद्धार्थको मायादेवीने तो केवल जन्म दिया था, गौतमीने पाल-पोसकर उन्हें बुद्धत्वके योग्य बनाया। प्रोफेसर भागवत लिखते हैं कि 'गौतम बुद्धकी पिछली वयमें ज्ञान-लालसा, दया, उत्साह, बुद्धिकी तीव्रता, उद्योग, विशद दृष्टि, कार्यदक्षता, नेता बननेकी कुशलता आदि जो गुण प्रकट हुए थे, उनका अधिकांश श्रेय गौतमीको ही है।' वस्तुतः आज जिस बौद्धधर्मके सामने विश्वका मानव-समाज नतमस्तक है, उसका बीज-वपन गौतमीके द्वारा ही हुआ था।

सिद्धार्थके महाभिनिष्क्रमण (सदाके लिये संसारका परित्याग) करके वनवासी होनेपर गौतमीको बड़ा दुःख हुआ, स्नेहातिरेकके कारण उसके हृदयको बड़ी चोट लगी। बुद्धत्व प्राप्त कर लेनेके बाद धर्मोपदेश करते हुए जब गौतम कपिलवस्तुमें पहुँचे और वहाँ धर्मोपदेश किया तो उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि महाराज शुद्धोदन, गौतमका पुत्र राहुल, गौतमीका लड़का नन्द तथा शाक्यवंशके अनेकों क्षत्रिय बौद्धधर्मकी शरणमें जाकर भिक्षु बन गये और धर्म-प्रचारमें निकल गये। गौतमीने भी बुद्धके धर्मोपदेशको सुना। उसके चिर-वियोगजनित शुष्क हृदयमें स्नेहकी सुधा-धारा प्रवाहित हो उठी। उसने देखा कि बचपनमें लाड़-प्यारसे पालकर जिस गौतमको उसने करुणा, दया, उदारता, सत्य और सहिष्णुताका पाठ पढ़ाया था, वही उसका प्यारा बच्चा आज असीम करुणाका स्रोत बनकर विश्वको दुःख-बन्धनसे छुड़ानेके लिये कटिबद्ध है। गौतमीका हृदय आह्लादित हो उठा, उसका शरीर पुलकित होने लगा, आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी।

विश्वकी विमाताओंके सामने महाप्रजापति गौतमीका यह

उज्ज्वल आदर्श है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि गौतमीका जीवनस्तर कितना ऊँचा था। गौतमी-सी माताएँ जिस देशमें उत्पन्न होती हैं, वह देश अमर हो जाता है, पवित्र हो जाता है।

गौतमीने बुद्धके धर्म-प्रचारमें भी भाग लिया। एक समय बुद्धदेव वैशालीमें चातुर्मास्य व्यतीत कर रहे थे। महाप्रजापति गौतमी मुण्डन कराये हुए ५०० शाक्य स्त्रियोंके साथ वहाँ जा पहुँची। बुद्ध भिक्षु-संघके नेता थे। गौतमीने भिक्षुणी-संघ बनाया। बुद्धके उपदेशसे कुछ ही समयमें उसे समाधियोगकी प्राप्ति हुई। वह ध्यानानुष्ठानके द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त कर धर्म-प्रचार करती रही।

बौद्धभिक्षुओंके वार्तालाप थेरगाथा नामक ग्रन्थमें लिखे गये हैं और भिक्षुणियोंके वार्तालापका ग्रन्थ है थेरीगाथा। थेरीगाथाके नीचे लिखे अवतरणको पढ़कर सहज ही ज्ञात हो जाता है कि गौतमीका हृदय बुद्धके प्रेमसे कितना परिप्लुत था।

'हे सुगत! तुम जब छोटे थे, तब तुम्हें देखकर और तुम्हारी तोतली बोली सुनकर आँख-कानको जितनी तृप्ति हुई थी, उससे कहीं अधिक तृप्ति तुम्हारे दिये धर्म-रसका पान करनेसे हुई है।

'हे गौतम! मेरी बहिन मायाने लोक-हितके लिये ही तुम्हें पैदा किया था। वृद्धावस्था, दुःख-व्याधि, मृत्यु और शोकके रुदनको तुमने हरण कर लिया है।'

ये दोनों माता और पुत्र—गौतमी और गौतम साक्षात् भक्ति और ज्ञानके स्वरूप हैं। इनकी लोक-लीला अलौकिक है। गौतमीका चलाया हुआ भिक्षुणी-संघ लगभग हजार वर्षतक देश-विदेशमें धर्म-प्रचार करके त्रिविध ताप-तप्त नर-नारियोंके हृदयको शान्ति प्रदान करता रहा। प्रो० कौशाम्बीके मतसे ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दीमें भिक्षुणी-संघका पूर्णतः ह्रास हो गया। फिर भी गौतमीने भिक्षुणी-संघको लेकर ज्ञान और सदाचारका जो मन्त्र घर-घरमें फूँका था, निश्चय ही उसका प्रभाव आज भी नारी-समाजके जीवनमें अवशिष्ट है। भिक्षुणी-संघ नारी-जागरणका एक उज्ज्वल उदाहरण है और उसका नेतृत्व करनेके कारण गौतमीका जीवन विश्व-नारीके लिये पठन, मनन और अनुकरण करनेकी वस्तु है। —गौ० द्वि०

नन्दा

नन्दा महाप्रजापति गौतमीकी कन्या थी। जब बुद्धत्व प्राप्त करके धर्म-प्रसार करते हुए भगवान् तथागत कपिलवस्तु पधारे और उसके बाद राहुल, नन्द, महाप्रजापति गौतमी—सब एक-एक करके संसारका त्याग कर धर्मकी शरण लेकर बुद्धसङ्घमें प्रविष्ट हो गये तो राजकुमारी नन्दाका मन उदास रहने लगा। अकेले उसको राजमहल श्मशान जान पड़ने लगा। वास्तविक वैराग्यके कारण नहीं, बल्कि अपने सगे-सम्बन्धियोंके वियोगको न सह सकनेके कारण नन्दाने घरका त्याग किया और वह भिक्षुणी-सङ्घमें जाकर रहने लगी।

नन्दा बहुत ही रूपवती थी और भगवान् रूपकी बड़ी कटु आलोचना करते थे। इस कारण नन्दा उनके सामने जानेमें सदा सङ्कोच करती रही। भगवान् उसके मनकी बात जानते थे। एक दिन नन्दाको बुलवाकर उन्होंने उपदेशके बीचमें कहा—'यह शरीर मांस और रक्तसे लिप्त हाड़का किला है। इसमें जरा और मृत्यु राज्य करते हैं। यह जलके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर है, इसलिये शरीरकी आसक्ति छोड़कर निर्वाण प्राप्त करनेमें ही चित्तको लगाना बुद्धिमानी है।'

भगवान्‌के उपदेशने नन्दाके हृदयमें घर कर लिया। उसने धर्म-साधनामें मन लगाया और कुछ ही वर्षोंमें आध्यात्मिक शक्तिसे सम्पन्न होकर वह लोक-सेवामें लग गयी। उसकी दिव्य मूर्ति और प्राणियोंके प्रति अलौकिक प्रेम-भावनाके कारण वह 'जनपद-कल्याणी' के नामसे प्रसिद्ध हुई।

थेरीगाथामें गायी हुई इसकी गाथा अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी है। वह कहती है—'नन्दा! रोग, अशुचिता, सड़न और दुर्गन्ध—इन सबसे युक्त इस शरीरको देख। रात-दिन इसकी भावना करनेसे तू सौन्दर्यके दासत्वसे मुक्त होगी। अपनी प्रज्ञाको जाग्रत् कर, जिससे तुझे मार्ग मिले। शाश्वत सत्यका विचार कर और प्रमाद छोड़कर शरीरके बाहर और भीतर देख। तेरी कायाकी माया दूर होगी और तू अध्यात्मके राज्यमें विराजमान होगी। तू अप्रमत्त, मुक्त और शान्त बनेगी। यही सच्चा निर्वाण है।'—गौ० द्वि०

सुजाता

आजकलका गयाका जनपद बुद्ध-युगमें उरुवेला-प्रदेशके नामसे प्रसिद्ध था। वहाँ सेनानी नामका एक भूमिपति था। सुजाता उसकी प्यारी कन्या थी। सौन्दर्य और सद्गुणोंके साथ-साथ विनय और शील-सम्पन्ना कन्या सुजाताके समान उस समय कोई दूसरी उरुवेला प्रदेशमें न थी। सेनानीके घर अपार गोधन था; रूपवती सुजाताको गायोंसे बड़ा ही स्नेह था और वह गोकुलकी व्रजबालाओंके समान गोचारण-में प्रेम रखती थी। गौओंकी सँभालके काममें वह दक्ष थी। वयःप्राप्त होनेपर सुजाताका व्याह उच्चकुलके एक सदाचारी और गुणवान् पुरुषसे हुआ। सुजाताका गृहस्थ-जीवन सुन्दर हो गया। उस गाँवके उपवनमें एक वट-वृक्ष था, जिसे वन-देवताका निवास समझकर लोग पूजते थे। सुजाता पूर्णिमाकी चन्द्रिकामें वनदेवताकी पूजा करती और भक्तिभावसे उन्हें दूधकी खीरका नैवेद्य चढ़ाती थी।

गौतमको तपस्या आरम्भ किये छः वर्ष हो चुके थे। संयोगवश वह वैशाखी पूर्णिमाके दिन उस वट-वृक्षके नीचे पहुँचे और सुन्दर स्थान पाकर वहाँ आसन जमाया और ध्यानस्थ हो गये। इसी बीचमें सुजाता अपनी दासी पन्नाके साथ वनदेवताकी पूजाकी सामग्री लेकर उस वट-वृक्षके पास पहुँची। गौतमका शरीर तपस्यासे कृश हो गया था, परंतु उनका मुख-मण्डल अपूर्व तेजसे दीप्त हो रहा था।

अपूर्व तेजःसम्पन्न पुरुषको वहाँ देखकर सुजाताको विस्मय हुआ। वह श्रद्धालु थी; उसके मनमें आया कि आज कृपा करके साक्षात् वनदेवता ही पूजा ग्रहण करनेके लिये प्रकट हुए हैं। उसने बड़ी भक्तिके साथ गौतमके सम्मुख खीरका पात्र रक्खा। चन्दन, पुष्प, धूप आदिसे उनकी पूजा करके प्रदक्षिणा की और एक ओर खड़ी हो गयी। पन्ना भावावेशमें आकर ऊँचे स्वरसे प्रार्थना करने लगी।

गौतमकी जब आँखें खुलीं, तो सुजाताके मनमें आनन्द-का समुद्र उमड़ पड़ा। उसने हाथ जोड़कर कहा—'महा-पुरुष! हम वनदेवताकी पूजा करने आयी थीं, आपको वन-देवता समझकर यह खीर अर्पित की गयी है। मेरी प्रार्थना स्वीकार करें और इसको ग्रहण करके हमें उपकृत करें। आप-जैसे तपस्वीके द्वारा नैवेद्य ग्रहण होनेपर वनदेवता हमारे ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे।'



सुजाताकी श्रद्धा-भक्ति देखकर भगवान्‌ने उसका नैवेद्य ग्रहण किया। उपवास और तपस्यासे आयी हुई थकान दूर हुई। शरीरमें नव-जीवनका संचार हुआ। सुजाताको प्रसन्नता प्राप्त हुई। उसने अपना सब वृत्तान्त भगवान्‌से निवेदन किया और अपने पुत्रके लिये आशीर्वाद माँगा। भगवान्‌ने कहा—'देवि! तुम बड़ी पुण्यवती जान पड़ती हो। तुम्हारी समझमें धर्मका रहस्य क्या है?'

सुजाता बोली—'भगवन्! मैं जानती हूँ कि अच्छे कामका अच्छा फल होता है और बुरेका बुरा। वैरसे वैर पैदा होता है और प्रेमसे प्रेम। धीरज और सहनशीलतासे शान्ति मिलती है। इसलिये जो मार्ग पवित्र जान पड़ता है, मैं उसीपर चलती हूँ। मुझे विश्वास है कि भविष्य सुखमय होनेवाला है।'

सुजाताकी बात सुनकर गौतम बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसके नैवेद्यकी प्रशंसा की और ज्ञानको सराहा। बोले—'देवि! मैं उस ज्ञानको प्राप्त करना चाहता हूँ, जिससे सारे संसारके दुःख मिट जायँ। मैं चाहता हूँ कि जिस प्रकार तुम्हारी मनःकामना सिद्ध हुई है, उसी प्रकार विश्व-कल्याण-के लिये मुझे सिद्धि प्राप्त हो—यह आशीर्वाद मुझे दो।' सुजाताने 'तथास्तु' कहा। तब गौतमने उसके पुत्रको आशीर्वाद दिया और उसे आदरपूर्वक प्रणाम करके विदा

किया। उसके बाद ही गौतमको सत्य-ज्ञानकी प्राप्ति हुई और वह बुद्ध बन गये।

बुद्धकी जीवन-कथासे सम्बन्ध रखनेवाली यह पुण्य-शीला जननी सुजाता बौद्धयुगकी एक दिव्य प्रतिमा है। बुद्धके साथ सुजाताको मानव-समाज बड़े ही आदर और पूज्य-भावनाके साथ स्मरण करता रहेगा। और हमारे देशकी नारियाँ सुजाताके चरित्रको याद करके आत्म-विस्मृतिको दूर कर जीवनकी दिव्यताके मार्गका अन्वेषण करेंगी। —गौ० द्वि०

किसा गौतमी

महाप्रजापति गौतमीसे भेद दिखलानेके लिये यह कृश शरीरवाली, गरीब घरकी लड़की गौतमी किसा गौतमीके नामसे प्रसिद्ध है। संस्कृतका 'कृशा' शब्द पालीमें 'किसा' बन जाता है। गौतमी गरीबकी लड़की थी, इसलिये ससुराल-में उसका कोई आदर नहीं हुआ। जब उसको एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ, तो लोग उसकी कुछ पूछ-ताछ करने लगे।

एक दिन माता गौतमीके सुख-सौभाग्यका एकमात्र आधार वह बालक बाहर खेलने गया। वहाँ साँपने उसे डस लिया और उस हँसमुख भोले बालकको यमलोकका यात्री बना दिया। जब यह समाचार गौतमीको मिला तो वह कटे रूँखके समान धड़ामसे गिरी और बेहोश हो गयी। गौतमीके सुखका सूर्य अस्त हो गया और संसार फिर उसके लिये दुःखमय हो गया। विधिकी बड़ी ही कठिन लीला है।

होश आनेपर गौतमी पुत्रशोकसे पागल हो गयी। उसने पुत्रके मृत शरीरको गोदमें लिया और मृत-संजीवनी खोजने-के लिये वह दर-दर फिरने लगी। बुद्ध भगवान् अपने शिष्योंके साथ धर्म-प्रचारमें घूमते हुए उधरसे जा निकले! गौतमीने अचानक उन्हें देखा; उनके तेजोमय मुखमण्डलको देखकर उसके हृदयाकाशमें आशाका अरुणोदय हुआ। वह दौड़कर भगवान्के चरणोंमें गिर पड़ी और बच्चेके मृत शरीरको उनके सामने रखकर अधीर होकर रो पड़ी। करुणाके अवतार भगवान्ने उसे आश्वासन दिया; परंतु पुत्र-वियोगसे विह्वल माताका हृदय शान्त कैसे होता? उसने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! पुत्रके बिना मुझे चारों ओर अन्धकार दिखलायी दे रहा है। इसको जीवन-दान देकर मुझे प्रकाश-की ओर ले चलिये।'

भगवान्ने कहा—'हे कल्याणी! मैं तेरे पुत्रको जिला दूँगा। जा, कहींसे एक तोला राई ले आ; परंतु ध्यान रहे, वह राई उस घरसे लाना, जहाँ कोई मरा न हो।'

बेचारी भोली गौतमी भगवान्की इस बातका रहस्य न समझ सकी, वह घर-घर राई माँगने चली। उसकी उस विरल दशाको देखकर लोग विह्वल हो जाते और उसे राई देने जाते; परंतु ऐसा कोई व्यक्ति उनमें गौतमीको न मिला, जिसके घर कोई मरा न हो। जो ही राई लेकर आता, अपने घर किसी-न-किसी बाल-वृद्ध-युवाके मरनेकी कथा उसे सुना जाता। गौतमी घूमते-घूमते थक गयी, उसे राई न मिली।

वह निराश होकर भगवान्के पास लौट आयी और भगवान्से निवेदन किया कि 'मुझे कोई ऐसा घर नहीं मिला, जहाँ कोई मरा न हो।' भगवान्ने कहा—'हे कल्याणी!



जन्म लेना और मरना संसारका नियम है। यह दुःख केवल तुझे ही नहीं हुआ है, यह तू जान गयी।'

भगवान्के उपदेशसे गौतमीको ज्ञानकी प्राप्ति हुई। उसके हृदयका शोक दूर हुआ और उसने शान्तिसे अपने पुत्रके मृत शरीरका अग्नि-संस्कार किया। पश्चात् गृह-त्याग करके वह भगवान्के शरणापन्न होकर धर्म-सेवाके लिये संघकी शरणमें चली गयी। उसने धर्मज्ञान प्राप्त किया और उस अर्हत् पदपर पहुँची, जिसे विरले ही साधक प्राप्त करते हैं।

किसा गौतमीके उपदेश थेरीगाथामें मिलते हैं। वह कहती है—'साधु पुरुषके साथ मित्रता करना हितकर है।

क्योंकि साधुके संगमे मूर्ख भी ज्ञानी हो जाते हैं। साधुके संगसे प्रज्ञा बढ़ती है और पाप एवं दुःखका नाश हो जाता है। दुःखका हेतु क्या है और दुःखका निरोभाव कैसे होता है—इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। आर्योंके चार सत्य और अष्टाङ्ग-धर्मको प्राप्त करो।*

किसा गौतमी आज संसारमें नहीं है; परंतु उसके जीवनकी यह गाथा अनन्तकालतक मनुष्यके सामने संसारकी अनित्यताका नग्न स्वरूप रक्खेगी। गौतमीकी यह जीवन-कथा संसारकी एक विरल घटना है। इसने गौतमीको अमर कर दिया है। —गौ० द्वि०

भद्रा कापिला

गौतम बुद्धके समयमें भद्रा कापिलाका जन्म कौशिक ब्राह्मणके वंशमें सागल नामक गाँवमें हुआ था। वह ब्राह्मण बड़ा ही समृद्धिशाली था। अतएव भद्राका बाल्यजीवन बड़े सुख और वैभवके बीच व्यतीत हुआ। वयःप्राप्त होनेपर उसका ब्याह कश्यप नामके एक धनवान् युवकके साथ हुआ था। कपिलकी पुत्री होनेके कारण भद्रा कापिला नामसे प्रसिद्ध हुई।

कश्यप और भद्रा दोनों विद्या, रूप, गुण और शीलमें एक दूसरेके अनुरूप थे। दोनोंमें असाधारण प्रेम था, अतएव उनका संसार बहुत ही अच्छी तरह व्यतीत होने लगा। ज्ञान-प्राप्ति और लोक-सेवाके प्रति अनुराग होनेके कारण गाँवके लिये उनका जीवन आदर्श हो गया।

इसी समय गौतम बुद्धने अपना धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया। अनेकों शील और सदाचारसम्पन्न युवक भगवान्की शरणमें आये और उनके धर्म-प्रसारके पवित्र कार्यमें योगदान देने लगे। कश्यपने भी अपनी पतिव्रता, स्नेहमूर्ति साध्वी पत्नी भद्राके मोहका त्याग कर संसारका त्याग किया और भगवान्का शिष्य बनकर धर्म और सङ्घकी शरण ली। अपनी सारी सम्पत्ति उसने भद्राको समर्पण कर दी।

भद्रा संसारके वैभवको लेकर क्या करती? जब उसके प्रियतमने धर्मकी शरण ली तो वह गृहस्थाश्रममें कैसे रह सकती थी? उसने भी युवावस्थामें ही संसारका त्याग किया और भिक्षुणियोंकी सेवा करते हुए वह धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगी। पाँच वर्षोंके बाद जब महाप्रजापति गौतमीने भिक्षुणी-सङ्घकी स्थापना की तो उसने सङ्घमें विधिपूर्वक प्रवेश किया। भद्राने प्रव्रज्या लेकर धर्म-साधना प्रारम्भ कर दी। कुछ ही वर्षोंमें उसे उपसम्पदा प्राप्त हुई और उसने अर्हत्-पद प्राप्त किया।

भगवान् बुद्धके बाद जिस प्रकार महाकश्यप भिक्षुसङ्घके नेता हुए, उसी प्रकार भद्राने भी गौतमीके बाद भिक्षुणी-सङ्घमें सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त किया। गौतमके परिनिर्वाणके पश्चात् महाकश्यपने पाँच सौ भिक्षुओंकी एक सभा राजगृहमें करके बौद्ध शासनको नियमबद्ध किया और उसे ग्रन्थरूप प्रदान किया।

भद्राकी धर्मसाधना उच्चकोटिकी थी। उसने साधनबलसे पूर्वजन्मकी स्मृति प्राप्त की। अपनी सारी आयु उसने लोकसेवा, स्त्री-समाजकी सेवा तथा लोगोंमें धर्मभावनाको जाग्रत् करनेमें लगा दी। थेरीगाथामें उसके वचन देखनेमें आते हैं। एक स्थानपर वह अपने विषयमें कहती है—'कश्यपके साथ मैंने भी त्रयीविद्या प्राप्त की है, मृत्युको जीत लिया है, मारको सेनाके सहित पराजित कर दिया है। इसलिये संसारमें मेरा यह अन्तिम जन्म है। जगत्में दुःख-ही-दुःख है—यह बात अच्छी तरह समझकर हम दोनोंने प्रव्रज्या ली और उसके बाद अर्हत् बनकर, इन्द्रियोंका दमन कर, शान्ति प्राप्त कर हम निवृत्त हो गये हैं।'

भद्राकी गणना बौद्धयुगकी सर्वश्रेष्ठ नारियोंमें होती है। अपने समयकी वह सर्वश्रेष्ठ संन्यासिनी थी; और उसने समाजको जिस धर्माचरणके साँचेमें ढाला, कौन कह सकता है कि आज दो हजार वर्षोंसे अधिक समय बीत जानेपर भी उसका प्रभाव हमारे सामाजिक जीवनमें अवशिष्ट नहीं है। हम भद्राकी लोक-सेवाके लिये उसके चिरऋणी हैं। —गौ० द्वि०

---

* चार आर्य सत्य हैं—

१. जगत् दुःखमय है। २. दुःखका हेतु है। ३. दुःखका नाश होता है। ४. निर्वाणसे दुःखका नाश हो जाता है।

अष्टाङ्ग धर्म—

१. सम्यक् दृष्टि (ठीक दृष्टि रखना)। २. सम्यक् संकल्प (ठीक सङ्कल्प करना)। ३. सम्यक् वाक् (ठीक वाणी बोलना)। ४. सम्यक् कर्म (ठीक कर्म करना)। ५. सम्यक् आजीव (ठीक जीविका उपार्जन करना)। ६. सम्यक् व्यायाम (ठीक-ठीक व्यायाम करना)। ७. सम्यक् स्मृति (मनमें ठीक विचारोंका चिन्तन करना)। ८. सम्यक् समाधि (ठीक समाधि प्राप्त करनेकी चेष्टा)।

मण्डपदायिका

वैशाली नगरीके एक धनवान् कुटुम्बमें मण्डपदायिकाका जन्म हुआ था। इसका जन्मसमयमें क्या नाम रक्खा गया था, कुछ पता नहीं लगता। इसका ब्याह एक धनी नवयुवकके साथ हुआ और गृहस्थ-जीवन बड़ी शान्ति और सुखसे बीतने लगा।

एक दिन भगवान् बुद्ध अपने शिष्योंके साथ भ्रमण करते हुए वैशालीमें पधारे। उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ। उनका धर्मोपदेश सुननेके लिये मण्डपदायिका भी गयी। उपदेश श्रवणकर बौद्धधर्ममें उसकी श्रद्धा उत्पन्न हुई और वह भगवान्‌की शिष्या बन गयी। कुछ दिन घरपर ही धर्मानुष्ठान करनेके बाद एक दिन महाप्रजापति गौतमी अपने भिक्षुणी संघके साथ आयीं। वहाँ स्त्रियोंमें उनका धर्मोपदेश हुआ। उसे सुनकर मण्डपदायिकाके मनमें संसार-त्याग करनेकी इच्छा हुई और उसने अपने पतिके सामने उसे प्रकट किया। पतिने संसार-त्यागकी आज्ञा न दी। इसलिये वह पतिव्रता स्त्री अपना सांसारिक कर्तव्य-कर्म प्रेमसे करने लगी; परंतु उसके मनमें वैराग्य उत्पन्न हो गया था। उसने सुन्दर वस्त्राभूषणोंका त्याग कर दिया। जब उसके पतिने इसका कारण पूछा तो उसने कहा—'स्वामिन्! संसारसे मेरी आसक्ति दूर हो गयी है, अब विषयवासना तथा संसारवैभवमें मेरा मन जरा भी नहीं लगता।'

उसका पति भी संस्कारी पुरुष था। पत्नीकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये वह उसे महाप्रजापति गौतमीके पास ले गया और प्रणाम करके अपनी पत्नीको भिक्षुणी-धर्ममें दीक्षित करनेके लिये उनसे प्रार्थना की।

धन-वैभवके बीच पली हुई मण्डपदायिकाने धर्मदीक्षा लेकर गौतमीकी आज्ञाके अनुसार धर्मानुष्ठान करके अर्हत्पदको प्राप्तकर मनुष्य-जीवनको सफल बनाया।

धर्म-साधनाके द्वारा 'उपसम्पदा' प्राप्त होनेपर इस भिक्षुणीका नाम मण्डपदायिका पड़ा था। इस साध्वीके एक श्लोकको 'थेरीगाथा'में प्रथम स्थान मिला है। उस श्लोकमें देवी मण्डपदायिकाने अपनेको सम्बोधन करके कहा है—

'हे थेरी (ज्ञानवृद्ध भिक्षुणी), चोगा ओढ़कर सुखसे सो रह अर्थात् वासना-शून्य होकर शान्तभाव धारण कर। क्योंकि जैसे जलहीन पात्रको चूल्हेपर चढ़ानेसे उसमेंसे खलखल शब्द नहीं होता; उसी प्रकार तेरा चित्त भी वासनाशून्य होनेके कारण शान्त हो गया है।'—गौ० द्वि०

—०—

ब्रह्मदत्ता

ब्रह्मदत्ता वाराणसी-नरेशकी पुत्री थी। वह बड़ी ही सुन्दरी और सदाचारिणी थी। उसके सौन्दर्य और गुणशीलकी प्रशंसा सुनकर देश-देशान्तरसे अनेकों राजकुमार उसको प्राप्त करनेकी अभिलाषा करने लगे। परंतु ब्रह्मदत्ता एकनिष्ठा ब्रह्मचारिणी थी। उसके मनमें योग-साधनकी अभिलाषा वर्द्धित हो रही थी। अतएव जब उसने सुना कि बहुत-से राजकुमार उसका पाणिग्रहण करनेके लिये व्यग्र हैं तो उसने आजीवन कुमारी रहकर धर्मसाधन करनेका व्रत ले लिया। उसके पिता बौद्धधर्मके अच्छे श्रद्धालु सेवक थे। उन्होंने ब्रह्मदत्ताको भी बौद्धधर्मके ही वातावरणमें पाल पोसकर बड़ा किया था। राजकुमारी बौद्धशास्त्रोंके अध्ययन और उनके तत्त्वालोचनमें ही अपने जीवनका अधिक समय व्यतीत करती थी।

उन्हीं दिनों सुप्रसिद्ध विद्वान् और तपस्वी भिक्षु कश्यप ऋषिपत्तनमें निवास करनेके लिये आये। श्रद्धावती ब्रह्मदत्ता कश्यपजीके पास गयी और नम्रतापूर्वक अभिवादन करके उनसे धर्मोपदेश ग्रहण करनेके लिये उनके पास रहने लगी। महात्मा कश्यपजीके आदेशानुसार उसने ऋषिपत्तनमें तपश्चर्या प्रारम्भ की। इस समय राजकुमारीके प्रेमकी आकाङ्क्षा रखनेवाले राजकुमारोंने उसके चिर-कौमार-व्रतको भङ्ग करनेकी बड़ी चेष्टा की, मानो उसके बढ़ते हुए तपःतेजसे आशङ्कित होकर स्वयं इन्द्रने उनको प्रेरित करके ब्रह्मदत्ताके तपमें विघ्न डालनेकी चेष्टा की। परंतु राजकुमारीका मन व्रत-संयमसे तनिक भी विचलित न हुआ।

राजकुमारोंने बलात्कार उसे अपहरण करनेका निश्चय किया। जब वे लोग अपनी दुरभिसन्धिको पूर्ण करनेके लिये आश्रममें पहुँचे तो तपस्विनी राजकुमारीने अपने योगबलसे सशरीर आकाशमें आरोहण किया। उसको इस प्रकार अद्भुतशक्तिसम्पन्न देखकर राजकुमार हक्का-बक्का हो गये। उनके सिर श्रद्धासे अवनत हो गये और उन्होंने राजकुमारीसे परिणयकी आशा त्यागकर अपने-अपने घरकी राह ली।

श्रद्धा तथा शीलकी रक्षा करते हुए तपःसाधनके द्वारा

कुमारी भी ब्रह्मचर्यके बलसे सिद्धि प्राप्त करनेमें सक्षम हो सकती है, ब्रह्मदत्ताके जीवनने इस बातको सिद्ध कर दिया। उसका जीवन आज भी विश्व-नारीको अध्यात्मसाधनाके दिव्यपथकी ओर चलनेके लिये आह्वान करता है।—गौ० द्वि०

सुप्रिया

सुप्रिया अनाथपिण्डद नामक एक प्रसिद्ध धनकुबेरकी कन्या थी। इसका पालन-पोषण बड़े ही लाड़-प्यारसे हुआ था। इसमें अपूर्व प्रतिभा थी, बचपनमें इसे पूर्वजन्मका स्मरण होता था और उसके वृत्तान्त सुनाया करती थी। सात वर्षकी अवस्थामें महाप्रजापति गौतमीने इसे बौद्धधर्ममें दीक्षित किया था। यह तत्त्वज्ञानीके रूपमें प्रसिद्ध हुई। फिर भी यह अपना समय केवल तत्त्वज्ञान-चिन्तनमें ही नहीं बिताती थी, बल्कि रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा तथा दीन-दुखियोंकी सहायतामें भी लगी रहती थी। इसके जीवनकी एक कथा प्रसिद्ध है।

एक समय भगवान् बुद्ध जेतवनके विहारमें निवास कर रहे थे। उसी समय धन-जनसे पूर्ण समृद्धिशाली श्रावस्ती नगरीमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा। अन्नके लाले पड़ गये। मौका देखकर रोगोंने आक्रमण किया। हाहाकार मच गया, चारों ओर ठठरियाँ दिखलायी देने लगीं।

इस विकट दुर्भिक्षमें श्रीमन्तोंने अपने आँख-कान मूँद लिये; भूखसे पीड़ितोंकी दयनीय दशा देखने और उनके करुण क्रन्दनको सुननेवाला कोई न रहा। श्रावस्तीमें धनकुबेर थे, परंतु वे हृदयहीन हो रहे थे। उन्हें अपनी ही चिन्ता थी। डर था कि कहीं गरीबलोग उनके घरोंमें घुसकर उनका धन लूट न लें। वे अपनी ही रक्षामें लगे थे। दूसरोंकी सहायताकी बात उनके मनमें कैसे आती?

एक दिन सवेरे एक बालक मृतप्राय अवस्थामें विहारके प्रवेशद्वारपर पड़ा हुआ देखा गया। बुद्धके प्रधान शिष्य आनन्दने उसे देखा। उसका हृदय दहल गया। भगवान्‌के पास आकर बोला—'भगवन्! आज अन्नके बिना लोग तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग कर रहे हैं। ऐसी दशामें भिक्षु-सङ्घका क्या कर्तव्य है?'

उस समय वहाँ भगवान्‌के भक्तोंमें अनेक धनकुबेर उपस्थित थे। गौतमने उनको सम्बोधित करके कहा—'आपलोगोंमें एक-से-एक बढ़कर सम्पन्न पुरुष हैं और आपके सामने कितने ही भूखकी ज्वालासे तड़पकर प्राण दे रहे हैं। आप चाहें तो आसानीसे लोगोंको मृत्युके मुँहमें जानेसे बचा सकते हैं।'

भगवान्‌के मुखसे यह बात निकली तो एक-एक करके सेठलोग बहाने करने लगे। किसीने कहा, 'हमारे खलिहानमें अन्न नहीं है।' दूसरा बोला—'भगवन्! श्रावस्ती-जैसे विशाल नगरमें इतने अधिक आदमी हैं कि उन सबको अन्न पहुँचाना मनुष्यके बूतेके बाहरकी बात है।'

भगवान्‌के प्रिय शिष्य सेठ अनाथपिण्डद वहाँ नहीं थे। भगवान्‌ने फिर उपस्थित मण्डलीकी ओर देखकर कहा—'क्या यहाँ ऐसा कोई नहीं है, जो इस भयङ्कर दुर्भिक्षसे अपने देश-बन्धुओंकी रक्षा करे।' परंतु किसी ओरसे कोई उत्तर न मिला। चारों ओर स्तब्धता छा गयी। इतनेमें एक बालिका अपने स्थानसे उठी और बोली—'भगवन्! आपकी दीन-सेविका आज्ञा-पालनके लिये तैयार है। जन-सेवामें यदि प्राण भी न्योछावर करने पड़ें तो वह सौभाग्यकी ही बात होगी।'

कहना नहीं होगा कि वह बालिका सुप्रिया ही थी। सुप्रियाकी यह बात सुनकर उपस्थित जनता स्तम्भित हो गयी। उन्होंने लड़कीकी बातको खिलवाड़ समझा। परंतु जब भगवान्‌ने कहा—'बालिके! तू इतने जन-समूहकी भूख-ज्वाला कैसे शान्त करेगी?' तो सुप्रियाने उत्तर दिया—'भगवन्! आपकी करुणासे मेरा यह भिक्षा-पात्र सदा ही भरा रहेगा और मैं इसके द्वारा भूखसे तड़पते हुओंको जीवन प्रदान करूँगी। श्रावस्तीका दुर्भिक्ष दूर हो जायगा।'

आनन्दका हृदय सुप्रियाकी इस आशाजनक अमृतवाणी-को सुनकर आह्लादित हो उठा। वह बालिकाको आशीर्वाद देते हुए बोले—'मातृरूप बालिके! भगवान् अमिताभ तेरी मनःकामना पूर्ण करें।' भगवान् तथागतने भी सुप्रियाको आशीर्वाद देकर विदा किया और सभा विसर्जित हुई।

सुप्रियाने भिक्षा-पात्र उठाया। श्रावस्ती नगरीमें बात-की-बातमें यह बात चारों ओर फैल गयी कि करोड़पति धनसेठ अनाथपिण्डदकी कन्या, महाप्रजापतिकी प्रिय शिष्या सुप्रियाने अपने भिक्षापात्रसे दुर्भिक्षको दूर करनेका व्रत लिया है। सबका हृदय करुणासे आर्द्र हो गया। सब जगह यही बात सुनायी पड़ी—'सुप्रियाका भिक्षा-पात्र खाली नहीं रह सकता।' बालिका सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर घर-घर घूमने

लगी और अपने प्राप्त भिक्षान्नके द्वारा कितनोंके प्राण बचाये। उसके इस अपूर्व अध्यवसाय और लगनका प्रभाव श्रावस्ती नगरीपर ऐसा पड़ा कि प्रत्येक मनुष्य सुप्रियाके इस पुण्यकार्यमें योग देनेके लिये कटिबद्ध हो गया और सबके हृदयमें जन-सेवाकी भावनाने घर कर लिया। बात-की-बातमें श्रावस्तीका दुर्भिक्ष दूर हो गया और सुप्रिया विश्वमें अमर हो गयी।

—गौ० द्वि०

मिगार-माता विशाखा

श्रावस्तीसे कुछ दूरपर साकेत नामकी एक नगरी थी। वहाँके एक करोड़पति धनंजय सेठकी कन्याका नाम था विशाखा। वह अत्यन्त सुन्दरी और अत्यन्त ही बुद्धिमती थी। उसका व्याह श्रावस्तीके सेठ मिगारके पुत्र पूर्णवर्धनके साथ हुआ था। व्याहके समय धनंजयने आठ कुलीन ब्राह्मणोंको बुलाकर मिगार सेठके सामने कहा कि 'मेरी कन्यामें यदि कोई दोष देखा जाय तो उसकी देख-भाल आपलोग करेंगे।' विशाखा अपने ससुरके घर श्रावस्तीमें रहने लगी।

एक दिन मिगार भोजन कर रहा था। विशाखा उसे पंखा झल रही थी। इतनेमें ही एक बौद्ध भिक्षु उसके द्वार-पर आकर खड़ा हो गया। विशाखाने वहींसे सम्बोधन करते हुए कहा—'आर्य! मेरे ससुर इस समय बासी भोजन कर रहे हैं। इसलिये आप यहाँसे आगे बढ़ें।'

मिगार सेठ अपनी पुत्र-वधूकी यह बात सुनकर बहुत अप्रसन्न हुआ और नौकरोंको बुलाकर कहा कि 'यह छोकरी मेरा रह-रहकर अपमान करती है, इसे इसी समय घरसे निकाल दो।' विशाखा ससुरकी इस बातसे कुछ भी विचलित न हुई। उसने कहा—'आपको मुझपर इतना रुष्ट नहीं होना चाहिये। मैं कोई मोल ली हुई दासी नहीं हूँ। पहले मेरा अपराध सिद्ध करें, तब मुझे घरसे बाहर जानेके लिये कहें। मेरे पिताके द्वारा ठहराये हुए उन आठ प्रसिद्ध पुरुषोंके सामने आप मेरा अपराध बतायें तो मैं स्वयं प्रसन्नतासे आपका घर छोड़ दूँगी।'

वे आठों पुरुष बुलाये गये। मिगारने विशाखाके ऊपर दोषारोपण किया कि 'इसने यह कहकर मेरा अपमान किया है कि मैं बासी अन्न खाता हूँ।' पंचोंने विशाखासे उत्तर माँगा। वह बोली—'मेरा कहनेका आशय यह है कि मेरे ससुर नवीन पुण्य संपादन न करके पुराने पुण्यपर ही निर्वाह करते हैं। इसीलिये मैंने कहा था कि वह बासी अन्न खाते हैं।' पंचोंने प्रसन्न होकर कहा, 'यह तो समझदारीकी बात है। इसमें अपराध क्या है?' तब मिगार सेठ बोले कि 'इसका बाप जब यहाँ आया था तो इसे दस नियमोंकी शिक्षा दी थी; परंतु वे नियम मुझे बनावटी जान पड़े—आगे यह जाने कि इसने उनका क्या अर्थ लगाया है।'

पंचोंने विशाखासे इसका उत्तर माँगा। विशाखा बोली—'मेरे पिताने जो मुझे शिक्षा दी थी, उसमें पहली यह थी कि अंदरकी आग बाहर न ले जायी जाय। इसका अर्थ यह है कि 'घरमें लड़ाई-झगड़ा हो तो उसकी चर्चा बाहर न की जाय।' दूसरी शिक्षा थी—बाहरकी आग अंदर न लाना—इसका अर्थ है कि 'बाहरके लोग अपने घरके किसीकी बुराई करते हों तो उसकी चर्चा घरमें न करना।' तीसरी शिक्षा थी कि कोई वस्तु जो दे उसे ही लौटायी जाय; और जिसने न दी हो उसे न देना चौथी शिक्षा थी। इनका अर्थ यह है कि 'कोई वस्तु जिससे ली जाय, उसीको लौटायी जाय; ऐसे आदमीको न दी जाय, जिससे वह मिली नहीं है।' पाँचवीं शिक्षा यह थी कि 'अपने सगे-सम्बन्धी गरीब हों और माँगकर ली हुई वस्तु वापस करनेमें समर्थ न हों, तो वह वस्तु उन्हें दे देना चाहिये।' 'सुखसे बैठना' छठी शिक्षा है, 'सुखसे भोजन करना' सातवीं और 'सुखसे सोना' आठवीं। अर्थ यह है कि अपनेसे बड़े जहाँ बार-बार आते-जाते हों, वहाँ न बैठा जाय। उनके भोजन कर लेनेपर नौकर-चाकरके भोजनकी व्यवस्था करके खाया जाय और अपने बड़ोंके सो जानेपर सोया जाय। अग्निपूजा नवीं शिक्षा है। इसका अर्थ है कि 'जिस प्रकार ब्राह्मण अग्नि-की परिचर्या करता है, उसी प्रकार पतिकी सेवा करनी चाहिये।' दसवीं शिक्षा है 'गृहदेवताकी पूजा।'

विशाखाकी बातको सुनकर आठों कुलीन ब्राह्मणोंने उसकी बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की और मिगार सेठसे कहा कि 'वह रुष्ट होकर ऐसी समझदार लड़कीको घरसे न निकालें। विशाखा घरकी लक्ष्मी है, इसका यथोचित सत्कार करें।' मिगार सेठने अपनी भूल स्वीकार की और विशाखासे क्षमा माँगी। विशाखाने कहा—'आप मेरे पूज्य हैं, आपने कोई अपराध नहीं किया है; परंतु एक बातमें मेरा आपसे मेल नहीं खाता। मैं भगवान् बुद्धकी उपासिका हूँ और आप दिगम्बरोंको पूजते हैं; इसलिये मेरे यहाँ रहनेसे न आपको सुख मिलेगा और न मैं ही सुखसे रहूँगी।'

मिगारने कहा—'बेटी ! मैं तेरे रास्तेमें बाधा नहीं डालूँगा। तू अपने मार्गपर चल और मैं अपने मार्गपर चलूँगा।' इस प्रकार समझौता होकर मामला शान्त हुआ। दूसरे ही दिन विशाखाने भगवान् बुद्ध और उनके भिक्षुसंघको अपने घर आमन्त्रित किया। उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ भोजन कराया। भोजनोपरान्त भगवानका अमृत उपदेश होने लगा। दिगम्बरोंने मिगारको कह रक्खा था कि गौतमका मुँह देखनेसे पाप लगता है, अतएव वह पर्देकी आड़में बैठकर उपदेश सुनने लगा। दान और शीलके विषयमें भगवान्‌के प्रवचनको सुनकर मिगार सेठ बहुत ही प्रभावित हुआ। वह पर्दा हटाकर भगवान्‌के चरणोंमें जाकर गिर पड़ा और बोला—'भगवन् ! मेरे अपराध क्षमा करें। मैं आपका दास हो गया हूँ। इस विषयमें विशाखा मेरी माताके समान है। यह यदि मेरे घर न आयी होती तो मैं न तो आपका दर्शन ही पाता और न इस अमृतोपदेशको ही सुन सकता।'

उसी दिनसे विशाखाका नाम मिगार-माता पड़ गया। उसने पूर्वाराम नामक उद्यानमें भिक्षुसंघके रहनेके लिये एक प्रासाद बनवाया, जो 'मिगार-माता-प्रासाद' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसकी बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा सर्वत्र होने लगी और बौद्धनुयायी स्त्रियोंमें उसने उच्च स्थान प्राप्त किया।—गौ० द्वि०



सुजाता (कुलवधू)

विशाखाकी छोटी बहनका नाम सुजाता था। उसका ब्याह सेठ अनाथपिण्डदके पुत्रके साथ हुआ था। धनवान सेठकी कन्या होनेके कारण उसके मनमें बड़ा अभिमान था। वह किसीका कहना नहीं मानती थी। सास-ससुरको कुछ नहीं जानती थी और पतिमें श्रद्धा नहीं रखती थी। घरके लोग उसके व्यवहारसे तंग आ गये थे।

एक दिन अनाथपिण्डदके घर भगवान् तथागतका आगमन हुआ। उसने भगवान्‌का स्वागत किया और आसनपर बैठाकर आप सामने बैठ गया। इसी समय अन्तःपुरकी ओरसे कुछ कोलाहल सुनायी पड़ा। भगवान्‌के पूछनेपर सेठने सुजाताके स्वभावके विषयमें सारी बात कह सुनायी। भगवान्‌ने उसे बुलवाया। सुजाता आयी और भगवान्‌को प्रणाम करके दूर जा बैठी। तथागतने कहा—'सुजाते ! पत्नियाँ सात प्रकारकी होती हैं—वधिकसमा, चोरसमा, आर्यसमा, मातृसमा, भगिनीसमा, सखीसमा और दासीसमा। बता तू इनमेंसे कौन है ?'

सुजाता बोली—'भगवन् ! मुझे सीधी भाषामें इसे समझाकर बतावें तो मैं उत्तर दूँगी।'

भगवान् तथागत बोले—'जो स्त्री सदा क्रोध करती है, पतिसे प्रेम नहीं रखती, पर-पुरुषपर मुग्ध होकर पतिका अपमान करती है, उस हत्यारी पत्नीको 'वधिकसमा' कहते हैं। जो पतिकी कमाईका सदुपयोग न करके अपने भोगके लिये उसमेंसे चुराया करती है, वह 'चोरसमा' है। जो कोई काम-धंधा करना नहीं चाहती, आलसीका जीवन बिताती है, कर्कशा-सा व्यवहार करके पतिको अपना बड़प्पन दिखलाती है, वह 'आर्यसमा' पत्नी है। जो सदा पतिका हित-चिन्तन करती है और जिस प्रकार अपने पुत्रोंकी परवा न करके माता पुत्रकी रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राणपणसे अपने पतिकी रक्षामें लगी रहती है, उसे 'मातृसमा' पत्नी कहते हैं। जो स्त्री बहनके समान अपने पतिपर स्नेह रखती है और लज्जापूर्वक उसका अनुगमन करती है, वह 'भगिनीसमा' पत्नी है। जिस प्रकार चिरवियुक्त सखीको देख सखी प्रसन्न होती है, उसी प्रकार अपने पतिको देखकर प्रसन्न होनेवाली नारी 'सखीसमा' पत्नी कहलाती है। पति यदि अपनी पत्नीको मार डालनेपर उतारू हो जाय, फिर भी जो पत्नी क्रोध न करके धीरज और शान्तिके साथ पतिकी आज्ञाका अनुगमन करती है, वह 'दासीसमा' पत्नी है। बता, इनमेंसे तू कौन है ?'

सुजाताने नम्रतासे कहा—'भगवन् ! आजसे आप मुझे अपने पतिकी दासी समझिये।'

सुजाताने अपने जीवनकी धाराको बदल दिया। वह आदर्श गृहिणी हो गयी। उसने अपने जीवनके द्वारा उन स्त्रियोंको, जो कर्कशा बनकर गृहस्थीको नरक बनाये रखती हैं, यह उपदेश दिया कि वे भी चाहें और दृढ़तापूर्वक सदाचरण करें तो आदर्श गृहिणी बनकर गृहस्थीको स्वर्ग बना सकती हैं और संसारमें यश कमा सकती हैं।—गौ० द्वि०



पटाचारा

पटाचाराका जन्म श्रावस्तीके एक सेठके घर हुआ था। उसके युवावस्थाको प्राप्त होनेपर माता-पिताने उसका व्याह एक धनकुबेरके सुन्दर पुत्रके साथ करना चाहा; परंतु पटाचाराने एक दूसरे ही युवकको वर लिया था। अतएव माता-पिता उससे रुष्ट हो गये। वह अपने वरण किये हुए उस पतिके साथ घरसे चली गयी।

परदेशमें कई वर्ष बीत गये। उसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। तब उसके मनमें हुआ कि एक बार माता-पिताका दर्शन करना चाहिये। वह अपने पति और दोनों बच्चोंके साथ श्रावस्तीकी ओर चल पड़ी। रास्तेमें दुर्भाग्यसे पटाचाराके पतिको साँपने डँस लिया और वह मृत्युको प्राप्त हो गया। पटाचारा किसी प्रकार इस महाकष्टको सहन करके करुणाजनक विलाप करती हुई पुत्रों-के साथ आगे बढ़ी; परंतु दुर्दैवने उसका पीछा न छोड़ा। उसके छोटे बच्चेको वृक्षकी छायामें सोते देखकर एक जंगली पक्षी आया और उठा ले गया; और बड़ा लड़का नदी पार करते समय प्रवाहमें पड़कर बह गया। पटाचाराके दुःखका पारावार न रहा। वह शोकसे पागल होकर इधर-उधर घूमने लगी। श्रावस्ती वहाँसे समीप थी; कुछ दूर आगे जानेपर उसे ज्ञात हुआ कि उसके माता-पिता घर गिर जानेके कारण उसीमें दबकर मर गये हैं। अब तो उसके ऊपर वज्रपात ही हो गया। वह पागल हो गयी और घूम-घूमकर अपनी दुःख-गाथा जोर-जोरसे लोगोंको सुनाने लगी।



उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्तीमें ही थे। शोकातुर हुई पटाचारा अपनी दुःख-गाथा सुनानेके लिये भगवान्‌के चरणोंमें जा गिरी। भगवान्‌ने उसे आश्वासन दिया और संसारकी असारताका ऐसा उपदेश दिया कि वह अपना सब दुःख भूल गयी। उसने संघकी शरण ली और भिक्षुणी बन गयी। सर्वसाधारणकी सेवा करने और उन्हें धर्मोपदेश देकर सत्पथपर चलनेके लिये प्रेरणा प्रदान करनेमें उसने अपना सारा जीवन समर्पण कर दिया। सहस्रों नारियोंको उपदेश देकर उसने उनके शोक और दुःखको हर लिया। 'पिटक'में लिखा है कि एक बार पाँच सौ स्त्रियोंकी सभामें पटाचाराने ऐसा सुन्दर धर्मोपदेश दिया कि उन सब स्त्रियोंने भगवान् बुद्धके नवीन धर्ममें दीक्षा ले ली। व्याख्यानके द्वारा इतनी बड़ी संख्यापर ऐसा अमिट प्रभाव डालनेके उदाहरण इतिहासमें बहुत कम मिलते हैं। अध्यवसायसे एक अबला स्त्री किस प्रकार अपना उद्धार करनेके साथ ही मानवसमाजको कल्याणके मार्गपर अग्रसर कर सकती है, पटाचाराका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।—गौ० द्वि०

धर्मदिन्ना

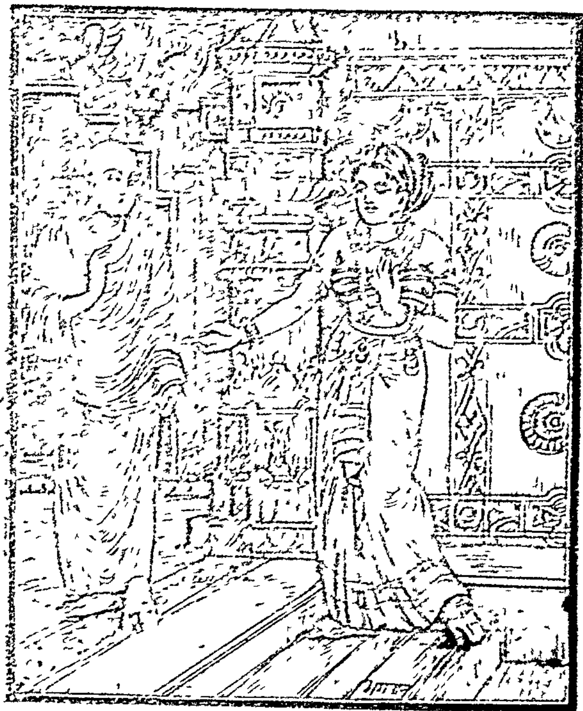
विशाख राजा बिम्बसारका एक मित्र था। वह भगवान् बुद्धका बड़ा भक्त था। धर्मदिन्ना उसीकी सहधर्मिणी थी। उसका पति जैसा श्रद्धालु और भक्त था, सहधर्मिणी भी वैसी ही विदुषी और सदाचारिणी थी। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। विशाख बुद्धका उपासक था; परंतु धर्मदिन्नाकी उनमें इस प्रकारकी कोई आस्था न थी। विशाख बलपूर्वक अपनी पत्नी-के मनमें भक्तिभावना उत्पन्न करना नहीं चाहता था। वह समझता था कि धर्मदिन्ना अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग नहीं कर सकती है; जब यह भगवान् बुद्धकी महिमाको हृदयङ्गम करेगी तो इसके मनमें स्वयं ही भगवान्‌के दर्शनकी लालसा उत्पन्न होगी।

विशाख प्रतिदिन वेणुवनके विहारमें तथागतके उपदेश सुनने जाता था। उसके जीवनपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा; आध्यात्मिक मार्गमें उसकी रुचि बढ़ती गयी। वह धर्म-साधना करते-करते उस स्थितिको पहुँचा, जिसमें पहुँचकर श्रावकको जन्म-मरणका दुःख नहीं होता।

एक दिन वह भगवान्‌का उपदेश सुनकर घर लौटा। धर्मदिन्ना पतिके आनेकी बाट जोहती हुई द्वारपर खड़ी थी।

परंतु विशाखने आज उसे सदाकी भाँति प्रेमपूर्वक बुलाया नहीं; इससे धर्मदिन्नाको बड़ा विस्मय हुआ और उसने पूछा, 'प्यारे ! आज तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं हो ? क्या मुझसे कोई अपराध हो गया ?'

विशाखने उत्तर दिया, 'देवि ! तुमने कोई अपराध नहीं किया है; परंतु मैं आजसे स्त्रीको स्पर्श करने तथा स्वादिष्ट भोजन करनेके योग्य नहीं रहा । जिस धर्मको मैंने ग्रहण किया है, उसमें इन भोगोंका निषेध है । अब तुम स्वतन्त्र हो । तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रहो । अथवा यदि पिताके घर जाना चाहती हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है; यहाँसे जितना धन ले जाना चाहो ले जा सकती हो ।'



धर्मदिन्ना यह सुनकर सन्न हो गयी; उसने विनयपूर्वक कहा—'प्यारे ! मैं इनमेंसे एक भी नहीं कर सकती । धन, रत्न तथा वैभवका मुझे मोह नहीं है । यह सब तुमको लेकर था । तुम्हारे बिना मैं यह सब लेकर क्या करूँगी ? तुम जब साधु बन जाओगे तो मुझसे पिताके घर जाकर वैभवका उपभोग नहीं किया जायगा । अतएव मुझे भी संसारका त्याग करके भगवान् बुद्धके चरणोंका आश्रय लेने दो । उनके शरण जाकर मैं भी धर्म-मार्गका अनुगमन करूँगी ।'

धर्मदिन्ना भिक्षुणी-संघमें जाकर दीक्षित हो गयी । उसने भोग-विलासके जीवनको लात मार दिया और भिक्षुणी-व्रतके कठोर नियमोंका पालन करनेमें जुट गयी । उसने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया । धर्मकथा कहनेमें वह प्रसिद्ध हो गयी । अपने सुन्दर व्याख्यानके द्वारा वह श्रोताओंके चित्तको सहज ही धर्मकी ओर आकृष्ट कर देती थी । जन-समाजमें धर्म-प्रचार-का काम उसने बड़ी योग्यतासे सम्पादन किया । भगवान् बुद्ध-ने उसे भिक्षुणी-संघमें मुख्य स्थान प्रदान किया ।

विलासमय जीवनको तत्काल ही त्यागकर कठोर संयम-व्रतका योग्यतापूर्वक पालन करना साधारण काम नहीं है । इस अपूर्व साधनाके कारण धर्मदिन्नाका जीवन एक ऊँचा आदर्श उपस्थित करता है । थेरीगाथामें इसकी भी रचना है । एक स्थानपर इसने कहा है—

'जब मनुष्यके मनमें सर्वोच्च शान्तिकी इच्छा पैदा हो जाती है, तब फिर चित्तमें वासना नहीं रह जाती और आत्मा उच्च मार्गकी ओर अग्रसर होने लगता है ।'—गौ० द्वि०

उत्पलवर्णा

भगवान् बुद्धके जीवनकालमें उत्पलवर्णा एक धनिक वैश्यके घर पैदा हुई थी । उसका शरीर नीलोत्पल-जैसा तेज और कान्तिसे पूर्ण था, इसलिये पैदा होते ही माता-पिताने उसका उत्पलवर्णा नाम रक्खा । जैसे-जैसे दिन बीतते गये, शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान वह बढ़ने लगी और उसके सौन्दर्यकी ख्याति भी उसी प्रकार दूर-दूर देशोंतक फैल गयी । चारों ओरसे अनेकों राजकुमार तथा धनी-मानी युवक उत्पलवर्णाका पाणिग्रहण करनेके लिये तैयार हो गये । इस विषयके पत्रोंको पढ़कर उसका पिता बहुत घबराया । उत्पलवर्णाके चाहनेवालोंमें एक-से-एक बढ़कर प्रभावशाली पुरुष थे । उसके पिताको डर लगा कि यदि वह किसी एकके हाथ अपनी कन्याको सौंपेगा तो उसे दूसरे लोगोंके कोपका भाजन बनना पड़ेगा और उसका संसारमें जीना दूभर हो जायगा ।

अन्तमें विचारकर एक दिन उसने अपनी उस लावण्यमयी कन्या उत्पलवर्णाको बुलाया । कन्याने पिताके मुखमण्डलपर चिन्ताकी रेखा देखी, वह घबरा गयी और बोली—'पिताजी ! आपको क्या हो गया है ? आज आपका मुँह इतना उदास क्यों है ?' कन्याके कोमल और हृदय-स्पर्शी शब्दोंसे पिताका हृदय दो टूक हो गया । उसने बड़े यत्नसे मनको स्थिर करके कहा—'बेटी ! तू मेरी चिन्ताका कारण जानती होगी ।

भारतके अनेक प्रसिद्ध राजकुमार और धनी-मानी पुरुष तेरा पाणिग्रहण करना चाहते हैं; मैं निश्चय नहीं कर पाता कि तुझे किसको समर्पण करूँ। इसके अतिरिक्त किसी एकको समर्पण करनेपर दूसरे बखेड़ा करनेपर उतारू हो जायँगे। ऐसी दशामें मैंने एक उपाय सोचा है।'

पुत्रीने कहा—'पिताजी! आपने क्या सोचा है, शीघ्र कहिये। चिन्ता न कीजिये।'



पिताने कहा—'बेटी! तू मेरे स्नेहकी पुतली है। मैंने जो बात सोची है, उससे मेरे हृदयमें बड़ा कष्ट हो रहा है; परंतु उसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं सूझता। बेटी! संसारका त्याग कर भगवान् बुद्धके चरणोंका आश्रय लिये बिना इस झंझटसे छूटना दुष्कर है। क्या तू प्रव्रज्या ग्रहण कर सकेगी?'

उत्पलवर्णा कुलीन कन्या थी। पिताको सङ्कटमें देखकर उसके हृदयको बड़ी चोट पहुँचती थी। उसने कहा—'पिताजी! आप चिन्ता न करें। मेरे पिताका जिसमें कल्याण है और साथ ही जिस धर्मका आचरण करनेसे मेरा संसार-बन्धन छूटनेवाला है, उस प्रव्रज्या-योगको मैं प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करूँगी।'

पुत्रीको भिक्षुणी बननेके लिये तैयार देखकर पिताकी आँखोंमें आँसू भर आये। अन्तःकरणमें स्नेहका समुद्र उमड़ उठा और वह कुछ समयके लिये स्तब्ध हो गया। फिर स्नेहसे अपनी उस पुत्रीको हृदयसे लगाया और उसके शुभ-सङ्कल्पके लिये धन्यवाद दिया। दूसरे दिन नीलोत्पला भिक्षुणी-सङ्घमें जाकर दीक्षित हो गयी।

उत्पलवर्णा प्रव्रज्या लेकर धर्मग्रन्थोंके अध्ययन तथा ध्यान और समाधि-साधनमें लग गयी। उसने ऋद्धियोंको प्राप्त किया और जीवनमें अनेक चमत्कार दिखलाये। भगवान् तथागतने उसे ऋद्धिमती भिक्षुणीके नामसे सम्बोधन किया। उत्पलवर्णाने रूप-लावण्यमें अद्वितीय होकर भी संसारके भोग-विलासका तिरस्कार किया और भिक्षुणीसङ्घके कठोर संयमव्रतका पालनकर योगसिद्धिमें ख्याति प्राप्त की।

थेरीगाथामें उत्पलवर्णाकी भी रचना प्राप्त होती है। उसने अपनी गाथामें इन्द्रियोंके वशीभूत होकर विषय-लोलुप होनेसे मनुष्यकी जो अधोगति होती है, उसे शोकके गर्तमें गिरकर जो कष्ट भोगना पड़ता है, उसका अच्छा खाका खींचा है। साथ ही ऋद्धि और अभिज्ञा प्राप्त होनेपर जो आनन्द है, उसे भी इसने बताया है। एक बार मार (कामदेव) ने प्रलोभन देकर इसे धर्ममार्गसे विचलित करना चाहा। उत्पलवर्णाने उसे डाँटकर कहा—'मार! याद रख, मैं तृष्णा छोड़ चुकी हूँ और मैंने तमका नाश कर दिया है। यही नहीं, मैं तुझे भी जीत चुकी हूँ। अब तू व्यर्थ ही मुझे पवित्र धर्ममार्गसे विचलित करनेकी चेष्टा करता है।'

उत्पलवर्णाने बौद्धयुगके नारी-रत्नोंमें एक अग्रगण्य स्थान प्राप्त किया। उसका संसारमें जन्म लेना सफल हो गया। गौ० छि०

महाप्रज्ञावती खेमा

खेमा मद्रदेशके राजाकी लड़की थी। वह बहुत ही रूपवती थी। उसके रूपकी प्रशंसा सुनकर दूर-दूरसे क्षत्रिय राजकुमार उससे ब्याहकी अभिलाषा प्रकट करने लगे। कोसलेश बिम्बसारने भी उसका पाणिग्रहण करनेका प्रस्ताव भेजा।

यह राजा बिम्बसार गौतमका परम भक्त था। जब गौतम घर छोड़कर वनवासी हुए थे, तब राजगृहमें उनसे बिम्बसारसे भेंट हुई थी। उसने गौतमको समझा-बुझाकर संसारमें लौटा लानेका प्रयत्न किया। परंतु जब गौतमने उसे बतलाया कि 'मैं मानव-जातिको दुःखोंसे मुक्त करनेका उपाय ढूँढ़ता हूँ,' तब बिम्बसारको सन्तोष हुआ और उसने प्रार्थना की कि 'राजकुमार! संसारके उद्धारका मार्ग पा जानेपर सबसे पहले मेरा आतिथ्य स्वीकारकर कृतार्थ करना।' बुद्धत्व प्राप्त

करनेपर गौतम पहले विम्बसारके यहाँ गये। विम्बसार प्रथम श्रावकके रूपमें प्रसिद्ध हुए। खेमा इन्हीं विम्बसारकी पत्नी थी।

एक बार भगवान् बुद्ध अपने एक सहस्र शिष्योंके साथ राजगृह पधारे। राजा विम्बसार उनके दर्शनको गया। उसने भगवान्‌को भिक्षुसंघके साथ राजमहलमें भोजन कराया और वेणुवन नामका अपना सुन्दर उपवन तथा विहार उनको भेंट कर दिया। उस वेणुवनमें बुद्ध भगवान्‌ने बहुत समयतक निवास किया।

खेमाने भगवान्‌के गुणों और धर्मोपदेशकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। परंतु उसे अपने सौन्दर्यका बड़ा अभिमान था; और भगवान् बुद्धकी सौन्दर्यमें कोई रुचि न थी; साथ ही वह सौन्दर्यकी अनेकों बुराइयाँ बतलाते थे। अतएव वह भगवान्‌के पास जानेमें संकोच करती थी। राजा जब कभी उसे वेणुवन जानेके लिये कहता, वह कोई-न-कोई बहाना करके घर रह जाती। राजाको इससे बड़ा दुःख होता। एक दिन राजाने भाटोंको वेणुवनकी प्रशंसाका गान करनेके लिये कहा। एक तो वेणुवन अनुपम सौन्दर्यसे पूर्ण उद्यान था ही; दूसरे भाटोंकी काव्यकल्पनाने उसे चार चाँद लगा दिये। रानी खेमाका मन ललच गया; वह वेणुवन देखनेके लिये उतावली हो गयी। राजाने अपने सेवकोंसे कह दिया कि 'रानीको वेणुवन दिखलाकर उस रास्तेसे वापस लाना, जहाँ भगवान् तथागत अपने शिष्योंके साथ रहते हैं।'

महारानी खेमा, जो दिन-रात अन्तःपुरमें रहती थी; वेणुवनकी रमणीयताको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसके मनको बड़ी शान्ति मिली। नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गानने उसके मनको मोह लिया। जब वह लौटने लगी तो नौकरोंने वह रास्ता पकड़ा; जहाँ भगवान् बुद्ध विराजमान थे।

भगवान्‌ने जब रानी खेमाको अपनी ओर आते देखा तो अपनी ऋद्धिके बलसे एक अनुपम स्वर्गीय सौन्दर्यकी पुतली खड़ी कर दी, जो हाथमें पंखा लेकर भगवान्‌के ऊपर हवा कर रही थी। इस दृश्यको देखते ही खेमा रानीके रूपका अभिमान चकनाचूर हो गया। वह सोचने लगी—'मैं कितनी मूर्ख और अभागिनी हूँ जो इतने दिनोंतक भगवान्‌के दर्शन और सेवासे वञ्चित रही।' भगवान्‌के चरणोंके प्रति उसके मनमें अपूर्व अनुरागका उदय हुआ। सांसारिक प्रपञ्च उसे तुच्छ जान पड़ने लगा और वह भगवान्‌की उपासिका बननेके लिये व्यग्र हो उठी।



भगवान् तथागतके चरणोंका उसने आश्रय लिया। वह तीव्र बुद्धिवाली और विदुषी तो थी ही; अहंकारका पर्दा हट जानेसे उसको ज्ञानमार्गमें प्रवेश करते देर न लगी। भगवान्‌के उपदेशसे उसके हृदयमें संसारके प्रति वैराग्य हो गया। उसने विधिपूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण की और कुछ ही दिनोंमें भिक्षुणी-संघमें एक अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया।

भगवान् बुद्धने खेमाके गुणोंपर प्रसन्न होकर उसे 'महाप्रज्ञावती'की उपाधि प्रदान की थी। संन्यासिनी होनेके बाद भी खेमाके असाधारण रूप-लावण्यके कारण उसे कुमार्गमें प्रेरित करनेके लिये पापियोंने बहुत उपाय किये; परंतु वह सत्यव्रता नारी किसी प्रकारके प्रलोभनमें न फँसी और आजीवन शुद्ध ब्रह्मचर्ययुक्त पूर्ण सात्त्विक जीवन व्यतीत कर इस धराधामका परित्याग किया।

थेरीगाथामें इस देवीके भी पद हैं। एक स्थानपर यह कहती है—'जैसे मकड़ी अपने ही तैयार किये हुए जालमें फँसती है, वैसे ही भ्रमके वशमें पड़कर ऐहिक सुखमें लिप्त रहनेवाले लोग जन्म-मरणके चक्करमें फँसते है। परंतु निर्लिप्त लोग इस प्रवाहको पार करके प्रव्रज्याके द्वारा तृष्णासे होनेवाले दुःखका नाश करते हैं।'—गौ० द्वि०



कुवलया

बुद्ध-कालमें श्रावस्ती नगरीके वैभव और सौन्दर्यके सामने विश्वकी कोई नगरी टिकनेवाली न थी। अनेकों सुन्दर आश्रम, वन, उपवन और सरोवरोंसे यह नगरी सुशोभित हो रही थी। चित्र-विचित्र और भाँति-भाँतिकी कारीगरीसे सुन्दर बनी हुई हवेलियोंसे यह नगरी अत्यन्त शोभा पा रही थी। उसी श्रावस्तीमें 'गिरिबन्धु-संगम' नामका एक पर्व लगता था। उसमें देश-देशके स्त्री-पुरुष आकर सम्मिलित होते थे और श्रावस्तीमें उस दिन बड़ी चहल-पहल रहती थी। एक बार इसी अवसरपर दक्षिणकी ओरसे एक गणिका आयी, उसका नाम था कुवलया। उसने भरी सभामें जाकर कहा—'क्या यहाँ ऐसा भी कोई पुरुष है, जो मेरे सौन्दर्यसे आकर्षित न हो?'

सचमुच कुवलया सौन्दर्यकी प्रतिमा थी। वह देखनेमें स्वर्गीय अप्सराके समान लगती थी। अनेकों पुरुष उसके सौन्दर्य-जालमें पड़कर अपना सर्वनाश कर चुके थे। अतएव उसका ऐसा कहना कुछ भी अयुक्त न था।

वाराङ्गनाकी इस बातको सुनकर सब उसकी ओर देखने लगे। इतनेमें समारोहमेंसे एक पुरुष उठ खड़ा हुआ और बोला—'हाँ, ऐसा एक पुरुष है। वह गौतम नामका श्रमण है और जेतवनमें निवास कर रहा है।'

कुवलयाका यह सुनना था कि वह तुरंत जेतवनकी ओर चल दी। वहाँ भगवान् बुद्ध ध्यानमग्न थे। वह वहाँ जाकर नाना प्रकारसे पुरुषोंके चित्तको आकर्षण करने योग्य चेष्टाएँ करने लगी; परंतु उसे क्या मालूम था कि तथागतकी आध्यात्मिक शक्ति कितनी ऊँची है। उसकी सारी सौन्दर्य-कला व्यर्थ हो गयी। भगवान् बुद्धके संगका उसके मनपर इतना तीव्र प्रभाव पड़ा कि उसके मनमें अपने पिछले पाप-कर्मोके लिये पश्चात्ताप होने लगा। उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। वह हाथ जोड़कर भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ी। वह अपने पापोंका प्रायश्चित्त करनेके लिये तैयार हो गयी। उसका हृदय शान्ति प्राप्त करनेके लिये छटपटाने लगा।

भगवान्‌को इस वाराङ्गनाकी दशापर बड़ी दया आयी। उन्होंने कहा—'भद्रे! धर्मका मार्ग सबके लिये खुला हुआ है। संसार दुःखाग्निकी ज्वालासे प्रज्वलित हो रहा है। पथ-भ्रष्ट यात्री मार्गपर चलने लगे तो उसका कल्याण निश्चय है।' भगवान्‌के उपदेशसे कुवलयाका चरित्र सुधर गया और उसने बौद्ध परिव्राजिकाके रूपमें धर्माचरण करते हुए जन-सेवामें जीवन बिताया। थोड़े ही दिनोंमें उसका जीवन इतना ऊँचा उठा कि उसकी चारों ओर ख्याति होने लगी। तथागतके जीवनके साथ कुवलया-वाराङ्गनाकी जीवन-कथा भी एक अमर कहानी हो गयी। —गौ० द्वि०



अम्बपाली

वैशाली नगरीमें अम्बपाली नामकी एक अत्यन्त रूपवती गणिका रहती थी। उसके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति थी, उसका आम्रवन नामका विशाल उद्यान वैशालीमें प्रसिद्ध था।

एक बार भगवान् बुद्ध अम्बपालीके आम्रवनमें आकर ठहरे। उस गणिकाने जब सुना कि भगवान् उसके उद्यानमें ठहरे हुए हैं तो वह उनका दर्शन करनेके लिये वहाँ गयी। तथागतने दूरसे उसको आते हुए देखा—उसके वस्त्राभरण तो सामान्य थे, पर उसका लावण्य अपूर्व था। भगवान् मनमें सोचने लगे—'कितनी सुन्दर है यह रमणी! बड़े-बड़े राजा इसके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर इसके वशीभूत हो जाते हैं। फिर भी इसमें कितना धैर्य और शान्ति है! इसके स्वभावमें चञ्चलताका तो नामतक नहीं है। सचमुच जगत्‌में ऐसी स्त्रियाँ दुर्लभ होती हैं।'

अम्बपाली भगवान् बुद्धके पास आकर प्रणाम करके बैठ गयी। भगवान्‌ने उसे श्रद्धालु देखकर धर्मोपदेश दिया, जिससे उसके चित्तकी चञ्चलता दूर हो गयी। उसके मनकी वासनाएँ भगवान्‌की करुणा-दृष्टिसे समूल नष्ट हो गयी। अम्बपालीका हृदय शुद्ध हो गया और धर्ममें उसकी आस्था हो गयी। उसने भगवान्‌से निवेदन किया—'प्रभो! कल अपने शिष्योंके साथ आप मेरे यहाँ भिक्षा लें और मुझे कृतार्थ करें।' तथागतने मौन रहकर अपनी स्वीकृति दे दी।



इतनेमें कुछ धनवान् युवक, जो वैशालीके प्रमुख सेठ थे, बहुमूल्य वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित होकर, सुन्दर रथोंपर बैठकर भगवान्‌के पास आये और भोजनके लिये उनको अपने यहाँ निमन्त्रित किया। परंतु अम्बपाली गणिकाका निमन्त्रण पहले स्वीकृत हो चुका था। अतएव उन सेठोंका निमन्त्रण स्वीकार न हुआ। सेठोंने बहुतेरा चाहा कि गणिकाके यहाँ भगवान् भिक्षा न लें। उन्होंने बहुमूल्य धन-रत्न भेंट करनेकी बात कही; परंतु भगवान्‌को धनसे क्या प्रयोजन था। गणिकाका निमन्त्रण अस्वीकार नहीं किया गया।

दूसरे दिन भगवान् अपने शिष्योंके साथ अम्बपालीके घर भिक्षा लेने गये। अम्बपालीने वेश्यावृत्तिसे बहुत-सा धन इकट्ठा किया था। उसका प्रासाद राजमहलके समान भव्य था। उसके चारों ओर रमणीय उद्यान सुशोभित हो रहा था। तथागतके स्वागतमें उसने चारों ओर खूब सजावट कर रक्खी थी। भाँति-भाँतिके भोजनके स्वादिष्ट पदार्थ तैयार किये गये थे। भोजनसे तृप्त करनेके बाद भगवान्‌से उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'भगवन्! मेरा यह उद्यान, यह प्रासाद, ये वस्त्राभूषण और इनके साथ मेरा सब कुछ आपके संघके चरणोंमें समर्पित है। इस क्षुद्र भेंटको स्वीकार करके आप मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिये।'

तथागतने अम्बपालीकी भेंटको स्वीकार कर लिया और धर्मोपदेश देकर उसे अपनी शिष्या बना लिया। भगवान् तो उसके बाद वैशालीसे चले गये, परंतु अम्बपाली गणिकासे समाजसेविका बन गयी। उसने दीन-दुखियोंकी सेवा और धर्म-चिन्तन तथा सदाचरणमें अपना जीवन लगा दिया। भगवान् बुद्धके जीवनके साथ अम्बपालीका जीवन भी अमर हो गया।

—गौ० छि०

नारी ईश्वरकी शक्ति

किसी भी राष्ट्रका निर्माण अकेले पुरुषपर नहीं हो सकता। राष्ट्रकी स्त्रियाँ पत्नी-रूपमें अपने पतियोंको साहस प्रदान करती हैं तथा मातृरूपसे भावी संततिको इस प्रकार शिक्षित करती हैं जिससे कि वह स्वतन्त्रता, आत्मसम्मान और आचरणकी उच्चताके लिये किये गये हमारे प्रयत्नोंका अनुगमन कर सके। कोई भी पक्षी एक पाँखसे नहीं उड़ सकता; इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र स्त्री और पुरुष—दोनोंमेंसे केवल किसी एक वर्गके द्वारा उन्नत नहीं हो सकता। हम अभिन्न नहीं हैं, हममें भिन्नताएँ हैं; किंतु ऐसी भिन्नताओंमें, जो एक दूसरेकी विरोधिनी न होकर परस्पर पूरकका काम करती हैं, मानवकी पूर्णता निहित है।

देवीके बिना देव नहीं, उसी प्रकार स्थूल तत्त्वके बिना चेतनतत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता; चेतनतत्त्व स्थूलको चेतना देता है तथा स्थूल चेतनको साकाररूप।

इतना ही नहीं, हिंदू दृष्टिकोणसे ईश्वरकी कर्तृत्व-शक्ति स्त्रीस्वरूपा है। यही कारण है कि प्रत्येक कष्ट एवं विपत्तिके समय समाजके समस्त देवता—आदर्श व्यक्ति त्राण पानेके लिये शक्तिको पुकारते हैं और जहाँ पुरुष-वर्ग असफल सिद्ध होता है, वहाँ स्त्रीवर्ग विजय प्राप्त करता है और असत्‌को दूर भगाकर सत्‌की पुनःप्रतिष्ठा करता है। जगत्‌में ईश्वरकी इस शक्तिका प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम 'मा' है।

—डाक्टर ऐनी बेसेंट

वासवदत्ता

मथुरापुरीमें वासवदत्ता नामकी एक वाराङ्गना रहती थी। उसका रूप-लावण्य अद्वितीय था। अनेकों युवा पुरुष उसपर मुग्ध होकर वासना-प्रवाहमें पतित होकर अपना सर्वनाश कर चुके थे।

एक दिन भगवान् तथागतका शिष्य भिक्षु उपगुप्त उस रास्तेसे आ निकला। सदाचार और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेके कारण उपगुप्तका शरीर कान्तिमय, हृष्ट-पुष्ट और ललाट पवित्र तेजसे देदीप्यमान हो रहा था। वासवदत्ताकी दृष्टि उसपर पड़ी और वह उसके रूपको देखकर मुग्ध हो गयी। वासनाभिभूत होकर उसने उपगुप्तको अपने घर भिक्षा लेनेके लिये निमन्त्रित किया। उपगुप्त जितेन्द्रिय था, उसने वासवदत्ताके मनकी बात ताड़ ली और कहा—'उपगुप्तके लिये अभी वासवदत्ताके घर जानेका समय नहीं आया है।'

यह उत्तर पाकर वह गणिका स्तब्ध हो गयी। उसने सोचा कि 'जिस सौन्दर्यपर लट्टू होकर मथुराके अनेकों सेठ उसकी चापलूसी करने आते हैं, उसी सौन्दर्यका एक युवा संन्यासी इस प्रकार तिरस्कार करे, यह सम्भव नहीं। निश्चय ही उपगुप्त निर्धन होनेके कारण मेरे घर आनेसे संकोच करता है।' इसलिये उसने पुनः उपगुप्तको कहला भेजा कि 'मैं तो केवल उसका प्रेम चाहती हूँ, स्वर्णमुद्राएँ नहीं चाहती।' परंतु इस बार भी वह भिक्षु शान्त रहा और उसने धैर्यपूर्वक वही उत्तर दिया।

कई महीने बीत गये। वासवदत्ताने मथुराके एक धनी युवाको अपने प्रेम-फाँसमें बाँध दिया। एक दिन वह युवक वासवदत्ताके घरपर था। इतनेमें भारतका एक बहुत बड़ा नामी धनसेठ मथुरामें उसके घर आया। धनके लोभमें आकर वेश्याने उस युवाकी हत्या करके उसकी लाश अपने घरमें छिपा दी। धीरे-धीरे राजपुरुषोंके कानमें यह बात पहुँची। वासवदत्ताको न्यायालयमें उपस्थित किया गया। दण्डाज्ञा हुई कि वासवदत्ताके हाथ-पैर तथा नाक-कान काट-कर उसे श्मशानमें छोड़ दिया जाय।

राजाज्ञाके अनुसार वासवदत्ताको अङ्ग-विहीन करके श्मशानमें छोड़ दिया गया। उसके कटे अङ्गोंसे रक्तधार बहनेके कारण उसके कपड़े तर-बतर हो रहे थे। उसका मांस खानेके लिये कौए अलग ही आ-आकर उसके शरीरपर चोंच मारते थे। एक दयालु दासी वहाँ बैठी उनको उड़ाने-का प्रयत्न कर रही थी। इतनेमें भिक्षु उपगुप्तकी सौम्य-मूर्ति वहाँ दिखलायी पड़ी।

उपगुप्तको सामने देखकर वासवदत्ता बहुत खिन्नाई और बोली, 'एक दिन मेरा यह कमल-सा कोमल शरीर अपने सौन्दर्यसे सबको मुग्ध कर रहा था, उस दिन मैं तुम्हारे प्रेमकी भूखी थी, तुमने मेरा तिरस्कार किया। आज जब मैं विपत्तिमें पड़ गयी हूँ, मेरे अङ्ग-भङ्ग हो गये हैं, वस्त्र लहूलुहान हो रहे हैं—तब तुम्हारी यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता है?'



उपगुप्तने कहा—'भद्रे! उस समय तू चारों ओर भोग-विलासकी सामग्रीसे घिरी थी। तेरे मनमें विषयवासना प्रबल थी, क्षणभङ्गुर रूपका अभिमान था। उस समय मैं तेरे पास आकर क्या करता? मेरा धर्मोपदेश कुछ काम नहीं करता। इसीलिये जान-बूझकर मैं तेरे पास नहीं आया। आज तू असहाय है, तेरे ऊपर विपत्ति पड़ी है। इसलिये सच्चे प्रेमीकी भाँति आज मैं बिना बुलाये तेरे पास आ गया हूँ।'

भिक्षुकी इस वाणीने मानो वासवदत्ताके तड़पते हुए प्राणोंमें अमृत-सिञ्चन किया। उसने उपगुप्तसे धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की। उस भिक्षुके उपदेशको सुनकर वासव-दत्ताके मनको पूरी शान्ति मिली, उसने धर्मकी शरण ली और उसका अवशिष्ट जीवन धर्मचिन्तन करते-करते व्यतीत हुआ। पापकी प्रबल ज्वालासे उसे त्राण मिला। उसने निष्पापा होकर प्राण त्याग किया। —गौ० द्वि०

संघमित्रा

संघमित्रा सुप्रसिद्ध दिग्विजयी सम्राट् अशोक महान्‌की पुत्री थी। अंग्रेज इतिहासकारोंने संघमित्राको अशोककी बहिन बतलाया है; परंतु यह उनकी भूल है और इसके लिये उनके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

मौर्य सम्राट् अशोकका चरित्र पहले बहुत क्रूर था। वह स्वार्थी और धर्महीन जीवन व्यतीत करता था। अपनी बढ़ी हुई क्रूरताके कारण वह चण्डाशोक अर्थात् यमदूतके नामसे प्रसिद्ध हो रहा था। राज्याधिरोहणके बाद उसने कलिङ्ग देश-पर चढ़ाई की। इस युद्धमें वह विजयी तो हुआ; परंतु युद्धमें हुए अपार नरसंहारसे उसका क्रूर हृदय भी पिघल गया और उसके हृदयमें करुणाका बीज-वपन हुआ। पूर्वकृत पुण्यकर्मों-का जब उदय होता है तो पापीके हृदयसे भी पापवासना नष्ट हो जाती है और उसके जीवनमें पुण्यका नव प्रभात उदित होता है। अशोककी भी यही दशा हुई; उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ; उसमें परराज्य जीतनेकी इच्छा नष्ट हो गयी। ऐसे समयमें एक शक्तिशाली बौद्ध भिक्षुक वहाँ आया। अशोकके जीवनपर उसने अधिकार कर लिया। उसके मनमें आध्यात्मिक शक्तिकी गूढ़ क्रिया काम करने लगी। उसने बौद्ध-धर्ममें दीक्षा ली; भगवान् बुद्धके महान् आदर्शको उसने स्वीकार किया और उसका हृदय विश्वप्रेमसे परिपूर्ण हो गया।

अशोकने धर्मके प्रचारमें अपना जीवन लगा दिया। बौद्धधर्म राजधर्म हो गया, पशुहिंसा बंद कर दी गयी; पशुओंके लिये राज्यमें यत्र-तत्र पशु-चिकित्सालय, रोगियोंके लिये शुश्रूषा-भवन खोले गये, सड़कोंपर प्रपाका प्रबन्ध हुआ। दीन-दुखियोंके लिये अन्न-वस्त्र बाँटनेका प्रबन्ध किया गया। प्रजाके धर्म-ज्ञानकी उन्नतिके लिये विभाग खोले गये। साधु-संतोंके लिये मठ बने। धर्मका व्यापक प्रचार होने लगा। मन्दिर-मठोंकी दीवारोंपर, पर्वतकी शिलाओंपर, स्तूपोंपर तथा नगरमें, गाँवमें—सर्वत्र स्थान-स्थानपर धर्म-शिक्षाएँ, सम्राट्-की धर्माज्ञाएँ अङ्कित की गयीं। विद्वान् भिक्षु-संन्यासियोंकी सभा करके धर्मतत्त्वका निर्णय कराया गया और योग्य धर्मोपदेशक देश-विदेशमें भगवान् बुद्धके विश्वप्रेमका प्रचार करनेके लिये भेजे गये।

इस प्रकारके धर्मनिष्ठ सम्राट्‌की देख-रेखमें राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्राका लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। ये दोनों भाई-बहिन जितने सुन्दर और तेजस्वी थे, उतने ही शील और विनयमें भी बढ़े-चढ़े थे। इनको ऊँची शिक्षा दी गयी और साधु-संग तथा विद्वान् गुरुजनोंके बीच रहनेसे इनके हृदयमें धर्मभाव खूब ही जाग्रत् हुआ। महेन्द्रकी आयु बीस वर्ष और संघमित्राकी लगभग अठारह वर्षकी हो गयी। महाराजने महेन्द्रको युवराजके पदपर अभिषिक्त करना चाहा। इसी अवसरपर बौद्ध-धर्मके एक आचार्य सम्राट्‌के पास आये और बोले—'राजन्! जिसने धर्मसेवामें अपने पुत्र और पुत्रीको अर्पण किया है, वही बौद्ध-धर्मका वास्तविक मित्र है!'

आचार्यकी यह बात अशोकको जँच गयी। उसने स्नेहार्द्र दृष्टिसे अपने पुत्र और पुत्रीकी ओर देखा और पूछा—'क्यों, तुमलोग भिक्षुधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार हो?' महेन्द्र और संघमित्रा दोनोंका हृदय-कमल पिताके इस प्रश्न-को सुनते ही खिल गया। उनके मनमें सेवा-धर्मकी भावना तो थी ही; सम्राट्‌की सन्तान होनेके कारण उनको यह आशा न थी कि उन्हें संघकी शरण लेनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। उन्होंने उत्तर दिया—'पिताजी! भिक्षु और भिक्षुणी बनकर करुणामय भगवान् बुद्धके दयाधर्मके प्रचारमें जीवन लग जाय तो इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या हो सकती है! आपकी आज्ञा मिल जाय तो इस महान् व्रतका पालन कर हम अपना मनुष्य-जन्म सफल कर लेंगे।'

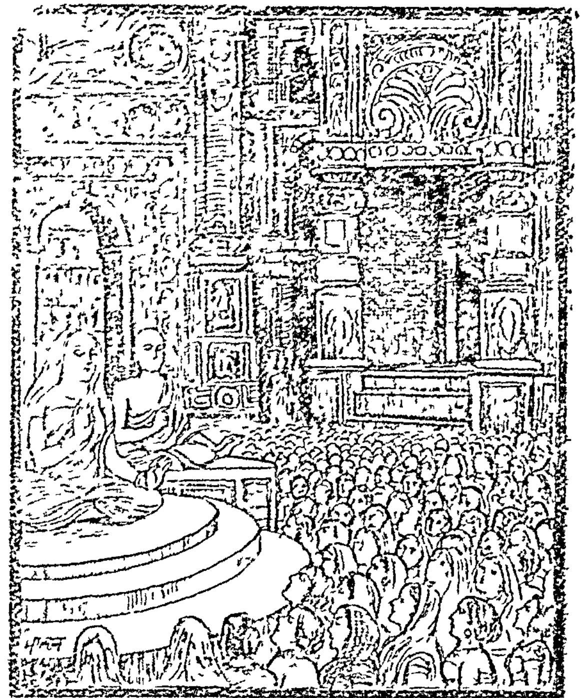
सम्राट्‌का हृदय यह सुनकर बाँसों उछलने लगा। उसने भिक्षुसंघको सूचना दी कि 'भगवान् तथागतके पवित्र धर्मके लिये अशोक अपने प्यारे पुत्र और पुत्रीको अर्पण कर रहा है।' यह बात बिजलीकी भाँति पाटलिपुत्र तथा मगधराज्यमें कोने-कोने पहुँच गयी। सब लोग 'धन्य-धन्य' करने लगे।

महेन्द्र और संघमित्रा बौद्धधर्ममें दीक्षित होकर भिक्षु और भिक्षुणी बन गये। महेन्द्रका नाम धर्मपाल और संघमित्राका नाम आयुपाली पड़ा। दोनों अपने-अपने संघमें रहकर धर्म-साधना करने लगे।

महेन्द्र बत्तीस वर्षकी आयुमें धर्म-प्रचारके लिये सिंहल-द्वीपमें भेजा गया। उस देशका राजा तिष्य आध्यात्मिक ज्योतिसे दीप्त महेन्द्रके सुन्दर स्वरूपको देखकर विस्मित हो उठा। उसने बहुत ही श्रद्धा और सत्कारपूर्वक महेन्द्रको अपने यहाँ रक्खा। सिंहलमें सहस्रों स्त्री-पुरुष महेन्द्रके उपदेश-को सुनकर बौद्धधर्म ग्रहण करने लगे।

थोड़े दिनोंके बाद सिंहलकी राजकुमारी अनुलाने पाँच सौ सखियोंके साथ भिक्षुणी-व्रत लेनेका सङ्कल्प किया। उस समय महेन्द्रके मनमें आया कि इन सब स्त्रियोंको अच्छी तरह धर्मकी शिक्षा देने तथा स्त्रियोंमें धर्मप्रचार करनेके लिये एक शिक्षिता और धर्मशीला भिक्षुणीकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये उसने अपनी बहिन संघमित्राको सिंहल भेजनेके लिये अपने पिता अशोकके पास पत्र लिखा। राजकुमारी संघमित्राको तो धर्मके सिवा किसी दूसरी पार्थिव वस्तुकी चाहना थी नहीं। उसने जब सुना कि धर्मप्रचारके लिये उसे अपने भाई महेन्द्रके पास सिंहलद्वीपमें जाना है तो उसके हृदयमें आनन्द न समाया। पुण्यशीला संघमित्राने धर्मप्रचारके लिये सिंहलद्वीपको प्रस्थान किया।

भारतके इतिहासमें यह पहला ही अवसर था, जब एक महामहिमशाली सम्राट्की कन्याने सुन्दर शिक्षा-दीक्षा तथा धर्मानुष्ठानके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्तकर दूरदेशकी नारियोंको अज्ञानान्धकारसे मुक्त करनेके लिये देशसे प्रयाण किया। उस समय भारतमें संघमित्राके इस धर्म-प्रयाणके समाचारसे लोगोंके हृदयमें उसके प्रति कैसी उदात्त भावनाका उदय हुआ होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती है। संघमित्रा जब सिंहलमें पहुँची तो उसकी तेजस्विनी मुख-मुद्रा, तपस्विनीका वेष तथा अपूर्व धर्मभावना देखकर वहाँके स्त्री पुरुष चित्रलिखित-से हो गये। संघमित्राने वहाँ एक भिक्षुणी संघ स्थापित किया और अपने भाई महेन्द्रके साथ उसने सिंहलद्वीपके घर-घरमें बौद्धधर्मकी वह अमर ज्योति जगायी, जिसके प्रकाशमें आज ढाई हजार वर्ष बीतनेपर भी सिंहलनिवासी नर-नारी अपनी जीवन-यात्रा व्यतीत करते हैं, और भगवान् तथागत, उनके उपदिष्ट धर्म और संघकी शरणमें जयघोष करते हैं।



महावंश नामक बौद्धग्रन्थमें संघमित्राका उल्लेख मिलता है। महावंशका लेखक लिखता है कि 'संघमित्राने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। सिंहलमें रहते समय धर्मकी उन्नतिके लिये उसने बहुतेरे पुण्यकार्य किये थे। सिंहलके राजाने बड़े ही आदर-सत्कार तथा ठाट-बाटसे उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की थी।'

जो हो, इस पवित्र भारतदेशमें एक-से-एक बढ़कर आदर्श जीवन-यापन करनेवाली नारियाँ हुई हैं; परन्तु संघमित्राका काम सम्राट् अशोककी कन्याके अनुरूप ही था। सम्राट्को इतिहासकारोंने 'महान्' पदवीसे विभूषित किया। परंतु देवी संघमित्राकी महत्ता उससे कहीं बड़ी थी, सिंहलका इतिहास इसका साक्षी है। अपने महाराजाधिराज अशोक महान्की कन्या देवी संघमित्राके पवित्र और उन्नत जीवनका स्मरण करके आज भी हमारा सिर श्रद्धासे झुक जाता है!—गौ० द्वि०

महादेवी राज्यश्री

प्रत्येक युगकी अपनी विशेषता होती है; कभी वीरताकी पूजा होती है तो कभी शान्तिके दरवाजेपर धरना दिया जाता है। सातवीं सदी वीरता और शान्तिके समन्वयका युग था। एक ओर भारतका चक्रवर्ती सम्राट् मारे उत्तरापथमें दिग्विजयका शङ्ख फूँक रहा था तो दूसरी ओर उसकी भिक्षुणी बहन राज्यश्री शान्तिकी स्थापनामें प्रयत्नशील थी। राज्यश्री वास्तवमें महादेवी थी, वह भारतकी श्री ही थी।

राज्यश्री स्थाणेश्वर-नरेश प्रभाकरवर्धनकी कन्या थी। उसकी माताका नाम यशोवती था। बड़े भाईका नाम राज्यवर्धन और छोटे भाईका हर्षवर्धन था। वह हर्षसे पाँच साल छोटी थी।

दोनों कुमारों और राज्यश्रीके साथ यशोवतीके भाईका लड़का भण्डि खेला करता था। धीरे-धीरे राज्यश्री बढ़ने लगी। कालान्तरमें उसका विवाह राजा-अवन्तिवर्माके भ्राता कुमार ग्रहवर्मासे कर दिया गया। राजा प्रभाकरके मरनेके बाद राज्यवर्धन स्थाणेश्वरके सिंहासनपर बैठा। उसने बड़ी

योग्यतासे राज्यप्रबन्ध किया । इस समय हूणोंका सीमान्तदेश-पर बर्बरतापूर्ण आक्रमण हो रहा था । राज्यवर्धनने हूणोंको दबाया और राजधानीमें लौटकर उसने राज्यश्रीके दूतके मुखसे सुना कि 'मालवराज देवगुप्तने ग्रहवर्माको मार डाला है और गौड देशके राजा शशाङ्कने महादेवी राज्यश्रीको कैद कर लिया है ।' वह शत्रुको दण्ड देनेके लिये चल पड़ा और शशाङ्कने उसे धोखेसे युद्धमें मार डाला । हर्षने स्वयं एक विशाल सेना लेकर कूच किया । उसने शत्रुओंको पराजित किया; परंतु राज्यश्रीका पता न चला । भण्डिने राजासे कहा—'देव ! कुमार राज्यवर्धनके स्वर्गगमनसे राज्यश्री कुछ दासियोंके साथ विन्ध्याटवीमें चली गयी है, ऐसा लोगोंका कहना है । उसकी खोज करनेवाले अभीतक नहीं लौट सके ।' हर्षवर्धनका अपनी बहिन राज्यश्रीपर अपार स्नेह था । वह स्वयं खोज करनेके लिये विन्ध्याचलके वनों और झाड़ियोंमें इधर-उधर भटकने लगा । भारतका चक्रवर्ती सम्राट् कँकरीली-पथरीली भूमिपर पैदल यात्रा करने लगा । राजत्वके इतने बड़े और महत्त्वपूर्ण आदर्शका दृष्टान्त केवल भारतीय इतिहासमें ही मिलता है !

बहिनकी खोजमें बहुत दिन लग गये । महाराज हर्षने थकावट और श्रमकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । एक दिन अरण्य-सामन्त शरभकेतुके पुत्र व्याघ्रकेतुने एक शबर युवकको साथ लाकर हर्षसे प्रार्थना की, 'महाराज ! इसने अरण्यका कोना-कोना देखा है । इससे कुछ पता चल सकता है ।' महाराजने उस युवकको बड़े प्यार और स्नेहसे अपने पास बैठाकर पूछा, 'क्या तुमने इस वनमें किसी राजा या सेनापति-की स्त्री देखी है ?' उसने कहा, 'दिवाकर मित्र बौद्ध श्रमणसे कुछ पता मिल सकता है ।' राजाने नंगे पाँव दिवाकर मित्रके आश्रममें, जो एक घने और विशाल तरुके नीचे काषायवस्त्र पहनकर बैठा था, जाकर दूरसे ही तपस्वीको प्रणाम किया । दिवाकर मित्रने राजाका अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया । हर्षने उससे अपने आनेका अभिप्राय बतलाया ।

इतनेमें ही एक भिक्षुने निवेदन किया—'भदन्त ! बड़ी करुणोत्पादक कथा है । एक कल्याणरूपा नवयुवती अग्नि-में प्रवेश कर रही है । उसके प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये ।'

राजाने पूछा—'पाराशरि ! वह कितनी दूरपर है ? उसका आकार-प्रकार कैसा है ?'

भिक्षुने कहा—'महाभाग ! मैं आज नदीके तटपर गया था । एक झाड़ीके निकट मैंने कुछ स्त्रियोंका करुणक्रन्दन सुना । मैंने देखा चिता जलनेवाली ही है और कुछ सखी-सहेलियोंसे घिरी हुई एक दुबली-पतली और सुन्दरी युवती मरनेके लिये उद्यत है । उसने समीप जानेपर मुझे प्रणाम किया । स्त्रियोंने मुझसे कहा—'भगवन् ! यह हमलोगोंकी स्वामिनी है, पिता और ज्येष्ठ भ्राताके मर जानेसे, परिवारके विनष्ट हो जानेसे, शत्रुओंके द्वारा अपमानित किये जानेके भयसे, असह्य वेदनाको सहनेमें असमर्थ होकर पावकयज्ञमें आत्मसमर्पण कर रही है । इसकी रक्षा कीजिये ।' मैंने उन्हें वचन दिया है कि मैं दिवाकर मित्र भदन्तको साथ लेकर आऊँगा ।'

हर्षने कहा, 'वह तो मेरी ही बहिन है' और दिवाकर मित्र तथा उनके शिष्योंके सहित उस स्थलपर पहुँचकर उसने देखा कि राज्यश्री चितामें प्रवेश करनेवाली ही है । उसने दौड़-कर बहिनको गले लगा लिया । राज्यश्रीके नयनोंमें नेहका सागर उमड आया । अश्रुकी मोटी धारा फूट पड़ी और वह देरतक रोती रही । हर्षने बहिनसे कहा—'भदन्तकी वन्दना करो । ये हम-लोगोंके गुरु हैं ।' राज्यश्रीने श्रमणका चरणाभिवादन किया ।

दिवाकर मित्रने भाई-बहिनसे भिक्षु और भिक्षुणी होकर धर्म-प्रचार करनेका आग्रह किया; परंतु हर्षने कहा कि 'यह बात तो कुछ दिनोंके बाद सम्भव हो सकती है; क्योंकि मैंने गौडाधिपति तथा मालवराजको मटियामेट कर डालनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है । मेरी बहिन भी दुःखों और वेदनासे अभी सन्तप्त है । प्रतिज्ञा पूरी कर लेनेपर हम दोनों काषाय परिधान ग्रहण कर लेंगे ।' राजाने बहिनको साथ लेकर कन्नौजकी यात्रा की । राजधानीमें बहुत दिनोंतक उत्सव होता रहा । स्थाणेश्वर और कान्यकुब्जको मिलाकर एक शक्तिशाली और दृढ़ साम्राज्य स्थापित हो गया । भाई-बहिन दोनों एक दूसरेको राजकार्यमें सहयोग देने लगे । राज्यश्रीके सात्त्विक जीवनने हर्षके हृदय-पर बड़ा प्रभाव डाला और उसने यथोचित राजधर्म और प्रजापालनसे अपना नाम संसारमें अमर कर दिया । राज्यश्री हर्षके साथ दरबारमें भी बैठती थी । प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाँगने हर्षकी सभामें उसको वार्तालाप करते हुए देखा था ।

हर्ष प्रत्येक पाँच सालपर प्रयागमें मोक्ष-मेला लगवाता था । यह उत्सव कम-से-कम पचहत्तर दिनतक होता रहता था । इस शुभ अवसरपर एक शोभा-यात्राका भी प्रबन्ध किया जाता था । अगले हाथीपर भगवान् बुद्धकी स्वर्ण-प्रतिमा रहती थी । मूर्तिके ऊपर हर्ष चँदोवा स्वयं पकड़े रहता था और राज्यश्री चँवर डुलाती थी । ब्राह्मण, संन्यासी एवं बौद्ध भिक्षुकों-

को दान दिया जाता था। राजाकी उदारताका दर्शन कर प्रजा मुग्ध हो जाती थी। 'भिक्षु बन रहते सम्राट्; दया दिखलाते घर-घर घूम'की सत्यता चरितार्थ हो उठती थी। हर्षवर्धन इस मोक्ष-मेलेमें इस तरह दान करता और रत्न तथा अलङ्कार बाँटता था कि अन्तमें राज्यश्रीसे एक पुराना वस्त्र माँगकर उसे पहनना पड़ता था और उसके बाद दसों दिक्पाल और भगवान् बुद्धकी अर्चना करनी पड़ती थी।

निस्सन्देह राज्यश्री आदर्श भगिनी और राजरानी थी। उसके अङ्ग-अङ्गमें भारतीयताकी भावना भरी थी। कुछ दिनोंतक राजकार्यमें योग देनेके बाद वह भिक्षुणी हो गयी। उसने राजमहलके वैभव और भोग-विलासके बीचमें भी अपने जीवनमें दिव्यता और शान्ति उतार ली। सच्चे अर्थमें वह आर्य-नारी थी। सद्धर्मकी सेवा और प्रचारमें ही उसके जीवनके शुभ और अन्तिम क्षण बीते।—रा० श्री०

सती माद्री

बौद्धयुगमें भी भारतीय नारियोंका उज्ज्वल आदर्श उसी प्रकार देदीप्यमान होता रहा जैसा कि वैदिक युगमें था। गृहस्थ और संन्यास दोनों आश्रमोंमें समानरूपमें पतिव्रता और संयमशीला नारियोंने अखिल नारी-जगत्के सामने अपूर्व उदाहरण उपस्थित किया। बौद्ध धर्मग्रन्थोंमें ऐसी प्रातःस्मरणीया सती-साध्वी नारियोंके उदात्त जीवनकी कथाएँ नग-सी जड़ी हुई शोभा दे रही हैं। सती माद्री भी उनमेंसे एक थी। यह माद्री पाण्डुकी पत्नी, नकुल और सहदेवकी मातासे भिन्न थी। बल्कि महाभारतकालके पश्चात् बौद्धयुगमें शिवि देशके राजा संजयकी पुत्रवधू थी। राजकुमारका नाम था वेस्संतर।

राजकुमार वेस्संतरको माद्रीसे एक पुत्र और पुत्री थी। वे बड़े ही पुण्यात्मा और दानशील थे। जिस प्रकार सत्ययुगमें सत्यके लिये राजा हरिश्चन्द्रने सर्वस्व त्याग कर धर्मकी रक्षा की थी, उसी प्रकार राजकुमार वेस्संतरने दान-धर्मके लिये नाना प्रकारके कष्ट सहन करके अपने व्रतका पालन किया।

शिवि देश एक सम्पन्न जनपद था। प्रजामें सुख-शान्ति और समृद्धि विराजमान थी। राज्यमें बहुत अच्छे हाथी और घोड़े थे। प्रजाजनमें यह मान्यता प्रसिद्ध थी कि राज्यकी समृद्धिके कारण वहाँके हाथी हैं। हाथियोंके प्रतापसे शत्रु भी उस राज्यपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। एक दिन कलिङ्ग-देशके कुछ ब्राह्मण आये। राजकुमार तो दानके लिये प्रसिद्ध हो ही रहे थे। ब्राह्मणोंने उनसे उनके हाथी और घोड़े माँग लिये और कलिङ्गकी राह ली। राजकुमारने अपने हाथी-घोड़े ब्राह्मणोंको दान दे दिये, यह बात बिजलीकी तरह प्रजाजनमें फैल गयी। चारों ओर काना-फूसी होने लगी। महान् अनर्थ हो गया, राज्यसे हाथीका बाहर जाना अनिष्टकारी था। प्रजा आतङ्कित हो उठी। लोग क्षुब्ध होकर राजद्वारकी ओर चल पड़े। राजकुमारपर अभियोग लगाया गया। जनपदका अनिष्ट करनेके अपराधमें राजा संजयने राजकुमारको निर्वासनकी दण्डाज्ञा दी। प्रजा धर्म-न्यायसे प्रसन्न होकर अपने-अपने घर लौट गयी।

दूसरे दिन सूर्योदयके पहले ही राजकुमारको राजमहल छोड़कर जाना है, यह सोचकर उसने अपनी सात सौ वस्तुएँ दानमें दे डालनेका निश्चय किया। दानालयमें राजकुमार जा पहुँचा और याचकोंको उसने अपनी सारी बहुमूल्य वस्तुएँ दान कर दीं। याचक अयाचक हो गये और राजकुमार अकिंचन बनकर अपने पिताके निवासभवनमें पहुँचा। पिताके चरणोंमें सिर नवाकर उसने निवेदन किया—'पिताजी! सभी मनुष्य सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश तथा निन्दा-स्तुति—इन आठ प्रकारके लोक-धर्मके अधीन हैं। मैंने अपनी सारी वस्तुएँ दान कर दी हैं और प्रजाजनकी प्रार्थनाके अनुसार देशका त्याग करके वनकी ओर जा रहा हूँ। पिताजी! आप मेरे लिये दुःख न करेंगे। मैं वनमें शान्तिसे रहूँगा। आप मेरी ओरसे निश्चिन्त रहकर प्रजा-पालन करेंगे।' इतना कहकर राजकुमारने पितासे विदा ली।

माद्रीने सोचा—'पतिदेव कल प्रातः देशसे बाहर चले जायँगे, फिर मैं इस राजमहलमें कैसे रहूँगी। सास-ससुरसे विदा माँगकर मैं भी पतिके साथ जाऊँगी।' वह अपने पतिके साथ सासुके पास गयी। प्रणाम करके राजकुमारने कहा—'माता! प्रजाजनकी आज्ञासे मैं देश त्याग कर वनमें जा रहा हूँ। शुभेच्छासहित मुझे विदा करो।' माताने कहा—'बेटा! तू वनमें जाकर ज्ञान और समाधि प्राप्त करनेके लिये साधना करना। मैं तुझे प्रसन्न मनसे विदा करती हूँ। परंतु बेटा! माद्री क्यों घबरा रही है। तेरे न रहनेपर भी राजमहलमें इसे कोई दुःख न होगा। राजाकी पुत्रवधूको तो प्रजाजनने देशनिकाला नहीं दिया है! इसलिये बेटी! तू धैर्य धारण कर।'

माद्री बोली—'माताजी! पतिदेव वनमें तपस्वीका जीवन बितायेंगे, तब इस विलाससे भरे हुए राजमहलमें मैं

कैसे रह सकूँगी ? वनमें इनका शरीर धूल-धूसरित रहेगा, तो रनिवासमें रहकर मेरे प्राणोंको शान्ति कैसे मिलेगी ? मुझे आशीर्वाद दो कि मैं सुखके समान दुःखमें भी पतिके साथ-साथ रहकर इनकी सेवा करती रहूँ। इनके साथ दुःख भी मेरे लिये सुखदायक होगा और इनके बिना रनिवासका विलास मेरे हृदयमें शूलकी तरह खटकता रहेगा।'

ये बातें हो ही रही थीं कि राजा संजय भी माद्रीका निश्चय सुनकर रनिवासमें दौड़े आये। उन्होंने कहा—'बेटी माद्री! तू कोमलाङ्गी है, वनके कठोर जीवनको तू कैसे सह सकेगी? और बेटी! तेरे बिना ये दोनों बालक यहाँ कैसे रहेंगे? इसलिये तू अपना निश्चय छोड़ दे। राजभवनमें राजपुत्रवधूका कोई अनिष्ट नहीं कर सकता।'

माद्री बोली—'पिताजी! जो स्त्री सुखमें पतिके साथ रहती है और दुःखमें उससे अलग हो जाती है, वह पिशाची और राक्षसी है। मैं पतिदेवसे अलग रहकर जी नहीं सकती। पिताजी! मेरे बालकोंको भी मेरे साथ जानेकी आज्ञा दीजिये। वहाँ इनका मुँह देखकर मैं वनके कष्टोंको भूल जाऊँगी।'

राजा संजयकी भगवान् बुद्धके उपदेशोंमें बड़ी आस्था थी। उनका जीवन सदाचारसम्पन्न था। अपने पुत्र और पुत्र-वधूके सम्यक् विचारपर वह गद्गद हो उठे और स्नेहसे गले लगाकर पौत्र और पौत्रीके साथ दोनोंको विदा किया।

× × × × ×

राजकुमार भिक्षुवेष धारण करके बच्चों और स्त्रीके साथ वनमें एक आश्रम बनाकर रहने लगे। एक दिन माद्री फल-फूल लेनेके लिये आश्रमसे बाहर गयी; इसी बीचमें एक बूढ़ा ब्राह्मण आया और उसने राजकुमारसे कहा—'हे पुण्यात्मा! मैं बूढ़ा हूँ और घरमें मेरी पत्नी है। उसे दास-दासीकी आवश्यकता है। आप इन दोनों बच्चोंको दे दें तो हमारा दुःख दूर हो जाय।' वेस्संतर याचकको विमुख करना जानता ही नहीं था। उसने दोनों बच्चोंको उस ब्राह्मणके सुपुर्द कर दिया।

माद्री जब फल-फूल लेकर लौटी, बालक आश्रममें दिखायी न दिये। पतिने मौनव्रत ले लिया था। पतिसे पूछनेपर उसे कुछ उत्तर न मिला। वह व्याकुल हो उठी, रोती हुई जंगलमें बालकोंको खोजने निकल पड़ी। उसके विलापसे अरण्यवासी पशुओंके हृदय भी पिघल उठे।

दूसरे दिन मौनव्रतकी समाप्तिपर पतिने पत्नीसे बालकोंके दानकी बात कह सुनायी। माद्री प्रसन्न हो उठी, बोली—'देव! आपने बच्चोंको दानमें दे दिया, यह बड़े ही आनन्दकी बात है; परंतु यह बात यदि कल ही आपने बता दी होती तो मुझे जो दुःख हुआ है, वह न होता। मुझे क्षमा कीजिये।' वेस्संतरके मुखसे निकला—'देवी! तुम धन्य हो।'

राजकुमारके दानके प्रभावसे इन्द्रासन डोल उठा। स्वयं इन्द्रदेव साधुवेष धारणकर उसके आश्रममें आये और बोले—'हे पुण्यात्मन्! मुझे एक सद्गुणशीला रमणी चाहिये। ऐसी रमणी माद्रीसे बढ़कर कहाँ मिलेगी? मेरी सेवाके लिये इसे दान दे दो।' वेस्संतरने शीघ्र ही पत्नीको दानमें दे डाला। इन्द्र प्रसन्न हो उठे। उन्होंने अपना वेष धारण किया और बोले—'महाराज! माद्री अब हमारी हो गयी। इसे मैं आपके पास धरोहर रख रहा हूँ। अब इसे किसी दूसरेको दान न देना। माद्री-जैसी रमणी देवलोकमें भी दुर्लभ है।'

माद्री और राजकुमारके जीवनकी ऐसी अनेकों धर्म-कथाएँ शिवि देशमें फैलने लगीं। प्रजा अपने राजकुमारके दर्शनके लिये व्याकुल हो उठी। घर-घरमें माद्रीदेवीके पातिव्रत्यकी चर्चा आठों पहर होने लगी। अन्तमें प्रजाजनकी प्रार्थनासे राजा संजयने राजकुमारको दण्डाज्ञासे मुक्त कर दिया। प्रजाने गाजे-बाजेके साथ आश्रमकी ओर प्रस्थान किया और राजाज्ञा सुनाकर उन्हें आग्रहपूर्वक राजभवनमें लाये।

माद्रीदेवीके पातिव्रत्यकी कथा अमर हो गयी।—गौ० द्वि०

विद्यावती

आदर्श माता अपने पुत्रको अपने सदुपदेशसे किस चरमोन्नतितक पहुँचा सकती है, इसकी कोई परमिति नहीं है। संसारके सारे महापुरुष ऐसी ही त्यागमयी नारियोंके विश्वको उपहार हैं। काशीमें २८० वर्षकी असाधारण आयुमें शरीर छोड़नेवाले परम प्रख्यात संत तैलंग स्वामीकी पूजनीया माताने ही उन्हें बचपनसे प्रोत्साहित करके इस अध्यात्म-पथमें अग्रसर किया था। तैलंग स्वामीने ५२ वर्षकी अवस्थामें सन् १६८१ में माताके शरीरान्तके उपरान्त ही गृहत्याग किया था।

पूजनीया विद्यावती देवीका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था और विजयग्रामके निवासी शास्त्रज्ञ पण्डित नृसिंहधरजीने उनका पाणिग्रहण किया था। दम्पति समानरूपसे दया एवं सौजन्यकी मूर्ति थे। परोपकार उनका स्वभाव था। अच्छे बड़े जमींदार होनेपर भी उनमें अभिमानका लेश नहीं था।

विद्यावतीजी गृहकार्य स्वयं कर लेतीं। घरके दास-दासियोंपर उनका पुत्रवत् स्नेह था और उनको कार्य बतानेमें उन्हें अत्यन्त सङ्कोच हुआ करता था। विद्यावतीजी अत्यन्त सुन्दरी एवं शिवभक्ता थीं। जब वे भगवान् शङ्करकी आराधनामें बैठतीं तो उनके मुखपर दिव्य ज्योति छिटकने लगती। वे साक्षात् देवी प्रतीत होती थी। भगवान् शङ्करकी पूजा किये बिना वे जलतक ग्रहण नहीं करती थीं।

तैलंगधरजी बचपनसे तीक्ष्णबुद्धि एवं गम्भीर थे। माता विद्यावतीका उनपर अपार स्नेह था। युवावस्थामें पिताके इस आग्रहपर कि 'विवाह कर लो' उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। नश्वर जीवनको मायिक प्रपञ्चोंमें उलझाना उन्हे प्रिय नही था। पिताने अनेक प्रयत्न किये, किंतु वे सफल न हुए। माता विद्यावती अपने पुत्रकी रुचिको पहचानती थी। वे पुत्रको सदा प्रोत्साहन देकर भगवान्‌के चरणोंमें लगनेको कहतीं। उनका वात्सल्य अन्धमोह नही था। पुत्रके सच्चे कल्याणकी उन्हे चिन्ता थी।

एक दिन नृसिंहधरजी उदास बैठे थे। विद्यावतीजीने पतिके समीप जाकर बड़ी नम्रतापूर्वक विनय की—'आप तैलंगके सम्बन्धमें इतने चिन्तित क्यो हैं। उसके विवाहकी आवश्यकता इसीलिये तो है कि आपका वंश सुरक्षित रहे। यह तो श्रीधरके विवाहसे भी हो जायगा। तैलंग किसी कुमार्गमें तो लगा नहीं है। वह भगवान्‌के चरणोंमें लगकर अपना उद्धार कर लेगा तो उसके कारण हमारी तथा हमारे पितरोकी भी सद्गति हो जायगी। हमे प्रसन्न होना चाहिये कि हमारे पुत्रकी परमार्थमे रुचि है। हमें तो सब प्रकारसे उसे प्रोत्साहन देना चाहिये और ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिये, जिससे उसको बाधा पहुँचे। वह तो अपने कुलका ही नही, सम्पूर्ण देशका मुख उज्ज्वल करेगा।'

पत्नीके विशुद्ध भावका नृसिंहधरजीपर अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने तैलंगसे विवाह करनेका आग्रह छोड़ दिया। श्रीधरका विवाह खूब धूमधामसे हुआ। विद्यावतीजीने सपत्नीके पुत्रके विवाहमे बड़ी उमंगसे योग दिया।

आयुके साथ तैलंगधरजीकी धर्मभावना प्रबल होने लगी। माता विद्यादेवी उन्हें निरन्तर उपदेश किया करती थीं। नृसिहधरजीके स्वर्गवासके अनन्तर विद्यावतीदेवीका अधिकांश समय भजन, पूजन तथा पुत्रके साथ भगवान्‌की चर्चामे ही व्यतीत हुआ करता था।—ब्र० सिं०



मिथिलाकी विदुषियाँ

(लेखक—श्रीगोविन्द झा)

पौराणिक समयमें भी मिथिलामे बहुत-सी विदुषियाँ हुई हैं, उसके बाद श्लोकवार्तिककर्ता प्रौढ़ मीमांसक कुमारिल भट्टकी बहन 'भारती'का नाम मिलता है। वह महामहोपाध्याय मण्डन मिश्रकी पत्नी थीं। कहा जाता है, जगद्गुरु शङ्कराचार्य तथा म० म० मण्डन मिश्रमें जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें 'भारती' देवी मध्यस्था हुई थी और पतिके पराजित होनेपर उन्होने स्वयं शङ्कराचार्यसे शास्त्रार्थ किया था।

कर्णाटवंशीय क्षत्रिय राजा हरिसिंहदेवके युद्ध-मन्त्री महामहोपाध्याय महामहत्तम चण्डेश्वरठाकुरकी पुत्री 'विजया' भी अच्छी विदुषियोंमें गिनी जाती थीं। इनकी मुक्तक-कविताएँ परम सरसतया मिथिलामें प्रचलित हैं। इनका समय ११ वीं शताब्दी, जब गयासुद्दीन तुगलक दिल्लीकी गद्दीपर था, माना जाता है।

ओइनीवंशके राजा शिवसिंहकी धर्मपत्नी 'लखिमा-ठकुराइनि' परम विदुषी और विद्वत्प्रिय थीं। मैथिलकोकिल वैष्णवकवि विद्यापतिठाकुर इन्हींके दरबारमे रहते थे और प्रायः इन्हींकी प्रेरणासे वैष्णव-भजन लिखते थे। इनके समयमे मैथिलसाहित्यको बहुत प्रोत्साहन मिला था। पतिका १४६० ई० मे स्वर्गवास होनेपर लखिमाठकुराइनिने कई वर्षोंतक मिथिलाका शासन स्वयं किया था। इनकी लिखी हुई 'दानवाक्यावली' धर्मशास्त्रका एक अच्छा ग्रन्थ है।

न्यायदर्शनके टीकाकार महामहोपाध्याय वर्द्धमान उपाध्यायकी पुत्री चामुण्डा एक उदीयमान विदुषी थी। यह पिताकी अकेली सन्तति थी। अतः बड़े प्रेमसे पिताने पढ़ाकर इसे विदुषी बना दिया। थोड़े ही दिनोमे इसकी विद्वत्ताकी ख्याति प्रान्तभरमें फैल गयी। दैववश एक दिन चामुण्डा पूजाके लिये फूल चुन रही थी कि कुछ यवन-सैनिक, जो बंग-विजयके लिये जा रहे थे, इनपर पैशाचिक आक्रमणके लिये उद्यत हो गये। चामुण्डाने प्राणोंकी बलि देकर सतीत्वकी रक्षा की। जनश्रुति है, पृथ्वी फट गयी और वह उसमे समा गयी। इस विदुषीके उस समाधिस्थानको प्रान्तीय जनता बड़ी भक्तिसे पूजती है और वहाँ एक मन्दिर भी बनाया

गया है। यह स्थान अवध-तिरहुत-रेलवेके तमौरिआ स्टेशनसे तीन कोस दक्षिण पचही गाँवमें है।

सोलहवीं शताब्दीके बाद 'लखिमा' नामकी एक और विदुषी हो गयी हैं। यह ओइनीवंशके राजा नरसिंहदेवकी पुत्रवधू और चन्द्रसिंहदेवकी पत्नी थी। इनकी न्याय तथा धर्मशास्त्रमें विशेष योग्यता थी। इन्होंने न्यायमें (अपने स्वामीके नामपर) 'पदार्थचन्द्र' नामक तथा धर्मशास्त्रमें विवादचन्द्र नामक ग्रन्थ और मिताक्षराकी टीका रची है।

मैथिलकोकिल म० म० विद्यापति ठाकुरकी पुत्रवधू 'चन्द्रकला' भी मैथिल-साहित्यमें लब्धप्रतिष्ठ लेखिका मानी जाती है। इनके मैथिली भाषामें रचे वैष्णवपद कई संकलनोंमें पाये जाते हैं। 'पञ्जी' में उनको 'महामहोपाध्याया' भी कहा गया है।

पदवाक्यरत्नाकरके रचयिता महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्यायकी पुत्री 'कादम्बरी' दर्शन तथा काव्यमें अधिक प्रज्ञा रखती थी। उपाध्यायजीने पुत्रवत् स्नेहसे स्वयं उसको विदुषी बनाया। कादम्बरी परम अल्पायु हुई। अतः 'प्रबोधकादम्बरी' नामक ग्रन्थ, जो वह लिख रही थी, अपूर्ण ही छोड़ गयी, जिसको उपाध्यायजीने स्वयं पूर्ण किया तथा और भी कुण्डकादम्बरी तथा कादम्बरीकीर्तिश्लोक नामसे दो ग्रन्थ पुत्रीके नामपर उन्होंने बनाये।

इसके अतिरिक्त अनेकों ऐसी विदुषियाँ प्राचीन समयमें मिथिलामें थीं, जिनके चरित्रोंका सङ्कलन कठिन काम है।

नारी-महत्त्व

(रचयिता—श्रीसूर्यबलीसिंह 'दशनाम', साहित्यरत्न)

रति संग अनंगके राज रही, भव-संग भवानी बनी विलसी तू।
हरि-संग पयोनिधिकी तनया, विधना-सह हंस-चढ़ी हुलसी तू॥
सुर-नायककी सुर-स्वामिनि सौम्य शची धर दिव्य छटा सुलसी तू।
अयि नारि! महत्त्वमयी, सबके दृगकी पुतली-सम भूरि लसी तू॥ १॥

रजनी-पतिकी रजनीश-कला, दिननायककी द्युति चण्ड निराली।
सरिता सलिलालयकी, लतिका द्रुमकी, वनकी बहु-वर्ण वनाली॥
सुमनाकरकी सुखदा जगतीतलमुग्ध सुगन्ध प्रलोभनवाली।
अयि नारि! चराचर-संगिनि तू, सबको अपने वशमें कर डाली॥ २॥

प्रलयङ्कर शङ्करने तव हेतु विलाप किया बन दीन उदासी।
निशि-वासर 'हा सति! हा सति!' की रट थे करते, उनकी धृति नासी॥
तब लौं परितप्त रहे, जब लौं न मिलीं गिरिजा छविकी प्रतिमा-सी।
हम कौन कहें नरकी गति? जो सुरकी गति निन्द्य हुई विकला-सी॥ ३॥

अयि नारि! उठाकर घोर विपत्ति हमें वनके जननी जनमाती।
प्रतिपालन-लालनमें प्रियता रखके ममता प्रिय मातृ कहाती॥
जनरंजन यौवनमें युवती सजके सुख-साज सहर्ष सजाती।
ललना न रही यदि जीवनमें, रस ना रसना तब है कह जाती॥ ४॥

यह सृष्टि बनी तुझसे, जननी यदि तू बनती न दया दिखलाती।
शिशु मा कह मा कहके मरता, यदि तू न उसे निज दूध पिलाती॥
उसके सब अङ्ग नहीं, बढ़ते, यदि पालन-पोषणसे न बढ़ाती।
'दशनाम' महत्त्व-प्रकाशनमें तव ब्रह्मवधू असमर्थ दिखाती॥ ५॥

उत्कलकी आदर्श नारियाँ

(लेखक—राजा बहादुर श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव विद्यावाचस्पति, पुरातत्त्वविशारद)

(१) गुण्डिचा देवी

प्राचीन कालमें उत्कलके राज्य-सिंहासनपर महाराज इन्द्रद्युम्न विराजमान थे। गुण्डिचा देवी उन्हींकी पट्टमहिषी थीं। ये दोनों राज-दम्पति नीलाद्रिनाथ भगवान् जगन्नाथके बड़े भक्त थे। गुण्डिचा देवीमें गृह-लक्ष्मीके सभी सद्गुण मौजूद थे। महारानी होकर भी वे पतिकी सेवा अपने हाथों करती थीं। अभिमान तो उनके हृदयको छू भी न सका था। वे लज्जा, विनय, प्रेम और मधुर बर्तावसे पतिको सदा आनन्द प्रदान करती थीं। पतिकी आज्ञासे उनको साथ लेकर वे अपना अधिकांश समय श्रीक्षेत्र (पुरुषोत्तम-धाम) में बिताती थीं। वहाँ रहकर दोनों पति-पत्नी सदा भगवान्की समाराधनामें लगे रहते थे। महारानी गुण्डिचा देवी योगिनी बनकर जब श्रीधाममें निकलतीं, उस समय प्रजा उन्हें साक्षात् लक्ष्मी और माता अन्नपूर्णाका अवतार मानकर भक्तिसे मस्तक झुकाती थी। राजा बड़े प्रतापी थे। वे अपने प्रजाजनोंको पुत्रकी भाँति मानते और उनके दुःख-सुखमें हाथ बँटाते थे। महारानी गुण्डिचा भी साधारण स्त्रियोंसे भी मिलनेमें संकोच नहीं करती थीं। वे सबसे मिलतीं, उनके दुःखसे दुखी होतीं और उन सबको सुख पहुँचानेकी चेष्टा किया करती थीं। राज-दम्पतिका यह अलौकिक भाव देखकर लोग ऐसा मानने लगे कि 'साक्षात् नीलाचलनाथ ही अपनी प्रियाके साथ हमारा कल्याण करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं।' वे राजाको विष्णु और गुण्डिचा देवीको लक्ष्मीका स्वरूप समझने लगे। स्थापित दारुब्रह्ममें जनताकी जो अटल भक्ति थी, वही और बढ़कर इस जङ्गम ब्रह्म-दम्पतिके प्रति प्रकाशित होने लगी। श्रीक्षेत्रको आनेवाले तीर्थयात्री लोगोंके हृदयमें भी राजा-रानीके प्रति भक्ति बढ़ने लगी। वे ऐसा अनुभव करने लगे कि 'इस जङ्गम विष्णु-दम्पतिका दर्शन किये बिना स्थापित विष्णु भी प्रसन्न नहीं होंगे।' इसी भावनासे वे पहले श्रीधाममें पहुँचकर राजा-रानीके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करके ही साक्षात् पुरुषोत्तमका दर्शन करते थे। गुण्डिचा देवी श्रीक्षेत्रमें साक्षात् 'भवानी' के नामसे प्रसिद्ध हो गयी। देवाधिदेव श्रीजगन्नाथके प्रति उनके हृदयमें अधिकाधिक भक्ति उमड़ने लगी।

एक दिन गुण्डिचा देवीने महाराजसे कहा—'नाथ! जीवनका जितना समय भगवान्की सेवामें बीते, बस, वही सार्थक है। यह राज्य, वैभव और शरीर—कोई भी सदा रहनेवाला नहीं है। अतः मैं चाहती हूँ आप अश्वमेध-यज्ञकी दीक्षा लेकर भगवान्का भजन करें। उसमें आपकी सहयोगिनी और सहधर्मिणीके रूपमें भाग लेकर यह दासी भी धन्य हो जायगी।' राजा यह प्रस्ताव सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'देवि! कुछ ही दिन पहले एक दिव्य श्यामवर्ण अश्व खरीदा गया है, उसका इस यज्ञमें सदुपयोग हो जायगा; सम्भवतः इसीलिये भगवत्प्रेरणासे ही वह अश्व लिया गया था।' तदनन्तर महाराजने बड़े समारोहके साथ अश्वमेध-यज्ञ सम्पन्न कराया। उस यज्ञके लिये जो विशाल मण्डप तैयार किया गया था, वह 'गुण्डिचा-मण्डप' के नामसे विख्यात हुआ। वर्तमान 'गुण्डिचा-मण्डप' उसीकी स्मृति करानेवाला है। महाराजने उस समय एक बहुत बड़ा सरोवर भी तैयार कराया, जो आज भी इन्द्रद्युम्न-सरोवरके नामसे प्रसिद्ध है। फिर शुभ दिन आषाढ़ शुक्ला द्वितीया-तृतीयाको रथयात्राका महोत्सव मनाया गया। एक दिव्य रथपर श्रीजगन्नाथजी, बलभद्रजी तथा सुभद्राजीके विग्रह विराजमान किये गये। राजाने अपने परिकरोंके साथ स्वयं ही रथको खींचा था। भगवान्को ले आकर 'गुण्डिचा-मण्डप'में पधराया गया। वहाँ उनका अभिषेक और पूजन हुआ। वे नौ दिनोंतक उस मण्डपमें ही विराजमान रहे। नौ दिनोंतक वहाँ बराबर उत्सव चलता रहा। गुण्डिचा देवी भी पतिके साथ यज्ञमें दीक्षित थीं। वे बड़ी भक्ति और प्रीतिके साथ अपने हाथों भगवान्की सेवा करती रहीं। लक्ष्मीदेवीकी प्रतिनिधि होकर ही उन्होंने श्रीजगन्नाथजीकी परिचर्या की। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर साक्षात् भगवान्ने प्रतिवर्ष इस मण्डपमें पधारनेकी प्रतिज्ञा की। तबसे वह उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा। साध्वी-शिरोमणि गुण्डिचा देवीका यह महोत्सव आज उड़ीसामें ही नहीं, सारे भारतमें प्रसिद्ध होकर उनकी कीर्तिका प्रकाश और उनके नामको अमर कर रहा है। यह महोत्सव उसमें भाग लेनेवाले मनुष्योंके लिये चतुर्वर्गका साधक माना गया है।

(२) गौरी देवी (संयुक्ताकी माता)

गौरीदेवी उत्कल-नरेश स्वर्णकेशरी मुकुन्ददेवकी सुशीला कन्या थीं। मुकुन्ददेवजी सोमवंशी क्षत्रिय थे। एक दिन कन्नौजके राजा विजयपाल राठौर दक्षिण-विजय करके लौटते समय उत्कलराज मुकुन्ददेवके अतिथि हुए। उत्कल-नरेशने बड़े प्रेमसे कान्यकुब्जाधीश्वरका स्वागत-सत्कार किया। महाराज विजयपालने गौरीके स्वभाव, सद्गुण, विनय और सौन्दर्य आदिपर दृष्टिपात करके उसे अपनी पुत्र-वधू बनानेका विचार किया। उन्होंने अपना यह विचार मुकुन्ददेवके सामने प्रकट किया। उत्कल-नरेश इस मनोवाञ्छित प्रस्तावको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़ी धूम-धामके साथ गौरीका विवाह राजकुमार जयचन्दके साथ कर दिया। गौरीदेवीने अपने सद्गुणोंसे श्वशुर-गृहमें बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके गर्भसे एक परम सुन्दरी सद्गुणवती कन्या उत्पन्न हुई, जो अनेक शुभ गुणोंसे संयुक्त होनेके कारण 'संयुक्ता' (संयोगिता)के नामसे प्रसिद्ध हुई। यह वही इतिहास-प्रसिद्ध संयुक्ता थी, जो दिल्लीपति पृथ्वीराज चौहानकी पट्टमहिषी हुई। पृथ्वीराजके मित्र और दरबारी कवि चन्द्रभट्ट (चंदबरदाई) ने अपने 'रासो' नामक काव्य-ग्रन्थमें इस कथाका बड़े आदरके साथ उल्लेख किया है।

(३) रत्नमणि देवी

पंद्रहवीं शताब्दीके पूर्वभागमें दक्षिण उड़ीसाके सुप्रसिद्ध अष्टदुर्ग राज्यपर निःशंकक मंगराजका अधिकार था। राजाके एक कन्या थी, जिसका नाम रत्नमणि था। राजकुमारी-रत्नमणि अप्रतिम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंकी निधि थी। उस समय उड़ीसाके भाग्य-विधाता थे सूर्यवंशावतंस महाराज कपिलेश्वरदेव। गङ्गासे लेकर सेतुबन्धतकके भूभाग-पर उनका अखण्ड राज्य था। एक बार उन्होंने समस्त दाक्षिणात्य प्रदेशोंमें विजय-वैजयन्ती फहराकर जब अपनी राजधानीको प्रस्थान किया तो मार्गमें अष्टदुर्ग-राज्यके भीतर आकर सेनासहित पड़ाव डाला। वे विजयोन्मादसे मत्त हो रहे थे। उन्होंने राजकुमारी रत्नमणिकी बड़ी प्रशंसा सुन रक्खी थी। मौर्यकुलकी प्रतिष्ठा उन्हें आकर्षित कर चुकी थी। अतः उन्होंने मंगराजके पास सचिवको भेजकर राजकुमारीके साथ विवाहकी इच्छा प्रकट की। मंगराजदेवने इसे अपना अहोभाग्य माना। राजकुमारीका विवाह कलिङ्गराजके साथ हो गया। रत्नमणिने अपने अलौकिक प्रेम और सद्गुणोंसे पतिके हृदयपर पूर्ण अधिकार कर लिया। वही महाराजकी पट्टमहिषीके पदपर प्रतिष्ठित हुई। अतुल ऐश्वर्यकी स्वामिनी होकर भी रानीका मन भोगोंमें आसक्त नहीं था। वे वंशधाराके तटपर एक आम्रोद्यानमें स्थापित भगवान् श्रीमधुकेश्वरदेवकी पूजा-अर्चामें ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करती थीं। रानीने अपनी सम्पत्ति प्रभुकी सेवामें अर्पण कर दी। उन्होंने उस धनके दो भाग किये— एक तो निजी सम्पत्ति और दूसरा प्रभु-प्रसाद-विक्रय-धन। एक भागसे भगवान्की विधिवत् सेवा-पूजा होनेका आदेश जारी किया और दूसरे भागको वहाँ आनेवाले ब्राह्मणोंके भोजनमें लगानेकी आज्ञा दी। उनकी यह उदारतापूर्ण घोषणा मन्दिरके द्वारपर लगे हुए शिलालेखमें अङ्कित है। वह शिलालेख उनकी दानशीलता और भगवत्प्रेमका परिचय देता हुआ दीर्घकालतक उनके नाम और यशको अमर बनाये रक्खेगा। रानी रत्नमणि अपने दिव्य गुणोंके कारण अनन्त कालतक जनताके लिये चिरस्मरणीय बनी रहेंगी।

(४) अन्नपूर्णा देवी या तिरुपल देवी

सोलहवीं शताब्दीके पूर्वभागमें उत्कल राज्यके स्वामी सूर्यवंशी राजा प्रतापरुद्रदेव थे। गङ्गासे दक्षिण कलिङ्ग और कर्णाटकतकके कुछ भाग तथा कलबर्गातक उनका साम्राज्य फैला हुआ था। उस समय उनके राज्यके दक्षिण भागका शासन रामानन्द राय करते थे। उन दिनों प्रतापरुद्रदेवकी दाक्षिणात्य रानी विजयवाटिका नामक दुर्गमें रहा करती थीं। उनके गर्भसे दो कन्याएँ हुईं—एकका नाम पुष्पा और दूसरीका अन्नपूर्णा था। पुष्पा माधववर्माको ब्याही गयी थी। अन्नपूर्णा बड़ी ही सुन्दरी, गुणवती और विदुषी थी। वह कवि भी थी। उसने आजीवन कौमारव्रतका पालन किया।

उन दिनों कर्णाटक प्रदेशके पश्चिम भागमें तुङ्गभद्राके तटपर विजयनगरका राज्य था। वहाँके शासक श्रीकृष्ण-देव राय थे। वे भी बड़े विद्वान्, कवि और गुणग्राही थे। उन्होंने अन्नपूर्णाके अग्रज वीरभद्रके पास अपने मन्त्रीको भेजकर अन्नपूर्णाके साथ अपने विवाहका प्रस्ताव रक्खा। वीरभद्रने उनका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया; क्योंकि वे प्रतापरुद्रदेवके समान उच्च कुलके नहीं थे। थोड़े दिनों बाद श्रीरामानन्द रायजी राज्य-कार्य छोड़कर विरक्त हो महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजीके साथ चले गये। यह अवसर पाकर श्रीकृष्णदेव रायने उधरके भूभागपर आक्रमण कर दिया। प्रतापरुद्रदेवको विवश होकर सन्धि करनी पड़ी। उन्होंने इच्छा न रहते हुए भी अपनी पुत्री श्रीकृष्णदेव रायको दे

दी और नागावलीसे गोदावरीतकका भूखण्ड दहेजके रूपमें अर्पण कर दिया। यद्यपि अन्नपूर्णा देवी श्रीकृष्णदेव रायके अधीन हो गयीं, तो भी उनको यह विवाह अनुचित जान पड़ा। वे अपने पिताके विरोधीसे विवाह करनेको उद्यत नहीं हुई। श्रीकृष्णदेव रायने भी उनकी इच्छाके विपरीत उनपर दबाव डालना उचित नहीं समझा। अतः अन्नपूर्णा देवी अपने पिताके दिये हुए भूभागमें आजीवन कुमारी रहीं। उन्होंने कॉंबू (वर्तमान कडपा जिले) में परोपकारके लिये एक विशाल सरोवर खुदवाया था। उसके समीप ही उनकी प्रस्तरमूर्ति स्थापित है। वहाँ एक 'शिलाखण्ड' है, जिसपर वह खुदायी हुई है।

भगवान्‌में उनकी बड़ी भक्ति थी। उन्होंने तिरुपतिके श्रीनिवास-मन्दिरपर सोनेका मुलम्मा कराया था। वहाँ श्रीकृष्णदेव रायके साथ उन्होंने अपनी प्रस्तरमूर्ति भी स्थापित करायी है, जिसमें सपत्नीकी मूर्ति श्रीकृष्णदेव रायकी मूर्तिके दाहिने भागमें है और उनकी मूर्ति श्रीकृष्णदेव रायके वाम भागमें है। इस प्रकार उन्होंने श्रीकृष्णदेव रायको पतिका सम्मान अवश्य दिया पर उनकी अङ्कशायिनी नहीं बन सकी। मालूम होता है, उन्होंने संस्कृतमें बहुत-सी कविताएँ रची थीं। एक बार उन्होंने पाँच अन्योक्तियाँ लिखकर श्रीकृष्णदेव रायको अर्पित की थी, जो 'पञ्चरत्न' के नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें बड़ी मार्मिक भाषामें यह व्यक्त किया है कि 'मेरे और आपके मिलन न होनेमें ईश्वरकी इच्छा ही प्रबल है।' श्रीकृष्णदेव रायने उन पद्योंका बड़ा आदर किया। कारण, वे स्वयं भी सत्कवि थे। पञ्चरत्नके सभी श्लोक बड़े सुन्दर हैं, एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चरन् वनान्ते नवमञ्जरीषु न षट्पदो गन्धकलीमजिघ्रत्।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा॥

डाक्टर आनन्दीबाई जोशी

श्रीआनन्दीबाईने पूनामें गणपतरावजीके यहाँ सन् १८६५ में जन्म लिया। पिता पक्के धार्मिक थे। माताकी अपने रीति-रस्मोंमें पूरी आस्था थी। अतः बालिकाको धर्म-प्रेम माताके दूधके साथ ही प्राप्त हुआ। बचपनमें ही चेचक निकलनेसे आनन्दीबाईका सुन्दर रूप बहुत कुछ नष्ट हो गया। पिताने पाँच वर्षकी अवस्थामें उन्हें पाठशाला भेजा। पढ़नेमें अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थी। स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक बार सुनकर वे पाठ कभी भूलती नहीं थीं। फिर भी बचपनमें उनकी रुचि खेल-कूद तथा व्यायाम-की ओर अधिक थी। उनका शरीर सुगठित एवं शक्तिशाली था।

छोटी अवस्थामें ही गोपाल विनायक जोशी नामक पोस्ट-आफिसके एक कारकुनसे उनका विवाह हो गया। जोशीजी सुधरे विचारोंके थे। वे विधुर थे और विधवा-विवाह करनेके पक्षमें थे। यह विवाह उन्होंने मित्रोंके दबावसे किया। वे बड़े-बड़े व्याख्यान देनेवालोंसे चिढ़ते और कृत्य-द्वारा समाजके सम्मुख आदर्श उपस्थित करनेके पक्षमें थे। उन्होंने पत्नीको सुशिक्षित बनानेके लिये अपनी बदली अलीबाग करा ली। अपनी दादीके साथ आनन्दीबाई पतिगृह गयीं। अबतक उन्हें भड़कीले वस्त्रों तथा आभूषणोंसे प्रेम था; किंतु पतिकी रुचिके कारण उन्हें यह सब छोड़ना पड़ा। आनन्दी-बाई पढ़ने लगीं। उन्हें पर्याप्त मासिक तथा साप्ताहिक पत्र मिलते। पतिकी सभी निजी चिट्ठी-पत्री उन्हें ही लिखनी पड़ती। फलतः उनकी भाषा अच्छी हो गयी। यहाँ लोगोंने गोपालरावकी कटु आलोचना प्रारम्भ कर दी। क्योंकि वे पत्नीको अंग्रेजी पढ़ानेके साथ-साथ लेकर टहलने जाते थे। यहाँसे उन्होंने अपनी बदली कोल्हापुर करवा ली।

गोपालरावने कोल्हापुरमें पादरियोंसे पत्र-व्यवहार किया। वे चाहते थे कि पत्नी अमेरिका जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करे। पादरियोंने इस विषयमें तो सहायता की नहीं, उलटे उन्हें ईसाई बनानेका प्रयत्न करने लगे। उन्होंने बालिका आनन्दीबाईको ईसाई धर्मका माहात्म्य खूब सुनाया। आनन्दीबाई अपने धर्ममें दृढ़ थीं। पादरी असफल हुए। गोपालराव तथा पादरियोंका पत्र-व्यवहार 'क्रिश्चियन रिव्यू' में निकला। इस पत्र-व्यवहारपर अमेरिकाकी एक दयालु महिला मेरी कार्पेंटरकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने आनन्दीबाईको पत्र लिखा और यह पत्र-व्यवहार धीरे-धीरे निकटके स्नेहमें परिणत हो गया।

कोल्हापुरसे गोपालराव पत्नीकी शिक्षाकी दृष्टिसे बम्बई आये। आनन्दीबाई एक क्रिश्चियन स्कूलमें प्रविष्ट हुईं। यहाँ वे सदा कक्षामें सर्वप्रथम रहीं। बम्बईसे गोपालरावकी बदली कच्छभुजमें हो गयी। शिक्षाका और कोई प्रबन्ध न हो सकनेके



देवी मरियम



रानी एलिजावेथ



फ़्लॉरेंस नाइटिंगेल



एलिजावेथ फ्राई कैदियोंको देख रही है

दी और नागावलीसे गोदावरीतकका भूखण्ड दहेजके रूपमें अर्पण कर दिया। यद्यपि अन्नपूर्णा देवी श्रीकृष्णदेव रायके अधीन हो गयीं, तो भी उनको यह विवाह अनुचित जान पड़ा। वे अपने पिताके विरोधीसे विवाह करनेको उद्यत नहीं हुई। श्रीकृष्णदेव रायने भी उनकी इच्छाके विपरीत उनपर दबाव डालना उचित नहीं समझा। अतः अन्नपूर्णा देवी अपने पिताके दिये हुए भूभागमें आजीवन कुमारी रहीं। उन्होंने काँबू (वर्तमान कडपा जिले) में परोपकारके लिये एक विशाल सरोवर खुदवाया था। उसके समीप ही उनकी प्रस्तरमूर्ति स्थापित है। वहाँ एक 'शिलाखण्ड' है, जिसपर वह खुदायी हुई है।

भगवान्में उनकी बड़ी भक्ति थी। उन्होंने तिरुपतिके श्रीनिवास-मन्दिरपर सोनेका मुलम्मा कराया था। वहाँ श्रीकृष्णदेव रायके साथ उन्होंने अपनी प्रस्तरमूर्ति भी स्थापित करायी है, जिसमें सपत्नीकी मूर्ति श्रीकृष्णदेव रायकी मूर्तिके दाहिने भागमें है और उनकी मूर्ति श्रीकृष्णदेव रायके वाम भागमें है। इस प्रकार उन्होंने श्रीकृष्णदेव रायको पतिका सम्मान अवश्य दिया पर उनकी अङ्कशायिनी नहीं बन सकीं। मालूम होता है, उन्होंने संस्कृतमें बहुत-सी कविताएँ रची थीं। एक बार उन्होंने पाँच अन्योक्तियाँ लिखकर श्रीकृष्णदेव रायको अर्पित की थीं, जो 'पञ्चरत्न' के नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें बड़ी मार्मिक भाषामें यह व्यक्त किया है कि 'मेरे और आपके मिलन न होनेमें ईश्वरकी इच्छा ही प्रबल है।' श्रीकृष्णदेव रायने उन पद्योंका बड़ा आदर किया। कारण, वे स्वयं भी सत्कवि थे। पञ्चरत्नके सभी श्लोक बड़े सुन्दर हैं, एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चरन् वनान्ते नवमञ्जरीषु न षट्पदो गन्धकलीमजिघ्रत्।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा॥

डाक्टर आनन्दीबाई जोशी

श्रीआनन्दीबाईने पूनामें गणपतरावजीके यहाँ सन् १८६५ में जन्म लिया। पिता पक्के धार्मिक थे। माताकी अपने रीति-रस्मोंमें पूरी आस्था थी। अतः बालिकाको धर्म-प्रेम माताके दूधके साथ ही प्राप्त हुआ। बचपनमें ही चेचक निकलनेसे आनन्दीबाईका सुन्दर रूप बहुत कुछ नष्ट हो गया। पिताने पाँच वर्षकी अवस्थामें उन्हें पाठशाला भेजा। पढ़नेमें अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थीं। स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक बार सुनकर वे पाठ कभी भूलती नहीं थीं। फिर भी बचपनमें उनकी रुचि खेल-कूद तथा व्यायामकी ओर अधिक थी। उनका शरीर सुगठित एवं शक्तिशाली था।

छोटी अवस्थामें ही गोपाल विनायक जोशी नामक पोस्ट-आफिसके एक कारकुनसे उनका विवाह हो गया। जोशीजी सुधरे विचारोंके थे। वे विधुर थे और विधवा-विवाह करनेके पक्षमें थे। यह विवाह उन्होंने मित्रोंके दबावसे किया। वे बड़े-बड़े व्याख्यान देनेवालोंसे चिढ़ते और कृत्य-द्वारा समाजके सम्मुख आदर्श उपस्थित करनेके पक्षमें थे। उन्होंने पत्नीको सुशिक्षित बनानेके लिये अपनी बदली अलीबाग करा ली। अपनी दादीके साथ आनन्दीबाई पतिगृह गयीं। अबतक उन्हें भड़कीले वस्त्रों तथा आभूषणोंसे प्रेम था; किंतु पतिकी रुचिके कारण उन्हें यह सब छोड़ना पड़ा। आनन्दीबाई पढ़ने लगीं। उन्हें पर्याप्त मासिक तथा साप्ताहिक पत्र मिलते। पतिकी सभी निजी चिट्ठी-पत्री उन्हें ही लिखनी पड़ती। फलतः उनकी भाषा अच्छी हो गयी। यहाँ लोगोंने गोपालरावकी कटु आलोचना प्रारम्भ कर दी। क्योंकि वे पत्नीको अंग्रेजी पढ़ानेके साथ-साथ लेकर टहलने जाते थे। यहाँसे उन्होंने अपनी बदली कोल्हापुर करवा ली।

गोपालरावने कोल्हापुरमें पादरियोंसे पत्र-व्यवहार किया। वे चाहते थे कि पत्नी अमेरिका जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करे। पादरियोंने इस विषयमें तो सहायता की नहीं, उलटे उन्हें ईसाई बनानेका प्रयत्न करने लगे। उन्होंने बालिका आनन्दीबाईको ईसाई धर्मका माहात्म्य खूब सुनाया। आनन्दीबाई अपने धर्ममें दृढ़ थीं। पादरी असफल हुए। गोपालराव तथा पादरियोंका पत्र-व्यवहार 'क्रिश्चियन रिव्यू' में निकला। इस पत्र-व्यवहारपर अमेरिकाकी एक दयालु महिला मेरी कार्पेंटरकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने आनन्दीबाईको पत्र लिखा और यह पत्र-व्यवहार धीरे-धीरे निकटके स्नेहमें परिणत हो गया।

कोल्हापुरसे गोपालराव पत्नीकी शिक्षाकी दृष्टिसे बम्बई आये। आनन्दीबाई एक क्रिश्चियन स्कूलमें प्रविष्ट हुईं। यहाँ वे सदा कक्षामें सर्वप्रथम रहीं। बम्बईसे गोपालरावकी बदली कच्छभुजमें हो गयी। शिक्षाका और कोई प्रबन्ध न हो सकनेके

इसमें भूमिपर बैठकर बिना काँटे-चम्मचके हाथसे भोजन किया। यहाँसे श्रीमती कार्पेंटरके साथ वे २७ सितम्बर सन् १८८३ को फिलाडेलफियाको प्रस्थित हुईं। यहाँका चिकित्सा-कालेज अमेरिकामें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। कालेजके अधिकारियोंने आनन्दीबाईका अभिनन्दन किया। वे कालेजमें सम्मिलित की गयीं। उनके रहनेके लिये घरकी व्यवस्था करके श्रीमती कार्पेंटर लौट गयीं। इस घरमें आनन्दीबाईको अनेक कष्ट थे। वे पढ़नेमें दस-ग्यारह घंटे श्रम करतीं और फिर रोटी बनातीं। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। उन्हें गलेका डिफ्थिरिया रोग हो गया। वे इतनी रुग्ण हो गयीं कि बचनेकी आशा नहीं रही। किसी प्रकार साथकी छात्राओंकी सेवासे वे स्वस्थ हुईं। यहाँ भी मिस बोडले उन्हें ईसाई बनानेके लिये पीछे पड़ी थीं। वे अनेक प्रकारसे कष्ट दिया करती थीं।

गोपालराव अनेक बार रुष्ट हुए। उन्हें अनेक बार पत्नीके ईसाई होनेका सन्देह हुआ। उनके कठोर पत्रोंका जब नम्र एवं करुण शब्दोंमें उत्तर जाता तो वे पुनः प्रसन्न हो जाते। इस कालेजमें आनन्दीबाईने वनस्पति-शास्त्रका पूरा अभ्यास किया। उन्होंने फ्रेंच तथा जर्मन भाषा सीखनेका भी प्रयत्न किया। यहाँ वे समय मिलनेपर सभाओंमें बोलतीं तथा पारस्परिक वादोंमें भी भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें फैले अमेरिकनोंके भ्रमको दूर करनेका प्रयत्न करतीं। गोपालरावने एक बार ईसाई होकर अमेरिकामें बस जानेकी इच्छा भी प्रकट की; किंतु आनन्दीबाईने पतिको लंबा पत्र भेजकर इस विचारसे विरत कर दिया। आनन्दीबाईने पतिको लिखा था कि मनीआर्डर-खर्चसहित उन्हें केवल पचास रुपया मासिक भेजा जाय। अमेरिकामें इतने अल्प व्ययमें उनका काम चला लेना आश्चर्यजनक है। वहाँ वे पूरा समय पढ़ाईमें देती थीं। कोई दूसरा काम करती नहीं थीं।

एक अमेरिकन पादरीने लिखा था—'श्रीमती जोशी जिस रूपमें यहाँ आयी थीं, आज भी उनका रहन-सहन वैसा ही है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि वे इसी प्रकार लौट गयीं तो हमारे धर्म, भाषा एवं आचारके लिये यह लज्जाकी बात होगी।' आप अनुमान कर सकते हैं कि विदेशमें एकाकिनी नारीको कितने विरोध, व्यङ्ग्य, उपहास और उत्पीड़नका सामना करना पड़ा होगा। आनन्दीबाईपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अनेक पत्रकार उनसे प्रश्न करते, उन्हें तंग करते। उनके सम्बन्धमें विचित्र समाचार छपते। अद्भुत बातें कही जातीं। फिर भी उनके समीप आनेवाले उनकी प्रशंसा ही करते थे।

सन् १८८४ में नौकरी छोड़कर गोपालराव अमेरिका पहुँचे। यहाँ आकर वे सीधे पत्नीके पास नहीं गये। अमेरिकाके नगरोंमें घूम-घूमकर व्याख्यान देनेमें लग गये। एक दिन जब आनन्दीबाई घूमकर लौटी तो उन्होंने पतिको अपने मकानमें बैठा पाया। बिना सूचना दिये वे पहुँच गये थे। सच्ची बात तो यह थी कि दीर्घ प्रवाससे गोपालराव बीमार हो गये थे। आनन्दीबाईकी सेवासे वे स्वस्थ हुए। यहाँ आकर उन्होंने सभाओंमें व्याख्यान देना प्रारम्भ रक्खा। उनमें पर्याप्त बोलनेकी शक्ति थी। जनताको प्रभावित कर लेना वे जानते थे। फलतः भारतके पक्षमें प्रचार तो होता ही था, आर्थिक कष्ट भी दूर हो गया।

आनन्दीबाईको फिर सन् १८८६ में गलेका वही रोग हो गया। इस बार वे शीघ्र रोगमुक्त तो हो गयीं, पर स्वास्थ्य लौटा नहीं। इसी मासके मार्चमें उन्होंने कालेजकी सर्वश्रेष्ठ उपाधि एम्० डी० प्राप्त की। इस कालेजकी यह उपाधि विश्वमें चिकित्सा-शास्त्रकी श्रेष्ठतम उपाधि थी। कालेजने इस उपाधि-समारोहके लिये अपने व्ययपर लन्दनसे पण्डिता रमाबाईको आमन्त्रित किया था। आनन्दीबाईका शरीर दुर्बल हो गया था। परीक्षाका परिश्रम पड़ा। फिर रमाबाईकी कन्या मनोरमा अत्यन्त बीमार हो गयी। उसकी शुश्रूषामें अत्यधिक श्रम करनेसे वे स्वयं बीमार हो गयीं। स्वस्थ होनेसे पूर्व ही उन्हें चिकित्साका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने न्यूफाउण्डलैंड जाना पड़ा। यहाँ रोगियोंकी देख-भाल, जाँचमें रात-दिन काम करना पड़ा। पहलेसे सिरमें पीड़ा रहने लगी थी, अब ज्वर और खाँसी भी आने लगी। अनेक स्वास्थ्यप्रद स्थानोंमें घूमना भी लाभप्रद न हुआ।

कोल्हापुरनरेशने अपने अस्पतालमें डाक्टरका पद स्वीकार करनेकी इनसे प्रार्थना की। यद्यपि कुमारी बोडले, जिन्होंने आनन्दीबाईको ईसाई बनानेके लिये बहुत सताया था, खूब प्रयत्न किया कि यह पद उन्हें न मिले, परंतु कोल्हापुरनरेश प्रभावित न हुए। उन्होंने पतिके साथ आनन्दीबाईको लौटनेके लिये व्यय भेज दिया। गोपालराव यूरोपका भ्रमण करके स्वदेशके पक्षमें प्रचार करना चाहते थे। रुग्णा आनन्दीबाईने अकेले स्वदेश लौटनेका निश्चय किया। पत्नीके निश्चयसे गोपालरावको अपना निश्चय छोड़ना पड़ा। अमेरिकासे चलते-चलते आनन्दीबाई एक गरीब स्त्रीके यहाँ उसे प्रसूतिके समय सङ्कटमें पड़ा सुनकर सबके निषेध

करनेपर भी गयीं। उनके श्रमसे उसके प्राण तो बच गये; परंतु वे स्वयं अत्यधिक बीमार हो गयीं।

मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ हुईं। किसी प्रकार १६ दिसम्बर सन् १८८६ को वे भारत पहुँचीं। देशवासियोंने तथा गोपालरावके मित्रोंने बन्दरगाहपर उनका स्वागत किया। गोपालराव पत्नीको लेकर पूना आये। डाक्टरीसे निराश होकर देशी दवा प्रारम्भ हुई। अन्तमें २८ फरवरी सन् १८८७ को इस महान् महिलाने शरीर छोड दिया।

श्रीमती कार्पेंटरकी एक चित्र-पुस्तक 'आपको क्या पसंद है?' के प्रश्नोंका उत्तर डाक्टर आनन्दीबाई लिखकर मृत्युसे पूर्व छोड गयी थीं। ये उत्तर उनकी महत्ता तथा धर्म-भावनाको भली प्रकार प्रकट करते हैं। कुछ प्रश्नोत्तर निम्न हैं—

१–सौन्दर्य कौन-सा पसंद है?—सदाचार और शीलपूर्ण।
२–नाम कौन रुचिकर हैं?—रमा, उमा, कृष्ण, विष्णु।
३–काव्य कौन पसंद हैं?—मनु।
४–स्त्री-कवि कौन पसंद हैं?—मुक्ताबाई, जनाबाई (मराठीकी भक्त कवयित्रियाँ)।
५–अवकाशमें मनोरञ्जन-योग्य पुस्तक कौन-सी है?—भगवद्गीता।
६–प्रिय गुण कौन-सा है?—सत्य और शुद्धाचार।
७–तिरस्कार-पात्र कौन है?—नास्तिक एवं मिथ्याचारी।
८–सच्चा सुख किसमें है?—भगवन्निष्ठामें।
९–तुममें मुख्य गुण क्या हैं?—अभी तो एक भी नहीं।
१०–श्रेष्ठ मनोवृत्ति कौन है?—प्रेम।
११–कौन-से शब्द तुम्हें प्रिय हैं?—प्रेम, दया, आशा, सत्य।
१२–कौन शब्द तुम्हें अप्रिय हैं?—नाश, परित्यक्त।
१३–तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?—परोपकार करनेकी योग्यता प्राप्त करना।
१४–तुम्हारे मनपर कौन वाक्य जमा है?—श्रीहरि देंगे।

—सु० सिं०

रमाबाई रानडे

एक सुशिक्षित पुरुष अपनी निरक्षर पत्नीको कितना उन्नत कर सकता है, यदि स्त्री उसके साथ सहयोग करे—यह रमाबाईके चरित्रसे स्पष्ट हो जाता है। रमाबाईका जन्म सातारा जिलेके कुर्लेकर कुटुम्बमें श्रीमाधवरावजीके यहाँ हुआ था। मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी सन् १८७३ ई० को उनका ग्यारह वर्षकी अवस्थामें न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडेके साथ विवाह हुआ।

रमाबाईने अपनी पूजनीया माता उमाबाईके सम्बन्धमें लिखा है कि वे दिनभर ओषधियोंकी गोलियाँ बनाया करती थीं। उन्हें वैद्यकका अच्छा ज्ञान था। रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा तथा उनको ओषधि देनेमें वे व्यस्त रहती थीं। असमर्थ रोगियोंको घरपर रखकर उनकी चिकित्सा करतीं तथा रहने और पथ्यका प्रबन्ध भी। रोगियोंके मल-मूत्रादिको धोनेमें उन्हें कभी हिचक नहीं होती थी। ओषधि तथा घरपर रहे रोगियोके पथ्यका व्यय वे स्वयं अपने पाससे देती थीं। माधवरावजीने पत्नीको इस परोपकारमें यथेच्छ व्यय करनेकी आज्ञा दे रक्खी थी।

रमाबाईने माताके सम्बन्धमें और लिखा है कि सायंकाल बच्चोंको साथ बैठाकर वे पुराणोकी कथाएँ सुनाया करतीं। बुआ उनका उपहास करती थीं कि बच्चे इन गम्भीर चरित्रोंको क्या समझेंगे। वहीं सरलतासे वे उत्तर दे देतीं कि मुझे तो कुत्ते-चिड़ियोंकी कहानियाँ आतीं ही नहीं। पवित्र चरित्रोंको सुनानेसे अपना हृदय तो पवित्र होता ही है, साथ ही बच्चोंके हृदयमें उत्कृष्ट बीज बोया जाता है। जैसी भूमि होगी, वैसा पौधा हो जायगा। कम-से-कम खराब पौधोंसे तो खेत बचा रहेगा।

रमाबाईके पतिगृह जाते समय उनके पिताने जो उपदेश दिया था, वह भी अनुकरणीय है। उन्होंने कहा था—'पुत्री! तू जिस परिवारमें जा रही है, वह बड़ा परिवार है। घरमें विभिन्न प्रकृतिके लोग होंगे। तू अपनी कुलीनताका परिचय देना। तुझे चाहे जितना कष्ट हो, सहन करना। किसीको उत्तर मत देना। किसीसे लड़ना मत। नौकरोंको भी डाँटना मत। तेरे मनको असह्य कष्ट हो, तो भी पतिसे किसीकी निन्दा मत करना। इस प्रकारकी चुगली सर्वनाशकी जड़ है। मेरी इन बातोंपर ध्यान रक्खेगी तो मुझे प्रसन्नता होगी। इससे विपरीत तेरा बर्ताव मैंने सुना तो मैं फिर कभी तुझसे मिलना भी नहीं चाहूँगा।'

ऐसे सुयोग्य माता-पिताकी पुत्री धार्मिक, परोपकारी एवं सहनशील होनी ही चाहिये। स्वयं रमादेवी इतनी सुशील थीं कि बहुत छोटी अवस्थामें एक बार माताके डाँटनेपर प्रत्युत्तर

दे दिया उन्होंने; इसका इतना परिताप हुआ कि वह भोली बालिका चुपकेसे एक चाकू लेकर भगवान् शङ्करके मन्दिरमें पहुँची। 'प्रभो! माताको प्रत्युत्तर देनेकी अपेक्षा तो मेरा गूँगी हो जाना ही श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर उसने अपनी जिह्वा काट-कर शिवलिङ्गपर चढ़ा दी। बालिका मूर्च्छित हो गयी। मन्दिरके पुजारीजीने देखा। दौड़कर जीभका टुकड़ा उठाकर उन्होंने उसके स्थानपर चिपकाया। ठीक चिकित्सासे वह टुकड़ा जुड़ गया।

पतिगृह पहुँचनेपर जस्टिस रानडेने देखा कि पत्नी अशिक्षिता है। उसी दिनसे उन्होंने उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया। रमाबाईकी सास तथा ननदें इस शिक्षाकी विरोधी थीं। वे बार-बार रमाबाईको समझातीं कि पढ़ना बंद कर दो। इस विरोधसे बचनेके लिये रमाबाई पतिदेवसे रात्रिके पिछले पहर-में पढ़ा करती थी। रानडेजीने एक स्त्री शिक्षिका रख दी और रमाबाईका अध्ययन तीव्रगतिसे चल पड़ा। मराठीका अभ्यास पूरा होनेपर अंग्रेजी प्रारम्भ हुई। रमाबाई एक दिन बर्तन मल रही थी। पासमें पड़े अंग्रेजी समाचार-पत्रके टुकड़े-को वे कुतूहलवश पढ़ने लगीं। घरवालोंको उनके अंग्रेजी पढ़नेका पता लग गया। स्त्रियोंमें हलचल मच गयी। अनेक प्रकारके व्यङ्ग और ताने सुनने पड़े। रमाबाईने सब सह लिया। पतिसे उन्होंने कभी किसीकी शिकायत न की।

जस्टिस रानडेकी बदली पूनासे नासिक हो गयी। यहाँ आनेपर घरका पूरा भार रमाबाईपर पड़ा। वे प्रातः चार बजे उठ जातीं। अब भी स्वयं चौका-बर्तन करती थीं। भोजन बनातीं और पतिदेवको भोजन कराके उनके कोर्ट जानेके वस्त्र ठीक करके उन्हें देतीं। पुस्तकें तथा लिखने-पढ़नेकी सामग्री भी पतिकी वही ठीक करतीं। भोजनादिसे निवृत्त होकर पढ़ने बैठ जातीं और जस्टिस साहबके लौटनेसे पूर्व पाठ सम्पूर्ण कर लेतीं। जज साहबका आठ सौ रुपया मासिक वेतन उनके ही हाथमें आता था। घरके व्ययका पूरा प्रबन्ध तथा हिसाब रखना उन्हींके जिम्मे था। पतिसे पूछे बिना अतिरिक्त व्ययमें कभी एक पैसा भी उन्होंने व्यय नहीं किया। इस प्रकार घरकी पूरी व्यवस्थाका संचालन करते हुए उनका अध्ययन चलता रहा।

इस समय रावबहादुर गोपालराव देशमुख सयुक्त जज थे। रमाबाईको इनके कुटुम्बका अनुकूल संग प्राप्त हुआ। दक्षिणमें चैत्र तथा श्रावणमें स्त्रियाँ परिचित स्त्रियोंके यहाँ जाकर उनको सौभाग्यसूचक हल्दी तथा कुङ्कुम देती हैं। बदलेमें उनका अञ्चल भीगे गेहूँ और चनेसे भरने-की प्रथा है। पतिकी सम्मतिसे रमादेवीने इस हल्दी-कुङ्कुमके बहाने स्त्रियोंको आमन्त्रित करना प्रारम्भ किया। वे उन्हें सीता, सावित्री, अनसूया, दमयन्ती प्रभृतिके पवित्र चरित्र सुनाकर धर्मशिक्षा देती थीं।

इसी समय सेशन जज मिस्टर कागड अपनी स्त्री, सास तथा सालीके साथ नासिक आये। कन्या-पाठशालाओंका निरीक्षण करके उन्हें पुरस्कार देनेका समारोह हुआ। नासिकमें एक सभामें स्त्री-पुरुषोंके एकत्र होनेका यह प्रथम अवसर था। पुरस्कार वितरित होनेके पश्चात् अध्यक्षके प्रति आभार-प्रदर्शनका भार रमाबाईपर था। उन्होंने एक लिखित भाषण पढ़ दिया। इसी समय गोडबोले नामक एक डिप्टी-इन्स्पेक्टरने पुष्पहारोंका थाल रमाबाईके सम्मुख कर दिया। रमाबाईने थाल उठाया। एक-एक हार तीनों यूरोपियन महिलाओंको पहनाकर वे बैठ गयीं। थालीमें एक हार अछूता पड़ा रहा। डिप्टी साहबने उसे मिस्टर कागड़को पहनानेको कहा तो रमाबाईने डाँट दिया—'आपको लज्जा नहीं आती!' तुरत ही देशमुखजीने उठकर वह माला मिस्टर कागड़को पहना दी।

पतिके पूछनेपर रमाबाईने कहा था 'मैं ईसाई होती तो मुझे संकोच न होता। मुझे तो क्रोध आ रहा था कि पढ़ा-लिखा ब्राह्मण गोडबोले मुझसे ऐसा अनुरोध कर कैसे सका।'

अनेक स्थानोंमें घूम-फिरकर जस्टिस रानडेकी बदली पूनामें हो गयी। यहाँ पण्डिता रमाबाईसे इनका परिचय हुआ।

सन् १८८६ में रानडे साहब सरकारी कामसे कलकत्ता गये थे। वहाँ कुछ महीने रुकनेकी अवधिमें दम्पतिने बँगला सीख लिया। वे भली प्रकार समाचार-पत्र पढ़ लेते थे। देश-को शोकसमुद्रमें निमग्न करके जस्टिस रानडे सन् १९०१ में परलोकवासी हुए। उस समय रमाबाईकी अवस्था अड़तीस वर्षकी थी। पतिकी मृत्युके पश्चात् उन्होंने अपना पूरा जीवन परोपकारमें लगाया। सन् १९०६ से वे नगरकी हलचलोंमें भाग लेने लगीं और सन् १९०८ में श्रीयुत गोपालकृष्ण देवधरकी सहायतासे पूनामें उन्होंने 'सेवा-सदन' की स्थापना की। अपना सर्वस्व उन्होंने इसी संस्थामें लगा दिया।

सन् १९२४ के पिछले भागमें उन्होंने शरीर छोड़ा। अपनेको वे 'पतिदेवके श्रीचरणोंका निर्माल्य' कहा करती थीं। अपने आदर्श पतिदेवके चरण-चिह्नोंका अनुगमन करते हुए सम्पूर्ण जीवन उनका ज्ञानकी प्राप्ति तथा परोपकारमें ही व्यतीत हुआ। —सु० सिं०

रानी शरत्सुन्दरी

राजशाही जिलेके पुटिया ग्राममें भैरवनाथ सान्याल नामक एक धनीके घर वि० संवत् १९०६ में देवी शरत्सुन्दरीका जन्म हुआ था। शरत्सुन्दरीके माता-पिता बड़े धार्मिक थे। उनके जीवनका प्रभाव शरत्सुन्दरीपर पूरा पड़ा था। शरत्सुन्दरीमें दया, संयम और भगवद्भक्ति शैशवसे ही कूट-कूटकर भरी थी।

दैवदुर्विपाकसे चौदह वर्षकी अवस्थामें ही शरत्सुन्दरीके पतिदेव इस लोकसे चल बसे। शरत्सुन्दरी विधवा हो गयी। परंतु इतनी छोटी अवस्था होनेपर भी शरत्सुन्दरीने सती रमणियोंके आदर्शका स्मरण कर कठोर व्रतोंका आचरण आरम्भ कर दिया। उसने अपना मस्तक मुँड़ा डाला और तेल लगाना बंद कर दिया। वह बिना किनारीकी बारह हाथकी सफेद धोती पहनने लगी। अत्यन्त सादा एक समय भोजन करने लगी। वह विधवा होते ही पृथ्वीपर एक मोटा कम्बल बिछाकर सोने लग गयी थी। चारपाईका उसने कभी स्पर्श भी नहीं किया। उसकी अवस्था और इस तपःपूर्ण आचरणको देखकर उसके पिताने उसे केशादि रखनेके लिये कई बार कहा भी; पर उसने किसीकी एक भी न सुनी।

जमींदारीका सारा काम शरत्सुन्दरी ही देखती थी। यह प्रतिदिन अपने ही हाथों पुष्प चयन करके माला बनाती और भगवान्‌की पूजा करती। परदेके अंदर बैठकर दासियोंके द्वारा कर्मचारियोंको आज्ञा सुनाती। इसके बाद प्रार्थियोंकी शिकायतें सुनती तथा उनके दुःख-निवारणके लिये स्वय उचित व्यवस्था करती। फिर विष्णुसहस्रनाम और गीताका पाठ, व्रत-उपवासादिके साधन, गोसेवा, गोग्रास, दरिद्रोंके लिये दानादि कार्यमें अपना समय लगाती। यों करते-करते जब तीन बज जाते, तब विधवाओंके साथ भगवान्‌के भोग लगाये हुए अन्नका भोजन करती। रानीकी कर्तव्यपरायणता, प्रजा-पालनमें दक्षता, दया, व्यवहारमे उदारता, भोगोंमे वैराग्य, गरीबोंकी सेवामे प्रवृत्ति और सबके साथ अनुपम प्रेमका व्यवहार देखकर सब लोग उसपर श्रद्धा करने लगे।

उसके त्याग और बर्तावकी प्रशंसा सुनकर एक बार अंग्रेज कलक्टरकी पत्नीने उससे मिलनेका प्रस्ताव किया। किसी प्रकार भी स्पर्श न करनेकी शर्तपर रानी मिलनेके लिये तैयार हो गयी। मेमसाहिबा इतनी अल्पवयस्का सौन्दर्य-सम्पन्न नारीको मुण्डितमस्तक देखकर चकित हो गयीं। 'आप दूसरा विवाह क्यों नहीं कर लेतीं'—मेमसाहिबाने सहानुभूतिके शब्दोंमें कहा।

रानीने कोई उत्तर नहीं दिया, पर उसका सिर अवनत हो गया। उसकी आँखोंसे अविरल अश्रु-सरिता प्रवाहित होने लगी। वह सिसकने लगी। इसके प्रायश्चित्तस्वरूप रानीने तीन दिनोंतक उपवास किया और लगातार भगवन्नामका जप करती रहीं। मेमसाहिबाको जब यह पता चला कि सती नारी पुनर्विवाहकी बात सुनना भी पाप समझती है, तो उन्होंने आकर बड़ी क्षमा-याचना की।

जवानीका प्रभाव कम करने और धार्मिक भाव जाग्रत् रखनेके लिये वे कठोर व्रत और उपवास किया करतीं। एक बार रानीको बड़े जोरोंसे ज्वर आया था, तृषासे मुँह सूखा जा रहा था। पर उस दिन एकादशी थी; इसलिये वह प्यासके मारे मूर्च्छित तो हो गयी, परंतु पिताके कहनेपर भी उसने जलका स्पर्श नहीं किया। पिताने कहा—'सारा पाप मेरे सिरपर; तू जल पी ले।' परन्तु धर्मपरायण रानीने यह बात न मानी।

एक बार अकालके समय तीन महीनेतक लगातार क्षुधार्तोंकी रानीने सेवा की। रानी दीनोंकी अपनी शक्तिभर सेवा करनेसे कभी नहीं चूकती थी। कठोर व्रत एवं नियम पालन करनेसे उसका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया।

रानीने प्रायः सभी तीर्थ किये थे। वह जिस तीर्थमें जाती, किसी चीजका या फलका त्याग कर आती; इसमे उसे बड़ा सुख अनुभव होता। धर्म उसे प्राणोंसे भी प्यारा था।

सैंतीस वर्षकी आयुमें सं० १९४३ मे सहस्रों दरिद्र एवं अनाथोंको रोते हुए छोड़कर रानी परमधामको चली गयी। प्राणपंछीके उड़ जानेपर भी उसकी आकृतिपर अपूर्व तेज क्रीड़ा कर रहा था।

भारतकी हिंदू-विधवा और उसका कठोर तप धन्य है!

—शि० दु०

पति ही गति है

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ (रामायण)

नारीके लिये इस लोक और परलोकमे पिता, पुत्र, अपना आत्मा, माता एवं सखीजन कोई भी गति नहीं है। सदा एकमात्र पति ही गति है।

मा शारदा देवी

बंगालके बाँकुड़ा जिलेमे जयरामबाटी नामक एक गाँव है। वहाँ एक ब्राह्मण अत्यन्त निर्धन थे, परन्तु उनकी धार्मिक भावना तथा भगवद्भक्ति बढ़ी हुई थी। यही कारण है कि शारदादेवी-जैसी श्रद्धा-प्रेम, त्याग-वैराग्य तथा सेवा और भक्तिकी प्रतिमूर्ति बालिकाको जन्म देकर वे पवित्र हो गये।

शारदादेवीने छठे वर्षमे पदार्पण किया ही था कि उनके मा-बाप पुत्रीके लिये वरकी खोज करने लगे। अन्तमे २४ वर्षकी अवस्थावाले तपस्वी श्रीगदाधरजीसे शारदादेवीका विवाह हो गया। यही श्रीगदाधरजी आगे चलकर श्रीरामकृष्ण परमहंसके नामसे विख्यात हुए। श्रीरामकृष्णजी विवाह करनेके पक्षमे नहीं थे, पर इसी कारण उनकी माताजी अत्यन्त दुखी थीं। माताका दुःख-निवारण करनेके लिये उन्होने स्वयं शारदादेवीका नाम-गाँव बता दिया था। उस समय उनकी माताजी अत्यन्त प्रसन्न हुई थी, पर रामकृष्णके मनमे कोई उत्साह नहीं दीखा।

श्रीशारदादेवी अत्यन्त अल्पावस्था होनेके कारण विवाह हो जानेके बाद भी सात वर्षतक अपने मैके ही रहीं। वे प्रातःकाल ही भगवान्का नाम लेती हुई शय्या त्याग कर देती। भोजन आदि वे स्वयं अपने ही हाथों बनाती थी। घरके सभी आवश्यक कामोमें वे प्रवीण हो गयी थीं, क्योकि सब कुछ अपने ही हाथों करनेकी उन्होंने आदत डाल ली थी। यहाँतक कि गले-गलेतक पानीमे घुसकर वे गायके लिये अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक घास भी काट लाती थीं। इस प्रकार आजीवन किसी भी कामके करनेमें उन्हें आलस्य नहीं आता था। भगवन्नामका कीर्तन करती हुई अनवरत रूपसे वे प्रातःकालसे लेकर सबके सो जानेके बादतक काम करती रहती थीं, पर उन्हें थकावटका तनिक भी अनुभव नहीं होता था। प्रतिक्षण हास्य उनके होठोंपर क्रीडा करता रहता था।

चौदहवें वर्षमे जब उन्होंने अपने पतिदेवका दर्शन किया था, तब उन्हें संसारका कोई ज्ञान नही था, परन्तु वे बडी आनन्दित हुई थी। वे स्वयं कहती हैं—'हृदयमे मानो आनन्दसे परिपूर्ण एक घड़ा रक्खा हो, ऐसा उस समयसे सर्वदा अनुभव किया करती थी।'

उस समय श्रीरामकृष्णजी तोतापुरी महाराजसे दीक्षा ले चुके थे। इतनेपर भी वे अपनी बालिका-पत्नीका बहुत ध्यान रखते थे। उन्होने बड़े श्रमसे घर-गृहस्थी, व्यवहार तथा साधन-भजन आदिकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी शिक्षाएँ बड़े प्रेमसे दी। शारदादेवीने अपने पतिके चरणोमे रहकर अल्पकालमे ही सब कुछ सीख लिया। वे स्वयं तपस्विनी बन गयीं।

शारदादेवी परम साध्वी थीं और रामकृष्णजी उन्हें प्यार भी बहुत करते थे। एक दिन तनिक-सी बातपर उन्होने कह दिया था कि 'मेरा सारा ईश्वरप्रेम विदा हो जायगा, यदि मैं तुम्हें रोती देखूँगा।' देवीजीने भी श्रीसीताजीकी भाँति एक दिन कहा था कि 'स्वामीके साथ वृक्षकी छाया भी महलसे बढकर है।'

उसी समय इनको भैरवी ब्राह्मणीके भी दर्शन मिले थे। यह ब्राह्मणी कठोर तप करनेवाली परम पतिव्रता नारी थी। इसके शास्त्रज्ञान और पाण्डित्यकी तुलनामे बड़े-बड़े विद्वान् भी तुच्छ सिद्ध होते थे। पतिके आदेशानुसार देवीजी भैरवीको अपनी सासकी तरह आदर और मान देकर पूजती थी।

कुछ दिनोके बाद श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर चले गये और मा अपने मायके जयरामबाटी चली आयीं। यहाँपर वे कुछ कालतक पतिसे अलग रहीं। पर इससे अत्यन्त दुखी होकर कुछ समय बाद वे भी दक्षिणेश्वर चली गयीं। रास्तेमे तीव्र ज्वरसे इन्हें बड़ा कष्ट हुआ। इनका शरीर दुर्बल और रुग्ण हो गया। उस अवस्थामें इन्हे जगदम्बाने कालीके वेषमे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। दक्षिणेश्वरमे पहुँचनेपर श्रीरामकृष्णने इनकी अवस्था देखकर अपने ही कमरेमे रहनेकी व्यवस्था कर दी। औषध, पथ्य तथा यथोचित शुश्रूषा और स्वयं देख-भाल करके उन्होंने शीघ्र ही देवीजीको स्वस्थ कर दिया। पतिकी सेवा और प्रेम देखकर शारदादेवी उत्फुल्ल हो गयीं। उनकी मानसिक खिन्नता मिट गयी।

'क्या तुम मुझे संसारमें घसीटनेके लिये यहाँ आयी हो?' पतिदेवके कहनेपर देवीने तुरंत उत्तर दिया था—'नहीं, नहीं, मैं तुम्हें संसार-पथमें नहीं ले जाऊँगी, तुम्हारे इष्टपथमें ही सहायक सिद्ध होऊँगी।' रामकृष्ण प्रसन्न हो गये। निश्चय ही श्रीमाजीके त्याग और संयमके कारण ही श्रीरामकृष्णजी इस तपमे सफल हुए, इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने ही मुखारविन्दसे कहा था—'वह (श्रीशारदादेवी) यदि इतनी भोली न होती, कामनाशून्य न होकर आत्मविस्मृतिसे यदि मुझे पकड़े रहती तो संयमका बाँध तोड़कर मुझमे देह-बुद्धि आती या नहीं, कौन कह सकता है।'

मा दक्षिणेश्वरमें बहुत सवेरे उठ जातीं और गङ्गास्नान तथा जप-ध्यानसे निवृत्त होकर पतिदर्शनके लिये ही व्यग्र रहतीं। पर उनकी आशाएँ बहुधा असफल रहतीं। जब भी उन्हें उनके दर्शनका सौभाग्य मिल जाता, वे आनन्दसे खिल उठती थीं। पतिमें भक्ति रखकर उनके संसर्ग और शिक्षासे मा स्वयं आध्यात्मिक क्षेत्रमें विज्ञ हो गयीं। साधन, भजन, जप और तपमें वे पारदर्शी हो गयीं। उनके समस्त गुणोंका उल्लेख करना अत्यन्त कठिन है, अतः इस अल्पल्प जीवन-परिचयमें तो दो-एक आवश्यक बातोंपर ही प्रकाश डाला जाता है।

एक बारकी बात है। मा कामारपूकुरसे दक्षिणेश्वर जाते समय अपने साथियोंसे बिछुड़ गयीं। रात अँधेरी थी। डाकुओंका रास्ता था। पत्नीसहित एक डाकूने आकर पूछा—'तुम कहाँसे आयी हो?' माने अत्यन्त निर्भीकतासे तुरंत उत्तर दिया, 'पिताजी! मैं राह भूल गयी हूँ। तुम्हारे जमाई दक्षिणेश्वरवाले रानी रासमणिके कालीमन्दिरमें रहते हैं, मैं उन्हींके पास जा रही हूँ।' डाकू-पत्नीसे उन्होंने कहा 'मा! मैं तुम्हारी बेटी शारदा हूँ, साथियोंसे छूटकर विपद्में पड़ गयी थी। भाग्यसे तुम और बाबा मिल गये; नहीं तो जाने मैं क्या करती।' माकी बातोंका डाकू और उसकी पत्नी पर इतना सात्त्विक प्रभाव पडा कि उनका तम मिट गया। माके प्रति उनका वात्सल्य-भाव जागरित हो गया। उन दोनोंने माको पासके गाँवमें पहुँचा दिया और रात्रिमें सोने और आराम करनेकी भी व्यवस्था कर दी। इसके बाद वह डाकू कई बार मिठाई आदि लेकर दक्षिणेश्वरमें आया। मा उससे बेटीका और श्रीरामकृष्ण दामादकी तरह व्यवहार करते थे। बहुत दिनोंके बाद इस घटनाके सम्बन्धमें पूछनेपर पता चला कि 'उन दोनोंने देवीको दुर्गाके रूपमें देखा था। उनका विश्वास था कि हमारे पापके कारण देवी हमें मानवी रूपमें दीखती है।'

मा किसी वस्तुका दुर्व्यवहार या धनका अपव्यय सहन नहीं कर सकती थीं। वे कहती थीं इससे लक्ष्मी रुष्ट होती हैं। माता-पिताके प्रति कर्तव्य-सम्बन्धी भी माकी शिक्षाएँ मनन करने योग्य हैं। सरल-से-सरल स्त्रीका जीवन कैसा सुन्दर और माधुर्यमय हो सकता है, इसका मा एक ज्वलन्त उदाहरण थीं।

एक दिन एक स्त्रीके पतिने, जिसकी धारणा थी कि उसकी पत्नी उसके भगवन्मुखी होनेमें बाधा है, पूछा—'तुम मुझे चाहती हो या भगवान्‌को?' स्त्री बेचारी निरुत्तर होकर माके पास आकर सारा वृत्तान्त कह गयी। स्नेहभरे स्वरोंमें माताजीने तुरंत कहा—'क्यों बेटी! तुम उत्तर क्यों नहीं दे सकीं! तुमको कहना चाहिये था मुझे भगवान् नहीं चाहिये, मैं तो तुम्हींको चाहती हूँ।' माजी श्रीरामकृष्णको सदा 'गुरुदेव' या 'ठाकुर' कहा करती थीं। माताजीके व्यवहारसे कभी किसी भी व्यक्तिने यह अनुमान नहीं किया कि औरोंकी अपेक्षा उनका श्रीरामकृष्णपर अधिक अधिकार था या उनका स्थान उनके अधिक निकट था। मा गुरुपत्नी होनेपर भी कभी-कभी शिष्योंके जूठे बर्तनतक धो देती थीं। शिष्योंके आपत्ति करनेपर मा प्रेमसे समझा देतीं कि बच्चोंकी सेवा करना तो माका कर्तव्य ही है।

जब मा तैंतीस वर्षकी हुईं, तब (सन् १८८६ ई०में) श्रीरामकृष्णने अपना शरीर त्याग दिया। पतिकी सांघातिक बीमारीमें देवीने अनुपम सेवा की। पतिके परलोक-गमन करनेपर देवीजी भी शरीर छोडनेके लिये तैयार हो गयीं। तब श्रीरामकृष्णने उन्हें दर्शन देकर कहा कि 'संसारमें तुम्हारा अभी रहना आवश्यक है।'

पतिके आदेशानुसार माने कुछ दिनोंतक अपना जीवन धारण किया तथा भक्तोंको शिक्षा-दीक्षा देते हुए वे जगत्‌का कल्याण करती रहीं। अन्तमें २१ जुलाई सन् १९२० ई० में उन्होने हँसते हुए इस असार ससारको छोडकर पतिलोकके लिये प्रस्थान कर दिया।

मा! तुम धन्य थीं। तुम्हारी जय हो!! —शि० दु०

पितामहीको प्रणाम

'देशकी उन प्राणविसर्जन-परायणा पितामहीको आज हम प्रणाम करते हैं। तुम जिस प्रकार दिन बीतनेपर संसारका काम पूरा करके चुपचाप पतिके पलंगपर चढ़ जाती, दाम्पत्यलीलाके दिन बीतनेपर संसारके कार्यक्षेत्रसे विदा लेकर तुम उसी प्रकार सहज ही वधू-वेषमें सिरकी माँगमें मङ्गल-सिन्दूर भरकर पतिकी चितापर चढ़ गयी हो। मृत्युको तुमने सुन्दर बनाया है, शुभ बनाया है, पवित्र बनाया है; चिताको तुमने विवाह-शय्याके सदृश आनन्दमय—कल्याणमय बना दिया है।' —'रवीन्द्रनाथ'

आदर्श जननी स्वर्णमणि

कलकत्ता-हाईकोर्टके न्यायाधीश एवं कलकत्ता-विश्वविद्यालयके सर्वप्रथम वाइस-चान्सलर सर गुरुदास वन्द्योपाध्याय प्रसिद्ध मातृभक्त थे। कहते हैं कि एक बार वे हाईकोर्टमें कोई मुकदमा सुन रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि द्वारकी ओर गयी। गङ्गास्नान करके भीगे वस्त्रोंमें लौटी एक मैली-कुचैली बुढ़ियाको चपरासी भीतर आनेसे रोक रहा था। सबने आश्चर्यसे देखा कि जस्टिस गुरुदासजीने मुकदमा वहीं रोक दिया। प्रथाके अनुसार पीछेके मार्गसे न जाकर वे सामनेके मार्गसे उतरे और शीघ्रतासे जाकर उस बुढ़ियाके पैरोंमें दण्डवत् पड़ गये। बुढ़िया उनके घरपर कभी धाय रही थी, दूर देहातसे आयी थी और भोलेपनके कारण गङ्गास्नान करके सीधे अपने गुरुदासको देखने कोर्ट पहुँच गयी थी। दोनोंके नेत्रोंसे अश्रुधार चल रही थी। आदरपूर्वक बुढ़ियाको जस्टिस गुरुदास घर ले गये। पूछनेपर उन्होंने सबको बताया—'ये मेरी माता हैं! इन्होंने मुझे दूध पिलाया है।'

यह मातृभक्ति सर गुरुदासमें आयी कहाँसे? यह उनकी आदर्श जननीका प्रभाव था। बचपनमें ही उनके पिता रामचन्द्र वन्द्योपाध्यायजीका स्वर्गवास हो गया था। माता स्वर्णमणिने ही उनका लालन-पालन एवं शिक्षण किया। पिता घरमें कुछ छोड़ नहीं गये थे। विधवा नारीके ऊपर पति-वियोगके साथ आर्थिक संकट पड़ा। चाहे जितना कष्ट पड़ा हो, उन स्थितप्रज्ञाके मुखपर किसीने कभी अवसादकी रेखा नहीं देखी। वे जानती ही नहीं थीं कि अवसाद कहते किसे हैं।

कलकत्तेके शोभाबाजारके पण्डित रामकान्त वाचस्पतिकी चतुर्थ कन्या स्वर्णमणि देवी थीं। उनका पितृकुल निष्ठावान् ब्राह्मणोंका कुल था। शैशवसे ही हिंदू रीति-नीतिमें वे पली थीं। उनके जीवनमें पितृकुलसे प्राप्त आचार-विचार एवं निर्लोभता आदिसे अन्ततक समानरूपसे बनी रही। अपने कमात्र पुत्रको इन दिव्य गुणोंसे सम्पन्न बनानेके लिये वे दा सावधान रहीं। वे बच्चोंको मारनेके पक्षमें नहीं थीं। हा करती थीं कि 'इससे तो अपनी ही हानि होती है।' र भी उनका शासन बड़ा कठोर था। बच्चेको लोभी वं हठी बनने देना वे सह नहीं सकती थीं। बचपनमें एक न गुरुदास आम खानेके लिये हठ करने लगे। घरमें आम ा, किंतु माताने नहीं दिया। एक बार माँग पूरी होनेसे लक फिर हठ करेगा और उसका लोभ बढ़ेगा, यह उनका श्चित विचार था।

स्वर्णमणिदेवीकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे फीस देकर पुत्रको पढ़ा सकें। विवश होकर उन्होंने पहले गुरुदासको अपने भाईके घर पढ़नेको भेजा। परन्तु मामाके घर स्नेहके कारण लड़का बिगड़ न जाय, इस आशङ्कासे शीघ्र ही उन्होंने उसे बुला लिया। कोल्हूटोलाके ब्राह्मस्कूलमें पढ़नेके लिये अन्तमें गुरुदासको बैठाया उन्होंने। अपनी प्रतिभाके कारण वे सदा कक्षामें प्रथम आते रहे। उन्हें जो पुरस्कार एवं छात्रवृत्ति मिलती थी, उसीसे उनकी शिक्षाका व्यय चल जाता था। इस परिस्थितिमें भी माता अपने पुत्रको समझाया करती थीं कि 'कक्षामें अमुक छात्रको पराजित करके प्रथम आना है, यह लोभ उचित नहीं। इस दृष्टिसे पढ़नेकी अपेक्षा न पढ़ना भला है।'

पुत्रका कोई भी दोष माताको सह्य नहीं था। लोभसे उन्हें आन्तरिक घृणा थी। ब्राह्मण होनेके कारण गुरुदासजीको लोगोंके निमन्त्रण मिलते थे भोजन करनेके लिये; किंतु माता उन्हें ऐसा नहीं करने देती थीं। उन्हें भय था कि निमन्त्रणोंमें जानेसे बालक स्वादिष्ट पदार्थका लोभी हो जायगा। गुरुदासजी पहले वकालत करने बहरामपुर गये। यहाँ उनको अच्छी आय होने लगी। स्वर्णमणिदेवीको घरसे दूर यहाँ आकर रहनेमें अपनी पूजा-पाठमें असुविधा जान पड़ी। अर्थ-लोभ उनके लिये हेय था। माताका आदेश पाकर गुरुदासजी कलकत्ता चले आये और हाईकोर्टमें वकालत करने लगे।

प्रारब्ध प्रबल था। गुरुदासजीको कलकत्तेमें भी अच्छी आय होने लगी। वकीलसे वे जज हो गये। अपने छोटेसे मकानको छोड़कर चौरंगीमें बड़ा मकान लेकर रहनेका उन्होंने विचार किया। माताने भर्त्सना की—'छोटा हो या बड़ा, अपना मकान तो अपना ही है। अपनी झोपड़ी दूसरेके प्रासादसे सहस्रगुनी श्रेष्ठ है।'

'स्वयं आचरण करके धर्मकी शिक्षा दो।' यह देवी स्वर्णमणिके जीवनका मूलसूत्र था। वाणी, कार्य, व्यवहार—सबमें उनकी एकता परिलक्षित हुआ करती थी। वे जो कहती थीं, वही सोचती थीं और तदनुरूप ही कार्य करती थीं। उनके समीप अपना करके कोई पदार्थ नहीं था। दीनोंके लिये सब कुछ देकर ही उन्हें शान्ति होती थी।

पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें स्वर्णमणिदेवीने देह-त्याग किया। जीवनके अन्तिम भागमें वे अपने पौत्रसे नियमितरूपसे श्रीमद्भगवद्गीता सुना करती थीं। उनके किशोर पौत्रका कहना है कि वे जीवित गीता थीं। —सु० सिं०

सर आशुतोष मुखोपाध्यायकी माता

सर आशुतोष 'बंगालके बाघ' कहे जाते थे। उनके समान प्रतिभाशाली, स्वतन्त्रचेता, तेजस्वी पुरुष किसी भी देशको गौरवान्वित करता है। जिस कार्यमें उन्होंने हाथ डाला, वही उनकी कर्तृत्वशक्तिके कारण महत्तम हो गया। वे अपनी माताका आदेश पाये बिना कोई काम नहीं करते थे। जब उनके समीप हाईकोर्टके जजके पदपर उनकी नियुक्तिका पत्र आया तो वे मातासे आज्ञा लेने गये।

'मेरा पुत्र दूसरोंके बच्चोंको फाँसीका दण्ड सुनावेगा!' जगतारिणी देवीने अस्वीकार कर दिया। बड़ी कठिनतासे सम्बन्धियोंके आग्रहके कारण अनिच्छापूर्वक उन्हें आज्ञा देनी पड़ी। उनकी आज्ञाके बिना सर आशुतोष इस पदको स्वीकार करना कभी नहीं चाहते।

माता जगतारिणी देवी अत्यन्त स्वाधीनचेता नारी थीं। उन्हें यह प्रिय नहीं था कि उनका पुत्र कहीं नौकरी करे। अधर्म एवं अन्यायके प्रति उनका प्रबल रोष था। सर आशुतोषको मातासे ही यह शिक्षा मिली थी कि चाहे जितना भी कष्ट पड़े, अन्यायके सामने मस्तक नहीं झुकाना चाहिये। —सु० सिं०



माता भगवती देवी

श्रीराधामोहन विद्याभूषण एक आदर्शचरित व्यक्ति थे। दीन-दुखियोंके प्रति उनमें असाधारण दया थी। भूखोंको अन्नदानके लिये उनका गृह सदा उन्मुक्त रहता था। श्रीगङ्गा-देवी अपनी कन्याके साथ अपने इसी भाईके आश्रयमें रहती थीं। उनके पति श्रीरमाकान्त तर्कवागीश तन्त्रानुष्ठान करते समय उन्मादग्रस्त हो गये थे। बालिका भगवती देवीका शैशव-शिक्षाकाल ऐसे पवित्र मामाके संरक्षणमें व्यतीत हुआ। इसी गौड़ापत्तन ग्रामसे भगवती देवीने दुखियोंका दुःख-निवारण अपना जीवन-व्रत बनाया।

पण्डित रामजय बन्द्योपाध्याय तर्कभूषण विरक्त होकर चले गये थे। उनकी पत्नी दुर्गादेवी वनमालीपुरके पतिगृहमें निराश्रय होकर चार पुत्र एवं दो कन्याओंके साथ पिताके घर वीरसिंहपुर चली आयीं। इस परिवारका स्थायी निवास यहीं हुआ। श्रीउमाकान्त तर्कालङ्कार ब्राह्मण पण्डित थे। घरमें कोई सम्पत्ति थी नहीं। पुत्रीके लिये उन्होंने एक पृथक् मकान बनवा दिया। दुर्गादेवी अपनी सन्तानोंके साथ उसी गृहमें आ गयीं।

चरखा चलाकर भी दुर्गादेवी सन्तानोंका भरण-पोषण करनेमें असमर्थ थीं। उनके दारिद्र्यकी कोई सीमा नहीं थी। कई दिन निराहार बीत जाते थे। ज्येष्ठ पुत्र ठाकुर-दासको उन्होंने वहीं संस्कृत-व्याकरण पढ़ानेमें लगा दिया था। यह अध्ययन थोड़े ही दिनों चला। घरकी दुर्दशाने उन्हें विवश किया और अर्थोपार्जनके लिये वे कलकत्ता गये। उन दिनों थोड़ी भी अंग्रेजी जाननेवालेको नौकरी मिल जाया करती थी। वे जिनके यहाँ ठहरे थे, उन्होंने एक सज्जनसे इन्हें अंग्रेजी पढ़नेमें लगा दिया। शिक्षक दिनभर अपना काम करते। रात्रिमें ठाकुरदासजी उनसे पढ़ने जाते। फलतः रात्रिको विलम्बसे लौटनेके कारण उन्हें नित्य उपवास करना पड़ता। एक समय भोजन करके वे पढ़नेमें लगे रहे। उनकी दशा जानकर एक दयालु दलालने उन्हें आश्रय दिया।

घरकी दशाका ध्यान करके ठाकुरदासजीको अध्ययन समाप्त करना पड़ा। उन्होंने एक स्थानपर नौकरी कर ली दो रुपये मासिकपर। यह समाचार जब घर पहुँचा तो उनकी माताको अपार हर्ष हुआ। उनके लिये दो रुपया दो सहस्रसे भी अधिक था। ठाकुरदासजी आश्रयदाताके यहाँ भोजन करते और वेतन घर भेज देते। धीरे-धीरे उनका वेतन पाँच रुपया मासिक हो गया।

दीर्घकालके पश्चात् रामजयजी घर लौटे। वे बड़े बलवान्, निरपेक्ष, निर्भीक एवं सत्यवादी पुरुष थे। घरसे पुत्रको देखनेके लिये वे कलकत्ता आये। उनके उद्योगसे ठाकुरदास-जीको बड़ाबाजारमें श्रीभगवतीचरणसिंहके यहाँ व्यवस्थित आश्रय मिला। रामजयजीने पुत्रके विवाहका उद्योग किया और चौबीस वर्षकी अवस्थामें ठाकुरदासजीका विवाह श्रीभगवती-देवीके साथ हुआ। श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर इसी सात्त्विक, श्रमशील दम्पतिके पुत्र हैं।

ठाकुरदासजीका वेतन दस रुपये मासिक हो गया।

संसारमे अनेक उच्चतम विद्वान् हुए हैं। अनेकोंने सर्वोच्च पद भी प्राप्त किया है। यदि विद्यासागर भी विद्वान् एवं उच्चाधिकारी होकर ही रह गये होते तो हम निश्चय उन्हें भूल जाते। हम उन्हें स्मरण करते हैं उनकी महान् उदारताके कारण। हम उनका आदर करते हैं उनकी दुखियोंके प्रति असीम दयाके कारण। हमारी उनके प्रति श्रद्धा है उनकी समाजसेवाके कारण। ये गुण उन्होंने अपनी माता भगवती देवीसे प्राप्त किये थे।

भगवती देवी दयाकी मूर्ति थी। पुत्रकी उन्नतिसे आर्थिक संकटके दूर होते ही उनकी दया प्रकाशमें आयी। उनके घर जाकर कोई विना भोजन किये नहीं लौट सकता था। दुखियोंको उनके पास जो कुछ हो, वह सब देकर भी उनको सन्तोष नहीं होता था। जीवनके अन्तिम भागमे भगवतीदेवी पतिके साथ काशी चली आयीं। गङ्गास्नान, भगवान् विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णाका दर्शन तथा दुखियोंकी सेवा उनका नित्य-नियम बना। काशीमे ही दम्पतिने शरीर छोड़ा। —सु० सिं०

मा सरूपा

वे मेरी मा थीं, इससे अधिक परिचय मैं उनका और क्या दे सकता हूँ। उन्होंने मुझे कुल ग्यारह वर्षकी अवस्थामें छोड़ा और उनके रहते ही—बहुत पहले मेरा ननिहाल उच्छिन्न हो चुका था। मेरी मातामही घरमे किसीके न होनेसे अपनी बहिनके लड़कोंके यहाँ रहने लगी थीं। अतः मुझे और कुछ स्मरण नहीं है। पिताजीने घर और थोड़ेसे खेतोंका भार अपनी दूरकी एक बुआ लगनेवाली वृद्धापर छोड़ा और विना लक्ष्यके निकल पड़े। पता नहीं क्यो। माताको साथ लेकर क्रमशः आठ, छः और एक वर्षकी अवस्थाके तीन बचोंको लिये हुए मातृभूमि छोड़कर भटकनेका कारण कोई बड़ा सङ्कट अवश्य रहा होगा।

मार्गमें भटकते, आर्थिक कष्ट उठाते पिताजी मध्यप्रदेशके वर्धा जिलेके एक नगरमे पहुँचे। उसका नाम आर्वी है और वह सम्भवतः तहसील है। एक बड़ी-सी धर्मशाला थी। धर्मशाला इसलिये कि विना किराया दिये बहुत लोगोंने उसे अपना स्थायी आवास बना लिया था। पिताजी भी ऐसोंमें ही सम्मिलित हुए।

जाड़ेके दिन थे। भूमिपर पुआल बिछाकर कम्बल पड़ा था। छोटा भाई, जो अब नौ वर्षका हो गया था, सो चुका था। अग्नि जलाकर पिताजी उसके समीप बैठे थे और मैं उनकी दाहिनी ओर पास ही बैठा था। नित्यकी भाँति पिताजी मुझे कोई पौराणिक गाथा सुना रहे थे। सबको भोजन कराके माने पिताजीकी जूठी थाली एक ओर रख दी। उसमें कुछ बचा था। चौकेमे जो बचा था, वह उसने गायको दे दिया और बर्तन मलने लगी।

'आज यह क्या करने लगी हो ?' पिताजीने पूछा। बर्तन प्रातः एक मजदूरनी आकर स्वच्छ कर जाती थी।

'आज जूठा पड़े रहने देना ठीक नहीं।' पिताजीने हठ नहीं किया। माने बर्तन मले, चौका दिया। पिताजीकी छोड़ी थाली लेकर भोजन करने बैठी। एक ग्रास मुखमे डालकर हाथ धो लिया।

'क्यो, क्या बात है ?' पिताजीने पूछा। एक वर्ष पूर्व ठीक इन्हीं सर्दियोंमे छोटी बहिनने इसी धर्मशालामे शरीर छोड़ा था। मा कई सप्ताह रोयी थी। तभीसे उसका शरीर दुर्बल होता जा रहा था और वह उदासीन रहा करती थी। पिताजी उसका ध्यान रखते थे।

'प्रसाद ले लिया। जी ठीक नहीं है।' उसने वह थाली भी स्वच्छ की और वह भूमि भी, जहाँ भोजन किया था।

हम दोनों छोटे आसनोंपर बैठे थे। पिताजीकी बायीं

ओर आकर मा भूमिमें ही बैठ गयी और उनकी जंघापर मस्तक रखकर भूमिमें सीधी लेट गयी। मैं ध्यानसे देख रहा था कि आज वह यह क्या कर रही है। उसने दाहिना हाथ बढ़ाया। उस हाथको उसने पिताजीके बायें पैरके तलवेपर रक्खा। बस—जैसे किसीने बंदूक दाग दी हो—एक धड़ाका हुआ। पिताजीके वस्त्र रक्तसे भीग गये। मेरे ऊपर भी छींटे पड़े। छोटा भाई चौंककर जग गया। पिताजीने उसे बैठे-बैठे ही हाथ बढ़ाकर थपथपाकर सुला दिया।

'क्या हुआ?' मैंने पूछा।

'कुछ नहीं; जाओ, सो जाओ!' मैंने फिर पूछा; परंतु जब पिताजीने फिर सोनेको कहा तो मैं उठकर लेट गया। पिताजीने मुझे कभी मारा नहीं; फिर भी मैं उनसे बहुत डरता था। वे बड़े तीव्र स्वभावके थे और उन्हें कई बार घरपर मजदूरोंको पीटते मैंने देखा था। मैंने लेटे-लेटे देखा कि कई लोग आ गये। पिताजीने उठकर माताके ऊपर एक चद्दर डाल दी। सब लोग वहीं बैठ गये। मैं सो गया।

प्रातः पिताजीने मुझसे माताके पैरोंकी ओर हाथ लगानेको कहा। वह रात्रिभर वहीं भूमिपर पड़ी रही थी। पिताजीने मस्तककी ओर हाथ लगाया। शरीर एक चौकीपर रक्खा गया। दूसरे कई लोग सहायता देना चाहते थे; परंतु पिताजीने किसीको उस शरीरको छूने नहीं दिया। स्नान कराके पिताजीने ही नवीन वस्त्र पहनाया उसे।

'क्या हो गया?' मैंने डरते-डरते पूछा। मुझे आज भी आश्चर्य है कि उस समय न मैं रोया और न छोटा भाई। छोटी बहिनके मरनेपर हम दोनों खूब रोये थे; परंतु आज पता नहीं क्या हो गया था। माताका शव श्मशान जानेपर हम दोनों भाई खेलनेमें लग गये थे। हमें क्यों दुःख नहीं हुआ? सम्भवतः माकी यही इच्छा रही हो।

मेरे पूछनेपर पिताजीने मुझे माके मस्तकके समीप बुलाकर दिखलाया। जहाँ मा सिन्दूर लगाया करती थीं, ललाटसे मध्य सिरतक; जहाँ हम शिखा रखते हैं, उसका मस्तक ठीक मध्यमें ककड़ीकी भाँति फट गया था। अब वहाँ रक्त नहीं था। भीतर कुछ सफेद-सफेद दीख रहा था। मस्तक इतना फटा था कि उसमें हाथ जा सकता था।

'बेटा! तेरी मा योगियोंकी भाँति मरी है!' मुझे पिताजीके वे शब्द ज्यों-के-त्यों स्मरण हैं। —सु० सिं०

माता स्वरूपरानी नेहरू

माता स्वरूपरानीके स्मरणमात्रसे ही आदर्श मातृत्वका सजीव चित्र आँखोंके सामने नाचने लगता है। उस नारीका जीवन धन्य है, जिसके पति-पुत्रने स्वाधीनताके लिये जीवनका बहुत बड़ा भाग जेलमें बिताया हो। उस जननीका मातृत्व सराहनीय है, जिसके पुत्रने देशकी पराधीनताकी हथकड़ी-बेड़ी काटनेमें खून-पसीना एक कर दिया। निस्सन्देह स्वरूपरानी तो राजरानी ही थीं; वे सारे नेहरू-परिवारकी राजरानी थीं। पण्डित जवाहरलाल नेहरूकी माता होनेका सौभाग्य उन्हींको प्राप्त था।

नेहरू-परिवारकी ख्याति सारे विश्वमें है। प्रयागके आनन्दभवनमें कुछ दिनों पहले राग-रंग और विलासिताका वसन्त छाया रहता था। पण्डित मोतीलाल और उनके लाड़ले पुत्र जवाहरलालका जीवन जिस वैभवमें बीता, उसके लिये बड़े-बड़े महाराजाओंको भी तरसना पड़ता है। यद्यपि नेहरू-परिवार पाश्चात्त्य सभ्यताके रंगमें रँगा हुआ-सा था, फिर भी माता स्वरूपरानीकी भारतीयता उसे ढक लेती थी। उन्होंने एक भारतीय वीराङ्गनाकी तरह स्वाधीनता-संग्रामकी बलिवेदीपर अपना सर्वस्व चढ़ा दिया था।

सन् १८८९ ई० में उन्हें जवाहरलालजी-ऐसा पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। पूरे ग्यारह सालतक उन्होंने उचित ढंगसे उनका लालन-पालन किया; क्योंकि इस बीचमें कोई और संतान नहीं पैदा हुई। वे अपने लाड़ले पुत्रकी शिक्षा-दीक्षामें बड़ी रुचि रखती थीं। प्रतिदिन रातको बहुत देरतक रामायण और महाभारतके वीरोंकी कथाएँ सुनाती थीं; भगवान् राम और कृष्णके अद्भुत चरित्रोंसे बालक जवाहरलालमें वीरताका संचार करती थीं। जवाहरलालजीने अपनी आत्मकहानीमें लिखा भी है—'मेरी मा बचपनमें रामायण और महाभारतकी कहानियाँ सुनाया करती थीं। कभी-कभी मैं उनके साथ मन्दिरों और साधु-संतोंका दर्शन करने भी जाता था।' एक आर्य-नारीकी तरह आचार-विचारमें वे पूरा-पूरा संयम रखती थीं।*

* लगभग अठारह वर्ष पहलेकी बात है। कुम्भके अवसरपर प्रयागमें त्रिवेणीतटपर गीता प्रेसकी ओरसे 'गीताज्ञानयज्ञ' का आयोजन हुआ था। महामना मालवीयजी उसके अध्यक्ष थे। उसमें सन्ध्याके समय प्रसिद्ध गायनाचार्य पण्डित श्रीविष्णुदिगम्बरजी रामचरितमानसकी कथा कहते थे। मुझे भलीभाँति स्मरण है—माता स्वरूपरानी प्रतिदिन बिना नागा आतीं। वे समयसे पहले ही आतीं, इससे उन्हें श्रीविष्णुदिगम्बरजीके समीप बैठनेको स्थान मिलता। वे अत्यन्त तन्मय होकर कथा सुनतीं। कभी-कभी तो उनके नेत्रोंसे अश्रुओंका प्रवाह चल पड़ता।—सं०

जवाहरलालजीको वे बड़े-से-बड़े अपराध और चञ्चलताके लिये भी क्षमा कर देती थी और यही कारण था कि बालक जवाहरलाल पिताकी अपेक्षा अपने-आपको माताके अधिक निकट पाता था । उन्होंने लिखा भी है—'मैं जितने भरोसेके साथ माताजीसे अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसेसे पिताजीसे कहनेका सपनेमें भी खयाल नहीं करता था ।...वह सुडौल, कदमें छोटी और नाटी थीं । और मैं तो शीघ्र ही कदमें उनके बराबर हो गया था । वह बहुत सुन्दर थीं । उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे ।' इससे उनके मातृप्रेमका पता चलता है ।

उनमें अपार धैर्य और सहनशक्ति थी । बड़ी-से-बड़ी विपत्तिका भी वे वीरतासे सामना करती थीं । उन्हें वैधव्य भी देखना पड़ा, परंतु वे अपने कर्तव्य-पथमें सदा अविचलित ही रहीं ।

सन् १९३१ ई० में एक बहुत बड़ी घटना घटी, पण्डित जवाहरलालजी जेलमें थे । प्रयागके एक राजनीतिक जलूसका नेतृत्व वीरहृदया स्वरूपरानी कर रही थीं । ब्रिटिश सरकारके किरायेके आदमियोंने भीड़पर लाठी बरसाना आरम्भ किया । जलूस रोक दिया गया । किसीने माता स्वरूपरानीके लिये कुर्सी लाकर रख दी । वे भीड़की गतिविधि देख रही थीं । पुलिसने धक्का देकर उनको कुर्सीसे गिरा दिया और उनपर आक्रमण कर दिया । उन्हें बेत लगाये गये और बुरी तरहसे उनपर लाठी-प्रहार भी किया गया । भीड़में हाहाकार मच गया । एक असहाय अबलापर लाठी-प्रहार ! जनताने चुप रहनेमें अपना और अपने देशका अपमान समझा । प्रयागके निवासी गोरे और काले सिपाहियोंपर टूट पड़े । बहुत-से गोलीके शिकार हुए । इस घटनाका अत्यन्त हृदयस्पर्शी और मार्मिक वर्णन जवाहरलालजीने किया है । वे लिखते हैं, 'जब कुछ दिन बाद यह समाचार मेरे पास पहुँचा तो अपनी कमजोर बूढ़ी माके खूनसे लथपथ धूलिभरी सड़कपर पड़े रहनेका खयाल मुझे रह-रहकर सताने लगा । मैं यह सोचने लगा कि यदि मैं होता तो क्या करता ? मेरी अहिंसा कहाँतक मेरा साथ देती ? मुझे भय है कि अधिक दूरतक वह मेरा साथ नहीं देती ।' उन्हें चोट काफी लगी थी; फिर भी उन्हें इस बातसे प्रसन्नता रही और गर्व था कि वे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओंके साथ बेतोंकी मार खानेके सम्मानसे वञ्चित न रहीं । इस दुर्घटनाका कुपरिणाम एक सालके बाद ही प्रकट हो गया ।

धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा, परन्तु यह वास्तविक स्वास्थ्यलाभ नहीं था । उन्हें बड़े-बड़े झकझोरे सहने पड़े और उनका स्वास्थ्य तथा शरीर जर्जर हो गया । बीचमें लकवेने भी आक्रमण किया और उन्हें इलाज करानेके लिये बम्बई चला जाना पडा । इस समय जवाहरलालजीको विदेशी सरकार एक जेलसे दूसरे जेलमें खिलौनेकी तरह नचा रही थी । नेहरू-परिवारकी कुल-वधू कमलाने भी २८ फरवरी १९३६ ई० को पतिका साथ छोड़ दिया । माता स्वरूपरानीकी अवस्था चिन्ताजनक होती गयी । कराल कालकी क्रूर दृष्टि उनपर भी पड़ गयी । आनन्दभवनकी रानीने असार संसार त्याग दिया । कमलाके देहान्त और माताके वियोगने जवाहरलालजीके हृदयमें काफी आघात पहुँचाया । वे एक स्थलपर स्वयं लिखते हैं—'मेरा जीवन क्रमसे भारी भीड़, बहुत कामकाज और अकेलेपनका एक अनोखा संमिश्रण हो गया ।...इसके बाद माताके देहावसानसे भूतकालसे मेरे सम्बन्धकी अन्तिम कड़ी टूट गयी ।'

संसारसे विदा लेते समय आनन्दभवनकी राजरानीने देखा कि गुलाब-सा राजकुमार यातनाओं और तूफानोंके काँटों और झंझावातोंमें मुसकरा रहा है । उन्हें संतोष था कि जवाहरलालजी अपने कर्तव्य-पथपर हिमालयकी तरह अडिग हैं । माताके लिये इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात और हो ही क्या सकती थी ? भारतीय स्वाधीनता-संग्रामके इतिहासमें माता स्वरूपरानीका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखा रहेगा । वे मूर्तिमान् स्वाधीनता थीं । —रा० श्री०

माता कुन्दनदेवी मालवीय

युक्तप्रान्तकी राजधानी प्रयागमें मालवेके एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण पण्डित व्रजनाथजी व्यास रहते थे और उनके पितृव्य व्यापार करनेके लिये मिर्जापुर चले गये थे । व्रजनाथजीके परिवारपर सरस्वतीकी कृपा थी और निस्सन्देह वे इस कृपासे सुखी भी थे । व्रजनाथजीके पुत्रका नाम मदनमोहन था । कौन जानता था यही मदनमोहन विश्वनाथपुरीमें भारतीका भव्य भवन हिंदू-विश्वविद्यालय स्थापितकर विश्वके सामने आदर्श शिक्षाका दृष्टान्त रक्खेगा । एक बार मदनमोहनको अपने चाचा संस्कृतके उद्भट विद्वान् पण्डित गदाधरजीके यहाँ मिर्जापुर जाना पड़ा । पण्डितोंकी मण्डली बैठी थी । मिर्जापुर-निवासी पण्डित नन्दरामने देखा कि एक चौदह सालका बालक अत्यन्त मीठी और कोमल वाणीमें व्याख्यान दे रहा

है। उन्हें ऐसा लगा कि साक्षात् मदन ही खड़ा है। पण्डित-मण्डली वाह-वाह करने लगी। नन्दरामजीकी तीसरी कन्या कुन्दनदेवी अभी कुमारी ही थी। उन्होंने सोचा इस बालकसे बढ़कर और कौन योग्य सुन्दर वर होगा? कुन्दनदेवीका विवाह कालान्तरमें सन् १८८१ ई०में बालक मदनमोहनसे कर दिया गया, विधिने अच्छी जोड़ी बनायी थी।

मालवीय-दम्पतिने यौवनका सरस वसन्त देखा। बालक मदनमोहन कालेजमें पढ़ रहा था, सहधर्मिणी अपने पतिके घरमें बैठकर कुशल मनाया करती थी। परिवारके लोग बहूका संयम-व्रत देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये। घर स्वर्ग बन गया। सबकी सेवा-टहल करना, आदर्श हिंदू-रमणीकी तरह जीवन बिताना, पूजा-पाठ करना आदि ही मालवीयजी महाराजकी साध्वी पत्नीके परम कर्तव्य हो रहे थे। कुन्दनदेवी पतिपरायणा और आर्यस्त्री-सुलभ कर्तव्यनिष्ठाकी सजीव मूर्ति थी। पतिका अनुसरण करनेवाली साध्वी कुन्दनदेवीने दाम्पत्य-सुखको हिंदू-जाति और भारतदेशकी सेवाकी बलिवेदीपर चढ़ा दिया। इसी बीचमें महाराज मालवीयजी कालाकाँकरके राजा रामपालसिंहके यहाँ रहने लगे, प्रत्येक रविवारको नावसे वे प्रयाग आते थे। इस समय हिंदू-जातिपर चारों ओरसे आघात हो रहे थे। मालवीयजी हिंदू-जातिकी दयनीय स्थितिपर क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने हिंदू-जातिके उत्थानका बीड़ा उठाया और एक कुशल सैनिककी तरह संग्राममें कूद पड़े। मानवता और संस्कृति तथा सनातनधर्मकी परम्पराके सामने अभिनव भर्तृहरिने कहा—'भवति भिक्षां देहि।' और इसी तपस्या और धर्ममूलक जीवनका फल विश्व-विद्यालय विश्वकी राजधानी काशीमें खड़ा होकर,आज मालवीयजीकी कीर्ति-पताका बड़े गर्वसे फहरा रहा है।

माता कुन्दनदेवी सच्चे अर्थमें गृहिणी थीं। उनके पातिव्रत्य और तपोमय संयमके कारण महाराज मालवीयजीको जन-सेवा-क्षेत्रमें उतरनेमें कठिनाई न हुई। पतिके सुखमें सुखी होना आर्य-नारियोंका जीवन-लक्ष्य होता है। उन्होंने अपने जीवनमें 'दूधों नहाओ पूतो फलो' चरितार्थ करके दिखला दिया। वे सात सन्तानोंकी माता थीं और उनके पवित्र आचरणने मालवीयजी महाराजके पुत्रोंको आदर्श सन्तान बननेमें सहायता दी।

घरके बाहर मालवीयजी महाराज अत्याचार, पाप, कुरीति और अशिक्षासे विद्रोह कर रहे थे और भीतर उनकी सहधर्मिणी आदर्श हिंदू-नारीका जीवन बिताकर पतिको कर्तव्य-पथपर प्रोत्साहित कर रही थीं। वे हमेशा यही कहा करती थीं कि स्त्रियोंको निडरपन, सचाई, ब्रह्मचर्य, धैर्य और क्षमाका अमृतके समान सेवन करना चाहिये। यदि मालवीयजी महाराज सशरीर धर्म थे तो उनकी पत्नी धर्मकी अभिव्यक्ति थीं, सहधर्मिणी थीं। मालवीय-दम्पतिका यही प्रण था—'सिर जावे तो जाय प्रभु! मेरो धर्म न जाय।' और इसीके अनुसार दोनोंने अपना-अपना कर्तव्य पूरा किया।

मालवीयजी महाराजके परिवारकी गोभक्ति सराहनीय है। माता कुन्दनदेवी गायोंकी बड़ी सेवा करती थीं। बछवेको तो अपनी सन्तान ही समझती थीं। वे मन-क्रम-वचनसे पतिकी ही तरह हिंदू थीं। हिंदू-जातिकी सेवाके लिये उनका हृदय सदैव उत्सुक रहता था।

एक बार श्रीविजयराघवाचारीने मालवीयजी महाराजसे पूछा था—'कुटुम्बमें कितने बच्चे हैं?' मालवीयजीने मुसकराकर कहा, 'मुझे कुछ देरतक सोचनेका समय दीजिये।' महाराजका परिवार बड़ा लंबा-चौड़ा है। उन्होंने कहा—'क्या बताऊँ; मैं और मेरी स्त्री ही इसके लिये जिम्मेदार हैं।' महाराज पत्नीको बहुत मानते थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि उस तपस्विनीके स्वार्थ-त्यागने उन्हें जीवन-यात्रामें इतना आगे बढ़ाया है।

धर्म-पालन तो उनके जीवनका सबसे बड़ा कर्तव्य था। वे ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखती थीं। यद्यपि उनकी शिक्षा सामान्य थी, संस्कृत और हिंदीका थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था, फिर भी रामायण और गीताका पाठ अच्छी तरह कर लेती थीं और नित्य करती थीं। गङ्गा-मातामें तो उनकी अगाध श्रद्धा थी, वे नित्य तीन बजे रातको ही अड़ोस-पड़ोसकी स्त्रियोंके साथ गङ्गा-स्नान करने जाया करती थीं। मरते समयतक गङ्गा-स्नानका नियम चलता रहा। जीवनकी अन्तिम अवस्था उन्होंने पतिके साथ काशीमें ही बितायी। उन्होंने कभी दूसरेके हाथकी बनायी रसोई नहीं खायी। आदर्श हिंदू-परिवारके लिये यह बड़े गौरव और स्वाभिमानकी बात थी। सत्तर सालकी अवस्थामें भी, यद्यपि वे बहुत कमजोर हो गयी थीं, आचार-विचारसे जीवन बितानेमें ही उन्होंने आत्म-गौरव अनुभव किया। नन्दनवनमें पतिकी पुष्प-शय्या सजानेके लिये वे महाराजसे कुछ साल पहले ही चली गयीं

—रा० श्री०

माता कस्तूरबा

यद्यपि वीराङ्गना दुर्गावती और लक्ष्मीबाईकी तरह कस्तूरबाने तलवार नहीं उठायी, अहल्याबाईकी तरह सिंहासनपर बैठकर राज-कार्य नहीं चलाया, फिर भी उनमें अपार शौर्य और साहस था और वे गुण विद्यमान थे, जो गाँधीजी-जैसे नर-रत्नकी धर्मपत्नीके लिये आवश्यक थे। वे राष्ट्रकी सच्ची सेविका थीं; धरतीके टुकड़ोंपर नहीं, देशके मानव-मात्रके हृदयोंपर उनका राज्य था। उनकी सत्ता महल और झोंपड़ीपर समानरूपसे थी।

उन्नीसवीं सदीका अन्तिम चरण गुलामी और विदेशी शासनकी बेड़ीसे जकड़ा हुआ था। भारतवर्षके लिये यह महान् संकटका समय था। भारतीयोंको पराधीन बनाये रखनेकी बड़ी-से-बड़ी चाल चली जा रही थी। इसी समय भारतके भाग्य-गगनमें कुछ दिव्य नक्षत्र उदय हुए, पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर तीर्थराज प्रयागमें हिंदूधर्मके भूषण महात्मा मालवीयजीका जन्म हुआ। स्वाधीनताकी स्वच्छ ज्योत्स्ना अँगड़ाई लेने लगी। संयोगकी बात है, इसी परिस्थितिमें गाँधीजी और उनकी धर्मपत्नी कस्तूरबाईने पोरबन्दरमें एक ही समय दो-चार मास आगे-पीछे सन् १८६९ ई०में जन्म लिया। दोनोंके पिता एक दूसरेके घनिष्ठ मित्र थे। कस्तूरबाईके पिता गोकुलदास मकनजी एक प्रसिद्ध व्यापारी थे और माताका नाम वृजकुँवरि था। 'बड़े बापकी बड़ी बेटी' होनेसे उनका लालन-पालन बहुत अच्छी तरह हुआ। कस्तूरबाईके माता-पिता कट्टर वैष्णव थे और धार्मिक विचारोंमें उनकी दृढ़ आस्था थी। तेरह सालकी ही अवस्थामें कस्तूरबाईका विवाह गाँधीजीसे कर दिया गया। गृहस्थाश्रम-प्रवेश सरस और सुखपूर्ण था। यद्यपि गाँधीजी पत्नीके प्रति कुछ कड़े थे, फिर भी दाम्पत्य-जीवनकी स्निग्धता और मार्दवसे दोनोंके दिन सानन्द बीत गये। कस्तूरबाईका चरित्र इतना विशाल और गौरवपूर्ण था कि महात्मा गाँधीका एकपत्नीव्रत अक्षुण्ण रहा। अठारह सालकी अवस्थामें ही कस्तूरबाईको माता बननेका सौभाग्य मिला।

गाँधीजीकी जीवन-यात्रा कस्तूरबाके साथ आरम्भ हुई। गाँधीजीको यही सनक लगी रहती थी कि उनकी पत्नी आदर्श पत्नी कहलाये। बाल्यावस्थामें कस्तूरबाको पर्याप्त शिक्षण नहीं मिला था। गाँधीजीकी प्रेरणासे उन्होंने गुजराती भाषाका थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया। गाँधीजी पातिव्रत्यधर्मपालनपर बहुत जोर देते थे। उनकी स्वाभाविक इच्छा थी कि पत्नी उनके कठोर नियन्त्रणमें रहे। विवाह होनेके कई साल बादतक गाँधीजी हाईस्कूलमें पढ़ते थे; परन्तु पत्नीके साथ घरपर रहकर सुखपूर्वक गृहस्थ-जीवन बितानेमें उन्हें किसी अड़चनका सामना नहीं करना पड़ा। गाँधीजीको बैरिस्टरीका प्रमाणपत्र प्राप्त करनेके लिये विलायत जाना पड़ा। इस अवकाशमें कस्तूरबामें संयम, नियमन और सहिष्णुताका उचित मात्रामें विकास हुआ; भावी जीवन-संग्रामकी तैयारीका अच्छा अवसर मिल गया। पतिकी दक्षिण अफ्रीका-यात्रामें तो उन्हें साथ जाना पड़ा। वे गाँधीजीसे उनकी योजनाओंमें सहमत हो जाया करतीं और विदेशमें उन्होंने आदर्श हिंदू-महिलाकी तरह पतिके चरण-चिह्नोंका अनुगमन किया। कस्तूरबाको गृहस्थ-जीवनका आनन्द और सुख अफ्रीकामें ही मिल सका। तपोमय जीवन-यज्ञमें स्वार्थोंकी आहुति कर पतिके सुख-दुःखमें हाथ बँटाना ही उनका कर्तव्य हो गया। वे एक महान् सत्याग्रहीकी जीवनसंगिनी बन गयीं। अफ्रीकाका जीवन उनके लिये अग्नि-परीक्षा था। गाँधीजीने अपने 'सत्यके प्रयोग' ग्रन्थमें लिखा है कि 'अपने अत्याचारों और कठोर नियमोंसे जो दुःख मैंने अपनी पत्नीको दिया है, उसके लिये अपने आपको कभी क्षमा नहीं कर सकता।' एक हिंदूपत्नी ही ऐसे अत्याचारोंको सहन कर सकती है। बा सहनशीलताकी अवतार थीं। कस्तूरबामें जहाँ स्वाभिमान था, वहीं कष्टसहिष्णुताकी अपरिसीम शक्ति भी थी। अफ्रीकामें गाँधीजीका जीवन एक प्रयोगशाला बन गया। उन्होंने बाको कपड़े धोने, बर्तन माँजने आदिकी भी शिक्षा दी। एक बार कस्तूरबा दक्षिण अफ्रीकामें असाध्य रोगसे पीड़ित थीं, डाक्टरोंने मांसका झोल (रसा) देनेका निश्चय किया; परन्तु बाने अति दृढ़तासे भगवान्‌के भरोसे अस्वीकार कर दिया। सरकारद्वारा विवाहोंकी रजिस्टरी कराये जानेका कानून स्वीकृत होनेपर आशंका उठ खड़ी हुई कि बहुत-से भारतीयोंका विवाह अवैध ठहरा दिया जायगा और विवाहिताएँ रखेल समझी जायँगी। गोरी सरकार इस तरह भारतीयोंकी सम्पत्तिपर हाथ साफ करना चाहती थी। इसपर गाँधीजीके नेतृत्वमें आन्दोलन चलाया गया और वे कुछ सत्याग्रहियोंके साथ जेलमें बंद कर दिये गये। पतिकी अनुगामिनी कस्तूरबाने वहाँकी महिलाओंमें घूम-घूमकर सत्याग्रहका शङ्ख फूँका और स्मट्सकी सरकारने उन्हें भी जेलमें बंद करनेमें ही अपनी सुरक्षा समझी। इस अग्निपरीक्षामें गाँधी-दम्पति सफल हुए। सत्याग्रहके सेनानी और उसकी

पत्नीकी यह एक असाधारण विजय थी। जीवनका एक अध्याय अफ्रीकामें ही पूरा हो गया।

सात्त्विकता और सादगी बाके जीवनकी बहुत बड़ी निधि थी। गाँधीजीके भारत लौटनेपर बाको विकट-से-विकट और संघर्षपूर्ण परिस्थितियोंका सामना करना पड़ा। गाँधीजीने चम्पारन-सत्याग्रहके समय देहातके किसानोंको धैर्य देने और देहातोंकी सफाई आदिकी व्यवस्था करनेका काम बाको दिया। श्रीमती कस्तूरबाने घर-घर जाकर चम्पारनके दीन-हीन और निर्धनताके कारण मलिन रहनेवाली स्त्रियोंको सफाईसे रहने तथा प्रतिदिन नहाते रहनेकी सीख दी।

कस्तूरबा संयम और धैर्यकी सजीव प्रतिमा थीं। उन्होंने अपने शिष्ट और मधुर व्यवहारसे गाँधीजीकी महत्ताके मन्दिरके कपाट खोल दिये। गाँधी-दम्पतिका जीवन अत्यन्त पवित्र और प्रेमपूर्ण था। सन् १९०६ ई०में महात्माजीने ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया, इस समय बाकी अवस्था पैंतीस सालकी थी। उन्होंने एक साध्वी और सती पत्नीकी तरह वासनाओंका त्याग कर गाँधीजीके लिये एक आदर्श महापुरुष बननेका मार्ग परिष्कृत कर दिया। गाँधीजीने एक स्थलपर लिखा है—'जिस दिनसे ब्रह्मचर्यका आरम्भ हुआ, हमारी स्वतन्त्रता भी आरम्भ हो गयी। मेरी पत्नी स्वामी और पतित्वके नियन्त्रणसे मुक्त हो गयी; मैं भी उस तृष्णाकी दासतासे मुक्त हो गया, जिसे वह शान्त करनेके लिये विवश थी। मेरे लिये पत्नीके रूपमें जितना आकर्षण कस्तूरबामें था, उतना किसी औरके प्रति नहीं रहा। मैं अपनी पत्नीके प्रति पतिरूपमें अत्यन्त अनुरक्त था।' कस्तूरबा महात्माजीके लिये सांसारिक प्रेमसे बहुत ऊपरकी वस्तु बन गयी थीं।

साबरमती और सेवाग्रामके आश्रमवासियोंके लिये तो वे साक्षात् देवी थीं। वे सच्चे अर्थमें उनकी माता थीं और दिन-रात एक राजरानीकी तरह अपने गृहसाम्राज्यकी व्यवस्थामें तल्लीन रहती थीं। आश्रमकी देख-रेखके साथ-ही-साथ वे पतिद्वारा सत्याग्रह-संग्राम छेड़े जानेपर गाँव-गाँवमें घूम-घूमकर गरीब और असहाय देहातियोंमें जीवन भरती थीं। एक बार गाँधीजीके गिरफ्तार हो जानेपर कस्तूरबाने सच्ची सहधर्मिणीके समान पतिका अनुगमन कर तीन आदेश दिये—सब स्त्री-पुरुष विदेशी कपड़े पहनना छोड़ दें; सब स्त्रियाँ चरखा चलाना और सूत कातना राष्ट्रीय कर्तव्य समझें; व्यापारी विदेशी कपड़े खरीदना बंद कर दें; कर्नल लिडल हार्टने एक स्थलपर लिखा है, 'हिंदुस्थानमें जानेपर हमें श्वेत खादी वस्त्रमें परिवेष्टित इससे अधिक दर्शनीय वस्तु न मिलेगी जो प्रथम कोटिकी गृहिणीके रूपमें सेवाग्राममें निवास करती है और आश्रमवासियोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें लगी रहती है।'

महात्मा गाँधीकी ही तरह कस्तूरबाने भारतके स्वाधीनता-आन्दोलनमें बार-बार योग दिया था। यद्यपि १९२१ में सत्याग्रह और असहयोगकी लड़ाई छिड़नेपर वे जेल नहीं गयीं, फिर भी आन्दोलनको सफल बनानेमें वे भारतीय महिलाओंमें सबसे आगे थीं। बाके घरेलू प्रयोग और राजनीतिक क्रिया-कलाप भारत और विश्वके लिये कल्याणकारी सिद्ध हुए। बारदोली सत्याग्रहमें गाँधीजीके पकड़ लिये जानेपर बाने अपने वीरोचित गुणोंका परिचय दिया। उनके प्रयत्नसे दीन-हीन किसानोंका साहस बढ़ता गया। गुजरातके किसान बाको साक्षात् जगदम्बा समझते थे।

सन् १९३३ ई०से ४३ई० तक बाका जीवन सेवाग्रामके तपोवनमें बहता हुआ स्रोत-सा था। सन् १९३९ ई०में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़नेपर गाँधीजीने विदेशियोंसे स्वाधीनताकी माँग की। गोरी सरकारके कान बहरे हो गये, महात्माजीने व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलनका नेतृत्व किया, उनकी पत्नीने इस शुभकाममें पर्याप्त सहायता दी। सन् बयालीस ई०के नौ अगस्तको महात्मा गाँधी और उनके अनुयायी पकड़ लिये गये। पतिकी अनुपस्थितिमें उसी दिन शामको शिवाजी-पार्कमें बाने व्याख्यान देनेका निश्चय किया; परन्तु उन्हें पकड़कर आगाखाँ-महलमें भेज दिया गया। इस बार जेलके बदले महलमें ही जाना पड़ा। इस विशाल राजप्रासादमें वे एक क्षणके लिये भी पतिसेवासे विमुख न हुईं। कालान्तरमें गाँधीजीके दाहिने हाथ महादेव भाईकी मृत्यु और बापूके इक्कीस दिनोंके उपवाससे बाका हृदय जर्जर हो उठा। हृदयरोगका दौरा फिर आरम्भ हो गया। धीरे-धीरे गुर्दोंने काम करना छोड़ दिया और निमोनियाके आकस्मिक आक्रमणने उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय कर दी।

२२ फरवरी १९४४ बाका अन्तिम दिन था। शिवरात्रिकी पवित्र तिथि थी। मृत्यु अपनी काली भुजाओंसे आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ पड़ी, मानो उसे भी अमर होनेकी साध-सी लग गयी थी। भगवान् सूर्य विदा ले चुके थे। संध्या विष उगलती आ पहुँची। बा बापूकी गोदमें विश्राम कर रही थीं। घड़ीने टिक-टिक साढ़े सात बजा दिये, बाने आँखें मूँद लीं। अन्तिम यात्राका दृश्य अत्यन्त हृदयविदारक था।

···दूसरे दिन अन्तिम-संस्कारके पूर्व बाको स्नान कराया गया, गाँधीजीके हाथके कते सूतकी साड़ीसे शव लपेट दिया

गया। तुलसीकी कण्ठी गलेमें पहना दी गयी। माथेपर चन्दन तथा कुंकुमका लेप किया गया। शवके निकट ही ॐ और स्वस्तिक बनाये गये। बापूने कहा, 'बा गरीबकी पत्नी थीं, मुझे चन्दनकी लकड़ी गरीब आदमी कहाँसे लायेगा?' इसपर जेलका अध्यक्ष बोल उठा कि 'मेरे पास है।' गाँधीजीने कहा, 'आप सरकार हैं, सरकारकी वस्तु लेनेमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है।' अग्नि-संस्कारके समय डेढ़ सौ सगे-सम्बन्धी उपस्थित थे। गाँधीजीके कहनेपर उनके छोटे पुत्र देवदासने दाह-संस्कार किया। उन्होंने तीन बार परिक्रमा की और फिर 'गोविन्द-गोविन्द'की ध्वनिमें आग प्रज्वलित हो उठी। गाँधीजी आँसू न रोक सके। उन्हें शालसे आँसू पोंछते देखा गया। जीवन-संगिनीका वियोग उनके लिये असह्य हो उठा। सब लोगोंके चले जानेपर चारपाईपर लेटे हुए बापूने कहा था, 'बाके स्नेहशील जीवनकी कल्पना नहीं की जा सकती। मैं अवश्य चाहता था कि बा मेरे सामने ही चली जायँ; परन्तु वे मेरे जीवनका अविभाज्य अङ्ग थीं। उनकी मृत्युसे मेरे जीवनमें जो सूनापन पैदा हुआ है, वह कभी पूरा नहीं हो सकेगा।' हिंदूधर्ममें आस्था रखनेवाली बाके इच्छानुसार उनकी अस्थियाँ प्रयागराज त्रिवेणी पहुँचायी गयीं।

कस्तूरबा एक श्रद्धालु पत्नी और स्नेहमयी माता थीं। महामना मालवीयजीने समवेदना प्रकट करते हुए कहा था—'ईश्वरको धन्यवाद है कि वे सौभाग्यवती होकर गयीं, जिस पदको पानेके लिये भारतीय महिलाएँ प्रार्थना किया करती हैं।'

—रा० श्री०

मैसूरकी महारानी लक्ष्मम्मणी

(लेखक—श्री जी. एस्. जोशियर बी. ए.)

देवी लक्ष्मम्मणीका जन्म सन् १७४२ में हुआ था। उनकी नौ-दस वर्षकी अवस्थामें ही उनके पिता त्रिचनापल्लीके युद्धमें अंग्रेजोंद्वारा बन्दी बना लिये गये। पितामहके निरीक्षणमें ही उनका पालन-पोषण हुआ। उन्होंने कन्नड़ तथा संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त की और साथ ही धार्मिक ग्रन्थोंका अवलोकन भी किया।

जब वे सतरह वर्षकी थीं, महाराजा इम्मडी कृष्णराज ओडेयर मैसूर-नरेशसे उनका विवाह हुआ। महाराजकी प्रथम पत्नीका देहावसान हो गया था। राजमाताकी प्रेरणासे महाराजने इस वर्ष दूसरा विवाह वेल्लूर देवाजम्मणीके साथ भी किया। पति एवं राजमाता दोनोंकी समान-भावसे महारानी लक्ष्मम्मणी सेवा करती थीं और जब महाराज तथा राजमातामें मन-मुटाव हुआ, तब भी वे दोनोंकी प्रियपात्र बनी रहीं। राजमाताने एक बार ब्राह्मणोंको दान देना चाहा और इनकी प्रेरणासे महाराजने वह दान दिया।

महाराजने हैदरअली खाँ नामक एक गुलाम मुसल्मानको दस सहस्र स्वर्ण-मुद्रामें खरीदा था। वह बँगलोरमें गोपालरावजीके समीप नियुक्त था। गुलामीसे मुक्त करनेका बदला उसने विश्वासघातके रूपमें दिया। दस वर्षमें अपनी कूटनीतिके द्वारा उसने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। दरबारके प्रधान हिंदू-अधिकारियोंको नीचा दिखाकर अनेक षड्यन्त्रोंसे उसने पृथक् कर दिया। महाराज और राजमाताको उसके सम्मुख विवश होना पड़ता था। सन् १७६० में हैदरअलीने महाराजकी इच्छाके विरुद्ध अंग्रेज-फ्रेंच युद्धमें फ्रांसीसियोंकी सेनाद्वारा सहायता की। महाराजने अपना प्रतिनिधि अंग्रेजोंके पास सहायतार्थ भेजा।

हैदरअलीके वशमें सम्पूर्ण सैन्य था। इसी विषम परिस्थितिमें राजमाताका देहान्त हो गया। थोड़े दिनोंमें छोटी महारानी भी एक पुत्र छोड़कर परलोकवासिनी हुईं। सन् १७६६ में महाराज भी इस लोकसे चल बसे। महाराजने लक्ष्मम्मणीसे अन्तिम समयमें मुसलमानोंके हाथसे राज्यका उद्धार करनेका अनुरोध किया। पतिका यही आदेश महारानीका जीवन-व्रत बना। वैधव्य-शोक, युवावस्था, परावलम्बन; परन्तु उन धीराने सबको सहन किया।

हैदरअलीने महाराजके ज्येष्ठ पुत्रको छोड़कर दूसरे पुत्र बेट्टद चामराज ओडेयरको, जो महारानीकी सपत्नीके पुत्र थे, गद्दी दी। महारानीने राजमाताके प्रधानके पुत्र तिरुमलरावकी सहायता ली और अन्तमें हैदरअलीने नंजराज ओडेयरको गद्दीपर बिठाना स्वीकार कर लिया। महारानीने हैदरअलीके प्रभावसे राज्यको मुक्त करनेके लिये सन् १७६३में पेशवा माधवरावसे सहायता चाही। महाराष्ट्र-सेना आयी; किंतु हैदरने उससे सन्धि कर ली। दूसरी बार पुनः प्रार्थना की गयी; पर प्रतिपक्ष सन्धि करनेमें सफल हुआ। सन् १७७६ में बेट्टद चामराज ओडेयरका अल्पायुमें देहान्त हो गया।

कोई राजपुत्र न होनेसे महारानीने दत्तक लेना चाहा; पर दत्तक हैदरके इच्छानुरूप आया। महारानीको राजमहल छोड़ना पड़ा। वह दत्तक चामराज ओडेयर नामसे गद्दीपर बैठा। राजमाता एक सपत्नी हुई।

महारानीके पास न जन थे और न धन; पर पतिके दिये कार्यको उन्हें प्राणपणसे पूर्ण करना था। अब उन्होंने मद्रासके अंग्रेज गवर्नरके पास पत्र भेजा। वहाँसे निराश होनेपर तिरुमलरावजीसे सहायता माँगी गयी। यह भेद खुल गया। तिरुमलरावको हैदरअलीने फाँसीकी सजा दी। किसी प्रकार भागकर वे मद्रास पहुँचे। लार्ड पिगटने उन्हें तंजौर भेज दिया। अन्तमें तंजौरके रेजिडेण्ट सालविनकी चेष्टासे गवर्नर मेक्कार्टनीसे एक सन्धि हुई। अंग्रेजोंने हिंदू-राज्यका उद्धार स्वीकार किया और महारानीने दस लाख स्वर्ण-मुद्रा तथा छः लाख वार्षिक देना स्वीकार किया।

हैदरअलीका देहान्त हो गया। उसके स्थानपर उसका पुत्र टीपू सुल्तान नवाब बना। उसके विरुद्ध महारानीके पक्षके लोगोंने जो योजना की, उसका भेद समयसे पूर्व प्रकट हो गया। अनेकों लोग हाथीके पैरोंके नीचे कुचल दिये गये। सैकड़ों तोपसे उड़ा दिये गये। अंग्रेजी-सेनाने टीपूसे सन्धि कर ली। महारानी प्रायः बन्दी हो गयीं। टीपूने अपनेको सुल्तान घोषित कर दिया। सन् १७८९में जनरल मेडोसने टीपूपर चढ़ाई की। महारानीने सहायताका वचन दिया; परंतु अंग्रेजोंने पुनः नवाबसे सन्धि कर ली। यह सन्धि लार्ड कार्नवालिसने की।

सन् १७९६ में महाराजा खासा चामराज ओडेयरका शरीरान्त हो गया। शिशुमुम्मड़ी कृष्णराज ओडेयर ही इस वंशमें शेष थे। महारानीने पुनः अंग्रेजोंसे प्रार्थना की और सन्धिका स्मरण कराया। जनरल हैरिसके नेतृत्वमें पुनः अंग्रेजी-सेना आयी। टीपूने सन्धिकी प्रार्थना की। महारानीने इसका घोर विरोध किया और सभी अंग्रेज-अधिकारियोंके पास आवेदन-पत्र भेजे। अन्तमें टीपू युद्धमें मारा गया। टीपूके पुत्रको जनरल हैरिस गद्दी देना चाहता था, किंतु गवर्नर-जनरल मैनिंगटनने पुरानी सन्धिका स्मरण करके हिंदू-राज्यकी प्रतिष्ठा स्वीकार की। ३० जून सन् १७९९ में मुम्मडी कृष्णराज ओडेयर मैसूरकी गद्दीपर विराजे। तीस वर्षकी कठोर तपस्याका फल आज महारानीने पाया। पतिके अन्तिम आदेशको आज वे पूर्ण कर सकी थीं।

महारानी विवाहके पश्चात् सात वर्षके बाद ही विधवा हुई थीं। चौबीस वर्षकी अवस्थामें उनपर ये आपत्तियाँ आयीं और पतिकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये वे इनसे बराबर तीस वर्ष संग्राम करती रहीं। महाराजके वंशधरको प्रतिष्ठित करके अड़सठ वर्षकी आयुमें सन् १८१०में उन्होंने शरीर छोड़ा।

—रा० श्री०



देवी मरियम

(ईसु खीस्टकी माता)

दो हजार साल पहलेकी बात है; पश्चिमी एशियाके बेथलहेम नगरमें महात्मा ईसाने जन्म लिया था। उनकी माताका नाम मरियम (मेरी) और पिताका नाम यूसुफ था। इस समय यूरोप और विश्वके एक बहुत बड़े भागपर बर्बरों और अशिक्षितोंका साम्राज्य था। बेबीलोनिया, रोम आदि बड़े-बड़े नगरोंमें भौतिकताका बोल-बाला था। भारतवर्ष सभ्यताकी पराकाष्ठापर था, वह सारे विश्वको आध्यात्मिक प्रकाश दे रहा था। तत्कालीन यूरोपीय और कुछ एशियाई देशोंको ईसा-ऐसे महापुरुषकी आवश्यकता थी। मरियमने ऐसे पुत्ररत्नको जन्म देकर विश्वके इतिहासमें अपने आपको अमर कर दिया। मरियम यहूदी जातिकी थी, यह जाति अत्यन्त सभ्य और उन्नतिशील थी। उसका विश्वास था कि किसी-न-किसी दिन एक दिव्य आत्मा उतरकर पापमूलक आसुरी शक्तियोंका अन्त कर देगी।

बेथलहेमके राजाका नाम हिरोद था। मरियमका पति यूसुफ इसी नगरका रहनेवाला था। हिरोद यूसुफ दम्पतिसे बहुत जलता था; क्योंकि उसे मालूम हो गया था कि उनकी सन्तान मेरा विनाश करेगी। ...... मरियमका विवाह होनेपर यूसुफको जब ज्ञात हुआ कि वह अनूढावस्थासे ही गर्भवती है, वह उसे चुपकेसे अपने पाससे अलग कर देना चाहता था, परंतु मरियम तो सर्वथा निर्दोष थी। एक रातको यूसुफसे एक देवदूतने स्वप्नमें कहा, 'मरियमके गर्भमें जो सन्तान है, वह पवित्र आत्माकी ओरसे है।' कुमारी मरियमने कुछ दिनोंके बाद ईसाको जन्म दिया। हिरोदने ईसाको अपना शत्रु समझकर राजाधिकारियोंको आज्ञा दे दी कि सारे राज्यमें दो सालके शिशुओंकी हत्या कर दी जाय। मरियम अपने पतिके साथ मिश्र चली गयी। हिरोदके मरनेपर मरियम

अपने पति और पुत्र ईसाके साथ इस्राईल देशमें चली आयी। वहाँसे उन्हें नजरत देशमें जाकर रहना पड़ा। इन यात्राओंमें मरियमको बहुत-सी विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ा, परंतु उसने विशाल पातिव्रत्य और मातृत्वका परिचय दिया। ईसाको महात्मा बनानेमें उसका बहुत बड़ा हाथ था।

मरियम प्रत्येक वर्ष अपने पतिके साथ यरुशेलममे तीर्थयात्राके लिये जाया करती थी। इस तीर्थयात्रामें एक साल ईसा यरुशेलममे ही ठहर गये; उनके माता-पिता बारह सालके ईसाको अपने पास न देखकर चिन्तित हो उठे और एक दिनका पड़ाव समाप्त करनेके बाद मरियम यरुशेलम लौट आयी। उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ईसा मन्दिरमें बैठकर धर्मज्ञोंसे प्रश्नोत्तर कर रहे है। मरियमने ईसाको गले लगा लिया और कहा, 'तुमने हमलोगोके साथ ऐसा व्यवहार क्यो किया, तुम्हारे पिता और मैं ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये।' पवित्र मन्दिरमें अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रको पाकर मरियम अत्यधिक प्रसन्न हुई।

मरियमका अधिकांश जीवन एक नगरसे दूसरे नगरमे घूमते रहनेमे ही बीता। उसे सदैव इसी बातका ध्यान रहता था कि वह ईसाकी किस तरह रक्षा करे। वह ईसाको भगवत्-सम्बन्धी शिक्षा देकर उनमे ज्ञान और धर्मोचित प्रतिभाका विकास करती रहती थी तथा धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाया करती थी; ईसाके चरित्र-विकासपर इन बातोंका बड़ा प्रभाव पड़ा और उनका आत्मबल बढ़ता गया। ईसाको सच्चे अर्थमे ईश्वर-पुत्र सिद्ध करनेका श्रेय मरियमको ही था। मरियमके ही प्रयत्नोसे शैशवावस्थामे ही लोग ईसाको धर्म-पुत्र कहकर पुकारा करते थे।

मरियमके चरित्रलेखकोने उसको ईश्वरसे मानवको मिलानेवाला सूत्र माना है। कुमारी मरियमको ईसाई-संसार पवित्र ईश्वरीय निधि समझता है। ईसाई संतोने अपने धर्म-ग्रन्थोमे मरियमका गुण-गान बहुत अच्छी तरह किया है, उनके लिये मरियम पवित्रतम दिव्य विभूति थी। मरियमने एक अपना सम्प्रदाय भी चलाया था, जिसके अनुयायी कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत संख्यामे अब भी पाये जाते हैं। कैथलिक गिर्जाघरोमे मरियमके सम्मानमे बहुत-से उत्सव समय-समयपर किये जाते है। पूरा-का-पूरा मई मास मरियमका एक पवित्र स्मारक माना जाता है और प्रत्येक शनिवारको गिर्जाघरोमे पादड़ी इस महान् आत्माका स्मरण करते है।

मरियमका ईसाके लिये यही अन्तिम आदेश था कि वह मानवोको ईश्वरीय विभूतिके साक्षात्कारमे सहायता दें। ईसाई-संसारमे मरियमका नाम अमिट है। —रा० श्री०



साध्वी रानी एलिजावेथ

साध्वी एलिजावेथका जन्म सन् १२०७ ई०में हंगरीके राजा एण्ड्रूके घरमे हुआ था। इस राजवंशमें बहुत-से धार्मिक पुरुष हो चुके थे। इसी परम्पराके प्रभावसे एलिजावेथके माता-पिता भी उच्चभावापन्न एवं धर्मपरायण थे। इसी कारण उन लोगोंने अपनी प्रिय पुत्रीके मनमे भी धार्मिक भाव जागरित करना आरम्भ कर दिया। बचपनसे ही एलिजावेथको धार्मिक चर्चा बड़ी प्रिय लगती और वह भगवान्की पवित्र लीलाएँ सुन-सुनकर आनन्दसे गद्गद हो जाती।

एलिजावेथके सौन्दर्य और धार्मिक भावनाओकी प्रशंसा सुनकर सेक्सनीके प्रतापी और धार्मिक राजा हारमैन (Hermann) ने हंगरीकी राजकुमारी एलिजावेथको पुत्र-वधू बनानेका विचार किया और अन्तमे उनके पुत्र राजकुमार लुई (Louis) से एलिजावेथका विवाह होना निश्चित हो गया। उस समयके राजपरिवारके नियमानुसार वाग्दान हो जानेपर पॉच वर्षकी अवस्थामे ही एलिजावेथको अपनी ससुराल आना पड़ा। उसके सास-ससुर उसे अत्यन्त प्यारके साथ रखने लगे।

कुछ ही दिनोंमे एलिजावेथकी मा किसी षड्यन्त्रकारीके हाथो अपने पतिकी रक्षा करती हुई परलोक सिधारी। यह समाचार पाकर एलिजावेथ घबरा गयी। उसने उसी दिन निश्चय किया कि 'इस नश्वर जगत्मे मैं केवल ईश्वरको ही सबसे अधिक प्यार करूँगी' और तभीसे वह भगवान्की ओर द्रुतगतिसे बढ़ने लगी। कभी-कभी वह श्मशानमें चली जाती और कब्रोमे सोये लोगोकी स्मृतिसे 'एक दिन मेरी भी यही दशा होगी' सोचकर अपने पापोंकी क्षमाके लिये भगवान्से प्रार्थना करने लगती।

एलिजावेथ शैशवसे ही अपने ऊपर प्रभुकृपाका अनुभव कर रही थी। इसके श्वशुर हारमैन इसे बहुत प्यार करते थे, परंतु कुछ कालमे वे भी कालके गालमे चले गये। अब उसकी देख-रेखका सारा दायित्व सास सोफियापर पड़ा। सोफिया

अत्यन्त विलासिनी प्रकृतिकी थी। उसे एलिजाबेथकी हर समयकी धार्मिक चर्चा प्रिय नहीं लगती थी। वह एलिजाबेथको बहुमूल्य रत्नालङ्कारविभूषित सौन्दर्यमयी तितलीके रूपमें देखना चाहती थी; पर एलिजाबेथको यह अच्छा नहीं लगता था। उसके पति विदेशमें शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस कारण उसे सोफियाके बर्तावसे बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। वह घबराकर बार-बार भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी।

सोफियाकी विशेष आज्ञासे एक दिन एलिजाबेथ सुन्दर आभूषण पहनकर उपासनागृहमें जा रही थी। जाते समय अचानक उसकी दृष्टि मृत्युके लिये तैयार क्रूसविद्ध ईसामसीहके चित्रपर पड़ी। उसे देखते ही वह अपना मुकुट उतारकर सिर झुकाकर प्रार्थना करने लगी।

'मुकुटका भार सँभाला नहीं जाता क्या ? जो सिर खोलकर निर्लज्ज बनी बैठी है'—नंगे सिरके बिखरे बाल देखकर अत्यन्त रोषसे सोफियाने कहा।

'काँटोंका मुकुट प्रभुके मस्तकपर देखकर भी अपने ऊपर स्वर्णमुकुट धारण करना प्रभुका अपमान करना है, मा !' एलिजाबेथने विनयसे उत्तर दिया।

'तुम्हारी यही दशा रही तो तुम मेरे भाईकी धर्मपत्नी नहीं बन सकोगी। तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ तो यहाँ दासी बनने योग्य हैं'—एलिजाबेथकी ननद एग्नेसने कहा। उसे भी एलिजाबेथका यह ढग बहुत बुरा लगा।

पर एलिजाबेथने कोई उत्तर नहीं दिया। वह प्रभु-प्रार्थनासे विरत नहीं हो सकी।

राजकुमार लुई शिक्षा प्राप्त करके वापस आये। वे धीर, वीर, उदार थे। उन्हें उनकी मा और बहिनने एलिजाबेथके विरोधमें उभाड़ना चाहा, पर उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे एलिजाबेथसे बड़े प्रेमसे मिले। सन् १२२० ई० में वार्टबर्ग (Wartburg) महलके गिरजेमें धूमधामसे दोनोंका विवाह हो गया।

एलिजाबेथको धार्मिक पतिका पूर्ण प्रेम प्राप्त था। अब वह खुले हृदय भगवद्भजन करती थी। दीन, अनाथोंकी सेवा वह खुलकर करती। प्रतिदिन बारह कोढ़ियोंके पैर धोकर वह उपासनागृहमें प्रवेश करती। उसने अपने महलके पास ही कुष्ठके रोगियोंके लिये चिकित्सालय निर्माण कराया। इससे बहुत-से अनाश्रितोंको आश्रय मिला। एलिजाबेथ स्वयं कोढ़ियोंकी सेवा अपने हाथों करती। रोगी उसे अपनी मा-बहनके बराबर समझते। एक बच्चोंका भी अस्पताल उसने खुलवाया था। रोगी बच्चोंको अपने ही शिशुकी भाँति वह प्यार करती। बच्चे उसे देखते ही मा-मा चिल्ला उठते। सहस्रों नौकरोंके रहनेपर भी अपने पदका ध्यान न करके वह गरीबोंकी झोंपड़ियोंमें जाती और गरीबोंका दुःख सुनती तथा उसे निवारण करनेका पूर्ण प्रयत्न करती। अपने हाथों भोजन बनाकर वह गरीबोंके लिये भेजा करती।

सन् १२२३ ई० में एलिजाबेथको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। सर्वत्र आनन्द छा गया। एलिजाबेथने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् ! तुम्हारी दी हुई वस्तु तुम्हें ही अर्पण करती हूँ। तुम इसे अपना बनाकर आशीर्वाद दो।'

राजा बाहर चले गये थे। कुछ दिनोंके बाद उनके वापस आनेपर लोगोंने एलिजाबेथके धनका अपव्यय करनेकी शिकायत की; पर इस समाचारसे लुईको प्रसन्नता ही हुई। 'भगवान्‌का धन भगवान्‌के काममें व्यय करनेसे कभी नहीं घटता,' लुईने उत्तर दिया। चुगली करनेवाले बगलें झाँकने लगे।

सन् १२२७ ई० में यूरोपके अनेक ईसाई नरेशोंने विधर्मियोंके हाथोंसे अपने पवित्र तीर्थ जेरूसलमको छुड़ानेके लिये युद्ध करनेका निश्चय किया। उसमें राजा लुई भी गये। पर रास्तेमें ही ज्वराक्रान्त हो उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। पतिके परलोक-गमनका समाचार पाकर छिन्न लतिकाकी भाँति एलिजाबेथ गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गयी।

लुईके भाई हेनरी तथा अन्य कर्मचारियोंने प्राचीन वैरवश विधवा एलिजाबेथपर राज्य-कोषके नष्ट करनेका दोषारोपण किया। हेनरी स्वयं राजा बन बैठा और उसने बड़ी निष्ठुरतासे एलिजाबेथको राज्यसे निकल जानेकी आज्ञा सुना दी। उसने राज्यमें यह भी घोषित कर दिया कि एलिजाबेथको आश्रय देनेवाला व्यक्ति राजद्रोही माना जायगा।

एलिजाबेथ महारानीसे भिखारिन बनी, पर उसके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं थी। वह साध्वी भलीभाँति समझ रही थी कि ममताका बन्धन तोड़नेके लिये करुणामय स्वामीने मुझपर करुणा की है। उसने छोटे-से बच्चेको गोदमें लिया और दो छोटे बच्चोंको साथ लेकर राजपथसे नंगे पाँव चल पड़ी। साथमें उसकी दासी भी थी।

दीनोंकी एकमात्र आश्रयदायिनी रानी भाग्यफेरसे कंगाल बनकर चल रही थी—प्रजा यह दृश्य देखकर आँसू बहा रही थी, पर राज्यभयसे किसीने उसे आश्रय नहीं दिया। उस दिन एक शूकरके निवासमें एलिजाबेथने रात काटी।

एलिजाबेथके मामाको यह समाचार मिला तो वे ढूँढ़कर उसे अपने पास ले गये। एलिजाबेथ वहाँ रहकर भगवान्का भजन और दरिद्रनारायणकी सेवा करने लगी।

हेनरीकी प्रजा उसके कुकृत्योंसे घबरा गयी थी। कुछ तेजस्वी युवकोंने जाकर हेनरीसे कहा—'आपके अधम कृत्योंसे प्रजा ऊब गयी है। तपस्विनी एलिजाबेथके साथ पशुताका व्यवहार किसीको सह्य नहीं है। आप सम्मानपूर्वक उन्हें लौटा लावें और पश्चात्ताप करें। अन्यथा समस्त देशवासी आपको धिक्कारेंगे। आपका कल्याण नहीं होगा।'

'मैंने बुरी सलाह पाकर ऐसा किया था, मुझे अपने कर्तव्यपर घृणा हो रही है।' कहता हुआ हेनरी उठ खड़ा हुआ। वह वहाँसे सीधे एलिजाबेथके मामाके घर गया। एलिजाबेथको देखते ही हेनरी उसके चरणोंपर गिर पड़ा और क्षमाकी प्रार्थना करने लगा।

साध्वी एलिजाबेथके आँसू बह चले। 'तुम्हारा दोष नहीं है, भाई! यह तो सब भगवान्की इच्छा थी' उसने कहा। भगवद्भक्तोंके मनमें शत्रुके लिये भी भलाईकी भावना होती है।

अत्यन्त हठके कारण अनिच्छापूर्वक एलिजाबेथ पुनः चली आयी, पर नगरका कोलाहलपूर्ण वातावरण उसे प्रिय नहीं था। उसने मारबर्ग शहरके एक निर्जन मनोरम स्थानमें अपने रहनेका प्रबन्ध करा लिया। उसके बच्चे भी उससे अलग रह रहे थे। इस कारण वह निर्विघ्न रात-दिन भगवद्भजन एवं दीनोंकी सेवामें ही अपना समय व्यतीत करती थी। उसका वेश भिखारिनोंका था।

एलिजाबेथका समाचार सुनकर उसके पिताका राजदूत काउण्ट बेनी उसे देखने आया। वह एलिजाबेथको साधारण-सी पोशाकमें सूत कातते देखकर आकुल हो गया। 'तुम्हारी ऐसी स्थिति कैसे हुई?' दूतने पूछा। 'मेरे प्रभु इसी वेषमें मुझसे मिल सकेंगे। उन्हें पानेके लिये अब थोड़ा ही मार्ग तै करना है।' एलिजाबेथने हँसते हुए जवाब दिया। दूत निराश होकर लौट गया।

१९ नवम्बर सन् १२३१ ई० की रात्रिमें जाड़ा जोरोंसे पड़ रहा था। नीलाकाश स्वच्छ था। तारे चमक रहे थे। उस समय एलिजाबेथने अपने कमरेसे लोगोंको हटा दिया तथा भगवान्का ध्यान करती हुई वह अपने प्रियतमके देशमें चली गयी।

एलिजाबेथकी रथीके पीछे सहस्रों अनाथ क्रन्दन करते गये थे। उनका आधार मिट गया था।

एलिजाबेथकी मृत्युके चार वर्ष पश्चात् रोमके पोपने उसे साध्वी (Saint) माननेकी घोषणा की। सन् १२३६ ई०-में उसकी समाधिपर एक विशेष अनुष्ठान हुआ और सम्राट् द्वितीय फ्रेडरिकने अपने ही हाथों उस पवित्र समाधिपर सोनेका मुकुट चढ़ाया। एलिजाबेथकी सब सन्तानें भी उस समय वहाँ उपस्थित थीं। उसी समय उसकी कनिष्ठ पुत्रीने अपनी जननीकी पुनीत स्मृति धारण कर संन्यासकी दीक्षा ली। —शि० दु०

देवी जोन

'मैं अपने स्वदेशको दासत्वसे मुक्त करूँगी! पराधीन देशमें वैवाहिक जीवन तथा आमोद-प्रमोदकी बात सोचना अपराध है।' उस युवतीने स्पष्ट शब्दोंमें माता-पिताको अपना निश्चय बता दिया, जब कि वे उसे विवाह कर लेनेको कह रहे थे। फ्रांसपर उस समय अंग्रेजोंका अधिकार था। देशमें स्वाधीनताकी ज्वाला प्रज्वलित हो चुकी थी। यत्र-तत्र देशभक्त संगठन करके शासकोंके विरुद्ध उठते और शासक उन्हें कठोरतासे दबा देते। राज्यका वास्तविक अधिकारी भाग चुका था। फ्रांसकी राजमाताने अंग्रेजोंका दासत्व स्वीकार कर लिया था और पेरिसमें ब्रिटिश सरकारका रीजेंट रहने लगा था। इसी समय फ्रांसकी भूमिने अपने छोटे-से ग्राम डामरेमीमें ६ जनवरी १४१२ ई० को इस तेजस्विनी बालिकाको जन्म दिया।

'जोन! उठ और उस कार्यमें लग, जिसके लिये तेरा जन्म हुआ है! स्वदेशकी स्वाधीनताका मार्ग तू प्रशस्त कर सकेगी। अपने राजकुमारके पास जा! मातृभूमि तुझे युद्ध-क्षेत्रमें पुकार रही है।' एक दिन वह पिताके उपवनमें टहल रही थी। जब वह अपने निजी उपासनागृह (गिरजाघर) की ओर मुड़ी, उसके सम्मुख एक आलोकराशि प्रकट हुई और उस प्रकाशमेंसे इन शब्दोंको बड़ी गम्भीर ध्वनिमें उसने सुना। एक बार तो वह भयभीत हो गयी। शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि उसके हृदयमें अपूर्व शक्ति आ गयी है। उसे विश्वास हो गया कि उसे उसी परमात्माने आदेश दिया है, जिसकी उसे आराधना करनी चाहिये। उसने घुटने टेके, पृथ्वीपर मस्तक रक्खा और भरे दृगोंसे बोली—'मेरे प्रभु, तेरी आज्ञा स्वीकार है।'

वह अपने प्रान्तकी राजधानी लॉरेनमें पहुँची और वहाँके बडरीकोर्टके जज रावर्टसे उसने प्रार्थना की कि उसे राजकुमार डाफिनतक पहुँचा दिया जाय। उसकी प्रार्थना पूरी की गयी। राजकुमारने प्रथम तो उसपर सन्देह किया; किंतु जब उसने आग्रह किया तो प्रान्तके समस्त धार्मिक विद्वान् एकत्र किये गये। विद्वान् पादरियोंने भरी सभामें अनेक प्रश्न करके यह निश्चय कर लिया कि वह सच कह रही है। पादरियोंके गहनतम प्रश्नोंका उत्तर उसने निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट भाषामें दिया था। पादरियोंने घोषित किया कि वह ईश्वरीय संदेशवाहिका है।

उसके लिये सैनिक शिक्षाका प्रबन्ध हुआ। यूरोपमें वह प्रथम स्त्री थी, जिसने सैनिक शिक्षा प्राप्त की और सैनिक वेशमें घोड़ेपर बैठकर, हाथमें नंगी तलवार लेकर रणभूमिमें सेनाका नेतृत्व किया। उसका प्रथम आक्रमण अर्लियंसपर हुआ और विजयश्रीने उसके पैरोंपर मस्तक झुकाया। अनेक रणक्षेत्रोंपर उसने आक्रमण किया। उसमें वह शक्ति थी, जो पहुँचते ही अपने सैनिकोंमें उत्साह एवं बलिदानकी भावना जाग्रत् कर देती थी। अर्लियंस विजय करके उसने फ्रांसके सम्राट्का राज्याभिषेक सम्पन्न कर दिया था।

यूरोपमें धर्मयुद्धकी भावना हम केवल जोनमें पाते हैं। भागते हुए शत्रुपर आक्रमण न करनेकी उसने अपनी सेनामें घोषणा कर रक्खी थी। आहत, शस्त्रहीन शत्रु उसकी दृष्टिमें क्षम्य था। आहत शत्रुकी जब वह अपने हाथों मरहमपट्टी करने बैठती तो शत्रु भी कहता—'जोन! सचमुच तुम देवी हो!' जनताकी भीड़ उसके हाथ और कपड़े चूमनेको सदा उमड़ पड़ा करती थी। इस आदरसे उसने सदा बचने और भागनेका प्रयत्न किया।

कोई सदा विजयी नहीं होता। फ्रांसके रणक्षेत्रमें ८ सितम्बर सन् १४२९ को उसका सामना अपनी सेनासे कई गुनी बड़ी अंग्रेज सेनासे पड़ा। इस युद्धमें वह बहुत आहत हो गयी और पीछे लौटनेको विवश हो गयी। स्वस्थ होनेतक उसे विश्राम करना पड़ा। अंग्रेज सेनानायकोंने समझ लिया था कि इस अलौकिक शक्तिशालिनी महिलासे उन्हें सरलतासे छुटकारा न मिलेगा। जब जोन दूसरी बार रणक्षेत्रमें आयी, अंग्रेजोंने फ्रांसके सम्राट्को सन्धिके लिये प्रलुब्ध किया। जोन सन्धिके विरुद्ध थी; किंतु सम्राट्ने सन्धि स्वीकार कर ली। सैनिकोंमें दो दल हो गये। एक सन्धिका और दूसरा युद्धका समर्थक था। कैम्पेनमें जोन भयङ्कर युद्धमें संलग्न थी। अंग्रेज सेनापतियोंने युद्धके समर्थक बर्गंडीके सैनिकोंको संलग्न शत्रु घोषित किये और उन्होंने जोनको पकड़कर शत्रुके हाथोंमें दे दिया।

'जोन! तुम आज ही कारागारसे मुक्त हो सकती हो! केवल तुम्हें वचन देना होगा कि तुम अब कभी अंग्रेजोंके विरुद्ध शस्त्र न उठाओगी' अंग्रेज सेनापतिने स्वयं कारागारमें उपस्थित होकर कहा।

'फ्रांसकी मैं सेविका हूँ; स्वदेशकी स्वतन्त्रताकी ज्वाला मेरे हृदयमें अमर है। जब भी मुझे अवसर मिलेगा, मातृभूमिको स्वाधीन करनेका मैं प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करूँगी। तुम अपने अधिकारीका आदेश पालन करो। मैं अपने प्रभुकी आज्ञाका पालन कर रही हूँ।' जोनने बड़ी निर्भीकतासे सेनापतिको फटकार दिया। कारागारमें उसे अनेक भीषण यातनाएँ दी गयीं; किंतु वह दिव्य रमणी अविचलित रही।

'यह स्त्री होकर युद्ध करती है और अपनेको ईश्वरीय सन्देशवाहिका बतलाती है। दोनों बातें ईसाई-धर्मकी दृष्टिमें अपराध हैं।' एक वर्ष कारागारकी भीषण यन्त्रणा भोगनेके पश्चात् ९ जनवरीको उसे विचारालयमें उपस्थित किया गया था। उसपर उक्त अपराध था और विचारके लिये फ्रांसके एक विशप न्यायाधीशके आसनपर थे। उसका विचार विचारालयसे उठाकर कारागारमें होने लगा। न्यायालयमें सर्वसाधारणकी भीड़ होती थी और इस विचित्र अपराधका प्रतिवाद करनेवाले वहाँ बहुत निकल सकते थे।

२९ मईको उसे विचारपतिने प्राणदण्डकी आज्ञा सुनायी। ३० मई सन् १४३१ को १९ वर्षकी आयुमें उसे लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसकी धधकती अग्निमें हाथ-पैर बाँधकर फेंक दिया गया। अंग्रेज सैनिकोंने उसे जादूगरनी कहा और इसीलिये जीवित जला डाला। जब वह अग्निमें फेंकी जाने लगी, विचारपति तथा उपस्थित लोगोंके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल रहा था।

'फ्रांस अमर है! वह स्वाधीन होकर रहेगा!' ये जोनके अन्तिम शब्द थे। सचमुच फ्रांस एक ही पीढ़ी पश्चात् अंग्रेज-शासनसे मुक्त हो गया। —सु० सिं०

वीराङ्गना एनिटा

(लेखक—श्रीविश्वनाथ हरि आठल्ये)

इटलीके वीर सेनापति गैरीबाल्डी ब्राजीलके युद्धमें बंदी हो गये थे। किसी प्रकार बंदी-गृहसे निकले और एक नौकाके द्वारा समुद्रीय मार्गसे भागे। शामको नौका एक ग्राममें पहुँची। गैरीबाल्डीने वहीं रात्रि-विश्राम किया। यहीं एनिटासे उनका साक्षात्कार हुआ। यह परिचय प्रेममें परिणत हुआ और कुछ दिनो बाद दोनों वैवाहिक बन्धनमें आबद्ध हो गये। गैरीबाल्डी सेनापति थे, शूर थे। उन्हें बराबर युद्धोंमें जाना पड़ता था। पतिकी छायाकी भाँति वीराङ्गना एनिटा सदा उनके साथ रहती थीं।

एक युद्धमें गैरीबाल्डी पराजित हो गये। उन्हें भागना पड़ा। एनिटाको शत्रुओंने घेर लिया। उस वीर नारीने तलवार खींची और घोड़ा बढ़ाया। शत्रुओंको काटती हुई निकल गयीं। इस समय वे गर्भवती थीं। श्रमने श्रान्त कर दिया। तृष्णा और प्रसूतिपीड़ासे व्यथित होकर घोड़ेको वनमें एक वृक्षसे बाँधकर बैठ गयीं और मूर्च्छित हो गयीं। जब उन्हें चेतना हुई तो देखा कि उनके पतिदेव समीप ही हैं और एक सुन्दर बालकका जन्म हो गया है। गैरीबाल्डी पत्नीको ढूँढ़ते हुए पहुँच गये थे और उपचारमें लगे थे।

देशके उद्धारके लिये पाँच सहस्र सैनिकोंको लेकर शत्रुके पचास सहस्र सैनिकोका सामना करना था। अन्तमें गैरीबाल्डीको पत्नी तथा थोड़े सैनिकोंके साथ भागना पड़ा। विकट संग्रामके पश्चात् भागनेको विवश हुए थे। शत्रु पीछा कर रहा था। बंदूककी एक गोली आयी और उसने वीराङ्गना एनिटाके जीवनदीपको निर्वापित कर दिया। गैरीबाल्डी किसी प्रकार पत्नीके शवको लेकर एक ग्राममें पहुँचे। शत्रुसे छिपकर उन्होंने एनिटाका वहाँ अन्तिम संस्कार किया। एक ग्राममें बनी वह वीराङ्गना एनिटाकी कब्र, जिसपर महासेनापति गैरीबाल्डी बालकोंकी भाँति फूट-फूटकर रोये थे, एक दिन इटलीके लिये तीर्थ हो गयी।

नेपोलियन बोनापार्टकी माता

'मा एक साथ ही कोमल और कठोर थीं। सभी सन्तानें उनके लिये समान थीं। पुत्र-पुत्रियोंमें कोई भेद वे कभी नहीं करती थीं। कुछ भला-बुरा करके हम उनके पास कभी क्षमा नहीं पाते थे। हमारे ऊपर माकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। नीचताकी वे अत्यन्त अवज्ञा करती थीं। उनका मन उदार और चरित्र उन्नत था। मिथ्यासे उन्हें आन्तरिक घृणा थी। औद्धत्य देखकर उनके नेत्र कठोर हो जाते थे। हमारा एक भी दोष उनकी दृष्टिसे छिप सके, यह सम्भव नहीं था।'

—नेपोलियन बोनापार्ट

'वीरोंके शब्दकोशमें असम्भव-जैसा कोई शब्द नहीं' की घोषणा करनेवाले महाशूरको अपनी जननीके उपर्युक्त कठोर नियन्त्रणमें पालन-पोषण प्राप्त हुआ था। फ्रांसके कोर्सिका द्वीपमें सन् १७५० की २४ अगस्तको मैडम लटेसियाका जन्म हुआ। चार्ल्स बोनापार्टके साथ विवाह होनेके समय उनकी अवस्था सोलह वर्षसे कम ही थी। इनके तेरह सन्तानें हुईं; किंतु अन्ततक पाँच पुत्र तथा तीन कन्याएँ ही जीवित रहीं। लटेसिया बोनापार्टकी तीसरी संतति ही नेपोलियन बोनापार्ट हुए।

कोर्सिका पहाड़ी द्वीप है। उन दिनों बार-बार उसपर शत्रुओंके आक्रमण हुआ करते थे। वहाँके निवासी आक्रमणके समय घर-द्वार, खेती-बारी छोड़कर पर्वतोंमें भाग जाया करते थे। शत्रुदलके चले जानेपर महीनों पश्चात् अपने घरोंको लौटते थे। पर्वतोंमें उन्हें अनेक प्रकारके कष्ट होते थे। मैडम लटेसियाका बाल्यकाल ऐसी ही परिस्थितियोंमें व्यतीत हुआ था। कष्टसहनका अभ्यास जन्मसे ही उनको था। धैर्य, साहस, सहिष्णुता और तेजस्विता उनकी पैतृक सम्पत्ति थे।

मैडम लटेसिया एक अत्यन्त धर्मपरायणा नारी थीं। चाहे जो हो, उन्हें उपासनागृहकी प्रार्थनामें नित्य जाना ही चाहिये। वे गर्भवती थीं। प्रसव-वेदना प्रारम्भ हो चुकी थी; फिर भी प्रार्थनाके लिये वे गयीं। लौटनेपर घर पहुँचते ही उन्हें बालक हुआ। विश्वको अपनी हुंकारसे प्रकम्पित करनेवाले उस महापराक्रमीका जन्म एक ऐसे कम्बलपर हुआ, जो खण्डशः हो रहा था। बोनापार्टका परिवार अत्यन्त दरिद्र था। नेपोलियनका बाल्यकाल बड़े कष्टसे व्यतीत हुआ।

पैंतीस वर्षकी अवस्थामें ही चार्ल्स बोनापार्टने अपनी सहधर्मिणीको एकाकिनी कर दिया। वैधव्यके दुःखके साथ लटेसियापर सन्तानोंके भरण-पोषणका भार भी आ पड़ा। कोर्सिकापर आक्रमणोंका विराम नहीं हुआ था। सन् १७९३-में कोर्सिकामें अत्यन्त भयङ्कर उत्पात हुआ। अनेकों घर भूमिसात् हुए। देश उजड़ गया। वहाँके अधिवासी फ्रांसमें

आश्रय लेनेको विवश हुए। बोनापार्टका घर भी नष्ट हो गया। इस समय नेपोलियन फ्रांसमें सैनिक शिक्षा प्राप्त करने गये थे। जब वे घर लौटे तो यह दशा थी। अनेक फ्रांसीसियों-की भाँति शासकोंने इस परिवारको भी अविलम्ब कोर्सिका छोड़ देनेका आदेश दिया। इतने बड़े समुदायको लेकर कैसे जाया जायगा, अपरिचित स्थानमें कैसे निर्वाह होगा—यह सब सोचनेका अवसर नहीं था। वहाँसे यह परिवार फ्रांसके नाइस नगरमें आया और वहाँसे मार्साई चला गया। यहीं उनका निवास हुआ।

फ्रांसमें वह घोर विप्लवका समय था। फ्रांसीसी जनता शासकोंके विरुद्ध उमड़ चुकी थी। राजा-रानी और उनका समुदाय विप्लवके प्रवाहमें प्रवाहित हो गया। आज एक दल शासनारूढ़ होता था और कल उसे दलित करके दूसरा। इन दलोंके परस्पर संघर्ष, उत्थान-पतनमें नित्य युद्ध होते रहते थे। व्यापार, उद्योग, कृषि सब अव्यवस्थित हो गये थे देशके। इस समय निरुपाय, निरवलम्ब लोगोंके दुःखका कोई ठिकाना नहीं था। ऐसे समयमें, जब कि पुरुषके लिये भी आजीविका प्राप्त करना कठिन था, बेचारी नारी मैडम लटेसिया इतने बड़े परिवारके साथ अपरिचित प्रदेशमें आ पड़ी थीं। बालकोंके मुखमें दो मुट्ठी अन्न पहुँचाना उनके लिये अत्यन्त कठिन हो गया था। नेपोलियन माताकी इस भयङ्कर दुःख-कथाको कभी नहीं भूले। वे उन दिनोंका स्मरण करके लिखते हैं—'माका न तो कोई रक्षक था और न सहायक। इस दुर्योगमें अपने परिवारका भार वहन करनेके लिये वे बाध्य थीं। इस गुरुभारको वहन करना भी उनके लिये साध्यातीत नहीं बना। उन्होंने जिस विचक्षणतासे सब चला लिया, उनकी आयुकी किसी महिलासे इसकी आशा नहीं की जा सकती।'

विप्लवकी दिशा बदली। नेपोलियन फ्रांसके सर्वेसर्वा हो गये। उन्होंने आगे चलकर अपनेको फ्रांसका सम्राट् घोषित कर दिया। दुःखिनी लटेसियाकी विपत्तिके दिन बदले। उन्होंने चरम सीमाके कष्ट पाये थे। चरम सीमाका सुखोपभोग भी उन्हें सर्वेश्वरके विधानमें प्राप्त होना ही था। राजमाता होकर वे 'मैडम मेरी' और 'प्रोटेक्ट्रिक्स जेनोवेल' की उपाधियोंसे भूषित हुईं। उनके सम्मान और वैभवका कोई अन्त नहीं था।

अत्यन्त दरिद्रता एवं दुःखसे इस वैभवको प्राप्त करके भी मैडम लटेसिया प्रमत्त नहीं हुईं। अपने कष्टके दिनोंकी बात उन्हें सम्पत्तिके दिनोंमें कभी विस्मृत नहीं हुई। उन्हें अनेक लोग कृपण बतलाते हैं। अवश्य ही वे संचयशीला नारी थीं। ऐश्वर्य प्राप्तकर उन्होंने सञ्चय प्रारम्भ किया। नेपोलियनके औद्धत्य एवं अतर्कित विजयमें उस दूरदर्शिनी नारीको पुत्रका पराभव स्पष्ट दिखायी पड़ा। पूछनेपर उन्होंने कहा था—'दुःखके दिन पुनः नहीं आवेंगे, यह कैसे कहा जा सकता है। आज जो (नेपोलियन) सिंहासनासीन है, एक दिन उसके लिये मुझे ही रोटीका प्रबन्ध करना होगा।'

अपने पुत्रोंपर मैडम लटेसियाका समान प्रेम था। एक बार सम्राट् नेपोलियनने मातासे कहा—'आप लूसियनको अत्यधिक प्रेम करती हैं।'

माताने निःसंकोच स्वीकार किया—'मेरी जो सन्तान सभी बच्चोंमें अधिक दुर्दशाग्रस्त है, उसीपर सब बालकोंसे अधिक मेरा अनुराग है।'

नेपोलियनने लिखा है—'माका संपूर्ण सञ्चय हम बालकोंको देनेके लिये ही था। उनके हृदयमें वही उच्च भाव, जो दीनावस्थामें था, सदा प्रतिष्ठित रहा। अर्थलोभ उनकी सद्वृत्तियोंके दमनमें असमर्थ रहा।'

सन् १८१४में नेपोलियन पराजित होकर बंदी हुए। वे एल्बा भेजे गये। मैडम लटेसिया पुत्रके साथ एल्बा आयीं; किंतु जब नेपोलियन वहाँसे सेंट हेलेना निर्वासित किये गये तो वे रोम लौट गयीं। बीमार होनेपर जेलमें नेपोलियनने अंग्रेजी डाक्टरसे चिकित्सा कराना अस्वीकार कर दिया था। रोमसे उनके लिये उनकी माताने डाक्टर भेजा। नेपोलियन-की मृत्युके पश्चात् अस्सी वर्षकी अवस्थामें उन्होंने शरीर छोड़ा। उनका अन्तिम जीवन रोममें आराधनामें ही व्यतीत हुआ।

—सु० सिं०

नारी प्रेमभक्तिकी आधार हैं

'स्त्री विलासकी सामग्री नहीं है। स्त्रियाँ ही जगज्जीवन और प्रेम-भक्तिकी आधार हैं। फिर असद्व्यवहार करनेपर वे ही घोर कालरूपिणी पिशाचिनी और राक्षसिनी होकर सबको ग्रास करती हैं। वेश्याएँ उन्हीं कालान्तक मूर्तिकी सामान्य छविमात्र हैं। स्त्रीरूपी महासमुद्रमें बड़े-बड़े अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। रसिकजन उन्हीं सब महारत्नोंके अधिकारी होकर चिरसुखमय जीवन बिताते हैं और हम ऐसे दुर्बल घृणित व्यक्ति कामान्धमत्त होकर उस महासमुद्रमें डुबकी लगा अपना अस्तित्व भी खो बैठते हैं। बड़ी सावधानीसे इन महाशक्तियोंके साथ व्यवहार करो। कभी भूलकर भी कामुकदृष्टिसे स्त्रियोंको मत देखो। ब्रह्मा-विष्णु-महेश-का सम्मेलन तुम एक स्त्रीमें देख सकते हो। स्त्रियोंका अपमान ध्वंसका कारण है।' —पागल हरनाथ

फ्लॉरेन्स नाइटिंगेल

फ्लॉरेन्स नाइटिंगेल सेवाकी प्रतीक थी। उसका सारा जीवन दुखी मानवोंकी सेवामें बीता। उसकी कीर्ति कभी नहीं मिट सकती है। लोग कहेंगे कि क्रीमियाके युद्धमें उसने घायल और आहत सैनिकोंकी सेवा-शुश्रूषा की; परन्तु केवल इतनेसे ही उसका नाम अमर नहीं हो गया। उसमें एक महान् गुण यह था कि वह दूसरोंके सुख और कल्याणके लिये बड़े-से-बड़े स्वार्थका त्याग करनेको सदा तैयार रहती थी। उसके कामका आरम्भ तो तब हुआ जब जनताने सोचा कि फ्लॉरेन्सको जो कुछ करना था, वह कर चुकी। उसे यूरोपके लोग 'आलोकशिखा' कहते हैं।

इस जनसेविकाका जन्म सन् १८२० ई०में फ्लॉरेन्स नगरमें हुआ था और इसीसे उसे फ्लॉरेन्स नाइटिंगेल कहते हैं। वह बड़े सम्भ्रान्त कुलकी कन्या थी। उसके परिवारवाले राजमहलोंमें रहते थे और उनके पास भोग-विलासकी पर्याप्त सामग्री थी। पर फ्लॉरेन्सका मन इन चीजोंमें कभी नहीं लगता था। जब वह छः सालकी थी, तभी उसने कुछ सेवाका काम करनेकी इच्छा की। अपनी डायरीमें उसने लिखा था कि बीमारों और मरीजोंकी सेवामें मेरी बड़ी रुचि थी। वह तो सेवा करनेके लिये पैदा ही हुई थी और जीवनके अन्तिम क्षणतक उसने आराम नहीं किया। उसने जनसेवाके सामने विवाह-सुखका भी त्याग कर दिया। पचीस सालकी अवस्थामें उसने अपने माता-पितासे कहा कि 'मैं सेलिसबरी अस्पतालमें जाकर नर्सका काम सीखना चाहती हूँ;' परंतु उन्होंने स्वीकृति नहीं दी। वह नर्सोंके सम्बन्धकी किताबें पढ़ने लगी और कभी-कभी गुप्तरूपसे रोगियोंकी दशाका अध्ययन करनेके लिये अस्पतालमें पहुँच जाती थी। एक बार उसके परिवारके लोग कुछ दिनोंके लिये बाहर चले गये थे, वह कैसरवर्थके अस्पतालमें तीन मासतक धायका काम सीखती रही।

जब वह तैंतीस सालकी हुई तो घरवालोंने नर्स बननेकी रुचि देखकर उसे काम सीखनेकी अनुमति दे दी और वह हारले स्ट्रीटमें एक दातव्य अस्पतालकी निरीक्षिका हो गयी। इसी बीचमें क्रीमिया-युद्ध छिड़ गया। स्कूतरीमें नर्सोंका काम ठीक-ठीक नहीं चल रहा था। ऐसी स्थितिमें फ्लॉरेन्सने स्कूतरी जानेकी इच्छा की और सरकारसे अनुमति-पत्र मिलनेपर वह सेवा-शुश्रूषाके आवश्यक सामान लेकर अड़तीस नर्सोंके साथ स्कूतरी चली आयी। सारे रणक्षेत्रकी उदासीका अन्धकार आलोकशिखाके पहुँचनेपर नष्ट हो गया। दूसरे दिन इकर्मैनकी लड़ाई आरम्भ हो गयी। उसने एक अस्पतालकी नींव डाली। दवा और अन्य सामानोंका अभाव उसे बहुत खटकता था, फिर भी उसने साहसका परिचय दिया। फ्लॉरेन्सकी प्रेरणासे २७००० कमीजोंका बंडल घायल सैनिकोंके लिये आ पहुँचा। लोग उसका आदर करने लगे। डाक्टरोंको यह बात बहुत बुरी लगी और वे उससे डाह करने लगे। फ्लॉरेन्सने उस नरकभूमिको स्वर्ग बना दिया। वह बड़ी साहसी और अपने सेवाव्रतमें अविचल थी। अशान्तिने शान्तिका रूप धारण कर लिया। घायल और बीमारोंको अधिक-से-अधिक आराम मिलने लगा। गंदगीका नाम-निशान मिट गया, लोग स्वस्थ और प्रसन्नचित्त दीख पड़ने लगे। जहाँ पहले सौमें बयालीस घायल सैनिक मरते थे, अब हजारमें केवल बाईस मरने लगे। उसके सहयोगियोंने उसका साथ हृदय खोलकर कभी न दिया। वे तो मन-ही-मन जलते थे। एक बार एक डाक्टरने राशन ही बंद कर दिया था; परंतु फ्लॉरेन्सकी विशाल-हृदयता और उदारताने सारे मामलेको ढक दिया।

१८५६ ई०में क्रीमियाकी लड़ाई समाप्त हो गयी। वह इंग्लैंड आयी। अंग्रेजोंने जुलूस निकाले और उसका स्वागत-सत्कार किया। वह काम करते-करते कमजोर हो गयी थी। कभी-कभी तो मूर्च्छित हो जाती थी। डाक्टरोंने आराम करनेकी सम्मति दी; वे डरते थे कि कहीं उसकी मृत्यु न हो जाय। इसपर तो वह कहती थी कि यदि मुझे मरना ही है तो काम अधूरा छोड़ना उचित नहीं है। उसका विचार था कि सैनिक-सेवा-शुश्रूषाके अस्पतालमें सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। वह एकान्तमें एक छोटे-से मकानमें साउथ स्ट्रीट, पार्कलेन, लन्दनमें रहने लगी; उसके पास इतना काम था कि सिवा रोगियोंके उसने और लोगोंसे मिलना-जुलना बंद कर दिया। रात-दिन वह लिखती-पढ़ती रहती थी, पत्र लिखवाती थी और मुख्य-मुख्य सरकारी पदाधिकारियोंसे, जो अस्पतालके ही कामके लिये आते थे, मिलती थी। उसके काममें कैबिनट मिनिस्टर सिडनी हरबर्ट और प्रसिद्ध कवि आर्थरहफ क्लाफने बड़ा योग दिया। सरकार अस्पतालोंमें सुधार किये जानेके विरुद्ध थी; परन्तु कड़ी मेहनतके बाद फ्लॉरेन्स अपने काममें सफल हुई। सुधार होने लगा। सरकारने यह विधान बना दिया कि सैनिक-अस्पतालोंके डाक्टरोंपर राष्ट्र-सैनिकोंके स्वास्थ्यका उत्तरदायित्व है।

फ्लॉरेन्सकी सेवाएँ केवल सैनिकोंतक ही नहीं सीमित थीं। उसने नर्सोंके लिये एक शिक्षा-संस्था भी खोल दी; और सचमुच आधुनिक नर्स-व्यवस्थाकी वह जननी थी। वह केवल नर्स ही नहीं थी, अपितु प्रथम वैज्ञानिक नर्स थी। उसने अस्पतालकी व्यवस्था और प्रबन्धकोंको सुधारनेके लिये बड़ी-बड़ी पुस्तकें भी लिखी थीं। वह दयाकी मूर्ति ही नहीं, अपितु निर्दयताकी शत्रु थी। उसकी प्रस्तर-मूर्ति सिडनी हरबर्ट और कैप्टन स्काउटकी मूर्तियोंके पास ही वाटरलू स्थानमें स्थापित की गयी है। वही उस वीर सेविकाके लिये उचित स्थान है। उसके हाथमें एक जलता-सा दीपक है और यह मूर्ति उसके वास्तविक आलोकशिखा होनेकी सार्थकता प्रकट करती है। उसका 'आलोक-शिखा' (लेडी विथ दी लैम्प) नाम उसीके लिये है ही।

विश्व इस रमणीरत्नकी सेवाओंका सदा स्मरण करेगा। दूसरोंके दुःखमें हाथ बँटाना ही परमपुण्य है, इसे फ्लॉरेन्सने अपने सेवामय जीवनसे सिद्ध कर दिखला दिया। —रा० श्री०

साध्वी एलिजाबेथ फ्राई

जिस समय यूरोपीय समाजमें लोगोंके मस्तिष्कमें अन्धकारका साम्राज्य छाया हुआ था, कहीं-कहीं आशाकी नव-ज्योतिकी किरणें फट रही थीं, एलिजाबेथ फ्राई-जैसी नारियोंने अपने देशकी सामाजिक सेवा करके सुन्दर आदर्श स्थापित किये थे। उस समय अंग्रेज-कन्याएँ नाचनेमें, थियेटर जानेमें तथा अनेक राग-रंगोंमें अपना समय नष्ट कर देती थीं; एलिजाबेथका मन इधर बिल्कुल नहीं लगता था। उसे सांसारिक वस्तुओंमें कुछ भी सुख नहीं दीखता था।

वह क्वेकरोंकी तरह जीवन बिताना चाहती थी, इसलिये दुखियों और असहायोंकी सेवाको ही उसने अपने जीवनमें सबसे अधिक महत्त्व दिया। उसका पिता अत्यन्त चतुर था; जब उसने देखा कि मेरी लड़की सांसारिक वस्तुओंका मोह छोड़कर दूसरी ओर जाना चाहती है, तब उसने समझाया कि 'तुम संसारको भी समझ लो।' अबोध बालिकाने पिताकी आज्ञा मान ली। वह लन्दन लायी गयी और भोग-विलास तथा सुखकी तमाम सामग्री उसके आस-पास उपस्थित कर दी गयी। आधुनिक और नये समाजके लोगोंसे उसका परिचय करा दिया गया। उसे प्रतिदिन पार्कमें टहलनेके लिये भेजा जाता था, कभी-कभी उसकी सहेलियाँ थियेटर और नाच-घरोंमें आमन्त्रित करती थीं। एलिजाबेथ प्रतिदिन रातको सपनेमें देखती थी कि मैं एक सागरमें गोते लगा रही हूँ और डूब जानेका भय है। अन्तमें उसने दूसरोंकी सेवामें जीवन खपा देनेके लिये निश्चय कर लिया और फिर उसके बाद उसने सपने कभी नहीं देखे।

जब वह उन्नीस सालकी थी, लन्दनसे घर चली आयी। उसने गरीब तथा असहाय लड़कोंके लिये एक पाठशाला खोल दी। उस समय केवल धनी लड़के ही लिख-पढ़ सकते थे; परन्तु एलिजाबेथने सोचा कि लिखने-पढ़नेका तो सर्वसाधारणको भी अधिकार है। वह क्वेकरोंकी ही तरह एक विचित्र टोपी लगाती थी और एक चोगा पहनती थी। बीस सालकी अवस्थामें जोजफ नामक लन्दनके एक सौदागरसे उसका विवाह हो गया। उसे विश्वास था कि विवाहित अवस्थामें भी मैं गरीबोंकी सेवा अच्छी तरह कर सकूँगी।

पारिवारिक बन्धनमें रहकर भी उसने सेवा-कार्यमें शिथिलता न आने दी। ससुरकी मृत्यु हो जानेपर उसने 'प्लेशट-हाउस' इसेक्समें एक पाठशाला खोली और एक कैथलिक पादरीकी सहायतासे वह जिप्सी और आइरिस मजदूरों तथा असहाय प्राणियोंकी हालत सुधारनेमें लग गयी।

वह अपने परिवारवालोंके साथ कभी-कभी लन्दन आया करती थी। क्वेकरोंसे वहाँ प्रायः भेंट होती रहती थी और उसकी सेवा-वृत्तिको प्रोत्साहन मिला करता था। एक क्वेकर अभी थोड़े दिनों पहले न्यूगेटसे आया था और उसने फ्राईसे कहा कि 'वहाँ कैदियोंको बहुत अनुचित तौरसे रक्खा जाता है।' वह १८१३ ई० में वहाँ चली गयी और यथाशक्ति काममें लग गयी। उन दिनों उसको अर्थाभाव तथा अस्वस्थता और चिन्ताओंने घेर लिया था। उसकी पाँच सालकी लड़की भी इन्हीं दिनों चल बसी। परन्तु न्यूगेटके कैदियोंकी भीषण और भयावनी दशाका उसे सदा स्मरण रहा और पारिवारिक चिन्तासे मुक्त होते ही उसने काममें हाथ लगा दिया।

उस समय अंगरेजी कानून बहुत कड़े थे। साधारण अपराधोंके लिये भी सम्भ्रान्त कुलके लोग जेलोंमें अन्य कैदियोंके साथ रक्खे जाते थे। जेलोंकी तो हालत और भी शोचनीय थी। छोटे-छोटे गंदे कमरोंमें, जिनमें खिड़कियाँ और जँगले नहीं थे, कैदी सड़ाये जाते थे; उनमें चूहे फुदकते रहते थे। कैदियोंको लोहेकी हथकड़ी, लोहेके पट्टे पहनाये जाते थे और उन्हें बिल्कुल जानवर समझा जाता था। यद्यपि कानूनने कैदियोंको मारने-पीटनेपर रोक लगा दी थी,

फिर भी क्रूर जेलरोंके हाथमें वे कभी-कभी पड़ ही जाते थे। उन्हें जमीनपर सोना पड़ता था, पहननेके लिये कपड़े नहीं दिये जाते थे; वे फटे और गंदे चिथड़े पहनकर ही रहते थे; यदि उनके घरवाले चोरीसे खाने-पीनेका सामान भेजते तो उन्हें भी पता चलनेपर जेलमें डाल दिया जाता था। औरतोंको फाँसीकी सजा देते-देते जब विचारपति थक जाते थे तो उन्हें कालेपानीकी सजा दी जाती थी। कालेपानीमें उन्हें बड़ी यातनाएँ झेलनी पड़ती थीं। पुरुषोंको तो और भी कड़े दण्ड दिये जाते थे।

एलिजाबेथ बहुत शान्तिप्रिय थी, उसने न कानूनका विरोध किया और न निराश ही हुई। उसने धीरे-धीरे लोगोंका ध्यान इन भीषण यातनाओंको प्रकाशमें लाकर अपनी ओर खींच लिया। उसने सुधार करनेमें ही समस्याका सुगम हल देखा। जेल-सुधारके साथ-साथ कैदियोंको भी उसने सुधारना आरम्भ किया। स्त्री-कैदियोंके छोटे बच्चोंकी देख-रेखसे उसने माताओंके हृदयमें मातृत्वका संचार किया। वह कैदियोंको उसी जेलमें लिखना-पढ़ना सिखाने लगी। कैदी स्त्रियोंने गाली बकना तथा अन्य असभ्यतापूर्ण व्यवहार छोड़ दिये, वे धार्मिक ग्रन्थोंका अवलोकन करने लगीं और सीने-बुननेके कामोंमें भी फ्राईके सहयोग और श्रमसे उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। जेलमें इस तरहके सुधार देखकर फ्राईका मन आनन्दसे नाच उठा। जब अधिकारियोंने देखा कि साध्वी फ्राईने नरकको स्वर्ग बना दिया है, वे उसकी बात-बातमें सम्मति और सहायता लेने लगे। जेल-जीवन पवित्र हो उठा। फ्राईने अपने राष्ट्रकी सेवा की और प्राणिमात्रके सामने एक पवित्र आदर्श रख दिया। अब अधिकारियोंकी समझमें यह बात आयी कि जेलको गंदा रखना या कैदियोंपर अत्याचार करना एक अशोभन और लज्जाजनक बात है। उन्होंने फ्राईकी पाठशालाको जेलका ही एक अंग मान लिया। और इस उदार रमणीने देशकी साधारण सभासे कहा कि जेलोंमें अत्याचार कर कैदियोंसे बदला लेनेकी अपेक्षा उन्हें सुधार देना ही मानवता है।

फ्राईने सरकारपर दबाव डाला कि कैदियोंको अच्छे-से-अच्छा भोजन दिया जाय, पहननेके लिये साफ-सुथरे कपड़े और रहनेके लिये खुले कमरे दिये जायँ। उसने महारानी विक्टोरिया और कुमार एलबर्टसे कहा कि 'जिस देशमें कैदियोंकी दुर्दशा की जाती है, वह राष्ट्र कभी सभ्य और उन्नत नहीं हो सकता। उनपर अत्याचार करनेसे अपराध, चोरी, डाका और खून कम नहीं होंगे, अपितु और बढ़ेंगे। और बाहर निकलकर कैदियोंको अवसर मिल जायगा कि वे अपने शत्रुओंसे कड़े-से-कड़ा बदला लें।'

एक बार वह स्काटिश जेल देखने गयी। उसने देखा कि पागलोंपर अपराधियोंका-सा अत्याचार हो रहा है, उन्हें बुरी तरहसे मारा-पीटा जा रहा है। उसका हृदय टूक-टूक हो गया। उसने जेलरोंको बतलाया कि पागलोंको किस तरह चेतना दी जा सकती है। फ्राई फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, डेन्मार्क आदि देशोंमें घूम-घूमकर अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करने लगी।

उसने कालेपानीकी सजामें भी काफी सुधार करवाये। कैदियोंके रहनेके लिये छोटे-छोटे मकान बनवानेके लिये सरकारसे अनुरोध किया।

वह सार्वजनिक और जनहितकारिणी संस्थाओंकी यथाशक्ति सहायता करती थी और कभी-कभी उनमें सम्मिलित होकर कार्यकर्ताओंको प्रोत्साहन देती थी। अनाथ, असहाय, गरीब जनोंके लिये तो वह साक्षात् सेवाकी सजीव मूर्ति ही थी।

उसका पारिवारिक जीवन उतना सुखमय नहीं था, जितना होना चाहिये था। उसने जन-सेवामें किसी भी तरह साहस न हारा और इंग्लैंडमें क्वेकरों—एलिजाबेथके स्वयंसेवक मित्रोंकी लोक-कल्याण-भावनाने राष्ट्रकी बहुत बड़ी सेवा की। छोटे-से-छोटे कामोंमें भी जीवनकी महत्ताका दर्शन होता है।

फ्राईने अत्याचार और कुव्यवस्थाका दुर्ग तोड़ डाला और एक वीराङ्गनाकी तरह सन् १८४५ ई० ५ अक्टूबरको अपने जीवन-नाटकका अन्तिम दृश्य देखा। उसने मरते समय कहा था—'आँखें सौन्दर्याभिप्रेत देवताका दर्शन करनेके लिये रमणीय लोककी यात्रा कर रही हैं।'

सत्य, सेवा और शान्ति उसके लिये ईश्वर-प्राप्तिके साधन थे। —रा० श्री०

मा कहा जाय, वही माता

मातरित्येव शब्देन यां च संभाषते नरः। सा मातृतुल्या सत्येन धर्मसाक्षी सतामपि॥
तथा हि संगतो यः स्यात् कालसूत्रं प्रयाति सः। तत्र घोरे वसत्येव यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्म० ब्रह्मखण्ड १०। ५०, ५१)

मनुष्य वचनमात्रसे जिसको 'मा!' संबोधित करके बातचीत करता है, वह सत्यके अनुसार माताके ही तुल्य है। इसमें धर्म साक्षी है। सत्पुरुषोंका भी यही मत है। जो उसके साथ समागम करता है, वह कालसूत्र नामक नरकमें जाता है और उस भयङ्कर नरकमें उसे तबतक रहना पड़ता है, जबतक कि सूर्य और चन्द्रमाकी स्थिति रहती है।

वीरबाला ग्रीजेल

प्राणप्रिय पुत्री 'ग्रीजेल' पुरुष-वेषमें सामने खड़ी थी, पर सर जान कॉकरेलको अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। इंग्लिस्तानके अन्यायी शासक द्वितीय जेम्सके रहते फाँसीके कैदीसे उसके परिवारका कोई व्यक्ति मिल सके, यह सम्भव नहीं था। पर उसने देखा—'आँख, कान, नाक, पूरा चेहरा—सब कुछ ग्रीजेल-सा लग रहा था। बड़े साहससे धीरेसे उसने कहा, 'बेटी!'

'पिताजी!' ग्रीजेलने अपनी आँखसे रुमाल सटा लिया। वह चारो ओर देख रही थी कहीं कोई सिपाही मुझे पहचान न ले, नहीं तो पिताके साथ मैं भी फाँसीके तख्ते-पर..........' 'आपकी जान कैसे बच सकेगी, पिताजी?' उसने पूछ लिया।

'प्राण-दान पानेकी आशा व्यर्थ है, बेटी!' कॉकरेलने धीरेसे कहा। उसकी बात केवल उसकी पुत्री ही सुन रही थी। 'यदि बादशाहको प्रार्थना-पत्र देकर क्षमा-याचना की जाती तो सम्भव था, मैं बच जाता; पर वह तो लंदनमें रहता है। प्रार्थना-पत्र पहुँचते जितना समय लगेगा, उतने बीचमें तो फाँसीका फंदा मेरे गलेमें लग जायगा। मेरा खात्मा हो जायगा।' कॉकरेलने आते हुए आँसुओंको पी लिया। पुत्री कहीं अधीर न हो जाय। वेष-परिवर्तनका रहस्य गुप्त रखना नितान्त आवश्यक था।

साहसी बालिका पितासे कुछ कहे बिना ही लौट पड़ी।

× × ×

'प्रार्थना-पत्र देकर आप बादशाहसे क्षमा माँगें,' ग्रीजेलने अपने भाईको समझाया। 'करुणाका उद्रेक होनेपर वह पिताजीको प्राण-दान दे सकता है। पर रास्ता दूरका है, आप अत्यन्त शीघ्र जायँ। रास्तेमें कहीं भी विलम्ब न करें।'

'पर इस बीचमें फाँसी हो गयी तो ....' भाईने प्रश्न किया। फाँसी तो हो ही जायगी। व्यर्थ श्रम करनेसे कोई लाभ नहीं है, उसका भाई सोच रहा था।

'उसकी व्यवस्था मैं कर लूँगी,' कुछ रुख परिवर्तित कर ग्रीजेलने कहा—'आपकी जानके लिये जान भी कम है, भैया! आप तर्क न करें, जल्दी चले जायँ।'

ग्रीजेलका भाई लंदनके लिये दौड़ पड़ा। वीर ग्रीजेल युवकके वेषमें निकल पड़ी।

× × ×

'सरकारी डाक मुझे दे दो, नहीं तो..........' घने जंगलमें अश्वारोही पत्र-वाहकके सामने पिस्तौल तानकर पुरुष-वेषधारी ग्रीजेलने तड़पकर कहा।

पत्र-वाहकने अपनी पिस्तौल निकाल ली और धायँ-धायँ एक दो-तीन.......... सारी गोलियाँ छूट गयीं। ग्रीजेल खड़ी-खड़ी हँस रही थी। पिछली सरायमें ही उसने डाकिया-से पिताके प्राण-दण्डका आज्ञापत्र छीन लेनेका प्रयत्न किया था, पर वह थैला सिरहाने रखकर सो रहा था। ग्रीजेलने उसके पिस्तौलकी सारी गोलियोंको निकालकर छूछी गोलियाँ भर दी थीं।

हँसते समय भी वह सचेत थी। एक ही धक्केमें पत्र-वाहक घोड़ेसे गिर पड़ा। उसने देखा सलोना युवक घोड़ेपर बैठा हुआ सरकारी डाक लिये भागा जा रहा है।

× × ×

अपने पिताके प्राण-दण्डका आज्ञा-पत्र लेकर ग्रीजेलने तुरंत जला दिया और घोड़े तथा अन्य पत्रोंको पत्रवाहकके बीच पथमें छोड़ दिया।

कॉकरेलके प्राण-दण्डकी तिथि टल गयी। उसके पुत्रने लंदनमें द्वितीय जेम्ससे प्रार्थना की। बादशाहने कॉकरेलको प्राण-दान दे दिया।

ग्रीजेलकी वीरता और साहसने उसके पिताका प्राण बचा लिया। इसी प्रकार साहस और बुद्धिसे प्रत्येक स्त्री अपना, अपने परिवार, अपने समाज तथा देशकी रक्षा कर सकती है।

—शि० दु०

नारी-जाति आद्याशक्तिकी प्रतिमूर्ति

'नारी-जाति जगज्जननी आद्याशक्तिकी ही प्रतिनिधि या प्रतिमूर्ति है। नारी-जातिकी उन्नति करनी पड़ेगी। तभी वे फिर सीता, सावित्री, मैत्रेयी, गार्गी और अपाला आदि-सरीखी विदुषी नारियोंको जन्म देंगी। वे ही इस जातिका उद्धार करेंगी। नारियोंको आदर्श मा बनना पड़ेगा। आदर्श मा हुए बिना आदर्श पुत्र भी जन्म नहीं लेंगे। नारीको त्याग, संयम, कठोरता और ईश्वरमें विश्वास आदिकी शिक्षा प्राप्त करके चरित्रवती बनना पड़ेगा; तभी देशका कल्याण होगा और तभी इस जातिका पुनरुत्थान हो सकेगा।'

—स्वामी अभेदानन्द

कुमारी हेलन केलर

(लेखिका—कुमारी कमला देवी सक्सेना)

२७ जून सन् १८८०मे अमेरिकाका एक सम्पन्न परिवार इस बालिकाकी उत्पत्तिसे भाग्यवान् हुआ। एकमात्र सन्तान और वह भी अत्यन्त सुन्दर—माता-पिताका सम्पूर्ण स्नेह घनीभूत हो गया। भाग्यको कौन रोके—डेढ़ वर्षकी अवस्थामें ही बालिका रुग्ण हुई और उस रोगने उसके नेत्र, कर्ण तथा वाणीकी बलि ले ली। चिकित्सा हुई, पर व्यर्थ रही। हेलन प्रतिभाशालिनी बालिका थीं। स्पर्श करके ही वस्तुका पूर्ण ज्ञान वे प्राप्त कर लिया करती थीं। आयुके साथ उनके संकेत स्पष्ट होते जाते थे; किंतु यदि कोई उनके संकेतको समझनेमें भूल करे तो बहुत रुष्ट होतीं और उसे अपनी अव्यक्त भाषामें खूब कोसतीं। पुत्रीके चिड़चिड़ेपनसे माता-पिता ऊब गये। अतः उनके पोषण-रक्षणका भार कुमारी एन. सुलीवॉपर छोड़ा गया, जो अंधोंके विद्यालयकी अध्यापिका थीं।

अपनी संरक्षिकाके स्नेह एवं सहानुभूति तथा अध्यवसायसे छः वर्षकी अवस्थामें हेलन वस्तुज्ञान प्राप्त करने तथा पढ़ने लगीं। हेलन गूँगी थीं; एकान्तमे बोलनेका प्रयत्न करतीं, पर असमर्थ रहतीं। उनकी शिक्षिकाने उनकी लगन देखकर उन्हें कुमारी फुलरके सम्मुख किया, जो ओष्ठ-संचालनद्वारा पढ़ानेमें पटु थीं। नवीन शिक्षिकाने हेलनका हाथ अपने मुखपर रक्खा और इस प्रकार उनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। इस प्रयत्नके फलस्वरूप हेलन बोलनेमे सफल हुईं। छः वर्ष पश्चात् एक सभामे उन्होने धारावाहिक भाषण दिया। चौदह वर्षकी अवस्थामें वे बहरोंके विद्यालयमे प्रविष्ट हुईं। दो वर्षोंमे अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन तथा फ्रेंचका ज्ञान प्राप्त कर लिया। केवल सतरह वर्षकी आयुमें उभरे अक्षरोकी सहायतासे तथा कठोर श्रम करके विश्वविद्यालयकी प्रथम परीक्षा प्रथम श्रेणीसे पास की। उनका अध्ययन चलता रहा। ऊँची परीक्षाओंमें वे सफल हुईं। अध्ययनके पश्चात् उन्होंने लेखनी उठायी और अनेक सुन्दर ग्रन्थ लिखे। उनकी 'स्वतः लिखी आत्मकथा' और 'मेरा अन्तर्जगत्' ये दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

अपने जीवनके अल्प समयमें ही वह उन स्त्री-पुरुषोंसे कहीं आगे बढ़ गयीं, जिन्हे ईश्वरने सब कुछ (सम्पूर्ण अङ्ग) दे रक्खे थे। लगन और अध्यवसायके द्वारा एक अंधी, गूँगी, बहिरी बालिका भी क्या कर सकती है—यह उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिया।

बेंजामिन फ्रान्कलिनकी माता

जोसिया फ्रान्कलिनका विवाह इंग्लैंडमें ही सन् १६८२ में अल्पवयस्में हुआ था। जब उन्होने इंग्लैंड छोडा तो उनके तीन सन्तानें थीं। न्यू इंग्लैंडमें आकर प्रथम स्त्रीकी मृत्युके पश्चात् उन्होंने आबिया नामक युवतीसे विवाह किया। प्रथम स्त्रीसे उनके और भी चार सन्तानें हुई थीं। द्वितीय स्त्रीसे उन्हें दस संतति हुईं। जोसिया फ्रान्कलिनकी द्वितीय पत्नी आबिया फ्रान्कलिन ही बेंजामिनकी माता हैं। ये बेंजामिन अपनी माताके सबसे छोटे पुत्र थे।

आबिया फ्रान्कलिनका जन्म भी धार्मिक परिवारमे हुआ था। उनके माता-पिता भी धार्मिक उपद्रवोंसे अपने धर्मको सुरक्षित रखनेके लिये जोसिया फ्रान्कलिनके दलके साथ ही न्यू इंग्लैंड आये थे। जोसिया और आबियाका यह परिचय प्रगाढ़ होता गया और जब जोसियाकी प्रथम पत्नीका देहान्त हो गया तो उन्होंने आबियाके साथ विवाह कर लिया। यह दम्पति अपने धर्मपर सम्पूर्ण आस्था रखनेवाले थे। उनके कठोर श्रमपूर्ण जीवनमें भी उनकी धर्मनिष्ठा सुस्थिर रही। दम्पतिने दीर्घायु प्राप्त की थी। जोसिया फ्रान्कलिनने ९२ वर्षकी अवस्थामे शरीर छोड़ा और पतिकी मृत्युके आठ वर्ष पश्चात् आबिया फ्रान्कलिनने ८५ वर्षकी अवस्थामे सन् १७५२ मे शरीर छोड़ा। उनका जन्म सन् १६६७ में इंग्लैंडमे हुआ था।

जोसिया फ्रान्कलिनके लिये अमेरिका नवीन देश था। इंग्लैंडमें वे कोई सम्पत्तिशाली नहीं थे। मजदूरी ही उनकी आजीविका थी। अमेरिका आकर जोसिया फ्रान्कलिनने साबुन, तेल और मोमबत्ती बनाकर बेचनेका व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाईस व्यक्तियोंके परिवारका इस व्यवसायसे पालन करना कितने परिश्रम और कष्टका काम है, यह कोई भी अनुमान कर सकता है।

आबिया फ्रान्कलिन पतिको उनके व्यवसायमें सम्पूर्ण सहायता देती थीं। बच्चोंको लेकर वे मोम स्वच्छ करतीं, पिघलातीं; साँचोंमें भरतीं और मोमबत्तीको पैकिटोंमें बंद करनेतकका सभी काम स्वयं करतीं। इसके अतिरिक्त घरका पूरा भार उन्हींपर था। भोजन बनाना, बर्तन मलना, कपड़ों तथा घरकी स्वच्छता तथा बच्चोंके सम्हालनेकी सब व्यवस्था वे ही किया करती थीं। पतिको उनके व्यवसायमें जितनी भी सहायता हो सकती थी, वे देती थीं। घरमें पदार्थों, वस्त्रों तथा दूसरी वस्तुओंका अभाव बना ही रहता था। किंतु कभी भी आबिया इनके लिये पतिको उलाहना नहीं देती थीं। दम्पतिमें विवाद होनेका कोई अवसर ही नहीं आता था। कठोर श्रम करते हुए प्रसन्न रहना उन्होंने अपना स्वभाव बना लिया था।

फ्रान्कलिन दम्पति बहुत चाहते थे कि सन्तानोंको उच्च शिक्षा दें; किंतु शिक्षाकी अपेक्षा उनके मुखमें दोनों समय अन्न देना अधिक आवश्यक था। बच्चोंके थोड़े बड़े होते ही पाठशाला-से हटाकर अपने व्यवसायमें उनसे सहायता लेनेको वे विवश थे। इस प्रकार बड़े पुत्रोंको शिक्षित नहीं किया जा सका। सबसे छोटे पुत्र बेंजामिनको उन्होंने सुशिक्षित करनेका प्रयत्न किया। वे चाहते थे कि कम-से-कम एक पुत्र तो उच्च शिक्षा प्राप्त कर ले। आठ वर्षकी अवस्थामें छोटे पुत्रको उन्होंने एक लैटिन स्कूलमें बैठाया। पहले उसे वे पादरी बनाना चाहते थे। पर धर्माचार्य बनानेकी इच्छा स्वयं बदली और पिताने पुत्रको साधारण पाठशालामें भेज दिया। किसीकी इच्छा पूर्ण ही हो, यह आवश्यक नहीं। पुत्रको पाठशालासे उठाकर अपने व्यवसायमें लगानेको वे बाध्य हुए। धन-हीनताने उन्हें विवश किया।

बेंजामिनने लिखा है—'मुझे पाठशालासे व्यवसायमें लगानेको माता-पिता किस परिस्थितिमें विवश हुए, यह आप अनुमान नहीं कर सकते। इसे तो उनका हृदय ही जानता था।' धीरे-धीरे बेंजामिन पिताकी दूकानपर बैठने लगे। वहाँसे उन्होंने प्रेसमें कम्पोजिटरका काम सीखा। प्रेसके कामके साथ उनका अध्ययन बढ़ा। वे पत्रोंमें लेख लिखने लगे। आगे जाकर उन्होंने अपना पत्र निकाला। जब अमेरिकामें कोई स्वाधीनताका स्वप्नतक नहीं देखता था तो सर्वप्रथम अमेरिकन स्वाधीन राष्ट्रका प्रस्ताव बेंजामिन फ्रान्कलिनने उपस्थित किया था।

बेंजामिन फ्रान्कलिन स्वाधीनता चाहनेवाले अमेरिकनों-के प्रतिनिधि होकर इंग्लैंड गये और वही अमेरिकन स्वाधीनता-संग्राममें फ्रांसकी सहायता प्राप्त करनेके लिये अमेरिकन राजदूत होकर सर्वप्रथम फ्रांस गये। परिश्रमी माता-पिताके सुयोग्य पुत्रने परिश्रम करके अनेक भाषाओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बेंजामिन अपने माता-पिताके प्रति सदा श्रद्धान्वित रहे। उन्होंने कहा है कि 'पिता हम सब सन्तानोंके साथ जब भोजन करने बैठते थे, तब वे उत्कृष्ट भावोंके चरित सुनाया करते थे। हममेंसे किसीका ध्यान भोजनकी रूक्षता एवं साधारणतापर नहीं जाता था। सत्य, न्याय एवं जीवन-यात्राके लिये जो नितान्त आवश्यक है, पिता हमारा ध्यान उधर ही लगाये रखते थे। पिता-माता दोनों स्वस्थ रहते थे। रोग उनके समीप नहीं आते थे।

माताकी समाधिपर उनके जन्म-मृत्युके वर्षोंके अतिरिक्त बेंजामिन फ्रान्कलिनने जो वाक्य खुदवाये हैं, उनमें उस महत्तम नारीका कुछ परिचय है। वे वाक्य हैं—

'पचपन वर्ष प्रेमपूर्वक दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने-वाली मेरी माता यहाँ सो रही हैं। उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी। उन्होंने कभी सेवक नहीं रक्खे। नियत श्रम, अध्यवसाय और ईश्वरका आशीर्वाद—यही उनका सम्बल था। इसीसे बृहत् परिवारका उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक पालन किया। मेरी माता—वे थी सद्विचार एवं धर्मपरायण नारी।'

—सु० सिं०

जॉर्ज वाशिंगटनकी माता

'पिताकी आकृतिमात्र मेरे स्मृतिपटपर है। उनका मेरे जीवनपर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं—मैं नहीं जानता। मेरी विद्या, बुद्धि, धन, वैभव, पद एवं सम्मान—इन सबकी मूल कारण मेरी आदरणीया जननी हैं।' —जॉर्ज वाशिंगटन

जॉर्ज वाशिंगटनके पूर्वपुरुष इंग्लैंडसे आकर अमेरिकाके वर्जिनिया नामक नगरमें बस गये थे। ऑगस्टन वाशिंगटन-की द्वितीय पत्नी मेरीसे जार्ज वाशिंगटनका जन्म हुआ था। जॉर्ज वाशिंगटनकी दस वर्षकी अवस्थामें ही उनके पिताका परलोकवास हो गया। उनकी माता 'मेरी' पर ही पुत्र-पुत्रियोंके लालन-पालन एवं परिवारके आर्थिक जीवनके सञ्चालनका भार पड़ा। 'मेरी' अत्यन्त स्थितप्रज्ञ महिला थीं। दुःख उन्हें विचलित करनेमें समर्थ नहीं था और बड़े-से-बड़ा सुख उन्हें प्रमत्त बनानेमें असमर्थ रहा।

'मेरी' धीर, स्थिर एवं बुद्धिमती नारी थीं। सन्तानोंके

खेल-कूद, पठन-पाठन एवं आहार-निद्रामें एक व्यवस्थित शृङ्खला वे सदा बनाये रखतीं। उनका जीवन यन्त्रकी भाँति संयमित था। प्रत्येक कार्य अपने निश्चित समयपर निश्चित पद्धतिमे वे शान्त रहकर किया करती थीं। उनके गृहमे पूर्ण सुव्यवस्था रहती। किसी वस्तुका निश्चित स्थानसे इधर-उधर रहना उन्हे पसंद नहीं था। कोई उत्सव, कोई पर्व या कोई सम्मान्य अतिथि उनके नियमित जीवनमें अव्यवस्था उत्पन्न नहीं कर पाता था। जब जॉर्ज वाशिंगटन अमेरिकाके प्रेसिडेट हो गये, तब भी उनकी माताका जीवनक्रम पूर्ववत् व्यवस्थित चलता रहा। उनके प्रत्येक व्यवहारमे संयम एवं न्यायकी भावना सर्वोच्च रहा करती।

वाशिंगटनके घरमे आमोद-प्रमोदका अभाव नहीं था। बच्चोंको खेलने-कूदनेकी पूरी स्वतन्त्रता थी; किंतु साथ ही स्वच्छता और व्यवस्थाका कठोर नियन्त्रण भी था। उनके घरमे प्रत्येक बालकको नियममे रहना पड़ता था। मेरी वाशिंगटन बच्चोंको स्वच्छन्द छोड़नेके विपक्षमे थीं। जॉर्ज वाशिंगटनको अपने शैशवमें पूर्णरूपसे माताके नियन्त्रणमे रहना पड़ा था। इसी अनुशासनने उन्हे इस योग्य बनाया कि वे अमेरिकाके सर्वप्रथम प्रेसिडेंट हुए।

वाशिंगटन-परिवार मध्यवित्तका था। अतएव इस परिवारके बालकोंको उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकी। जॉर्ज वाशिंगटन युवक होनेपर समुद्रमें जहाजोंपर नाविक होनेका कार्य करना चाहते थे। माताको पुत्रके इस कार्यमे आपत्ति थी। अन्ततः उनको माताके विचारका आदर करके यह निश्चय छोड़ना पड़ा। माताकी स्वीकृति लेकर वे सेनामे भर्ती हुए। अमेरिका उस समय अंग्रेजी उपनिवेश था। अंग्रेजोंकी सहायतासे ही उन्होंने सैनिक शिक्षा प्राप्त की और अमेरिकाके अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्धमे वे अंग्रेजोके पक्षमे लड़े। इस युद्धके अन्तमे वे सेनासे अपने घर लौट गये। वहाँ वे कृषि-कार्यमें लग गये।

अंग्रेजोसे अमेरिकनोंका स्वाधीनताके लिये विवाद हुआ, और वह युद्धके रूपमे परिणत हो गया। जॉर्ज वाशिंगटन अमेरिकन पक्षके अध्यक्ष थे। युद्धमे प्रवृत्त होनेसे पूर्व वे माताका आशीर्वाद प्राप्त करने गये थे और जननीने उन्हे आशीर्वाद दिया था—'स्वदेशके इस मुक्ति-संग्राममें तुम विजयी होकर लौटो!' जॉर्ज वाशिंगटनका विश्वास था कि माताके आशीर्वादने ही उन्हे विजयी बनाया है। अमेरिका स्वाधीन हो गया। जॉर्ज वाशिंगटन उसके सर्वप्रथम प्रेसिडेंट चुने गये।

स्वाधीनता-संग्रामके समय जॉर्ज वाशिंगटनने माताको वर्जिनियासे फ्रेडरिकबर्ग पहुँचा दिया था। यह सुरक्षित स्थान था। पुत्र विजयी हुआ, अमेरिकन संयुक्तराष्ट्रका अध्यक्ष हो गया। आज वह मातृदर्शनको आ रहा है। समाचार पहले आ गया है, किंतु 'मेरी' के घरमें कोई परिवर्तन नहीं। स्वागतका कोई समारोह नहीं। सारा नगर सजा हुआ है। सब उस स्वतन्त्रता-युद्धके सेनानीके स्वागतको उतावले हो रहे हैं; किंतु वह जिनके पास आ रहा है, वह सदाकी भाँति अपने दैनिक कार्यमे लगी हैं। उनके किसी काममे एक मिनटका अन्तर नहीं आ रहा है। उनका नित्य-प्रशान्त मुख ज्यो-का-त्यों है।

जॉर्ज वाशिंगटन आये। उन्होंने देखा कि माता नित्य-कृत्योको यथावत् करनेमे लगी हैं। माताको उन्होने अभिवादन किया। माताने पुत्रकी ओर देखकर कहा—'विश्वके झाड़-झंखाड़का भार तुम्हारे ऊपर डाला गया है। अनेक परीक्षाओमे तुम्हे उत्तीर्ण होना है। अबतक तुम सुयोग्य सिद्ध हुए हो। तुम्हे देखकर आज पहिलो (तुम्हारे पिता) की स्मृति आती है।'

इसे आप स्वागत समझें तो, उपदेश समझें तो और बातचीत समझें तो—बस। वह महान् नारी बहुत बोलना नहीं जानती थी। इतने ही शब्दोमे सब कुशल-मंगल समाप्त हो गया। इसी प्रकार जॉर्ज वाशिंगटनके युद्धके दक्षिण हस्त, फ्रांसके अमेरिकन सहायतार्थ आये सैनिकोंके प्रधान मार्किस लाफायेत जब स्वदेश जाने लगे तो इस माननीया महिलाके दर्शनार्थ पधारे। 'मेरी' वाशिंगटन नित्यकी भाँति अपने गृह-कर्मोंमे लगी थी। सम्मुख आनेपर उन्होंने इस विख्यात फ्रान्सीसी योद्धासे केवल इतना कहा—'वृद्धा नारीको तुम देखने आये हो! आओ! अपने दरिद्र-गृहमे मैं तुम्हारी अभ्यर्थना करती हूँ। परिच्छदोंके परिवर्तनकी बनावटकी कोई आवश्यकता मैने अनुभव नही की।'

'मेरी' वाशिंगटनने कभी दासियाँ नहीं रक्खी। उनका पुत्र देशका अध्यक्ष था, इसलिये देशके द्रव्यको अपने काममे लेना उन्होंने कभी स्वीकार नही किया। पहलेकी भाँति ही उनका गृह बना रहा। वे सदा अपने हाथसे कार्य करती रहीं। सुख-दुःखमे सदा समान रहनेवाली वे महान् महिला निर्विकारचित्तसे अपने काममे लगी रहती थीं। अत्यल्प व्ययसे पारिवारिक जीवन वे चला लेती थीं। अपने हाथसे अनेक वस्तुएँ बनाकर बेचती थीं। इस प्रकार जो थोड़ा द्रव्य परिवारके व्ययसे बचता था, उसे वे दीन-दुखियोंमें वितरित कर दिया करती थीं।

'मेरी' वाशिंगटनने दीर्घजीवन प्राप्त किया । उन्होने छियालीस वर्षतक वैधव्यका दुःख उठाया । उनके जीवित रहते ही उनके यशस्वी पुत्र जॉर्ज वाशिंगटनका देहान्त हो गया था । बयासी वर्षकी आयुमे उनका शरीरान्त हुआ । फ्रेडरिकवर्गमें उनकी समाधि है और वर्जिनियावासियोंने उनकी स्मृतिमे एक मन्दिर बनवाया है ।

जॉर्ज वाशिंगटन जब स्वाधीनता-युद्धमें जाते समय माताका आशीर्वाद लेने आये थे तो आशीर्वादके अनन्तर माताने जो आदेश दिया था, वह वाक्य उनके महत्तम अन्तरका परिचय देता है । उन्होंने संग्राममें जाते हुए पुत्रसे कहा—'हाथमे विजयिनी तलवार लेकर लौटना और यदि यह सम्भव न हो तो तलवारपर चढ़ जाना ।' —सु० सिं०

हर एँडाल्फ हिटलरकी माता

'मैं पिताका सम्मान करता था; किंतु माताके प्रति मेरा प्रेम था !'—ऐंडाल्फ हिटलर

हिटलरके पिता सरकारी कर्मचारी थे और पेंशन पाकर वे अपने पैतृक व्यवसाय कृषिमें लग गये थे । सम्पूर्ण जीवन उन्होंने कठोर परिश्रममें व्यतीत किया था । उनका सरकारी नौकरीपर अनुराग था और उनकी इच्छा थी कि पढ़-लिखकर ऐंडाल्फ सरकारी कर्मचारी बने । ऐंडाल्फ बच्चे ही थे कि उनका देहान्त हो गया ।

ऐंडाल्फ हिटलरकी मातापर ही गृहका सम्पूर्ण भार रहता था । पति खेतोंमें काम करते और वे गृहका समस्त प्रबन्ध एवं बच्चेकी देख-भाल करतीं । उनका घर सम्पन्न नहीं था । कोई सेवक नहीं रक्खा जा सकता था । भोजन बनाना, बर्तन तथा कपड़े स्वच्छ करना, घरकी स्वच्छता और पतिकी कृषिसे प्राप्त धान्यकी सुरक्षा, बीजोंका संचय प्रभृति वे स्वयं करती थीं । इसके साथ उन्हें बच्चेका पालन भी करना था ।

पतिके देहान्तके पश्चात् उस पतिपरायणा नारीने पतिकी इच्छाका अनुगमन करके पुत्रको पाठशाला भेजा । थोड़े दिनोंमें ही हिटलर अस्वस्थ हो गये । डाक्टरोंने सलाह दी कि बच्चेकी पढ़ाई बंद कर देनी चाहिये । विवश होकर उसे पाठशालासे पृथक् करना पड़ा । माताने अपेक्षाकृत कम श्रम-साध्य चित्रकलाकी शिक्षामें पुत्रको लगाया । आरम्भिक जीवनमें हिटलर एक अच्छे चित्रकार रहे हैं । इस कलाकी ओर उनका खूब झुकाव था ।

हिटलरकी माताको पुत्रके भविष्यके सम्बन्धमें अच्छी आशा थी । बचपनसे वे बालकको सिकंदर महान्, नेपोलियन बोनापार्ट प्रभृतिके चरित सुनाया करती थी । जगत्में सफलताकी पूजा होती है । सफल मनुष्य सारे गुणोंका भण्डार माना जाता है और असफल सारे दोषोंका । महान् वीर और महान् देशभक्त संयमी हिटलर भी असफल होनेके कारण ही आज लोगोंमे बदनाम हो रहे हैं । वस्तुतः वे एक आदर्श पुरुष ही थे । —सु० सिं०

सीन्योर मुसोलिनीकी माता

'सब सन्तानोंमें माताका मुझपर विशेष स्नेह था । वे जितनी शान्त थीं, उतनी ही कोमल और उतनी ही तेजस्विनी । उनका नाम था रोजा । मा केवल हमारा लालन-पालन ही नहीं करती थीं, वे हमारी अध्यापिका भी थीं । उस अल्प वयसमें भी हम उनकी इतनी निपुणता और कार्यक्षमता देखकर विस्मित हो जाते थे । हमें केवल एक भय था—हमारे किसी कामसे मा अप्रसन्न न हों । अपने द्वारा उस शैशवावस्थामें कोई अपराध होनेपर हम भीत होकर पड़ोसियोंके यहाँ छिप जाते । मा पूछतीं—हम डरे क्यों ? हम मातासे डरते हैं, यह जानकर उन्हें अत्यन्त मनःकष्ट होता था ।' —सीन्योर मुसोलिनी

मुसोलिनीका कहना है कि उनसे माताको बहुत बड़ी आशा थी । वे कहा करती थीं कि 'भविष्यमें यह कोई बहुत प्रख्यात व्यक्ति होगा ।' मुसोलिनीका माताके सम्बन्धमें यह भी कहना है कि उनसे बहुत बड़ी आशा करके माताको अत्यन्त मानसिक कष्ट हुआ । महत् पुरुषोंमें जो धीरता, गम्भीरता एवं स्थिरता होनी चाहिये, वह मुसोलिनीमें बचपनमें नहीं थी।

माता रोजाका मुख्य पाठ था अभय । किसी भी परिस्थितिमें सन्तानोंको वे आतङ्कित नहीं करती थीं । उन्होंने सदा इसका ध्यान रक्खा कि उनकी संतति निर्भीक, साहसी और दृढ़ निश्चयशील बने । हमें यह स्वीकार करना होगा कि मुसोलिनीका असीम साहस उनकी माताका प्रसाद था ।—सु० सिं०



हिटलर-जननी



मुसोलिनी-जननी



चांग-काई-शेक-जननी



देवी ब्लैवेत्स्की



देवी जॉन आगमें डाली गयी



नेपालियन-जननी



वाशिंगटन-जननी



लेनिन-जननी

लेनिनकी माता

आजके साम्यवादी शक्तिसम्पन्न रूसके जनक कॉमरेड लेनिनका क्या परिचय दिया जाय। इतना ही कि वे एक सम्पन्न परिवारके बालक थे और रूसके दूसरे सम्पन्न युवकोंकी भाँति दीन-हीन मजदूर-किसानोंके दुःख-निवारणके लिये उन्होंने आपत्तियोंको आमन्त्रित किया था। उनके पिता 'डाइरेक्टर ऑफ स्कूल्स' थे। उनकी माता उलिया नव्हको भी पैतृक सम्पत्तिके रूपमें एक जमींदारी प्राप्त हुई थी।

माता उलिया नव्ह अत्यन्त संयमी और दयालु महिला थीं। पुत्रोंको व्यसनी एवं विलासी न होने देनेपर उनका विशेष लक्ष्य रहा करता था। सन्तानोंको उच्च शिक्षा देनेमें वे सदा प्रवृत्त रहतीं तथा प्रयत्न करतीं। व्ययके सम्बन्धमें वे बहुत सावधान रहती थीं। पैसे-पैसेका हिसाब रखतीं और पुत्रोंसे लेतीं। पुत्र दुर्व्यसनोंमें न पड़ें, इसलिये व्ययका हिसाब वे बड़ी सूक्ष्मतासे लेती थीं। लेनिन जब जर्मनी या अन्यत्र कहीं भी गये, गुप्त रहे, तब भी उन्होंने माताको जो पत्र लिखे हैं, उसमें उन्होंने अपने व्ययका राई-रत्ती हिसाब दिया है। यह बात बतलाती है कि लेनिनपर माताका कितना प्रभाव था और उनके कार्योंमें माताका समर्थन एवं प्रोत्साहन था।

लेनिनके ज्येष्ठ भ्राता सम्राट् जारके विरुद्ध षड्यन्त्र करनेके अपराधमें फाँसी पा चुके थे। माता उलिया नव्हने लेनिनको भी उसी मार्गपर बढ़ने दिया। वे अत्यन्त तेजस्विनी महिला थीं। अन्यायसे उन्हें आन्तरिक द्वेष था। रूसके उत्पीड़ित वर्गको देखकर वे रो पड़ती थीं। दीन-दुखियोंके कष्टमोचनमें यदि प्राण भी देने पड़ें तो हिचकना नहीं चाहिये, यह शिक्षा लेनिनको माताद्वारा शैशव-कालमें ही मिली थी। असीम वात्सल्यके ऊपर जिसकी पर-दुःख-कातरता विजयिनी हो, उस महामहिम नारीका कौन अभिनन्दन न करेगा। —सु० सिं०

चांग-काई-शेककी माता

'निःसन्देह मेरे सब कार्योंकी सफलता मेरी माताके कारण है। हमारी सफलताके लिये वे सब प्रकारसे हमारी सहायता करती थीं। कभी आर्थिक, कभी शारीरिक और कभी तथागतके चरणोंमें प्रार्थना करके। शैशवमें माका मुझपर असीम अनुराग था। दूसरी माताएँ पुत्रोंसे जैसा प्रेम करती हैं, उससे वह भिन्न प्रकारका ही प्रेम था। वे एक कठोर नियमतन्त्री थीं—नियमपालनमें कोई भी व्यत्यय, तनिक भी शैथिल्य उन्हें सह्य नहीं था।' —चांग-काई-शेक

चीनके वर्तमान कर्णधार, दीर्घ कालतक जापान-जैसे प्रबल राष्ट्रका एकाकी सामना करनेवाले लौह पुरुष जनरलेसिमो चांग-काई-शेक अपने पिताके तृतीय पुत्र हैं। वे बच्चे ही थे कि उनके पिताका देहान्त हो गया। उनकी मातापर ही सन्तानोंके पालन-पोषणका भार पड़ा। घरमें कोई बड़ी सम्पत्ति नहीं थी। कृषि ही आधार थी। जो संचय था, उसे उदार जननीने मुक्तहस्तसे दान कर दिया। कुछ दीनोंमें वितरित हुआ और कुछ स्कूल एवं अस्पतालोंके लिये गया। वे अत्यन्त दयामयी नारी थीं। विपन्न व्यक्तियों, विशेषतः विधवाओं एवं मातृ-पितृहीन बच्चोंके प्रति उनमें अपार करुणा थी।

निष्ठुर मंचूराज्यका शासन था। उस समय चीनपर अतिरिक्त कर एवं सलामियोंका भार चांग परिवारपर पड़ता ही रहता था। वे सब देकर भी अपने श्रमसे वह उदात्त महिला-परिवारका पालन कर लेती थीं। जनरलेसिमोने कहा है—'माने अपने अध्यवसायके बलपर ही आसन्न ध्वंससे हमें बचा लिया।'

माताका स्नेह चांगके प्रति अगाध था, फिर भी वे अन्यायको प्रश्रय नहीं देती थीं। अन्याय करनेपर वे अत्यन्त रुष्ट होतीं। चांग-काई-शेकको यदि घरमें कभी लौटनेमें देर हो जाय तो माताको उन्हें विस्तृत विवरण देना पड़ता कि वे कहाँ, क्यों और किसलिये रुके रहे। पाठशालासे लौटनेमें दिनमें भी देर हो तो यह सब विवरण देना पड़ता था। बचपनमें ही सन्तानोंको स्वावलम्बनकी कठोर शिक्षा उन्होंने दी। चांग-काई-शेक कहते हैं—'जब हम छोटे थे, माता हमसे घर स्वच्छ करातीं, मेज साफ करातीं, बर्तन मलवाती, भात या तरकारी बनवाती। भातका पानी निकालते समय यदि दो चावल भी भूमिमें गिरे या वस्त्रोंपर दो-चार छींटे पड़े तो मा हमारा अत्यन्त तिरस्कार करती।'

समीपके ग्राम-स्कूलमें जितनी शिक्षा सम्भव थी, दी गयी। चांग-काई-शेकने विदेश जाकर सैनिक शिक्षा प्राप्त करनेकी इच्छा व्यक्त की। सभी सम्बन्धियोंने मना किया, किंतु माताने पुत्रको आशीर्वाद दिया। देशोद्धारमें माताने पुत्रको सदा प्रोत्साहित किया। जनरलेसिमोने लिखा है—

'मैं जब विप्लवीदलमें सम्मिलित हुआ, तुरंत सबने मेरे साथ पत्र-व्यवहारतक बंद कर दिया । उस समय एकमात्र माताका आशीर्वाद ही मेरा संबल था । जितनी सहायता सम्भव थी, उन्होंने मुझे दी ।'

चांग-काई-शेककी माता धार्मिक नारी थीं । बौद्धधर्ममें उनकी अविचल श्रद्धा थी । भगवान् तथागतकी अर्चना उनका सर्वप्रिय कार्य था । अपने तृतीय पुत्रसे उन्हें अत्यधिक आशा थी । वे चांगसे कहती थीं—'तुम्हारे पिताकी मृत्युके पश्चात् मेरे दिन अत्यन्त कष्टमें व्यतीत हुए । मुझे भय लगता था कि मैं कैसे इन संकटोंसे निस्तार पाऊँगी । केवल मेरे हृदयमें यह विश्वास था कि तुम्हारे समान पितृहीन शिशुपर तथागत अवश्य कृपा करेंगे और तुम्हें सुशिक्षित करके ही मैं विपत्तियोंसे परित्राण पा सकूँगी ।'

विप्लव एक बार शिथिल पड़ा । कार्यकर्ता निराश होने लगे । चांग-काई-शेक घर लौटे । माताने उन्हें आदेश दिया—'तुम जिस निष्ठासे मेरी और परिवारकी रक्षा करते हो, उसी निष्ठा एवं तत्परतासे जातिकी रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है । ऐसा आदर्श कार्य करो, जिससे देशसे अत्याचार, अनाचार एवं अविचार कहीं भाग जायँ ।'

सन् १९२१ में इस महामहिम नारीने शरीर छोड़ा । जनरलेसिमो चांग-काई-शेककी देशभक्ति माताके उन आग्रहोंका परिणाम है, जो वे पुत्रसे किया करती थीं । वे प्रायः कहती थीं—'मैं एकमात्र यह चाहती हूँ कि तुम अपने देशसे प्रेम करो । तुम्हारे पूर्वपुरुष मानी लोग थे; उनके उज्ज्वल यशको तुम अक्षुण्ण रक्खो !' —सु० सिं०

प्रेसीडेंट मसॉरिककी माता

'मेरी सब प्रकारकी उन्नतिका कारण मेरी पुण्यवती मा हैं । वे त्याग, प्रेम एवं निपुण शिक्षाकी मूर्ति थीं ।' —प्रेसीडेंट मसॉरिक

द्वितीय यूरोपीय महासमरसे कुछ पूर्व मध्य यूरोपका चेकोस्लोवाकिया राष्ट्र प्रसिद्ध हो गया था । प्रथम यूरोपीय महायुद्धके पश्चात् मसारिकके अथक प्रयत्नसे ही इस राष्ट्रका गठन हुआ था । वही इस नवराष्ट्रके प्रथम अध्यक्ष हुए थे और उन्हींके समयमें द्वितीय महासमरसे पूर्व हिटलरने उस राष्ट्रको बलात् नष्ट करके जर्मनीमें मिला दिया था । प्रेसीडेंट मसारिक अपनी असाधारण राजनीतिज्ञता, पाण्डित्य तथा अविचल धैर्यके लिये यूरोपके इतिहासमें अमर हो गये ।

मसॉरिककी माता वियेनाके किसी प्रतिष्ठित परिवारमें दासीका काम किया करती थीं । उस परिवारमें उच्च शिक्षाका प्रचुर प्रेम था । परिवारके सदस्य लेखक, प्रोफेसर तथा उच्च राजकीय पदोंपर थे । मसारिककी माता सोचा करती थीं कि अन्ततः इन लोगोंकी यह उन्नति ज्ञानार्जनके कारण ही तो है । उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि उन्हें पुत्र हुआ तो उसे वे उच्च शिक्षा अवश्य दिलावेंगी ।

मसारिककी माताका विवाह ऑस्ट्रियाके सम्राट्के एक कोचवानसे हो गया । बेचारा कोचवान वियेना रह नहीं पाता था । उन दिनों मोटर या रेल नहीं थी । यूरोपमें बग्घियोंसे राजपुरुष इधर-उधर आवा-जाया करते थे । कोचवानको सम्राट्के साथ रहना पड़ता था । जहाँ-जहाँ सम्राट्के राजप्रासाद थे, वहाँ-वहाँ उसे जाना पड़ता था । जिस समय मसारिकका जन्म हुआ, उस समय उनके पिता-माता वियेनासे दूर एक जंगली ग्राममें थे । यहाँ सम्राट्ने एकान्तमें शिकार खेलने आनेपर रुकनेके लिये एक भवन बनवाया था । कभी-कभी वे यहाँ आया करते थे ।

मसारिककी माताको पुत्रकी प्राप्तिसे इतना आनन्द हुआ मानो उन्हें आकाशका चन्द्रमा मिल गया हो । अपने सङ्कल्पको कार्यरूप देनेका अब अवसर मिलेगा । उन दिनों यूरोपमें जन-साधारणकी शिक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था । जर्मनीका राजपरिवार सर्वसाधारणकी शिक्षाके विरुद्ध था । शिक्षक भी साधारण श्रेणीके बालकको शिक्षा देना अपमान समझते थे । उन्हें शासकवर्गका भी भय था ।

अन्तमें साहस करके मसारिककी माताने सम्राट्को एक प्रार्थना-पत्र दिया । पुत्रको सुशिक्षित करनेकी आज्ञा और इसके लिये व्यवस्थाकी उसमें याचना थी । सम्राट् सेवकोंको पढ़ाने-लिखानेके पक्षमें नहीं थे, फिर भी प्रार्थना-पत्र इतनी दीनतापूर्वक करुण भाषामें लिखा गया था कि उन्हें दया आ गयी । उन्होंने स्त्री समझकर मसारिककी माताका प्रार्थना-पत्र स्वीकार किया । माताके इसी प्रयत्नका फल था प्रेसीडेंट मसारिकका सम्पूर्ण ज्ञान एवं वैभव । —सु० सिं०

मैडम ब्लैवत्सकी

(लेखिका—श्रीसुशीलादेवीजी)

सन् १८३१ मे रूसके दक्षिणी भागमें हेलनाका जन्म हुआ। उनके पिता रूसी सेनामें विशेष पदपर थे। दुबली, पतली, चञ्चल बालिकाके बपतिसाके समय ही पादरीकी पोशाकमें अग्नि लग गयी थी। अनिष्टकी आशंका की गयी थी तब; किंतु वह सम्भवतः भावी प्रकाशकी सूचना थी। पंद्रह वर्षकी अवस्थामें बालिका एक पटु अश्वारोही हो चुकी थी। बचपनसे उसे लगता था कि कोई अज्ञात शक्ति उसके साथ है। वह उसीके चिन्तनमें लगी रहती थी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें माता-पिताका शरीरान्त हो जानेसे वह घरमे अपनी दादीके साथ रहती थी। उसके जीर्ण-शीर्ण राजप्रासादके समान भवनके सम्बन्धमें लोगोमें अनेक किंवदन्तियाँ थी। इन सबने उसका विश्वास भूत-प्रेतोंमे सुदृढ़ कर दिया। वह पक्षियोंसे बातें करनेका यत्न करने लगी। कहानीकलामे वह अत्यन्त निपुण थी। उसका परिचय एक वृद्धसे हुआ, जिसे लोग जादूगर कहते थे। इस प्रकार भूतविद्याका उसे प्रारम्भिक ज्ञान हुआ।

सोलह वर्षकी अवस्थामें लन्दन एवं पेरिसकी यात्रा करके उसने अंग्रेजी सीख ली। रूसके गवर्नर-जनरल ब्लैवत्सकीसे उसका विवाह हो गया और वह हेलनासे मैडम ब्लैवत्सकी हुई। रूससे वह पेरिस आयी और वहाँसे लन्दन। एक दिन लन्दनके हाइडपार्कमे वह बैठी थी। उसे लगा कि एक बहुत ऊँचा भारतीय साधु एक राजाके साथ आ रहा है। महात्माने बताया कि मैं अज्ञात रूपसे बचपनसे उसकी रक्षा करता रहा हूँ। उन्होंने यह भी बताया कि उसे बड़े-बड़े कार्य करने हैं, परंतु पहले तिब्बत जाकर योग-साधना करनी होगी। ब्लैवत्सकी वहाँसे अमेरिकाके मेक्सिको नगर पहुँचीं और वहाँसे सन् १८५३ मे भारत आ गयीं। इस बार तिब्बतकी यात्रामें वे सफल न हो सकीं और उन्हें सेनफ्रांसिस्को लौट जाना पड़ा।

सन् १८५५ मे वे फिर भारत आयीं। इस बार एक तन्त्रशास्त्रके तातार साधु शैमनका उन्हें साथ मिला। उनके संरक्षणमे उन्होंने यात्रा की। दूसरे सब साथी मार्गकी कठिनाइयोंसे भाग गये। तिब्बतमे अनेक कठिनाइयाँ हुईं; किंतु उन्होंने दृढ़तापूर्वक साधना करके शक्ति प्राप्त की। पहले तो वे शैमनके चमत्कारोंसे प्रभावित हुई थीं; किंतु आगे जाकर उन्होने अपनेको पूर्णतः आध्यात्मिक अन्वेषणमें लगा दिया। तिब्बतसे लौटनेपर हेनरी स्टीलकी सहायतासे अमेरिका और यूरोपमें उन्होंने भारतीय योगविद्याका प्रचार प्रारम्भ किया। भारतमें इनकी भूत-विद्याकी अत्यन्त प्रशंसा हुई। हेनरी स्टीलकी भूतविद्या और मैडम ब्लैवत्सकीके चमत्कारोंने इनके सिद्धान्तोंके प्रचारमें अच्छी सहायता की। ये रोगग्रस्तोंकी चिकित्सा करते थे। इनके सिद्धान्तोको थियासफी संज्ञा मिली।

थियासफिकल सोसाइटीकी न्यूयार्कमे स्थापना हुई और कर्नल आल्काट उसके आजीवन सभापति बना दिये गये। लन्दन तथा यूरोपमें अन्य स्थानोंमे भी इसकी शाखाएँ स्थापित हो गयीं। सन् १८७८मे उन्होने देश-भ्रमण प्रारम्भ किया। अब चमत्कारोंसे मैडमका मन ऊब गया था। वे आध्यात्मिक जीवनमे उतर चुकी थीं। सन् १८८२ में वे बीमार होकर दार्जिलिंग गयी। यहाँसे वे यूरोप गयीं और प्रचारमें लग गयीं। अन्तमें लन्दनमें लैन्सडाउन रोडपर एक मकान लेकर रहने लगीं। श्रीमती ऐनी बेसेंट प्रथमसे ही उनके सिद्धान्तोंसे आकर्षित हो चुकी थी। यहींपर उन दोनोका साक्षात् हुआ।

मैडममें अद्भुत सहनशक्ति एवं धैर्य था। वे सुबहसे शामतक कार्यमें लगी रहती थीं। कर्तव्यके सम्मुख स्वार्थकी सदा उन्होंने उपेक्षा की। उनके अनुयायियोमे कुछका विश्वास है कि वे पुनः अपने सिद्धान्तोका प्रचार करनेको जन्म धारण करनेवाली हैं और कुछ मानते हैं कि उन्होने अपनी समस्त शक्तियाँ ऐनी बेसेंटमे स्थापित कर दी थी। उनकी ओर लोगोंका स्वाभाविक आकर्षण हो जाता था, यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी।



स्त्रियोंके दोष

द्वारोपवेशनं नित्यं गवाक्षेण निरीक्षणम्। असत्प्रलापो हास्यं च दूषणं कुलयोषिताम्॥

(व्याससंहिता)

नित्य घरके दरवाजेपर बैठना, खिड़कियोंसे (परपुरुषोंको) देखना, बुरी बातें करना और बिना कारण हँसना—उत्तम कुलकी स्त्रियोंके लिये ये दोषकी बातें हैं।



डाक्टर ऐनी बेसेंट

(लेखक—डा० मुहम्मद हाफ़िज़ सैयद, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

हिंदुओंमें सहस्रजीवी होना एक दुर्लभ सौभाग्य माना जाता है, जो देवताओंके कृपापात्रोंको ही प्राप्त होता है। व्यवहार-दृष्टिसे श्रीमती बेसेंट केवल पूर्णतया हिंदू ही नहीं वरं एक महान् हिंदू थीं। उनका बड़ा भाग्य था—और भारतवर्षका तो उनसे भी बड़ा भाग्य था कि वे 'सहस्र मास'-की अवधिको भी पार कर छः वर्ष और जीवित रहीं।

श्रीमती बेसेंट मनुष्य-जातिकी एक अनुपम विभूति थीं। उनके परिवारमें केवल वंशगत सम्बन्धी ही नहीं वरं सभी ऐसे थे, जो मानव-जातिकी समस्याओंपर उनकी ही भाँति अनुभव और विचार करनेवाले थे। उनके विषयमें ठीक वही बात कही जा सकती है, जो उनके साथी चार्ल्स ब्रैडलाने अपने विषयमें कही है कि 'विश्व ही मेरा देश है और परोपकार मेरा धर्म।' यह सिद्धान्त भक्तोंके लिये बताये हुए श्रीशङ्करके दिव्य आदर्शको छूता हुआ दिखायी देता है। आचार्य कहते हैं, 'पार्वती मेरी माता हैं और भगवान् महेश्वर मेरे पिता। सारे शिव-भक्त मेरे सम्बन्धी हैं और त्रिलोकी ही मेरा देश है।'

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

फिर भी, सामान्यमें विशेषकी अलग सत्ता थी ही। यह बात भी हिंदूशास्त्रोंकी नीतिके अनुकूल ही है। शास्त्रोंकी बड़ी सुन्दर प्रार्थना है, 'सब लोग सुखी हों' पर उसी पङ्क्तिमें गौ और ब्राह्मणोंका विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है। यह अवश्य है कि ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने योग्य हों—गीताने ब्राह्मणोंके जो गुण बताये हैं, उनसे युक्त हों। उसी प्रकार, विश्वबन्धुत्व और जगन्मैत्रीकी भावनाओंसे परिप्लुत होनेपर भी श्रीमती बेसेंटको वेदों और ऋषियोंके देश भारतसे तथा गौरवपूर्ण अतीतके उत्तराधिकारी, पर अब दुर्दिनमें पड़े हुए और चारों ओरसे निन्दित भारत माताके बच्चोंसे विशेष प्रेम था। जन्मना वे आयरिश थीं, पालन-पोषण इंग्लैंडमें हुआ था; पर भारतवर्षको उन्होंने अपना देश बना लिया था और इसे अपनी मातृभूमिकी तरह देखतीं, आदर करतीं और प्यार करती थीं। भारतवासियोंने भी उनके प्रति वही श्रद्धा दिखायी है, जो एक माको मिलनी चाहिये।

अपनी छियासी वर्षकी आयुमेंसे श्रीमती बेसेंटने चालीस वर्ष भारतकी सेवाके लिये अर्पण कर दिये। यदि उनके बचपन और शिक्षाकालकी अवस्थाको न गिनें तो यह कहा जा सकता है कि उनके जीवनका दो तिहाई भाग भारतमें भारतके लिये काम करने बीता। वे थियोसाफिकल सोसाइटी-द्वारा खिंचकर यहाँ आयी थीं। इस संस्थासे उनका परिचय करानेका श्रेय श्रीयुत स्टेडको है तथा श्रीमती ब्लैवत्स्कीकी दो पुस्तकोंको है, जिन्हें श्रीयुत स्टेडने श्रीमती बेसेंटको इसलिये दिया था कि वे उनकी समालोचना उनके 'रिव्यु आव् रिव्यूज' के लिये लिख भेजें। अडियारके थियोसाफिकल समाजमें श्रीमती बेसेंटका वार्षिक अभिभाषण प्रत्येक वर्षकी राष्ट्रीय महत्त्वकी घटनाओंमेंसे एक होता था। इस देशमें आनेके पाँच वर्ष बाद ही उन्होंने पवित्र काशीपुरीमें 'सेंट्रल हिंदू-कालेज' की स्थापनाके विशाल आयोजनका सङ्कल्प करके उसे पूरा कर दिखाया। इस काममें उनके कर्मठ साथियोंमें विद्यावारिधि पूज्य डाक्टर भगवानदासका नाम सबसे आगे है। श्रीमती बेसेंटने अपने स्वाभाविक उत्साह और अनन्यता-के साथ इस संस्थाको देशके सर्वोत्तम शिक्षालयोंके बीच प्रतिष्ठित स्थानपर पहुँचानेके लिये खूब परिश्रम किया। उनका आकर्षक व्यक्तित्व कालेजकी सेवाके लिये शिक्षाकला-विशारदोंके एक समूहको खींच लाया। ये सब अपनी योग्यता एवं विद्वत्ताके लिये लोगोंकी श्रद्धाके पात्र थे, पर इस संस्थाकी महान् संस्थापिका और इसके उच्च आदर्शोंके प्रति अपनी भक्तिके कारण वे और भी अधिक आदरणीय थे। श्रीमती बेसेंटने अपनी सार्वजनिक सेवाभावनाके वशीभूत होकर 'सेंट्रल हिंदू-कालेज' को हिंदू विश्वविद्यालयके श्रीगणेशके रूपमें तत्परताके साथ सौंप करके पण्डित मदनमोहन मालवीयजी-के विश्वविद्यालयको स्थापित करनेके भागीरथ प्रयासको कुछ कम हल्का नहीं किया। विश्वविद्यालयका निर्माण करनेमें पूज्य मालवीयजीको जो महान् सफलता मिली है, उसे लोग इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। इतना ही कहनेकी आवश्यकता है कि मालवीयजीके इस अद्भुत कर्मको स्वीकार करनेमें श्रीमती बेसेंट सबसे अधिक उदार रहीं। सच बात तो यह है कि दूसरोंके सत्कार्योंकी प्रशंसा करते हुए वे थकती ही नहीं थीं। युवकोंकी ही नहीं वरं बालिकाओं और अन्त्यजोंकी शिक्षाकी ओर भी उन्होंने पूरा-पूरा ध्यान दिया था।

राजनीतिक क्षेत्रमें श्रीमती बेसेंटने कुछ देरसे प्रवेश किया। फिर भी, पूरे बीस वर्ष अर्थात् अपने भारतप्रवासका आधा जीवन इसमें खपाया। यहाँ भी वे केवल मनोरंजन करने नहीं आयीं। यह उनके स्वभावमें ही नहीं था। उन्होंने तत्काल एक अंग्रेजी दैनिकको अपने हाथोंमें ले लिया और पूर्ण योग्यताके साथ वर्षोंतक उसका सम्पादन करती रहीं। यह उनका दोष नहीं वरं जनताका दुर्भाग्य था कि उक्त पत्रको आर्थिक असफलताके कारण बंद कर देना पड़ा। उन्होंने तो इसे चलाते रहनेके लिये बड़े-बड़े त्याग किये थे। राष्ट्रियताके प्रश्नके प्रचारार्थ उन्होंने एक बड़े अच्छे साप्ताहिक पत्रका भी सम्पादन किया। वे 'भारतीय नेशनल कांग्रेस'में सम्मिलित हुईं और उसका सभापति बननेका सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने होमरूल लीग, फिर नेशनल कन्वेंशन और 'कामन्वेल्थ् आव् इंडिया लीग'की स्थापना की। देशकी उत्कट सेवामें वे बंदिनी भी बनीं। वे अपने विरोधकी ज्वालाको इंग्लैंड भी ले गयीं। वहाँपर उन्होंने अनेक प्रकारका संगठन किया, कई जगह भाषण दिये; और संक्षेपमें कहें तो जो कुछ मानवीय शक्ति कर सकती है, वह सब किया। हम युक्त-प्रान्तके अधिवासियोंको इस बातका श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिये कि वे मद्राससे दो बार गरमीके दिनोंमें यहाँ आयीं—एक बार तो सन् १९१५ में गोरखपुरमें युक्तप्रान्तीय कान्फ्रेंसको सभापतित्व ग्रहण करनेके लिये और दूसरी बार १९२९ में लखनऊमें युक्तप्रान्तीय लिबरल कान्फ्रेंसकी अध्यक्षा होकर आयीं। कामन्वेल्थ् आव इंडिया बिलको तैयार करनेमें उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। हाउस आव् कामन्समें एक बार तो उसपर विचार हुआ, पर फिर वह आगे नहीं बढ़ सका। उनके अन्तिम वर्ष इंग्लैंडकी लेबर गवर्नमेंटके कारण निराशामें बीते, क्योंकि वह भारतीय स्वराज्यके प्रश्नके प्रति उदासीन थी।

भारतमें आनेके पूर्व घोर सुधारवादी और भारतके मित्र चार्ल्स ब्रैडलाके साथ श्रीमती बेसेंट विचार-स्वतन्त्रता, मुद्रण-स्वतन्त्रता और सभा-सम्बन्धी स्वतन्त्रताके लिये कई एक लड़ाइयाँ लड़ चुकी थीं। यह उत्साहवर्द्धक कथा उनकी फड़कती हुई आत्मकथाके पृष्ठोंमें पढ़नेको मिलती है। इस पुस्तकको पढ़नेवाले इसे सदा प्रभावपूर्ण और सत्प्रेरणाओंसे भरी पायेंगे। वक्तृता देनेमें संसारभरमें श्रीमती बेसेंटसे बढ़कर तो कोई था ही नहीं। उनकी बराबरी करनेवाले भी इने-गिने थोड़े लोग थे। संघटन करनेकी क्षमता भी जैसी उनमें थी, वैसी अभीतक और कहीं देखनेमें नहीं आयी। वे सदा अत्याचारोंके विरुद्ध पीड़ितोंके साथ और धनिकोंके विरुद्ध गरीबोंके साथ रहीं। वे अपने धनका बहुत-सा भाग योग्य आदर्शोंकी सहायतामें लगातीं और अपने आपको तो उनकी अभिवृद्धिके हेतु उत्सर्ग ही कर दिया था। वे गरीबोंकी ही थीं। बदलेमें श्रीमती बेसेंटने उनकी अपार श्रद्धा और भक्ति प्राप्त की। श्रीमती बेसेंट उन थोड़े दुर्लभ प्राणियोंमेंसे थीं, जो दुर्बल मानव-जातिको अलंकृत करनेके लिये कई पीढ़ियोंमें कहीं एक बार आते हैं। वे अपने पाञ्चभौतिक शरीरसे तो अब हमारे साथ नहीं हैं; पर जिनको मनुष्यकी मरणोत्तर सत्ता तथा मानवताके कल्याणार्थ दैवी आत्माओंकी चिन्तामें विश्वास है, ऐसे लोगोंको भला कभी संदेह हो सकता है कि जिस भारत देशको उन्होंने श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा और अपनाया था, उसको आगे बढ़ा तथा ऊपर उठाकर संसारके सर्वाधिक समुन्नत, सर्वाधिक समृद्ध और सर्वाधिक सम्मानित राष्ट्रोंके बीचमें योग्य स्थानपर पहुँचा देनेकी चेष्टा करनेवाले किसी भी व्यक्तिकी वे सूक्ष्मरूपसे अवश्य सहायता नहीं करेंगी, उसमें उत्साह नहीं भरेंगी और उसके परिश्रमकी सफलताके लिये आशीर्वाद नहीं देंगी?



भक्ता श्यामवती

पाँच वर्षकी बालिका थीं श्यामवती, तभीसे वे भगवान्का पूजन एवं नाम-जप किया करती थीं। उसी समयसे वे सभी धार्मिक व्रतोंको करती थीं। इन्दौरसे मोरटक्का स्टेशन नर्मदा-किनारे है। यहींसे ॐकारेश्वरको मार्ग जाता है। मोरटक्कामें राजराजेश्वरी देवीका सुन्दर मन्दिर है। वहाँ जब श्रीगोपालजीकी स्थापना हुई तो पिताके साथ बालिका श्यामवतीजी भी वहाँ गयीं। तभीसे गोपालजीने उनके हृदयमें आसन जमा लिया। वे निरन्तर उनके ही भजन-ध्यानमें रहने लगीं।

अवस्था सोलह वर्षकी हो गयी थी, विवाह हो चुका था; किंतु अभी वे पिताके घरपर ही थीं। तीन-चार महीनोंसे बीमार थीं और बिस्तरेपर पड़े-पड़े भजन किया करती थीं। उनके कारण पूरा परिवार भजनमें लगा रहता था। एक दिन उन्होंने पितासे गोपालजीके समीप चलनेको कहा। उनकी दशा ऐसी नहीं थी कि कहीं ले जायी जातीं। पिताके असमर्थ रहनेपर उन्होंने कहा, 'मैं कल बारह बजे गोपालजीके पास जाऊँगी।' पूछनेपर बताया, 'वहाँ उनके भवनमें झाड़ू

दूँगी। उनके बर्तन मलूँगी। उनकी सेविका बनकर रहूँगी।'

दूसरे दिन ठीक बारह बजे उन्होंने कहा—'गोपालजी मुझे बुलाते हैं। मैं जा रही हूँ।' शरीर निष्प्राण हो गया। सब लोग शोकमग्न हो गये। तनिक ही देरमें श्वासके लक्षण प्रकट हुए। पुनः चेतना आयी। उन्होंने बताया—'गोपालजीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा है, अपने उदरके मलको स्वच्छ कराके आओ।' अब वे एनिमा लेनेका हठ करने लगीं। बड़ी कठिनतासे एक नर्स एनिमा देनेको इस दुर्बल स्थितिमें प्रस्तुत हुई। सायंकाल छः बजे एनिमा दिया गया। अब उन्होंने कहा—'अच्छा, अब मुझे भूमि लीपकर उसपर उतार दो! मैं फिर बारह बजे जाऊँगी।' उनके कहनेके अनुसार सब कपड़े हटा लिये गये। दूसरे दिन दोपहरको सबको सान्त्वना देकर ठीक मध्याह्नमें उन्होंने शरीर छोड़ा।

यह घटना कुछ महीने पूर्वकी है। आज भी भगवान्‌की आराधना एवं विश्वासका संपूर्ण फल प्राप्त होता है और श्रद्धालु उसे प्राप्त करते हैं।—सु० सिं०

परम रामभक्ता श्रीगङ्गाबाई

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

उनकी अवस्था अस्सी वर्षके लगभग होगी। वे बालविधवा थीं और उन्होंने पैदल चारों धामों तथा भारतके दूसरे प्रसिद्ध सभी तीर्थोंकी यात्रा की थी। वे अनन्य श्रीरामोपासिका थीं, किंतु यह कहते उनका कण्ठ भर जाया करता था कि इस तीर्थयात्राके पुण्यस्वरूप ही उन्हें वृन्दावनवास प्राप्त हुआ है। उन्होंने एक ब्राह्मण-कुलमें जन्म ग्रहण किया था। बड़े संयमसे रहती थीं और स्पर्शास्पर्शका बहुत सावधानीपूर्वक विचार करती थीं। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक सिद्ध महापुरुषोंके दर्शन किये थे। संतोंकी चर्चा करते हुए वे प्रेम-निमग्न हो जाया करती थीं।

उनका कहना था कि 'श्रीवृन्दावन धाममें तो कम-से-कम सांसारिक चर्चा नहीं ही करनी चाहिये। यहाँ तो एकमात्र भगवान् और उनके निजजनोंका गुणानुवाद ही करना चाहिये।' उनके समीप यदि कोई लौकिक चर्चा प्रारम्भ करता तो वे अत्यन्त रोष प्रकट करती थीं। आयुके अन्तिम पंद्रह-सोलह वर्ष वे श्रीवृन्दावनधाममें ही रहीं। अन्तमें उनका शरीर व्रजरजमें ही एक हो गया। यहाँ रहते हुए नियमित रूपसे यमुना-स्नान, भगवान्‌के मन्दिरोंमें दर्शन और रास-लीलाके दर्शन वे करती रहीं। इस नियममें बाधा नहीं पड़ने पायी।

वे बड़े सादे ढंगसे रहती थीं। भगवान्‌का प्रसाद बनातीं, स्थान एवं वर्तनोंको स्वच्छ करतीं तथा आगत साधु-संतोंका सत्कार करतीं। इस वृद्धावस्थामें भी उनका जीवन तपस्यापूर्ण था। व्रजकी पुण्य प्रेमभूमिमें ऐसी पवित्रात्माओंका सर्वदा ही निवास रहा है।

वीर नारी

अभी-अभी पाँच वर्षकी ताजी घटना है। हरियाना जातिकी एक स्त्री दिल्लीमें गाड़ीपर बैठी। वह अकेली ही थी, पर अपने लिये वह निश्चिन्त थी। कोई पुरुष उसके ऊपर आक्रमण कर सकेगा, इसकी उसे चिन्ता ही नहीं थी।

रेवाड़ीके पासके किसी स्टेशनपर वह उतर गयी और अपने स्थानपर जाने लगी। वह स्वस्थ थी। युवती थी। आकर्षक आकृति थी उसकी। उसे अकेले पथपर जाते देखकर एक मुसल्मान गुंडेने उसका पीछा किया।

कुछ दूर निकल जानेपर जब एकदम एकान्त आ गया और चारों ओर दूरतक कोई नहीं दीखता था, तब उस गुंडेने पीछेसे उस नारीकी दोनों बाँहोंके बीचसे अपने दोनों हाथ डाल दिये और उसके स्तनोंपर हाथ डालनेकी चेष्टा की। उक्त नारीने उसके दोनों हाथ पकड़कर जोरसे ऐंठ दिये कि गुंडेके हाथ तड़तड़ा उठे। उसके माथेपर पसीना निकल आया।

क्रोधसे गुंडेने कहा—'मुझे छोड़ दो, नहीं तो मैं तुम्हारी जान मार डालूँगा।' उसने हाथ छुड़ानेकी बड़ी कोशिश की, पर जैसे वह लोहेके शिकंजेमें दब गया था।

स्त्रीने जवाब दिया—'चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।'

विवश होकर गुंडेने प्रार्थना की—'तुम मेरी मा हो। अबकी बार माफ कर दो। फिर मैं ऐसी गलती कभी नहीं करूँगा।' वह गिड़गिड़ा रहा था।

स्त्रीने फिर कहा—'मैंने एक बार कह दिया कि चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चले आओ, नहीं तो किसी काम लायक नहीं रह जाओगे ।'

स्त्री स्टेशनकी ओर लौट पड़ी थी । आगे-आगे स्त्री चल रही थी । उसके पीछे-पीछे सटा हुआ मुसल्मान चल रहा था । उसके दोनों हाथ स्त्रीकी दोनों बाँहोंके भीतरसे आगे दोनों हाथोंमें थे । स्त्री रह-रहकर उसकी हथेली जोरोंसे उमेंठ देती थी, मुसल्मान चिल्लाने लगता था ।

स्त्री स्टेशनपर आ गयी । वहाँपर मुसल्मानका तमाशा देखकर यात्री हँसने लगे । भीड़ लग गयी । स्त्री स्टेशन-मास्टरके पास चली गयी और उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया । गुंडा गिरफ्तार कर लिया गया ।

× × ×

एक दूसरी घटना दो ही साल पूर्वकी है । जाड़ेके दिन थे । एक राजपूत अपने मस्त ऊँटपर बैठकर फतहपुर (जयपुर राज्य)से सालासरकी ओर जा रहा था । राजपूतने शराब पी रक्खी थी । उसने अपने ऊँटको भी शराब पिला दी थी ।

रास्तेमें जाटोंकी कुछ स्त्रियाँ पाला काट रही थीं । उनमें दो-चार युवती भी थीं । राजपूतने उन्हें देखा तो वह अशिष्टताभरी बातें बकने लगा । जाटकी एक लड़की यह सह न सकी । वह दौड़ी आयी और उस मतवाले ऊँटकी—जिसे प्रायः सब लोग बैठा नहीं सकते—मोरी पकड़ ली और जे-जे करके उसे बैठा दिया ।

राजपूतकी आँखें लाल हो गयीं । उसने जवान लड़की-को पकड़ लिया । लड़कीने एक घूसा इतने जोरसे मारा कि राजपूत तिलमिला गया और दूसरे ही क्षण लड़कीने अपनी तेज गंडासी राजपूतपर चला दी; वह वहीं ढेर हो गया ।

सुनते हैं, उस रास्ते अकेले जाते लोग डरने लग गये हैं ।

ऐसी वीर नारियोंपर किसी भी शत्रुको आँख उठानेका साहस नहीं हो सकेगा । इसके लिये नारियोंको भारतीय संस्कृति-के अनुसार भारतीय वीर नारी बनना पड़ेगा । —शि० दु०

पतिव्रता कमला

(प्रेषक—श्रीखैरातीलाल पूरनचन्द्रजी मित्तल)

श्रीप्रयागराजमें मकर-स्नानका समय था । सन् १८८७ की बात है । एक ग्रामीण स्त्री अपने दो लड़कोंके साथ तीर्थ-स्नान करने आयी थी । भीड़-भाड़में बड़ा लड़का पृथक् हो गया । पुत्रके लिये माता इधर-उधर विक्षिप्तकी भाँति ढूँढ़ने, पुकारने लगी । सहसा एक युवक पुलिस कान्स्टेबल उसके सम्मुख आया । उसने स्त्रीसे इस प्रकार रोनेका कारण पूछा और आश्वासन दिया कि उसका लड़का कोतवालीमें पहुँचा दिया गया है । उस स्त्रीको लड़केके समीप पहुँचानेका विश्वास देकर साथ ले चला वह । लड़केका नाम, रूप, अवस्थादि उस स्त्रीके द्वारा ही उसने जान लिये थे ।

त्रिवेणी-तटसे कोतवाली यों ही तीन-चार मील दूर है । उस सिपाहीने स्त्रीसे निकटके मार्गका बहाना किया और कटराकी ओर नगर-सीमासे बाहर जनशून्य मार्गसे चलने लगा । एक स्थानपर एक साधुकी कुटी पड़ी । पुलिसके सिपाहीने वहाँके साधुको प्रणाम किया । साधुने उससे भगवान्-का दर्शन करके जानेका अनुरोध किया । कुटीसे हटकर एक घेरा था, बाहरसे देखनेपर उजाड़ खण्डहरकी भाँति । उसका प्रधान द्वार साधुने खोला, सिपाही और वह स्त्री कमला भीतर गये । एक स्थानको मन्दिरका रूप देकर मूर्तियाँ विराजमान की गयी थीं । सबने दर्शन किये । सिपाही-ने जल पीनेकी इच्छा प्रकट की । साधु महाराजने कहा—'समीपके कमरेसे जल पी लो ! मैं पूजाके चाँदीके पात्र कुटीमें छोड़ आया, उन्हें ले आता हूँ ।'

साधु तो बाहर आये और उन्होंने द्वार बाहरसे बंद कर दिया । जल पीकर उस सिपाहीने कमलासे घृणित प्रस्ताव किया । अब उस नारीको स्थितिका बोध हुआ । द्वारपर दृष्टि गयी तो वह बंद था । परिस्थिति समझकर उसने हृदयको स्थिर किया । हँसते हुए मुखसे कहा—'मुझे भी प्यास लगी है, पहले जल तो पी लेने दो ।'

सिपाही जल लेने गया । कमलाने इधर-उधर देखा । वह समीपकी कोठरीमें भागकर घुस गयी और भीतरसे द्वार बंद कर लिया । जब वह पिशाच लौटा, समझानेका प्रयत्न करने लगा । नोटोंका प्रलोभन भी व्यर्थ रहा । अन्तमें उसने उस नन्हे बालकका गला दबाया, जिसे कमला शीघ्रतामें साथ नहीं ले जा सकती थी । 'यदि तू मेरी बात नहीं मानती तो मैं इसे मार डालूँगा ।'

'दुष्ट ! मैं किसी प्रकार अपना धर्म नहीं जाने दूँगी ।' माताने हृदयको पत्थर बना लिया । बच्चेका गला जोरसे वह

दुष्ट दबा रहा था। मुख लाल हो गया था, नेत्र निकले आ रहे थे। कमलाने भरे नेत्रोंसे हाथ जोडकर कहा—'भगवन्! तुम साक्षी हो। यह राक्षस मेरे बच्चेको मार रहा है। मैं विवश हूँ।' सचमुच उसने हाथ कड़ा कर दिया। एक बार रक्त निकला, जिह्वा बाहर आ गयी। माता मूर्च्छित हो गयी यह देखकर।

'बच्चा तो गया अब या तो बाहर आ या तू भी मर।' कोठरी छोटी थी और जँगलेके सामने भाला लिये वह दुष्ट लाल-लाल नेत्र किये खड़ा था।

'मेरे प्राण बच्चेसे अधिक मुझे प्रिय नहीं। ले, मार डाल।' कमला जँगलेके सम्मुख आकर खड़ी हो गयी। उसने हाथ उठाया; किंतु इसी समय द्वार खुल गया। पुलिसके कई सिपाही और सब-इन्स्पेक्टर भीतर आ गये। कोई बड़ा अधिकारी भी था। उस दुष्टके हाथोंमें हथकडी पड़ी। बाहर आनेपर साधु और दो और साथी भी बँधे मिले। दोनो इसके साथी किसी सम्पन्न पुरुषके लड़केको एकान्तमें ले जाकर गला घोटकर मारकर बहुत-सा आभूषण उसके शरीरसे लेकर भागे थे। पुलिसने उनका पीछा किया था। ज्ञात हुआ कि यह ठगोंका वासस्थान है। यह साधुवेषमें ठगोंका सरदार है और जिसे पुलिसका आदमी समझकर कमला आयी थी, वह तो स्नान करते समय तटपर उतारकर रक्खी हुई एक सिपाहीकी वर्दी चुराकर सिपाही बन गया था। कमलाका दूसरा लड़का कोतवालीमें मिल गया !!



पवित्र गृहिणी-धर्म

इन्द्रिय-तृप्ति या केवल पुत्रमुख देखनेके लिये ही विवाह नहीं है। यदि विवाह-बन्धनसे मनुष्यके चरित्रका उत्कर्ष न होता हो तो विवाहकी आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियादि अभ्यासके वश हैं, अभ्याससे ये सर्वथा शान्त रह सकती हैं। वरं मनुष्यजाति इन्द्रियोंको वशीभूत करके चाहे पृथ्वीसे लुप्त हो जाय, तथापि जिस विवाहमें प्रेम-शिक्षा नहीं होती उस विवाहकी आवश्यकता नहीं है।

विवाह स्त्रियोंके लिये एकमात्र धर्मका सोपान है, इसीलिये स्त्रीको सहधर्मिणी कहा जाता है। जगज्जननी दुर्गा भी शिवकी विवाहिता हैं।

× × ×

हमारे शुभाशुभका मूल है कर्म, कर्मका मूल है प्रवृत्ति, और अधिकांशमें हमारी प्रवृत्तियोंका मूल हमारी गृहिणियाँ ही हैं। अतएव स्त्रीजाति ही हमारे शुभाशुभका मूल है।

× × ×

स्त्री-पुरुषका परस्पर प्यार ही दाम्पत्य-सुख नहीं है, एकाभिसन्धि और सहृदयता—यही दाम्पत्य-सुख है। स्त्रियोंका प्रधान धर्म पातिव्रत्य ही है।

× × ×

हिंदू-स्त्रीके लिये पति ही देवता हैं। अन्य समस्त समाज हिंदू समाजके सामने इस अंशमें निकृष्ट हैं।

× × ×

रमणी क्षमामयी, दयामयी और स्नेहमयी है; रमणी ईश्वरकी कीर्तिका चरमोत्कर्ष है, देवताकी छाया है। पुरुष देवताकी सृष्टि मात्र है।

× × ×

गृहिणी पंखा हाथमें लिये भोजनकी थालीके पास बैठी है।—नारी-धर्मके पालनार्थ मक्खी उड़ानी ही है। हाय! कौन पापिष्ठ नराधम इस परम रमणीय धर्मका लोप करने जा रहे हैं? जो पापिष्ठ लोग इस धर्मका लोप कर रहे हैं,—हे आकाश! उनके सिरपर गिरानेके लिये क्या तुम्हारे पास वज्र नहीं है?

—ऋषि बङ्किमचन्द्र



सती कमला

कमलाका विवाह छोटी अवस्थामें ही एक वृद्धके साथ कर दिया गया था। वह रामायण बड़े प्रेमसे पढ़ती थी। श्रीसीतादेवीका चरित्र उसे बड़ा प्रिय था। उसके मनपर धार्मिक संस्कार जमते जा रहे थे। शिक्षाके साथ-साथ वह गृह-कार्योंमें भी दक्ष होती जा रही थी। उसने पंद्रहवें वर्षको पार करके सोलहवेंमें पैर रक्खा ही था कि उसका रूप-लावण्य निखर आया। वह विदा होकर पतिके घर गयी। पर वहाँ जाते ही उसका हृदय सिहर उठा। उसके पतिकी अवस्था पूरे साठ वर्षकी थी। मुँहमें एक दाँत भी नहीं रह गया था। शक्ति सदाके लिये उनसे विदा हो चुकी थी। इतना ही नहीं, बीस वर्ष पहलेसे उन्हें दमेकी बीमारी थी। इतना सब कुछ था, पर उन्हें धनका बल था। इसी बलसे उन्होंने अपने पाँच विवाह कर डाले। पाँचों पत्नियाँ एकपरएक मृत्युकी गोदमें लेटती गयीं। अबकी बार वे (सेठ कूटेमल) कमलाके लोभी पिताको ढाई सहस्र रुपये देकर ले आये थे।

कमला काँप उठी, उसकी बुद्धि काम नहीं देती थी; पर उसके जीवनपर धार्मिक प्रभाव पड़ा था। श्रीसीतादेवीको वह आदर्श मानती थी। पतिगृहमें पदार्पण करते ही उसने पति-की परिचर्या आरम्भ कर दी। पतिदेव चारपाईसे उठ नहीं सकते थे। पड़े-पड़े खाँसते रहते। दमेसे वे तड़प-तड़प-कर सिर पटकते, पर कमला बड़े ही धैर्यसे भोग-विलाससे अपना मुँह मोड़कर उनकी सेवा अत्यन्त प्रेम और तत्परतासे करती रहती। एक दिन उसके पतिने कह भी दिया कि 'कमला! यदि तू मेरी पत्नीके रूपमें न आती तो भगवान् जाने मेरी क्या दुर्दशा होती।'

कमलाका ध्यान हर समय अपने पतिकी सेवा-शुश्रूषा और ओषधि आदिमें ही लगा रहता था; पर उसके कुटुम्बमें एक ऐसा व्यक्ति था, जो कमलाके रूप और यौवनपर बुरी तरह आसक्त होकर सेठ कूटेमलकी मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहा था। धन भी हड़प लेनेकी उसकी इच्छा थी।

कमलाके यहाँ एक नौकरानी थी। वह बड़ी लोभी और दुष्ट प्रकृतिकी थी। एक दिन उसने कमलाको यमुना-स्नान करनेके लिये प्रेरित किया। कमला उसके साथ स्नान करने चली।

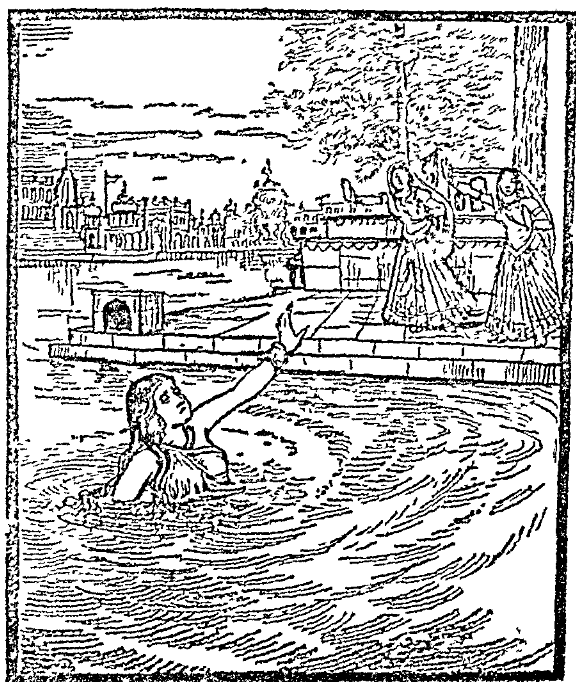
कमलाकी ससुराल मथुरा जिलेमें थी। यमुनाजी उसके पति-गृहसे एक मील दूर पड़ती थीं। रास्तेमें एक नाला पड़ा। नौकरानी आवश्यक बहानेसे कुछ देरके लिये वहाँसे सरक गयी। उस नौकरानीको कमलाके उसी कुटुम्बी युवकने कुछ रुपया देकर अपने अनुकूल बना लिया था। यमुना-स्नानकी योजना उसीने बनायी थी।

कमलाको एकाकी देखकर छिपा युवक तुरंत सामने आ गया। आते ही उसने कमलाको बलपूर्वक आलिङ्गन करके चुम्बन ले लिया और गंदा प्रस्ताव किया।

कमलाका शरीर थर-थर काँपने लगा। पसीनेसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग उसका भीग गया। क्रोधसे काँपते हुए उसने कहा—'नीच और नराधम कहींका! शर्म नहीं आती तुम्हें मुझे स्पर्श करते? तेरे-जैसे नारकीय कुत्तेपर मैं थूक भी नहीं सकती।'

इसी बीचमें कई स्नानार्थी आ गये। युवक भाग गया। कमलाकी नौकरानी भी आ गयी। कमलाकी आँखें बरसने लगीं। उसका हृदय टूक-टूक होने लगा। उसके तन-मन और प्राणमें आग लग गयी थी। वह निश्चित नहीं कर पा रही थी कि क्या करे। उसका हृदय क्रन्दन कर रहा था। वह छटपटा रही थी। आँखें बरसती जा रही थीं। सिर झुकाये कमला पापनाशिनी यमुनाकी ओर धीरे-धीरे चल रही थी।

यमुनाजी आयीं, कमलाने सिर झुकाया। जल सिरपर चढ़ाया। 'पुण्यतोया कालिन्दी! तुम पापोंको भस्म कर देती हो' कहती और आँसू बरसाती कमलाने यमुनाजीमें प्रवेश किया। वह आगे बढ़ती गयी। वक्षःस्थलतक पानी आ गया। तटसे स्त्रियोंने पुकारा 'कमला! आगे मत बढ़ो, नहीं तो डूब जाओगी।'



रोते-रोते कमलाने कहा—'बहिनो! आज मुझे एक पापात्माने स्पर्श कर लिया है। परपुरुषका स्पर्श करके मैं पतिदेवको क्या मुँह दिखाऊँगी। आपलोग मेरे लिये उनसे क्षमा माँग लेना और कह देना कि देवलोकमें मिलकर मैं आपकी सेवा करूँगी।'

वह आगे बढ़ी और कालिन्दीकी अगम धारमें विलीन हो गयी। तटके स्नानार्थी देखते रह गये। —शि० दु०

पतिव्रता चन्द्रप्रभा

चन्द्रप्रभाकी अवस्था थी पूरे पंद्रह वर्षकी, पर विवाह उसका हुआ [कानपुरनिवासी पं० देवदत्तके पुत्र] शिवदत्तसे, जिनकी आयु केवल बारह वर्षकी थी। आयु-वैषम्यके साथ-साथ दोनोंके रूप और स्वभावमें भी पूरी विषमता थी। चन्द्रप्रभा जितनी ही अधिक सुन्दर थी, शिवदत्त उतना ही अधिक काला-कलूटा और कुरूप था। चन्द्रप्रभा थी शिक्षिता, पर विद्वान् पिताका पुत्र होनेपर भी शिवदत्त महामूर्ख था। चन्द्रप्रभा थी सरल और साध्वी किंतु शिवदत्त था महालम्पट और दुराचारी। चन्द्रप्रभा जीवनको पावन बनानेके प्रयत्नमें थी, पर शिवदत्त जीवनको नरकाग्निकी ओर ले जानेके लिये सचेष्ट था। चन्द्रप्रभा उत्थानके लिये चिन्तित थी, पर शिवदत्त निश्चिन्त और निर्भय होकर पतनकी ओर जा रहा था।

पं० देवदत्तजी जबतक जीवित थे, तबतक उन्होंने अपने प्राणप्रिय पुत्रको शुभ-पथपर लानेके लिये पूर्ण प्रयत्न किया; पर चन्द्रप्रभाको आये थोड़े दिन भी नहीं बीते, शिवदत्त सोलहका भी नहीं हुआ; कि उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं। चन्द्रप्रभा छाती पीटकर रोने लगी, पर शिवदत्तके मनमें तनिक भी क्लेश नहीं हुआ। वह प्रसन्न हो गया। स्वच्छन्द विचरणमें बाधक पितारूपी काँटा उसके पथसे स्वयं निकल गया।

अब शिवदत्त बे-नकेलके ऊँटकी भाँति मनमानी राह चल सकता था। उसे न कोई रोकनेवाला था और न कोई टोकनेवाला। समझानेवाला उसे शत्रुकी तरह लगता था। पत्नीने कभी जबान हिलायी, तो उसकी हड्डी-पसली एक कर दी जाती थी। एक पखवारेके भीतर उसे चारपाई छोड़ना सम्भव नहीं होता था।

भादोंकी वेगवती तरंगिणीकी भाँति शिवदत्तकी जीवन-धारा प्रखरतासे दुराचारके सागरकी ओर बढ़ रही थी। पासके समस्त आवारोंका अड्डा उसका घर था। गाँजा-भाँगका सेवन और वेश्यालय-गमन उसका स्वभाव बन गया था। साध्वी पत्नीने एकाध बार प्रेमसे समझाया तो डंडेसे उसकी खोपड़ी फोड़ दी गयी थी, या पीठ छिल गयी थी।

धीरे-धीरे पिताकी समस्त संचित सम्पत्ति समाप्त हो गयी। मकानके सिवा जब और कुछ नहीं रह गया तो उसे भी बेच दिया। अब वह किरायेके मकानमें रहने लगा। चन्द दिनोंमें वे रुपये भी अधम-कन्याओंको समर्पित हो गये। शिवदत्तके पास खानेके लिये भी कुछ नहीं रह गया।

यह विपत्ति चन्द्रप्रभा अपनी आँखोंसे देख रही थी; वह मन-ही-मन रोती थी, पर बेचारी आँसू भी नहीं बहा पाती थी। वह परम साध्वी और चतुरा थी। रूमालपर कसीदा और तकियेपर फूल आदि बनाकर वह किसी प्रकार कुछ पैसे एकत्र करने लगी। चन्द्रप्रभा आधी रात तककर, आँखें फाड़-फाड़कर, स्वास्थ्यको तिलाञ्जलि देकर पैसा जुटाती; पर शिवदत्त उसे क्षणभरमें ही फूँक आता।

एक आवारा, जो शिवदत्तको प्राण देनेका दम भरा करता था, चन्द्रप्रभापर आँख गड़ाये था। एक दिन उसने देखा कि शिवदत्त कहीं बाहर गया है, तो वह तुरंत घरके भीतर चला गया। उसने चाहा कि चन्द्रप्रभाको अपने अङ्कमें कस ले, पर चन्द्रप्रभा उसके मनका भाव ताड़ गयी। एक धक्का उसने जोरसे दिया कि वह उद्धत कामुक पृथ्वी चूमने लगा। वह प्राण लेकर भागा।

दुष्टोंकी शत्रुता भयानक होती है। उसने चन्द्रप्रभासे बदला लेना चाहा। एक प्रेमभरा पत्र चन्द्रप्रभाके नामसे लिखकर उसने शिवदत्तको देते हुए कहा कि 'आपकी पत्नीका लिखा हुआ यह प्रेम-पत्र मुझे रास्तेपर पड़ा मिला है।'

आदिसे अन्ततक सारा पत्र शिवदत्त एक ही साँसमें पढ़ गया। उसके पास विवेकका सर्वथा अभाव था। क्रोधोन्मत्त होकर वह सीधे चन्द्रप्रभाके पास गया।

'प्राणनाथ! आप चिन्तितसे क्यों······।' चन्द्रप्रभाका वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि शिवदत्तने चमकती तलवार पूरी शक्तिसे उसपर चला दी। चन्द्रप्रभा धम्मसे वहीं पड़ गयी। विषधर भुजङ्गकी भाँति फुफकारता हुआ शिवदत्त बाहर बैठकेमें आकर अपने उसी विश्वासघाती मित्रके साथ गप्प हाँकने लगा। वह सर्वथा निश्चिन्त था।

नाबदानसे टपकते हुए लहूको देखकर एक पड़ोसीको सन्देह हुआ। उसने दूसरे पड़ोसीसे कहा। बात धीरे-धीरे, पर

चुपके-चुपके सबके कानोंमें पड़ गयी। सूचना पाकर वहाँ तुरंत पुलिस आ गयी। भीतर खूनसे लथपथ चन्द्रप्रभा मिली। शिवदत्त और उसका मित्र कैद कर लिया गया।

मरती हुई चन्द्रप्रभामें जीवनका थोड़ा अंश अभी शेष था। लड़खड़ाती जबानसे उसने बताया—'खूँटीसे तलवार लटक रही थी। ठीक नीचे मैं लेटी थी। सहसा तलवार गिरी और मेरी यह दशा""।' चन्द्रप्रभाके प्राणपखेरू उड़ गये। पर मरते-मरते उसने अपने पतिका प्राण बचा लिया।

आर्य रमणी! तू धन्य है। तेरी कीर्ति-ध्वजा प्रलयतक फहराती रहेगी। —शि० दु०



सती लक्ष्मीबाई

(लेखक—श्रीरामखिलावनजी वर्मा मालगुजार)

सन् १९२९ की बात है। लक्ष्मीदेवी अपने पति एवं बच्चोंके साथ पितृगृहसे पतिके यहाँ आ रही थीं। रात्रिका समय था। मुगलसरायमें छोटे बच्चेको जल पिलाने वे उतरीं। पतिदेव सो रहे थे। सहसा गाड़ी छूट गयी। दौड़कर भी वे उसे पकड़ न सकीं। रोने लगीं। उसी समय एक स्टेशन-बाबू उनको रोते देख समीप पहुँचे। सब बातें ज्ञातकर उन्होंने कहा कि 'तुम मेरे घर चलकर मेरी पत्नीके साथ विश्राम करो! तुम्हारे पतिको सबेरे तार दे दूँगा।' लक्ष्मीदेवीने विश्वास किया। वे उसके साथ चल पड़ीं।

वहाँ घरमें कोई स्त्री थी नहीं। स्टेशन-बाबूने घर पहुँचते ही अपना दूषितभाव प्रकट किया। अब क्या हो, लक्ष्मीदेवी डरीं। उन्होंने बहाना किया कि मुझे शौच जाना है। यह कामान्ध उनको बाहर जाने देना नहीं चाहता था। अन्तमें कहना पड़ा—'तुम इस बच्चेको अपनी गोदमें रक्खो! मैं शीघ्र आती हूँ।' किसी प्रकार बच्चेको देकर वे बाहर गयीं और दरवाजा बंदकर बाहरसे साँकल लगा दी।

'तुम यदि द्वार न खोलोगी तो मैं बच्चेको पत्थरपर पटक दूँगा।' उस दुष्टने धमकाया।

'दरवाजा तो मैं सबेरे खोल दूँगी और बच्चेको लेकर चली जाऊँगी' लक्ष्मीदेवीने बताया। उसने भीतरसे अनेक प्रलोभन दिये, धमकाया और अन्तमें सचमुच एक चीख आयी। कामने उसे राक्षस बना दिया था। दुष्टने बालकको पत्थरपर पटक दिया था। लक्ष्मीदेवी फूट-फूटकर रोने लगी।

नीरव रात्रिमें एक नारीका करुण-क्रन्दन सुनकर समीपके मकानसे एक वृद्ध बाहर आये। उन्होंने सब पूछकर पुलिसको सूचित किया। पुलिस आयी और वह दुष्ट गिरफ्तार हुआ। प्रातः डाक्टरोंने मृत शिशुकी परीक्षा करके उसे गाड़ देनेका आदेश दिया। उस देवीने बच्चेके शरीरको दोनो हाथोंमें लेकर भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! यदि धर्म-पालनका इसी प्रकार दण्ड मिलता रहा तो कौन धर्मको मानेंगे। आपपर कौन श्रद्धा करेगा। मेरे बच्चेको जीवित करो! यदि पतिके अतिरिक्त किसी पुरुषका मैंने कभी चिन्तन न किया हो तो यह शिशु सजीव हो जाय!' सबने आश्चर्यसे देखा, बच्चेमें जीवनके लक्षण प्रकट होने लगे। हृदयमें गति आयी, श्वास चली और उसने नेत्र खोल दिये। सतीके जयनादसे दिशाएँ गूँज उठीं।



सती लालोदाई

(लेखिका—श्रीरामप्रियादेवीजी)

सती लालोदाई (या लीलादेवी) का जन्म आजसे करीब दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। आप सारन जिलेके खानपुर ग्रामके निवासी पं० देवकीनन्दन मिश्रकी धर्मपत्नी थीं। आपका पति-प्रेम बड़े उच्चकोटिका था तथा उसके दिव्य प्रभावसे समाज पूर्ण परिचित था। वह जिसे जो कुछ कह देतीं, तत्काल वह फलीभूत हो जाता। एक दिन अचानक दुर्भाग्यवश उनके पतिदेवको एक सर्पने डस लिया और तत्क्षण ही उनकी मृत्यु हो गयी। फिर क्या था! ललनाशिरोमणि लालोदाईके लिये यह पतिवियोग असह्य हो उठा। लोगोंके लाख मना करनेपर भी वह न रुकीं और अपने प्राणपतिके शवको अपनी गोदमें लिये चितापर चढ़ गयीं। चितापर चढ़कर उन्होंने पारिवारिक व्यक्तियोंसे चितामें अग्नि-संयोग करनेके लिये प्रार्थना की; किंतु किसीका साहस नहीं हुआ कि जीते-जी सती लालोदाईको जला दे। सतीने कुछ देर तो प्रतीक्षा की; पर जब देखा कि विलम्ब हो रहा है तो उन्होंने हाथ जोड़कर एक बार आकाशकी ओर देखा और फिर पतिके मुखारविन्दकी

एक वर्ष पूर्व ही श्रीमती रामरखीके साथ हुआ था। गौना न होनेके कारण उन दोनोंने एक साथ चारपाईपर पाँव भी नहीं रक्खा था। रामरखी ऐसी पतिव्रता थी कि उसने जिस दिनसे अपने पतिके पकड़े जानेका हाल सुना, सब भोग-विलास त्याग दिये। एक दिन वह जेलमें भाई बालमुकुन्दसे मिलने गयी। उसने पूछा, 'क्या खाते हो?' बालमुकुन्दने रोटीका एक टुकड़ा उसे दे दिया। उसने पूछा—'कहाँ सोते हो?' बालमुकुन्दने मच्छरोंसे भरी हुई अपनी कालकोठरी दिखला दी। रामरखीने उसी दिनसे वैसी रोटी बनाकर खाना शुरू किया। उसने भूमिको हाथभर खोदकर उसमें पुवाल डालकर अपने सोनेके स्थानको भी वैसा ही मच्छरोंवाला तथा वायु-रहित बना लिया।

रामरखीकी इच्छा अपने पतिके साथ सती होनेकी थी, किंतु लाश न मिलनेके कारण उसकी योजना मन-की-मनमें ही रह गयी। बालमुकुन्दको फाँसी होनेके बाद उसने अन्न तथा जल दोनोंका त्याग करके एकदम निर्जल उपवास आरम्भ कर दिया। अठारहवें दिन उसने अपने हाथसे लाये हुए जलसे स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहने, फिर उसने भूमिको गोबरसे लीपा। इसके पश्चात् उसने भूमिपर लेटकर कहा—

'प्यारे! बहुत दिनतक परीक्षा ले चुके। आज तो दामन नहीं छोड़ूँगी, अब जुदा न हो सकूँगी।'

रामरखीने यह कहकर एकदम प्राण छोड़ दिये।

लोगोंने कहा, 'बालमुकुन्दकी पत्नी सती हो गयी;' किंतु एक कविने कहा 'गुलपर बुलबुल निसार हो गयी।'

ऐसी थी भाई बालमुकुन्दकी पत्नी सती रामरखी।



सहगामिनि

(लेखक—श्रीगोविन्ददासजी 'विनीत')

—'तुम जा रहे हो?'—प्रसूति-गृहमें पड़ी हुई वासन्तीने अपने पति किशोरसे पूछा।

—'जाना तो तुम्हें चाहिये था, पर ऐसी दशामें······। नया सम्बन्ध है, जाना ही पड़ेगा। शामकी मोटरसे लौट आऊँगा। क्यों?······परदेके पीछे खड़े-खड़े किशोरने कहा।

—'कुछ नहीं, जाओ। इतनी देरका······'वासन्तीने आँसू ढलका दिये, जिन्हें न तो किशोर देख सका और न परिचारिका ही ताड़ सकी।

—'जाऊँ? झाँसीसे कुछ मँगाओगी?'

—'क्या ला सकोगे? तुम······जाओ।'—किशोर एक भी बातका रहस्य न समझ सका। मोटर तैयार थी और वह अपनी ससुरालको चल दिया।

× × ×

—'मुझे इसी वक्त झाँसी ले चलो।'—वासन्तीने किशोरके जानेसे लगभग पाँच घंटे पीछे अपने श्वशुर प्रसादीको बुलाकर कहा।

प्रसादीने उसकी बातको प्रमाद-जनित समझा और बोले—'पगली हो गयी है बहू! हवातकमें निकलने नहीं दिया जा सकता और कहती है—झाँसी ले चलो। दसौटनके बाद किसी दिन भी हो आना। और जाना ही था तो बाबूके साथ चली जाती। दो घंटेमें ही वह भी लौटा आता है। अभी पूरे पाँच दिनका तो बच्चा नहीं हुआ और यह उलटी टेक। हम तो घड़ी-घड़ीकी खैर मना रहे हैं। बाबूकी मा ऐसे ही हालमें तो चल बसी थी।' प्रसादी किशोरको बाबू नामसे पुकारा करते थे।

परिचारिकाने उन्हें बताया—'जबसे भैया गये हैं, तबसे इनका आँसू ही नहीं रुका।'—'अब मुझे न बच्चेसे सरोकार है, न कुटुम्बसे और न अपने जीनेमें। उन्हें काले साँपने काट लिया है। वे उतनी ही देरके मेहमान हैं, जितनी देरमें ताँगा झाँसी पहुँच सकेगा। तुम मेरी बातपर विश्वास करो और मुझे उनके अन्तिम दर्शनोंसे वञ्चित न करो। अगर घड़ी-दो-घड़ी ही बातोंमें बीत गयी तो मेरी यह अभिलाषा अपूर्ण रह जायगी। बच्चा मेरी जीजीको सौंप दो, वह इसे पाल-पोस लेगी। यह मर नहीं सकता। मेरी बातपर विश्वास करो। देरके लिये एक क्षण भी नहीं। वफातीका ताँगा झाँसी जानेको तैयार हो रहा है। जाओ, तुम्हें मेरी इतनी ही बातसे विश्वास हो जाना चाहिये।'—वासन्ती बच्चेको छोड़कर उठ खड़ी हुई। प्रसादी हक्के-बक्केसे बाहर गये और लौटकर बोले—'ताँगा तो तैयार है और मेरा बाबू······'

तबतक वासन्ती कई गहने पहन चुकी थी। उसने जल्दीसे कपड़े बदले और दोनों झाँसीको रवाना हो गये।

× × ×

करारीसे झाँसी लगभग छः मील है। आनेमें पौन घंटा लगा। शहरमें प्रवेश करते ही वासन्ती बोली—'बड़े अस्पताल

ले चलो।' ताँगा बढ़ा। प्रसादी चित्रवत् अचकचाये हृदयसे मार्गकी ओर देखने लगे। अस्पताल आया। वासन्ती परिचित स्थानकी भाँति उसी कमरेमे पहुँची; जहाँ डाक्टर अपनी सारी कला लगाकर निराशाजनक उत्तर देनेके पूर्व अपने औजार एकत्र करनेके लिये कम्पाउण्डरको आदेश दे चुका था। वासन्ती तीरकी तरह सीधी अपने पतिके सामने जा खड़ी हुई। दर्शकोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि दो घंटेसे मूर्च्छित किशोरने उसके सामने जाते ही आँखें खोल दीं और अपना लटपटाता-सा हाथ उठाकर माथेसे लगा लिया।

वासन्तीने दृढतापूर्वक उत्तर दिया—'कुछ चिन्ता नहीं। चलिये, मैं भी तैयार ही होकर आयी हूँ।'

डाक्टरके संकेतसे वासन्ती पकड़कर एक कमरेमे बंद कर दी गयी। वह एक बार फिर मुसकरायी—'क्या होगा इन बातोंसे? सतीके निश्चयको त्रिदेव भी नहीं बदल सकते,' कहती हुई वह आप ही कमरेमें जा पहुँची।

किशोरकी आँखें फिर न खुलीं। सम्बन्धियोंमें हाहाकार मच गया। प्रसादीने फर्शसे सिर दे मारा, वे मूर्च्छित हो गये। शव उठाया गया और श्मशानकी ओर सब चल दिये।

× × ×

मार्गमें पीपलके नीचे पिण्ड-संस्कारके लिये शव उतारनेके बाद ज्यों ही उसे दुबारा उठानेकी चेष्टा की गयी कि सब लोगोंके पच जानेपर भी वह न उठ सका। निकटस्थ मन्दिर-से स्वामी युगलानन्दने आकर कहा—'क्यों पच रहे हो? इसकी सहगामिनिका शव भी ले आओ, तब यह उठ सकेगा।'

चार-छः लोग लौटे। यहाँ वासन्ती प्राण त्याग चुकी थी। कौतूहलवश हजारों मनुष्योंकी भीड़ने उन दोनोंके अन्तिम संस्कारमे भाग लिया। जयकार और पुष्पवर्षाने उस दारुण शोकको परमानन्दमें परिणत कर दिया। स्वामी युगलानन्दजी आज भी इस घटनाको कभी-कभी कह सुनाते हैं। हुए भी तो केवल अठारह वर्ष ही हैं।

सती रमेशदेवी

हरदोई जिलेके इकनौरा नामक गाँवमें पण्डित छोटेलालजी-की धर्मपत्नीके गर्भसे रमेशदेवीने जन्म ग्रहण किया था। देहातमें शिक्षाका कोई साधन न होनेके कारण आप केवल चौथी कक्षा-तक पढ़ सकी थीं। रामायणके प्रति आपका प्रगाढ़ प्रेम था। प्रतिदिन नियमके साथ प्रेमपूर्वक आप रामायणका पाठ करतीं।

तेरह वर्षकी अवस्थामें कसरावाँके पण्डित वंशीधरजीसे आपका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था, पर गौनेके एक सप्ताहके पूर्व ही वे बड़े जोरोंसे बीमार पड़ गये। समाचार सुनकर पिताकी आज्ञासे रमेशदेवी ससुराल चलीं। वे रास्तेमे ही थीं कि उनके पतिका प्राणान्त हो गया। यह सवाद पाते ही रमेशदेवीकी विचित्र दशा हो गयी।

पतिकी रथीके मार्गसे रमेशदेवीकी पालकी चली। रमेश-देवीने अपने माथेसे साड़ी उतार ली थी। उनके सिरके लंबे बाल धीरे-धीरे उड़ रहे थे। वे साक्षात् भगवतीकी तरह लग रही थीं। पतिकी लाश लेकर 'बोलो, क्या नहीं बोलोगे?' रमेशदेवी कहने लगी। लोगोंको रमेशदेवीकी बात प्रलाप मालूम हुई। वे बलपूर्वक उन्हें घर ले आये।

रमेशदेवीने बार-बार सती होनेकी इच्छा प्रकट की और घरसे निकलकर भागने लगीं। अपना कोई वश नहीं देखकर उन्होंने स्नान किया, फिर नित्यकी भाँति तुलसीजीकी पूजा-आरती करके रामायणका पाठ करने बैठ गयीं। पाठ समाप्त होते ही फिर उन्होने सती होनेका विचार प्रकट किया। जलते दीपकपर उन्होंने अपनी अँगुली रख दी, अँगुली जलने लगी। आधी जल गयी। रमेशदेवीने कहा कि 'मुझे सती होनेकी आज्ञा न देनेपर यह मकान जलकर भस्म हो जायगा।' लाचार होकर लोगोंने उन्हें सती होनेकी आज्ञा दे दी। तब उन्होंने दीवालमें रगड़कर अपनी अँगुली बुझा दी। देवीने कहा, 'यह चिह्न मेरी माताको दिखा देना।'

एक मुट्ठी कुश और अपनी प्रिय रामायण तथा आरती हाथमें लेकर देवी चल पड़ीं। जिस बगीचेमें पीपल-वृक्षके नीचे पतिकी पालकी रही थी, देवीने उसे ही अच्छा समझकर लिपवाया और उसपर कुश बिछाकर बैठ गयीं। फिर रामायण दोनो हाथोंमें दबाकर पूर्वकी ओर मुँह करके एक पैरपर खड़ी हो गयीं। घरसे निकलनेकी तरह राम-राम उनके मुँहसे निकल रहा था। फिर उन्होने दक्षिणकी तरफ मुँह किया और आसन लगाकर बैठ गयीं। उनका जप चल रहा था।

फिर उनके शरीरसे अग्निकी ज्वालाएँ निकलने लगीं। उनका शरीर नीचेसे जलने लगा। जितना शरीर जलता था, उतनी ही साड़ी जलती थी। सिर झुकनेपर अग्निकी ज्वाला ऊपर पचीस फीटतक चली गयी थी। लगभग समस्त शरीर जल जानेपर लोगोंके नेत्र खुले। तब सतीके सतको

समझकर लोगोंने जय-जयकारका उच्च घोष किया तथा श्रद्धा-भक्तिसे घी और मेवादि चढ़ाये।

इस प्रकार विना अग्निके सप्तदशवर्षीया साध्वी बालिकाने अपने पतिके पथका अनुसरण करनेके लिये अपने भौतिक कलेवरको भस्म कर दिया। उसका यश चारों ओर छा गया। वहाँ एक समाधि बना दी गयी है। —शि० दु०

सती जनकदुलारी देवी

सीतापुर जिले (यू० पी०)मे तहसील सिधौलीसे उत्तर-पश्चिमकी ओर पैसिया एक छोटा-सा गाँव है। वहाँके ठा० श्रीयदुनाथसिंहजीकी पुत्री थीं जनकदुलारी देवी। बाल्यकालमे इन्होंने हिंदी, उर्दू और अंग्रेजीका साधारण अभ्यास कर लिया। रामचरितमानस इनका प्रिय ग्रन्थ था। नियमपूर्वक उसका देवीजी पाठ करती थीं।

सोलहवें वर्षमे इनका विवाह बुलंदशहर जिलेके ठा० ऋषिपालसिंहके साथ सम्पन्न हुआ। ससुराल जाते ही अपने सद्गुणोसे ये सबकी प्रिय पात्री बन गयीं। देखते-ही-देखते दो वर्ष तीरकी तरह निकल गये।

तीसरे वर्ष इनके पतिको लू लग गयी। उन्होंने स्नान कर लिया। बस, ज्वर चढ़ आया। उपचारका कोई प्रभाव नही पड़ा। ज्वर बढ़ता ही गया। ऋषिपालसिंह बेहोश हो गये। थोड़ी ही देरमे उनकी साँस रुक गयी। घरमे कुहराम मच गया। जनकदुलारीने कलेजा थाम लिया।

सास-ससुरकी मर्मान्तक पीडाको देखकर अत्यन्त दुःखिनी जनकदुलारीने धैर्यसे काम लिया। उन लोगोको समझाने लगीं। एक मास बीत गया। सामने तो वह सास-ससुरको समझातीं, पर एकान्तमें तकियेमें मुँह छिपाकर घंटों रोया करतीं। तकिया भीग जाती।

जेठका महीना था। ससुर महोदय सवेरे ही ड्यूटीपर चले गये। अन्य कुटुम्बी भी बाहर चले गये। जनकदुलारीने कोठीके बाहरका दरवाजा बंद कर लिया। शौचके बहाने वे भीतर चली गयीं।

बहुत देर होनेपर भी वे जब नहीं लौटीं तो सासको सन्देह हुआ। भीतर जाकर उन्होंने देखा तो घरसे धुआँ निकल रहा था। दरवाजा भीतरसे बंद था। सिर पीटते हुए उनकी सासने पडोसियोको बुलाया। दरवाजा चीरकर देखा गया तो देवीजीका शरीर जल चुका था। उनके प्राण अपने पतिदेवके पास चले गये थे।

बाहर ससुर और माताजीके लिये दो पत्र पड़े थे। उनका सारांश यही था कि 'पति-वियोगमे एक मास बडी कठिनाईसे काट सकी हूँ। वियोग असह्य होनेपर अब उन्हींके पास जा रही हूँ। अपराध क्षमा हो।' वस्त्राभूषण ब्राह्मणियोको देनेका अनुरोध था।

घटना-स्थलपर पुलिस पहुँची। पत्रादि देखे। अन्त्येष्टि क्रियाकी अनुमति दी। सच्ची सतीका केश रिकर्ड हुआ। —शि० दु०

सती सुशीला

(लेखक—श्रीकेदारनाथजी पाण्डेय)

कुल पंद्रह वर्ष पूर्वकी बात है। हजारीबाग जिले (विहार) के बाढ़गाँवमे एक श्रोत्रिय ब्राह्मणकी एक पुत्री थी। उसका विवाह हो चुका था। विवाहके छः महीने पश्चात् उस कन्याको एक दिन एक व्यक्तिने पत्र दिया। पत्र उसके पतिदेवका था और उन्होंने पत्नीको बुलाया था; क्योंकि वे बहुत बीमार थे। उसने माता-पितासे आज्ञा माँगी। द्विरागमनसे पूर्व भला, कन्या पतिगृह सहसा कैसे भेजी जाय। सबने निषेध किया। उसने स्पष्ट कह दिया—'नारीका पति ही परमधर्म है। पति ही परमात्मा है। पतिकी आज्ञा ही मान्य है।' मेरे रुग्ण पतिदेव मुझे बुलाते हैं तो मैं लोकलज्जावश रुक नहीं सकती। अन्तमें अकेले पैदल उसे जाना पड़ा। श्वशुर एवं गुरुजनोको प्रणाम करके वह पतिसेवामे लग गयी।

दूसरे ही दिन उसके पतिने शरीर छोड़ दिया। लोग शवको ले जानेकी व्यवस्था कर रहे थे और सुशीला अपने शृङ्गारमे लगी थी। शव श्मशान गया। चिता बनी और उसपर शरीर रखकर अग्नि दी गयी। दौड़ती हुई सती आयी और चितामे कूद पड़ी। लोगोने बलपूर्वक पकड़कर उसे चितासे निकाल लिया। शरीर स्थान-स्थानपर जल चुका था। पुलिस समाचार पाकर आ गयी। सुशीला बंदी की गयी और थानेके हवालातमे बंद कर दी गयी।

अर्धरात्रिको हवालातमें एक धड़ाका हुआ। पहरेके सिपाहीने पहुँचकर देखा कि सती पद्मासनसे बैठी है और उसका शरीर रक्तसे भीग गया है। सब जगाये गये। हवालात खुला।

[illegible] मस्तक फट गया था। ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर प्राण चले गये थे। सतीके उनके पतिकी चिताके स्थानपर और काठ सञ्चय करके उसी चिताकी अग्निसे सती सुशीलाके शरीरका अन्त्य-संस्कार किया गया।



राजपूत सती

मैनपुरीके बीछवाँगाम गाँवमें लल्लूसिंह नामक एक क्षत्रिय रहते थे। २० मई सन् १९३१ को उनका देहान्त हो गया। उनकी स्त्रीने, जो उन्हें अपना सर्वस्व समझती थी, सती होनेकी इच्छा प्रकट की और स्नान करके अपने पतिकी लाशको गोदीमें लेकर बैठ गयी और सामने गीता रखकर पाठ करने लगी। गाँववाले इकट्ठे हुए। पुलिस-अधिकारियोंको घटनास्थलपर बुलाया गया। पुलिसके दारोगा ब्राह्मण थे। उन्होंने सतीसे गीतासम्बन्धी कई प्रश्न किये; जिनका उत्तर सतीने बड़ी बुद्धिमानीसे दिया। दारोगाने सतीको उसके निश्चयसे रोकना चाहा; किंतु उसने उनकी एक न सुनी। इसपर दारोगाने ताना देते हुए-से कहा—'आप सती होना चाहती हैं सो तो ठीक; पर पतिके साथ जलती क्यों हैं, अपने हृदयसे अग्नि उत्पन्न कीजिये।' सतीने उत्तर दिया—'धर्मशास्त्रमें बिना काठके सती होना वर्जित है। अतएव आप मुझे दो लकड़ी दीजिये। मैं अपने हृदयसे अग्नि उत्पन्न कर दूँगी। ऐसा न कर सकूँगी तो अपना निश्चय बदल दूँगी।' दारोगाने कानूनकी आड़ लेकर लकड़ी देनेसे इन्कार कर दिया। सतीने कहा—'यदि आप कानूनसे मजबूर हैं और लकड़ी नहीं दे सकते, तो मैं भी धर्मशास्त्रोंकी आज्ञासे मजबूर हूँ और बिना काठ अग्नि नहीं प्रकट कर सकती।'

दारोगा सतीका उत्तर सुनकर चुप रह गया। उसने उपस्थित लोगोंसे सतीको मृतकसे पृथक् करनेको कहा, पर किसीका साहस सतीको छूनेका नहीं हुआ। इसपर दारोगाने स्वयं सतीका हाथ पकड़कर उसे मृतकसे अलग कर दिया। तब सतीने दुःखभरे शब्दोंमें कहा—'तुमने अच्छा नहीं किया जो मुझे छू लिया।'

सतीको हटाकर शव श्मशान-भूमिमें ले जाकर जला दिया गया। उधर सतीने जैसे-तैसे कुछ काठ, जो तौलमें आध सेरके लगभग था, जुटाया और जिस स्थानपर उसके मृत पतिका शरीर रक्खा था, उस स्थानपर काठको रखकर स्वयं वहीं बैठ गयी और अपने हृदयमेंसे अग्नि उत्पन्न कर जल गयी। शरीरके भीतर हृदय आदि सब जलकर राख हो गये थे; शरीरका ऊपरी भाग झुलस गया था और साड़ी एवं केश जलकर जहाँ-के-तहाँ चिपट गये थे; किंतु उस हाथको, जिसको दारोगाने पकड़ा था, अग्निने स्पर्श नहीं किया, यहाँतक कि उसके रोयें भी नहीं झुलसे तथा साड़ीका उतना भाग, जितना उस हाथपर था, नहीं जला। लल्लूसिंहके शवको जलाकर सब लोग लौटे और सतीके पास आये। दारोगा तथा अन्य लोगोंने सतीके उस अधजले शरीरको श्मशान-भूमिमें ले जाकर उसके पतिकी चितापर रखकर जला दिया; किंतु आश्चर्यकी बात थी कि सब अंग तुरंत जलकर खाक हो गये, पर वह हाथ अब भी ज्यों-का-त्यों था। कई बार उसको जलानेका प्रयत्न किया गया, पर सब निष्फल। सतीके पिताने गाँवके प्रतिष्ठित लोगोंको श्मशान-भूमिमें ले जाकर ईश्वरसे मृतात्माओंकी शान्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना की और अपनी पुत्रीका नाम लेकर अनुरोध किया कि इस हाथको भी अपने शरीरमें सम्मिलित कर लो। चिताकी ढेरीपर लकड़ी जलाकर हाथको जलाया गया, किंतु हाथ नहीं जल सका। —ह० अ०



सती सुन्दरबाई

सती सुन्दरबाई हैदराबाद (दक्षिण) निवासी हनुतरामजी [illegible]की पत्नी थीं। आपका पति-प्रेम बड़ा सराहनीय था। ये सर्वदा अपनेको पतिमें विलीन कर चुकी थीं और इस प्रकार उन्होंने 'अर्द्धाङ्गिनी' शब्दको सार्थक कर दिया था। संवत् १९८६ के भाद्रपदमें उनके पतिदेव अचानक बीमार हो गये। सुन्दरबाई उस समय केवल २० वर्षकी थीं। पर उनमें अपूर्व साहस था, क्योंकि पतिप्रेमके साथ-साथ भगवती दुर्गापर भी उनकी अटल श्रद्धा थी। भाद्रपद शुक्ला १ को पतिकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय देख, सुन्दरबाई घरके समीपस्थ दुर्गाजीके मन्दिरमें गयीं और भगवतीसे आँचल पसारकर प्रार्थना की—'मा! मेरे पतिदेवको ठीक कर दीजिये, नहीं तो उनके साथ मुझे भी बुला लीजिये। उनके बिना मैं जीना नहीं चाहती।' सच्चे हृदयकी पुकार तत्काल सुनी जाती है। सुन्दरबाईको ऐसा भान हुआ मानो हृदयमें कोई

कह रहा है—'ऐसा ही होगा।' वह प्रसन्नमन घर लौट आयी।

दूसरे दिन भोजन आदिके पश्चात् सुन्दरबाईकी तबियत अचानक खराब हो गयी। घरवाले घबराने लगे; पर सतीके मनमें विचार होने लगा कि अवश्य ही यह मा भगवतीका विधान है। वह चुपचाप माका स्मरण करती हुई चारपाईपर लेटी रही। उधर उसके पतिदेवकी अवस्था धीरे-धीरे गिरने लगी और रात्रिके ९ बजे उनका शरीर शान्त हो गया। रोते हुए बन्धुओंने सुन्दरबाईसे उनके पतिके शरीर शान्त होनेका समाचार कहा। देवी ऐसे दुःखद समाचारको सुनकर कुछ क्षणके लिये स्तम्भित रह गयीं, पर तत्काल उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा—'अच्छा, माको जो स्वीकार था, वह हो गया। अब मैं उनके बिना जीकर क्या करूँगी? मैं भी प्राणनाथके साथ जाती हूँ।......' इस प्रकारकी बातें करते-करते ठीक तीन घंटे बाद रात्रिके १२ बजे श्रीसुन्दरबाईने प्रसन्नतापूर्वक अपने पतिका अनुगमन कर इस निःसार संसारको छोड़ दिया। प्रातःकाल पति-पत्नीकी श्मशानमें एक ही साथ चिता लगायी गयी।—कु० अ०

सती राजरानी देवी

सती राजरानी देवी हमीरपुर जिले (यू०पी०) के महोबा कसबेके खिलौना नामक एक काछीकी धर्मपत्नी थी। सन् १९३१ के अन्तिम दिनोंमें उसके पतिदेव अचानक रोगग्रस्त हो गये। राजरानी अपने सुखका कुछ भी विचार न कर रात-दिन अपने पतिकी सेवामें लगी रहती। १० दिसम्बरकी ठंढी रातमें राजरानी अपने मरणासन्न पतिके पास बैठी बडी तत्परताके साथ सेवामें संलग्न थी। अचानक खिलौनाने मन्द स्वरमें कहा—'प्रिये! मैं आज चला।' राजरानी समझ गयी कि अब उसके पतिके प्राण-पखेरू उड़नेवाले हैं। पर विधाताके ऐसे विधानको स्मरण करके भी वह घबरायी नहीं। उसने तत्काल उत्साहभरे स्वरमें उत्तर दिया—'पतिदेव! मैं आपके साथ सती होऊँगी।'

प्रभात हुआ। खिलौनाके प्राण पखेरू इस नश्वर देहको त्यागकर उड गये। परिवारवाले शोकसे व्याकुल हो रोने लगे। सतीने सबको सान्त्वना दी और अपने सती होनेका निश्चय बताया। सब घबरा उठे और राजका भय दिखाने लगे। सती अपने निश्चयपर दृढ थी। उसने तत्काल सती होनेका सब सामान किया और थानेमें सूचना देने चली गयी। जब अधिकारी लोगोंके नाना भाँति समझानेपर भी सतीने अपना निश्चय नहीं बदला तो उन्होंने अस्पतालमें ले जाकर उसे बेहोशीके लिये कुछ औषध खिला दी। उधर पुलिसने राजरानीके घर जाकर तालेमें बंद उसके पतिके शवको बाहर निकाला और जलानेके लिये श्मशानकी ओर चलने लगे। सतीको अस्पतालमें ये सब क्रियाएँ प्रत्यक्षके सदृश दिखायी दे रही थीं। उसने डाक्टरसे कहा—'मेरे घरका ताला तोड़ लिया गया है और मेरे पतिदेवको श्मशान ले जाया जा रहा है; मैं जाती हूँ।' डाक्टरने बंद करने आदिकी चेष्टा की, किंतु सब व्यर्थ। सती दौडती हुई श्मशानमें अपने पतिके शवके पास जा पहुँची। गाँवके लोगोंने तथा सरकारी अधिकारियोंने पुनः रोकनेकी चेष्टा की, पर सतीके तेजके सामने सब चौकन्ने रह गये। सबके देखते-देखते राजरानीने विधिपूर्वक पतिके शवकी परिक्रमा की और बादमें प्रज्वलित अग्निमें नियमपूर्वक पतिके साथ भस्म हो गयी।—कु० अ०

सती वङ्गनारी

सन् १९३२ की बात है। बाँकुड़ा-निवासी श्रीयुत सन्तकुमार कई दिनोंसे बीमार थे। उनकी धर्मपत्नी अपने पतिदेवकी आरोग्यताके लिये प्रतिदिन भगवान्‌से प्रार्थना करती थी और भगवान्‌से माँगती थी कि 'पतिके साथ ही मेरे जीवनका अन्त हो।' जब पतिदेव आरोग्य होते न दिखायी दिये तो उसने अपने पड़ोसियोंसे कहा—पतिके बिना मैं जीवित न रह सकूँगी। उनके साथ ही जीवन-लीला समाप्त कर दूँगी। फलतः पतिके प्राणत्याग करते ही वह पतिके पास ही हाथ जोड़कर लेट गयी और भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी। ठीक दो घंटे बाद उसके प्राण चले गये। सतीका दाह-संस्कार उसके पतिदेवके साथ ही किया गया। डॉक्टरोंने सतीके शरीरकी परीक्षा करके केवल इतना ही बताया कि उसने एकमात्र अपनी आत्मशक्तिसे ही प्राण-त्याग किया, किसी प्रकारके विषके द्वारा नहीं।—कु० अ०



सती सुखदेवी

सती सुखदेवी काशीके श्रीगणेश मन्दिरके पुजारी श्रीराजारामजी पाण्डेयकी सहधर्मिणी थीं। ३० नवम्बर १९३१ सोमवारको प्रातःकाल आप सती हुईं। ये तीन-चार माससे रुग्णा थीं। अस्पतालमें चिकित्सा हो रही थी। २८ नवम्बरको सायकाल उनके पतिदेव उन्हें देखनेके लिये गये। सुखदेवीने उनसे प्रार्थना की—'अब मेरा बचना असम्भव है, मुझे घर ले चलिये।' पाण्डेयजीने अच्छा कहकर बात टाल दी और नीचे आकर लोगोंसे परामर्श करके निश्चय किया कि घरकी अपेक्षा यहाँ सेवाकी सुविधा अच्छी है, अभी यहीं रहने दिया जाय। सुखदेवीने जब अपने पतिके इस निश्चयका संवाद पाया तो प्रथम चरणोदक माँगा और बादमें बोलीं—'नहीं, मेरे पति मुझसे अलग रह नहीं सकते और मैं अपने स्वामीका कभी साथ नहीं छोड़ सकती। यदि वे यहाँसे साथ लिवा नहीं चलते तो श्मशानमें तो हमारा और उनका साथ अवश्य ही होगा।'

पतिका चरणोदक लाकर दिया गया। सुखदेवीने उसे अपने मस्तकसे लगाकर सादर पान कर लिया और सो रहीं। इधर पाण्डेयजी अपने स्थान दुर्गाकुण्डपर लौट आये। उस समय आपसे जिन लोगोंकी भेंट हुई थी, उन्होंने आपको पूर्ण स्वस्थ देखा था। हाँ, चित्त कुछ खिन्न अवश्य दिखायी देता था। ३० नवम्बरके प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें श्रीसुखदेवीने अस्पतालमें प्राण-त्याग किये। यह संवाद लेकर जब उनके परिवारवाले दुर्गाकुण्ड राजारामजीके पास पहुँचे तो उन्हें यह देखकर चकित रह जाना पड़ा कि पाण्डेयजीका भी देहान्त हो चुका है। सब लोग यह समाचार सुनकर आश्चर्यमें डूब गये और सती सुखदेवीकी गत दिनकी घोषणाकी चर्चा करने लगे। निदान दोनों ही स्थानोंसे शव हरिश्चन्द्रघाटपर लाये गये और दोनोंको एक ही चितापर रखकर एक कर दिया गया। चिता प्रज्वलित की गयी। देखनेवालोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि उस विशाल चितामें सभी ओरसे अग्नि संदीप्त करनेकी अनेक चेष्टाएँ सर्वथा विफल हो गयीं। आग केवल चरणभागसे ही जलती हुई आगे बढ़ी। कमरतक चिता जलकर राख हो गयी तब धीरे-धीरे शिरोभागकी ओर अग्निकी लपटें बढ़ती देखी गयीं।—कु० अ०

नायनकी सती

(लेखक—राय श्रीअम्बिकानाथसिंहजी)

रायबरेली जिलेके डेल्हा ग्रामके ठाकुरसाहब बख्शसिंहजीकी पुत्री श्रीमोहनपालकुमारीजीका विवाह उसी जिलेके नायन राज्यके लाला इन्द्रपालसिंहजीके साथ हुआ था। अच्छी बड़ी जमींदारी थी और पति विद्वान्, सरल तथा धार्मिक रुचिके थे। श्रीमोहनपालकुमारीजीकी गीतापाठमें रुचि थी। रवि, भौम, एकादशी आदिका व्रत वे किया करती थीं। पचास वर्षकी अवस्थामें चौदह सितम्बर सन् १९४० को काशीमें इन्द्रपालसिंहजीका शरीरावसान हो गया। कुमारीजीकी अवस्था चालीस वर्षकी थी। वे पतिके साथ सती होना चाहती थीं, परंतु परिवारके लोगोंने ऐसा करने नहीं दिया। पतिकी खड़ाऊँ तथा उनके श्रीनर्मदेश्वरजीका नित्यपूजन उन्होंने प्रारम्भ किया। काशीसे वे नायन आयीं। अन्नाहार छोड़कर अब वे केवल फलपर शरीर-निर्वाह करती थीं। कुछ दिन पश्चात् वृन्दावन, प्रयागादि तीर्थ करके वे पुनः काशी गयीं और वहाँकी कोठीमें जिस कमरेमें उनके पतिदेवने शरीर छोड़ा था, उसीमें रहने लगीं। यहाँ वे नित्य गङ्गा-स्नान करके विश्वनाथजीके दर्शन करती थीं।

चौदह नवम्बर सन् १९४० को विश्वनाथजीके मन्दिरमें दर्शन करके वहीं अपने नर्मदेश्वरजीको उन्होंने पधरा दिया और विशेष दान-पुण्य किया। उस दिन कार्तिकपूर्णिमा थी। अपने भाईको फलाहारकी व्यवस्था करने भेजकर वे कोठी लौट आयीं। नौकरको भी उन्होंने बाहर भेज दिया। कमरेको भीतरसे बंद कर लिया। पतिकी खड़ाऊँ लेकर वे आसन लगाकर बैठ गयीं। उनके ध्यानके फलस्वरूप उनका शरीर शुष्क काष्ठके समान जलने लगा। कमरा धुएँसे भर गया। सतीजीके भाई और नौकर आये। कमरा भीतरसे बंद और धुआँ निकलता देख दौड़धूप मच गयी। एक खिड़की तोड़ी गयी, सती पद्मासनसे बैठी थीं। उन्होंने हाथ जोड़ रक्खे थे। गोदमें गीताकी पुस्तक और खड़ाऊँ। शरीरसे लपटें निकल रही थीं। शरीरसे चर्बी प्रवाहित होकर लपटोंको बढ़ा रही थी

अधिकारियोंको सूचना हुई। कमरेका द्वार तोड़ा गया। घड़ों गङ्गाजल डालकर अग्नि शान्त की गयी। स्थानकी जाँच करनेपर अग्नि लगानेवाला कोई पदार्थ नहीं मिला। सतीका केवल एक हाथ और कटिसे ऊपरका भाग बच रहा था। पैरोंकी अस्थि भी जल चुकी थी। अवशेषकी अर्थी सुसज्जित हुई और हरिश्चन्द्रघाटपर उसका अग्नि-संस्कार किया गया नायनमें सतीजीका चबूतरा है और उसकी पूजा होती है।

सती भगवती

(लेखक—श्रीपूरनसिंह निरञ्जन)

चरखारी (मध्यभारत)में इन देवीका जन्म हुआ था और झाँसी जिले (यू. पी.)के राठ ग्राममे श्रीदेवीदयालजी पाठकसे आपका विवाह हुआ था। देवीदयालजीको राजयक्ष्मा हुआ। जब स्थानीय चिकित्सासे लाभ न हुआ तो वे कुलपहाड़के सेनिटोरियममें भेजे गये। श्रीभगवतीदेवी भी पतिके साथ गयीं। थोड़े समय पश्चात् वे वहाँसे पतिगृहको लौट आयीं। सहसा चार अक्टूबर सन् १९४७ को प्रातःसे ही इन देवीजीने अन्न-जल त्याग दिया। उसी दिन चार बजे सायं सुदूर औषधालयमें उनके पतिदेवका देहावसान हो गया।

कुलपहाड़से मोटरद्वारा शव रात्रिमे राठ आया। देवी-जी घरसे चुपचाप निकलीं और पासके एक कूपमें कूद पड़ीं। कूपमें जल उनकी कटितक था और कोई आघात उन्हें लगा नहीं। लोगोंको पता लगा। रस्सी और खटोली डाली गयी। वे इस वचनपर कि उनके सती होनेमें कोई बाधा न दी जायगी, 'सत्यराम' कहती कूपसे बाहर आयीं। रात्रि अधिक व्यतीत हो चुकी थी। शवदाह दूसरे दिन निश्चित हुआ। सतीको लोग बंद कर देना चाहते थे। उन्होंने वचन दिया कि 'मैं सबकी इच्छाके विरुद्ध कोई प्रयत्न न करूँगी; किंतु मेरा कोई स्पर्श न करे।' घरमे जाकर वे एक मुँडेरपर चढ़ गयीं और 'सत्यराम' का भजन करने लगीं। मकानपर पुलिसका कड़ा पहरा था।

देवीने डिप्टीसाहबसे प्रार्थना की कि 'मुझे रोका न जाय।' वहाँ सुननेको कौन प्रस्तुत था। सब उपदेश देनेवाले हो गये थे। अन्तमे सबेरा हो गया। शव श्मशान गया। सतीने कहा—'मेरे आये बिना चिता जलेगी ही नहीं।' वहाँ चिता-को प्रज्वलित करनेके अनेक प्रयत्न हुए, पर व्यर्थ। घृतका पूरा टीन डालकर भी कोई लाभ न हुआ। सहस्रोंकी भीड़ एकत्र हो गयी थी। उसी समय एक विचित्र तीव्र ध्वनि सुनायी पड़ी—'क्यों सतीको व्यर्थ तंग कर रहे हो!' सबने इसे सुना। प्रभाव पड़ा और सबने करबद्ध प्रार्थना की सतीसे आकर कि आप सती होने पधारें। वे मुँडेरसे सीधे पृथ्वीपर कूद पड़ीं। उस समय उनके शरीरसे दिव्य तेज प्रकट हो रहा था।

देवी चितापर पहुँचीं। चितापरसे कंडोंको हटाकर पतिके शवको खोला और मस्तकको गोदमे लेकर बोलीं 'बोल जगदम्बा-की जय!' मुखसे जयध्वनि निकलते ही चिता प्रज्वलित हो गयी। गत १५ अक्टूबर सन् १९४७ को ही इस प्रकार पतिदेहके साथ उन्होने अपने शरीरकी आहुति दी। उस स्थानपर अब सतीचबूतरा बन गया है और श्रद्धालु उसकी अर्चना करते हैं।

सतीदेवी

(लेखक—कुँवर श्रीनरेन्द्रसिंहजी 'नरेन्द्र')

सीतापुर जिलेके जलालपुर ग्राममे रघुवरसिंह एक साधारण स्थितिके जमींदार हो गये हैं। लोग उन्हे मिट्ठूसिंह कहते थे। उद्धत स्वभाव एवं ऐसे ही लोगोंके समूहके नेता होनेके कारण लोग उन्हे डाकू समझने लगे थे। उनका विवाह सोलह वर्षकी अवस्थामे गोंडा जिलेके बेंवदा ग्रामके ठाकुर शिवपालसिंहकी पुत्रीसे हुआ था। चौबीस वर्षका दाम्पत्य जीवन उनका सुख-पूर्वक व्यतीत हुआ। चालीस वर्षकी अवस्थामें वे अस्वस्थ हुए और अन्तमें रोग बढ़ गया। उनकी साध्वी पत्नीने पतिकी दशा समझकर अन्न-जल त्याग दिया और अहर्निश पतिसेवा-में लगी रहने लगीं। लोगोंके बहुत समझानेपर भी उन्होने जलतक लेना स्वीकार नहीं किया।

१३ सितम्बर सन् १९४७ को सन्ध्याके दो बजे मिट्ठूसिंह-ने शरीर छोड़ दिया। उनकी पत्नीको निर्जलव्रत करते आज तेरह दिन हो चुके थे और इस अवधिमे अश्रान्त भावसे वे पतिसेवामें लगी रही थीं। लोगोंने मिट्ठूसिंहकी रथी सजायी। इधर उनकी स्त्रीने आज खूब शृंगार किया। फिर बताशे मँगाकर शर्बत बनाया। कुछ औरोंको पिलाकर थोड़ा स्वयं पिया। अब पतिके साथ दोनो हाथोंसे बताशों एवं फूलोंकी वर्षा करती वे चलीं। समाचार पाकर बहुत भीड़ एकत्रित हो गयी।

ग्रामसे बाहर एक तालाबके समीप चिता बनी। लकड़ियाँ कम होनेसे कुछ समूची धरनें चितापर रख दी गयीं। पता नहीं, सतीने क्या सोचा। उन्होने बायें हाथसे धरनोंको तिनके-के समान दूर फेंक दिया। उनके मुखसे विचित्र तेज निकल रहा था। किसीका साहस नहीं हुआ कि उन्हे सती होनेसे रोके। शव स्नान कराके चितापर रक्खा गया। सती रामायण-की कुछ चौपाइयाँ बोलती हुई पतिके समीप जा बैठीं। उनके

दूसरे दिन पतिकी खड़ाऊँके साथ सम्पतिदेवीने सती होनेका निश्चय किया। एक आदमी खड़ाऊँ लानेके लिये सरया दौड़ा भी दिया गया था; किंतु पुलिसने आपत्ति की और २४ नवम्बरको सतीने बाढ़के जेलमें पैर रक्खा। जेलमें सती-सेवाके लिये कई स्त्रियों और पुरुषोंको नियुक्त कर दिया गया था। पहरेपर तीस-चालीस सिपाही नियत थे।

दूसरे दिन शरीर-त्याग करनेका सतीने निश्चय कर लिया था। जेलद्वारपर सहस्रोंकी भीड़ थी। पुलिस सावधान और सतर्क थी। सूर्यदेवने लज्जासे मुँह छिपा लिया। रजनीने कृष्णाञ्चलमें पृथ्वीको ढँक लिया। रातके बारह बजे। सहसा जेलमें जैसे भूकम्प आ गया। सब सशंकित थे ही। कितनी उत्सुक आँखोंने देखा, देवीका मस्तक वेधकर एक तीव्र प्रकाश ऊपरकी ओर वायुवेगसे चलकर गगन-मण्डलमें लुप्त हो गया। देवीके चरण-स्पर्शके लिये स्वयं एस० डी० ओ० अपनी पत्नीके साथ उपस्थित हुए थे। दूसरे दिन बड़े ही समारोहके साथ हवनादिके उपरान्त देवीका भौतिक शरीर सरिताकी धारामें प्रवाहित कर दिया गया।

सती रामदेवीके सतीत्वका प्रभाव

(लेखक—ठाकुर श्रीरामप्रकाशजी रईस)

सती रामदेवी क्षत्रियपत्नी थीं। इनके पति वीर थे, पराक्रमी थे। फौजमें सैनिकके पदपर काम कर रहे थे। युद्धमें काम आ गये।

यह समाचार रामदेवीको तब मिला; जब वे अपने दो वर्षके बच्चेको लेकर एक शूद्र विधवा स्त्रीके साथ ससुरालसे पीहर जा रही थीं। मार्ग आधा समाप्त हो चुका था। वे घबरा गयीं, पर तत्क्षण उन्होंने अपनेको सँभाल लिया। सन्देश-वाहकसे पतिके वस्त्रादि उन्होंने ले लिये थे।

शूद्रासे उन्होंने कहा—'तुम पासके गाँवमें जाकर कहो कि 'मेरे बच्चेको कोई लेकर अपने पुत्रकी तरह पालन करे। यह बच्चा कुल-सम्पत्तिसहित उसीका पुत्र होगा। मैं सती होने जा रही हूँ।'

शूद्रा सीधे गाँवमें चली गयी, पर लौटकर उसने सतीसे निवेदन किया, 'बच्चेको लेना कोई भी स्वीकार नहीं कर रहा है।'

'यह गाँव वीरान हो जायगा। इसमें सन्तति-सुख कोई नहीं पा सकेगा।' सतीके मुखसे सहसा निकल गया।

सतीने गाँवसे आग चाही, पर वह भी किसीने नहीं दी। सती अधीर हो रही थीं। उन्होंने देखा पास ही सूखी घासके दो ढेर पड़े थे। अपने प्रिय बच्चेको छातीसे चिपकाये प्राणधनसे मिलनेके लिये वे घासके ढेरमें बैठ गयीं। 'मेरी यदि पतिके चरणोंमें स्वाभाविक भक्ति हो तो अग्नि प्रज्वलित हो जाय।' अंशुमालीकी ओर देखकर निवेदन करते ही घासमें चारों ओर आग लग गयी।

'मैं आपका साथ छोड़कर नहीं जा सकूँगी।' सतीके मना करनेपर भी शूद्रा विधवा नारीने घासके दूसरे ढेरमें अपने शरीरको राख कर दिया।

सतीके आधा जल जानेपर एक कुष्ठका रोगी वहाँ आ गया। सतीकी शुभ आशिषसे वह एक पक्षमें ही स्वस्थ हो गया। उस गाँवमें सतीके शापसे किसीको सन्तान नहीं होती। यदि होती भी है तो मर जाती है। विवश होकर लोगोंने वहाँ रहना छोड़ दिया है। अब वहाँ केवल खेती होती है। घर बनाकर वहाँ कोई नहीं रहता।

यह शब्दशः सत्य घटना लगभग चालीस वर्ष पूर्वकी है। जिस स्थानपर सतीने शरीर-त्याग किया था, वहाँ अबतक उन तीनोंकी पूजा होती है; शूद्राकी पूजा न करनेपर असंतुष्ट हो जाती हैं।

स्त्री-जातिकी कीर्ति

स्त्री-जातिकी कीर्ति स्फटिक दर्पणकी तरह है, जो उज्ज्वल तथा चमकीला होनेपर भी निकटसे श्वास लेनेपर भी मलिन होने लगता है। —सरवांट

सती शिवराजबाई

(लेखिका—श्रीपद्मादेवीजी मिश्रा)

संयुक्तप्रान्तके फतेहपुर जिलेके अन्तर्गत खागा तहसील-में किशुनपुर नामक एक गाँव है। पं० श्रीमहादेवप्रसादजी त्रिपाठी इसी गाँवमें रहते थे। ये परम धार्मिक थे। प्रतिदिन नियमपूर्वक पार्थिव-पूजन, दुर्गासप्तशतीका पाठ, गायत्री-जप तथा गीताध्ययन किया करते थे। ये खागा तहसीलके प्रधान पोस्टमास्टर थे। अपना नित्य-कृत्य समाप्त करके ही कार्यालयमें जाया करते थे।

श्रीशिवराजबाई आपकी ही अर्द्धाङ्गिनी थीं। आपके जीवनका प्रभाव इनके ऊपर पूरा पड़ा था। आप पतिसेवाके साथ-साथ रात-दिन भजन-पूजनमें लगी रहती थीं।

सन् १९३६ के मई मासकी बात है। खागामें हैजा पड़ा। उसका प्रभाव आपपर भी पड़ा। आपको ज्वर चढ़ आया था। आपके बड़े भाई आपको घर ले आये। घर आनेपर ज्वर उतर गया था, फिर भी शिवराजबाई आपके चरणोंके पास ही उपस्थित थीं।

सात मईकी अपशकुनपूर्ण प्रातःवेला आयी। बातचीत करते श्रीत्रिपाठीजीकी साँस रुक गयी। आपकी निर्जीव देह वहीं ढुलक गयी। घरमें कुहराम मच गया।

शिवराजबाई चुप थीं। उन्होंने अपनी डेढ़ वर्षकी बच्चीको अपनी जेठानीको देकर बड़ोंके पैरपर सिर रक्खा तथा पतिके शवके समीप आकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। देखा गया तो उनका शरीर प्राणशून्य था।

रवितनया यमुनाके पावन तटपर पति-पत्नीकी लाश एक ही साथ जला दी गयी। गाँवके लोग उनके सतीत्वकी गाथा अबतक गाते हैं।

सनाढ्य-सती

(लेखक—राजोरिया सीताचरण)

भोपाल स्टेटके उदेपुरा तहसीलमें सतरी नामक एक गाँव है। इस गाँवके मुखिया सनाढ्यकुलोत्पन्न श्रीरामकिशनजी थे। ये भगवान् आशुतोष शिवके भक्त थे। घर-गृहस्थीका भार अपने पुत्रोंपर छोड़कर ये रात-दिन भजनमें लगे रहते थे। सौभाग्यवश इन्हें पत्नी भी अपने मनोऽनुकूल अत्यन्त सरल, सुशीला, साध्वी तथा प्रभु-प्रेम-निरता मिल गयी थीं।

उदेपुरसे लौटते ही एक बार आपको ज्वर चढ़ आया। ओषधियोंका कोई प्रभाव आपपर नहीं पड़ा। ज्वर बढ़ता ही गया। आपकी पत्नी सारी रात आपकी शय्याके समीप बैठी हुई आपकी सेवामें लगी रहतीं।

प्रातःकाल दो घंटे दिन भी नहीं चढ़ पाया था कि आपने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। घरमें करुण-क्रन्दन मच गया; परंतु आपकी पत्नी बड़ी धीरता और साहसके साथ सबको समझाती रहीं। तदनन्तर 'मुझे जाड़ा लग रहा है' कहकर उन्होंने अपने शरीरको गर्म कपड़ेसे ढक लिया और पतिके शवके चरणोंके समीप लेट गयीं। पति-वियोगिनी देवी-को वहाँसे भयके कारण कोई हटा नहीं सका।

थोड़ी ही देरमें पता चला कि उनके प्राणपखेरू भी इस मायामय जगत्को छोड़कर अपने जीवनसर्वस्वके पीछे उड़ गये। पति-पत्नीके निर्जीव शरीर एक ही चितापर रखकर जलाये गये थे।

यह आश्चर्यजनक (सत्य) घटना अभी केवल तीन वर्ष पूर्व (सन् १९४५ ई०) की है।

नारीका सम्मान

हिंदुओंमें स्त्रियोंको जितना सम्मान दिया जाता है, उतना संसारकी और किसी प्राचीन जातिमें नहीं दिया जाता था। —एच० एच० विल्सन

सतीत्वका प्रभाव

(लेखक—श्रीहनुमानदास रामरतन अग्रवाल)

विक्रम-संवत् १९५६ की बात है। मारवाड़में भयानक दुर्भिक्ष पड़ गया था। क्षुधासे तड़प-तड़पकर लोग प्राण त्याग रहे थे। जोधपुर स्टेटके डीडवाना नामक शहरमें एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी अभी नयी-नयी आयी थी, किंतु उसे छोड़कर वह चल बसा। पत्नी विकल हो गयी। वह अपना गाँव छोड़कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके घरोंसे भिक्षा लेकर अपना पेट पालने लगी। वह परम पवित्र देवी थी। जिस दिन भिक्षामें कुछ भी नहीं मिलता, उस दिन उपवास कर जाती थी।

इसी तरह जीवन-निर्वाह करती हुई वह सुजानगढ़के एक गाँवके ठाकुरके रावलेमें गयी और अपना सारा दुःखद वृत्तान्त उसे सुना दिया। भगवत्कृपासे ठाकुरके मनपर प्रभाव पड़ गया। आचार-विचारवाली तपस्विनी नारी समझकर उन्होंने उसे अपने श्रीराधाकृष्ण भगवान्‌के मन्दिरकी पुजारिन बना दिया।

ब्राह्मणी भी पूरी तत्परता एवं पवित्रतासे प्रभुकी सेवा करती और सादा जीवन रखती हुई प्रभुकी लीला-कथा तथा भजनमें लगी रहती थी।

एक बारकी बात है, कुछ खटपट हो जानेके कारण ठाकुरने अपनी पत्नीसे बोलना बंद कर दिया। ठाकुरकी पत्नीके मनमें संदेह हो गया। उसने ब्राह्मणी पुजारिनको मन्दिरसे निकलवानेका षड्यन्त्र रचा।

उसने मैकेसे एक रानाको बुलवाया। उसने पुजारिनके लगाये भोगके थालको ग्रहण करनेसे अस्वीकार करके कहा—'यह ढेढ़नी है *। इसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ।'

ठाकुर घबरा गये। रानाने पुनः कहा—'आप मेरी बातका विश्वास करें। परीक्षाके लिये लोहेके दो गोले तपवा लीजिये। मैं दोनोंको फूलकी तरह उठा दूँ तो जानियेगा मैं सच्चा हूँ।'

रानाके कथनानुसार अग्निमें तपे लाल-लाल दो गोले लाये गये। गाँवके समस्त दर्शक आँख फाड़-फाड़कर तमाशा देख रहे थे। राना आगसे तपे लाल-लाल दोनों गोलोंको दोनों हाथोंमें लेकर घुमा रहा था। उनका कोई प्रभाव उसपर नहीं पड़ रहा था। अग्नि-स्तम्भनकी विद्या वह जानता था।

बेचारी ब्राह्मणी बिना ही कारण ढेढ़नी सिद्ध हो रही थी। उसका हृदय जल रहा था, वह बुरी तरह रो रही थी। इतनेमें रानाने पूछा—'महाराज! बतलाइये—ये गोले कहाँ डालूँ?' वह अपनी सफलतापर बड़ा गर्व कर रहा था। जली-भुनी ब्राह्मणीके मुँहसे निकला—'डाल सूर्यभगवान्‌के सिरपर।' तब रानाने गोले ज़मीनपर फेंक दिये।

लोगोंने बड़े आश्चर्यसे देखा—जमीनपर पड़ते ही दोनों गोले अपने-आप उठे और ऊँचे आकाशपर चढ़ गये। कुछ ही क्षणों बाद एक शब्द हुआ और एक गोला आकर रानाके सिरपर पड़ा। पड़ते ही सिर फटा और रानाके प्राणपखेरू उड़ गये।

ठाकुर घबराये। वे समझ गये कि हो-न-हो इसमें कोई षड्यन्त्र है और यह देवी सचमुच ब्राह्मणी और सती है। ठाकुरने उसके चरणोंपर गिरकर अपनेको निर्दोष बताया और प्राण-रक्षाके लिये प्रार्थना की।

सतीने खड़े होकर सूर्यनारायणसे प्रार्थना की—'प्रभो! ये मेरे अन्नदाता हैं—निर्दोष हैं। इन्हें बचाइये।'

दूसरा गोला नीचे नहीं आया। सतीके सतीत्वका प्रभाव देखकर लोग चकित हो गये।

स्त्री-सृष्टिका प्रयोजन

स्त्रीकी सृष्टि जगत्‌को मुग्ध करनेके लिये नहीं, अपने पति देवताको सुख देनेके लिये हुई है।

—एडमंड बर्क

* चमारिन।

श्रीबादामी देवी

(लेखक—पं० श्रीमुरारीलालजी शर्मा)

श्रीबादामी देवी हमीरपुरके प्रसिद्ध स्वामी श्रीशिवदयालजी-की पुत्री थीं। इनका विवाह अलवर राज्यके तालवृक्ष तीर्थस्थानके समीपस्थ नारायणपुरके प्रसिद्ध 'भावरूवाला' परिवारमें हुआ था। इनके पतिका नाम श्रीज्वालाप्रसादजी था, जो पं० भौरेलालजीके पुत्र थे।

आपको बचपनसे ही गीता और रामायण पढ़नेका चाव था। विवाहके बाद पाँच वर्ष तो सुख-चैनसे बीते, किंतु छठे वर्ष इनके पतिदेव विदेशके जलवायुसे रोगग्रस्त हो गये। उपचार करवाया गया, किंतु रोग बढ़ता ही जाता था। श्रीबादामीजी-की अवस्था उस समय अठारह वर्षकी थी, किंतु अपने भगवद्विश्वासके बलपर वे इस सङ्कटको कुछ भी नहीं गिनती थीं। दिन-रात अपने पतिकी चारपाईके पास बैठी रहती और रामायण और गीताका पाठ सुनाती रहतीं।

विधाताका विधान कुछ और था। श्रीबादामीजीके लाख प्रयत्न करनेपर भी ५ अप्रैल १९४६ को सायङ्कालके समय श्रीज्वालाप्रसादजी इस असार संसारको त्यागकर चल बसे। घरमें चारों ओर चीत्कार होने लगा। पर साध्वी श्रीबादामीजीने लोगोंको धैर्य बँधाया और स्वयं कीर्तन करने लगीं। साध्वीके वचनोंका घरवालोंपर बड़ा असर हुआ और वे भी उसके साथ जोर-जोरसे कीर्तन करने लगे। रातभर कीर्तन चलता रहा। प्रातःकाल हुआ। शवको ले जानेकी तैयारी हुई। श्रीबादामीजीने सबके सामने अपना सती होनेका विचार प्रकट कर दिया। सब चौकन्ने हो गये। घरके तथा गाँवके बड़े-बूढ़ोंने भाँति-भाँतिसे समझाया तथा स्थानीय पुलिस-अधिकारियोंने भी राजनियमकी सुधि दिलायी और उस कठिन कार्यसे रोकनेका उपाय किया। पर उस पति-परायणाको कौन अपने निश्चयसे हटा सकता था। उस समय उस साध्वीके हृदयमें न शोक था न विषाद, न क्रोध था न किसीका भय; वह तो अपने विचारपर अटल थी। उसके हृदयमें पतिप्रेमका एक दिव्य प्रकाश उदय हो चुका था, जिसकी अलौकिक आभा उसके मुखमण्डलपर भी प्रस्फुटित हो चुकी थी, जिसे देख उसकी अटल भावनासे उसे रोकनेका साहस किसीमें नहीं होता था।

सतीने सुन्दर दुशाला ओढ़ा, सुहाग-चिह्न धारण किये और हाथमें चँवर लेकर हजारों नर-नारियोंके साथ 'नारायण-नारायण' उच्चारण करती हुई वह रथीके साथ चलने लगी। श्मशानमें पहले हवन हुआ। पतिकी परिक्रमाके समय सतीके हाथमें वही चँवर था और मुखमें वही 'नारायण' शब्द! वह नृत्य करती परिक्रमा दे रही थी। परिक्रमा समाप्तकर वह पतिके सिरको गोदमें लेकर चितापर बैठ गयी। चिताको प्रज्वलित किया गया, पर वह प्रज्वलित न हुई। सतीने आर्त-दृष्टिसे दक्षिण दिशाकी ओर देखा और तुरंत धाँय-धाँय करके चिता प्रज्वलित हो उठी। वह शान्तभावसे बैठी हुई प्रिय पतिके शरीरके साथ प्रज्वलित अग्निमें एकरूप हो गयी। शरीरका वस्त्र शरीरके अङ्गोंके साथ ही जलता दिखायी दिया। सिरके बाल और ऊपरके वस्त्रोंपर पहले आँच न लगी और कण्ठतक अग्नि पहुँचनेतक 'नारायण' की ध्वनि बराबर सुनायी देती रही।

क्षमा-याचना

पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे ही जगत् बना है और जबतक जगत् रहेगा, तबतक पुरुष और प्रकृतिका यह संयोग भी बना ही रहेगा। पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं। पुरुष-संसर्गसे प्रकृति ही संपूर्ण जीव-जगत्को, समस्त विकारोंको और निखिल गुणोंको उत्पन्न करती है (गीता १३। १९; १४। ३-४)। प्रकृति शक्ति है और पुरुष शक्तिमान्। शक्तिके बिना शक्तिमान्का अस्तित्व नहीं और शक्तिमान्के बिना शक्तिके लिये कोई स्थान नहीं। इनका परस्पर अविना-भाव-सम्बन्ध है। इसी प्रकार नर और नारीका सम्बन्ध है। नर पुरुषका और नारी प्रकृतिका प्रतीक है। एकके बिना दूसरा अधूरा है। इसी तत्त्वपर हिंदू-शास्त्रोंने नर और नारीके कर्तव्य-कर्मोंका निर्देश किया है। दोनोंके कर्तव्य पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे एक ही शरीरके दाहिने और बायें अङ्गोंके कार्योंकी भाँति एक ही शरीरके पूरक हैं और एक ही शरीरकी स्थिति, समृद्धि, पुष्टि और तुष्टिके कारण हैं। एकके बिना दूसरेका काम नहीं चल सकता। अपने-अपने क्षेत्रमें दोनोंकी ही प्रधानता और श्रेष्ठता है। पर दोनोंकी श्रेष्ठता एक ही 'परम श्रेष्ठ'की पूर्तिमें संलग्न है। दोनों मिलकर अपने-अपने पृथक् कर्तव्योंका पालन करते हुए ही जीवनके परम और चरम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं। नर भगवान्की प्राप्ति करता है—पतिव्रता नारीके दिव्य त्यागमय आदर्शको सामने रखकर भगवान्के प्रति संपूर्णतया आत्मसमर्पण करके; और नारी उसी भगवान्की सहज ही प्राप्ति करती है अपने अभिन्न-स्वरूप स्वामीका सर्वाङ्गपूर्ण अनुगमन करके—उसके जीवित रहते और प्राण त्याग करके चले जानेपर भी। यह सीधा-सादा नर और नारीका कर्तव्य है। नारी अपने क्षेत्रमें